ॐ
कल्याण
सत्कथा-अंक
वर्ष ३०]
[संख्या १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, कालविनाशिनि काली जय जय।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश, जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम। गौरी-शंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें।

कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें।

कल्याणमें समालोचनाका स्तम्भ नहीं है।

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

इस अङ्कका मूल्य ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण
सत्कथा-अंक

श्रीहरिः
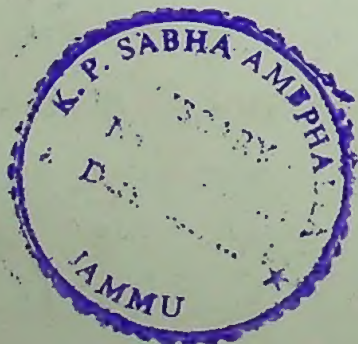
कल्याणके प्रेमी पाठकों और ग्राहक महानुभावोंसे नम्र निवेदन

१. इस 'सत्कथा-अङ्क'में ८६० सत्कथाओंका संकलन किया गया है। भगवान्‌के मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह और वामन—इन पाँच अवतारोंकी ललित और जीवनप्रद कथाएँ दी गयी हैं। कुछ उपयोगी लेख भी हैं। यह अङ्क अत्यन्त सुरुचिपूर्ण तथा सबके लिये लाभप्रद है।

२. जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिख दें, ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण'को व्यर्थ नुकसान न उठाना पड़े।

३. मनीआर्डर-कूपनमें और वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें स्पष्टरूपसे अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नये ग्राहक बनते हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।

४. ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'सत्कथा-अङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेसे पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख देनेकी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण प्रयत्नसे आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५. इस 'सत्कथा-अङ्क'में जिन घटनात्मक कथाओंका संग्रह किया गया है, वे जीवनमें नवीन स्फूर्ति, नवीन उत्साह, नवीन उल्लास, नवीन सत्त्व और नवीन सेवा-भावका विकास तथा विस्तार करनेवाली हैं। प्रत्येक कथा चरित्र-निर्माणके लिये विशेष प्रभावोत्पादक प्रेरणा देती है। इनसे मनुष्यको मानवताके चरम तथा परम लक्ष्यतक पहुँचानेके लिये सन्मार्ग, मार्गप्रदर्शक ज्योति, पुष्टिप्रद सात्त्विक पाथेय, सात्त्विक प्रकाश तथा बल मिलता है। इसकी एक-एक कथा जीवनको उच्च स्तरपर उठाकर उसे देवत्वमें परिणत करनेमें सहायक है। इस दृष्टिसे इसका जितना प्रचार-प्रसार अधिक होगा, उतना ही धराधामपर मङ्गलमय स्वर्गधामका अवतरण होगा। उतनी ही सुख-शान्ति फैलेगी। अतएव प्रत्येक कल्याणप्रेमी महोदय विशेष प्रयत्न करके 'कल्याण'के दो-दो नये ग्राहक बना देनेकी कृपा करें।

६. आपके विशेषाङ्कके लिफाफेपर आपका जो ग्राहक नंबर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीपूर्वक नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नंबर भी नोट कर लेना चाहिये।

७. 'सत्कथा-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग एक-डेढ़ महीना तो लग ही सकता है, इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें 'विशेषाङ्क' नंबरवार जायगा। यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

८. 'कल्याण' व्यवस्था-विभाग, 'कल्याण' सम्पादन-विभाग, गीताप्रेस, महाभारत-विभाग, गीता-रामायण-परीक्षा-समिति, साधक-सङ्घ और गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

९. सजिल्द विशेषाङ्क वी० पी० द्वारा नहीं भेजे जायँगे। सजिल्द अङ्क चाहनेवाले ग्राहक १।) जिल्दखर्चसहित ८।।।) मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी कृपा करें। सजिल्द अङ्क देरसे जायँगे। ग्राहक महानुभाव धैर्य रक्खें।

१०. किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये। क्योंकि इस विशेषाङ्कका मूल्य ही अलग ७।।) है।

व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—दोनों आशीर्वादात्मक प्रासादिक ग्रन्थ हैं। इनके प्रेमपूर्ण स्वाध्यायसे लोक-परलोक दोनोंमें कल्याणकी प्राप्ति होती है। इन दोनों मङ्गलमय ग्रन्थोंके पारायणका तथा इनमें वर्णित आदर्श, सिद्धान्त और विचारोंका अधिक-से-अधिक प्रचार हो इसके लिये 'गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ' सात वर्षोंसे चलाया जा रहा है। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या ३४५०० हो चुकी है। इन सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। सदस्योंको नियमितरूपसे गीता-रामचरितमानसका पठन, अध्ययन और विचार करना पड़ता है। इसके नियम और आवेदनपत्र—'मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) को पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—सम्पादक 'कल्याण'

साधक-सङ्घ

देशके नर-नारियोंका जीवनस्तर यथार्थरूपमें ऊँचा हो, इसके लिये साधक-सङ्घकी स्थापना की गयी है। इसमें भी सदस्योंको कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। नियम गत वर्षके कल्याण संख्या ६ पृष्ठ ११११९ पर छप चुके हैं। प्रत्येक सदस्यको एक डायरी दी जाती है, जिसमें वे अपने नियमपालनका ब्यौरा लिखते हैं। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको स्वयं इसका सदस्य बनना चाहिये। और अपने बन्धु-बान्धवों, इष्ट-मित्रों एवं साथी-संगियोंको भी प्रयत्न करके सदस्य बनाना चाहिये। नियमावली इस पतेपर पत्र लिखकर मँगवाइये। संयोजक 'साधक-सङ्घ', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—सम्पादक 'कल्याण'

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षा

श्रीगीता और रामचरितमानस ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इस समय गीता-रामायण दोनोंके मिलाकर कुल ३१४ केन्द्र हैं। विशेष जानकारीके लिये नीचेके पतेपर कार्ड लिखकर नियमावली मँगानेकी कृपा करें।

मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा समिति, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

'सत्-कथा-अङ्क'की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–सत्कथाओंके मूल स्रोत और संतोंके परम ध्येय [कविता] (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ···	१
२–मूर्तिमान् सत् [श्रीभरतजी] ··· ···	३
३–सत्कथाकी महिमा (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ···	१०
४–जीवनका वास्तविक वरदान (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ···	१५
५–सत्कथाओंकी लोकोत्तर महत्ता एवं उपयोगिता (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ···	१७
६–सत्कथाका महत्त्व (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ···	१८
७–देवताओंका अभिमान और परमेश्वर (पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ···	२५
८–यमके द्वारपर (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) ··· ···	२६
९–आपद्धर्म (जा० श०) ···	२८
१०–गो-सेवासे ब्रह्मज्ञान (,, ,,) ···	२९
११–अग्नियोंद्वारा उपदेश (,, ,,) ···	३०
१२–गाड़ीवालेका ज्ञान (,, ,,) ···	३०
१३–एक अक्षरसे तीन उपदेश (,, ,,) ···	३१
१४–कुमारी केशिनीका त्याग और प्रह्लादका न्याय (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ···	३२
१५–धीरताकी पराकाष्ठा [मयूरध्वजका बलिदान]	३३
१६–मेरे राज्यमें न चोर हैं न कृपण हैं, न शराबी हैं न व्यभिचारी हैं (जा० श०)···	३४
१७–वह तुम ही हो (,, ,,)···	३५
१८–सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ (,, ,,)···	३६
१९–सर्वोत्तम धन (,, ,,)···	३६
२०–ब्रह्म क्या है ! (,, ,,)···	३७
२१–पश्चात्तापका परिणाम (श्रीरामलालजी)···	३८
२२–उसने सच कहा (,, ,,)···	३९
२३–सत्य-पालन (,, ,,)···	४०
२४–उपासनाका फल (,, ,,)···	४१
२५–योग्यताकी परख (,, ,,)···	४२
२६–सम-वितरण (,, ,,)···	४३
२७–महान् कौन है ! (जा० श०)···	४४
२८–भक्तका स्वभाव (श्रीसुदर्शनसिंहजी)···	४४
२९–निष्कामकी कामना–इक्कीस पीढ़ियाँ तर गयीं ···	४५
३०–शरीरमें अनासक्त भगवद्भक्तको कहीं भय नहीं (सु० सिं०) ··· ···	४५
३१–समस्त लौकिक-पारलौकिक सुखोंकी प्राप्तिका साधन भगवद्भक्ति (सु० सिं०) ···	४७
३२–आर्त जगत्के आश्रय [भगवान् नारायण]···	४९
३३–ऐसो को उदार जग माहीं (सु० सिं०) ···	५०
३४–श्रीराघवजीके हृदयमें चरण-कमल (जा० श०) ···	५०
३५–पेट-दर्दकी विचित्र औषध (,, ,,) ···	५१
३६–आर्त पुकार दयामय अवश्य सुनते हैं (सु० सिं०) ··· ···	५२
३७–धन्य कौन (जा० श०) ···	५३
३८–दुर्योधनके मेवा त्यागे (सु० सिं०) ···	५५
३९–भगवान् या उनका बल ! (,, ,,) ···	५६
४०–श्रीकृष्णका निजस्वरूप-दर्शन (जा० श०) ···	५७
४१–हनुमान्‌जीके अत्यल्प गर्वका मूलसे संहार (जा० श०) ···	५९
४२–दीर्घायुष्य एवं मोक्षके हेतुभूत भगवान् शङ्करकी आराधना (जा० श०)···	६०
४३–एकमात्र कर्तव्य क्या है ! (,, ,,)···	६१
४४–भगवान् सरल भाव चाहते हैं (सु० सिं०) ···	६३
४५–भगवान्‌की प्राप्तिका उपाय (रा० श्री०) ···	६४
४६–महापुरुषोंके अपमानसे पतन (सु० सिं०) ···	६५
४७–गुरुसेवासे विद्या-प्राप्ति (,, ,,)···	६६
४८–गुरुसेवा और उसका फल (,, ,,)···	६७
४९–बड़ोंके सम्मानका शुभ फल (,, ,,)···	६८
५०–लक्ष्मी कहाँ रहती हैं ! (जा० श०) ···	६९
५१–धर्मो रक्षति रक्षितः (सु० सिं०)···	७१
५२–भगवान् कहाँ-कहाँ रहते हैं ! (,, ,,)···	७२
५३–धर्मनिष्ठ सबसे अजेय है (,, ,,)···	७४
५४–धर्मरक्षामें प्राप्त विपत्ति भी मङ्गलकारिणी होती है (सु० सिं०)···	७६
५५–धन्य कौन ! (जा० श०)···	७८
५६–सदाचारसे कल्याण (,, ,,)···	७९
५७–हमें मृत्युका भय नहीं है (सु० सिं०)···	८१
५८–नास्तिकताका कुठार (जा० श०)···	८२
५९–सदाचारका बल (,, ,,)···	८३

६०–गर्भस्थ शिशुपर माताके जीवनका गम्भीर प्रभाव पड़ता है (सु० सिं०) ··· ८५
६१–दूषित अन्नका प्रभाव (” ”) ··· ८६
६२–आर्य-कन्याका आदर्श (” ”) ··· ८७
६३–आर्य-नारीका आदर्श (” ”) ··· ८७
६४–मैं स्वेच्छासे परपुरुषका स्पर्श नहीं कर सकती ८८
६५–कैसे आचरणसे नारी पतिको वशमें कर लेती है ? (सु० सिं०) ··· ८८
६६–कीड़ेसे महर्षि मैत्रेय (जा० श०) ··· ९०
६७–नल-दमयन्तीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त (” ”) ९१
६८–अनन्यता—मैं किसी भी दूसरे गुरु-माता-पिताको नहीं जानता ··· ··· ९२
६९–तुम्हारे ही लिये राम वन जा रहे हैं ··· ९३
७०–मेरे समान पापोंका घर कौन ? तुम्हारा नाम याद करते ही पाप नष्ट हो जायँगे ··· ९३
७१–मैं तुम्हारा चिरऋणी—केवल आपके अनुग्रहका बल ··· ··· ९४
७२–सप्तर्षियोंका त्याग (जा० श०) ··· ९४
७३–तत्त्वज्ञानके श्रवणका अधिकारी (सु० सिं०) ··· ९६
७४–परात्पर तत्त्वकी शिशु-लीला (” ”) ··· ९७
७५–सब चमार हैं (” ”) ··· ९८
७६–यह सच या वह सच ? (” ”) ··· ९८
७७–आपका राज्य कहाँतक है ? (जा० श०) ··· ९९
७८–संसारके सम्बन्ध भ्रममात्र हैं (सु० सिं०) ··· १००
७९–संतानके मोहसे विपत्ति (” ”) ··· १०१
८०–शुकदेवजीकी समता ··· ··· १०२
८१–शुकदेवजीका वैराग्य (जा० श०) ··· १०३
८२–तपोबल (रा० श्री०) ··· १०४
८३–वरणीय दुःख है, सुख नहीं (सु० सिं०) ··· १०५
८४–स्त्रीजित होना अनर्थकारी है (” ”) ··· १०५
८५–कामासक्तिसे विनाश (” ”) ··· १०६
८६–कामवश बिना विचारे प्रतिज्ञा करनेसे विपत्ति (जा० श०) ··· १०७
८७–परस्त्रीमें आसक्ति मृत्युका कारण होती है (सु० सिं०) ··· १०८
८८–क्रोध मत करो, कोई किसीको मारता नहीं (” ”) १०९
८९–अभिमानका पाप [ब्रह्माजीका दर्पभङ्ग] (जा० श०) ११०
९०–मिथ्याभिमान (सु० सिं०) ··· १११
९१–सिद्धिका गर्व (रा० श्री०) ··· १११
९२–राम-नामकी अलौकिक महिमा [वेश्याका उद्धार] ११२
९३–विश्वासकी विजय [श्वेत मुनिपर शंकरकी कृपा] (रा० श्री०) ··· ११३
९४–शबरीकी दृढ़ निष्ठा (जा० श०) ··· ११
९५–आपदि किं करणीयम्, स्मरणीयं चरणयुगलमम्बायाः [सुदर्शनपर जगदम्बाकी कृपा] (जा० श०) ··· ११
९६–सच्ची निष्ठा [गणेशजीकी कृपा] (रा० श्री०) ··· ११
९७–लोभका दुष्परिणाम (सु० सिं०) ··· ११७
९८–आदर्श निर्लोभी ··· ··· ११८
९९–सत्य-पालनकी दृढ़ता (सु० सिं०) ··· ११८
१००–तनिक-सा भी असत्य पुण्यको नष्ट कर देता है (सु० सिं०) ··· ११
१०१–ईमानदार व्यापारी (” ”) ··· १२०
१०२–वह सत्य सत्य नहीं, जो निर्दोषकी हत्यामें कारण हो (रा० श्री०) ··· १२
१०३–यज्ञमें पशुबलिका समर्थन असत्यका समर्थन है (सु० सिं०) ··· १२
१०४–आखेट तथा असावधानीका दुष्परिणाम (सु० सिं०) ··· १२
१०५–यज्ञमें या देवताके लिये की गयी पशुबलि भी पुण्योंको नष्ट कर देती है (सु० सिं०) ··· १२
१०६–दूसरोंका अमङ्गल चाहनेमें अपना अमङ्गल पहले होता है (सु० सिं०) ··· १२
१०७–परोपकार महान् धर्म (” ”) ··· १२
१०८–अर्जुनकी शरणागतवत्सलता और श्रीकृष्णके साथ युद्ध [नारदजीकी युद्ध-दर्शनोत्सुकता] (जा० श०) ··· १२
१०९–जीर्णोद्धारका पुण्य (” ”) ··· १२
११०–श्वेतका उद्धार (” ”) ··· १२
१११–विचित्र परीक्षा (” ”) ··· १२
११२–विलक्षण दानवीरता (सु० सिं०) ··· १२
११३–शोकके अवसरपर हर्ष क्यों ? [श्रीकृष्णका अर्जुनके प्रति प्रेम] ··· ··· १२
११४–उल्लासके समय खिन्न क्यों ? [श्रीकृष्णका कर्णके प्रति सद्भाव] (सु० सिं०) ··· १३
११५–उत्तम दानकी महत्ता त्यागमें है, न कि संख्यामें (सु० सिं०) ··· १३
११६–भगवती सीताकी शक्ति तथा पराक्रम ··· १३
११७–वीर माताका आदर्श (सु० सिं०) ··· १३
११८–पतिको रणमें भेजते समयका विनोद ··· १३
११९–सच्ची क्षमा द्वेषपर विजय पाती है (सु० सिं०) ··· १३
१२०–घोर क्लेशमें भी सत्पथपर अडिग रहनेवाला महापुरुष है (जा० श०) ··· १३
१२१–सेवा-निष्ठाका चमत्कार (सु० सिं०) ··· १३

१२२–सत्कारसे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं (सु० सिं०) ··· १३९
१२३–अतिथि-सत्कारका प्रभाव (” ”) ··· १४०
१२४–विचित्र आतिथ्य (जा० श०) ··· १४१
१२५–सम्मान तथा मधुर भाषणसे राक्षस भी वशीभूत (जा० श०) ··· १४२
१२६–चाटुकारिता अनर्थकारिणी है (सु० सिं०) ··· १४२
१२७–मैत्री-निर्वाह [कर्णकी महत्ता] (” ”) ··· १४३
१२८–अलौकिक भ्रातृ-प्रेम (” ”) ··· १४५
१२९–अनोखा प्रभु-विश्वास और प्रभु-प्रीति ··· १४६
१३०–विश्वास हो तो भगवान् सदा समीप हैं (सु० सिं०) १४६
१३१–सबसे दुबली आशा (जा० श०) ··· १४८
१३२–पार्वतीकी परीक्षा ··· ··· १४९
१३३–चोरीका दण्ड (जा० श०) ··· १५०
१३४–मक्खिका वैराग्य (” ”) ··· १५०
१३५–दुःखदायी परिहासका कटु परिणाम [खगमका क्रोध] (सु० सिं०) ··· १५१
१३६–परिहाससे ऋषिके तिरस्कारका कुफल [परीक्षित्को शाप] ··· ··· १५२
१३७–आश्रितका त्याग अभीष्ट नहीं [धर्मराजकी धार्मिकता] (सु० सिं०) ··· १५३
१३८–मृत्युका कारण प्राणीका अपना ही कर्म है (सु० सिं०) ··· १५३
१३९–दुरभिमानका परिणाम [बर्बरीकका वध] (जा० श०) ··· १५४
१४०–जुआरीसे राजा [स्वर्गमें अद्भुत दाता] (” ”) ··· १५५
१४१–दृढ़ निष्ठा (सु० सिं०) ··· १५६
१४२–किसी भी बहानेसे धर्मका त्याग नहीं कर सकता १५७
१४३–नियम-निष्ठाका प्रभाव (सु० सिं०) ··· १५७
१४४–आसक्तिसे बन्धन (” ”) ··· १५८
१४५–श्रद्धा, धैर्य और उद्योगसे अशक्य भी शक्य होता है (” ”) ··· १५९
१४६–लक्ष्यके प्रति एकाग्रता (” ”) ··· १६०
१४७–सच्ची लगन क्या नहीं कर सकती (” ”) ··· १६१
१४८–सच्ची निष्ठाका सुपरिणाम (जा० श०) ··· १६१
१४९–सबसे बड़ा आश्चर्य (सु० सिं०) ··· १६३
१५०–भगवत्कथा-श्रवणका माहात्म्य (जा० श०) ··· १६३
१५१–भगवद्गीताका अद्भुत माहात्म्य (” ”) ··· १६५
१५२–गायका मूल्य (” ”) ··· १६५
१५३–गो-सेवाका शुभ परिणाम (सु० सिं०) ··· १६६
१५४–वनयात्राका गो-दान (जा० श०) ··· १६८
१५५–सत्सङ्गकी महिमा (सु० सिं०) ··· १६८
१५६–सच्चे संतका शाप भी मङ्गलकारी होता है (सु० सिं०) ··· १६९
१५७–क्षणभरका कुसङ्ग भी पतनका कारण होता है (” ”) ··· १७०
१५८–क्षणभरका सत्सङ्ग कलुषित जीवनको भी परमोज्ज्वल कर देता है (” ”) ··· १७०
१५९–किसीको धर्ममें लगाना ही उसपर सच्ची कृपा करना है (” ”) ··· १७२
१६०–वैष्णव-सङ्गका श्रेष्ठ फल (रा० श्री०) ··· १७२
१६१–चित्रध्वजसे चित्रकला ··· ··· १७३
१६२–सु-भद्रा (पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') ··· ··· १७४
१६३–धैर्यसे पुनः सुखकी प्राप्ति (जा० श०) ··· १७५
१६४–आत्म-प्रशंसासे पुण्य नष्ट हो जाते हैं (सु० सिं०) १७६
१६५–जरा-मृत्यु नहीं टल सकतीं ··· १७७
१६६–विद्या अध्ययन करनेसे ही आती है (सु० सिं०) १७७
१६७–जहाँ मन, वहीं हम (जा० श०) ··· १७८
१६८–बुरे काममें देर करनी चाहिये (सु० सिं०) ··· १७९
१६९–प्रतिज्ञा [त्रेतामें राम अवतारी, द्वापरमें कृष्णमुरारी] (श्रीसदानन्दजी शर्मा) ··· १८०
१७०–गृध्र और उलूकको न्याय (जा० श०) ··· १८०
१७१–पुण्यकार्य कलपर मत टालो (सु० सिं०) ··· १८२
१७२–तर्पण और श्राद्ध (जा० श०) ··· १८२
१७३–आत्महत्या कैसी मूर्खता ! ··· १८३
१७४–रोम-रोमसे 'जय कृष्ण'की ध्वनि ··· १८४
१७५–कृतघ्न पुरुषका मांस राक्षस भी नहीं खाते (सु० सिं०) ··· १८५
१७६–जटिल प्रश्नोत्तर (जा० श०) ··· १८६
१७७–पूर्ण समर्पण [तेरा, सो सब मेरा] (श्रीहरकिशनजी झवेरी) ··· १८८
१७८–जरा-सा भी गुण देखो, दोष नहीं ··· १८८
१७९–एक मुट्ठी अनाजपर भी अधिकार नहीं ··· १८९
१८०–परोपकारमें आनन्द (सु० सिं०) ... १८९
१८१–आत्मज्ञानसे ही शान्ति (” ”) ··· १८९
१८२–भक्त विमलतीर्थ ··· ··· १९२
१८३–जगत् कल्पना है ! संकल्पमात्र है !! (सु० सिं०) १९३
१८४–सर्वत्याग (” ”) ··· १९५
१८५–साधुताकी कसौटी (” ”) ··· १९६
१८६–सत्संकल्प (रा० श्री०) ··· १९६
१८७–विचित्र न्याय (जा० श०) ··· १९७
१८८–विचित्र सहानुभूति (” ”) ··· १९७
१८९–सदुपदेश (रा० श्री०) ··· १९८

१९०–सहनशीलता (सु० सिं०) ··· १९९
१९१–धनका सदुपयोग (रा० श्री०) ··· १९९
१९२–ब्राह्मण (शि० दु०) ··· २००
१९३–अग्नि-परीक्षा (रा० श्री०) ··· २०१
१९४–सच्ची माँग (” ”) ··· २०१
१९५–आत्मदान (” ”) ··· २०२
१९६–‘जाको राखै साइयाँ, मारि सकै ना कोय’ (” ”) ··· २०३
१९७–गुणग्राहकता (” ”) ··· २०४
१९८–धनी कौन ? (शि० दु०) ··· २०४
१९९–‘युक्ताहारविहारस्य’ ‘योगो भवति दुःखहा।’ (सु० सिं०) ··· २०५
२००–अपनी खोज (रा० श्री०) ··· २०५
२०१–वैराग्यका क्षण (” ”) ··· २०६
२०२–संन्यासका मूल्य (” ”) ··· २०७
२०३–परीक्षाका माध्यम (” ”) ··· २०८
२०४–सहज अधिकार (” ”) ··· २०८
२०५–निर्वाण-पथ (शि० दु०) ··· २०९
२०६–कोई घर भी मौतसे नहीं बचा ··· २११
२०७–सच्चा साधु (सु० सिं०) ··· २१२
२०८–समझौता (रा० श्री०) ··· २१२
२०९–सच्चे सुखका बोध (” ”) ··· २१३
२१०–गाली कहाँ जायगी ? (सु० सिं०) ··· २१४
२११–आकर्षण (शि० दु०) ··· २१४
२१२–आत्मकल्याण (रा० श्री०) ··· २१६
२१३–दानकी मर्यादा (” ”) ··· २१७
२१४–आत्मशान्ति (” ”) ··· २१८
२१५–बासी अन्न (सु० सिं०) ··· २१८
२१६–चमत्कार नहीं, सदाचार चाहिये (जा० श०) ··· २१९
२१७–धर्मविजय (रा० श्री०) ··· २१९
२१८–यह धन मेरा नहीं, तुम्हारा है (जा० श०) ··· २२०
२१९–अर्जुनका उदारताका अभिमान-भङ्ग [कर्णका चन्दन-दान] (जा० श०) ··· २२१
२२०–अर्जुनका भक्ति-अभिमान-भङ्ग [दिगम्बरकी भक्ति-निष्ठा] (जा० श०) ··· २२१
२२१–श्रीनारदका अभिमान-भङ्ग (” ”) ··· २२३
२२२–नारदका कामविजयका अभिमान-भङ्ग (जा० श०) २२३
२२३–इन्द्रका गर्व-भङ्ग (” ”) ··· २२५
२२४–गरुड, सुदर्शनचक्र और रानियोंका गर्व-भङ्ग ··· २२६
२२५–श्रीमारुति-गर्व-भङ्ग (जा० श०) ··· २२६
२२६–भीमसेनका गर्व-भङ्ग ··· २२७
२२७–सर्वश्रेष्ठ शासक (सु० सिं०) ··· २२८
२२८–अद्भुत पितृ-भक्ति (” ”) ··· २२८
२२९–सत्यकी ज्योति (रा० श्री०) ··· २२९
२३०–पाँच स्कन्धोंका संघात (श्रीप्रताप-नारायणजी टंडन) ··· २३०
२३१–विद्याका अहंकार (जा० श०) ··· २३०
२३२–सच्ची दृष्टि (सु० सिं०) ··· २३१
२३३–मुक्तिका मूल्य (” ”) ··· २३१
२३४–अक्रोधेन जयेत् क्रोधम् (” ”) ··· २३२
२३५–कथा-प्रेम (” ”) ··· २३२
२३६–नशा उतर गया (” ”) ··· २३३
२३७–प्रतिकूल परिस्थितिसे बचे रहो (” ”) ··· २३४
२३८–अपने बलपर अपना निर्माण (कविरत्न श्रीअमरचन्द्रजी मुनि) ··· २३५
२३९–अभयका देवता (” ”) ··· २३५
२४०–नारी नरसे आगे (” ”) ··· २३६
२४१–भोगमेंसे जन्मा वैराग्य (” ”) ··· २३७
२४२–सत्सङ्गका लाभ (सु० सिं०) ··· २३७
२४३–महत्त्वपूर्ण दान (” ”) ··· २३८
२४४–प्रलोभनोंपर विजय प्राप्त करो ··· २३८
२४५–हमारे कुलमें युवा नहीं मरते (जा० श०) ··· २३९
२४६–मैं दलदलमें नहीं गिरूँगा (सु० सिं०) ··· २४०
२४७–भगवान् प्रसन्न होते हैं [गिलहरीपर राम-कृपा] २४१
२४८–मस्तक-विक्रय (जा० श०) ··· २४२
२४९–मातृ-भक्त आचार्य शंकर ··· २४२
२५०–कमलपत्रोंपर गङ्गापार (आचार्य श्री-बलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न) २४२
२५१–कुत्तेका भय भी अनित्य है (” ”) ··· २४३
२५२–वैदिक धर्मका उद्धार (” ”) ··· २४३
२५३–भगवान् नारायणका भजन ही सार है (शि० दु०) २४४
२५४–भगवान्से विवाह (” ”) ··· २४५
२५५–नम्रताके आँसू (श्रीयुत ति० न० आत्रेय) ··· २४६
२५६–स्त्रीके सहवाससे भक्तका पतन (शि० दु०) ··· २४८
२५७–ब्राह्मणके कंधेपर (” ”) ··· २४९
२५८–छोटी कोठरीमें भगवद्दर्शन (” ”) ··· २५०
२५९–भगवान् लूट लिये गये (” ”) ··· २५०
२६०–भगवान्‌की मूर्ति बोल उठी (” ”) ··· २५१
२६१–गुरु-प्राप्ति (” ”) ··· २५१
२६२–भगवान्‌का पेट कब भरता है ? (पं० श्रीगोविन्द नरहरि वैजापुरकर) ··· २५२
२६३–अपना काम स्वयं पूरा करें (” ”) ··· २५२
२६४–सबके कल्याणका पवित्र भाव (सु० सिं०) ··· २५३
२६५–भक्त आचार्यकी आदर्श विनम्रता (आचार्य स्वामीजी श्रीराघवाचार्यजी महाराज) ··· २५४

२६६—विद्यादान न देनेसे ब्रह्मराक्षस हुआ (सु० सिं०) २५४
२६७—प्रेमपात्र कौन ? (” ”) ··· २५४
२६८—सत्याग्रह (रा० श्री०) ··· २५५
२६९—धर्मकी सूक्ष्म गति (” ”) ··· २५६
२७०—सच्ची प्रशंसा (” ”) ··· २५७
२७१—जीरादेई (जा० श०) ··· २५८
२७२—दुष्टोंको भी सौजन्यसे जीतिये (” ”) ··· २५८
२७३—दानका फल (सु० सिं०) ··· २५९
२७४—केवल इतनेसे ही पतन (रा० श्री०) ··· २५९
२७५—आत्मयज्ञ (” ”) ··· २६०
२७६—सच्ची क्षमा (सु० सिं०) ··· २६१
२७७—धन्य भामती (श्रीयुत एस्० एम्० वोरा) ··· २६१
२७८—किसीकी हँसी उड़ाना उसे शत्रु बनाना है [दुर्योधनका अपमान] ··· ··· २६३
२७९—परिहासका दुष्परिणाम [यादव-कुलको भीषण शाप] ··· ··· २६४
२८०—भगवन्नामका जप करनेवाला सदा निर्भय है [प्रह्लादकी निष्ठा] ··· ··· २६५
२८१—भगवन्नाम समस्त पापोंको भस्म कर देता है [यमदूतोंका नया अनुभव] ··· २६५
२८२—कुन्तीका त्याग ··· ··· २६७
२८३—अद्भुत क्षमा [द्रौपदीका मातृभाव] ··· २६८
२८४—लगन हो तो सफलता निश्चित है (सु० सिं०) २६९
२८५—स्वामिभक्ति धन्य है (” ”) ··· २६९
२८६—दूसरोंका पाप छिपाने और अपना पाप प्रकट करनेसे धर्ममें दृढ़ता होती है ··· २६९
२८७—गोस्वामीजीकी कविता ··· ··· २७०
२८८—सूरदास और कन्या ('राधा') ··· २७०
२८९—मेरी आँखें पुनः फूट जायँ (” ”) ··· २७१
२९०—समर्पणकी मर्यादा (रा० श्री०) ··· २७२
२९१—भागवत-जीवन (” ”) ··· २७२
२९२—हाथोंमें थाम लिया ··· ··· २७३
२९३—व्यासजीकी प्रसादनिष्ठा (श्रीवासुदेवजी गोस्वामी) २७३
२९४—अनन्य आशा (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· २७४
२९५—व्रजरजपर निछावर (रा० श्री०) ··· २७४
२९६—प्रसादका अपमान (शि० दु०) ··· २७५
२९७—लीलामयकी लीला (” ”) ··· २७५
२९८—मरते पुत्रको बोध ··· ··· २७६
२९९—चोरका हृदय पलटा ··· ··· २७७
३००—सम्पत्तिके सब साथी, विपत्तिका कोई नहीं (सु० सिं०) ··· २७८
३०१—श्रीधर स्वामीका संन्यास ··· ··· २७८
३०२—विकट तपस्वी (रा० श्री०) ··· २७८
३०३—निर्मलाकी निर्मल मति ··· ··· २७९
३०४—मेरा उगना कहाँ गया ! ··· ··· २८०
३०५—गृह-कलह रोकनेके लिये आत्मोत्सर्ग (सु० सिं०) ··· २८१
३०६—स्वामिभक्ति (रा० श्री०) ··· २८२
३०७—आतिथ्य-निर्वाह (” ”) ··· २८२
३०८—परमात्मा सर्वव्यापक है (सु० सिं०) ··· २८३
३०९—गरीबके दानकी महिमा ··· ··· २८३
३१०—'अंत न होइ कोई आपना' (रा० श्री०) ··· २८४
३११—शेरको अहिंसक भक्त बनाया ! (गो० न० बै०) २८४
३१२—संसारसे सावधान (” ”) ··· २८५
३१३—जो तोकौं काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल ! (” ”) ··· २८५
३१४—अम्बादासका कल्याण (श्रीयुत मा० परांडे) ··· २८५
३१५—अहंकार-नाश (श्रीयुत एम्० एन्० धारकर) २८७
३१६—कुत्तेको भी न्याय [राम-राज्यकी महिमा] ··· २८८
३१७—सिंहिनीका दूध ! (गो० न० बै०) २८९
३१८—प्रेम-दयाके बिना व्रत-उपवास व्यर्थ (,, ,,) २८९
३१९—परधर्मसहिष्णुताकी विजय (,, ,,) २९०
३२०—शिवाका आदर्श दान (,, ,,) २९०
३२१—पहले कर्तव्य पीछे पुत्रका विवाह (,, ,,) २९१
३२२—समय-सूचकका सम्मान (,, ,,) २९१
३२३—उदारताका त्रिवेणी-सङ्गम [शिवाजीका ब्राह्मण-प्रेम, तानाजीकी स्वामिनिष्ठा और ब्राह्मणकी प्रत्युपकार-बुद्धि] (,, ,,) २९२
३२४—धन है धूलि-समान (श्रीताराचन्द्रजी अडालजा) ··· ··· २९४
३२५—पितरोंका आगमन ··· ··· २९५
३२६—नाथकी भूतदयाकी फलश्रुति (गो० न० बै०-) २९५
३२७—क्षमाने दुर्जनको सज्जन बनाया (सु० सिं०) ··· २९६
३२८—तुकारामजीकी शान्ति ··· ··· २९७
३२९—पतिसेवासे पति वशमें (गो० न० बै०) २९७
३३०—तुकारामका गो-प्रेम (,, ,,) २९८
३३१—भगवान् थाल साफ कर गये (,, ,,) २९८
३३२—कच्चा बर्तन (,, ,,) २९९
३३३—योगक्षेमं वहाम्यहम् (,, ,,) ३००
३३४—सबमें भगवान् (,, ,,) ३००
३३५—नामदेवका गौके लिये प्राणदान (,, ,,) ३०१
३३६—पारस-कंकड़ एक समान (,, ,,) ३०१
३३७—धूलपर धूल डालनेसे क्या लाभ ? ··· ३०२
३३८—जब सूली पानी-पानी हो गयी! (गो० न० बै०) ३०२

३३९ नित्य-नियमका कठोर आचरण (गो० न० बै०) ३०३
३४०—प्रेम-तपस्विनी ब्रह्मविद्या ··· ··· ३०४
३४१—हंसोंके द्वारा भीष्मको संदेश ··· ३०५
३४२—संत बनना सहज नहीं (गो० न० बै०) ३०६
३४३—सभीका ईश्वर एक (,, ,,) ३०६
३४४—अकालपीड़ितोंकी आदर्श सेवा (,, ,,) ३०७
३४५—अग्नि भी वशमें ! (,, ,,) ३०७
३४६—साधुसे छेड़छाड़ न करें (,, ,,) ३०८
३४७—अपकारका प्रत्यक्ष दण्ड (,, ,,) ३०८
३४८—उजड्डपनका इनाम (,, ,,) ३०९
३४९—अपनेको पहचानना सहज नहीं(,, ,,) ३१०
३५०—दानाध्यक्षकी निष्पक्षता (,, ,,) ३१०
३५१—मूर्खे छन्दानुरोधेन (,, ,,) ३११
३५२—डाकूसे संत (श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा) ··· ··· ३११
३५३—अपनी कमाईका पकवान ताजा (गो० न० बै०) ३१२
३५४—बाजीराव प्रथमकी उदारता (,, ,,) ३१२
३५५—मधुर विनोद ('राधा') ··· ··· ३१३
३५६—रहस्य-उद्घाटन [रहीमकी रक्षा] (कुमारी श्रीराधा) ··· ··· ३१३
३५७—मर्यादाका औचित्य (रा० श्री०) ··· ३१४
३५८—हम-सरीखोंको कौन जिमाता है ··· ३१५
३५९—भक्तापराध ··· ··· ३१६
३६०—ध्यानमें मधुर लीलादर्शन ··· ··· ३१६
३६१—ध्यानकी लीला ··· ··· ३१६
३६२—यह उदारता (रा० श्री०) ··· ३१६
३६३—प्रकाशानन्दजीको प्रबोध ··· ··· ३१७
३६४—भगवान्‌की प्रसन्नता (रा० श्री०) ··· ३१७
३६५—संतका सम्पर्क (,, ,,) ··· ३१७
३६६—मैं श्रीकृष्णसे मिलने जा रहा हूँ (,, ,,) ३१८
३६७—नामनिन्दासे नाक कट गयी ··· ३१८
३६८—सर्वत्र गुण-दृष्टि (सु० सिं०) ··· ३१९
३६९—चोरोंका सत्कार (बाबू महिन्द्रसिंहजी) ··· ३१९
३७०—डाकूसे महात्मा (वैद्य श्रीभगवद्दासजी साधु आयुर्वेदाचार्य) ··· ··· ३२०
३७१—पापका बाप कौन ? (सु० सिं०) ··· ३२०
३७२—विचित्र दानी (रा० श्री०) ··· ३२१
३७३—सहनशीलता (सु० सिं०) ··· ३२१
३७४—भट्टजीकी जाँघोंपर भगवान् ('राधा') ··· ३२२
३७५—काशीमें मरनेसे मुक्ति (,,) ··· ३२२
३७६—ईमानदारी सबसे बड़ी सिद्धि (सु० सिं०) ··· ३२२
३७७—धर्मके लिये प्राणदान (,, ,,) ··· ३२३
३७८—सज्जनता (सु० सिं०) ··· ३२३
३७९—सच्चे भाई-बहन (,, ,,) ··· ३२३
३८०—सच्ची शिक्षा (,, ,,) ··· ३२४
३८१—संतके सामने दम्भ नहीं चल सकता(रा०श्री०) ··· ३२५
३८२—संतकी सर्वसमर्थता (,, ,,) ··· ३२५
३८३—कुलीनता (,, ,,) ··· ३२६
३८४—ब्रह्मज्ञान कब होता है ? (सु० सिं०) ··· ३२८
३८५—मैं मूर्खता क्यों करूँ (,, ,,) ··· ३२८
३८६—हकसे अधिक लेना तो पाप है (,, ,,) ··· ३२८
३८७—सेवा-भाव ···(,, ,,) ··· ३२९
३८८—जीव-दया ···(,, ,,) ··· ३२९
३८९—नाग महाशयकी साधुता ··· ··· ३२९
३९०—किसीके कष्टकी बातपर अविश्वास उचित नहीं ···(सु० सिं०) ··· ३३०
३९१—आत्मीयता इसका नाम है ···(रा० श्री०) ··· ३३०
३९२—शिष्यकी परीक्षा ···(,, ,,) ··· ३३०
३९३—केवल विश्वास चाहिये ···(,, ,,) ··· ३३१
३९४—साधुताका परम आदर्श ···(जा० श०) ··· ३३१
३९५—महापुरुषोंकी उदारता ···(,, ,,) ··· ३३२
३९६—अतिथि-सत्कार ···(सु० सिं०) ··· ३३३
३९७—स्वावलम्बन ···(,, ,,) ··· ३३३
३९८—कोई वस्तु व्यर्थ मत फेंको ···(,, ,,) ··· ३३३
३९९—एक बात ···(,, ,,) ··· ३३४
४००—सच्ची दानशीलता ···(,, ,,) ··· ३३४
४०१—आदर्श नम्रता ···(,, ,,) ··· ३३४
४०२—सबमें आत्मभाव ···(,, ,,) ··· ३३५
४०३—मातृभक्ति ···(,, ,,) ··· ३३५
४०४—मेरे कारण कोई झूठ क्यों बोले(,, ,,) ··· ३३५
४०५—सत्यके लिये त्याग (,, ,,) ··· ३३५
४०६—माता-पिताके चरणोंमें [प्रथमपूज्य गणेशजी] ··· ३३६
४०७—जाको राखै साइयाँ, मार सकै ना कोय ··· ३३७
४०८—सर गुरुदासकी कट्टरता ··· ··· ३३८
४०९—महेशकी महानता ··· ··· ३३९
४१०—सद्‌व्यवहार ··· ··· ३४०
४११—पुजारीको आश्चर्य ··· ··· ३४०
४१२—भगवान्‌का नृत्य-दर्शन (शि० दु०) ··· ३४१
४१३—निर्लोभी कर्मचारी ··· ··· ३४१
४१४—राक्षसीका उद्धार [पुण्य-दानकी महिमा] ···(जा० श०) ··· ३४२
४१५—परोपकारका आदर्श [सुलक्षणापर शिव-कृपा] ··· ३४३
४१६—न्याय और धर्म [चमारसे भूमिदान] ··· ३४५
४१७—शास्त्रज्ञानने रक्षा की ··· ··· ३४६

४१८–विक्रमकी जीव-दया ३४६
४१९–सर्वस्वदान [हर्षवर्धनकी उदारता] (रा० श्री०) ३४७
४२०–बैलोंकी चोट संतपर ...(शि० दु०) ... ३४८
४२१–संत-दर्शनका प्रभाव ...(रा० श्री०) ... ३४९
४२२–रामूकी तीर्थयात्रा ३४९
४२३–रंगनादकी पितृभक्ति ...(जा० श०) ... ३५०
४२४–कृतज्ञता ...(सु० सिं०) ... ३५१
४२५–गुरु-निष्ठा ...(रा० श्री०) ... ३५१
४२६–स्वामी श्रीदयानन्दजी सरस्वतीके जीवनकी कुछ कथाएँ (श्रीबाबूरामजी गुप्त) ... ३५१
४२७–मौन व्याख्यान ...(रा० श्री०) ... ३५३
४२८–पैदल यात्रा ...(,, ,,) ... ३५३
४२९–भाव सच्चा होना चाहिये ...(,, ,,) ... ३५४
४३०–जीवनचरित कैसे लिखना चाहिये (सु० सिं०) ३५४
४३१–दयालुता ...(,, ,,) ३५५
४३२–संकटमें भी चित्तशान्ति ...(गो० न० बै०) ३५५
४३३–विद्या-व्यासङ्गकी रुचि ...(,, ,,) ३५५
४३४–कागज-पत्र देखना था, रमणी नहीं (,, ,,) ३५६
४३५–विपत्तिमें भी विनोद ...(,, ,,) ३५६
४३६–स्थितप्रज्ञता ३५६
४३७–दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः ...(गो० न० बै०) ३५७
४३८–सत्याचरण ...(सु० सिं०) ३५७
४३९–जिह्वाको वशमें रखना चाहिये (,, ,,) ३५७
४४०–अद्भुत शान्तिप्रियता ... (जा० श०) ३५८
४४१–हस्त-लेखका मूल्य ... (,, ,,) ३५९
४४२–काले झंडेका भी स्वागत ... (,, ,,) ३५९
४४३–कर्मण्येवाधिकारस्ते [महात्मा गाँधी और लेनिन] (पं० श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी) ... ३६०
४४४–पूरे सालभर आम नहीं खाये (जा० श०) ३६१
४४५–मारे शरमके चुप ... (,, ,,) ३६२
४४६–अद्भुत क्षमा ... (,, ,,) ३६२
४४७–सहनशीलता ... (सु० सिं०) ३६४
४४८–रामचरितमानसके दोष ... (जा० श०) ३६४
४४९–मैं खून नहीं पी सकता ... (सु० सिं०) ३६४
४५०–चिन्ताका कारण ... (जा० श०) ३६५
४५१–विलक्षण संकोच ... (,, ,,) ३६६
४५२–भगवत्-विस्मृतिका पश्चात्ताप (,, ,,) ३६६
४५३–गोरक्षाके लिये स्वराज्य भी त्याज्य (,, ,,) ... ३६६
४५४–अन्यायका परिमार्जन ३६७
४५५–नल-राम-युधिष्ठिर पूजनीय हैं ... ३६७
४५६–संत-सेवा ...(रा० श्री०) ... ३६८
४५७–आदर्श सहनशीलता ...(,, ,,) ... ३६८
४५८–विलक्षण क्षमा ३६९
४५९–घट-घटमें भगवान् ...(रा० श्री०) ... ३७०
४६०–मैं नहीं मारता तो मुझे कोई क्यों मारेगा (कु० राधा) ३७०
४६१–प्रसादका स्वाद ३७१
४६२–भगवन्नाममय जीवन ... (सु० सिं०) ... ३७१
४६३–परोपकारके लिये अपना मांस-दान(,, ,,) ... ३७२
४६४–गुस्ताख़ फ़ौली (जा० श०) ... ३७२
४६५–विचित्र पक्ष ३७२
४६६–तुलसीका चमत्कार ३७३
४६७–भगवान्के भरोसे उद्योग कर्तव्य है [भिखारिणीका अक्षय भिक्षापात्र] ... ३७३
४६८–अहिंसाका चमत्कार (रा० श्री०) ... ३७४
४६९–हृदय-परिवर्तन [अंगुलिमालका परिवर्तन] (रा० श्री०) ... ३७५
४७०–इन्द्रिय-संयम [नर्तकीका अनुताप] ... ३७६
४७१–निष्पक्ष न्याय [रानीको दण्ड] ... ३७७
४७२–अहिंसाकी हिंसापर विजय ... ३७७
४७३–वैभवको धिक्कार है [भरत और बाहुबलि] ... ३७८
४७४–शूलीसे स्वर्णसिंहासन ... ३७९
४७५–अडिग निश्चय—सफलताकी कुंजी ... ३८०
४७६–सर्वत्र परम पिता (श्रीलोकनाथप्रसादजी ढाँढनिया) ३८०
४७७–संन्यासी और ब्राह्मणका धनसे क्या सम्बन्ध ? (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ... ३८२
४७८–स्वप्नके पापका भीषण प्रायश्चित्त (,, ,,) ... ३८३
४७९–भगवत्सेवक अजेय है [महावीर हनूमान्जी] ३८५
४८०–दीनोंके प्रति आत्मीयता (प्रेषक—श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल) ... ३८६
४८१–संस्कृत-हिंदीको छोड़कर अन्य भाषाका कोई भी शब्द न बोलनेका नियम (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ३८६
४८२–गो-ब्राह्मण-भक्ति [स्वर्गीय धार्मिक नरेश परम भक्त महाराज प्रतापसिंहजी काश्मीरके जीवनकी घटनाएँ] (,, ,,) ... ३८७
४८३–आजादकी अद्भुत जितेन्द्रियता(,, ,,) ... ३८७
४८४–सिगरेट आपकी तो उसका धुआँ किसका ? (स्वामीजी श्रीप्रेमपुरीजी) ... ३८८
४८५–कर सौं तलवार गहौ जगदंबा ... ३८९
४८६–जीव ब्रह्म कैसे होता है (श्रीयोगेश्वरजी त्रिपाटी, बी० ए०) ... ३९०
४८७–भगवत्प्रेम (रा० श्री०) ... ३९०

४८८–पड़ोसी कौन ? (जा० श०) ··· ३९१
४८९–दर्शनकी पिपासा (रा० श्री०) ··· ३९१
४९०–परमात्मामें विश्वास (” ”) ··· ३९२
४९१–विश्वासकी शक्ति (” ”) ··· ३९२
४९२–दीनताका वरण (” ”) ··· ३९३
४९३–दरिद्रनारायणकी सेवा (” ”) ··· ३९४
४९४–अमर जीवनकी खोज (” ”) ··· ३९५
४९५–प्रभु-विश्वासी राजकन्या ··· ३९५
४९६–असहायके आश्रय (सु० सिं०) ··· ३९६
४९७–क्षणिक जीवन (” ”) ··· ३९७
४९८–सत्यं शिवं सुन्दरम् (जा० श०) ··· ३९७
४९९–मुझे एक ही बार मरना है (सु० सिं०) ··· ३९८
५००–गर्व किसपर ? (” ”) ··· ३९८
५०१–विषपान (रा० श्री०) ··· ३९८
५०२–सत्यभाषणका प्रताप (” ”) ··· ३९९
५०३–पिताके सत्यकी रक्षा (सु० सिं०) ··· ४०१
५०४–आतिथ्यका सुफल (रा० श्री०) ··· ४०२
५०५–धर्मप्रचारके लिये जीवनदान (सु० सिं०) ··· ४०३
५०६–मृतकके प्रति सहानुभूति (रा० श्री०) ··· ४०४
५०७–सच्चा बलिदान (” ”) ··· ४०४
५०८–संतकी एकान्तप्रियता (” ”) ··· ४०५
५०९–प्रार्थनाकी शक्ति (” ”) ··· ४०६
५१०–संतकी निर्भयता (” ”) ··· ४०६
५११–सौन्दर्यकी पवित्रता (” ”) ··· ४०७
५१२–संतकी सेवा-वृत्ति (” ”) ··· ४०७
५१३–संत प्रचारसे दूर भागते हैं (” ”) ··· ४०८
५१४–गरजनेके बाद बरसना भी चाहिये (सु० सिं०) ··· ४०९
५१५–कलाकी पूजा सर्वत्र होती है (रा० श्री०) ··· ४०९
५१६–मौनकी शक्ति (” ”) ··· ४१०
५१७–दैन्यकी चरम सीमा (” ”) ··· ४१०
५१८–निष्कपट आश्वासन (” ”) ··· ४१०
५१९–समयका मूल्य (” ”) ··· ४११
५२०–भद्रमहिलाका स्वच्छन्द घूमना उचित नहीं (रा० श्री०) ··· ४११
५२१–कष्टमें भी क्रोध नहीं ··· ४१३
५२२–‘न मे भक्तः प्रणश्यति’ (रा० श्री०) ··· ४१३
५२३–व्यभिचारीका जीवन बदल गया (” ”) ··· ४१४
५२४–पवित्र अन्न [गुरु नानकदेवका अनुभव] ··· ४१४
५२५–गुरु-भक्ति ··· ४१५
५२६–सत्य निष्ठा [गुरु रामसिंह] ··· ४१५
५२७–पंजाब-केसरीकी उदारता ··· ४१६
५२८–नामदेवकी समता-परीक्षा ··· ४१
५२९–एकनाथजीकी अक्रोध-परीक्षा ··· ४१
५३०–तुकारामका विश्वास ··· ४१
५३१–सेवा-भाव [समर्थका पनवट्टा] ··· ४१
५३२–देशके लिये बलिदान (सु० सिं०) ··· ४१
५३३–उदारता (” ”) ··· ४१
५३४–सार्वजनिक सेवाके लिये त्याग (” ”) ··· ४२
५३५–सत्यकी शक्तिका अद्भुत चमत्कार (श्री-रघुनाथप्रसादजी पाठक) ··· ४२
५३६–सत्यवादितासे उन्नति (रा० श्री०) ··· ४२
५३७–सच्ची मित्रता (सु० सिं०) ··· ४२
५३८–दो मित्रोंका आदर्श-प्रेम ··· ४२
५३९–सद्भावना (रा० श्री०) ··· ४२
५४०–‘स्वर्ग ही हाथसे निकल जायगा’ (” ”) ··· ४२
५४१–प्रार्थनाका प्रभाव (” ”) ··· ४२
५४२–जीवन-व्रत (” ”) ··· ४२६
५४३–आप बड़े डाकू हैं (” ”) ··· ४२७
५४४–सिकन्दरकी मातृ-भक्ति ··· ४२७
५४५–कलाकारकी शिष्टता (रा० श्री०) ··· ४२८
५४६–सुलेमानका न्याय (” ”) ··· ४२९
५४७–चोरीका त्याग (” ”) ··· ४२९
५४८–सभ्यता (सु० सिं०) ··· ४३०
५४९–देश-भक्ति (रा० श्री०) ··· ४३०
५५०–कर्तव्य-पालन (” ”) ··· ४३१
५५१–आनन्दघनकी खीझ ··· ४३१
५५२–आज्ञा-पालन (रा० श्री०) ··· ४३३
५५३–भ्रातृप्रेम (सु० सिं०) ··· ४३३
५५४–उत्तम कुलाभिमान (” ”) ··· ४३४
५५५–अपनी प्रशंसासे अरुचि (” ”) ··· ४३४
५५६–संयम मनुष्यको महान् बनाता है (” ”) ··· ४३५
५५७–मानवता (” ”) ··· ४३५
५५८–सद्भाव (” ”) ··· ४३६
५५९–अद्भुत साहस (” ”) ··· ४३६
५६०–भारको सम्मान दो (” ”) ··· ४३७
५६१–न्यूटनकी निरभिमानता (जा० श०) ··· ४३७
५६२–गरीबोंकी उपेक्षा पूरे समाजके लिये घातक है (सु० सिं०) ··· ४३८
५६३–लोभका बुरा परिणाम [विचित्र बाँसुरीवाला] ४३८
५६४–उसकी मानवता धन्य हो गयी (रा० श्री०) ··· ४४०
५६५–प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरेका सेवक है (” ”) ··· ४४०
५६६–परिश्रम गौरवकी वस्तु है (सु० सिं०) ··· ४४१
५६७–क्षमाशीलता (रा० श्री०) ··· ४४१

५६८–श्रमका फल (रा० श्री०) ··· ४४२
५६९–अन्त भला तो सब भला (जा० श०) ··· ४४२
५७०–उद्यमका जादू ··· ··· ४४३
५७१–न्यायका सम्मान (गो० न० बैं०) ··· ४४३
५७२–स्वावलम्बनका फल (” ”) ··· ४४४
५७३–निर्माता और विजेता (जा० श०) ··· ४४५
५७४–स्वावलम्बी विद्यार्थी ··· ··· ४४५
५७५–आदर्श दण्ड ··· ··· ४४६
५७६–अन्यायका पैसा ··· ··· ४४७
५७७–ईश्वरके विधानपर विश्वास ··· ··· ४४८
५७८–दीपक जलाकर देखो तो [युद्धके समय एक सैनिकका अनुभव] ··· ··· ४४८
५७९–दया ··· ··· ४४९
५८०–अद्भुत त्याग (रा० श्री०) ··· ४४९
५८१–दयालु बादशाह ··· ··· ४५०
५८२–परोपकार और सचाईका फल ··· ४५१
५८३–जीवन-दर्शन (रा० श्री०) ··· ४५३
५८४–मृत्युकी खोज (” ”) ··· ४५४
५८५–लड़का गाता रहा (” ”) ··· ४५४
५८६–महल नहीं, धर्मशाला ··· ··· ४५५
५८७–दानका फल ··· ··· ४५५
५८८–एकान्त कहीं नहीं ··· ··· ४५६
५८९–उदार स्वामी ··· ··· ४५६
५९०–विषयोंमें दुर्गन्ध ··· ··· ४५७
५९१–रुपया मिला और भजन छूटा ··· ४५७
५९२–धनका परिणाम—हिंसा (सु० सिं०) ··· ४५८
५९३–डाइन खा गयी ··· ··· ४५८
५९४–यह वत्सलता ! (रा० श्री०) ··· ४६०
५९५–वह अपने प्राणपर खेल गयी (,, ,,) ··· ४६१
५९६–मनुष्यका गर्व व्यर्थ है (सु० सिं०) ··· ४६१
५९७–अच्छी फसल (रा० श्री०) ··· ४६२
५९८–महान् वैज्ञानिककी विनम्रता ··· ४६२
५९९–प्रेमका झरना (रा० श्री०) ··· ४६३
६००–बुद्धिमानीका परिचय (,, ,,) ··· ४६३
६०१–प्रार्थनाका फल (,, ,,) ··· ४६४
६०२–सच्चा साहसी (,, ,,) ··· ४६४
६०३–मृत्युकी घाटी (,, ,,) ··· ४६५
६०४–ईश्वर रक्षक है (सु० सिं०) ··· ४६६
६०५–दयालु स्वामीके दिये दुःखका भी स्वागत (सु० सिं०) ··· ४६६
६०६–ईश्वरके साथ (,, ,,) ··· ४६७
६०७–भगवान् सब अच्छा ही करते हैं (,, ,,) ··· ४६७
६०८–सब अवस्थामें भगवत्कृपाका अनुभव (शि० दु०) ··· ४६८
६०९–दो मार्ग (,, ,,) ··· ४६८
६१०–अहंकार तथा दिखावटसे पुण्य नष्ट ··· ४६९
६११–सेवककी इच्छा क्या (सु० सिं०) ··· ४६९
६१२–सच्चा साधु (,, ,,) ··· ४७०
६१३–सच्चे भक्तका अनुभव (जा० श०) ··· ४७०
६१४–फकीरी क्यों ? (शि० दु०) ··· ४७०
६१५–अत्यधिक कल्याणकर (,, ,,) ··· ४७१
६१६–जीवन-क्षण (,, ,,) ··· ४७१
६१७–चेतावनी (,, ,,) ··· ४७१
६१८–शिक्षा (,, ,,) ··· ४७१
६१९–अस्थिर दृष्टि (,, ,,) ··· ४७२
६२०–निष्कपट स्वीकृति (,, ,,) ··· ४७२
६२१–सुरक्षार्थ (,, ,,) ··· ४७२
६२२–विवशता (,, ,,) ··· ४७३
६२३–संत-स्वभाव (सु० सिं०) ··· ४७४
६२४–सहनशीलता (शि० दु०) ··· ४७४
६२५–सुहृद् (,, ,,) ··· ४७४
६२६–मनुष्यका मांस (,, ,,) ··· ४७५
६२७–संतका व्यवहार (,, ,,) ··· ४७५
६२८–क्रोधहीनताका परिणाम (,, ,,) ··· ४७६
६२९–साधुता (,, ,,) ··· ४७६
६३०–सहिष्णुता (,, ,,) ··· ४७६
६३१–संतका सद्व्यवहार (सु० सिं०) ··· ४७७
६३२–क्रोध असुर है ··· ··· ४७७
६३३–क्या यह तुझे शोभा देगा ! ··· ४७७
६३४–दायें हाथका दिया बायाँ हाथ भी न जान पाये (जा० श०) ··· ४७८
६३५–अच्छा पैसा ही अच्छे काममें लगता है ··· ४७८
६३६–धनके दुरुपयोगका परिणाम (रा० श्री०) ··· ४७९
६३७–दरिद्र कौन है ! (शि० दु०) ··· ४८०
६३८–स्वावलम्बीका बल (जा० श०) ··· ४८०
६३९–नित्य अभिन्न [उमा-महेश्वर] ··· ४८१
६४०–मित्र चोर निकला (रा० श्री०) ··· ४८२
६४१–आप सुलतान कैसे हुए ! (सु० सिं०) ··· ४८२
६४२–सद्भावना-रक्षा (शि० दु०) ··· ४८३
६४३–तल्लीनता (,, ,,) ··· ४८३
६४४–माताकी सेवा (,, ,,) ··· ४८४
६४५–करुणाका आदर्श (जा० श०) ··· ४८४
६४६–अतिथिकी योग्यता नहीं देखनी चाहिये (सु० सिं०) ··· ४८५

६४७–उचित न्याय (जा० श०) ··· ४८५

६४८–उपासनामें तन्मयता चाहिये (सु० सिं०) ··· ४८६

६४९–उत्तमताका कारण (,, ,,) ··· ४८६

६५०–आजसे मैं ही तुम्हारा पुत्र और तुम मेरी माँ (जा० श०) ··· ४८७

६५१–ऐसा कोई नहीं जिससे कोई अपराध न बना हो (सु० सिं०) ··· ४८८

६५२–तू भिखारी मुझे क्या देगा ··· ··· ४८८

६५३–न्यायकी मर्यादा (सु० सिं०) ··· ४८९

६५४–शरणागत-रक्षा (,, ,,) ··· ४८९

६५५–सच्ची न्याय-निष्ठा (,, ,,) ··· ४९०

६५६–अपरिग्रह (रा० श्री०) ··· ४९१

६५७–दानी राजा (,, ,,) ··· ४९२

६५८–स्वागतका तरीका (जा० श०) ··· ४९२

६५९–कर्तव्यके प्रति सावधानी (सु० सिं०) ··· ४९३

६६०–कर्तव्यनिष्ठा (,, ,,) ··· ४९४

६६१–नीति (,, ,,) ··· ४९४

६६२–अपूर्व स्वामि-भक्ति ··· ··· ४९४

६६३–अतिथिके लिये उत्सर्ग ··· ··· ४९५

६६४–शौर्यका सम्मान ··· ··· ४९५

६६५–मैं आपका पुत्र हूँ ··· ··· ४९६

६६६–चन्द्राकी मरणचन्द्रिका (रा० श्री०) ··· ४९७

६६७–लाजवंतीका सतीत्व-लालित्य ··· ४९९

६६८–अभिमानकी चिकित्सा [मन्दाकिनीका मोहभङ्ग] (सु० सिं०) ··· ५०१

६६९–सच्ची पतिव्रता [जयदेव-पत्नी] (” ”) ··· ५०३

६७०–अच्छे पुरुष साधारण व्यक्तिकी बातोंका भी ध्यान करके कर्त्तव्यपालन करते हैं ··· ५०३

६७१–नाविककी सीख ··· ··· ५०३

६७२–प्रेमकी शिक्षा (प्रेषक-सेठ श्रीहरकिशनजी) ··· ५०४

६७३–निन्दाकी प्रशंसा (जा० श०) ··· ५०५

६७४–धर्मो रक्षति रक्षितः (,, ,,) ··· ५०६

६७५–उचित गौरव (सु० सिं०) ··· ५०७

६७६–है और नहीं (,, ,,) ··· ५०७

६७७–वस्तुका मूल्य उसके उपयोगमें है (,, ,,) ५०८

६७८–अमरफल ··· ··· ५०८

६७९–आँख और कानमें भेद ··· ··· ५०९

६८०–तैरना जानते हो या नहीं? ··· ··· ५०९

६८१–बुढ़ियाकी झोंपड़ी ··· ··· ५०९

६८२–नियम टूटने मत दो (सु० सिं०) ··· ५१०

६८३–नियम-पालनका लाभ (,, ,,) ··· ५१०

६८४–सफलताके लिये श्रद्धाके साथ श्रम भी चाहिये (सु० सिं०) ··· ५१

६८५–धनका गर्व उचित नहीं (,, ,,) ··· ५१

६८६–फलनेका मौका देना चाहिये (रा० श्री०) ··· ५१

६८७–नित्य-दम्पति [श्रीराधा-कृष्ण-परिणय] ··· ५१

६८८–सच्चा अध्ययन (सु० सिं०) ··· ५१

६८९–कर्मफल ··· ··· ५१

६९०–लक्ष्मीका वास कहाँ है ? (सु० सिं०) ··· ५१

६९१–ऋण चुकाना ही पड़ता है (,, ,,) ··· ५१

६९२–अपनी करनी अपने सिर (” ”) ··· ५१

६९३–अद्भुत पराक्रम (रा० श्री०) ··· ५१

६९४–गाँधीजीके तनपर एक लंगोटी ही क्यों? (जा० श०) ५१

६९५–काल करे सो आज कर (सु० सिं०) ··· ५१

६९६–ग्रीजेलने अपने पिताको फाँसीसे कैसे बचाया? (,,) ५१

६९७–उदारता और परदुःखकातरता ··· ५१

६९८–श्रमकी महत्ता (रा० श्री०) ··· ५१

६९९–कर्तव्यपालनका महत्त्व ··· ··· ५१

७००–नेक कमाईकी बरकत (जा० श०) ··· ५१

७०१–सच्ची नीयत (रा० श्री०) ··· ५२

७०२–पारमार्थिक प्रेम बेचनेकी वस्तु नहीं ··· ५२

७०३–सहायता लेनेमें संकोच ··· ··· ५२

७०४–ग्रामीणकी ईमानदारी ··· ··· ५२

७०५–लोभका फल (रा० श्री०) ··· ५२

७०६–श्रीचैतन्यका महान् त्याग ··· ··· ५२

७०७–साधुके लिये स्त्री-दर्शन ही सबसे बड़ा पाप ··· ५२

७०८–सच्चा गीता-पाठ ··· ··· ५२

७०९–नामनिष्ठा और क्षमा ··· ··· ५२

७१०–कैयटकी निःस्पृहता ··· ··· ५२

७११–पति-पत्नी दोनों निःस्पृह ··· ··· ५२

७१२–दूसरोंकी तृप्तिमें तृप्ति ··· ··· ५२

७१३–सच्ची शोभा ··· ··· ५२

७१४–जुए या सट्टेमें मनुष्य विवेकहीन हो जाता है (सु० सिं०) ··· ५२

७१५–विवेकहीनता (रा० श्री०) ··· ५२

७१६–मनका पाप ··· ··· ५२

७१७–अन्न-दोष ··· ··· ५३

७१८–विजयोन्मादके क्षणोंमें (रा० श्री०) ··· ५३

७१९–कृतज्ञताका मूल्य (जा० श०) ··· ५३

७२०–संसर्गसे गुण-दोष (सु० सिं०) ··· ५३

७२१–दुर्जन-सङ्गका फल (,, ,,) ··· ५३

७२२–सच्चे आदमीकी खोज (रा० श्री०) ··· ५३

७२३–परिवर्तनशीलके लिये सुख-दुःख क्या मानना (सु० सिं०) ··· ५३

७२४–टूनलालको कौन मार सकता है ··· ५३

७२५–कुत्ता श्रेष्ठ है या मनुष्य … … ५३४
७२६–संतकी विचित्र असहिष्णुता … ५३४
७२७–गरीब चोरसे सहानुभूति … … ५३५
७२८–संत-स्वभाव (सु० सिं०) … ५३५
७२९–दूसरोंके दोष मत देखो (" ") … ५३६
७३०–सबसे बड़ा दान अभयदान (" ") … ५३७
७३१–अपने प्रति अन्याय … … ५३७
७३२–सबसे अपवित्र है क्रोध … … ५३८
७३३–निष्पाप हो वह पत्थर मारे … … ५३८
७३४–ऋण लेकर भूलना नहीं चाहिये … ५३९
७३५–सच्चा वीर … … ५३९
७३६–सम्मान पदमें है या मनुष्यतामें … ५४०
७३७–कुसङ्गका दुष्परिणाम … … ५४१
७३८–सहनशीलता … … ५४१
७३९–क्षमा … … ५४१
७४०–पवित्र बलिदान (रा० श्री०) … ५४२
७४१–वैष्णवकी नम्रता … … ५४२
७४२–संतकी सहनशीलता … … ५४३
७४३–'बोले नहीं तो गुस्सा मरे' … … ५४३
७४४–क्रोधमें मनुष्य हितैषीको भी मार डालता है (सु० सिं०) … … ५४४
७४५–अक्रोध … … ५४४
७४६–ब्रह्मज्ञानका अधिकारी … … ५४५
७४७–सोनेका दान … … ५४५
७४८–किसी भी हालतमें निर्दोष नहीं … ५४६
७४९–सभी परमात्माकी संतान हैं … ५४७
७५०–मांस सस्ता या महँगा ? (सु० सिं०) … ५४७
७५१–अभी बहुत दिन हैं (" ") … ५४८
७५२–अपने अनुभवके बिना दूसरेके कष्टका ज्ञान नहीं होता (सु० सिं०) … ५४८
७५३–अन्यायका कुफल (जा० श०) … ५४९
७५४–आसक्तिका अन्तर (सु० सिं०) … ५४९
७५५–अशर्फियोंसे घृणा … … ५५०
७५६–त्याग या बुद्धिमानी (सु० सिं०) … ५५०
७५७–गर्व किसपर ? (,, ,,) … ५५१
७५८–अनधिकारी राजा (,, ,,) … ५५१
७५९–सुकुमार वीर … … ५५२
७६०–किससे माँगूँ ? … … ५५३
७६१–सच्चा त्याग और क्षमा … … ५५३
७६२–साधुवेष बनाकर धोखा देना बड़ा पाप है … ५५४
७६३–दयासे बादशाही … … ५५४
७६४–प्राणी-सेवासे ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति … ५५४
७६५–मेहनतकी कमाई और उचित वितरणसे प्रसन्नता ५५५
७६६–कहानीके द्वारा वैराग्य … … ५५५
७६७–महत्त्व किसमें ? (सु० सिं०) … ५५६
७६८–संसारका स्वरूप (,, ,,) … ५५७
७६९–अभीसे अभ्यास होना अच्छा (,, ,,) … ५५८
७७०–स्वयं पालन करनेवाला ही उपदेश देनेका अधिकारी है … … ५५८
७७१–पुरुष या स्त्री ? (सु० सिं०) ५५९
७७२–मेरा भी अनुकरण करनेवाले हैं (,, ,,) ५६०
७७३–ईश्वर श्रद्धासे जाना जाता है (,, ,,) ५६०
७७४–वेषसे साधु साधु नहीं, गुणोंसे साधु साधु है (सु० सिं०) … … ५६१
७७५–मैं किसीका कल्याण करूँ और उसे जान भी न पाऊँ (जा० श०) … … ५६१
७७६–अनन्य निष्ठा … … ५६२
७७७–सच्चा साधु—भिखारी … … ५६२
७७८–भगवान्पर मनुष्य-जितना भी विश्वास नहीं ! (सु० सिं०) … … ५६३
७७९–सच्ची श्रद्धा … … ५६३
७८०–हककी रोटी … … ५६४
७८१–संतकी क्षमा … … ५६४
७८२–नीचा सिर क्यों ? … … ५६४
७८३–आतिथ्य धर्म … … ५६५
७८४–अस्तेय … … ५६५
७८५–कामना कष्टदायिनी … … ५६६
७८६–सच्चा भाव … … ५६६
७८७–भगवान्की कृपापर विश्वास (सु० सिं०) … ५६६
७८८–कौड़ियोंसे भी कम कीमत … … ५६७
७८९–एक पैसेकी भी सिद्धि नहीं … … ५६८
७९०–हम मूर्ख क्यों बनें (सु० सिं०) … ५६८
७९१–वास्तविक उदारता (,, ,,) … ५६८
७९२–भगवान्का भरोसा (रा० श्री०) … ५६९
७९३–विश्वासका फल … … ५६९
७९४–विचित्र बहुरूपिया … … ५७०
७९५–नींद कैसे आवे ? … … ५७०
७९६–नीच गुरु … … ५७१
७९७–रूप नादमें देख लो … … ५७१
७९८–मांस, मेद, मज्जाकी सुन्दरता कसाईखानेमें बहुत है ५७२
७९९–सतीत्वकी रक्षा (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') … ५७३
८००–शास्त्रीजीपर कृपा … … ५७४
८०१–पुलिस कप्तान साहेबकी गणेशभक्ति … ५७५
८०२–बाँधकी रक्षा … … ५७५

८०३–धर्मके नामपर हिंसा (सु० सिं०) ··· ५७५
८०४–आर्यकन्याकी आराध्या ··· ··· ५७६
८०५–ब्राह्मणीके द्वारा जीवरक्षा (ले०—श्रीकृपाशङ्कर 'जयराम') ··· ··· ५७७
८०६–गोपाल पुत्ररूपमें ··· ··· ५७७
८०७–भगवान्‌के दर्शन ··· ··· ५७९
८०८–सेवा-कुञ्जमें दर्शन ··· ··· ५७९
८०९–प्रभुकी वस्तु ··· ··· ५८०
८१०–देवीजीके दर्शन ··· ··· ५८०
८११–भक्तकी रक्षा ··· ··· ५८०
८१२–अंधा हो गया ··· ··· ५८१
८१३–वात्सल्य ··· ··· ५८१
८१४–वात्सल्यवती वृद्धा ··· ··· ५८१
८१५–कुष्ठीके रूपमें भगवान् ··· ··· ५८२
८१६–शिव-पार्वतीकी कृपा ··· ··· ५८२
८१७–अन्त मति सो गति ··· ··· ५८२
८१८–विवाहमें भी त्याग ··· ··· ५८३
८१९–भगवन्नामसे रोगनाश (जा० श०) ··· ५८३
८२०–रामनामसे शराबकी आदत भी छूटी ··· ५८४
८२१–भगवत्प्राप्तिके लिये कैसी व्याकुलता अपेक्षित ५८४
८२२–लक्ष्य और साधना ··· ··· ५८४
८२३–भगवान् सदा साथ हैं (कु० रा०) ··· ५८५
८२४–सरयूजीसे रास्ता (,, ,,) ··· ५८५
८२५–बिहारीजी गवाह (,, ,,) ··· ५८६
८२६–पहले ललिताजीके दर्शन कीजिये(,, ,,)··· ५८७
८२७–मेरे तो बहिन-बहनोई दोनों हैं ··· ५८७
८२८–विश्वास करके लड़की यमुनाजीमें पार हो गयी ५८८
८२९–हिंसाका कुफल (श्रीलीलाधरजी पाण्डेय) ··· ५८८
८३०–साधु-महात्माको कुछ देकर आना चाहिये (डा० श्रीयतीशचन्द्र राय) ··· ५८९
८३१–बाबा ! शेर बनकर गीदड़ क्यों बनते हो ? (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· ५८९
८३२–भगवतीने कन्यारूपसे टटिया बाँधी (श्रीहरिश्चन्द्रदासजी बी० ए०)··· ५९०
८३३–अद्भुत उदारता ··· ··· ५९१
८३४–सेवाका अवसर ही सौभाग्य है ··· ५९१
८३५–नौकरके साथ उदार व्यवहार ··· ५९२
८३६–भगवान्‌का विधान ··· ··· ५९२
८३७–सबमें भगवद्दर्शन ··· ··· ५९३
८३८–ठीकरी पैसा बराबर ··· ··· ५९३
८३९–शरीरका सदुपयोग (रा० श्री०) ··· ५९३
८४०–आत्मसम्बन्ध (,, ,,) ··· ५९४
८४१–मेहतरके लिये पगड़ी (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· ··· ५९
८४२–आत्मप्रचारसे विमुखता (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर) ··· ··· ५९
८४३–मुझे अशर्फियोंके थाल नहीं, मुट्ठीभर आटा चाहिये (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· ५९
८४४–व्रजवासियोंके टुकड़ोंमें जो आनन्द है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है (,, ,,) ··· ५९
८४५–आदर्श बी०ए० बहू (पं०श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी) ६०
८४६–श्रद्धा और मनोबलका चमत्कार (कविविनोद वैद्यभूषण पं० श्रीठाकुरदत्तजी शर्मा 'वैद्य')··· ६०
८४७–चोरके साथ चोर ··· ··· ६०
८४८–महाशक्ति ही पालिका हैं ··· ··· ६०
८४९–शास्त्रार्थ नहीं करूँगा ··· ··· ६०
८५०–सच्चे महात्माके दर्शनसे लाभ (श्री सी० एल० भाटिया) ··· ··· ६०
८५१–पाँच सेर भजन ! ··· ··· ६१०
८५२–विपत्तिका मित्र (श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार) ६१०
८५३–जाति-विरोधसे अनर्थ (सु० सिं०) ··· ६१
८५४–सुख-दुःखका साथी ··· ··· ६१
८५५–आदर्श मित्र (जा० श०) ··· ६१
८५६–एक अनुभव (श्रीरामरुद्रप्रसादसिंहजी आई० ए० एस्०) ··· ··· ६१४
८५७–कपोतकी अतिथि-सेवा (जा०श०) ··· ६१४
८५८–खूब विचारकर कार्य करनेसे ही शोभा है ··· ६१६
८५९–मिथ्या गर्वका परिणाम (सु० सिं०) ··· ६१७
८६०–संकटमें बुद्धिमानी (जा० श०) ··· ६१८
८६१–बहुमतका सत्य (सु० सिं०) ··· ६२०
८६२–स्वतन्त्रताका मूल्य (जा० श०) ··· ६२१
८६३–बुरी योनिसे उद्धार (,, ,,) ··· ६२२
८६४–सबसे भयंकर शत्रु—आलस्य (,, ,,) ··· ६२२
८६५–सत्य-निष्ठाका प्रभाव (सु० सिं०) ··· ६२३
८६६–संसारके सुखोंकी अनित्यता (,, ,,) ··· ६२४

अवतार-कथा

८६७–श्रीमत्स्यावतार-कथा (स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज) ··· ६२५
८६८–श्रीकच्छपावतार-कथा ··· ६३८
८६९–श्रीवाराहावतार-कथा ··· ६५४
८७०–श्रीनृसिंहावतार-कथा (,,) ··· ६६१
८७१–श्रीवामनावतार-कथा (,,) ··· ६८७
८७२–सम्पादकका निवेदन और क्षमाप्रार्थना ··· ७०३
८७३–सत्कथा [कविता] ··· ··· ७०४

चित्र-सूची

सुनहरी

संख्या — पृष्ठ

१–गुरुकी गोदमें मचले राम ९७
२–राम-दरबारमें कुत्तेको न्याय २८८
३–आर्यकन्याकी आराध्या—सीताजीका गौरीपूजन ··· ५७६

रंगीन

४–पादुका-पूजनमें संलग्न भरत भीतरी टाइटल मुखपृष्ठ
५–नवनिकुञ्जमें श्यामा-श्याम १
६–आर्तजगत्के आश्रय—भगवान् नारायण ··· ४९
७–हारेहुँ खेल जितावहिं मोही (भ्रातृप्रेम) ··· १४५
८–भक्त विमलतीर्थपर कृपा १९२
९–क्षुद्र गिलहरीपर सर्वेश्वर रामकी कृपा ··· २४१
१०–माता-पिताके चरणोंमें—प्रथम पूज्य गणेशजी ··· ३३६
११–अजेय राम-सेवक—महावीर हनुमान्जी ··· ३८५
१२–आनन्दघनकी खीझ ··· ४३२
१३–नित्य अभिन्न—उमा-महेश्वर ४८१
१४–नित्य-दम्पति—श्रीराधा-कृष्ण-विवाह ··· ५१२
१५–सुकुमार वीर—भीष्मके प्रति श्रीकृष्ण चाबुक लेकर दौड़े ··· ५५२
१६–महामाया महाशक्ति शाकम्भरी देवी ··· ६०८

दुरंगे

१७–सत्कथाङ्क (मुखपृष्ठ)

इकरंगे

१८–प्रथम पृष्ठका हेडिंग
१९–कुमारी केशिनीका त्याग—प्रह्लादका न्याय ··· ३२
२०–धीरताकी पराकाष्ठा—मयूरध्वजका बलिदान ··· ३२
भगवान् कहाँ-कहाँ रहते हैं !
२१–माता-पिताके सेवक पुत्रके घर ··· ७२
२२–पतिव्रता स्त्रीके घर ७२
२३–सत्यवादी ईमानदार व्यापारीके घर ··· ७२
२४–जितेन्द्रिय मित्रके घर ... ७२
२५–रामनामकी अलौकिक महिमा ··· ११२
२६–विश्वासकी विजय ··· ११३
२७–शबरीकी दृढ़ निष्ठा ··· ११३
२८–सच्ची निष्ठा ··· ११३
२९–जगदम्बाकी कृपा ··· ११३
३०–चोरीका दण्ड ··· १५२
३१–मक्खिका वैराग्य ··· १५२
३२–दुःखदायी परिहासका दुष्परिणाम ··· १५२
३३–परिहाससे ऋषि-तिरस्कार-का कुफल ··· १५२
३४–स्वर्गमें अद्भुत दाता ··· १५३
३५–मृत्युका कारण अपना ही कर्म ··· १५३
३६–दुरभिमानका परिणाम ··· १५३
३७–आश्रितका त्याग स्वीकार नहीं ··· १५३
३८–रोम-रोमसे 'जय कृष्ण' ध्वनि ··· १८४
३९–आनन्द और प्रेमका रस-नृत्य ··· १८५
४०–अर्जुनका अभिमान-भङ्ग २२४
४१–अर्जुनका भक्ति-अभिमान-भङ्ग ··· २२४
४२–नारदका अभिमान-भङ्ग ··· २२४
४३–नारदका कामजय-अभिमान-भङ्ग ··· २२४
४४–इन्द्रका गर्व-भङ्ग ··· २२५
४५–गरुड़-सुदर्शन आदिका गर्व-भङ्ग ··· २२५
४६–मारुतिका गर्व-भङ्ग ··· २२५
४७–भीमका गर्व-भङ्ग ··· २२५
४८–किसीकी हँसी उड़ाना उसे शत्रु बनाना है ··· २६४
४९–परिहासका दुष्परिणाम ··· २६४
५०–भगवन्नाम समस्त पापोंको भस्म कर देता है ··· २६५
५१–भगवन्नाम-जप करने-वाला सदा निर्भय है ··· २६५
५२–अद्भुत क्षमा ··· २६५
५३–कुन्तीका त्याग ··· २६५
५४–प्रेम-तपस्विनी ब्रह्मविद्या ३०४
५५–हंसोंके द्वारा भीष्मको संदेश ३०५
५६–राक्षसीका उद्धार ··· ३४४
५७–परोपकारका आदर्श ··· ३४४
५८–न्याय और धर्म ··· ३४५
५९–शास्त्रज्ञानने रक्षा की ··· ३४५
६०–विक्रमकी जीव-दया ··· ३४५
६१–सर्वस्वदान ··· ३४५
६२–भिखारिणीका अक्षय भिक्षापात्र ··· ३७६
६३–अहिंसाका चमत्कार ··· ३७६
६४–हृदय-परिवर्तन ··· ३७६
६५–नर्तकीका अनुताप ··· ३७६
६६–निष्पक्ष न्याय ··· ३७७
६७–अहिंसाकी हिंसापर विजय ३७७
६८–वैभवको धिक्कार है ··· ३७७
६९–शूलीसे सिंहासन ··· ३७७
७०–पवित्र अन्न ··· ४१६
७१–गुरु-भक्ति ··· ४१६
७२–सत्यनिष्ठा ··· ४१६
७३–उदारता ··· ४१६
७४–नामदेवकी समता-परीक्षा ४१७
७५–एकनाथकी अक्रोध-परीक्षा ४१७
७६–तुकारामका विश्वास ··· ४१७
७७–समर्थका पनबट्टा ··· ४१७
७८–महल नहीं, धर्मशाला ··· ४५६
७९–दानका फल ··· ४५६
८०–एकान्त कहीं नहीं ··· ४५६
८१–उदार स्वामी ··· ४५६
८२–विषयोंमें दुर्गन्ध ··· ४५७
८३–डाइन खा गयी ··· ४५७
८४–धनका परिणाम ··· ४५७
८५–रुपया मिला कि भजन छूटा ४५७
८६–स्वामिभक्तिका आदर्श ··· ४९६
८७–अतिथि-सत्कार ··· ४९६

८८–शौर्यका सम्मान ··· ४९६
८९–मातृ-दर्शन ··· ४९६
९०–चन्द्राकी मरण-चन्द्रिका ४९७
९१–लाजवंतीका सतीत्व-लालित्य ४९७
९२–अभिमानकी चिकित्सा ··· ४९७
९३–पतिव्रताका व्रत ··· ४९७
९४–श्रीचैतन्यका त्याग ··· ५२४
९५–नामनिष्ठा और क्षमा ··· ५२४
९६–सच्चा गीता-पाठ ··· ५२४
९७–साधुके लिये स्त्री-दर्शन ही बड़ा पाप ··· ५२४
९८–कैयटकी निःस्पृहता ··· ५२५
९९–पति-पत्नी दोनों निःस्पृह ५२५
१००–दूसरोंकी तृप्तिमें तृप्ति ··· ५२५
१०१–सच्ची शोभा ··· ५२५
१०२–निष्पाप हो, वह पत्थर मारे ५४०
१०३–ऋण लेकर भूलना नहीं ५४०
१०४–सच्चा वीर ··· ५४०
१०५–सम्मान पदमें है या मनुष्यतामें ··· ५४०
१०६–कुसङ्गका परिणाम ··· ५४१
१०७–सहनशीलता ··· ५४१
१०८–क्षमा ··· ··· ५४१
१०९–पवित्र बलिदान ··· ५४१
११०–सच्ची श्रद्धा ··· ··· ५६४
१११–हककी रोटी ··· ५६४
११२–संतकी क्षमा ··· ५६४
११३–नीचा सिर क्यों ··· ५६४
११४–आतिथ्य-धर्म ··· ५६५
११५–अस्तेय ··· ५६५
११६–कामना कष्टदायिनी ··· ५६५
११७–सच्चा भाव ··· ५६५
११८–अद्भुत उदारता ··· ५
११९–सेवाका असर ··· ५
१२०–नौकरसे उदार व्यवहार ५
१२१–भगवान्‌का विधान ··· ५
१२२–स्वप्नमें भगवद्दर्शन ··· ५
१२३–ठीकरी पैसा बराबर ··· ५
१२४–शरीरका सदुपयोग ··· ५
१२५–आत्म-सम्बन्ध ··· ५
१२६–मिथ्या गर्वका परिणाम ··· ६
१२७–संकटमें बुद्धिमानी ··· ६
१२८–बहुमतका सत्य ··· ६
१२९–स्वतन्त्रताका मूल्य ··· ६
१३०–बुरी योनिसे उद्धार ··· ६
१३१–संसारके सुखोंकी अनित्यता ६
१३२–सत्यनिष्ठाका प्रभाव ··· ६
१३३–सबसे भयंकर शत्रु आलस्य ६

नामजपके लिये प्रार्थना

गत वर्षके ११ वें अङ्कमें श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रतिवर्षकी भाँति प्रार्थना की गयी थी। तदनुसार सैकड़ों महानुभावों और महिलाओंने नाम-जप करना-कराना आरम्भ कर दिया है। नाम-जप-विभागमें लगातार सूचनाएँ आ रही मेरी प्रेमी महानुभावों तथा माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे नाम-जपमें स्वयं भाग लें तथा कृपया अपने इष्ट-मित्रोंको प्रेम विनयपूर्वक प्रेरणा करके नाम-जपमें लगायें। कलियुगमें सर्वकल्याणकारी भगवन्नाम ही है—'इस विषयमें जानकारी करनी हो तो 'नाम-जप-विभाग' 'कल्याण' कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) को कृपया पत्र लिखें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—सम्पादक 'कल्या

हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थोंका संग्रह

गीताप्रेसमें प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकोंके संग्रहकी व्यवस्था की गयी है। उसमें बहुत-से ग्रन्थोंका संग्रह हो चुका और निरन्तर हो रहा है। अतएव जिनके पास प्राचीन हस्तलिखित संस्कृत या हिंदीके सचित्र या अचित्र ग्रन्थ हों और उन्हें सुरक्षित रखना चाहते हों, वे कृपया अपने ग्रन्थोंको गीताप्रेसके संग्रहालयके लिये भेज दें। डाक और रेलखर्च यह दिया जायगा। हमारा निवेदन है कि 'कल्याण'के ग्राहक और पाठक महोदय प्रयत्न करके ऐसे ग्रन्थ भिजवाकर प्रा ग्रन्थोंकी रक्षाके पवित्र कार्यमें सहायता करें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक, 'कल्याण' (गोरखपुर

G. Sarkar
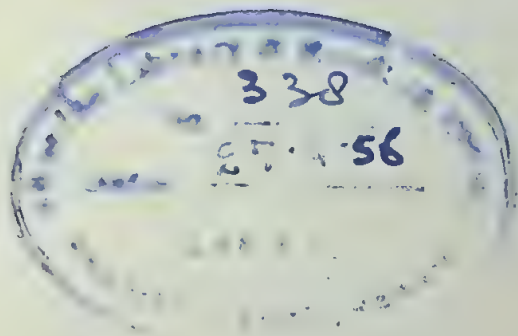
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
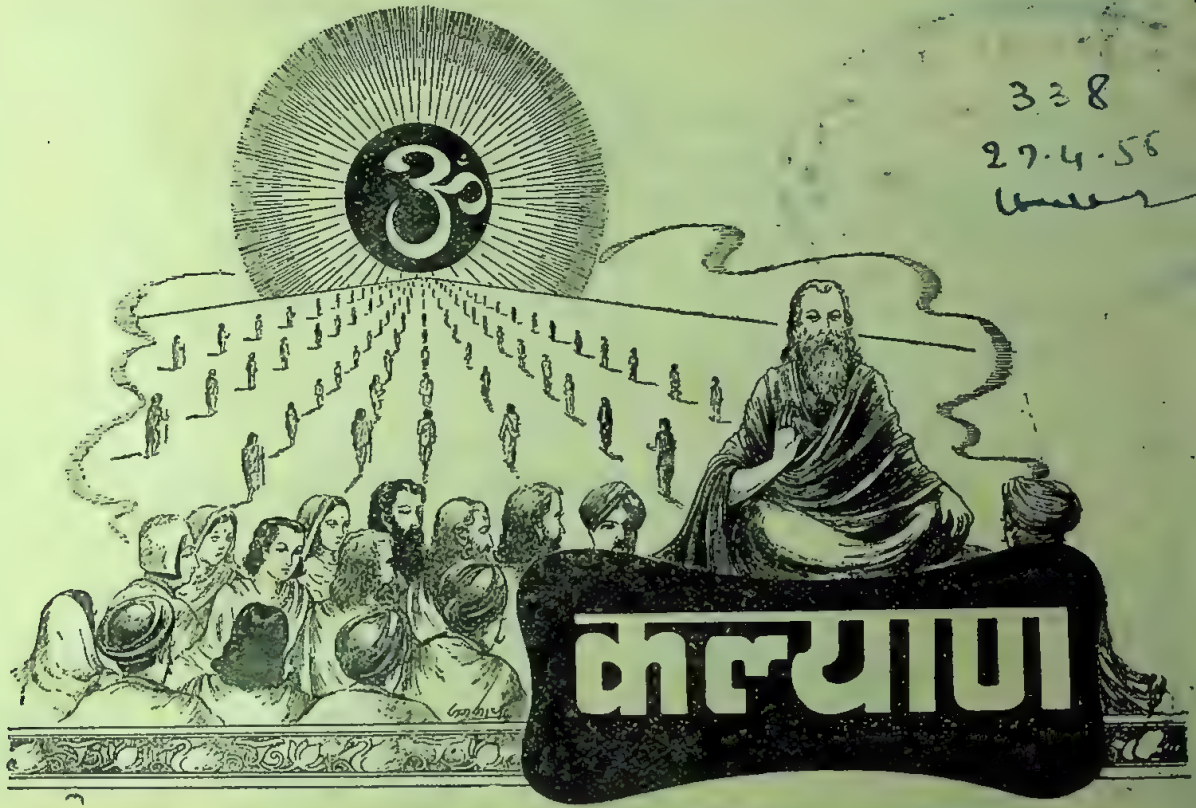
पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृत श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

र्ष ३० } गोरखपुर, सौर माघ २०१२, जनवरी १९५६ { संख्या १ पूर्ण संख्या ३५०

सत्कथाओंके मूल स्रोत और संतोंके परम ध्येय

(नवनिकुञ्जमें श्यामा-श्याम)

(१)

रसनिधान पावन वृंदावन रबि-तनया-तट सोहै,
नित नूतन निज सुख-सुषमा सौं सुर-नर-मुनि-मन मोहै ।
सेष सारदा हू पै जाकी सोभा बरनि न जाई,
जहँ पावस बसंत आदिक ऋतु संतत रहैं लुभाई ॥

(२)

जहाँ बेलि-तृन-तरु-समूह ह्वै संत मोच्छ-सुख धारैं,
बिकसित कुसुम सरिस नैनन सौं स्यामा स्याम निहारैं ।
वा वृंदाबन बीच मंजु इक नवल निकुंज बिराजै,
जाकी स्याममयी सुषमा लखि नंदन कोटिक लाजै ॥

(३)

मध्य मनोहर वा निकुंज के एक कदंब सुहावै,
निज अनुपम अनल्प महिमा सौं पादप कल्प लजावै ।
डाल-डाल अरु सघन पात बिच कुसुमित कुसुम घनेरे,
कै सुरराज जुगल छवि हेरत सहस नैन करि नेरे ॥

(४)

नीचे वा कदंब तरुबर के कोटि मदन छवि हारी
ठाढ़े ललित त्रिभंगी छवि सौं बृंदाबिपिन-बिहारी ।
बाइ ओर मदनमोहन के श्रीवृषभानुकिसोरी,
चितवति स्याम बिनत चितवन सौं मानौ चंद चकोरी ॥

(५)

मोर-मुकुट स्वर्नाभ सुघर सिर श्रीहरि के छवि पावै,
सीस चंद्रिका भानुसुता के भानु-बिभा बगरावै ।
पेखि स्याम द्युति पीत प्रिया को पीत बसन तन धारैं,
पिय के रँग सम नील-स्याम पट स्यामा अंग सँवारैं ॥

(६)

कुंडल लोल अमोल स्रवन बिच बक्ष बिमल बनमाला,
मुरली मधुर बजाइ बिस्व कौ मन मोहत नँदलाला ।
घूँघट नैक उठाइ हाथ सौं पिय-छवि निरखति प्यारी,
रूप-सुधा कौ दान पाइ त्यौं हिय हरषत बनवारी ॥

(७)

बिविध बरन आभरन बिभूषित रसिक-राय गिरिधारी,
झीन बसन भूषन कंचुक पट सोभित भानु-दुलारी ।
दोउन के दृग ह्वै चकोर बनि दोउ मुखचंद निहारैं,
प्रेम बिबस दोऊ दोउन पै तन-मन-सरबस वारैं ॥

(८)

परम प्रेम फलरूप, कोटि-सत रति-मन्मथ छवि छीने,
संत-हृदय-संपति दंपति नव लसत प्रनय-रस-भीने ।
ढारति चँवर जुगल प्रीतम कौं स्नेहमयी कोउ वामा,
अरपन कर सौं करति पान कौ बीरो कोउ अभिरामा ॥

(९)

सेवा-रत सहचरी-वृंद जुत स्याम और स्यामा की,
जाके हिय बिच बसति सदा यह भुवनमोहनी झाँकी ।
सोइ तापस गुनवंत संत सुचि, सोइ ध्यानी, सोइ ज्ञानी,
सोई लाह लह्यौ जीवन कौ भावुक भगत अमानी ॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

मूर्तिमान् सत्

(श्रीभरतजी)

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ॥
पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू । जीह नामु जप लोचन नीरू ॥
लखन राम सिय कानन बसहीं । भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं ॥

(मुखपृष्ठका बहुरंगा चित्र देखिये)

जिनके जीवनका प्रत्येक कण और प्रत्येक क्षण सर्वथा और सर्वदा 'सत्' से ओतप्रोत है, जो 'सत्' के परम आदर्श और मूर्तिमान् स्वरूप हैं, जिनका श्रीविग्रह 'सत्' स्वरूप श्रीराम-प्रेमसे ही बना हुआ है—

'राम प्रेम मूरति तनु आही ।'

—असत्का जिनके जीवनमें कभी स्वप्नमें भी संस्पर्श नहीं है, जो परम 'सत्स्वरूप' रामके भी स्मरण तथा जपके विषय हैं—

'सुमिरत जिनहि राम मन माहीं ।'
'जगु जप रामु रामु जप जेही ।'

—जिनका दर्शन करके भरद्वाजमुनि प्रयागवासियोंके साथ अपनेको भाग्यवान् मानते हैं और उनके दर्शनको रामदर्शन-का फल बतलाते हैं—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं । उदासीन तापस बन रहहीं ॥
सब साधन कर सुफल सुहावा । लखन राम सिय दरसनु पावा ॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा । सहित पयाग सुभाग हमारा ॥
भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ । कहि अस पेम मगन मुनि भयऊ ॥

'सुनो भरत ! हम वनवासी तपस्वी हैं, उदासीन हैं—हमारा कहीं राग-द्वेष या अपना-पराया नहीं है, न हमें कुछ चाहिये ही। हम किसी हेतुसे तुमसे बनावटी बात नहीं कहते—हम झूठ नहीं कहते। हमें तुमसे कुछ भी लेना-देना नहीं है। हम सत्य कहते हैं कि हमारे समस्त साधनोंका सुन्दर फल तो यह हुआ कि हमने सीता-लक्ष्मण-सहित रामका दर्शन प्राप्त किया और उस रामदर्शनका महान् फल है तुम्हारा दर्शन। समस्त प्रयागके साथ हमारा यह सौभाग्य है। भरत ! तुम धन्य हो। तुम्हारे यशने जगत्को जीत लिया।' यह कहकर मुनि भरद्वाज प्रेममग्न हो गये।

—जिनके महत्त्वका दिग्दर्शन कराते हुए परम सिद्ध ज्ञानी जनक महाराज सजल-नेत्र और पुलकित-शरीर होकर मुदित मनसे एकान्तमें अपनी धर्मपत्नीसे कहते हैं—

सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि । भरत कथा भव-बंध-बिमोचनि ॥
धरम राजनय ब्रह्मबिचारू । इहाँ जथामति मोर प्रचारू ॥
सो मति मोरि भरत महिमाही । कहै काह छलि छुअति न छाँही ॥

× × ×

भरत अमित महिमा सुनु रानी । जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥

× × ×

बहुरहिं लखनु भरतु बन जाहीं । सब कर भल सब के मन माहीं ॥
देबि परंतु भरत रघुबर की । प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी ॥
भरतु अवधि सनेह ममता की । जद्यपि रामु सीम समता की ॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे । भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू । मोहि लखि परत भरत मत एहू ॥

'हे सुमुखि ! सुनयनी ! सावधान होकर सुनो। भरतजी-की कथा भवबन्धनसे मुक्त करनेवाली है। धर्म, राजनीति और ब्रह्मविचार—इन तीनों विषयोंमें अपनी बुद्धिके अनुसार मेरी गति है। (अर्थात् इनके सम्बन्धमें मैं कुछ जानता हूँ और अपनी सम्मति दे सकता हूँ।) पर मेरी वह (धर्म, राजनीति और ब्रह्मज्ञानमें प्रवेश पायी हुई) बुद्धि भरतकी महिमाका वर्णन तो क्या करे, छल करके भी उसकी छायातकको नहीं छू पाती।

'रानी ! भरतजीकी अपरिमित महिमा है। उसे एक श्रीरामजी ही जानते हैं, पर वे भी उसका वर्णन नहीं कर सकते।

'लक्ष्मणजी लौट जायँ और भरतजी वनको जायँ, इसमें सभीका भला है और सबके मनमें भी यही है। परंतु देवि ! भरतजी और श्रीरामचन्द्रजीका प्रेम और एक दूसरेका विश्वास हमारी बुद्धिके तर्कमें नहीं आते। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी समताकी सीमा हैं, तथापि भरतजी प्रेम और ममताकी सीमा हैं। भरतजीने (श्रीरामके अनन्य प्रेमको छोड़कर) समस्त परमार्थ, स्वार्थ और सुखोंकी ओर स्वप्नमें भी नहीं ताका है। श्रीरामके चरणोंका प्रेम ही उनका साधन है और वही सिद्धि है। मुझे तो बस, भरतजीका यही एकमात्र सिद्धान्त जान पड़ता है।'

—जिनका समस्त जीवन 'सत्कथा' रूप है, जिनके जीवनकी सभी दिशाएँ सत् और सत्कथासे भरी हैं, जिनके जीवनरूपी सत्-सुधापूर्ण अक्षय कलशसे अनवरत निकल-निकलकर 'सत्'-

का मङ्गलमय प्रवाह सब ओर बह रहा है और अनन्त-अनन्त देवमूर्तियाँ सब ओरसे सदा जिनकी 'सत्कथा'का शङ्ख फूँक रही हैं (मुखपृष्ठका बहुरंगा चित्र देखिये), उन भरतजीकी परम पावनी 'सत्' स्वरूपा लीलाके सम्बन्धमें कुछ भी कहना दुस्साहस मात्र है; पर इस बहाने उनका परम कल्याणमय पवित्र स्मरण हो जाता है, इसीलिये उनके महान् 'सत्' जीवनके किञ्चित् पुण्यस्मरणका प्रयास किया जाता है—

भगवान् श्रीरामचन्द्र श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजीको साथ लेकर सहर्ष वनमें चले गये। महाराज दशरथका रामवियोगके दुःखसे देहान्त हो गया। भरतजीको ननिहालसे बुलाया गया। वे शत्रुघ्नजीके साथ लौटकर आये। अवधमें आकर जब सारे नगरको विषादग्रस्त देखा, तभी उनके मनमें खटका हो गया था। फिर जब राजमहलमें आकर वहाँ भी शोक-पूर्ण सन्नाटा देखा, तब तो भरतजी सहम गये। माता कैकेयीने उनका आदर किया, नैहरके कुशल-समाचार पूछे; पर भरतका मन तो पिता दशरथ तथा अग्रज श्रीरामको देखनेके लिये व्याकुल था। उन्होंने मातासे कहा—

अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते।
इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम्॥
तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम्॥
× × ×
यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥
पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम॥
(वा० रा० अयोध्या० ७२। २७-२८-३२-३३)

'मैं तो यह सोचकर बड़ी प्रसन्नतासे चला था कि महाराज या तो श्रीरामका राज्याभिषेक करेंगे या कोई यज्ञ करेंगे। परंतु यहाँ तो मैंने उलटा ही देखा, जिससे मेरा हृदय विदीर्ण हो गया। आज मैं सदा अपने प्रिय और हितमें रत पिताजीको नहीं देख रहा हूँ। यह तू मुझे शीघ्र बता कि जो मेरे भाई, पिता, बन्धु—सब कुछ हैं, मैं जिनका प्रिय दास हूँ, वे सरलस्वभाव रामचन्द्र कहाँ हैं? धर्मको जाननेवाले बड़े भाई-को पिताके सदृश समझते हैं। मैं उनके चरणोंमें पड़ूँगा, अब वे ही मेरे अवलम्ब हैं।'

अब कैकेयीने उन्हें सारी बातें आद्योपान्त सुना दीं। वह समझ रही थी कि भरत इसे सुनकर प्रसन्न होंगे। भरतकी ज[gap] दूसरा कोई राज्यलोलुप होता तो वह अवश्य प्रसन्न होत[gap] पर भरतजीको माताके वचन ऐसे लगे मानो वे जलेपर न[gap] लगा रही हों—

'मनहुँ जरे पर लोनु लगावति।'

माताने जब कहा कि 'अब सोच छोड़कर राज्य करो' [gap] तो भरतजी सहम गये। मानो पके घावपर अंगार छू ग[gap] हो। वे लंबी साँस लेते हुए बोले—'पापिनी! तूने [gap] तरहसे कुलका नाश कर दिया। हाय! यदि तेरी ऐसी [gap] कुरुचि थी तो तूने जन्मते ही मुझे मार क्यों नहीं डाला। [gap] पेड़ काटकर पत्तेको सींचा है और मछलीके जीनेके लिये पा[gap] को उलीच डाला है। अरी कुमति! जब तेरे हृदयमें ऐ[gap] बुरा विचार आया, तभी तेरे हृदयके टुकड़े-टुकड़े क्यों न[gap] गये? तेरी जीभ गल नहीं गयी? तेरे मुँहमें कीड़े न[gap] पड़ गये?'

भरतजीने कहा—

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं यथा।
तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वयानीतो महानयम्॥१३
अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन् रामलक्ष्मणौ।
केन शक्तिप्रभावेण राज्यं रक्षितुमुत्सहे॥१४
न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये।
यथा व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम॥२५
× × ×
राज्याद् भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि।
परित्यक्तासि धर्मेण मा मृतं रुदती भव॥ २
किं नु तेऽदूषयद् रामो राजा वा भृशधार्मिकः।
ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्यमागतौ॥ ३
यत् त्वया हीदृशं पापं कृतं घोरेण कर्मणा।
सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम्॥ ५
मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके।
न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि॥ ७
(वा० रा० ७३। ७४

'लोभिनि! तुझे ज्ञात नहीं है कि श्रीराघवेन्द्रके प्रति मेर[gap] क्या भाव है। इसी कारण राज्यके लोभसे तूने यह मह[gap] अनर्थ कर डाला। पुरुषसिंह राम-लक्ष्मणको बिना देखे [gap] किसके बलपर राज्यकी रक्षा करूँगा? तूने मेरे जीवनका अन[gap] कर देनेवाला भीषण दुःख उत्पन्न कर दिया। पर पापिनि [gap] मैं तेरा मनोरथ पूर्ण नहीं होने दूँगा। अरी दुष्टा क्रूरे! [gap]

राज्यसे भ्रष्ट हो जा; तू धर्मसे पतित है। ईश्वर करे मैं मर जाऊँ और तू मेरे लिये रोया करे। रामने तेरा क्या बुरा किया था? और अत्यन्त धार्मिक महाराजने ही तेरा क्या बिगाड़ा था? जो तूने एकको वनवास और दूसरेको एक ही साथ मौतके मुँहमें पहुँचा दिया। तूने इस प्रकारका घोर कर्म किया है कि सर्वलोकप्रिय रामको वन दिया! इससे मैं भी भयभीत हो गया हूँ। अरी राज्यकी भूखी! क्रूरे! तू माताके रूपमें मेरी शत्रु है। तुझको मुझसे बोलना भी नहीं चाहिये। तू बड़ी दुराचारिणी है। तू पति-हत्यारी है!'

मन्थराको घसीटते हुए शत्रुघ्नका क्रोध शान्त करते समय तो भरतजीने यहाँतक कह दिया कि—

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥
(वा० रा० २। ७८। २२)

'भाई! मुझे यदि यह डर न होता कि धर्मात्मा श्रीरामभद्र मातृ-हत्यारा मानकर मुझे त्याग देंगे तो मैं इस दुष्ट आचरणवाली कैकेयीको मार ही डालता।'

अन्तमें भरतजीने कैकेयीका मुख भी नहीं देखना चाहा और कहा 'तू जो है, सो है, अब मुँहपर कालिख पोतकर यहाँसे उठ और मेरी आँखोंकी ओटमें जा बैठ।' मैं तेरा मुँह नहीं देखना चाहता—

जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई॥

माता कैकेयीका भरतको राज्य दिलानेका यह प्रयत्न भरतकी मर्मान्तक वेदनाका कारण हो रहा है। वे इसको महापाप मान रहे हैं। माँको राम-विरोधी समझकर वे उसे अपना शत्रु समझ रहे हैं। उनके मनकी वेदनाका कोई पार नहीं है। इतनेमें ही श्रीकौसल्याजी वहाँ आ जाती हैं और शोकावेशमें उनके मुँहसे कुछ ऐसे शब्द निकल जाते हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि माता कौसल्या रामके वन-गमनमें भरतको कारण मान रही हैं। भरतजी महाराज राम-वियोगसे व्याकुल माता कौसल्याकी दीन दशा देखकर अत्यन्त दुःखकातर तो थे ही। माताके मुखसे निकले वचनोंको सुनकर तो भरतजीका हृदय टूक-टूक हो गया। वे पछाड़ खाकर माताके चरणोंमें मूर्च्छित होकर गिर पड़े। जब चेतना हुई, तब गद्गद कण्ठसे 'हा राम, हा राम!' पुकारते हुए इधर-उधर ताकने लगे। भरतजीने व्याकुल होकर उनके चरणोंमें पड़े-पड़े कहा—

मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सिय रामु लखनु दोउ भाई॥
कैकइ कत जनमी जग माझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा॥
कुल कलंकु जेहिं जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही॥
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥
धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥

भरतकी इस स्थितिको देखकर कौसल्याजी घबरा गयीं और उन्हें गोदमें बिठाकर स्वयं रोने लगीं। भरतजीने कौसल्याको विश्वास दिलानेके लिये ऐसी-ऐसी भयानक शपथें खायीं कि जिन्हें सुनकर हृदय करुणा-रसमें बह जाता है। फिर माता बोलीं—

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते।
शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे॥
दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्ष्मणः।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो हि सतां लोकानवाप्स्यसि॥
इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम्।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता॥
(वा० रा० ७५। ६१ से ६३)

'बेटा! तुम्हारी इन शपथोंसे मेरे निकलते हुए प्राण तो रुक गये हैं, पर तुम्हारी शपथोंसे—तुम्हें इतना दुखी देखकर मेरा दुःख और अधिक बढ़ गया है। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा अन्तःकरण धर्मसे विचलित नहीं हुआ। बेटा! तुम सत्यप्रतिज्ञ हो। तुमको सत्पुरुषोंके लोककी प्राप्ति होगी।' यों कहकर भ्रातृवत्सल भरतको गोदमें लेकर मैयाने हृदयसे लगा लिया और अत्यन्त दुखी होकर वे रोने लगीं।

माता कौसल्याका हृदय विगलित हो गया। भरतके प्रति उनकी स्नेह-ममताका समुद्र उमड़ पड़ा। वे बोलीं—

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

कौसल्या माताने भरतको हृदयसे लगा लिया। उनके स्तनोंसे स्नेहामृत—दुग्धकी धारा बहने लगी। नेत्रोंमें बाढ़ आ गयी।

माताकी आज्ञासे भरतजीके द्वारा दशरथजीकी श्राद्धक्रिया सविधि सम्पन्न हुई। गुरु वशिष्ठने शोक त्यागकर राज्यपद स्वीकार करनेके लिये आदेश दिया। माता कौसल्याने, मन्त्रियोंने, प्रजाने भी उन्हें राज्य-ग्रहणकी सम्मति दी। भरतजीके

हृदयकी वेदना तो भरतजी ही जानते थे। वे सुनते रहे और रोते रहे !

अयोध्याका चक्रवर्ती राज्य उनके लिये तनिक भी प्रलोभनका विषय नहीं हो सका। उन्होंने बड़े धैर्य और साहसके साथ सारी प्रतिकूल परिस्थितियोंका सामना किया, बड़ी कड़ी-कड़ी परीक्षाएँ दीं; पर भरतके मनको तनिक-सा भी विचलित करनेमें कोई भी शक्ति सफल नहीं हुई। कोई भी प्रलोभन और भय उन्हें जरा भी डिगा न सका !

कहा जाता है कि कैकेयीके विवाहके समय कैकेयीके पिताके सामने महाराज दशरथ वचन दे चुके थे कि कैकेयीका पुत्र ही राज्यका अधिकारी होगा। मन्थराके उपदेशसे कैकेयीने महाराज दशरथसे वरदान भी प्राप्त कर लिया था—केवल भरतके राज्याभिषेकका ही नहीं, रामके लिये चौदह वर्षके वनवासका, जिससे कि इतनी लंबी अवधिमें अपने सद्व्यवहारसे भरत प्रजाकी सहानुभूति, स्नेह तथा आत्मीयता प्राप्त कर लें, और चौदह वर्षके बाद रामके लौटनेपर भी प्रजा भरतको ही चाहे। फिर कैकेयीके वरदानमें भी यह बात तो थी ही नहीं कि चौदह वर्षके बाद आकर रामजी भरतसे राज्य ले लेंगे। मन्थराने कैकेयीसे यही कहा था कि तुम 'भरतका राज्य' और 'रामके लिये चौदह वर्षका वनवास' माँग लो।' भरतका राज्य चौदह वर्षके लिये नहीं, रामका वनवास चौदह वर्षके लिये हो और वह इसलिये कि तबतक भरत प्रजाके स्नेह-भाजन हो जायँ और उनका राज्य अडिग हो जाय। मन्थराके शब्द हैं—

तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम्।
प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश॥
चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्।
प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति॥

(वा० रा० २।९।२०-२१)

इस प्रकार भरतकी राज्य-स्वीकृति निर्दोष तथा निर्बाध थी। सभी लोग उसका समर्थन करते थे। परंतु रामप्रेमके मूर्तिमान् स्वरूप भरतने सबका तिरस्कार कर दिया। उन्होंने माता, ननिहाल, प्रजामत, पिताकी आज्ञा, धन-सम्पदा, सुख-सम्पत्ति, राज्यवैभव—सबका त्याग कर दिया। उन्होंने किसी वस्तु, पदार्थ, स्थिति, प्राणी या आत्मीय-स्वजनकी कोई भी परवा नहीं की और अपनेको बिना शर्त रामके चरणोंमें समर्पित कर दिया। धन्य !

सबके द्वारा राज्यके प्रस्ताव तथा अनुरोधको सुनकर भरतजी बड़ी ही विनीत और आर्त वाणीमें बोले—

'गुरु वसिष्ठ महाराजने मुझे सुन्दर उपदेश दिया। प्रजा, मन्त्री आदि सबको भी यही सम्मत है। माता कौसल्याजीने उचित समझकर ही आदेश दिया है और अवश्य ही मैं भी उसे सिर चढ़ाकर पूरा करना चाहता हूँ। गुरु, पिता, माता, स्वामी और सुहृद्की बात उसे हितकारी समझकर प्रसन्न मनसे माननी चाहिये। उसके विषयमें उचित-अनुचितका विचार करनेसे धर्मका नाश और पापकी प्राप्ति होती है। आपलोग मेरे भलेके लिये ही मुझे यह सरल सीख दे रहे हैं परंतु मुझे इससे संतोष नहीं होता। मेरी प्रार्थना यह है कि आप मुझे मेरी योग्यता देखकर ही उपदेश कीजिये। मैं उत्तर दे रहा हूँ, मेरा यह अपराध क्षमा कीजिये। मैं इस समय दुखी हूँ। साधु पुरुष दुखीके दोष-गुणोंकी ओर ध्यान नहीं देते। वे तो उसके दुःखकी ओर देखते हैं।

'पिताजी स्वर्गमें हैं, श्रीसीतारामजी वनमें हैं और मुझे आप राज्य करनेके लिये कह रहे हैं! यह तो बताइये कि इसमें आपने मेरा कल्याण समझा है या अपने किसी बड़े कामके सिद्ध होनेकी आशा की है? मेरा हित तो सीतापति श्रीरामभद्रकी चाकरीमें है, सो उसे माताकी कुटिलताने छीन लिया। मैंने अच्छी तरह सोचकर देख लिया कि दूसरे किसी भी उपायसे मेरा हित नहीं है। शोकका समुदाय यह राज्य श्रीलक्ष्मण, श्रीरामभद्र और श्रीसीताजीके चरणोंको देखे बिना किस गिनतीमें है। जैसे कपड़ोंके बिना गहने बोझ मात्र हैं, वैराग्यके बिना ब्रह्मविचार व्यर्थ है, रोगी शरीरके लिये भाँति-भाँतिके भोग व्यर्थ हैं, श्रीहरिकी भक्तिके बिना जप और योग व्यर्थ है और जीवके बिना सुन्दर शरीर व्यर्थ है, वैसे ही श्रीरघुनाथजीके बिना मेरा सब कुछ व्यर्थ है। आप लोग मुझे आज्ञा दीजिये—मैं श्रीरामके चरणोंमें जाऊँ। मेरा यही एक निश्चय है। मुझे राजा बनाकर आप जो अपना भला चाहते हैं, सो यह तो आपके स्नेहकी जडतामात्र है।

कैकेई सुअ कुटिल मति राम बिमुख गत लाज।
तुम्ह चाहत सुखु मोह बस मोहि से अधम कें राज॥
कहउँ साँचु सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरमसील नरनाहू॥
मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥
मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीय राम बनबासू॥

'मैं कैकेयीका बेटा, कुटिल-बुद्धि, रामविमुख और निर्लज्ज हूँ। मुझ-सरीखे अधमके राज्यसे आप मोहके वश होकर ही सुख चाहते हैं।

'मैं सत्य कहता हूँ, आप सब सुनकर विश्वास करें

धर्मशीलको ही राजा होना चाहिये । आप मुझे हठ करके ज्यों ही राज्य देंगे, त्यों ही यह पृथ्वी पातालमें धँस जायगी । मेरे समान पापोंका घर और कौन होगा, जिसके कारण श्रीसीतारामजीको वनवास हुआ ।'

अन्तमें भरतजीने रामके चरणोंमें जानेका दृढ़ प्रस्ताव किया । भरतकी बात सबको बहुत अच्छी लगी । सबने साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की । राजधानीकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध करके सब लोगोंको साथ लेकर भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई पैदल ही चल दिये । रास्तेमें रामसखा निषाद-राजने भी भरतकी बड़ी कड़ी परीक्षा ली । पर उनके रामप्रेम-पीयूषसे परिपूर्ण हृदयको देखकर निषाद सदाके लिये उनका चरणानुगत हो गया । वाल्मीकि-रामायणके अनुसार मुनि भरद्वाजने भी पहले संदेह किया था । वहाँ भी भरतको मर्मान्तक पीड़ा हुई और उन्हें कड़ी परीक्षा देनी पड़ी । उनको एक विश्वास था—श्रीरामके स्वभावका । माताकी करतूतका स्मरण होता, तब तो अपनेको अत्यन्त नीच नराधम मानकर दुखी और निराश-से हो जाते; पर श्रीरामका स्वभाव याद आते ही उत्साहसे भर जाते ।

गातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर ।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर ॥

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी । चलत भगति बल धीरज धोरी ॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ । तब पथ परत उताइल पाऊ ॥

इसी बीच एक बात और हो गयी । श्रीरामके अत्यन्त प्रेमी, रामपर अपना एकाधिकार माननेवाले लक्ष्मणजीने दूरसे विशाल सेनाके साथ भरतजीको आते देखा तो राम-प्रेमवश उनका वीर-रस जाग उठा और उन्होंने भरत तथा अपने सगे भाई शत्रुघ्नकी कुटिलता समझकर उनका तिरस्कार करते हुए कहा—'मूढ, विषयी जीव प्रभुता पाकर मोहवश अपने असली रूपको प्रकट कर देते हैं । भरत नीतिनिपुण, साधु और चतुर हैं; प्रभु (रामजी) के चरणोंमें उनका प्रेम भी जग-विख्यात है । वे भरत भी आज रामका प्राप्य राजपद पाकर धर्मकी मर्यादा मिटाकर आ रहे हैं । कुटिलतासे भरे कुबन्धु (खोटे भाई) भरत आज कुसमय देखकर और रामजीको वनमें अकेले जानकर बुरी नीयतसे समाज सजाकर राज्यको निष्कण्टक करनेके लिये यहाँ आये हैं । दोनों भाई इन कुटिलताओंके कारण ही सेना बटोरकर यहाँ पहुँचे हैं । हृदयमें कुटिलता न होती तो इस समय हाथी, घोड़े, रथ किसे सुहाते ? पर भरतको ही क्या दोष है । राज्यपद सारे जगत्को ही पागल कर देता है । अवश्य ही भरतने एक बात बहुत ही बुरी की कि वे रामको असहाय जानकर उनका निरादर करने चले हैं । पर आज संग्राममें श्रीरामजीका क्रोधपूर्ण मुख देखकर यह भूल भी उनकी समझमें आ जायगी ।' इतना कहते-कहते ही लक्ष्मणजी नीतिको भूल गये और रणरसमें मत्त होकर रामदुहाई करते हुए भरत-शत्रुघ्नको मार डालनेकी बात कह बैठे ।

आकाशवाणी हुई । लक्ष्मणजीको सचेत किया देवताओंने कि बिना विचारे कुछ भी वे कर न बैठें । इससे लक्ष्मणजी सकुचा गये । लक्ष्मणजी जोशमें थे, उन्होंने अनुचित विचार कर लिया । पर जो कुछ किया, उसमें एकमात्र कारण तो राम-प्रेम ही है । लक्ष्मणके विचार असुन्दर हैं, अतएव उन विचारोंको दूर करना है; पर लक्ष्मणजीके प्रेमका तो आदर ही करना है । अतएव श्रीसीता-रामजीने सकुचे हुए लक्ष्मणजीका आदरसहित सम्मान किया—

सुनि सुर बचन लखन सकुचाने । राम सीयँ सादर सनमाने ॥

फिर रामजीने कहा—

'प्रिय लक्ष्मण ! तुमने बड़ी सुन्दर नीति कही । यह सत्य है भैया ! राज्यमद सबसे कठिन मद है । जिन्होंने सत्सङ्ग नहीं किया, वे राजा राज्यमदरूपी मदिराका जरा-सा पान करते ही मतवाले हो जाते हैं । पर लक्ष्मण ! सुनो, भरतसरीखा उत्तम पुरुष न तो ब्रह्माकी सृष्टिमें कहीं सुना गया है, न देखा ही गया है ।

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिंधु बिनसाइ ॥

'अयोध्याके राज्यकी तो बात ही क्या है; ब्रह्मा, विष्णु और शंकरका पद पाकर भी भरतको राज्यमद नहीं हो सकता । क्या कभी काँजीकी बूँदोंसे क्षीरसमुद्र नष्ट हो सकता है ।

'अन्धकार चाहे मध्याह्नके सूर्यको निगल जाय, आकाश चाहे बादलोंमें समाकर मिल जाय । गौके खुर-जितने जलमें अगस्त्यजी चाहे डूब जायँ और पृथ्वी चाहे अपनी क्षमा (सहनशीलता) को छोड़ दे, मच्छरकी फूँकसे चाहे सुमेरु उड़ जाय, पर भैया ! भरतको राज्य-मद कभी नहीं हो सकता । भैया लक्ष्मण ! मैं तुम्हारी शपथ और पिताजीकी सौगंध खाकर कहता हूँ—भरतके समान पवित्र और उत्तम भाई संसारमें नहीं है ।'

भगवान्‌की वाणीसे लक्ष्मणजीका समाधान हो गया । देवता प्रशंसा करने लगे । अस्तु—

जटा-वल्कलधारी भरतजी रामजीके समीप पहुँचे। उनके प्रेमको देखकर सभी चकित हैं। वनके पशु-पक्षी और जड वृक्षादि भी प्रेममें निमग्न हैं। देव-ऋषि-मुनि सभी लोग भरतकी प्रशंसा करने लगे—

प्रेम अमिअ मंदरु बिरहु भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपा सिंधु रघुबीर॥

भरतजीके नेत्रोंसे करुणा तथा पश्चात्तापके गरम-गरम आँसुओंकी धारा बह रही है, गद्‌गद कण्ठ है, देह दुबली हो रही है; वे दीन, हीन, मलिन तथा दुःखसे अत्यन्त पीड़ित हैं। अपनेको महान् अपराधी, पतित मानते हुए, काँपते हुए रामके चरणोंके पास पहुँचते हैं।

दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः।
उक्त्वार्येति सकृद् दीनं पुनर्नोवाच किंचन॥
(९९। ३८)

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि।
ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा॥
(१००। १)

कथंचिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम्।
भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह पाणिना॥
(१००। २)

दुःखसे संतप्त महाबली राजकुमार भरत 'हा आर्य!' इतना ही कह सके, फिर उनके मुँहसे शब्द नहीं निकला और जटा तथा वल्कल वस्त्र धारण किये श्रीभरतजी हाथ जोड़कर मूर्छित हो पृथ्वीपर श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़े। रामजीने देखनेके अयोग्य प्रलयकालीन सूर्यके समान भरतजीको देखा। उनका मुख विवर्ण हो रहा था। वे अत्यन्त कृश हो रहे थे। श्रीरामने किसी तरह उन्हें पहचाना और अपने हाथों उठाया।

श्रीमानसके अनुसार 'हा नाथ, रक्षा कीजिये!' कहते हुए भरतजी जब पृथ्वीपर दण्डकी भाँति गिर पड़े, तब लक्ष्मणजीने कहा—'श्रीरघुनाथजी! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।' यह सुनते श्रीरघुनाथजी प्रेममें अधीर होकर उठे, उनका वस्त्र कहीं तरकस कहीं, धनुष कहीं और बाण कहीं गिरा। कृपानिधान श्रीरामजीने उनको जबरदस्ती उठाकर हृदयसे लगा लिया। भरतजी और श्रीरामजीकी इस मिलनकी विलक्षण रीतिको देखकर सब अपनी सुध-बुध भूल गये—

उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरा सबहि अपान॥

महाराज दशरथकी मृत्युके समाचारसे सबको दु हुआ। रामजीने उचित क्रिया की। इसके बाद भरतजी जो कुछ लीला-प्रसङ्ग है, वह इतने महत्त्वका है कि जग उसकी कहीं तुलना नहीं है। रामचरितमानसके अयोध्याका में उसे पढ़ना चाहिये। श्रीरामजी अपनेको भरतके हाथ समर्पण कर देते हैं और भरत तो सर्वथा समर्पित ही हैं अन्तमें सेवककी रुचि रखनेवाले स्वामीकी ही रुचि रख भरतजी पसंद करते हैं। पर रामजी भाँति-भाँतिसे भरतके महत्त्वका वर्णन करते अघाते ही नहीं।

भरतने कहा था—''मैं 'अधम' हूँ, 'कुटिलमति' 'कुटिला कैकेयीका पुत्र हूँ' 'पापनिवास' हूँ। मुझे राज्य दो तो धरती पातालमें धँस जायगी—'रसा रसातल जाइहि।' श्रीरामजी सहज ही श्रीभरतजीसे कहते हैं—

तीनि काल तिभुअन मत मोरें। पुन्यसिलोक तात तर तोरें
उर आनत तुम्हपर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई
दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुख सुमिरत नामु तुम्हार॥

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी

'भैया भरत! (तुम अधम नहीं हो;) मेरे मतमें भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालों और स्वर्ग, भूमि, पाता —तीनों लोकोंके समस्त श्रेष्ठ पुण्यात्मा पुरुष तुमसे नीचे हैं

'(तुम कुटिलमति नहीं हो, बल्कि) हृदयमें भी तुम कुटिलताका आरोप करनेवालेके लोक तथा परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। (माता कैकेयी भी कुटिला नहीं है;) माता कैकेयीको तो वे ही मूर्ख दोष देते हैं, जिन्होंने गुरु और साधुओंकी सभाका सेवन नहीं किया है।

'भरत! (तुम पापनिवास नहीं हो; तुम तो इतने महान् पुण्य मय हो कि) तुम्हारे नामका स्मरण करते ही सारे पाप, प्रपञ्च (अज्ञान) और समस्त अमङ्गलोंके समूह मिट जायँगे तथा इस लोकमें सुन्दर यश और परलोकमें सुख प्राप्त होगा।

'भरत! (तुमने कहा था धरती पातालमें धँस जायगी; पर) मैं स्वभावसे ही सत्य कहता हूँ, शिवजी साक्षी हैं, यह पृथ्वी तुम्हारी ही रक्खी रह रही है।'

अन्तमें भरतजी महाराज जो स्वर्ण-पादुका तैयार करवा

कर अपने साथ ले गये थे, उन्हें भगवान् श्रीरामकी सेवामें उपस्थित करके बोले—

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥
सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च ।
प्रायच्छत् सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥
(वा० रा० २ । ११२ । २१-२२)

'आर्य ! आप स्वर्णभूषित इन पादुकाओंको पहन लीजिये। ये सबका योगक्षेम वहन करेंगी । तब नरश्रेष्ठ महातेजस्वी भगवान् श्रीरामजीने उन पादुकाओंको एक बार पहन लिया, फिर निकालकर महात्मा भरतको दे दिया ।'

भरतने पादुकाओंको प्रणाम किया और श्रीरामसे कहा— 'मैं चौदह वर्षतक अरण्यवासी तपस्वीके सदृश जटा-वल्कल धारण करके नगरके बाहर रहूँगा और फल-मूलका आहार करता हुआ आपकी प्रतीक्षा करता रहूँगा । इन पादुकाओं-को राजसिंहासनपर पधराकर इन्हींके लिये चौदह वर्षतक सेवककी तरह मैं राजकाज देखता रहूँगा । चौदहवें वर्षका अन्तिम दिन बीतनेके बाद पहले ही दिन आपके दर्शन नहीं होंगे तो मैं प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा ।'

न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
(वा० रा० २ । ११२ । २५)

भरतने उन श्रेष्ठ पादुकाओंको लेकर अपने सिरपर रक्खा । श्रीरामकी प्रदक्षिणा की और उनको हाथीपर पधराया। अयोध्या पहुँचकर लोगोंसे कहा कि 'इनपर छत्र धारण करो । ये भगवान् श्रीरामके प्रतिनिधि हैं । मेरे बड़े भाई भगवान् रामने प्रेमवश मुझे यह धरोहर दी है । जबतक वे लौटकर नहीं पधारेंगे, तबतक मैं इनकी रक्षा करूँगा । शीघ्र ही श्रीरामजी-के चरणोंमें इन पादुकाओंको पहनाकर मैं उनके पादुकायुक्त चरणोंके दर्शन करूँगा । जिस दिन ये पादुकाएँ और अयोध्याका राज्य श्रीरामको वापस लौटा दूँगा, उसी दिन अपनेको इस पापकलङ्कसे मुक्त समझूँगा ।'

फिर माता कौसल्या और गुरु वशिष्ठजीके चरणोंमें प्रणाम करके प्रभुकी चरणपादुकाओंकी आज्ञा पाकर धर्मधुरीण परम धीर भरतजीने नन्दिग्राममें कुटी बनायी और उसमें वे रहने लगे । उनकी रहनी-करनीका बड़ा सुन्दर चित्र गोस्वामी तुलसीदासजीने खींचा है, उसे उन्हींकी भाषामें पढ़कर देखिये—

जटाजूट सिर मुनिपट धारी । महि खनि कुस साँथरी सँवारी ॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा । करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा ॥
भूषन बसन भोगसुख भूरी । मन तन बचन तजे तिन तूरी ॥
अवध राजु सुर राजु सिहाई । दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई ॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥
रमा बिलासु राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥
राम पेम भाजन भरत बड़े न एहिं करतूति ।
चातक हंस सराहिअत टेक बिबेक बिभूति ॥
देह दिनहुँ दिन दूबरि होई । घटइ तेजु बलु मुखछबि सोई ॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना । बढ़त धरम दलु मनु न मलीना ॥
जिमि जलु निघटत सरद प्रकासे । बिलसत बेतस बनज बिकासे ॥
सम दम संजम नियम उपासा । नखत भरत हिय बिमल अकासा ॥
ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी । स्वामि सुरति सुरबीथि बिकासी ॥
राम पेम बिधु अचल अदोषा । सहित समाज सोह नित चोखा ॥
भरत रहनि समुझनि करतूती । भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं । सेस गनेस गिरा गमु नाहीं ॥

सिरपर जटाजूट और शरीरमें मुनियोंके (वल्कल) वस्त्र धारणकर, पृथ्वीको खोदकर उसके अंदर कुशकी आसनी बिछा ली । भोजन, वस्त्र, बरतन, व्रत, नियम—सभी बातोंमें वे ऋषियोंके कठिन धर्मका प्रेमसे आचरण करने लगे । वस्त्र, आभूषण और विशाल भोगसुखोंको मन, तन और वचनसे तृण तोड़कर (प्रतिज्ञा करके) त्याग दिया । जिस अयोध्याके राज्यको देवराज इन्द्र सिहाते थे और दशरथजीकी सम्पत्ति सुनकर कुबेर भी लजा जाते थे, उसी अयोध्यापुरीमें भरतजी अनासक्त होकर इस प्रकार निवास कर रहे हैं, जैसे चम्पाके बगीचेमें भ्रमर। श्रीरामचन्द्रजीके प्रेमी बड़भागी पुरुष लक्ष्मीके विलास (भोगैश्वर्य) को वमनकी भाँति त्याग देते हैं । (फिर उसकी ओर ताकते ही नहीं) फिर भरतजी तो श्रीरामचन्द्रजीके प्रेमपात्र हैं । वे इस (भोगैश्वर्यत्याग-रूप) करनीसे बड़े नहीं हुए । उनके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है । (स्वाति-मेघ जलके सिवा अन्य जल न पीनेकी) टेकसे चातककी और नीर-क्षीर-विवेककी विभूतिसे हंसकी भी सराहना होती है ।

भरतजीका शरीर दिनोंदिन दुबला होता जाता है । मेद घट रहा है । बल तथा मुखछवि (मुखकी शोभा) वैसी ही बनी हुई है । रामप्रेमका प्रण नित्य नया और पुष्ट होता है। धर्मका दल बढ़ता है और मन प्रसन्न है । जैसे शरद्-ऋतुके प्रकाशसे जल घटता है; किंतु बेंत शोभा पाते हैं और कमल विकसित होते हैं । शम, दम, संयम, नियम और उपवास आदि

भरतजीके हृदयरूपी निर्मल आकाशके नक्षत्र हैं। (उनके जीवनमें यही सब चमक रहे हैं।) विश्वास ही उस आकाशका ध्रुव तारा है, चौदह वर्षकी अवधि पूर्णिमाके समान है और स्वामी श्रीरामजीकी स्मृति आकाशगङ्गाके समान प्रकाशित है। रामप्रेम ही अचल और कलङ्करहित चन्द्रमा है। वह अपने समाज (संयम-शम-दमादि) सहित नित्य सुन्दर सुशोभित है। भरतजीकी रहनी, समझ, करनी, भक्ति, वैराग्य, निर्मल गुण और ऐश्वर्यका वर्णन करनेमें सभी सुकवि सकुचाते हैं; क्योंकि वहाँ (औरोंकी तो बात ही क्या) स्वयं शेष, गणेश और सरस्वतीजीकी भी पहुँच नहीं है।

वे प्रतिदिन पादुकाओंका पूजन करते हैं। हृदयमें प्रेम समाता नहीं। पादुकाओंसे आज्ञा माँग-माँगकर वे सब प्रकारके राजकाज करते हैं। शरीर पुलकित है, हृदयमें श्रीसीतारामजी हैं। जीभ राम-राम जप रही है। नेत्रोंमें प्रेमके आँसू छलक रहे हैं। श्रीरामजी, सीताजी और लक्ष्मणजी तो वनमें बसते हैं; पर भरतजी घरमें ही रहकर तपके द्वारा तनको कस रहे हैं।

चौदह वर्ष लगातार यही क्रम चला। अन्तके दिन प्रभुके द्वारा प्रेरित श्रीहनुमान्‌जीने भी ब्राह्मण-वेषमें आकर महात्मा भरतजीकी यही प्रेममयी झाँकी देखी—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात॥

धन्य भरतजी, धन्य आपका त्याग, धन्य आदर्श, धन्य राम-प्रेम। मूर्तिमान् सत्, मूर्तिमान् सदाचरण, मूर्तिमान् सद्व्यवहार और मूर्तिमान् प्रेम।

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनिमन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

भरतके अति पावन चरित्रके श्रवणका अवश्यम्भावी परम फल भी तुलसीदास बताते हैं—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जे सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

जय जय जय भरत भैयाकी जय जय जय!

सत्कथाकी महिमा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

'सत्' का अर्थ है परमात्मा। उस परमात्माको जाननेवाले जो महापुरुष हैं, उनको 'सत्पुरुष' कहते हैं और उस परमात्माकी प्राप्तिका जो उपाय है, उसे 'सत्-मार्ग' कहा जाता है। 'सत्' शब्दका कहाँ-कहाँ प्रयोग होता है—इसका निरूपण करते हुए स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
(गीता १७। २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
(गीता १७। २६)

'सत्—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्य भावमें और श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है।'

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥
(गीता १७। २७)

'तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति (निष्ठा) है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।'

इससे यह निष्कर्ष निकला कि 'सत्' शब्द एक तो परमात्माका वाचक है। दूसरे, भाव (सत्ता) का; तीसरे, श्रेष्ठ यानी साधु भावका अर्थात् हृदयके क्षमा, दया आदि उत्तम गुणोंका; चौथे, उत्तम आचरणोंका; पाँचवें, उत्तम कर्मोंमें जो स्थिति (निष्ठा) है उसका एवं छठे, भगवदर्थ (निष्काम) कर्मका वाचक है। उपर्युक्त छहोंमेंसे किसीकी भी कथा—वर्णन जिसमें हो, वह 'सत्कथा' है।

सबसे बढ़कर एकमात्र भगवान् हैं। इसलिये हमलोगोंको भगवान्‌की प्राप्ति जिस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र हो, वही चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌की प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है—भगवान्‌के वचनोंका पालन करना। गीता भगवान्‌के साक्षात् वचन हैं। अतः गीताके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

श्रीभगवान् और उनके वचनोंकी महिमा अपार है। उनका पार शेष, महेश, गणेश और दिनेश आदि भी नहीं पा सके। यदि उनका पार पा जाय तब तो उन्हें अपार कैसे कहा जा सकता है। श्रीरसखानजीने क्या ही सुन्दर कहा है—

सेष महेस गनेस दिनेस, सुरेसहु जाहिं निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड, अछेद अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद-से सुक-व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

ऐसा होते हुए भी शास्त्रोंमें भगवान्‌की महिमाका कथन ऋषि-महात्माओंने किया ही है। गीतामें भी दसवें अध्यायके १२वें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं।'

आगे ग्यारहवें अध्यायमें ३६वेंसे ४६वें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌की महिमा कुछ और विस्तारसे गायी है। इसी तरह अन्य ऋषियोंने भी शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर भगवान्‌की अपार महिमाका वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त, भगवान्‌की प्राप्तिके साधनोंकी महिमाका भी जगह-जगह वर्णन किया गया है। स्वयं भगवान्‌ने ही गीतामें कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(गीता ९।१)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
(गीता ९।२)

'यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है।'

इतना होनेपर भी जो लोगोंकी भगवत्प्राप्तिके साधनमें तत्परता नहीं होती, इसका कारण भगवान् और भगवान्‌के वचनोंमें श्रद्धाका अभाव ही है। इस बातको स्वयं भगवान् भी कहते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
(गीता ९।३)

'हे परंतप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

श्रद्धाका तात्पर्य है—भगवान्, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें आदरपूर्वक प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास। वह विश्वास होता है—अन्तःकरणकी शुद्धिसे। अन्तःकरणकी शुद्धि होती है साधनसे और साधन होता है विश्वाससे। इस प्रकार ये सभी परस्पर एक-दूसरेके सहायक हैं। इसलिये ईश्वर और महात्मा पुरुषोंके वचनोंपर परम श्रद्धा और विश्वास करके हमलोगोंको तत्परताके साथ साधनमें लग जाना चाहिये।

इसके लिये हमें सर्वप्रथम यह निश्चय करना होगा कि हमारा यह कार्य इस मनुष्य-शरीरमें ही हो सकता है। जो मनुष्य-शरीर प्राणियोंके लिये बहुत ही दुर्लभ है, वह हमें वर्तमानमें अनायास ही प्राप्त है। ऐसे अवसरको हमें अपने हाथसे नहीं जाने देना चाहिये। मृत्युका कोई भरोसा नहीं, न मालूम कब आकर प्राप्त हो जाय। अतः हमें पहलेसे ही सावधान हो जाना चाहिये; क्योंकि वर्तमानमें जो हमारी अन्तःकरणकी पवित्रता, श्रद्धा, निष्ठा, स्थिति है, वही उस समय काम आ सकती है। इसलिये हमें अपनी स्थिति ऊँचे-से-ऊँचे स्तरकी शीघ्रातिशीघ्र बना लेनी चाहिये। भक्ति, ज्ञान, योग आदि जितने भी परमात्माकी प्राप्तिके साधन बताये गये हैं, उनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और अन्तःकरणके अनुसार ही श्रद्धा होती है। भगवान् कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(गीता १७।३

'हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

श्रद्धासे ही परमात्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसीसे असली परम शान्ति मिलती है। श्रद्धा होनेपर साधनमें तत्परताका होना अनिवार्य है। हमारी जितनी श्रद्धा होगी,

हमारा साधन भी उतना ही तेज होता चला जायगा। इसलिये हमारा ईश्वर और महापुरुषोंमें श्रद्धा-विश्वास हो, ऐसा प्रयत्न करना परम आवश्यक है।

ईश्वर और महापुरुषोंका एक तो लौकिक प्रभाव होता है और दूसरा अलौकिक। जैसे भगवान् श्रीकृष्णजीने अनेकों राक्षसोंको मार डाला और गोवर्धन पर्वतको धारण कर लिया; इसी प्रकार जैसे श्रीरामचन्द्रजीने अनेकों राक्षसोंको मार डाला और समुद्रपर पुल बाँध दिया। यह उनका लौकिक प्रभाव है। श्रीकृष्णजीने ग्वाल-बाल और बछड़ोंके रूपमें परिणत होकर उनकी माताओं और गायोंका उद्धार कर दिया एवं श्रीरामचन्द्रजीने वनवाससे लौटकर अयोध्यामें प्रवेश करते समय एक साथ अनेक रूप धारण करके सबसे मिलकर उनका उद्धार किया—यह उनका अलौकिक प्रभाव है।

इसी प्रकार महात्माओंमें भी ये दोनों होते हैं। जैसे मूक चाण्डाल आदिका मकान आकाशमें ही झूला करता था और वे गुप्त घटनाको भी जान लेते थे—यह उनका लौकिक प्रभाव है। उनके परलोक सिधारनेके समय उनके माता-पिता और उनके घरमें रहनेवाले जीव-जन्तु भी दिव्य रूप धारण करके उनके साथ परम धामको चले गये—यह उनका अलौकिक प्रभाव है। इसी तरह श्रीवसिष्ठजीका विश्वामित्र-जीको युद्धमें परास्त कर देना लौकिक प्रभाव है और उनको ब्रह्मर्षि बना देना अलौकिक प्रभाव है। श्रीभरद्वाजजीमें जो सिद्धियाँ थीं वह उनका लौकिक प्रभाव था और उनमें जो कल्याण करनेकी शक्ति थी, वह उनका अलौकिक प्रभाव था।

भाव यह कि आत्माका उद्धार करनेवाला महात्माओंका जो प्रभाव है, वह तो अलौकिक है और जो संसारमें सिद्धि, चमत्कार आदिका प्रकट होना है, वह लौकिक प्रभाव है।

इन लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रकारके प्रभावोंका प्राकट्य कहीं तो श्रद्धा और प्रेमसे होता है और कहीं बिना श्रद्धाके उनकी कृपासे ही हो जाता है। जैसे कौरवोंकी सभामें और उत्तङ्क ऋषिको भगवान्‌ने अपना विराट् स्वरूप दिखलाया। उसमें श्रद्धाकी प्रधानता नहीं थी, भगवान्‌ने स्वयं कृपा करके अपनी इच्छासे दिखाया। किंतु ध्रुव, प्रह्लाद और अर्जुन आदि भक्तोंको भगवान्‌ने जो अपना स्वरूप दिखाया, उसमें उनके प्रेम और श्रद्धाकी प्रधानता थी।

इसी प्रकार संत-महात्माओंके प्रभावका प्राकट्य भी कहीं तो श्रद्धापूर्वक होता है और कहीं बिना श्रद्धाके स्वाभाविक हो जाता है। जैसे शास्त्रोंमें ध्रुव और प्रह्लाद आदिके माता-पिताके कल्याणकी बात आती है। इसमें श्रद्धाका सम्बन्ध नहीं है, यह उन महात्माओंके प्रभावका स्वाभाविक परिणाम है।

इसके अतिरिक्त, श्रीनारदपुराणमें एक कथा आती है—राजा बाहुके मर जानेपर उनकी पत्नीने उसी वनमें महात्मा और्व मुनिके देखते-देखते ही अपने पतिके शवका दाह-संस्कार किया। वहाँ कहा है कि और्व मुनिके उपस्थित रहनेसे राजा बाहु तेजसे प्रकाशित होते हुए चितासे निकले और श्रेष्ठ विमानपर बैठकर तथा और्व मुनिको प्रणाम करके परम धामको चले गये। वहाँ महापुरुषोंकी महिमाका वर्णन करते हुए मुनीश्वर श्रीसनकजीने कहा है—

> महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः।
> परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
> कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
> यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥
>
> (नारद० पूर्व० प्रथम० ७। ७४-७५)

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ नारद! जिनपर अन्तकालमें महापुरुषोंकी दृष्टि पड़ जाती है, वे महापातक या उपपातकसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। महात्मा पुरुष यदि अन्तकालमें किसीके मृत शरीरको या शरीरकी भस्मको अथवा उसके धुएँको भी देख लें तो वह परम पदको प्राप्त हो जाता है।'

यह है महापुरुषोंका स्वाभाविक अलौकिक प्रभाव!

शास्त्रोंमें उच्चकोटिके अधिकारी महापुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप आदिसे जो अध्यात्मविषयक विशेष लाभ मिलनेकी बातें आती हैं, वे सब बातें अधिकांशमें श्रद्धापर ही निर्भर करती हैं। अतएव हमें श्रद्धाकी वृद्धिके लिये श्रद्धालु साधकोंका और महात्मा पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। उनका सङ्ग करके यदि हम उनकी कही बातें मानकर चलें तो हमें परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र-से-शीघ्र हो सकती है। गीतामें जहाँ भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि अनेक प्रकारके साधन बतलाये हैं, वहाँ उनमें एक साधन यह भी बतलाया है कि महापुरुषोंके वचनोंके अनुसार अपना जीवन बनाना।

श्रीभगवान् कहते हैं—

> ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
> अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(गीता १३ । २४-२५)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं । परंतु दूसरे कई एक जो उपर्युक्त साधनोंको नहीं जानते, वे दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसंदेह तर जाते हैं ।'

श्रीतुलसीदासजीने भी सत्पुरुषोंके सङ्गकी बड़ी भारी महिमा गायी है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥
बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध ।
तुलसी संगति साधु की कटै कोटि अपराध ॥

और भी कहते हैं—

मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
सतसंगत मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परस कुधातु सुहाई ॥

यहाँ 'सत्सङ्ग'का तात्पर्य है—महापुरुषोंका सङ्ग करके उनके कथनानुसार अपने जीवनको बनाना । जैसे गीतामें बताया कि—'श्रुत्वान्येभ्य उपासते'—'दूसरोंसे अर्थात् महापुरुषोंसे सुनकर तदनुसार उपासना करते हैं, वे भी तर जाते हैं ।' भगवान् श्रीरामने भी कहा है—

सो सेवक प्रियतम मम सोई । मम अनुसासन मानइ जोई ॥

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णका अत्यन्त प्रिय भक्त था । भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा कि 'मैंने जो तुम्हें गीताका उपदेश दिया, उसे तुमने ध्यानपूर्वक सुना कि नहीं और तुम्हारा मोह नाश हुआ कि नहीं ।' इसका भी अभिप्राय यही था कि मेरी बातको सुनकर तुमने उसको धारण किया या नहीं । इसके उत्तरमें अर्जुनने यही कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥
(गीता १८ । ७३)

'अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ; अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।'

इसमें अर्जुनने खास बात यही कही है कि आपकी कृपासे मेरा मोह नाश हो गया और मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।

इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर, महापुरुष और शास्त्रोंके वचनोंका पालन करना ही परमात्माकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है ।

हमलोग गीतादि शास्त्रोंको पढ़ते हैं, सुनते हैं, मनन करते हैं और कथन भी करते हैं; किंतु धारण किये बिना उनसे होनेवाला विशेष लाभ नहीं हो पाता । इसी प्रकार हम वर्षोंसे सत्सङ्ग करते हैं; पर महापुरुषोंकी बातोंको काममें नहीं लाते; इसी कारण विशेष लाभ नहीं होता । इसलिये हमें शास्त्रों और महापुरुषोंकी बातोंको सुनकर और उनमें प्रत्यक्षकी भाँति अतिशय विश्वास करके काममें लानेके लिये तत्पर होना चाहिये ।

वास्तवमें भगवान् तो सबको सदा प्राप्त ही हैं; क्योंकि उनके और हमारे बीचमें देश-कालका व्यवधान नहीं है; अतः देश-काल बाधक नहीं हैं । भगवान् सभी देश और सभी कालमें सदा ही मौजूद हैं; किंतु हमें इस बातपर श्रद्धा नहीं है, हम इसे मानते नहीं; इसीसे हम वञ्चित हो रहे हैं । इसलिये हमें भगवान्पर दृढ़ विश्वास करना चाहिये । भगवान्ने स्वयं बतलाया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(गीता ४ । ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

हमें भगवान्के उपर्युक्त वचनोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि प्रधानतया एक श्रद्धाकी कमीके कारण ही हम संसारके इन नाशवान् क्षणभङ्गुर भोग और पदार्थोंमें राग करके फँस रहे हैं और इस प्रकार अपने मानवजीवनको

नष्ट कर रहे हैं। विषयभोगोंकी क्षणभङ्गुरताके विषयमें भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा देखा गया है अर्थात् यही तत्त्वदर्शी पुरुषोंका निर्णय है।'

भाव यह कि जो सत् वस्तु है, उसका तो कभी अभाव होता नहीं और मिथ्या वस्तु कभी कायम नहीं रहती। हम देखते हैं कि संसारके भोग और पदार्थ तथा हमारा यह शरीर भी हमारे देखते-देखते क्षण-क्षणमें विनाश हो रहा है। फिर भी हम उनको सत् मानकर और उनपर विश्वास करके उनको ही पकड़े हुए हैं। यह हमारी बड़ी भारी भूल है। हमें अपनी इस भूलको शीघ्र दूर करना चाहिये और क्षणभङ्गुर नाशवान् जड पदार्थोंके साथ हमारा जो सम्बन्ध है और उनमें जो हमारी आसक्ति है, उसको असत् समझकर उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इन क्षणभङ्गुर नाशवान् जड वस्तुओंके साथ माने हुए सम्बन्ध और आसक्तिका त्याग हो जानेपर सत् वस्तुकी प्राप्ति तो स्वतः है ही।

हमें इस बातकी खोज करनी चाहिये कि परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब क्यों हो रहा है। सोचनेपर पता लगता है कि यह विलम्ब हमारी असावधानीके कारण ही हो रहा है। वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति तो क्षणमात्रमें हो सकती है। जैसे बिजली फिट हो जाने और शक्ति-केन्द्रसे उसका सम्पर्क हो जानेपर स्विच दबानेके साथ ही प्रकाश हो जाता है, इसी प्रकार परमात्मापर दृढ़ विश्वास कर लेनेपर परमात्माकी प्राप्ति क्षणमात्रमें हो सकती है। बिजलीके तारमें तो करेंट दिया जाता है पर परमात्मा तो सब जगह पहलेसे ही व्यापक है। आवश्यकता है इस बातपर दृढ़ विश्वास होनेकी।

हमलोगोंको विचार करना चाहिये कि जब भगवान् हैं, मिलते हैं, बहुतोंको मिले हैं और हमें भी मिल सकते हैं तथा वे सब जगह सदा ही विद्यमान हैं तो फिर हम उनसे वञ्चित क्यों रह रहे हैं। विचार करनेपर इसका कारण हमलोगोंकी असावधानी ही सिद्ध होता है। इस असावधानीको हम स्वयं ही दूर कर सकते हैं। इसके लिये दूसरेकी आ[illegible] करना भूल है। यदि परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें थोड़ी कमी रह जायगी तो हमें फिर जन्म लेना पड़ेगा और वर्त[illegible] की भाँति ही महान् क्लेश भोगना पड़ेगा।

अतएव महान् पुरुषों और शास्त्रोंके वचनोंमें वि[illegible] करके हमें उनसे विशेष लाभ उठाना चाहिये। हमें उ[illegible] है कि परमात्माके दिये हुए तन, मन, धन, ऐश्वर्य, इन्द्रि[illegible] बुद्धि, बल, विवेकका सदुपयोग करें। कभी दुरुप[illegible] न करें। इनको सर्वथा परमात्माकी प्राप्तिके काममें ल[illegible] ही इनका सदुपयोग करना है और परमात्माकी प्रा[illegible] साधनके अतिरिक्त अन्य किसी काममें लगाना ही इन[illegible] दुरुपयोग करना है। हमें काम, भय, लोभ, मो[illegible] वश होकर या किसीके प्रभावमें आकर एक क्षण भी अ[illegible] अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिये। इन क्षणभ[illegible] नाशवान् पदार्थोंमें अपने तन, मन और बुद्धिको ल[illegible] ही समयको व्यर्थ नष्ट करना है और यही असावधानी [illegible] ईश्वरकी कृपासे मनुष्य-शरीर, उत्तम देश, उत्तम काल [illegible] उत्तम धर्मको पाकर भी हम परमात्माकी प्राप्तिसे एक क्ष[illegible] लिये भी वञ्चित क्यों रहें? स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि [illegible] तो बात ही क्या, शरीरके साथ भी हमारा सम्बन्ध वास्तवि[illegible] नहीं है, केवल माना हुआ है; क्योंकि किसी भी संस[illegible] वस्तुके साथ जो संयोग है, वह वियोगको लेकर ही [illegible] जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु निश्चित है, इसी प्रकार जिस[illegible] संयोग है, उसका वियोग भी निश्चय ही है। फिर हम [illegible] नाशवान् अनित्य पदार्थोंके फंदेमें फँसकर अपने अमू[illegible] समयका एक क्षण भी क्यों नष्ट करें?

परमात्मा नित्य है। उसका संयोग भी नित्य है। विश्[illegible] न होनेके कारण ही हम उसे भूले हुए हैं। अतएव [illegible] नित्य सत्य है, जिसका कभी अभाव नहीं है, उसीकी श[illegible] लेनी चाहिये। 'भगवान् ध्रुव सत्य हैं'—ऐसा विश्वास क[illegible] उनके नाम-रूपको हर समय याद रखना, भगवान्के सि[illegible] अन्य कोई भी हमारा नहीं है—ऐसा समझना, अपने म[illegible] बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको भगवान्की वस्तु मान[illegible] भगवान्के समर्पण करना अर्थात् भगवान्के काममें ल[illegible] देना तथा अनिच्छा और परेच्छासे जो कुछ भी हो रहा [illegible] उस सबको भगवान्की लीला समझकर अत्यन्त प्रसन्न रह[illegible] भगवान्की शरण लेना है।

जीवनका वास्तविक वरदान

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

पता नहीं क्यों, कथाएँ सभीको बड़ी प्यारी लगती हैं। जो बहुत बड़े महानुभाव हैं, जिन्हें अपनी विद्या, बुद्धि, वैभव, शक्ति, प्रभुताका बड़ा गर्व है और जो कुछ भी सुनना, जानना या पढ़ना नहीं चाहते, वे भी कथाएँ सुनने, पढ़नेके लिये उत्सुक देखे जाते हैं। चतुर लोग कहानियोंके द्वारा ही बड़े-बड़े गर्वीले राजा-महाराजाओंको उन्मार्गसे हटाकर झट सन्मार्गारूढ़ करते रहे हैं। इन कथाओंद्वारा मित्रसम्मत किंवा कान्तासम्मत उपदेश प्राप्त होता है, जो सुननेमें बड़ा मधुर तथा आचरणमें सुगम जान पड़ता है। इसलिये इनकी ओर सभीका आकर्षण होता है। अकबर आदिके विषयमें प्रसिद्धि है कि वे रातको सोनेके समय मनोरञ्जनके लिये खिड़कीके बाहरसे कुछ विशिष्ट लोगोंकी कथाएँ सुनते थे। भगवत्कथाओंकी तो बात ही निराली है। बड़े-बड़े साधु-संत, सिद्ध योगीन्द्र-मुनीन्द्र भी उन्हें सुननेको सदा तत्पर रहते हैं और उनके लिये समाधिसुखको भी उत्सर्ग करनेको तत्पर रहते हैं।

'सुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥'
'जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥'

और तो और, पूर्णतम पुरुषोत्तम अखिल-ब्रह्माण्डनायक, परात्पर ब्रह्म भी नरावतार धारणकर, भूमण्डलपर अवतीर्ण होकर बड़ी रुचिसे कथा सुनकर अपनी लालसा पूरी करता है—

'कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥'

—विश्वामित्रजी पुरानी कथाएँ सुनाते हैं[1]। भगवान् राघवेन्द्रको यह रात इतनी अच्छी लगी कि आधी रात हो गयी और पता न चला। राघवेन्द्रको कथाएँ इतनी अच्छी लगती हैं कि जहाँ कहीं भी भोजन आदिसे अवकाश मिला कि वे कथाएँ सुनना चाहते हैं। विश्वामित्रजी भी इतने भावग्राहक हैं कि वे राघवेन्द्रको प्रार्थना करनेका अवसर नहीं देते। उनकी रुख देखकर ही ऋषियों, मुनियों एवं प्राचीन राजाओंकी कथाएँ कहने लग जाते हैं—

'करि भोजन मुनिबर बिग्यानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥'

कहाँतक कहा जाय, सुनी जानी हुई कथाएँ भी सुननेमें भली ही लगती हैं। संतजन तो उनमें कुछ-न-कुछ नयी विशेषता फिर भी प्रकट कर देते हैं। इसलिये सर्वज्ञ ब्रह्म भी उन्हें सर्वथा जानता हुआ भी बार-बार सुननेमें आनन्दका अनुभव करता है—

'बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥'
'तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्ह बिप्रन्ह पर दाया॥
भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥'

इन कथाओंकी स्वाभाविक मोहकता एवं निसर्ग सुन्दरताका ही यह परिणाम है कि यह निर्दोष शुद्ध, बुद्ध जीव संयोगवशात् दूषित कथाओंके भी सामने आ जानेपर उनसे अनिच्छा नहीं प्रकट कर पाता। यहाँतक कि कल्पित, असत्य, असत् कथाओंके भी सुनने, पढ़ने, सोचनेमें रस लेने लगता है। यदि ऐसी बात न होती तो आज विविध भाषाओंमें लिखे गये चरित्रनाशक उपन्यासोंका इतना बड़ा विशाल भण्डार क्यों कर तैयार हो जाता। इतना ही नहीं, गन्दे अश्लील साहित्य, कहानियोंकी असंख्य पुस्तकें एवं केवल अनर्गल, तामसी कहानियों एवं धारावाहिक उपन्यासोंके रूपमें चलनेवाली पत्रिकाओंका विस्तार संसारमें कैसे होता? कितने पुस्तकालयोंमें तो केवल ऐसे ही साहित्य हैं; क्योंकि उनके सदस्य तथा जनता उन्हें ही चाहती है। पर यह मनुष्य-मस्तिष्ककी दुर्बलताका अनुचित लाभ उठाना है। कथाओंके सहारे कठिन-से-कठिन सिद्धान्त मस्तिष्कमें, जीवनमें सुगमता-पूर्वक उतार दिये जाते हैं। गणितके सिद्धान्तोंको सुगमता-पूर्वक समझानेके लिये भी कथाओंकी कल्पना की जाती है। वेदान्तके दुर्गम सिद्धान्त, दुरूह दर्शनोंके दुर्गम तत्त्व आख्यायिकाओंद्वारा सहज ही बुद्धिगम्य हो जाते हैं बालक जो कहानियाँ सुनता है, उसे तो वह अपने जीवनमें ही उतार लेता है और उसके वे संस्कार प्रायः यावज्जीवन तिरोहित नहीं होते।

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते॥

दूसरे लोगोंपर भी इन कथातत्त्वोंका कम प्रभाव कदापि

---

१. इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च॥
हसन्तं हास्यकथया कदाचित् प्रियया गृहे।
(श्रीमद्भा० १०। ६९। २८-२९)

नहीं पड़ता। कथाओंको पढ़ते-सुनते उनमें रुचि पैदा होती है। धीरे-धीरे वह रुचि उनमें गुणबुद्धि रखने लगती है। फिर तो वह मार्ग 'सिद्धान्त'-सा बनकर मस्तिष्कमें आ जाता है। इस तरह वैसा ही नाट्य करना—बन जाना अभीष्ट हो जाता है, और यह ठीक ही है कि मनुष्य जैसा बनना चाहता है और जी-जानसे जैसा होनेका प्रयत्न करता है, वैसा ही बन जाता है।

> यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते।
> यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः॥
> (महा० उद्योग० विदुरप्रजागर० ३६। १३)

फिर बालक हो या युवा, जो भी असत् कथाओंको चावसे पढ़े-सुनेगा, वह तदनुकूल स्वभावतया धर्म, सदाचारको तिलाञ्जलि दे स्वच्छन्द तामस, अकाण्ड ताण्डव नग्न नृत्य करनेमें ही गौरव अनुभव करेगा। फिर ऐसी दशामें वह मनुष्य-जीवनके परम एवं चरम लाभ—जिसके लिये देवता भी तरसते हैं, 'भगवत्प्राप्ति'से तो वञ्चित रह ही जायगा। बल्कि वह दुराचारसार प्राणी अपने सभी पुण्योंका नाश कर आश्रयहीन तमोमय नरकोंमें चिरकालके लिये चला जायगा[1]।

ठीक इसके विपरीत उतने ही श्रम तथा लगनसे भगवच्चरित्र अथवा संत-चरित्रका श्रवण करनेवाले सौभाग्यशाली सज्जन भगवान्को किंवा भगवद्धामको प्राप्त करते हैं। भगवद्-यश श्रवण करने, पढ़ने आदिसे तो सीधे भगवत्सम्बन्ध होता है, संत-कथा सुननेसे भी संतों-जैसा आचरण करनेकी इच्छा होती है, इस तरह प्राणी संत बनकर भगवान्को प्राप्त कर लेता है।[2] साथ ही सत्-कथामें 'भगवत्सम्बन्ध' ही तो मुख्य कथा-वस्तु होती है। साथ ही संतजन प्रभुको अपनेसे भी अधिक प्रिय होते हैं। या यों कहिये कि 'भगवत्सारसर्वस्व मात्र' होनेसे संत और भगवन्तमें कोई अन्तर ही नहीं होता[3]। इस लिये सत्कथाओंका भी वैसा ही महत्त्व है। श्रीवल्लभाचार्य जी तो भागवतके 'श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य' (३। १३। ४) इस श्लोककी 'सुबोधिनी' टीकामें लिखते हैं कि जैसे भगवच्चरित्र सुनना आवश्यक है, उसी प्रकार भगवदीयोंका-भगवद्भक्तोंका भी चरित्र सुनना आवश्यक है; क्योंकि उन संतोंने किस प्रकार भगवच्चरणारविन्दको हृदयमें स्थिर किया था, यह संतचरित्र सुननेसे सुगमतापूर्वक ज्ञात हो जाता है। साथ ही सौशील्य, कारुण्य, वात्सल्यादि भगवदीय दिव्य गुण ही भक्तोंमें भी होते हैं, इसलिये भगवद्गुण और भक्तगुण सुननेमें कोई अन्तर या विरोध नहीं है—

'भगवदीयानामपि चरित्रं श्रोतव्यं निराश्रयं चरित्रं स्वाश्रयत्वं न सम्पादयति ततो न स्थिरं भवेत्।···अतो भगवच्चरित्रस्यापि भगवदीयचरित्रश्रवणफलम्।······येन ये गुणेन भगवच्चरणारविन्दं तेषां हृदये तिष्ठति स गुणः—श्रवणस्य फलम्। भगवदीया एव गुणा भक्तेषु स्थितास्ता भवन्तीति न विरोधः।'

थोड़े शब्दोंके हेर-फेरसे श्रीधर स्वामीने भी यही कहा है।

---

१. यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा-
स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त॥
(श्रीमद्भा० ३।१५।२३)

२. (क) यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या
दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-
वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः॥
(श्रीमद्भा० ३।१५।२५)

(ख) पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया।
(श्रीमद्भा० १।२।१२)

(ग) 'नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम्।'(श्रीमद्भा० ३।१९।३८)

(घ) इसीलिये गोपियाँ भगवत्कथा वितरण करनेवालेको सबसे बड़ा दानी करार देती हैं—

> 'तव कथामृतं तप्तजीवनं
> कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
> श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
> भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥'
> (१०।३१।९)

प्रभो! तुम्हारी लीलाकथा अमृतस्वरूप है। संसारके तापसे तप्त प्राणीके लिये तो वह सजीवनबूटी ही है। बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओंने उसे गाया है और गाते हैं। वह सारे पापतापको मिटा देती है। केवल सुनने मात्रसे महामङ्गलका दान करती है। वह बड़ी रम्य, मधुर तथा विस्तृत है। जो उसे गाते हैं वास्तवमें भूलोकमें वे ही सबसे बड़े दाता हैं।

३. संत-भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी। (विनयपत्रिका)

४. येषु हृदयेषु मुकुन्दपादारविन्दमुपास्यते तेषां भागवतानां

स्वयं भागवतकार भी कहते हैं कि 'परमतत्त्ववेत्ता निर्भ्रान्त विद्वानोंकी दृष्टिमें शास्त्रोंके प्रगाढ़ अध्ययनका यही फल है कि जिनके हृदयमें मुकुन्दके पादारविन्द हैं, उन भक्तोंके गुणोंका श्रवण किया जाय।'[1]

अस्तु ! सारांश यह है कि मनुष्यका कल्याण बड़ी सुगमतापूर्वक हो सकता है; क्योंकि कथाएँ सबको अच्छी लगती ही हैं और संसारमें भगवच्चरित्र अथवा भागवतचरित्रका कोई अभाव है नहीं। बस, करना केवल इतना ही है कि इस रुचिको उनमें योग दे दिया जाय। यदि समीपके स्थानमें वैसी पुस्तकें न हों तो संतोंसे, भक्तोंसे, घरके बड़े-बूढ़े लोगोंसे कथाएँ सुनी जायँ। प्रयत्न करनेपर दोनों ही प्राप्त हो सकते हैं, फिर कोई एक वस्तु तो मिल ही जायगी।

बस, बुद्धिमानीसे इतना ही काम लेना है कि चरित्रनिर्माण तथा भगवान्‌की ओर जीवनकी गति कर देनेमें सहायक भगवान् तथा संतोंकी चरित्रकथा तथा इसी प्रकारकी अन्यान्य लोककथाएँ सुनी-पढ़ी जायँ और इनसे अतिरिक्त दूसरी कथाओं, अनर्गल असत्कथाओंसे बचा जाय।[2] उनका सुनना, पढ़ना केवल आयुके क्षणोंकी उपेक्षा ही नहीं, बड़ा असद्व्यय है; क्योंकि उससे तमःप्रधान आसुरी योनियाँ एवं आश्रयहीन घोर नरकोंकी उपलब्धि होती है। यह ठीक है कि नास्तिकों, दुराचारियोंके जीवनमें भी कोई साधु, सत्प्रेरणाप्रद घटना मिल सकती है। यहाँतक कि कुछ नास्तिकोंका जीवन ही सदाचार-मय दीख सकेगा। यद्यपि क्षीरनीरविवेकीके लिये उनका विवेचन सम्भव हो सकता है तथापि हम सर्वसाधारणको तो ऐसी घटनाओंसे भी बचना चाहिये; क्योंकि रागतः उनकी सारी जीवनी सुनकर, सम्भव है, उसे भी जीवनमें उतारकर हम पथभ्रष्ट हो जायँ।

वास्तवमें भक्त या संतके चोलेमें ठग या ईश्वरशास्त्रविरोधी संत-महात्मा दोनों ही त्याज्य हैं। ईश्वर-शास्त्रानुगामी भक्त संतोंके चरित्र तो आद्योपान्त अमृतोपम होंगे ही, तथापि उनकी कई जीवनघटनाएँ तो ऐसी आश्चर्यकारिणी सत्प्रेरणाप्रद होती हैं कि जिनके एक ही बार पढ़-सुन लेनेसे जीवनमें महान् परिवर्तन हो जाता है और यदि वे ठीकसे जीवनमें उतर गयीं, तब तो वास्तवमें जीवनके लिये एक महत्त्वपूर्ण वास्तविक वरदान सिद्ध होती हैं। सचमुच ऐसे संतों, भक्तों, उनके भगवान् तथा उनकी भक्तिमयी सत्क्रिया-कथाको बार-बार शत-शत प्रणाम है।

सत्कथाओंकी लोकोत्तर महत्ता एवं उपयोगिता

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

सत्कथाओंने आजतक संसारका जितना उपकार किया है, सम्भवतः उतना किसीने भी नहीं किया होगा एवं इस समय भी संसारमें जो कुछ मानवता है, वह भी इनका ही पुण्य-प्रसाद है।

सत्कथाएँ वास्तविक आचरणकी दिव्य ज्योति हैं और सन्मार्गकी साधना, यदि वे न होतीं तो पता ही नहीं चलता कि सदाचार किस वस्तुका नाम है।

सत्कथाएँ सदाचारका मूर्त रूप हैं। इनसे सदाचार-हीन व्यक्ति भी सरलतासे सदाचारी हो सकता है और पतनोन्मुख उत्थानोन्मुख।

सत्कथाएँ मनोवैज्ञानिक आकर्षण है, ऐतिहासिक सत्य है, चरित्रकी मधुरिमा है और चक्षु-प्रदाता मन्त्र है। यही कारण है कि अज्ञ, विज्ञ, पापी और सदाचारी सभी इनकी ओर आकृष्ट होते देखे जाते हैं।

महापुरुषोंके चरित्र-पाठसे भी यही समझमें आता है कि उनके चरित्र-निर्माणका सहायक कारण सत्कथाएँ ही रही हैं; क्योंकि अपने चरित्र-निर्माणके विषयमें वे सभी इन्हींका उल्लेख करते देखे जाते हैं।

चरित्र-निर्माणमें किसी प्रसिद्ध अथवा महान् व्यक्तिकी

गुणानां श्रवणमिति यत्। भगवद्गुणवद् भागवतगुणा अपि श्रोतव्या एव।' (उपर्युक्त श्लोकपर भागवतभावदीपिका)

१. श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः। यत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्दपादारविन्दं हृदयेषु येषाम्॥ (श्रीमद्भा० ३।१३।४)

२. तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्॥ अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्। किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः॥ (श्रीमद्भा० १।१६।५-६)

सत्कथाओंकी अनिवार्य आवश्यकता नहीं अपितु आवश्यकता है उदाहरणीय और अनुकरणीय वास्तविक जीवन-प्रसंगोंकी।

सत्कथाओंकी एक अन्यतम विशेषता यह भी है कि वे चाहे किसी भी व्यक्तिकी हों और वह व्यक्ति किसी भी देश-कालमें उत्पन्न हुआ हो, परंतु उसकी वे कथाएँ अनन्त कालतक मनुष्य-जातिको लाभ पहुँचाती रहती हैं।

सत्कथाओंकी एक अत्यधिक उल्लेखनीय महनीयता यह भी है कि वे अपने चरित्र-नायककी अपेक्षा अधिक उपकारिणी होती हैं। कौन नहीं जानता राम-कृष्ण, संत-महात्मा और सज्जनोंने उतना उपकार नहीं किया, जितना उनकी जीवन-कथाओंसे हुआ।

अत्र कदाचित् यह प्रश्न हो कि सत्कथाओंकी तथा-कथित लोकोत्तर विशेषताके सर्वतोभद्र प्रबलतम कारण क्या हैं तो इसका सदुत्तर इस प्रकार है—

१. मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मानव-मनके ज्ञान, सौन्दर्य और शील—ये तीन प्रधानतम रसात्मक तत्त्व हैं। इनमें शील उसका अविभाज्य, आत्म-सम्पृक्त चरित्र-प्रधान तत्त्व है। यही कारण है कि सत्कथाओंसे मानव-हृदय समधिक प्रभावित होता है।

२. मनुष्य, मनुष्यको अपना-सा होनेसे पसंद करता है। महावीर अर्जुनने विराट् रूपसे घबराकर भगवान् श्रीकृष्ण-से कहा था—'प्रभो! मुझे तो आप अपना वही मनुष्यरूप दिखाइये।' मानवता-प्रधान होनेसे सत्कथाओंकी ओर स्वभावतः मनुष्य आकर्षित होता है।

३. मानव प्रगतिशील प्राणी है। वह अनवधानतापूर्वक (unconsciously) भी ऊँचा उठना चाहता है। यही हेतु है कि जीवन-स्तरको ऊँचा उठानेवाली सत्कथाओंकी ओर मानव अगत्या आकृष्ट होता है।

४. मानव-हृदय निसर्गतः सौन्दर्य-उपासक है और सद्वृत्त सात्त्विक-सौन्दर्यकी चरम-सीमा है। अतः सद्वृत्त-प्राण कथाओंकी ओर खिंचना मनुष्यका अपना अव्यक्त गुण

५. सत्कथाएँ स्वतः एक साहित्यिक आकर्षण है। मनुष्य अनाकृष्ट कैसे रह सकता है?

६. मनुष्य सामाजिक जन्तु है, ऐसी दशामें व्यष्टि-परक सत्कथाओंसे उसका प्रभावित होना वैज्ञानिक तथ्य

७. यह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सत्य है कि मनुष्य अपने व्यक्ति का निर्माता स्वयं है, अतएव व्यक्तित्व-निर्मात्री सत्कथा मानव-मनका प्राकृतिक अन्योन्याश्रयत्व सम्बन्ध है। चरित्र-प्रधान सत्कथाओंसे उसका प्रभावित न अप्राकृतिक बात है।

८. प्रत्येक सद्वस्तु और सद्-व्यक्तित्वमें कुछ-न आकर्षण अवश्य होता है। सत्कथाएँ भी सद्वस्तु हैं और उ भी सद्-व्यक्तित्व है। अतः उनकी ओर मनुष्यका आक होना एक स्वाभाविक बात है।

९. मनुष्यको गुरु-सम्मत और मित्र-सम्मत उप की अपेक्षा कान्ता-सम्मत उपदेश स्वभावतः अधिक लगता है, इसीका यह प्रताप है कि कथाओं—विशे सत्कथाओंका मानव-मनपर समधिक कारगर प्रभाव होता

१०. मानव-प्राणी निसर्गतः जिज्ञासाप्रधान है। स्थितिमें सत्य-तथ्य-पूर्ण सत्कथाएँ तो उसका मानसिक खाद्य होनेसे उसकी रुचिकी वस्तु होती ही है।

इस तरह हम देखते हैं मनुष्यको वास्तविक म बनानेकी दृष्टिसे चरित्र-निर्माणकी दिशामें सत्कथाएँ ज कल्याणकारिणी हैं एवं आजके आध्यात्मिक, आधिदै और आधिभौतिक पाप-दोष और दुःख-शोक-संतप्त संसा दिव्य सुखमय स्वर्ग-राज्यमें परिणत करनेकी शक्ति र हैं। अतः आशा है, हम ऐसी अप्रतिम गुण रखनेवा सत्कथाओंके पाठसे अपना और जगत्का कल्याण कर ईश्वर-कृपासे समर्थ होंगे।*

सत्कथाका महत्त्व

'सत्' उसे कहते हैं जो सदा है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, जो नित्य सत्य चिदानन्दस्वरूप है, जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—चारों अवस्थाओंमें सम एवं एकरूप है; जो सबका आश्रय, ज्ञाता, प्रकाशक और आ है; श्रुतियाँ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि कहकर जिस संकेत करती हैं और जो एकमात्र चैतन्यघन होनेपर

* सत्कथाएँ मनुष्य-जातिका सर्वोत्तम विद्यालय है। मनुष्यको जो पाठ यहाँसे मिल सकता है वह अन्यत्र सर्वथा है।—'कश्चित्।'

अनेक रूपोंमें दिखायी पड़ता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
(२। १६)

जो 'असत्' है, उसका कभी अस्तित्व नहीं है और जो 'सत्' है उसका कभी अभाव नहीं है। अर्थात् वह सदा सर्वत्र है। सब कुछ उसीमें है, वही सबमें समाया है। यह 'सत्' ही परमात्मा—परात्पर ब्रह्म है। यथार्थमें इस 'सत्' की उपलब्धि ही मानव-जीवनका प्रधान ही नहीं, एकमात्र लक्ष्य है। इसीके लिये भगवान् दया करके जीवको मनुष्य-योनिमें भेजते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

जो मनुष्य नरदेहका यह वास्तविक लाभ न उठाकर पशु या पिशाचवत् भोगोंके उपार्जन और उनके भोगमें ही लगा रहता है, उसका मानव-जन्म व्यर्थ जाता है। केवल व्यर्थ ही नहीं जाता, भोगकामनासे मनुष्यका विवेक ढक जाता है और वह भोगोंकी प्राप्तिके लिये अनेकों पाप-कर्मोंमें प्रवृत्त होकर मानव-जीवनको असुर-जीवनमें परिणत कर डालता है, जिसका बहुत बुरा परिणाम होता है। भगवान्ने कहा है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

'कौन्तेय! वे मूढ़लोग मुझको (भगवान्को) तो प्राप्त होते ही नहीं, जन्म-जन्ममें आसुरी योनिमें जाते हैं और फिर उससे भी अति नीच गति (घोर नरकों) को प्राप्त होते हैं।'

इसलिये मनुष्यका यही एकमात्र कर्तव्य या परम धर्म होता है कि वह लोक-परलोकके कल्याण तथा मानव-जीवनके परम साध्य परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही सब कार्य करके अपने जीवनको सफल करे। विषयभोगोंको इस जीवनका लक्ष्य समझकर उन्हींको प्राप्त करनेमें जीवन लगाना तो अमृत देकर बदलेमें जहर लेना है। भगवान् श्रीरामचन्द्रने कहा है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

वे आगे चलकर कहते हैं कि इस प्रकारकी दुर्लभ सुविधा पाकर भी जो भवसागरसे नहीं तरता, वह आत्म-हत्यारेकी गतिको प्राप्त होता है—

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

यही बात श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें कही गयी है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(११। २०। १७)

श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केनोपनिषद् २। ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें परमात्मतत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है—(सत्यकी उपलब्धिसे मानव-जीवनकी सार्थकता है) और यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन कर—परमात्माको समझकर इस देहका त्याग करके अमृतको प्राप्त होते हैं। अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

इस 'सत्'-स्वरूप चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिके जितने साधन हैं या परमात्माको प्राप्त महापुरुषमें अथवा परमात्मप्राप्तिके साधनमें लगे हुए सच्चे साधकमें जिन-जिन गुणों और क्रियाओंका प्रकाश और विकास देखा जाता है, वे सब भी 'सत्' ही हैं। इसीसे भगवान्ने गीतामें कहा है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥
(१७। २६-२७)

''सत्' इस (परमात्माके नाम) का सद्भावमें और साधुभावमें प्रयोग किया जाता है तथा अर्जुन! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है और यज्ञ, तप तथा दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' है—ऐसा कहा जाता है। एवं उस परमात्माके लिये किया गया (प्रत्येक) कर्म ही सत् है—ऐसा कहा जाता है।''

इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्मा या भगवान् भी 'सत्' है तथा उस सत्के साधन तथा सत्यके प्राप्त होनेपर

स्वभावतः ही सत्पुरुषमें दीखनेवाले गुण भी 'सत्' हैं—अर्थात् सद्गुण, सद्भाव, सद्विचार, सदाचार, सद्व्यवहार, सत्यभाषण, सत्-आहार और सद्विहार—जो कुछ भी भगवान्‌के प्राप्त्यर्थ, प्रीत्यर्थ या सहज दैवीगुणरूपमें विकसित भाव-विचार-गुण-कर्म आदि हैं, सभी 'सत्' हैं और ये जिसके जीवनमें प्रत्यक्ष प्रकट हैं, वे ही 'सत्पुरुष' हैं। ऐसे सत्पुरुषोंका या उनके सदाचारों तथा सद्विचारोंका सङ्ग ही 'सत्सङ्ग' है। इस प्रकारके 'सत्सङ्ग'में ही वास्तविक 'सत्-कथा'—हरिकथा प्राप्त होती है, उससे मोहका नाश (भोगपदार्थोंमें—इहलोक तथा परलोकके प्राणिपदार्थोंमें सुख-बोधरूप मोहका नाश) होकर भगवच्चरणोंमें दृढ़ प्रेमकी प्राप्ति होती है—

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

हरिकथा ही 'सत्कथा' है। जिसमें श्रीहरिके पवित्र लीलाचरित्रोंका गान हो, अथवा जो भगवान् श्रीहरिकी ओर ले जानेवाले सफल साधन बताती हो, वह 'सत्कथा' है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य॥

(श्रीमद्भा० १२।४।४०)

'जो लोग अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरसे पार होना चाहते हैं अथवा जो भाँति-भाँतिके दुःखदावानलसे दग्ध हो रहे हैं, उनके लिये पुरुषोत्तम भगवान्‌की लीला-कथा-रसका सेवन करनेके सिवा और कोई साधन नहीं है, कोई नौका नहीं है। केवल लीला-कथा-रसायनका सेवन करके ही वे अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं।'

हरिकथाको छोड़कर और सभी कथाएँ असत् हैं तथा त्याज्य हैं। श्रीमद्भागवतके अन्तमें श्रीसूतजी महाराजने कहा है—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।४८-४९)

'जिस वाणीके द्वारा घटघटवासी भगवान्‌के नाम-गु[ण-] लीलाका कथन नहीं होता, वह भावयुक्त होनेपर [भी] व्यर्थ—सारहीन है, सुन्दर होनेपर भी असुन्दर है औ[र] वस्तुतः वह 'असत्-कथा' है। जो वचन भगवान्‌के गुणों[से] पूर्ण रहते हैं, वे ही परम पवित्र हैं, वे ही मङ्गलमय हैं औ[र] वे ही परम सत्य हैं। जिस वचनके द्वारा भगवान्‌के प[रम] पवित्र यशका गान होता है, वही परम रमणीय, परम रु[चिर] और प्रतिक्षण नया-नया लगता है, वही अनन्त काल[तक] मनके लिये परम महोत्सवरूप है। वह मनुष्यके शोक[के] गहरे समुद्रको सुखा देनेवाला है।'

जहाँ 'सत्कथा' होती है वहाँ उसके प्रभावसे प्राणिमा[त्रमें] परस्पर प्रेम हो जाता है। वहाँ लोग वैर छोड़कर सु[खी] हो जाते हैं। प्रचेतागण भगवान्‌की स्तुति करते हु[ए] कहते हैं—

यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः।
निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन॥
यत्र नारायणः साक्षाद्भगवान् न्यासिनां गतिः।
संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः॥

(श्रीमद्भा० ४।३०।३५-३६)

'जहाँ (भगवद्भक्तोंमें) सदा भगवान्‌की दिव्य क[था] होती रहती है, जिनके श्रवणमात्रसे भोगतृष्णा सर्वथा शा[न्त] हो जाती है। प्राणिमात्र सब परस्पर निर्वैर हो जाते हैं औ[र] उनमें कोई उद्वेग नहीं रहता। सत्कथाओंके द्वारा अनास[क्त] भावसे महान् त्यागियोंके एकमात्र आश्रय साक्षात् भगवा[न्] श्रीनारायणका बार-बार गुण-गान होता रहता है।'

जिन लोगोंको सत्कथा-सुधाका स्वाद मिल जाता है, [वे] तो फिर उसे पीते ही रहना चाहते हैं, कभी तृप्त होते [ही] नहीं। विदेह राजा निमिने योगीश्वरोंसे प्रार्थना की है—

नानुतृप्ये जुषन् युष्मद्वचो हरिकथामृतम्।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम्॥

(श्रीमद्भा० ११।३।२)

'मैं मृत्युका शिकार और संसारके तापोंसे संतप्त हूँ

आपलोग मुझे जिस हरि-कथा-अमृतका पान करा रहे हैं, वह इन तापोंको नष्ट करनेकी एकमात्र ओषधि है, इसलिये आपकी वाणीका सेवन करते-करते मैं तृप्त नहीं होता।'

सत्कथा-सुधाके परम पिपासु भक्तराज ध्रुव सत्सङ्गकी चाह करते हुए भगवान्‌से बोले—

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम्।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः॥
(श्रीमद्भा० ४।९।११)

'अनन्त परमात्मन्! जिनकी आपमें अविच्छिन्न भक्ति है, उन निर्मलहृदय महापुरुष भक्तोंका मुझे सङ्ग दीजिये। उनके सङ्गसे आपके गुणों और लीलाओंकी कथा-सुधाको पी-पीकर मैं उन्मत्त हो जाऊँगा और सहज ही अनेक दुःखोंसे पूर्ण इस भयङ्कर भव-सागरसे उस पार पहुँच जाऊँगा।'

परम सौभाग्यमयी श्रीगोपाङ्गनाएँ, जो भगवत्कथा-सुधा-रसकी रसिका ही ठहरीं, उनके समान इस रससुधाका अनुभव किसने किया है।—प्रेममतवारी वे गोपियाँ बड़े ही करुण-मधुर स्वरमें गाती हैं—

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
(श्रीमद्भा० १०।३१।९)

'श्यामसुन्दर! तुम्हारी कथा-सुधा (तुम्हारे विरहसे) संतप्त पुरुषोंके लिये जीवनरूप है, ज्ञानी महात्माओंके द्वारा उसका गान किया गया है। वह सारे पाप-तापोंको मिटानेवाली है, श्रवण-मात्रसे मङ्गल करनेवाली है, परम मधुर और परम सुन्दर तथा विस्तृत है। जो तुम्हारी लीला-कथाका गान करते हैं, वे ही वास्तवमें पृथ्वीमें सबसे बड़े दाता हैं।'

महात्मा मुनि मैत्रेयजी तो कथा-सुधा पान न करनेवालोंको मनुष्य ही नहीं मानते ? वे विदुरजीसे कहते हैं—

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्
पुराकथानां भगवत्कथासुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा-
महो विरज्येत विना नरेतरम्॥
(श्रीमद्भा० ३।१३।५०)

'अरे, संसारमें पशुओंको छोड़कर अपने पुरुषार्थका सार—असली मानव-पुरुषार्थका रहस्य जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा जो आवागमनरूपी भवसे छुड़ा देनेवाली भगवान्‌की प्राचीन कथाओंमेंसे किसी भी कथा-सुधाका अपने कर्णपुटोंसे एक बार पान करके फिर उसकी ओरसे मन हटा लेगा ?'

श्रीगोस्वामीजी महाराज सत्कथा (रामकथा) के महत्त्वका वर्णन करते हुए कहते हैं—

महामोह महिषेसु बिसाला। राम कथा कालिका कराला॥
राम कथा ससि किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना॥
जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥
राम कथा सुंदर कर तारी। संसय बिहग उड़ावनिहारी॥

सत्कथासे ही मनुष्यको अपनी भूलोंका पता लगता है और भवाटवीसे निकलकर सच्चे सुखकी प्राप्तिका सन्मार्ग, उसका पाथेय, प्रकाश और सहायक शुभ सङ्ग प्राप्त होता है। सत्कथाओंमें भी जो प्रभाव उपदेशका पड़ता है, उससे बहुत ही अधिक घटनाप्रसंगोंका पड़ता है। विषय-वासना, भोग-कामना, कामोपभोगपरायणता, भोगार्थ दुष्कर्ममें प्रवृत्ति, अन्यायसे अर्थोपार्जनकी वृत्ति आदि सभी दोषों-को मिटाकर जो आत्महित, लोकहितके साथ-साथ भगवत्-प्रीतिसम्पादनमें सहायक और प्रेरक हो, जिससे दैवी सम्पत्ति-के गुणोंका विकास तथा संवर्धन होता हो, ऐसी घटनाओंका श्रवण, कथन, मनन ही 'सत्कथाका' सेवन है।

इसके विपरीत जिन कथाओंसे आसुरीसम्पदाके दुर्गुण, दुर्विचार, दुराचार आदिका विकास तथा संवर्धन होता हो—जिनसे हिंसा, असत्य, स्तेय, दम्भ, दर्प, अभिमान, मद, द्वेष, वैर, क्रोध, काम, लोभ, छल, कपट, कायरता, असहिष्णुता, मन-इन्द्रियोंकी गुलामी, व्यभिचार, तृष्णा, ईश्वर तथा धर्ममें अविश्वास, दोषदर्शनकी वृत्ति, निन्दा-चुगलीमें प्रीति, मिथ्या प्रशंसाकी इच्छा, शरीरके अत्यन्त आरामकी भावना आदि दोष उत्पन्न होते हों, उभड़ते हों, बढ़ते हों, फैलते हों—वह असत्कथा है। उससे सदा दूर रहना चाहिये।

असत् मानव-चरित्रोंका तथा असत् घटनाओंका भूलकर

भी कभी श्रवण, पठन, कथन, स्मरण नहीं करना चाहिये। जैसे सत्पुरुषोंके सत्-चरित्र और सत्-घटना आदिसे चरित्रनिर्माणमें प्रेरणा, सहायता तथा आदर्शकी प्राप्ति होती है, ठीक इसके विपरीत असत् चरित्र तथा घटनाओंसे चरित्रनाश होता है। इसीलिये असत् साहित्यका प्रकाश और प्रचार-प्रसार संसारके लिये हानिकर माना गया है। इसीलिये शास्त्र तथा सत्पुरुष बार-बार सावधान करते हुए सब प्रकारके दुःसङ्गका त्याग करनेके लिये प्रेरणा देते हैं। स्खलन अथवा पतन बहुत शीघ्र होता है, पैर जरा-सा फिसला कि आदमी गिरा। परंतु फिसलाहटसे बचनेमें बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है और चढ़नेके लिये तो परिश्रम या प्रयास भी करना पड़ता है। 'असत्-कथा' मानव-जीवनका पतन करनेके लिये बहुत बड़ी फिसलाहट है। इसलिये 'असत्-कथा' से सदा बचकर 'सत्कथा' का ही सेवन करना चाहिये।

सत्कथाके सेवनसे मनुष्यको अपने कर्तव्यका ज्ञान होता है। अपने प्रति तथा दूसरोंके प्रति कैसे बरतना चाहिये—यह बात ठीक समझमें आती है। संसारमें किस प्रकार रहना चाहिये, घरमें रहते हुए भी बन्धन न हो, कोई भी काम या चेष्टा ऐसी न हो, जिससे किसी भी प्राणीका अहित होता हो। सदा स्वाभाविक ही सबका हित—परहित होता रहे, इसकी सच्ची जानकारी उन पुरुषोंकी जीवन-घटनाओंसे ही प्राप्त होती है, जो ऐसे हैं और जिनके जीवनमें ये चीजें प्रत्यक्ष देखी जाती हैं।

हमारे यहाँ चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। संसारमें जीवन-निर्वाह तथा स्वयं कष्ट न पाकर सबको आराम पहुँचाने, अपने आश्रितोंका स्नेह तथा भक्तिपूर्वक पालन-पोषण करनेके लिये अर्थ और कामकी भी आवश्यकता है। इसीलिये धर्मके स्वरूपकी व्याख्या करते हुए हमारे सर्वदर्शी तथा आत्मस्वरूपमें स्थित महर्षिने कहा—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिससे लौकिक अभ्युदय—सर्वाङ्गीण उन्नति और निःश्रेयस—परमकल्याणकी सिद्धि हो वह धर्म है।' परंतु मानव-जीवनका प्रधान लक्ष्य है—मोक्ष या भगवत्प्राप्ति। इसलिये अर्थ और काम ऐसे न हों जो मनुष्यको कामोपभोगपरायण बनाकर उसे आसुरी जीवनमें पहुँचा दें। वे अर्थ और काम धर्मनियन्त्रित होने चाहिये। धर्मानुसार ही अर्थ-कामका अर्जन, प्रयोग और उपयोग होना चाहि[ये] यह बात सीखनेको मिलती है—'सत्कथा' से ही।

हमारे ऋषि घोषणा करते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'धर्मके सार-सर्वस्वको सुनो और सुनकर उसे धा[रण] करो—वह धर्मसर्वस्व यही है कि जो-जो कार्य या व्यव[हार] तुम्हारे मनसे प्रतिकूल हैं, दूसरोंके साथ उन्हें न करो[।'] इसका यथार्थ रूप कैसा होना चाहिये। इस बातका प[ता] 'सत्कथा'से ही लगता है।

दूसरोंका न कभी बुरा करो, न चाहो ही। तुम्[हारे] चाहने-करनेसे किसीका बुरा नहीं होगा। वह तो त[भी] होगा, जब किसीके वैसे अपने कर्म कारणरूपमें पहले बने हुए विद्यमान होंगे और जो फलदानोन्मुख हो चु[के] होंगे। पर किसीका बुरा चाहते ही तुम्हारा तो बु[रा] निश्चितरूपसे हो ही गया।

जिससे अपना तथा दूसरोंका परिणाममें अहित हो[ता] हो, वही पाप है और जिससे परिणाममें अपना त[था] दूसरोंका हित होता हो, वही पुण्य है।

दूसरोंका अहित चाहने तथा करनेवालोंका परिणाम[में] कभी हित नहीं होता और दूसरोंका हित चाहने त[था] करनेवालोंका परिणाममें कभी अहित नहीं होता।

हमारा अहित या नुकसान हमारे कर्मसे होता है[,] दूसरा कोई भी हमारा अहित नहीं कर सकता। यदि कोई वैसी चेष्टा करता है तो वह अपने लिये ही बुराईका बी[ज] बोता है और जो अपने अहितका कार्य आप करता है[,] वह पागल है और पागल दयाका पात्र होता है[,] द्वेषका नहीं।

किसी भी स्थिति, अवस्था, प्राणी, पदार्थ, वस्तु आदि[से] जो सुखकी आशा रखता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता[।] वह सदा निराश ही रहेगा, फलतः दुखी रहेगा।

सुख-दुःख किसी वस्तु या स्थितिमें नहीं हैं, न को[ई] सुख-दुःख देता ही है। मनकी अनुकूलतामें सुख है और प्रतिकूलतामें दुःख है। यदि मनुष्य ज्ञानकी दृष्टि[से] अपनेको निर्लिप्त केवल द्रष्टा मान ले तो सर्वत्र अनुकूलता-प्रतिकूलताका नाश होकर समता हो जाती है तथा फिर सुख-दुःख मिटकर आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है। अथवा

भक्तिकी दृष्टिसे सब कुछको भगवान्का मङ्गलविधान मान ले तो सर्वत्र प्रत्येक सांसारिक परिणाममें अनुकूल दृष्टि हो जाती है—प्रतिकूलता रहती ही नहीं, तब फिर वह नित्य आनन्दको प्राप्त कर सकता है ।

अपनेको राहमें पड़े तिनकेसे भी नीचा समझे, वृक्ष-की भाँति बुरा करनेवालेका भी अपना सर्वस्व देकर हित करे, स्वयं मानका त्याग करके सबको मान दे और सदा-सर्वदा श्रीभगवान्का कीर्तन करे ।

पतन या पापका कारण प्रारब्ध नहीं है । विवेकका अनादर करके कामनाके वश होनेपर मनुष्य पापाचरण करता है और तभी उसका पतन होता है ।

अपनी स्थितिसे अधिक खर्च करनेवाले मनुष्यको धन-की चाह सदा बनी ही रहती है और धन कमानेके लिये वह सदा अशान्त रहता हुआ, विविध प्रकारके दुराचरण करने लगता है । जिसकी आवश्यकता जितनी कम है, वह उतना ही अधिक सुखी है ।

सारे क्लेशोंका कारण ममता और अहंता है । ज्ञानकी दृष्टिसे नाम तथा रूपसे अहंता निकालकर एकमात्र निर्विशेष ब्रह्ममें अहंता करे, फिर जगत्के प्राणिपदार्थोंसे ममता आप ही निकल जायगी । अथवा भक्तिकी दृष्टिसे अपना सारा 'अहं' भगवान्के दासत्वमें लगा दे अर्थात् अपनेको केवल भगवान्-का दास मान ले और अपनी सारी ममता सब जगहसे हटाकर भगवान्के चरणोंमें ही जोड़ दे । 'मैं भगवान्का दास' और भगवान्के चरणकमल ही मेरे ।' 'मैं और कुछ नहीं तथा मेरा और कुछ भी नहीं ।'

साधु, भक्त, महात्मा सजकर जो दुनियाको धोखा देना चाहता है, वह अपने-आपको ही धोखा देता है और मानव-जीवनको पापमय बनाता है ।

शरीरसे भगवत्स्वरूप संसारकी सेवा करे, मनसे भगवान्-का चिन्तन करे, यह परम साधन है ।

माता-पिताकी सेवा और अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन कष्ट सहकर भी आनन्दपूर्वक सौभाग्य मानकर करे ।

दूसरेके अधिकारकी यथासाध्य पूर्ति कर दे और अपना कोई अधिकार माने नहीं, दूसरोंकी इच्छाको उनकी आशासे अधिक पूरी करे, दूसरोंसे स्वयं इच्छापूर्तिकी कोई आशा रक्खे ही नहीं ।

संसारके सारे सम्बन्ध भगवान्के सम्बन्धसे माने । घर भगवान्का, घरके प्राणी भगवत्स्वरूप, घरका काम भगवान्की सेवा । जबतक भगवान् इन वस्तुओंको रक्खें—तबतक इन्हें अपनी न मानकर भगवान्के नाते सेव्य माने और इनकी आदरपूर्वक सेवा करे । भगवान् अपनी वस्तुओंको अन्यत्र भिजवा दें या सेवा करनेवालेको ही दूसरी जगह भेजकर दूसरी सेवा सौंप दें तो खूब प्रसन्नतासे स्वीकार करे । सेवा करनी है—ममता नहीं । प्रेम करके देना है—किसीसे कुछ लेना नहीं है ।

बड़ोंकी सेवा न करना, अपवित्र रहना, अकड़े रहना, ब्रह्मचर्यका नाश करना, किसीको चोट पहुँचाना—ये शरीरसे होनेवाले पाँच पाप हैं । ऐसी वाणी बोलना जिससे सुननेवाले-को उद्वेग हो, जो असत्य हो, जो कटु हो और जो अहित करनेवाली हो तथा भगवान्के नाम-गुणोंका गान न करना—ये वाणीसे होनेवाले पाँच पाप हैं । तथा मनका विषाद, निर्दयता, व्यर्थ चिन्तन, उच्छृङ्खलता, अशुद्ध भाव—ये पाँच मनसे बननेवाले पाप हैं । इनको छोड़कर शरीरसे देव-द्विज गुरु-प्राज्ञका पूजन, शौच, सीधापन, ब्रह्मचर्यका पालन और अहिंसाका सेवन करे । वाणीसे अनुद्वेगकर, सत्य, मधुर और हितकर वचन बोले तथा स्वाध्याय करता रहे एवं मनसे प्रसन्नता, सौम्यता, मौन (भगवान्के नामरूपगुणोंका मनन), मनका निग्रह, भावोंकी शुद्धि—इनका सेवन करे ।

किसी भी लोभ या भयसे सत्य एवं धर्मका त्याग न करे, बल्कि सत्य तथा धर्मकी रक्षाके लिये अपने जीवनको न्योछावर कर दे ।

दूसरेके दुःखको कभी अपना सुख न बनावे । अपना सारा सुख देकर दूसरेके दुःखोंका हरण करे और उसे सुखी बनावे तथा इसीमें परम सुखका अनुभव करे ।

जितनेसे अपना पेट भरे उतनेपर ही अपना हक है । इससे अधिकको अपना माननेवाला चोर है और दण्डनीय है । अतएव सबका हक यथायोग्य सबको देकर केवल अपने हकसे ही अपना जीवन चलावे ।

दूसरे सबको उनका स्वत्व देकर बचे हुएको प्रसादरूपसे खाना ही यज्ञावशिष्ट भोजन है और इसीसे पाप नाश होते हैं । जो केवल अपने लिये ही कमाता खाता है, वह तो पाप खाता है ।

अपने पास संग्रह करे ही नहीं, यदि कोई वस्तु या धन-सम्पत्ति अपने पास हो तो अपनेको उसका स्वामी न माने, ट्रस्टी माने और उस वस्तुको ट्रस्टकी सम्पत्ति माने

तथा यथायोग्य नियमानुसार उसका भगवत्सेवार्थ जनसेवामें खुले हाथों उपयोग करता रहे और उसमें अपना कुछ भी श्रेय न समझे।

किसीको कुछ देकर न उसपर अहसान करे, न उससे कृतज्ञता या बदला चाहे, न गिनावे—उसीकी वस्तु उसे दी गयी है, यही समझकर इसे भूल जाय।

अपने द्वारा किसीका कभी कुछ हित हुआ हो, उसे भूल जाय। दूसरेके द्वारा कभी अपना अहित हुआ हो उसे भूल जाय। दूसरेके द्वारा अपना कुछ हित हुआ हो उसे याद रक्खे और अपने द्वारा कभी किसीका कुछ अहित हुआ हो उसे याद रक्खे।

जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर शरीरको बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वी पुरुषोंके शुद्ध यश और गुणी पुरुषोंके प्रशंसनीय गुणोंको नष्ट कर देता है।

चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें अर्थ—धनसे उत्पन्न होते हैं। इस अर्थनामधारी अनर्थमें ममता-आसक्ति न करके बुद्धिमान् पुरुषको इसकी इच्छा नहीं करनी चाहिये और मिल जाय तो उसे भगवान्की सेवामें लगा देना चाहिये।

संकल्पत्यागके द्वारा कामको जीते, कामके त्यागसे क्रोधको जीते, धनसे होनेवाले अनर्थोंको दृष्टिमें रखकर लोभका त्याग करे तथा तत्त्वविचारके द्वारा भयको जीते।

महान् पापी भी यदि भगवान्को एकमात्र शरणदाता मानकर उनको अनन्यचित्तसे पुकारता है तो वह साधु ही माना जाता है।

भगवान्की कृपामें जितना बल है, उतना पापीके पापमें नहीं है। भगवान्की सभी शक्तियोंमें कृपाशक्ति सबसे बड़ी है।

किसीके नामके बहाने, परिहासमें, गीतके आलाप आदिके लिये अथवा अवहेलनासे भी लिया हुआ भगवान्का नाम सब पापोंको नाश करता है। अनजानमें अथवा जानकर उच्चारण किया हुआ जो श्रीहरिका नाम है, वह मनुष्यकी पापराशिको उसी प्रकार जला देता है, जैसे आग इन्धनको।

संसार बड़ा स्वार्थी है, यह दूसरेके संकटको नहीं जानता, जानता होता तो किसीसे कोई याचना नहीं करता और जो देनेमें समर्थ है, वह माँगनेपर कभी इनकार नहीं करता।

धन, उत्तम कुल, रूप, तपस्या, वेदाध्ययन, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पुरुषार्थ, बुद्धि और योग—इन बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् पद्मनाभके चरणकमलसे विमु[ख] हो तो उससे वह चाण्डाल ही श्रेष्ठ है, जिसने मन, वचन, क[र्म] धन, प्राण, सब कुछ भगवान्के चरणोंमें समर्पण कर [दिये] हैं; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलको पवित्र करता [है] किंतु बड़प्पनका अधिक अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्[मण] अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।

धन और भोगोंसे संतोष न होना ही जीवके संसारबन्धन[में] पड़नेका कारण है। जो कुछ प्राप्त हो जाय उसीमें संतो[ष] कर लेनेवालेको मुक्ति मिलती है।

भोगोंकी प्राप्तिसे भोगकामना कभी शान्त नहीं हो[ती] अपितु घी-ईंधनसे प्रज्वलित होनेवाली अग्निकी भाँ[ति] अधिकाधिक बढ़ती है।

जो संतुष्ट है, निष्काम है तथा आत्मामें ही रमण कर[ता] है, उसे जो सुख मिलता है, वैसा सुख कामलालसा[से] धनकी इच्छासे इधर-उधर दौड़नेवालोंको कभी न[हीं] मिल सकता।

मनुष्यदेह भगवत्प्राप्तिके लिये मिला है, भोगप्राप्तिके लि[ये] नहीं। मानवकी मानवता तभी सिद्ध होती है, जब वह भगवा[न्] की प्राप्तिके साधनोंमें लगकर अपने जीवनको सर्व[था] भगवान्के अनुकूल बना लेता है या बनाना चाहता है।

सबमें सर्वदा भगवान्के दर्शन करके सबकी सेवा कर[ने]वाला महापुरुष है। केवल मानवमें ही नहीं—पशु, पक्षी, की[ट] पतंग, जड-चेतन सभीमें भगवान् भरे हैं। भगवान् ही उन[के] रूपमें प्रकट हैं। यह अनुभव करके सबका हित, सब[की] सेवा, सबको प्रणाम करे।

उपर्युक्त सभी चीजोंको समझना और जीवनमें उतार[ना] मानव-जीवनकी पूर्णताके लिये अत्यावश्यक हैं। पर ये ची[जें] केवल सुननेसे नहीं मिलतीं। जिनके जीवनमें ये सब ची[जें] मूर्तिमान् हुई हों, जिन्होंने इनका प्रत्यक्ष पोषण और सेव[न] किया हो, उनकी उन जीवन-घटनाओंसे इनको प्राप्त कर[ने] की तीव्र प्रेरणा मिलती है, करनेकी युक्ति प्राप्त होती [है] और प्राप्त करके कैसे उनका सेवन किया जाता है इसके लि[ये] एक अनुभवपूर्ण आदर्श मिलता है। यही 'सत्कथा' [की] विशेषता तथा उपादेयता है।

प्रत्येक कल्याणकामी बालक-वृद्ध, नर-नारी, गृहस्[थ] विरक्त, मानवमात्रको 'सत्कथा' का श्रवण, मनन, अध्यय[न] करके उसके अनुसार जीवन बनानेका प्रयत्न करना चाहिये यही विनीत प्रार्थना है।

—हनुमानप्रसाद पोद्[दार]

देवताओंका अभिमान और परमेश्वर

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

एक बार देवासुर-संग्राम हुआ। उसमें भगवान्‌की कृपासे देवताओंको विजय मिली। परमेश्वर तथा शास्त्रकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले असुर हार गये। यद्यपि देवताओंकी इस महान् विजयमें एकमात्र प्रभुकी कृपा एवं इच्छा ही कारण थी, तथापि देवता इसे समझ न पाये। उन्होंने सोचा, यह विजय हमारी है और यह सौभाग्य-सुयश केवल हमारे ही पराक्रमका परिणाम है। भगवान्‌को देवताओंके इस अभिप्रायको समझते देर न लगी। वे उनके सम्पूर्ण दुर्गुणोंकी खान इस अहंकारको दूर करनेके लिये एक अद्भुत यक्षके रूपमें उनके सामने प्रकट हुए।

देवता उनके इस अद्भुत रूपको कुछ समझ न सके और बड़े विस्मयमें पड़ गये। उन्होंने सर्वज्ञकल्प अग्निको उनका पता लगानेके लिये भेजा। अग्निके वहाँ पहुँचनेपर यक्षरूप भगवान्‌ने उनसे प्रश्न किया कि 'आप कौन हैं?' अग्निने कहा—'तुम मुझे नहीं जानते? मैं इस विश्वमें 'अग्नि' नामसे प्रसिद्ध जातवेदा हूँ।' यक्षरूप भगवान्‌ने पूछा—'ऐसे प्रसिद्ध तथा गुण-सम्पन्न आपमें क्या शक्ति है?' इसपर अग्नि बोले कि 'मैं इस चराचर जगत्‌को जलाकर भस्म कर सकता हूँ।' इसपर (यक्षरूपमें) भगवान्‌ने उनके सामने एक तृण रख दिया और कहा, 'कृपाकर इसे जलाइये।' अग्निने बड़ी चेष्टा की, क्रोधसे स्वयं पैरसे चोटीतक प्रज्वलित हो उठे, पर वे उस तिनकेको न जला सके। अन्तमें वे निराश तथा लज्जित होकर लौट आये और देवताओंसे बोले कि 'मुझे इस यक्षका कुछ भी पता न लगा।' तदनन्तर सबकी सम्मतिसे वायु उस यक्षके पास गये और भगवान्‌ने उनसे भी वैसे ही पूछा कि 'आप कौन हैं तथा आपमें क्या शक्ति है?' उन्होंने कहा कि 'इस सारे विश्वमें वायु नामसे प्रसिद्ध मैं मातरिश्वा हूँ और मैं पृथ्वीके सारे पदार्थोंको उड़ा सकता हूँ।' इसपर भगवान्‌ने उसी तिनकेकी ओर इनका ध्यान आकृष्ट कराया और उसे उड़ानेको कहा। वायुदेवताने अपनी सारी शक्ति भिड़ा दी, पर वे उसे टस-से-मस न कर सके और अन्तमें लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आये। जब देवताओंने उनसे पूछा कि 'क्या कुछ पता लगा कि यह यक्ष कौन था?' तब उन्होंने भी सीधा उत्तर दे दिया कि 'मैं तो बिल्कुल न जान सका कि वह यक्ष कौन है।'

अब अन्तमें देवताओंने इन्द्रसे कहा कि 'मघवन्! आप ही पता लगायें कि यह यक्ष कौन है?' 'बहुत अच्छा' कहकर इन्द्र उसके पास चले तो सही, पर वह यक्ष उनके वहाँ पहुँचनेके पूर्व ही अन्तर्धान हो गया। अन्तमें इन्द्रकी दृढ़ भक्ति एवं जिज्ञासा देखकर साक्षात् उमा—मूर्तिमती ब्रह्मविद्या, भगवती पार्वती वहाँ आकाशमें प्रकट हुईं। इन्द्रने उनसे पूछा कि 'माँ! यह यक्ष कौन था?' भगवती उमाने कहा कि 'वे यक्ष प्रसिद्ध परब्रह्म परमेश्वर थे। इनकी ही कृपा एवं लीलाशक्तिसे असुर पराजित हुए हैं, आपलोग तो केवल निमित्तमात्र रहे। आपलोग जो इसे अपनी विजय तथा शक्ति मान रहे हैं, वह आपका व्यामोह तथा मिथ्या अहङ्कार-मात्र है। इसी मोहमयी विनाशिका भ्रान्तिको दूर करनेके लिये परमेश्वरने आपके सामने यक्षरूपमें प्रकट होकर कुतूहल प्रदर्शन कर आपलोगोंके गर्वको भङ्ग किया है। अब आपलोग अच्छी तरह समझ लें कि इस विश्वमें जो बड़े-बड़े पराक्रमियोंका पराक्रम, बलवानोंका बल, विद्वानोंकी विद्या, तपस्वियोंका तप, तेजस्वियोंका तेज एवं ओजस्वियोंका ओज है, वह सब उसी परम लीलामय प्रभुकी लीलामयी विविध शक्तियोंका

लवलेशांश मात्र हैं और इस विश्वके सम्पूर्ण हलचलोंके केन्द्र एकमात्र वे ही सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वर हैं। प्राणीका अपनी शक्तिका अहङ्कार मिथ्या भ्रममात्र है।'

उमाके वचनोंसे इन्द्रकी आँखें खुल गयीं। उन्हें अ भूलपर बड़ी लज्जा आयी। लौटकर उन्होंने सभी देवताओं सम्पूर्ण रहस्य बतलाकर सुखी किया। (केनोपनिष

यमके द्वारपर

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

'न देने योग्य गौके दानसे दाताका उल्टे अमङ्गल होता है' इस विचारसे सात्त्विक बुद्धि-सम्पन्न ऋषिकुमार नचिकेता अधीर हो उठे। उनके पिता वाजश्रवस—वाजश्रवाके पुत्र उद्दालकने विश्वजित् नामक महान् यज्ञके अनुष्ठानमें अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दी, किंतु ऋषि-ऋत्विज् और सदस्योंकी दक्षिणामें अच्छी-बुरी सभी गौएँ दी जा रही थीं। पिताके मङ्गलकी रक्षाके लिये अपने अनिष्टकी आशङ्का होते हुए भी उन्होंने विनयपूर्वक कहा—'पिताजी! मैं भी आपका धन हूँ, मुझे किसे दे रहे हैं—'तत कस्मै मां दास्यसीति।''

उद्दालकने कोई उत्तर नहीं दिया। नचिकेताने पुनः वही प्रश्न किया, पर उद्दालक टाल गये।

'पिताजी! मुझे किसे दे रहे हैं?' तीसरी बार पूछनेपर उद्दालकको क्रोध आ गया। चिढ़कर उन्होंने कहा—'तुम्हें देता हूँ मृत्युको—मृत्यवे त्वां ददामीति।'

नचिकेता विचलित नहीं हुए। परिणामके लिये वे पहलेसे ही प्रस्तुत थे। उन्होंने हाथ जोड़कर पितासे कहा—'पिताजी! शरीर नश्वर है, पर सदाचरण सर्वोपरि है। आप अपने वचनकी रक्षाके लिये यम-सदन जानेकी मुझे आज्ञा दें।'

ऋषि सहम गये, पर पुत्रकी सत्यपरायणता देखकर उसे यमपुरी जानेकी आज्ञा उन्होंने दे दी। नचिकेताने पिताके चरणोंमें सभक्ति प्रणाम किया और वे यमराजकी पुरीके लिये प्रस्थित हो गये।

यमराज काँप उठे। अतिथि ब्राह्मणका सत् न करनेके कुपरिणामसे वे पूर्णतया परिचित थे और तो अग्नितुल्य तेजस्वी ऋषिकुमार थे, जो उन अनुपस्थितिमें उनके द्वारपर बिना अन्न-जल ग्र किये तीन रात बिता चुके थे। यम जलपूरित स्व कलश अपने ही हाथोंमें लिये दौड़े। उन्होंने नचिकेता सम्मानपूर्वक पाद्यार्घ्य देकर अत्यन्त विनयसे कह 'आदरणीय ब्राह्मणकुमार! पूज्य अतिथि होकर आपने मेरे द्वारपर तीन रात्रियाँ उपवासमें बिता यह मेरा अपराध है। आप प्रत्येक रात्रिके लिये एक वर मुझसे माँग लें।'

'मृत्यो! मेरे पिता मेरे प्रति शान्त-संकल्प, प्रसन्नचि और क्रोधरहित हो जायँ और जब मैं आपके यह लौटकर घर जाऊँ, तब वे मुझे पहचानकर प्रेमपू बातचीत करें।' पितृभक्त बालकने प्रथम वर माँगा।

'तथास्तु' यमराजने कहा।

'मृत्यो! स्वर्गके साधनभूत अग्निको आप भ भाँति जानते हैं। उसे ही जानकर लोग स्वर्गमें अमृतत देवत्वको प्राप्त होते हैं, मैं उसे जानना चाहता हूँ। मेरी द्वितीय वर-याचना है।'

'यह अग्नि अनन्त स्वर्ग-लोककी प्राप्तिका साधन है' यमराज नचिकेताको अल्पायु, तीक्ष्णबुद्धि तथा वास्त जिज्ञासुके रूपमें पाकर प्रसन्न थे। उन्होंने कहा— विराट्रूपसे जगत्की प्रतिष्ठाका मूल कारण है। इसे विद्वानोंकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित समझिये।'

उस अग्निके लिये जैसी और जितनी ईंटें चाहिये, वे जिस प्रकार रक्खी जानी चाहिये तथा यज्ञस्थली-निर्माणके लिये आवश्यक सामग्रियाँ और अग्निचयन करनेकी विधि बतलाते हुए अत्यन्त संतुष्ट होकर यमने द्वितीय वरके रूपमें कहा—'मैंने जिस अग्निकी बात आपसे कही, वह आपके ही नामसे प्रसिद्ध होगी और आप इस विचित्र रत्नोंवाली मालाको भी ग्रहण कीजिये।'

'तृतीयं वरं नचिकेता वृणीष्व।'

'हे नचिकेता, अब तीसरा वर माँगिये।' अग्निको स्वर्गका साधन अच्छी प्रकार बतलाकर यमने कहा।

'आप मृत्युके देवता हैं' श्रद्धा-समन्वित नचिकेताने कहा—'आत्माका प्रत्यक्ष या अनुमानसे निर्णय नहीं हो पाता। अतः मैं आपसे वही आत्म-तत्त्व जानना चाहता हूँ। कृपापूर्वक बतला दीजिये।'

यम झिझके। आत्म-विद्या साधारण विद्या नहीं। उन्होंने नचिकेताको उस ज्ञानकी दुरूहता बतलायी, पर उनको वे अपने निश्चयसे नहीं डिगा सके। यमने भुवन-मोहन अस्त्रका उपयोग किया—सुर-दुर्लभ सुन्दरियाँ और दीर्घकालस्थायिनी भोग-सामग्रियोंका प्रलोभन दिया, पर ऋषिकुमार अपने तत्त्व-सम्बन्धी गूढ़ वरसे विचलित नहीं हो सके।

'आप बड़े भाग्यवान् हैं।' यमने नचिकेताके वैराग्यकी प्रशंसा की और वित्तमयी संसारगतिकी निन्दा करते हुए बतलाया कि विवेक-वैराग्य-सम्पन्न पुरुष ही ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिके अधिकारी हैं। श्रेय-प्रेय और विद्या-अविद्याके विपरीत स्वरूपका यमने पूरा वर्णन करते हुए कहा—'आप श्रेय चाहते हैं तथा विद्याके अधिकारी हैं।'

'हे भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो सब प्रकारके व्यावहारिक विषयोंसे अतीत जिस परब्रह्मको आप देखते हैं, मुझे अवश्य बतलानेकी कृपा कीजिये।'

'आत्मा चेतन है। वह न जन्मता है, न मरता है। न यह किसीसे उत्पन्न हुआ है और न कोई दूसरा ही इससे उत्पन्न हुआ है।' नचिकेताकी जिज्ञासा देखकर यम अत्यन्त प्रसन्न हो गये थे। उन्होंने आत्माके स्वरूपको विस्तारपूर्वक समझाया—'वह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, सनातन है, शरीरके नाश होनेपर भी बना रहता है। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्‌से भी महान् है। वह समस्त अनित्य शरीरोंमें रहते हुए भी शरीररहित है, समस्त अस्थिर पदार्थोंमें व्याप्त होते हुए भी सदा स्थिर है। वह कण-कणमें व्याप्त है। सारा सृष्टिक्रम उसीके आदेशपर चलता है। अग्नि उसीके भयसे जलता है, सूर्य उसीके भयसे तपता है तथा इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु उसीके भयसे दौड़ते हैं। जो पुरुष कालके गालमें जानेसे पूर्व उसे जान लेते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। शोकादि क्लेशोंको पारकर परमानन्दको प्राप्त कर लेते हैं।'

यमने कहा, 'वह न तो वेदके प्रवचनसे प्राप्त होता है, न विशाल बुद्धिसे मिलता है और न केवल जन्मभर शास्त्रोंके श्रवणसे ही मिलता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

वह उन्हींको प्राप्त होता है, जिनकी वासनाएँ शान्त हो चुकी हैं, कामनाएँ मिट गयी हैं और जिनके पवित्र अन्तःकरणको मलिनताकी छाया भी स्पर्श नहीं कर पाती तथा जो उसे पानेके लिये अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं।'

× × ×

आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद उद्दालक-पुत्र कुमार नचिकेता लौटे तो उन्होंने देखा कि वृद्ध तपस्वियोंका समुदाय भी उनके स्वागतार्थ खड़ा है।

आपद्धर्म

एक समय कुरुदेशमें ओलोंकी बड़ी भारी वर्षा हुई। इससे सारे उगते हुए पौधे नष्ट हो गये और भयानक अकाल पड़ गया। दुष्कालसे पीड़ित प्रजा अन्नके अभावसे देश छोड़कर भागने लगी। वहीं एक उषस्ति नामके ब्राह्मण भी रहते थे। उनकी स्त्रीका नाम आटिकी था। वह अभी बालिका ही थी। उसे लेकर उषस्ति भी देश छोड़कर इधर-उधर भटकने लगे। भटकते-भटकते वे दोनों एक महाव्रतोंके ग्राममें पहुँचे। भूखके मारे बेचारे उषस्ति उस समय मरणासन्न दशाको प्राप्त हो रहे थे। उन्होंने देखा कि एक महावत उबाले हुए उड़द खा रहा है। वे उसके पास गये और उससे कुछ उड़द देनेको कहा। महावतने कहा—'मैं इस बर्तनमें रक्खे हुए जो उड़द खा रहा हूँ, इनके अतिरिक्त मेरे पास और उड़द हैं ही नहीं, तब मैं कहाँसे दूँ ?' उषस्तिने कहा—'मुझे इनमेंसे ही कुछ दे दो।' इसपर महावतने थोड़े-से उड़द उषस्तिको दे दिये और सामने जल रखकर कहा कि 'लो, उड़द खाकर जल पी लो।' उषस्ति बोले—'नहीं, मैं यह जल नहीं पी सकता; क्योंकि इसके पीनेसे मुझे उच्छिष्ट-पानका दोष लगेगा।'

महावतको इसपर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा कि 'ये उड़द भी तो हमारे जूँठे हैं; फिर जलमें ही क्या रक्खा है जो इसमें जूँठनका दोष आ पड़ा ?'

उषस्तिने कहा—'भाई! मैं यदि यह उड़द न खाता तो मेरे प्राण निकल जाते। प्राणोंकी रक्षाके लिये आपद्धर्मकी व्यवस्थानुसार ही मैं उड़द खा रहा हूँ। पर जल तो अन्यत्र भी मिल जायगा। यदि उड़दकी तरह ही मैं तुम्हारा जूँठा जल भी पी लूँ, तब तो वह स्वेच्छाचार हो जायगा। इसलिये भैया! मैं तुम्हारा जल नहीं पीऊँगा।' यों कहकर उषस्तिने कुछ उड़द स्वयं खा लिये और शेष अपनी पत्नीको दे दिये। ब्राह्मणीको पहले ही कुछ खानेको मिल गया था; इसलिये उन उड़दोंको उसने खाया नहीं, अपने पास रख लिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल उषस्तिने नित्यकृत्यके ... अपनी स्त्रीसे कहा—'क्या करूँ, मुझे जरा-सा भी ... कहींसे खानेको मिल जाय तो मैं अपना निर्वाह ... लायक कुछ धन प्राप्त कर लूँ; क्योंकि यहाँसे समीप ... एक राजा यज्ञ कर रहा है, वह ऋत्विक्के का... मेरा भी वरण कर लेगा।'

इसपर उनकी स्त्री आटिकीने कहा—'मेरे पा... कलके बचे हुए उड़द हैं; लीजिये, उन्हें खाकर ... यज्ञमें चले जाइये।' भूखसे सर्वथा अशक्त उषस्ति... उन्हें खा लिया और वे राजाके यज्ञमें चले गये। ... जाकर वे उद्गाताओंके पास बैठ गये और उनकी ... देखकर बोले—'प्रस्तोतागण! आप जानते हैं—जि... देवताकी आप स्तुति कर रहे हैं, वे कौन हैं! ... रखिये आप यदि अधिष्ठाताको जाने बिना स्तुति क... तो आपका मस्तक गिर पड़ेगा।' और इसी प्रकार उन्हों... उद्गाताओं एवं प्रतिहर्ताओंसे भी कहा। यह सुनते ... सभी ऋत्विज् अपने-अपने कर्म छोड़कर बैठ गये।

राजाने अपने ऋत्विजोंकी यह दशा देख... उषस्तिसे पूछा—'भगवन्! आप कौन हैं? मैं आप... परिचय जानना चाहता हूँ।' उषस्तिने कहा—'राजन्... मैं चक्रका पुत्र उषस्ति हूँ।' राजाने कहा, 'ओह ... भगवन्, उषस्ति आप ही हैं? मैंने आपके बहुत-से गु... सुने हैं। इसीलिये मैंने ऋत्विज्के कामके लिये आप... बहुत खोज करवायी थी; पर आप न मिले और मु... दूसरे ऋत्विजोंको वरण करना पड़ा। यह मेरा ब... सौभाग्य है, जो आप किसी प्रकार स्वयं पधार गये। अ... ऋत्विज्सम्बन्धी समस्त कर्म आप ही करनेकी कृपा करें।'

उषस्तिने कहा—'बहुत अच्छा! परंतु इन ऋत्विजों... को हटाना नहीं, मेरे आज्ञानुसार ये अपना-अप... कार्य करें और दक्षिणा भी जो इन्हें दी जाय, उत... ही मुझे देना (न तो मैं इन लोगोंको निकाल... चाहता हूँ और न दक्षिणामें अधिक धन लेकर इन...

अपमान ही करना चाहता हूँ। मेरी देख-रेखमें ये सब काम करते रहेंगे)।' तदनन्तर सभी ऋत्विज् उषस्तिके पास जाकर तत्त्वोंको जानकर यज्ञकार्यमें लग गये और विधिपूर्वक वह यज्ञ सम्पन्न हुआ।

—जा० श०	(छान्दोग्य० अ० १, खं० १०-११)

गो-सेवासे ब्रह्मज्ञान

एक सदाचारिणी ब्राह्मणी थी, उसका नाम था जबाला। उसका एक पुत्र था सत्यकाम। वह जब विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन अपनी मातासे कहने लगा—'माँ! मैं गुरुकुलमें निवास करना चाहता हूँ; गुरुजी जब मुझसे नाम, गोत्र पूछेंगे तो मैं अपना कौन गोत्र बतलाऊँगा?' इसपर उसने कहा कि 'पुत्र! मुझे तेरे पितासे गोत्र पूछनेका अवसर नहीं प्राप्त हुआ; क्योंकि उन दिनों मैं सदा अतिथियोंकी सेवामें ही बझी रहती थी। अतएव जब आचार्य तुमसे गोत्रादि पूछें, तब तुम इतना ही कह देना कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।' माताकी आज्ञा लेकर सत्यकाम हारिद्रुमत गौतमऋषिके यहाँ गया और बोला—'मैं श्रीमान्‌के यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक सेवा करने आया हूँ।' आचार्यने पूछा, 'वत्स! तुम्हारा गोत्र क्या है?'

सत्यकामने कहा, 'भगवन्! मेरा गोत्र क्या है, इसे मैं नहीं जानता। मैं सत्यकाम जाबाल हूँ, बस, इतना ही इस सम्बन्धमें जानता हूँ।' इसपर गौतमने कहा—'वत्स! ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता। जा, थोड़ी समिधा ले आ। मैं तेरा उपनयन-संस्कार करूँगा।'

सत्यकामका उपनयन करके चार सौ दुर्बल गायोंको उसके सामने लाकर गौतमने कहा—'तू इन्हें वनमें चराने ले जा। जबतक इनकी संख्या एक हजार न हो जाय, इन्हें वापस न लाना।' उसने कहा—'भगवन्! इनकी संख्या एक हजार हुए बिना मैं न लौटूँगा।'

सत्यकाम गायोंको लेकर वनमें गया। वहाँ वह कुटिया बनाकर रहने लगा और तन-मनसे गौओंकी सेवा करने लगा। धीरे-धीरे गायोंकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभ (साँड़) ने सत्यकामके पास आकर कहा—'वत्स, हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, अब तू हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दे। साथ ही ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें तुझे एक चरणका मैं उपदेश देता हूँ। वह ब्रह्म 'प्रकाशस्वरूप' है, इसका दूसरा चरण तुझे अग्नि बतलायेंगे।'

सत्यकाम गौओंको हाँककर आगे चला। संध्या होनेपर उसने गायोंको रोक दिया और उन्हें जल पिलाकर वहीं रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। तत्पश्चात् काष्ठ लाकर उसने अग्नि जलायी। अग्निने कहा, 'सत्यकाम! मैं तुझे ब्रह्मका द्वितीय पाद बतलाता हूँ; वह 'अनन्त' लक्षणात्मक है, अगला उपदेश तुझे हंस करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकाम पुनः किसी सुन्दर जलाशयके किनारे ठहर गया और उसने गौओंके रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। इतनेमें ही एक हंस ऊपरसे उड़ता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठकर बोला—'सत्यकाम!' सत्यकामने कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' हंसने कहा—'मैं तुझे ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश कर रहा हूँ, वह 'ज्योतिष्मान्' है, चतुर्थ पादका उपदेश तुझे मुद्ग (जलकुक्कुट) करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकामने एक वटवृक्षके नीचे गौओंके रात्रिनिवासकी व्यवस्था की। अग्नि जलाकर वह बैठ ही रहा था कि एक जलमुर्गने आकर पुकारा और कहा—'वत्स! मैं तुझे ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश करता हूँ, वह 'आयतनस्वरूप' है।'

इस प्रकार उन-उन देवताओंसे सच्चिदानन्दघन-लक्षण परमात्माका बोध प्राप्तकर एक सहस्र गौओंको लेकर सत्यकाम आचार्य गौतमके यहाँ पहुँचा। आचार्यने उसकी चिन्तारहित, तेजपूर्ण दिव्य मुखकान्तिको देखकर कहा—'वत्स! तू ब्रह्मज्ञानीके सदृश दिखलायी पड़ता है।' सत्यकामने कहा, 'भगवन्! मुझे मनुष्येतरोंसे विद्या

मिली है। मैंने सुना है कि आपके सदृश आचार्यके द्वारा प्राप्त हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतएव मुझे आप ही पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये।' आचार्य बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'वत्स ! तूने जो प्राप्त किया है, वही [illegible] तत्त्व है।' और उस सम्पूर्ण तत्त्वका पुनः ठीक उसी [illegible] उपदेश किया। —जा० श० (छान्दोग्य० ४।४- [illegible]

अग्नियोंद्वारा उपदेश

कमलका पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबालके यहाँ ब्रह्मचर्य ग्रहण करके अध्ययन करता था। बारह वर्षोंतक उसने आचार्य एवं अग्नियोंकी उपासना की। आचार्यने अन्य सभी ब्रह्मचारियोंका समावर्तन-संस्कार कर दिया और उन्हें घर जानेकी आज्ञा दे दी। केवल उपकोसल-को ऐसा नहीं किया।

उपकोसलके मनमें दुःख हुआ। गुरुपत्नीको उसपर दया आ गयी। उसने अपने पतिसे कहा—'इस ब्रह्मचारीने बड़ी तपस्या की है, ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करते हुए विद्याध्ययन किया है। साथ ही आपकी तथा अग्नियों-की विधिपूर्वक परिचर्या की है। अतएव कृपया इसको उपदेश कर इसका भी समावर्तन कर दीजिये। अन्यथा अग्नि आपको उलाहना देंगे।' पर सत्यकामने बात अनसुनी कर दी और बिना कुछ कहे ही वे कहीं अन्यत्र यात्रामें चले गये।

उपकोसलको इससे बड़ा क्लेश हुआ। उसने अनशन आरम्भ किया। आचार्यपत्नीने कहा—'ब्रह्मचारी ! तुम भोजन क्यों नहीं करते ?' उसने कहा—'माँ, मुझे बड़ा मानसिक क्लेश है, इसलिये भोजन नहीं करूँगा।'

अग्नियोंने सोचा—'इस तपस्वी ब्रह्मचारीने [illegible] लगाकर हमारी बहुत सेवा की है। अतएव उपदेश [illegible] इसके मानसिक क्लेशको मिटा दिया जाय।' ऐसा [illegible] करके उन्होंने उपकोसलको ब्रह्मविद्याका यथोचित [illegible] दे दिया। तदनन्तर कुछ दिनों बाद उसके आचार्य [illegible] काम यात्रासे लौटे। इधर उपकोसलका मुखमण्डल [illegible] तेजसे देदीप्यमान हो रहा था। आचार्यने पूछा—'सौ[illegible] तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता-जैसा दीख रहा है; बता, तुझे कि[illegible] ब्रह्मका उपदेश किया ?' उपकोसलने बड़े संकोचसे [illegible] समाचार सुनाया। इसपर आचार्यने कहा—'यह [illegible] उपदेश तो अलौकिक नहीं है। अब मुझसे उस अलौ[illegible] ब्रह्मतत्त्वका उपदेश सुन, जिसे भली प्रकार जान[illegible] पर—साक्षात् कर लेनेपर पाप-ताप प्राणीको उसी प्र[illegible] स्पर्श नहीं कर पाते, जैसे कमलके पत्तेको जल।'

इतना कहकर आचार्यने उपकोसलको ब्रह्मत[illegible] रहस्यमय उपदेश किया और समावर्तन-संस्कार करके घर जानेकी आज्ञा दे दी। —जा० श०

(छान्दोग्य० ४। १०—

गाड़ीवालेका ज्ञान

एक बड़ा दानी राजा था, उसका नाम था जानश्रुति। उसने इस आशयसे कि लोग सब जगह मेरा ही अन्न खायेंगे, सर्वत्र धर्मशालाएँ बनवा दी थीं और अन्न-सत्रादि खोल रक्खे थे। एक दिन रात्रिमें कुछ हंस उड़कर राजाके महलकी छतपर जा बैठे। उनमेंसे पिछले हंसने अगलेसे कहा—'अरे ओ भल्लाक्ष ! ओ भल्लाक्ष ! देख, जानश्रुतिका तेज द्युलोकके समान फैला हुआ है। कहीं उसका स्पर्श न कर लेना, अन्यथा वह तुझे भस्म कर डालेगा।'

इसपर दूसरे (अग्रगामी) हंसने कहा—'बेचारा यह राजा तो अत्यन्त तुच्छ है; मालूम होता है तुम गाड़ीवाले रैक्कको नहीं जानते। इसीलिये इसका तेज [illegible] अपेक्षा अत्यल्प होनेपर भी तुम इसकी वैसी प्रशंसा [illegible] रहे हो।' इसपर पिछले हंसने पूछा—'भाई ! गा[illegible] वाला रैक्क कैसा है ?' अगले हंसने कहा—'भाई ! रैक्ककी महिमाका क्या बखान किया जाय ! जुआरीका पासा पड़ता है, तब जैसे वह तीनोंको जीत लेता है, [illegible] प्रकार जो कुछ प्रजा शुभ कार्य करती है, वह सब रैक्क[illegible] प्राप्त हो जाता है। वास्तवमें जो तत्त्व रैक्क जानता है, [illegible] जो भी जान लेता है, वह वैसा ही फल प्राप्त करता है[illegible]

जानश्रुति इन सारी बातोंको ध्यानसे सुन रहा [illegible]

प्रातःकाल उठते ही उसने अपने सेवकोंको बुलाकर कहा—'तुम गाड़ीवाले रैक्वके पास जाकर कहो कि राजा जानश्रुति उनसे मिलना चाहता है।' राजाके आज्ञानुसार सर्वत्र खोज हुई, पर रैक्वका कहीं पता न चला। राजाने विचार किया कि इन सबने रैक्वको ग्रामों तथा नगरोंमें ही ढूँढ़ा है और उनसे पुनः कहा कि 'अरे जाओ, उन्हें ब्रह्मवेत्ताओंके रहने योग्य स्थानों (अरण्य, नदीतट आदि एकान्त स्थानों) में ढूँढ़ो।'

अन्तमें वे एक निर्जन प्रदेशमें गाड़ीके नीचे बैठे हुए शरीर खुजलाते हुए मिल ही गये। राजपुरुषोंने पूछा—'प्रभो! क्या गाड़ीवाले रैक्व आप ही हैं?' मुनिने कहा—'हाँ, मैं ही हूँ।'

पता लगनेपर राजा जानश्रुति छः सौ गौएँ, एक हार और एक खचरियोंसे जुता हुआ रथ लेकर उनके पास गया और बोला—'भगवन्! मैं यह सब आपके लिये लाया हूँ। कृपया आप इन्हें स्वीकार कीजिये तथा जिस देवताकी उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश कीजिये।' राजाकी बात सुनकर मुनिने कहा—'अरे शूद्र! ये गायें, हार और रथ तू अपने ही पास रख।' यह सुनकर राजा घर लौट आया और पुनः दूसरी बार एक सहस्र गायें, एक हार, एक रथ और अपनी पुत्रीको लेकर मुनिके पास गया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भगवन्! आप इन्हें स्वीकार करें और अपने उपास्यदेवताका मुझे उपदेश दें।'

मुनिने कहा—'हे शूद्र! तू फिर ये सब चीजें मेरे लिये लाया?' (क्या इनसे ब्रह्मज्ञान खरीदा जा सकता है?) राजा चुप होकर बैठ गया। तदनन्तर राजाको धनादिके अभिमानसे शून्य जानकर उन्होंने ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। जहाँ रैक्व मुनि रहते थे, उस पुण्य प्रदेशका नाम रैक्वपर्ण हो गया। —जा० श० (छान्दोग्य० ४। १-२)

एक अक्षरसे तीन उपदेश

एक बार देवता, मनुष्य और असुर—ये तीनों ही ब्रह्माजीके पास ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करने गये। कुछ काल बीत जानेपर उन्होंने उनसे उपदेश (समावर्तन) ग्रहण करनेकी इच्छा प्रकट की। सबसे प्रथम देवताओंने कहा—'प्रभो! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने एक ही अक्षर कह दिया 'द'। देवताओंने कहा 'हम समझ गये। हमारे स्वर्गादि लोकोंमें भोगोंकी ही भरमार है। उन्हींमें लिप्त होकर हम अन्तमें स्वर्गसे गिर जाते हैं, अतएव आप हमें 'द' से 'दमन' अर्थात् इन्द्रिय-संयमका उपदेश कर रहे हैं।' तब प्रजापति ब्रह्माने कहा, 'ठीक है, तुम समझ गये।'

फिर मनुष्योंने प्रजापतिसे कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उनसे भी 'द' इस एक अक्षरको ही कहा और पूछा कि 'क्या तुम समझ गये?' मनुष्योंने कहा—'जी, समझ गये, आपने हमें दान करनेका उपदेश दिया है; क्योंकि हमलोग जन्मभर संग्रह करनेकी ही लिप्सामें लगे रहते हैं, अतएव हमारा दानमें ही कल्याण है।' तब प्रजापतिने कहा 'ठीक है, मेरे कथनका यही अभिप्राय था।'

अब असुरोंने उनके पास जाकर उपदेशकी प्रार्थना की। प्रजापतिने इन्हें भी 'द' अक्षरका ही उपदेश किया। असुरोंने सोचा, 'हमलोग स्वभावसे ही हिंसक हैं, क्रोध और हिंसा हमारा नित्यका सहज व्यापार है। अतएव निःसंदेह हमारे कल्याणका मार्ग एकमात्र 'दया' ही है। प्रजापतिने हमें उसीका उपदेश किया है, क्योंकि दयासे ही हम इन दुष्कर्मोंको छोड़कर पाप-तापसे मुक्त हो सकते हैं।' यों विचारकर वे जब चलनेको तैयार हुए, तब प्रजापतिने उनसे पूछा 'क्या तुम समझ गये?' असुरोंने कहा—'प्रभो! आपने हमें प्राणिमात्रपर दया करनेका उपदेश दिया है।' प्रजापतिने कहा, 'ठीक है, तुम समझ गये।'

प्रजापतिके अनुशासनकी प्रतिध्वनि आज भी मेघ-गर्जनामें हमें 'द, द, द' के रूपमें अनुदिन होती सुनायी पड़ती है। अर्थात् भोगप्रधान देवताओ! इन्द्रियोंका दमन करो। संग्रहप्रधान मनुष्यो! भोगसामग्रीका दान करो। और क्रोधप्रधान असुरो! जीवमात्रपर दया करो। इससे हमें दम, दान और दया—इन तीनोंको सीखना तथा अपनाना चाहिये। —जा० श० (बृहदारण्यक० उ०)

कुमारी केशिनीका त्याग और प्रह्लादका न्याय

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

पञ्चाल-प्रदेशकी सर्वगुणसम्पन्ना विवेकशीला लोक-विश्रुत सुन्दरी एक स्वयंवरा कन्या थी। वह श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न सत्पुरुषसे ही विवाह करना चाहती थी। वह इस बातको अच्छी तरह समझती थी कि विवाह-योग्य वरके सम्मान्य गुणोंमें सत्कुलका महनीय स्थान है। यही कारण था कि उसने वैवाहिक जीवनके सब सुखोंपर सत्कुलको ही विशेषता दी और तपस्वी ऋषि-कुमार सुधन्वासे विवाह करनेका निश्चय किया।

केशिनीके पास विवाहार्थी अनेक राजकुमारोंके भी प्रस्ताव आये; परंतु उसने सबको ठुकरा दिया। एक दिन सम्राट् प्रह्लादके युवराज विरोचनने भी अपनी विवाहेच्छा उसके सम्मुख प्रकट की।

यद्यपि युवराज विरोचनके साथ विवाह करनेके सांसारिक लाभ केशिनीकी दृष्टिसे ओझल नहीं थे, तथापि उसने विरोचनको इन शब्दोंमें उत्तर दिया—

'राजकुमार! मैंने महर्षि अङ्गिराके पुत्र सुधन्वासे विवाह करनेका निश्चय किया है, परंतु यह निश्चय उनके कुल-श्रेष्ठ होनेके कारण ही किया गया है। अब आप ही बताइये कि कुलमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं या दैत्य; यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं तो मैं सुधन्वासे विवाह क्यों न करूँ?'

इसपर विरोचनने दैत्य-कुलके श्रेष्ठत्वका प्रतिपादन किया। उत्तरमें केशिनीने कहा—'ठीक है, यदि आपका ऐसा मत है तो कल प्रातःकाल स्वयंवरसे पहले हमारे घरपर आ जाइये; वहाँ सुधन्वा भी होंगे, आप इस विषयमें उनसे विचार-विनिमय कर सकते हैं।'

प्रातःकाल दोनों कुमार केशिनीके घरपर पहुँचे, परंतु वहाँ एक अरुचिकर घटना हो गयी। वह यह कि विरोचन पहले पहुँचे और सुधन्वा पीछे। इसलिये विरोचनने उससे कहा, 'सुधन्वा! तुम यहाँ मेरे पास सिंहासनपर बैठो।' किंतु सुधन्वाने उसके पास बैठनेसे इन्कार करते हुए यह कहा कि 'समान-गुणशील व्यक्ति ही एक साथ बैठ सकते हैं।'

पिता-पुत्र, दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध औ शूद्र एक आसनपर साथ बैठ सकते हैं। इस दृष्टि तुम्हारे पास नहीं बैठ सकता; क्योंकि तुम मेरे स नहीं हो। सम्भवतः तुम्हें यह बात मालूम नहीं जब मैं तुम्हारे पिताकी सभामें जाता था, तब वे उच्चासनपर बैठाकर स्वयं मुझसे नीचे बैठते थे मेरी सेवा-शुश्रूषा भी करते थे।

इसपर दोनोंमें विवाद छिड़ गया; परंतु वे एक नहीं हो सके। ऐसी परिस्थितिमें उन्होंने किसी न्यायाधी से ही निर्णय लेना उचित समझा। परंतु विरोचनके कहनेपर कि वे देवता और ब्राह्मणको न्यायाधीश न बना सकते, सुधन्वाने विरोचनके पिता सम्राट् प्रह्लाद को ही न्यायाधीश चुना; किंतु इसमें शर्त यह रही विजित व्यक्ति विजेताके चरणोंमें अपने प्राण समर्पित कर

इसपर दोनों न्याय-पिपासु कुमार महाराज श्रीप्रह्ला-जीके पास गये और उनसे सब कुछ कह दिया। प्र पणकी बात भी कह दी और न्यायके लिये दोन उनसे प्रार्थना की।

प्रह्लादजी एक बार तो पुत्र-स्नेहसे सकुचाये; कि उन्होंने धर्माधर्म और सत्यासत्यके विषयमें सुधन्वासे विच विनिमय किया। सुधन्वाने बतलाया—

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत्॥
नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारे बुभुक्षितः।
अमित्रान् भूयसः पश्येद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत्॥
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते॥
हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मास्म भूम्यनृतं वदेः॥

(महा० उद्योग० ३५। ३१-३४

सौतवाली स्त्री, जूएमें हारे हुए जुआरी और भ ढोनेसे व्यथित शरीरवाले मनुष्यकी रात्रिमें जो स्थि होती है, वही उल्टा न्याय देनेवाले वक्ताकी होती है

कुमारी केशिनीका त्याग—प्रह्लादका न्याय
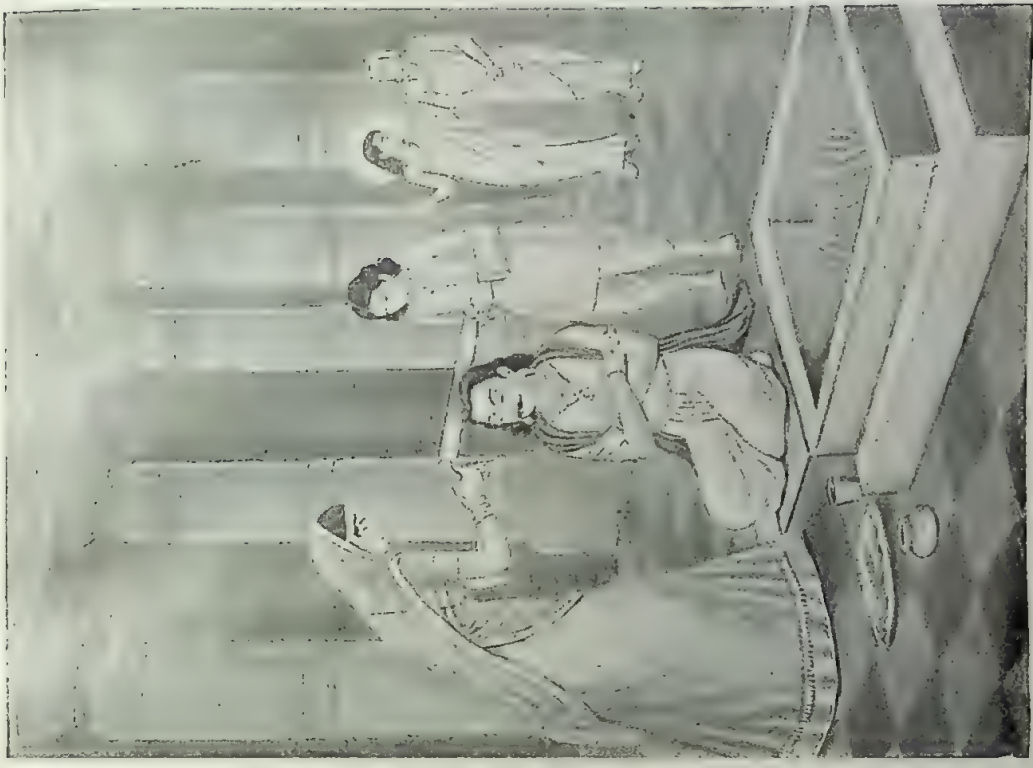
धीरताकी पराकाष्ठा—मयूरध्वजका बलिदान

जो झूठा निर्णय देता है, वह राजाके नगरमें कैद होकर बाहरी दरवाजेपर भूखका कष्ट सहता हुआ बहुत-से शत्रुओंको देखता है। साधारण पशुके लिये झूठ बोलनेसे पाँच पीढ़ियाँ, गौके लिये झूठ बोलनेवालेकी दस पीढ़ियाँ, घोड़ेके लिये झूठ बोलनेसे सौ पीढ़ियाँ और मनुष्यके लिये झूठ बोलनेसे एक हजार पीढ़ियाँ नरकमें गिरती हैं। सोनेके लिये झूठ बोलनेवाला भूत, भविष्यकी सभी पीढ़ियोंको नरकमें गिराता है। पृथ्वी (स्त्री) के लिये झूठ बोलनेवाला तो अपना सर्वनाश ही कर लेता है। अतएव आप भूमि (स्त्री) के लिये झूठा निर्णय कभी मत दीजियेगा।

प्रह्लादने अन्तमें पुत्र-स्नेहकी तुलनामें सत्य और कुल-गौरवको विशेषता देते हुए विरोचनको सम्बोधित करके कहा—

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात्त्वं तेन वै जितः॥
(महा० उद्योग० ३१। ३४)

'विरोचन! अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वाकी माता तेरी मातासे श्रेष्ठ है और तुझसे सुधन्वा श्रेष्ठ है। अतः सुधन्वाने तुझे जीत लिया, अब सुधन्वा तेरे प्राणोंका स्वामी है।'

इस प्रकार प्रसन्न होकर सुधन्वाने सह्रदयतापूर्वक कहा—

यद्धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः।
पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात् प्रह्लाद दुर्लभम्॥
एष प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् कुमार्याः संनिधौ मम॥
(महा० उद्योग० अ० ३४)

'प्रह्लादजी! आपने पुत्र-स्नेहके वशीभूत होकर भी असत्य-भाषण नहीं किया, अपितु विशुद्ध न्याय प्रदान किया; इसलिये मैं यह दुर्लभ पुत्र आपको सौंपता हूँ; किंतु यह कुमारी केशिनीके सम्मुख हमारे पैर धोये। यही इस घटनाका साधारण-सा प्रायश्चित्त है।'

यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि कुमारी केशिनीने अश्वस्तनिक सुधन्वाको जीवन-सङ्गी और धर्म-साथी बनाकर न केवल अपने भौतिक सुख-विलासकी तुलनामें सत्कुलोत्पन्न व्यक्तित्वको विशेषता दी, अपितु उसने अपने जीवनके द्वारा हिंदू-संस्कृतिका एक विश्व-स्पृहणीय उदाहरण भी संसारके सामने प्रस्तुत किया।[1]

धीरताकी पराकाष्ठा

(मयूरध्वजका बलिदान)

जिन दिनों महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञका उपक्रम चल रहा था, उन्हीं दिनों रत्नपुराधीश्वर महाराज मयूरध्वजका भी अश्वमेधीय अश्व छूटा था, इधर पाण्डवीय अश्वकी रक्षामें श्रीकृष्ण-अर्जुन थे, उधर ताम्रध्वज। मणिपुरमें दोनोंकी मुठभेड़ हो गयी। युद्धमें भगवदिच्छासे ही अर्जुनको पराजित करके ताम्रध्वज दोनों अश्वोंको अपने पिताके पास ले गया। पर इससे महाराज मयूरध्वजके मनमें हर्षके स्थानपर घोर विषाद ही हुआ। कारण, वे श्रीकृष्णके अद्वितीय भक्त थे।

इधर जब अर्जुनकी मूर्च्छा टूटी, तब वे घोड़ेके लिये बेतरह व्यग्र हो उठे। भक्त-परवश प्रभुने ब्राह्मणका वेष बनाया और अर्जुनको अपना चेला। वे राजाके पास पहुँचे। राजा मयूरध्वज इन लोगोंके तेजसे चकित हो गये। वे इन्हें प्रणाम करनेवाले ही थे कि इन लोगोंने स्वस्ति कहकर उन्हें पहले ही आशीर्वाद दे दिया। राजाने इनके इस कर्मकी बड़ी भर्त्सना की। फिर इनके पधारनेका कारण पूछा। श्रीकृष्णने कहा—'मेरे पुत्रको सिंहने पकड़ लिया है। मैंने उससे बार-बार प्रार्थना की जिसमें वह मेरे एकमात्र पुत्रको किसी प्रकार छोड़ दे। यहाँतक कि मैं स्वयं अपनेको उसके बदलेमें देनेको तैयार हो गया, पर उसने एक न मानी। बहुत अनुनय-विनय करनेपर उसने यह स्वीकार किया है कि राजा मयूरध्वज पूर्ण प्रसन्नताके साथ अपने दक्षिणाङ्गको अपनी स्त्री-पुत्रके द्वारा चिरवाकर

१. दैत्य-कुल-भूषण प्रह्लादजी और युवराज विरोचनके व्यवहारसे भी सत्कुल-गौरव और हिंदू-संस्कृतिका सम्मान ही स्पष्ट होता है। परंतु हम देखते हैं कि आजकलके पर-प्रत्यय-नेय-मति तो इस मार्गसे बहुत कुछ पिछड़ गये और दूर चले गये हैं।

दे सकें तो मैं तुम्हारे पुत्रको छोड़ सकता हूँ।'

राजाने ब्राह्मणरूप श्रीकृष्णका प्रस्ताव मान लिया। उनकी रानीने अर्द्धाङ्गिनी होनेके नाते अपना शरीर देना चाहा, पर ब्राह्मणने दक्षिणाङ्गकी आवश्यकता बतलायी। पुत्रने अपनेको पिताकी प्रतिमूर्ति बतलाकर अपना अङ्ग देना चाहा, पर ब्राह्मणने वह भी अस्वीकार कर दिया।

अन्तमें दो खंभोंके बीच 'गोविन्द, माधव, मुकुन्द' आदि नाम लेते महाराज बैठ गये। आरा लेकर रानी तथा ताम्रध्वज चीरने लगे। जब महाराज मयूरध्वजका सिर चीरा जाने लगा, तब उनकी बायीं आँखसे आँसूकी बूँदें निकल गयीं। इसपर ब्राह्मणने कहा—'दुःखसे दी हुई वस्तु मैं नहीं लेता।' मयूरध्वजने कहा—'आँसू निकलनेका यह भाव नहीं है कि शरीर काटनेसे मुझे दुःख हो रहा है। बायें अङ्गको इस बातका क्लेश है—हम एक ही साथ जन्मे और बढ़े, पर हमारा दुर्भाग्य जो हम दक्षिणाङ्गके साथ ब्राह्मणके काम न आ सके। इसीसे बायीं आँखमें आँसू आ गये।'

अब प्रभुने अपने आपको प्रकट कर दिया। शङ्ख-चक्र-गदा धारण किये, पीताम्बर पहने, सघन नील... दिव्य ज्योत्स्नामय श्रीश्यामसुन्दरने ज्यों ही अपने अमृतमय कर-कमलसे राजाके शरीरको स्पर्श किया, वह पहलेकी अपेक्षा भी अधिक सुन्दर, युवा तथा पुष्ट हो गया। वे सब प्रभुके चरणोंपर गिरकर स्तुति करने लगे। प्रभुने उन्हें वर माँगनेको कहा। राजाने प्रभुके चरणोंमें निश्चल प्रेमकी तथा भविष्यमें 'ऐसी कठोर परीक्षा किसीकी न ली जाय'—यह प्रार्थना की। अन्तमें ... दिनोंतक उनका आतिथ्य ग्रहणकर घोड़ा लेकर श्रीकृष्ण तथा अर्जुन वहाँसे आगे बढ़े।

(जैमिनीय अश्वमेध, अध्याय ४४ से ४७)

मेरे राज्यमें न चोर हैं न कृपण हैं, न शराबी हैं न व्यभिचारी हैं

एक बार उपमन्युके पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष-पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवि-पौत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्व-पुत्र बुडिल—ये महागृहस्थ और श्रोत्रिय एकत्र होकर आपसमें आत्मा और ब्रह्मके सम्बन्धमें विचार-विमर्श करने लगे। पर जब वे किसी ठीक निर्णयपर न पहुँचे, तब अरुणके पुत्र उद्दालकके पास जाकर इस रहस्यको समझनेका निश्चय किया।

उद्दालकने जब उन्हें दूरसे ही आते देखा तभी उनका अभिप्राय समझ लिया और विचारा कि 'इसका ठीक-ठीक निर्णय तो मैं कर नहीं सकता, अतएव इन्हें केकयके पुत्र राजा अश्वपतिके पास भेजना चाहिये।' उसने उनके आनेपर कहा कि 'भगवन्! इस वैश्वानर आत्माको अश्वपति ही अच्छी प्रकार जानते हैं; चलिये, हमलोग उन्हींके पास चलें।' सब तैयार हो गये और अश्वपतिके यहाँ पधारे।

राजाने सभी ऋषियोंके सत्कारका अलग-अलग प्रबन्ध किया। दूसरे दिन प्रातःकाल उसने उनके सामने बहुत बड़ी अर्थराशि सेवामें रक्खी, परंतु उन्होंने उसका स्पर्शतक नहीं किया। राजाने सोचा, 'मालूम होता है ये मुझे अधर्मी अथवा दुराचारी समझ रहे हैं। इसीलिये इस धनको दूषित समझकर नहीं ग्रहण कर रहे हैं।' अतएव उसने कहा—'न तो मेरे राज्यमें कोई चोर है, न कोई कृपण, न मद्यपायी (शराबी)। हमारे यहाँ सभी ब्राह्मण अग्निहोत्री तथा विद्वान् हैं। कोई व्यभिचारी पुरुष भी मेरे देशमें नहीं हैं; और जब पुरुष व्यभिचारी नहीं हैं, तब स्त्री तो व्यभिचारिणी होगी कहाँसे?' अतएव मेरे धनमें कोई दोष नहीं है। ऋषियोंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया।

राजाने सोचा, 'थोड़ा धन देखकर ये स्वीकार

करते होंगे'; अतएव उसने पुनः कहा—'भगवन् ! मैं एक यज्ञका आरम्भ कर रहा हूँ, उसमें प्रत्येक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा, उतना ही आपमेंसे प्रत्येकको दूँगा ।'

राजाकी बात सुनकर ऋषियोंने कहा—'राजन् ! मनुष्य जिस प्रयोजनसे जहाँ जाता है, उसका वही प्रयोजन पूरा करना चाहिये । हमलोग आपके पास धनके लिये नहीं, अपितु वैश्वानर-आत्माके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आये हैं ।' राजाने कहा—'इसका उत्तर मैं प्रातःकाल दूँगा ।'

दूसरे दिन पूर्वाह्णमें वे हाथमें समिधा लेकर राजाके पास गये और राजाने उन्हें बतलाया कि यह समस्त विश्व भगवत्स्वरूप है तथा आत्मा एवं परब्रह्ममें स्वरूपतः कोई भेद नही है । —जा० श० (छान्दोग्य०)

वह तुम ही हो

अरुणके पुत्र उद्दालकका एक लड़का श्वेतकेतु था । उससे एक दिन पिताने कहा, 'श्वेतकेतो ! तू गुरुकुलमें जाकर ब्रह्मचर्यका पालन कर; क्योंकि हमारे कुलमें कोई भी पुरुष स्वाध्यायरहित ब्रह्मबन्धु नहीं हुआ ।'

तदनन्तर श्वेतकेतु गुरुकुलमें गया और वहाँ उपनयन कराकर बारह वर्षतक विद्याध्ययन करता रहा । जब वह अध्ययन समाप्त करके घर लौटा, तब उसे अपनी विद्याका बड़ा अहंकार हो गया । पिताने उसकी यह दशा देखकर उससे पूछा—'सौम्य ! तुम्हें जो अपने पाण्डित्यका इतना अभिमान हो रहा है, सो क्या तुम्हें उस एक वस्तुका ज्ञान है, जिसके जान लेनेपर सारी वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है, जिस एकके सुन लेनेसे सारी सुननेयोग्य वस्तुओंका श्रवण तथा जिसे विचार लेनेपर सभी विचारणीय वस्तुओंका विचार हो जाता है ?'

श्वेतकेतुने कहा—'मैं तो ऐसी किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं रखता । ऐसा ज्ञान हो भी कैसे सकता है ?' पिताने कहा—'जिस प्रकार एक मृत्तिकाके जान लेनेपर घट, शरावादि सम्पूर्ण मिट्टीके पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है । अथवा जिस प्रकार एक सुवर्णको जान लेनेपर सम्पूर्ण कड़े, मुकुट, कुण्डल एवं पात्रादि सभी सुवर्णके पदार्थ जान लिये जाते हैं । अथवा एक लोहेके नखछेदनीसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि तत्त्व तो केवल लोहा है। टाँकी, कुदाल, नखछेदनी, तलवार आदि तो वाणीके विकार हैं ।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी ! पूज्य गुरुदेवने मुझे इस प्रकारकी कोई शिक्षा नहीं दी । अब आप ही मुझे उस तत्त्वका उपदेश करें, सचमुच मेरा ज्ञान अत्यन्त अल्प तथा नगण्य है ।' इसपर पिताने कहा—'आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् था । उसने विचार किया कि मैं बहुत हो जाऊँ । उसने तेज (अग्नि) उत्पन्न किया । तेजसे जल, जलसे अन्न और पुनः सब अन्य पदार्थ उत्पन्न किये । कहीं भी जो लाल रंगकी वस्तु है वह अग्निका अंश है, शुक्ल वस्तु जलका अंश है तथा कृष्ण वस्तु अन्नका अंश है । अतएव इस विश्वमें अग्नि, जल और अन्न ही तत्त्व हैं । इन तीनोंके ज्ञानसे विश्वकी सारी वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है । अथवा इन सभीके भी मूल 'सत्तत्त्व' के जान लेनेपर पुनः कुछ भी ज्ञेय अवशिष्ट नहीं रह जाता ।'

श्वेतकेतुके आग्रहपर आरुणिने पुनः इस तत्त्वका दही, मधु, नदी एवं वृक्षादिके उदाहरणसे बोध कराया और बतलाया कि सत्से उत्पन्न होनेके कारण ये सब सत् आत्मा ही हैं और वह आत्मा तुम ही हो । इस प्रकार श्वेतकेतुने सच्चा ज्ञान पाया कि एक परमात्माके जान लेने, चिन्तन करने, आराधन-पूजन करनेसे सबकी जानकारी, आराधना हो जाती है ।

—जा० श० (छान्दोग्य०)

सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ

एक बार महाराज जनकने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया । उसमें उन्होंने एक बार एक सहस्र सोनेसे मढ़े हुए सींगोंवाली बढ़िया दुधारी गौओंकी ओर संकेत करके कहा—'पूज्य ब्राह्मणो ! आपमें जो ब्रह्मनिष्ठ हों, वे इन गौओंको ले जायँ ।' इसपर जब किसीका साहस न हुआ, तब याज्ञवल्क्यने अपने ब्रह्मचारीसे कहा—'सोमश्रवा ! तू इन्हें ले जा ।' अब तो सब ब्राह्मण बिगड़ पड़े । उन्होंने कहा कि 'क्या हम सबमें तुम्हीं उत्कृष्ट ब्रह्मनिष्ठ हो ।' याज्ञवल्क्यने कहा कि 'ब्रह्मनिष्ठ-को तो हम नमस्कार करते हैं; हमें तो गायें चाहिये, इसलिये हमने इन्हें ले लिया है ।'

अब विवाद छिड़ गया । ब्रह्मनिष्ठाभिमानी अश्वल, ऋतभ, आर्तभाग, भुज्यु, उषस्त, कहोल, उद्दालक तथा गार्गी आदिने कई प्रश्न किये । पर याज्ञवल्क्यने सभी-का संतोषजनक उत्तर दे दिया । अन्तमें वाचक्नवी गार्गीने कहा—'पूजनीय ब्राह्मणगण ! अब मैं इनसे दो प्रश्न करती हूँ । यदि ये मेरे उन प्रश्नोंका उत्तर दे देंगे तो समझ लीजिये कि इन्हें कोई भी न जीत सकेगा ।' ब्राह्मणोंने कहा—'गार्गी, पूछ !'

गार्गीने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया—'हे याज्ञवल्क्य ! जो ब्रह्माण्डसे ऊपर है, जो ब्रह्माण्डसे नीचे है, जो इस स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें स्थित है तथा जो भू… वर्तमान और भविष्यरूप है, वह सूत्रात्मा विश्व कि… ओतप्रोत है ?'

याज्ञवल्क्यने कहा—'गार्गि ! यह जगद्रूप व्या… सूत्र अन्तर्यामीरूप आकाशमें ओतप्रोत है ।'

गार्गीने कहा—'इस उत्तरके लिये तुम्हें प्रणा… अब इस दूसरे प्रश्नका उत्तर दो कि जगद्रूप सूत्रात्मा जि… आकाशमें ओतप्रोत है, वह आकाश किसमें ओतप्रोत है…'

याज्ञवल्क्यने कहा—'वह अव्याकृत आका… अविनाशी अक्षर ब्रह्ममें ही ओतप्रोत है । यह अ… ब्रह्म देश-काल-वस्तु आदिके परिच्छेदसे रहित स… व्यापी अपरिच्छिन्न है । इसीकी आज्ञामें सूर्य औ… चन्द्रमा नियमित रूपसे बर्तते हैं । जो इसे जा… बिना ही मर जाता है, वह दयाका पात्र है; और जो… जानकर मरणको प्राप्त होता है, वह ब्रह्मविद् हो जाता है…'

महर्षिके इस व्याख्यानको सुनकर गार्गी संतुष्ट हो ग… और उसने ब्राह्मणोंसे कहा—'याज्ञवल्क्य नमस्कार… योग्य हैं । ब्रह्मसम्बन्धी विवादमें इन्हें कोई भी नहीं ह… सकता ।' याज्ञवल्क्यके ज्ञान तथा तेजको देखकर सा… सभा चकित रह गयी । —जा० श० (बृहदारण्यक०…

सर्वोत्तम धन

महर्षि याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियाँ थीं । एकका नाम था मैत्रेयी और दूसरीका कात्यायनी । जब महर्षि संन्यास ग्रहण करने लगे, तब दोनों स्त्रियोंको बुलाकर उन्होंने कहा—'मेरे पीछे तुमलोगोंमें झगड़ा न हो, इसलिये मैं सम्पत्तिका बँटवारा कर देना चाहता हूँ ।' मैत्रेयीने कहा—'स्वामिन् ! जिस धनको लेकर मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँगी ? मुझे तो आप अमरत्वका साधन बतलानेकी दया करें ।'

याज्ञवल्क्यने कहा—'मैत्रेयी ! तुमने बड़ी सुन्दर बात पूछी । वस्तुतः इस विश्वमें परम धन आत्मा ही है… उसीकी प्रियताके कारण अन्य धन, जन आदि प्रि… प्रतीत होते हैं । इसलिये यह आत्मा ही सुनने, मनन करने और जानने योग्य है । इस आत्मासे कुछ भी भिन्न नहीं है । ये देवता, ये प्राणीवर्ग तथा यह सारा विश्व… जो कुछ भी है, सभी आत्मा है । ये ऋगादि वेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और सारी विद्याएँ इस परमात्माके ही निःश्वास हैं ।

'यह परमात्म-तत्त्व अनन्त, अपार और विज्ञानघन…

है । यह इन भूतोंसे प्रकट होकर उन्हींके साथ अदृश्य हो जाता है । देहेन्द्रिय-भावसे मुक्त हो जानेपर इसकी कोई संज्ञा नहीं रह जाती । जहाँ अज्ञानावस्था होती है, वहीं द्वैतका बोध होता है तथा अन्यको सूँघने, देखने, सुनने, अभिवादन करने और जाननेका भ्रम होता है; किंतु जहाँ इसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया है, वहाँ कौन किसे देखे, सुने, जाने या अभिवादन करे ? वहाँ कैसा शोक, कैसा मोह, कैसी मृत्यु, जहाँ सब कुछ एकमात्र विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र दीख रहा है।'

ऐसा उपदेश करके महर्षिने संन्यासका उपक्रम किया तथा उन्हींके उपदेशके आधारपर चलकर मैत्रेयीने भी परम कल्याणको प्राप्त कर लिया। —जा० श० (बृहदारण्यक०)

ब्रह्म क्या है ?

गर्ग-गोत्रमें उत्पन्न बलाकाके पुत्र बालाकि नामके एक प्रसिद्ध ब्राह्मण थे । उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन तो किया ही था, वे वेदोंके अच्छे वक्ता भी थे । उन दिनों संसारमें सब ओर उनकी बड़ी ख्याति थी । वे उशीनर देशके निवासी थे; परंतु सदा विचरण करनेके कारण कभी मत्स्य देशमें, कभी कुरु-पाञ्चालमें और कभी काशी तथा मिथिला प्रान्तमें रहते थे । इस प्रकार वे सुप्रसिद्ध गार्ग्य (बालाकि) एक दिन काशीके विद्वान् राजा अजातशत्रुके पास गये और अभिमानपूर्वक बोले—'राजन् ! आज मैं तुम्हें ब्रह्मतत्त्वका उपदेश करूँगा ।' इसपर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—आपकी इस बातपर हमने आपको एक सहस्र गौएँ दीं । आज आपने हमारा गौरव राजा जनकके समान कर दिया । अतः इन्हें स्वीकार करके हमें ब्रह्मतत्त्वका शीघ्र उपदेश करें ।'

इसपर गार्ग्य बालाकिने कहा कि 'राजन् ! यह जो सूर्यमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूँ ।' यह सुनकर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं, नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें । निश्चय ही यह सबसे महान् शुक्लाम्बरधारी तथा सर्वोच्चस्थितिमें स्थित सबका मस्तक है । मैं इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूँ । इसी प्रकार उपासना करनेवाला कोई दूसरा मनुष्य भी सबसे ऊँची स्थितिमें स्थित हो जाता है ।'

तब गार्ग्य बालाकि पुनः बोले—'यह जो चन्द्रमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, मैं इसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ ।' यह सुनकर अजातशत्रुने कहा—'नहीं, नहीं, इस विषयमें आप संवाद न करें । यह सोम राजा है और अन्नका आत्मा है । इसकी इस प्रकार उपासना करनेवाला व्यक्ति मुझ-जैसा ही अन्नराशिसे सम्पन्न हो जाता है ।'

अब वे गार्ग्य बोले —'यह जो विद्युन्मण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ ।' अजातशत्रुने इसपर यही कहा कि 'नहीं, नहीं, इस विषयमें आप संवाद न करें; यह तेजका आत्मा है। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी हो जाता है ।'

इसी प्रकार गार्ग्य क्रमशः मेघ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दर्पण, प्रतिध्वनि, पदध्वनि, छायामय पुरुष, शरीरान्तर्वर्ती पुरुष, प्राण तथा उभयनेत्रान्तर्गत पुरुषको ब्रह्म बतलाते गये और अजातशत्रुने इन सबको ब्रह्मका अङ्ग तथा ब्रह्मको इनका अङ्गी सिद्ध किया । अन्तमें हारकर बालाकिने चुप्पी साध ली और अन्तमें राजा अजातशत्रुको अपना गुरु स्वीकार किया और उनके सामने समिधा लेकर वे शिष्यभावसे उपस्थित हुए ।

इसपर राजा अजातशत्रुने कहा—'यदि क्षत्रिय ब्राह्मणको शिष्य बनाये तो बात विपरीत हो जायगी,

इसलिये चलिये, एकान्तमें हम आपको ब्रह्मका ज्ञान करायेंगे।' यों कहकर वे बालाकिको एक सोये हुए व्यक्तिके पास ले गये और उसे 'ओ ब्रह्मन्! ओ पाण्डरवासा! ओ सोम राजा!' इत्यादि सम्बोधनोंसे पुकारने लगे। पर वह पुरुष चुपचाप सोया ही रहा। तब उसे दोनों हाथोंसे दबाकर जगाया। अब वह जगा। तदनन्तर राजाने बालाकिसे पूछा—'बालाके! यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था तब कहाँ था? और अब यह कहाँसे आ गया?' किंतु गार्ग्य यह कुछ न जान सके।

अजातशत्रुने कहा—'हिता नामसे प्रसिद्ध बहुत-सी नाड़ियाँ हैं। ये हृदयकमलसे सम्बद्ध हैं और वहींसे निकलकर सम्पूर्ण शरीरमें फैली हुई हैं। यह पुरुष सोते समय उन्हीं नाड़ियोंमें स्थित रहता है। जैसे क्षुरधानमें छूरा रक्खा रहता है, उसी प्रकार शरीरान्तर्गत हृदयकमलमें इस परम पुरुष परमात्माकी उपलब्धि है। वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ अनुगत सेव[illegible] भाँति उसका अनुसरण करती हैं। इसके सो ज[illegible] ये सारी इन्द्रियाँ प्राणमें तथा प्राण इस आत्मामें ल[illegible] एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

'यही आत्मतत्त्व है। जबतक इन्द्रको इस आ[illegible] तत्त्वका ज्ञान नहीं था, तबतक वे असुरोंसे हारते [illegible] किंतु जब वे इस रहस्यको जान गये, तब असु[illegible] पराजितकर सम्पूर्ण देवताओंमें श्रेष्ठ हो गये, स्व[illegible] राज्य तथा त्रिभुवनका आधिपत्य पा गये। इसी प्र[illegible] जो विद्वान् इस आत्मतत्त्वको जान लेता है, उ[illegible] सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं तथा उसे स्वा[illegible] प्रभुत्व तथा श्रेष्ठत्वकी प्राप्ति होती है। —जा०[illegible]

(बृहदारण्यक[illegible]

(कौषीतकिब्राह्मणोपनि

पश्चात्तापका परिणाम

(लेखक—श्रीरामलालजी)

अप्युन्नतपदारूढपूज्यान् नैवापमानयेत्।
इक्ष्वाकूणां ननाशाग्नेस्तेजो वृशावमानतः॥

(नीतिमञ्जरी ७८)

इक्ष्वाकु-वंशके महीप त्रिवृष्णके पुत्र त्र्यरुणकी अपने पुरोहितके पुत्र वृशजानसे बहुत पटती थी। दोनों एक दूसरेके बिना नहीं रह सकते थे। महाराज त्र्यरुणकी वीरता और वृशजानके पाण्डित्यसे राजकीय समृद्धि नित्य बढ़ रही थी। महाराजने दिग्विजय-यात्रा की; उन्होंने वृशजानसे सारथि-पद स्वीकार करनेका आग्रह किया। वृशजान रथ हाँकनेमें बड़े निपुण थे; उन्होंने अपने मित्रकी प्रसन्नताके लिये सारथि होना स्वीकार कर लिया।

× × × ×

राजधानीमें प्रसन्नताकी लहर दौड़ पड़ी। दिग्विजय-यात्रा समाप्तकर त्र्यरुण लौटनेवाले थे। रथ बड़ी तेजीसे आगे बढ़ रहा था, राजधानी थोड़ी ही दूर रह गयी कि सहसा रथ राजपथपर रुक ही गया।

'अनर्थ हो गया, महराज! हमारी दिग्विजय[illegible] कलङ्कित हो गयी, रथके पहियेके नीचे एक ब्रा[illegible] कुमार दबकर स्वर्ग चला गया।' वृशजानने ग[illegible] साँस ली।

'इस कलङ्ककी जड़ आप हैं, पुरोहित! आ[illegible] रथका वेग बढ़ाकर घोर पाप कर डाला।' मह[illegible] थर-थर काँपने लगे।

'दिग्विजयका श्रेय आपने लिया तो यह ब्रह्म[illegible] भी आपके ही सिरपर मढ़ी जायगी।' पुरोहित वृशजा[illegible] शब्दोंसे महाराज तिलमिला उठे। दोनोंमें अनबन[illegible] गयी। त्र्यरुणने उनके कथनकी अवज्ञा की।

वृशजानने अथर्वाङ्गिरस मन्त्रके उच्चारणसे ब्राह्मण-कुमारको जीवन-दान दिया। उसके जीवित हो जानेपर, महाराजने उन्हें रोकनेकी बड़ी चेष्टा की; पर वृशजान अपमानित होनेसे राज्य छोड़कर दूसरी जगह चले गये।

× × × ×

पुरोहित वृशजानके चले जानेपर महाराज त्र्यरुण पश्चात्तापकी आगमें जलने लगे। मैंने मदोन्मत्त होकर अपने अभिन्न मित्रका अपमान कर डाला—यह सोच-सोचकर वे बहुत व्यथित हुए। राजप्रासाद, राजधानी और सम्पूर्ण राज्यमें अग्नि देवताकी अकृपा हो गयी। यज्ञ आदि सत्कर्म समाप्त हो गये। महाराजने प्रजा-समेत पुरोहितके चरणोंमें जाकर क्षमा माँगी, अपना अपराध स्वीकार किया। वृशजान राजधानीमें वापस आ गये। चारों ओर 'स्वाहा-स्वाहा' का ही राज्य स्थापित हो गया। अग्नि देवताका तेज प्रज्वलित हो उठा।

'मेरी समझमें आ गया मित्र! राज्यमें अग्नि-तेज घटनेका कारण।' वृशजानने यज्ञ-कुण्डमें घीकी आहुति देते हुए त्र्यरुणकी उत्सुकता बढ़ायी। महाराज आश्चर्य-चकित थे।

'यह है।' वृशजानने त्र्यरुणकी रानी—पिशाचीको कपिश—गद्देके आसनपर बैठनेका आदेश दिया; वेद-मन्त्रसे अग्निका आवाहन करते ही पिशाची स्वाहा हो गयी।

'यह ब्रह्महत्या थी महाराज! रानीके वेषमें राजप्रासादमें प्रवेशकर इसने राज्यश्रीका अपहरण कर लिया था।' वृशजानने रहस्यका उद्घाटन किया। यज्ञ-कुण्डकी होम-ज्वालासे चारों ओर प्रकाश छा गया।

त्र्यरुणने वृशजानका आलिङ्गन किया। प्रजाने दोनोंकी जय मनायी। चारों ओर आनन्द बरसने लगा।

(बृहद्देवता अ० ५। १४-२३)

उसने सच कहा

कनिष्ठाः पुत्रवत् पाल्या भ्रात्रा ज्येष्ठेन निर्मलाः।
प्रगाथो निर्मलो भ्रातुः प्रागात् कण्वस्य पुत्रताम्॥

(नीतिमञ्जरी १११)

महर्षि घोरके पुत्र कण्व और प्रगाथको गुरुकुलसे लौटे कुछ ही दिन हुए थे। दोनों ऋषिकुमारोंका एक-दूसरेके प्रति हार्दिक प्रेम था। प्रगाथ अपने बड़े भाई कण्वको पिताके समान समझते थे, उनकी पत्नी प्रगाथसे स्नेह करती थी। उनकी उपस्थितिसे आश्रमका वातावरण बड़ा निर्मल और पवित्र हो गया था। यज्ञकी धूमशिखा आकाशको चूम-चूमकर निरन्तर महती सात्त्विकताकी विजयिनी पताका-सी लहराती रहती थी।

एक दिन आश्रममें विशेष शान्तिका साम्राज्य था। कण्व समिधा लेनेके लिये वनके अन्तरालमें गये हुए थे। उनकी साध्वी पत्नी यज्ञवेदीके ठीक सामने बैठी हुई थी। उससे थोड़ी दूरपर ऋषिकुमार प्रगाथ साम-गान कर रहे थे। अत्यन्त शीतल और मधुर समीरणके संचारसे ऋषिकुमारके नयन अलसाने लगे और वे ऋषिपत्नीके अङ्कमें सिर रखकर विश्राम करते-करते सो गये। ऋषिपत्नी किसी चिन्तनमें तन्मय थी।

× × ×

'यह कौन है, इस नीचने तुम्हारे अङ्कमें विश्राम करनेका साहस किस प्रकार किया?' समिधा रखते ही कण्वके नेत्र लाल हो गये, उनका अमित-रुद्ररूप देखकर ऋषिपत्नी सहम गयी।

'देव!' वह कुछ और कहने ही जा रही थी कि कण्वने प्रगाथकी पीठपर पद प्रहार किया। ऋषिकुमारकी आँख खुल गयी। वह खड़ा हो गया। उसने कण्व ऋषिको प्रणाम किया।

'आजसे तुम्हारे लिये इस आश्रमका दरवाजा बंद है, प्रगाथ!' कण्व ऋषिकी वाणी क्रोधकी भयंकर ज्वालासे प्रज्वलित थी, उनका रोम-रोम सिहर उठा था।

'भैया ! आप तो मेरे पिताके समान हैं और ये तो साक्षात् मेरी माता हैं ।' प्रगाथने ऋषिपत्नीके चरणोंमें श्रद्धा प्रकटकर कण्वका शङ्का-समाधान किया ।

कण्व धीरे-धीरे स्वस्थ हो रहे थे, पर उनके सिरपर संशयका भूत अब भी नाच रहा था ।

'ऋषिकुमार प्रगाथने सच कहा है, देव ! मैंने तो आश्रममें पैर रखते ही उनका सदा पुत्रके समान पालन किया है । बड़े भाईकी पत्नी देवरको सदा पुत्र मानती हैं, इसको तो आप जानते ही हैं; पवित्र भारत देशका यही आदर्श है ।' ऋषिपत्नीने कण्वका क्रोध शान्त किया ।

'भाई प्रगाथ ! दोष मेरे नेत्रोंका ही है, मैंने महान् पाप कर डाला; तुम्हारे ऊपर व्यर्थ शङ्का कर बैठा ।' ऋषि कण्वका शील समुत्थित हो उठा, उन्होंने प्रगा आलिङ्गन करके स्नेह-दान दिया । प्रगाथने उनकी च धूलि मस्तकपर चढ़ायी ।

'भाई नहीं, ऋषिकुमार प्रगाथ हमारा पुत्र है ऋषिकुमारने हमारे सम्पूर्ण वात्सल्यका अधिकार पा लि है ।' ऋषिपत्नीकी ममताने कण्वका हृदय-स्पर्श कि

'ठीक है, प्रगाथ हमारा पुत्र है । आजसे हम दो इसके माता-पिता हैं ।' कण्वने प्रगाथका मस्तक सूँघ

आश्रमकी पवित्रतामें नवीन प्राण भर उठा—जि सत्य वचनकी गरिमा, निर्मल मनकी प्रसन्नता और हृ की सरलताका सरस सम्मिश्रण था ।—रा० श्री०

(बृहद्देवता अ० ६ । ३५-३१

सत्य-पालन

प्राचीन समयकी बात है । कुरुवंशके देवापि और शन्तनुमें एक-दूसरेके प्रति स्वार्थ-त्यागकी जो अनुपम भावना थी, वह भारतीय इतिहासकी एक विशेष समृद्धि है ।

देवापि बड़े और शन्तनु छोटे थे । पिताके स्वर्ग-गमनके बाद राज्याभिषेकका प्रश्न उठनेपर देवापि चिन्तित हो उठे । वे चर्मरोगी थे, उनके शरीरमें छोटे-छोटे श्वेत दाग थे । उनकी बड़ी इच्छा थी कि राज्य शन्तनुको मिले, इसीमें वे प्रजाका कल्याण समझते थे ।

× × ×

'महाराज ! आपके निश्चयने हमारे कार्यक्रमपर वज्रपात कर दिया है । बड़े भाईके रहते छोटेका राज्याभिषेक हो, यह बात समीचीन नहीं है ।' प्रधान मन्त्रीके स्वरमें स्वर मिलाकर प्रजाने करबद्ध निवेदन किया ।

'आपलोग ठीक कहते हैं; पर आपको विश्वास होना चाहिये कि मैं आपके कल्याणकी बातमें कुछ भी कमी न रक्खूँगा । राजाका कार्य ही है कि वह सदा प्रजाका हितचिन्तन करता रहे ।' देवापिने छिपे तरीकेसे शन्तनु पक्ष लिया ।

'महाराज की जय ।' प्रजा नतमस्तक हो गयी शन्तनुके राज्याभिषेकके बाद ही देवापिने तप करने लिये वनकी ओर प्रस्थान किया । शन्तनु राज्यका का सँभालने लगे ।

× × ×

'प्रजा भूखों मर रही है । चारों ओर अकाल नंगा नाच हो रहा है । महाराज देवापिके वनगमन बाद बारह सालसे इन्द्रने तो मौन ही धारण कर लि है । जल-वृष्टि न होनेसे प्राणिमात्र उद्विग्न हो उ हैं ।' महाराज शन्तनुने प्रधान मन्त्रीका ध्या अपनी ओर खींचा ।

'पर यह तो भाग्यका फेर है, महाराज ! अना वृष्टिका दोष आपपर नहीं है और न इसके लिये प्रजा ही उत्तरदायी है ।..........' प्रधान मन्त्री कुछ औ कहना चाहते थे कि महाराजने बीचमें ही रोक दिया ।

'हम प्रजासहित महाराज देवापिको मनाने जायँगे। राजा होनेके वास्तविक अधिकारी तो वे ही हैं।' महाराज शन्तनुकी चिन्ता दूर हो गयी। प्रधान मन्त्रीने सहमति प्रकट की।

× × ×

वास्तवमें जङ्गलमें मङ्गल हो रहा था। वन-प्रान्त नागरिकोंकी उपस्थितिसे प्राणवान् था।

'भैया! अपराध क्षमा हो। हमारे दोषोंकी ओर ध्यान न दीजिये। सत्यका व्यतिक्रम करके मेरे राज्याभिषेक स्वीकार करनेपर और आपके वनमें आनेपर सारा-का-सारा राज्य भयंकर अनावृष्टिका शिकार हो चला है। आप हमारी रक्षा कीजिये।' शन्तनुने कुटीसे बाहर निकलनेपर देवापिके चरण पकड़ लिये।

'भाई! मैं तो चर्मरोगी हूँ, मेरी त्वचा दूषित है। मुझमें रोगके कारण राजकार्यकी शक्ति नहीं थी, इसलिये प्रजाके कल्याणकी दृष्टिसे मैंने वनका रास्ता लिया था—यह सत्य बात है। पर इस समय अनावृष्टिके निवारणके लिये तथा बृहस्पतिकी प्रसन्नताके लिये मैं आपके वृष्टिकाम-यज्ञका पुरोहित बनूँगा।' देवापिने महाराज शन्तनुको गले लगा लिया। प्रजा उनकी जय बोलने लगी।

× × ×

तपस्वी देवापि राजधानीमें लौट आये। उनके आगमनसे चारों ओर आनन्द छा गया। दोनों भाइयोंके सत्यपालनसे अनावृष्टि समाप्त हो गयी। यज्ञकी काली-काली धूम-रेखाओंने गगनको आच्छादित कर लिया। बृहस्पति प्रसन्न हो उठे। पर्जन्यकी कृपा-वृष्टिसे नदी, तालाब, वृक्ष और खेतोंके प्राण लौट आये। देवापिने अपने सत्यव्रतसे प्रजाकी कल्याण-साधना की।—रा० श्री०

(बृहद्देवता अ० ७। १५५-५७; अ० ८। १-६)

उपासनाका फल

सोमं सुत्वात्र संसारं सारं कुर्वीत तत्त्ववित्।
यथाऽऽसीत् सुत्वचाऽपाला दत्त्वेन्द्राय मुखच्युतम्॥

(नीतिमञ्जरी १३०)

महर्षि अत्रिका आश्रम उनकी तपस्याका पवित्र प्रतीक था। चारों ओर अनुपम शान्ति और दिव्य आनन्दकी वृष्टि निरन्तर होती रहती थी। यज्ञकी धूमशिखाओं और वेद-मन्त्रोंके उच्चारणसे आश्रमके कण-कणमें रमणीयताका निवास था। महर्षि आनन्दमग्न रहकर भी सदा उदास दीख पड़ते थे। उनकी उदासीका एकमात्र कारण थी अपाला। वह उनकी स्नेहसिक्ता कन्या थी। चर्मरोगसे उसका शरीर बिगड़ गया था। श्वेत कुष्ठके दागोंसे उसकी अङ्ग-कान्ति म्लान दीखती थी। पतिने इसी रोगके कारण उसे अपने आश्रमसे निकाल दिया था, वह बहुत समयसे अपने पिताके ही आश्रममें रहकर समय काट रही थी। दिन-प्रति-दिन उसका यौवन गलता जा रहा था; महर्षि अत्रिके अनन्य स्नेहसे उसके प्राणकी दीप-शिखा प्रकाशित थी। चर्मरोगकी निवृत्तिके लिये अपालाने इन्द्रकी शरण ली। वह बड़ी निष्ठासे उनकी उपासनामें लग गयी। वह जानती थी कि इन्द्र सोमरससे प्रसन्न होते हैं। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि इन्द्र प्रत्यक्ष दर्शन देकर सोम स्वीकार करें।

× × ×

'कितनी निर्मल चाँदनी है। चन्द्रमा ऐसा लगता है मानो उसने अभी-अभी अमृतसागरमें स्नान किया है या कामधेनुके दूधसे ऋषियोंने उसका अभिषेक किया है।' सरोवरमें स्नानकर अपालाने जलसे भरा कलश कंधेपर रख लिया, वह प्रसन्न थी;—रातने अभी पहले पहरमें ही प्रवेश किया था—वह आश्रमकी ओर चली जा रही थी।

'निस्संदेह आज इन्द्र मुझसे बहुत प्रसन्न हैं,

मुझे अपना सर्वस्व मिल गया।' उसने रास्तेमें सोमलता देखी और परीक्षाके लिये दाँतोंसे लगाते ही सोमाभिषव सम्पन्न हो गया, उसके दाँतसे सोमरस-कण पृथ्वीपर गिर पड़े। सोमलता-प्राप्तिसे उसे महान् आनन्द हुआ। उसकी तपस्या सोमलताके रूपमें मूर्तिमती हो उठी। अपालाने रास्तेमें ही एक दिव्य पुरुषका दर्शन किया।

'मैं सोमपानके लिये घर-घर घूमता रहता हूँ। आज इस समय तुम्हारी सोमाभिषव-क्रियासे मैं अपने आप चला आया।' दिव्य स्वर्णरथसे उतरकर इन्द्रने अपना परिचय दिया। देवराजने सोमपान किया। उन्होंने तृप्तिके स्वरमें वरदान माँगनेकी प्रेरणा दी।

'आपकी प्रसन्नता ही मेरी इच्छा-पूर्ति है। उपास्य दर्शन हो जाय, इससे बढ़कर दूसरा सौभाग्य ही है ?' ब्रह्मवादिनी ऋषिकन्याने इन्द्रकी स्तुति की।

'सच्ची भक्ति कभी निष्फल नहीं होती है, देवि' इन्द्रने अपालाको पकड़कर अपने रथ-छिद्रसे उसे ती बार निकाला। उनकी कृपासे चर्मरोग दूर हो गया वह सूर्यकी प्रभा-सी प्रदीप्त हो उठी। ऋषि अत्रि कन्याको आशीर्वाद दिया। अपाला अपने पतिके गयी। उपासनाके फलस्वरूप उसका दाम्पत्य-जीवन सरस हो उठा। —रा० श्री०

(बृहद्देवता अ० ६ । ९९-१०६

योग्यताकी परख

यज्ञकी धूम-शिखाओंसे गगन आच्छादित हो गया; उसकी निर्मल और स्वच्छ नीलिमामें विशेष दीप्ति अभिव्यक्त हो उठी। महाराज रथवीति दार्भ्यकी राजधानी यज्ञकर्ता ऋषियोंकी उपस्थितिसे परम पवित्र हो गयी। वे अपनी राजमहिषी और मनोरमा कन्याके साथ यज्ञवेदीके ही समीप आसनस्थ थे।

'कितनी सुशील और लावण्यमयी कन्या है!' अत्रिके पुत्र ऋषि अर्चनानाने यज्ञ-कुण्डमें वैदिक मन्त्रोंसे आहुति डालते हुए मनमें विचार किया। उनकी श्वेत दाढ़ीकी दुग्ध-धवलिमामें नवीन आभा लहराने लगी। उन्होंने वेद-वेदाङ्गमें पारङ्गत अपने पुत्र श्यावाश्वकी ओर दृष्टिपात किया; ऋषिकुमारमें यौवनका निखार था, नयनोंमें सात्त्विकता थी, हृदयमें श्रद्धा और भक्ति थी।

'मैं अपनी पुत्रवधूके रूपमें आपकी कन्याकी याचना करता हूँ, महाराज!' अर्चनानाके गम्भीर भाषणसे ऋषिमण्डली चकित थी। जनता विस्मय-मग्न हो गयी।

'यह तो आपकी बहुत बड़ी कृपा है; मेरी कन्याके लिये इससे बढ़कर सौभाग्यकी दूसरी बात क्या होगी कि वह महर्षि अत्रिके आश्रममें निवास करेगी ?' महाराज रथवीतिने अर्चनानाके प्रति श्रद्धा व्यक्त की। राजकन्याने नीची दृष्टिसे ऋषिकुमार श्यावाश्वको देखा मानो वह संकेत कर रही थी कि मेरा मस्तक आपके चरणपर नत होनेके लिये समुत्सुक है।

'पर हमारा कुल राजर्षियोंका है, हम अपनी कन्या मन्त्रदर्शी ऋषिको ही सौंप सकते हैं, महर्षे।' राजमहिषीने प्रस्ताव अस्वीकार किया।

× × ×

'पिताजी! मैं अपनी कुल-योग्यता सिद्ध करनेके लिये ऋषि-पद प्राप्त करूँगा; मेरे लिये राज-कन्या उतने महत्त्वकी वस्तु नहीं है, जितने महत्त्वका विषय ऋषिपद है। यह प्रधान है, वह गौण है।' श्यावाश्वने अर्चनानाकी चरण-धूलि ली। उसका प्रण था कि बिना ऋषिपद प्राप्त किये आश्रममें न जाऊँगा। अर्चनाना चले गये। श्यावाश्व ब्रह्मचर्यपूर्वक भिक्षा माँगकर पर्यटन करने लगे।

रास्तेमें महाराज विदेदश्वके पुत्र तरन्त और राजमहिषी शशीयसी तथा तरन्तके छोटे भाई पुरुमीढने ऋषिकुमारका अपनी राजधानीमें स्वागत-सत्कार किया।

बहुत-सी गायें दीं, अपार धन प्रदान कर श्यावाश्वकी पूजा की ।

'पर अभी तो मैंने मन्त्रका दर्शन ही नहीं किया ।' श्यावाश्व आश्रममें न जा सका । वह वनमें विचरण कर रहा था कि उसकी सत्यनिष्ठासे प्रसन्न होकर रुद्रपुत्र मरुद्गणोंने उसको दर्शन दिया । उनकी कृपासे उसने मन्त्रदर्शी ऋषिपद प्राप्त किया। मरुद्गणोंने रुक्ममाला दी ।

× × ×

'यह तो हमारे लिये परम सौभाग्यकी बात है कि मेरी कन्या आपके पौत्रकी जीवन-सङ्गिनी हो रही है ।' रथसे उतरनेपर आश्रममें अत्रि ऋषिकी राजा रथवीति और राजमहिषीने पूजा की, मधुपर्क समर्पित किया ।

श्यावाश्व और उसकी वधूने महर्षि अत्रिकी वन्दना की । अर्चनानाका आशीर्वाद प्राप्त किया । श्यावाश्वने वेदपिता* और राजकन्याने वेदमाताका पद पाया । महाराज रथवीतिने हिमालय-प्रदेशमें गोमती-तटपर तपस्या करनेके लिये प्रस्थान किया । —रा० श्री०

(बृहद्देवता अ० ५ । ५०–८१)

सम-वितरण

विभज्य भुञ्जते सन्तो भक्ष्यं प्राप्य सहाग्निना ।
चतुरश्चमसान् कृत्वा तं सोममृभवः पपुः ॥

(नीतिमञ्जरी १०)

सुधन्वाके पुत्र ऋभु, विभु और वाज त्वष्टाके विशेष कृपापात्र थे । त्वष्टाने उन्हें अपनी समस्त विद्याओंसे सम्पन्न कर दिया । उनके सत्कर्मकी चर्चा देवोंमें प्रायः होती रहती थी । उन्होंने बृहस्पतिको अमृत तथा अश्विनीकुमारोंको दिव्य रथ और इन्द्रको वाहनसे संतुष्ट कर उनकी प्रसन्नता प्राप्त की थी । वेदमन्त्रोंसे वे देवोंका समय-समयपर आवाहन करते रहते थे । देवोंको सोमका भाग देकर वे अपने सत्कर्मसे देवत्वकी ओर बढ़ रहे थे ।

× × ×

ऋभुओंने त्वष्टानिर्मित सोमपानका आयोजन किया। सामवेदके सरस मन्त्रोच्चारणसे उन्होंने सोमाभिषव प्रारम्भकर उसे चमस† में रक्खा ही था कि सहसा उन्हींके आकार-प्रकार, रूप-रंग और वयस्के एक प्राणी दीख पड़े । ऋभुओंको बड़ा आश्चर्य हुआ ।

'चमसके चार भाग करने चाहिये ।' ज्येष्ठ पुत्र ऋभुने आदेश दिया । उनकी आज्ञाका तत्क्षण पालन हुआ बिम्बा और वाजके द्वारा ।

'अतिथिका सत्कार करना हमारा परम धर्म है, आप कोई भी हों, हमलोगोंने आपको सम भागका अधिकारी माना है ।' ऋभुओंने सोमपानके लिये अज्ञात पुरुषसे प्रार्थना की ।

'देवगण आपसे प्रसन्न हैं, ऋभुओ ! मुझे इन्द्रने आपकी परीक्षाके लिये भेजा था । आपलोग संत हैं । आपने अतिथि-धर्मका पालन करके अपना गोत्र पवित्र कर लिया ।' अग्नि प्रकट हो गये । उन्होंने सोमका चौथा भाग ग्रहण किया । इन्द्रने भी सोमका भाग प्राप्त किया । प्रजापतिने उन्हें अमरता प्रदान की । वे अपने शुभकर्मसे देवता हो गये । —रा० श्री०

(बृहद्देवता अ० ३ । ८३–९०)

* मन्त्रदर्शी ऋषि वेदपिता कहा जाता है और उसकी पत्नी वेदमाता, वेदाम्बा कहलाती है ।

† सोमरस धारण करनेवाले काष्ठपात्र-विशेषका नाम चमस है ।

महान् कौन है ?

एक बार देवर्षिके मनमें यह जाननेकी इच्छा हुई कि जगत्‌में सबसे महान् कौन है। उन्होंने सोचा कि चलूँ भगवान्‌के पास ही। वहीं इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा। वे सीधे वैकुण्ठमें गये और वहाँ जाकर प्रभुसे अपना मनोभाव व्यक्त किया।

प्रभुने कहा—नारद ! सबसे बड़ी तो यह पृथ्वी ही दीखती है; पर वह समुद्रसे घिरी हुई है, अतएव वह भी बड़ी नहीं है। रही बात समुद्रकी, सो उसे अगस्त्य मुनि पी गये थे, अतः वह भी बड़ा कैसे हो सकता है। इससे तो अगस्त्यजी सबसे बड़े हो गये। पर देखा जाता है कि अनन्ताकाशके एक सीमित सूचिका-सदृश भागमें वे केवल एक खद्योतवत्—जुगनूकी तरह चमक रहे हैं; इससे वे भी बड़े कैसे हो सकते हैं ? अब रहा आकाशवि[illegible] प्रश्न। प्रसिद्ध है कि भगवान् विष्णुने वामनाव[illegible] इस आकाशको एक ही पगमें नाप लिया था, अ[illegible] वह भी उनके सामने अत्यन्त नगण्य है। इस [illegible] भगवान् विष्णु ही सर्वोपरि महान् सिद्ध होते हैं। त[illegible] नारद ! वे भी सर्वाधिक महान् हैं नहीं, क्योंकि तुम्[illegible] हृदयमें वे भी अङ्गुष्ठमात्र स्थलमें ही सर्वदा अव[illegible] देखे जाते हैं। इसलिये भैया ! तुमसे बड़ा कौन है[illegible] वास्तवमें तुम ही सबसे महान् सिद्ध हुए—

पृथ्वी तावदतीव विस्तृतिमती तद्वेष्टनं वारिधि[illegible]
पीतोऽसौ कलशोद्भवेन मुनिना स व्योम्नि खद्योतवत्
तद्व्याप्तं दनुजाधिपस्य जयिना पादेन चैकेन [illegible]
तं त्वं चेतसि धारयस्यविरतं त्वत्तोऽस्ति नान्यो महान्

—जा० श[illegible]

भक्तका स्वभाव

प्रह्लादने गुरुओंकी बात मानकर हरिनामको न छोड़ा, तब उन्होंने गुस्सेमें भरकर अग्निशिखाके समान प्रज्वलित शरीरवाली कृत्याको उत्पन्न किया। उस अत्यन्त भयंकर राक्षसीने अपने पैरोंकी चोटसे पृथ्वीको कँपाते हुए वहाँ प्रकट होकर बड़े क्रोधसे प्रह्लादजीकी छातीमें त्रिशूलसे प्रहार किया; किंतु उस बालकके हृदयमें लगते ही वह झलझलाता हुआ त्रिशूल टुकड़े-टुकड़े होकर जमीनपर गिर पड़ा। जिस हृदयमें भगवान् श्रीहरि निरन्तर प्रकटरूपसे विराजते हैं, उसमें लगनेसे वज्रके भी टूक-टूक हो जाते हैं, फिर त्रिशूलकी तो बात ही क्या है ?

पापी पुरोहितोंने निष्पाप भक्तपर कृत्याका प्रयोग किया था, बुरा करनेवालेका ही बुरा होता है, इसलिये कृत्याने उन पुरोहितोंको ही मार डाला। उन्हें मारकर वह स्वयं भी नष्ट हो गयी। अपने गुरुओंको कृत्याके द्वारा जलाये जाते देखकर महामति प्रह्लाद 'हे कृष्ण ! रक्षा करो ! हे अनन्त ! इन्हें बचाओ !' यों कहते हुए उनकी ओर दौड़े।

प्रह्लादजीने कहा—'सर्वव्यापी, विश्वरूप, विश्वस्रष्टा जनार्दन ! इन ब्राह्मणोंकी इस मन्त्राग्नि[illegible] भयानक विपत्तिसे रक्षा करो। यदि मैं इस सत्य[illegible] मानता हूँ कि सर्वव्यापी जगद्गुरु भगवान् सभी प्राणि[illegible] व्याप्त हैं तो इसके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित [illegible] जायँ। यदि मैं सर्वव्यापी और अक्षय भगवान्[illegible] अपनेसे वैर रखनेवालोंमें भी देखता हूँ तो ये पुरोहित[illegible] जीवित हो जायँ। जो लोग मुझे मारनेके लिये आ[illegible] जिन्होंने मुझे जहर दिया, आगमें जलाया, बड़े-ब[illegible] हाथियोंसे कुचलवाया और साँपोंसे डँसवाया, उन सब[illegible] प्रति यदि मेरे मनमें एक-सा मित्रभाव सदा रहा है औ[illegible] मेरी कभी पाप-बुद्धि नहीं हुई है तो इस सत्यके प्रभाव[illegible] ये पुरोहित जीवित हो जायँ।'

यों कहकर प्रह्लादने उनका स्पर्श किया औ[illegible] स्पर्श होते ही वे मरे हुए पुरोहित जीवित होकर उ[illegible] बैठे और प्रह्लादका मुक्तकण्ठसे गुणगान करने लगे[illegible]

—सु० सिं[illegible]

निष्कामकी कामना—इक्कीस पीढ़ियाँ तर गयीं

हिरण्यकशिपु जब स्वयं प्रह्लादको मारनेके लिये उद्यत हुआ और क्रोधावेशमें उसने सामनेके खंभेपर घूसा मारा तब उसी खंभेको फाड़कर नृसिंहभगवान् प्रकट हो गये और उन्होंने हिरण्यकशिपुको पकड़कर नखोंसे उसका पेट फाड़ डाला। दैत्यराजके अनुचर प्राण लेकर भाग खड़े हुए। हिरण्यकशिपुकी आँतोंकी माला गलेमें डाले, बार-बार जीभ लपलपाकर विकट गर्जना करते अङ्गार-नेत्र नृसिंहभगवान् बैठ गये दैत्यराजके सिंहासनपर। उनका प्रचण्ड क्रोध शान्त नहीं हुआ था।

शंकरजी तथा ब्रह्माजीके साथ सब देवता वहाँ पधारे। सबने अलग-अलग स्तुति की। लेकिन कोई परिणाम नहीं हुआ। ब्रह्माजी डरे कि यदि प्रभुका क्रोध शान्त न हुआ तो पता नहीं क्या अनर्थ होगा। उन्होंने भगवती लक्ष्मीको भेजा; किंतु श्रीलक्ष्मीजी भी वह विकराल रूप देखते ही लौट पड़ीं। उन्होंने भी कह दिया—'इतना भयंकर रूप अपने आराध्यका मैंने कभी नहीं देखा। मैं उनके समीप नहीं जा सकती।'

अन्तमें ब्रह्माजीने प्रह्लादसे कहा—'बेटा! तुम्हीं समीप जाकर भगवान्‌को शान्त करो।'

प्रह्लादको भय क्या होता है, यह तो ज्ञात ही नहीं था। वे सहजभावसे प्रभुके सम्मुख गये और दण्डवत् प्रणिपात करते भूमिपर लोट गये। भगवान् नृसिंहने स्वयं उन्हें उठाकर गोदमें बैठा लिया और वात्सल्यके मारे जिह्वासे उनका मस्तक चाटने लगे। उन त्रिभुवन-नाथने कहा—'बेटा! मुझे क्षमा कर। मेरे आनेमें बहुत देर हुई, इससे तुझे अत्यधिक कष्ट भोगना पड़ा।'

प्रह्लादने गोदसे उतरकर हाथ जोड़कर श्रद्धापूर्ण गद्गद-स्वरमें प्रार्थना की। भगवान्‌ने कहा—'प्रह्लाद! मैं प्रसन्न हूँ। तेरी जो इच्छा हो, वह वरदान माँग ले।'

प्रह्लाद बोले—'प्रभो! आप यह क्या कह रहे हैं? जो सेवक कुछ पानेकी आशासे स्वामीकी सेवा करता है, वह तो सेवक ही नहीं है। आप मेरे परमोदार स्वामी हैं और मैं आपका चरणाश्रित सेवक हूँ। यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो यही वरदान दें कि मेरे मनमें कभी कोई कामना हो ही नहीं।'

भगवान् सर्वज्ञ हैं। उन्होंने 'एवमस्तु' कहकर भी कहा—'प्रह्लाद! कुछ तो माँग ले!'

प्रह्लादने सोचा—'प्रभु जब मुझसे बार-बार माँगनेको कहते हैं तो अवश्य मेरे मनमें कोई-न-कोई कामना है।' अन्तमें उन्होंने प्रार्थना की—'नाथ! मेरे पिताने आपकी बहुत निन्दा की है और आपके सेवक—मुझको कष्ट दिया है। मैं चाहता हूँ कि वे इस पापसे छूटकर पवित्र हो जायँ।'

भगवान् नृसिंह हँस पड़े—'प्रह्लाद! तुम्हारे-जैसा भक्त जिसका पुत्र हुआ वह तो स्वयं पवित्र हो गया। जिस कुलमें तुम-जैसे मेरे भक्त उत्पन्न हुए, उस कुलकी तो इक्कीस पीढ़ियाँ तर गयीं।'

अपनेको कष्ट देनेवालेकी भी दुर्गति न हो, यह एक कामना थी प्रह्लादके मनमें। धन्य है यह कामना। सच्चे भगवद्भक्तमें अपने लिये कोई कामना भला शेष कैसे रह सकती है। (श्रीमद्भागवत ७। ९-१०)

शरीरमें अनासक्त भगवद्भक्तको कहीं भय नहीं

महात्मा जडभरत तो अपनेको सर्वथा जडकी ही भाँति रखते थे। कोई भी कुछ काम बतलाता तो कर देते। यह बदलेमें कुछ भोजन दे देता तो उसे खा लेते। नहीं देता तो भी प्रसन्न बने रहते। भोजनमें कौन क्या देता है, यह जैसे उन्हें पता ही नहीं लगता। कोई अच्छा भोजन दे, सूखी रोटी दे, जला भात दे या और कुछ दे—अरे वे तो भूसी, चावलकी जली खुरचन भी अमृतकी भाँति खा लिया करते थे। सर्दी हो या

गरमी, वर्षा हो या सूखा—वे सदा नंगे शरीर अलमस्त घूमते रहते । भूमिपर, खेतमें, मेड़पर, जहाँ निद्रा आयी सो गये । ऐसे व्यक्तिसे स्वच्छता, सुसंगत व्यवहारकी आशा कोई कैसे करे । मैला-कुचैला जनेऊ कमरमें लपेट रक्खा था, इसीसे पहचाने जाते थे कि द्विजाति हैं । माता-पिताकी मृत्युके बाद सौतेले भाइयोंसे पालन-पोषण प्राप्त हो, इसकी अपेक्षा नहीं थी और अपना भी कहीं कुछ स्वत्व हो सकता है, यह उस दिव्य मनमें आ ही नहीं सकता था । लोगोंको इतना सस्ता मजदूर भला, कहाँ मिलता । भरतको तो किसीकी भी आज्ञाको अस्वीकार करना आता ही न था ।

भाइयोंने देखा कि जडभरत औरोंका काम करके उनका दिया भोजन करते हैं तो कुख्याति होती है; अतः उन्होंने जडभरतको अपने ही खेतपर रखवालीके लिये बैठा दिया । भरत खेतकी रखवालीको बैठ तो गये; किंतु अपना खेत, पराया खेत वे क्या जानें और रखवालीमें खेतपर बैठे रहनेके अतिरिक्त भी कुछ करना है, इसका उन्हें क्या पता । हाँ, वे खेतपर बैठे अवश्य रहते थे । अँधेरी रातमें भी वे खेतकी मेंड़पर जमे बैठे ही रहते थे ।

उसी समय कोई शूद्र सरदार देवी भद्रकालीको पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे मनुष्य-बलि देना चाहता था । उसने बलिके लिये मनुष्य प्राप्त कर लिया था; किंतु ठीक बलिदानकी रात्रिमें वह मनुष्य किसी प्रकार भाग गया । उस सरदारके सेवक उस मनुष्यको ढूँढ़ने निकले रात्रिमें । उन्हें वह मनुष्य तो मिला नहीं, खेतकी रखवाली करते जडभरत मिल गये । चिन्ता-शोकसे सर्वथा रहित होनेके कारण जडभरतका शरीर खूब मोटा-तगड़ा था । शूद्र सरदारके सेवकोंने देखा कि यह बलिके लिये अच्छा पशु है; बस, वे प्रसन्न हो गये । रस्सियोंसे जडभरतको बाँधकर देवीके मन्दिरमें उन्हें ले गये ।

'हम तुम्हारी पूजा करेंगे !' शूद्र सरदार भी[...] हुआ । जडभरत-जैसा मोटा व्यक्ति बलिदानके [...] मिलनेसे विशेष सुविधा यह थी कि यह ऐसा व्यक्ति[...] जो किसी प्रकारका भी विरोध नहीं कर रहा था ।

'अच्छा, पूजा करो !' जडभरतको तो सब [...] पहलेसे स्वीकार थीं ।

'तुम भरपेट भोजन कर लो !' सरदारने [...] प्रकारके व्यञ्जन सामने रक्खे ।

'अच्छा, भोजन करेंगे ।' भरतने डटकर भोजन कि[...]

'हम तुम्हारा बलिदान करेंगे ।' भली प्रकार [...] करके सरदारने भरतको देवीके सम्मुख खड़ा किया[...] हाथमें अभिमन्त्रित तलवार ली ।

'अच्छा, बलिदान करो ।' भरतके लिये तो [...] यह भी भोजन या पूजन-जैसी ही कोई क्रिया थी ।

शूद्र सरदारने तलवार उठायी; किंतु भाग[...] आत्मज्ञानीका बलिदान ले सकें, इतनी शक्ति देवी[...] कालीमें भी नहीं है । उनकी मूर्तिके सम्मुख, [...] निमित्त ऐसे शरीरातीत परम भागवतका मस्तक [...] —कदाचित् इससे पहले उनका स्वयंका अ[...] संदिग्ध हो जायगा । यह कल्पना नहीं है, स्वयं [...] भद्रकालीको यही प्रतीत हुआ । उनका शरीर [...] हुआ जा रहा था । क्रोधके मारे अट्टहास कर[...] आधे पलमें प्रकट हो गयीं और शूद्र सरदारके हा[...] तलवार छीनकर सरदार और उसके सेवकोंका म[...] उन्होंने एक झटकेमें उड़ा दिया । अपने गणोंके [...] आवेशमें वे उनका रक्त पीने लगीं, उनके मस्तक [...] उछालने और नृत्य करने लगीं ।

जडभरत—वे परम तत्त्वज्ञ असङ्ग महापुरुष, [...] लिये जैसे अपनी मृत्युका कुछ अर्थ ही न था, वैसे[...] भद्रकालीकी क्रीड़ा भी एक कौतुकमात्र थी । वे चु[...] वहाँसे चले गये । —सु० सिं० (श्रीमद्भागवत ५ [...]

समस्त लौकिक-पारलौकिक सुखोंकी प्राप्तिका साधन भगवद्-भक्ति

बात आजकी नहीं, सृष्टिके प्रारम्भके सत्ययुगकी है। मनुके दो पुत्र थे—प्रियव्रत और उत्तानपाद । इनमें उत्तानपाद नरेश हुए । उनकी दो रानियाँ थीं; किंतु अपनी बड़ी ानी सुनीतिपर नरेशका प्रेम कम ही था। वे छोटी रानी ुरुचिके वश हो रहे थे। एक दिन बड़ी रानीका पुत्र ध्रुव ेलता आया और पिताकी गोदमें बैठ गया। छोटी रानी वहीं ीं, उनसे यह सहा नहीं गया । उन्होंने पाँच वर्षके ालक ध्रुवको हाथ पकड़कर नरेशकी गोदसे नीचे तार दिया और झिड़ककर बोलीं—'यह आसन मेरे ुत्र उत्तमका है । तुझे यहाँ बैठना हो तो भगवान्‌का जन करके मेरे गर्भसे जन्म ले ।'

बड़ी कड़ी बात थी। नन्हे बालकको कहा जा रहा ा कि 'पिताकी गोद या सिंहासनपर बैठनेके लिये मरना ोगा और फिर विमाताके गर्भसे उत्पन्न होना होगा । ताने भी बालकके अपमानको रोका नहीं । ध्रुव अन्ततः म्राट्‌का कुमार था, अपमानसे क्षुब्ध रोता हुआ चल ड़ा वहाँसे । नन्हा बालक कहाँ जाय ? माता ही कमात्र उसका आश्रय-स्थान ठहरी ।

पति-प्रेम-वञ्चिता रानी सुनीतिने हृदयपर पत्थर रखकर ब सुना। पुत्रको छातीसे लगाकर रोती हुई वे बोलीं—टा ! मुझ अभागिनीके गर्भसे जन्म लेकर सचमुच तुम ग्यहीन हो गये हो; लेकिन तुम्हारी विमाताने तुम्हारे मानके लिये जो बात कही है, सच्ची बात वही है । चमुच यदि तुम उनके पुत्र उत्तमकी भाँति महाराजके हासनपर बैठना चाहते हो तो पद्मपलाश-लोचन हरिके चरणोंकी आराधना करो । तुम्हारे पितामह ने उन नारायणकी आराधनासे ही श्रेष्ठ पद पाया । वान् ब्रह्मा श्रीहरिकी कृपासे ही ब्रह्मत्वको भूषित करते समस्त लौकिक-पारलौकिक सुखोंकी प्राप्तिका साधन वद्-भक्ति ही है ।

बालक ध्रुवको जैसे मार्ग मिल गया । उन्हें पता नहीं था कि भगवान् कौन हैं, उनकी भक्ति कैसे होती है; किंतु वे माताको प्रणाम करके घरसे निकल पड़े अकेले वनके मार्गमें । ध्रुवको कुछ पता हो या न हो, ध्रुव जिसे पाने निकले थे, उसे तो सब पता रहता है । कोई सचमुच उसे पाने चले और उसे मार्ग न मिले, यह सम्भव नहीं है । भगवान् नारायणके मनके ही अंश हैं देवर्षि नारदजी, ध्रुवके वनमें पहुँचते-न-पहुँचते वीणा बजाते वे उनके सम्मुख मार्गमें आ खड़े हुए ।

बालक ध्रुवने देवर्षिको प्रणाम किया। देवर्षिने उनके मस्तकपर हाथ रक्खा, पुचकारा और सब बातें पूछकर समझाया—'अभी तो तुम बच्चे हो । बालकोंका क्या अपमान और क्या सम्मान । घर लौट चलो, मैं तुम्हारे पिताको समझा देता हूँ । यह तपस्या और उपासनाका मार्ग बड़ा कठोर है। समय आयेगा, बड़े होओगे तुम और तब यह सब भी कर लोगे ।'

ध्रुव बच्चे थे, किंतु कच्चे नहीं थे । उनका निश्चय तो सम्राट्-कुमारका निश्चय था । बड़ी नम्रतासे उन्होंने निवेदन किया—'मुझे तो ऐसा पद चाहिये जो मेरे पिता, पितामह या और किंसीको भी नहीं मिला है । ऐसा पद भी मुझे प्राप्त करना है केवल श्रीहरिसे । आपने कृपा करके दर्शन दिया है तो अब इस उद्देश्य-की सिद्धिका साधन भी बता दीजिये ।'

देवर्षि प्रसन्न हो गये इस दृढ़तासे । उन्होंने कहा—'तुम्हारी माताने तुम्हें ठीक मार्ग बतलाया है । किसीको कोई पुरुषार्थ अभीष्ट हो—उसकी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन नारायणभगवान्‌की आराधना ही है ।' देवर्षिने कृपा करके द्वादशाक्षर मन्त्रका उपदेश किया, मथुरा जाकर भगवान्‌की पूजा करनेका आदेश दिया ।

मायाकी गति छाया-जैसी धरै चलै तौ धावै ।
पीठ फेर जो त्याग चलै तो पाछे-पाछे आवै ॥

कहाँ तो महाराज उत्तानपाद ध्रुवको गोदमेंसे हटाये जानेपर चुप बैठे रहे और कहाँ अब वे ही ध्रुवके वनमें जानेके समाचारसे अत्यन्त व्याकुल हो उठे। उन्हें भूख-प्यास और निद्रा भी भूल गयी। ध्रुव लौटें तो उन्हें सर्वस्व दे दें, यही सोचने लगे। देवर्षि नारद ध्रुवको मथुरा भेजकर महाराजके पास आये और उन्हें आश्वासन दिया।

ध्रुव मधुवनमें पहुँचे। यमुना-स्नान करके वे देवर्षिके उपदेशके अनुसार मन्त्र-जप तथा भगवद्ध्यानमें जुट गये। एक महीने उन्होंने तीन दिनके अन्तरसे एक बार बेर और कैथ खानेका नियम बनाया। दूसरे महीने वे प्रति छठे दिन सूखे तृण तथा वृक्षसे अपने-आप गिरे पत्ते खाकर रहे। तीसरे महीने नौ दिनके अन्तरसे एक बार केवल जल पी लेते थे और चौथे महीने तो बारह दिन बीतनेपर एक बार श्वास लेना मात्र उनका व्रत बन गया। चौथा महीना बीता और ध्रुवने श्वास लेना भी बंद कर दिया। एक पैरसे निश्चल, निस्पन्द खड़ा अखण्ड ध्यानमग्न था वह क्षत्रियकुमार।

बादल गरजे, बिजली टूटी, ओले पड़े, सिंह और अजगर दहाड़ते-फुंकारते आये—व्यर्थ था मायाका यह सब प्रपञ्च। ध्रुव तो ऐसे दृढ़ शैल थे कि उसपर मस्तक पटककर मायिक प्रपञ्च स्वयं नष्ट हो जाते थे। अन्तमें माता सुनीतिका रूप बनाकर माया पुकारती आयी—'बेटा ध्रुव! लौट चल! लौट चल, बेटा!' पर ध्रुवके बंद पलक न हिले, न हिले।

देवता छटपटा रहे थे। वे प्रत्येक देहमें हैं, ध्रुवके दृढ़ प्राणनिरोधके कारण उनका दम घुटा जा रहा था और ध्रुव उनकी पहुँचसे परे पहुँच चुके थे। उनका कोई उद्योग ध्रुवके ध्यानको कम्पिततक करनेमें समर्थ नहीं था। अन्तमें सब देवता 'त्राहि त्राहि' करते भगवान् नारायणकी शरण पहुँचे। भगवान्‌ने उन्हें आ[...] दिया और स्वयं गरुड़पर बैठकर ध्रुवको कृतार्थ [...] मधुवन पधारे।

त्रिलोकीके नाथ सम्मुख खड़े हैं, किंतु ध्या[...] ध्रुवको इसका पता तक नहीं। भगवान्‌ने ध्रुवके हृ[...] अपनी मूर्ति अदृश्य कर दी। व्याकुल होकर [...] नेत्र खोले और चकित देखते रह गये। हाथ [...] लिये किंतु कहें क्या; बहुत इच्छा है स्तुति कर[...] पर स्तुति करनी आती नहीं। सर्वज्ञ प्रभु हँस[...] अपने निखिलवेदमय शंखका बालकके कपोलसे [...] कर दिया। सरस्वती जाग्रत् हो गयीं, वाणी खुल[...] ध्रुव स्तुति करने लगे।

स्तवनके पश्चात् प्रभुने कहा—'बेटा ध्रुव! [...] पदको तुम्हारे पिता या पितामहतकने नहीं पाया है, [...] और भी कोई नहीं पा सका है, वह ध्रुवलोक तु[...] है। अभी तो तुम घर जाओ। पिताके बाद [...] सिंहासनको भूषित करना। धराका राज्य भो[...] यहाँका समय समाप्त होनेपर तुम सशरीर उस [...] दिव्य लोकमें निवास करोगे। सप्तर्षि तथा स[...] तारक-मण्डल उस लोककी प्रदक्षिणा किया करें[...]

भगवत्कृपा पाकर ध्रुव लौटे। उनके लौट[...] समाचार देनेवालेको महाराज उत्तानपादने अपने क[...] का रत्नहार उपहारमें दे दिया। माता सुनीतिके ह[...] बात तो क्या कोई कहेगा, प्रसन्नताके मारे [...] आशीर्वाद तो नहीं दे सकीं ध्रुवको तिरस्कृत करने[...] रानी सुरुचि। ध्रुवके प्रणाम करनेपर गद्गद स्[...] उन्होंने कहा—'चिरञ्जीवी हो पुत्र!' महारा[...] समारोहके साथ ध्रुवको नगरमें लाकर युवराजपद [...] समय दे दिया। —सु० सिं० (श्रीमद्भागवत ४। ८[...]

आर्त जगत्के आश्रय—भगवान् नारायण

आर्त जगत्के आश्रय

(भगवान् नारायण)

संसारमें जब पापका प्राबल्य हो जाता है—अनेक बार हो जाता है; किंतु अनेक बार ऐसा होता है कि पाप पुण्यके ही बलसे अजेय हो जाता है। असुर तपस्या करते हैं, उनकी तपःशक्ति उन्हें अजेय बना देती है। पाप विनाशी है, दुःखरूप है। शाश्वत, अजेय, सुखस्वरूप तो है धर्म। किंतु धर्म या पुण्य करके जब कोई अजेय अदम्य सुखी होकर पापरत हो जाय—देवता भी विवश हो जाते हैं। किसीकी तपःशक्ति, किसीका फल-दानोन्मुख पुण्य वे नष्ट नहीं कर सकते और अपने तप एवं पुण्यके द्वारा प्राप्त शक्ति तथा ऐश्वर्यसे मदान्ध प्राणी उच्छृङ्खल होकर विश्वमें त्रास, पीड़ा एवं उत्पीडनकी सृष्टि करता है।

जगत्की नियन्तृका शक्तियाँ—देवता भी जब असमर्थ हो जाते हैं, विश्वके परम संचालककी शरण ही एकमात्र उपाय रहता है। जबतक देवशक्ति नियन्त्रण करनेमें समर्थ है, उत्पीडन अपनी सीमाका अतिक्रमण करते ही स्वयं ध्वस्त हो जाता है। अहंकारी मनुष्य समझ नहीं पाता कि उसका विनाश उसके पीछे ही मुख फाड़े खड़ा है। पर ऐसा भी अवसर आता है जब देवशक्ति भी असमर्थ हो जाती है। उसकी शक्ति-सीमासे असुर बाहर हो जाते हैं। महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, ज्वालामुखी—कोई सिर नहीं उठा सकता। सब नियन्त्रित कर लिये जाते हैं। आसुरशक्तिके यथेच्छाचारसे जगत् आर्त हो उठता है।

एक बारकी नहीं, युग-युगकी कथा है यह। देवता, मुनिगण मिलकर उस परमतत्त्वकी शरण लेते हैं, उस सर्वसमर्थका स्तवन करते हैं और उन्हें आश्वासन प्राप्त होता है। वे रमाकान्त, गरुडवाहन भगवान् नारायण आविर्भूत होते हैं अभयदान करने।

सृष्टिकी—विश्वकी ही नहीं, जीवनकी भी यही कथा है। जब पाप प्रबल होता है, आसुर वृत्तियाँ अदम्य हो जाती हैं, यदि हम पराजय न स्वीकार कर लें, यदि हम उस आर्तोंके आश्रयको पुकारें—पुकार भर लें, वे रमाकान्त, गरुडवाहन भगवान् नारायण आश्वासन देते ही हैं। उनकी परमपावन स्मृति ही आलोक प्रदान करती है और आसुर-वृत्तियोंको ध्वस्त कर देती है।

ऐसो को उदार जग माहीं

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरघुनाथजीको पता लगा कि उनके परम भक्त विभीषणको कहीं ब्राह्मणोंने बाँध लिया है। श्रीराघवेन्द्रने चारों ओर दूत भेजे, पता लगाया और अन्तमें स्वयं वहाँ पहुँचे, जहाँ ब्राह्मणोंने विभीषणको दृढ़ शृङ्खलाओंसे बाँधकर एक भूगर्भगृहमें बंदी बना रक्खा था।

मर्यादापुरुषोत्तमको कुछ पूछना नहीं पड़ा। ब्राह्मणोंने प्रभुका स्वागत किया, उनका आतिथ्य किया और कहा—'महाराज! इस वनमें हमारे आश्रमके पास एक राक्षस रथमें बैठकर आया था। हममेंसे एक अत्यन्त वृद्ध मौनव्रती वनमें कुश लेने गये थे। राक्षसने उनसे कुछ पूछा, किंतु मौनव्रती होनेसे वे उत्तर नहीं दे सके। दुष्ट राक्षसने उनके ऊपर पाद-प्रहार किया। वे वृद्ध तो थे ही, गिर पड़े और मर गये। हमलोगोंको समाचार मिला। हमने उस दुष्ट राक्षसको पकड़ लिया, किंतु हमारे द्वारा बहुत पीटे जानेपर भी वह मरता नहीं है। आप यहाँ आ गये हैं, यह सौभाग्यकी बात है। उस दुष्ट हत्यारेको आप दण्ड दीजिये।

ब्राह्मण विभीषणको उसी दशामें ले आ[ये।] विभीषणका मस्तक लज्जासे झुका था; किंतु श्रीराम और भी संकुचित हो गये। उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा- 'किसीका सेवक कोई अपराध करे तो वह अ[पराध] स्वामीका ही माना जाता है। आपलोग इनको [छोड़] दें। मैंने इन्हें कल्पपर्यन्त जीवित रहनेका वर[दान] तथा लङ्काका राज्य दिया है। ये मेरे अपने हैं, [अतः] इनका अपराध तो मेरा ही अपराध है। आपलोग दण्ड देना चाहें, मैं उसे स्वीकार करूँगा।'

विभीषणजीने जान-बूझकर ब्रह्महत्या नहीं की थी। वे वृद्ध ब्राह्मण हैं और मौनव्रती हैं, यह विभीषणको [पता] नहीं था। उनको मार डालनेकी तो विभीषणकी इ[च्छा] थी ही नहीं। अतः अनजानमें हुई हत्याका प्रायश्चित्त ही ऋषियोंने बताया और वह प्रायश्चित्त विभीषण[ने] नहीं, श्रीराघवेन्द्रने स्वयं किया।— सु० सिं०

श्रीराधाजीके हृदयमें चरण-कमल

एक बार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने सम्पूर्ण परिवार-परिकर आदिके साथ सिद्धाश्रम तीर्थमें स्नान करने गये। दैवयोगसे श्रीराधिकाजी भी वहाँ अपनी सखियोंके साथ स्नान करने आयी थीं। बड़े उल्लासके साथ उभय-पक्षके लोगोंका सम्मिलन हुआ। भगवान्‌की पटरानियोंने स्वयं प्रभुके मुखसे श्रीराधिकाजीकी बड़ी महिमा सुन रक्खी थी। अतएव समय निकालकर वे एकान्तमें श्रीराधिकाजीसे मिलीं। श्रीराधाजीने उनका बड़ा सत्कार किया। बातचीतके प्रसङ्गमें उन्होंने कहा—'बहिनो! चन्द्रमा एक होता है; परंतु चकोर अनेक होते हैं। सूर्य एक होता है, किंतु नेत्र अनेक होते हैं—

चन्द्रो यथैको बहवश्चकोराः
सूर्यो यथैको बहवो दृशः स्युः।
श्रीकृष्णचन्द्रो भगवांस्तथैव
भक्ता भगिन्यो बहवो वयं च॥'

उनके वार्तालापका श्रीकृष्णपत्नियोंपर बड़ा प्रभ[ाव] पड़ा। वे आग्रह करके राधिकाजीको अपने स्थानपर [ले] आयीं। वहाँ सभीने उनका बड़ा स्वागत किया, भोजना[दि] भी कराया और अन्तमें श्रीरुक्मिणीजीने स्वयं दूध पिलाया। तत्पश्चात् अनेक प्रकारके शिष्ट-संलाप होनेके बा[द] श्रीराधाजी अपने स्थानपर लौट आयीं। शयनके सम[य] श्रीरुक्मिणीजी नित्य-नियमानुसार प्रभुके चरण दा[बने]

बैठीं। चरणतलोंके दर्शन करते ही वे आश्चर्यमें डूब गयीं। उन्होंने देखा भगवान्‌के चरणतलपर तमाम फफोले पड़ रहे हैं। विस्मित होकर उन्होंने सभी सहेलियोंको बुलाया। सभी आश्चर्यसे दंग रह गयीं। भगवान्‌से पूछनेका किसीको साहस नहीं था। अन्तमें प्रभुने नेत्र खोलकर सबके वहाँ एकत्रित होनेका कारण पूछा। उत्तरमें उन लोगोंने चरणोंके फफोले दिखलाये। पहले तो भगवान्‌ने टालना चाहा। पर अत्यन्त आग्रह करनेपर उन्होंने कहा---

श्रीराधिकाया　　हृदयारविन्दे
पादारविन्दं　हि　विराजते　मे।
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
बुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति॥

अर्थात् श्रीराधाके हृदयमें मेरे चरणकमल दिन-रात विराजमान रहते हैं। तुमने उन्हें बहुत गरम दूध दे दिया। श्रीराधा उसे तुम्हारा दिया हुआ समझकर पी गयीं। दूध उनके हृदयमें गया और इससे मेरे चरण-कमलमें फफोले पड़ना स्वाभाविक था।

प्रभुके वचनसे महिषियोंको बड़ा ही आश्चय हुआ। तबसे वे अपने प्रेमको श्रीराधाजीके प्रभु-प्रेमके सामने अत्यन्त तुच्छ मानने लगीं।　—जा० श०

पेट-दर्दकी विचित्र औषध

प्रायः भगवान् श्रीकृष्णकी पटरानियाँ व्रजगोपिकाओं-के नामसे नाक-भौं सिकोड़ने लगतीं। इनके अहंकारको भङ्ग करनेके लिये प्रभुने एक बार एक लीला रची। नित्य निरामय भगवान् बीमारीका नाटक कर पड़ गये। नारदजी आये। वे भगवान्‌के मनोभावको समझ गये। उन्होंने बतलाया कि इस रोगकी औषध तो है, पर उसका अनुपान प्रेमी भक्तकी चरण-रज ही हो सकती है। रुक्मिणी, सत्यभामा, सभीसे पूछा गया। पर पदरज कौन दे प्रभुको। भगवान्‌ने कहा—'एक बार व्रज जाकर देखिये तो।'

'नारदजी श्यामसुन्दरके पाससे आये हैं' यह सुनते ही श्रीराधाजीके साथ सारी व्रजाङ्गनाएँ बासी मुँह ही दौड़ पड़ीं। कुशल पूछनेपर नारदजीने श्रीकृष्णकी बीमारीकी बात सुनायी। गोपियोंके तो प्राण ही सूख गये। उन्होंने तुरंत पूछा—'क्या वहाँ कोई वैद्य नहीं है?'

'वैद्य भी हैं, दवा भी है, पर अनुपान नहीं मिलता।'

'ऐसा क्या अनुपान है?'

'अनुपान बहुत दुर्लभ है; उसे कौन दे? है तो वह सभीके पास, पर कोई उसे देना नहीं चाहता। सम्पूर्ण जगत्‌में चक्कर लगा आया, पर व्यर्थ।'

'सभीके पास है! क्या हमलोगोंके पास भी है?'

'है क्यों नहीं, पर तुम भी दे न सकोगी।'

'प्रियतम श्रीकृष्णको न दे सकें, ऐसी हमारे पास कोई वस्तु ही नहीं रह सकती।'

'अच्छा, तो क्या श्रीकृष्णको अपने चरणोंकी धूलि दे सकोगी? यही है वह अनुपान, जिसके साथ दवा देनेसे उनकी बीमारी दूर होगी!'

'यह कौन-सी बड़ी कठिन बात है, मुनि महाराज? लो, हम पैर बढ़ाये देती हैं; जितनी चाहिये, चरण-धूलि अभी ले जाओ।'

'अरी यह क्या करती हो?' नारदजी घबराये। 'क्या तुम यह नहीं जानतीं कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं? भला, उन्हें खानेको अपने पैरोंकी धूल? क्या तुम्हें नरकका भय नहीं है?'

'नारदजी! हमारे सुख-सम्पत्ति, भोग, मोक्ष—सब कुछ हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण ही हैं। अनन्त नरकोंमें जाकर भी हम श्रीकृष्णको स्वस्थ कर सकें—उनको तनिक-सा भी सुख पहुँचा सकें तो हम ऐसे मनचाहे नरकका नित्य भजन करें। हमारे अघासुर (अघ+असुर), नरकासुर,

(नरक+ असुर) तो उन्होंने कभीके मार रक्खे हैं।'

नारदजी विह्वल हो गये। उन्होंने श्रीराधारानी तथा उनकी कायव्यूहरूपा गोपियोंकी परम पावन चरणरजकी पोटली बाँधी, अपनेको भी उससे अभिषिक्त किया। लेकर नाचते हुए द्वारका पधारे। भगवान्‌ने दवा ली। पटरानियाँ यह सब सुनकर लज्जासे गड़-सी ग[illegible] उनका प्रेमका अहंकार समाप्त हो गया। वे सम[illegible] कि हम उन गोपियोंके सामने सर्वथा नगण्य हैं। उ[illegible] उन्हें मन-ही-मन निर्मल तथा श्रद्धापूत मनसे नम[illegible] किया। —जा० श०

(उज्ज्वल भा[illegible]

आर्त पुकार दयामय अवश्य सुनते हैं

युधिष्ठिर जुएमें अपना सर्वस्व हार गये थे। छल-पूर्वक शकुनिने उनका समस्त वैभव जीत लिया था। अपने भाइयोंको, अपनेको और रानी द्रौपदीको भी बारी-बारीसे युधिष्ठिरने दावपर रक्खा। जुआरीकी दुराशा उसे बुरी तरह ठगती रहती है—'कदाचित् अबकी बार सफलता मिले!' किंतु युधिष्ठिर प्रत्येक दाव हारते गये। जब वे द्रौपदीको भी हार गये, तब दुर्योधनने अपने छोटे भाई दुःशासनके द्वारा द्रौपदीको उस भरी सभामें पकड़ मँगवाया। दुरात्मा दुःशासन पाञ्चालीके केश पकड़-कर घसीटता हुआ उन्हें सभामें ले आया। द्रौपदी रजस्वला थी और एक ही वस्त्र पहने थी। विपत्ति यहीं समाप्त नहीं हुई। दुर्योधनने अपनी जाँघ खोलकर दिखलाते हुए कहा—'दुःशासन! इस कौरवोंकी दासीको नंगी करके यहाँ बैठा दो।'

भरी थी राजसभा। वहाँ धृतराष्ट्र थे, पितामह भीष्म थे, द्रोणाचार्य थे। सैकड़ों सभासद् थे। वयोवृद्ध विद्वान् थे, शूरवीर थे और सम्मानित पुरुष भी थे। ऐसे लोगोंके मध्य पाण्डवोंकी वह महारानी, जिसके केश राजसूयके अवभृथ स्नानके समय सिञ्चित हुए थे, जो कुछ सप्ताहपूर्व ही चक्रवर्ती सम्राट्के साथ सम्राज्ञीके रूपमें भूमण्डलके समस्त नरेशोंद्वारा वन्दित हुई थी, रजस्वला होनेकी स्थितिमें केश पकड़कर घसीट लायी गयी और अब उसे नग्न करनेका आदेश दिया जा रहा था।

होनेको वहाँ विदुर भी थे; किंतु उनकी बात कौन सुनता। द्रौपदीने अनेक बार पूछा—'युधिष्ठि[illegible] अपने-आपको हार चुके थे, तब उन्होंने मुझे दावपर ल[illegible] था; अतः धर्मतः मैं हारी गयी या नहीं?' किंतु [illegible] जैसे धर्मज्ञोंने भी कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया। [illegible] भुजाओंमें दस हजार हाथीका बल विख्यात था, दुरात्मा दुःशासनने द्रौपदीकी साड़ी पकड़ ली।

'मेरे त्रिभुवनविख्यात शूरवीर पति!' द्रौपदी व्य[illegible] होकर इधर-उधर देख रही थी कि कोई उसकी [illegible] करेगा; किंतु पाण्डवोंने लज्जा तथा शोकके कारण [illegible] दूसरी ओर कर लिया था।

'आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, धर्मात्मा कर्ण [illegible] द्रौपदीने देखा कि उसका कोई सहायक नहीं। [illegible] तो उल्टे दुःशासनको प्रोत्साहित कर रहा है और [illegible] द्रोण आदि बड़े-बड़े धर्मात्माओंके मुख दुर्योधन[illegible] अपमानित होनेकी आशङ्कासे बंद हैं और उनके म[illegible] नीचे झुके हैं।

एकवस्त्रा अबला नारी—उसकी एकमात्र साड़ी [illegible] दुःशासन अपनी बलभरी मोटी भुजाओंके बलसे [illegible] देकर खींच रहा है। कितने क्षण द्रौपदी साड़ीको प[illegible] रह सकेगी? कोई नहीं—कोई नहीं, उसकी सहा[illegible] करनेवाला! उसके नेत्रोंसे झड़ी लग गयी, दोनों [illegible] साड़ी छोड़कर ऊपर उठ गये। उसे भूल गयी राजसभा[illegible] भूल गयी साड़ी, भूल गया शरीर। वह कातर स्वरमें पु[illegible] उठी—'श्रीकृष्ण! द्वारकानाथ! देवदेव! गोपीजन[illegible]

जगन्नाथ ! इन दुष्ट कौरवोंके सागरमें मैं डूब रही हूँ, दयामय ! मेरा उद्धार करो ।'

द्रौपदी पुकारने लगी—पुकारती रही उस आर्तिनाशन असहायके सहायक करुणार्णवको । उसे पता नहीं था कि क्या हुआ या हो रहा है । सभामें कोलाहल होने लगा । लोग आश्चर्यचकित रह गये । दुःशासन पूरी शक्तिसे वेगपूर्वक द्रौपदीकी साड़ी खींच रहा था । वह हाँफने लगा था, पसीनेसे लथपथ हो गया था, थक गयी थीं दस सहस्र हाथियोंका बल रखनेवाली उसकी भुजाएँ । द्रौपदीकी साड़ीसे रंग-बिरंगे वस्त्रोंका अम्बार निकलता जा रहा था । वह दस हाथकी साड़ी पाञ्चालीके शरीरसे तनिक भी हट नहीं रही थी । वह तो अनन्त हो चुकी थी । दयामय द्वारकानाथ रजस्वला नारीके उस अपवित्र वस्त्रमें ही प्रविष्ट हो गये थे । आज उन्होंने वस्त्रावतार धारण कर लिया था और तब उन अनन्तका ओर-छोर कोई पा कैसे सकता था ।

'विदुर ! यह कोलाहल कैसा है ?' अंधे राजा धृतराष्ट्रने घबराकर पूछा ।

महात्मा विदुरने बताया—'दुःशासन द्रौपदीकी साड़ी खींचते-खींचते थक चुका है । वस्त्रोंका ढेर लग गया है । आश्चर्यचकित सभासदोंका यह कोलाहल है । साथ ही आपकी यज्ञशालामें शृगाल घुस आये हैं और रो रहे हैं । दूसरे भी बहुत-से अपशकुन हो रहे हैं । द्रौपदी सर्वेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रको पुकारनेमें तन्मय हो रही है । उन सर्वसमर्थने अभी तो उनकी साड़ी बढ़ा दी है; किंतु यदि शीघ्र आप पाञ्चालीको प्रसन्न नहीं करते तो श्रीकृष्णका महाचक्र कब प्रकट होकर एक क्षणमें आपके पुत्रोंको नष्ट कर देगा—यह कोई कह नहीं सकता । आपके सभासद् तो भय-व्याकुल होकर कोलाहल करते हुए दुर्योधनकी जो निन्दा कर रहे हैं, उसे आप सुन ही रहे हैं ।'

धृतराष्ट्रको भय लगा । उन्होंने दुर्योधनको फटकारा । दुःशासनने द्रौपदीकी साड़ी छोड़ दी और चुपचाप अपने आसनपर बैठ गया । वह समझे या न समझे, पाण्डव तथा भीष्म-जैसे भगवद्भक्तोंको यह समझना नहीं था कि द्रौपदीकी लज्जा-रक्षा कैसे हुई । —सु० सिं०

(महाभारत, सभा० ६७–७१)

धन्य कौन

एक बार भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुरके दुर्योधनके यज्ञसे निवृत्त होकर द्वारका लौटे थे । यदुकुलकी लक्ष्मी उस समय ऐन्द्री लक्ष्मीको भी मात कर रही थी । सागरके मध्यस्थित श्रीद्वारकापुरीकी छटा अमरावतीकी शोभाको भी तिरस्कृत कर रही थी । इन्द्र इससे मन-ही-मन लज्जित तथा अपनी राज्यलक्ष्मीसे द्वेष-सा करने लग गये थे । हृषीकेश नन्दनन्दनकी अद्भुत राज्यश्रीकी बात सुनकर उसे देखनेको उसी समय बहुत-से राजा द्वारका पधारे । इनमें कौरव-पाण्डवोंके साथ पाण्ड्य, चोल, कलिङ्ग, बाह्लीक, द्रविड़, खश आदि अनेक देशोंके राजा-महाराजा भी सम्मिलित थे ।

एक बार इन सभी राजा-महाराजाओंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण सुधर्मा सभामें स्वर्णसिंहासनपर विराजमान थे । अन्य राजा-महाराजागण भी चित्र-विचित्र आसनोंपर यथास्थान चारों ओरसे उन्हें घेरे बैठे थे । उस समय वहाँकी शोभा बड़ी विलक्षण थी । ऐसा लगता था मानो देवताओं तथा असुरोंके बीच साक्षात् प्रजापति ब्रह्माजी विराज रहे हों ।

इसी समय मेघनादके समान तीव्र वायुका नाद हुआ और बड़े जोरोंकी हवा चली । ऐसा लगता था कि अब भारी वर्षा होगी और दुर्दिन-सा दीखने लग गया । पर लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ जब कि इस तुमुल दुर्दिनका भेदन करके उसमेंसे साक्षात् देवर्षि नारद निकल पड़े । वे ठीक अग्निशिखाके सदृश

नरेन्द्रोंके बीच सीधे उतर पड़े। नारदजीके पृथ्वीपर उतरते ही वह दुर्दिन (वायु-मेघादिका आडम्बर) समाप्त हो गया। समुद्र-सदृश नृपमण्डलीके बीच उतरकर देवर्षिने सिंहासनासीन श्रीकृष्णकी ओर मुख करके कहा—'पुरुषोत्तम ! देवताओंके बीच आप ही परम आश्चर्य तथा धन्य हैं।' इसे सुनकर प्रभुने कहा—'हाँ, मैं दक्षिणाओंके साथ आश्चर्य और धन्य हूँ।' इसपर देवर्षिने कहा—'प्रभो ! मेरी बातका उत्तर मिल गया, अब मैं जाता हूँ।' श्रीनारदको चलते देख राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कुछ भी समझ न सके कि बात क्या है। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा—'प्रभो ! हमलोग इस दिव्य तत्त्वको कुछ जान न पाये; यदि गोप्य न हो तो इसका रहस्य हमें समझानेकी कृपा करें।' इसपर भगवान्ने कहा—'आपलोग धैर्य रक्खें, इसे स्वयं नारदजी ही सुना रहे हैं।' यों कहकर उन्होंने देवर्षिको इसे राजाओंके सामने स्पष्ट करनेके लिये कहा।

नारदजी कहने लगे—"राजाओ ! सुनो—जिस प्रकार मैं इन श्रीकृष्णके माहात्म्यको जान सका हूँ, वह तुम्हें बतलाता हूँ। एक बार मैं सूर्योदयके समय एकान्तमें गङ्गा-किनारे घूम रहा था। इतनेमें ही वहाँ एक पर्वताकार कछुआ आया। मैं उसे देखकर चकित रह गया। मैंने उसे हाथसे स्पर्श करते हुए कहा—'कूर्म ! तुम्हारा शरीर परम आश्चर्यमय है। वस्तुतः तुम धन्य हो। क्योंकि तुम निःशङ्क और निश्चिन्त होकर इस गङ्गामें सर्वत्र विचरते हो, फिर तुमसे अधिक धन्य कौन होगा ?' मेरी बात पूरी भी न हो पायी थी कि बिना ही कुछ सोचे वह कछुआ बोल उठा—'मुने ! भला मुझमें आश्चर्य क्या है तथा प्रभो ! मैं धन्य भी कैसे हो सकता हूँ ? धन्य तो हैं ये देवनदी गङ्गा, जो मुझ-जैसे हजारों कछुए तथा मकर, नक्र, झषादि संकुल जीवोंकी आश्रयभूता शरणदायिनी हैं। मेरे-जैसे असंख्य जीव भरे हैं—विचरते रहते हैं, भला इनसे अधिक तथा धन्य और कौन है ?'

"नारदजीने कहा, 'राजाओ ! कछुएकी बात सुन मुझे बड़ा कुतूहल हुआ और मैं गङ्गादेवीके सामने बोला—'सरित्-श्रेष्ठे गङ्गे ! तुम धन्य हो। तुम तपस्वियोंके आश्रमोंकी रक्षा करती हो, मिलती हो, विशालकाय श्वापदोंसे सुशोभित हो, सभी आश्चर्योंसे विभूषित हो।' इसपर गङ्गा तुरंत उठीं—'नहीं, नहीं, देवगन्धर्वप्रिय देवर्षे ! नारद ! मैं क्या आश्चर्यविभूषित या धन्य हूँ। लोकमें सर्वाश्चर्यकर परमधन्य तो समुद्र ही है, मुझ-जैसी सैकड़ों बड़ी-बड़ी नदियाँ मिलती हैं।' पर मैंने जब समुद्रके पास जाकर उसकी ऐसी की तो वह जलतलको फाड़ता हुआ ऊपर उठ बोला—'मुने ! मैं कोई धन्य नहीं हूँ; धन्य तो वसुन्धरा, जिसने मुझ-जैसे कई समुद्रोंको धारण रक्खा है और वस्तुतः सभी आश्चर्योंकी निवास भी यह भूमि ही है।'

"समुद्रके वचनोंको सुनकर मैंने पृथ्वीसे कहा, धारियोंकी योनि पृथ्वी ! तुम धन्य हो। शोभने ! समस्त आश्चर्योंकी निवासभूमि भी हो।' इसपर चमक उठी और बड़ी तेजीसे बोल गयी—'अरे संग्रामकलहप्रिय नारद ! मैं धन्य-वन्य कुछ नहीं धन्य तो हैं ये पर्वत जो मुझे भी धारण करनेके 'भूधर' कहे जाते हैं और सभी प्रकारके आश्चर्य निवासस्थल भी ये ही हैं।' मैं पृथ्वीके वचनोंसे के पास उपस्थित हुआ और कहा कि 'वास्तवमें लोग बड़े आश्चर्यमय दीख पड़ते हैं। सभी श्रेष्ठ रत्न सुवर्ण आदि धातुओंके शाश्वत आकर भी आप ही अतएव आपलोग धन्य हैं।' पर पर्वतोंने भी कहा 'ब्रह्मर्षे ! हमलोग धन्य नहीं हैं। धन्य हैं प्रजापति ब्रह्मा

वे सर्वाश्चर्यमय जगत्के निर्माता होनेके कारण आश्चर्य-भूत भी हैं।'

"अब मैं ब्रह्माजीके पास पहुँचा और उनकी स्तुति करने लगा—'भगवन्! एकमात्र आप ही धन्य हैं, आप ही आश्चर्यमय हैं। सभी देव, दानव आपकी ही उपासना करते हैं। आपसे ही सृष्टि उत्पन्न होती है, अतएव आपके तुल्य अन्य कौन हो सकता है?' इसपर ब्रह्माजी बोले—'नारद! इन धन्य, आश्चर्य आदि शब्दोंसे तुम मेरी क्यों स्तुति कर रहे हो? धन्य और आश्चर्य तो ये वेद हैं, जिनसे यज्ञोंका अनुष्ठान तथा विश्वका संरक्षण होता है।' अब मैं वेदोंके पास जाकर उनकी प्रशंसा करने लगा तो उन्होंने यज्ञोंको धन्य कहा। तब मैं यज्ञोंकी स्तुति करने लगा। इसपर यज्ञोंने मुझे बतलाया कि—'हम धन्य नहीं, विष्णु धन्य हैं, वे ही हमलोगोंकी अन्तिम गति हैं। सभी यज्ञोंके द्वारा वे ही आराध्य हैं।'

"तदनन्तर मैं विष्णुकी गतिकी खोजमें यहाँ आया और आप राजाओंके मध्य श्रीकृष्णके रूपमें इन्हें देखा। जब मैंने इन्हें धन्य कहा, तब इन्होंने अपनेको दक्षिणाओंके साथ धन्य बतलाया। दक्षिणाओंके साथ भगवान् विष्णु ही समस्त यज्ञोंकी गति हैं। यहीं मेरा प्रश्न समाहित हुआ और इतनेसे ही मेरा कुतूहल भी निवृत्त हो गया। अतएव मैं अब जा रहा हूँ।"

यों कहकर देवर्षि नारद चले गये। इस रहस्य तथा संवादको सुनकर राजालोग भी बड़े विस्मित हुए और सबने एकमात्र प्रभुको ही धन्यवाद, आश्चर्य एवं सर्वोत्तम प्रशंसाका पात्र माना। —जा० श०

(हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ११०, धन्योपाख्यानसे)

दुर्योधनके मेवा त्यागे

द्वारकाधीश श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवोंके संधि-दूत बनकर आ रहे थे। धृतराष्ट्रके विशेष आदेशसे हस्तिनापुर सजाया गया था। दुःशासनका भवन, जो राजभवनसे भी सुन्दर था, वासुदेवके लिये खाली कर दिया गया था। धृतराष्ट्रने आदेश दिया था —'अश्व, गज, रथ, गायें, रत्न, आभरण और दूसरी जो भी वस्तुएँ हमारे यहाँ सर्वोत्तम हों, बहुमूल्य हों, वे दुःशासनके भवनमें एकत्र कर दी जायँ। वे सब श्रीवासुदेवको भेंट कर दी जायँ।'

दुर्योधनके मनमें प्रेम नहीं था, पर वह ऊपरसे बड़े ही उत्साहपूर्वक पिताकी आज्ञाका पालन कर रहा था। उसने राज्यके सब कारीगर जुटा रक्खे थे भवन, मार्ग तथा नगरमें तोरण-द्वार सजानेके लिये। श्रीकृष्णचन्द्रके भोजनके लिये इतने पदार्थ बनवाये गये थे जिनकी गणना करना भी कठिन था। ऐसी राज-सज्जा की गयी थी कि वह हस्तिनापुरके इतिहासके लिये नवीन थी।

वासुदेवका रथ आया। नगरसे बाहर जाकर दुर्योधनने भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि वृद्ध सम्मान्य पुरुषों तथा भाइयोंके साथ उनका स्वागत किया। उनके साथ सब नगरमें आये।

'आप पधारें!' बड़ी नम्रतासे दुर्योधनने मार्ग दिखलाया। परंतु वासुदेव बोले—'राजन्! आपके उदार स्वागतके लिये धन्यवाद! किंतु दूतका कर्तव्य है कि जबतक उसका कार्य न हो जाय, वह दूसरे पक्षके यहाँ भोजनादि न करे।'

दुर्योधनको बुरा लगा; किंतु अपनेको संयत करके वह बोला—'आप दूत हैं, यह बात पीछे देखनेकी है। आप हमारे सम्मान्य सम्बन्धी हैं। हम जो कुछ सेवा कर सकते हैं, हमने उसका प्रयास किया है। आप हमारा स्वागत क्यों अस्वीकार कर रहे हैं?'

अब श्रीकृष्णचन्द्रने स्पष्ट सुना दिया—'राजन्! जो

भूखसे मर रहा हो, वह चाहे जहाँ भोजन कर लेता है; किंतु जो ऐसा नहीं है, वह तो दूसरे घर तभी भोजन करता है, जब उसके प्रति वहाँ प्रेम हो। भूखसे मैं मर नहीं रहा हूँ और प्रेम आपमें है नहीं।'

द्वारकानाथका रथ मुड़ गया विदुरके भ ओर। उनके लिये जो दुःशासनका भवन सजाय था, उसकी ओर तो उन्होंने ताकातक नहीं।

—सु० सिं० (महाभारत, उद्योग०)

भगवान् या उनका बल ?

महाभारतका युद्ध निश्चित हो गया था। दोनों पक्ष अपने-अपने मित्रों, सम्बन्धियों, सहायकोंको एकत्र करनेमें लग गये थे। श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवोंके पक्षमें रहेंगे, यह निश्चित था; किंतु सभी कौरव वीर इसी सत्यसे भयभीत थे। श्रीकृष्ण यदि चक्र उठा लें, उनके सामने दो क्षण भी खड़ा होनेवाला उन्हें दीखता नहीं था और उनकी नारायणी सेना—विश्वकी वह सर्वश्रेष्ठ सेना क्या उपेक्षा कर देने योग्य है ? 'कुछ भी हो, जितनी सहायता श्रीकृष्णसे पायी जा सके, पानेका प्रयत्न करना चाहिये।' यह सम्मति थी शकुनि-जैसे सम्मति देनेवालोंकी। इच्छा न होनेपर भी स्वयं दुर्योधन द्वारकाधीशको रण-निमन्त्रण देने द्वारका पहुँचे।

दुर्योधनकी पुत्रीका विवाह हुआ था श्रीकृष्ण-तनय साम्बसे। दुर्योधनके लिये द्वारकेशके भवनमें जानेमें कोई बाधा नहीं थी। वे भवनमें भीतर पहुँचे। भगवान् वासुदेव भोजन करके मध्याह्न-विश्राम करने शय्यापर लेटे थे। कक्षमें दूसरा कोई था नहीं। लीलामयने निद्राका नाट्य करके नेत्र बंद कर रक्खे थे। दुर्योधनने इधर-उधर देखा। शय्याके सिरहानेके पास बैठनेके लिये एक उत्तम आसन पड़ा था। वे उसीपर चुपचाप बैठकर श्रीकृष्णचन्द्रके जागनेकी प्रतीक्षा करने लगे।

अर्जुन भी उपप्लव्य नगरसे चले थे रण-निमन्त्रण देने। वे भी पहुँचे द्वारकेशके उसी कक्षमें। श्यामसुन्दरको शयन करते देखकर वे उनके चरणोंके पास खड़े हो गये और उन भुवनसुन्दरकी यह झाँकी देखने लगे आत्मविस्मृत होकर।

सहसा श्रीकृष्णचन्द्रने नेत्र खोले। सम्मुख को देखकर पूछने लगे—'धनञ्जय ! कब आये कैसे आये ?'

दुर्योधन डरे कि कहीं अर्जुनको ये कोई न दे दें। बैठे-बैठे ही वे बोले—'वासुदेव ! पहि आया हूँ आपके यहाँ। अर्जुन तो अभी आया है।

'आप !' बायीं ओरसे सिरको पीछे घुमाकर ज देखा दुर्योधनको और अभिवादन करके पूछा— पधारे आप ?'

दुर्योधनने कहा—'आप जानते ही हैं कि पा से हमारा युद्ध निश्चित है। आप मेरे सम्बन्धी हैं युद्धमें आपकी सहायता माँगने आया हूँ।'

'अर्जुन ! तुम ?' अब अर्जुनसे पूछा गया तो वे बो 'आया तो मैं भी इसी उद्देश्यसे हूँ।'

बड़े गम्भीर स्वरमें द्वारकानाथ बोले—'आप हमारे सम्बन्धी हैं। इस घरेलू युद्धमें किसी पक्ष करना मुझे प्रिय नहीं है। मैं इस युद्धमें शस्त्र ग्रहण करूँगा। एक ओर मैं शस्त्रहीन रहूँगा और ओर मेरी सेना शस्त्र-सज्ज रहेगी। परंतु रा अर्जुनको मैंने पहिले देखा है और वे आपसे छोटे हैं; अतः पहिले अर्जुनको अवसर मिलना चाहिये वे दोनोंमेंसे जो चाहें, अपने लिये चुन लें।'

अर्जुनको तो जैसे वरदान मिला । वे डर रहे थे कि कहीं पहिला अवसर दुर्योधनको मिला और उसने वासुदेवको ले लिया तो अनर्थ ही हो जायगा । उन्होंने बड़ी आतुरतासे कहा—'आप हमारी ओर रहें ।'

दुर्योधनका मुख सूख गया था द्वारकेशके निर्णयसे। वे सोचने लगे थे, जब ये शस्त्र उठायेंगे ही नहीं, तब युद्धमें इन्हें लेकर कोई करेगा क्या । उल्टे कोई-न-कोई उपद्रव खड़ा किये रहेंगे ये । कहीं ऐसा न हो कि अर्जुन सेना ले ले और ये हमारे सिर पड़ें । अर्जुनकी बात सुनते ही दुर्योधन आसनसे उत्साहके मारे उठ खड़े हुए—'हाँ, हाँ, ठीक है ! स्वीकार है हमें ! आप पाण्डवपक्षमें रहें और नारायणी सेनाको आज्ञा दें हमारे पक्षमें प्रस्थान करनेकी ।' भगवान्‌ने पहले ही वामदृष्टिसे देख लिया था उनकी ओर, इससे भगवान्‌को न पाकर वे प्रसन्न हो गये ।

दुर्योधनके सामने ही सेनाको आदेश भेज दिया गया । जब वे प्रसन्न होकर चले गये, तब हँसकर मधुसूदन अर्जुनसे बोले—'पार्थ ! यह क्या बचपन किया तुमने ! सेना क्यों नहीं ली तुमने ! मैंने तो तुमको पहिले अवसर दिया था । मैं शस्त्र उठाऊँगा नहीं, यह कह चुका हूँ । मुझे लेकर तुमने क्या लाभ सोचा । तुम चाहो तो यादव शूरोंकी एक अक्षौहिणी सेना अब भी मेरे बदले ले सकते हो ।'

अर्जुनके नेत्र भर आये । वे कहने लगे—'माधव ! आप मेरी परीक्षा क्यों लेते हैं ! मैंने किसी लाभको सोचकर आपको नहीं चुना है । पाण्डवोंकी जय हो या न हो; किंतु हम आपको छोड़कर नहीं रह सकते। आप तो हमारे प्राण हैं । आपसे रहित आपका बल हमें नहीं चाहिये । हम तो आपके हैं, आपके समीप रहना चाहते हैं ।'

'क्या कराना चाहते हो तुम मुझसे ?' हँसकर पूछा वासुदेवने और हँसकर ही अर्जुनने उत्तर दिया—'सारथि बनाऊँगा आपको । मेरे रथकी रश्मि हाथमें लीजिये और मुझे निश्चिन्त कर दीजिये ।'

जो अपने जीवन-रथकी डोर भगवान्‌के हाथमें सौंप देता है, उसकी लौकिक तथा पारमार्थिक विजय निश्चित है ।—सु० सिं०

श्रीकृष्णका निजस्वरूप-दर्शन

महाभारतका युद्ध समाप्त हो चुका । महाराज युधिष्ठिर एकराट्के रूपमें अभिषिक्त कर दिये गये। अब भगवान् श्रीकृष्ण सुभद्राको लेकर द्वारका लौट रहे थे । यात्रा करते हुए भगवान् मारवाड़ देशमें वहाँ जा पहुँचे, जहाँ अमित तेजस्वी उत्तङ्क मुनि रहते थे । भगवान्‌ने उनका दर्शन किया और पूजा भी की ।

तत्पश्चात् मुनिने भी उनका स्वागत-सत्कार किया । फिर कुशल-प्रश्न होने लगे । अन्तमें जब श्रीकृष्णने कौरवोंके संहारकी बात सुनायी, तब मुनि क्रोधमें भर गये और बोले—'मधुसूदन ! कौरव तुम्हारे सम्बन्धी और प्रेमी थे । शक्ति रहते हुए भी तुमने उनकी रक्षा नहीं की । अतः आज मैं तुम्हें शाप दूँगा । ओह ! कुरुवंशके सभी श्रेष्ठ वीर नष्ट हो गये और तुमने सामर्थ्य रहते भी उनकी उपेक्षा की !'

श्रीकृष्ण बोले—'भृगुनन्दन ! पहले मेरी बात तो सुन लीजिये । आपने जो बाल्यावस्थासे ब्रह्मचर्यका पालन कर कठोर तपस्या की है और गुरुभक्तिसे अपने गुरुको संतुष्ट किया है, मैं वह सब जानता हूँ; पर इतना याद रख लीजिये कि कोई भी पुरुष थोड़ी-सी तपस्याके बलपर मेरा तिरस्कार नहीं कर सकता अथवा मुझे शाप नहीं दे सकता । मैं आपको कुछ अध्यात्मतत्त्व सुनाता हूँ, उसे सुनकर पीछे आप विचार कीजियेगा महर्षे !

आपको मालूम होना चाहिये—ये रुद्र, वसु, सम्पूर्ण दैत्य, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, नाग और अप्सराओंका मुझसे ही प्रादुर्भाव हुआ है। असत्, सदसत् तथा उससे परे जो अव्यक्त जगत् है, वह भी मुझ सनातन देवाधिदेवसे पृथक् नहीं है। मैं धर्मकी रक्षा तथा स्थापनाके लिये महात्माओंके साथ अनेक बार अनेक योनियोंमें अवतार धारण करता हूँ। मैं ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र तथा सबकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण हूँ। जब-जब धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं विभिन्न योनियोंमें प्रविष्ट होकर धर्ममर्यादाकी स्थापना करता हूँ। जब देवयोनिमें अवतार लेता हूँ, तब मेरे सारे आचार-व्यवहार देवताओंके सदृश होते हैं। गन्धर्व-योनिमें अवतार लेनेपर गन्धर्वोंके समान तथा नाग, यक्ष, राक्षस योनियोंमें अवतार लेनेपर उन-उन योनियोंके सदृश आचार-व्यवहारका पालन करता हूँ। इस समय मैं मनुष्यरूपमें प्रकट हुआ हूँ। अतएव मैंने कौरवोंसे दीनतापूर्वक प्रार्थना की, किंतु मोहग्रस्त होनेके कारण उन्होंने मेरी बात नहीं मानी। अतः युद्धमें प्राण देकर इस समय वे स्वर्गमें पहुँचे हैं।'

इसपर उत्तङ्कने कहा—'जनार्दन! मैं जानता हूँ, आप जगदीश्वर हैं। अब मैं आपको शाप नहीं दूँगा। आप कृपा कर अपना विश्वरूप मुझे दिखलायें। तत्पश्चात् भगवान्ने उन्हें सनातन विष्णु-स्वरूपका दर्शन कराया और वर माँगनेके लिये प्रेरित किया। उत्तङ्कने उस मरुभूमिमें जल मिलनेका वर माँगा। भगवान्ने कहा—'जब भी जलकी आवश्यकता हो, तब-तब मेरा स्मरण कीजिये।' यह कहकर श्रीकृष्ण द्वारकाको चल पड़े।

एक दिन उत्तङ्क मुनिको बड़ी प्यास लगी। वे पानीके लिये चारों ओर घूमने लगे। इतनेमें ही उन्हें श्रीकृष्णकी बात स्मरण हो आयी। उन्होंने श्रीकृष्णको याद किया। तबतक देखते क्या हैं—एक नंग-धड़ंग, कुत्तोंसे घिरा भीषण आकारका चाण्डाल चला आ रहा है। उस चाण्डालके मूत्रेन्द्रियसे अजस्र [illegible] धारा गिरती दिखायी देती थी। वह मुनिके [illegible] आकर बोला—'महर्षे! आपको प्याससे व्याकुल [illegible] मुझे बड़ी दया लगती है। आप जल्दी आकर मे[illegible] जल पी लीजिये।'

यह सुनकर कुपित होकर उत्तङ्क उस चाण्[illegible] डाँटने लगे तथा वर देनेवाले श्रीकृष्णको भी भ[illegible] बकने लगे। उनके इनकार करनेपर कुत्तोंके [illegible] चाण्डाल वहीं गायब हो गया। यह देखकर म[illegible] उत्तङ्क समझ गये कि श्रीकृष्णकी ही यह सब मा[illegible] तबतक भगवान् श्रीकृष्ण शङ्ख, चक्र, गदा धारण [illegible] वहाँ प्रकट हो गये। उनको देखते ही उत्त[illegible] उठे—'केशव! प्यासे ब्राह्मणको चाण्डालका मू[illegible] आपको उचित नहीं।'

श्रीकृष्णने बड़े मधुर शब्दोंमें कहा—'मु[illegible] प्रत्यक्ष रूपसे अमृत नहीं पिलाया जाता। इस[illegible] चाण्डालवेषधारी इन्द्रको गुप्तरूपसे अमृत पिलाने [illegible] था, किंतु आप उन्हें पहचान न सके। पह[illegible] देवराज आपको अमृत देनेको तैयार नहीं थे। [illegible] बार-बार अनुरोध करनेपर वे इस शर्तपर [illegible] अमृत पिलाने तथा अमर बनानेपर तैयार हो [illegible] यदि ऋषि चाण्डाल-वेषमें तथाकथित ढंगसे अमृत [illegible] तब तो मैं उन्हें दे दूँगा और यदि वे न लेंगे तो [illegible] वञ्चित रह जायँगे। पर खेद है आपने अमृत [illegible] ग्रहण किया। आपने उनको लौटाकर बड़ा बुरा [illegible] अस्तु! अब मैं आपको पुनः वर देता हूँ कि [illegible] समय आप पानी पीनेकी इच्छा करेंगे, उसी [illegible] बादल मरुभूमिमें पानी बरसाकर आपको स्वादि[illegible] देंगे। उन मेघोंका नाम उत्तङ्क-मेघ होगा।'

भगवान्के यों कहनेपर उत्तङ्क तबसे बड़ी प्रस[illegible] वहीं रहने लगे। अब भी उत्तङ्क-मेघ मार[illegible] मरुभूमिमें पानी बरसाते रहते हैं। —जा० श०

(महाभारत, आश्वमेधिक० अध्याय ५३)

हनुमान्‌जीके अत्यल्प गर्वका मूलसे संहार

भगवान् श्रीरामचन्द्र जब समुद्रपर सेतु बाँध रहे थे, तब विघ्ननिवारणार्थ पहले उन्होंने गणेशजीकी स्थापना कर नवग्रहोंकी नौ प्रतिमाएँ नलके हाथों स्थापित करायीं। तत्पश्चात् उनका विचार सागर-संयोगपर एक अपने नामसे शिवलिङ्ग स्थापित करानेका हुआ। इसके लिये हनुमान्‌जीको बुलाकर कहा—'मुहूर्तके भीतर काशी जाकर भगवान् शङ्करसे लिङ्ग माँगकर लाओ। पर देखना, मुहूर्त न टलने पाये।' हनुमान्‌जी क्षणभरमें वाराणसी पहुँच गये। भगवान् शङ्करने कहा—'मैं पहलेसे ही दक्षिण जानेके विचारमें था; क्योंकि अगस्त्यजी विन्ध्याचलको नीचा करनेके लिये यहाँसे चले तो गये, पर उन्हें मेरे वियोगका बड़ा कष्ट है। वे अभी भी मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। एक तो श्रीरामके तथा दूसरा अपने नामपर स्थापित करनेके लिये इन दो लिङ्गोंको ले चलो।' इसपर हनुमान्‌जीको अपनी महत्ता तथा तीव्रगामिताका थोड़ा-सा गर्वाभास हो आया।

इधर कृपासिन्धु भगवान्‌को अपने भक्तकी इस रोगोत्पत्तिकी बात मालूम हो गयी। उन्होंने सुग्रीवादिको बुलाया और कहा—'अब मुहूर्त बीतना ही चाहता है, अतएव मैं सैकत (वालुकामय) लिङ्गकी ही स्थापना किये देता हूँ।' यों कहकर मुनियोंकी सम्मतिसे उन्हींके बीच बैठकर विधि-विधानसे उस सैकत लिङ्गकी स्थापना कर दी। दक्षिणा-दानके लिये प्रभुने कौस्तुभमणिको स्मरण किया। स्मरण करते ही वह मणि आकाशमार्गसे सूर्यवत् वहाँ पहुँची। प्रभुने उसे गलेमें बाँध लिया। उस मणिके प्रभावसे वहाँ धन, वस्त्र, गौएँ, अश्व, आभरण और पायसादि द्रव्य अन्नोंका ढेर लग गया। भगवान्‌से अभिपूजित होकर ऋषिगण अपने घर चले। रास्तेमें उन्हें हनुमान्‌जी मिले। उन्होंने मुनियोंसे पूछा, 'महाराज! आपलोगोंकी किसने पूजा की है?' उन्होंने कहा—'श्रीराघवेन्द्रने शिवलिङ्गकी प्रतिष्ठा की है, उन्होंने ही हमारी दक्षिणा-दान-मानादिसे पूजा की है।' अब हनुमान्‌जीको भगवान्‌के मायावश क्रोध आया। वे सोचने लगे—'देखो! श्रीरामने व्यर्थका श्रम कराकर मेरे साथ यह कैसा व्यवहार किया है!' दूसरे ही क्षण वे प्रभुके पास पहुँच गये और कहने लगे—'क्या लङ्का जाकर सीताका पता लगा आनेका यही इनाम है? यों काशी भेजकर लिङ्ग मँगाकर मेरा उपहास किया जा रहा है? यदि आपके मनमें यही बात थी तो व्यर्थका मेरे द्वारा श्रम क्यों कराया?'

दयाधाम भगवान्‌ने बड़ी शान्तिसे कहा—'पवन-नन्दन! तुम बिल्कुल ठीक ही तो कहते हो। क्या हुआ? तुम मेरे द्वारा स्थापित इस वालुकामय लिङ्गको उखाड़ डालो। मैं अभी तुम्हारे लाये लिङ्गोंको स्थापित कर दूँ।'

'बहुत ठीक' कहकर अपनी पूँछमें लपेटकर हनुमान्‌जीने उस लिङ्गको बड़े जोरोंसे खींचा। पर आश्चर्य—लिङ्गका उखड़ना या हिलना-डुलना तो दूरकी बात रही, वह टस-से-मस तक न हुआ; उल्टे हनुमान्‌जीकी पूँछ ही टूट गयी। वीरशिरोमणि हनुमान्‌जी मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। वानर सब जोरोंसे हँस पड़े। स्वस्थ होनेपर हनुमान्‌जी सर्वथा गर्वविहीन हो गये। उन्होंने प्रभुके चरणोंमें नमस्कार किया और क्षमा माँगी।

प्रभुको क्या था? क्षमा तो पहलेसे ही दी हुई थी। भक्तका भयंकर रोग उत्पन्न होते-न-होते दूर कर दिया। तत्पश्चात् विधिपूर्वक अपने स्थापित लिङ्गके उत्तरमें विश्वनाथ-लिङ्गके नामसे उन्होंने हनुमान्‌जीद्वारा लाये गये लिङ्गोंकी स्थापना करायी और वर दिया—'कोई यदि पहले हनुमत्प्रतिष्ठित विश्वनाथ-लिङ्गकी अर्चा न कर मेरे द्वारा स्थापित रामेश्वर-लिङ्गकी पूजा करेगा, तो उसकी

पूजा व्यर्थ होगी।' फिर प्रभुने हनुमान्‌जीसे कहा---'तुम भी यहाँ छिन्न-पुच्छ, गुप्त-पाद-रूपसे गतगर्व होकर निवास करो।' इसपर हनुमान्‌जीने अपनी भी एक वैसी ही छिन्न-पुच्छ, गुप्तपाद, गतगर्व-मुद्रामयी प्रतिमा स्थापित कर दी। वह आज भी वहाँ वर्तमान है।---जा॰

(आनन्दरामायण, सारकाण्ड, सर्ग

दीर्घायुष्य एवं मोक्षके हेतुभूत भगवान् शङ्करकी आराधना

प्राचीन कालमें एक राजा थे, जिनका नाम था इन्द्रद्युम्न। वे बड़े दानी, धर्मज्ञ और सामर्थ्यशाली थे। धनार्थियोंको वे सहस्र स्वर्णमुद्राओंसे कम दान नहीं देते थे। उनके राज्यमें सभी एकादशीके दिन उपवास करते थे। गङ्गाकी बालुका, वर्षाकी धारा और आकाशके तारे कदाचित् गिने जा सकते हैं; पर इन्द्रद्युम्नके पुण्योंकी गणना नहीं हो सकती। इन पुण्योंके प्रतापसे वे सशरीर ब्रह्मलोक चले गये। सौ कल्प बीत जानेपर ब्रह्माजीने उनसे कहा---'राजन्! स्वर्गसाधनमें केवल पुण्य ही कारण नहीं है, अपितु त्रैलोक्यविस्तृत निष्कलङ्क यश भी अपेक्षित होता है। इधर चिरकालसे तुम्हारा यश क्षीण हो रहा है, उसे पुनः उज्ज्वल करनेके लिये तुम वसुधातलपर जाओ।' ब्रह्माजीके ये शब्द समाप्त भी न हो पाये थे कि राजा इन्द्रद्युम्नने अपनेको पृथ्वीपर पाया। वे अपने निवासस्थल काम्पिल्य नगरमें गये और वहाँके निवासियोंसे अपने सम्बन्धमें पूछ-ताछ करने लगे। उन्होंने कहा---'हमलोग तो उनके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानते, आप किसी वृद्ध चिरायुसे पूछ सकते हैं। सुनते हैं नैमिषारण्यमें सप्तकल्पान्तजीवी मार्कण्डेयमुनि रहते हैं, कृपया आप उन्हींसे इस प्राचीन बातका पता लगाइये।'

जब राजाने मार्कण्डेयजीसे प्रणाम करके पूछा कि 'मुने! क्या आप इन्द्रद्युम्न राजाको जानते हैं?' तब उन्होंने कहा, 'नहीं, मैं तो नहीं जानता, पर मेरा मित्र नाड़ीजङ्घबक शायद इसे जानता हो; इसलिये चलो, उससे पूछा जाय।' नाड़ीजङ्घने अपनी बड़ी विस्तृत कथा सुनायी और साथ ही अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए अपनेसे भी अति दीर्घायु प्राकारकर्म उलूकके पास चलनेकी सम्मति दी। पर इसी प्रकार सभी अपनेको असमर्थ बतलाते हुए चिरायु गृध्रराज और मानसरोवरमें रहनेवाले कच्छप मन्थरके पास पहुँचे। मन्थरने इन्द्रद्युम्नको देखते ही पहचान लिया और कहा कि 'आपलोगोंमें जो पाँचवाँ राजा इन्द्रद्युम्न है, इसे देखकर मुझे बड़ा भय होता है; क्योंकि इसीके यज्ञमें मेरी पीठ पृथ्वीकी उष्णतासे जल गयी थी।' अब राजाकी कीर्ति तो प्रतिष्ठित हो गयी, पर उसने क्षयिष्णु स्वर्गमें जाना ठीक न समझा और मोक्ष-साधनकी जिज्ञासा की। एतदर्थ मन्थरने लोमशजीके पास चलना श्रेयस्कर बतलाया। लोमशजीके पास पहुँचकर यथाविधि प्रणामादि करनेके पश्चात् मन्थरने निवेदन किया कि इन्द्रद्युम्न कुछ प्रश्न करना चाहते हैं।

महर्षि लोमशकी आज्ञा लेनेके पश्चात् इन्द्रद्युम्नने कहा---'महाराज! मेरा प्रथम प्रश्न तो यह है कि आप कभी कुटिया न बनाकर शीत, आतप तथा वर्षासे बचनेके लिये केवल एक मुट्ठी तृण ही क्यों लिये रहते हैं?' मुनिने कहा, 'राजन्! एक दिन मरना अवश्य है। फिर शरीरका निश्चित नाश जानते हुए भी हम घर किसके लिये बनायें? यौवन, धन तथा जीवन---ये सभी चले जानेवाले हैं। ऐसी दशामें 'दान' ही सर्वोत्तम भवन है।'

इन्द्रद्युम्नने पूछा, 'मुने! यह आयु आपको किस दानके परिणाममें मिली है अथवा तपस्याके प्रभावसे, मैं यह जानना चाहता हूँ।' लोमशजीने कहा, 'राजन्! मैं पूर्वकालमें एक दरिद्र शूद्र था। एक दिन दोपहरके समय जलके भीतर मैंने एक बहुत बड़ा शिव

देखा। भूखसे मेरे प्राण सूखे जा रहे थे। उस जलाशयमें स्नान करके मैंने कमलके सुन्दर फूलोंसे उस शिवलिङ्गका पूजन किया और पुनः मैं आगे चल दिया। क्षुधातुर होनेके कारण मार्गमें ही मेरी मृत्यु हो गयी। दूसरे जन्ममें मैं ब्राह्मणके घरमें उत्पन्न हुआ। शिव-पूजाके फलस्वरूप मुझे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण रहने लगा। मैंने जान-बूझकर मूकता धारण कर ली। पितादिकी मृत्यु हो जानेपर सम्बन्धियोंने मुझे निरा गूँगा जानकर सर्वथा त्याग दिया। अब मैं रात-दिन भगवान् शङ्करकी आराधना करने लगा। इस प्रकार सौ वर्ष बीत गये। प्रभु चन्द्रशेखरने मुझे प्रत्यक्ष दर्शन दिया और मुझे इतनी दीर्घ आयु दी।'

यह जानकर इन्द्रद्युम्न, बक, कच्छप, गीध और उलूकने भी लोमशजीसे शिवदीक्षा ली और तप करके मोक्ष प्राप्त किया। —जा० श०

(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, कुमारिकाखण्ड २६।४—१०)

एकमात्र कर्तव्य क्या है?

पुण्डरीक नामके एक बड़े भगवद्भक्त गृहस्थ ब्राह्मण थे। साथ ही वे बड़े धर्मात्मा, सदाचारी, तपस्वी तथा कर्मकाण्डनिपुण थे। वे माता-पिताके सेवक, विषय-भोगोंसे सर्वथा निःस्पृह और बड़े कृपालु थे। एक बार अधिक विरक्तिके कारण वे पवित्र रम्य वन्य तीर्थोंकी यात्राकी अभिलाषासे निकल पड़े। वे केवल कन्द-मूल-शाकादि खाकर गङ्गा, यमुना, गोमती, गण्डक, सरयू, शोण, सरस्वती, प्रयाग, नर्मदा, गया तथा विन्ध्य एवं हिमाचलके पवित्र तीर्थोंमें घूमते हुए शालग्राम क्षेत्र (आजके हरिहर-क्षेत्र) पहुँचे और वहाँ पहुँचकर प्रभुकी आराधनामें तल्लीन हो गये। वे विरक्त तो थे ही, अतएव इस तुच्छ क्षणभंगुर यौवन, रूप, आयुष्य आदिसे सर्वथा उपरत होकर सहज ही भगवद्ध्यानमें लीन हो गये और संसारको सर्वथा भूल गये।

देवर्षि नारदजीको जब यह समाचार ज्ञात हुआ, तब उन्हें देखनेकी इच्छासे वे भी वहाँ पधारे। पुण्डरीकने बिना पहचाने ही उनकी षोडशोपचारसे पूजा की और फिर उनसे परिचय पूछा। जब नारदजीने उन्हें अपना परिचय तथा वहाँ आनेका कारण बतलाया, तब पुण्डरीक हर्षसे गद्गद हो गये। वे बोले—'महामुने! आज मैं धन्य हो गया। मेरा जन्म सफल हो गया तथा मेरे पितर कृतार्थ हो गये। पर देवर्षे! मैं एक संदेहमें पड़ा हूँ, उसे आप ही निवृत्त कर सकेंगे। कुछ लोग सत्यकी प्रशंसा करते हैं तो कुछ सदाचारकी। इसी प्रकार कोई सांख्यकी, कोई योगकी तो कोई ज्ञानकी महिमा गाते हैं। कोई क्षमा, दया, ऋजुता आदि गुणोंकी प्रशंसा करता दीख पड़ता है। यों ही कोई दान, कोई वैराग्य, कोई यज्ञ, कोई ध्यान और कोई अन्यान्य कर्मकाण्डके अङ्गोंकी प्रशंसा करता है। ऐसी दशामें मेरा चित्त इस कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें अत्यन्त विमोहको प्राप्त हो रहा है कि वस्तुतः अनुष्ठेय क्या है।'

इसपर नारदजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'पुण्डरीक! वस्तुतः शास्त्रों तथा कर्म-धर्मके बाहुल्यके कारण ही विश्वका वैचित्र्य और वैलक्षण्य है। देश, काल, रुचि, वर्ण, आश्रम तथा प्राणिविशेषके भेदसे ऋषियोंने विभिन्न धर्मोंका विधान किया है। साधारण मनुष्यकी दृष्टि अनागत, अतीत, विप्रकृष्ट, व्यवहित तथा अलक्षित वस्तुओंतक नहीं पहुँचती। अतः मोह दुर्वार है। इस प्रकारका संशय, जैसा तुम कह रहे हो, एक बार मुझे भी हुआ था। जब मैंने उसे ब्रह्माजीसे कहा, तब उन्होंने उसका बड़ा सुन्दर निर्णय दिया था। मैं उसे तुमको ज्यों-का-त्यों सुना देता हूँ। ब्रह्माजीने

मुझसे कहा था—'नारद ! भगवान् नारायण ही परम तत्त्व हैं। वे ही परम ज्ञान, परम ब्रह्म, परम ज्योति, परम आत्मा अथच परमसे भी परम परात्पर हैं। उनसे परे कुछ भी नहीं है।

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः।
नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः॥
परादपि परश्चासौ तस्मान्नास्ति परं मुने।
(नृसिंहपुराण ६४। ६३-६४)

'इस संसारमें जो कुछ भी देखा-सुना जाता है, उसके बाहर-भीतर, सर्वत्र नारायण ही व्याप्त हैं। जो नित्य-निरन्तर, सदा-सर्वदा भगवान्‌का अनन्य भावसे ध्यान करता है, उसे यज्ञ, तप अथवा तीर्थयात्राकी क्या आवश्यकता है। बस, नारायण ही सर्वोत्तम ज्ञान, योग, सांख्य तथा धर्म हैं। जिस प्रकार कई बड़ी-बड़ी सड़कें किसी एक विशाल नगरमें प्रविष्ट होती हैं, अथवा कई बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्रमें प्रवेश कर जाती हैं, उसी प्रकार सभी मार्गोंका पर्यवसान उन परमेश्वरमें होता है। मुनियोंने यथारुचि, यथामति उनके भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंकी व्याख्या की है। कुछ शास्त्र तथा ऋषि-गण उन्हें विज्ञानमात्र बतलाते हैं, कुछ परब्रह्म परमात्मा कहते हैं, कोई उन्हें महाबली अनन्त कालके नामसे पुकारता है, कोई सनातन जीव कहता है, कोई क्षेत्रज्ञ कहता है तो कोई षड्‌विंशक तत्त्वरूप बतलाता है, कोई अङ्गुष्ठमात्र कहता है तो कोई पद्मरजकी उपमा देता है। नारद ! यदि शास्त्र एक ही होता तो ज्ञान भी निःसंशय तथा अनाविद्ध होता। किंतु शास्त्र बहुत-से हैं; अतएव विशुद्ध, संशयरहित ज्ञान तो सर्वथा दुर्घट ही है। फिर भी जिन मेधावी महानुभावोंने दीर्घ अध्यवसाय-पूर्वक सभी शास्त्रोंका पठन, मनन तथा समन्वयात्मक ढंगसे विचार किया है, वे सदा इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि सदा सर्वत्र, नित्य-निरन्तर, सर्वात्मना एकमात्र नारायणका ही ध्यान करना सर्वोपरि परमोत्तम कर्तव्य है।

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥*
(६४।७

'वेद, रामायण, महाभारत तथा सभी पुराणोंके आ मध्य एवं अन्तमें एकमात्र उन्हीं प्रभुका यशोगान है

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

'अतएव शीघ्र कल्याणकी इच्छा रखनेवालेको व्यापे जगज्जालसे सर्वथा बचकर सर्वदा निरालस्य है प्रयत्नपूर्वक अनन्यभावसे उन परमात्मा नारायणका ही करना चाहिये।

'पुण्डरीक ! इस प्रकार ब्रह्माजीने जब मेरा दूर कर दिया, तब मैं सर्वथा नारायणपरायण हो ग वास्तवमें भगवान् वासुदेवका माहात्म्य अनन्त है। नृशंस, दुरात्मा, पापी ही क्यों न हो, भगवान् नारा का आश्रय लेनेसे वह भी मुक्त हो जाता है। हजारों जन्मोंके साधनसे भी 'मैं देवाधिदेव वासुदे दास हूँ' ऐसी निश्चित बुद्धि उत्पन्न हो गयी तो उ काम बन गया और उसे विष्णुसालोक्यकी प्राप्ति जाती है—

'जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्याद् बुद्धिरीदृशी।
दासोऽहं वासुदेवस्य देवदेवस्य शार्ङ्गिणः।
प्रयाति विष्णुसालोक्यं पुरुषो नात्र संशयः।
(९४-९

'भगवान् विष्णुकी आराधनासे अम्बरीष, प्रह्ला राजर्षि भरत, ध्रुव, मित्रासन तथा अन्य अगणित ब्रह्म ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी तथा वैष्णव

* यह श्लोक नृसिंहपुराण १८। ३४ त ६४। ७८; लिङ्गपुराण उत्तरार्ध अध्याय ७ श्लोक ११ गरुड़पुराण, पूर्वखण्ड, अध्याय २२२, श्लोक १ (जीवानन्द विद्यासागर संस्करण; वेङ्कटेश्वर प्रेससे प्रकाशित पुस्तकमें य २६० वाँ अध्याय है।) तथा पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्या ८१ श्लोक २६ आदि स्थानोंपर कई जगह उपलब्ध होता है

परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। अतः तुम भी निःसंशय होकर उनकी ही आराधना करो।'

इतना कहकर देवर्षि अन्तर्धान हो गये और भक्त पुण्डरीक हृत्पुण्डरीकके मध्यमें गोविन्दको प्रतिष्ठितकर भगवद्ध्यानमें परायण हो गये। उनके सारे कल्मष समाप्त हो गये और उन्हें तत्काल ही वैष्णवी सिद्धि प्राप्त हो गयी। उनके सामने सिंह-व्याघ्रादि हिंस्र जन्तुओंकी भी क्रूरता नष्ट हो गयी। पुण्डरीककी दृढ़ भक्ति-निष्ठाको देखकर पुण्डरीकनेत्र श्रीनिवास भगवान् शीघ्र ही द्रवीभूत हुए और उनके सामने प्रकट हो गये। उन्होंने पुण्डरीकसे वर माँगनेका दृढ़ आग्रह किया।

पुण्डरीकने प्रभुसे गद्गद स्वरसे यही माँगा कि 'नाथ! जिससे मेरा कल्याण हो, आप मुझे वही दें। मुझ बुद्धिहीनमें इतनी योग्यता कहाँ जो आत्महितका निर्णय कर सकूँ।'

भगवान् उनके इस उत्तरसे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने पुण्डरीकको अपना पार्षद बना लिया। —जा० श०

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय ८१; नृसिंहपुराण, अध्याय ६४)

भगवान् सरल भाव चाहते हैं

वनमें एक मन्दिर था श्रीशंकरजीका। भीलकुमार कण्णप्प आखेट करने निकला और घूमता-वामता उस मन्दिरतक पहुँच गया। मन्दिरमें भगवान् शिवकी पूरी प्रतिमा थी। उस भावुक सरलहृदय भीलकुमारके मनमें यह भाव आया—'भगवान् इस हिंसक पशुओंसे भरे वनमें अकेले हैं। कहीं कोई पशु रात्रिमें आकर इन्हें कष्ट न दे।' उस समय संध्या हो रही थी। भीलकुमारने धनुषपर बाण चढ़ाया और मन्दिरके द्वारपर पहरा देने बैठ गया। वह पूरी रात वहाँ बैठा रहा।

सबेरा हुआ। कण्णप्पके मनमें अब भगवान्की पूजा करनेका विचार हुआ; किंतु वह क्या जाने पूजा करना। वह वनमें गया, पशु मारे और अग्निमें उनका मांस भून लिया। शहदकी मक्खियोंका छत्ता तोड़कर उसने शहद निकाला। एक दोनेमें शहद और मांस उसने लिया, वनकी लताओंसे कुछ पुष्प तोड़े और अपने बालोंमें उलझा लिये। नदीका जल मुखमें भर लिया और मन्दिर पहुँचा। मूर्तिपर कुछ फूल-पत्ते पड़े थे। उन्हें कण्णप्पने पैरसे हटा दिया; क्योंकि उसके एक हाथमें धनुष था और दूसरेमें मांसका दोना। मुखसे ही मूर्तिपर उसने जल गिराया। अब धनुष एक ओर रखकर बालोंमें लगाये फूल निकालकर उसने मूर्तिपर चढ़ाये और मांसका दोना नैवेद्यके रूपमें मूर्तिके सामने रख दिया उसने। स्वयं धनुषपर बाण चढ़ाकर चौकीदारी करने मन्दिरके द्वारके बाहर बैठ गया।

कण्णप्पको भूल गया घर, भूल गया परिवार, यहाँतक कि भोजन तथा निद्राकी सुधि भी भूल गयी। वह अपने भगवान्की पूजा और उनकी रखवालीमें जैसे संसार और शरीर सब भूल गया।

उस मन्दिरमें प्रातःकाल एक ब्राह्मण दूरके गाँवसे प्रतिदिन आते थे और पूजा करके चले जाते थे। उनके आनेका समय वही था जब कण्णप्प वनमें आखेट करने जाता था। मन्दिरमें मांसके टुकड़े पड़े देखकर ब्राह्मणको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने नदीसे जल लाकर पूरा मन्दिर धोया। स्वयं फिरसे स्नान किया और तब पूजा की। लेकिन यह कोई एक दिनकी बात तो थी नहीं। प्रतिदिन जब यही दशा मन्दिरकी मिलने लगी, तब एक दिन ब्राह्मणने निश्चय किया, 'आज छिपकर देखूँगा कि कौन प्रतिदिन मन्दिरको भ्रष्ट कर जाता है।'

ब्राह्मण छिपकर देखता रहा; किंतु जब उसने धनुष लिये भयंकर भीलको देखा, तब कुछ बोलनेका साहस उसे नहीं हुआ। इधर कण्णप्पने मन्दिरमें प्रवेश करते

ही देखा कि भगवान्की मूर्तिके एक नेत्रसे रक्त बह रहा है। उसने हाथका दोना नीचे रख दिया और दुःखसे रो उठा—'हाय! किस दुष्टने मेरे भगवान्के नेत्रमें चोट पहुँचायी।'

पहले तो कण्णप्प धनुषपर बाण चढ़ाकर मन्दिरसे बाहर दौड़ गया। वह मूर्तिको चोट पहुँचानेवालेको मार देना चाहता था; किंतु बहुत शीघ्र धनुष फेंककर उसने घास-पत्ते एकत्र करने प्रारम्भ कर दिये। एक पूरा गट्ठर लिये वह मन्दिरमें लौटा और एक-एक पत्ते एवं जड़को मसल-मसलकर मूर्तिके नेत्रमें लगाने लगा। कण्णप्पका उद्योग सफल नहीं हुआ। मूर्तिके नेत्रोंसे रक्त जाना किसी प्रकार भी रुकता नहीं था। इससे वह भील-कुमार अत्यन्त व्याकुल हो गया। इसी समय उसे स्मरण आया कि उससे कभी किसी भीलने कहा था—'शरीरके घावपर यदि दूसरेके शरीरके उसी अंशका मांस लगा दिया जाय तो शीघ्र भर जाता है।' कण्णप्प प्रसन्न हो गया। उसने एक बाण निकाला अपने तरकससे और उसकी नोक अपने नेत्रमें घुसेड़ ली। अपने हाथों अपना नेत्र निकालकर उसने मूर्तिके नेत्रपर रखकर दबाया। स्वयं उसके नेत्रके गड्ढेसे रक्तकी धारा ब[...] थी; किंतु उसे पीड़ाका पता नहीं था। वह [...] हो रहा था कि मूर्तिके नेत्रसे रक्त निकलना [...] हो गया है।

इसी समय मूर्तिके दूसरे नेत्रसे रक्त निकलने [...] कण्णप्पको तो अब ओषधि मिल गयी थी। उसने उस नेत्रपर पैरका अँगूठा रक्खा, जिससे दूसरा निकाल लेनेपर जब वह अंधा हो जाय तो इस नेत्रको ढूँढ़ना न पड़े। बाणकी नोक उसने अप[ने] नेत्रमें चुभायी। सहसा मन्दिर दिव्य प्रकाशसे प्र[...] हो उठा। उसी मूर्तिसे भगवान् शंकर प्रकट हो[...] उन्होंने कण्णप्पको हृदयसे लगा लिया।

'ब्राह्मण! मुझे पूजा-पद्धति प्रसन्न नहीं क[...] मुझे तो सरल श्रद्धापूर्ण भाव ही प्रिय है।' [...] शिवने छिपे हुए ब्राह्मणको सम्बोधित किया। क[...] नेत्र स्वस्थ हो चुके थे। वह तो आशुतोषका [...] बन गया था और उनके साथ ही उनके दिव्य धाम[...] गया। ब्राह्मणको भी उस भीलकुमारके [...] भगवान्का दर्शन प्राप्त हुआ। —सु० सिं०

भगवान्की प्राप्तिका उपाय

'मेरा धन्य भाग्य है, भगवान् विष्णुने मुझे राजा बनाकर मेरे हृदयमें अपनी भक्ति भर दी है!' अनन्त-शयनतीर्थमें शेषशायी विष्णुके श्रीविग्रहको स्वर्ण और मणियोंकी मालाओंसे समलंकृतकर महाराजा चोल मदोन्मत्त हो उठे, मानो वे अन्य भक्तोंसे कहना चाहते थे कि 'भगवान्की पूजामें मेरी स्पर्धा करना ठीक नहीं है।' वे भगवान् विष्णुका चिन्तन करने लगे।'

'यह आप क्या कर रहे हैं? देखते नहीं कि भगवान्का विग्रह रत्नोंकी मालाओंसे कितना रमणीय हो चला है नयनोंके लिये? बार-बार तुलसीदलसे आप स्वर्ण और मणियोंको ढककर भगवान्का रूप अ[...] कर रहे हैं!' महाराजाने दीन ब्राह्मण विष्णुदासके[...] पर आघात किया धनके मदमें।

'भगवान्की पूजाके लिये हृदयके भाव-[...] आवश्यकता है, महाराज! सोने और हीरेसे [...] महत्त्व नहीं आँका जा सकता। भगवान्की [...] भक्तिसे होती है।' विष्णुदासने चोलराजसे [...] किया। भक्त ब्राह्मण विष्णुसूक्तका पाठ करने लगे।

'देखना है, पहले मुझे भगवान्का दर्शन हो[...] या आपकी भक्ति सफल होती है।' राजाने क[...]

निवासी अपनी एक दरिद्र प्रजाको चुनौती दी। वे राजधानीमें लौट आये।

× × × ×

महाराजाने मुद्गल ऋषिको आमन्त्रितकर भगवान्‌के दर्शनके लिये विष्णुयज्ञका आयोजन किया। भगवती ताम्रपर्णी नदीके कलरवसे निनादित उनकी राजधानी काञ्चीमें स्वर्णयूपकी आभा ऐसी लगती थी मानो अपने दिव्य वृक्षोंसमेत चैत्ररथ वनकी साकार श्री ही धरतीपर उतर आयी हो। वेदमन्त्रोंके मधुर गानसे यज्ञ आरम्भ हो गया। काञ्ची नगरी शास्त्रज्ञ पण्डितों और मन्त्रदर्शी ऋषियोंसे परिपूर्ण हो उठी। दान-दक्षिणाकी ही चर्चा नगरीमें नित्य होने लगी।

इधर दीन ब्राह्मण भी क्षेत्र-संन्यास ग्रहणकर अनन्तशयनतीर्थमें ही भगवान् विष्णुकी आराधना और उपासना तथा व्रत आदिका अनुष्ठान करने लगे। उनका प्रण था कि जबतक भगवान्‌का दर्शन नहीं मिल जायगा तबतक काञ्ची नहीं जाऊँगा। वे दिनमें भोजन बनाकर भगवान्‌को भोग लगानेपर ही प्रसाद पाते थे।

एक समय सात दिनतक लगातार भोजन चोरी गया। दुबारा भोजन बनानेमें समय न लगाकर वे निराहार रहकर भगवान्‌का भजन करने लगे। सातवें दिन वे छिपकर चोरकी राह देखने लगे। एक दुबला-पतला चाण्डाल भोजन लेकर भागने लगा। वे करुणासे द्रवीभूत होकर उसके पीछे घी लेकर दौड़ पड़े। चाण्डाल मूर्छित होकर गिर पड़ा तो विष्णुदास अपने वस्त्रसे उसपर समीरका संचार करने लगे।

'परीक्षा हो गयी, भक्तराज!' चाण्डालके स्थानपर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारणकर साक्षात् विष्णु प्रकट हो गये। अलसीके फूलके समान श्याम शरीरकी शोभा निराली थी—हृदयपर श्रीवत्स-चिह्न था। वक्षपर कौस्तुभमणि थी। मुकुट और पीताम्बरकी झाँकी अनुपम थी। श्रीविष्णुका दर्शन करते ही विष्णुदासके हृदयमें सात्त्विक प्रेमका उदय हो गया। वे अचेत हो गये। वे उस मूर्छित अवस्थामें नारायणको प्रणाम तक न कर सके। भगवान्‌ने ब्राह्मणको अपना रूप दिया। विष्णुदास विमानपर बैठकर वैकुण्ठ गये। देवोंने पुष्पवृष्टि की, अप्सरा तथा गन्धर्वोंने नृत्य-गान किया।

× × × ×

'यज्ञ समाप्त कर दीजिये, महर्षे!' चोलराजने मुद्गलका ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने विष्णुदासको विमानपर जाते देखा। यह सोचकर कि भक्ति ही श्रेष्ठ है, महाराज धधकते यज्ञकुण्डमें कूद पड़े। विष्णुभगवान् प्रकट हो गये। उन्हें दर्शन देकर वैकुण्ठ ले गये।

विष्णुदास पुण्यशील और चोलराज सुशील पार्षदके नामसे प्रसिद्ध हैं।—रा० श्री० (पद्मपुराण, उत्तर०)

महापुरुषोंके अपमानसे पतन

वृत्रासुरका वध करनेपर देवराज इन्द्रको ब्रह्महत्या लगी। इस पापके भयसे वे जाकर एक सरोवरमें छिप गये। देवताओंको जब ढूँढ़नेपर भी देवराजका पता नहीं लगा, तब वे बड़े चिन्तित हुए। स्वर्गका राज्यसिंहासन सूना रहे तो त्रिलोकीमें सुव्यवस्था कैसे रह सकती है। अन्तमें देवताओंने देवगुरु बृहस्पतिकी सलाहसे राजा नहुषको इन्द्रके सिंहासनपर तबतकके लिये बैठाया, जबतक इन्द्रका पता न लग जाय।

इन्द्रत्व पाकर राजा नहुष प्रभुताके मदसे मदान्ध हो गये। उन्होंने इन्द्रपत्नी शचीदेवीको अपनी पत्नी बनाना चाहा। शचीके पास दूतके द्वारा उन्होंने संदेश भेजा—'मैं जब इन्द्र हो चुका हूँ, इन्द्राणीको मुझे स्वीकार करना ही चाहिये।'

पतिव्रता शचीदेवी बड़े संकटमें पड़ीं। अपने पति-

की अनुपस्थितिमें पतिके राज्यमें अव्यवस्था हो, यह भी उन्हें स्वीकार नहीं था और अपना पातिव्रत्य भी उन्हें परम प्रिय था। वे भी देवगुरुकी शरणमें पहुँचीं। बृहस्पतिजीने उन्हें आश्वासन देकर युक्ति बतला दी। देवगुरुके आदेशानुसार शचीने उस दूतके द्वारा नहुषको कहला दिया—'यदि राजेन्द्र नहुष ऐसी पालकीपर बैठकर मेरे पास आवें जिसे सप्तर्षि ढो रहे हों तो मैं उनकी सेवामें उपस्थित हो सकती हूँ।'

काम एवं अधिकारके मदसे मतवाले नहुषने महर्षियोंको पालकी ले चलनेकी आज्ञा दे दी। राग-द्वेष तथा मानापमानसे रहित सप्तर्षिगणोंने नहुषकी पालकी उठा ली। लेकिन वे ऋषिगण इस भयसे कि पैरोंके नीचे कोई चींटी या अन्य क्षुद्र जीव दब न जायँ, भूमिको देख-देखकर धीरे-धीरे पैर रखते चलते थे। उधर कामातुर नहुषको इन्द्राणीके पास शीघ्र पहुँचनेकी आतुरता थी। वे बार-बार ऋषियोंको शीघ्र चलनेके [...] रहे थे। लेकिन ऋषि तो अपने इच्छानुसा[र] चलते रहे।

'सर्प! सर्प!' (शीघ्र चलो! शीघ्र च[लो]) कहकर नहुषने झुँझलाकर पैर पटका। [...] उनका पैर पालकी ढोते महर्षि भृगुको लग [...] महर्षिके नेत्र लाल हो उठे। पालकी उन्होंने [...] और हाथमें जल लेकर शाप देते हुए बोले—'[...] अपनेसे बड़ोंके द्वारा पालकी ढुवाता है और [...] होकर पूजनीय लोगोंको पैरसे ठुकराकर 'सर्प' कहता है, अतः सर्प होकर यहाँसे गिर!'

महर्षि भृगुके शाप देते ही नहुषका तेज न[...] गया। भयके मारे वे काँपने लगे। शीघ्र ही [...] भारी अजगर होकर स्वर्गसे पृथ्वीपर गिर पड़े।—[...]

(महाभारत, उद्योग० १०-[...]

गुरुसेवासे विद्या-प्राप्ति

वर्षाके दिन थे, वृष्टि प्रारम्भ हो गयी थी। आयोद-धौम्य ऋषिने अपने शिष्य आरुणिको आदेश दिया—'जाकर धानके खेतकी मेड़ बाँध दो। पानी खेतसे बाहर न जाने पाये।'

आरुणि खेतपर पहुँचे। मेड़ टूट गयी थी और बड़े वेगसे खेतका जल बाहर जा रहा था। बहुत प्रयत्न किया आरुणिने; किंतु वे मेड़ बाँधनेमें सफल न हो सके। जलका वेग इतना था कि वे जो मिट्टी मेड़ बाँधनेको रखते, उसे प्रवाह बहा ले जाता। जब मेड़ बाँधनेका प्रयत्न सफल न हुआ, तब स्वयं आरुणि टूटी मेड़के स्थानपर आड़े होकर लेट गये। उनके शरीरसे पानीका प्रवाह रुक गया।

पानीके भीतर पड़े आरुणिका शरीर अकड़ गया। जोंकें और दूसरे जलजन्तु उन्हें काट रहे थे। परंतु वे स्थिर पड़े रहे। हिलनेका नाम भी उन्होंने [न] लिया। पूरी रात्रि वे वैसे ही स्थिर रहे।

इधर रात्रिमें अँधेरा होनेपर धौम्य ऋषिको [...] हुई। उन्होंने अन्य शिष्योंसे पूछा—'आरुणि कहाँ [...]'

शिष्योंने बताया—'आपने उन्हें खेतकी मेड़ [...] भेजा, तबसे वे लौटे नहीं।'

पूरी रात्रि ऋषि सो नहीं सके। सबेरा हो[...] शिष्योंके साथ खेतके समीप जाकर पुकारने ल[गे] 'बेटा आरुणि! कहाँ हो तुम?'

मूर्छितप्राय आरुणिको गुरुदेवका स्वर सुनायी प[ड़ा] उन्होंने वहींसे उत्तर दिया—'भगवन्! मैं यहाँ ज[ल]-वेग रोके पड़ा हूँ।'

ऋषि शीघ्रतापूर्वक वहाँ पहुँचे। आरुणिको उ[...] उठनेका आदेश दिया। जैसे ही आरुणि उठे, [...]

उन्हें हृदयसे लगा लिया और बोले—'वत्स ! तुम क्यारीको विदीर्ण करके उठे हो, अतः अबसे तुम्हारा नाम उद्दालक होगा। सब वेद तथा धर्मशास्त्र तुम्हारे अन्तःकरणमें स्वयं प्रकाशित हो जायँगे । लोकमें और परलोकमें भी तुम्हारा मङ्गल होगा।'

गुरुकृपासे आरुणि समस्त शास्त्रोंके विद्वान् हो गये। वे उद्दालक ऋषिके नामसे प्रसिद्ध हैं। —सु० सिं०

(महाभारत, आदिपर्व ३)

गुरुसेवा और उसका फल

महर्षि आयोदधौम्यके दूसरे शिष्य थे उपमन्यु । गुरुने उन्हें गायें चराने और उनकी रखवाली करनेका काम दे रक्खा था। ब्रह्मचर्याश्रमका नियम है कि ब्रह्मचारी गुरु-सेवा करता हुआ गुरुगृहमें निवास करे। वह पासके नगर-ग्रामोंसे भिक्षा माँगकर ले आये और उसे गुरुके सम्मुख रख दे। गुरुदेव उसमेंसे जो भी उसे दें, उसीको खाकर संतुष्ट रहे। उपमन्यु भी इस नियमका पालन करते थे; किंतु वे जो भिक्षा माँगकर लाते थे, उसे धौम्यऋषि पूरी-की-पूरी रख लेते थे। उपमन्युको उसमेंसे कुछ भी नहीं देते थे। उपमन्यु भी कुछ कहते नहीं थे।

एक दिन ऋषिने पूछा—'उपमन्यु ! मैं तुम्हारी भिक्षाका सभी अन्न रख लेता हूँ, ऐसी दशामें तुम क्या भोजन करते हो ? तुम्हारा शरीर तो हृष्ट-पुष्ट है।'

उपमन्युने बताया—'भगवन् ! मैं दुबारा भिक्षा माँग लाता हूँ।'

ऋषि बोले—'यह तो तुम अच्छा नहीं करते। इससे गृहस्थोंको संकोच होता है। दूसरे भिक्षार्थी लोगोंके जीविकाहरणका पाप होता है।'

उपमन्युने स्वीकार कर लिया कि वे फिर ऐसा नहीं करेंगे। कुछ दिन बीतनेपर ऋषिने फिर पूछा—'उपमन्यु ! तुम आजकल क्या भोजन करते हो ?'

उपमन्युने बताया—'भगवन् ! मैं इन गायोंका दूध पी लिया करता हूँ।'

ऋषिने डाँटा—'गायें मेरी हैं, मेरी आज्ञाके बिना इनका दूध पी लेना तो अपराध है।'

उपमन्युने दूध पीना भी छोड़ दिया। कुछ दिन पश्चात् जब फिर ऋषिने पूछा, तब उन्होंने बताया कि वे अब बछड़ोंके मुखसे गिरा फेन पी लेते हैं। लेकिन गुरुदेवको तो उनकी परीक्षा लेनी थी। उन्होंने कह दिया—'ऐसी भूल आगे कभी मत करना। बछड़े बड़े दयालु होते हैं, तुम्हारे लिये वे अधिक दूध झाग बनाकर गिरा देते होंगे और स्वयं भूखे रहते होंगे।'

उपमन्युके आहारके सब मार्ग बंद हो गये। गायोंके पीछे दिनभर वन-वन दौड़ना ठहरा उन्हें, अत्यन्त प्रबल क्षुधा लगी। दूसरा कुछ नहीं मिला तो विवश होकर आकके पत्ते खा लिये। उन विषैले पत्तोंकी गरमीसे नेत्रकी ज्योति चली गयी। वे अंधे हो गये। देख न पड़नेके कारण वनमें घूमते समय एक जलहीन कुएँमें गिर पड़े।

सूर्यास्त हो गया, गायें बिना चरवाहेके लौट आयीं; किंतु उपमन्यु नहीं लौटे। ऋषि चिन्तित हो गये—'मैंने उपमन्युका भोजन सर्वथा बंद कर दिया। वह रुष्ट होकर कहीं चला तो नहीं गया ?' शिष्योंके साथ उसी समय वे वनमें पहुँचे और पुकारने लगे—'बेटा उपमन्यु ! तुम कहाँ हो ?'

उपमन्युका स्वर सुनायी पड़ा—'भगवन् ! मैं यहाँ कुएँमें पड़ा हूँ।'

ऋषि कुएँके पास गये। पूछनेपर उपमन्युने अपने कुएँमें पड़नेका कारण बता दिया। अब ऋषिने उपमन्युको देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करनेका आदेश दिया। गुरु-आज्ञासे उपमन्यु स्तुति करने लगे। एक पवित्र गुरुभक्त ब्रह्मचारी स्तुति करे और देवता प्रसन्न न हों तो उनका देवत्व टिकेगा कितने दिन ? उपमन्युकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर अश्विनीकुमार कुएँमें ही प्रकट हो गये और बोले—'यह मीठा पुआ लो और इसे खा लो।'

नम्रतापूर्वक उपमन्युने कहा—'गुरुदेवको अर्पण किये बिना मैं पुआ नहीं खाना चाहता।'

अश्विनीकुमारोंने कहा—'पहले तुम्हारे गुरुने भी हमारी स्तुति की थी और हमारा दिया पुआ अपने गुरुको अर्पित किये बिना खा लिया था। तुम भी ऐसा ही करो।'

उपमन्यु बोले—'गुरुजनोंकी त्रुटि अनुगतोंको नहीं देखनी चाहिये। आपलोग मुझे क्षमा करें, गुरुदेवको अर्पित किये बिना मैं पुआ नहीं खा सकता।'

अश्विनीकुमारोंने कहा—'हम तुम्हारी गुरुभक्तिसे बहुत प्रसन्न हैं। तुम्हारे गुरुके दाँत लोहेके हैं, तुम्हारे स्वर्णके हो जायँगे। तुम्हारी दृष्टि भी पू... समान हो जायगी।'

अश्विनीकुमारोंने उपमन्युको कुएँसे बाहर निकाल... उपमन्युने गुरुके चरणोंमें प्रणाम किया। महर्षि ... धौम्यने सब बातें सुनकर आशीर्वाद दिया—'स... और धर्मशास्त्र तुम्हें स्वतः कण्ठ हो जायँगे। ... अर्थ तुम्हें भासित हो जायगा। धर्मशास्त्रोंका तत्त्व जान जाओगे।' —सु० सिं० (महाभारत, आदि...

बड़ोंके सम्मानका शुभ फल

कुरुक्षेत्रके मैदानमें कौरव-पाण्डव दोनों दल युद्धके लिये एकत्र हो गये थे। सेनाओंने व्यूह बना लिये थे। वीरोंके धनुष चढ़ चुके थे। युद्ध प्रारम्भ होनेमें क्षणोंकी ही देर जान पड़ती थी। सहसा धर्मराज युधिष्ठिरने अपना कवच उतारकर रथमें रख दिया। अस्त्र-शस्त्र भी रख दिये और रथसे उतरकर वे पैदल ही कौरव-सेनामें भीष्मपितामहकी ओर चल पड़े।

बड़े भाईको इस प्रकार शस्त्रहीन पैदल शत्रु-सेनाकी ओर जाते देखकर अर्जुन, भीमसेन, नकुल और सहदेव भी अपने रथोंसे उतर पड़े। वे लोग युधिष्ठिरके पास पहुँचे और उनके पीछे-पीछे चलने लगे। श्रीकृष्णचन्द्र भी पाण्डवोंके साथ ही चल रहे थे। भीमसेन, अर्जुन आदि बड़े चिन्तित हो रहे थे। वे पूछने लगे—'महाराज! आप यह क्या कर रहे हैं?'

युधिष्ठिरने किसीको कोई उत्तर नहीं दिया। श्रीकृष्णचन्द्रने भी सबको शान्त रहनेका संकेत करके कहा—'धर्मात्मा युधिष्ठिर सदा धर्मका ही आचरण करते हैं। इस समय भी वे धर्माचरणमें ही स्थित हैं।'

उधर कौरव-दलमें बड़ा कोलाहल मच गया। लोग कह रहे थे—'युधिष्ठिर डरपोक हैं। वे हमारी सेना देखकर डर गये हैं और भीष्मकी शरणमें आ रहे हैं।' कुछ लोग यह संदेह भी करने लगे कि पितामह भीष्मको अपनी ओर फोड़ लेनेकी यह कोई ... है। सैनिक प्रसन्नतापूर्वक कौरवोंकी प्रशंसा करने ...

युधिष्ठिर सीधे भीष्मपितामहके समीप पहुँचे ... उन्हें प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—'पिताम... हमलोग आपके साथ युद्ध करनेको विवश हो गये ... इसके लिये आप हमें आज्ञा और आशीर्वाद दें।'

भीष्म बोले—'भरतश्रेष्ठ! यदि तुम इस ... आकर मुझसे युद्धकी अनुमति न माँगते तो मैं ... अवश्य पराजयका शाप दे देता। अब मैं ... प्रसन्न हूँ। तुम विजय प्राप्त करो। जाओ, युद्ध ... तुम मुझसे वरदान माँगो। पार्थ! मनुष्य धनका ... है, धन किसीका दास नहीं। मुझे धनके द्वारा कौ... अपने वशमें कर रक्खा है; इसीसे मैं नपुंसकोंकी ... कहता हूँ कि अपने पक्षमें युद्ध करनेके अतिरिक्त ... मुझसे जो चाहो, वह माँग लो। युद्ध तो मैं कौर... पक्षसे ही करूँगा।'

युधिष्ठिरने केवल पूछा—'आप अजेय हैं, ... आपको हमलोग संग्राममें किस प्रकार जीत सकते हैं ...

पितामहने उन्हें दूसरे समय आकर यह बात पूछने ... कहा। वहाँसे धर्मराज द्रोणाचार्यके पास पहुँचे ... उन्हें प्रणाम करके उनसे भी युद्धके लिये अनुमति माँ... आचार्य द्रोणने भी वही बातें कहकर आशीर्वाद दि...

परंतु जब युधिष्ठिरने उनसे उनकी पराजयका उपाय पूछा, तब आचार्यने स्पष्ट बता दिया—'मेरे हाथमें शस्त्र रहते मुझे कोई मार नहीं सकता । परंतु मेरा स्वभाव है कि किसी विश्वसनीय व्यक्तिके मुखसे युद्धमें कोई अप्रिय समाचार सुननेपर मैं धनुष रखकर ध्यानस्थ हो जाता हूँ । उस समय मुझे मारा जा सकता है ।'

युधिष्ठिर द्रोणाचार्यको प्रणाम करके कृपाचार्यके पास पहुँचे । प्रणाम करके युद्धकी अनुमति माँगनेपर कृपाचार्यने भी भीष्मपितामहके समान ही सब बातें कहकर आशीर्वाद दिया; किंतु अपने उन कुलगुरुसे युधिष्ठिर उनकी मृत्युका उपाय पूछ नहीं सके । यह दारुण बात पूछते-पूछते दुःखके मारे वे अचेत हो गये । कृपाचार्यने उनका तात्पर्य समझ लिया था । वे बोले—'राजन्! मैं अवध्य हूँ, किसीके द्वारा भी मैं मारा नहीं जा सकता । परंतु मैं वचन देता हूँ कि नित्य प्रातःकाल भगवान्से तुम्हारी विजयके लिये प्रार्थना करूँगा और युद्धमें तुम्हारी विजयका बाधक नहीं बनूँगा ।'

इसके पश्चात् युधिष्ठिर मामा शल्यके पास प्रणाम करने पहुँचे । शल्यने भी पितामह भीष्मकी बातें ही दुहराकर आशिष दी; परंतु साथ ही उन्होंने यह वचन भी दिया कि युद्धमें अपने निष्ठुर वचनोंसे वे कर्णको हतोत्साह करते रहेंगे ।

गुरुजनोंको प्रणाम करके, उनकी अनुमति और विजयका आशीर्वाद लेकर युधिष्ठिर भाइयोंके साथ अपनी सेनामें लौट आये । उनकी इस विनम्रताने भीष्म, द्रोण आदिके हृदयमें उनके लिये ऐसी सहानुभूति उत्पन्न कर दी, जिसके बिना पाण्डवोंकी विजय अत्यन्त दुष्कर थी ।—सु० सिं० (महाभारत, भीष्म० ४३)

लक्ष्मी कहाँ रहती हैं ?

एक बार इन्द्रने बड़ी कठिनतासे राजा बलिको ढूँढ़ निकाला । उस समय वे छिपकर किसी खाली घरमें गदहेके रूपमें कालक्षेप कर रहे थे । इन्द्र और बलिमें कुछ बातें हो रही थीं । बलिने इन्द्रको तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया तथा कालकी महत्ता बतलायी । बात दोनोंमें चल ही रही थी कि एक अत्यन्त दिव्य स्त्री बलिके शरीरसे निकल गयी । इसे देख इन्द्रको बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने बलिसे पूछा—'दानवराज! तुम्हारे शरीरसे यह प्रभामयी कौन-सी स्त्री बाहर निकल पड़ी ? यह देवी है अथवा आसुरी या मानुषी ?'

बलिने कहा—'न यह देवी है न मानुषी और न आसुरी । यह क्या है तथा इसे क्या अभिप्रेत है सो तुम इसीसे पूछो ।' इसपर इन्द्रने कहा—'देवी ! तुम कौन हो तथा असुरराज बलिको छोड़कर मेरी ओर क्यों आ रही हो ?'

इसपर वह प्रभामयी शक्ति बोली—'देवेन्द्र ! न तो मुझे विरोचन जानते थे और न उनके पुत्र ये बलि ही । पण्डित लोग मुझे दुस्सहा, विधित्सा, भूति, श्री और लक्ष्मीके नामोंसे पुकारते हैं । तुम और दूसरे देवता भी मुझे नहीं जानते ।'

इन्द्रने पूछा—'आर्ये ! तुम बहुत दिनोंतक बलिके पास रहीं । अब बलिमें कौन-सा दोष और मुझमें गुण देखकर उन्हें छोड़ मेरे पास आ रही हो ?'

लक्ष्मीने कहा—'देवेन्द्र ! मुझे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर धाता, विधाता कोई भी नहीं हटा सकता । कालके प्रभावसे ही मैं एकको छोड़कर दूसरेके पास जाती हूँ । इसलिये तुम बलिका अनादर मत करो ।'

इन्द्रने पूछा, 'सुन्दरी ! तुम अब असुरोंके पास क्यों नहीं रहना चाहतीं ?' लक्ष्मी बोलीं—'जहाँ सत्य, दान, व्रत, तप, पराक्रम तथा धर्म रहते हैं, मैं वहीं रहती हूँ । असुर इस समय इनसे विमुख हो रहे हैं । पहले ये सत्यवादी, जितेन्द्रिय और ब्राह्मणोंके हितैषी थे । पर अब ये ब्राह्मणोंसे ईर्ष्या करने लगे हैं, जूँठे हाथ घी छूते हैं, अभक्ष्य-भोजन करते और धर्मकी मर्यादा तोड़कर मनमाना आचरण करते हैं । पहले ये उपवास और तपमें लगे रहते थे । प्रतिदिन सूर्योदयके पहले जागते

और रातमें कभी दही या सत्तू नहीं खाते थे। रातके आधे भागमें ही ये सोते थे, दिनमें तो ये कभी सोनेका नाम भी नहीं लेते थे। दीन, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी तथा स्त्रियोंपर दया करते तथा उनके लिये अन्न-वस्त्रकी व्यवस्था करते थे। व्याकुल, विषादग्रस्त, भयभीत, रोगी, दुर्बल, पीड़ित तथा जिसका सर्वस्व लुट गया हो, उसको सदा ढाढ़स बँधाते तथा उसकी सहायता करते थे। पहले ये कार्यके समय परस्पर अनुकूल रहकर गुरुजनों तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें सदा दत्तचित्त रहते थे। ये उत्तम भोजन बनाकर अकेले ही नहीं खाते थे। पहले दूसरोंको देकर पीछे अपने उपभोगमें लाते थे। सब प्राणियोंको अपने ही समान समझकर उनपर दया करते थे। चतुरता, सरलता, उत्साह, निरहंकारता, सौहार्द, क्षमा, सत्य, दान, तप, पवित्रता, दया, कोमल वाणी और मित्रोंसे प्रगाढ़ प्रेम—ये सभी गुण इनमें सदा मौजूद रहते थे। निद्रा, आलस्य, अप्रसन्नता, दोषदृष्टि, अविवेक, असंतोष और कामना—ये दुर्गुण इन्हें स्पर्शतक नहीं कर सके थे।

'पर अब तो इनकी सारी बातें निराली तथा विपरीत ही दीख पड़ती हैं। धर्म तो इनमें अब रह ही नहीं गया है। ये सदा काम-क्रोधके वशीभूत रहते हैं। बड़े-बूढ़ोंकी सभाओंमें ये गुणहीन दैत्य उनमें दोष निकालते हुए उनकी हँसी उड़ाया करते हैं। वृद्धोंके आनेपर ये लोग अपने आसनोंपरसे उठते भी नहीं। स्त्री पतिकी, पुत्र पिताकी आज्ञा नहीं मानता। माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरुओंका आदर इनमें उठ गया। संतानोंके उचित लालन-पालनपर ध्यान नहीं दिया जाता। इनके रसोइये भी अब पवित्र नहीं होते। छोटे बालक आशा लगाकर टकटकी बाँधे देखते ही रह जाते हैं और दैत्यलोग खानेकी चीजें अकेले चट कर जाते हैं। ये पशुओंको घरमें बाँध देते हैं, पर चारा और पानी देकर उनका आदर नहीं क[...] ये सूर्योदयतक सोये रहते हैं तथा प्रभातको [...] ही समझते हैं। प्रायः दिन-रात इनके घरमें कल[ह] मचा रहता है।

'अब इनके यहाँ वर्णसंकर संतानें होने ल[गी] वेदवेत्ता ब्राह्मणों और मूर्खोंको ये एक-समान आ[...] अनादर देते हैं। ये अपने पूर्वजोंद्वारा ब्राह्मणों[...] हुई जागीरें नास्तिकताके कारण छीन लेते हैं। अब गुरुओंसे सेवा करवाते हैं। पत्नी पतिपर [...] करती है और उसका नाम ले-लेकर पुकारती[...] संक्षेपमें ये सब-के-सब कृतघ्न, नास्तिक, पापाचारी[...] स्वैरी बन गये हैं। अब इनके वदनपर पहलेका-सा[...] नहीं रह गया।

'इसलिये देवराज! अब मैंने भी निश्चय [...] लिया कि इनके घरमें नहीं रहूँगी। इसी कारणसे दै[...] परित्याग करके तुम्हारी ओर आ रही हूँ। तुम [...] स्वीकार करो। जहाँ मैं रहूँगी, वहाँ आशा, [...] धृति, क्षान्ति, विजिति, संतति, क्षमा और जया[...] आठ देवियाँ भी मेरे साथ निवास करेंगी। मेरे[...] ही ये सभी देवियाँ भी असुरोंको त्यागकर आ गयी[...] तुम देवताओंका मन अब धर्ममें लग गया है, [...] अब हम तुम्हारे ही यहाँ निवास करेंगी।'

तदनन्तर इन्द्रने उन लक्ष्मीजीका अभिनन्दन कि[या] सारे देवता भी उनका दर्शन करनेके लिये वहाँ[...] गये। तत्पश्चात् सभी लौटकर स्वर्गमें आये। नारद[...] लक्ष्मीजीके आगमनकी स्वर्गीय सभामें प्रशंसा की। साथ ही पुनः सभीने बाजे-गाजेके साथ पुष्प[...] अमृतकी वर्षा की। तबसे फिर अखिल संसार धर्म[...] सुखमय हो गया। —जा० श०

(महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्ष० २२४-२२८, बृहद्[...] स्मृति, अध्याय ९९। महा० अनुशासनपर्व, अध्याय [...]

धर्मो रक्षति रक्षितः

वनवासके समय पाण्डव द्वैतवनमें थे। वनमें घूमते समय एक दिन उन्हें प्यास लगी। धर्मराज युधिष्ठिरने वृक्षपर चढ़कर इधर-उधर देखा। एक स्थानपर हरियाली तथा जल होनेके अन्य चिह्न देखकर उन्होंने नकुलको जल लाने भेजा। नकुल उस स्थानकी ओर चल पड़े। वहाँ उन्हें स्वच्छ जलसे पूर्ण एक सरोवर मिला; किंतु जैसे ही वे सरोवरमें जल पीने उतरे, उन्हें यह वाणी सुनायी पड़ी—'इस सरोवरका पानी पीनेका साहस मत करो! इसके जलपर मैं पहले ही अधिकार कर चुका हूँ। पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे लो, तब पानी पीना।'

नकुल बहुत प्यासे थे। उन्होंने उस बातपर, जिसे एक यक्ष कह रहा था, ध्यान नहीं दिया। लेकिन जैसे ही उन्होंने सरोवरका जल मुखसे लगाया, वैसे ही निर्जीव होकर पृथ्वीपर गिर पड़े।

इधर नकुलको गये बहुत देर हो गयी तो युधिष्ठिरने सहदेवको भेजा। सहदेवको भी सरोवरके पास यक्षकी वाणी सुनायी पड़ी। उन्होंने भी उसपर ध्यान न देकर जल पीना चाहा और वे भी प्राणहीन होकर गिर गये। इसी प्रकार धर्मराजने अर्जुनको और भीमसेनको भी भेजा। वे दोनों भी बारी-बारीसे आये और उनकी भी यही दशा हुई।

जब जल लाने गये कोई भाई न लौटे, तब बहुत थके होनेपर भी स्वयं युधिष्ठिर उस सरोवरके पास पहुँच गये। अपने देवोपम भाइयोंको प्राणहीन पृथ्वीपर पड़े देखकर उन्हें अपार दुःख हुआ। देरतक भाइयोंके लिये शोक करके अन्तमें वे भी जल पीनेको उद्यत हुए। उन्हें पहले तो यक्षने बगुलेके रूपमें रोका; किंतु युधिष्ठिरके पूछनेपर कि—'तुम कौन हो?' वह यक्षके रूपमें एक वृक्षपर दिखायी पड़ा।

शान्तचित्त धर्मात्मा युधिष्ठिरने कहा—'यक्ष! मैं दूसरेके अधिकारकी वस्तु नहीं लेना चाहता। तुमने सरोवरके जलपर पहले ही अधिकार कर लिया है, तो वह जल तुम्हारा रहे। तुम जो प्रश्न पूछना चाहते हो, पूछो। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार उनका उत्तर देनेका प्रयत्न करूँगा।'

यक्षने अनेकों प्रश्न पूछे। युधिष्ठिरने सभी प्रश्नोंका उचित उत्तर दिया। उनके उत्तरोंसे संतुष्ट होकर यक्षने कहा—'राजन्! तुमने मेरे प्रश्नोंके ठीक उत्तर दिये हैं; इसलिये अपने इन भाइयोंमेंसे जिस एकको चाहो, वह जीवित हो सकता है।'

युधिष्ठिर बोले—'आप मेरे छोटे भाई नकुलको जीवित कर दें।' यक्षने आश्चर्यके स्वरमें कहा—'तुम राज्यहीन होकर वनमें भटक रहे हो, शत्रुओंसे तुम्हें अन्तमें संग्राम करना है, ऐसी दशामें अपने परम पराक्रमी भाई भीमसेन अथवा शस्त्रज्ञचूड़ामणि अर्जुनको छोड़कर नकुलके लिये क्यों व्यग्र हो?'

धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—'यक्ष! राज्यका सुख या वनवासका दुःख तो भाग्यके अनुसार मिलता है; किंतु मनुष्यको धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म स्वयं उसकी रक्षा करता है। इसलिये मैं धर्मको नहीं छोडूँगा। कुन्ती और माद्री दोनों मेरी माता हैं। कुन्तीका पुत्र मैं जीवित हूँ। अतः मैं चाहता हूँ कि मेरी दूसरी माता माद्रीका वंश भी नष्ट न हो। उनका भी एक पुत्र जीवित रहे। तुम नकुलको जीवित करके दोनोंको पुत्रवती कर दो।'

यक्षने कहा—'तुम अर्थ और कामके विषयोंमें परम उदार हो, अतः तुम्हारे चारों भाई जीवित हो जायँ। मैं तुम्हारा पिता धर्म हूँ। तुम्हें देखने तथा तुम्हारी धर्मनिष्ठाकी परीक्षा लेने आया था।'

धर्मने अपना स्वरूप प्रकट कर दिया। चारों मृतप्राय पाण्डव तत्काल उठ बैठे।—सु० सिं०

(महाभारत, वन० ३१२-३१४)

भगवान् कहाँ-कहाँ रहते हैं ?

बहुत पहलेकी बात है कोई नरोत्तम नामका ब्राह्मण था। उसके घरमें माँ-बाप थे। तथापि वह उनकी परिचर्या न कर तीर्थयात्राके लिये निकल पड़ा। उसने अनेक तीर्थोंमें पर्यटन तथा अवगाहन किया, जिसके प्रतापसे उसके गीले वस्त्र निरालम्ब आकाशमें उड़ने और सूखने लगे। जब उसने यों ही स्वच्छन्द गतिसे अपने वस्त्रोंको आकाशमें उड़ते चलते देखा, तब उसे अपनी तीर्थचर्याका महान् अहंकार हो गया। वह समझने लगा कि मेरे समान पुण्यकर्मा यशस्वी इस संसारमें दूसरा कोई भी नहीं है। एक बार उसने ऐसा ही कहीं कह भी दिया। तबतक उसके सिरपर एक बगुलेने बीट कर दी। क्रुद्ध होकर नरोत्तमने बगुलेको शाप दे दिया, जिससे वह बगुला वहीं जलकर भस्म हो गया। पर आश्चर्य! तबसे उसके कपड़ेका आकाशमें उड़ना और सूखना बंद हो गया। अब नरोत्तम बड़ा उदास हो गया। तबतक आकाशवाणी हुई—'ब्राह्मण! तुम परम धार्मिक मूक चाण्डालके पास जाओ, वहीं 'धर्म क्या है' इसका तुम्हें पता चल जायगा तथा तुम्हारा कल्याण भी होगा।'

१ माता-पिताकी सेवा करनेवालेके घर

नरोत्तमको इससे बड़ा कुतूहल हुआ। वह तुरंत पता लगाता हुआ मूक चाण्डालके घर पहुँचा। वहाँ मूक बड़ी श्रद्धासे अपने माता-पिताकी शुश्रूषामें लगा था। उसके विलक्षण पुण्य-प्रतापसे भगवान् विष्णु निरालम्ब उसके घर अन्तरिक्षमें वर्तमान थे। वहाँ पहुँचते ही नरोत्तमने मूकको आवाज दी और कहा—'अरे! मैं यहाँ आया हूँ; तुम मुझे यहाँ आकर शाश्वत हितकारी धर्मतत्त्वका स्वरूपतः वर्णन सुनाओ।'

मूक बोला—'मैं अपने माता-पिताकी सेवामें लगा हूँ। इनकी विधिपूर्वक परिचर्या करके तुम्हारा कार्य करूँगा। तबतक चुपचाप दरवाजेपर बैठे रहो। मैं तुम्हारा आतिथ्य करना चाहता हूँ।'

अब तो नरोत्तमकी त्योरी चढ़ गयी। वह जोरोंसे बिगड़कर बोला—'अरे! मुझ ब्राह्मणकी [illegible] बढ़कर तुम्हारा क्या काम आ गया है? तुमने मुझे [illegible] खेल समझ रक्खा है क्या?' मूकने कहा—'[illegible] देवता! मैं बगुला नहीं हूँ। तुम्हारा क्रोध बस, [illegible] पर ही चरितार्थ हो सकता है, अन्यत्र कहीं [illegible] यदि तुम्हें मुझसे कुछ पूछना है तो तुम्हें यहाँ [illegible] कर प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी। यदि तुम्हारा ठहरना कठिन ही हो तो तुम पतिव्रताके यहाँ जा[illegible] उसके दर्शनसे तुम्हारे अभीष्टकी सिद्धि हो सकेगी।'

२ पतिव्रताके घर

तबतक द्विजरूपधारी विष्णु चाण्डालके बाहर निकल पड़े और नरोत्तमसे बोले—'चलो, मैं पतिव्रताका घर दिखला दूँ।' अब नरोत्तम उनके सा[illegible] लिया। उसने उनसे पूछा—'ब्राह्मण! तुम इस चाण्[illegible] घर स्त्रियोंमें आवृत होकर क्यों रहते हो?' भ[illegible] बोले—'इसका रहस्य तुम पतिव्रता आदिका [illegible] करनेपर स्वयमेव समझ जाओगे।'

नरोत्तमने पूछा—'महाराज! यह पतिव्रता कौ[illegible] बला है? पतिव्रताका लक्षण तथा महत्त्व क्या है? आप इस सम्बन्धमें कुछ जानते हैं?' भगवान्ने क[illegible] 'पतिव्रता स्त्री अपने दोनों कुलोंके सभी पुरुषोंका [illegible] कर देती है। प्रलयपर्यन्त वह स्वर्ग-भोग करती [illegible] कालान्तरमें जब वह जन्म लेती है, तब उसका [illegible] सार्वभौम राजा होता है। सैकड़ों जन्मोंतक यह क्रम [illegible] कर अन्तमें उन दोनों पति-पत्नीका मोक्ष होता है। स्त्री प्रेममें अपने पुत्रसे सौगुना तथा भयमें रा[illegible] सौगुना पतिसे प्रेम तथा भय करती है, [illegible] पतिव्रता कहते हैं। जो काम करनेमें दासीके स[illegible] भोजन करानेमें माताके समान, विहारमें वेश्याके स[illegible] विपत्तियोंमें मन्त्रीके समान हो, उसे पतिव्रता कहते [illegible] वैसी ही यहाँ एक शुभा नामकी पतिव्रता स्त्री [illegible]

भगवान् कहाँ-कहाँ रहते हैं ?

माता-पिताके सेवक पुत्रके घर

पतिव्रता स्त्रीके घर

सत्यवादी ईमानदार व्यापारीके घर

जितेन्द्रिय मित्रके घर
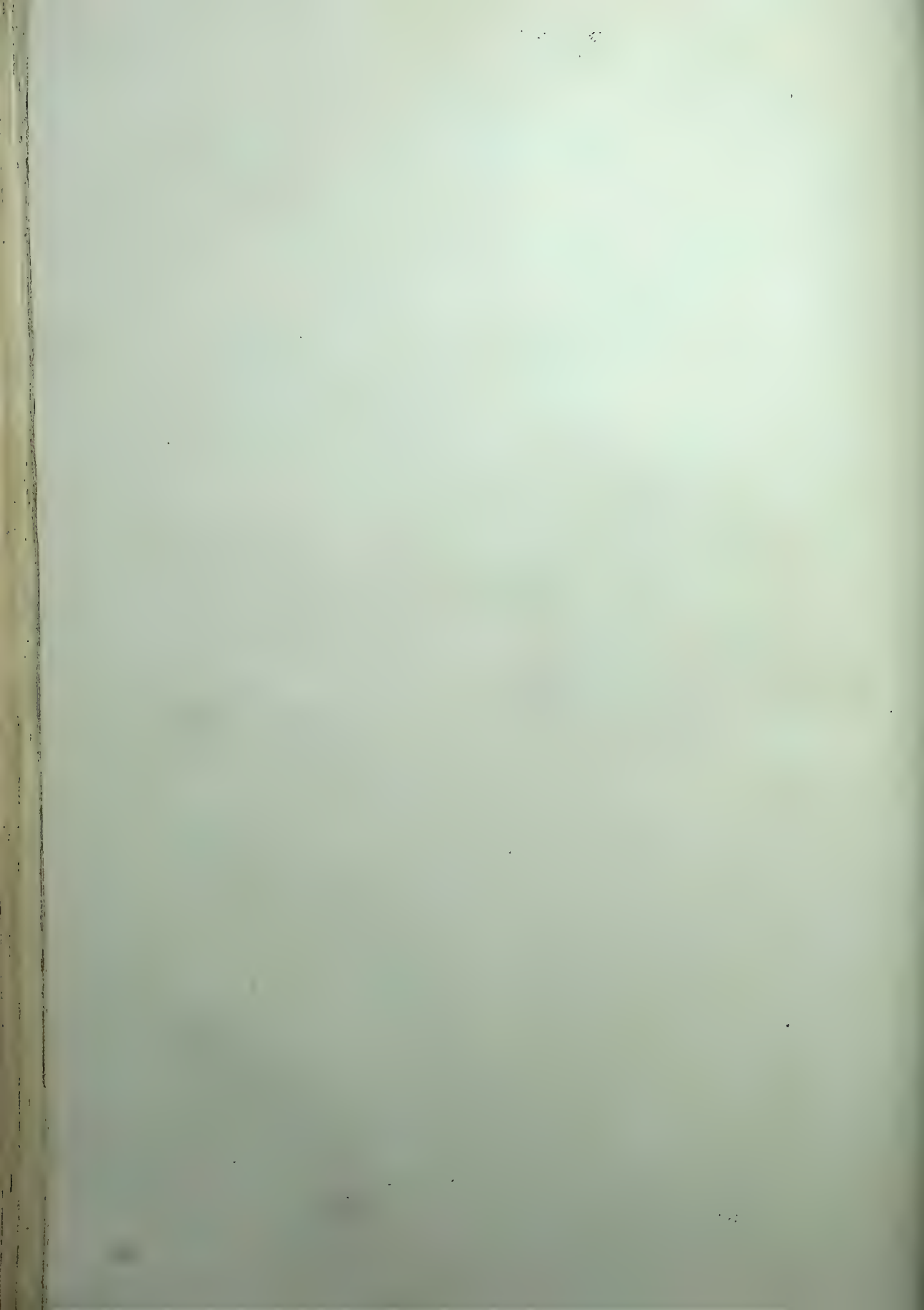
तुम उससे जाकर धर्मके रहस्योंको समझो ।'*

अब नरोत्तम पतिव्रताके दरवाजेपर पहुँचा । वहाँ पहुँचकर उसने आवाज लगायी । पतिव्रता आवाज सुनकर बाहर आ गयी । नरोत्तम बोला—'मुझे धर्मका रहस्य समझाओ ।' पतिव्रता बोली—'ब्राह्मण देवता ! मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ । इस समय मुझे पतिकी परिचर्या करनी है । अभी तो आप अतिथिके रूपमें मेरे यहाँ विराजें । पतिसेवासे निवृत्त होकर मैं आपका कार्य करूँगी ।' नरोत्तम बोला, 'कल्याणि ! मुझे आतिथ्यकी कोई आवश्यकता नहीं है । न तो मुझे भूख है, न प्यास और न थकावट । तुम मुझे साधारण ब्राह्मण समझकर खेल मत करो । यदि तुम मेरी बात नहीं मानती हो तो मैं तुम्हें शाप दूँगा ।'

पतिव्रताने कहा—'मैं बगुला नहीं हूँ । यदि तुम्हें ऐसी ही जल्दी है तो तुम तुलाधार वैश्यके पास चले जाओ । वह तुम्हारा कार्य कर सकेगा ।'

३ लोभरहित सत्यवादी वैश्यके घर

नरोत्तम उस वैश्यके घर पहुँचा । वहाँ पहुँचकर उसने उस ब्राह्मणको फिर देखा, जिसे चाण्डालके घरमें देखा था । तुलाधार व्यापारके कार्यमें बेतरह फँसा था । उसने कहा—'ब्राह्मण देवता ! एक प्रहर राततक मुझे अवकाश नहीं । आप कृपया अद्रोहकके पास पधारें; वह आपके द्वारा बगुलेकी मृत्यु, वस्त्रोंका उड़ना और फिर न उड़नेके रहस्योंको यथाविधि बतला सकेगा ।' वह ब्राह्मण फिर नरोत्तमके साथ हो गया । नरोत्तमने उससे पूछा—'ब्राह्मण ! आश्चर्य है, यह तुलाधार स्नान, संध्या, देवर्षि, पितृ-तर्पण आदिसे सर्वथा रहित है । इसका शरीर मलका भण्डार हो रहा है । इसके सारे वस्त्र भी बेढंगे हो रहे हैं, तथापि यह मेरी सारी बातोंको जो इसके परोक्षमें घटी हैं, कैसे जान गया ?'

ब्राह्मण-रूपधारी भगवान् बोले—'इसने सत्य और समतासे तीनों लोकोंको जीत लिया है । यह मुनिगणोंके साथ देवता और पितरोंको भी तृप्त कर चुका और इसीके प्रभावसे भूत, भविष्य और वर्तमानकी परोक्ष घटनाओंको भी जान सकता है । सत्यसे बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं, झूठसे बड़ा कोई दूसरा पातक नहीं । इसी प्रकार समताकी भी महत्ता है । शत्रु, मित्र, मध्यस्थ—इन तीनोंमें जिसका समान भाव उत्पन्न हो गया है, उसके सारे पाप क्षीण हो गये और वह विष्णु-सायुज्यको प्राप्त कर लेता है । जिस व्यक्तिमें सत्य, शम, दम, धैर्य, स्थैर्य, अनालस्य, अनाश्चर्य, निर्लोभिता और समता-जैसे गुण हैं, उसमें सारा विश्व ही प्रतिष्ठित है । ऐसा पुरुष करोड़ों कुलोंका उद्धार कर लेता है । उसके शरीरमें साक्षात् भगवान् विराजमान हैं । वह देवलोक-नरलोकके सभी वृत्तान्तोंको जान सकता है ।'*

नरोत्तमने कहा—'अस्तु ! तुलाधारकी सर्वज्ञताका कारण मुझे ज्ञात हो गया; पर अद्रोहक कौन तथा किस प्रभाववाला है, क्या यह आप जानते हैं ?'

४ जितेन्द्रिय मित्रके घर

विप्ररूपी भगवान् बोले—''कुछ समय पूर्वकी बात है । एक राजकुमारकी स्त्री बड़ी सुन्दरी तथा युवती थी । एक दिन उस राजकुमारको अपने पिताकी आज्ञासे कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता हुई । अब वह स्त्रीके सम्बन्धमें सोचने लगा कि कहाँ उसे रखा जाय, जहाँ उसकी पूरी सुरक्षा हो सके । अन्तमें वह अद्रोहकके घर गया और अपनी स्त्रीके रक्षार्थ उसने

---

* पुत्राच्छतगुणं स्नेहाद् राजानं च भयादथ ।
आराधयेत् पतिं शौरिं या पश्येत् सा पतिव्रता ॥
कार्ये दासी रतौ वेश्या भोजने जननीसमा ।
विपत्सु मन्त्रिणी भर्तुः सा च भार्या पतिव्रता ॥
भर्तुराज्ञां न लङ्घेद् या मनोवाक्कायकर्मभिः ।
भुङ्क्ते पतौ सदा चात्ति सा च भार्या पतिव्रता ॥
(पद्मपुराण, सृष्टि० ४७ । ५५–५७)

* सत्यं दमः शमश्चैव धैर्यं स्थैर्यमलोभता ।
अनाश्चर्यमनालस्यं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
एवं यो वर्तते नित्यं कुलकोटिं समुद्धरेत् ।
तेन वै देवलोकस्य नरलोकस्य सर्वशः ॥
वृत्तं जानाति धर्मज्ञस्तस्य देहे स्थितो हरिः ॥
(पद्मपुराण, सृष्टि० ४७ । ९७–९९)

प्रार्थना की। अद्रोहकने कहा—'न तो मैं तुम्हारा पिता हूँ न भाई-बन्धु। तुम्हारे मित्रोंमेंसे भी मैं नहीं होता, फिर तुम ऐसा प्रस्ताव क्यों कर रहे हो ?'

"राजकुमार बोला—'महात्मन्! इस विश्वमें आप-जैसा धर्मज्ञ और जितेन्द्रिय कोई दूसरा नहीं है, इसे मैं भली प्रकार जानता हूँ। यह अब आपके घरमें ही रहेगी, आप ही जैसे हो इसकी रक्षा कीजियेगा।' यों कहकर वह राजकुमार चला गया। अद्रोहकने बड़े धैर्यसे उसकी रक्षा की। छः मासके बाद राजकुमार पुनः लौटा। उसने लोगोंसे अपनी स्त्री तथा अद्रोहकके प्रबन्धके सम्बन्धमें पूछ-ताछ की। अधिकांश लोगोंने अद्रोहककी निन्दा की। बात अद्रोहकको भी मालूम हुई। उसने लोकनिन्दासे मुक्त होनेके लिये एक बड़ी चिता बनाकर उसमें आग लगा दी; तबतक राजकुमार वहाँ पहुँच गया। अद्रोहकको उसने रोकना चाहा। पर उन्होंने एक न सुनी और अग्निमें प्रवेश कर गये। फिर भी अग्निने उनके अङ्गों तथा वस्त्रोंको नहीं जलाया। देवताओंने साधुवाद दिया और अद्रोहकके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा की। जिन लोगोंने अद्रोहककी निन्दा की थी, उनके मुँहपर अनेकों प्रकारकी कोढ़ हो गयी। देवताओंने ही उन्हें अग्निसे बाहर किया। उनका चरित्र सुनकर मुनियोंको भी बड़ा विस्मय हुआ। देवताओंने राजकुमारसे कहा—'तुम अपनी स्त्रीको स्वीकार करो। इन अद्रोहकके समान कोई मनुष्य इस संसारमें नहीं हुआ है।' तदनन्तर वे राजकुमार-दम्पति अपने राजमहलको चले गये। तबसे अद्रोहकको भी दिव्य दृष्टि हो गयी है।"

तत्पश्चात् नरोत्तम अद्रोहकके पास पहुँचे और उनका दर्शन किया। जब अद्रोहकने उनके पधारनेका कारण पूछा, तब उसने धोतियोंके न सूखने, बगुलेके बीट करने और उसके जलनेका रहस्य पूछा। अद्रोहकने उन्हें वैष्णवके पास जानेको कहा। वैष्णवने कहा—'भीतर चलकर भगवान्‌का दर्शन कीजिये।' भीतर जानेपर नरोत्तमने देखा कि वे ही ब्राह्मण जो चाण्डाल, पतिव्रता एवं धर्मव्याधके घरमें थे और जो उसे बराबर राह बतलाते रहे थे, उस मन्दिरमें वर्तमान हैं। वहाँ उन्होंने सब बातोंका समाधान कर दिया और उसे माता-पिताकी सेवाकी आज्ञा दी। तबसे नरोत्तम घर लौट आया और माता-पिताकी दृढ़ भक्तिमें तल्लीन हो गया।

(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्याय ४७)

धर्मनिष्ठ सबसे अजेय है

देवता और दैत्योंने मिलकर अमृतके लिये समुद्र-मन्थन किया और अमृत निकला भी; किंतु भगवान् नारायणके कृपापात्र होनेसे केवल देवता ही अमृत-पान कर सके। दैत्य छले गये, उन्हें परिश्रम ही हाथ लगा। परिणाम तो देवासुर-संग्राम होना ही था। उसमें भी अमृत-पानसे अमर बने देवता ही विजयी हुए। दैत्यराज बलि तो युद्धमें मारे ही गये थे; किंतु आचार्य शुक्रने बलि तथा युद्धमें मरे अन्य दैत्योंको भी अपनी संजीविनी विद्यासे जीवित कर लिया। बलि अपने अनुचरोंके साथ अस्ताचल चले गये।

अपनी सेवासे बलिने आचार्य शुक्रको प्रसन्न कर लिया। आचार्यने एक यज्ञ कराया। यज्ञकुण्डसे प्रकट होकर अग्निने बलिको दिव्य रथ, अक्षय त्रोण तथा अन्य शस्त्र दिये। अब फिर बलिने स्वर्गपर चढ़ाई कर दी। इस बार बलिका तेज इतना दुर्धर्ष था कि देवराज इन्द्र उन्हें देखते ही हताश हो गये। देवगुरु बृहस्पतिने भी देवताओंको चुपचाप भागकर पर्वतीय गुफाओंमें छिप जानेका आदेश दिया। अमरावतीपर बिना युद्ध बलिने अधिकार कर लिया।

'स्वर्गके सिंहासनपर वही स्थिर रह सकता है, जिसने सौ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण किये हों। कोई भी कर्म तभी फल देता है, जब वह कर्मभूमि पृथ्वीपर किया गया हो। स्वर्गमें किये कर्म कोई फल नहीं देते। तुमने स्वर्गपर अधिकार कर लिया है; किंतु यह अधिकार बना

रहे, इसके लिये सौ अश्वमेध यज्ञ तुम्हें पूरे कर लेने चाहिये।' आचार्य शुक्रने बलिको समझाया।

बलिने तो अक्षरशः आचार्यकी आज्ञाके पालनका ही इधर व्रत ले लिया था। पृथ्वीपर नर्मदाके पवित्र तटपर उनका यज्ञ-मण्डप बना और एकके बाद दूसरा अश्वमेध यज्ञ वे करने लगे। निन्यानबे अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्न पूरे हो गये। अन्तिम अश्वमेध भी प्रारम्भ हो गया।

उधर देवमाता अदिति अपने गृहहीन पुत्रोंके दुःखसे अत्यन्त दुखी थीं। उन्होंने अपने पतिदेव महर्षि कश्यपसे प्रार्थना की—'ऐसा कोई उपाय बतानेकी कृपा करें, जिससे मेरे पुत्रोंकी विपत्ति दूर हो जाय।'

महर्षिने पयोव्रत करके भगवान्‌की आराधना करनेका आदेश दिया। अदितिने बड़ी श्रद्धा और तत्परतासे वह व्रत पूरा किया। उनकी आराधनासे संतुष्ट होकर भगवान् नारायणने उन्हें दर्शन दिया। भगवान्‌ने कहा—'देवि! जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म सदा उसकी रक्षा करता है। जो धर्मात्मा है और धर्मज्ञ आचार्योंके आदेशपर चलता है, वह मेरे लिये भी अजेय है। उसके साथ बलप्रयोग करके कोई विजयी नहीं हो सकता। लेकिन मेरी उपासना व्यर्थ नहीं जाती। मैं तुम्हारे पुत्र-रूपमें अवतार लूँगा और देवताओंको उनका स्वर्ग युक्तिपूर्वक दिलाऊँगा।'

वरदान देकर भगवान् अन्तर्हित हो गये। अदितिके गर्भसे उन्होंने वामनरूपमें अवतार धारण किया। महर्षि कश्यपने ऋषियोंके साथ वामनजीका संस्कार कराया। यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर वामन बलिकी यज्ञशालाकी ओर चल पड़े। खड़ाऊँ पहिने, कटिमें मेखला बाँधे, छत्ता लगाये, दण्ड और जलभरा कमण्डलु लिये, ब्रह्मचारी वेशमें वामन साक्षात् सूर्यके समान तेजस्वी लगते थे।

दैत्यराज बलिका अन्तिम अश्वमेध यज्ञ भी पूर्णाहुतिके निकट ही था। यज्ञशालाके द्वारपर मूर्तिमान् मार्तण्डके समान जब वामन पहुँचे, तब उनके सम्मानमें सभी ऋत्विज्, दैत्यराज बलि एवं अन्य सदस्य खड़े हो गये। बलिने बड़े आदरसे उन्हें उच्चासनपर बैठाया। उनके चरण धोकर उनकी पूजा की। अन्तमें नम्रतापूर्वक बलिने हाथ जोड़कर कहा—'आप ब्रह्मचारी ब्राह्मणकुमार हैं। आपके पधारनेसे मैं धन्य हो गया। अब आप जिस उद्देश्यसे आये हैं, वह बतानेकी कृपा करें। जो कुछ आप माँगना चाहें, माँग लें।'

भगवान् वामनने दैत्यकुलके औदार्यकी प्रशंसा की, दानवीरोंकी चर्चा की और बलिकी दानशीलताकी भी प्रशंसा की। इतना करके उन्होंने कहा—'मुझे अपने पैरोंसे तीन पद भूमि चाहिये।'

बलि हँस पड़े और बोले—'विप्रकुमार! आप विद्वान् हैं, किंतु हैं तो बालक ही। अरे, भूमि ही माँगनी है तो इतनी भूमि तो माँग लो, जिसमें तुम्हारी आजीविका चल जाय।'

परंतु जिसे तीनों लोक चाहिये, वह आजीविकामात्रके लिये भूमि क्यों ले। बड़ी गम्भीरतासे वामन बोले—'राजन्! तृष्णा बहुत बुरी होती है। यदि मैं तीन पद भूमिसे संतुष्ट न होऊँ तो तृष्णा तो राज्य चाहेगी, फिर राज्यकी कामना बढ़कर पूरा भूमण्डलकी माँग करेगी और आप जानते ही हैं कि तृष्णाकी तृप्ति तो आपका त्रिलोकीका राज्य पाकर भी नहीं होती। तृष्णा जाग्रत् करके आपने कुछ अच्छा नहीं किया। मुझे तो आप मेरे पैरोंसे नपी तीन पद भूमि दे दें—मेरे लिये इतना ही बहुत है।'

'अच्छी बात! जैसे आप प्रसन्न रहें।' बलिने हँसकर संकल्प करनेके लिये पत्नीसे जलपात्र माँगा। परंतु इतनेमें शुक्राचार्य वामनजीको पहचान गये थे। उन्होंने अपने शिष्यको डाँटा—'मूर्ख! क्या करने जा

रहा है ? ये नन्हे-से ब्राह्मणकुमार नहीं हैं । इस वेषमें तेरे सामने ये साक्षात् मायामय विष्णु खड़े हैं । ये अपने एक पदमें भूलोक और दूसरेमें स्वर्गादि लोक नाप लेंगे । तीसरा पद रखनेको स्थान छोड़ेंगे ही नहीं । सर्वस्व इन्हें देकर तू कहाँ रहेगा ? इन्हें हाथ जोड़ और कह दे कि देवता ! कोई और यजमान ढूँढ़ो । मुझपर तो कृपा ही करो ।'

'ये साक्षात् विष्णु हैं !' बलि भी चौंके । अपने आचार्यपर अविश्वास करनेका कारण नहीं था । मस्तक झुकाकर दो क्षण उन्होंने सोचा और तब उस महामनस्वीने सिर उठाया—'भगवन् ! आप इतने बड़े-बड़े यज्ञोंसे मेरे द्वारा जिन यज्ञमूर्ति विष्णुकी आराधना कराते हैं, वे साक्षात् विष्णु ये हों या और कोई; मैं तो भूमि देनेको कह चुका । प्रह्लादका पौत्र 'हाँ' करके कृपणकी भाँति अस्वीकार कर दे, यह नहीं हो सकता । मेरा कुछ भी हो जाय, द्वारपर आये ब्राह्मणको मैं शक्ति रहते विमुख नहीं करूँगा ।'

शुक्राचार्यको क्रोध आ गया । उन्होंने रोषपूर्वक कहा—'तू मेरी बात नहीं मानता, अपनेको बड़ा धर्मात्मा और पण्डित समझता है; इससे तेरा वैभव तत्काल नष्ट हो जायगा ।'

बलिने मस्तक झुकाकर गुरुदेवका शाप स्वीकार कर लिया किंतु अपना निश्चय नहीं छोड़ा । जल लेकर उन्होंने वामनको तीन पद भूमि देनेका संकल्प कर दिया । भूमिदान लेते ही वामन भगवान्ने विराट्स्वरूप धारण कर लिया । एक पदमें पूरी भूमि उन्होंने नाप ली और दूसरा पद उठाया तो उसके अङ्गुष्ठका नख ब्रह्माण्डावरणको भेदकर बाहर चला गया । अब भगवान्ने बलिसे कहा—'तू बड़ा दानवीर बनता था, मुझे तूने तीन पद भूमि दी है । दो पदमें ही तेरे त्रिलोकीका राज्य पूरा हो गया । अब तीसरे पदको रखनेका स्थान बता ।'

बलिने मस्तक झुकाकर कहा—'सम्पत्तिसे सम्पत्तिका स्वामी बड़ा होता है । आप तीसरा पद मेरे मस्तक पर रखें और अपना दान पूर्णतः ले लें ।'

भगवान्ने तीसरा पद बलिके मस्तकपर रखकर उन्हें धन्य कर दिया । इन्द्रको स्वर्ग प्राप्त हुआ । स्वयं वामन भगवान् उपेन्द्र बने इन्द्रकी रक्षाके लिये; किंतु बलिको तो उन्होंने अपने आपको ही दे दिया । स्वर्गसे भी अधिक ऐश्वर्यमय सुतललोक प्रभुने बलिको निवासके लिये दिया । अगले मन्वन्तरमें बलि इन्द्र बनेंगे, यह आश्वासन दिया । इससे भी आगे यह वरदान दिया कि वे अखिलेश्वर स्वयं हाथमें गदा लिये सदा सुतलमें बलिके द्वारपर उपस्थित रहेंगे । इस प्रकार छले जाकर भी बलि विजयी ही रहे और दयामय प्रभु उनके द्वारपाल बन गये । —सु० सि० (श्रीमद्भागवत ८ । १५—२३)

धर्मरक्षामें प्राप्त विपत्ति भी मङ्गलकारिणी होती है

पाण्डव वनवासका जीवन व्यतीत कर रहे थे । भगवान् व्यासकी प्रेरणासे अर्जुन अपने भाइयोंकी आज्ञा लेकर तपस्या करने गये । तप करके उन्होंने भगवान् शङ्करको प्रसन्न किया, आशुतोषने उन्हें अपना पाशुपतास्त्र प्रदान किया । इसके अनन्तर देवराज इन्द्र अपने रथमें बैठाकर अर्जुनको स्वर्गलोक ले गये । इन्द्रने तथा अन्य लोकपालोंने भी अपने दिव्यास्त्र अर्जुनको दिये । उन दिव्यास्त्रोंको लेकर अर्जुनने देवताओंके शत्रु निवात-कवचनामक असुरगणोंपर आक्रमण कर दिया । देवता भी उन असुरोंपर विजय नहीं पा रहे थे, उन असुरोंके बार-बारके आक्रमणसे देवता संत्रस्त हो रहे थे । अर्जुनने युद्धमें असुरोंको पराजित कर दिया । उनके गाण्डीव धनुषसे छूटे बाणोंकी मारसे व्याकुल होकर असुर भाग खड़े हुए और पाताल चले गये ।

असुर-विजयी मध्यम पाण्डव जब अमरावती लौटे, तब देवताओंने बड़े उल्लाससे उनका स्वागत किया। देव-सभा भरपूर सजायी गयी। देवराज इन्द्र अर्जुनको साथ लेकर अपने सिंहासनपर बैठे। गन्धर्वगणोंने वीणा उठायी। स्वर्गकी श्रेष्ठतम अप्सराएँ एक-एक करके नृत्य करने लगीं। देवराज किसी भी प्रकार अर्जुनको संतुष्ट करना चाहते थे। वे ध्यानसे अर्जुनकी ओर देख रहे थे कि उनकी रुचि और आकर्षणका पता लगा सकें।

अर्जुन स्वर्गमें थे। प्रापञ्चिक सौन्दर्य एवं ऐश्वर्यकी पराकाष्ठा स्वर्गभूमि आज विशेषरूपसे सजायी गयी थी। अप्सराएँ अपनी समस्त कला प्रकट करके देवताओं तथा देवराजके परमप्रिय अतिथिको रिझा लेना चाहती थीं। देवप्रतिहारी एक नृत्य समाप्त होनेपर दूसरी अप्सराका नाम लेकर परिचय देता और देवसभा एक नवीन झंकृतिसे झूम उठती। परंतु जिस अर्जुनके स्वागतमें यह सब हो रहा था, वे मस्तक झुकाये, नेत्र नीचे किये शान्त बैठे थे। स्वर्गके इस वैभवमें उन्हें अपने वल्कल पहिने, फल-मूल खाकर भूमिशयन करनेवाले वनवासी भाई स्मरण आ रहे थे। उन्हें तनिक भी आकर्षण नहीं जान पड़ता था अमरावतीमें।

सहसा देवप्रतिहारीने उर्वशीका नाम लिया। अर्जुनका सिर ऊपर उठा। देवसभामें उपस्थित होकर नृत्य करती उर्वशीको उन्होंने कई बार देखा। सहस्रलोचन इन्द्रने यह बात लक्षित कर ली। महोत्सव समाप्त होनेपर देवराजने गन्धर्वराज चित्रसेनको अपने पास बुलाकर कहा—'उर्वशीके पास जाकर मेरी यह आज्ञा सूचित कर दो कि आज रात्रिमें वे अर्जुनकी सेवामें पधारें। अर्जुन हम सबके परम प्रिय हैं। उन्हें आज वे अवश्य प्रसन्न करें।'

उर्वशी स्वयं अर्जुनपर अनुरक्त हो चुकी थी। चित्रसेनके द्वारा जब उसे देवराजका आदेश मिला, तब उसने उसे बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार किया। उस दिन उसने अपनेको उतना सजाया जितना वह अधिक-से-अधिक सजा सकती थी। रात्रिमें भरपूर शृङ्गार करके वह अर्जुनके निवासस्थानपर पहुँची।

अर्जुन उर्वशीको देखते ही शय्यासे उठकर खड़े हो गये। दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने मस्तक झुकाकर उसे प्रणाम किया और बोले—'माता! आप इस समय कैसे पधारीं? मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

उर्वशी तो अर्जुनके सम्बोधनसे ही भौंचक्की रह गयी। उसने स्पष्ट बतलाया कि वह स्वयं उनपर आसक्त है और देवराजका भी उसे आदेश मिला है। उसने प्रार्थना की कि अर्जुन उसे स्वीकार करें। लेकिन अर्जुनने स्थिरभावसे कहा—'आप मुझसे ऐसी अनुचित बात फिर न कहें। आप ही कुरुकुलकी जननी हैं, यह बात मैंने ऋषियोंसे सुन रक्खी थी। आज देवसभामें जब प्रतिहारीने आपका नाम लिया, तब मुझे आपका दर्शन करनेकी इच्छा हुई। मैंने अपने कुलकी माता समझकर अनेक बार आपके सुन्दर चरणोंके दर्शन किये। लगता है कि इसीसे देवराजको मेरे सम्बन्धमें कुछ भ्रम हो गया।'

उर्वशीने समझाया—'पार्थ! यह धरा नहीं है, स्वर्ग है। हम अप्सराएँ न किसीकी माता हैं न बहिन, न पत्नी ही। स्वर्गमें आया हुआ प्रत्येक प्राणी अपने पुण्यके अनुसार हमारा उपभोग कर सकता है। तुम मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लो।'

रात्रिका एकान्त समय था और पर्याप्त शृङ्गार किये स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी प्रार्थना कर रही थी; किंतु धर्मज्ञ अर्जुनके चित्तको कामदेव स्पर्श भी नहीं कर सका। उन्होंने उसी प्रकार हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'जिस प्रकार कुन्ती मेरी माता हैं, जिस प्रकार माद्री मेरी माता हैं, जिस प्रकार इन्द्राणी शचीदेवी मेरी माता हैं,

उसी प्रकार आपको भी मैं अपनी माता समझता हूँ। आप मुझे अपना पुत्र मानकर मुझपर अनुग्रह करें।'

उर्वशीकी ऐसी उपेक्षा तो कभी किसी ऋषिने भी नहीं की थी। उसे इसमें अपने सौन्दर्यका अपमान प्रतीत हुआ। उस कामातुराने क्रोधमें आकर शाप दिया—'तुमने नपुंसकके समान मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की, इसलिये हिंजड़े बनकर स्त्रियोंके बीच नाचते-गाते हुए तुम्हें एक वर्ष रहना पड़ेगा।'

शाप देकर उर्वशी चली गयी। अर्जुन भी उसे शाप देनेमें समर्थ थे और उन्हें अन्यायपूर्वक शाप दिया गया था; किंतु उन्होंने उर्वशीको जाते समय भी मस्तक झुकाकर प्रणाम ही किया।

प्रातःकाल देवराजको सब बातें ज्ञात हुईं। अर्जुनके संयमपर प्रसन्न होकर वे बोले—'धनञ्जय! धर्मका पालन करनेवालेपर कभी विपत्ति नहीं आती। यदि कोई विपत्ति आती भी है तो वह उसका मङ्गल ही करती है। उर्वशीका शाप तुम्हारे लिये एक मानव वर्षतक ही रहेगा और उस शापके कारण वनवासके अन्तिम अज्ञातवासवाले एक वर्षके समयमें तुम्हें कोई पहचान नहीं सकेगा। तुम्हारे लिये यह शाप उस समय वरदान ही सिद्ध होगा।' —सु० सिं० (महाभारत, वन० ४२-४६)

धन्य कौन ?

एक बार मुनियोंमें परस्पर इस विषयपर बड़ा विवाद हुआ कि 'किस समय थोड़ा-सा भी पुण्य अत्यधिक फलदायक होता है तथा कौन उसका सुविधापूर्वक अनुष्ठान कर सकता है?' अन्तमें वे इस संदेहके निवारणके लिये महामुनि व्यासजीके पास गये। उस समय दैववशात् वे गङ्गाजीमें स्नान कर रहे थे। ज्यों ही ऋषिगण वहाँ पहुँचे, व्यासजी डुबकी लगाकर ऊपर उठे और ऋषियोंको सुनाकर जोरसे बोले—'कलियुग ही श्रेष्ठ है, कलियुग ही श्रेष्ठ है।' यह कहकर वे पुनः जलमग्न हो गये। थोड़ी देर बाद जब वे जलसे पुनः बाहर निकले, तब 'शूद्र ही धन्य है, शूद्र ही धन्य है' यों कहकर फिर डुबकी लगा ली। इस बार जब वे जलसे बाहर आये, तब—'स्त्रियाँ ही धन्य हैं, स्त्रियाँ ही साधु हैं; उनसे अधिक धन्य कौन है?' यह वाक्य बोल गये और नियमानुसार ध्यानादि नित्यकर्ममें लग गये।

तदनन्तर जब वे ध्यानादिसे निवृत्त हुए, तब वे मुनिजन उनके पास आये। वहाँ जब वे अभिवादनादिके बाद शान्त होकर बैठ गये, तब सत्यवतीनन्दन व्यासदेवने उनके शुभागमनका कारण पूछा। ऋषियोंने कहा—"हमें आप पहले यह बताइये कि आपने जो 'कलियुग ही श्रेष्ठ है, शूद्र ही धन्य हैं, स्त्रियाँ ही धन्य हैं' यह कहा—इसका आशय क्या है? यदि कोई आपत्ति न हो तो पहले यही बतलानेका कष्ट करें। तदनन्तर हमलोग अपने आनेका कारण कहेंगे।"

व्यासदेवजी बोले—'ऋषियो! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तप, ब्रह्मचर्य और धर्माचरण करनेसे प्राप्त होता है, वही त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास तथा कलियुगमें केवल एक दिनमें प्राप्त होता है*। इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है। जो फल सत्ययुगमें योग, त्रेतामें यज्ञ और द्वापरमें पूजा करनेसे प्राप्त होता है, वही फल कलियुगमें केशवका नाम-कीर्तन करनेमात्रसे मिल जाता है। ऋषियो! कलियुगमें अत्यल्प श्रम, अत्यल्प कालमें अत्यधिक पुण्यकी प्राप्ति हो जाती है, इसीलिये मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है।

* यत् कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन तदह्ना प्राप्यते कलौ॥
(विष्णुपु० ६।२।१५)

"इसी प्रकार द्विजातियोंको उपनयनपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए वेदाध्ययन करना पड़ता है। तत्तद्धर्मोंके अनुष्ठानमें बड़ा श्रम और शक्तिका व्यय होता है। इस प्रकार बड़े क्लेशसे उन्हें पुण्योंकी प्राप्ति होती है; पर शूद्र तो केवल द्विजोंको सेवासे ही प्रसन्नकर अनायास वे पुण्य प्राप्त कर लेता है। और स्त्रियोंको भी ये पुण्य केवल मन, वचन, कर्मसे अपने पतिकी सेवा करनेसे ही उपलब्ध हो जाते हैं, इसीलिये मैंने 'शूद्र ही धन्य हैं, स्त्रियाँ ही साधु हैं; इनसे धन्य और कौन है!' ये शब्द कहे थे। अस्तु, अब कृपया आपलोग यह बतलायें कि आपके आनेका कौन-सा शुभ कारण है?"

ऋषियोंने कहा—'महामुने! हमलोग जिस प्रयोजनसे आये थे, वह कार्य हो गया। हमलोगोंमें यही विवाद छिड़ गया था कि अल्पकालमें कब अधिक पुण्य अर्जित किया जा सकता है तथा उसे कौन सम्पादित कर सकता है। वह आपके इस स्पष्टीकरणसे समाप्त तथा निर्णीत हो चुका।'

व्यासदेवने कहा—'ऋषियो! मैंने ध्यानसे आपके आनेकी बात जान ली थी तथा आपके हृद्गत भावोंको भी जान गया था। अतएव मैंने उपर्युक्त बातें कहीं और आपलोगोंको भी साधु-साधु कहा था। वास्तवमें जिन पुरुषोंने गुणरूप जलसे अपने सारे दोष धो डाले हैं, उनके थोड़े-से ही प्रयत्नसे कलियुगमें धर्म सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार शूद्रोंको द्विजसेवा तथा स्त्रियोंको पतिसेवासे अनायास ही महान् धर्मकी सिद्धि, विशाल पुण्यराशिकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार आपलोगोंकी अभीष्ट वस्तु मैंने बिना पूछे ही बतला दी थी।'

तदनन्तर उन्होंने व्यासजीका पूजन करके उनकी बार-बार प्रशंसा की और वे जैसे आये थे, वैसे ही अपने-अपने स्थानको लौट गये। —जा० श०

(विष्णुपुराण, अंश ६, अध्याय २)

सदाचारसे कल्याण

दशार्ण देशमें एक राजा रहता था वज्रबाहु। वज्रबाहुकी पत्नी सुमति अपने नवजात शिशुके साथ किसी असाध्य रोगसे ग्रस्त हो गयी। यह देख दुष्ट-बुद्धि राजाने उसे वनमें त्याग दिया। अनेकों प्रकारके कष्ट भोगती हुई वह आगे बढ़ी। बहुत दूर जानेपर उसे एक नगर मिला। उस नगरका रक्षक पद्माकर नामका एक महाजन था। उसकी दासीने रानीपर दया की और उसे अपने स्वामीके यहाँ आश्रय दिलाया। पद्माकर रानीको माताके समान आदरकी दृष्टिसे देखता था। उसने उन दोनों माँ-बेटेकी चिकित्साके लिये बड़े-बड़े वैद्य नियुक्त किये; तथापि रानीका पुत्र नहीं बच सका, मर ही गया। पुत्रके मरनेपर रानी मूर्च्छित हो गयी और बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी। इसी समय ऋषभ नामके प्रसिद्ध शिवयोगी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने उसे विलाप करते देख कहा—'बेटी! तुम इतना क्यों रो रही हो? फेनके समान इस शरीरकी मृत्यु होनेपर विद्वान् पुरुष शोक नहीं करते। कल्पान्त-जीवी देवताओंकी भी आयुमें उलट-फेर होता है। कोई कालको इस शरीरकी उत्पत्तिमें कारण बताते हैं, कोई कर्मको और कोई गुणोंको। वस्तुतः काल, कर्म और गुण—इन तीनोंसे ही शरीरका आधान हुआ है। जीव अव्यक्तसे उत्पन्न होता है, अव्यक्तमें ही लीन होता है। केवल मध्यमें बुलबुलेकी भाँति व्यक्त-सा प्रतीत होता है। पूर्वकर्मानुसार ही जीवको शरीरकी प्राप्ति होती है। कर्मोंके अनुरूप ही उसे सुख-दुःखकी भी प्राप्ति होती है। कर्मोंका उल्लङ्घन करना असम्भव है।

कालका भी अतिक्रमण करना किसीके लिये सम्भव नहीं। जगत्के समस्त पदार्थ मायामय तथा अनित्य हैं। इसलिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जैसे स्वप्नके पदार्थ, इन्द्रजाल, गन्धर्व-नगर, शरद् ऋतुके बादल अत्यन्त क्षणिक होते हैं, उसी प्रकार यह मनुष्यशरीर भी है। अबतक तुम्हारे अरबों जन्म बीत चुके हैं। अब तुम्हीं बताओ, तुम किसकी-किसकी पुत्री, किसकी-किसकी माता और किसकी-किसकी पत्नी हो? मृत्यु सर्वथा अनिवार्य है। कोई भी व्यक्ति अपनी तपस्या, विद्या, बुद्धि, मन्त्र, ओषधि तथा रसायनसे इसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। आज एक जीवकी मृत्यु होती है तो कल दूसरेकी। इस जन्म-मरणके चक्करसे बचनेके लिये उमापति भगवान् महादेव ही एकमात्र शरण हैं। जब मन सब प्रकारकी आसक्तियोंसे अलग होकर भगवान् शंकरके ध्यानमें मग्न हो जाता है, तब फिर इस संसारमें जन्म नहीं होता। भद्रे! यह मन शिवके ध्यानके लिये है। इसे शोक-मोहमें मत डुबाओ।'

शिवयोगीके तत्त्वभरे करुणापूर्ण उपदेशोंको सुनकर रानीने कहा—'भगवन्! जिसका एकमात्र पुत्र मर गया हो, जिसे प्रिय बन्धुओंने त्याग दिया हो और जो महान् रोगसे अत्यन्त पीड़ित हो, ऐसी मुझ अभागिनके लिये मृत्युके अतिरिक्त और कौन गति है? इसलिये मैं इस शिशुके साथ ही प्राण त्याग देना चाहती हूँ। मृत्युके समय जो आपका दर्शन हो गया, मैं इतनेसे ही कृतार्थ हो गयी।'

रानीकी बात सुनकर दयानिधान शिवयोगी शिव-मन्त्रसे अभिमन्त्रित भस्म लेकर बालकके पास गये और उसके मुँहमें डाल दिया। विभूतिके पड़ते ही वह मरा हुआ बालक उठ बैठा। उन्होंने भस्मके प्रभावसे माँ-बेटेके घावोंको भी दूर कर दिया। अब उन दोनोंके शरीर दिव्य हो गये। ऋषभने रानीसे कहा—'बेटी! जबतक इस संसारमें जीवित रहोगी, वृद्धावस्था तुम्हारा स्पर्श नहीं करेगी। तुम दोनों दीर्घकालतक जीवित रहो। तुम्हारा यह पुत्र भद्रायु नामसे विख्यात होगा और अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लेगा।'

यों कहकर ऋषभ चले गये। भद्रायु उसी वैश्य-राजके घरमें बढ़ने लगा। वैश्यका भी एक पुत्र 'सुनय' था। दोनों कुमारोंमें बड़ा स्नेह हो गया। जब राजकुमार-का सोलहवाँ वर्ष पूरा हुआ, तब वे ऋषभ योगी पुनः वहाँ आये। तबतक राजकुमार पर्याप्त पढ़-लिख चुका था। माताके साथ वह योगीके चरणोंपर गिर पड़ा। माताने अपने पुत्रके लिये कुछ उचित शिक्षाकी प्रार्थना की। इसपर ऋषभ बोले—"वेद, स्मृति और पुराणोंमें जिसका उपदेश किया गया है, वही 'सनातनधर्म' है। सभीको चाहिये कि अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके शास्त्रोक्त धर्मोंका पालन करें। तुम भी उत्तम आचारका ही पालन करो। देवताओंकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन न करो। गौ-ब्राह्मण-देवता-गुरुके प्रति सदा भक्तिभाव रक्खो। स्नान, जप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण, गोपूजा, देवपूजा और अतिथिपूजामें कभी भी आलस्यको समीप न आने दो। क्रोध, द्वेष, भय, शठता, चुगली, कुटिलता आदिका यत्नपूर्वक त्याग करो। अधिक भोजन, अधिक बातचीत, अधिक खेलकूद तथा क्रीडाविलासको सदाके लिये छोड़ दो। अधिक विद्या, अधिक श्रद्धा, अधिक पुण्य, अधिक स्मरण, अधिक उत्साह, अधिक प्रसिद्धि और अधिक धैर्य जैसे भी प्राप्त हो, इसके लिये सदा प्रयत्न करो। अनुराग साधुओंमें करो। धूर्त, क्रोधी, क्रूर, छली, पतित, नास्तिक और कुटिल मनुष्यको दूरसे ही त्याग दो। अपनी प्रशंसा न करो। पापरहित मनुष्योंपर संदेह न करो। माता, पिता और गुरुके कोपसे बचो। आयु, यश, बल, पुण्य, शान्ति जिस उपायसे मिले, उसीका अनुष्ठान करो। देश, काल, शक्ति, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य आदिका भलीभाँति विचार करके यत्नपूर्वक कर्म करो। स्नान, जप, पूजा, हवन, श्राद्धादिमें उतावली न करो। वेदवेत्ता

ब्राह्मण, शान्त संन्यासी, पुण्य वृक्ष, नदी, तीर्थ, सरोवर, धेनु, वृषभ, पतिव्रता स्त्री और अपने घरके देवताओंके पास जाते ही नमस्कार करो।'

यों कहकर शिवयोगीने भद्रायुको शिवकवच, एक शङ्ख और खड्ग दिया। फिर भस्मको अभिमन्त्रितकर उसके शरीरमें लगाया, जिससे भद्रायुमें बारह हजार हाथियोंका बल हो गया। तदनन्तर योगीने कहा—'ये खड्ग और शङ्ख दोनों ही दिव्य हैं, इन्हें देख-सुनकर ही तुम्हारे शत्रु नष्ट हो जायँगे।'

इधर वज्रबाहुको शत्रुओंने परास्त करके बाँध लिया, उसकी रानियोंका अपहरण कर लिया और दशार्ण देशका राज्य नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसे सुनते ही भद्रायु सिंहकी भाँति गर्जना करने लगा। उसने जाकर शत्रुओं-पर आक्रमण किया और उन्हें नष्टकर अपने पिताको मुक्त कर लिया। निषधराजकी कन्या कीर्तिमालिनीसे उसका विवाह हुआ। वज्रबाहुको अपनी योग्य पत्नीसे मिलकर बड़ी लज्जा हुई। उन्होंने राज्य अपने पुत्रको सौंप दिया। तदनन्तर भद्रायु समस्त पृथ्वीके सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् हो गये।—जा० श०

(स्कन्दपुराण, ब्राह्मखण्ड, ब्रह्मोत्तरखण्ड, अध्याय १०-११)

हमें मृत्युका भय नहीं है

हैहय क्षत्रियोंके वंशमें एक परपुरञ्जय नामक राज-कुमार हो गये हैं। एक बार वे वनमें आखेटके लिये गये। वृक्षोंकी आड़से उन्होंने दूरपर एक मृगका कुछ शरीर देखा और बाण छोड़ दिया। पास जानेपर उन्हें पता लगा कि मृगके धोखेमें उन्होंने मृगचर्म ओढ़े एक मुनिको मार डाला है। इस ब्रह्महत्याके कारण उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। दु:खित होकर वे अपने नगरमें लौट आये और अपने नरेशसे सब बातें उन्होंने सच-सच कह दीं। हैहय-नरेश राजकुमारके साथ वनमें गये और वहाँ एक युवक मुनिको मरा हुआ देखकर बहुत चिन्तित हुए। उन्होंने यह पता लगानेका प्रयत्न किया कि वे मुनि किसके पुत्र या शिष्य हैं।

ढूँढ़ते हुए हैहय-नरेश वनमें महर्षि अरिष्टनेमाके आश्रमपर पहुँचे। ऋषिको प्रणाम करके वे चुपचाप खड़े हो गये। जब ऋषि उनका सत्कार करने लगे, तब नरेशने कहा—'हमारे द्वारा ब्रह्महत्या हुई है, अतः हम आपसे सत्कार पाने योग्य नहीं हैं।'

ऋषि अरिष्टनेमाने पूछा—'आपलोगोंने किस प्रकार ब्रह्महत्या की? उस मृत ब्राह्मणका शरीर कहाँ है?'

नरेशने ब्रह्महत्याकी घटना सुनायी और मृत ब्राह्मणका शरीर जहाँ छोड़ा था, वहाँ उसे लेने गये; किंतु उन्हें वहाँ शव मिला नहीं। अपनी असावधानीके लिये उन्हें और भी ग्लानि हुई।

उन दोनोंको अत्यन्त दु:खित एवं लज्जित देखकर ऋषिने अपनी कुटियासे बाहर अपने पुत्रको बुलाया और बोले—'तुमने जिसे मार डाला था, वह यही ब्राह्मण है। यह तपस्वी मेरा ही पुत्र है।'

नरेश आश्चर्यमें पड़ गये। उन्होंने पूछा—'भगवन्! यह क्या बात है? ये महात्मा फिर कैसे जीवित हो गये? यह आपके तपका प्रभाव है या इनमें ही कोई अद्भुत शक्ति है?'

ऋषिने बताया—'राजन्! मृत्यु हमारा स्पर्श भी नहीं कर सकती। हम सदा सत्यका पालन करते हैं, मिथ्या-की ओर हमारा मन भूलकर भी नहीं जाता। हम सर्वदा अपने धर्मके अनुसार ही आचरण करते हैं, अतः मृत्युसे हमें कोई भय नहीं है। हम विद्वानों तथा ब्राह्मणोंके गुण ही प्रकट करते हैं, उनके अवगुणपर दृष्टि नहीं डालते; अतः मृत्युसे हमें डर नहीं है। हम

भोजनकी सामग्रीसे यथाशक्ति पूरा अतिथि-सत्कार करते हैं और जिनके भरण-पोषणका भार हमपर है, उन्हें तृप्त करके ही अन्तमें भोजन करते हैं; इसीसे मृत्यु हमपर अपना बल नहीं दिखा सकती। हम शान्त, जितेन्द्रिय और क्षमाशील हैं। हम तीर्थयात्रा और दान करते हैं तथा पवित्र देशमें रहते हैं; इसलिये हमें मृत्युका भय नहीं है। हम सदा तेजस्वी सत्पुरुषोंका ही सङ्ग करते हैं, इसलिये हमें मृत्युका खटका नहीं है।'

इतना बताकर ऋषिने नरेशको आश्वासन देकर विदा किया।—सु० सिं० (महाभारत, वन० १८४)

नास्तिकताका कुठार

एक वैश्य था, जिसका नाम था नन्दभद्र। उसकी धर्मनिष्ठा देखकर लोग उसे साक्षात् 'धर्मावतार' कहा करते थे। वास्तवमें वह था भी वैसा ही। धर्मसम्बन्धी कोई भी विषय ऐसा न था, जिसकी उसे जानकारी न हो। वह सबका सुहृद् एवं हितैषी था। उसका पड़ोसी एक शूद्र था, जिसका नाम था सत्यव्रत। यह ठीक नन्दभद्रके विपरीत बड़ा भारी नास्तिक और दुराचारी था। यह नन्दभद्रका घोर द्वेषी था और सदा उसकी निन्दा किया करता था। वह अवसर ढूँढ़ता रहता था कि कहीं छिद्र मिले तो इसे धर्मसे गिराऊँ।

आखिर एक दिन इसका मौका भी उसे मिल गया। बेचारे नन्दभद्रके एकमात्र युवा पुत्रका देहान्त हो गया और थोड़े ही दिनों बाद उसकी धर्मपत्नी कनका भी चल बसी। नन्दभद्रको इन घटनाओंसे बड़ी चोट पहुँची। विशेषकर पत्नीके न रहनेसे गृहस्थ-धर्मके नाशकी उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। सत्यव्रत तो यही अवसर ढूँढ़ रहा था। वह कपटपूर्वक 'हाय! हाय! बड़े कष्टकी बात हुई।' इत्यादि शब्दोंसे सहानुभूतिका स्वाँग रचता नन्दभद्रके पास आया और कहने लगा—'भाई! जब आपकी भी यह दशा देखता हूँ तो मुझे यह निश्चय हो जाता है कि धर्म केवल धोखेकी टट्टी है। मैं कई वर्षोंसे आपसे एक बात कहना चाहता था, पर अवसर न आया।' नन्दभद्रके बहुत आग्रह करनेपर सत्यव्रत कहने लगा—'भाई! जबसे आपने पत्थरोंकी पूजा शुरू की, मुझे तभीसे आपके दिन बिगड़े दिखायी पड़ने लगे थे। एक लड़का था, वह भी मर गया। बेचारी साध्वी स्त्री भी चल बसी। ऐसा फल तो बुरे कर्मोंका ही होता है। नन्दभद्रजी! ईश्वर, देवता कहीं कुछ नहीं हैं। यह सब झूठ है। यदि वे होते तो किसीको कभी दिखलायी क्यों न देते? यथार्थमें यह सब दम्भी ब्राह्मणोंकी धूर्तता है। लोग पितरोंको दान देते हैं, ब्राह्मणोंको खिलाते हैं, यह सब देखकर मुझे हँसी आती है। क्या मरे हुए लोग कभी खा सकते हैं! इस जगत्‌का कोई निर्माता ईश्वर नहीं है। सूर्य आदिका भ्रमण, वायुका बहना, पृथ्वी, पर्वत, समुद्रोंका अस्तित्व—यह सब स्वभावसे ही है। धूर्तजन मनुष्यजन्मकी प्रशंसा करते हैं। पर सच्ची बात तो यह है कि मनुष्य-जन्म ही सर्वोपरि कष्ट है, वह तो शत्रुओंको भी न हो। मनुष्यको सैकड़ों शोकके अवसर सर्वदा आते रहते हैं। जो इस मनुष्य-शरीरसे बचे, वही भाग्यवान् है। पशु, पक्षी, कीड़े—ये सब कैसे भाग्यवान् हैं, जो सदैव स्वतन्त्र घूमा करते हैं। अधिक क्या कहूँ? पुण्य-पापकी कथा भी कोरी गप्प ही है। अतः इनकी उपेक्षा कर यथारुचि खाना-पीना और मौज उड़ाना चाहिये।'

नन्दभद्रपर इन बातोंका अब भी कोई प्रभाव न पड़ा। हँसकर उन्होंने कहा, 'भाई सत्यव्रत! आपने जो कहा कि धर्मका आचरण करनेवाले सदा दुखी रहते हैं, यह असत्य है; क्योंकि मैं पापियोंको भी दुःख-जालमें फँसा

देखता ही हूँ। वध-बन्धन, क्लेश, पुत्र-स्त्रीकी मृत्यु—यह पापियोंको भी होता है। इसलिये धर्म ही श्रेष्ठ है; क्योंकि 'यह बड़ा धर्मात्मा है, इसका लोग बड़ा आदर करते हैं,' ऐसी बात पापियोंके भाग्यमें नहीं होती। और मैं पूछता हूँ, पाप यदि बुरा नहीं है तो कोई पापी यदि आपकी स्त्री या धनका अपहरण करनेके लिये आपके घरमें घुस आये तो आप उसका विरोध क्यों करते हैं? आपने जो यह कहा कि 'व्यर्थ पत्थरकी पूजा क्यों करते हो?' सो अंधा सूर्यको कैसे देख सकता है? ब्रह्मा आदि देवता, बड़े-बड़े महात्मा, ऋषि-मुनि तथा ऐश्वर्यशाली सार्वभौम चक्रवर्ती राजा भी भगवान्‌की आराधना करते हैं। उनकी स्थापित देवमूर्तियाँ आज भी प्रत्यक्ष हैं। क्या वे सभी मूर्ख थे और एक आप ही बुद्धिमान् हैं? 'देवता नहीं हैं, वे होते तो क्या किसीको दिखलायी नहीं पड़ते?' आपके इस वाक्यको सुनकर हमें तो बड़ी हँसी आती है। पता नहीं आप कौन-से ऐसे सिद्ध हैं, जो देवतालोग भिखमंगेकी तरह आपके दरवाजे भीख माँगने आयें। आप जो कहते हैं कि ये संसारकी सारी वस्तुएँ अपने-आप उत्पन्न हो गयी हैं, तो हम पूछते हैं कि भोजन आपकी थालीमें स्वयं बनकर क्यों नहीं अपने-आप उपस्थित हो जाता? 'ईश्वर नहीं है' यह भी बच्चोंकी-सी बात है। क्या बिना शासकके प्रजा रह सकती है? आप जो मनुष्यकी अपेक्षा अन्य सभी प्राणियोंको धन्य बतलाते हैं, यह तो मैंने आपके अतिरिक्त किसी दूसरेके मुखसे कभी सुना ही नहीं। मैं पूछता हूँ यदि ये जड, तामस, सभी अङ्गोंसे विकल अन्य प्राणी धन्य हैं तो सभी इन्द्रियों एवं साधनों तथा बुद्धि आदि वैभवोंसे सम्पन्न मनुष्य कैसे धन्य नहीं है?'

इसी प्रकार सत्यव्रतको कुछ और समझाकर नन्दभद्रजी तप करने वनमें चले गये। —जा० श०

(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, कुमारिकाखण्ड, ४०। ४१)

सदाचारका बल

वरुणा नदीके तटपर अरुणास्पद नामके नगरमें एक ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा सदाचारी तथा अतिथिवत्सल था। रमणीय वनों एवं उद्यानोंको देखनेकी उसकी बड़ी इच्छा थी। एक दिन उसके घरपर एक ऐसा अतिथि आया, जो मणि-मन्त्रादिविद्याओंका ज्ञाता था और उनके प्रभावसे प्रतिदिन हजारों योजन चला जाता था। ब्राह्मणने उस सिद्ध अतिथिका बड़ा सत्कार किया। बात-चीतके प्रसंगमें सिद्धने अनेकों वन, पर्वत, नगर, राष्ट्र, नद, नदियों एवं तीर्थोंकी चर्चा चलायी। यह सुनकर ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ। उसने कहा कि मेरी भी इस पृथ्वीको देखनेकी बड़ी इच्छा है। यह सुनकर उदारचित्त आगन्तुक सिद्धने उसे पैरमें लगानेके लिये एक लेप दिया, जिसे लगाकर ब्राह्मण हिमालय पर्वतको देखने चला। उसने सोचा था कि सिद्धके कथनानुसार मैं आधे दिनमें एक हजार योजन चला जाऊँगा तथा शेष आधे दिनमें पुनः लौट आऊँगा।

अस्तु! वह हिमालयके शिखरपर पहुँच गया और वहाँकी पर्वतीय भूमिपर पैदल ही विचरना शुरू किया। बर्फपर चलनेके कारण उसके पैरोंमें लगा हुआ दिव्य लेप धुल गया। इससे उसकी तीव्रगति कुण्ठित हो गयी। अब वह इधर-उधर घूमकर हिमालयके मनोहर शिखरोंका अवलोकन करने लगा। वह स्थान सिद्ध, गन्धर्व, किन्नरोंका आवास हो रहा था। इनके विहारस्थल होनेसे उसकी रमणीयता बहुत बढ़ गयी थी। वहाँके मनोहर शिखरोंके देखनेसे उसके शरीरमें आनन्दसे रोमाञ्च हो आया।

दूसरे दिन उसका विचार हुआ कि अब घर चलें। पर अब उसे पता चला कि उसके पैरोंकी गति कुण्ठित

हो चुकी है। वह सोचने लगा—'अहो ! यहाँ बर्फके पानीसे मेरे पैरका लेप धुल गया। इधर यह पर्वत अत्यन्त दुर्गम है और मैं अपने घरसे हजारों योजनकी दूरीपर हूँ। अब तो घर न पहुँचनेके कारण मेरे अग्निहोत्रादि नित्य-कर्मोंका लोप होना चाहता है। यह तो मेरे ऊपर भयानक संकट आ पहुँचा। इस अवस्थामें किसी तपस्वी या सिद्ध महात्माका दर्शन हो जाता तो वे कदाचित् मेरे घर पहुँचनेका कोई उपाय बतला देते।' इसी समय उसके सामने वरूथिनी नामकी अप्सरा आयी। वह उसके रूपसे आकृष्ट हो गयी थी। उसे सामने देखकर ब्राह्मणने पूछा—'देवि ! मैं ब्राह्मण हूँ और अरुणास्पद नगरसे यहाँ आया हूँ। मेरे पैरमें दिव्य लेप लगा हुआ था, उसके धुल जानेसे मेरी दूरगमनकी शक्ति नष्ट हो गयी है और अब मेरे नित्यकर्मोंका लोप होना चाहता है। कोई ऐसा उपाय बतलाओ, जिससे सूर्यास्तके पूर्व ही अपने घरपर पहुँच जाऊँ।'

वरूथिनी बोली—'महाभाग ! यह तो अत्यन्त रमणीय स्थान है। स्वर्ग भी यहाँसे अधिक रमणीय नहीं है। इसलिये हमलोग स्वर्गको भी छोड़कर यहीं रहते हैं। आपने मेरे मनको हर लिया है। मैं आपको देखकर कामके वशीभूत हो गयी हूँ। मैं आपको सुन्दर वस्त्र, हार, आभूषण, भोजन, अङ्गरागादि दूँगी। आप यहीं रहिये। यहाँ रहनेसे कभी बुढ़ापा नहीं आयेगा। यह यौवनको पुष्ट करनेवाली देवभूमि है।' यों कहते-कहते वह बावली-सी हो गयी और 'मुझपर कृपा कीजिये, कृपा कीजिये' कहती हुई उसका आलिङ्गन करने लगी।

तब ब्राह्मणने 'अरी ओ दुष्टे ! मेरे शरीरको न छू। जो तेरे ही ऐसा हो, वैसे ही किसी अन्य पुरुषके पास चली जा। मैं कुछ और भावसे प्रार्थना करता हूँ और तू कुछ और ही भावसे मेरे पास आती है ? मूर्खे ! यह सारा संसार धर्ममें प्रतिष्ठित है। सायं-प्रातःका अग्निहोत्र, विधिपूर्वक की गयी इज्या ही विश्वको धारण करनेमें समर्थ है और मेरे उस नित्यकर्मका ही यहाँ लोप होना चाहता है। तू तो मुझे कोई ऐसा सरल उपाय बता, जिससे मैं शीघ्र अपने घर पहुँच जाऊँ।' इसपर वरूथिनी बहुत गिड़गिड़ाने लगी। उसने कहा, 'ब्राह्मण ! जो आठ आत्मगुण बतलाये गये हैं, उनमें दया ही प्रधान है। आश्चर्य है, तुम धर्मपालक बनकर भी उसकी अवहेलना कैसे कर रहे हो ! कुलनन्दन ! मेरी तो तुमपर कुछ ऐसी प्रीति उत्पन्न हो गयी है कि, सच मानो, अब तुमसे अलग होकर जी न सकूँगी। अब तुम कृपाकर मुझपर प्रसन्न हो जाओ।'

ब्राह्मणने कहा—'यदि सचमुच तुम्हारी मुझमें प्रीति हो तो मुझे शीघ्र कोई ऐसा उपाय बतलाओ, जिससे मैं तत्काल घर पहुँच जाऊँ।' पर अप्सराने एक न सुनी और नाना प्रकारके अनुनय-विनय तथा विलापादिसे वह उसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा करती गयी। ब्राह्मणने अन्तमें कहा, 'वरूथिनि ! मेरे गुरुजनोंने उपदेश दिया है कि परायी स्त्रीकी कदापि अभिलाषा न करे। इसलिये तू चाहे विलख या सूखकर दुबली हो जा; मैं तो तेरा स्पर्श नहीं ही कर सकता, न तेरी ओर दृष्टिपात ही करता हूँ।'

यों कहकर उस महाभागने जलका स्पर्श तथा आचमन किया और गार्हपत्य अग्निको मन-ही-मन कहा—'भगवन् ! आप ही सब कर्मोंकी सिद्धिके कारण हैं। आपकी ही तृप्तिसे देवता वृष्टि करते और अन्नादिकी वृद्धिमें कारण बनते हैं। अन्नसे सम्पूर्ण जगत् जीवन धारण करता है, और किसीसे नहीं। इस तरह आपसे ही जगत्की रक्षा होती है। यदि यह सत्य है तो मैं सूर्यास्तके पूर्व ही घरपर पहुँच जाऊँ। यदि मैंने कभी भी वैदिक कर्मानुष्ठानमें कालका परित्याग न किया हो तो आज घर पहुँचकर डूबनेसे पहले ही सूर्यको देखूँ। यदि मेरे मनमें पराये धन तथा परायी स्त्रीकी अभिलाषा कभी भी न हुई हो तो मेरा यह मनोरथ सिद्ध हो जाय।'

ब्राह्मणके यों कहते ही उनके शरीरमें गार्हपत्य अग्निने प्रवेश किया। फिर तो वे ज्वालाओंके बीचमें प्रकट हुए मूर्तिमान् अग्निदेवकी भाँति उस प्रदेशको प्रकाशित करने लगे और उस अप्सराके देखते-ही-देखते वे वहाँसे चले तथा एक ही क्षणमें घर पहुँच गये। घर पहुँचकर पुनः उन्होंने यथाशास्त्र सब कर्मोंका अनुष्ठान किया और बड़ी शान्ति एवं धर्म-प्रीतिसे जीवन व्यतीत किया। —जा० श० (मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ६१)

गर्भस्थ शिशुपर माताके जीवनका गम्भीर प्रभाव पड़ता है

भक्तश्रेष्ठ प्रह्लादजीको दैत्यराज हिरण्यकशिपु भगवान्‌के स्मरण-भजनसे विरत करना चाहता था। उसकी धारणा थी कि 'प्रह्लाद अभी बालक है, उसे किसीने बहका दिया है। ठीक ढंगसे शिक्षा मिलनेपर उसके विचार बदल जायँगे।' इस धारणाके कारण दैत्यराजने प्रह्लादको शुक्राचार्यके पुत्र षण्ड तथा अमर्कके आश्रममें पढ़नेके लिये भेज दिया था और उन दोनों आचार्योंको आदेश दे दिया था कि वे सावधानीपूर्वक उसके बालकको दैत्योचित अर्थनीति, दण्डनीति, राजनीति आदिकी शिक्षा दें।

आचार्य जो कुछ पढ़ाते थे, उसे प्रह्लाद पढ़ लेते थे, स्मरण कर लेते थे; किंतु उसमें उनका मन नहीं लगता था। उस शिक्षाके प्रति उनकी महत्त्वबुद्धि नहीं थी। जब दोनों आचार्य आश्रमके काममें लग जाते, तब प्रह्लाद दूसरे सहपाठी दैत्य-बालकोंको अपने पास बुला लेते। एक तो वे राजकुमार थे, दूसरे उन्हें मारनेके दैत्यराजके अनेक प्रयत्न व्यर्थ हो चुके थे; इससे सब दैत्य-बालक उनका बहुत सम्मान करते थे। प्रह्लादके बुलानेपर वे खेलना छोड़कर उनके पास आ जाते और ध्यानसे उनकी बातें सुनते। प्रह्लाद उन्हें संयम, सदाचार, जीवदयाका महत्त्व बतलाते; सांसारिक भोगोंकी निस्सारता समझाकर भगवान्‌के भजनकी महिमा सुनाते। बालकोंको यह सब सुनकर बड़ा आश्चर्य होता।

दैत्य-बालकोंने पूछा—'प्रह्लादजी! तुम्हारी अवस्था छोटी है। तुम भी हमलोगोंके साथ ही राजभवनमें रहे हो और इन आचार्योंके पास पढ़ने आये हो। तुम्हें ये सब बातें कैसे ज्ञात हुईं?'

प्रह्लादजीने बतलाया—"भाइयो! इसके पीछे भी एक इतिहास है। मेरे चाचा हिरण्याक्षकी मृत्युके पश्चात् मेरे पिताने अपनेको अमरप्राय बनानेके लिये तपस्या करनेका निश्चय किया और वे मन्दराचलपर चले गये। उनकी अनुपस्थितिमें देवताओंने दैत्यपुरीपर आक्रमण कर दिया। दैत्य अपने नायकके अभावमें पराजित हो गये और अपने स्त्री-पुत्रादिको छोड़कर प्राण बचाकर इधर-उधर भाग गये। देवताओंने दैत्योंके सूने घरोंको लूट लिया और उनमें आग लगा दी। लूट-पाटके अन्तमें देवराज इन्द्र मेरी माता कयाधूको बन्दिनी बनाकर अमरावती ले चले। मार्गमें ही देवर्षि नारद मिले। उन्होंने देवराजको डाँटा—'इन्द्र! तुम इस परायी साध्वी नारीको क्यों पकड़े लिये जाते हो? इसे तुरंत छोड़ दो।'

"इन्द्रने कहा—'देवर्षि! इसके पेटमें दैत्यराजका बालक है। हम दैत्योंका वंश नष्ट कर देना चाहते हैं। इसका पुत्र उत्पन्न हो जाय तो उसे मैं मार डालूँगा और तब इसे छोड़ दूँगा।'

"नारदजीने बताया—'भूलते हो, देवराज! इसके गर्भमें भगवान्‌का महान् भक्त है। तुम्हारी शक्ति नहीं कि तुम उसका कुछ भी बिगाड़ सको।'

"देवराजका भाव तत्काल बदल गया। वे हाथ

जोड़कर बोले—'देवर्षि क्षमा करें ! मुझे पता नहीं था कि इसके गर्भमें कोई भगवद्‌भक्त है ।' इन्द्रने मेरी माताकी परिक्रमा की । गर्भस्थ शिशुके प्रति मस्तक झुकाया और मेरी माताको छोड़कर चले गये ।

"नारदजीने मेरी मातासे कहा—'बेटी ! मेरे आश्रममें चलो और जबतक तुम्हारे पतिदेव तपस्यासे निवृत्त होकर न लौटें, तबतक वहीं सुखपूर्वक रहो ।'

देवर्षि तो आश्रममें दिनमें एक बार आते थे, किंतु मेरी माताको वहाँ कोई कष्ट नहीं था । वह आश्रमके अन्य ऋषियोंकी सेवा करती थी । देवर्षि नारदजी उसे भगवद्‌भक्तिका उपदेश किया करते थे । देवर्षिका लक्ष्य मुझे उपदेश करना था । माताके गर्भमें ही वे दिव्य उपदेश मैंने सुने । बहुत दिन बीत जानेके कारण और स्त्री होनेसे घरके कामोंमें उलझनेके कारण माताको तो वे उपदेश भूल गये; किंतु देवर्षिकी कृपासे मुझे उनके उपदेश स्मरण हैं ।" —सु० सिं० (श्रीमद्भागवत ७ । ६-७)

दूषित अन्नका प्रभाव

महाभारतका युद्ध समाप्त हो गया था । धर्मराज युधिष्ठिर एकच्छत्र सम्राट् हो गये थे । श्रीकृष्णचन्द्रकी सम्मतिसे रानी द्रौपदी तथा अपने भाइयोंके साथ वे युद्धभूमिमें शरशय्यापर पड़े प्राणत्यागके लिये सूर्यके उत्तरायण होनेकी प्रतीक्षा करते परम धर्मज्ञ भीष्मपितामहके समीप आये थे । युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मपितामह उन्हें वर्ण, आश्रम तथा राजा-प्रजा आदिके विभिन्न धर्मोंका उपदेश कर रहे थे । यह धर्मोपदेश चल ही रहा था कि रानी द्रौपदीको हँसी आ गयी ।

'बेटी ! तू हँसी क्यों ?' पितामहने उपदेश बीचमें ही रोककर पूछा ।

द्रौपदीजीने संकुचित होकर कहा—'मुझसे भूल हुई । पितामह मुझे क्षमा करें ।'

पितामहका इससे संतोष होना नहीं था । वे बोले—'बेटी ! कोई भी शीलवती कुलवधू गुरुजनोंके सम्मुख अकारण नहीं हँसती । तू गुणवती है, सुशीला है । तेरी हँसी अकारण हो नहीं सकती । संकोच छोड़कर तू अपने हँसनेका कारण बता ।'

हाथ जोड़कर द्रौपदीजी बोलीं—'दादाजी ! यह बहुत ही अभद्रताकी बात है; किंतु आप आज्ञा देते हैं तो कहनी पड़ेगी । आपकी आज्ञा मैं टाल नहीं सकती । आप धर्मोपदेश कर रहे थे तो मेरे मनमें यह बात आयी कि 'आज तो आप धर्मकी ऐसी उत्तम व्याख्या कर रहे हैं; किंतु कौरवोंकी सभामें जब दुःशासन मुझे नंगी करने लगा था, तब आपका यह धर्मज्ञान कहाँ चला गया था । मुझे लगा कि यह धर्मका ज्ञान आपने पीछे सीखा है । मनमें यह बात आते ही मुझे हँसी आ गयी, आप मुझे क्षमा करें ।'

पितामहने शान्तिपूर्वक समझाया—'बेटी ! इसमें क्षमा करनेकी कोई बात नहीं है । मुझे धर्मज्ञान तो उस समय भी था; परंतु दुर्योधनका अन्यायपूर्ण अन्न खानेसे मेरी बुद्धि मलिन हो गयी थी, इसीसे उस द्यूतसभामें धर्मका ठीक निर्णय करनेमें मैं असमर्थ हो गया था । परंतु अब अर्जुनके बाणोंके लगनेसे मेरे शरीरका सारा रक्त निकल गया है । दूषित अन्नसे बने रक्तके शरीरसे बाहर निकल जानेके कारण अब मेरी बुद्धि शुद्ध हो गयी है; इससे इस समय मैं धर्मका तत्त्व ठीक समझता हूँ और उसका विवेचन कर रहा हूँ ।'—सु० सिं०

आर्य-कन्याका आदर्श

मद्रदेशके राजा अश्वपतिने अपनी परम सुन्दरी कन्या सावित्रीको स्वतन्त्र कर दिया था कि वह अपने योग्य पति चुन ले तो उसीसे उसका विवाह कर दिया जाय। राजाने अपने बुद्धिमान् मन्त्रीको कन्याके साथ भेज दिया था अनेक देशोंमें घूमकर राजकुमारोंको देखनेके लिये। राजा अश्वपतिने अपनी पुत्रीकी योग्यता, धर्मशीलता तथा विचारशक्तिपर विश्वास करके ही उसे यह स्वतन्त्रता दी थी और जब बहुत-से नगरोंकी यात्रा करके सावित्री लौटी, तब यह सिद्ध हो गया कि पिताने उसपर उचित भरोसा किया था। सावित्रीने न तो रूपको महत्ता दी, न बलको और न धन अथवा राज्यको ही। उसने महत्ता दी थी धर्मको। उसने शाल्वदेशके नेत्रहीन राजा द्युमत्सेनके पुत्र सत्यवान्‌को पति बनानेका निश्चय किया था, यद्यपि उस समय राजा द्युमत्सेन शत्रुओंद्वारा राज्यपर अधिकार कर लिये जानेके कारण स्त्री तथा पुत्रके साथ वनमें तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहे थे।

संयोगवश देवर्षि नारदजी उस समय राजा अश्वपतिके यहाँ आये थे जब कि सावित्री अपनी यात्रा समाप्त करके लौटी। देवर्षिने उसका निश्चय जानकर बतलाया—'निश्चय सत्यवान् सद्गुणी और धर्मात्मा हैं; वे बुद्धिमान्, शूर, क्षमाशील तथा तेजस्वी हैं; किंतु वे अल्पायु हैं। आजसे ठीक एक वर्ष बाद उनकी मृत्यु हो जायगी।'

यह सुनकर राजा अश्वपतिने पुत्रीसे कहा—'बेटी! तुम और किसीको अपने पतिके रूपमें चुन लो।'

सावित्रीने नम्रतापूर्वक कहा—'पिताजी! एक बार मनसे मैंने जिनका वरण कर लिया, वे ही मेरे पति हैं। चाहे कुछ भी हो, मैं अब और किसीका वरण नहीं कर सकती। कन्याका दान एक बार दिया जाता है और आर्यकन्या एक बार ही पतिका वरण करती है।'

—सु० सिं० (महाभारत, वन० २९३-२९४)

आर्य-नारीका आदर्श

अपनी पुत्रीके दृढ़ निश्चयको देखकर धर्मात्मा नरेशने अधिक आग्रह करना उचित नहीं माना। देवर्षि नारदजीने भी सावित्रीके निश्चयकी प्रशंसा की। राजा अश्वपति कन्यादानकी सब सामग्री लेकर वनमें राजा द्युमत्सेनकी कुटियापर गये और वहाँ उन्होंने विधिपूर्वक अपनी पुत्रीका विवाह सत्यवान्‌के साथ कर दिया। विवाहकार्य समाप्त होनेपर राजा अश्वपति अपनी राजधानी लौट गये।

पिताके चले जानेपर सावित्रीने सब रत्नजटित गहने और बहुमूल्य वस्त्र उतार दिये।

जब सावित्रीने बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण उतारे और साससे नम्रतापूर्वक वल्कल वस्त्र पहननेको माँगे, तब सासने विषण्ण होकर उससे कहा—'बेटी! तुम राजकन्या हो। अपने पिताके दिये हुए वस्त्राभूषणोंको पहनो।'

सावित्रीने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'मैं आपके पुत्रकी सेविका हूँ। आप तथा मेरे पूज्य श्वशुर एवं मेरे स्वामी जैसे रहते हैं, वैसे ही मैं भी रहूँगी। उससे अधिक सुख मेरे लिये सर्वथा त्याज्य हैं। मैं आपकी अपेक्षा उत्तम वस्त्र एवं आभूषण कैसे पहिन सकती हूँ। मेरे लिये सच्चा आभूषण तो आपलोगोंकी सेवा ही है।'

वह वल्कल-वस्त्र पहिनकर मुनि-पत्नियोंकी भाँति रहने लगी। वह अपने शील, सदाचार, इन्द्रिय-संयम, मधुर वाणी तथा सेवापरायणताके कारण सबकी सम्मान-भाजन हो गयी। सास-ससुर तथा पतिकी सेवामें वह बराबर तत्पर रहती थी।—सु० सिं०

मैं स्वेच्छासे परपुरुषका स्पर्श नहीं कर सकती

अशोकवाटिकामें श्रीसीताजीको बहुत दुखी देखकर महावीर हनुमान्‌जीने पर्वताकार शरीर धारण करके उनसे कहा—'माताजी ! आपकी कृपासे मैं पर्वत, वन, महल, चहारदीवारी और नगरद्वारसहित इस सारी लङ्कापुरीको रावणके समेत उठाकर ले जा सकता हूँ। आप कृपया मेरे साथ शीघ्र चलकर राघवेन्द्र श्रीरामका और लक्ष्मणका शोक दूर कीजिये।'

इसके उत्तरमें सतीशिरोमणि श्रीजनककिशोरीजीने कहा—'महाकपे ! मैं तुम्हारी शक्ति और पराक्रमको जान[ती] हूँ। परंतु मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकती; क्योंकि [मैं] पतिभक्तिकी दृष्टिसे एकमात्र भगवान् श्रीरामके सिवा अ[न्य] किसी भी पुरुषके शरीरका स्पर्श स्वेच्छापूर्वक नहीं क[रना] चाहती। रावण मुझे हरकर लाया था, उस समय [मैं] मैं निरुपाय थी। उसने बलपूर्वक ऐसा किया। [उस] समय मैं अनाथ, असमर्थ और विवश थी। अब तो [श्री] राघवेन्द्र ही पधारकर रावणको मारकर मुझे शीघ्र ले जायँ

कैसे आचरणसे नारी पतिको वशमें कर लेती है ?

वनवासमें पाण्डव जब काम्यक वनमें थे, तब श्रीकृष्णचन्द्र सात्यकि आदिके साथ उनसे मिलने गये थे। उस समय उनके साथ सत्यभामाजी भी थीं। एक दिन श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रियतमा उन सत्यभामाजीने एकान्तमें द्रौपदीजीसे पूछा—'पाञ्चाली ! तुम लोकपालोंके समान तेजस्वी और वीर अपने पतियोंको कैसे संतुष्ट रखती हो ? तुम्हारे पति तुमपर कभी क्रोध नहीं करते, वे सदा तुम्हारे वशमें रहते हैं, तुम्हारा मुख देखा करते हैं—इसका क्या कारण है ? तुमने इसके लिये कोई व्रत, तप या जप किया है ? अथवा किसी मन्त्र, दवा, अञ्जन या जड़ीका प्रयोग किया है ? मुझे भी ऐसा कोई उपाय बतलाओ, जिससे मेरे स्वामी श्रीद्वारकेश मेरे वशमें रहें।'

द्रौपदीजीने कहा—'सत्यभामाजी ! तुम मुझसे यह दुष्टा स्त्रियोंकी-सी बात कैसे पूछती हो ? तुम्हारे लिये ऐसा प्रश्न करना उचित नहीं है। देखो, जब पतिको पता लगता है कि स्त्री उसे वशमें करनेके लिये मन्त्र-तन्त्रादिका प्रयोग करवाती है, तब वह उससे उसी प्रकार घबराता है जैसे लोग घरमें रहनेवाले सर्पसे डरते हैं। वह पुरुष सदा चिन्तित रहने लगता है। बहिन ! मन्त्र-तन्त्रसे पुरुष कभी स्त्रीके वशमें नहीं हो सकता। इससे उल्टे बुराई उत्पन्न होती है। वशीकरणके लो[भमें] पड़कर स्त्रियाँ अपने पतिको अज्ञानवश ऐसी वस्तु[एँ] खिला देती हैं, जिससे उनकी मृत्यु हो जाती है या वे असाध्य रोगोंके शिकार हो जाते हैं। भोजन या लेपमें वे ऐसी वस्तुएँ मिला देती हैं, जिनसे उनके पति जलोदर, कोढ़, नपुंसकता, पागलपन आदि भयंकर रोगोंसे पीड़ित हो जाते हैं अथवा अंधे या बहिरे हो जाते हैं। धूर्तलोग ऐसी स्त्रियोंको ठगकर उनका धन ले लेते हैं, उन्हें आचरणभ्रष्ट कर देते हैं और उनके द्वारा उनके पतिको विषैली वस्तुएँ दिलवा देते हैं। स्त्रीको पतिका अनिष्ट या अप्रिय कभी नहीं करना चाहिये।'

द्रौपदीजीने आगे बताया—'सत्यभामाजी ! महात्मा पाण्डव मेरे जिन कामोंसे मुझपर प्रसन्न हैं, वे तुम्हें बतलाती हूँ। मैं अहंकार, कामवासना, क्रोध तथा [अन्य] दुष्ट भावोंसे दूर रहकर सदा पाण्डवों तथा उनकी अन्य पत्नियोंकी सेवा करती हूँ। कभी गर्व नहीं करती। मेरे पति जो चाहते हैं, वैसा ही कार्य करती हूँ। उनपर कभी संदेह नहीं करती और न उनसे कभी कठोर वचन ही कहती हूँ। कभी बुरे स्थानपर या बुरी संगतिमें नहीं बैठती। ऐसी दृष्टिसे कभी किसीको नहीं

देखती जिससे निन्दित विचार व्यक्त हों। पाण्डवोंके अतिरिक्त मेरे हृदयमें किसी पुरुषके लिये कभी स्थान नहीं। पाण्डवोंके भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती और उनके स्नान किये बिना स्नान नहीं करती। उनके सो जानेपर ही सोती हूँ। यहाँतक कि घरके और लोगों तथा सेवकोंके खाने-पीनेसे पहले भी मैं स्नान, भोजन या शयन नहीं करती। मेरे पति बाहरसे लौटकर जब घर आते हैं, तब मैं आगेसे उठकर उनका स्वागत करती हूँ, उन्हें घरमें लाकर बैठनेको आसन देती हूँ तथा हाथ-पैर एवं मुख धोनेके लिये जल देती हूँ। घर और घरकी सभी सामग्री स्वच्छ रखती हूँ। स्वच्छताके साथ भोजन बनाकर ठीक समयपर उन्हें भोजन कराती हूँ। अन्न तथा दूसरी सामग्री यत्नके साथ भंडारमें सुरक्षित रखती हूँ। बुरे आचरणकी निन्दित स्त्रियोंके पास न बैठती हूँ न उनसे मित्रता रखती हूँ। बिना हँसीका अवसर हुए मैं हँसती नहीं। द्वारपर खड़ी नहीं रहती। घरसे सटे उपवनमें देरतक नहीं रुकती। क्रोध उत्पन्न होनेवाले अवसरोंको टाल जाती हूँ। किसी कार्यसे जब पति कहीं विदेश जाते हैं, तब उस समय मैं पुष्प-माला, सुगन्ध आदि त्याग देती हूँ। मेरे पति जो पदार्थ नहीं खाते, जिसका सेवन वे नहीं करते, उन पदार्थोंका मैं भी त्याग कर देती हूँ। पतिके पास मैं सदा पवित्र होकर, सुन्दर स्वच्छ वस्त्र पहनकर और श्रृङ्गार करके ही जाती हूँ। पतियोंका प्रिय और हित करना ही मेरा व्रत है।

'मेरी पूजनीया सासने अपने कुटुम्बके प्रति जो कर्तव्य मुझे बताये हैं, उनका मैं सदा पालन करती हूँ। भिक्षा देना, देव-पूजा, श्राद्ध, पर्वके दिन उत्तम भोजन बनाना, माननीय पुरुषोंकी पूजा करना तथा और भी जो अपने कर्तव्य मुझे ज्ञात हैं, उनमें कभी प्रमाद नहीं करती। विनयके भाव और पतिव्रताके नियमोंको ही अपनाये रहती हूँ। अपने पतियोंकी रुचिपर सदा दृष्टि रखकर उसके अनुकूल आचरण करती हूँ। पतियोंको कभी हीन दृष्टिसे नहीं देखती, उनसे उत्तम भोजन कभी नहीं करती और न उनसे उत्तम वस्त्राभूषण ही धारण करती। अपनी सासकी कभी निन्दा नहीं करती। उनकी सदा सेवा करती हूँ। सब काम मन लगाकर सावधानीसे करती हूँ और बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें तत्पर रहती हूँ।

'अपने पतियोंकी पूजनीय माताको मैं अपने हाथसे परोसकर भोजन कराती हूँ। उनकी सब प्रकारसे सेवा करती हूँ। कभी ऐसी बात नहीं कहती, जो उन्हें बुरी लगे। पहले महाराज युधिष्ठिरके भवनमें नित्य स्वर्णके पात्रोंमें आठ हजार ब्राह्मण भोजन करते थे। इनके अतिरिक्त अट्ठासी हजार स्नातक गृहस्थ ब्राह्मणोंको महाराजकी ओरसे अन्न-वस्त्र मिलता था। एक-एक ब्राह्मणकी सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ नियुक्त थीं। दस सहस्र ब्रह्मचारी साधुओंको प्रतिदिन स्वर्णपात्रमें भोजन दिया जाता था। इन सब ब्राह्मणोंको भोजन कराकर, अन्न-वस्त्र देकर मैं उनकी पूजा करती थी।

'महाराज युधिष्ठिरके यहाँ एक लाख दासियाँ थीं। वे मूल्यवान् वस्त्राभूषणोंसे सज्जित रहती थीं। वे नाचती-गाती महाराजके आगे चलती थीं तथा अन्य सेवाकार्य भी करती थीं। मैं उनके नाम, रूप तथा भोजनादिका सब विवरण जानती थी। किसके लिये क्या काम नियत है, किसने क्या काम किया, यह भी मुझे ज्ञात रहता था। महाराजकी सवारीमें एक लक्ष अश्व और एक लक्ष गज साथ निकलते थे। मुझे इनकी संख्या ज्ञात थी और मैं ही उनका सब प्रबन्ध करती थी। पूरे अन्तःपुरका, सारे सेवकोंका, समस्त परिवारका, अतिथियोंका, पशुओं तथा पशुपालकोंतकका प्रबन्ध भी मैं ही करती थी।

'बहिन सत्यभामा! महाराजके राज्यके आय-व्ययका

विवरण मुझे ज्ञात था और मैं ही उसकी जाँच करती थी। पाण्डवोंने राज्य और कुटुम्बकी देखभालका कार्य मुझे सौंप रक्खा था। वे निश्चिन्त होकर धर्मकर्ममें लगे रहते थे और मैं सब सुख छोड़कर दिन-रात परिश्रम करके यह भार सँभालती थी। मैं भूख-प्यास भूलकर पतियोंकी सेवामें लगी रहती थी। पतियोंकी सेवासे मेरा जी कभी नहीं ऊबता। मैं उनके सो जानेपर सोती हूँ और उनके उठनेसे पहले ही उठ जाती हूँ। पतियोंको वश करनेका मेरा उपाय यही है। ओछी स्त्रियोंके आचरणका हाल मैं नहीं जानती।'

द्रौपदीके इन वचनोंको सुनकर सत्यभामाजीने कहा—'पाञ्चाली! तुम मेरी सखी हो, इसीसे हँसीमें मैंने तुमसे यह बात पूछी थी। इसके लिये तुम दुःख या क्रोध मत करो।' —सु० सिं० (महाभारत, वन० २३३)

कीड़ेसे महर्षि मैत्रेय

भगवान् व्यास सभी जीवोंकी गति तथा भाषाको समझते हैं। एक बार जब वे कहीं जा रहे थे, तब रास्तेमें उन्होंने एक कीड़ेको बड़े वेगसे भागते हुए देखा। उन्होंने कृपा करके कीड़ेकी बोलीमें ही उससे इस प्रकार भागनेका कारण पूछा। कीड़ेने कहा—'विश्ववन्द्य मुनीश्वर! कोई बहुत बड़ी बैलगाड़ी इधर ही आ रही है। कहीं यह आकर मुझे कुचल न डाले, इसलिये तेजीसे भागा जा रहा हूँ।' इसपर व्यासदेवने कहा—'तुम तो तिर्यक् योनिमें पड़े हुए हो, तुम्हारे लिये तो मर जाना ही सौभाग्य है। मनुष्य यदि मृत्युसे डरे तो उचित है, पर तुम कीटको इस शरीरके छूटनेका इतना भय क्यों है?' इसपर कीड़ेने कहा—'महर्षे! मुझे मृत्युसे किसी प्रकारका भय नहीं है। भय इस बातका है कि इस कुत्सित कीटयोनिसे भी अधम दूसरी लाखों योनियाँ हैं, मैं कहीं मरकर उन योनियोंमें न चला जाऊँ। उनके गर्भ आदि धारण करनेके क्लेशसे मुझे डर लगता है, दूसरे किसी कारणसे मैं भयभीत नहीं हूँ।'

व्यासजीने कहा—'कीट! तुम भय न करो। मैं जबतक तुम्हें ब्राह्मणशरीरमें न पहुँचा दूँगा, तबतक सभी योनियोंसे शीघ्र ही छुटकारा दिलाता रहूँगा।' व्यासजीके यों कहनेपर वह कीड़ा पुनः मार्गमें लौट आया और रथके पहियेसे दबकर उसने प्राण त्याग दिये। तत्पश्चात् वह कौए और सियार आदि योनियोंमें जब-जब उत्पन्न हुआ, तब-तब व्यासजीने जाकर उसके पूर्वजन्मका स्मरण करा दिया। इस तरह वह क्रमशः साही, गोहा, मृग, पक्षी, चाण्डाल, शूद्र और वैश्यकी योनियोंमें जन्म लेता हुआ क्षत्रिय-जातिमें उत्पन्न हुआ। उसमें भी भगवान् व्यासने उसे दर्शन दिया। वहाँ वह प्रजापालनरूप धर्मका आचरण करते हुए थोड़े ही दिनोंमें रणभूमिमें शरीर त्यागकर ब्राह्मणयोनिमें उत्पन्न हुआ। जब वह पाँच वर्षका हुआ, तभी व्यासदेवने जाकर उसके कानमें सारस्वत-मन्त्रका उपदेश कर दिया। उसके प्रभावसे बिना ही पढ़े उसे सम्पूर्ण वेद, शास्त्र और धर्मका स्मरण हो आया। पुनः भगवान् व्यासदेवने उसे आज्ञा दी कि वह कार्तिकेयके क्षेत्रमें जाकर नन्दभद्रको आश्वासन दे। (नन्दभद्रकी कथा अन्यत्र आ चुकी है।) नन्दभद्रको यह शङ्का थी कि पापी मनुष्य भी सुखी क्यों देखे जाते हैं। इसी क्लेशसे घबराकर वे बहूदक तीर्थपर तप कर रहे थे। नन्दभद्रकी शङ्काका समाधान करते हुए इस सिद्ध सारस्वत बालकने कहा था—'पापी मनुष्य सुखी क्यों रहते हैं, यह तो बड़ा स्पष्ट है। जिन्होंने पूर्वजन्ममें तामस भावसे दान किया है, उन्होंने इस जन्ममें उसी दानका फल प्राप्त किया है; परंतु तामस भावसे जो धर्म किया जाता है, उसके फलस्वरूप लोगोंका धर्ममें अनुराग नहीं

होता और फलतः वे ही पापी तथा सुखी देखे जाते हैं। ऐसे मनुष्य पुण्य-फलको भोगकर अपने तामसिक भावके कारण नरकमें ही जाते हैं, इसमें संदेह नहीं है। इस विषयमें मार्कण्डेयजीकी कही ये बातें सर्वदा ध्यानमें रक्खी जानी चाहिये—'एक मनुष्य ऐसा है, जिसके लिये इस लोकमें तो सुखका भोग सुलभ है परंतु परलोकमें नहीं। दूसरा ऐसा है, जिसके लिये परलोकमें सुखका भोग सुलभ है किंतु इस लोकमें नहीं। तीसरा ऐसा है जो इस लोक और परलोकमें दोनों ही जगह सुख प्राप्त करता है और चौथा ऐसा है, जिसे न यहीं सुख है और न परलोकमें ही। जिसका पूर्वजन्मका किया हुआ पुण्य शेष है, उसको भोगते हुए परम सुखमें भूला हुआ जो व्यक्ति नूतन पुण्यका उपार्जन नहीं करता, उस मन्दबुद्धि एवं भाग्यहीन मानवको प्राप्त हुआ वह सुख केवल इसी लोकतक रहेगा। जिसका पूर्वजन्मोपार्जित पुण्य तो नहीं है किंतु वह तपस्या करके नूतन पुण्यका उपार्जन कर रहा है, उस बुद्धिमान्‌को परलोकमें अवश्य ही विशाल सुखका भोग उपस्थित होगा—इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं। जिसका पहलेका किया हुआ पुण्य वर्तमानमें सुखद हो रहा है और जो तपद्वारा नूतन पुण्यका उपार्जन कर रहा है, ऐसा बुद्धिमान् तो कोई-कोई ही होता है जिसे इहलोक-परलोक दोनोंमें सुख मिलता है। जिसका पहलेका भी पुण्य नहीं है और जो यहाँ भी पुण्यका उपार्जन नहीं करता, ऐसे मनुष्यको न इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही। ऐसे नराधमको धिक्कार है।'*

इस प्रकार नन्दभद्रको समाहित कर बालकने अपना वृत्तान्त भी बतलाया। तत्पश्चात् वह सात दिनों-तक निराहार रहकर सूर्यमन्त्रका जप करता रहा और वहीं बहूदक तीर्थमें उसने उस शरीरको भी छोड़ दिया। नन्दभद्रने विधिपूर्वक उसके शवका दाह-संस्कार कराया। उसकी अस्थियाँ वहीं सागरमें डाल दी गयीं और दूसरे जन्ममें वही मैत्रेय नामक श्रेष्ठ मुनि हुआ। इनके पिताका नाम कुषारु तथा माताका नाम मित्रा था (भागवत स्कन्ध ३)। इन्होंने व्यासजीके पिता पराशरजीसे 'विष्णुपुराण' तथा 'बृहत्-पाराशर होरा-शास्त्र' नामक विशाल ज्यौतिषग्रन्थका अध्ययन किया था। —जा० श०

(स्कन्दपुराण, माहे० कुमा० ४४-४६; महा०, अनुशा० ११७—११९)

नल-दमयन्तीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त

आबू पर्वतके समीप पहले आहुक नामका एक भील रहता था। उसकी स्त्रीका नाम आहुआ था। वह बड़ी पतिव्रता तथा धर्मशीला थी। दोनों ही स्त्री-पुरुष बड़े शिवभक्त एवं अतिथि-सेवक थे। एक बार भगवान् शंकरने इनकी परीक्षा लेनेका विचार किया। उन्होंने एक यतिका रूप धारण किया और संध्या-समय आहुकके दरवाजेपर जाकर कहने लगे—'भील! तुम्हारा कल्याण हो, मैं आज रात भर यहीं रहना चाहता हूँ; तुम दयाकर एक रात मुझे रहनेके लिये स्थान दे दो।' इसपर भीलने कहा, 'स्वामिन्!

* अस्मिंश्च संशये प्रोक्तं मार्कण्डेयेन श्रूयते।
इहैवैकस्य नामुत्र अमुत्रैकस्य नो इह। इह चामुत्र चैकस्य नामुत्रैकस्य नो इह॥
पूर्वोपात्तं भवेत् पुण्यं भुक्तिर्नैवार्जयन्त्यपि। इह भोगः स वै प्रोक्तो दुर्भगस्याल्पमेधसः॥
पूर्वोपात्तं यस्य नास्ति तपोभिश्चार्जयत्यपि। परलोके तस्य भोगो धीमतः स क्रियात्स्फुटम्॥
पूर्वोपात्तं यस्य नास्ति पुण्यं चेहापि नार्जयेत्। ततश्चेहामुत्र वापि भो धिक् तं च नराधमम्॥
(स्कं० पु० माहे० कुमारिका० ४६। ९६—१००)

मेरे पास स्थान बहुत थोड़ा है, उसमें आप कैसे रह सकते हैं?' इसपर यति चलनेको ही थे कि स्त्रीने कहा—'स्वामिन्! यतिको लौटाइये नहीं, गृहस्थधर्मका विचार कीजिये; इसलिये आप दोनों तो घरके भीतर रहें, मैं अपनी रक्षाके लिये कुछ बड़े शस्त्रोंको लेकर दरवाजेपर बैठी रह जाऊँगी।' भीलने सोचा, बात यह ठीक ही कहती है, तथापि इसको बाहर रखकर मेरा घरमें रहना ठीक नहीं; क्योंकि यह अबला है। अतएव उसने यति तथा अपनी स्त्रीको घरके भीतर रक्खा और स्वयं शस्त्र धारणकर बाहर बैठ रहा। रात बीतनेपर हिंस्र पशुओंने उसपर आक्रमण किया और उसे मार डाला। प्रातः होनेपर जब यति और उसकी स्त्री बाहर आये तो उसे मरा देखा। यति इसपर बहुत दुखी हुए। पर भीलनीने कहा—'महाराज! इसमें शोक तथा चिन्ताकी क्या बात है? ऐसी मृत्यु तो बड़े भाग्यसे ही प्राप्त होती है। अब मैं भी इनके साथ सती हो जा रही हूँ। इसमें तो हम दोनोंका ही परम कल्याण हो गया।' यों कहकर चितापर अपने पतिको रखकर वह भी उसी अग्निमें प्रविष्ट हो गयी।

इसपर भगवान् शङ्कर डमरू-त्रिशूल आदि आयुधोंके साथ प्रकट हो गये। उन्होंने बार-बार उस भीलनीसे वर माँगनेको कहा, पर वह कुछ न बोलकर सर्वथा ध्यानमग्न हो गयी। इसपर भगवान्ने उसे वरदान दिया कि 'अगले जन्ममें तुम्हारा पति निषधदेशमें राजा वीरसेनका पुत्र नल होगा और तुम्हारा जन्म विदर्भदेशके राजा भीमसेनकी पुत्री दमयन्तीके रूपमें होगा। यह यति भी हंस होगा और यही तुम दोनोंका संयोग करायेगा। वहाँ तुमलोग अनन्त राज-सुखोंका सम्भोग करके अन्तमें दुर्लभ मोक्षपदको प्राप्त करोगे।'

यों कहकर वे प्रभु शङ्कर वहीं अचलेश्वर लिङ्गके रूपमें स्थित हो गये और कालान्तरमें ये ही दोनों भील-दम्पति नल-दमयन्तीके रूपमें अवतीर्ण हुए।—जा० श०

(शिवपुराण, शतरुद्रसंहिता, २८वाँ अध्याय)

अनन्यता—मैं किसी भी दूसरे गुरु-माता-पिताको नहीं जानता

माता कैकेयीकी इच्छा और पिता दशरथजीकी मूक आज्ञासे राघवेन्द्र श्रीरामचन्द्र वन जानेको तैयार हुए। उनकी वन जानेकी बात सुनकर लक्ष्मणजीने भी साथ चलनेकी आज्ञा माँगी। भगवान् श्रीरामने कहा—'भैया! जो लोग माता, पिता, गुरु और स्वामीकी सीखको स्वभावसे ही सिर चढ़ाकर उसका पालन करते हैं, उन्होंने ही जन्म लेनेका लाभ पाया है, नहीं तो जगत्में जन्म व्यर्थ है। मैं तुम्हें साथ ले जाऊँगा तो अयोध्या अनाथ हो जायगी। गुरु, माता, पिता, परिवार, प्रजा—सभीको बड़ा दुःख होगा। तुम यहाँ रहकर सबका परितोष करो। नहीं तो बड़ा दोष होगा।' श्रीरामजीकी इन बातोंको सुनकर लक्ष्मणजी व्याकुल हो गये और उन्होंने चरण पकड़कर कहा—'स्वामिन्! आपने मुझे बड़ी अच्छी सीख दी, परंतु मुझे तो अपने लिये वह असम्भव ही लगी। यह मेरी कमजोरी है। शास्त्र और नीतिके तो वे ही नरश्रेष्ठ अधिकारी हैं, जो धैर्यवान् और धर्मधुरन्धर हैं। मैं तो प्रभुके स्नेहसे पाला-पोसा हुआ छोटा बच्चा हूँ। भला, हंस भी कभी मन्दराचल या सुमेरुको उठा सकता है। मैं आपको छोड़कर किसी भी गुरु या माता-पिताको नहीं जानता। यह मैं स्वभावसे ही कहता हूँ। आप विश्वास करें। जगत्में जहाँतक स्नेह, आत्मीयता, प्रेम और विश्वासका सम्बन्ध वेदोंने बताया है, वह सब कुछ मेरे तो, बस, केवल आप ही हैं। आप दीनबन्धु हैं, अन्तस्तलकी जाननेवाले हैं। धर्म-नीतिका उपदेश तो उसे कीजिये, जिसको कीर्ति,

विभूति या सद्गति प्यारी लगती है। जो मन, वचन, कर्मसे चरणोंमें ही रत हो, कृपासिन्धु ! क्या वह भी त्यागने योग्य है ?'

श्रीरामभद्रका हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने लक्ष्मणजीको हृदयसे लगा लिया और सुमित्रा मैयासे आज्ञा लेकर साथ चलनेकी अनुमति दे दी।

तुम्हारे ही लिये राम वन जा रहे हैं

माता सुमित्रा अपने पुत्र लक्ष्मणका श्रीरामजीकी सेवाके लिये वन जानेका विचार सुनकर अत्यन्त प्रमुदित हो गयीं। उन्होंने जो कुछ कहा, वह सर्वथा आदर तथा अनुकरणके योग्य है। वे बोलीं—'बेटा ! सीता तुम्हारी माता है, सब प्रकार स्नेह करनेवाले राम तुम्हारे पिता हैं। जहाँ सूर्य है, वहीं दिन है; इसी प्रकार जहाँ राम रहते हैं, वहीं अयोध्या है। यदि राम-सीता वन जाते हैं तो अयोध्यामें तुम्हारे लिये कोई कार्य नहीं है।××× तुम महान् भाग्यशाली हो, तुमने मुझको भी धन्य कर दिया; बेटा ! मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ। जगत्में पुत्रवती तो वही युवती है, जिसका पुत्र भगवान् श्री-राघवेन्द्रका भक्त होता है; जो रामविमुख पुत्रसे हित समझती है, उसका तो बाँझ रहना ही अच्छा था। वह तो व्यर्थ ही ब्यायी (पशु-मादाकी तरह उसने संतान पैदा की)। बेटा ! तुम यही समझो कि बस, राम तुम्हारे ही कारण वन जाते हैं। श्रीराम-सीताके चरणोंमें सहज प्रेम होना ही समस्त सुकृतोंका महान् फल है। राग, क्रोध, ईर्ष्या, मद, मोह—इनके वश स्वप्नमें भी मत होना और सारे विकारोंको छोड़कर तन-मन-वचनसे सेवा करना।'

लक्ष्मणजीके शक्ति लगनेका समाचार पाकर माता सुमित्राने कहा था—'रामके काममें जीवनदान करके लक्ष्मण तो धन्य हो गया। अब शत्रुघ्न ! तू जाकर अपने जीवनको सफल कर।'

धन्य माता, धन्य सौतेली माता और धन्य भगवदनुरागकी मूर्ति सुमित्रा !

मेरे समान पापोंका घर कौन ? तुम्हारा नाम याद करते ही पाप नष्ट हो जायँगे

श्रीराम-सीता-लक्ष्मण वन पधार गये। श्रीदशरथजीकी मृत्यु हो गयी। भरतजी ननिहालसे अयोध्या आये। सब समाचार सुनकर अत्यन्त मर्माहत हो गये। महामुनि वशिष्ठजी, माता कौसल्या, पुरजन, प्रजाजन—सभीने जब भरतको राजगद्दी स्वीकार करनेके लिये कहा, तब भरतजी दुखी होकर बोले—

'मुझे राजा बनाकर आप अपना भला चाहते हैं ? यह बस, स्नेहके मोहसे कह रहे हैं। कैकेयीके पुत्र, कुटिलबुद्धि, रामसे विमुख और निर्लज्ज मुझ अधमके राज्यसे आप मोहवश होकर ही सुख चाहते हैं। मैं सत्य कहता हूँ, आप सुनकर विश्वास करें। राजा वही होना चाहिये, जो धर्मशील हो। आप मुझे हठ करके ज्यों ही राज्य देंगे, त्यों ही यह पृथ्वी पातालमें धँस जायगी। ('रसा रसातल जाइहि तबहीं')। मेरे समान पापोंका घर कौन होगा ('मोहि समान को पाप निवासू'), जिसके कारण श्रीसीताजी तथा श्रीरामजीका वनवास हुआ ! महाराजा तो रामके बिछुड़ते ही स्वयं स्वर्गको चले गये। मैं दुष्ट सारे अनर्थोंका कारण होते हुए भी होश-हवासमें ये सारी बातें सुन रहा हूँ।'

भरतजीने अपनी असमर्थता प्रकट की। वे श्रीरामचरण-दर्शनके लिये सबको साथ लेकर वनमें पहुँचे। वहाँ बहुत बातें हुईं। भरतजीके रोम-रोमसे आत्मग्लानि प्रकट हो रही थी। श्रीरामजीने उनसे कहा—

'भैया भरत ! तुम व्यर्थ ही अपने हृदयमें ग्लानि करते हो । मैं तो यह मानता हूँ कि भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालोंमें और स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल—तीनों लोकोंमें जितने पुण्यात्मा हैं, वे सब तुमसे नीचे हैं । जो मनसे भी तुमपर कुटिलताका आरोप करता है, उसका यह लोक और परलोक—दोनों बिगड़ जाते हैं । भाई ! तुम्हारेमें पापकी तो कल्पना करना ही पाप है । तुम इतने पुण्यजीवन हो कि तुम्हारा नाम-स्मरण करते ही सब पाप, प्रपञ्च और सारे अमङ्गलोंके समूह नष्ट हो जायँगे तथा इस लोकमें सुन्दर यश और परलोकमें सुख प्राप्त होगा—

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार ।
लोक सुजस परलोक सुखु सुमिरत नाम तुम्हार ॥

'भरत ! मैं स्वभावसे ही सत्य कहता हूँ—शिवजी साक्षी हैं, यह पृथ्वी तुम्हारी ही रक्खी रह रही है ('भरत भूमि रह राउरि राखी') ।'

धन्य भायप, धन्य प्रेम, धन्य गुणदर्शन, धन्य राम, धन्य भरत !

मैं तुम्हारा चिरऋणी—केवल आपके अनुग्रहका बल

हनुमान्‌जीके द्वारा सीताके समाचार सुनकर भगवान् श्रीराम गद्गद होकर कहने लगे—'हनुमान् ! देवता, मनुष्य, मुनि आदि शरीरधारियोंमें कोई भी तुम्हारे समान मेरा उपकारी नहीं है । मैं तुम्हारा बदलेमें उपकार तो क्या करूँ, मेरा मन तुम्हारे सामने झाँकनेमें भी सकुचाता है । बेटा ! मैंने अच्छी तरह विचारकर देख लिया—मैं कभी तुम्हारा ऋण नहीं चुका सकता ।' धन्य कृतज्ञताके आदर्श—राम स्वामी ।

हनुमान्‌ने कहा—'मेरे मालिक ! बंदरकी बड़ी मर्दानगी यही है कि वह एक डालसे दूसरी डालपर कूद जाता है । मैं जो समुद्रको लाँघ गया, लङ्कापुरीको मैंने जला दिया, राक्षसोंका वध करके रावणकी वाटिका-को उजाड़ दिया—इसमें नाथ ! मेरी कुछ भी बड़ाई नहीं है, यह सब हे राघवेन्द्र ! आपका ही प्रताप है । प्रभो ! जिसपर आपकी कृपा है, उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है । आपके प्रभावसे और तो क्या, क्षुद्र रूई भी बडवानलको जला सकती है । नाथ ! मुझे तो आप कृपापूर्वक अपनी अतिसुखदायिनी अनपायिनी भक्ति दीजिये ।' धन्य निरभिमानितापूर्ण प्रभुपर निर्भरता !

सप्तर्षियोंका त्याग

बहुत पुराने समयकी बात है । एक बार पृथ्वीपर बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं हुई । संसारमें घोर अकाल पड़ गया । सभी लोग भूखों मरने लगे । सप्तर्षि भी भूखसे व्याकुल होकर इधर-उधर भटकने लगे । घूमते-घूमते ये लोग वृषादर्भि राजाके राज्यमें गये । उनका आगमन सुनकर राजा वहाँ आया और बोला—'मुनियो ! मैं आपलोगोंको अन्न, ग्राम, घृत-दुग्धादि रस तथा तरह-तरहके रत्न दे रहा हूँ । आपलोग कृपया स्वीकार करें ।'

ऋषियोंने कहा—'राजन् ! राजाका दिया हुआ दान ऊपरसे मधुके समान मीठा जान पड़ता है, किंतु परिणाममें वह विषके समान हो जाता है । इस बातको जानते हुए भी हमलोग आपके प्रलोभनमें क्योंकर पड़ सकते हैं । ब्राह्मणोंका शरीर देवताओंका निवासस्थान है । यदि ब्राह्मण तपस्यासे शुद्ध एवं संतुष्ट रहता है तो वह सम्पूर्ण देवताओंको प्रसन्न रखता है । ब्राह्मण दिन भरमें जितना तप संग्रह करता है, उसको राजा-का प्रतिग्रह क्षण भरमें इस प्रकार जला डालता है जैसे सूखे जंगलको प्रचण्ड दावानल । इसलिये आप इस दानके साथ कुशलपूर्वक रहें । जो इसे माँगें अथवा जिन्हें इसकी आवश्यकता हो, उन्हें ही यह दान दे दें ।'

यों कहकर वे दूसरे रास्तेसे आहारकी खोजमें वनमें चले गये । तदनन्तर राजाने अपने मन्त्रियोंको गूलरके फलोंमें सोना भर-भरकर ऋषियोंके मार्गमें रखवा

देनेका आदेश दिया । उनके सेवकोंने ऐसा ही किया । महर्षि अत्रिने जब उनमेंसे एकको उठाया, तब फल बड़ा वजनदार मालूम हुआ । उन्होंने कहा—'हमारी बुद्धि इतनी मन्द नहीं हुई है, हम सो नहीं रहे हैं । हमें मालूम है इनके भीतर सुवर्ण है । यदि आज हम इन्हें ले लेते हैं, तो परलोकमें हमें इसका कटु परिणाम भोगना पड़ेगा ।'

यों कहकर दृढ़तापूर्वक नियमोंके पालन करनेवाले वे ऋषिगण चमत्कारपुरकी ओर चले गये । घूमते-घूमते वे मध्यपुष्करमें गये, जहाँ अकस्मात् आये हुए शुनःसख नामक परिव्राजकसे उनकी भेंट हुई । वहाँ उन्हें एक बहुत बड़ा सरोवर दिखायी दिया । उसका जल कमलोंसे ढँका हुआ था । वे सब-के-सब उस सरोवरके किनारे बैठ गये । उसी समय शुनःसखने पूछा—'महर्षियो ! आप सब लोग बताइये, भूखकी पीड़ा कैसी होती है ?'

ऋषियोंने कहा—'शस्त्रास्त्रोंसे मनुष्यको जो वेदना होती है, वह भी भूखके सामने मात हो जाती है । पेटकी आगसे शरीरकी समस्त नाड़ियाँ सूख जाती हैं, आँखोंके आगे अँधेरा छा जाता है, कुछ सूझता नहीं । भूखकी आग प्रज्वलित होनेपर प्राणी गूँगा, बहरा, जड़, पङ्गु, भयंकर तथा मर्यादाहीन हो जाता है । इसलिये अन्न ही सर्वोत्तम पदार्थ है ।

'अतः अन्नदान करनेवालेको अक्षय तृप्ति और सनातन स्थिति प्राप्त होती है । चन्दन, अगर, धूप और शीतकालमें ईंधनका दान अन्नदानके सोलहवें भागके बराबर भी नहीं हो सकता । दम, दान और यम—ये तीन मुख्य धर्म हैं । इनमें भी दम विशेषतः ब्राह्मणोंका सनातन धर्म है । दम तेजको बढ़ाता है । जितेन्द्रिय पुरुष जहाँ कहीं भी रहता है, उसके लिये वही स्थान तपोवन बन जाता है । विषयासक्त मनुष्यके मनमें भी दोषोंका उद्भावन होता है; पर जो सदा शुभ कर्मोंमें ही प्रवृत्त है, उसके लिये तो घर भी तपोवन ही है । केवल शब्द-शास्त्र (व्याकरण) में ही लगे रहनेसे मोक्ष नहीं होता; मोक्ष तो एकान्तसेवी, यम-नियमरत, ध्यानपरायण पुरुषको ही प्राप्त होता है । अङ्गोंसहित वेद भी अजितेन्द्रियको पवित्र नहीं कर सकते । जो चेष्टा अपनेको बुरी लगे, उसे दूसरेके लिये भी आचरण न करे—यही धर्मका सार है । जो परायी स्त्रीको माताके समान, पर-धनको मिट्टीके समान तथा संसारके सभी भूतोंको अपने ही समान देखता है, वही ज्ञानी है । सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका ध्यान रखनेवाला प्राणी मोक्षको प्राप्त करता है ।'

तदनन्तर ऋषियोंके हृदयमें विचार हुआ कि इस सरोवरमेंसे कुछ मृणाल निकाले जायँ । पर उस सरोवरमें प्रवेश करनेके लिये एक ही दरवाजा था और इस दरवाजेपर खड़ी थी राजा वृषादर्भिकी कृत्या, जिसे उसने अपनेको अपमानित समझकर ब्राह्मणोंद्वारा अनुष्ठान कराकर सप्तर्षियोंकी हत्याके लिये भेजा था । सप्तर्षियोंने जब उस विकराल राक्षसीको वहाँ खड़ी देखा, तब उन्होंने उसका नाम तथा वहाँ खड़ी रहनेका प्रयोजन पूछा । यातुधानी बोली—'तपस्वियो ! मैं जो कोई भी होऊँ, तुम्हें मेरा परिचय पूछनेकी आवश्यकता नहीं है । तुम इतना ही जान लो कि मैं इस सरोवरकी रक्षिका हूँ ।'

ऋषियोंने कहा—'भद्रे ! हमलोग भूखसे व्याकुल हैं । अतः तुम यदि आज्ञा दो तो हमलोग इस तालाबसे कुछ मृणाल उखाड़ लें ।' यातुधानी बोली—'एक शर्तपर तुम ऐसा कर सकते हो । एक-एक आदमी आकर अपना नाम बताये और प्रवेश करे ।' उसकी बात सुनकर महर्षि अत्रि यह समझ गये कि यह राक्षसी कृत्या है और हम सबको वध करनेकी इच्छासे आयी है । तथापि भूखसे व्याकुल होनेके कारण उन्होंने उत्तर दिया—'कल्याणि ! पापसे त्राण करनेवालेको अरात्रि कहते हैं और उनसे बचानेवाला अत्रि कहलाता है । पापरूप मृत्युसे बचानेवाला होनेके कारण ही मैं अत्रि हूँ ।' यातुधानी बोली—'तेजस्वी महर्षे ! आपने जिस प्रकार अपने नामका तात्पर्य बतलाया है, वह मेरी समझमें आना बड़ा कठिन है । अच्छा, आप तालाबमें उतरिये ।'

इसी प्रकार वशिष्ठने कहा—'मेरा नाम वशिष्ठ है। सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण लोग मुझे वरिष्ठ भी कहते हैं।' यातुधानी बोली—'मैं इस नामको याद नहीं रख सकती। आप जाइये, तालाबमें प्रवेश कीजिये।' कश्यपने कहा—'कश्य नाम है शरीरका; जो उसका पालन करता हो, वह कश्यप है। कु अर्थात् पृथ्वीपर वम—वर्षा करनेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है—अतः मैं कुवम भी हूँ। काशके फूलकी भाँति उज्ज्वल होनेसे 'काश्य' भी समझो।'

इसी प्रकार सभी ऋषियोंने अपने नाम बतलाये, किंतु वह किसीको भी ठीकसे न याद कर पायी न व्याख्या ही समझी; अन्तमें शुनःसखकी पारी आयी। उन्होंने अपना नाम बतलाते हुए कहा—'यातुधानी! इन ऋषियोंने जिस प्रकार अपना नाम बतलाया है, उस तरह मैं नहीं बता सकता। मेरा नाम शुनःसखसख (धर्म-स्वरूप मुनियोंका मित्र) समझो।'

इसपर यातुधानीने कहा—'आप कृपया अपना नाम एक बार और बतलायें।' शुनःसखने कहा—'मैंने एक बार अपना नाम बतलाया। तुम उसे याद न कर बार-बार पूछती हो; इसलिये लो, मेरे त्रिदण्डकी मारसे भस्म हो जाओ।' यों कहकर उस संन्यासीके वेषमें छिपे इन्द्रने अपने त्रिदण्डकी आड़में गुप्त वज्रसे उसका विनाश कर डाला और सप्तर्षियोंकी रक्षा की तथा अन्तमें कहा—'मैं संन्यासी नहीं, इन्द्र हूँ। आपलोगोंकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे ही मैं यहाँ आया था। राजा वृषादर्भिकी भेजी हुई अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाली यातुधानी कृत्या आपलोगोंका वध करनेकी इच्छासे यहाँ आयी हुई थी। अग्निसे इसका आविर्भाव हुआ था। इसीसे मैंने यहाँ उपस्थित होकर इस राक्षसीका वध कर डाला। तपोधनो! लोभका सर्वथा परित्याग करनेके कारण अक्षय लोकोंपर आपका अधिकार हो चुका है। अब आप यहाँसे उठकर वहीं चलिये।'

अन्तमें सप्तर्षिगण इन्द्रके साथ चले गये। —जा० श०

(महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ९३; स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय ३२; पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्याय ११)

तत्त्वज्ञानके श्रवणका अधिकारी

महर्षि याज्ञवल्क्य नियमित रूपसे प्रतिदिन उपनिषदोंका उपदेश करते थे। आश्रमके दूसरे विरक्त शिष्य तथा मुनिगण तो श्रोता थे ही, महाराज जनक भी प्रतिदिन वह उपदेश सुनने आते थे। महर्षि तबतक प्रवचन प्रारम्भ नहीं करते थे, जबतक महाराज जनक न आ जायँ। इससे श्रोताओंके मनमें अनेक प्रकारके संदेह उठते थे। वे संकोचके मारे कुछ कहते तो नहीं थे, किंतु मनमें सोचते रहते थे—'महर्षि शरीरकी तथा संसारकी अनित्यताका प्रतिपादन करते हैं, मानापमानको हेय बतलाते हैं, किंतु विरक्तों, ब्राह्मणों तथा मुनियोंके रहते भी राजाके आये बिना उपदेश प्रारम्भ नहीं करते।'

योगिराज याज्ञवल्क्यजीने अपने श्रोताओंका मनोभाव लक्षित कर लिया। प्रवचन प्रारम्भ होनेके पश्चात् उन्होंने अपनी योगशक्तिसे एक लीला की। आश्रमसे एक ब्रह्मचारी दौड़ा आया और उसने समाचार दिया—'वनमें अग्नि लगी है, आश्रमकी ओर लपटें बढ़ रही हैं।'

समाचार मिलते ही श्रोतागण उठे और अपनी कुटियोंकी ओर दौड़े। अपने कमण्डलु, वल्कल तथा नीवार आदि वे सुरक्षित रखने लगे। सब वस्तुएँ सुरक्षित करके वे फिर प्रवचन-स्थानपर आ बैठे। उसी समय एक राजसेवकने आकर समाचार दिया—'मिथिला-नगरमें अग्नि लगी है।'

महाराज जनकने सेवककी बातपर ध्यान ही नहीं दिया। इतनेमें दूसरा सेवक दौड़ा आया—'अग्नि राजमहलके बाहरतक जा पहुँची है।' दो क्षण नहीं बीते कि तीसरा सेवक समाचार लाया—'अग्नि अन्तःपुरतक पहुँच गयी।' महर्षि याज्ञवल्क्यने राजा जनककी ओर देखा। महाराज जनक बोले—'मिथिलानगर, राजभवन, अन्तःपुर या इस शरीरके ही जल जानेसे मेरा तो कुछ जलता नहीं। आत्मा तो अमर है। अतः आप प्रवचन बंद न करें।' अग्नि सच्ची तो थी नहीं; किंतु तत्त्वज्ञानके श्रवणका सच्चा अधिकारी कौन है, यह श्रोताओंकी समझमें आ गया। —सु० सिं०
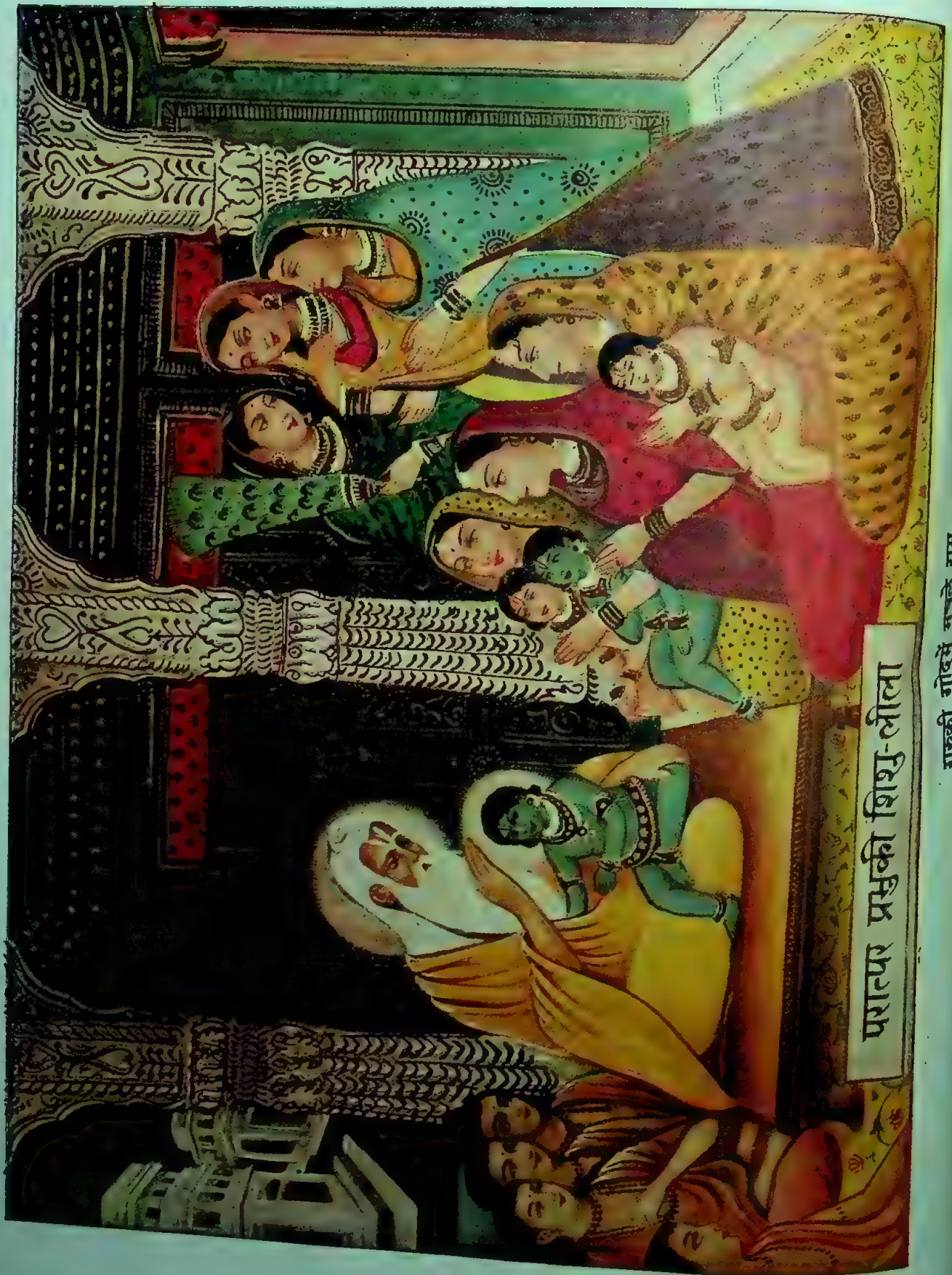
परात्पर प्रभुकी शिशु-लीला

गुरुकी गोदमें मचले राम

परात्पर प्रभुकी शिशु-लीला

परात्पर तत्त्वकी शिशु-लीला

नित्य प्रसन्न राम आज रो रहे हैं। माता कौसल्या उद्विग्न हो गयी हैं। उनका लाल आज किसी प्रकार शान्त नहीं होता है। वे गोदमें लेकर खड़ी हुईं, पुचकारा, थपकी दी, उछाला; किंतु राम रोते रहे। बैठकर स्तनपान करानेका प्रयत्न किया; किंतु आज तो रामललाको पता नहीं क्या हो गया है। वे बार-बार चरण उछालते हैं, कर पटकते हैं और रो रहे हैं। पालनेमें झुलानेपर भी वे चुप नहीं होते। उनके दीर्घ दृगोंसे बड़े-बड़े बिन्दु टपाटप टपक रहे हैं।

श्रीराम रो रहे हैं। सारा राजपरिवार चिन्तित हो उठा है। तीनों माताएँ व्यग्र हैं। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न—तीनों शिशु बार-बार उझकते हैं, बार-बार हाथ बढ़ाते हैं। उनके अग्रज रो क्यों रहे हैं? माताएँ अत्यन्त व्यथित हैं। अत्यन्त चिन्तित हैं—'कहीं ये तीनों भी रोने न लगें।'

'अवश्य किसीने नजर लगा दी है।' किसीने कहा, सम्भवतः किसी दासीने। अविलम्ब रथ गया महर्षि वशिष्ठके आश्रमपर। रघुकुलके तो एकमात्र आश्रय ठहरे वे तपोमूर्ति।

'श्रीराम आज ऐसे रो रहे हैं कि चुप होते ही नहीं।' महर्षिने सुना और उन ज्ञानघनके गम्भीर मुखपर मन्दस्मित आ गया। वे चुपचाप रथमें बैठ गये।

'मेरे पास क्या है। तुम्हारा नाम ही त्रिभुवनका रक्षक है, मेरी सम्पत्ति और साधन भी वही है।' महर्षिने यह बात मनमें ही कही। राजभवनमें उन्हें उत्तम आसन दिया गया था। उनके सम्मुख तीनों रानियाँ बैठी थीं। सुमित्रा और कैकेयीजीने लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नको गोदमें ले रखा था और माता कौसल्याकी गोदमें थे दो इन्दीवर-सुन्दर कुमार। महर्षिने हाथमें कुश लिया, नृसिंह-मन्त्र पढ़कर श्रीरामपर कुछ जल-सीकर डाले कुशाग्रसे।

महर्षिने हाथ बढ़ाकर श्रीरामको गोदमें ले लिया और उनके मस्तकपर हाथ रक्खा। उन नीलसुन्दरके स्पर्शसे महर्षिका शरीर पुलकित हो गया, नेत्र भर आये। उधर रामलला रुदन भूल चुके थे। उन्होंने तो एक बार महर्षिके मुखकी ओर देखा और फिर आनन्दसे किलकारी मारने लगे।

'देव! इस रघुवंशके आप कल्पवृक्ष हैं।' रानियोंने अञ्चल हाथमें लेकर भूमिपर मस्तक रक्खा महर्षिके सम्मुख।

'मुझे कृतार्थ करना था इन कृपामयको।' महर्षिके नेत्र तो शिशु रामके विकच कमल-मुखपर स्थिर थे।

महर्षिके वटु शिष्य एक ओर बैठे तथा अन्तःपुरकी वात्सल्यवती परिचारिकाएँ खड़ी यह मधुर दृश्य देख रही थीं।

(गीतावली, पद ११-१२)

सब चमार हैं

मिथिला-नरेश महाराज जनककी सभामें शास्त्रोंके मर्मज्ञ सुप्रसिद्ध विद्वानोंका समुदाय एकत्र था । अनेक वेदज्ञ ब्राह्मण थे । बहुत-से दार्शनिक मुनिगण थे । उस राजसभामें ऋषिकुमार अष्टावक्रजीने प्रवेश किया । हाथ, पैर तथा पूरा शरीर टेढ़ा ! पैर रखते कहीं हैं तो पड़ता कहीं है और मुखकी आकृति तो और भी कुरूप है । उनकी इस बेढंगी सूरतको देखकर सभाके प्रायः सभी लोग हँस पड़े । अष्टावक्रजी असंतुष्ट नहीं हुए । वे जहाँ थे, वहीं खड़े हो गये और स्वयं भी हँसने लगे ।

महाराज जनक अपने आसनसे उठे और आगे आये । उन्होंने हाथ जोड़कर पूछा—'भगवन् ! आप हँस क्यों रहे हैं ?'

अष्टावक्रने पूछा—'ये लोग क्यों हँस रहे हैं ?'

'हमलोग तो तुम्हारी यह अटपटी आकृति देखकर हँस रहे हैं ।' एक ब्राह्मणने उत्तर दिया ।

अष्टावक्रजी बोले—'राजन् ! मैं चला था यह सुनकर कि जनकके यहाँ विद्वान् एकत्र हुए हैं; किंतु अब यह देखकर हँस रहा हूँ कि विद्वानोंकी परिषद्‌के बदले चमारोंकी सभामें आ पहुँचा हूँ । यहाँ तो सब चमार हैं ।'

'भगवन् ! इन विद्वानोंको आप चमार कहते हैं !' महाराज जनकने शङ्कित स्वरमें पूछा ।

अष्टावक्र उसी अल्हड़पनसे बोले—'जो चमड़े और हड्डियोंको देखे-पहिचाने, वह चमार ।'

समस्त विद्वानोंके मस्तक झुक गये उन ऋषिकुमारके सम्मुख । —सु० सिं०

यह सच या वह सच ?

मिथिला-नरेश महाराज जनक अपने राजभवनमें शयन कर रहे थे । निद्रामें उन्होंने एक अद्भुत स्वप्न देखा—

मिथिलापर किसी शत्रु नरेशने आक्रमण कर दिया है । उसकी अपार सेनाने नगरको घेर लिया है । तुमुल संग्राम छिड़ गया उसके साथ । मिथिलाकी सेना पराजित हो गयी । महाराज जनक बंदी हुए । विजयी शत्रुने आज्ञा दी—'मैं तुम्हारे प्राण नहीं लेता; किंतु अपने सब वस्त्राभरण उतार दो और इस राज्यसे निकल जाओ ।' उस नरेशने घोषणा करा दी—'जनकको जो आश्रय या भोजन देगा, उसे प्राण-दण्ड दिया जायगा ।'

राजा जनकने वस्त्राभूषण उतार दिये । केवल एक छोटा वस्त्र कटिमें लपेटे वे राजभवनसे निकल पड़े । पैदल ही उन्हें राज्य-सीमासे बाहरतक जाना पड़ा । प्राण-भयसे कोई उनसे बोलतातक नहीं था । चलते-चलते पैरोंमें छाले पड़ गये । वृक्षोंके नीचे बैठ जायँ या भूखे सो रहें, कोई अपने द्वार-पर तो उनके खड़े भी होनेमें डरता था । कई दिनोंतक अन्नका एक दाना भी पेटमें नहीं गया ।

जनक अब राजा नहीं थे । बिखरे केश, धूलिसे भरा शरीर, भूखसे अत्यन्त व्याकुल जनक एक भिक्षुक-जैसे थे । राज्यसे बाहर एक नगर मिला । पता लगा कि वहाँ कोई अन्न-क्षेत्र है और उसमें भूखोंको खिचड़ी दी जाती है । बड़ी आशासे जनक वहाँ पहुँचे; किंतु खिचड़ी बँट चुकी थी । अब बाँटनेवाला द्वार बंद करने जा रहा था । भूखसे चक्कर खाकर जनक बैठ गये और उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे । अन्न बाँटनेवाले कर्मचारीको इनकी दशापर दया आ गयी । उसने कहा—'खिचड़ी तो है नहीं; किंतु बर्तनमें उसकी कुछ खुरचन लगी है । तू कहे तो वह तुझे दे दूँ । उसमें जल जानेकी गन्ध तो आ रही है ।'

जनकको तो यही वरदान जान पड़ा । उन्होंने दोनों हाथ फैला दिये । कर्मचारीने जली हुई खिचड़ीकी खुरचन उनके हाथपर रख दी ! लेकिन इसी समय एक चीलने झपट्टा मार दिया । उसके पंजे लगनेसे जनकका हाथ ऐसा हिला कि सारी खुरचन कीचड़में गिर पड़ी । मारे व्यथाके जनक चिल्ला पड़े ।

यहाँतक तो स्वप्न था; किंतु निद्रामें जनक सचमुच चिल्ला पड़े थे । चिल्लानेसे उनकी निद्रा तो टूट ही गयी; रानियाँ, सेवक, सेविकाएँ दौड़ आयीं उनके पास—'महाराज-को क्या हो गया ?'

महाराज जनक अब आँख फाड़-फाड़कर देखते हैं चारों ओर । वे अपने सुसज्जित शयन-कक्षमें स्वर्णरत्नोंके पलंगपर

दुग्धफेन-सी कोमल शय्यापर लेटे हैं। उन्हें भूख तो है ही नहीं। रानियाँ पास खड़ी हैं। सेवक-सेविकाएँ सेवामें प्रस्तुत हैं। वे अब भी मिथिला-नरेश हैं। यह सब देखकर जनक बोले—'यह सच या वह सच ?'

रानियाँ चिन्तित हो गयीं। मन्त्रियोंकी व्याकुलता बढ़ गयी। महाराज जनक, लगता था कि, पागल हो गये। वे न किसीसे कुछ कहते थे, न किसीके प्रश्नका उत्तर देते थे। उनके सम्मुख जो भी जाता था, उससे एक ही प्रश्न वे करते थे—'यह सच या वह सच ?'

चिकित्सक आये, मन्त्रज्ञ आये और भी जाने कौन-कौन आये; किंतु महाराजकी दशामें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अचानक ही एक दिन ऋषि अष्टावक्रजी मिथिला पधारे। उन्होंने मन्त्रियोंको आश्वासन दिया और वे महाराज जनकके समीप पहुँचे। जनकने उनसे भी वही प्रश्न किया। योगिराज अष्टावक्रजीने ध्यान करके प्रश्नके कारणका पता लगा लिया।

अष्टावक्रजीने पूछा—'महाराज ! जब आप कटिमें एक वस्त्र-खण्ड लपेटे अन्न-क्षेत्रके द्वारपर भिक्षुकके वेशमें दोनों हाथ फैलाये खड़े थे और आपकी हथेलीपर खिचड़ीकी जली खुरचन रक्खी गयी थी, उस समय यह राजभवन, आपका यह राजवेश, ये रानियाँ, राजमन्त्री, सेवक-सेविकाएँ थीं ?'

महाराज जनक अब बोले—'भगवन् ! ये कोई उस समय नहीं थे। उस समय तो विपत्तिका मारा मैं एकाकी क्षुधित भिक्षुक मात्र था।'

अष्टावक्रजीने फिर पूछा—'और राजन् ! जागनेपर जब आप इस राजवेशमें राजभवनमें पलंगपर आसीन थे, तब वह अन्नक्षेत्र, उसका वह कर्मचारी, वह आपका कंगाल-वेश, वह जली खिचड़ीकी खुरचन और वह आपकी क्षुधा थी ?'

महाराज जनक—'भगवन् ! बिल्कुल नहीं, वह कुछ भी नहीं था।'

अष्टावक्र—'राजन् ! जो एक कालमें रहे और दूसरे कालमें न रहे, वह सत्य नहीं होता। आपके जाग्रत्में इस समय वह स्वप्नकी अवस्था नहीं है, इसलिये वह सच नहीं; और स्वप्नके समय यह अवस्था नहीं थी, इसलिये यह भी सच नहीं। न यह सच न वह सच।'

जनक—'भगवन् ! तब सच क्या है ?'

अष्टावक्र—'राजन् ! जब आप भूखे अन्नक्षेत्रके द्वारपर हाथ फैलाये खड़े थे, तब वहाँ आप तो थे न ?

जनक—'भगवन् ! मैं तो वहाँ था।'

अष्टावक्र—'और राजन् ! इस राजभवनमें इस समय आप हैं ?'

जनक—'भगवन् ! मैं तो यहाँ हूँ।'

अष्टावक्र—'राजन् ! जाग्रत्में, स्वप्नमें और सुषुप्तिके साक्षीरूपमें भी आप रहते हैं। अवस्थाएँ बदलती हैं; किंतु उनमें उन अवस्थाओंको देखनेवाले आप नहीं बदलते। आप तो उन सबमें रहते हैं। अतः आप ही सच हैं। केवल आत्मा ही सत्य है।' —सु० सिं०

आपका राज्य कहाँतक है ?

महाराज जनकके राज्यमें एक ब्राह्मण रहता था। उससे एक बार कोई भारी अपराध बन गया। महाराज जनकने उसको अपराधके फलस्वरूप अपने राज्यसे बाहर चले जानेकी आज्ञा दी। इस आज्ञाको सुनकर ब्राह्मणने जनकसे पूछा—'महाराज ! मुझे यह बतला दीजिये कि आपका राज्य कहाँतक है ? क्योंकि तब मुझे आपके राज्यसे निकल जानेका ठीक-ठीक ज्ञान हो सकेगा।'

महाराज जनक स्वभावतः ही विरक्त तथा ब्रह्मज्ञानमें प्रविष्ट रहते थे। ब्राह्मणके इस प्रश्नको सुनकर वे विचारने लगे तो पहले तो परम्परागत सम्पूर्ण पृथ्वीपर ही उन्हें अपना राज्य तथा अधिकार-सा दीखा। फिर मिथिला नगरीपर वह अधिकार दीखने लगा। आत्मज्ञानके झोंकेमें पुनः उनका अधिकार घटकर प्रजापर, फिर अपने शरीरमें आ गया और अन्तमें कहीं भी उन्हें अपने अधिकारका भान नहीं हुआ। अन्तमें उन्होंने ब्राह्मणको अपनी सारी स्थिति समझायी और कहा कि 'किसी वस्तुपर भी मेरा अधिकार नहीं है। अतएव आपकी जहाँ रहनेकी इच्छा हो, वहीं रहिये और जो इच्छा हो, भोजन करिये।'

इसपर ब्राह्मणको आश्चर्य हुआ और उसने उनसे पूछा—'महाराज ! आप इतने बड़े राज्यको अपने अधिकारमें रखते हुए किस तरह सब वस्तुओंसे निर्मम हो गये हैं और क्या समझकर सारी पृथ्वीपर अधिकार सोच रहे थे ?'

जनकने कहा—'भगवन् ! संसारके सब पदार्थ नश्वर हैं। शास्त्रानुसार न कोई अधिकारी ही सिद्ध होता है और न कोई अधिकार-योग्य वस्तु ही। अतएव मैं किसी वस्तुको अपनी कैसे समझूँ ? अब जिस बुद्धिसे सारे विश्वपर अपना अधिकार समझता हूँ, उसे सुनिये ! मैं अपने संतोषके लिये कुछ भी न कर देवता, पितर, भूत और अतिथि-सेवाके लिये करता हूँ। अतएव पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश और अपने मनपर भी मेरा अधिकार है।'

जनकके इन वचनोंके साथ ही ब्राह्मणने अपना चोला बदल दिया। उसका विग्रह दिव्य हो गया और बोला कि 'महाराज ! मैं धर्म हूँ। आपकी परीक्षाके लिये ब्राह्मण-वेषसे आपके राज्यमें रहा तथा यहाँ आया हूँ। अब भलीभाँति समझ गया कि आप सत्त्वगुणरूप नेमियुक्त ब्रह्मप्राप्तिरूप चक्रके संचालक हैं।' —जा० श०

(महा० आश्वमेधिक० ३२ वाँ अध्याय)

संसारके सम्बन्ध भ्रममात्र हैं

शूरसेन प्रदेशमें किसी समय चित्रकेतु नामक अत्यन्त प्रतापी राजा थे। उनकी रानियोंकी तो संख्या ही करना कठिन है, किंतु संतान कोई नहीं थी। एक दिन महर्षि अङ्गिरा राजा चित्रकेतुके राजभवनमें पधारे। संतानके लिये अत्यन्त लालायित नरेशको देखकर उन्होंने एक यज्ञ कराया और यज्ञशेष हविष्यान्न राजाकी सबसे बड़ी रानी कृतद्युतिको दे दिया। जाते-जाते महर्षि कहते गये—'महाराज ! आपको एक पुत्र तो होगा; किंतु वह आपके हर्ष तथा शोक दोनोंका कारण बनेगा।'

महारानी कृतद्युति गर्भवती हुईं। समयपर उन्हें पुत्र उत्पन्न हुआ। महाराज चित्रकेतुकी प्रसन्नताका पार नहीं था। पूरे राज्यमें महोत्सव मनाया गया। दीर्घकालतक संतानहीन राजाको संतान मिली थी, फलतः उनका वात्सल्य उमड़ पड़ा था। वे पुत्रके स्नेहवश बड़ी रानीके भवनमें ही प्रायः रहते थे। पुत्रवती बड़ी महारानीपर उनका एकान्त अनुराग हो गया था। फल यह हुआ कि महाराजकी दूसरी रानियाँ कुढ़ने लगीं। पतिकी उपेक्षाका उन्हें बड़ा दुःख हुआ और इस दुःखने प्रचण्ड द्वेषका रूप धारण कर लिया। द्वेषमें उनकी बुद्धि अंधी हो गयी। अपनी उपेक्षाका मूल कारण उन्हें वह नवजात बालक ही लगा। अन्तमें सबने सलाह करके उस अबोध शिशुको चुपचाप विष दे दिया। बालक मर गया। महारानी कृतद्युति और महाराज चित्रकेतु तो बालकके शवके पास कटे वृक्षकी भाँति गिरे ही, पूरे राजसदनमें क्रन्दन होने लगा।

रुदन-क्रन्दनसे आकुल उस राजभवनमें दो दिव्य विभूतियाँ पधारीं। महर्षि अङ्गिरा इस बार देवर्षि नारदके साथ आये थे। महर्षिने राजासे कहा—'राजन् ! तुम ब्राह्मणोंके और भगवान्‌के भक्त हो। तुमपर प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे पास पहले आया था कि तुम्हें भगवद्दर्शनका मार्ग दिखा दूँ; किंतु तुम्हारे चित्तमें उस समय प्रबल पुत्रेच्छा देखकर मैंने तुम्हें पुत्र दिया। अब तुमने पुत्र-वियोगके दुःखका अनुभव कर लिया। यह सारा संसार इसी प्रकार दुःखमय है।'

राजा चित्रकेतु अभी शोकमग्न थे। महर्षिकी बातका मर्म वे समझ नहीं सके। वे तो उन महापुरुषोंकी ओर देखते रह गये। देवर्षि नारदने समझ लिया कि इनका मोह ऐसे दूर नहीं होगा। उन्होंने अपनी दिव्यशक्तिसे बालकके जीवको आकर्षित किया। जीवात्माके आ जानेपर उन्होंने कहा—'जीवात्मन् ! देखो, ये तुम्हारे माता-पिता अत्यन्त दुखी हो रहे हैं। तुम अपने शरीरमें फिर प्रवेश करके इन्हें सुखी करो और राज्यसुख भोगो।'

सबने सुना कि जीवात्मा स्पष्ट कह रहा है—'देवर्षे ! ये मेरे किस जन्मके माता-पिता हैं ? जीवका तो कोई माता-पिता या भाई-बन्धु है नहीं। अनेक बार मैं इनका पिता रहा हूँ, अनेक बार ये मेरे। अनेक बार ये मेरे मित्र या शत्रु रहे हैं। ये सब सम्बन्ध तो शरीरके हैं। जहाँ शरीरसे सम्बन्ध छूटा, वहीं सब सम्बन्ध छूट गया। फिर तो सबको अपने ही कर्मोंके अनुसार फल भोगना है।'

जीवात्मा यह कहकर चला गया। राजा चित्रकेतुका मोह उसकी बातोंको सुनकर नष्ट हो चुका था। पुत्रके शवका अन्तिम संस्कार सम्पन्न करके वे स्वस्थचित्तसे महर्षियोंके समीप आये। देवर्षि नारदने उन्हें भगवान् शेषकी आराधनाका उपदेश किया, जिसके प्रभावसे कुछ कालमें ही उन्हें शेषजीके दर्शन हुए और वे विद्याधर हो गये।—सु० सिं०

(श्रीमद्भागवत ६। १४। १६)

संतानके मोहसे विपत्ति

किसी समय तुङ्गभद्रा नदीके किनारे एक उत्तम नगर था। वहाँ आत्मदेव नामके एक सदाचारी, कर्मनिष्ठ ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नीका नाम था धुन्धुली। वह सुन्दरी थी; सत्कुलोत्पन्न थी, घरका कार्य करनेमें निपुण थी; किंतु बहुत बोलनेवाली, कृपण, कलहप्रिय और दूसरोंके झगड़ोंमें आनन्द लेनेवाली थी। आत्मदेव अपनी पत्नीके साथ संतुष्ट थे; किंतु उन्हें इस बातका बड़ा दुःख था कि उनके कोई संतान नहीं है। उन्होंने दान-पुण्यमें अपनी सम्पत्तिका आधा भाग व्यय भी किया; किंतु कोई संतति नहीं हुई। अन्तमें दुखी होकर उन्होंने देहत्यागका निश्चय कर लिया और एक दिन चुपचाप वनमें चले गये। वनमें प्यास लगनेपर एक सरोवरसे जल पीकर वे बैठे थे कि वहीं एक संन्यासी आ गये। उन्हें जल पीकर स्थिर बैठे देख ब्राह्मण आत्मदेव उनके समीप पहुँचे और उनके चरणोंपर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगे।

संन्यासी महात्माके पूछनेपर आत्मदेवने अपने कष्टकी बात बतलायी और पुत्र-प्राप्तिका उपाय पूछा। दैवज्ञ संन्यासी-ने योगबलसे उनकी भाग्य-रेखा देखकर बताया—'तुम्हारे प्रारब्धमें सात जन्मोंतक पुत्र नहीं है। पुत्रप्राप्तिके मोहको छोड़ दो! यह मोह अज्ञानसे ही है। देखो! पुत्रके कारण महाराज सगर और राजा अङ्गको भी अत्यन्त दुःख भोगना पड़ा है। सुख तो मोहको छोड़कर भगवान्‌का भजन करनेमें ही है।'

परंतु ब्राह्मण तो संतानकी इच्छासे मोहान्ध हो रहे थे। उन्होंने कहा—'यदि आपने पुत्र-प्राप्तिका उपाय न बताया तो मैं यहीं आपके सामने ही प्राण त्याग दूँगा।'

अन्तमें विवश होकर महात्माने ब्राह्मणको एक फल देकर कहा—'क्या किया जाय, तुम्हारा दुराग्रह बलवान् है; किंतु पुत्रसे तुम्हें सुख नहीं होगा। क्योंकि प्रारब्धके विपरीत हठ करनेसे कष्ट ही मिलता है। अच्छा, यह फल ले जाकर अपनी पत्नीको खिला दो, इससे उसे पुत्र होगा। तुम्हारी पत्नी एक वर्षतक सत्य बोले, पवित्रतापूर्वक रहे, जीवोंपर दया करे, दीनोंको दान दे और केवल एक समय भोजन करे तो पुत्र धार्मिक उत्पन्न होगा।'

महात्मा तो फल देकर चले गये और ब्राह्मणने घर आकर फल अपनी पत्नीको दे दिया। परंतु आत्मदेवकी देवीजी भी अद्‌भुत ही थीं। उन्होंने वह फल खाया नहीं, उल्टे अपनी सखीके सामने रोने लगीं—'सखी! यदि मैं फल खा लूँ तो गर्भवती हो जाऊँगी, उससे मेरा पेट बढ़ जायगा, भूख कम हो जायगी, मैं दुर्बल हो जाऊँगी, फिर घरका कार्य कैसे होगा। कदाचित् गाँवमें डाकू आ गये तो गर्भिणी नारी कैसे भाग सकेगी। कहीं गर्भस्थ शिशु टेढ़ा हो गया तो मेरी मृत्यु ही हो जायगी। प्रसवमें भी सुना है महान् कष्ट होता है; मैं सुकुमारी उसे कैसे सहन कर सकूँगी। मेरे असमर्थ होनेपर मेरी ननद मेरा सर्वस्व चुरा लेगी। सत्य, शौचादि नियमोंका पालन भी मेरे लिये अशक्य ही है। पुत्रके लालन-पालनमें भी स्त्रीको बड़ा दुःख होता है। मेरी समझसे तो वन्ध्या या विधवा स्त्री ही सुखी है।' इस प्रकार कुतर्क करके ब्राह्मण-पत्नीने फल नहीं खाया।

कुछ दिनों बाद ब्राह्मण-पत्नीकी छोटी बहिन उसके पास आयी, ब्राह्मणीने सब बातें उसे बताकर कहा—'बहिन! ऐसी दशामें मैं क्या करूँ?'

उसकी बहिनने कहा—'चिन्ता मत करो। मैं गर्भवती हूँ, बच्चा होनेपर उसे तुम्हें दे दूँगी। तुम मेरे पतिको धन दे देना, इससे वह तुम्हें बालक दे देंगे। तबतक तुम गर्भवतीके समान घरमें गुप्तरूपसे रहो। लोगोंमें मैं प्रसिद्ध कर दूँगी कि छः महीनेका होकर मेरा पुत्र मर गया। तुम्हारे घर प्रतिदिन आकर मैं तुम्हारे पुत्रका पालन-पोषण करूँगी। यह फल तो परीक्षाके लिये गायको दे दो।'

ब्राह्मण-पत्नीने फल तो गायको दे दिया और पतिसे कह दिया—'मैंने फल खा लिया।' समयपर उसकी बहिनको पुत्र हुआ। गुप्तरूपसे उस बहिनके पतिने बालक लाकर ब्राह्मण-पत्नीको दे दिया। ब्राह्मणीने पतिको बताया—'बड़ी सरलतासे पुत्र हो गया।' ब्राह्मणके आनन्दका क्या ठिकाना। बड़ी धूम-धामसे पुत्रोत्सव मनाया जाने लगा। ब्राह्मणने उस बालकका नाम माताके नामपर धुन्धकारी रक्खा।

कुछ दिनोंके बाद गायने भी एक मानव-शिशुको जन्म दिया। लोगोंको इससे बड़ा कुतूहल हुआ। यह बालक बहुत ही सुन्दर, तेजस्वी था; किंतु उसके कान गायके समान थे। ब्राह्मणने उस बालकके भी संस्कार कराये और उसका नाम गोकर्ण रक्खा।

बड़े होनेपर बालक गोकर्ण तो विनम्र, सदाचारी,

विद्वान् और धार्मिक हुए; किंतु धुन्धकारी महान् दुष्ट हुआ। वह स्नान तथा दूसरी पवित्रताकी क्रियाओंसे दूर ही रहता था, अखाद्य पदार्थ उसे प्रिय थे, अत्यन्त क्रोधी था, बायें हाथसे भोजन करता था, चोर था, सबसे अकारण द्वेष रखता था, छोटे बच्चोंको उठाकर कुएँमें फेंक देता था, हत्यारा था, हाथमें सदा शस्त्र रखता था, दीनों और अंधोंको सदा पीड़ा देता रहता था, चाण्डालोंके साथ हाथमें रस्सी और साथमें कुत्ते लिये घूमा करता था। वेश्यागामी बनकर उसने सब पैतृक सम्पत्ति नष्ट कर दी और माता-पिताको पीटकर घरके बर्तन भी बेचनेको ले जाने लगा।

अब आत्मदेवको पुत्रके उत्पातका दुःख असह्य हो गया। वे दुखी होकर आत्मघात करनेको उद्यत हो गये। परंतु गोकर्णने उन्हें समझाया कि 'यह संसार ही असार है। यहाँ सुख है नहीं। सुख तो भगवान्का भजन करनेमें ही है।'

गोकर्णके उपदेशको स्वीकार करके आत्मदेव वनमें चले गये। वहाँ भगवद्भक्तिमें उन्होंने मन लगाया, इससे अन्तमें उन्हें भगवल्लोककी प्राप्ति हुई। इधर घरमें धुन्धकारीने माताको नित्य पीटना प्रारम्भ किया कि 'धन कहाँ छिपाकर रक्खा है, बता!' इस नित्यकी मारसे व्याकुल होकर ब्राह्मणीने कुएँमें कूदकर आत्मघात कर लिया। स्वभावसे विरक्त गोकर्ण तीर्थयात्रा करने चले गये। अब तो धुन्धकारीको स्वतन्त्रता हो गयी। पाँच वेश्याएँ उसने घरमें ही रख लीं। चोरी, डकैती, जुआ आदिसे उनका पोषण करने लगा।

एक बार अपने कुकर्मोंसे धुन्धकारीने बहुत-सा धन एकत्र कर लिया। धनराशि देखकर वेश्याओंके मनमें लोभ आया। उन्होंने परस्पर सलाह करके एक रातमें सोते हुए धुन्धकारीको रस्सियोंसे बाँध दिया और उसके मुखपर जलते अङ्गार रखकर उसे मार डाला। फिर उसका शव गड्ढा खोदकर गाड़ दिया और सब धन लेकर वे चली गयीं।

मरकर धुन्धकारी प्रेत हुआ। तीर्थयात्रा करके जब गोकर्ण लौटे और रात्रिमें अपने घरमें सोये, तब नाना वेशोंमें प्रेत बना धुन्धकारी उन्हें डरानेका प्रयत्न करने लगा। गोकर्णकी कृपासे वह बोलनेमें समर्थ हुआ, उसके मुखसे उसकी दुर्गतिका वृत्त जानकर गोकर्णने उसे इस दुर्दशासे मुक्त करनेका वचन दिया और अन्तमें श्रीमद्भागवतका सप्ताह सुनाकर उसे प्रेतत्वसे मुक्त किया।—सु० सिं०

(पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवतमाहात्म्य ४-५)

शुकदेवजीकी समता

पिता वेदव्यासजीकी आज्ञासे श्रीशुकदेवजी आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये विदेहराज जनककी मिथिला नगरीमें पहुँचे। वहाँ खूब सजे-सजाये हाथी, घोड़े, रथ और स्त्री-पुरुषोंको देखा। पर उनके मनमें कोई विकार नहीं हुआ। महलके सामने पहली ड्योढ़ीपर पहुँचे, तब द्वारपालोंने उन्हें वहीं धूपमें रोक दिया। न बैठनेको कहा न कोई बात पूछी। वे तनिक भी खिन्न न होकर धूपमें खड़े हो गये। तीन दिन बीत गये। चौथे दिन एक द्वारपालने उन्हें सम्मानपूर्वक दूसरी ड्योढ़ीपर ठंडी छायामें पहुँचा दिया। वे वहीं आत्मचिन्तन करने लगे। उन्हें न तो धूप और अपमानसे कोई क्लेश हुआ न ठंडी छाया और सम्मानसे कोई सुख ही।

इसके बाद राजमन्त्रीने आकर उनको सम्मानके साथ सुन्दर प्रमदावनमें पहुँचा दिया। वहाँ पचास नवयुवती स्त्रियोंने उन्हें भोजन कराया और उन्हें साथ लेकर हँसती, खेलती, गाती और नाना प्रकारकी चेष्टा करती हुई प्रमदावनकी शोभा दिखाने लगीं। रात होनेपर उन्होंने शुकदेवजीको सुन्दर पलंगपर बहुमूल्य दिव्य बिछौना बिछाकर बैठा दिया। वे पैर धोकर रातके पहले भागमें ध्यान करने लगे। मध्यभागमें सोये और चौथे पहरमें उठकर फिर ध्यान करने लगे। ध्यानके समय भी पचासों युवतियाँ उन्हें घेरकर बैठ गयीं; परंतु वे किसी प्रकार भी शुकदेवजीके मनमें कोई विकार पैदा नहीं कर सकीं।

इतना होनेपर दूसरे दिन महाराज जनकने आकर उनकी पूजा की और ऊँचे आसनपर बैठाकर पाद्य, अर्घ्य और गोदान आदिसे उनका सम्मान किया। फिर स्वयं आज्ञा लेकर धरतीपर बैठ गये और उनसे बातचीत करने लगे।

बातचीतके अन्तमें जनकजीने कहा—'आप सुख-दुःख, लोभ-क्षोभ, नाच-गान, भय-भेद—सबसे मुक्त परम ज्ञानी हैं। आप अपने ज्ञानमें कमी मानते हैं, इतनी ही कमी है। आप परम विज्ञानघन होकर भी अपना प्रभाव नहीं जानते हैं।' जनकजीके बोधसे उन्हें अपने स्वरूपका पता लग गया।

शुकदेवजीका वैराग्य

एक बार व्यासजीके मनमें ब्याहकी अभिलाषा हुई। उन्होंने जाबालि मुनिसे कन्या माँगी। जाबालिने अपनी चेटिका नामकी कन्या उन्हें दे दी। चेटिकाका दूसरा नाम पिङ्गला था। कुछ दिनोंके बाद उसके गर्भमें शुकदेवजी आये। बारह वर्ष बीत गये, पर वे बाहर नहीं निकले। शुकदेवजीकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। उन्होंने सारे वेद, वेदाङ्ग, पुराण, धर्मशास्त्र और मोक्ष-शास्त्रोंका वहीं श्रवण करके गर्भमें ही अभ्यास कर लिया। वहाँ यदि पाठ करनेमें कोई भूल होती तो शुकदेवजी गर्भमेंसे ही डाँट देते। इधर माताको भी गर्भके बढ़नेसे बड़ी पीड़ा हो रही थी। यह सब देखकर व्यासजी बड़े विस्मित हुए। उन्होंने गर्भस्थ बालकसे पूछा—'तुम कौन हो?'

शुकदेवजीने कहा—'जो चौरासी लाख योनियाँ बतायी गयी हैं, उन सबमें मैं घूम चुका हूँ। ऐसी दशामें मैं क्या बताऊँ कि कौन हूँ?'

व्यासजीने कहा—'तुम बाहर क्यों नहीं आते?'

शुकदेव—'भयंकर संसारमें भटकते-भटकते मुझे बड़ा वैराग्य हो गया है। पर मैं जानता हूँ गर्भसे बाहर आते ही वैष्णवी मायाके स्पर्शसे सारा ज्ञान-वैराग्य हवा हो जायगा। अतएव मेरा विचार इस बार गर्भमें रहकर ही योगाभ्यासमें तत्पर हो मोक्ष-सिद्धि करनेका है।

अन्तमें व्यासदेवजीके वैष्णवी मायाके न स्पर्श करनेका आश्वासन देनेपर वे किसी प्रकार गर्भसे बाहर तो आये, पर तुरंत ही वनके लिये चलने लगे। यह देख व्यासजी बोले—'बेटा! मेरे घरमें ही ठहरो। मैं तुम्हारा जातकर्म आदि संस्कार तो कर दूँ।' इसपर शुकदेवजीने कहा—'अबतक जन्म-जन्मान्तरोंमें मेरे सैकड़ों संस्कार हो चुके हैं। उन बन्धन-प्रद संस्कारोंने ही मुझे भवसागरमें भटका रक्खा है। अतएव अब मुझे उनसे कोई प्रयोजन नहीं है।'

व्यासदेव—'द्विजके बालकको पहले विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रममें रहकर वेदाध्ययन करना चाहिये। तदनन्तर उसे गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रममें प्रवेश करना चाहिये। इसके बाद ही वह मोक्षको प्राप्त होता है। अन्यथा पतन अवश्यम्भावी है।'

शुकदेव—'यदि ब्रह्मचर्यसे मोक्ष होता हो तब तो नपुंसकोंको वह सदा ही प्राप्त रहता होगा; पर ऐसा नहीं दीखता। यदि गृहस्थाश्रम मोक्षका सहायक हो, तब तो सम्पूर्ण जगत् ही मुक्त हो जाय। यदि वानप्रस्थियोंको मोक्ष होने लगे, तब तो सभी मृग पहले मुक्त हो जायँ। यदि आपके विचारसे संन्यास-धर्मका पालन करनेवालोंको मोक्ष अवश्य मिलता हो, तब तो दरिद्रोंको पहले मोक्ष मिलना चाहिये।'

व्यासदेव—'मनुका कहना है कि सद्-गृहस्थोंके लिये लोक-परलोक दोनों ही सुखद होते हैं। गृहस्थका समन्वयात्मक संग्रह सनातन सुखदायक होता है।'

शुकदेव—'सम्भव है दैवयोगसे कभी आग भी शीत उत्पन्न कर सके, चन्द्रमासे ताप निकलने लग जाय; पर परिग्रहसे कोई सुखी हो जाय—यह तो त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है।'

व्यासदेव—'बड़े पुण्योंसे मनुष्यका शरीर मिलता है। इसे पाकर यदि कोई गृहस्थधर्मका तत्त्व ठीक-ठीक समझ जाय तो उसे क्या नहीं मिल जाता?'

शुकदेव—'जन्म होते ही मनुष्यका गर्भ-जनित ज्ञान-ध्यान सब भूल जाता है। ऐसी दशामें गार्हस्थ्यमें प्रवेश तथा उससे लाभकी कल्पना तो केवल आकाशसे पुष्प तोड़नेके समान है।'

व्यासदेव—'मनुष्यका पुत्र हो या गदहेका, जब वह धूलमें लिपटा, चञ्चलगतिसे चलता और तोतली वाणी बोलता है, तब उसका शब्द लोगोंके लिये अपार आनन्दप्रद होता है।'

शुकदेव—'मुने! धूलमें लोटते हुए अपवित्र शिशुसे सुख या संतोषकी प्राप्ति सर्वथा अज्ञानमूलक ही है। उसमें सुख माननेवाले सभी अज्ञानी हैं।'

व्यासदेव—'यमलोकमें एक महाभयंकर नरक है, जिसका नाम है—'पुम्'। पुत्रहीन मनुष्य वहीं जाता है। इसलिये पुत्रकी प्रशंसा की जाती है।'

शुकदेव—'यदि पुत्रसे ही स्वर्गकी प्राप्ति हो जाती तो सूअर, कूकर और टिड्डियोंको यह विशेषरूपसे मिल सकता।'

व्यासदेव—'पुत्रके दर्शनसे मनुष्य पितृ-ऋणसे मुक्त हो जाता है। पौत्र-दर्शनसे देव-ऋणसे मुक्त हो जाता है और प्रपौत्रके दर्शनसे उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।'

शुकदेव—'गीध दीर्घजीवी होते हैं, वे सभी अपनी कई पीढ़ियोंको देखते हैं। पौत्र, प्रपौत्र तो सर्वथा नगण्य वस्तु हैं उनकी दृष्टिमें। पर पता नहीं उनमेंसे अबतक कितनोंको मोक्ष मिला।'

यों कहकर विरक्त शुकदेवजी वनमें चले गये।

—जा० श०

(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड पूर्वार्ध १५०; देवीभागवत, स्कन्ध १ अ० ४-५)

तपोबल

'माँ, मुझे उतना ही मीठा दूध पिलाओ।' उपमन्यु घर आकर माँकी गोदमें बैठ गया। उसने अभी थोड़ी देर पहले अपने मामाके लड़केको दूध पीते देखा था, उसे भी थोड़ा-सा दूध मिला था।

'बेटा! हमलोग गरीब हैं, पेट भरनेके लिये घरमें अन्न-का अभाव है तो दूध किस तरह मिल सकता है।' माताने हठी उपमन्युको समझाया; पर वह किसी तरह मानता ही नहीं था। बालहठ ऐसा होता ही है।

माताने दिन काटनेके लिये कुछ अन्न बटोरकर घरमें रक्खा था। उसने उसे पीसकर तथा पानीमें घोलकर उपमन्युसे कहा कि 'दूध पी लो।'

'नहीं माँ! यह तो नकली दूध है, असली दूध तो मीठा होता है।' उपमन्युने ओठ लगाते ही दूध पीना अस्वीकार कर दिया। वह मचल-मचलकर रोने लगा।

'बेटा! संसारमें हीरा, मोती, माणिक्य सब हैं; पर भाग्य-से ही उनकी प्राप्ति होती है। हमलोग अभागे हैं, इसलिये हमारे लिये असली दूध मिलना कठिन है। भगवान् शिव सर्वसमर्थ हैं, वे भोलानाथ प्रसन्न होनेपर क्षीरसागरतक दे देनेमें संकोच नहीं करते। उनकी शरणमें जानेपर ही मनोकामना पूरी हो सकती है। वे तपसे प्रसन्न होते हैं।' उपमन्युकी माँने सीख दी।

'मैं तप करूँगा, माँ! मैं अपने तपोबलसे सर्वेश्वर महेश्वरका आसन हिला दूँगा। वे कृपामय मुझे क्षीरसागर अवश्य देंगे।' उपमन्यु पलभरके लिये भी घरमें नहीं ठहर सका।

× × × ×

उपमन्युने हिमालयपर घोर तप आरम्भ किया। उसने महादेवकी प्रसन्नताके लिये अन्न-जलतकका त्याग कर दिया। उसकी तपस्यासे समस्त जगत् संतप्त हो उठा। भगवान् विष्णु-ने देवताओंको साथ लेकर मन्दराचलपर जाकर परम शिवसे कहा कि 'बालक उपमन्युको तपसे निवृत्तकर जगत्को आश्वस्त करना केवल आपके ही वशकी बात है।'

× × × ×

'यह अत्यन्त कठोर तप तुम्हारे लिये नहीं है, बालक!' ऐरावतसे उतरकर इन्द्रने अपना परिचय दिया।

'आपके आगमनसे यह आश्रम पवित्र हो गया!' उपमन्युने इन्द्रका स्वागत किया। शिव-चरणमें दृढ़ भक्ति माँगी।

'शिवकी प्राप्ति कठिन है। मेरा तीनों लोकोंपर अधिकार है; तुम मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हें समस्त भोग प्रदान करूँगा।' इन्द्रने परीक्षा ली।

'इन्द्र इस प्रकार शिव-भक्तिकी निन्दा नहीं कर सकते। ऐसा लगता है कि तुम उनके वेषमें कोई दैत्य हो। मेरी तपस्यामें विघ्न डालना चाहते हो। तुम शिवनिन्दक हो; मैं तुम्हारा प्राण ले लूँगा, तुमने मेरे आराध्यकी निन्दा की है।' उपमन्यु मारनेके लिये दौड़ पड़ा, पर सहसा ठहर गया।

'तुमने अपने तपोबलसे मेरी भक्ति प्राप्त की है, मैं प्रसन्न हूँ, वत्स!' इन्द्ररूपी शिवने अभय दिया। उपमन्यु उनके चरणोंपर नतमस्तक हो गया।

'मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था।' क्षीरसागर प्रकट कर चन्द्रशेखरने भक्तकी कामना पूरी की। उसे पार्वतीकी गोदमें रखकर कहा कि 'जगजननी तुम्हारी अम्बा हैं। मैं पिता हूँ।'

भगवतीने उसे योग-ऐश्वर्य और ब्रह्मविद्या दी। वह निहाल होकर गद्‌गद कण्ठसे जगत्के माता-पिताका स्तवन करने लगा। शङ्कर गिरिजासमेत अन्तर्धान हो गये। —रा० श्री०

(लिङ्गपुराण अ० १०७)

वरणीय दुःख है, सुख नहीं

सुख के माथे सिल परौ जो नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की जो पल-पल नाम रटाय॥

महाभारतका युद्ध समाप्त हो चुका था। विजयी धर्मराज सिंहासनासीन हो चुके थे। अश्वत्थामाने पाण्डवोंका वंश ही नष्ट करनेके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया; किंतु जनार्दनने पाण्डवोंकी और उत्तराके गर्भस्थ शिशुकी भी उससे रक्षा कर दी। अब वे श्रीकृष्णचन्द्र द्वारका जाना चाहते थे। इसी समय देवी कुन्ती उनके पास आयीं। वे प्रार्थना करने लगीं। बड़ी अद्भुत प्रार्थना की उन्होंने। अपनी प्रार्थनामें उन्होंने ऐसी चीज माँगी, जो कदाचित् ही कोई माँगनेका साहस करे। उन्होंने माँगा—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
(श्रीमद्भा० १।८।२५)

'हे जगद्गुरो! जीवनमें बार-बार हमपर विपत्तियाँ ही आती रहें। क्योंकि जिनका दर्शन होनेसे जीव फिर संसारमें नहीं आता, उन आपका दर्शन तो उन (विपत्तियों) में ही होता है।'

यह देवी कुन्तीका अपना अनुभव है। उनका जीवन विपत्तियोंमें ही बीता और विपत्तियाँ भगवान्का वरदान हैं, उनमें वे मङ्गलमय निरन्तर चित्तमें निवास करते हैं, यह उन्होंने भली प्रकार अनुभव किया। अब उनके पुत्रोंका राज्य निष्कण्टक हो गया। उन्हें लगा कि विपत्तिरूपी निधि अब हाथसे चली गयी। इसीसे श्यामसुन्दरसे विपत्तियों-का वरदान माँगा उन्होंने।

प्रमादी सुखी जीवन धिक्कारके योग्य है। धन्य है वह विपद्ग्रस्त जीवनका दुःखपूरित क्षण, जिसमें वे अखिलेश्वर स्मरण आते हैं।—सु० सिं० (श्रीमद्भागवत १।८)

स्त्रीजित होना अनर्थकारी है

दैत्यमाता दितिके दोनों पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्य-कशिपु मारे जा चुके थे। देवराज इन्द्रकी प्रेरणासे भगवान् विष्णुने वाराह एवं नृसिंह अवतार धारण करके उन्हें मारा था। यह स्पष्ट था कि उनका वध देवताओंकी रक्षाके लिये हुआ था। इसलिये दैत्यमाताका सारा क्रोध इन्द्रपर था। वह पुत्रशोकके कारण इन्द्रसे अत्यन्त रुष्ट थी और बराबर सोचती रहती थी कि इन्द्रको कैसे मारा जाय। परंतु उसके पास कोई उपाय नहीं था। उसके पतिदेव महर्षि कश्यप सर्वसमर्थ थे; किंतु अपने पुत्र देवताओंपर महर्षिका अधिक स्नेह था। वे भला, इन्द्रका अनिष्ट क्यों करने लगे।

दितिने निश्चय कर लिया कि चाहे जैसे हो, महर्षि कश्यपको ही प्रसन्न करके इन्द्रके वधकी व्यवस्था उनसे करानी है। अपने अभिप्रायको उसने मनमें अत्यन्त गुप्त रक्खा और वह पतिसेवामें लग गयी। निरन्तर तत्परतासे दिति महर्षिकी सेवा करने लगी। अपनेको, चाहे जितना कष्ट हो, वह प्रसन्न बनाये रखती। रात-रात जागती, सदा महर्षिके समीप खड़ी रहती और उन्हें कब क्या आवश्यक है, यह देखती रहती। विनय एवं सेवाकी वह मूर्ति बन गयी। महर्षि कुछ भी कहें, वह मधुर वाणीमें उत्तर देती। उनकी ओर प्रेम-पूर्वक देखती रहती। इस प्रकार एक लंबे समयतक वह लगी रही पतिसेवामें। अपने परम तेजस्वी समर्थ पतिको उसने सेवासे वशमें कर लिया। महर्षि कश्यप उसपर प्रसन्न होकर अन्ततः एक दिन बोल उठे—'प्रिये! मैं तुम्हारी सेवासे प्रसन्न हूँ। तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, वर माँग लो।'

दिति इसी अवसरकी प्रतीक्षामें थी। उसने कहा—'देव! यदि आप सचमुच प्रसन्न हैं और वरदान देना चाहते हैं तो मैं माँगती हूँ कि आपसे मुझे इन्द्रको मार देनेवाला पुत्र प्राप्त हो।'

महर्षि कश्यपने मस्तकपर हाथ दे मारा। कितना बड़ा अनर्थ—अपने ही प्रिय पुत्रको मारनेवाला दूसरा पुत्र उन्हें उत्पन्न करना पड़ेगा। स्त्रीजित न हो गये होते तो क्यों आता यह अवसर। लेकिन अब तो बात कही जा चुकी। वरदान देनेको कहकर अस्वीकार कैसे करेगा एक ऋषि। महर्षि उपाय सोचने लगे।

'यदि तुम मेरे बताये नियमोंका एक वर्ष तक पालन करोगी और ठीक विधिपूर्वक उपासना करोगी तो तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।' कश्यपजीने उपाय सोचकर कहा—'यदि नियमोंमें तनिक भी त्रुटि हुई तो तुम्हारा पुत्र देवताओंका

मित्र होगा । तुम्हें पुत्र होगा; किंतु वह इन्द्रको मारनेवाला होगा या देवताओंका मित्र होगा, यह तो आज नहीं कहा जा सकता । यह तो तुम्हारे नियम-पालनपर निर्भर है ।'

दितिने नियम पूछे । अत्यन्त कड़े थे नियम; किंतु वह सावधानीसे उनके पालनमें लग गयी । उसकी नियमनिष्ठा देखकर इन्द्रको भय लगा । वे उसके आश्रममें वेश बदलकर आये और उसकी सेवा करने लगे । इन्द्र सेवा तो करते थे; किंतु आये थे वे यह अवसर देखने कि कहीं नियमपालनमें दितिसे तनिक त्रुटि हो तो उनका काम बन जाय । इन्द्रको मरना नहीं था, भगवान्ने जो विश्वका विधान बनाया है, उसे कोई बदल नहीं सकता । दितिसे तनिक-सी त्रुटि हुई और फल यह हुआ कि उसके गर्भसे उन्चास मरुतोंका जन्म हुआ, जो देवताओंके मित्र तो क्या देवता ही बन गये ।--सु० सिं०

(श्रीमद्भागवत ६ । १८)

कामासक्तिसे विनाश

हिरण्यकशिपुके वंशमें दैत्य निकुम्भके पुत्र सुन्द और उपसुन्द अत्यन्त पराक्रमी तथा उद्धत थे । वे अपने समयमें दैत्योंके मुखिया थे । दोनों सगे भाई थे । दोनोंमें इतना अधिक प्रेम था कि 'एक प्राण दो, देह' की कहावत उनके लिये सर्वथा सार्थक थी । दोनोंकी रुचि समान थी, आचरण समान था, अभिप्राय समान थे । वे साथ ही रहते थे, साथ ही खाते-पीते, उठते-बैठते थे । एकके बिना दूसरा कहीं जाता नहीं था । वे परस्पर मधुर वाणी बोलते थे और सदा दूसरे भाईको ही सुख पहुँचाने एवं संतुष्ट करनेका प्रयत्न करते रहते थे ।

सुन्द-उपसुन्द दोनों भाइयोंने अमर होनेकी इच्छासे एक साथ घोर तप प्रारम्भ किया । विन्ध्याचल पर्वतपर जाकर वे केवल वायु पीकर रहने लगे । उनके शरीरोंपर मिट्टीका ढेर जम गया । अन्तमें अपने शरीरका मांस काट-काटकर वे हवन करने लगे । जब शरीरमें केवल अस्थि रह गयी, तब दोनों हाथ ऊपर उठाये, पैरके अँगूठेके बल खड़े होकर उन्होंने तपस्या प्रारम्भ की । उनके दीर्घकालतक चलनेवाले उग्र तपसे विन्ध्य पर्वत तप्त हो उठा ।

देवताओंने अनेक प्रकारसे विघ्न करना चाहा उन दोनों दैत्योंके तपमें । परंतु सब प्रकारके प्रलोभन, भय एवं छल व्यर्थ हुए । अन्तमें उनके तपसे संतुष्ट होकर ब्रह्माजी वहाँ पधारे । वरदान माँगनेको कहनेपर दोनोंने माँगा—'हम दोनों मायावी, सभी अस्त्रोंके ज्ञाता तथा अमर हो जायँ ।' पर ब्रह्माजीने उन्हें अमर बनाना स्वीकार नहीं किया । अन्तमें सोचकर दोनोंने कहा—'यदि आप हमें अमरत्व नहीं दे सकते तो यही वरदान दें कि हम दोनों किसी दूसरेसे न तो पराजित हों और न मारे जायँ । हमारी मृत्यु कभी हो तो परस्पर एक दूसरेके हाथसे ही हो ।' ब्रह्माजीने इसपर 'एवमस्तु' कह दिया ।

दैत्योंको वरदान देकर ब्रह्माजी अपने लोकमें चले गये और वे दोनों दैत्यपुरीमें आ गये । दोनोंने त्रिलोकीके विजयका निश्चय किया । उद्योग प्रारम्भ करते ही वे विजयी हो गये । उनको जो वरदान मिला था, उसे जानकर भी देवता भला, उनसे युद्ध करनेका साहस कैसे करते । वे तो दैत्योंके आक्रमणका समाचार पाते ही स्वर्ग छोड़कर जहाँ-तहाँ भाग गये । यक्ष, राक्षस, नाग आदि सबको उन दैत्योंने जीत लिया । त्रिलोकविजयी होकर उन्होंने अपने सेवकोंको आज्ञा दे दी—'कोई यज्ञ, पूजन, वेदाध्ययन न करने पाये । जहाँ ये काम हों, उस नगरको भस्म कर दो । ऋषियोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर नष्ट करो ।'

स्वभावसे क्रूर दैत्य ऐसी आज्ञा पाकर ब्राह्मणोंका वध करते घूमने लगे । ऋषियोंके आश्रम उन्होंने जला दिये । किसी ऋषिने शाप भी दिया तो ब्रह्माजीके वरदानसे वह व्यर्थ चला गया । फल यह हुआ कि पृथ्वीपर जितने तपस्वी, वेदपाठी, जितेन्द्रिय ब्राह्मण थे, धर्मात्मा लोग थे, ऋषि थे, वे सब भयके मारे पर्वतोंकी गुफाओंमें जा छिपे । समाजमें न कहीं यज्ञ-पूजन होता था, न वेदपाठ । परंतु दैत्योंको इतनेसे संतोष नहीं हुआ । वे इच्छानुसार रूप रखनेवाले क्रूर सिंह, व्याघ्र, सर्प आदिका रूप धारण करके गुफाओंमें छिपे ऋषियोंका भी विनाश करने लगे । इस अत्याचारकी शान्तिका दूसरा कोई उपाय न देखकर ऋषिगण ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके पास पहुँचे । उसी समय देवता भी लोकपितामहके समीप अपनी विपत्ति सुनाने पहुँच गये थे ।

देवताओं तथा ऋषियोंकी विपत्ति सुनकर लोकस्रष्टा ब्रह्माजीने दो क्षण विचार करके विश्वकर्माको बुलाकर एक अत्यन्त सुन्दरी नारीके निर्माणका आदेश दिया । विश्वकर्माने विश्वकी समस्त सुन्दर वस्तुओंका सारभाग लेकर एक स्त्रीका

निर्माण किया। उस नारीके शरीरका एक तिल रखने जितना भाग भी ऐसा नहीं था जो अत्यन्त आकर्षक न हो; इसलिये ब्रह्माजीने उसका नाम तिलोत्तमा रक्खा। वह इतनी सुन्दर थी कि सभी देवता और लोकपाल उसे देखते ही मोहित हो गये।

तिलोत्तमाने हाथ जोड़कर ब्रह्माजीसे पूछा—'मेरे लिये क्या आज्ञा है?' पितामह ब्रह्माजीने कहा—'तुम सुन्द-उपसुन्द-के समीप जाओ और उनमें परस्पर शत्रुता हो जाय, ऐसा प्रयत्न करो।'

तिलोत्तमाने आज्ञा स्वीकार कर ली। पितामहको प्रणाम करके, देवताओंकी प्रदक्षिणा करके उसने प्रस्थान किया। सुन्द-उपसुन्द अपने अनुचरोंके साथ उस समय विन्ध्याचलके उपवनोंमें विहार कर रहे थे। वहाँ भोगकी सभी सामग्री एकत्र थी, दोनों भाई मदिरा पीकर उत्तम आसनोंपर बैठे थे। स्त्रियाँ नृत्य कर रही थीं। गायक नाना प्रकारके बाजे बजाकर गा रहे थे। बहुत-से लोग उन दोनों भाइयोंकी स्तुति कर रहे थे। तिलोत्तमा नदीके किनारे कनेरके फूल चुनती हुई वहाँ पहुँची। उसे देखते ही दोनों भाई उसपर आसक्त हो गये।

कामासक्त सुन्द और उपसुन्द एक साथ उठकर तिलोत्तमाके पास दौड़ गये। सुन्दने उसका दाहिना हाथ पकड़ा और उपसुन्दने बायाँ हाथ। दोनों उससे अनुनय-विनय करने लगे कि वह उनकी पत्नी हो जाय।

तिलोत्तमाने दोनोंकी ओर कटाक्षपूर्वक देखकर मुसकराकर कहा—'आपलोग पहले परस्पर निर्णय कर लें कि मैं किसको वरण करूँ।'

एक नारीकी आसक्तिके कारण दोनों भाई परस्परका सौहार्द भूल गये। उनमेंसे प्रत्येक स्वयं ही उस नारीको अपनी बनाना चाहता था। एक तो मदिराका नशा था, दूसरे कामदेवने उन्हें अंधा कर दिया था। वे अपने हित-अहितको भी भूल गये। सुन्दने क्रोधपूर्वक उपसुन्दसे कहा—'यह मेरी स्त्री है। तुम्हारे लिये यह माताके समान है। इसका हाथ छोड़ दो।'

उपसुन्दने गर्जना की—'यह मेरी स्त्री है, तुम्हारी नहीं। तुम्हारे लिये यह पुत्रवधूके समान है। झटपट इससे दूर हट जाओ।'

दोनों क्रुद्ध हो उठे। काममोहित होकर उन्होंने भयानक गदाएँ उठा लीं और एक दूसरेपर प्रहार करने लगे। परस्परके आघातसे उनका शरीर पिसकर स्थान-स्थानसे कट गया। रक्तकी धारा चलने लगी। अन्तमें दोनों ही मांसके लोथड़ोंके समान निर्जीव होकर गिर पड़े।

तिलोत्तमाका कार्य पूरा हो गया। वह स्वर्गकी श्रेष्ठ अप्सरा बन गयी। इन्द्र देवताओंके साथ फिर स्वर्गके अधीश्वर हुए।

—सु० सिं० (महाभारत, आदि० २१३—२१५)

कामवश बिना विचारे प्रतिज्ञा करनेसे विपत्ति

बहुत पहले अयोध्यामें एक राजा रहते थे ऋतध्वज। महाराज रुक्माङ्गद इनके ही पुत्र थे। ये बड़े प्रतापी और धर्मात्मा थे। इनकी एक अत्यन्त पतिव्रता पत्नी थी—विन्ध्यावती। उनके गर्भसे जन्म हुआ था धर्माङ्गदका, जो पितृभक्तोंमें सर्वप्रथम तथा अन्य धर्मोंमें अपने पिताके ही तुल्य थे। महाराज रुक्माङ्गदको एकादशी-व्रत प्राणोंसे भी प्यारा था। उन्होंने अपने समस्त राज्यमें घोषणा करा दी थी कि जो एकादशी-व्रत न करेगा, वह दण्डका भागी होगा। इसलिये उनके राज्यमें आठसे लेकर अस्सी वर्षतकके सभी बालक-वृद्ध, पुरुष-स्त्री श्रद्धापूर्वक एकादशी-व्रतका अनुष्ठान करते थे। केवल कुछ रोगी, गर्भिणी स्त्रियाँ आदि इसके अपवाद थे। इस व्रतके प्रतापसे उनके समयमें कोई भी यमपुरी नहीं जाता था। यमपुरी सूनी हो गयी। यमराज इससे बड़े चिन्तित हुए। वे प्रजापति ब्रह्माके पास गये और उन्हें यमपुरीके उजाड़ होनेका तथा अपनी बेकारीका समाचार सुनाया। ब्रह्माजीने उन्हें शान्त रहनेका उपदेश दिया। यमराजके बहुत प्रयत्न करनेपर मायाकी एक मोहिनी नामकी स्त्री शिकारके लिये वनमें गये हुए राजाके पास गयी। उसने राजा रुक्माङ्गद-को अपने वशमें कर लिया। राजाने उससे विवाह करना चाहा; तब उसने कहा कि 'मेरी एक शर्त यह है कि मैं जो कुछ भी कहूँ, वही आपको करना पड़ेगा।' महाराज तो मोहसे बेहोश थे ही, फिर न करनेकी तो बात ही कहाँ थी। उसको लेकर वे राजधानी लौटे। राजकुमार धर्माङ्गदने बड़े उत्साहके साथ दोनोंका स्वागत किया। विन्ध्यावतीने भी अपनी सौतकी सेवा आरम्भ की और बिना किसी मानसिक क्लेशके अपनेको सेविका-जैसी मानकर वह मोहिनीकी टहलमें लग गयी।

अन्तमें एकादशी भी आ गयी। शहरमें ढिंढोरा पीटा

जाने लगा—'कल एकादशी है; सावधान, कोई भूलसे अन्न न ग्रहण कर ले। सावधान!' मोहिनीके कानोंमें ये शब्द पहुँचे। उसने महाराजसे पूछा, 'महाराज! यह क्या है?' रुक्माङ्गदने सारी परिस्थिति बतलायी और स्वयं भी व्रत करनेके लिये तत्पर होने लगे।

मोहिनीने कहा—'महाराज, मेरी एक बात माननी होगी।'

रुक्माङ्गदने कहा—'यह तो मेरी प्रतिज्ञा ही की हुई है।'

'तब आप एकादशी-व्रत न करें।' मोहिनी बोल गयी।

महाराज तो अवाक् रह गये। उन्होंने बड़े कष्टसे कहा—'मोहिनी! मैं तुम्हारी सारी बातें तो मान सकता हूँ और मानता ही हूँ; किंतु देवि! मुझसे एकादशी-व्रत छोड़नेके लिये मत कहो। यह मेरे लिये नितान्त असम्भव है।'

मोहिनीने कहा—'यह तो हो ही नहीं सकता। आपने इस ढंगकी प्रतिज्ञा की है। अतएव आप की हुई प्रतिज्ञासे कैसे टल सकते हैं।'

रुक्माङ्गदने कहा—'तुम किसी भी शर्तपर मुझे इसे करनेकी आज्ञा दो।'

मोहिनीने कहा—'यदि ऐसी ही बात है तो आप अपने हाथों धर्माङ्गदका सिर काटकर मुझे दे दीजिये।'

इसपर रुक्माङ्गद बड़े दुखी हुए। धर्माङ्गदको जब यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने अपने पिताको समझाया और वे इसके लिये तैयार हो गये। उन्होंने कहा—'मेरे लिये तो इससे बढ़कर कोई सौभाग्यका अवसर ही नहीं आ सकता।' उसकी माता रानी विन्ध्यावतीने भी इसका अनुमोदन कर दिया।

सभी तैयार हो गये। महाराजने ज्यों ही तलवार चलायी, पृथ्वी काँप उठी; साक्षात् भगवान् वहाँ आविर्भूत हो गये और उनका हाथ पकड़ लिया। वे धर्माङ्गद, महाराज तथा विन्ध्यावतीको अपने साथ ही अपने श्रीधामको ले गये।

कामके वश होकर बिना विचारे प्रतिज्ञा करनेका क्या कुफल होता है और पिता तथा पतिके लिये सुपुत्र तथा सती स्त्री क्या कर सकती है एवं भगवान्‌की कृपा इनपर कैसे बरसती है, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है।—जा० श०

(बृहन्नारदीय पुराण, उत्तरभाग १—४०)

परस्त्रीमें आसक्ति मृत्युका कारण होती है

द्रौपदीके साथ पाण्डव वनवासके अन्तिम वर्ष अज्ञातवासके समयमें वेश तथा नाम बदलकर राजा विराटके यहाँ रहते थे। उस समय द्रौपदीने अपना नाम सैरन्ध्री रख लिया था और विराटनरेशकी रानी सुदेष्णाकी दासी बनकर वे किसी प्रकार समय व्यतीत कर रही थीं।

राजा विराटका प्रधान सेनापति कीचक रानी सुदेष्णाका भाई था। एक तो वह राजाका साला था, दूसरे सेना उसके अधिकारमें थी, तीसरे वह स्वयं प्रख्यात बलवान् था और उसके समान ही बलवान् उसके एक सौ पाँच भाई उसका अनुगमन करते थे। इन सब कारणोंसे कीचक निरङ्कुश तथा मदान्ध हो गया था। वह सदा मनमानी करता था। राजा विराटका भी उसे कोई भय या संकोच नहीं था। उल्टे राजा ही उससे दबे रहते थे और उसके अनुचित व्यवहारोंपर भी कुछ कहनेका साहस नहीं करते थे।

दुरात्मा कीचक अपनी बहिन रानी सुदेष्णाके भवनमें एक बार किसी कार्यवश गया। वहाँ अपूर्व लावण्यवती दासी सैरन्ध्रीको देखकर उसपर आसक्त हो गया। कीचकने नाना प्रकारके प्रलोभन सैरन्ध्रीको दिये। सैरन्ध्रीने उसे समझाया—'मैं पतिव्रता हूँ। अपने पतियोंके अतिरिक्त किसी पुरुषकी कभी कामना नहीं करती। तुम अपना पापपूर्ण विचार त्याग दो।' लेकिन कामान्ध कीचकने उसकी बातोंपर ध्यान नहीं दिया। उसने अपनी बहिन सुदेष्णाको भी प्रस्तुत कर लिया कि वे सैरन्ध्रीको उसके भवनमें भेजेंगी। रानी सुदेष्णाने सैरन्ध्रीके अस्वीकार करनेपर भी अधिकार प्रकट करते हुए डाँटकर उसे कीचकके भवनमें जाकर वहाँसे अपने लिये कुछ सामग्री लानेको भेजा। सैरन्ध्री जब कीचकके भवनमें पहुँची, तब वह दुष्ट उसके साथ बलप्रयोग करनेपर उतारू हो गया। उसे धक्का देकर वह भागी और राजसभामें पहुँची। परंतु कीचकने वहाँ पहुँचकर राजा विराटके सामने ही केश पकड़कर उसे भूमिपर पटक दिया और पैरकी एक ठोकर लगा दी। राजा विराट कुछ भी बोलनेका साहस नहीं कर सके।

सैरन्ध्री बनी द्रौपदीने देख लिया कि इस दुरात्मासे विराट उनकी रक्षा नहीं कर सकते। कीचक और भी धृष्ट हो गया। अन्तमें व्याकुल होकर रात्रिमें द्रौपदी भीमसेनके पास गयीं और रोकर उन्होंने भीमसेनसे अपनी व्यथा कही। भीमसेनने उन्हें आश्वासन दिया। दूसरे दिन

सैरन्ध्रीने भीमसेनकी सलाहके अनुसार कीचकसे प्रसन्नतापूर्वक बातें कीं और रात्रिमें उसे नाट्यशालामें आनेको कह दिया।

राजा विराटकी नाट्यशाला अन्तःपुरकी कन्याओंके नृत्य एवं संगीत सीखनेके काम आती थी। वहाँ दिनमें कन्याएँ गान-विद्याका अभ्यास करती थीं, किंतु रात्रिमें वह सूनी रहती थी। कन्याओंके विश्रामके लिये उसमें एक विशाल पलंग पड़ा था। रात्रिका अन्धकार हो जानेपर भीमसेन चुपचाप आकर नाट्यशालाके उस पलंगपर सो रहे। कामान्ध कीचक सज-धजकर वहाँ आया और अँधेरेमें पलंगपर बैठकर, भीमसेनको सैरन्ध्री समझकर उनके ऊपर उसने हाथ रक्खा। उछलकर भीमसेनने उसे नीचे पटक दिया और वे उस दुरात्माकी छातीपर चढ़ बैठे।

कीचक बहुत बलवान् था। भीमसेनसे वह भिड़ गया। दोनोंमें मल्लयुद्ध होने लगा; किंतु भीमने उसे शीघ्र पछाड़ दिया, उसका गला घोंटकर उसे मार डाला और फिर उसका मस्तक तथा हाथ-पैर इतने जोरसे दबा दिये कि वे सब धड़के भीतर घुस गये। कीचकका शरीर एक डरावना लोथड़ा बन गया।

प्रातःकाल सैरन्ध्रीने ही लोगोंको दिखाया कि उसका अपमान करनेवाला कीचक किस दुर्दशाको प्राप्त हुआ। परंतु कीचकके एक-सौ पाँच भाइयोंने सैरन्ध्रीको पकड़कर बाँध लिया। वे उसे कीचकके शवके साथ चितामें जला देनेके उद्देश्यसे श्मशान ले चले। सैरन्ध्री क्रन्दन करती जा रही थी। उसका विलाप सुनकर भीमसेन नगरका परकोटा कूदकर श्मशान पहुँचे। उन्होंने एक वृक्ष उखाड़कर कंधेपर उठा लिया और उसीसे कीचकके सभी भाइयोंको यमलोक भेज दिया। सैरन्ध्रीके बन्धन उन्होंने काट दिये।

अपनी कामासक्तिके कारण दुरात्मा कीचक मारा गया और पापी भाईका पक्ष लेनेके कारण उसके एक सौ पाँच भाई भी बुरी मौत मारे गये।—सु० सिं०

(महाभारत, विराट० १४—२३)

क्रोध मत करो, कोई किसीको मारता नहीं

महाराज उत्तानपादके विरक्त होकर वनमें तपस्या करनेके लिये चले जानेपर ध्रुव सम्राट् हुए। उनके सौतेले भाई उत्तम वनमें आखेट करने गये थे, भूलसे वे यक्षोंके प्रदेशमें चले गये। वहाँ किसी यक्षने उन्हें मार डाला। पुत्रकी मृत्युका समाचार पाकर उत्तमकी माता सुरुचिने प्राण त्याग दिये। भाईके वधका समाचार पाकर ध्रुवको बड़ा क्रोध आया। उन्होंने यक्षोंकी अलकापुरीपर चढ़ाई कर दी।

अलकापुरीके बाहर ध्रुवका रथ पहुँचा और उन्होंने शङ्खनाद किया। बलवान् यक्ष इस चुनौतीको कैसे सहन कर लेते। वे सहस्रोंकी संख्यामें एक साथ निकले और ध्रुवपर टूट पड़े। भयंकर संग्राम प्रारम्भ हो गया। ध्रुवके हस्त-लाघव और पटुत्वका वह अद्भुत प्रदर्शन था। सैकड़ों यक्ष उनके बाणोंसे कट रहे थे। एक बार तो यक्षोंका दल भाग ही खड़ा हुआ युद्धभूमिसे। मैदान खाली हो गया। परंतु ध्रुव जानते थे कि यक्ष मायावी हैं, उनकी नगरीमें जाना उचित नहीं है। ध्रुवका अनुमान ठीक निकला। यक्षोंने माया प्रकट की। चारों ओर मानो अग्नि प्रज्वलित हो गयी। प्रलयका समुद्र दिशाओंको डुबाता उमड़ता आता दीखने लगा, शत-शत पर्वत आकाशसे स्वयं गिरने लगे और गिरने लगे उनसे अपार अस्त्र-शस्त्र; नाना प्रकारके हिंसक जीव-जन्तु भी मुख फाड़े दौड़ने लगे। परंतु ध्रुवको इसका कोई भय नहीं था। मृत्यु उनका स्पर्श नहीं कर सकती थी, वे अजेय थे। उन्होंने नारायणास्त्रका संधान किया। यक्षोंकी माया दिव्यास्त्रके तेजसे ही ध्वस्त हो गयी। उस दिव्यास्त्रसे लक्ष-लक्ष बाण प्रकट हो गये और वे यक्षोंको घासके समान काटने लगे।

यक्ष उपदेवता हैं, अमानव होनेसे अतिशय बली हैं, मायावी हैं; किंतु उन्हें आज ऐसे मानवसे संग्राम करना था जो नारायणका कृपापात्र था, मृत्युसे परे था। बेचारे यक्ष उसकी क्रोधाग्निमें पतंगोंके समान भस्म हो रहे थे। परंतु यह संहार उचित नहीं था। प्रजाधीश मनु आकाशमें प्रकट हो गये। उन्होंने पौत्र ध्रुवको सम्बोधित किया—'ध्रुव! अपने अस्त्रका उपसंहार करो। तुम्हारे लिये यह रोष सर्वथा अनुचित है। तुमने तो भगवान् नारायणकी आराधना की है। वे सर्वेश्वर तो प्राणियोंपर कृपा करनेसे प्रसन्न होते हैं। शरीरके मोहके कारण परस्पर शत्रुता तो पशु करते हैं। बेटा! देखो तो तुमने कितने निरपराध यक्षोंको मारा है। भगवान् शंकरके प्रियजन यक्षराज कुबेरसे शत्रुता मत करो। उन लोकेश्वरका क्रोध मेरे कुलपर हो, उससे पूर्व ही उन्हें प्रसन्न करो।'

ध्रुवने पितामहको प्रणाम किया और उनकी आज्ञा स्वीकार करके अस्त्रका उपसंहार कर लिया। ध्रुवका क्रोध शान्त हो गया है, यह जानकर धनाधीश कुबेरजी स्वयं वहाँ प्रकट हो गये और बोले—'ध्रुव! चिन्ता मत करो। न तुमने यक्षोंको मारा है न यक्षोंने तुम्हारे भाईको मारा है। प्राणीकी मृत्यु तो उसके प्रारब्धके अनुसार कालकी प्रेरणासे ही होती है। मृत्युका निमित्त दूसरेको मानकर लोग अज्ञानवश दुखी तथा रोषान्ध होते हैं। तुम सत्पात्र हो, तुमने भगवान्‌को प्रसन्न किया है; अतः मैं भी तुम्हें वरदान देना चाहता हूँ। तुम जो चाहो, माँग लो।'

ध्रुवको माँगना क्या था! क्या अलभ्य था, उन्हें जो कुबेरसे माँगते? लेकिन सच्चा हृदय प्रभुकी भक्तिसे कभी तृप्त नहीं होता। ध्रुवने माँगा—'आप मुझे आशीर्वाद दें कि श्रीहरिके चरणोंमें मेरा अनुराग हो।'

कुबेरजीने 'एवमस्तु' कहकर सम्मानपूर्वक ध्रुवको विदा किया।—सु० सिं० (श्रीमद्भागवत ४। १०-१२)

अभिमानका पाप (ब्रह्माजीका दर्पभङ्ग)

हरिमाया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहिं मोहि नचावा॥

ब्रह्माजीके मोह तथा गर्वभञ्जनकी भागवत, ब्रह्मवैवर्त, शिव, स्कन्द आदि पुराणोंमें बहुत-सी कथाएँ आती हैं। अकेले ब्रह्मवैवर्तपुराणमें एकत्र कृष्णजन्मखण्डके १४८ वें अध्यायमें ही उनके गर्वभञ्जनकी कई कथाएँ हैं। एक तो उनमेंसे अत्यन्त विचित्र है। कथा है कि एक बार स्वर्गकी अप्सरा मोहिनी ब्रह्माजीपर अत्यन्त आसक्त हो गयी। वह एकान्तमें उनके पास गयी और उनके आसनपर ही बैठकर उनसे प्रेमदानकी प्रार्थना करने लगी। ब्रह्माजीको उस समय भगवान् स्मरण आये और भगवत्कृपासे उनका मन निर्विकार रहा और वे मोहिनीको ज्ञानकी बातें समझाने लगे। पर वह इसे न सुन अवाञ्छनीय चेष्टा करने लगी। ब्रह्माजीने भगवान्‌का स्मरण किया और तबतक सप्तर्षिगण सनकादिके साथ वहाँ पहुँच गये। पर दुर्दैववशात् अब ब्रह्माजीको अपनी क्रिया, भक्ति तथा शक्तिका गर्व हो गया। ऋषियोंने जब मोहिनीके एकासनपर बैठनेका कारण पूछा, तब ब्रह्माजीने गर्वपूर्वक हँसकर कहा—'यह नाचते-नाचते थककर पुत्रीके भावसे मेरे पास बैठ गयी है।' ऋषिलोग समझ गये और थोड़ी देर बाद हँसते हुए चले गये। अब मोहिनीका क्रोध जाग्रत् हुआ। उसने शाप दिया—'तुम्हें अपनी निष्कामता-का गर्व है और मुझ शरणागताका तुमने उपहास किया है; इसलिये न तो तुम्हारी संसारमें कहीं पूजा होगी और न तुम्हारा यह गर्व ही रहेगा।' वह तुरंत वहाँसे चलती बनी।

अब ब्रह्माजीको अपनी भूलका पता चला। वे दौड़े हुए भगवान् जनार्दनकी शरणमें वैकुण्ठ पहुँचे। वे अभी अपनी गाथा तथा शापादिकी बात सुना ही रहे थे, तबतक द्वारपालने प्रभुसे निवेदन किया—'प्रभो! बाहर दरवाजेपर अमुक ब्रह्माण्डके स्वामी अष्टमुख ब्रह्मा आये हैं और श्रीचरणोंका दर्शन करना चाहते हैं।' प्रभुकी अनुमति हुई। अष्टमुख ब्रह्माने आकर बड़ी श्रद्धासे अत्यन्त दिव्य स्तुति सुनायी। ब्रह्माजीको इन ब्रह्माके सामने अपनी विद्या, बुद्धि, शक्ति, भक्ति—सब नगण्य दिखी। तदनन्तर ये आठ मुखके ब्रह्माजी चले गये। इनके जाते ही दूसरे ही क्षण द्वारपालने कहा—'प्रभो! अमुक दरवाजेपर अमुक ब्रह्माण्डके अधिनायक षोडशमुख ब्रह्मा उपस्थित हैं तथा श्रीचरणोंका दर्शन करना चाहते हैं।' भगवदाज्ञासे वे भी आये और उन्होंने पूर्वोक्त ब्रह्मासे भी उच्च श्रेणीकी स्तुति सुनायी। इसी प्रकार एक-एक करके षोडशमुखसे लेकर सहस्रमुख ब्रह्मातक पहुँचते गये और उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर शब्दावलियोंमें अपना स्तोत्र सुनाते गये। उनकी योग्यता और निरभिमानता देखकर अपनेको प्रभुके तुल्य ही माननेवाले ब्रह्माजीका गर्व गलकर पानी हो गया। फिर भगवान्‌ने गङ्गास्नान कराकर उनके गर्वजनित पापकी शान्ति करायी। —जा० श०

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड। एक ऐसी ही कथा जैमिनीयाश्वमेध ६०-६१ में भी है।)

मिथ्याभिमान

चक्रवर्ती सम्राट् भरतकी धारणा थी कि वे समस्त भूमण्डलके प्रथम चक्रवर्ती हैं—कम-से-कम वे ऐसे प्रथम चक्रवर्ती हैं, जो वृषभाचलपर पहुँच सके हैं। वे उस पर्वतके शिखरपर अपना नाम अङ्कित करना चाहते थे। उनकी धारणा थी कि यहाँ उनका यह पहला नाम होगा।

शिखरपर पहुँचकर भरतके पैर ठिठक गये। उन्होंने ऊपरसे नीचेतक पर्वतके शिखरको भलीभाँति देखा। जहाँतक वे जा सकते थे, शिखरकी अन्य दिशाओंमें गये। शिखरपर इतने नाम अङ्कित थे कि कहीं भी एक नाम और लिखा जा सके, इतना स्थान नहीं था। लिखे हुए नामोंमेंसे एक भी ऐसा नाम नहीं था, जो चक्रवर्तीका नाम न हो।

भरत खिन्न हो गये। उनका अभिमान कितना मिथ्या था। उन्होंने विवश होकर वहाँ एक नाम मिटवा दिया और उस स्थानपर अपना नाम अङ्कित कराया; किंतु लौटनेपर राजपुरोहितने कहा—'राजन्! नामको अमर रखनेका आधार ही आपने नष्ट कर दिया। अब तो आपने नाम मिटाकर नाम लिखनेकी परम्परा प्रारम्भ कर दी। कौन कह सकता है कि वहाँ आपका नाम कौन कब मिटा देगा।'

—सु० सिं०
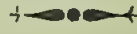
सिद्धिका गर्व

'समस्त जगत् उनके नृत्यसे मोहित होकर नाच रहा है, देव! यदि आप उन्हें न रोकेंगे तो महान् अनर्थ हो सकता है। आप आदिदेव हैं।' ब्रह्मा एवं अन्य देवताओंने महादेवको वायुद्वारा सुकन्याके गर्भसे उत्पन्न बाल-ब्रह्मचारी महर्षि मङ्कणकके सिद्धिमदोन्मत्त नृत्यकी सूचना दी। भोलानाथ हँस पड़े, मानो उनके लिये यह खेल था।

× × × ×

'आप इतने उन्मत्त होकर नाच क्यों रहे हैं, महर्षे! आप तो वेदज्ञ और शास्त्रोंके महान् ज्ञाता हैं, आप परम पवित्र भगवती सरस्वतीमें स्नान करके यज्ञ आदि कृत्य विधिपूर्वक सम्पन्नकर वेद-गान करते रहते हैं, आप सत्यके महान् उपासक हैं, इस नश्वर जगत्की किस वस्तुने आपका मन इस तरह मुग्ध कर लिया है?' ब्राह्मणने अमित विनम्रतासे महर्षि मङ्कणकको सचेत किया।

'रंगमें भंग डालना ठीक नहीं है, ब्राह्मणदेवता! आज सिद्धिने मेरी तपस्या सफल कर दी है। देखते नहीं हैं, अँगुलीमें कुशकी नोक गड़ जानेसे रक्तके स्थानपर शाक-रस निकल रहा है।' महर्षिके नृत्यका वेग बढ़ गया।

'पर इतना ही सत्य नहीं है! वह तो इससे भी आगे है।' ब्राह्मणने अपनी अँगुलीके सिरेसे अँगूठेपर आघात किया और रक्तके स्थानपर सफेद भस्म निकलने लगा।

× × × ×

'मुझे गर्व हो गया था, देवाधिदेव! मैं आपकी महानता भूल गया था। ऐसी चमत्कारपूर्ण सिद्धि आप ही दिखा सकते हैं। मैंने सिद्धिके असार मदमें अनर्थ कर डाला। आप अपने सत्स्वरूपसे मुझे कृतकृत्य कीजिये, मेरे परमाराध्य!' महर्षि मङ्कणक स्वस्थ हो गये, उनके सिरसे सिद्धि-पिशाचिनी उतरकर नौ-दो-ग्यारह हो गयी। ब्राह्मण-वेषधारी भगवान् शङ्कर उनकी सत्यनिष्ठा और निष्कपट पश्चात्तापसे बहुत प्रसन्न हुए।

मङ्कणकके रोम-रोममें अद्भुत हर्षोल्लास था। वे परमानन्दमें मग्न थे। सप्तसारस्वत-तीर्थ उनकी उपस्थितिसे दिव्यतर हो उठा।

'सिद्धिका गर्व पतनकी ओर ले जाता है' वत्स! सिद्धिकी परमनिधि—परमेश्वरकी उपासना और भक्ति ही तपस्याका परम फल है, यही सत्य है।' शङ्करने मङ्कणकके मस्तकपर वरद हस्त रख दिया। महर्षि अपने उपास्यका दर्शन करके आनन्दसे नाच उठे। —रा० श्री० (महाभारत, शल्य० अ० ३८)

राम-नामकी अलौकिक महिमा

(वेश्याका उद्धार)

किसी शहरमें एक वेश्या थी। उसका नाम था जीवन्ती। उसे कोई संतान न थी। इसलिये उसने एक सुग्गेका बच्चा खरीद लिया और पुत्रवत् उसे पालने लग गयी। वह सुग्गेको 'राम राम राम राम' पढ़ाने लगी। अभ्याससे सुग्गा 'राम-राम' बोलना सीख गया और सुन्दर स्वरोंसे वह प्रायः सर्वदा 'राम-राम' ही कूजता रहता। एक दिन दैवयोगसे दोनोंके ही प्राण छूट गये। इनको लेनेके लिये यमदूत पहुँचे। इधर विष्णुदूत भी आये। विष्णुदूतोंने भगवन्नामका माहात्म्य बतलाकर यमदूतोंसे उन दोनोंको छोड़ देनेका आग्रह किया। यमदूतोंने उनके दीर्घ और विशाल पाप-समुदाय तथा यमराजकी आज्ञा बतलाकर अपनी लाचारी व्यक्त की। अन्तमें युद्धकी नौबत आ पहुँची। युद्धमें यमदूतोंके सेनानायक चण्डको गहरी मार पड़ी। यमदूत उन्हें लेकर हाहाकार करते हुए भाग चले। सारी बात यमराजको विदित हुई। उन्होंने कहा—"दूतो! उन्होंने मरते समय यदि 'राम' इन दो अक्षरोंको उच्चारण किया है तो उन्हें मुझसे कोई भय नहीं रह गया। संसारमें ऐसा कोई पाप नहीं है, जिसका राम-नामके स्मरणसे नाश न हो जाय। राम-नामका जप करनेवाले कभी विषाद या क्लेशको नहीं प्राप्त होते। इसलिये अब ऐसे लोगोंको भूलकर भी यहाँ लानेकी चेष्टा न करना। मेरा उनको प्रणाम है तथा मैं उनके अधीन हूँ।'

इधर विष्णुदूत हर्षमें भरकर जयध्वनिके साथ उस सुग्गे तथा गणिकाको विमानमें बिठलाकर विष्णु-लोकको ले गये।

(पद्मपुराण, क्रियायोगसार, अध्याय १४)
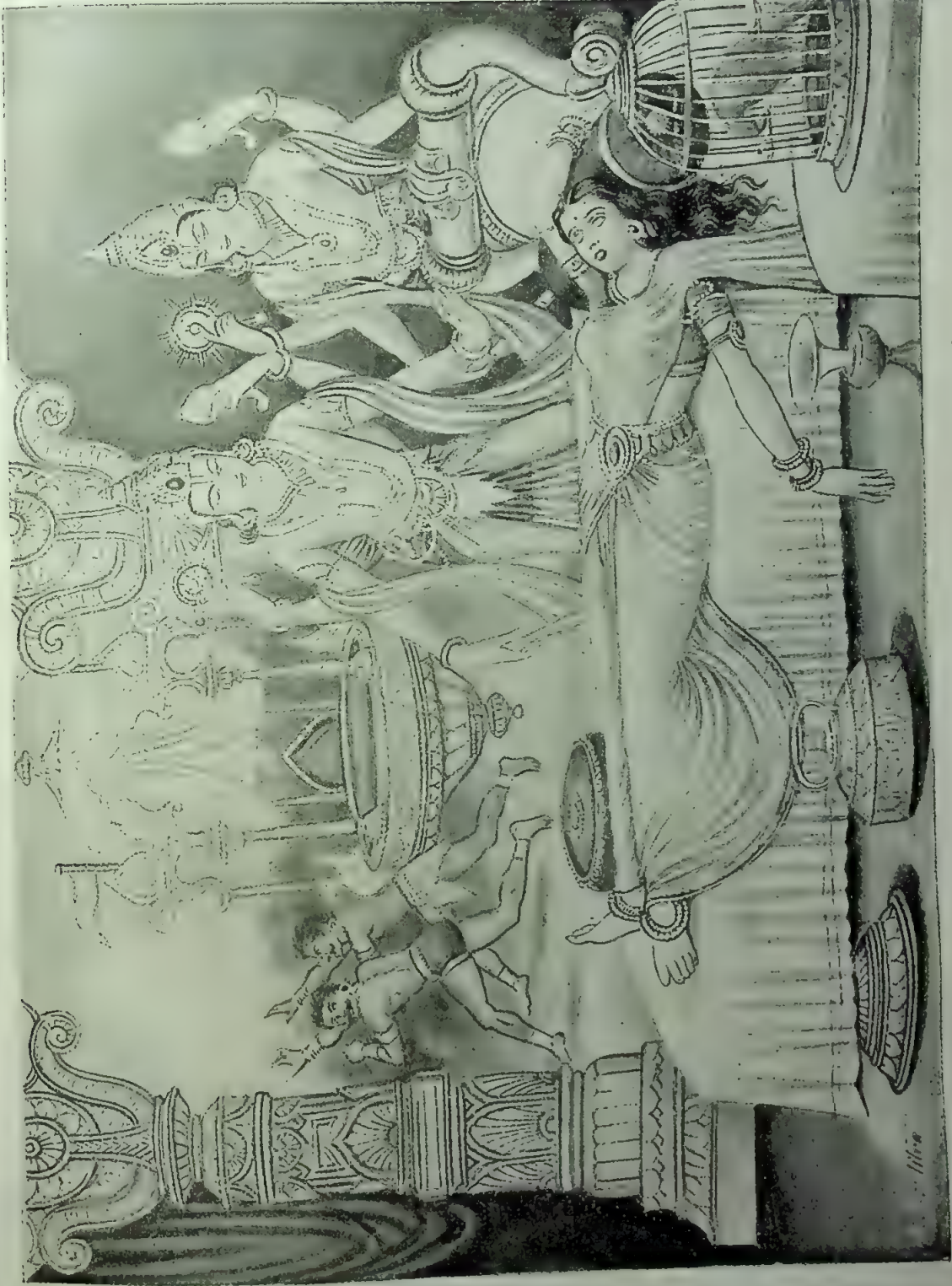
रामनामकी अलौकिक महिमा

विश्वासकी विजय

शबरीकी दृढ निष्ठा

सच्ची निष्ठा

जगदम्बाकी कृपा
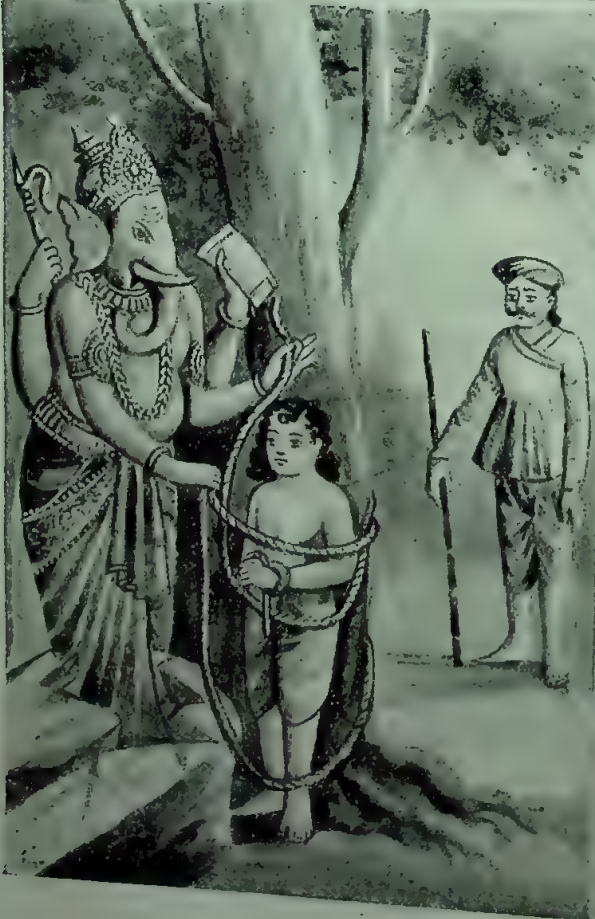
विश्वासकी विजय

(श्वेतमुनिपर शंकरकी कृपा)

'मृत्यु क्या कर सकती है ? मैंने मृत्युञ्जय शिवकी शरण ली है।' श्वेतमुनिने पर्वतकी निर्जन कन्दरामें आत्मविश्वासका प्रकाश फैलाया। चारों ओर सात्त्विक पवित्रताका ही राज्य था, आश्रममें निराली शान्ति थी। मुनिकी तपस्यासे वातावरणकी दिव्यता बढ़ गयी।

श्वेतमुनिकी आयु समाप्तिके अन्तिम श्वासपर थी। वे अभय होकर रुद्राध्यायका पाठ कर रहे थे, भगवान् त्र्यम्बकके स्तवनसे उनका रोम-रोम प्रतिध्वनित था।

वे सहसा चौंक पड़े। उन्होंने अपने सामने एक विकराल आकृति देखी; उसका समस्त शरीर काला था और उसने अति भयंकर काला वस्त्र धारण कर रक्खा था।

'ॐ नमः शिवाय।' इस पवित्र मन्त्रका उच्चारण करते हुए श्वेतमुनिने अत्यन्त करुणभावसे शिवलिङ्गकी ओर देखा। उन्होंने उसका स्पर्श करके बड़े विश्वाससे अपरिचित आकृतिसे कहा—'तुमने हमारे आश्रमको अपवित्र करनेका दुःसाहस किस प्रकार किया ? यह तो भगवान् शिवके अनुग्रहसे अभय है।' मुनिने पुनः शिवलिङ्गका स्पर्श किया।

'अब आप धरतीपर नहीं रह सकते, अवधि पूरी हो गयी। आपको यमलोक चलना है।' भयंकर आकृतिवाले कालने अपना परिचय दिया।

'अधम, नीच, तुमने शिवकी भक्तिको चुनौती दी है! जानते नहीं, भगवान् शंकर कालके भी काल—महाकाल हैं।' श्वेतमुनिने शिवलिङ्गको अङ्कमें भरकर निर्भयताकी साँस ली।

'शिवलिङ्ग निश्चेतन है, शक्तिशून्य है, पाषाणमें सर्वेश्वर महादेवकी कल्पना करना महान् भूल है, ब्राह्मण!' कालने श्वेतमुनिको पाशमें बाँध लिया।

'धिक्कार है तुम्हें, परम चिन्मय माहेश्वर लिङ्गकी शक्तिमत्ताकी निन्दा करनेवाले काल! भगवान् उमापति कण-कणमें व्याप्त हैं। विश्वासपूर्वक आवाहन करनेपर वे भक्तकी रक्षा करते हैं।' श्वेतमुनिने मृत्युकी भर्त्सना की।

× × ×

'ठहरो, श्वेतमुनिकी बात सच है, हमारा प्राकट्य विश्वासके ही अधीन है।' उमासहित भगवान् चन्द्रशेखर प्रकट हो गये। उनकी जटामें पतितपावनी गङ्गाका मनोरम रमण था, भुजाओंमें सर्पवलय और वक्षदेशमें साँपोंकी माला थी। भगवान्के गौर शरीरपर भस्मका शृङ्गार ऐसा लगता था मानो हिमालयके धवल शिखरपर श्याम घनका आन्दोलन हो। काल उनके प्रकट होते ही निष्प्राण हो गया। उसकी शक्ति निष्क्रिय हो गयी। श्वेतमुनिने भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया, वे भोलानाथकी स्तुति करने लगे।

'आपकी लिङ्गोपासना धन्य है, भक्तराज! विश्वासकी विजय तो होती ही है।' शिवने मुनिकी पीठपर वरद हस्त रख दिया।

नन्दीके आग्रहपर कालको प्राण-दान देकर भगवान् मृत्युञ्जय अन्तर्धान हो गये।—रा०श्री०(लिङ्गपुराण, अ० ३०)

शबरीकी दृढ निष्ठा

प्राचीन समयकी बात है। सिंहकेतु नामक एक पञ्चालदेशीय राजकुमार अपने सेवकोंको साथ लेकर एक दिन वनमें शिकार खेलने गया। उसके सेवकोंमेंसे एक शबरको शिकारकी खोजमें इधर-उधर घूमते एक टूटा-फूटा शिवालय दीख पड़ा। उसके चबूतरेपर एक शिवलिङ्ग पड़ा था, जो टूटकर जलहरीसे सर्वथा अलग हो गया था। शबरने उसे मूर्तिमान् सौभाग्यकी तरह उठा लिया। वह राजकुमारके पास पहुँचा और विनयपूर्वक उसे शिवलिङ्ग दिखलाकर कहने लगा—'प्रभो! देखिये, यह कैसा सुन्दर शिवलिङ्ग है। आप यदि

कृपापूर्वक मुझे पूजाकी विधि बता दें तो मैं नित्य इसकी पूजा किया करूँ ।'

निषादके इस प्रकार पूछनेपर राजकुमारने प्रेमपूर्वक पूजाकी विधि बतला दी। षोडशोपचार पूजनके अतिरिक्त उसने चिताभस्म चढ़ानेकी बात भी बतलायी । अब वह शबर प्रतिदिन स्नान कराकर चन्दन, अक्षत, वनके नये-नये पत्र, पुष्प, फल, धूप, दीप, नृत्य, गीत, वाद्यके द्वारा भगवान् महेश्वरका पूजन करने लगा । वह प्रतिदिन चिताभस्म भी अवश्य भेंट करता । तत्पश्चात् वह स्वयं प्रसाद ग्रहण करता । इस प्रकार वह श्रद्धालु शबर पत्नी-के साथ भक्तिपूर्वक भगवान् शंकरकी आराधनामें तल्लीन हो गया ।

एक दिन वह शबर पूजाके लिये बैठा तो देखता है कि पात्रमें चिताभस्म तनिक भी शेष नहीं है । उसने बड़े प्रयत्नसे इधर-उधर ढूँढ़ा, पर उसे कहीं भी चिताभस्म नहीं मिला । अन्तमें उसने स्थिति पत्नीसे व्यक्त की। साथ ही उसने यह भी कहा कि 'यदि चिताभस्म नहीं मिलता तो पूजाके बिना मैं अब क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकता ।'

स्त्रीने उसे चिन्तित देखकर कहा—'नाथ ! डरिये मत । एक उपाय है । यह घर तो पुराना हो ही गया है । मैं इसमें आग लगाकर उसीमें प्रवेश कर जाती हूँ । इससे आपकी पूजाके निमित्त पर्याप्त चिताभस्म तैयार हो जायगी ।' बहुत वाद-विवादके बाद शबर भी उसके प्रस्तावसे सहमत हो गया । शबरीने स्वामीकी आज्ञा पाकर स्नान किया और उस घरमें आग लगाकर अग्निकी तीन बार परिक्रमा की, पतिको नमस्कार किया और सदाशिव भगवान्का हृदयमें ध्यान करती हुई अग्निमें घुस गयी । वह क्षणभरमें जलकर भस्म हो गयी। फिर शबरने उस भस्मसे भगवान् भूतनाथकी पूजा की।

शबरको कोई विषाद तो था नहीं । स्वभाववश पूजाके बाद वह प्रसाद देनेके लिये अपनी स्त्रीको पुकारने लगा । स्मरण करते ही वह स्त्री तुरंत आकर खड़ी हो गयी । अब शबरको उसके जलनेकी बात याद आयी । आश्चर्यचकित होकर उसने पूछा कि 'तुम और यह मकान तो सब जल गये थे, फिर यह सब कैसे हुआ ?'

शबरीने कहा—'आगमें मैं घुसी तो मुझे लगा कि जैसे मैं जलमें घुसी हूँ । आधे क्षणतक तो प्रगाढ़ निद्रा-सी विदित हुई और अब जगी हूँ। जगनेपर देखती हूँ तो यह घर भी पूर्ववत् खड़ा है । अब प्रसादके लिये यहाँ आयी हूँ ।'

निषाद-दम्पति इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि उनके सामने एक दिव्य विमान आ गया । उसपर भगवान्के चार गण थे । उन्होंने ज्यों ही उन्हें स्पर्श किया और विमानपर बैठाया, उनके शरीर दिव्य हो गये । वास्तवमें श्रद्धायुक्त भगवदाराधनाका ऐसा ही माहात्म्य है ।—जा० श०

(स्कन्द० ब्राह्म० ब्रह्मोत्तर० अध्याय १७)

आपदि किं करणीयम्, स्मरणीयं चरणयुगलमम्बायाः

(सुदर्शनपर जगदम्बाकी कृपा)

अयोध्यामें भगवान् रामसे १५वीं पीढ़ी बाद ध्रुव-संधि नामके राजा हुए । उनके दो स्त्रियाँ थीं । पट्ट-महिषी थी कलिङ्गराज वीरसेनकी पुत्री मनोरमा और छोटी रानी थी उज्जयिनीनरेश युधाजित्की पुत्री लीलावती । मनोरमाके पुत्र हुए सुदर्शन और छोटी रानी लीलावतीके शत्रुजित् । महाराजकी दोनोंपर ही समान दृष्टि थी । दोनों राजपुत्रोंका समान रूपसे लालन-पालन होने लगा ।

इधर महाराजको आखेटका व्यसन कुछ अधिक था। एक दिन वे शिकारमें एक सिंहके साथ भिड़ गये, जिसमें सिंहके साथ स्वयं भी स्वर्गगामी हो गये। मन्त्रियोंने उनकी पारलौकिक क्रिया करके सुदर्शनको राजा बनाना चाहा। इधर शत्रुजित्के नाना युधाजित्को इस बातकी खबर लगी तो वे एक बड़ी सेना लेकर इसका विरोध करनेके लिये अयोध्यामें आ डटे। उधर कलिङ्गनरेश वीरसेन भी सुदर्शनके पक्षमें आ गये। दोनोंमें युद्ध छिड़ गया। कलिङ्गाधिपति मारे गये। अब रानी मनोरमा डर गयी। वह सुदर्शनको लेकर एक धाय तथा महामन्त्री विदल्लके साथ भागकर महर्षि भरद्वाजके आश्रममें प्रयाग पहुँच गयी। युधाजित्ने अयोध्याके सिंहासनपर शत्रुजित्को अभिषिक्त किया और सुदर्शनको मारनेके लिये वे भरद्वाजके आश्रमपर पहुँचे। पर मुनिके भयसे वहाँसे उन्हें भागना पड़ा।

एक दिन भरद्वाजके शिष्यगण महामन्त्रीके सम्बन्धमें कुछ बातें कर रहे थे। कुछने कहा कि विदल्ल क्लीब (नपुंसक) है। दूसरोंने भी कहा—'यह सर्वथा क्लीब है।' सुदर्शन अभी बालक ही था। उसने बार-बार जो उनके मुँहसे क्लीब-क्लीब सुना तो स्वयं भी 'क्ली-क्ली' करने लगा। पूर्व पुण्यके कारण वह कालीबीजके रूपमें अभ्यासमें परिणत हो गया। अब वह सोते, जागते, खाते, पीते, 'क्ली क्ली' रटने लगा। इधर महर्षिने उसके क्षत्रियोचित संस्कारादि भी कर दिये और थोड़े ही दिनोंमें वह भगवती तथा ऋषिकी कृपासे शस्त्र-शास्त्रादि सभी विद्याओंमें अत्यन्त निपुण हो गया। एक दिन वनमें खेलनेके समय उसे देवीकी दयासे अक्षय तूणीर तथा दिव्य धनुष भी पड़ा मिल गया। अब सुदर्शन भगवतीकी कृपासे पूर्ण शक्तिसम्पन्न हो गया।

इधर काशीमें उस समय राजा सुबाहु राज्य करते थे। उनकी कन्या शशिकला बड़ी विदुषी तथा देवी-भक्ता थी। भगवतीने उसे स्वप्नमें आज्ञा दी कि 'तू सुदर्शनको अपने पतिरूपमें वरण कर ले। वह तेरी समस्त कामनाओंको पूर्ण करेगा।' शशिकलाने मनमें उसी समय सुदर्शनको पतिके रूपमें स्वीकार कर लिया। प्रातःकाल उसने अपना निश्चय माता-पिताको सुनाया। पिताने लड़कीको जोरोंसे डाँटा और एक असहाय वनवासीके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें अपना अपमान समझा। उन्होंने अपनी कन्याके स्वयंवरकी तैयारी आरम्भ की। उन्होंने उस स्वयंवरमें सुदर्शनको आमन्त्रित भी नहीं किया। पर शशिकला भी अपने मार्गपर दृढ़ थी। उसने सुदर्शनको एक ब्राह्मणद्वारा देवीका संदेश भेज दिया। सभी राजाओंके साथ वह भी काशी आ गया।

इधर शत्रुजित्को साथ लेकर उसके नाना अवन्तिनरेश युधाजित् भी आ धमके थे। प्रयत्न करते रहनेपर भी शशिकलाद्वारा सुदर्शनके मन-ही-मन वरण किये जानेकी बात सर्वत्र फैल गयी थी। इसे भला, युधाजित् कैसे सहन कर सकते थे। उन्होंने सुबाहुको बुलाकर जवाब तलब किया। सुबाहुने इसमें अपनेको दोषरहित बतलाया। तथापि युधाजित्ने कहा—'मैं सुबाहुसहित सुदर्शनको मारकर बलात् कन्याका अपहरण करूँगा।' राजाओंको बालक सुदर्शनपर कुछ दया आ गयी। उन्होंने सुदर्शन-को बुलाकर सारी स्थिति समझायी और भाग जानेकी सलाह दी।

सुदर्शनने कहा—'यद्यपि न मेरा कोई सहायक है और न मेरे कोई सेना ही है, तथापि मैं भगवतीके स्वप्नगत आदेशानुसार ही यहाँ स्वयंवर देखने आया हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है, वे मेरी रक्षा करेंगी। मेरी न तो किसीसे शत्रुता है और न मैं किसीका अकल्याण ही चाहता हूँ।'

अब प्रातःकाल स्वयंवर-प्राङ्गणमें राजा लोग सज-धजकर आ बैठे तो सुबाहुने शशिकलासे स्वयंवरमें जाने-के लिये कहा। पर उसने राजाओंके सामने होना सर्व अस्वीकार कर दिया। सुबाहुने राजाओंके अपमा

उनके द्वारा उपस्थित होनेवाले भयकी बात कही। शशिकला बोली—'यदि तुम सर्वथा कायर ही हो तो तुम मुझे सुदर्शनके हवाले करके नगरसे बाहर छोड़ आओ।' कोई दूसरा रास्ता भी नहीं था, इसलिये सुबाहुने राजाओंसे तो कह दिया कि 'आपलोग कल स्वयंवरमें आयेंगे, आज शशिकला नहीं आयेगी।' इधर रातमें ही उसने संक्षिप्त विधिसे गुप्तरीत्या सुदर्शनसे शशिकलाका विवाह कर दिया और सबेरा होते ही उन्हें पहुँचाने लगा।

युधाजित्को भी बात किसी प्रकार मालूम हो गयी। वह रास्तेमें अपनी सेना लेकर सुदर्शनको मार डालनेके विचारसे स्थिर था। सुदर्शन भी भगवतीको स्मरण करता हुआ वहाँ पहुँचा। दोनोंमें युद्ध छिड़नेवाला ही था कि भगवती साक्षात् प्रकट हो गयीं। युधाजित्की सेना भाग चली। युधाजित् अपने नाती शत्रुजित्के साथ खेत रहा। पराम्बा जगज्जननीने सुदर्शनको वर माँगनेके लिये प्रेरित किया। सुदर्शनने केवल देवीके चरणोंमें अविरल, निश्चल अनुरागकी याचना की। साथ ही काशीपुरीकी रक्षार्थ भी प्रार्थना की।

सुदर्शनके वरदानस्वरूप ही दुर्गाकुण्डमें स्थित हुई पराम्बा दुर्गा वाराणसीपुरीकी अद्यावधि रक्षा कर रही हैं। —जा० श० (देवीभागवत, स्कन्ध ३; अध्याय १४ से २५, रघुवंश १८।३४—५३)

सच्ची निष्ठा

(गणेशजीकी कृपा)

पहले समयकी बात है। सिन्धु देशकी पल्लीनगरीमें कल्याण नामका एक धनी सेठ रहता था। उसकी पत्नी-का नाम इन्दुमती था। विवाह होनेके बहुत दिनोंके बाद उनके पुत्र हुआ; उसके जन्मोत्सवमें उन लोगोंने अनेक दान-पुण्य किये, राग-रंग और आमोद-प्रमोदमें पर्याप्त धन व्यय किया। उसका नाम रक्खा गया बल्लाल; वह उन दोनोंके नयनोंका तारा था।

× × ×

'कितना मनोरम वन है!' सरोवरमें अपने सम-वयस्क बालगोपालोंके साथ स्नान करते हुए बल्लालने अपने कथनका समर्थन कराना चाहा। वह उन्हें नित्य अपने साथ लेकर पल्लीसे थोड़ी दूर स्थित वनमें आकर सैर-सपाटा किया करता था। बालकोंने उसकी 'हाँ-में-हाँ' मिलायी।

'चलो, हमलोग भगवान् विघ्नेश्वर श्रीगणेश देवताकी पूजा करें; उनकी कृपासे समस्त संकट मिट जाते हैं।' बल्लालने सरोवरके किनारे एक छोटे-से पत्थरको श्रीगणेशका श्रीविग्रह मानकर बालकोंको पूजा करनेकी प्रेरणा दी। उसने श्रीगणेश-महिमाके सम्बन्धमें अनेक बातें घरपर सुनी थीं।

लता-पत्र एकत्रकर बालकोंने एक मण्डप बना लिया; उसमें तथाकथित श्रीगणेश-विग्रहकी स्थापना करके मानसिक पूजा—फूल, धूप, दीप, नैवेद्य, फल, ताम्बूल, दक्षिणा आदिसे—आरम्भ की। उनमेंसे कई एक पण्डितोंका स्वाँग बनाकर पुराणों और शास्त्रोंकी चर्चा करने लगे। इस प्रकार श्रीगणेशकी उपासनामें उनका मन लग गया। वे दोपहरको भोजन करने घर नहीं आते थे, इसलिये दुबले हो गये। उनके पिताओंने कल्याण सेठसे कहा कि यदि बल्लालका वनमें जाना नहीं रोक दिया जायगा तो हमलोग राजासे शिकायत करके आपको पल्लीनगरीसे बाहर निकलवा देंगे। कल्याणका मन चिन्तित हो उठा।

× × ×

'ये तो नकली गणेश हैं, बच्चो। असली गणेशजी तो हृदयमें रहते हैं।' कल्याणने हाथके डंडेसे बल्लालको सावधान किया।

'पिताजी, आप जो कुछ भी कह रहे हैं, वह आपकी दृष्टिमें नितान्त सच है; पर मेरी निष्ठा तो श्रीगणेशके इसी श्रीविग्रहमें है। मैं पूजा नहीं छोड़ सकता।' बल्लालका इतना कहना था कि सेठने उसे मारना आरम्भ किया; अन्य बालक भाग निकले। सेठने मण्डप तोड़ डाला; बल्लालको एक मोटे-से रस्सेसे पेड़के तनेमें बाँध दिया।

'यदि इस विग्रहमें श्रीगणेशजी होंगे तो तुम्हारा बन्धन खुल जायगा। इस निर्जन वनमें वे ही तुम्हारी रक्षा करेंगे।' कल्याणने घरका रास्ता लिया।

× × ×

'निस्सन्देह श्रीगणेशजी ही मेरे माता-पिता हैं। वे दयामय ही मेरी रक्षा करेंगे। वे विघ्न-विदारक, सिद्धि-दायक, सर्वसमर्थ हैं। मैं उनकी शरणमें अभय हूँ।' बल्लालकी निष्ठा बोल उठी; वह हृदयमें करुणाका वेग समेटकर निर्निमेष दृष्टिसे श्रीगणेशके विग्रहको देखने लगा।

'मेरा तन भले ही बाँधा जाय, पर मेरा मन स्वतन्त्र है; मैं अपना प्राण श्रीगणेशके चरणोंमें अर्पित करूँगा।' बल्लालके इस निश्चयसे पाषाणसे श्रीगणेशजी प्रकट हो गये।

'तुम्हारी निष्ठा धन्य है, वत्स!' श्रीगणेशने उसका आलिङ्गन किया। वह बन्धनमुक्त हो गया। उसने अपने आराध्यकी जी भर स्तुति की। गणेशजीने अभय दान दिया, और अन्तर्धान हो गये। —रा० श्री०

(गणेशपुराण, अ० २२)

लोभका दुष्परिणाम

प्राचीन कालमें सृञ्जय नामके एक नरेश थे। उनके कोई पुत्र नहीं था, केवल एक कन्या थी। पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे उन्होंने वेदज्ञ ब्राह्मणोंकी सेवा प्रारम्भ की। राजाके दान एवं सम्मानसे संतुष्ट होकर ब्राह्मणोंने देवर्षि नारदसे राजाके पुत्र होनेकी प्रार्थना की। उन दिनों देवर्षि राजा सृञ्जयके ही अतिथि थे। ब्राह्मणोंकी प्रार्थनासे द्रवित होकर देवर्षिने राजासे कहा—'तुम कैसा पुत्र चाहते हो?'

अब राजा सृञ्जयके मनमें लोभ आया। उन्होंने प्रार्थना की—'आप मुझे ऐसा पुत्र होनेका वरदान दें जो सुन्दर हो, स्वस्थ हो, गुणवान् हो तथा उसके मल-मूत्र, थूक-कफ आदि स्वर्णमय हों।'

देवर्षिने कुछ सोचकर 'एवमस्तु' कह दिया। उनके वरदानके अनुसार राजाको थोड़े दिनमें पुत्र प्राप्त हुआ। उस पुत्रका नाम राजाने सुवर्णष्ठीवी रक्खा। अब सृञ्जयके धनका क्या ठिकाना था। उनके पुत्रका थूक तथा मल-मूत्र—सभी स्वर्ण होता था। राजाने अपने राजभवनके सब पात्र, आसन आदि स्वर्णके बनवा लिये। इसके अनन्तर उन्होंने पूरा राजभवन ही स्वर्णका बनवाया। उसमें दीवाल, खंभे, छत तथा भूमि आदि सब सोनेकी थीं।

राजाके पुत्र सुवर्णष्ठीवीका समाचार सारे देशमें फैल गया। दूर-दूरसे लोग उसे देखने आने लगे। डाकुओंने भी यह समाचार पाया। उनके अनेक दल परस्पर मिलकर उस राजकुमारको हरण करनेका प्रयत्न करने लगे। अवसर पाकर एक रात दस्यु राजभवनमें घुस आये और राजकुमारको उठा ले गये।

वनमें पहुँचनेपर दस्युओंमें विवाद हो गया। अधिक समयतक राजकुमारको जीवित छिपाये रखना अत्यन्त कठिन था। सबने निश्चय किया कि सुवर्णष्ठीवीको मारकर जो स्वर्ण मिले, उसे परस्पर बाँट लिया जाय। उन निर्दय दस्युओंने राजकुमारके टुकड़े कर डाले; किंतु उसके शरीरसे उन्हें एक रत्ती सोना भी नहीं मिला।

लोभके वश होकर राजा सृञ्जयने ऐसा पुत्र माँगा कि उसकी रक्षा अशक्य हो गयी। पुत्र-शोक सहन करना पड़ा उन्हें। लोभवश डाकुओंने राजकुमारकी हत्या की। केवल पापभागी हुए वे और राजकोपके भाजन भी। लाभ कुछ उन्हें भी नहीं हुआ। —सु० सिं० (महाभारत, द्रोण० ५५)

आदर्श निर्लोभी

परम भक्त तुलाधार शूद्र बड़े ही सत्यवादी, वैराग्यवान् तथा निर्लोभी थे। उनके पास कुछ भी संग्रह नहीं था। तुलाधारजीके कपड़ोंमें एक धोती थी और एक गमछा। दोनों ही बिल्कुल फट गये थे। मैले तो थे ही। वे नाममात्रके वस्त्र रह गये थे, उनसे वस्त्रकी जरूरत पूरी नहीं होती थी। तुलाधार नित्य नदी नहाने जाते थे, इसलिये एक दिन भगवान्ने दो बढ़िया वस्त्र नदीके तीरपर ऐसी जगह रख दिये, जहाँ तुलाधारकी नजर उनपर गये बिना न रहे। तुलाधार नित्यके नियमानुसार नहाने गये। उनकी नजर नये वस्त्रोंपर पड़ी। वहाँ उनका कोई भी मालिक नहीं था, परंतु इनके मनमें जरा भी लोभ पैदा नहीं हुआ। उन्होंने दूसरेकी वस्तु समझकर उधरसे सहज ही नजर फिरा ली और स्नान-ध्यान करके चलते बने। दूर छिपकर खड़े हुए प्रभु भक्तका संयम देखकर मुसकरा दिये।

दूसरे दिन भगवान्ने गूलरके फल-जैसी सोनेकी डली उसी जगह रख दी। तुलाधार आये। उनकी नजर आज भी सोनेकी डलीपर गयी। क्षणभरके लिये अपनी दीनताका ध्यान आया; परंतु उन्होंने सोचा, यदि मैं इसे ग्रहण कर लूँगा तो मेरा अलोभ-व्रत अभी नष्ट हो जायगा। फिर इससे अहंकार पैदा होगा। लाभसे लोभ, फिर लोभसे लाभ, फिर लाभसे लोभ—इस प्रकार निन्यानवेके चक्करमें मैं पड़ जाऊँगा। लोभी मनुष्यको कभी शान्ति नहीं मिलती। नरकका दरवाजा तो सदा उसके लिये खुला ही रहता है। बड़े-बड़े पापोंकी पैदाइश इस लोभसे ही होती है। घरमें धनकी प्रचुरता होनेसे स्त्री और बालक धनके मदसे मतवाले हो जाते हैं, मतवालेपनसे कामविकार होता है और कामविकारसे बुद्धि मारी जाती है। बुद्धि नष्ट होते ही मोह छा जाता है और उस मोहसे नया-नया अहंकार, क्रोध और लोभ उत्पन्न होता है। इनसे तप नष्ट हो जाता है और मनुष्यकी बुरी गति हो जाती है। अतएव मैं इस सोनेकी डलीको किसी प्रकार भी नहीं लूँगा।' इस प्रकार विचार करके तुलाधार उसे वहीं पड़ी छोड़कर घरकी ओर चल दिये। स्वर्गस्थ देवताओंने साधुवाद दिया और फूल बरसाये।

सत्य-पालनकी दृढ़ता

अयोध्या-नरेश महाराज हरिश्चन्द्रने स्वप्नमें एक ब्राह्मणको अपना राज्य दान कर दिया था। जब वह ब्राह्मण प्रत्यक्ष आकर राज्य माँगने लगा, तब महाराजने उसके लिये सिंहासन खाली कर दिया। परंतु ब्राह्मण कोई साधारण ब्राह्मण नहीं था और न उसे राज्यकी भूख थी। वे तो थे ऋषि विश्वामित्र, जो इन्द्रकी प्रेरणासे हरिश्चन्द्रके सत्यकी परीक्षा लेने आये थे। राज्य लेकर उन्होंने राजासे इस दानकी साङ्गताके लिये एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणाकी और माँगीं। दान किये हुए राज्यका तो सब वैभव, कोष आदि ऋषिका हो ही गया था, राजाको वह अतिरिक्त दक्षिणा देनेके लिये एक महीनेका समय उन्होंने दिया।

जो अबतक नरेश था, वह अपनी महारानी तथा राजकुमारके साथ साधारण वस्त्र पहिने राजभवनसे दरिद्रके समान निकला। उसके पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी और न था पाथेय ही। अपने दान किये राज्यका अन्न-जल उसके लिये वर्जित था। वह उदार धर्मात्मा भगवान् विश्वनाथकी पुरी काशीमें पहुँचा। भरे बाजारमें उसने अपनी पत्नीको दासी बनानेके लिये बेचनेकी पुकार प्रारम्भ की। महारानी शैब्या, जो सैकड़ों दासियोंसे सेवित होती थीं, धर्मनिष्ठ पति-द्वारा बेच दी गयीं। एक ब्राह्मणने उन्हें खरीदा। बड़ी कठिनाईसे उस ब्राह्मणने शैब्याको अपने छोटे-से पुत्र रोहिताश्वको साथ रखनेकी अनुमति दी। परंतु महारानीको बेचकर भी हरिश्चन्द्र केवल आधी ही दक्षिणा दे सके विश्वामित्रको। शेष आधीके लिये उन्होंने स्वयं अपनेको चाण्डालके हाथों बेचा।

महारानी शैब्या अब ब्राह्मणकी दासी थीं। पानी भरना, बर्तन मलना, घर लीपना, गोबर उठाना आदि सब कार्य ब्राह्मणके घरका उन्हें करना पड़ता था। उनका पुत्र—अयोध्याका सुकुमार युवराज रोहिताश्व अपनी नन्ही अवस्थामें ही दासी-पुत्रका जीवन व्यतीत कर रहा था। उधर राजा हरिश्चन्द्रको चाण्डालने श्मशान-रक्षक नियुक्त कर दिया था। जिनकी सेवामें सेवकों और सैनिकोंकी भीड़ लगी रहती थी;

वे अब हाथमें लाठी लिये अकेले घोर श्मशानभूमिमें रात्रिको घूमा करते थे। जो कोई वहाँ शव-दाह करने आता था, उससे 'कर' लेना उनका कर्तव्य बन गया था।

विपत्ति यहीं नहीं समाप्त हुई। रोहिताश्वको सर्पने डँस लिया। अब शैब्याके साथ भला, श्मशान जानेवाला कौन मिलता। अपने मृत पुत्रको उठाये वे देवी रोती-चिल्लाती रात्रिमें अकेली ही श्मशान आयीं। उनका रुदन सुनकर हरिश्चन्द्र भी लाठी लिये 'कर' लेने पहुँच गये उनके पास। मेघाच्छन्न आकाश, घोर अन्धकारमयी रजनी; किंतु बिजली चमकी और उसके प्रकाशमें हरिश्चन्द्रने अपनी रानीको पहिचान लिया। पुत्रका शव पड़ा था सामने और पतिव्रता पत्नी क्रन्दन कर रही थी; परंतु हरिश्चन्द्रने हृदयको वज्र बना लिया था। हाय रे कर्तव्य! कर्तव्यसे विवश वे बोले—'भद्रे! कुछ 'कर' दिये बिना तुम पुत्रके देहका संस्कार नहीं कर सकतीं। मेरे स्वामीका आदेश है कि मैं किसीको भी 'कर' लिये बिना यहाँ शव-दाहादि न करने दूँ। मेरा धर्म मुझे विवश कर रहा है।'

शैब्या क्या 'कर' दें! क्या धरा था उस धर्ममयी नारीके पास। पुत्रके मृत शरीरको ढकनेके लिये उसके पास तो कफन भी नहीं था। अपने अंचलसे ही वह उसे ढककर ले आयी थी। परंतु पतिके धर्मकी रक्षा तो अपने प्राण देकर भी उसे करनी थी। उसने अपनी आधी साड़ी 'कर' के रूपमें देनेका विचार कर लिया। हरिश्चन्द्रने फाड़ लेना चाहा उसकी साड़ी।

परीक्षा समाप्त हो गयी। श्मशानभूमि दिव्य आलोकसे आलोकित हो उठी। भगवान् नारायणने प्रकट होकर हरिश्चन्द्रका हाथ पकड़ लिया था। सत्य-स्वरूप श्रीनारायण हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठासे पूर्ण संतुष्ट हो गये थे। वे कह रहे थे—'राजन्! अब तुम पत्नीके साथ वैकुण्ठ पधारो।'

'राजन्! आपने अपनी सेवासे मुझे संतुष्ट कर लिया। आप अब स्वतन्त्र हैं।' हरिश्चन्द्रने देखा कि उनका स्वामी चाण्डाल और कोई नहीं, वे तो साक्षात् धर्मराज हैं।

उस समय वहाँ महर्षि विश्वामित्र भी आ पहुँचे। वे कह रहे थे—'बेटा रोहित! उठ तो!' रोहिताश्व उनके पुकारते ही निद्रासे जगेकी भाँति उठ बैठा। महर्षिने कहा—'राजन्! रोहित अब मेरा है और उसे मैं अयोध्याके सिंहासनपर बैठाने ले जा रहा हूँ।'—सु० सिं०

तनिक-सा भी असत्य पुण्यको नष्ट कर देता है

महाभारतके युद्धमें द्रोणाचार्य पाण्डव-सेनाका संहार कर रहे थे। वे बार-बार दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते थे। जो भी पाण्डव-पक्षका वीर उनके सामने पड़ता, उसीको वे मार गिराते थे। सम्पूर्ण सेना विचलित हो रही थी। बड़े-बड़े महारथी भी चिन्तित हो उठे थे।

'आचार्यके हाथमें शस्त्र रहते तो उन्हें कोई पराजित कर नहीं सकता। वे स्वयं शस्त्र रख दें, तभी विजय सम्भव है। युद्धके प्रारम्भमें उन्होंने स्वयं बताया है कि कोई अत्यन्त अप्रिय समाचार विश्वस्त व्यक्तिके द्वारा सुनायी पड़नेपर वे शस्त्र त्यागकर ध्यानस्थ हो जाया करते हैं।' पाण्डवोंकी विपत्तिके नित्यसहायक श्रीकृष्णचन्द्रने सबको यह बात स्मरण करायी।

भीमसेनको एक उपाय सूझ गया। वे द्रोणपुत्र अश्वत्थामासे युद्ध करने लगे। युद्ध करते समय भीम अपने रथसे उतर पड़े और अश्वत्थामाके रथके नीचे गदा लगाकर रथके साथ उसे युद्धभूमिसे बहुत दूर फेंक दिया उन्होंने। कौरव-सेनामें एक अश्वत्थामा नामका हाथी भी था। भीमसेनने एक ही आघातसे उसे भी मार दिया और तब द्रोणाचार्यके सम्मुख जाकर पुकार-पुकारकर कहने लगे—'अश्वत्थामा मारा गया। अश्वत्थामा मारा गया।'

द्रोणाचार्य चौंके, किंतु उन्हें भीमसेनकी बातपर विश्वास नहीं हुआ। युधिष्ठिरसे सच्ची बात पूछनेके लिये उन्होंने अपना रथ बढ़ाया। इधर श्रीकृष्णचन्द्रने युधिष्ठिरसे कहा—'महाराज! आपके पक्षकी विजय हो, इसका दूसरा कोई उपाय नहीं। आचार्यके पूछनेपर 'अश्वत्थामा मारा गया' यह बात आपको कहनी ही चाहिये। मेरे कहनेसे आप यह बात कहें।'

धर्मराज युधिष्ठिर किसी प्रकार झूठ बोलनेको प्रस्तुत नहीं थे; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रका कहना वे टाल भी नहीं सकते थे। द्रोणाचार्यने उनके पास आकर पूछा कि भीमसेनकी बात सत्य है या नहीं तो बड़े कष्टसे उन्होंने कहा—'अश्वत्थामा मारा गया।' सर्वथा असत्य उनसे फिर भी बोला नहीं गया।

उनके मुखसे आगे निकला—'मनुष्य वा हाथी' परंतु जैसे ही युधिष्ठिरने कहा—'अश्वत्थामा मारा गया' वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्रने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाना प्रारम्भ कर दिया। युधिष्ठिरके अगले शब्द उस शङ्खध्वनिके कारण द्रोणाचार्य सुन ही नहीं सके।

धर्मराज युधिष्ठिरका रथ उनकी सत्यनिष्ठाके प्रभावसे सदा पृथ्वीसे चार अंगुल ऊपर ही रहता था; किंतु इस छल-वाक्यके बोलते ही उनके रथके पहिये भूमिपर लग गये और आगे उनका रथ भी दूसरे रथोंके समान भूमिपर ही चलने लगा। इसी असत्यके पापसे सशरीर स्वर्ग जानेपर भी उन्हें एक बार नरकका दर्शन करना पड़ा।—सु० सिं०

(महाभारत, द्रोण० १९०)

ईमानदार व्यापारी

महातपस्वी ब्राह्मण जाजलिने दीर्घकालतक श्रद्धा एवं नियमपूर्वक वानप्रस्थाश्रमधर्मका पालन किया था। अब वे केवल वायु पीकर निश्चल खड़े हो गये थे और कठोर तपस्या कर रहे थे। उन्हें गतिहीन देखकर पक्षियोंने कोई वृक्ष समझ लिया और उनकी जटाओंमें घोंसले बनाकर वहीं अंडे दे दिये। वे दयालु महर्षि चुपचाप खड़े रहे। पक्षियोंके अंडे बढ़े और फूटे, उनसे बच्चे निकले। वे बच्चे भी बड़े हुए, उड़ने लगे। जब पक्षियोंके बच्चे उड़नेमें पूरे समर्थ हो गये और एक बार उड़कर पूरे एक महीनेतक अपने घोंसलेमें नहीं लौटे, तब जाजलि हिले। वे स्वयं अपनी तपस्यापर आश्चर्य करने लगे और अपनेको सिद्ध समझने लगे। उसी समय आकाशवाणी हुई—'जाजलि! तुम गर्व मत करो। काशीमें रहनेवाले तुलाधार वैश्यके समान तुम धार्मिक नहीं हो।'

आकाशवाणी सुनकर जाजलिको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उसी समय चल पड़े। काशी पहुँचकर उन्होंने देखा कि तुलाधार एक साधारण दूकानदार हैं और अपनी दूकानपर बैठकर ग्राहकोंको तौल-तौलकर सौदा दे रहे हैं। परंतु जाजलिको उस समय और भी आश्चर्य हुआ जब तुलाधारने बिना कुछ पूछे उन्हें उठकर प्रणाम किया, उनकी तपस्याका वर्णन करके उनके गर्व तथा आकाशवाणीकी बात भी बता दी। जाजलिने पूछा—'तुम तो एक सामान्य बनिये हो, तुम्हें इस प्रकारका ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ?'

तुलाधारने नम्रतापूर्वक कहा—'ब्रह्मन्! मैं अपने वर्णोचित धर्मका सावधानीसे पालन करता हूँ। मैं न मद्य बेचता हूँ, न और कोई निन्दित पदार्थ बेचता हूँ। अपने ग्राहकोंको मैं तौलमें कभी ठगता नहीं। ग्राहक बूढ़ा हो या बच्चा, भाव जानता हो या न जानता हो, मैं उसे उचित भावमें उचित वस्तु ही देता हूँ। किसी पदार्थमें दूसरा कोई दूषित पदार्थ नहीं मिलाता। ग्राहककी कठिनाईका लाभ उठाकर मैं अनुचित लाभ भी उससे नहीं लेता हूँ। ग्राहककी सेवा करना मेरा कर्तव्य है, यह बात मैं सदा स्मरण रखता हूँ। ग्राहकोंके लाभ और उनके हितका व्यवहार ही मैं करता हूँ, यही मेरा धर्म है।'

तुलाधारने आगे बताया—'मैं राग-द्वेष और लोभसे दूर रहता हूँ। यथाशक्ति दान करता हूँ और अतिथियोंकी सेवा करता हूँ। हिंसारहित कर्म ही मुझे प्रिय हैं। कामनाका त्याग करके सब प्राणियोंको समान दृष्टिसे देखता हूँ और सबके हितकी चेष्टा करता हूँ।'

जाजलिके पूछनेपर महात्मा तुलाधारने उनको विस्तारसे धर्मका उपदेश किया। उन्हें समझाया कि हिंसायुक्त यज्ञ परिणाममें अनर्थकारी ही हैं। वैसे भी ऐसे यज्ञोंमें बहुत अधिक भूलोंके होनेकी सम्भावना रहती है और थोड़ी-सी भी भूल विपरीत परिणाम देती है। प्राणियोंको कष्ट देनेवाला मनुष्य कभी सुख तथा परलोकमें मङ्गल नहीं प्राप्त कर सकता। 'अहिंसा ही उत्तम धर्म है।'

जो पक्षी जाजलिकी जटाओंमें उत्पन्न हुए थे, वे बुलानेपर जाजलिके पास आ गये। उन्होंने भी तुलाधारके द्वारा बताये धर्मका ही अनुमोदन किया। तुलाधारके उपदेशसे जाजलिका गर्व नष्ट हो गया।—सु० सिं०

(महाभारत, शान्ति० २६१—२६४)

वह सत्य सत्य नहीं, जो निर्दोषकी हत्यामें कारण हो

सैकड़ों साल बीत गये, किन्हीं दो नदियोंके पवित्र संगमपर एक तपोधन ब्राह्मण रहते थे। उनका नाम कौशिक था। वे अपने जीवनका प्रत्येक क्षण शास्त्रसम्मत धर्माचरणमें बिताते थे, उनकी मनोवृत्ति सात्त्विक थी; वे नियमपूर्वक संगमपर स्नान करके त्रिकाल-संध्या करते थे तथा भूलसे भी किसीका मन नहीं दुखाते थे। उनके निष्कपट व्यवहारकी प्रशंसा दूर-दूरतक फैल गयी थी।

× × ×

'महाराज ! आप सत्यवादी हैं, ब्राह्मण हैं, स्वप्नमें भी आपने असत्य-भाषण नहीं किया है। कृपापूर्वक बतलाइये कि लोग किधर गये।' डाकुओंने नदीके तटपर आसीन कौशिक ब्राह्मणका मन चञ्चल कर दिया। वे कुछ व्यक्तियोंका पीछा करते-करते कौशिकके आश्रममें आ पहुँचे थे।

'यह बात नितान्त सत्य है कि वे निकटकी ही झाड़ियोंमें छिप गये हैं। यदि मैं डाकुओंसे उनका ठीक-ठीक पता नहीं बता देता तो मुझे असत्यभाषणका पाप लगेगा। सत्य ही तप है, धर्म है, न्याय है, मैं सत्यको नहीं छिपा सकता।' कौशिकके नेत्र बंद थे, वे मनमें सत्य-असत्यका विवेचन कर रहे थे।

'सत्यवादी सच बोलनेमें विलम्ब नहीं करते, ब्राह्मण-देवता ! आपके लिये आगा-पीछा करना उचित नहीं है।' डाकुओंने प्रशंसा की।

'उधर…।' ब्राह्मणने अँगुलीसे संकेत किया और क्षण-मात्रमें उनके सत्यकथनके दुष्परिणामरूपमें डाकुओंने असहाय यात्रियोंके प्राण ले लिये। उन्हें हित-अहितका तनिक भी विवेक नहीं था, वे कोरे सत्यवादी थे।

कौशिकके सत्यने अधर्म और अन्यायको प्रोत्साहन दिया और इससे उन्हें नरकमें जाना पड़ा। —रा० श्री०

(महाभारत, कर्ण० अ० ६९)

यज्ञमें पशुबलिका समर्थन असत्यका समर्थन है

सृष्टिके प्रारम्भमें सत्ययुगका समय था। उस समय देवताओंने महर्षियोंसे कहा—'श्रुति कहती है कि यज्ञमें अज-बलि होनी चाहिये। अज बकरेका नाम है, फिर आपलोग उसका बलिदान क्यों नहीं करते ?'

महर्षियोंने कहा—'देवताओंको मनुष्योंकी इस प्रकार परीक्षा नहीं लेनी चाहिये और न उनकी बुद्धिको भ्रममें डालना चाहिये। बीजका नाम ही अज है। बीजके द्वारा अर्थात् अन्नोंसे ही यज्ञ करनेका वेद निर्देश करता है। यज्ञमें पशु-वध सज्जनोंका धर्म नहीं है।'

परंतु देवताओंने ऋषियोंकी बात स्वीकार नहीं की। दोनों पक्षोंमें इस प्रश्नपर विवाद प्रारम्भ हो गया। उसी समय राजा उपरिचर आकाशमार्गसे सेनाके साथ उधरसे निकले। भगवान् नारायणकी आराधना करके राजा उपरिचरने यह शक्ति प्राप्त की थी कि वे अपने रथ तथा सैनिकों, मन्त्रियों आदिके साथ इच्छानुसार आकाशमार्गसे सभी लोकोंमें जा सकते थे। उन प्रतापी नरेशको देखकर देवताओं तथा ऋषियोंने उन्हें मध्यस्थ बनाना चाहा। उनके समीप जाकर ऋषियोंने पूछा—'यज्ञमें पशु-बलि होनी चाहिये या नहीं ?'

राजा उपरिचरने पहले यह जानना चाहा कि देवताओं और ऋषियोंमेंसे किसका क्या पक्ष है। दोनों पक्षोंके विचार जानकर राजाने सोचा—'देवताओंकी प्रसन्नता प्राप्त करनेका यह अवसर मुझे नहीं छोड़ना चाहिये।' उन्होंने निर्णय दे दिया कि 'यज्ञमें पशुबलि होनी चाहिये।'

उपरिचरका निर्णय सुनकर महर्षियोंने क्रोधपूर्वक कहा—'तूने सत्यका निर्णय न करके पक्षपात किया है, असत्यका समर्थन किया है; अतः हम शाप देते हैं कि अब तू देवलोकमें नहीं जा सकेगा। पृथ्वीके ऊपर भी तेरे लिये स्थान नहीं होगा। तू पृथ्वीमें धँस जायगा।'

उपरिचर उसी समय आकाशसे गिरने लगे। अब देवताओंको उनपर दया आयी। उन्होंने कहा—'महाराज ! महर्षियोंके वचन मिथ्या करनेकी शक्ति हममें नहीं है। हम-लोग तो श्रुतियोंका तात्पर्य जाननेके लिये हठ किये हुए थे। पक्ष तो महर्षियोंका ही सत्य है; किंतु हमलोगोंसे अनुराग होनेके कारण आपने हमारा पक्ष लिया, इससे हम वरदान देते हैं कि जबतक आप भूगर्भमें रहेंगे, तबतक यज्ञमें ब्राह्मणों-द्वारा जो घीकी धारा (वसुधारा) डाली जायगी, वह आपको प्राप्त होगी। आपको भूख-प्यासका कष्ट नहीं होगा।'—सु० सिं०

(महाभारत, शान्ति० ३३८)

आखेट तथा असावधानीका दुष्परिणाम

अनेक बार तनिक-सी असावधानी दारुण दुःखका कारण हो जाती है। बहुत-से कार्य ऐसे हैं, जिनमें नाममात्रकी असावधानी भी अक्षम्य अपराध है। चिकित्सकका कार्य ऐसा ही है और आखेट भी ऐसा ही कार्य है। तनिक-सी भूल किसीके प्राण ले सकती है और फिर केवल पश्चात्ताप हाथ रहता है।

अयोध्या-नरेश महाराज दशरथ एक बार रात्रिके समय आखेटको निकले थे। सरयूके किनारे उन्हें ऐसा शब्द सुनायी पड़ा मानो कोई हाथी पानी पी रहा हो। महाराजने शब्दवेधी लक्ष्यसे बाण छोड़ दिया। यहीं बड़ी भारी भूल हो गयी। आखेटके नियमानुसार बिना लक्ष्यको ठीक-ठीक देखे बाण नहीं छोड़ना चाहिये था। दूसरे, युद्धके अतिरिक्त हाथी अवध्य है, यदि वह पागल न हो रहा हो। इसलिये हाथी समझकर भी बाण चलाना अनुचित ही था। महाराजको तत्काल किसी मनुष्यकण्ठका चीत्कार सुनायी पड़ा। वे दौड़े उसी ओर।

माता-पिताके परम भक्त श्रवणकुमार अपने अंधे माता-पिताकी तीर्थयात्राकी इच्छा पूरी करनेके लिये दोनोंको काँवरमें बैठाकर कंधेपर उठाकर यात्रा कर रहे थे। अयोध्याके पास वनमें पहुँचनेपर उनके माता-पिताको प्यास लगी। दोनोंको वृक्षके नीचे उतारकर वे जल लेने सरयू-किनारे आये। कमण्डलुके पानीमें डुबानेपर जो शब्द हुआ, उसीको महाराज दशरथने दूरसे हाथीके जल पीनेका शब्द समझकर बाण छोड़ दिया था।

महाराज दशरथके पश्चात्तापका पार नहीं था। उनका बाण श्रवणकुमारकी छातीमें लगा था। वे भूमिपर छटपटा रहे थे। महाराज अपने बाणसे एक तपस्वीको घायल देखकर भयके मारे पीले पड़ गये। श्रवणकुमारने महाराजका परिचय पाकर कहा—'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, अतः आपको ब्रह्महत्या नहीं लगेगी। परंतु मेरी छातीसे बाण निकाल लीजिये और मेरे प्यासे माता-पिताको जल पिला दीजिये।'

छातीसे बाण निकालते ही श्रवणकुमारके प्राण भी शरीरसे निकल गये। महाराज दशरथ जल लेकर उनके माता-पिताके पास पहुँचे और बिना बोले ही उन्हें जल देने लगे, तब उन वृद्ध अंधे दम्पतिने पूछा—'बेटा! आज तुम बोलते क्यों नहीं?'

विवश होकर महाराजको अपना परिचय देना पड़ा और सारी घटना बतानी पड़ी। अपने एकमात्र पुत्रकी मृत्यु सुनकर वे दोनों दुःखसे अत्यन्त व्याकुल हो गये। 'बेटा श्रवण! तुम कहाँ हो?' इस प्रकार चिल्लाते हुए सरयू-किनारे जानेको उठ पड़े। हाथ पकड़कर महाराज उन्हें वहाँ ले आये, जहाँ श्रवणकुमारका शरीर पड़ा था। महाराजको ही चिता बनानी पड़ी। दोनों वृद्ध दम्पति पुत्रके शरीरके साथ ही चितामें बैठ गये। महाराज दशरथके बहुत प्रार्थना करनेपर भी उन्होंने जीवित रहना स्वीकार नहीं किया और बहुत क्षमा माँगनेपर भी उन्होंने महाराजको क्षमा नहीं किया। उन्होंने महाराजको शाप दिया—'जैसे हम पुत्रके वियोगमें मर रहे हैं, वैसे ही तुम भी पुत्रके वियोगमें तड़प-तड़पकर मरोगे।'

वृद्ध दम्पतिका यह शाप सत्य होकर रहा। श्रीरामके वन जानेपर चक्रवर्ती महाराजने उनके वियोगमें व्याकुल होकर देहत्याग किया। —सु० सिं०

यज्ञमें या देवताके लिये की गयी पशुबलि भी पुण्योंको नष्ट कर देती है

विदर्भदेशमें सत्य नामका एक दरिद्र ब्राह्मण था। उसका विश्वास था कि देवताके लिये पशु-बलि देनी ही चाहिये। परंतु दरिद्र होनेके कारण न तो वह पशु-पालन कर सकता था और न बलिदानके लिये पशु खरीद ही सकता था। इसलिये कूष्माण्डादि फलोंको ही पशु कल्पित करके, उनका बलिदान देकर हिंसाप्रधान यज्ञ एवं पूजन करता था।

एक तो वह ब्राह्मण स्वयं सदाचारी, तपस्वी, त्यागी और धर्मात्मा था और दूसरे उसकी पत्नी सुशीला पतिव्रता तथा तपस्विनी थी। उस साध्वीको पतिका हिंसाप्रधान पूजन—यज्ञ सर्वथा अरुचिकर था; किंतु पतिकी प्रसन्नताके लिये वह उनका सम्भार अनिच्छापूर्वक करती थी। कोई धर्माचरणकी सच्ची इच्छा रखता हो और उससे अज्ञानवश कोई भूल होती हो तो उस भूलको स्वयं देवता सुधार देते हैं। उस तपस्वी ब्राह्मणसे हिंसापूर्ण संकल्पकी जो भूल हो रही थी, उसे

सुधारनेके लिये धर्म स्वयं मृगका रूप धारण करके उसके पास आकर बोला—'तुम अङ्गहीन यज्ञ कर रहे हो। पशु-बलिका संकल्प करके केवल फलादिमें पशुकी कल्पना करनेसे पूरा फल नहीं होता। इसलिये तुम मेरा बलिदान करो।'

ब्राह्मण हिंसा-प्रधान यज्ञ-पूजन करते थे, पशु-बलिका संकल्प भी करते थे; किंतु उन्होंने कभी पशु-बलि की नहीं थी। उनका कोमलहृदय मृगकी हत्या करनेको प्रस्तुत नहीं हुआ। ब्राह्मणने मृगको हृदयसे लगाकर कहा—'तुम्हारा मङ्गल हो, तुम शीघ्र यहाँसे चले जाओ।'

धर्म, जो मृग बनकर आया था, ब्राह्मणसे बोला—'आप मेरा वध कीजिये। यज्ञमें मारे जानेसे मेरी सद्गति होगी और पशु-बलि करके आप भी स्वर्ग प्राप्त करेंगे। आप इस समय स्वर्गकी अप्सराओं तथा गन्धर्वोंके विचित्र विमानोंको देख सकते हैं।'

ब्राह्मण यह भूल गया कि मृगने छलसे वही तर्क दिया है, जो बलिदानके पक्षपाती दिया करते हैं। स्वर्गीय विमानों तथा अप्सराओंको देखकर उसके मनमें स्वर्ग-प्राप्तिकी कामना तीव्र हो गयी। उसने मृगका बलिदान कर देनेका विचार किया।

अब मृगने कहा—'ब्रह्मन्! सचमुच क्या दूसरे प्राणीकी हिंसा करनेसे किसीका कल्याण सम्भव है?'

ब्राह्मणने सोचकर उत्तर दिया—'एकका अनिष्ट करके दूसरा कैसे अपना हित कर सकता है।'

अब मृग अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गया। साक्षात् धर्मराजको सामने देखकर ब्राह्मण उनके चरणोंपर गिर पड़ा। धर्मने कहा—'ब्रह्मन्! आपने यज्ञमें मृगको मार देनेकी इच्छा मात्र की, इसीसे आपकी तपस्याका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया है। यज्ञ या पूजनमें पशु-हिंसा उचित नहीं है।'

उसी समयसे ब्राह्मणने यज्ञ-पूजनमें पशु-बलिका संकल्प भी त्याग दिया। —सु० सिं० (महाभारत, शान्ति० २७२)

दूसरोंका अमङ्गल चाहनेमें अपना अमङ्गल पहले होता है

'देवराज इन्द्र तथा देवताओंकी प्रार्थना स्वीकार करके महर्षि दधीचिने देह-त्याग किया। उनकी अस्थियाँ लेकर विश्वकर्माने वज्र बनाया। उसी वज्रसे अजेयप्राय वृत्रासुरको इन्द्रने मारा और स्वर्गपर पुनः अधिकार किया।' ये सब बातें अपनी माता सुवर्चासे बालक पिप्पलादने सुनीं। अपने पिता दधीचिके घातक देवताओंपर उन्हें बड़ा क्रोध आया। 'स्वार्थवश ये देवता मेरे तपस्वी पितासे उनकी हड्डियाँ माँगनेमें भी लज्जित नहीं हुए!' पिप्पलादने सभी देवताओंको नष्ट कर देनेका संकल्प करके तपस्या प्रारम्भ कर दी।

पवित्र नदी गौतमीके किनारे बैठकर तपस्या करते हुए पिप्पलादको दीर्घकाल बीत गया। अन्तमें भगवान् शङ्कर प्रसन्न हुए। उन्होंने पिप्पलादको दर्शन देकर कहा—'बेटा! वर माँगो।'

पिप्पलाद बोले—'प्रलयङ्कर प्रभु! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो अपना तृतीय नेत्र खोलें और स्वार्थी देवताओंको भस्म कर दें।'

भगवान् आशुतोषने समझाया—'पुत्र! मेरे रुद्र-रूपका तेज तुम सहन नहीं कर सकते थे, इसीलिये मैं तुम्हारे सम्मुख सौम्य रूपमें प्रकट हुआ। मेरे तृतीय नेत्रके तेजका आह्वान मत करो। उससे सम्पूर्ण विश्व भस्म हो जायगा।'

पिप्पलादने कहा—'प्रभो! देवताओं और उनके द्वारा संचालित इस विश्वपर मुझे तनिक भी मोह नहीं। आप देवताओंको भस्म कर दें, भले विश्व भी उनके साथ भस्म हो जाय।'

परमोदार मङ्गलमय आशुतोष हँसे। उन्होंने कहा—'तुम्हें एक अवसर और मिल रहा है। तुम अपने अन्तःकरणमें मेरे रुद्र-रूपका दर्शन करो।'

पिप्पलादने हृदयमें कपालमाली, विरूपाक्ष, त्रिलोचन, अहिभूषण भगवान् रुद्रका दर्शन किया। उस ज्वालामय प्रचण्ड स्वरूपके हृदयमें प्रादुर्भाव होते ही पिप्पलादको लगा कि उनका रोम-रोम भस्म हुआ जा रहा है। उनका पूरा शरीर थर-थर काँपने लगा। उन्हें लगा कि वे कुछ ही क्षणोंमें चेतनाहीन हो जायँगे। आर्तस्वरमें उन्होंने फिर भगवान् शङ्करको पुकारा। हृदयकी प्रचण्ड मूर्ति अदृश्य हो गयी। शशाङ्कशेखर प्रभु मुसकराते सम्मुख खड़े थे।

'मैंने देवताओंको भस्म करनेकी प्रार्थना की थी, आपने मुझे ही भस्म करना प्रारम्भ किया।' पिप्पलाद उलाहनेके स्वरमें बोले।

शङ्करजीने स्नेहपूर्वक समझाया—'विनाश किसी एक स्थलसे ही प्रारम्भ होकर व्यापक बनता है और सदा वह वहींसे

प्रारम्भ होता है, जहाँ उसका आह्वान किया गया हो। तुम्हारे हाथके देवता इन्द्र हैं, नेत्रके सूर्य, नासिकाके अश्विनीकुमार, मनके चन्द्रमा। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय तथा अङ्गके अधिदेवता हैं। उन अधिदेवताओंको नष्ट करनेसे शरीर कैसे रहेगा। बेटा! इसे समझो कि दूसरोंका अमङ्गल चाहनेपर पहले स्वयं अपना अमङ्गल होता है। तुम्हारे पिता महर्षि दधीचिने दूसरोंके कल्याणके लिये अपनी हड्डियाँतक दे दीं। उनके त्यागने उन्हें अमर कर दिया। वे दिव्यधाममें अनन्त कालतक निवास करेंगे। तुम उनके पुत्र हो। तुम्हें अपने पिताके गौरवके अनुरूप सबके मङ्गलका चिन्तन करना चाहिये।'

पिप्पलादने भगवान् विश्वनाथके चरणोंमें मस्तक झुका दिया।

—सु० सिं०

परोपकार महान् धर्म

दुरात्मा रावणने मारीचको माया-मृग बननेके लिये बाध्य किया। मायासे स्वर्ण-मृग बने मारीचका आखेट करने धनुष लेकर श्रीराम उसके पीछे गये। वह उन्हें दूर वनमें ले गया और अन्तमें जब उनके बाणसे मरा, तब मरते-मरते भी 'हा लक्ष्मण!' पुकारकर उसने छल किया। उस आर्त-स्वरको सुनकर श्रीजानकी व्याकुल हो गयीं। उनके आग्रह-से लक्ष्मणजीको अपने ज्येष्ठ भ्राताका पता लगाने वनमें जाना पड़ा। पञ्चवटीमें श्रीवैदेहीको अकेली देखकर रावण वहाँ आया और उसने बलपूर्वक उन जनककुमारीको रथमें बैठा लिया।

श्रीसीताजीको रथमें बैठाकर राक्षसराज रावण शीघ्रतासे भागा जा रहा था। वे श्रीमैथिली आर्त-क्रन्दन कर रही थीं। उनकी वह आर्त-क्रन्दन-ध्वनि पक्षिराज जटायुने भी सुनी। जटायु वृद्ध थे; उनको पता था कि रावण विश्वविजयी है, अत्यन्त क्रूर है और ब्रह्माजीके वरदानके प्रभावसे अजेयप्राय है। जटायु समझते थे कि वे न रावणको मार सकते हैं न पराजित कर सकते हैं। श्रीजनकनन्दिनीको वे छुड़ा सकेंगे उस क्रूर राक्षससे, इसकी कोई आशा न उन्हें थी न हो सकती थी। उल्टे रावणका विरोध करनेपर मृत्यु निश्चित थी। परंतु सफलता-विफलतामें चित्तको समान रखकर प्राणीको अपने कर्तव्यका दृढ़तासे पालन करना चाहिये। यही जटायुने किया। वे पूरे वेगसे रावणपर टूट पड़े। उसका रथ अपने आघातोंसे तोड़ डाला। अपने पंजों तथा चोंचकी मारसे रावणके शरीरको नोच डाला। पर अन्त-में रावणने तलवार निकालकर उनके पंख काट दिये। जटायु भूमिपर गिर पड़े। रावण श्रीजानकीको लेकर आकाश-मार्गसे चला गया।

मारीचको मारकर श्रीराम लौटे। लक्ष्मण उन्हें मार्गमें ही मिल गये। कुटियामें श्रीजानकीको न देखकर वे व्याकुल हो गये। नाना प्रकारका विलाप करते हुए वैदेहीको ढूँढ़ते आगे बढ़े। मार्गमें उनकी प्रतीक्षा करते जटायु अन्तिम स्थितिमें मृत्युके क्षण गिन रहे थे। मर्यादापुरुषोत्तमको उन्होंने विदेह-नन्दिनीका समाचार दिया। उस दिन श्रीराघवेन्द्रने नरनाट्य त्यागकर कहा—'तात! आप अपने शरीरको रक्खें! मैं आपको अभी स्वस्थ कर दूँगा।'

जटायु इसे कैसे स्वीकार कर लेते। श्रीराम सम्मुख खड़े हों, मृत्युके लिये ऐसा सौभाग्यशाली क्षण क्या बार-बार प्राप्त होता है? वे त्रिभुवनके स्वामी जटायुको गोदमें लेकर अपनी जटाओंसे उनके रक्तमें सने शरीरकी धूलि पोंछ रहे थे, उन्हें अपने अश्रुओंसे स्नान करा रहे थे। वे अनुभव कर रहे थे कि सर्वसमर्थ होनेपर भी वे जटायुको कुछ नहीं दे सकते। नेत्रोंमें अश्रु भरकर उन श्रीराघवेन्द्रने कहा—

'तात कर्म निज तें गति पाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥'

'जटायु! तुमने तो अपने कर्मसे ही परमगति प्राप्त कर ली है। तुम पूर्णकाम हो गये हो, तुम्हें मैं दे क्या सकता हूँ।'

शरीर त्यागकर जटायु जब चतुर्भुज दिव्य भगवत्पार्षद देहसे वैकुण्ठ चले गये, तब श्रीरामने अपने हाथों उनके उस गीधदेहका बड़े सम्मानपूर्वक अग्नि-संस्कार किया।—सु० सिं०

(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड)

अर्जुनकी शरणागतवत्सलता और श्रीकृष्णके साथ युद्ध

(नारदजीकी युद्ध-दर्शनोत्सुकता)

एक बार महर्षि गालव जब प्रातः सूर्यार्घ्य प्रदान कर रहे थे, उनकी अञ्जलिमें आकाशमार्गसे जाते हुए चित्रसेन गन्धर्वकी थूकी हुई पीक गिर पड़ी। मुनिको इससे बड़ा क्रोध हुआ। वे उसे शाप देना ही चाहते थे कि उन्हें अपने तपोनाशका ध्यान आ गया और रुक गये। उन्होंने जाकर भगवान् श्रीकृष्णसे फरियाद की। श्यामसुन्दर तो ब्रह्मण्यदेव ठहरे ही, झट प्रतिज्ञा कर ली—चौबीस घंटेके भीतर चित्रसेनको वध कर देनेकी। ऋषिको पूर्ण संतुष्ट करनेके लिये उन्होंने माता देवकी तथा महर्षिके चरणोंकी शपथ भी ले ली।

गालवजी अभी लौटे ही थे कि देवर्षि नारद वीणा झनकारते पहुँच गये। भगवान्ने उनका स्वागत-आतिथ्य किया। शान्त होनेपर नारदजीने कहा—'प्रभो! आप तो परमानन्दकन्द कहे जाते हैं, आपके दर्शनसे लोग विषादमुक्त हो जाते हैं; पर पता नहीं क्यों आज आपके मुख-कमलपर विषादकी रेखा दीख रही है।' इसपर श्यामसुन्दरने गालवजीके सारे प्रसङ्गको सुनाकर अपनी प्रतिज्ञा सुनायी। अब नारदजीको कैसा चैन? आनन्द आ गया। झटपट चले और पहुँचे चित्रसेनके पास। चित्रसेन भी उनके चरणोंमें गिरकर अपनी कुण्डली आदि लाकर ग्रहदशा पूछने लगा। नारदजीने कहा—'अरे तुम अब यह सब क्या पूछ रहे हो! तुम्हारा अन्तकाल निकट आ पहुँचा है। अपना कल्याण चाहते हो तो बस, कुछ दान-पुण्य कर लो। चौबीस घंटोंमें श्रीकृष्णने तुम्हें मार डालनेकी प्रतिज्ञा कर ली है।'

अब तो बेचारा गन्धर्व घबराया। वह लगा दौड़ने इधर-उधर। ब्रह्मधाम, शिवपुरी, इन्द्र-यम-वरुण सभीके लोकोंमें दौड़ता फिरा; पर किसीने उसे अपने यहाँ ठहरनेतक न दिया। श्रीकृष्णसे शत्रुता कौन उधार ले। अब बेचारा गन्धर्वराज अपनी रोती-पीटती स्त्रियोंके साथ नारदजीकी ही शरणमें आया। नारदजी दयालु तो ठहरे ही; 'बोले, अच्छा चलो यमुना-तटपर।' वहाँ जाकर एक स्थानको दिखलाकर कहा 'आज आधी रातको यहाँ एक स्त्री आयेगी। उस समय तुम ऊँचे स्वरसे विलाप करते रहना। वह स्त्री तुम्हें बचा लेगी। पर ध्यान रखना—जबतक वह तुम्हारे कष्ट दूर कर देनेकी प्रतिज्ञा न कर ले, तबतक तुम अपने कष्टका कारण भूलकर भी मत बताना।'

नारदजी भी विचित्र ठहरे। एक ओर तो चित्रसेनको यह समझाया, दूसरी ओर पहुँच गये अर्जुनके महलमें सुभद्राके पास। उससे बोले—'सुभद्रे! आजका पर्व बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। आज आधी रातको यमुना-स्नान करने तथा किसी दीनकी रक्षा करनेसे अक्षय पुण्यकी प्राप्ति होगी।'

आधी रातका अवसर हुआ। सुभद्रा दो-एक सखियोंके साथ यमुना-स्नानको पहुँचीं। वहाँ उन्हें रोनेका करुण-स्वर सुनायी पड़ा। नारदजीने दीनोद्धारका माहात्म्य बतला ही रक्खा था। सुभद्राने सोचा, 'चलो, अक्षय पुण्य लूट ही लूँ।' वे तुरंत उधर गयीं तो चित्रसेन रोता मिला। उन्होंने लाख पूछा, पर वह बिना प्रतिज्ञाके बतलाये ही नहीं। अन्तमें इनके प्रतिज्ञाबद्ध होनेपर उसने स्थिति स्पष्ट की। अब तो यह सुनकर सुभद्रा बड़े धर्मसंकट और असमंजसमें पड़ गयीं। एक ओर श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा—वह भी ब्राह्मणके हितके लिये, दूसरी ओर अपनी प्रतिज्ञा। अन्तमें शरणागतत्राणका निश्चय करके वे उसे अपने साथ ले आयीं। घर आकर उन्होंने सारी परिस्थिति अर्जुनके सामने रक्खी। (अर्जुनका चित्रसेन मित्र भी था।) अर्जुनने सुभद्राको सान्त्वना दी और कहा कि तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी होगी।'

नारदजीने इधर जब यह सब ठीक कर लिया, तब द्वारका पहुँचे और श्रीकृष्णचन्द्रसे कह दिया कि 'महाराज! अर्जुनने चित्रसेनको आश्रय दे रक्खा है, इसलिये आप सोच विचारकर ही युद्धके लिये चलें।' भगवान्ने कहा—'नारदजी! एक बार आप मेरी ओरसे अर्जुनको समझाकर लौटानेकी चेष्टा तो कर देखिये।' अब देवर्षि पुनः दौड़े हुए द्वारकासे इन्द्रप्रस्थ पहुँचे। अर्जुनने सब सुनकर साफ कह दिया—'यद्यपि मैं सब प्रकारसे श्रीकृष्णकी ही शरण हूँ और मेरे पास केवल उन्हींका बल है, तथापि अब तो उनके दिये हुए उपदेश—क्षात्र-धर्मसे कभी विमुख न होनेकी बातपर ही दृढ़ हूँ। मैं उनके बलपर ही अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा करूँगा। प्रतिज्ञा छोड़नेमें तो वे ही समर्थ हैं।' दौड़कर देवर्षि अब द्वारका आये और ज्यों-का-त्यों अर्जुनका वृत्तान्त कह सुनाया। अब क्या हो? युद्धकी तैयारी हुई। सभी यादव और पाण्डव रणक्षेत्रमें पूरी सेनाके साथ उपस्थित हुए। तुमुल युद्ध छिड़ गया। बड़ी घमासान लड़ाई

हुई । पर कोई जीत नहीं सका । अन्तमें श्रीकृष्णने सुदर्शन-चक्र छोड़ा । अर्जुनने पाशुपतास्त्र छोड़ दिया । प्रलयके लक्षण देखकर अर्जुनने भगवान् शंकरको स्मरण किया । उन्होंने दोनों शस्त्रोंको मनाया । फिर वे भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचे और कहने लगे—'प्रभो ! 'राम सदा सेवक रुचि राखी । बेद, पुरान, लोक सब साखी ।'—भक्तोंकी बातके आगे अपनी प्रतिज्ञाको भूल जाना तो आपका सहज स्वभाव है । इसकी तो असंख्य आवृत्तियाँ हुई होंगी । अब तो इस लीलाको यहीं समाप्त कीजिये ।'

बाण समाप्त हो गये । प्रभु युद्धसे विरत हो गये । अर्जुनको गले लगाकर उन्होंने युद्धश्रमसे मुक्त किया, चित्रसेनको अभय किया । सब लोग धन्य-धन्य कर उठे ।

पर गालवको यह बात अच्छी नहीं लगी । उन्होंने कहा, 'यह तो अच्छा मजाक रहा ।' स्वच्छ हृदयके ऋषि बोल उठे—'लो, मैं अपनी शक्ति प्रकट करता हूँ। मैं कृष्ण, अर्जुन, सुभद्रासमेत चित्रसेनको जला डालता हूँ ।' पर बेचारे साधुने ज्यों ही जल हाथमें लिया, सुभद्रा बोल उठीं—'मैं यदि कृष्णकी भक्त होऊँ और अर्जुनके प्रति मेरा पातिव्रत्य पूर्ण हो तो यह जल ऋषिके हाथसे पृथ्वीपर न गिरे ।' ऐसा ही हुआ । गालव बड़े लज्जित हुए । उन्होंने प्रभुको नमस्कार किया और वे अपने स्थानको लौट गये। तदनन्तर सभी अपने-अपने स्थानको पधारे ।* —जा० श०

जीर्णोद्धारका पुण्य

पहले गौडदेशमें वीरभद्र नामका एक अत्यन्त प्रसिद्ध राजा राज्य करता था । वह बड़ा प्रतापी, विद्वान् तथा धर्मात्मा था । उसकी पत्नीका नाम चम्पकमञ्जरी तथा प्रधान मन्त्रीका नाम वीरभद्र था । ये तथा उसके दूसरे मन्त्री एवं पुरोहित भी धर्मनिष्ठ थे । ये सभी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, धर्म-अधर्म आदिका निर्णय सदा धर्मशास्त्रोंके आधारपर ही करते थे; क्योंकि वे जानते थे कि प्रायश्चित्त, चिकित्सा, ज्यौतिषका फलादेश अथवा धर्म-निर्णय सदा शास्त्रोंके आधारपर ही करना चाहिये । जो बिना शास्त्रोंके यों ही मनमाना फतवा दे डालता है, उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है† । इसलिये ये लोग राजाको सदा धर्मशास्त्रादिको श्रवण कराते रहते थे । उसके राज्यमें कोई नगण्य व्यक्ति भी अधर्म या अन्यायका आचरण नहीं करता था । उस समय गौडदेशमें स्वर्ग-जैसा सुराज हो रहा था ।

एक दिन राजा वीरभद्र अपने मन्त्रियोंके साथ वनमें शिकार खेलने गया । वे वहाँ दौड़ते-दौड़ते थक गये और तबतक दोपहर भी हो गयी थी । वे लोग प्याससे बेचैन हो रहे थे । तबतक उनकी दृष्टि एक छोटी-सी पोखरीपर गयी, जो प्रायः सूखी थी । उसके मन्त्री बुद्धिसागरने उसे देखकर उसमेंसे जल निकालनेकी युक्ति सोची । उसने उसमें एक हाथका गड्ढा खोदा और जल निकाल लिया । उस जलके पीनेसे राजा तथा मन्त्री दोनोंकी ही पूर्ण तृप्ति हो गयी। अब धर्म-अर्थके पण्डित उस मन्त्रीने राजासे कहा—'राजन्! यह पुष्करिणी (तलैया, पोखरी) न जाने इस पर्वतकी अधित्यका (चौरस भूमि) में किसने बनायी थी । अभीतक तो यह वर्षाके जलसे भरी थी, पर अब सूख गयी है । अब यदि आज्ञा दें तो मैं इसका पूर्णतया उद्धार करके चारों ओर बढ़िया बाँध बनाकर इसे सरोवरका ही रूप दे दूँ ।'

राजाने मन्त्रीके इस प्रस्तावको बड़ी प्रसन्नताके साथ स्वीकार कर लिया । उसने बड़े समारोहसे बुद्धिसागरको इस कार्यमें नियुक्त किया । शुद्धात्मा मन्त्रीने बड़ी श्रद्धासे दो सौ हाथ लंबा-चौड़ा एक सरोवर तैयार किया और उसके चारों ओर पत्थरके घाट बनवा दिया । इस तरह उसमें अगाध

* बँगलाकी एक पुस्तकमें अर्जुन-कृष्ण-युद्धकी एक और न्यारी कथा आती है । कहते हैं कि महर्षि दुर्वासाके शापके कारण उर्वशीको एक बार घोड़ी हो जाना पड़ा था। दिनभर तो उसकी शकल घोड़ीकी रहती, पर रातको वह अपने रूपमें लौट आती । इसी दशामें वह अवन्ती-नरेश दण्डीके पास रह रही थी। नारदजीने श्रीकृष्णको समझाया कि 'आप यदि इस घोड़ीको अवन्तीनरेशसे ले लें तो बड़ा अच्छा रहे । इस घोड़ीमें बड़े माङ्गलिक लक्षण हैं ।' भगवान्‌ने दण्डीके यहाँ खबर भेजी । दण्डीने इसे अस्वीकार कर दिया । भगवान्‌ने कहा—'तो फिर युद्धके लिये तैयार हो जाओ ।' अब दण्डी उस घोड़ीके साथ भागता हुआ सबके शरण गया । पर कौन रक्खे श्रीकृष्णद्रोहीको । अन्तमें अर्जुन-सुभद्राने उसे शरण दी । युद्ध छिड़ गया । बड़ा घमासान हुआ । शेषमें दुर्वासाने आकर उर्वशीको शापमुक्त कर दिया और सारा झगड़ा वहीं समाप्त हो गया । कल्पभेदसे दोनों ही वर्णन सत्य हो सकते हैं ।

† प्रायश्चित्तं चिकित्सां च ज्यौतिषं धर्मनिर्णयम् । विना शास्त्रेण यो ब्रूयात् तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥' (नारदपु० १२ । ७४)

जलराशि संचित हो गयी। तबसे वह वनचरों एवं पक्षियोंका क्रीडास्थल एवं जलपानका आश्रय हो गया।

आयु समाप्त होनेपर बुद्धिसागर जब धर्मराजके यहाँ पधारे, तब धर्मराज चित्रगुप्तसे उनके कृत्योंके सम्बन्धमें पूछ-ताछ की। चित्रगुप्तने उनके सरोवर-निर्माणकी चर्चा की। साथ ही यह भी कहा कि 'ये राजाको सदा ही धर्मकार्यमें प्रेरित करते थे।' चित्रगुप्तके यों कहनेपर धर्मराजने बुद्धि-सागरको धर्मविमानपर चढ़ाये जानेकी आज्ञा दे दी। कुछ दिनोंके बाद राजा वीरभद्र भी वहीं (यमलोक) पधारे और धर्मराजको आदरपूर्वक नमस्कार करके एक ओर खड़े हो गये। पुण्यसम्बन्धी प्रश्न किये जानेपर चित्रगुप्तने उनके लिये भी उसी सरोवर-निर्माणके पुण्यकी चर्चा की। तदनन्तर धर्मराजने बड़ी अद्भुत वाणीसे राजाको सम्बोधित करते हुए कहा—'राजन्! पूर्वकालमें सैन्धवगिरिकी अधित्यकामें एक लवा पक्षीने जल ठहरानेके लिये अपनी चोंचसे दो अंगुल भूमि खोदी थी। तत्पश्चात् कालान्तरमें एक शूकरने उसी स्थलपर अपने थुथुनेसे एक हाथ गहरा गड्ढा खोदा। तबसे उसमें हाथ भर जल रहने लगा। तदनन्तर एक भैंसे ने खोदकर उसे दो हाथ गहरा कर दिया। महाराज! तबसे तो उसमें दो मासतक जल ठहरने लगा गया। वनके छोटे-छोटे जीव प्याससे व्याकुल होनेपर उस जलको पीते थे। तदनन्तर इसके तीन वर्ष बाद एक हाथीने उस गड्ढेको तीन हाथ गहरा कर दिया। अब उसमें तीन महीनेतक पर्याप्त जल ठहरने लगा गया। फिर जल सूख जानेपर आप उस स्थानपर आये और मन्त्री बुद्धि-सागरकी सम्मतिसे सरोवर-निर्माणका कार्य चल पड़ा। फिर तो उसमें बहुत जल संचित हो गया और पत्थरोंसे दृढ़ता-पूर्वक घाट बँध जानेपर वह महान् सरोवर ही बन गया। जलाशय-निर्माणके उपक्रममें अपने-अपने पुण्यसे क्रमशः ये लवा, शूकर, भैंस, हाथी और मन्त्री—पाँच जीव धर्मविमान-पर आरूढ़ हुए हैं, अब छठे आप भी उसपर चढ़ जाइये।'

धर्मराजके इन विचित्र तथा सुखद शब्दोंको सुनकर राजा वीरभद्र भी उस विमानपर जा बैठा। इस प्रकार जीर्णोद्धारका पुण्य अत्यन्त महान् है, जिससे एक सरोवरके पुनः-पुनः उद्धारमें ये छः जीव धर्मविमानपर आरूढ़ हुए।

—जा० श०

श्वेतका उद्धार

एक बार प्रभु श्रीरामचन्द्र पुष्पक यानसे चलकर तपोवनोंका दर्शन करते हुए महर्षि अगस्त्यके यहाँ गये। महर्षिने उनका बड़ा स्वागत किया। अन्तमें अगस्त्यजी विश्वकर्माका बनाया एक दिव्य आभूषण उन्हें देने लगे। इसपर भगवान् श्रीरामने आपत्ति की और कहा—'ब्रह्मन्! आपसे मैं कुछ लूँ, यह बड़ी निन्दनीय बात होगी। क्षत्रिय भला, जान-बूझकर ब्राह्मणका दिया हुआ दान क्योंकर ले सकता है।' फिर अगस्त्यजीके अत्यन्त आग्रह करनेपर उन्होंने उसे ले लिया और पूछा कि 'वह आभूषण उन्हें कैसे मिला था।'

अगस्त्यजीने कहा—''रघुनन्दन! पहले त्रेतायुगमें एक बहुत विशाल वन था, पर उसमें पशु-पक्षी नहीं रहते थे। उस वनके मध्यभागमें चार कोस लंबी एक झील थी। वहाँ मैंने एक बड़े आश्चर्यकी बात देखी। सरोवरके पास ही एक आश्रम था, किंतु उसमें न तो कोई तपस्वी था और न कोई जीव-जन्तु। उस आश्रममें मैंने ग्रीष्म ऋतुकी एक रात बितायी। सबेरे उठकर तालाबकी ओर चला तो रास्तेमें मुझे एक मुर्दा दीखा, जिसका शरीर बड़ा हृष्ट-पुष्ट था। मालूम होता था किसी तरुण पुरुषकी लाश है। मैं खड़ा होकर उस लाशके सम्बन्धमें कुछ सोच ही रहा था कि आकाशसे एक दिव्य विमान उतरता दिखायी दिया। क्षणभरमें वह विमान सरोवरके निकट आ पहुँचा। मैंने देखा उस विमानसे एक दिव्य मनुष्य उतरा और सरोवरमें स्नानकर उस मुर्देका मांस खाने लगा। भरपेट उस मोटे-ताजे मुर्देका मांस खाकर वह फिर सरोवरमें उतरा और उसकी शोभा निहारकर फिर स्वर्गकी ओर जाने लगा। उस देवोपम पुरुषको ऊपर जाते देख मैंने कहा—'महाभाग! तनिक ठहरो। मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ। तुम कौन हो? देखनेमें तो तुम देवताके समान जान पड़ते हो, किंतु तुम्हारा भोजन बहुत ही घृणित है। सौम्य! तुम ऐसा भोजन क्यों करते हो और कहाँ रहते हो।'

''रघुनन्दन! मेरी बात सुनकर उसने हाथ जोड़कर कहा—'विप्रवर! मैं विदर्भ देशका राजा था। मेरा नाम श्वेत था। राज्य करते-करते मुझे प्रबल वैराग्य हो गया और

मरणपर्यन्त तपस्याका निश्चय करके मैं यहाँ आ गया। अस्सी हजार वर्षोंतक कठोर तप करके मैं ब्रह्मलोकको गया, किंतु वहाँ पहुँचनेपर मुझे भूख और प्यास अधिक सताने लगी। मेरी इन्द्रियाँ तिलमिला उठीं। मैंने ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! यह लोक तो भूख और प्याससे रहित सुना गया है; तथापि भूख-प्यास मेरा पिण्ड यहाँ भी नहीं छोड़ती, यह मेरे किस कर्मका फल है? तथा मेरा आहार क्या होगा?'

'इसपर ब्रह्माजीने बड़ी देरतक सोचकर कहा—'तात! पृथ्वीपर दान किये बिना यहाँ कोई वस्तु खानेको नहीं मिलती। तुमने तो भिखमंगेको कभी भीखतक नहीं दी है। इसलिये यहाँपर भी तुम्हें भूख-प्यासका कष्ट भोगना पड़ रहा है। राजेन्द्र! भाँति-भाँतिके आहारोंसे जिसको तुमने भलीभाँति पुष्ट किया था, वह तुम्हारा उत्तम शरीर पड़ा हुआ है, तुम उसीका मांस खाओ, उसीसे तुम्हारी तृप्ति होगी। वह तुम्हारा शरीर अक्षय बना दिया गया है। उसे प्रतिदिन तुम खाकर ही तृप्त रह सकोगे। इस प्रकार अपने ही शरीरका मांस खाते-खाते जब सौ वर्ष पूरे हो जायँगे, तब तुम्हें महर्षि अगस्त्यके दर्शन होंगे। उनकी कृपासे तुम संकटसे छूट जाओगे। वे इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंका भी उद्धार करनेमें समर्थ हैं, फिर यह कौन-सी बड़ी बात है?'

'विप्रवर! ब्रह्माजीका यह कथन सुनकर मैंने यह घृणित कार्य आरम्भ किया। यह शव न तो कभी नष्ट होता है, साथ ही मेरी तृप्ति भी इसीके खानेसे होती है। न जाने कब उन महाभागके दर्शन होंगे, जब इससे पिण्ड छूटेगा। अब तो ब्रह्मन्! सौ वर्ष भी पूरे हो गये हैं।'

''रघुनन्दन! राजा श्वेतका यह कथन सुनकर तथा उसके घृणित आहारकी ओर देखकर मैंने कहा—'अच्छा! तो तुम्हारे सौभाग्यसे मैं अगस्त्य ही आ गया हूँ। अब निःसंदेह तुम्हारा उद्धार करूँगा।' इतना सुनते ही वह दण्ड-की भाँति मेरे पैरोंपर गिर गया और मैंने उसे उठाकर गले लगा लिया। वहीं उसने अपने उद्धारके लिये इस दिव्य आभूषणको दानरूपमें मुझे प्रदान किया। उसकी दुःखद अवस्था और करुण वाणी सुनकर मैंने उसके उद्धारकी दृष्टि-से ही वह दान ले लिया, लोभवश नहीं। मेरे इस आभूषण-को लेते ही उसका वह मुर्दा शरीर अदृश्य हो गया। फिर राजा श्वेत बड़ी प्रसन्नताके साथ ब्रह्मलोकको चले गये।''

तदनन्तर और कुछ दिनोंतक सत्सङ्ग करके भगवान् वहाँ-से अयोध्याको लौटे।—जा० श०

(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्याय ३३; वाल्मी० रामा० उत्तरकाण्ड)

विचित्र परीक्षा

एक समय श्रीमद्राघवेन्द्र महाराजराजेन्द्र श्रीरामचन्द्रने एक बड़ा विशाल अश्वमेध यज्ञ किया। उसमें उन्होंने सर्वस्व दान कर दिया। उस समय उन्होंने घोषणा कर रक्खी थी कि 'यदि कोई व्यक्ति अयोध्याका राज्य, पुष्पकविमान, कौस्तुभमणि, कामधेनु गाय या सीताको भी माँगेगा तो मैं उसे दे दूँगा।' बड़े उत्साहके साथ यज्ञकी समाप्ति हुई। ठीक श्रीरामजन्मके ही दिन अवभृथ-स्नान हुआ। भगवान्के सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रहका दर्शन करके जनता धन्य हो रही थी। देवता, गन्धर्व दिव्य वाद्य बजाकर पुष्पवृष्टि कर रहे थे। अन्तमें भगवान्ने चिन्तामणि और कामधेनुको अपने गुरुको दान करनेकी तैयारी की।

वशिष्ठजीने सोचा कि 'मेरे पास नन्दिनी तो है ही। यहाँ मैं एक अपूर्व लीला करूँ। आज श्रीराघवके औदार्यका प्रदर्शन कराकर मैं इनकी कीर्ति अक्षय कर दूँ।' यों विचारकर उन्होंने कहा, 'राघव! यह गोदान क्या कर रहे हो, इससे मेरी तृप्ति नहीं होती। यदि तुम्हें देना ही हो तो सर्वालंकारमण्डिता सीताको ही दान करो। अन्य सैकड़ों स्त्रियों या वस्तुओंसे मेरा कोई प्रयोजन या तृप्ति सम्भव नहीं।'

इतना सुनना था कि जनतामें हाहाकार मच गया। कुछ लोग कहने लगे कि 'क्या ये बूढ़े वशिष्ठ पागल हो गये?' कुछ लोग कहने लगे कि 'यह मुनिका केवल विनोद है।' कोई कहने लगा—'मुनि राघवकी धैर्य-परीक्षा कर रहे हैं।' इसी बीच श्रीरामचन्द्रजीने हँसकर सीताजीको बुलाया और उनका हाथ पकड़कर वे कहने लगे—'हाँ, अब आप स्त्रीदानका मन्त्र बोलें, मैं सीताको दान कर रहा हूँ।' वशिष्ठने भी यथाविधि इसका उपक्रम सम्पन्न किया। अब तो सभी जड-चेतनात्मक जगत् चकित हो गया। वशिष्ठजीने सीताको अपने पीछे बैठनेको कहा। सीताजी भी खिन्न हो गयीं। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने कहा कि 'अब कामधेनु गाय भी लीजिये।'

वशिष्ठजीने इसपर कहा—'महाबाहो राम ! मैंने केवल तुम्हारे औदार्य-प्रदर्शनके लिये यह कौतूहल रचा था । अब तुम मेरी बात सुनो । सीताका आठगुना सोना तौलकर तुम इसे वापस ले लो और आजसे तुम मेरी आज्ञासे कामधेनु, चिन्तामणि, सीता, कौस्तुभमणि, पुष्पकविमान, अयोध्यापुरी तथा सम्पूर्ण राज्य किसीको देनेका नाम न लेना । यदि मेरी इस आज्ञाका लोप करोगे तो विश्वास रक्खो, मेरी आज्ञा न माननेसे तुम्हें बहुत क्लेश होगा । इन सात वस्तुओंके अतिरिक्त तुम जो चाहो, स्वेच्छासे ब्राह्मणोंको दो ।'

तदनन्तर भगवान्ने वैसा ही किया और निरलंकार केवल दो वस्त्रोंके साथ सीताको लौटा लिया । आकाशसे पुष्पवृष्टि होने लगी तथा जय-जयकारकी महान् ध्वनिसे दसों दिशाएँ भर गयीं । फिर बड़े समुत्साहसे यज्ञकी शेष क्रियाएँ पूरी हुईं । —जा० श० (आनन्दरामायण—यागकाण्डम्)

विलक्षण दानवीरता

कर्णका वास्तविक नाम तो वसुषेण था । माताके गर्भसे वसुषेण दिव्य कवच और कुण्डल पहिने उत्पन्न हुए थे । उनका यह कवच, जो उनके शरीरसे चर्मकी भाँति लगा था, अस्त्र-शस्त्रोंसे अभेद्य था और शरीरके साथ ही बढ़ता गया था । उनके कुण्डल अमृतसिक्त थे । उन कुण्डलोंके कानोंमें रहते, उनकी मृत्यु सम्भव नहीं थी ।

अर्जुनके प्रतिस्पर्धी थे कर्ण । सभी जानते थे कि युद्धमें अर्जुनकी समता कर्ण ही कर सकते हैं । युद्ध अनिवार्य जान पड़ता था । पाण्डव-पक्षमें सबको कर्णकी चिन्ता थी। धर्मराज युधिष्ठिरको कर्णके भयसे बहुत बेचैनी होती थी । अन्तमें देवराज इन्द्रने युधिष्ठिरके पास संदेश भेजा—'कर्णकी अजेयता समाप्त कर देनेकी युक्ति मैंने कर ली है, आप चिन्ता न करें ।'

अचानक कर्णने रात्रिमें स्वप्नमें एक तेजोमय ब्राह्मणको देखा । वे ब्राह्मण कह रहे थे—'वसुषेण ! मैं तुमसे एक वचन माँगता हूँ । कोई ब्राह्मण तुमसे कवच-कुण्डल माँगे तो देना मत !'

स्वप्नमें भी कर्ण चौंके—'आप कहते क्या हैं ? कोई ब्राह्मण मुझसे कुछ माँगे और मैं अस्वीकार कर दूँ ?'

स्वप्नमें ही ब्राह्मणने कहा—'बेटा ! मैं तुम्हारा पिता सूर्य हूँ । देवराज इन्द्र तुम्हें ठग लेना चाहते हैं । मेरी बात मान लो ।'

कर्णने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'आप मेरे पिता हैं, मेरे आराध्य हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ । आप मुझे क्षमा करें । पर इन्द्र आये या और कोई, ब्राह्मणके रूपमें मेरे पास कोई आयेगा, कुछ याचना करेगा तो प्राणके भयसे कृपणकी भाँति मैं उसे अस्वीकार नहीं कर सकूँगा ।'

सूर्य अदृश्य हो गये । अपने अकल्पनीय उदार पुत्रपर उन्हें गर्व था । दूसरे ही दिन देवराज ब्राह्मणके वेशमें पधारे । कर्णका आतिथ्य स्वीकार करके उन्होंने कहा—'मैं कुछ याचना करने आया हूँ, पर वचन दो कि दोगे ।'

कर्ण बोले—'भगवन् ! वसुषेणने कभी किसी ब्राह्मणको निराश नहीं किया है । बिना दिये भी यह वचन तो दिया ही हुआ है ब्राह्मणके लिये ।'

'कवच और कुण्डल, जो जन्मसे तुम्हारे शरीरपर हैं ।' इन्द्रको यही माँगना था । कर्णने तलवार उठायी और शरीरकी त्वचा अपने हाथों काटकर रक्तसे भीगे कुण्डल और कवच इन्द्रको दे दिये ।

'तुम्हारा शरीर कुरूप नहीं होगा ।' इन्द्रने आशीर्वाद दिया, किंतु देवराज किसीसे दान लेकर उसे वरदानस्वरूप कुछ दिये बिना स्वर्ग जा नहीं सकते थे । इसलिये कर्णको अपनी अमोघ शक्ति उन्होंने दी और कवच-कुण्डल लेकर वे चले गये । —सु० सिं०　　　(महाभारत, वन०)

शोकके अवसरपर हर्ष क्यों ?

(श्रीकृष्णका अर्जुनके प्रति प्रेम)

भीमका महावीर राक्षसपुत्र घटोत्कच मारा गया । पाण्डवशिबिरमें शोक छाया है, सबकी आँखोंसे आँसू बह रहे हैं; केवल श्रीकृष्ण प्रसन्न हैं । वे बार-बार आनन्दसे सिंहनाद करते और हर्षसे झूमकर नाच उठते हैं तथा अर्जुनको गले लगाकर उसकी पीठ ठोंकते हैं !

भगवान्को इतना प्रसन्न देखकर अर्जुनने पूछा—

'मधुसूदन ! घटोत्कचकी मृत्युसे अपना सारा परिवार शोक-सागरमें डूबा हुआ है । अपनी सारी सेना विमुख होकर भाग रही है । आप इस अवसरमें इतने प्रसन्न क्यों हैं ? मामूली कारणसे तो आप ऐसा करते नहीं; क्या बात है, कृपया बताइये ।'

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'अर्जुन ! मेरे लिये सचमुच आज बड़े ही आनन्दका अवसर है । घटोत्कच तो मरा, पर मेरा प्राणप्रिय अर्जुन बच गया । मुझे इसीकी प्रसन्नता है । कर्णके पास कवच-कुण्डल थे । उनके रहते वह अजेय था, उनको तो इन्द्र माँगकर ले गये । पर इन्द्र कर्णको एक ऐसी शक्ति दे गये, जिसके उनके पास रहते मैं सदा तुम्हारे प्राणोंको संकटमें ही मानता था । कर्ण ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, व्रतधारी, तपस्वी और शत्रुओंपर भी दया करनेवाले हैं । इसीलिये उनको 'वृष' या 'धर्म' कहते हैं । उन्हें यों ही कोई नहीं मार सकता, फिर 'शक्ति' रहते तो मार ही कौन सकता था । कर्ण उस शक्तिसे तुम्हें मारना चाहते थे । आज उस शक्तिसे घटोत्कच मारा गया, अतएव अब कर्णको मरा ही समझो । इसीसे मुझे प्रसन्नता है ।

'रही घटोत्कचके मरनेकी बात, सो माना कि घटोत्कच अपने घरका बच्चा था और महावीर भी था; परंतु वह पापात्मा, ब्राह्मणद्वेषी और यज्ञोंका नाश करनेवाला था । ऐसे खलोंको भी मैं स्वयं मारना चाहता हूँ । इससे उसका विनाश तो मैंने ही करवाया है । मैं तो सदा वहीं क्रीडा किया करता हूँ जहाँ वेद, सत्य, दम, पवित्रता, धर्म, कुकृत्यमें लज्जा, श्री, धैर्य और क्षमाका निवास है । इसीलिये मैं पाण्डवोंके साथ हूँ । अर्जुन ! तुम मेरे प्राणप्रिय हो, आज इस प्रकार तुम्हारे बच जानेसे मुझे अत्यन्त हर्ष है ।' भगवान्के प्रेमपूर्ण वाक्योंको सुनकर अर्जुन गद्गद हो गये, अर्जुनका समाधान हो गया ।

फिर सात्यकिने पूछा—'भगवन् ! जब कर्णने वह अमोघ शक्ति अर्जुनपर ही छोड़नेका निश्चय किया था, तब उसे छोड़ा क्यों नहीं ? अर्जुन तो नित्य ही समराङ्गणमें उनके सामने पड़ते थे ।' इसपर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'सात्यके ! दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और जयद्रथ—ये सभी प्रति-दिन कर्णको यह सलाह दिया करते थे कि तुम इस शक्तिका प्रयोग केवल अर्जुनपर ही करना । अर्जुनके मारे जानेपर सारे पाण्डव और सृञ्जय आप ही मर जायँगे और कर्ण भी यह प्रतिज्ञा कर चुके थे । वे प्रतिदिन ही उस शक्तिके द्वारा मारनेकी बात सोचते थे, पर ज्यों ही वे सामने आते कि मैं उनको मोहित कर देता । यही कारण है कि वे शक्तिका प्रयोग अर्जुनपर नहीं कर सके । इतनेपर भी सात्यके ! वह शक्ति अर्जुनके लिये मृत्युरूप है—इस चिन्ताके मारे मैं सदा उदास रहता था, मुझे रातको नींद नहीं आती थी । अब वह शक्ति घटोत्कचपर पड़कर नष्ट हो गयी । यह देखकर मुझे लगता है कि अर्जुन मृत्युके मुखसे छूट गये । मैं युद्धमें अर्जुनकी रक्षा करना जितनी आवश्यक समझता हूँ, उतनी पिता, माता, तुम-जैसे भाई और अपने प्राणोंकी भी रक्षा आवश्यक नहीं समझता । तीनों लोकोंके राज्यकी अपेक्षा भी कोई दुर्लभ वस्तु मिलती हो तो उसे भी मैं अर्जुनके बिना नहीं चाहता । इसीलिये आज अर्जुन मानो मरकर पुनः वापस आ गये हैं, यह देखकर ही मुझे बड़ा भारी हर्ष हो रहा है ।'*

उल्लासके समय खिन्न क्यों ?

(श्रीकृष्णका कर्णके प्रति सद्भाव)

महाभारतके युद्धका सत्रहवाँ दिन समाप्त हो गया था । महारथी कर्ण रणभूमिमें गिर चुके थे । पाण्डव-शिबिरमें आनन्दोत्सव हो रहा था । ऐसे उल्लासके समय श्रीकृष्णचन्द्र खिन्न थे । वे बार-बार कर्णकी प्रशंसा कर रहे थे—'आज पृथ्वीपरसे सच्चा दानी उठ गया ।'

धर्मराज युधिष्ठिरके लिये किसीके भी धर्माचरणकी प्रशंसा सम्मान्य थी; किंतु अर्जुन अपने प्रतिस्पर्धीकी प्रशंसासे खिन्न हो रहे थे । श्रीकृष्णचन्द्र बोले—'धनञ्जय ! देखता हूँ कि तुम्हें मेरी बात अत्युक्तिपूर्ण जान पड़ती है । एक काम करो, तुम मेरे साथ चलो और दूरसे देखो । महादानी कर्ण अभी

* न पिता न च मे माता न यूयं भ्रातरस्तथा । न च प्राणास्तथा रक्ष्या यथा बीभत्सुराहवे ॥
त्रैलोक्यराज्याद् यत्किञ्चिद् भवेदन्यत् सुदुर्लभम् । नेच्छेयं सात्वताहं तद्विना पार्थं धनञ्जयम् ॥
अतः प्रहर्षः सुमहान् युयुधानाद्य मेऽभवत् । मृतं प्रत्यागतमिव दृष्ट्वा पार्थं धनञ्जयम् ॥
(महा० द्रोण० १८२ । ४३-४५)

मरे नहीं हैं। उनकी दानशीलता अब भी तुम देख सकते हो।'

रात्रि हो चुकी थी। युद्ध-भूमिमें गीदड़ोंका राज्य था। जहाँ-तहाँ कुछ आहत कराह रहे थे। शस्त्रोंके खण्ड, बाणोंके टुकड़े, लाशोंकी ढेरियाँ, रक्तकी कीचड़से पूर्ण युद्धभूमि बड़ी भयंकर थी। अर्जुनको श्रीकृष्णचन्द्रने कुछ दूर छोड़ दिया और स्वयं ब्राह्मणका वेश बनाकर पुकारना प्रारम्भ किया—'कर्ण! दानी कर्ण कहाँ हैं!'

'मुझे कौन पुकारता है? कौन हो भाई!' बड़े कष्टसे भूमिपर मूर्छितप्राय पड़े कर्णने मस्तक उठाकर कहा।

ब्राह्मण कर्णके पास आ गये। उन्होंने कहा—'मैं बड़ी आशासे तुम्हारा नाम सुनकर तुम्हारे पास आया हूँ। मुझे थोड़ा-सा स्वर्ण चाहिये—बहुत थोड़ा-सा।'

'आप मेरे घर पधारें! मेरी पत्नी आपको, जितना चाहेंगे, उतना स्वर्ण देगी।' कर्णने ब्राह्मणसे अनुरोध किया। परंतु ब्राह्मण कोई साधारण ब्राह्मण हों तब तो घर जायँ। वे तो बिगड़ उठे—'नहीं देना है तो ना कर दो, इधर-उधर दौड़ाओ मत। मैं कहीं नहीं जाऊँगा। मुझे तो दो सरसों-जितना स्वर्ण चाहिये।'

कर्णने कुछ सोचा और बोले—'मेरे दाँतोंमें स्वर्ण लगा है। आप कृपा करके निकाल लें।'

ब्राह्मणने घृणासे मुख सिकोड़ा—'तुम्हें लज्जा नहीं आती एक ब्राह्मणसे यह कहते कि वह जीवित मनुष्यके दाँत तोड़े।'

इधर-उधर देखा कर्णने। पास एक पत्थर दीखा। किसी प्रकार घसीटते हुए वहाँ पहुँचे और पत्थरपर मुख दे मारा। दाँत टूट गये। अब बोले दाँतोंको हाथमें लेकर—इन्हें स्वीकार करें प्रभु!'

'छिः! रक्तसे सनी अपवित्र अस्थि।' ब्राह्मण दो पद पीछे हट गये। कर्णने खड्गसे दाँतमेंसे सोना निकाला। जब ब्राह्मणने उसे अपवित्र बताया और कर्णको धनुष देना भी अस्वीकार कर दिया, तब कर्ण फिर घसीटते हुए धनुषके पास पहुँचे। किसी प्रकार सिरसे दबाकर धनुष चढ़ाया और उसपर बाण रखकर वारुणास्त्रसे जल प्रकट करके दाँतसे निकले स्वर्णको धोया। अब वे श्रद्धापूर्वक वह स्वर्ण ब्राह्मणको देनेको उद्यत हुए।

'वर माँगो, वीर!' श्रीकृष्णचन्द्र अब ब्राह्मणका वेश छोड़कर प्रकट हो गये थे। अर्जुन बहुत दूर लज्जित खड़े थे। कर्णने इतना ही कहा—'त्रिभुवनके स्वामी देहत्यागके समय मेरे सम्मुख उपस्थित हैं, अब माँगनेको रह क्या गया?' कर्णकी देह ढुलक गयी श्यामसुन्दरके श्रीचरणोंमें। धन्य दानी भक्त कर्ण! —सु० सिं०

उत्तम दानकी महत्ता त्यागमें है, न कि संख्यामें

महाराज युधिष्ठिर कौरवोंको युद्धमें पराजित करके समस्त भूमण्डलके एकच्छत्र सम्राट् हो गये थे। उन्होंने लगातार तीन अश्वमेध यज्ञ किये। उन्होंने इतना दान किया कि उनकी दानशीलताकी ख्याति देश-देशान्तरमें फैल गयी। पाण्डवोंके भी मनमें यह भाव आ गया कि उनका दान सर्वश्रेष्ठ एवं अतुलनीय है। उसी समय जब कि तीसरा अश्वमेध यज्ञ पूर्ण हुआ था और अवभृथ-स्नान करके लोग यज्ञभूमिसे गये भी नहीं थे, वहाँ एक अद्भुत नेवला आया। उस नेवलेके नेत्र नीले थे और उसके शरीरका एक ओरका आधा भाग स्वर्णका था। यज्ञभूमिमें पहुँचकर नेवला वहाँ लोट-पोट होने लगा। कुछ देर वहाँ इस प्रकार लोट-पोट होनेके बाद बड़े भयंकर शब्दमें गर्जना करके उसने सब पशु-पक्षियोंको भयभीत कर दिया और फिर वह मनुष्यभाषामें बोला—'पाण्डवो! तुम्हारा यह यज्ञ विधिपूर्वक हुआ, किंतु इसका पुण्यफल कुरुक्षेत्रके एक उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणके एक सेर सत्तूके दानके समान भी नहीं हुआ।'

नेवलेको इस प्रकार कहते सुनकर आश्चर्यचकित ब्राह्मणोंने धर्मराज युधिष्ठिरके धर्माचरण, न्यायशीलता तथा अपार दानकी प्रशंसा करके पूछा—'नकुल! तुम कौन हो? कहाँसे आये हो? इस यज्ञकी निन्दा क्यों करते हो?'

नेवलेने कहा—मैं न आपके द्वारा कराये यज्ञकी निन्दा करता हूँ न गर्वकी या झूठी बात करता हूँ। मैं उस ब्राह्मणकी कथा आपको सुना रहा हूँ। कुछ वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्रमें एक धर्मात्मा ब्राह्मण रहते थे। उनके परिवारमें उनकी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधू थी। वे धर्मात्मा ब्राह्मण किसानोंके खेत काट लेनेपर वहाँ गिरे हुए अन्नके दाने चुन लाते थे और उसीसे अपनी तथा परिवारकी जीविका चलाते थे।

एक बार घोर दुर्भिक्ष पड़ा। ब्राह्मणके पास संचित अन्न

तो था नहीं। और खेतोंमें तो बोया हुआ अन्न उत्पन्न ही नहीं हुआ था। ब्राह्मणको परिवारके साथ प्रतिदिन उपवास करना पड़ता था। कई दिनोंके उपवासके अनन्तर बड़े परिश्रमसे बाजारमें गिरे दानोंको चुनकर उन्होंने एक सेर जौ एकत्र किया और उसका सत्तू बना लिया।

नित्यकर्म करके देवताओं तथा पितरोंका पूजन-तर्पण समाप्त हो जानेपर ब्राह्मणने सत्तू चार भाग करके परिवारके सभी सदस्योंको बाँट दिया और भोजन करने बैठे। उसी समय एक भूखे ब्राह्मण वहाँ आ गये। अपने यहाँ अतिथिको आया देखकर उन तपस्वी ब्राह्मणने उनको प्रणाम किया, अपने कुल-गोत्रादिका परिचय देकर उन्हें कुटीमें ले गये और आदरपूर्वक आसनपर बैठाकर उनके चरण धोये। अर्घ्य-पाद्यादिसे अतिथिका पूजन करके ब्राह्मणने अपने भागका सत्तू नम्रतापूर्वक उन्हें भोजनके लिये दे दिया।

अतिथिने वह सत्तू खा लिया, किंतु उससे वे तृप्त नहीं हुए। ब्राह्मण चिन्तामें पड़ा कि अब अतिथिको क्या दिया जाय। उस समय पतिव्रता ब्राह्मणीने अपने भागका सत्तू अतिथिको देनेके लिये अपने पतिको दे दिया। ब्राह्मणको पत्नीका भाग लेना ठीक नहीं लग रहा था और उन्होंने उसे रोका भी; किंतु ब्राह्मणीने पतिके आतिथ्यधर्मकी रक्षाको अपने प्राणोंसे अधिक आदरणीय माना। उसके आग्रहके कारण उसके भागका सत्तू भी ब्राह्मणने अतिथिको दे दिया। लेकिन उस सत्तूको खाकर भी अतिथिका पेट भरा नहीं। क्रमपूर्वक ब्राह्मणके पुत्र और उनकी पुत्रवधूने भी अपने भागका सत्तू आग्रह करके अतिथिको देनेके लिये ब्राह्मणको दे दिया। ब्राह्मणने उन दोनोंके भाग भी अतिथिको अर्पित कर दिये।

उन धर्मात्मा ब्राह्मणका यह त्याग देखकर अतिथि बहुत प्रसन्न हुए। वे ब्राह्मणकी उदारता, दानशीलता तथा आतिथ्यकी प्रशंसा करते हुए बोले—'ब्रह्मन्! आप धन्य हैं। मैं धर्म हूँ, आपकी परीक्षा लेने आया था। आपकी दानशीलतासे मैं और सभी देवता आपपर प्रसन्न हैं। आप अपने परिवारके साथ स्वर्गको शोभित करें।'

नेवलेने कहा—'धर्मके इस प्रकार कहनेपर स्वर्गसे आये विमानपर बैठकर ब्राह्मण अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूके साथ स्वर्ग पधारे। उनके स्वर्ग चले जानेपर मैं बिलसे निकलकर जहाँ ब्राह्मणने सत्तू खाकर हाथ धोये थे, उस कीचड़में लोटने लगा। अतिथिको ब्राह्मणने जो सत्तू दिया था, उसके दो-चार कण अतिथिके भोजन करते समय वायुसे उड़कर वहाँ पड़े थे। उनके शरीरमें लगनेसे मेरा आधा शरीर सोनेका हो गया। उसी समयसे शेष आधा शरीर भी सोनेका बनानेके लिये मैं तपोवनों और यज्ञस्थलोंमें घूमा करता हूँ; किंतु कहीं भी मेरा अभीष्ट पूरा नहीं हुआ। आपके यहाँ यज्ञभूमिमें भी मैं आया, किंतु कोई परिणाम नहीं हुआ।'

'युधिष्ठिरके यज्ञमें असंख्य ब्राह्मणोंने भोजन किया और वनस्थ उस ब्राह्मणने केवल एक ही ब्राह्मणको तृप्त किया। पर उसमें त्याग था। चारोंने भूखे पेट रहकर उसे भोजन दिया था। दानकी महत्ता त्यागमें है, न कि संख्यामें।' वह नेवला इतना कहकर वहाँसे चला गया। —सु० सिं०

(महाभारत, अश्वमेध० ९०)

भगवती सीताकी शक्ति तथा पराक्रम

एक बार भगवान् श्रीराम जब सपरिकर सभामें विराज रहे थे, विभीषण बड़ी विकलतापूर्वक अपनी स्त्री तथा चार मन्त्रियोंके साथ दौड़े आये और बार-बार उसाँस लेते हुए कहने लगे—'राजीवनयन राम! मुझे बचाइये, बचाइये। कुम्भकर्णके पुत्र मूलकासुर नामक राक्षसने, जिसे मूल नक्षत्रमें उत्पन्न होनेके कारण कुम्भकर्णने वनमें छुड़वा दिया था, पर मधुमक्खियोंने जिसे पाल लिया था, तरुण होकर तपस्याके द्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न कर उनके बलसे गर्वित होकर बड़ा भारी ऊधम मचा रखा है। उसे आपके द्वारा लङ्का-विजय तथा मुझे राज्य-प्रदानकी बात मालूम हुई तो पातालवासियोंके साथ दौड़ा हुआ लङ्का पहुँचा और मुझपर धावा बोल दिया। जैसे-तैसे मैं उसके साथ छः महीनेतक युद्ध करता रहा। गत रात्रिमें मैं अपने पुत्र, मन्त्रियों तथा स्त्रीके साथ किसी प्रकार सुरंगसे भागकर यहाँ पहुँचा हूँ। उसने कहा है कि 'पहले भेदिया विभीषणको मारकर फिर पितृहन्ता रामको भी मार डालूँगा। सो राघव! वह आपके पास भी आता ही होगा; इसलिये ऐसी स्थितिमें आप जो उचित समझते हों, वह तुरंत कीजिये।'

भक्तवत्सल भगवान् श्रीरामके पास उस समय यद्यपि बहुत-से अन्य आवश्यक कार्य भी थे, तथापि भक्तकी करुण कथा सुनकर उन्होंने अपने पुत्र लव, कुश तथा लक्ष्मण आदि भाइयों एवं सारी वानरी सेनाको तुरंत तैयार किया और पुष्पकयानपर चढ़कर झट लङ्काकी ओर चल पड़े। मूलकासुरको राघवेन्द्रके आनेकी बात मालूम हुई तो वह भी अपनी सेना लेकर लड़नेके लिये लङ्काके बाहर आया। बड़ा भारी तुमुल युद्ध छिड़ गया। सात दिनोंतक घोर युद्ध होता रहा। बड़ी कठिन समस्या उत्पन्न हो गयी। अयोध्यासे सुमन्त्र आदि सभी मन्त्री भी आ पहुँचे। हनुमान्‌जी बराबर संजीविनी लाकर वानरों, भालुओं तथा मानुषी सेनाको जिलाते ही रहे; पर युद्धका परिणाम उलटा ही दीखता रहा। भगवान् चिन्तामें कल्पवृक्षके नीचे बैठे थे। मूलकासुर अभिचार-होमके लिये गुप्तगुहामें गया था। विभीषण भगवान्‌से उसकी गुप्त चेष्टा बतला रहे थे। तबतक ब्रह्माजी वहाँ आये और कहने लगे—'रघुनन्दन! इसे मैंने स्त्रीके हाथ मरनेका वरदान दिया है। इसके साथ ही एक बात और है, उसे भी सुन लीजिये। एक दिन इसने मुनियोंके बीच शोकसे व्याकुल होकर 'चण्डी सीताके कारण मेरा कुल नष्ट हुआ' ऐसा वाक्य कहा। इसपर एक मुनिने क्रुद्ध होकर उसे शाप दे दिया—'दुष्ट! तूने जिसे चण्डी कहा है, वही सीता तुझे जानसे मार डालेंगी।' मुनिका इतना कहना था कि वह दुष्टात्मा उन्हें खा गया। अब क्या था, शेष सब मुनि लोग चुपचाप उसके डरके मारे धीरेसे वहाँसे खिसक गये। इसलिये अब उसकी कोई औषध नहीं है। अब तो केवल सीता ही इसके वधमें समर्थ हो सकती हैं। ऐसी दशामें रघुनन्दन! आप उन्हें ही यहाँ बुलाकर इसका तुरंत वध करानेकी चेष्टा करें। यही इसके वधका एकमात्र उपाय है।'

इतना कहकर ब्रह्माजी चले गये। भगवान् श्रीरामने भी तुरंत हनुमान्‌जी और विनतानन्दन गरुडको सीताको पुष्पकयानसे सुरक्षित ले आनेके लिये भेजा। इधर पराम्बा भगवती जनकनन्दिनी सीताकी बड़ी विचित्र दशा थी। उन्हें श्रीराघवेन्द्र रामचन्द्रके विरहमें एक क्षणभर भी चैन नहीं थी। वे बार-बार प्रासाद-शिखरपर चढ़कर देखतीं कि कहीं दक्षिणसे पुष्पकपर प्रभु तो नहीं पधार रहे हैं। वहाँसे निराश होकर वे पुनः द्राक्षामण्डपके नीचे शीतलताकी आशामें चली जातीं। कभी वे प्रभुकी विजयके लिये तुलसी, शिवप्रतिमा, पीपल आदिकी प्रदक्षिणा करतीं और कभी ब्राह्मणोंसे मन्युसूक्तका पाठ करातीं। कभी वे दुर्गाकी पूजा करके यह माँगतीं कि विजयी श्रीराम शीघ्र लौटें और कभी ब्राह्मणोंसे शतरुद्रियका जप करातीं। नींद तो उन्हें कभी आती ही न थी। वे दुनियाभरके देवी-देवताओंकी मनौती मनातीं तथा सारे भोगों और शृङ्गारोंसे विरत रहतीं। इसी प्रकार युगके समान उनके दिन जा रहे थे कि गरुड और हनुमान्‌जी उनके पास पहुँचे। पतिके संदेशको सुनकर सीता तुरंत चल दीं और लङ्कामें पहुँचकर उन्होंने कल्पवृक्षके नीचे प्रभुका दर्शन किया। प्रभुने उनके दौर्बल्यका कारण पूछा। पराम्बाने लजाते हुए हँसकर कहा—'स्वामिन्! यह केवल आपके अभावमें हुआ है। आपके बिना न नींद आती है न भूख लगती है। मैं आपकी वियोगिनी, बस, योगिनीकी तरह रात-दिन बलात् आपके ध्यानमें पड़ी रही। बाह्य शरीरमें क्या हुआ है, इसका मुझे कोई ज्ञान नहीं।'

तत्पश्चात् प्रभुने मूलकासुरके पराक्रमादिकी बात कही। फिर तो क्या था, भगवतीको क्रोध आ गया। उनके शरीरसे एक दूसरी तामसी शक्ति निकल पड़ी, उसका स्वर बड़ा भयानक था। वह लङ्काकी ओर चली। तबतक वानरोंने भगवान्‌के संकेतसे गुहामें पहुँचकर मूलकासुरको अभिचारसे उपरत किया। वह दौड़ता हुआ इनके पीछे चला तो उसका मुकुट गिर पड़ा। तथापि वह रणक्षेत्रमें आ गया। छायासीताको देखकर उसने कहा—'तू भाग जा। मैं स्त्रियोंपर पुरुषार्थ नहीं दिखाता।' पर छायाने कहा—'मैं तुम्हारी मृत्यु-चण्डी हूँ। तूने मेरे पक्षपाती ब्राह्मणको मार डाला था, अब मैं तुम्हें मारकर उसका ऋण चुकाऊँ।' इतना कहकर उसने मूलकपर पाँच बाण चलाये। मूलकने भी बाण चलाना शुरू किया। अन्तमें चण्डिकास्त्र चलाकर छायाने मूलकासुरका सिर उड़ा दिया। वह लङ्काके दरवाजेपर जा गिरा। राक्षस हाहाकार करते हुए भाग खड़े हुए। छाया लौटकर सीताके वदनमें प्रवेश कर गयी। तत्पश्चात् विभीषणने प्रभुको पूरी लङ्का दिखायी, क्योंकि पितावचनके कारण पहली बार वे लङ्कामें न जा सके थे। सीताजीने उन्हें अपना वासस्थल अशोकवन दिखाया। कुछ देरतक वे प्रभुका हाथ पकड़कर उस वाटिकामें घूमीं भी। फिर कुछ दिनोंतक लङ्कामें रहकर वे सीता तथा लव-कुशादिके साथ पुष्पकयानसे अयोध्या लौट आये।

(आनन्दरामायण, राज्यकाण्ड, पूर्वार्ध, अध्याय ५-६)

अद्भुतरामा० १६-२१ में ऐसी ही एक दूसरी कथा भगवती सीताद्वारा शतमुख रावणके वधकी आती है।

वीर माताका आदर्श

प्राचीन कालमें विदुला नामकी एक अत्यन्त बुद्धिमती एवं तेजस्विनी क्षत्राणी थीं। उनका पुत्र संजय युद्धमें शत्रुसे पराजित हो गया था। पराजयने उसका साहस भङ्ग कर दिया। वह हतोत्साह होकर घरमें पड़ा रहा। अपने पुत्रको निरुद्योग पड़े देखकर विदुला उसे फटकारने लगीं—'अरे कायर! तू मेरा पुत्र नहीं है। तू कुलाङ्गार इस वीरोंके द्वारा प्रशंसित कुलमें क्यों उत्पन्न हुआ। तू नपुंसकोंकी भाँति पड़ा है। तेरी गणना पुरुषोंमें क्यों होती है! यदि तेरी भुजाओंमें बल है तो शस्त्र उठा और शत्रुका मान मर्दन कर। छोटी नदियाँ थोड़े जलसे भर जाती हैं, चूहेकी अञ्जलि थोड़े ही पदार्थमें भर जाती है और कायरलोग थोड़ेमें ही संतुष्ट हो जाते हैं। परंतु तू क्षत्रिय है! महत्ता प्राप्त करनेके लिये ही क्षत्राणी पुत्र उत्पन्न करती है। उठ! युद्धके लिये प्रस्तुत हो।

'पुत्र! तेरे लिये युद्धमें या तो विजय प्राप्त करना उचित है या तू प्राण त्यागकर सूर्यमण्डलभेदकर योगियोंके लिये भी दुर्लभ परमपद प्राप्त कर ले! क्षत्रिय रोगसे शय्यापर पड़े-पड़े प्राण त्यागनेको उत्पन्न नहीं होता। युद्ध क्षत्रियका धर्म है। धर्मसे विमुख होकर तू क्यों जीवित रहना चाहता है? अरे नपुंसक! यश, दान और भोगका मूल राज्य तो नष्ट हो चुका और कापुरुष बनकर तू धर्मच्युत भी हो गया; फिर तू जीवित क्यों रहना चाहता है? तेरे कारण कुल डूब रहा है, उसका उद्धार कर! उद्योग कर और विक्रम दिखा।

'समाजमें जिसके महत्त्वकी चर्चा नहीं होती या देवता जिसे सत्कारयोग्य नहीं मानते, वह न पुरुष है और न स्त्री; मनुष्योंकी गणना बढ़ानेवाला वह पृथ्वीका व्यर्थ भार है। दान, सत्य, तप, विद्या और ज्ञानमेंसे किसी क्षेत्रमें जिसको यश नहीं मिला, वह तो माताकी विष्ठाके समान है। पुरुष वही है जो शास्त्रोंके अध्ययन, शस्त्रोंके प्रयोग, तप अथवा ज्ञानमें श्रेष्ठत्व प्राप्त करे। कापुरुषों तथा मूर्खोंके समान भीख माँगकर जीविका चलाना तेरे योग्य कार्य नहीं। लोगोंके अनादरका पात्र होकर, भोजन-वस्त्रके लिये दूसरोंका मुख ताकनेवाले हीनवीर्य, नीचहृदय पुरुष शत्रुओंको प्रसन्न करते तथा बन्धुवर्गको शूलकी भाँति चुभते हैं।

'हाय! ऐसा लगता है कि हमें राज्यसे निर्वासित होकर कंगाल दशामें मरना पड़ेगा। तू कुलाङ्गार है। अपने कुलके अयोग्य काम करनेवाला है। तुझे गर्भमें रखनेके कारण मैं भी अयशकी भागिनी बनूँगी। कोई भी नारी तेरे समान वीर्यहीन, निरुत्साही पुत्र न उत्पन्न करे। वीर पुरुषके लिये शत्रुओंके मस्तकपर क्षणभर प्रज्वलित होकर बुझ जाना भी उत्तम है। जो आलसी है, वह कभी महत्त्व नहीं पाता। इसलिये अब भी तू पराजयकी ग्लानि त्यागकर उद्योग कर।'

माताके द्वारा इस प्रकार फटकारे जानेपर संजय दुखी होकर बोला—'माता! मैं तुम्हारे सामनेसे कहीं चला जाऊँ या मर ही जाऊँ तो तुम राज्य, धन तथा दूसरे सुख-भोग लेकर क्या करोगी?'

विदुला बोली—'मैं चाहती हूँ कि तेरे शत्रु पराजय, कंगाली और दुःखके भागी बनें और तेरे मित्र आदर तथा सुख प्राप्त करें। तू पराये अन्नसे पलनेवाले दीन पुरुषोंकी वृत्ति मत ग्रहण कर। ब्राह्मण और मित्र तेरे आश्रयमें रहकर तुझसे जीविका प्राप्त करें, ऐसा उद्योग कर। पके फलोंसे लदे वृक्षके समान लोग जीविकाके लिये जिसका आश्रय लेते हैं, उसीका जीवन सार्थक है।

'पुत्र! स्मरण रख कि यदि तू उद्योग छोड़ देगा तो पौरुष-त्यागके पश्चात् शीघ्र ही तुझे नीच लोगोंका मार्ग अपनाना पड़ेगा। जैसे मरणासन्न पुरुषको औषध प्रिय नहीं लगती, वैसे ही तुझे मेरे हितकर वचन प्रिय नहीं लग रहे हैं। तेरे शत्रु इस समय प्रबल हैं; किंतु तुझमें उत्साह हो और तू उद्योग करनेको खड़ा हो जाय तो उनके शत्रु तुझसे आ मिलेंगे। तेरे हितैषी भी तेरे पास एकत्र होने लगेंगे। तेरा नाम संजय है, किंतु जय पानेका कोई उद्योग तुझमें नहीं देख पड़ता। इसलिये तू अपने नामको सार्थक कर!

'पुत्र! हार हो या जीत, राज्य मिले या न मिले, दोनोंको समान समझकर तू दृढ़ संकल्पपूर्वक युद्ध कर! जय-पराजय तो कालके प्रभावसे सबको प्राप्त होती हैं; किंतु उत्तम पुरुष वही है, जो कभी हतोत्साह नहीं होता। संजय! मैं श्रेष्ठ कुलकी कन्या हूँ, श्रेष्ठ कुलकी पुत्रवधू हूँ और श्रेष्ठ पुरुषकी पत्नी हूँ। यदि मैं तुझे गौरव बढ़ाने योग्य उत्तम कार्य करते नहीं देखूँगी तो मुझे कैसे शान्ति मिलेगी! कायर, कुपुरुषकी माता कहलानेकी अपेक्षा तो मेरा मर

जाना ही उत्तम है। यदि तू जीवित रहना चाहता है तो शत्रुको पराजित करनेका उद्योग कर! अन्यथा सदाके लिये पराश्रित दीन रहनेकी अपेक्षा तो मर जाना उत्तम है।'

माताके इस प्रकार बहुत अधिक ललकारनेपर भी संजयने कहा—'माता! तू करुणाहीन और पाषाण-जैसे हृदयवाली है। मैं तेरा एकमात्र पुत्र हूँ। यदि मैं युद्धमें मारा गया तो तू राज्य और धन लेकर क्या सुख पायेगी कि मुझे युद्धभूमिमें भेजना चाहती है?'

विदुलाने कहा—'बेटा! मनुष्यको अर्थ तथा धर्मके लिये उद्योग करना चाहिये। मैं उसी धर्म और अर्थकी सिद्धिके लिये तुझे युद्धमें भेज रही हूँ। यदि तू शत्रुद्वारा मारा गया तो परलोकमें महत्त्व प्राप्त करेगा—मुक्त हो जायगा और विजयी हुआ तो संसारमें सुखपूर्वक राज्य करेगा। इस कर्तव्यसे विमुख होनेपर समाजमें तेरा अपमान होगा। तू अपना और मेरा भी घोर अनिष्ट करेगा। मैं मोहवश तुझे इस अनिष्टसे न रोकूँ तो वह स्नेह नहीं कहा जायगा। लोकमें तू दरिद्रता तथा अपमान सहे और मरनेपर कर्तव्य-भ्रष्ट लोगोंकी अधमगति पाये, ऐसे मार्गपर मैं तुझे नहीं जाने देना चाहती। सज्जनोंद्वारा निन्दित कायरताके मार्गको छोड़ दे। जो सदाचारी, उद्योगी, विनीत पुत्रपर स्नेह प्रकट करे, उसीका स्नेह सच्चा है। उद्योग, विनय तथा सदाचरणसे रहित पुत्रपर जो स्नेह करता है, उसका पुत्रवान् होना व्यर्थ है। शत्रुको विजय करने या युद्धमें प्राण देनेके लिये क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है। तू अपने जन्मको सार्थक कर!'

माताके उपदेशसे संजयका शौर्य जाग्रत् हो गया। उसका उत्साह सजीव हो उठा। उसने माताकी आज्ञा स्वीकार कर ली। भय और उदासीको दूर करके वह सैन्य-संग्रहमें लग गया। अन्तमें शत्रुको पराजित करके उसने अपने राज्यपर अधिकार प्राप्त किया। —सु० सिं०

(महाभारत, उद्योग० १३३-१३६)

पतिको रणमें भेजते समयका विनोद

चम्पकपुरीके एकपत्नीव्रती राज्यमें महाराज हंसध्वज राज्य करते थे। पाण्डवोंके अश्वमेध यज्ञका घोड़ा चम्पकपुरीके पास पहुँचा। महावीर अर्जुन अश्वकी रक्षाके लिये पीछे-पीछे आ रहे थे। हंसध्वजने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार तथा पार्थ-सारथि भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे घोड़ेको पकड़ लिया। भयानक युद्धकी तैयारी हुई। सुधन्वा सबसे छोटा पुत्र था। रणमें जाते समय वह अपनी माताका आशीर्वाद लेकर, बहिनकी अनुमति प्राप्तकर अपनी सती पत्नी प्रभावतीके पास गया। वह पहलेसे ही दीपकयुक्त सुवर्ण-थालमें चन्दन-कपूर लिये आरती उतारनेको दरवाजेपर ही खड़ी थी। सतीने बड़े भक्तिभावसे वीर पतिकी पूजा की, तदनन्तर धैर्यके साथ आरती करती हुई नम्रताके साथ पतिके प्रति प्रेमभरे गुह्य वचन कहने लगी—प्राणनाथ! मैं आपके श्रीकृष्णके दर्शनार्थी मुखकमलका दर्शन कर रही हूँ; परंतु नाथ! मालूम होता है आज आपका एकपत्नीव्रत नष्ट हो जायगा। पर आप जिसपर अनुरक्त होकर उत्साहसे जा रहे हैं, वह स्त्री मेरी बराबरी कभी नहीं कर सकेगी। मैंने आपके सिवा दूसरेकी ओर कभी भूलकर भी नहीं ताका है; परंतु वह 'मुक्ति' नाम्नी रमणी तो पिता, पुत्र, सभीके प्रति गमन करनेवाली है। आपके मनमें 'मुक्ति' बस रही है, इसीसे श्रीकृष्णके द्वारा उसके मिलनेकी आशासे आप दौड़े जा रहे हैं। पुरुषोंका चित्त देव-रमणियोंकी ओर चला ही जाता है; परंतु आप यह निश्चय रखिये कि श्रीहरिको देखकर, उनकी अतुलित मुखच्छविके सामने 'मुक्ति' आपको कभी प्रिय नहीं लगेगी। क्योंकि उनके भक्तजन जो उनकी प्रेम-माधुरीपर अपनेको न्योछावर कर देते हैं, वे मुक्तिकी कभी इच्छा नहीं करते। मुक्ति तो दासीकी तरह चरणसेवाका अवसर ढूँढ़ती हुई उनके पीछे-पीछे घूमा करती है, परंतु वे उसकी ओर ताकते भी नहीं। यहाँतक कि हरि स्वयं भी कभी उन्हें मुक्ति प्रदान करना चाहते हैं, तब भी वे उसे ग्रहण नहीं करते।

'इसके सिवा पुरुषोंकी भाँति स्त्री पर-पुरुषोंके पास नहीं जाया करती। नहीं तो आपके चले जानेपर यदि मैं 'मोक्ष' के प्रति चली जाऊँ तो आप क्या कर सकते हैं? परंतु विवेक नामक अदृश्य पुत्र निरन्तर मेरी रक्षा करता है। जिन स्त्रियोंके विवेक नामक पुत्र नहीं है, वे ही पर-पुरुषके पास जाया करती हैं। मुझे लड़कपनसे ही विवेक-पुत्र प्राप्त है, इसीसे आर्य! मुझे मोक्षके पास जानेमें संकोच हो रहा है।'

पत्नीके मधुर धार्मिक वचनोंका उत्तर देते हुए सुधन्वाने कहा—

'शोभने! जब मैं श्रीकृष्णके साथ लड़नेको जा रहा

हूँ, तब तुम्हें मोक्षके प्रति जानेसे कैसे रोक सकता हूँ। तुम भी मेरे उत्तम वस्त्र, स्वर्ण-रत्नोंके समूह और इस शरीर तथा चित्तको त्यागकर चली जाओ। मैं तो यह पहलेसे ही जानता था कि तुम 'मोक्ष'के प्रति आसक्त हो। इसीसे तो मैंने प्रत्यक्षमें विवेक पुत्रके उत्पन्न करनेकी चेष्टा नहीं की।

सच्ची क्षमा द्वेषपर विजय पाती है

राजा विश्वामित्र सेनाके साथ आखेटके लिये निकले थे। वनमें घूमते हुए वे महर्षि वशिष्ठके आश्रमके समीप पहुँच गये। महर्षिने उनका आतिथ्य किया। विश्वामित्र यह देखकर आश्चर्यमें पड़ गये कि उनकी पूरी सेनाका सत्कार कुटियामें रहनेवाले उस तपस्वी ऋषिने राजोचित भोजनसे किया। जब उन्हें पता लगा कि नन्दिनी गौके प्रभावसे ही वशिष्ठजी यह सब कर सके हैं तो उन्होंने ऋषिसे वह गौ माँगी। किसी भी प्रकार, किसी भी मूल्यपर ऋषिने गौ देना स्वीकार नहीं किया तो विश्वामित्र बलपूर्वक उसे छीनकर ले जाने लगे। परंतु वशिष्ठके आदेशसे नन्दिनीने अपनी हुंकारसे ही दारुण योद्धा उत्पन्न कर दिये और उन सैनिकोंकी मार खाकर विश्वामित्रके सैनिक भाग खड़े हुए।

राजा विश्वामित्रके सब दिव्यास्त्र वशिष्ठके ब्रह्मदण्डसे टकराकर निरतेज हो चुके थे। विश्वामित्रने कटोर तप करके और दिव्यास्त्र प्राप्त किये; किंतु वशिष्ठजीके ब्रह्मदण्डने उन्हें भी व्यर्थ कर दिया। अब विश्वामित्र समझ गये कि क्षात्रबल तपस्वी ब्राह्मणका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। उन्होंने स्वयं ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेका निश्चय करके तपस्या प्रारम्भ कर दी। सैकड़ों वर्षोंके उग्र तपके पश्चात् ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर दर्शन भी दिया तो कह दिया—'वशिष्ठ आपको ब्रह्मर्षि मान लें तो आप ब्राह्मण हो जायँगे।'

विश्वामित्रजीके लिये वशिष्ठसे प्रार्थना करना तो बहुत अपमानजनक लगता था और संयोगवश जब वशिष्ठजी मिलते थे तो उन्हें राजर्षि ही कहकर पुकारते थे; इससे विश्वामित्रका क्रोध बढ़ता जाता था। वे वशिष्ठके घोर शत्रु हो गये थे। एक राक्षसको प्रेरित करके उन्होंने वशिष्ठके सौ पुत्र मरवा डाले। स्वयं भी वशिष्ठको अपमानित करने, नीचा दिखाने तथा उन्हें हानि पहुँचानेका अवसर ही ढूँढ़ते रहते थे।

'मैं नवीन सृष्टि करके उसका ब्रह्मा बनूँगा!' अपने उद्देश्यमें असफल होकर विश्वामित्रजी अद्भुत हठपर उतर आये। अपने तपोबलसे उन्होंने सचमुच नवीन सृष्टि करनी प्रारम्भ की। नवीन अन्न, नवीन तृण-तरु, नवीन पशु—वे बनाते चले जाते थे। अन्तमें ब्रह्माजीने उन्हें आकर रोक दिया। उन्हें आश्वासन दिया कि उनके बनाये पदार्थ और प्राणी ब्राह्मी सृष्टिके प्राणियोंके समान ही संसारमें रहेंगे।

कोई उपाय सफल होते न देखकर विश्वामित्रने वशिष्ठजीको ही मार डालनेका निश्चय किया। सम्मुख जाकर अनेक बार वे पराजित हो चुके थे, अतः अस्त्र-शस्त्रसे सज्जित होकर रात्रिमें छिपकर वशिष्ठजीके आश्रमपर पहुँचे। गुप्तरूपसे वे वशिष्ठका वध उनके अनजानमें करना चाहते थे। चाँदनी रात थी, कुटीसे बाहर वेदीपर महर्षि वशिष्ठ अपनी पत्नीके साथ बैठे थे। अवसरकी प्रतीक्षामें विश्वामित्र पास ही वृक्षोंकी ओटमें छिप रहे।

उसी समय अरुन्धतीजीने कहा—'कैसी निर्मल ज्योत्स्ना छिटकी है।'

वशिष्ठजी बोले—'आजकी चन्द्रिका ऐसी उज्ज्वल है जैसे आजकल विश्वामित्रजीकी तपस्याका तेज दिशाओंको आलोकित करता है।'

विश्वामित्रने इसे सुना और जैसे उन्हें साँप सूँघ गया। उनके हृदयने धिक्कारा उन्हें—'जिसे तू मारने आया है, जिससे रात-दिन द्वेष करता है, वह कौन है—यह देख! वह महापुरुष अपने सौ पुत्रोंके हत्यारेकी प्रशंसा एकान्तमें अपनी पत्नीसे कर रहा है।'

नोच फेंके विश्वामित्रने शरीरपरके शस्त्र। वे दौड़े और वशिष्ठके सम्मुख भूमिपर प्रणिपात करते दण्डवत् गिर पड़े। बद्धमूल द्वेष समाप्त हो चुका था सदाके लिये। वशिष्ठकी सहज क्षमा उसपर विजय पा चुकी थी। द्वेष और शस्त्र त्यागकर आज तपस्वी विश्वामित्र ब्राह्मणत्व प्राप्त कर चुके थे। महर्षि वशिष्ठ वेदीसे उतरकर उन्हें दोनों हाथोंसे उठाते हुए कह रहे थे—'उठिये, ब्रह्मर्षि!'—सु० सिं०

घोर क्लेशमें भी सत्पथपर अडिग रहनेवाला महापुरुष है

जब भगवान् विष्णुने वामनरूपसे बलिसे पृथ्वी तथा स्वर्गका राज्य छीनकर इन्द्रको दे दिया, तब कुछ ही दिनोंमें राज्यलक्ष्मीके स्वाभाविक दुर्गुण गर्वसे इन्द्र पुनः उन्मत्त हो उठे। एक दिन वे ब्रह्माजीके पास पहुँचे और हाथ जोड़कर बोले—'पितामह! अब अपार दानी राजा बलिका कुछ पता नहीं लग रहा है। मैं सर्वत्र खोजता हूँ, पर उनका पता नहीं मिलता। आप कृपाकर मुझे उनका पता बताइये।' ब्रह्माजीने कहा—'तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं। तथापि किसीके पूछनेपर झूठा उत्तर नहीं देना चाहिये, अतएव मैं तुम्हें बलिका पता बतला देता हूँ। राजा बलि इस समय ऊँट, बैल, गधा या घोड़ा बनकर किसी खाली घरमें रहते हैं।' इन्द्रने इसपर पूछा—'यदि मैं किसी स्थानपर बलिको पाऊँ तो उन्हें अपने वज्रसे मार डालूँ या नहीं?' ब्रह्माजीने कहा—'राजा बलि—अरे! वे कदापि मारने योग्य नहीं हैं। तुम्हें उनके पास जाकर कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।'

तदनन्तर इन्द्र दिव्य आभूषण धारणकर, ऐरावतपर चढ़कर बलिकी खोजमें निकल पड़े। अन्तमें एक खाली घरमें उन्होंने एक गदहा देखा और कई लक्षणोंसे उन्होंने अनुमान किया कि ये ही राजा बलि हैं। इन्द्रने कहा—'दानवराज! इस समय तुमने बड़ा विचित्र वेष बना रक्खा है। क्या तुम्हें अपनी इस दुर्दशापर कोई दुःख नहीं होता। इस समय तुम्हारे छत्र, चामर और वैजयन्ती माला कहाँ गयी? कहाँ गया वह तुम्हारा अप्रतिहत दानका महाव्रत और कहाँ गया तुम्हारा सूर्य, वरुण, कुबेर, अग्नि और जलका रूप?'

बलिने कहा—'देवेन्द्र! इस समय तुम मेरे छत्र, चामर, सिंहासनादि उपकरणोंको नहीं देख सकोगे। पर फिर कभी मेरे दिन लौटेंगे और तब तुम उन्हें देख सकोगे। तुम जो इस समय अपने ऐश्वर्यके मदमें आकर मेरा उपहास कर रहे हो, यह केवल तुम्हारी तुच्छ बुद्धिका ही परिचायक है। मालूम होता है, तुम अपने पूर्वके दिनोंको सर्वथा ही भूल गये। पर सुरेश! तुम्हें समझ लेना चाहिये, तुम्हारे वे दिन पुनः लौटेंगे। देवराज! इस विश्वमें कोई वस्तु सुनिश्चित और सुस्थिर नहीं है। काल सबको नष्ट कर डालता है। इस कालके अद्भुत रहस्यको जानकर मैं किसीके लिये भी शोक नहीं करता। यह काल धनी, निर्धन, बली, निर्बल, पण्डित, मूर्ख, रूपवान्, कुरूप, भाग्यवान्, भाग्यहीन, बालक, युवा, वृद्ध, योगी, तपस्वी, धर्मात्मा, शूर और बड़े-से-बड़े अहंकारियोंमेंसे किसीको भी नहीं छोड़ता और सभीको एक समान ग्रस्त कर लेता है—सबका कलेवा कर जाता है। ऐसी दशामें महेन्द्र! मैं क्यों सोचूँ? कालके ही कारण मनुष्योंको लाभ-हानि और सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है। काल ही सबको देता और पुनः छीन भी लेता है। कालके ही प्रभावसे सभी कार्य सिद्ध होते हैं। इसलिये वासव! तुम्हारा अहंकार, मद तथा पुरुषार्थका गर्व केवल मोहमात्र है। ऐश्वर्यकी प्राप्ति या विनाश किसी मनुष्यके अधीन नहीं है। मनुष्यकी कभी उन्नति होती है और कभी अवनति। यह संसारका नियम है, इसमें हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिये। न तो सदा किसीकी उन्नति ही होती है और न सदा अवनति या पतन ही। समयसे ही ऊँचा पद मिलता है और समय ही गिरा देता है। इसे तुम अच्छी तरह जानते हो कि एक दिन देवता, पितर, गन्धर्व, मनुष्य, नाग, राक्षस—सब मेरे अधीन थे। अधिक क्या, 'नमस्तस्यै दिशेऽप्यस्तु यस्यां वैरोचनिर्बलिः'—'जिस दिशामें राजा बलि हों, उस दिशाको भी नमस्कार' यों कहकर, मैं जिस दिशामें रहता था, उस दिशाको भी लोग नमस्कार करते थे। पर जब मुझपर भी कालका आक्रमण हुआ, मेरा भी दिन पलटा खा गया और मैं इस दशामें पहुँच गया, तब किस गरजते और तपते हुएपर कालका चक्र न फिरेगा? मैं अकेला बारह सूर्योंका तेज रखता था, मैं ही पानीका आकर्षण करता और बरसाता था। मैं ही तीनों लोकोंको प्रकाशित करता और तपाता था। सब लोकोंका पालन, संहार, दान, ग्रहण, बन्धन और मोचन मैं ही करता था! मैं तीनों लोकोंका स्वामी था, किंतु कालके फेरसे इस समय मेरा वह प्रभुत्व समाप्त हो गया। विद्वानोंने कालको दुरतिक्रम और परमेश्वर कहा है। बड़े वेगसे दौड़नेपर भी कोई मनुष्य कालको लाँघ नहीं सकता। उसी कालके अधीन हम, तुम—सब कोई हैं। इन्द्र! तुम्हारी बुद्धि सचमुच बालकों-जैसी है। शायद तुम्हें पता नहीं कि अबतक तुम्हारे-जैसे हजारों इन्द्र हुए और नष्ट हो चुके। यह राज्यलक्ष्मी, सौभाग्यश्री, जो आज तुम्हारे पास है, तुम्हारी बपौती या खरीदी हुई दासी नहीं है; वह तो तुम-जैसे हजारों इन्द्रोंके पास रह चुकी है। वह इसके पूर्व मेरे पास थी। अब मुझे छोड़कर तुम्हारे पास गयी है और शीघ्र ही

तुमको भी छोड़कर दूसरेके पास चली जायगी। मैं इस रहस्यको जानकर रत्तीभर भी दुखी नहीं होता। बहुत-से कुलीन धर्मात्मा गुणवान् राजा अपने योग्य मन्त्रियोंके साथ भी घोर क्लेश पाते हुए देखे जाते हैं, साथ ही इसके विपरीत मैं नीच कुलमें उत्पन्न मूर्ख मनुष्योंको बिना किसीकी सहायताके राजा बनते देखता हूँ। अच्छे लक्षणोंवाली परम सुन्दरी तो अभागिनी और दुःखसागरमें डूबती दीख पड़ती है और कुलक्षणा, कुरूपा भाग्यवती देखी जाती है। मैं पूछता हूँ, इन्द्र! इसमें भवितव्यता—काल यदि कारण नहीं है तो और क्या है? कालके द्वारा होनेवाले अनर्थ बुद्धि या बलसे हटाये नहीं जा सकते। विद्या, तपस्या, दान और बन्धु-बान्धव—कोई भी कालग्रस्त मनुष्यकी रक्षा नहीं कर सकता। आज तुम मेरे सामने वज्र उठाये खड़े हो। अभी चाहूँ तो एक घूँसा मारकर वज्रसमेत तुमको गिरा दूँ। चाहूँ तो इसी समय अनेक भयंकर रूप धारण कर लूँ, जिनको देखते ही तुम डरकर भाग खड़े हो जाओ। परंतु करूँ क्या? यह समय सह लेनेका है—पराक्रम दिखलानेका नहीं। इसलिये यथेच्छ गदहेका ही रूप बनाकर मैं अध्यात्म-निरत हो रहा हूँ। शोक करनेसे दुःख मिटता नहीं, वह तो और बढ़ता है। इसीसे मैं बेखटके हूँ, बहुत निश्चिन्त, इस दुरवस्थामें भी।'

बलिके विशाल धैर्यको देखकर इन्द्रने उनकी बड़ी प्रशंसा की और कहा—निस्संदेह तुम बड़े धैर्यवान् हो जो इस अवस्थामें भी मुझ वज्रधरको देखकर तनिक भी विचलित नहीं होते। निश्चय ही तुम राग-द्वेषसे शून्य और जितेन्द्रिय हो। तुम्हारी शान्तचित्तता, सर्वभूतसुहृदता तथा निर्वैरता देखकर मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम महापुरुष हो। अब मेरा तुमसे कोई द्वेष नहीं रहा। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम मेरी ओरसे बेखटके रहो और निश्चिन्त और नीरोग होकर समयकी प्रतीक्षा करो।'

यों कहकर देवराज इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़कर चले गये और बलि पुनः अपने स्वरूपचिन्तनमें स्थिर हो गये।—जा० श०

(महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय २२३–२२७)

सेवा-निष्ठाका चमत्कार

मर्यादापुरुषोत्तम विश्वसम्राट् श्रीराघवेन्द्र अयोध्याके सिंहासनपर आसीन थे। सभी भाई चाहते थे कि प्रभुकी सेवाका कुछ अवसर उन्हें मिले; किंतु हनुमान्‌जी प्रभुकी सेवामें इतने तत्पर रहते थे कि कोई सेवा उनसे बचती ही नहीं थी। सब छोटी-बड़ी सेवा वे अकेले ही कर लेते थे। इससे घबराकर भाइयोंने माता जानकीजीकी शरण ली। श्रीजानकीजीकी अनुमतिसे भरतजी, लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नकुमारने मिलकर एक योजना बनायी। प्रभुकी समस्त सेवाओंकी सूची बनायी गयी। कौन-सी सेवा कब कौन करेगा, यह उसमें लिखा गया। जब हनुमान्‌जी प्रातः सरयू-स्नान करने गये, उस अवसरका लाभ उठाकर प्रभुके सम्मुख वह सूची रख दी गयी। प्रभुने देखा कि उनके तीनों भाई हाथ जोड़े खड़े हैं। सूचीमें हनुमान्‌जीका कहीं नाम ही नहीं था। सर्वज्ञ रघुनाथजी मुसकराये। उन्होंने चुपचाप सूचीपर अपनी स्वीकृतिके हस्ताक्षर कर दिये।

श्रीहनुमान्‌जी स्नान करके लौटे और प्रभुकी सेवाके लिये कुछ करने चले तो शत्रुघ्नकुमारने उन्हें रोक दिया—'हनुमान्‌जी! यह सेवा मेरी है। प्रभुने सबके लिये सेवाका विभाग कर दिया है।'

'प्रभुने जो विधान किया है या जिसे स्वीकार किया है, वह मुझे सर्वथा मान्य है।' हनुमान्‌जी खड़े हो गये। उन्होंने इच्छा की वह सूची देखनेकी और सूची देखकर बोले—'इस सूचीसे बची सेवा मैं करूँगा।'

'हाँ, आप सूचीसे बची सेवा कर लिया करें।' लक्ष्मणजीने हँसकर कह दिया। परंतु हनुमान्‌जी तो प्रभुकी स्वीकृतिकी प्रतीक्षामें उनका श्रीमुख देख रहे थे। मर्यादापुरुषोत्तमने स्वीकृति दे दी, तब पवनकुमार बोले—'प्रभु जब जम्हाई लेंगे तो मैं चुटकी बजानेकी सेवा करूँगा।'

यह सेवा किसीके ध्यानमें आयी ही नहीं थी। अब तो प्रभु स्वीकार कर चुके थे। श्रीहनुमान्‌जी प्रभुके सिंहासनके सामने बैठ गये। उन्हें एकटक प्रभुके श्रीमुखकी ओर देखना था; क्योंकि जम्हाई आनेका कोई समय तो है नहीं। दिनभर किसी प्रकार बीत गया। स्नान, भोजन आदिके समय हनुमान्‌जी प्रभुके साथ बने रहे। रात्रि हुई, प्रभु अपने अन्तःपुरमें विश्राम करने पधारे, तब हनुमान्‌जी भी पीछे-पीछे चले। अन्तःपुरके द्वारपर उन्हें सेविकाने रोक दिया—'आप भीतर नहीं जा सकते।'

हनुमान्‌जी वहाँसे सीधे राजभवनके ऊपर एक कँगूरेपर जाकर बैठ गये और लगे चुटकी बजाने। उधर अन्तःपुरमें प्रभुने जम्हाई लेनेको मुख खोला तो खोले ही रहे। श्रीजानकीजीने पूछा—'यह क्या हो गया आपको ?' परंतु प्रभु मुख बंद न करें तो बोलें कैसे। घबराकर श्रीजानकीजीने माता कौसल्याको समाचार दिया। माता दौड़ी आयीं। थोड़ी देरमें तो बात पूरे राजभवनमें फैल गयी। सभी माताएँ, सब भाई एकत्र हो गये। सब चकित, सब दुखी; किंतु किसीको कुछ सूझता नहीं। प्रभुका मुख खुला है, वे किसीके प्रश्नका कोई उत्तर नहीं दे रहे हैं।

अन्तमें महर्षि वशिष्ठजीको सूचना दी गयी। वे तपोधन रात्रिमें राजभवन पधारे। प्रभुने उनके चरणोंमें मस्तक रक्खा; किंतु मुख खुला रहा, कुछ बोले नहीं। सर्वज्ञ महर्षिने इधर-उधर देखकर कहा—'हनुमान् कहाँ हैं ? उन्हें बुलाओ तो।'

सेवक दौड़े हनुमान्‌जीको ढूँढ़ने। हनुमान्‌जी जैसे ही प्रभुके सम्मुख आये, प्रभुने मुख बंद कर लिया। अब वशिष्ठजीने हनुमान्‌जीसे पूछा—'तुम कर क्या रहे थे ?'

हनुमान्‌जी बोले—'मेरा कार्य है—प्रभुको जम्हाई आये तो चुटकी बजाना। प्रभुको जम्हाई कब आयेगी, यह तो कुछ पता है नहीं। सेवामें त्रुटि न हो, इसलिये मैं बराबर चुटकी बजा रहा था।'

अब मर्यादापुरुषोत्तम बोले—'हनुमान् चुटकी बजाते रहें तो रामको जम्हाई आती ही रहनी चाहिये।'

रहस्य प्रकट हो गया। महर्षि विदा हो गये। भरतजीने, अन्य भाइयोंने और श्रीजानकीजीने भी कहा—'पवनकुमार ! तुम यह चुटकी बजाना छोड़ो। पहले जैसे सेवा करते थे, वैसे ही सेवा करते रहो।' यह मैया सीताजी और भरत-लक्ष्मणजी आदिका विनोद था। वे श्रीहनुमान्‌जीको सेवासे वञ्चित थोड़े ही करना चाहते थे।—सु० सिं०

सत्कारसे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं

पाण्डवोंका वनवास-काल समाप्त हो गया। दुर्योधनने युद्धके बिना उन्हें पाँच गाँव भी देना स्वीकार नहीं किया। युद्ध अनिवार्य समझकर दोनों पक्षसे अपने-अपने पक्षके नरेशोंके पास दूत भेजे गये युद्धमें सहायता करनेके लिये। मद्रराज शल्यको भी दूतोंके द्वारा युद्धका समाचार मिला। वे अपने महारथी पुत्रोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर पाण्डवोंके पास चले।

शल्यकी बहिन माद्रीका विवाह पाण्डुसे हुआ था। नकुल और सहदेव उनके सगे भानजे थे। पाण्डवोंको पूरा विश्वास था कि शल्य उनके पक्षमें युद्धमें उपस्थित रहेंगे। महारथी शल्यकी विशाल सेना दो-दो कोसपर पड़ाव डालती धीरे-धीरे चल रही थी।

दुर्योधनको शल्यके आनेका समाचार पहले ही मिल गया था। उसने मार्गमें जहाँ-जहाँ सेनाके पड़ावके उपयुक्त स्थान थे, जल तथा पशुओंके लिये तृणकी सुविधा थी, वहाँ-वहाँ निपुण कारीगर भेजकर सभा-भवन एवं निवास-स्थान बनवा दिये। सेवामें चतुर सेवक वहाँ नियुक्त कर दिये। भोजनादिकी सामग्री रखवा दी। ऐसी व्यवस्था कर दी कि शल्यको सब कहीं पूरी सुख-सुविधा प्राप्त हो। वहाँ कुएँ और बावलियाँ बनवा दीं।

मद्रराज शल्यको मार्गमें सभी पड़ावोंपर दुर्योधनके सेवक स्वागतके लिये प्रस्तुत मिले। उन सिखलाये हुए सेवकोंने बड़ी सावधानीसे मद्रराजका भरपूर सत्कार किया। शल्य यही समझते थे कि यह सब व्यवस्था युधिष्ठिरने की है। इस प्रकार विश्राम करते हुए वे आगे बढ़ रहे थे। लगभग हस्तिनापुरके पास पहुँचनेपर उन्हें जो विश्राम-स्थान मिला, वह बहुत ही सुन्दर था। उसमें नाना प्रकारकी सुखोपभोगकी सामग्रियाँ भरी थीं। उस स्थानको देखकर शल्यने वहाँ उपस्थित कर्मचारियोंसे पूछा—'युधिष्ठिरके किन कर्मचारियोंने मेरे मार्गमें ठहरनेकी व्यवस्था की है ? उन्हें ले आओ। मैं उन्हें पुरस्कार देना चाहता हूँ।'

दुर्योधन स्वयं छिपा हुआ वहाँ शल्यके स्वागतकी व्यवस्था कर रहा था। शल्यकी बात सुनकर और उन्हें प्रसन्न देखकर वह सामने आ गया और हाथ जोड़कर प्रणाम करके बोला—'मामाजी ! आपको मार्गमें कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?'

शल्य चौंके। उन्होंने पूछा—'सुयोधन ! तुमने यह व्यवस्था करायी है ?'

दुर्योधन नम्रतापूर्वक बोला—'गुरुजनोंकी सेवा करना तो छोटोंका कर्तव्य ही है। मुझे सेवाका कुछ अवसर मिल गया—यह मेरा सौभाग्य है।'

शल्य प्रसन्न हो गये । उन्होंने कहा—'अच्छा, तुम मुझसे कोई वरदान माँग लो ।'

दुर्योधनने माँगा—'आप सेनाके साथ युद्धमें मेरा साथ दें और मेरी सेनाका संचालन करें ।'

शल्यको स्वीकार करना पड़ा यह प्रस्ताव । यद्यपि उन्होंने युधिष्ठिरसे भेंट की, नकुल-सहदेवपर आघात न करनेकी अपनी प्रतिज्ञा दुर्योधनको बता दी और युद्धमें कर्णको हतोत्साह करते रहनेका वचन भी युधिष्ठिरको दे दिया; किंतु युद्धमें उन्होंने दुर्योधनका पक्ष लिया । यदि शल्य पाण्डवपक्षमें जाते तो दोनों दलोंकी सैन्य-संख्या बराबर रहती; किंतु उनके कौरवपक्षमें जानेसे कौरवोंके पास दो अक्षौहिणी सेना अधिक हो गयी । —सु० सिं० (महाभारत, उद्योग० ८)

अतिथि-सत्कारका प्रभाव

कुरुक्षेत्रमें मुद्गल नामके एक ऋषि थे । वे धर्मात्मा, जितेन्द्रिय और सत्यनिष्ठ थे । ईर्ष्या और क्रोधका उनमें नाम भी नहीं था । जब किसान खेतसे अन्न काट लेते और गिरा हुआ अन्न भी चुन लेते, तब उन खेतोंमें जो दाने बच रहते उन्हें मुद्गलजी एकत्र कर लेते । कबूतरके समान वे थोड़ा ही अन्न एकत्र करते थे और उसीसे अपने परिवारका भरण-पोषण करते थे । आये हुए अतिथिका उसी अन्नसे वे सत्कार भी करते थे । पूर्णमासी तथा अमावस्याके श्राद्ध तथा इष्टीकृत हवन भी वे सम्पन्न करते थे । महात्मा मुद्गल एक पक्षमें एक द्रोणभर अन्न एकत्र कर लाते थे । उतनेसे ही देवता, पितर और अतिथि आदिकी पूजा-सेवा करनेके बाद जो कुछ बचता था, उससे अपना तथा परिवारका काम चलाते थे ।

महर्षि मुद्गलके दानकी महिमा सुनकर महामुनि दुर्वासाजीने उनकी परीक्षा करनेका निश्चय किया । वे सिर मुँड़ाये, नंग-धड़ंग, पागलों-जैसा वेश बनाये कठोर वचन कहते मुद्गलजीके आश्रममें पहुँचकर भोजन माँगने लगे । महर्षि मुद्गलने बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ दुर्वासाजीका स्वागत किया । अर्घ्य, पाद्य आदि देकर उनकी पूजा की और फिर उन्हें भोजन कराया । दुर्वासाजीने मुद्गलके पास जितना अन्न था, वह सब खा लिया तथा बचा हुआ जूठा अन्न अपने शरीरमें पोत लिया । फिर वे वहाँसे चले गये ।

महर्षि मुद्गलके पास अन्न रहा नहीं । पूरे एक पक्षमें उन्होंने फिर द्रोणभर अन्न एकत्र किया । देवता तथा पितरोंका भाग देकर वे जैसे ही निवृत्त हुए, महामुनि दुर्वासा पहलेके समान फिर आ धमके और फिर सब अन्न खाकर चल दिये । मुद्गल फिर परिवारसहित भूखे रह गये ।

एक-दो बार नहीं, पूरे छः पक्षतक इसी प्रकार दुर्वासाजी आते रहे । प्रत्येक बार उन्होंने मुद्गलका सारा अन्न खा लिया । मुद्गल भी उन्हें भोजन कराकर फिर अन्नके दाने चुननेमें लग जाते थे । उनके मनमें क्रोध, खीझ, घबराहट आदिका स्पर्श भी नहीं हुआ । दुर्वासाके प्रति भी उनका पहलेके ही समान आदर-भाव बना रहा ।

महामुनि दुर्वासा अन्तमें प्रसन्न होकर बोले—'महर्षे ! संसारमें तुम्हारे समान ईर्ष्या-रहित अतिथिसेवी कोई नहीं है । क्षुधा इतनी बुरी होती है कि वह मनुष्यके धर्म-ज्ञान तथा धैर्यको नष्ट कर देती है; किंतु तुमपर वह अपना प्रभाव नहीं दिखा सकी । इन्द्रियनिग्रह, धैर्य, दान, सत्य, शम, दम तथा दया आदि धर्म तुममें पूर्ण प्रतिष्ठित हैं । विप्रश्रेष्ठ ! तुम अपने इसी शरीरसे स्वर्ग जाओ ।'

महामुनि दुर्वासाके इतना कहते ही देवदूत स्वर्गसे विमान लेकर वहाँ आये और उन्होंने मुद्गलजीसे उसमें बैठनेकी प्रार्थना की । महर्षि मुद्गलने देवदूतोंसे स्वर्गके गुण तथा दोष पूछे और उनकी बातें सुनकर बोले—'जहाँ परस्पर स्पर्धा है, जहाँ पूर्ण तृप्ति नहीं और जहाँ असुरोंके आक्रमण तथा पुण्य क्षीण होनेसे पतनका भय सदा लगा ही रहता है, उस स्वर्गमें मैं नहीं जाना चाहता ।'

देवदूतोंको विमान लेकर लौट जाना पड़ा । महर्षि मुद्गलने कुछ ही दिनोंमें अपने त्यागमय जीवन तथा भगवद्भजनके प्रभावसे भगवद्धाम प्राप्त किया । —सु० सिं०

(महाभारत, वन० २६०-२६१)

विचित्र आतिथ्य

महर्षि दुर्वासा अपने क्रोधके लिये तीनों लोकमें विख्यात हैं। एक बार वे चीर धारण किये, जटा बढ़ाये, बिल्वदण्ड लिये तीनों लोकोंमें घूम-घूमकर सभाओंमें, चौराहोंपर चिल्लाते फिरते थे—'मैं दुर्वासा हूँ, दुर्वासा। मैं निवासके लिये स्थान खोजता हुआ चारों ओर घूम रहा हूँ। जो कोई मुझे अपने घरमें ठहराना चाहता हो, वह अपनी इच्छा व्यक्त करे। पर रत्तीभर अपराध करनेपर भी मुझे क्रोध आ जायगा। इसलिये जो मुझे आश्रय देना चाहे, उसे सर्वदा इस बातका ध्यान रखना होगा और बड़ा सावधान रहना पड़ेगा।'

महर्षि चिल्लाते-चिल्लाते देवलोक, नागलोक, मनुष्य-लोक—सर्वत्र घूम आये; पर किसीको भी उनके प्रस्तावरूप विपत्तिको स्वीकार करनेका साहस न हुआ। घूमते-घामते वे द्वारका पहुँचे। भगवान् श्रीकृष्णके कानोंमें उनकी विज्ञप्ति पहुँची। उन्होंने उनको बुलाकर अपने घरमें ठहरा लिया, किंतु उन महात्माका रहनेका ढंग बड़ा निराला था। किसी दिन तो वे हजारों मनुष्योंकी भोजन-सामग्री अकेले खा जाते और किसी दिन बहुत थोड़ा खाते। किसी दिन घरसे बाहर निकल जाते और फिर उस दिन लौटते ही नहीं। कभी तो वे ठहाका मारकर अनायास ही हँसने लगते और कभी अकारण ही जोरोंसे रोने लगते थे। एक दिन वे अपनी कोठरीमें घुस गये और शय्या, बिछौना आदिको आगमें जलाकर भागते हुए श्रीकृष्णके पास आये और बोले—'वासुदेव! मैं इस समय खीर खाना चाहता हूँ, मुझे तुरंत खीर खिलाओ।' भगवान् वासुदेव भी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् थे। उन्होंने उनका अभिप्राय पहलेसे ही ताड़ लिया था। इसलिये उनकी अभीष्ट खाद्य-सामग्रियाँ पहलेसे ही तैयार कर रक्खी थीं। बस, उन्होंने भी तुरत गरमागरम खीर लाकर उनके सामने रख दी। खीर खाकर उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—'वासुदेव! तुम यह बची हुई जूँठी खीर अपने शरीरभरमें चुपड़ लो।' श्रीकृष्णने भी झट वैसा ही कर लिया। मस्तकमें और सब अङ्गोंमें खीर लगा ली। श्रीरुक्मिणीजी वहीं खड़ी-खड़ी मुसकरा रही थीं। दुर्वासाने यह देख लिया। झट वही खीर उनके भी सारे अङ्गोंमें पोत दी और एक रथमें उनको जोतकर उसपर सवार हो गये। फिर तो जिस तरह सारथि घोड़ोंको चाबुक मारता है उसी तरह महर्षि कोड़े फटकारते हुए रथ चलाने लगे। श्रीकृष्ण यह सब चुपचाप देख रहे थे। यादवोंको यह देखकर बड़ा क्लेश हुआ। परम दुर्धर्ष महर्षि रथपर चढ़े राजमार्गसे निकले। रुक्मिणीजी बार-बार गिर जाती थीं। पर महर्षि इसकी रत्तीभर भी परवा नहीं करते। अन्तमें जब रथ खींचनेमें सर्वथा असमर्थ होकर वे गिर पड़ीं, तब महर्षि बिगड़कर रथसे उतर पड़े और उनको बेढंगे रास्तेसे दक्षिणकी ओर ले चले। भगवान् श्रीकृष्ण भी सारे शरीरमें खीर पोते उनके साथ दौड़ते चले जा रहे थे। उन्होंने महर्षि दुर्वासासे कहा—'भगवन्! मुझपर प्रसन्न हो जाइये।'

तब दुर्वासा प्रसन्न होकर श्रीकृष्णकी ओर देखने लगे और बोले—'वासुदेव! तुमने क्रोधको जीत लिया है। तुम्हारा कोई अपराध मुझे नहीं देख पड़ा। अब मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ और तुमको वर देता हूँ कि तुम सारे संसारमें सबके प्रिय होओगे। तुम्हारी पवित्र कीर्ति सब लोकोंमें फैलेगी। तुम्हारी जितनी वस्तुएँ मैंने जलायी या नष्ट कर दी हैं, वे सब तुम्हें वैसी ही या उससे भी श्रेष्ठ अवस्थामें मिलेंगी। इस जूँठी खीरको सारे शरीरमें लगा लेनेसे अब तुमको मृत्युका भय नहीं रहेगा। तुम जबतक जीवित रहना चाहोगे, जी सकोगे। पर भाई! तुमने अपने तलवोंमें खीर क्यों नहीं लगायी? यह तुम्हारा काम मुझे पसंद नहीं आया। बस, केवल ये तुम्हारे तलवे ही निर्भय न बन सके।'

दुर्वासाका इतना कहना था कि श्रीकृष्णने अपने शरीरकी ओर देखा तो वह बिल्कुल स्वच्छ और निर्मल था। अब महर्षि रुक्मिणीजीकी ओर देखकर कहने लगे—'कल्याणी! तुम्हारे शरीरमें बुढ़ापा, रोग या अकान्तिका स्पर्श नहीं होगा। तुम्हारे शरीरसे सर्वदा सुगन्ध निकलेगी और तुम सभी स्त्रियोंमें श्रेष्ठ, यश और कीर्ति प्राप्त करोगी। अन्तमें तुम्हें श्रीकृष्णका सालोक्य प्राप्त होगा।'

इतना कहकर महर्षि अन्तर्धान हो गये। रुक्मिणीको साथ लेकर श्रीकृष्णचन्द्र चुपचाप घर आये। घर आकर उन्होंने देखा कि महर्षिने जिन-जिन वस्तुओंको जलाकर नष्ट कर डाला था, वे सब पहलेकी तरह अपनी-अपनी जगहपर रक्खी थीं। महर्षिका अद्भुत कार्य देखकर सभी आश्चर्यमें पड़ गये।

—जा० श०

(महाभारत, अनुशासनपर्व, १५९ वाँ अध्याय)

सम्मान तथा मधुर भाषणसे राक्षस भी वशीभूत

एक बार एक बुद्धिमान् ब्राह्मण एक निर्जन वनमें घूम रहा था। उसी समय एक राक्षसने उसे खानेकी इच्छासे पकड़ लिया। ब्राह्मण बुद्धिमान् तो था ही, विद्वान् भी था; इसलिये वह न घबराया और न दुखी ही हुआ। उसने उसके प्रति सामका प्रयोग आरम्भ किया। उसने उसकी प्रशंसा बड़े प्रभावशाली शब्दोंमें आरम्भ की—'राक्षस ! तुम दुबले क्यों हो ? मालूम होता है, तुम गुणवान्, विद्वान् और विनीत होनेपर भी सम्मान नहीं पा रहे हो और मूढ़ तथा अयोग्य व्यक्तियोंको सम्मानित होते हुए देखते हो; इसीलिये तुम दुर्बल तथा क्रुद्ध-से रहते हो। यद्यपि तुम बड़े बुद्धिमान् हो तथापि अज्ञानी लोग तुम्हारी हँसी उड़ाते होंगे—इसीलिये तुम उदास तथा दुर्बल हो।'

इस प्रकार सम्मान किये जानेपर राक्षसने उसे मित्र बना लिया और बड़ा धन देकर विदा किया। —जा० श०

(महा० शान्तिपर्व, आपद्धर्म)

चाटुकारिता अनर्थकारिणी है

बड़ी मीठी लगती है चाटुकारिता और एक बार जब चाटुकारोंकी मिथ्या प्रशंसा सुननेका अभ्यास हो जाता है, तब उनके जालसे निकलना कठिन होता है। चाटुकार लोग अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये बड़े-बड़ोंको मूर्ख बनाये रहते हैं और आश्चर्य यही है कि अच्छे लोग भी उनकी झूठी प्रशंसाको सत्य मानते रहते हैं।

चरणाद्रि (चुनार) उन दिनों करूषदेशके नामसे विख्यात था। वहाँका राजा था पौण्ड्रक। उसके चाटुकार सभासद् कहते थे—'आप तो अवतार हैं। आप ही वासुदेव हैं। भूभार दूर करनेके लिये आप साक्षात् नारायणने अवतार धारण किया है। आपकी सेवा करके हम धन्य हो गये। जो आपका दर्शन कर पाते हैं, वे भी धन्य हैं।'

पौण्ड्रक इन चाटुकारोंकी मिथ्या प्रशंसामें ऐसा भूला कि उसने अपनेको वासुदेव कहना प्रारम्भ किया। वह दो कृत्रिम हाथ लगाकर चतुर्भुज बना रहने लगा और शङ्ख, चक्र, गदा तथा कमल उन हाथोंमें लिये ही रहनेका उसने अभ्यास कर लिया। अपने रथकी पताकापर उसने गरुडका चिह्न बनवाया। बात यहींतक रहती, तब भी कोई हानि नहीं थी; किंतु उसने तो गर्वमें आकर दूत भेजा द्वारका। श्रीकृष्णचन्द्रके पास यह संदेश भेजा उसने—'कृष्ण ! मैं ही वासुदेव हूँ। भूभार दूर करनेके लिये मैंने ही अवतार धारण किया है। यह बहुत अनुचित बात है कि तुम भी अपनेको वासुदेव कहते हो और मेरे चिह्न धारण करते हो। तुम्हारी यह धृष्टता सहन करने योग्य नहीं है। तुम वासुदेव कहलाना बंद करो और मेरे चिह्न छोड़कर मेरी शरण आ जाओ। यदि तुम्हें यह स्वीकार न हो तो मुझसे युद्ध करो।'

द्वारकाकी राजसभामें दूतने यह संदेश सुनाया तो यादवगण देरतक हँसते रहे पौण्ड्रककी मूर्खतापर। श्रीकृष्णचन्द्रने दूतसे कहा—'जाकर कह दो पौण्ड्रकसे कि युद्ध-भूमिमें मैं उसपर अपने चिह्न छोड़ूँगा।'

पौण्ड्रकको गर्व था अपनी एक अक्षौहिणी सेनाका। अकेले श्रीकृष्णचन्द्र रथमें बैठकर करूष पहुँचे तो वह पूरी सेना लेकर उनसे युद्ध करने आया। उसके साथ उसके मित्र काशीनरेश भी अपनी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आये थे। पौण्ड्रकने दो कृत्रिम भुजाएँ तो बना ही रक्खी थीं, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मके साथ नकली कौस्तुभ भी धारण किया था उसने। नटके समान बनाया उसका कृत्रिम वेश देखकर श्रीकृष्णचन्द्र हँस पड़े।

पौण्ड्रक और काशिराजकी दो अक्षौहिणी सेना तो शार्ङ्गसे छूटे बाणों, सुदर्शन चक्रकी ज्वाला और कौमोदकी गदाके प्रहारमें दो घंटे भी दिखायी नहीं पड़ी। वह जब समाप्त हो गयी, तब द्वारकाधीशने पौण्ड्रकसे कहा—'तुमने जिन अस्त्रोंके त्यागनेकी बात दूतसे कहलायी थी, उन्हें छोड़ रहा हूँ। अब सम्हलो !'

गदाके एक ही प्रहारने पौण्ड्रकके रथको चकनाचूर कर दिया। वह रथसे कूदकर पृथ्वीपर खड़ा हुआ ही था कि चक्रने उसका मस्तक उड़ा दिया। उस चाटुकारिताप्रिय मूर्ख एवं पाखण्डीका साथ देनेके कारण काशिराज भी युद्धमें मारे गये।—सु० सिं०

(श्रीमद्भागवत १० । ६६)

मैत्री-निर्वाह

कर्णकी महत्ता

(१)

पाण्डव बारह वर्षका वनवास तथा एक वर्षका अज्ञात-वास पूर्ण कर चुके थे। वे उपप्लव्य नगरमें अब अपने पक्षके वीरोंको एकत्र कर रहे थे। भाइयोंमें युद्ध न हो, महा-संहार रुक जाय, इसके लिये श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुर दुर्योधनको समझाने गये; किंतु हठी दुर्योधनने स्पष्ट कह दिया—'युद्धके बिना सूईकी नोक-जितनी भूमि भी मैं पाण्डवोंको नहीं दूँगा।'

वासुदेवका संधि-प्रयास असफल हो गया। वे लौटने लगे। उनको पहुँचानेके लिये भीष्म, विदुर आदि जो लोग नगरसे बाहरतक आये, उन्हें उन्होंने लौटा दिया; किंतु कर्णको बुलाकर अपने रथपर बैठा लिया। कर्णका खाली रथ सारथि पीछे-पीछे ले आ रहा था।

अपने रथपर बैठाकर, आदरपूर्वक श्रीकृष्णचन्द्र कर्णसे बोले—'वसुषेण! तुम वीर हो, विचारशील हो, धर्मात्मा हो। देखो, मैं तुम्हें आज एक गुप्त बात बतलाता हूँ। तुम अधिरथ सूतके पुत्र नहीं हो, तुम कुन्तीके पुत्र हो। दूसरे पाण्डवोंके समान तुम भी पाण्डव हो, पाण्डु-पुत्र हो; क्योंकि भगवान् सूर्यके द्वारा तुम पाण्डुकी पत्नी कुन्तीसे उनकी कन्यावस्थामें उत्पन्न हुए थे।'

कर्ण सिर झुकाये चुप-चाप सुनते रहे। वासुदेवने उनके कंधेपर हाथ रक्खा—'तुम युधिष्ठिरके बड़े भाई हो। दुर्योधन अन्याय कर रहा है और तुम्हारे ही बलपर अकड़ रहा है। तुम उसका साथ छोड़ दो और मेरे साथ चलो। कल ही तुम्हारे राज्याभिषेक हो। युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज बनेंगे। पाण्डव तुम्हारे पीछे चलेंगे। मैं तुम्हें अभिवादन करूँगा। तुम्हारे सहित जब पाण्डव छः भाई साथ खड़े होंगे, तब त्रिभुवनमें उनके सम्मुख खड़े होनेका साहस किसमें है?'

अब कर्ण तनिक मुसकराये। वे बोले—'वासुदेव! मैं जानता हूँ कि देवी कुन्ती मेरी माता हैं। मैं सूर्य-पुत्र हूँ और धर्मतः पाण्डव हूँ। किंतु दुर्योधनने सदासे मेरा विश्वास किया है। जब सब मुझे तिरस्कृत कर रहे थे, दुर्योधन-ने मुझे अपनाया, मुझे सम्मानित किया। मुझपर दुर्योधनके बहुत अधिक उपकार हैं। मेरे ही भरोसे दुर्योधनने युद्धका आयोजन किया है। मैं ऐसे समय किसी प्रकार उनके साथ विश्वासघात नहीं करूँगा। आप मुझे आज्ञा दें उनके पक्षमें युद्ध करनेकी। होगा वही जो आप चाहते हैं; किंतु क्षत्रिय वीर खाटपर पड़े-पड़े न मरें, युद्धमें वीर-गति प्राप्त करें—यही मेरी इच्छा है।'

'कर्ण! तुम मेरा इतना भव्य प्रस्ताव भी नहीं मानते तो तुम्हारी इच्छा। युद्ध तो होगा ही।' श्रीकृष्णचन्द्रने रथ रुकवा दिया।

उस रथसे उतरनेके पूर्व कर्ण बोले—'वासुदेव! मेरी एक प्रार्थना आप अवश्य स्वीकार करें। मैं कुन्ती-पुत्र हूँ, यह बात आप गुप्त ही रक्खें; क्योंकि युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उन्हें पता लग जायगा कि मैं उनका बड़ा भाई हूँ तो वे राज्य मुझे दे देंगे और मैं दुर्योधनको दे दूँगा। मैं दुर्योधनका कृतज्ञ हूँ, अतः युद्ध उन्हींके पक्षसे करूँगा; किंतु चाहता मैं यही हूँ कि न्यायकी विजय हो। धर्मात्मा पाण्डव अपना राज्य प्राप्त करें। जहाँ आप हैं, विजय तो वहाँ होनी ही है, फिर भी आप मेरा यह अनुरोध स्वीकार करें।'

महात्मा कर्णका अनुरोध स्वीकृत हो गया। वे श्रीकृष्ण-चन्द्रके रथसे उतरकर अपने रथपर जा बैठे और हस्तिनापुर लौट पड़े। (महाभारत, उद्योग० १४०-१४१)

× × × ×

(२)

संधि करानेके प्रयत्नमें असफल होकर श्रीकृष्णचन्द्र लौट गये। अब युद्ध निश्चित हो गया। युद्धकी तिथितक निश्चित हो गयी। इधर देवी कुन्ती अत्यन्त व्याकुल हो रही थीं। कर्ण उनका ही पुत्र और वही अपने और भाइयोंसे संग्राम करनेको उद्यत! दुर्योधन कर्णके ही बलपर तो कूद रहा है। अन्तमें कुन्ती देवीने कर्णको समझानेका निश्चय किया। वे अकेली ही घरसे निकलीं।

स्नान करके कर्ण गङ्गामें खड़े सूर्यदेवकी ओर मुख किये संध्या कर रहे थे। कुन्ती देवीको कुछ देर प्रतीक्षा करनी पड़ी। संध्या समाप्त करके कर्णने मुख घुमाया।

कुन्तीको देखते ही दोनों हाथ जोड़कर वे बोले—'देवि ! अधिरथका पुत्र कर्ण आपको प्रणाम करता है।'

कुन्तीके नेत्र भर आये। बड़े संकोचसे वे बोलीं—'बेटा ! मेरे सामने तो तू अपनेको सूतपुत्र मत कह। मैं यही कहने आयी हूँ कि तू इन लोकप्रकाशक भगवान् सूर्यका पुत्र है और इस अभागिनीके गर्भसे उत्पन्न हुआ है। मैं तेरी माता हूँ। तू अपने भाइयोंसे ही युद्धका हठ छोड़ दे, बेटा ! मैं तुझसे यही माँगने आयी हूँ आज।'

कर्णने फिर दोनों हाथ जोड़े—'माता ! आपकी बात सत्य है। मुझे पता है कि मैं आपका पुत्र हूँ; किंतु मैं दुर्योधनके उपकारोंसे दबा हूँ। दुर्योधन उस समय मेरा मित्र बना, जब मुझे पूछनेवाला कोई नहीं था। आपत्तिके समय मैं मित्रका साथ नहीं छोड़ सकता। युद्ध तो मैं दुर्योधनके ही पक्षमें करूँगा।'

कुन्तीदेवीने भरे कण्ठसे कहा—'माँ होकर आज संकोच छोड़कर मैं तेरे पास आयी और तू मुझे निराश करके लौटा रहा है !'

कर्ण बोले—'माता ! आप मुझे क्षमा करें। मैं कर्तव्यसे विवश हूँ। परंतु मैं आपको वचन देता हूँ कि अर्जुनको छोड़कर दूसरे किसी पाण्डवपर मैं घातक प्रहार नहीं करूँगा। दूसरे भाई युद्धमें मेरे सामने पड़ें भी तो मैं उन्हें छोड़ दूँगा। आपके पाँच पुत्र बने रहेंगे। अर्जुन मारे गये तो आपका पाँचवाँ पुत्र मैं और मैं मारा गया तो अर्जुन हैं ही।'

'तुम अपना यह वचन स्मरण रखना !' देवी कुन्ती आशीर्वाद देकर लौट गयीं।

(महाभारत, उद्योग० १४४–१४६)

(३)

पितामह भीष्म सदा कर्णका तिरस्कार किया करते थे। युद्धके आरम्भमें महारथी, अतिरथी वीरोंकी गणना करते समय सबके सामने ही उन्होंने कर्णको अर्धरथी कहा था। चिढ़कर कर्णने प्रतिज्ञा कर ली थी कि जबतक पितामह युद्धमें कौरवपक्षके सेनापति हैं, वह शस्त्र नहीं उठायेगा। दस दिनोंके युद्धमें कर्ण तटस्थ दर्शक ही रहे। दसवें दिन पितामह अर्जुनके बाणोंसे विद्ध होकर रथसे गिर पड़े। उनके शरीरमें लगे बाण ही उनकी शय्या बन गये थे। पितामहके गिरनेपर युद्ध बंद हो गया। सब स्वजन उनके समीप आये। यह भीड़ जब समाप्त हो गयी, जब शरशय्यापर पड़े भीष्म अकेले रह गये, तब एकान्त देखकर कर्ण वहाँ आये। उन्होंने कहा—'पितामह ! सदा आपसे धृष्टता करनेवाला सूतपुत्र कर्ण आपके चरणोंमें प्रणाम करता है।'

भीष्मपितामहने स्नेहपूर्वक कर्णको पास बुलाया और स्नेहपूर्ण गद्गद वाणीसे बोले—'बेटा कर्ण ! मैं जानता था कि तुम महान् शूर हो। तुम अद्भुत वीर एवं श्रेष्ठ महारथी हो। तुम ज्ञानी हो। परंतु तुम्हें हतोत्साह करनेके लिये मैं सदा तुम्हारा तिरस्कार करता था। इसी उद्देश्यसे मैंने तुम्हें अर्धरथी कहा था; क्योंकि दुर्योधन तुम्हारे ही बलपर युद्धको उद्यत हुआ। यदि तुम युद्धमें उत्साह न दिखलाते तो दुर्योधन युद्धका हठ छोड़ देता। यह महासंहार किसी प्रकार रुक जाय, यही मैं चाहता था। परंतु हुआ वही जो होनेवाला था। तुम्हारे प्रति मेरे मनमें कभी दुर्भाव नहीं रहा है। मेरी बातोंको तुम मनमें मत रखना।'

कर्ण मस्तक झुकाये सुनते रहे। पितामहने कहा—'बेटा ! मेरी बलि लग चुकी है। तुम चाहो तो यह संहार अब भी रुक सकता है। मैं तुम्हें एक भेदकी बात बतलाता हूँ। तुम अधिरथके पुत्र नहीं हो। तुम सूर्यकुमार हो और कुन्तीके पुत्र हो। तुम पाण्डवोंमें सबसे बड़े हो। दुरात्मा दुर्योधनका साथ छोड़कर तुम्हें अपने धर्मात्मा भाइयोंका पालन करना चाहिये।'

कर्ण अब बोले—'पितामह ! आप जो कह रहे हैं, उसे मैं पहलेसे जानता हूँ। किंतु दुर्योधन मेरा मित्र है। उसने सदा मुझसे सम्मानका व्यवहार किया है। अपनेपर उपकार करनेवाले मित्रके साथ मैं विश्वासघात कैसे कर सकता हूँ। उसका मुझपर ही भरोसा है, ऐसी दशामें मैं इस संकटकालमें उसका साथ कैसे छोड़ सकता हूँ। आप तो मुझे युद्ध करनेकी आज्ञा दें। कौरवपक्षमें युद्ध करते हुए मैं वीरोंकी भाँति देहत्याग करूँ, यही मेरी कामना है।'

पितामहने आशीर्वाद दिया—'वत्स ! तुम्हारी कामना पूर्ण हो। तुम उत्साहपूर्वक दुर्योधनके पक्षमें युद्ध करो। अपने कर्तव्यका पालन करो।'— सु० सिं०

(महाभारत, भीष्म० १२२)

हारेहुँ खेल जितावहिं मोही

अलौकिक भ्रातृ-प्रेम

'मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥' (श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

सरयूके स्वच्छ पुलिनपर चक्रवर्तीजीके चारों कुमार खेलने आये थे सखाओंके साथ। समस्त बालकोंका विभाजन हो गया दो दलोंमें। एक दलके अग्रणी हुए श्रीराम और दूसरे दलके भरतलाल। श्रीरामके साथ लक्ष्मण और भरतके साथ शत्रुघ्न कुमार तो सदासे रहे—रहते आये, सुतरां आज भी थे। दोनों यूथ सुसज्जित खड़े हो गये। दोनों दलोंके मध्यमें विस्तृत समतल भूमि स्थिर हो गयी। मध्यमें रेखा बना दी गयी। खेल चलने लगा। आज राजकुमार कबड्डी खेल रहे थे।

लखनलाल आज उमंगमें थे। वे बार-बार भरतजीको ललकारते थे—'भैया! आज तो रघुनाथजी विजयी होंगे।'

यह ललकार भरतको उल्लसित करती थी। उनके दलके बालक आज हार रहे थे। एक-एक करके उनका दल कम हो रहा था। प्रत्येक बार जब लक्ष्मण आते थे, एक-दो बालकोंको छूकर ही लौटते थे। अन्तमें शत्रुघ्न भी हार गये। अपने दलमें बच रहे अकेले भरत।

'अब सब लोग चुपचाप खड़े रहेंगे। भरतलाल मुझे छू लें तो विजय उनकी, न छू पायें तो विजय मेरे दलकी।' श्रीराघवेन्द्रने खेलमें एक अद्भुत निर्णय दे दिया।

'आप पूरे वेगसे भागें तो सही।' लक्ष्मणजीने बड़े भाईको प्रोत्साहित किया।

भरत आये दौड़ते और श्रीराम भागे; किंतु ऐसे भागे जैसे उन्हें दौड़ना आता ही न हो। दस पग जाते-जाते तो भरतके हाथने उनकी पीठका स्पर्श कर लिया।

'भाई भरत विजयी हुए!' श्रीरामका कमलमुख प्रफुल्लित हो उठा। दोनों हाथोंसे तालियाँ बजायीं उन्होंने। लेकिन भरतका मुख नीचे झुक गया था। उनके नेत्रोंमें उल्लासके स्थानपर लज्जाका भाव था। अपने अग्रजके भ्रातृस्नेहका साक्षात् करके उनके बड़े-बड़े नेत्र भर आये थे।

'विजयी हुए भाई भरत!' श्रीराम तो उल्लासमें ताली बजाते ही जा रहे थे।—सु० सिं०

अनोखा प्रभु-विश्वास और प्रभु-प्रीति

वृत्रासुरने देवराज इन्द्रके साथ महायुद्ध करते हुए उनसे कहा—'देवराज ! भगवान् विष्णुने मुझे मारनेके लिये तुम्हें आज्ञा दी है, इसलिये तुम मुझे वज्रसे मार डालो । मैं अपने मनको भगवान्के चरणोंमें विलीन कर दूँगा । जो पुरुष भगवान्के हो गये हैं और उनके चरणोंके अनन्य प्रेमी हैं, उनको भगवान् स्वर्ग, पृथ्वी अथवा पातालकी सम्पत्ति नहीं देते; क्योंकि इनसे परम आनन्दकी प्राप्ति न होकर द्वेष, अभिमान, उद्वेग, मानस पीड़ा, कलह, दुःख और परिश्रम ही हाथ लगते हैं । मुझपर भगवान्की अत्यन्त कृपा है, इसीसे वे मुझे उपर्युक्त सम्पत्तियाँ नहीं दे रहे हैं । मेरे प्रभुकी कृपाका तो अनुभव उनके अकिंचन भक्तोंको ही होता है । दूसरे उसे नहीं जान पाते । वे प्रभु अपने भक्तके अर्थ, धर्म और कामसम्बन्धी प्रयासोंको असफल करके ही उनपर कृपा करते हैं । मैं इसी कृपाका अधिकारी हूँ ।' यों कहते-कहते वृत्रासुरने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो ! मेरा मन निरन्तर आपके मङ्गलमय गुणोंका ही स्मरण करता रहे । मेरी वाणी उन गुणोंका ही गान करे और शरीर आपकी सेवामें ही लगा रहे । सर्वसौभाग्यनिधे ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मपद, भूमण्डलका साम्राज्य, पातालका एकच्छत्र राज्य, योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि अपुनर्भव मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे, जिनके पाँख नहीं उगे हैं, ऐसे माँपर निर्भर रहनेवाले पक्षियोंके बच्चे अपनी माँकी बाट देखते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी गैया-मैयाका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं, जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये नित्य उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही कमललोचन ! मेरा मन आपके लिये छटपटा रहा है । मुझे मुक्ति न मिले, मेरे कर्म मुझे चाहे जहाँ ले जायँ; परंतु नाथ ! मैं जहाँ-जहाँ जिस-जिस योनिमें जाऊँ, वहाँ आपके प्यारे भक्तोंसे ही मेरी प्रीति—मैत्री रहे । जो लोग आपकी मायासे देह-गेह और स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त हैं, उनके साथ मेरा कभी किसी प्रकार-का भी सम्बन्ध न हो ।'

धन्य प्रभु-विश्वास, प्रभु-प्रीति और परम निष्कामभाव!

विश्वास हो तो भगवान् सदा समीप हैं

दुर्योधनके कपट-द्यूतमें सर्वस्व हारकर पाण्डव द्रौपदीके साथ काम्यकवनमें निवास कर रहे थे । परंतु दुर्योधनके चित्तको शान्ति नहीं थी । पाण्डवोंको कैसे सर्वथा नष्ट कर दिया जाय, वह सदा इसी चिन्तामें रहता था । संयोगवश महर्षि दुर्वासा उसके यहाँ पधारे और कुछ काल टिके रहे । अपनी सेवासे दुर्योधनने उन्हें संतुष्ट कर लिया । जाते समय महर्षिने उससे वरदान माँगनेको कहा । कुटिल दुर्योधन नम्रतासे बोला—'महर्षि ! पाण्डव हमारे बड़े भाई हैं । यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मैं चाहता हूँ कि जैसे आपने अपनी सेवाका अवसर देकर मुझे कृतार्थ किया है, वैसे ही मेरे उन बड़े भाइयोंको भी कम-से-कम एक दिन अपनी सेवाका अवसर दें । परंतु मेरी इच्छा है कि आप उनके यहाँ अपने समस्त शिष्योंके साथ आतिथ्य-ग्रहण करें और तब पधारें जब महारानी द्रौपदी भोजन कर चुकी हों, जिससे मेरे भाइयोंको देरतक भूखा न रहना पड़े ।'

बात यह थी कि पाण्डव जब वनमें गये, तब उनके प्रेमसे विवश बहुत-से ब्राह्मण भी उनके साथ-साथ गये । किसी प्रकार वे लोग लौटे नहीं । इतने सब लोगोंके भोजन-की व्यवस्था वनमें होनी कठिन थी । इसलिये धर्मराज युधिष्ठिरने तपस्या तथा स्तुति करके सूर्यनारायणको प्रसन्न किया । सूर्यने युधिष्ठिरको एक बर्तन देकर कहा—'इसमें वनके कन्द-शाक आदि लाकर भोजन बनानेसे वह भोजन अक्षय हो जायगा । उससे सहस्रों व्यक्तियोंको तबतक भोजन दिया जा सकेगा, जबतक द्रौपदी भोजन न कर लें । द्रौपदी-के भोजन कर लेनेपर उस दिन पात्रमें कुछ नहीं बचेगा ।' दुर्योधन इस बातको जानता था । इसीसे उसने दुर्वासाजीसे द्रौपदीके भोजन कर चुकनेपर पाण्डवोंके यहाँ जानेकी प्रार्थना की । दुर्वासा मुनिने उसकी बात स्वीकार कर ली और वहाँसे चले गये । दुर्योधन बड़ा प्रसन्न हुआ यह समझकर कि पाण्डव इन्हें भोजन नहीं दे सकेंगे और तब ये महाक्रोधी मुनि अवश्य ही शाप देकर उन्हें नष्ट कर देंगे । बुरी नीयत-का यह प्रत्यक्ष नमूना है ।

महर्षि दुर्वासा तो दुर्योधनको वचन ही दे चुके थे। वे अपने दस सहस्र शिष्योंकी भीड़ लिये एक दिन दोपहरके बाद काम्यकवनमें पाण्डवोंके यहाँ जा धमके। धर्मराज युधिष्ठिर तथा उनके भाइयोंने उठकर महर्षिको साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। उनसे आसनपर बैठनेकी प्रार्थना की।

महर्षि बोले—'राजन्! आपका मङ्गल हो। हम सब भूखे हैं और अभी मध्याह्न-संध्या भी हमने नहीं की है। आप हमारे भोजनकी व्यवस्था करें। हम पासके सरोवरमें स्नान करके, संध्या-वन्दनसे निवृत्त होकर शीघ्र आते हैं।'

स्वभावतः धर्मराजने हाथ जोड़कर नम्रतासे कह दिया—'देव! संध्यादिसे निवृत्त होकर शीघ्र पधारें।' पर जब दुर्वासाजी शिष्योंके साथ चले गये, तब चिन्तासे युधिष्ठिर तथा उनके भाइयोंका मुख सूख गया। उन्होंने द्रौपदीजीको बुलाकर पूछा तो पता लगा कि वे भोजन कर चुकी हैं। महाक्रोधी दुर्वासाजी भोजन न मिलनेपर अवश्य शाप देकर भस्म कर देंगे—यह निश्चित था और उन्हें भोजन दिया जा सके, इसका कोई भी उपाय नहीं था। अपने पतियोंको चिन्तित देख द्रौपदीजीने कहा—'आपलोग चिन्ता क्यों करते हैं? श्यामसुन्दर सारी व्यवस्था कर देंगे।'

धर्मराज बोले—'श्रीकृष्णचन्द्र यहाँ होते तो चिन्ताकी कोई बात नहीं थी; किंतु अभी ही तो वे हमलोगोंसे मिलकर अपने परिकरोंके साथ द्वारका गये हैं। उनका रथ तो अभी द्वारका पहुँचा भी नहीं होगा।'

द्रौपदीजीने दृढ़ विश्वाससे कहा—'वे कहाँ आते-जाते हैं? ऐसा कौन-सा स्थान है, जहाँ वे नहीं हैं? वे तो यहीं हैं और अभी-अभी आ जायँगे।'

द्रौपदीजी झटपट कुटियामें चली गयीं और उस जन-रक्षक आर्तिनाशन मधुसूदनको मन-ही-मन पुकारने लगीं। पाण्डवोंने देखा कि बड़े वेगसे चार श्वेत घोड़ोंसे जुता द्वारकाधीशका गरुडध्वज रथ आया और रथके खड़े होते-न-होते वे मयूरमुकुटी उसपरसे कूद पड़े। परंतु इस बार उन्होंने न किसीको प्रणाम किया और न किसीको प्रणाम करनेका अवसर दिया। वे तो सीधे कुटियामें चले गये और अत्यन्त क्षुधातुरकी भाँति आतुरतासे बोले—'कृष्णे! मैं बहुत भूखा हूँ, झटपट कुछ भोजन दो।'

'तुम आ गये भैया! मैं जानती थी कि तुम अभी आ जाओगे!' द्रौपदीजीमें जैसे नये प्राण आ गये। वे हड़बड़ाकर उठीं—'महर्षि दुर्वासाको भोजन देना है·······'

'पहले मुझे भोजन दो। फिर और कोई बात। मुझसे खड़ा नहीं हुआ जाता भूखके मारे।' आज श्यामको अद्भुत भूख लगी थी।

'परंतु मैं भोजन कर चुकी हूँ। सूर्यका दिया बर्तन धो-माँजकर धर दिया है। भोजन है कहाँ? उसीकी व्यवस्थाके लिये तो तुम्हें पुकारा है तुम्हारी इस कंगालिनी बहिनने।' द्रौपदीजी चकित देख रही थीं उस लीलामयका मुख।

'बातें मत बनाओ! मैं बहुत भूखा हूँ। कहाँ है वह बर्तन? लाओ, मुझे दो।' श्रीकृष्णचन्द्रने जैसे कुछ सुना ही नहीं। द्रौपदीने चुपचाप बर्तन उठाकर हाथमें दे दिया उनके। श्यामने बर्तन लेकर घुमा-फिराकर उसके भीतर देखा। बर्तनके भीतर चिपका शाकके पत्तेका एक नन्हा टुकड़ा उन्होंने ढूँढ़कर निकाल ही लिया और अपनी लाल-लाल अँगुलियोंमें उसे लेकर बोले—'तुम तो कहती थीं कि कुछ है ही नहीं। यह क्या है? इससे तो सारे विश्वकी क्षुधा दूर हो जायगी।'

द्रौपदीजी चुपचाप देखती रहीं और उन द्वारकाधीशने वह शाकपत्र मुखमें डाला यह कहकर—'विश्वात्मा इससे तृप्त हो जायँ' और बस, डकार ले ली। विश्वात्मा श्रीकृष्णचन्द्रने तृप्तिकी डकार ले ली तो अब विश्वमें कोई अतृप्त रहा कहाँ।

वहाँ सरोवरमें स्नान करते महर्षि दुर्वासा तथा उनके शिष्योंकी बड़ी विचित्र दशा हुई। उनमेंसे प्रत्येकको डकार-पर-डकार आने लगी। सबको लगा कि कण्ठतक पेटमें भोजन भर गया है। आश्चर्यसे वे एक दूसरेकी ओर देखने लगे। अपनी और शिष्योंकी दशा देखकर दुर्वासाजीने कहा—'मुझे अम्बरीषकी घटनाका स्मरण हो रहा है। पाण्डव वनमें हैं, उनके पास वैसे ही भोजनकी कमी है, यहाँ हमारा आना ही अनुचित हुआ और अब हमसे भोजन किया नहीं जायगा। उनका भोजन व्यर्थ जायगा तो वे क्रोध करके हम सबको एक पलमें नष्ट कर सकते हैं; क्योंकि वे भगवद्भक्त हैं। अब तो एक ही मार्ग है कि हम सब यहाँसे चुपचाप भाग चलें।'

जब गुरु ही भाग जाना चाहें तो शिष्य कैसे टिके रहें। दुर्वासा मुनि जो शिष्योंके साथ भागे तो पृथ्वीपर रुकनेका उन्होंने नाम नहीं लिया। सीधे ब्रह्मलोक जाकर वे खड़े हुए।

पाण्डवोंकी झोंपड़ीसे शाकका पत्ता खाकर श्यामसुन्दर मुसकराते निकले। अब उन्होंने धर्मराजको अभिवादन किया और बैठते हुए सहदेवको आदेश दे दिया कि महर्षि दुर्वासाको भोजनके लिये बुला लायें। सहदेव गये और कुछ देरमें अकेले लौट आये। महर्षि और उनके शिष्य होते तब तो मिलते। वे तो अब पृथ्वीपर ही नहीं थे।

'दुर्वासाजी अब पता नहीं कब अचानक आ धमकेंगे।' धर्मराज फिर चिन्ता करने लगे; क्योंकि दुर्वासाजीका यह स्वभाव विख्यात था कि वे किसीके यहाँ भोजन बनानेको कहकर चल देते हैं और लौटते हैं कभी आधी रातको, कभी कई दिन बाद किसी समय। लौटते ही उन्हें भोजन चाहिये, तनिक भी देर होनेपर एक ही बात उन्हें आती है—शाप देना।

'अब वे इधर कभी झाँकेंगे भी नहीं। वे तो दुरात्मा दुर्योधनकी प्रेरणासे आये थे।' पाण्डवोंके परम रक्षक श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें पूरी घटना समझाकर निश्चिन्त कर दिया और तब उनसे विदा होकर वे द्वारका पधारे। —सु० सिं०

(महाभारत, वन० २६२-२६३)

सबसे दुबली आशा

तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम।
सेये सोक समर्पई बिमुख भये अभिराम॥

एक बार युधिष्ठिरने भीष्मजीसे पूछा कि 'पितामह! आशा क्या है तथा इसका स्वरूप कैसा है, बतलानेकी कृपा करें। प्रायः देखा जाता है कि सभी पुरुष महान् आशा लेकर प्रवृत्त होते हैं; पर जब वह बीचमें ही प्रतिहत होती है, तब या तो प्राणी मर ही जाता है अथवा महान् क्लेश भोगता है।'

इसपर भीष्मने कहा कि इस सम्बन्धमें राजर्षि सुमित्र और ऋषभ मुनिके संवादकी कथा कही जाती है। हैहयवंशी राजा सुमित्र एक बार शिकार खेलने गया। वहाँ उसने एक हरिन देखा। उसपर उसने बाण मारा। अमितविक्रम मृग बाण लेकर भागा और राजाने भी मृगराजका पीछा किया। ऊँचे-नीचे स्थलों, नद-नदियों, पल्वलों, वनों तथा सम-विषम मार्गोंसे होकर वह मृग भागता जाता था। राजा भी पूरी शक्ति लगाकर उसका पीछा कर रहा था। तथापि वह मृग हाथ न आया। अन्तमें भीषण अरण्यमें भटकता हुआ राजा सहसा तपस्वियोंके आश्रमके सामने निकला। थके-माँदे, भूख-प्याससे व्याकुल, धनुर्धर राजाको देखकर ऋषियोंने उसका यथाविधि स्वागत किया और तदनन्तर उसके वहाँ आनेका कारण पूछा।

राजा बोला—'मैं हैहयकुलमें उत्पन्न सुमित्र नामका राजा हूँ। शिकारमें मृगका पीछा करता हुआ यहाँ पहुँच गया हूँ। मैं हताश, श्रमार्त्त एवं भ्रष्टमार्ग हो गया हूँ। इससे बढ़कर मेरे लिये और कष्ट ही क्या हो सकता है। यद्यपि मैं इस समय छत्र, चामर आदि समस्त राजलक्षणोंसे हीन हूँ, घर, नगर और समस्त प्रकृतिमण्डलसे भी अलग हूँ, फिर भी इन सबका मुझे वैसा दुःख नहीं, जैसा इस आशाके भङ्ग होनेसे (मृगके हाथसे निकल जानेसे) हो रहा है। महाभाग! आपलोग सर्वज्ञ हैं, मैं जानना चाहता हूँ कि इस दुरन्त आशाका, जो समुद्र, हिमालय और अनन्त आकाशसे भी बड़ी मालूम होती है, कैसा स्वरूप एवं क्या लक्षण है? यदि कोई आपत्ति न हो तो आपलोग इसे बतलानेकी कृपा करें।'

इसपर उन ऋषियोंमेंसे ऋषभ नामके ऋषि बोले—''राजसिंह! एक बार मैं तीर्थयात्रा करता हुआ नर-नारायणके आश्रम बदरीवनकी ओर निकला। आश्रमके समीप ही मैं निवासकी खोजमें था कि एक चीराजिनधारी कृशतनु नामके मुनि दीख पड़े। अन्य साधारण मनुष्यकी अपेक्षा ये आठगुना अधिक दुबले थे। राजेन्द्र! मैंने वैसी कृशता अन्यत्र कहीं नहीं देखी। बस, उनका शरीर कनिष्ठिका अँगुलीके तुल्य था। उनके हाथ, पैर, गर्दन, सिर, कान, आँख सभी अङ्ग भी शरीरके ही अनुरूप थे। पर उनकी वाणी और चेष्टा सामान्य थी। मैं उन ब्राह्मण देवताको देखकर डर गया और अत्यन्त उदास हो गया। मैंने उन्हें प्रणाम किया और धीरेसे वहीं उनके द्वारा दिये गये आसनपर बैठ गया। कृशमुनि धर्ममयी कथा सुनाने लगे। इतनेमें ही वीरद्युम्न-नामका राजा भी वहीं पहुँच गया। उसका एकमात्र पुत्र भूरिद्युम्न शिकारमें खो गया था। उसने कृशमुनिसे उसके सम्बन्धमें अपनी महती आशा तथा चिन्ता व्यक्त की और उसकी जानकारी चाही। कृशमुनिने कहा कि उसने एक ऋषिकी अवहेलना की थी, आशा भङ्ग की थी, अतएव उसकी यह दशा हुई। वीरद्युम्न निर्विण्ण और निराश हो गया।

''कृशमुनिने कहा, 'राजन्! दुराशा छोड़ो। मैंने यह निश्चय किया है कि जो आशासे जीत लिया गया है, वही दुर्बल है; जिसने आशाको जीत लिया, वास्तवमें वही पुष्ट है।'

''इसपर वीरद्युम्नने कहा—'महाराज! क्या आपसे भी

यह आशा कृशतर—दुबली है। मुझे तो इस बातपर बड़ा संशय हो रहा है।'

"मुनिने कहा—'राजन्! शक्ति होनेपर भी जो दूसरेका उपकार नहीं करता, योग्य पुरुषोंका सत्कार नहीं करता, उस परमासक्त पुरुषकी दुराशा मुझसे दुबली है। किसी एक पुत्रवाले पिताको जो पुत्रके विदेश जाने या भूल जाने या पता न लगनेपर जो उसकी आशा होती है, वह मुझसे दुबली है। जो आशा कृतघ्न, नृशंस, आलसी तथा अपकारी पुरुषोंमें संसक्त है, वह आशा मुझसे कहीं दुबली है।'

"इन सब बातोंको सुनकर राजा मुनिके चरणोंपर गिर पड़ा और उसने अपने पुत्रकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना की। मुनिने भी अपने योगबल तथा तपोबलसे हँसकर उसे तुरंत ला दिया। पुनः उन्होंने अपना अत्यद्भुत दिव्य धर्ममय रूप दिखलाया और वनमें वे अन्यत्र चले गये। अतएव अत्यन्त दुर्बल दुराशा सर्वथा त्याग करनेके योग्य है।"—जा० श०

(महाभा० शान्तिपर्व, राजधर्म १२५—१२८)

पार्वतीकी परीक्षा

महाभागा हिमाचलनन्दिनी पार्वतीने भगवान् शंकरको पतिरूपसे प्राप्त करनेके लिये घोर तप किया। श्रीशंकरजीने प्रसन्न होकर दर्शन दिया। पार्वतीने उन्हें वरण कर लिया। इसके बाद शंकरजी अन्तर्धान हो गये। पार्वतीजी आश्रमके बाहर एक शिलापर बैठी थीं। इतनेमें उन्हें किसी आर्त बालकके रोनेकी आवाज सुनायी दी। बालक चिल्ला रहा था। 'हाय-हाय! मैं बच्चा हूँ, मुझे ग्राहने पकड़ लिया है। यह अभी मुझे चबा जायगा। मेरे माता-पिताके मैं ही एकमात्र पुत्र हूँ। कोई दौड़ो, मुझे बचाओ, हाय! मैं मरा!'

बालकका आर्तनाद सुनकर पार्वतीजी दौड़ीं। देखा, एक बड़े ही सुन्दर बालकको सरोवरमें ग्राह पकड़े हुए है। वह पार्वतीको देखते ही जल्दीसे चलकर बालकको सरोवर-के बीचमें ले गया। बालक बड़ा तेजस्वी था, पर ग्राहके द्वारा पकड़े जानेसे करुण-क्रन्दन कर रहा था। बालकका दुःख देखकर पार्वतीजीका हृदय द्रवित हो गया। वे बोलीं—'ग्राहराज! बालक बड़ा दीन है, इसे तुरंत छोड़ दो।' ग्राह बोला—'देवी! दिनके छठे भागमें जो मेरे पास आयेगा, वही मेरा आहार होगा। यह बालक इसी कालमें यहाँ आया है, अतएव ब्रह्माने इसे मेरे आहार-रूपमें ही भेजा है; इसे मैं नहीं छोड़ सकता।' देवीने कहा—'ग्राहराज! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ। मैंने हिमाचलकी चोटीपर रहकर बड़ा तप किया है, उसीके बलसे तुम इसे छोड़ दो।' ग्राहने कहा—'तुमने जो उत्तम तप किया है, वह मुझे अर्पण कर दो तो मैं इसे छोड़ दूँ।' पार्वतीने कहा—'ग्राहराज! इस तपकी तो बात ही क्या है, मैंने जन्मभरमें जो कुछ भी पुण्य-संचय किया है, सब तुम्हें अर्पण करती हूँ; तुम इस बालकको छोड़ दो।' पार्वतीके इतना कहते ही ग्राहका शरीर तपके तेजसे चमक उठा, उसके शरीरकी आकृति मध्याह्नके सूर्यके सदृश तेजोमय हो गयी। उसने कहा—'देवी! तुमने यह क्या किया? जरा विचार तो करो। कितना कष्ट सहकर तुमने तप किया था और किस महान् उद्देश्यसे किया था। ऐसे तपका त्याग करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। अच्छा, तुम्हारी ब्राह्मण-भक्ति और दीन-सेवासे मैं बड़ा संतुष्ट हूँ। तुम्हें वरदान देता हूँ—तुम अपनी तपस्या-को भी वापस लो और इस बालकको भी!' इसपर महाव्रता पार्वतीने कहा—'ग्राहराज! प्राण देकर भी इस दीन ब्राह्मण-बालकको बचाना मेरा कर्तव्य था। तप तो फिर भी हो जायगा, पर यह बालक फिर कहाँसे आता? मैंने सब कुछ सोचकर ही बालकको बचाया है और तुम्हें तप दिया है। अब इस दी हुई वस्तुको मैं वापस नहीं ले सकती। बस, तुम इस बालकको छोड़ दो।' इस बातको सुनकर ग्राह बालकको छोड़कर अन्तर्धान हो गया। इधर पार्वतीने अपना तप चला गया समझकर फिरसे तप करने-का विचार किया। तब शंकरजीने प्रकट होकर कहा—'देवी! तुम्हें फिरसे तप नहीं करना पड़ेगा। तुमने यह तप मुझको ही दिया है। बालक मैं था और ग्राह भी मैं ही था। तुम्हारी दया और त्यागकी महिमा देखनेके लिये ही मैंने यह लीला की। देखो, दानके फल-स्वरूप तुम्हारी यह तपस्या अब हजारगुनी होकर अक्षय हो गयी है।'

चोरीका दण्ड

ऋषि 'शङ्ख' और 'लिखित' दो भाई थे। दोनों ही बड़े तपस्वी थे और दोनों ही अलग-अलग आश्रम बनाकर रहते थे। एक बार लिखित शङ्खके आश्रमपर आये। दैववश उस समय शङ्ख बाहर गये हुए थे। लिखितको भूख लगी थी, इसलिये शङ्खके आश्रमके वृक्षोंसे फल तोड़कर खाने लगे। इतनेमें ही शङ्ख आ गये। उन्होंने उनसे पूछा—'भैया! तुम्हें ये फल कैसे मिले?' लिखितने हँसते हुए कहा—'ये तो इसी सामनेके वृक्षसे हमने तोड़े हैं।' 'तब तो तुमने चोरी की' लिखितने कहा। 'अतएव अब तुम राजाके पास जाओ और उससे कहो—'मुझे वह दण्ड दीजिये जो चोरको दिया जाता है।'

लिखित बड़े भाईके इस आदेशसे बड़े प्रसन्न हुए कि भाईने मुझे एक आदर्शके त्यागरूप पापसे बचा लिया। वे राजा सुद्युम्नके पास गये और कहा—'राजन्! मैंने बिना आज्ञा लिये अपने बड़े भाईके फल खा लिये हैं, इसलिये आप मुझे दण्ड दीजिये।'

सुद्युम्नने कहा—'विप्रवर! यदि आप दण्ड देनेमें राजाको प्रमाण मानते हैं, तो उसको क्षमा करनेका भी तो अधिकार है। अतः मैं आपको क्षमा करता हूँ। इसके अतिरिक्त मैं आपकी और क्या सेवा करूँ?' पर लिखितने अपना आग्रह बराबर जारी रक्खा। अन्तमें राजाने उनके दोनों हाथ कटवा दिये। अब वे पुनः शङ्खके पास आये और क्षमा माँगी।

शङ्खने कहा, 'भैया! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम तो धर्मज्ञ हो। यह तो धर्मोल्लङ्घनका दण्ड है। अब तुम इस नदीमें जाकर विधिवत् देवता और पितरोंका तर्पण करो। भविष्यमें कभी अधर्ममें मन मत ले जाना।' लिखित नदीके जलमें स्नान करके ज्यों ही तर्पण करने लगे, उनकी भुजाओंमेंसे कमलके समान दो हाथ प्रकट हो गये। इससे उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने आकर भाईको हाथ दिखलाये। शङ्खने कहा—'भाई! शङ्का न करो, मैंने अपने तपके प्रभावसे ये हाथ उत्पन्न कर दिये हैं।' लिखितने पूछा—'यदि आपके तपका ऐसा प्रभाव है तो आपने पहले ही मेरी शुद्धि क्यों नहीं कर दी?' शङ्खने कहा—'यह ठीक है; पर तुम्हें दण्ड देनेका अधिकार मुझे नहीं, राजाको ही था। इससे राजाकी भी शुद्धि हुई और पितरोंके सहित तुम भी पवित्र हो गये।' लिखितको जहाँ बाहु उत्पन्न हुए थे, उस नदीका उस दिनसे नाम 'बाहुदा' हो गया। —जा० श०

(महा० शान्ति० अध्याय ४७)

मङ्किका वैराग्य

मङ्कि नामके एक ब्राह्मण थे। उन्होंने धनोपार्जनके लिये बहुत यत्न किया; पर सफलता न मिली। अन्तमें थोड़े-से बचे-खुचे धनसे उन्होंने भार सहने योग्य दो बछड़े खरीदे। एक दिन सधानेके लिये वे उन्हें जोतकर लिये जा रहे थे। रास्तेमें एक ऊँट बैठा था। वे उसे बीचमें करके एकदम दौड़ गये। जब वे उसकी गर्दनके पास पहुँचे, तब ऊँटको बड़ा बुरा लगा और वहाँ खड़ा होकर उनके दोनों बछड़ोंको गर्दनपर लटकाये बड़े जोरसे दौड़ने लगा। इस प्रकार मङ्किने जब अपने बछड़ोंको मरते देखा, तब उन्हें बड़ा कष्ट तथा वैराग्य हो गया और वे कहने लगे—'मनुष्य कैसा भी चतुर क्यों न हो, यदि उसके भाग्यमें नहीं होता तो प्रयत्न

करनेपर भी उसे धन नहीं मिल सकता। पहले अनेकों असफलताओंके बाद भी मैं धनोपार्जनकी चेष्टामें लगा ही था, पर विधाताने इन बछड़ोंके बहाने मेरे सारे प्रयत्नको मिट्टीमें मिला दिया। इस समय काक-तालीय न्यायसे ही यह ऊँट मेरे बछड़ोंको लटकाये इधर-उधर दौड़ रहा है। यह दैवकी ही लीला है। यदि कोई पुरुषार्थ सफल होता दिखायी देता है तो विचारनेपर वह भी दैवका ही किया जान पड़ता है। इसलिये जिसे सुखकी इच्छा हो, उसे वैराग्यका ही आश्रय लेना चाहिये। अहो! शुकदेव मुनिने क्या ही, अच्छा कहा है—'जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाओंको पा लेता है तथा जो उनका सर्वथा त्याग कर देता है, उन दोनोंमें त्यागनेवाला ही श्रेष्ठ है।'

मङ्किने मन-ही-मन कहा—'ओ कामनाओंके दास! अब तू सब प्रकारकी कर्मवासनाओंसे अलग हो जा। विषयासक्तिको छोड़ दे। ओ मूढ़! भला, तू इस अर्थ-लोलुपतासे कब अपना पिण्ड छुड़ायेगा। यों तो धनके संकल्पमें ही सुख नहीं है। वह मिल जाय तो भी चिन्ता ही बढ़ती है। और यदि एक बार मिलकर नष्ट हो जाय, तब तो मौत ही आ जाती है। मैं समझता हूँ, धनके नाश होनेपर जो कष्ट होता है, वही सबसे बढ़कर है। धनमें जो थोड़ा सुखका अंश दीखता है, वह भी दुःखके लिये ही है। धनकी आशासे लुटेरे मार डालते हैं अथवा उसे तरह-तरहकी पीड़ा देकर नित्यप्रति तंग करते रहते हैं। काम! तेरा पेट भरना बड़ा कठिन है। तू पातालके समान दुष्पूर है। मैं मनकी सारी चेष्टाएँ छोड़कर तुझे दूर करूँगा। अब धनके नाश हो जानेसे मेरी सब खटपट मिट गयी। अब मैं मौजसे सोऊँगा। काम! तू अब मेरे पास न रह सकेगा। तू मेरा बड़ा शत्रु है। मैं तेरी इच्छा पूर्ण नहीं होने दूँगा। तू अच्छी तरह समझ ले, मुझे वैराग्य, सुख, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और सर्वभूतदया—ये सभी गुण प्राप्त हो गये हैं। अतः काम, लोभ, तृष्णा और कृपणताको चाहिये कि वे मुझे छोड़कर चले जायँ। दुःख, निर्लज्जता और असंतोष—ये कामसे ही उत्पन्न होते हैं। पर आज काम और लोभसे मुक्त होकर मैं सुखी हो गया हूँ। अब मैं परब्रह्ममें प्रतिष्ठित हूँ, पूर्णतया शान्त हूँ और मुझे विशुद्ध आनन्दका अनुभव हो रहा है।'

इस प्रकारकी बुद्धि पाकर मङ्कि विरक्त हो गये। सब प्रकारकी कामनाओंका परित्याग करके उन्होंने ब्रह्मानन्द प्राप्त किया। दो बछड़ोंके नाशसे ही उन्हें अमरत्व प्राप्त हो गया। उन्होंने पाप तथा दुःखोंके मूल कामकी जड़ काट डाली और वे अत्यन्त सुखी हो गये। —जा० श०

(महा० शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय १७७)

दुःखदायी परिहासका कटु परिणाम

(खगमका क्रोध)

पूर्वकालमें एक सहस्रपाद नामके ऋषिकुमार थे। उनमें सभी गुण थे; केवल एक दुर्गुण था कि वे अपने मित्रों और साथियोंको हँसीमें चौंका दिया करते या डरा दिया करते थे। उनके एक मित्र थे ऋषिकुमार खगम। वे सत्यवादी थे और परम तपस्वी थे, लेकिन अत्यन्त भीरु थे। सर्पसे उन्हें बहुत डर लगता था।

एक दिन ऋषिकुमार सहस्रपादने खेल-खेलमें घासका एक साँप बनाया और उसे लेकर दबे पैर अपने मित्र खगम-जीके पीछे जा खड़ा हुआ। उस समय ऋषिकुमार खगम अग्निहोत्र कर रहे थे। सहस्रपादने वह घासका सर्प उनके ऊपर फेंक दिया। इससे भयके मारे खगम मूर्छित हो गये।

मूर्छा भङ्ग होनेपर खगमने उस घासके सर्पको पहिचाना।

क्रोधसे उनके नेत्र लाल हो गये। उन्होंने सहस्रपादको शाप दिया—'तूने मुझे विषरहित तृणके सर्पसे डराया है, अतः तू विषहीन सर्पयोनि प्राप्त करेगा।'

इस भयंकर शापको सुनकर सहस्रपाद घबरा उठा। वह पृथ्वीपर गिर पड़ा और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने—गिड़गिड़ाने लगा। इससे खगमको दया आ गयी। उन्होंने बताया—'भृगुवंशमें प्रमतिके पुत्र रुरु होंगे; वे जब तुम्हें मिलेंगे, तब तुम मेरे शापसे छूट जाओगे। शापको सर्वथा मिथ्या नहीं किया जा सकता। मेरे मुखसे निकले शब्दोंको मैं भी असत्य नहीं कर सकता।'

सहस्रपादको डुण्डुभ जातिका सर्प होना पड़ा। प्रमतिके पुत्र रुरुकी पत्नी सर्पके काटनेसे जब मर गयी, तब सर्प-जातिपर ही रुष्ट होकर वे मोटा डंडा लेकर घूमने लगे और जो भी सर्प मिलता, उसीको मार देते। रुरुको मार्गमें डुण्डुभ सर्प बने सहस्रपाद भी मिले। उन्हें भी मारनेको रुरुने डंडा उठाया। सहस्रपादने उन्हें रोका और बताया कि 'विषहीन निरपराध डुण्डुभ जातिके सर्पोंको मारना तो पाप ही है। प्राणी कालकी प्रेरणासे ही मरता है। सर्प, विद्युत् या रोग आदि तो मृत्युके निमित्तमात्र बनते हैं। प्राणियोंको अभय देना—अहिंसा ही परम धर्म है।' इस प्रकार रुरुको धर्मोपदेश करके वे ऋषि-कुमार सर्पयोनिसे छूट गये। —सु० सिं०

(महाभारत, आदि० ११)

परिहाससे ऋषिके तिरस्कारका कुफल

(परीक्षित्‌को शाप)

अभिमन्युनन्दन राजा परीक्षित् बड़े धर्मात्मा थे। एक दिन इन्हें मालूम हुआ कि मेरे राज्यमें कलियुग आ गया है। बस, ये उसे ढूँढ़नेके लिये निकल पड़े। एक स्थानपर उन्होंने देखा कि राजोचित वस्त्राभूषणसे सुसज्जित कोई शूद्र गौ और बैलको डंडोंसे पीट रहा है। बैलके तीन पैर टूट चुके थे, एक ही अवशेष था। उनका परिचय प्राप्त करनेपर मालूम हुआ कि यह बैल धर्म है, पृथ्वी गौ है और कलियुग ही शूद्र है। उन्होंने उस कलिको मारनेके लिये खड्ग उठाया, परंतु वह उनके चरणोंपर गिरकर गिड़गिड़ाने लगा। राजाको दया आ गयी। उन्होंने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके और उसका यह गुण देखकर कि कलियुगमें और किसी साधन, योग, यज्ञ आदिकी आवश्यकता न होगी, केवल भगवान्‌के नामोंसे ही प्राणियोंका स्वार्थ, परमार्थ आदि सम्पन्न हो जायगा, उसे रहनेके लिये जुआ, शराब, स्त्री, हिंसा, सोना आदि स्थान बता दिये; क्योंकि इन स्थानोंमें झूठ, मद, अपवित्रता तथा क्रूरतादि दोष रहते हैं। कुछ दिनोंके बाद उस समयकी प्रथाके अनुसार वे शिकार खेलने निकले। एक मृगके पीछे दौड़ते हुए दूर निकल गये। थकावट और प्यासके कारण वे घबरा उठे। पानी पीनेकी इच्छासे एक ऋषिके आश्रमपर गये; परंतु वे ध्यानमग्न थे। इनकी याचनासे उनका ध्यान भङ्ग नहीं हुआ। इसी समय कलियुगने इनपर आक्रमण किया। इनको क्रोध आ गया और क्रोधवश होकर ऋषिका परिहास करनेके लिये इन्होंने उन ध्यानमग्न ऋषिके गलेमें एक मरा साँप पहना दिया और आवेशमें ही राजधानी लौट आये।

जब कुछ समय बाद इन्हें होश आया, तब ये पश्चात्ताप करने लगे और इस अपराधका दण्ड भोगनेके लिये उद्यत होकर उसकी प्रतीक्षा करने लगे।

उधर कई ऋषि-बालकोंने जाकर नदी-किनारे खेलते हुए उनके बच्चेसे यह बात कह सुनायी। उसे क्रोध आ गया और उसने शाप दे दिया कि आजके सातवें दिन तक्षक साँप परीक्षित्‌को डँसेगा। अपमानके कारण उद्विग्न होकर वह रोने लगा। उसका रोना सुनकर धीरे-धीरे कुछ समयके बाद ऋषिका ध्यान टूटा। उन्होंने सब बात सुनकर अपने लड़केको बहुत डाँटा। संसारके एकमात्र धार्मिक सम्राट् हमारे आश्रममें आये और उनका सत्कार तो दूर रहा, अपमान हुआ और उन्हें मृत्युतकका शाप दे दिया गया! आगे आनेवाली अधर्मकी वृद्धिकी चिन्तासे ऋषि चिन्तित हो उठे, परंतु अब तो शाप दिया जा चुका था। राजाके पास संदेश भेज दिया। इसी शापसे परीक्षित्‌की मृत्यु हुई।

चोरीका दण्ड

मङ्किका वैराग्य
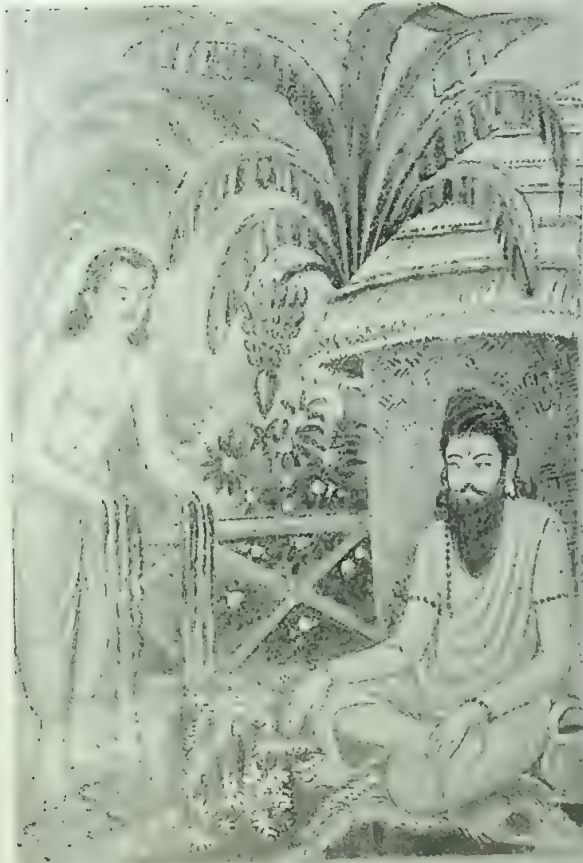
दुःखदायी परिहासका दुष्परिणाम

परिहाससे ऋषि-तिरस्कारका कुफल

स्वर्गमें अद्भुत दाता

मृत्युका कारण अपना ही कर्म

दुरभिमानका परिणाम

आश्रितका त्याग स्वीकार नहीं
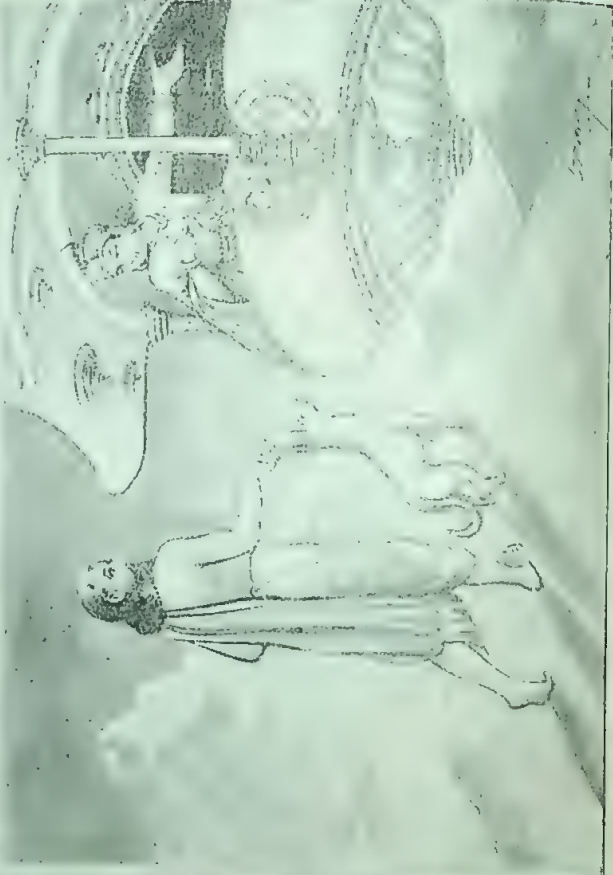
आश्रितका त्याग अभीष्ट नहीं

(धर्मराजकी धार्मिकता)

महाराज युधिष्ठिरने जब सुना कि श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी लीलाका संवरण कर लिया है और यादव परस्परके कलहसे ही नष्ट हो चुके हैं, तब उन्होंने अर्जुनके पौत्र परीक्षित्का राजतिलक कर दिया। स्वयं सब वस्त्र एवं आभूषण उतार दिये। मौन-व्रत लेकर, केश खोले, वीर-संन्यास लेकर वे राजभवनसे निकले और उत्तर दिशाकी ओर चल पड़े। उनके शेष भाइयों तथा द्रौपदीने भी उनका अनुगमन किया।

धर्मराज युधिष्ठिरने सब माया-मोह त्याग दिया था। उन्होंने न भोजन किया, न जल पिया और न विश्राम ही किया। बिना किसी ओर देखे या रुके वे बराबर चलते ही गये और हिमालयमें बद्रीनाथसे आगे बढ़ गये। उनके भाई तथा रानी द्रौपदी भी बराबर उनके पीछे चलती रहीं।

सत्पथ पार हुआ और स्वर्गारोहणकी दिव्य भूमि आयी। द्रौपदी, नकुल, सहदेव, अर्जुन—ये क्रम-क्रमसे गिरने लगे। जो गिरता था, वह वहीं रह जाता था। उस हिम-प्रदेशमें गिरकर फिर उठनेकी चर्चा ही व्यर्थ है। शरीर तो तत्काल हिम-समाधि पा जाता है। उस पावन प्रदेशमें प्राण त्यागनेवालेको स्वर्गकी प्राप्तिसे भला-कौन रोक सकता है। युधिष्ठिर न रुकते थे और न गिरते हुए भाइयों-की ओर देखते ही थे। वे राग-द्वेषसे परे हो चुके थे। अन्तमें भीमसेन भी गिर गये।

युधिष्ठिर जब स्वर्गारोहणके उच्चतम शिखरपर पहुँचे, तब भी अकेले नहीं थे। उनके भाई और रानी द्रौपदी मार्गमें गिर चुकी थीं, किंतु एक कुत्ता उनके साथ था। यह कुत्ता हस्तिनापुरसे ही उनके पीछे-पीछे आ रहा था। उस शिखरपर पहुँचते ही स्वयं देवराज इन्द्र विमानमें बैठकर आकाशसे उतरे। उन्होंने युधिष्ठिरका स्वागत करते हुए कहा—'आपके धर्माचरणसे स्वर्ग अब आपका है। विमानमें बैठिये।'

युधिष्ठिरने अब अपने भाइयों तथा द्रौपदीको भी स्वर्ग ले जानेकी प्रार्थना की। देवराजने बताया—'वे पहले ही वहाँ पहुँच गये हैं।'

युधिष्ठिरने दूसरी प्रार्थना की—'इस कुत्तेको भी विमानमें बैठा लें।'

इन्द्र—'आप धर्मज्ञ होकर ऐसी बात क्यों कहते हैं? स्वर्गमें कुत्तेका प्रवेश कैसे हो सकता है? यह अपवित्र प्राणी मुझे देख सका, यही बहुत है।'

युधिष्ठिर—'यह मेरे आश्रित है। मेरी भक्तिके कारण ही नगरसे इतनी दूर मेरे साथ आया है। आश्रितका त्याग अधर्म है। इस आश्रितका त्याग मुझे अभीष्ट नहीं। इसके बिना मैं अकेले स्वर्ग नहीं जाना चाहता।'

इन्द्र—'राजन्! स्वर्गकी प्राप्ति पुण्योंके फलसे होती है। यह पुण्यात्मा ही होता तो इस अधम योनिमें क्यों जन्म लेता?'

युधिष्ठिर—'मैं अपना आधा पुण्य इसे अर्पित करता हूँ।'

'धन्य हो, धन्य हो, युधिष्ठिर तुम! मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ!' युधिष्ठिरने देखा कि कुत्तेका रूप त्यागकर साक्षात् धर्म देवता उनके सम्मुख खड़े होकर उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं।—सु० सिं० (महाभारत, महाप्रास्थानिक० १-३)

मृत्युका कारण प्राणीका अपना ही कर्म है

प्राचीनकालमें एक गौतमी नामकी वृद्धा ब्राह्मणी थी। उसके एकमात्र पुत्रको एक दिन सर्पने काट लिया, जिससे वह बालक मर गया। वहाँपर अर्जुनक नामक एक व्याध इस घटनाको देख रहा था। उस व्याधने फंदेमें सर्पको बाँध लिया और उस ब्राह्मणीके पास ले आया। ब्राह्मणीसे व्याधने पूछा—'देवि! तुम्हारे पुत्रके हत्यारे इस सर्पको मैं अग्निमें डाल दूँ या काटकर टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ?'

धर्मपरायणा गौतमी बोली—'अर्जुनक! तुम इस सर्पको छोड़ दो। इसे मार डालनेसे मेरा पुत्र तो जीवित होनेसे रहा और इसके जीवित रहनेसे मेरी कोई हानि नहीं है। व्यर्थ हत्या करके अपने सिरपर पापका भार लेना कोई बुद्धिमान् व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता।'

व्याधने कहा—'देवि! वृद्ध मनुष्य स्वभावसे दयालु होते हैं; किंतु तुम्हारा यह उपदेश शोकहीन मनुष्योंके योग्य है। इस दुष्ट सर्पको मार डालनेकी तुम मुझे तत्काल आज्ञा दो।'

व्याधने बार-बार सर्पको मार डालनेका आग्रह किया; किंतु ब्राह्मणीने किसी प्रकार उसकी बात स्वीकार नहीं की। इसी समय रस्सीमें बँधा सर्प मनुष्यके स्वरमें बोला—'व्याध! मेरा

तो कोई अपराध है नहीं। मैं तो पराधीन हूँ, मृत्युकी प्रेरणासे मैंने बालकको काटा है।'

अर्जुनकपर सर्पकी बातका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह क्रोधपूर्वक कहने लगा—'दुष्ट सर्प ! तू मनुष्यकी भाषा बोल सकता है, यह जानकर मैं डरूँगा नहीं और न तुझे छोड़ूँगा। तूने चाहे स्वयं यह पाप किया या किसीके कहनेसे किया; परंतु पाप तो तूने ही किया। अपराधी तो तू ही है। अभी मैं अपने डंडेसे तेरा सिर कुचलकर तुझे मार डालूँगा।'

सर्पने अपने प्राण बचानेकी बहुत चेष्टा की। उसने व्याधको समझानेका प्रयत्न किया कि 'किसी अपराधको करनेपर भी दूत, सेवक तथा शस्त्र अपराधी नहीं माने जाते। उनको उस अपराधमें लगानेवाले ही अपराधी माने जाते हैं। अतः अपराधी मृत्युको मानना चाहिये।'

सर्पके यह कहनेपर वहाँ शरीरधारी मृत्यु देवता उपस्थित हो गया। उसने कहा—'सर्प ! तुम मुझे क्यों अपराधी बतलाते हो ? मैं तो कालके वशमें हूँ। सम्पूर्ण लोकोंके नियन्ता काल-भगवान् जैसा चाहते हैं, मैं वैसा ही करता हूँ।'

वहाँपर काल भी आ गया। उसने कहा—'व्याध! बालककी मृत्युमें न सर्पका दोष है, न मृत्युका और न मेरा ही। जीव अपने कर्मोंके ही वशमें है। अपने कर्मोंके ही अनुसार वह जन्मता है और कर्मोंके अनुसार ही मरता है। अपने कर्मके अनुसार ही वह सुख या दुःख पाता है। हमलोग तो उसके कर्मका फल ही उसको मिले, ऐसा विधान करते हैं। यह बालक अपने पूर्वजन्मके ही कर्मदोषसे अकालमें मर गया।'

कालकी बात सुनकर ब्राह्मणी गौतमीका पुत्रशोक दूर हो गया। उसने व्याधको कहकर बन्धनमें जकड़े सर्पको भी छुड़वा दिया।—सु० सिं० (महाभारत, अनुशासन० १)

दुरभिमानका परिणाम
(बर्बरीकका वध)

बर्बरीक भीमसेनका पोता और उनके पुत्र घटोत्कच-का पुत्र था। इसकी माता मौर्वी थी, जिसे शस्त्र, शास्त्र तथा बुद्धिद्वारा पराजितकर घटोत्कचने ब्याहा था। बर्बरीक बड़ा वीर था, इसने एक बार भीमसेनको अत्यन्त साधारण युद्ध-कौशलसे पराजित कर दिया था। जब पाण्डवोंके वनवासका तेरहवाँ वर्ष व्यतीत हुआ, तब सभी राजा उपप्लव्य नामक स्थानमें युद्धके लिये एकत्र हुए। वहाँसे चलकर महारथी पाण्डव कुरुक्षेत्रमें आये, जहाँ दुर्योधनादि कौरव पूर्वसे ही स्थित थे। उस समय भीष्मजीने दोनों पक्षोंके रथियों तथा अतिरथियोंकी गणना की थी। उसका सब समाचार जब गुप्तचरोंद्वारा महाराज युधिष्ठिरको मिला, तब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'केशव ! दुर्योधन-का 'कौन वीर कितने समयमें सेनासहित पाण्डवोंका वध कर सकता है ?' इस प्रश्नपर पितामह और कृपाचार्यने एक महीनेमें हम सबोंको मार डालनेकी प्रतिज्ञा की है। द्रोणाचार्यने पंद्रह दिनोंमें, अश्वत्थामाने दस दिनोंमें और सदा मुझे भयभीत करनेवाले कर्णने तो छः ही दिनोंमें सेना-सहित पाण्डवोंको मारनेकी घोषणा की है। देवकीनन्दन ! क्या हमारे पक्षमें ऐसा कोई योद्धा नहीं, जो इसकी कोई प्रतिक्रिया कर सके ?'

राजा युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर अर्जुन बोले—'महाराज ! भीष्म आदि महारथियोंकी ये सारी घोषणाएँ असंगत हैं; क्योंकि युद्धसम्बन्धी जय-पराजयका निश्चय किसी कामका नहीं होता। इधर आपके पक्षमें भी बहुत-से दुर्धर्ष राजा हैं, जो कालके समान अजेय हैं। भला सात्यकि, भीमसेन, द्रुपद, घटोत्कच, विराट, धृष्टद्युम्न आदिसे कौन पार पा सकेगा ? सर्वथा अजेय भगवान् श्रीकृष्ण भी आपके ही पक्षमें हैं। मैं तो समझता हूँ इनमेंसे एक-एक वीर सारी कौरव-सेनाका संहार कर सकता है। भला, बूढ़े बाबा भीष्म, द्रोण और कृपसे अपनेको क्या भय है। पर इतनेपर भी यदि आपके चित्तको शान्ति न होती हो तो लीजिये—'मैं अकेला ही युद्धमें सेनासहित समस्त कौरवोंको एक ही दिनमें नष्ट कर सकता हूँ—यह घोषणा मेरी है।'

अर्जुनकी बात सुनकर बर्बरीकने कहा—'महात्मा अर्जुन-की प्रतिज्ञा मेरे लिये असह्य हो रही है। इसलिये मैं कहता हूँ, अर्जुन और श्रीकृष्णसहित आपलोग सब खड़े रहें। मैं एक ही मुहूर्तमें सारी कौरव-सेनाको यमलोक पहुँचा देता हूँ। सिद्धाम्बिकाके दिये इस खड्ग तथा मेरे इन दिव्य धनुष-बाणोंको तो जरा देखिये ! इनके सहारे मेरा यह कृत्य सर्वथा सुगम है।'

बर्बरीककी बात सुनकर सभी क्षत्रिय विस्मित हो गये। अर्जुन भी लज्जित हो गये और श्रीकृष्णकी ओर देखने

लगे। श्रीकृष्णने कहा—'पार्थ ! बर्बरीकने अपनी शक्तिके अनुरूप ही बात कही है। इसके विषयमें बड़ी अद्भुत बातें सुनी जाती हैं। पहले इसने पातालमें जाकर नौ करोड़ दैत्योंको क्षणभरमें मौतके घाट उतार दिया था।' फिर उन्होंने बर्बरीकसे कहा—'वत्स ! तुम भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण आदि महारथियोंसे सुरक्षित सेनाको इतना शीघ्र कैसे मार सकोगे ? इनपर विजय पाना तो महादेवजीके लिये भी कठिन है। तुम्हारे पास ऐसा कौन-सा उपाय है, जो इस प्रकारकी बात कह रहे हो। मैं तुम्हारी इस बातपर कैसे विश्वास करूँ ?'

वासुदेवके इस प्रकार पूछनेपर बर्बरीकने तुरंत ही अपना धनुष चढ़ाया और उसपर बाण संधान किया। फिर उस बाणको उसने लाल रंगके भस्मसे भर दिया और कानतक खींचकर छोड़ दिया। उस बाणके मुखसे जो भस्म उड़ा, वह दोनों सेनाओंके मर्मस्थलोंपर गिरा। केवल पाँच पाण्डव, कृपाचार्य और अश्वत्थामाके शरीरसे उसका स्पर्श नहीं हुआ। अब बर्बरीक बोला—'आपलोगोंने देखा ! इस क्रियासे मैंने मरनेवाले वीरोंके मर्मस्थानका निरीक्षण कर लिया। अब बस दो घड़ीमें इन्हें मार गिराता हूँ।'

यह देख-सुनकर युधिष्ठिर आदिके चित्तमें बड़ा विस्मय हुआ। सभी लोग बर्बरीकको 'धन्य ! धन्य !' कहने लगे। इससे महान् कोलाहल छा गया। इतनेमें ही श्रीकृष्णने अपने तीक्ष्ण चक्रसे बर्बरीकका मस्तक काट गिराया। इससे भीम, घटोत्कच आदिको बड़ा क्लेश हुआ। इसी समय सिद्धाम्बिका आदि देवियाँ वहाँ आ पहुँचीं और उन्होंने बतलाया कि इसमें श्रीकृष्णका कोई अपराध नहीं। बर्बरीक पूर्वजन्ममें सूर्यवर्चा नामका यक्ष था। जब पृथ्वी भारसे घबराकर मेरु पर्वतपर देवताओंके सामने अपना दुखड़ा रो रही थी, तब इसने कहा था कि 'मैं अकेला ही अवतार लेकर सब दैत्योंका संहार करूँगा। मेरे रहते किसी देवताको भी पृथ्वीपर अवतार लेनेकी आवश्यकता नहीं।' इसपर ब्रह्माजीने क्रुद्ध होकर कहा था—'दुर्मते ! तू मोहवश यह दुस्साहस कर रहा है। अतएव जब पृथ्वीभार-नाशके लिये युद्धका आरम्भ होगा, उसी समय श्रीकृष्णके हाथसे तेरे शरीरका नाश होगा।'

तदनन्तर श्रीकृष्णने फिर चण्डिकासे कहा—'इसके सिरको अमृतसे सींचो और राहुके सिरकी भाँति अजर-अमर बना दो। देवीने वैसा ही किया। जीवित होनेपर मस्तकने भगवान्‌को प्रणाम किया और कहा—'मैं युद्ध देखना चाहता हूँ।' तब भगवान्‌ने उसके मस्तकको पर्वत-शिखरपर स्थिर कर दिया। जब युद्ध समाप्त हुआ, तब भीमसेनादिको अपने युद्धका बड़ा गर्व हुआ और सब अपनी-अपनी प्रशंसा करने लगे। अन्तमें निर्णय हुआ कि चलकर बर्बरीकके मस्तकसे पूछा जाय। जब उससे जाकर पूछा गया, तब उसने कहा—'मैंने तो शत्रुओंके साथ केवल एक ही पुरुषको युद्ध करते देखा है। उस पुरुषके बायीं ओर पाँच मुख और दस हाथ थे, जिनमें वह त्रिशूल आदि आयुध धारण किये था और दाहिनी ओर उसके एक मुख और चार भुजाएँ थीं, जो चक्र आदि शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित थीं। बायीं ओरके मस्तक जटाओंसे सुशोभित थे और दाहिनी ओरके मस्तकपर मुकुट जगमगा रहा था। वह बायीं ओर भस्म धारण किये था और दाहिनी ओर चन्दन लगा था। बायीं ओर चन्द्रकला चमक रही थी और दाहिनी ओर कौस्तुभमणि झलमला रही थी। उसी (रुद्र-विष्णुरूप) पुरुषने सारी कौरव सेनाका विनाश किया था। मैंने उसके अतिरिक्त किसी अन्यको सेनाका संहार करते नहीं देखा।' उसके यों कहते ही आकाशमण्डल उद्भासित हो उठा। उससे पुष्पवृष्टि होने लगी और साधु-साधुकी ध्वनिसे आकाश भर गया।

इसपर भीम आदि अपने गर्वपर बड़े लज्जित हुए।—जा० श०

(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, कुमारिकाखण्ड ६१-६२)

जुआरीसे राजा

(स्वर्गमें अद्भुत दाता)

प्राचीनकालमें देव-ब्राह्मणनिन्दक एक प्रसिद्ध जुआरी था। वह महापापी तथा व्यभिचार आदि अन्य दुर्गुणोंसे भी दूषित था। एक दिन कपटपूर्वक जूएसे उसने बहुत धन जीता। फिर अपने हाथोंसे पानका स्वस्तिकाकार बीड़ा बनाकर तथा गन्ध और माला आदि सामग्री लेकर एक वेश्याको भेंट देनेके लिये उसके घरकी ओर दौड़ा। रास्तेमें पैर लड़खड़ाये, पृथ्वीपर गिरा और मूर्च्छित हो गया। जब होश आया, तब उसे बड़ा खेद तथा वैराग्य हुआ। उसने अपनी सारी सामग्री बड़े शुद्धचित्तसे वहीं पड़ रहे एक शिवलिङ्गको समर्पित कर दी। बस, जीवनमें उसके द्वारा यह एक ही पुण्यकर्म सम्पन्न हुआ।

कालान्तरमें उसकी मृत्यु हुई। यमदूत उसे यमलोक ले

गये। यमराज बोले—'ओ मूर्ख! तू अपने पापके कारण बड़े-बड़े नरकोंमें यातना भोगने योग्य है।' उसने कहा—'महाराज! यदि मेरा कोई पुण्य भी हो तो उसका विचार कर लीजिये।' चित्रगुप्तने कहा—'तुमने मरनेके पूर्व थोड़ा-सा गन्धमात्र भगवान् शङ्करको अर्पित किया है। इसके फल-स्वरूप तुझे तीन घड़ीतक स्वर्गका शासन—इन्द्रका सिंहासन प्राप्त होगा।' जुआरीने कहा—'तब कृपया मुझे पहले पुण्यका ही फल प्राप्त कराया जाय।'

अब यमराजकी आज्ञासे उसे स्वर्ग भेज दिया गया। देवगुरु बृहस्पतिने इन्द्रको समझाया कि 'तुम तीन घड़ीके लिये अपना सिंहासन इस जुआरीके लिये छोड़ दो। पुनः तीन घड़ीके बाद यहाँ आ जाना।' अब इन्द्रके जाते ही जुआरी स्वर्गका राजा बना। उसने सोचा कि 'बस, अब भगवान् शङ्करके अतिरिक्त कोई शरण नहीं।' इसलिये अनुरक्त होकर उसने अपने अधिकृत पदार्थोंका दान करना आरम्भ किया। महादेवजीके उस भक्तने ऐरावत हाथी अगस्त्यजीको दे दिया। उच्चैःश्रवा अश्व विश्वामित्रजीको दे डाला। कामधेनु गाय महर्षि वसिष्ठको दे डाली। चिन्तामणि रत्न गालवजीको समर्पित किया। कल्पवृक्ष उठाकर कौण्डिन्य मुनिको दे दिया। इस प्रकार जबतक तीन घड़ियाँ समाप्त नहीं हुईं वह दान करता ही गया और प्रायः वहाँके सारे बहुमूल्य पदार्थोंको दे ही डाला। इस प्रकार तीन घड़ियाँ बीत जानेपर वह स्वर्गसे चला गया।

जब इन्द्र लौटकर आये, तब अमरावती ऐश्वर्यशून्य पड़ी थी। वे बृहस्पतिजीको लेकर यमराजके पास पहुँचे और बिगड़कर बोले—'धर्मराज! आपने मेरा पद एक जुआरीको देकर बड़ा अनुचित कार्य किया है। उसने वहाँ पहुँचकर बड़ा बुरा काम किया। आप सच मानें उसने मेरे सभी रत्न ऋषियोंको दान कर दिये और अमरावती सूनी-सी पड़ी है।'

धर्मराज बोले—'आप बूढ़े हो गये, किंतु अभीतक आपकी राज्य-विषयक आसक्ति दूर नहीं हुई। जुआरीका पुण्य आपके सौ यज्ञोंसे कहीं महान् हुआ। बड़ी भारी सत्ता हस्तगत हो जानेपर जो प्रमादमें न पड़कर सत्कर्ममें तत्पर होते हैं, वे ही धन्य हैं। जाइये, अगस्त्यादि ऋषियोंको धन देकर या चरणोंमें पड़कर अपने रत्न लौटा लीजिये।' 'बहुत अच्छा' कहकर इन्द्र स्वर्ग आये और इधर वही जुआरी पूर्वाभ्यासवशात् तथा कर्मविपाकानुसार बिना नरक भोगे ही महादानी विरोचनपुत्र बलि हुआ। —जा० श०

(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, केदारखण्ड, अध्याय १८)

दृढ़ निष्ठा

पर्वतराजकुमारी उमा तपस्या कर रही थीं। उनके जो नित्य-आराध्य हैं, वे ठहरे नित्य-निष्काम। उन योगीश्वर चन्द्रमौलिमें कामना होगी और वे पाणिग्रहण करेंगे किसी कुमारीका, यह तो सम्भावना ही नहीं। परंतु वे हैं आशुतोष। जब वे औढरदानी प्रसन्न हो जाते हैं, उनके चरणोंमें किसीकी कैसी भी कामना अपूर्ण कहाँ रही है। इसलिये पार्वती उन शशाङ्कशेखरको तपस्यासे प्रसन्न करना चाहती थीं।

जिसकी आराधना की जा रही थी, वह स्वयं आया था; किंतु जबतक वह स्वयं अपना परिचय न दे, उसे कोई पहचान कैसे सकता है। पार्वतीके सम्मुख तो एक युवक ब्रह्मचारी खड़ा था। रूखी जटाएँ, वल्कल पहिने, कमण्डलु और पलाशदण्ड लिये वह ब्रह्मचारी—बड़ा वाचाल था वह। तपस्विनी उमाका अर्घ्य स्वीकार करनेसे पूर्व ही उसने उनकी तपस्याका कारण पूछा और तब उसकी वाणी पता नहीं कैसे अनियन्त्रित हो उठी—

'सभी देवता और लोकपाल तुम्हारे पिता हिमालयके प्रदेशोंमें ही रहते हैं। तुम्हारे-जैसी सुकुमारी क्या तपस्याके योग्य है? मैंने दीर्घकालतक तप किया है, चाहो तो मेरा आधा या पूरा तप ले लो; पर तुम्हें चाहिये क्या? तुम्हें अलभ्य क्या है? तुम इच्छा करो तो त्रिभुवनके स्वामी भगवान् विष्णु भी ···········।'

लेकिन उमाने ऐसा भाव दिखाया कि ब्रह्मचारी दो क्षणको रुक गया; किंतु वह फिर बोला—'तुम्हें क्या धुन चढ़ी है? योग्य वरमें तीन गुण देखे जाते हैं—१–सौन्दर्य, २–कुलीनता और ३–सम्पत्ति। इन तीनोंमेंसे एक भी नाम-मात्रको भी शिवमें है? नीलकण्ठ, त्रिलोचन, जटाधारी, विभूति पोते, साँप लपेटे, त्रिशूल, डमरू और खप्पर लिये शिवमें कहीं सौन्दर्य दीखता है तुम्हें? उनकी सम्पत्तिका तो

पूछना ही क्या—नंगे रहते हैं या बहुत हुआ तो चमड़ा लपेट लिया। कोई नहीं जानता कि उनकी उत्पत्ति कैसे हुई।'

ब्रह्मचारी पता नहीं क्या-क्या कहता; किंतु यह आराध्यकी निन्दा सुने कौन ? उमाका तो दृढ़ निश्चय था—

जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥

अतः वे अन्यत्र जानेको उठ खड़ी हुईं। जहाँ ऐसी दृढ़ निष्ठा है, वहाँ लक्ष्य कहीं अप्राप्त रह सकता है।

—सु० सिं०

किसी भी बहानेसे धर्मका त्याग नहीं कर सकता

पाँचों पाण्डवोंने भगवान् व्यासकी अनुमतिसे यह नियम कर लिया था कि एक नियमित समयतक द्रौपदीके साथ एक भाई एकान्तमें रहेगा। उस समय दूसरा भाई वहाँ नहीं जायगा। यदि कोई द्रौपदीके एकान्तवासको देख लेगा तो वह बारह वर्षके लिये राज्यसे बाहर निर्वासित होकर रहेगा। एक बारकी बात है। लुटेरोंने ब्राह्मणकी गायें लूट लीं। उन्होंने पुकार मचायी। अर्जुनने ब्राह्मणको आश्वासन दिया। पर यह अड़चन थी कि जिस घरमें अर्जुनके अस्त्र-शस्त्र थे, उसीमें द्रौपदीजीके पास राजा युधिष्ठिर थे। अर्जुनने ब्राह्मणके गोधनकी तथा युधिष्ठिरके राज्यधर्मकी रक्षाके लिये घरमें जाकर अस्त्र लानेका निश्चय किया और वे घरमें जाकर धनुष आदि ले आये और ब्राह्मणकी गौ छुड़ा लाये।

प्रातःकाल युधिष्ठिरके पास जाकर अर्जुनने कहा—'महाराज! मैंने एकान्त घरमें जाकर नियम भङ्ग किया है, अतः बारह वर्षके निर्वासनकी मुझे आज्ञा दीजिये।' युधिष्ठिरने व्याकुल होकर कहा—'भाई! तुमने तो मेरा राज्य-धर्म बचाया है, ब्राह्मणकी रक्षा की है, अपने धर्मका पालन किया है। मुझे इससे तनिक भी दुःख नहीं हुआ। फिर बड़ा भाई यदि अपनी पत्नीके पास बैठा हो तो वहाँ छोटे भाईका जाना अपराध नहीं है। हाँ, बड़े भाईको छोटे भाईके एकान्तमें नहीं जाना चाहिये। इससे न तो तुम्हारे धर्मका लोप हुआ है, न मेरा अपमान। अतएव तुम यह विचार छोड़ दो।' अर्जुनने कहा—'महाराज! आपकी ही तो यह सम्मति है कि धर्मके पालनमें कोई भी बहानेबाजी नहीं करनी चाहिये। फिर मैं किसी बहानेका सहारा लेकर धर्म क्यों छोड़ूँ। किसी भी युक्तिसे मैं अपनी सत्य-प्रतिज्ञाको नहीं तोड़ सकता।' युधिष्ठिरने मूक सम्मति दी। अर्जुन चले गये।

नियम-निष्ठाका प्रभाव

महर्षि जरत्कारुने पितरोंकी आज्ञासे वंशपरम्परा चलानेके लिये विवाह करना भी स्वीकार किया तो इस नियमके साथ कि वे तभी विवाह करेंगे जब उनके ही नामवाली कन्याको कन्याके अभिभावक उन्हें भिक्षाकी भाँति अर्पित करें। परंतु भाग्यका विधान सफल होकर ही रहता है। नागराज वासुकिकी बहिनका नाम भी जरत्कारु था और उसे लाकर स्वयं वासुकिने ऋषिको अर्पित किया।

ऋषिने वासुकिसे कहा—'अपनी बहिन और उससे उत्पन्न होनेवाली संतानका भरण-पोषण तुम्हें ही करना पड़ेगा। मैं तभीतक इसके साथ रहूँगा, जबतक यह मेरी आज्ञा मानेगी और मेरे किसी काममें विघ्न नहीं डालेगी। मेरे किसी कार्यमें इसके द्वारा बाधा पड़ी तो मैं इसे छोड़कर चला जाऊँगा। तुम्हें यह सब स्वीकार हो तभी मैं इसे पत्नी बनाऊँगा।'

ब्रह्माजीने वासुकि नागको बतलाया था कि राजा जनमेजय आगे सर्पयज्ञ करेंगे। उस सर्पयज्ञसे वासुकि तथा अन्य धर्मात्मा नागोंकी रक्षा ऋषि जरत्कारुका औरस पुत्र ही कर सकेगा। इसलिये ऋषिकी सब बातें वासुकिने स्वीकार कर लीं।

जरत्कारु ऋषि पत्नीके साथ नागलोकमें आनन्दपूर्वक रहने लगे। उनकी पत्नी बड़ी सावधानीसे ऋषिकी सेवामें तत्पर रहने लगीं। वे अपने तेजस्वी पतिकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करतीं और उन्हें संतुष्ट रखनेका पूरा ध्यान रखतीं।

एक दिन संध्याके समय दिनभरकी उपासना एवं तपस्यासे थके ऋषि पत्नीकी गोदमें मस्तक रखकर सो रहे थे। सूर्यास्तका समय हो गया। ऋषिपत्नी चिन्तित होकर सोचने लगीं—'यदि मैं इन्हें जगाती हूँ तो ये क्रोध करके मुझे त्यागकर चले जायँगे और यदि नहीं जगाती हूँ तो सूर्यास्त हो जायगा, सायंकालकी संध्याका समय बीत जानेसे इनका धर्म नष्ट होगा।'

उस पतिव्रताने अन्तमें निश्चय किया—'मुझे अपने

स्वार्थका त्याग करना चाहिये । भले क्रोध करके पतिदेव मुझे त्याग दें; किंतु उनका धर्म सुरक्षित रहना चाहिये ।' उसने नम्रतापूर्वक कहा—'देव ! सूर्यनारायण अस्ताचलपर जा रहे हैं । उठिये ! संध्या-वन्दन कीजिये । आपके अग्निहोत्रका समय हो गया है ।' ऋषि उठे । क्रोधसे उनके नेत्र लाल हो गये, होंठ फड़कने लगे । वे बोले—'नागकन्या ! तूने मेरा अपमान किया है, अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार मैं तेरे पास नहीं रह सकता । मैंने नियमपूर्वक सदा सूर्यको समयपर अर्घ्य दिया है, अतः मेरे उठकर अर्घ्य देनेतक वे अस्त हो नहीं सकते थे । किसी नियम-निष्ठकी निष्ठाका लोप करनेकी शक्ति किसी देवता या लोकपालमें नहीं होती ।'

ऋषि चले गये । वे नित्य विरक्त—उन्हें तो एक बहाना चाहिये था गृहस्थीसे छुटकारा पानेके लिये । नागकन्या जरत्कारु उस समय गर्भवती थीं । उनके गर्भसे नागोंको जनमेजयके सर्पयज्ञसे बचानेवाले आस्तीक मुनि उत्पन्न हुए ।

—सु० सिं० (महाभारत, आदि० ४७)

आसक्तिसे बन्धन

भगवान् ऋषभदेवने विरक्त होकर वनमें जाते समय अपने सौ पुत्रोंमें ज्येष्ठ पुत्र भरतको राज्य दिया था । दीर्घ कालतक भरत पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् रहे और धर्मपूर्वक उन्होंने प्रजाका पालन किया । उनकी पत्नी पतिव्रता एवं सुशीला थीं तथा उनके पाँचों पुत्र पितृभक्त तथा गुणवान् थे । सभी सेवक-सचिव महाराज भरतकी सेवामें तत्पर रहते थे । परंतु मनुष्य-जीवनका लक्ष्य भोग तो है नहीं । भरत स्वयं विद्वान्, भगवद्भक्त एवं विषयोंमें अनासक्त थे और अपने पिता ऋषभदेवसे भी उन्हें दैवी सम्पत्ति ही प्राप्त हुई थी । प्रजापालन तो पितृ-आज्ञा मानकर कर्तव्य-बुद्धिसे वे करते थे । जब पुत्र युवा हो गये, तब भरतने उन्हें राज्यका भार सौंप दिया और स्वयं एकाकी, निष्परिग्रह भगवदाराधनाके लिये राजधानीसे दूर पुलहाश्रम चले गये । जो कलतक समस्त भोगोंकी गोदमें क्रीडा करता था, समस्त भूमण्डल-का सम्राट् था, वह स्वेच्छासे वनमें कठोर तपस्वी-जीवन व्यतीत करने लगा ।

वनके पुष्प, फल आदि एकत्र कर लाना और उससे भगवान्‌की पूजा करना—यही भरतका दैनिक जीवन हो गया । जप, तप और पूजन—वनमें भी गये तो स्नान करने या पूजन-सामग्री लाने—पूरा जीवन आराधनामय बन गया भरतका । वे विवेकी थे, भगवद्भक्त थे, विरक्त थे और अब इस तपस्याने रहे-सहे चित्तके मलको भी समाप्तप्राय कर दिया ।

संयोगकी बात—एक दिन भरत अपने आश्रमके पासकी नदीमें स्नान करके जलमें ही खड़े-खड़े जप कर रहे थे, उसी समय अपने यूथसे किसी प्रकार बिछुड़ी हुई अकेली मृगी वहाँ नदीमें जल पीने आयी । मृगी प्यासी थी, थकी थी, गर्भवती थी । वह पूरा जल पी भी नहीं सकी थी कि वनमें कहीं पास ही सिंहकी गर्जना सुनायी पड़ी । भयके मारे मृगी बिना प्यास बुझाये ही घूमी और कगारपर जानेके लिये छलाँग लगा दी उसने । फल यह हुआ कि उस पूर्णगर्भा हिरनीके पेटका बच्चा निकल पड़ा और नदीके जलमें गिरकर प्रवाहमें बहने लगा । मृगी इस धक्केको सह नहीं सकी, वह किसी प्रकार कुछ दूर गयी और अन्तमें एक पर्वतीय गुफामें बैठ गयी । वहीं प्राण त्याग दिये उसने ।

जलमें जप करते खड़े भरतजी यह सब देख रहे थे । मृगीके गर्भसे जलमें गिरा बच्चा जब प्रवाहमें बहने लगा, तब उनको दया आ गयी । उन्होंने उस नवजात मृगशिशुको जलसे उठा लिया गोदमें और जप समाप्त करके उसे लेकर अपनी कुटियामें आ गये । वे उस हिरनके बच्चेको ले तो आये; किंतु एक समस्या खड़ी हो गयी कि उसकी जीवन-रक्षा कैसे हो । किसी प्रकार सतत सावधानीसे भरतने उसे बचा लिया । कुछ दिनोंमें मृगशिशु स्वयं तृण चरने योग्य हो गया ।

यहाँतक सब बातें ठीक हुईं । एक मृत्युके मुखमें पड़े प्राणीको बचा लेना कर्तव्य था, पुण्य था और नदीसे निकाल देनेसे ही वह कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता था । मृगशिशु स्वयं आहार लेनेमें और दौड़नेमें समर्थ न हो जाय, वहाँतक उसका पालन एवं रक्षा तो सर्वथा उचित थी; किंतु मनके भीतर जो मायाके सेवक छिपे बैठे हैं, वे तो जीवको बाँधनेका समय देखते रहते हैं । कभीके सम्राट् भरत, जो साम्राज्यके वैभवका, अपने पुत्रादिका भी त्याग कर चुके थे, उनकी आसक्ति मनसे सर्वथा निकाल चुके थे, वनमें एकाकी थे । अकेलेपनका गुप्त भान था मनमें और सप्ताहोंतक उन्हें उस मृगशिशुका बराबर ध्यान रखना पड़ा । सावधानीसे उसका पालन करना पड़ा । मोहको अवसर मिल गया, अनासक्त भरतकी मृग-

शिशुमें आसक्ति हो गयी। उस हिरनीके बच्चेमें उन्हें ममत्व हो गया।

मन बड़ा धूर्त है। वह अपने दोषोंको कर्तव्य, धर्म, आवश्यक आदि नाना तर्कोंसे सिद्ध करता ही रहता है। भरतके मनने भी उनसे कहना प्रारम्भ किया—'यह बेचारा मृगशावक अनाथ है, इसकी माता मर गयी है, अब हमीं इसके माता-पिता हैं, यह हमारी शरण है, इसका पालन-पोषण हमारा कर्तव्य है।' मनके दोष जहाँ एक बार अवसर पा जाते हैं, वहाँ फिर तरङ्गसे समुद्र बनते उन्हें कहाँ देर लगती है। मृगशावकमें भरतका मोह बढ़ता गया। वे संध्या-पूजाके बीचमें भी उसे उठकर देख लेते, पूजनके पश्चात् उसे आशीर्वाद देते, यदि मृगशावक कहीं वनमें चला जाता तो व्याकुल होकर उसकी प्रतीक्षा करते और कुछ देर होती उसके लौटनेमें तो उसके सकुशल लौटनेकी देवताओंसे प्रार्थना करने लगते।

काल तो किसी बातकी प्रतीक्षा करता नहीं। भरतका भी जीवनकाल समाप्त हुआ और मृत्युका समय आया। मृगशावक, जो अब मृग हो चुका था, उनसे अत्यन्त प्रेम करने लगा था। मृत्युके समय वह उनके समीप बैठा उनकी ही ओर देख रहा था। भरत भी उसे बड़े स्नेहसे देख रहे थे और व्याकुल होकर सोच रहे थे—'मेरे बिना यह बेचारा कैसे रहेगा?' इसी दशामें उनका शरीर छूट गया। भगवान्ने तो स्पष्ट बता दिया है गीतामें—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(८।६)

साम्राज्यत्यागी विरक्त, शास्त्रज्ञ और ज्ञानी, दीर्घकालतक भगवदाराधना करनेवाले भरत मृगशावकका चिन्तन करते मरे; इससे उन्हें मृगयोनिमें जन्म लेना पड़ा। उनका जन्म हुआ कालिञ्जरमें एक मृगीके गर्भसे। परंतु भगवान्की आराधना व्यर्थ नहीं जाती। भरतको उनकी आराधनाने यह शक्ति दे दी थी कि मृगशरीरमें भी उन्हें पूर्वजन्मका स्मरण बना रहा। फल यह हुआ कि जैसे ही मृगशरीरमें वे चलने-दौड़ने योग्य हुए कि कालिञ्जरसे भागकर अकेले ही फिर पुलहाश्रम आ गये और वहाँ केवल वृक्षोंसे अपने आप सूखकर गिरे पत्ते खाकर रहने लगे। समय आने-पर वहाँके पवित्र तीर्थ-जलमें स्नान करके उन्होंने शरीर त्याग दिया।

भरतका तीसरा जन्म हुआ एक ब्राह्मणके यहाँ। यहाँ भी उन्हें अपने पूर्वजन्मोंका स्मरण तथा ज्ञान बना रहा। इसलिये उन्होंने अपनेको ऐसा बना लिया जैसे वे सर्वथा बुद्धिहीन, पागल हों। उन्हें बराबर भय रहता था कि बुद्धिमान् एवं व्यवहारकुशल बननेसे सांसारिक व्यवहारमें पड़कर कहीं आसक्ति न हो जाय। उनके व्यवहारका अटपटापन देखकर लोग उन्हें 'जड' कहने लगे। इससे उनका नाम ही जडभरत पड़ गया। यही उनका अन्तिम जन्म था।—सु० सिं० (श्रीमद्भागवत ५।७-८)

श्रद्धा, धैर्य और उद्योगसे अशक्य भी शक्य होता है

महाराज सगरके साठ सहस्र पुत्र महर्षि कपिलका अपमान करके अपने ही अपराधसे भस्म हो गये थे। उनके उद्धारका केवल एक मार्ग था—उनकी भस्म गङ्गाजलमें पड़े। परंतु उस समयतक गङ्गाजी पृथ्वीपर आयी नहीं थीं। वे तो ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके कमण्डलुमें ही थीं। सगरके पौत्र अंशुमान्ने उनको पृथ्वीपर लानेके लिये तपस्या प्रारम्भ की और तपस्या करते-करते ही उनका देहावसान भी हो गया। उनके पुत्र दिलीपने तपस्या करके पिताके कार्यको पूरा करना चाहा, किंतु वे भी असफल रहे। उनकी आयु भी तपस्या करते-करते समाप्त हो गयी। दिलीपके पुत्र भगीरथने जैसे ही देखा कि उनका ज्येष्ठ पुत्र राज्यकार्य चला सकता है, उसे राज्य दे दिया और स्वयं वनमें चले गये। पिता-पितामह जिस कार्यको पूरा नहीं कर सके थे, उसे उन्हें पूरा करना था।

दीर्घकालीन तपस्याके पश्चात् गङ्गाजीने प्रसन्न होकर दर्शन भी दिया तो बोलीं—'मेरे वेगको सहेगा कौन? वैसे भी मैं पृथ्वीपर नहीं आना चाहती; क्योंकि यहाँके पापी मुझमें स्नान करेंगे। उनका पाप मुझमें रह जायगा। वह पाप कैसे नष्ट होगा?'

भगीरथने निवेदन किया—'भगवान् शंकर आपका वेग सम्हाल लेंगे। पापका भय आप न करें। भगवद्भक्त महात्मा-गण भी आपमें स्नान करेंगे। उनके हृदयमें पापहारी श्रीहरि निवास करते हैं। अतः उन भक्तोंके स्पर्शसे आप सदा शुद्ध बनी रहेंगी।'

गङ्गाजी प्रसन्न हो गयीं। भगीरथको फिर तपस्या करके शंकरजीको प्रसन्न करना पड़ा। आशुतोषने गङ्गाजीको मस्तकपर धारण करना स्वीकार कर लिया। परंतु ब्रह्मलोकसे पूरे वेगसे आकर गङ्गाजी उन विराट्मूर्ति धूर्जटिकी जटाओंमें ही समा गयीं। वहाँसे उनका एक बूँद जल भी बाहर नहीं आया। भगीरथने फिर सदाशिवकी स्तुति प्रारम्भ की, तब कहीं जटा निचोड़कर शंकरजीने गङ्गाको बाहर प्रकट किया।

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि।' भगीरथके साथ गङ्गाजीने यह निश्चय किया था कि भगीरथ रथपर बैठकर आगे-आगे चलें और पीछे-पीछे गङ्गाजीका प्रवाह चले। किंतु कुछ दूर जानेपर भगीरथ देखते हैं कि गङ्गाका प्रवाह तो कहीं दीख नहीं रहा है। बात यह हुई कि मार्गमें गङ्गाजी जह्नु ऋषिका आसन-कमण्डलु अपनी धाराके साथ बहा ले गयीं, अतः क्रोधमें आकर ऋषिने गङ्गाको ही पी लिया था। भगीरथने पीछे लौटकर देखा कि गङ्गाजीके प्रवाहके स्थानपर रेत उड़ रही है। अब उन्होंने किसी प्रकार प्रार्थना करके ऋषिको प्रसन्न किया। ऋषिने गङ्गाको अपनी पुत्री बनाकर, जाँघ चीरकर बाहर निकाला। इससे गङ्गाजी जाह्नवी कहलायीं।

भगीरथकी तपस्या, श्रद्धा, धैर्य और उद्योगके प्रभावसे उनके पूर्वज सगरके पुत्रोंकी भस्म गङ्गाजलमें पड़ी। वे मुक्त हो गये। साथ ही संसारका अपार कल्याण हुआ। परमपावन गङ्गा-प्रवाह मर्त्यलोकके प्राणियोंके लिये सुगम हो गया।

—सु० सिं०

(श्रीमद्भागवत ९। ८-९)

लक्ष्यके प्रति एकाग्रता

द्रोणाचार्य पाण्डव एवं कौरव राजकुमारोंको अस्त्र-शिक्षा दे रहे थे। बीच-बीचमें आचार्य अपने शिष्योंके हस्तलाघव, लक्ष्यवेध, शस्त्र-चालनकी परीक्षा भी लिया करते थे। एक बार उन्होंने एक लकड़ीका पक्षी बनवाकर एक सघन वृक्षकी ऊँची डालपर रखवा दिया। राजकुमारोंको कहा गया कि उस पक्षीके बायें नेत्रमें उन्हें बाण मारना है। सबसे बड़े राजकुमार युधिष्ठिरने धनुष उठाकर उसपर बाण चढ़ाया। इसी समय आचार्यने उनसे पूछा—'तुम क्या देख रहे हो ?'

युधिष्ठिर सहजभावसे बोले—'मैं वृक्षको, आपको तथा अपने सभी भाइयोंको देख रहा हूँ।'

आचार्यने आज्ञा दी—'तुम धनुष रख दो !'

युधिष्ठिरने चुपचाप धनुष रख दिया। अब दुर्योधन उठे। बाण चढ़ाते ही उनसे भी वही प्रश्न आचार्यने किया। दुर्योधनने कहा—'सभी कुछ तो देख रहा हूँ। इसमें पूछनेकी क्या बात है।'

उन्हें भी धनुष रख देनेका आदेश हुआ। इसी प्रकार बारी-बारीसे सभी पाण्डव एवं कौरव राजकुमार उठे। सबने धनुष चढ़ाया। सबसे वही प्रश्न आचार्यने किया। सबने लगभग एक ही उत्तर दिया। सबको बिना बाण चलाये धनुष रख देनेकी आज्ञा आचार्यने दे दी। सबके अन्तमें आचार्यकी आज्ञासे अर्जुन उठे और उन्होंने धनुषपर बाण चढ़ाया। उनसे भी आचार्यने पूछा—'तुम क्या देख रहे हो ?'

अर्जुनने उत्तर दिया—'मैं केवल यह वृक्ष देख रहा हूँ।'

आचार्यने फिर पूछा—'मुझे और अपने भाइयोंको तुम नहीं देखते हो ?'

अर्जुन—'इस समय तो मैं आपमेंसे किसीको नहीं देख रहा हूँ।'

आचार्य—'इस वृक्षको तो तुम पूरा देखते हो ?'

अर्जुन—'पूरा वृक्ष मुझे अब नहीं दीखता। मैं तो केवल वह डाल देखता हूँ, जिसपर पक्षी है।'

आचार्य—'कितनी बड़ी है वह शाखा ?

अर्जुन—'मुझे यह पता नहीं, मैं तो पक्षीको ही देख रहा हूँ।'

आचार्य—'तुम्हें दीख रहा है कि पक्षीका रंग क्या है?'

अर्जुन—'पक्षीका रंग तो मुझे इस समय दीखता नहीं। मुझे केवल उसका वाम नेत्र दीखता है और वह नेत्र काले रंगका है।'

आचार्य—'ठीक है। तुम्हीं लक्ष्यवेध कर सकते हो। बाण छोड़ो।' अर्जुनके बाण छोड़नेपर पक्षी उस शाखासे नीचे गिर पड़ा। अर्जुनके द्वारा छोड़ा गया बाण उसके बायें नेत्रमें गहरा चुभा हुआ था।

आचार्यने अपने शिष्योंको समझाया—'जबतक लक्ष्यपर दृष्टि इतनी स्थिर न हो कि लक्ष्यके अतिरिक्त दूसरा कुछ दीखे ही नहीं, तबतक लक्ष्यवेध ठीक नहीं होता। इसी प्रकार जीवनमें जबतक लक्ष्य-प्राप्तिमें पूरी एकाग्रता न हो, सफलता संदिग्ध ही रहती है।'

—सु० सिं०

(महाभारत, आदि० १३५-१३६)

सच्ची लगन क्या नहीं कर सकती

द्रोणाचार्य उन दिनों हस्तिनापुरमें कुरुकुलके बालक पाण्डव एवं कौरवोंको अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा दे रहे थे। एक दिन एक काले रंगका पुष्ट शरीरवाला भील-बालक उनके समीप आया। उसने आचार्यके चरणोंमें प्रणाम करके प्रार्थना की—'मेरा नाम एकलव्य है। मैं इस आशासे आया हूँ कि आचार्य मुझपर भी अनुग्रह करेंगे और मुझे अस्त्र-संचालन सिखायेंगे।'

आचार्यको उस बालककी नम्रता प्रिय लगी; किंतु राजकुमारोंके साथ वे एक भील-बालकको रहनेकी अनुमति दे नहीं सकते थे। उन्होंने कह दिया—'केवल द्विजाति बालक ही किसी भी गुरुगृहमें लिये जाते हैं। आखेटके योग्य शस्त्र-शिक्षा तो तुम अपने गुरुजनोंसे भी पा सकते हो। अस्त्र-संचालनकी विशिष्ट शिक्षा तुम्हारे लिये अनावश्यक है। प्रजापालन एवं संग्राम जिनका कार्य है, उनके लिये ही उसकी आवश्यकता भी है।'

एकलव्य वहाँसे निराश होकर लौट गया। किंतु उसका उत्साह नष्ट नहीं हुआ। उसमें अस्त्र-शिक्षा पानेकी सच्ची लगन थी। वनमें उसने एकान्तमें एक कुटिया बनाकर द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी प्रतिमा, जो उसने स्वयं बनायी थी, स्थापित कर दी और स्वयं धनुष-बाण लेकर उस प्रतिमाके सम्मुख अभ्यास करनेमें जुट पड़ा।

द्रोणाचार्य एक बार अपने शिष्योंके साथ वनमें घूमते हुए निकले। पाण्डवोंका एक कुत्ता उनके साथसे अलग होकर वनमें उधर चला गया, जिधर एकलव्य लक्ष्यवेधका अभ्यास कर रहा था। कुत्ता उस काले भीलको देखकर भूँकने लगा। उसके भूँकनेसे एकलव्यके काममें बाधा पड़ी, इसलिये उसने बाणोंसे उस कुत्तेका मुख भर दिया। इससे घबराकर कुत्ता पाण्डवोंके समीप भागा आया।

सभी पाण्डव तथा कौरव राजकुमार कुत्तेकी दशा देखकर हँसने लगे। किंतु अर्जुनको बड़ा आश्चर्य हुआ। कुत्तेके मुखमें इस प्रकार बाण मारे गये थे कि कोई बाण उसे कहीं चुभा नहीं था; किंतु उसका पूरा मुख बाणोंसे ठसाठस भर गया था। इतनी सावधानी और शीघ्रतासे बाण मारना कोई हँसी-खेल नहीं था। आचार्य द्रोण भी उस अद्भुत धनुर्धरकी खोजमें चल पड़े, जिसने यह अतर्कित कार्य साध्य कर दिखाया था।

द्रोणाचार्यको देखते ही एकलव्य दौड़कर उनके चरणों-पर गिर पड़ा। उसकी कुटियामें मिट्टीकी बनी अपनी ही प्रतिमा देखकर आचार्य चकित हो उठे। किंतु इसी समय अर्जुनने धीरेसे उनसे कहा—'गुरुदेव! आपने वचन दिया था कि आपके शिष्योंमें मैं सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होऊँगा; किंतु इस भीलके सम्मुख तो मेरा हस्तलाघव नगण्य है। आपके वचन…।'

आचार्यने संकेतसे ही अर्जुनको आश्वासन दे दिया। एकलव्यसे उन्होंने गुरुदक्षिणाकी माँग की और जब उसने पूछा—'कौन-सी सेवा करके मैं अपनेको धन्य मानूँ?' तब आचार्यने बिना हिचके कह दिया—'अपने दाहिने हाथका अँगूठा मुझे दे दो।'

अनुपम वीर, अनुपम निष्ठावान् एकलव्य अनुपम धीर भी सिद्ध हुआ। उसने तलवार उठाकर दाहिने हाथका अँगूठा काटा और आचार्यके चरणोंके पास उसे आदरपूर्वक रख दिया। अँगूठेके कट जानेसे वह बाण चलाने योग्य नहीं रह गया। बायें हाथसे बाण चला लेनेपर भी वह धनुर्धरोंकी गणनामें कभी नहीं आ सका। किंतु धनुर्धर होकर विख्यात होनेपर कितने दिन जगत् उसको स्मरण करता। अपने त्यागके कारण, अपनी निष्ठाके कारण, तो एकलव्य इतिहासमें अमर हो गया। —सु० सिं०

(महाभारत, आदि० १३५)

सच्ची निष्ठाका सुपरिणाम

पहले काशीमें माण्टि नामके एक ब्राह्मण रहते थे। उनके कोई पुत्र न था। अतएव उन्होंने सौ वर्षोंतक भगवान् शङ्करकी आराधना की। अन्तमें भगवान् प्रकट हुए और उन्हें अपने ही समान पराक्रमी और प्रभावशाली पुत्र होनेका वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। अब माण्टिकी पत्नीने गर्भधारण किया। चार वर्ष बीत गये, गर्भका बालक बाहर नहीं निकला। माण्टिने यह दशा देखकर कहा—'पुत्र! मनुष्य-योनिके लिये जीव तरसते हैं। सभी पुरुषार्थ जिससे सिद्ध हों, उस मनुष्य-शरीरका अनादर करके तुम माताके उदरमें ही क्यों स्थित हो रहे हो?' गर्भस्थ बालकने कहा, 'मैं यह सब जानता हूँ, पर मैं कालसे बहुत डर रहा हूँ। यदि कालका भय न हो तो मैं बाहर आऊँ।'

यह सुनकर माण्टि भगवान् सदाशिवकी शरण गये और

उनके आदेशसे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यने आश्वासन दिया कि 'हम तुम्हारे मनसे कभी अलग न होंगे।' इसी प्रकार अधर्म, अज्ञानादिने भी कभी उनके पास न फटकनेकी प्रतिज्ञा की। ऐसा आश्वासन मिलनेपर भी जब वह बालक उत्पन्न हुआ तब काँपने और रोने लगा। इसपर विभूतियोंने कहा—'माण्टे! तुम्हारा यह-पुत्र कालसे भीत होकर रोता और काँपता है, इसलिये यह कालभीति नामसे प्रसिद्ध होगा।'

संस्कारोंसे युक्त होकर कालभीतिने पाशुपत मन्त्रकी दीक्षा ली और तीर्थयात्राके लिये निकल पड़ा। वह मही-सागर-संगमपर पहुँचा और वहाँ स्नान करके उसने पूर्वोक्त मन्त्रका एक करोड़ जप किया। लौटनेपर एक बिल्ववृक्षके समीप पहुँचनेपर उसकी इन्द्रियाँ लयको प्राप्त हो गयीं और क्षणभरमें वह केवल परमानन्द-स्वरूप हो गया। दो घड़ियोंतक समाधिमें स्थित होनेके पश्चात् वह पुनः पूर्वावस्थामें आया और यह देखकर उसे बड़ा विस्मय हुआ। वह मन-ही-मन कहने लगा, 'मुझे ऐसा आनन्द किसी भी तीर्थमें नहीं मिला; लगता है यह स्थान अत्यन्त श्रेष्ठ है। अतः मैं यहीं रहकर बड़ी भारी तपस्या करूँगा।'

यों विचारकर कालभीति उसी बिल्ववृक्षके नीचे एक अँगूठेके अग्रभागपर खड़ा होकर पाशुपत-मन्त्रका जप करने लगा। इस प्रकार सौ वर्ष बीत गये। तदनन्तर एक मनुष्य उनके सामने जलसे भरा घड़ा लेकर आया और बोला—'महामते! आज आपका नियम पूरा हो गया। अब इस जलको ग्रहण कीजिये।' इसपर कालभीतिने कहा, 'आप किस वर्णके हैं। आपका आचार-व्यवहार कैसा है? इन सब बातोंको आप यथार्थ रूपसे बतलाइये। बिना इन सब रहस्योंको जाने मैं जल कैसे ग्रहण करूँ?'

इसपर आगन्तुक बोला, 'मैं अपने माता-पिताको नहीं जानता। मुझे यह भी पता नहीं कि वे थे और मर गये या वे थे ही नहीं। सुतरां मैं अपना वर्ण भी नहीं जानता। आचार और धर्म-कर्मोंसे भी मेरा कोई प्रयोजन नहीं है।' इसपर कालभीतिने कहा, 'अच्छा! यदि ऐसी बात है तो मैं आपका जल नहीं लेता। क्योंकि मैंने गुरुओंसे ऐसा सुना है कि 'जिसके कुलका ज्ञान न हो, जिसके जन्ममें वीर्य-शुद्धिका अभाव हो, उसका अन्न-जल ग्रहण करनेवाला पुरुष तत्काल कष्टमें पड़ जाता है। साथ ही जो हीनवर्णका है तथा भगवान् शङ्करका भक्त नहीं है, उससे दानादि लेने-देनेका सम्बन्ध न करना चाहिये। इसलिये जलादि लेनेके पूर्व वर्ण तथा आचारादिका ज्ञान आवश्यक होता है।'

यह सुनकर उस पुरुषने कहा—'तुम्हारी इस बातपर मुझे हँसी आती है। या तो तुम्हारा मस्तिष्क बिगड़ गया है या तो तुम्हारे गुरुको ही यथार्थ ज्ञान नहीं है, अथवा तुमने उनका ठीक अभिप्राय ही नहीं समझा। भला, जब सब भूतोंमें भगवान् शंकर ही निवास करते हैं, तब किसीकी निन्दा भगवान् शंकरकी ही निन्दा हुई। अथवा सभी शब्द तथा वस्तुएँ शिवमय होनेके कारण सर्वथा पवित्र हैं। अथवा यदि शुद्धिका ही विचार किया जाय तो इस जलमें क्या अपवित्रता है? यह घड़ा मिट्टीका बना हुआ है। फिर अग्निसे पकाकर जलसे भरा गया है। इन सब वस्तुओंमें तो कोई अशुद्धि है नहीं। यदि कहो कि मेरे संसर्गसे अशुद्धि आ गयी, तब तो तुम्हें इस पृथ्वीपर न रहकर आकाशमें रहना, चलना-फिरना चाहिये; क्योंकि मैं इस पृथ्वीपर खड़ा हूँ। मेरे संसर्गसे यह पृथ्वी अपवित्र हो गयी है।'

इसपर कालभीतिने कहा—'अच्छा ठीक! देखो, यदि सम्पूर्ण भूत शिवमय ही हैं और कहीं कोई भेद नहीं है तो ऐसा माननेवाले लोग भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थोंको छोड़कर मिट्टी क्यों नहीं खाते? राख और धूल क्यों नहीं फाँकते? भगवान् अवश्य सम्पूर्ण भूतोंमें हैं; पर जैसे सुवर्णके बने हुए आभूषणोंमें सबका व्यवहार एक-सा नहीं होता, गलेका गहना गलेमें तथा अँगुलीका अँगुलीमें पहना जाता है तथा उनमें भी खोटे-खरे कई भेद होते हैं, उसी प्रकार ऊँच-नीच, शुद्ध-अशुद्ध—सबमें भगवान् सदाशिव विराजमान हैं, पर व्यवहार-भेद आवश्यक है। जैसे खोटे सुवर्णको भी अग्नि आदिसे शुद्ध कर लिया जाता है, उसी प्रकार इस शरीरको भी व्रत, तपस्या और सदाचार आदिके द्वारा शुद्ध बना लेनेपर मनुष्य स्वर्गमें जाता है। इसी तरह भगवान्के सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी देहादिमें कर्मवशात् शुद्धि-अशुद्धि मानने और तन्मूलक आचारादिका पालन करनेमें कोई पागलपन या मूर्खता नहीं है। इसलिये मैं तुम्हारा जल किसी प्रकार नहीं ग्रहण कर सकता। यह कार्य भला हो या बुरा, मेरे लिये तो वेद ही परम प्रमाण है।'

कालभीतिके इस व्याख्यानको सुनकर वह आगन्तुक बड़े जोरसे हँसा और उसने अपने दाहिने पैरके अँगूठेसे भूमि खोदकर एक विशाल और सुन्दर गर्त बना दिया तथा उसमें वह घड़ेका जल गिराने लगा। उससे वह गर्त भर गया, फिर भी घड़ेमेंका जल बचा ही रहा। तब उसने दूसरे पैरसे भूमि

खोदकर एक बड़ा सरोवर बना दिया और घड़ेका बचा हुआ जल उस सरोवरमें डाल दिया, जिससे वह तालाब भी पूरा भर गया।

कालभीति उसके इस आश्चर्यमय कर्त्तव्यसे तनिक भी चकित या विचलित न हुआ। उसने कहा—'ऐसी अनेक विचित्रताएँ भूत-प्रेतादिको सिद्ध करनेवालोंमें भी देखी जाती हैं। इससे क्या हुआ ?' इसपर आगन्तुकने कहा—'तुम हो तो मूर्ख, पर बातें पण्डितों-जैसी करते हो; पुराणवेत्ता विद्वानोंके मुखसे क्या यह श्लोक तुमने नहीं सुना—

कूपोऽन्यस्य घटोऽन्यस्य रज्जुरन्यस्य भारत।
पाययत्येकः पिबत्येकः सर्वे ते समभागिनः॥

'भारत ! कुआँ दूसरेका, घड़ा दूसरेका और रस्सी दूसरेकी है; एक पानी पिलाता है और एक पीता है; वे सब समान फलके भागी होते हैं।'

अतः कूप-तालाबादिके जलमें क्या दोष होगा, फिर अब तुम इस सरोवरके जलको क्यों नहीं पीते ?'

कालभीतिने कहा—'आपका कहना ठीक है, तथापि आपने अपने घड़ेके जलसे ही तो इस सरोवरको भरा है। यह बात प्रत्यक्ष देखकर भी मेरे-जैसा मनुष्य इस जलको कैसे पी सकता है ? अतः मैं इस जलको किसी प्रकार नहीं पीऊँगा।'

इस तरह कालभीतिके दृढ निश्चयको देखकर वह पुरुष एक बार खूब जोरोंसे हँसा और क्षणभरमें अन्तर्धान हो गया। अब तो कालभीतिको बड़ा विस्मय हुआ। वह बार-बार सोचने लगा—'यह क्या वृत्तान्त है ?' इतनेमें ही उस बिल्ववृक्षके नीचे एक अत्यन्त तेजस्वी बाणलिङ्ग प्रकट हो गया। आकाशमें गन्धर्व गाने लगे, इन्द्रने पारिजातके पुष्पोंकी वर्षा की। यह देखकर कालभीति भी बड़ी प्रसन्नतासे प्रणाम करके भक्तिपूर्वक भगवान् शिवकी स्तुति करने लगे। स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने उस लिङ्गसे प्रकट होकर कालभीतिको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा, 'वत्स ! तुम्हारी आराधनासे मैं बड़ा संतुष्ट हूँ। तुम्हारी धर्मनिष्ठाकी परीक्षाके लिये मैं ही यहाँ मनुष्यरूपमें प्रकट हुआ था और इस गड्ढे तथा सरोवरके जलको मैंने ही सब तीर्थोंके जलसे भरा है। तुम मनोवाञ्छित वर माँगो। तुम्हारे लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है।'

कालभीतिने कहा—'यदि आप संतुष्ट हैं तो सदा यहाँ निवास करें। आपके इस शुभ लिङ्गपर जो भी दान, पूजन आदि किया जाय, वह अक्षय हो। जो इस गर्तमें स्नान करके पितरोंको तर्पण करे, उसे सब तीर्थोंका फल प्राप्त हो और उसके पितरोंको अक्षयगतिकी प्राप्ति हो।' भगवान् सदाशिवने कहा—'जो तुम चाहते हो, वह सब होगा। साथ ही तुम नन्दीके साथ मेरे दूसरे द्वारपाल बनोगे। कालमार्गपर विजय पानेसे तुम महाकालके नामसे प्रसिद्ध होओगे। यहाँ करन्धम आयेंगे, उन्हें उपदेश करके तुम मेरे लोकमें चले आना।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। —जा० श०

(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, कुमारिकाखण्ड, अध्याय ३४)

सबसे बड़ा आश्चर्य

वनमें धर्मराज युधिष्ठिरके चारों भाई सरोवरके किनारे मृतकके समान पड़े थे। प्यास तथा भ्रातृशोकसे व्याकुल युधिष्ठिरके सम्मुख एक यक्ष प्रत्यक्ष खड़ा था। यक्षके प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना जल पीनेके प्रयत्नमें ही भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेवकी यह दशा हुई थी। युधिष्ठिरने यक्षको उसके प्रश्नोंका उत्तर देना स्वीकार कर लिया था। यक्ष प्रश्नपर प्रश्न करता जा रहा था। युधिष्ठिरजी उसे धैर्यपूर्वक उत्तर दे रहे थे। यक्षके अन्तिम प्रश्नोंमेंसे एक प्रश्न था—'आश्चर्य क्या है ?'

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

'नित्य-नित्य—प्रतिदिन प्राणी यमलोक जा रहे हैं। (सब देख रहे हैं कि प्रतिदिन उनके आसपास लोग मर रहे हैं)। परंतु (फिर भी) बचे हुए लोग स्थिर (अमर) बने रहना चाहते हैं, इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा।' यह उत्तर था धर्मराजका।—सु० सिं० (महाभारत, वन० ३१३)

भगवत्कथा-श्रवणका माहात्म्य

तत्रैव गङ्गा यमुना च तत्र गोदावरी सिन्धुसरस्वती च।
नद्यः समस्ता अपि देवखाता नमन्ति यत्राच्युतसत्कथापराः॥
न कर्मलोपो न च बन्धलेशो न दुःखलेशो न च जन्मयोगः।
न भूतयक्षादिपिशाचपीडा　　यत्राच्युतोदारकथाप्रसङ्गः॥

(वायु० माघमास० २०। ४, ६)

सत्ययुगका अन्तिम भाग समाप्त हो रहा था, तबकी बात है। गङ्गाजीसे दो कोस दक्षिण हटकर सत्यव्रत नामक ग्राममें एक महातपस्वी बृहत्तपा नामके ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने दीर्घतमा नामक एक जन्मान्ध महर्षिको लगातार सौ वर्षतक भगवान्की कथा सुनायी थी। उसी सत्यव्रत

गाँवमें एक और ब्राह्मण रहते थे, जिनका नाम था पुण्यधामा। जब बृहत्तपाकी कथा होने लगती, तब ये पुण्यधामाजी भी वहाँ अवश्य सुनने पहुँचते। ये पुण्यधामाजी इतने कथालोलुप थे कि सौ वर्षतक भगवत्कथा ही सुनते रह गये। यद्यपि गङ्गाजी वहाँसे दो कोसपर ही थीं, तथापि ये कथालोलुप पुण्यधामाजी सौ वर्षतक वहाँ स्नान करने भी नहीं गये। इनका पूर्ण विश्वास था कि भगवत्-कथाके समीप समस्त तीर्थ आ जाते हैं। अतएव वे अन्यान्य सभी क्रियाओंका संकोच करके केवल परम पुण्यमय शतकोटि-प्रविस्तर श्रीरामचरित्र, उतनी ही संख्याका पाञ्चरात्र तथा सभी इतिहास, पुराण, वेद, वेदान्त आदि हरिचरितामृतका ही श्रवण करते रह गये। तीनों संध्याओंके समय वे दशगायत्रीका जप तथा अन्य नित्यकर्मोंका भी वे संक्षेपतः अनुष्ठान कर लेते थे। रात्रिमें तीर्थयात्रियोंकी सेवा भी वे बड़े दत्तचित्त होकर करते थे। संक्षेपमें पुण्यधामाजीकी दो ही गतियाँ थीं—सदा विष्णुकथाका श्रवण और अतिथि-महात्माओंकी सेवा।

एक दिन पुण्यधामाजी जब कथा सुनकर लौटे, उसी समय उनके यहाँ दो महात्मा—धृतव्रत और ज्ञानसिन्धु—तीर्थ-यात्राके प्रसङ्गमें पधारे। पुण्यधामाजीने उन्हें देखा तो उनके चरणोंपर गिर पड़े, मधुपर्कादिसे उनकी पूजा की और अपने भाग्यकी सराहना करने लगे; तत्पश्चात् उन्हें भोजन कराकर उनके चरण दबाने लगे। पुण्यधामाजीकी पत्नी पंखा हाँक रही थीं। बात-चीतके प्रसंगमें दोनों महात्माओंने पुण्यधामाजीसे गङ्गाजीकी वहाँसे दूरी पूछी। पुण्यधामाजीने बतलाया—'महाराज! मैं तो सौ वर्षोंसे कथा-श्रवणमें लगा रहा हूँ। मुझे वहाँ स्वयं जानेका अवसर नहीं आया, अतएव सुनिश्चित रूपसे तो कुछ बतला नहीं सकता। तथापि कई बार लोगोंके मुँहसे यह सुन चुका हूँ कि वे यहाँसे दो कोस उत्तर पड़ती हैं।'

इतना सुनना था कि दोनों मुनि बिगड़ पड़े। वे परस्पर कहने लगे—'अहो, इसके समान दूसरा पापी कौन है, जिसने कभी गङ्गाकी सेवा नहीं की। भला, जो सैकड़ों योजनोंसे भी गङ्गा-गङ्गा कहता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और वह विष्णुलोकको जाता है। गङ्गाके समीप होनेपर भी जो उनकी सेवा नहीं करता, वह आत्महत्यारा तो सर्वकर्मसे बहिष्कृत करने योग्य है। देवों, पितरों तथा मुनियोंकी आशा भङ्ग करनेवाला वह अवश्य ही नरकमें जाता है। आज दुर्भाग्यवशात् अनजाने ही हमलोगोंको इसके सङ्गसे महान् पाप लग गया।' यों कहकर वे तत्काल वहाँसे उठकर चल दिये और प्रातःकाल बड़ी उत्कण्ठासे गङ्गा-तटपर पहुँचे। दूरसे ही नमस्कार करते हुए वे स्नानार्थ समीप पहुँचे तो उन्हें कहीं जल नहीं दीखा। वे गङ्गासागरसे लेकर हिमालयतक गङ्गातटपर घूमते रहे, पर उन्हें नाममात्रको भी जल नहीं मिला। अन्तमें काशी लौटकर वे गङ्गाजीकी प्रार्थना करने लगे—'देवि! देवशिरोमणि महादेवने भी आपको सिरपर धारण कर रक्खा है। आप भगवान् विष्णुके चरण-नखसे निर्गत हुई हैं। आप समस्त लोकको पवित्र करनेवाली हैं। जगद्धात्री! माता! यदि हमसे कोई अपराध बन ही गया हो तो माँ! आपको अब क्षमा कर देना चाहिये।'

दोनोंने इस प्रकार स्तुति की तो दयामयी भगवती गङ्गा वहाँ प्रत्यक्ष प्रकट हो गयीं। वे मेघके समान गम्भीर वाणीसे बोलीं—'तुमने महाबुद्धिमान् पुण्यधामाकी निन्दा की है, यह बहुत बुरी बात हुई है। मैं स्वयं उस महाभागकी चरणरेणुकी प्रतीक्षामें रात-दिन बैठी रहती हूँ। जहाँ भगवान्की कथा होती है और भगवदाश्रित साधुजन रहते हैं, वहाँ सारे तीर्थ रहते हैं—इसमें विचारनेकी कोई बात नहीं।* विष्णुकथाका श्रवण-कीर्तन ही 'विधि' है, उसे भूलना ही 'निषेध' है। अन्य सारे विधि-निषेध इन दोनोंके किंकर हैं। करोड़ों ब्रह्महत्याओंका पाप तो किसी प्रकार शान्त भी किया जा सकता है, पर भगवद्भक्तोंकी निन्दाका पाप अरब-खरब कल्पोंमें भी नष्ट नहीं होता।† हजारों पापोंसे निस्तार सम्भव है; पर विष्णु, उनकी कथा और उनके भक्तोंकी निन्दाकी कोई औषध नहीं है। जो महाभाग नित्य, सदा-सर्वदा भगवत्कथामें लीन है, उसने किस सत्कर्मका अनुष्ठान नहीं किया? भगवान् सहस्रों अपराधोंको भूल सकते हैं, पर अपने भक्तोंके अपमानको वे कभी नहीं क्षमा कर सकते।‡ वे लक्ष्मीको तो कथंचित् छोड़नेको तैयार भी

---

* यत्र विष्णुकथा लोके साधवश्च तदाश्रयाः।
तत्र तीर्थानि सर्वाणि नात्र कार्या विचारणा॥
(वायुपुराण माघमास० २०। ६६)

† ब्रह्महत्यासहस्रस्य पापं शाम्येत कथंचन।
निन्दया विष्णुभक्तानां जनानां पापकारिणाम्॥
पापं न नश्यते तच्च कल्पकोटिशतैरपि।
(माघ० २०। ६७-६८)

‡ (क) भक्तावमानं क्षमते नैव क्वापि कथंचन। (७२)
(ख) सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥

हो सकते हैं, पर वे भक्तवत्सल भक्तका परित्याग स्वप्नमें भी नहीं कर सकते*। अतएव तुमलोग उस पुण्यधामाको प्रसन्न करो ! जबतक ऐसा नहीं करते मैं प्रसन्न नहीं होती और तुम्हें जल नहीं दीखता।

भगवती गङ्गाके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर वे दोनों मुनि सत्यव्रत ग्राममें गये और पुण्यधामासे प्रार्थना करने लगे। पुण्यधामा उन्हें लेकर अपने गुरुके पास गये। उन्होंने उन दोनोंको भी बुलाकर दो वर्षतक भगवत्कथा सुनायी। तत्पश्चात् वे पाँचों गङ्गातटपर आये। भगवती गङ्गाने उठकर बृहत्तपा, दीर्घतमा और पुण्यधामाकी पूजा की। साथमें आये हुए दोनों मुनियोंने भी देखा कि अब गङ्गाजी जलपूर्ण थीं। अब उन पाँचोंने वहाँ श्रद्धापूर्वक अवगाहन किया तथा परा सिद्धि प्राप्त की।—जा० श०

(वायुपुराण माघमाहात्म्य, अध्याय २०)

भगवद्गीताका अद्भुत माहात्म्य

नर्मदाके तटपर माहिष्मती नामकी एक नगरी है। वहाँ माधव नामके एक ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने अपनी विद्याके प्रभावसे बड़ा धन कमाया और एक विशाल यज्ञका आयोजन किया। उस यज्ञमें बलि देनेके लिये एक बकरा मँगाया गया। जब उसके शरीरकी पूजा हो गयी, तब बकरेने हँसकर कहा—'ब्रह्मन् ! इन यज्ञोंसे क्या लाभ है। इनका फल विनाशी तथा जन्म-मरणप्रद ही है। मैं भी पूर्वजन्ममें एक ब्राह्मण था। मैंने समस्त यज्ञोंका अनुष्ठान किया था और वेदविद्यामें बड़ा प्रवीण था। एक दिन मेरी स्त्रीने बाल-रोगकी शान्तिके लिये एक बकरेकी मुझसे बलि दिलायी। जब चण्डिकाके मन्दिरमें वह बकरा मारा जाने लगा, तब उसकी माताने मुझे शाप दिया—'ओ पापी ! तू मेरे बच्चेका वध करना चाहता है, अतएव तू भी बकरेकी योनिमें जन्म लेगा।' ब्राह्मणो ! तदनन्तर मैं भी मरकर बकरा हुआ। यद्यपि मैं पशु-योनिमें हूँ, तथापि मुझे पूर्व-जन्मोंका स्मरण बना है। अतएव इन सभी वैतानिक क्रिया-जालसे भगवदाराधन आदि शुद्ध कर्म ही अधिक दिव्य हैं। अध्यात्ममार्गपरायण होकर हिंसारहित पूजा, पाठ एवं गीतादि सच्छास्त्रोंका अनुशीलन ही संसृति-चक्रसे छूटनेकी एकमात्र औषध है। इस सम्बन्धमें मैं आपको एक और आदर्शकी बात बताता हूँ।

'एक बार सूर्यग्रहणके अवसरपर कुरुक्षेत्रके राजा चन्द्र-शर्माने बड़ी श्रद्धाके साथ कालपुरुषका दान करनेकी तैयारी की। उन्होंने वेद-वेदाङ्गोंके पारगामी एक विद्वान् ब्राह्मणको बुलवाया और सपुरोहित स्नान करने चले। स्नानादिके उपरान्त यथोचित विधिसे उस ब्राह्मणको कालपुरुषका दान किया।

'तब कालपुरुषका हृदय चीरकर उसमेंसे एक पापात्मा चाण्डाल और निन्दात्मा एक चाण्डाली निकली। चाण्डालोंकी वह जोड़ी आँखें लाल किये ब्राह्मणके शरीरमें हठात् प्रवेश करने लगी। ब्राह्मणने मन-ही-मन गीताके नवम अध्यायका जप आरम्भ किया और राजा यह सब कौतुक चुपचाप देख रहा था। गीताके अक्षरोंसे समुद्भूत विष्णुदूतोंने चाण्डाल जोड़ीको ब्राह्मणके शरीरमें प्रवेश करते देख वे झट दौड़े और उनका उद्योग निष्फल कर दिया। इस घटनाको देख राजा चकित हो गया और उस ब्राह्मणसे इसका रहस्य पूछा। तब ब्राह्मणने सारी बात बतलायी। अब राजा उस ब्राह्मणका शिष्य हो गया और उससे उसने गीताका अध्ययन—अभ्यास किया।'

इस कथाको बकरेके मुँहसे सुनकर ब्राह्मण बड़ा प्रभावित हुआ और बकरेको मुक्तकर गीतापरायण हो गया।—जा० श०

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय १७९)

गायका मूल्य

एक बार महर्षि आपस्तम्बने जलमें ही डूबे रहकर भगवद्भजन करनेका विचार किया। वे बारह वर्षोंतक नर्मदा और मत्स्या-संगमके जलमें डूबकर भगवत्स्मरण करते रह गये। जलमें रहनेवाले जीवोंके वे बड़े प्रिय हो गये थे। तदनन्तर एक समय मछली पकड़नेवाले बहुत-से मल्लाह वहाँ आये। उन्होंने वहाँ जाल फैलाया और मछलियोंके साथ महर्षिको भी खींच लाये। मल्लाहोंकी दृष्टि मुनिपर पड़ी तो वे भयसे व्याकुल हो उठे और उनके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगे।

मुनिने देखा कि इन मल्लाहोंद्वारा यहाँकी मछलियोंका

* कथंचिद् रमणीं त्यक्तुं विष्णुरुत्सहते क्वचित्। त्यक्तुमुत्सहते क्वापि न भक्तान् भक्तवत्सलः ॥ (७३)

बड़ा भारी संहार हो रहा है; अतः सोचने लगे—अहो! स्वतन्त्र प्राणियोंके प्रति यह निर्दयतापूर्ण अत्याचार और स्वार्थके लिये उनका बलिदान—कैसे शोककी बात है! भेददृष्टि रखनेवाले जीवोंके द्वारा दुःखमें डाले गये प्राणियोंकी ओर जो ध्यान नहीं देता, उससे बढ़कर क्रूर इस संसारमें दूसरा कौन है? ज्ञानियोंमें भी जो केवल अपने ही हितमें तत्पर है, वह श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि ज्ञानी पुरुष भी जब स्वार्थका आश्रय लेकर ध्यानमें स्थित होते हैं, तब इस जगत्‌के दुखी प्राणी किसकी शरण जायँ? जो मनुष्य स्वयं अकेला ही सुख भोगना चाहता है, मुमुक्षुजन उसे पापीसे भी महापापी बतलाते हैं। वह कौन-सा उपाय है, जिससे इनका सारा पाप-ताप मेरे ऊपर आ जाय और मेरे पास जो कुछ भी पुण्य हो, वह इनके पास चला जाय? इन दरिद्र, विकलाङ्ग, दुखी प्राणियोंको देखकर भी जिसके हृदयमें दया नहीं उत्पन्न होती, वह मनुष्य नहीं, राक्षस है। जो समर्थ होकर भी संकटापन्न भयविह्वल प्राणियोंकी रक्षा नहीं करता, वह उनके पापोंको भोगता है; इसलिये जो कुछ हो, मैं इन मछलियोंको दुःखसे मुक्त करनेका कार्य छोड़कर मुक्तिको भी वरण नहीं करूँगा, स्वर्गलोककी तो बात ही क्या है।'

इधर यह विचित्र समाचार वहाँके राजा नाभागको मिला। वे भी अपने मन्त्री-पुरोहितोंके साथ दौड़े घटनास्थलपर पहुँचे। उन्होंने देवतुल्य महर्षिकी पूजा की और पूछा—'महाराज! मैं आपकी कौन-सी सेवा करूँ?'

आपस्तम्ब बोले—'राजन्! ये मल्लाह बड़े दुःखसे जीविका चलाते हैं। इन्होंने मुझे जलसे बाहर निकालकर बड़ा भारी श्रम किया है। अतः जो मेरा उचित मूल्य हो, वह इन्हें दो।' नाभागने कहा, 'मैं इन मल्लाहोंको आपके बदले एक लाख स्वर्णमुद्राएँ देता हूँ।'

महर्षिने कहा—'मेरा मूल्य एक लाख मुद्राएँ ही नियत करना उचित नहीं है। मेरे योग्य जो मूल्य हो, वह इन्हें अर्पण करो।' नाभाग बोले, 'तो इन निषादोंको एक करोड़ दे दिया जाय या और अधिक भी दिया जा सकता है।' महर्षिने कहा—'तुम ऋषियोंके साथ विचार करो, कोटि-मुद्राएँ या तुम्हारा राज्यपाट—यह सब मेरा उचित मूल्य नहीं है।'

महर्षिकी बात सुनकर मन्त्रियों और पुरोहितोंके साथ राजा बड़ी चिन्तामें पड़ गये। इसी समय महातपस्वी लोमश ऋषि वहाँ आ गये। उन्होंने कहा, 'राजन्! भय न करो। मैं मुनिको संतुष्ट कर लूँगा। तुम इनके लिये मूल्यके रूपमें एक गौ दो; क्योंकि ब्राह्मण सब वर्णोंमें उत्तम हैं। उनका और गौओंका कोई मूल्य नहीं आँका जा सकता।'

लोमशजीकी यह बात सुनकर नाभाग बड़े प्रसन्न हुए और हर्षमें भरकर बोले—'भगवन्! उठिये, उठिये; यह आपके लिये योग्यतम मूल्य उपस्थित किया गया है।' महर्षिने कहा, 'अब मैं प्रसन्नतापूर्वक उठता हूँ। मैं गौसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा मूल्य नहीं देखता, जो परम पवित्र और पापनाशक हो। यज्ञका आदि, अन्त और मध्य गौओंको ही बताया गया है। ये दूध, दही, घी और अमृत—सब कुछ देती हैं। ये गौएँ स्वर्गलोकमें जानेके लिये सोपान हैं। अस्तु, अब ये निषाद इन जलचारी मछलियोंके साथ सीधे स्वर्गमें जायँ। मैं नरकको देखूँ या स्वर्गमें निवास करूँ, किंतु मेरे द्वारा जो कुछ भी पुण्यकर्म बना हो, उससे ये सभी दुःखार्त्त प्राणी शुभ गतिको प्राप्त हों।'

तदनन्तर महर्षिके सत्संकल्प एवं तेजोमयी वाणीके प्रभावसे सभी मछलियाँ और मल्लाह स्वर्गलोकमें चले गये। नाना उपदेशोंद्वारा लोमशजी तथा आपस्तम्बजीने राजाको बोध प्राप्त कराया और राजाने भी धर्ममयी बुद्धि अपनायी। अन्तमें दोनों महर्षि अपने-अपने आश्रमको चले गये।

—जा० श०

(स्कन्दपुराण, आवन्त्यखण्ड, रेवाखण्ड, अध्याय १३; महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ५०)

गो-सेवाका शुभ परिणाम

महाराज दिलीप और देवराज इन्द्रमें मित्रता थी। देवराजके बुलानेपर दिलीप एक बार स्वर्ग गये। वहाँसे लौटते समय मार्गमें कामधेनु मिली; किंतु दिलीपने पृथ्वीपर आनेकी आतुरताके कारण उसे देखा नहीं। कामधेनुको उन्होंने प्रणाम नहीं किया। इस अपमानसे रुष्ट होकर कामधेनुने शाप दिया—'मेरी संतान यदि कृपा न करे तो यह पुत्रहीन ही रहेगा।'

महाराज दिलीपको शापका कुछ पता नहीं था। किंतु उनके कोई पुत्र न होनेसे वे स्वयं, महारानी तथा प्रजाके

लोग भी चिन्तित एवं दुखी रहते थे। पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे महाराज रानीके साथ कुलगुरु महर्षि वशिष्ठके आश्रमपर पहुँचे। महर्षिने उनकी प्रार्थना सुनकर आदेश किया—'कुछ काल आश्रममें रहो और मेरी होमधेनु नन्दिनीकी सेवा करो।'

महाराजने गुरुकी आज्ञा स्वीकार कर ली। महारानी प्रातःकाल उस गौकी भलीभाँति पूजा करती थीं। गो-दोहन हो जानेपर महाराज उस गायके साथ वनमें जाते थे। वे उसके पीछे-पीछे चलते और अपने उत्तरीयसे उसपर बैठनेवाले मच्छर, मक्खी आदि जीवोंको उड़ाते रहते थे। हरी घास अपने हाथसे लाकर उसे खिलाते थे। उसके शरीर-पर हाथ फेरते। गौके बैठ जानेपर ही बैठते और उसके जल पी चुकनेपर ही जल पीते थे। सायंकाल जब गौ वनसे लौटती, महारानी उसकी फिर पूजा करती थीं। रात्रिमें वे उसके पास घीका दीपक रखती थीं। महाराज रात्रिमें गौके समीप भूमिपर ही सोते थे।

अत्यन्त श्रद्धा और सावधानीके साथ गो-सेवा करते हुए महाराज दिलीपको एक महीना हो गया। महीनेके अन्तिम दिन वनमें वे एक स्थानपर वृक्षोंका सौन्दर्य देखते खड़े हो गये। नन्दिनी तृण चरती हुई दूर निकल गयी, इस बातका उन्हें ध्यान नहीं रहा। सहसा उन्हें गौके चीत्कारका शब्द सुनायी पड़ा। दिलीप चौंके और शीघ्रतापूर्वक उस ओर चले, जिधरसे शब्द आया था। उन्होंने देखा कि एक बलवान् सिंह गौको पंजोंमें दबाये उसके ऊपर बैठा है। गौ बड़ी कातर दृष्टिसे उनकी ओर देख रही है। दिलीपने धनुष उठाया और सिंहको मारनेके लिये बाण निकालना चाहा; किंतु उनका वह हाथ भाथेमें ही चिपक गया।

इसी समय स्पष्ट मनुष्यभाषामें सिंह बोला—'राजन्! व्यर्थ उद्योग मत करो। मैं साधारण पशु नहीं हूँ। मैं भगवती पार्वतीका कृपापात्र हूँ और उन्होंने मुझे अपने हाथों लगाये इस देवदारु वृक्षकी रक्षाके लिये नियुक्त किया है। जो पशु अपने-आप यहाँ आ जाते हैं, वे ही मेरे आहार होते हैं।'

महाराज दिलीपने कहा—'आप जगन्माताके सेवक होनेके कारण मेरे वन्दनीय हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। सत्पुरुषोंके साथ सात पद चलनेसे भी मित्रता हो जाती है। आप मुझपर कृपा करें। मेरे गुरुकी इस गौको छोड़ दें और क्षुधा-निवृत्तिके लिये मेरे शरीरको आहार बना लें।'

सिंहने आश्चर्यपूर्वक कहा—'आप यह कैसी बात करते हैं! आप युवा हैं, नरेश हैं और आपको सभी सुखभोग प्राप्त हैं। इस प्रकार आपका देहत्याग किसी प्रकार बुद्धिमानी-का काम नहीं। आप तो एक गौके बदले अपने गुरुको सहस्रों गायें दे सकते हैं।'

राजाने नम्रतापूर्वक कहा—'भगवन्! मुझे शरीरका मोह नहीं और न सुख भोगनेकी स्पृहा है। मेरी रक्षामें दी हुई गौ मेरे रहते मारी जाय तो मेरे जीवनको धिक्कार है। आप मेरे शरीरपर कृपा करनेके बदले मेरे धर्मकी रक्षा करें। मेरे यश तथा मेरे कर्तव्यको सुरक्षित बनायें।'

सिंहने राजाको समझानेका बहुत प्रयत्न किया; किंतु जब उन्होंने अपना आग्रह नहीं छोड़ा, तब वह बोला—'अच्छी बात! मुझे तो आहार चाहिये। तुम अपना शरीर देना चाहते हो तो मैं इस गौको छोड़ दूँगा।'

दिलीपका भाथेमें चिपका हाथ छूट गया। उन्होंने धनुष तथा भाथा उतारकर दूर रख दिये और वे मस्तक झुकाकर भूमिपर बैठ गये। परंतु उनपर सिंह कूदे, इसके बदले आकाशसे पुष्प-वर्षा होने लगी। नन्दिनीका स्वर सुनायी पड़ा—'पुत्र! उठो। तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये अपनी मायासे मैंने ही यह दृश्य उपस्थित किया था। पत्तेके दोनेमें मेरा दूध दुहकर पी लो। इससे तुम्हें तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा।'

दिलीप उठे। वहाँ सिंह कहीं था ही नहीं। नन्दिनीको उन्होंने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। हाथ जोड़कर बोले—'देवि! आपके दूधपर पहले आपके बछड़ेका अधिकार है और फिर गुरुदेवका। आश्रम पहुँचनेपर आपका बछड़ा जब दूध पीकर तृप्त हो जायगा, तब गुरुदेवकी आज्ञा लेकर मैं आपका दूध पी सकता हूँ।'

दिलीपकी धर्मनिष्ठासे नन्दिनी और भी प्रसन्न हुई। वह आश्रम लौटी। महर्षि वशिष्ठ भी सब बातें सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उनकी आज्ञा लेकर दिलीपने गौका दूध पीया। गोसेवाके फलसे उन्हें पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ।

—सु० सिं०

(रघुवंश)

वनयात्राका गो-दान

भगवान् श्रीरामके विषयमें प्रसिद्ध है कि वे वनयात्राके समय रत्तीभर भी उद्विग्न नहीं हुए थे—'तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।' बल्कि उल्टे उनका हर्ष और उत्साह बढ़ गया था।—

'नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान॥'

उस समय उन्होंने कुबेरकी भाँति ब्राह्मणोंको धन लुटाया था। अपने प्रत्येक सेवकको चौदह वर्षोंतक (अपने पूरे वनवास कालभर) जीविका चलाने योग्य धन दिया था। इसके बाद भी जब उनके खजानेमें धन रह गया, तब अपने कोषाध्यक्षको बुलवाकर सारा धन बालक-बूढ़े ब्राह्मणों तथा दीन-दुखियोंको बँटवा दिया।

उन्हीं दिनों अयोध्यामें एक त्रिजट नामका गर्गगोत्रीय ब्राह्मण रहता था। उसके पास जीविकाका कोई साधन न था। उसका शरीर अत्यन्त दुबला और पीला हो गया था। उसकी स्त्रीने उससे कहा—'नाथ! श्रीरामचन्द्रजीसे आप जाकर मिलिये; वे बड़े धर्मज्ञ हैं, वे अवश्य हमलोगोंके लिये कोई प्रबन्ध कर देंगे, पत्नीकी बात सुनकर त्रिजट श्रीरामभद्रके पास आया। वे उस समय वन जानेको तैयार थे और उनका यह 'वन-यात्रा-दान-महोत्सव' जारी था। त्रिजटको यह सब कुछ भी मालूम न था। उसने उनके पास पहुँचकर कहा—

'राजकुमार! मैं निर्धन हूँ, मेरी बहुत-सी संतानें हैं। आप मेरी दशाका ध्यान करके मुझपर कृपा-दृष्टि फेरें।'

उसकी बात सुनकर तथा उसका दौर्बल्य देखकर प्रभुको इस समय भी एक परिहासकी बात सूझ गयी। उन्होंने त्रिजटसे कहा—'विप्रवर! आप अपना डंडा जितनी दूरतक फेंक सकें, फेंकिये। जहाँ तक आपका डंडा पहुँचेगा, वहाँतककी गायें आप अपनी समझ लीजिये।'

अब त्रिजटने बड़ी तेजीके साथ धोतीके पल्लेको समेटकर ठीक किया। उसने अपनी सारी शक्ति लगाकर डंडेको बड़े जोरसे घुमाकर फेंका। डंडा सरयूके उस पार जाकर हजारों गौओंके बीच गिरा। भगवान्ने त्रिजटको गले लगा लिया और वहाँतककी गायें उसके आश्रमपर भिजवा दीं। उन्होंने उससे क्षमा माँगी और कहा—'ब्राह्मणदेवता, बुरा न मानियेगा; मैंने वह बात विनोदमें ही कह दी थी।' ब्राह्मण प्रसन्न था।—जा० श०

(वाल्मीकि० रामा० अयोध्या० ३२)

सत्सङ्गकी महिमा

किसी समय महर्षि वसिष्ठजी विश्वामित्रजीके आश्रमपर पधारे। विश्वामित्रजीने उनका स्वागत-सत्कार तो किया ही, आतिथ्यमें अपनी एक सहस्र वर्षकी तपस्याका फल भी अर्पित किया। कुछ समय पश्चात् विश्वामित्रजी वसिष्ठजीके अतिथि हुए। वसिष्ठजीने भी उनका यथोचित सत्कार किया और उन्हें अपने आधी घड़ीके सत्सङ्गका पुण्य अर्पित किया। परंतु वसिष्ठजीके इस व्यवहारसे विश्वामित्रजीको क्षोभ हुआ। यद्यपि वे कुछ बोले नहीं; फिर भी उनके मुखपर आया रोषका भाव छिपा नहीं रहा। उस भावको लक्षित करके वसिष्ठजी बोले—'मैं देखता हूँ कि आपको अपनी सहस्र वर्षकी तपस्याके समान मेरा आधी घड़ीका सत्सङ्ग नहीं जान पड़ता। क्यों न हमलोग किसीसे निर्णय करा लें।'

दोनों ब्रह्मर्षि ठहरे, उनके विवादका निर्णय करनेका साहस कोई ऋषि-मुनि भी नहीं कर सकता था, नरेशोंकी तो चर्चा ही क्या। वे ब्रह्मलोक पहुँचे। परंतु ब्रह्माजीने भी सोचा कि इनमें कोई रुष्ट होकर शाप दे देगा तो विपत्तिमें पड़ना होगा। उन्होंने कह दिया—'आपलोग भगवान् विष्णुके पास पधारें; क्योंकि सृष्टिके कार्यमें व्यस्त होनेके कारण मैं स्वस्थचित्तसे कोई निर्णय देनेमें असमर्थ हूँ।'

'मैं आप दोनोंके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। तपस्या और सत्सङ्गके माहात्म्यका निर्णय वही कर सकता है, जो स्वयं इनमें लगा हो। मेरा तो इनसे परिचय ही नहीं। आपलोग तपोमूर्ति भगवान् शङ्करसे पूछनेकी कृपा करें।' भगवान् विष्णुने भी दोनों ऋषियोंको यह कहकर विदा कर दिया।

दोनों ऋषि कैलास पहुँचे; किंतु शङ्करजीने भी कह दिया—'जबसे मैंने हालाहल पान किया है, तबसे चित्तकी स्थिति निर्णायक बनने-जैसी नहीं रही है। शेषजी मस्तकपर पृथ्वी उठाये निरन्तर तप करते रहते हैं और अपने सहस्रमुखोंसे मुनिवृन्दको सत्सङ्गका लाभ देते रहते हैं। वे ही आपलोगोंका निर्णय कर सकते हैं।'

पाताल पहुँचनेपर दोनों महर्षियोंकी बात शेषजीने सुन ली और बोले—'आपमेंसे कोई अपने प्रभावसे इस पृथ्वीको कुछ क्षण अधरमें रोके रहें तो मेरा भार कम हो और मैं स्वस्थ होकर विचार करके निर्णय दूँ।'

'मैं एक सहस्र वर्षके तपका फल अर्पित करता हूँ, धरा आकाशमें स्थित रहें।' महर्षि विश्वामित्रने हाथमें जल लेकर संकल्प किया; किंतु पृथ्वी तो हिली भी नहीं।

'मैं आधी घड़ीके अपने सत्सङ्गका पुण्य देता हूँ, पृथ्वी देवी कुछ क्षण गगनमें ही अवस्थित रहें।' ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीने संकल्प किया और पृथ्वी शेषजीके फणोंसे ऊपर उठकर निराधार स्थित हो गयीं।

अब निर्णय करने-करानेको कुछ रहा ही नहीं था। विश्वामित्रजीने वसिष्ठजीके चरण पकड़ लिये—'भगवन्! आप सदासे महान् हैं।' —सु० सिं०

सच्चे संतका शाप भी मङ्गलकारी होता है

धनाधीश कुबेरके दो पुत्र थे—नलकूबर और मणिग्रीव। कुबेरके पुत्र; फिर सम्पत्तिका पूछना क्या। युवावस्था थी, यक्ष होनेके कारण अत्यन्त बली थे, लोकपालके पुत्र होनेके कारण परम स्वतन्त्र थे।

> यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
> एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

युवावस्था, धन, प्रभुत्व और विचारहीनता—इनमेंसे प्रत्येक अनर्थका कारण है; फिर जहाँ चारों हों, वहाँ तो पूछना ही क्या। कुबेरके पुत्रोंमें चारों दोष एक साथ आ गये। धन-मदसे वे उन्मत्त रहने लगे।

एक बार वे स्त्रियोंके साथ मदिरा पीकर जल-क्रीडा कर रहे थे नंगे होकर। उसी समय देवर्षि नारद उधरसे निकले। देवर्षिको देखकर स्त्रियाँ झटपट जलसे बाहर निकल आयीं और उन्होंने वस्त्र पहिन लिये; किंतु दोनों कुबेरपुत्र वैसे ही नंग-धड़ंग खड़े रहे। देवर्षिका कोई सत्कार या संकोच करना उन्हें अनावश्यक लगा।

देवर्षिको उनकी दशा देखकर क्रोध तो नहीं आया, दया आ गयी। कुबेरजी लोकपाल हैं, उनके गण भी उपदेव माने जाते हैं, भगवान् शंकर उन्हें अपना सखा कहते हैं; उनके पुत्र ऐसे असभ्य और मदान्ध! दया करके देवर्षिने शाप दे दिया—'तुम दोनों जडकी भाँति खड़े हो, अतः जड वृक्ष हो जाओ।'

संतके दर्शनसे कोई बन्धनमें नहीं पड़ता। संतके शापसे किसीका अमङ्गल नहीं होता। संत तो है ही मङ्गलमय। उसका दर्शन, स्पर्श, सेवन तो मङ्गलकारी है ही, उसके रोष और शापसे भी जीवका परिणाममें मङ्गल ही होता है। देवर्षिने शाप देते हुए कहा—'तुम दोनों व्रजमें नन्दद्वारपर सटे हुए अर्जुनके वृक्ष बनो। द्वापरमें अवतार लेकर श्रीकृष्णचन्द्र वृक्षयोनिसे तुम्हारा उद्धार करेंगे और तब तुम्हें भगवद्भक्ति प्राप्त होगी।'

यह शाप है या वरदान? श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन प्राप्त होगा, स्पर्श प्राप्त होगा और भगवद्भक्ति प्राप्त होगी। व्रजमें निवास प्राप्त होगा उससे पूर्व, और वह भी नन्दद्वारपर। सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीने जब श्यामसुन्दरकी स्तुति की वत्सहरणके पश्चात्, तब वे भी इतना साहस नहीं कर सके कि नन्दपौरिपर वृक्ष होनेकी प्रार्थना कर सकें। डरते-डरते उन्होंने यही प्रार्थना की—'नाथ! मुझे व्रजमें कुछ भी बना दीजिये।' सृष्टिकर्ता प्रार्थना करके भी व्रजके तृण होनेका वरदान नहीं पा सके और उद्धत कुबेरपुत्रोंको शाप मिल गया नन्दद्वारपर दीर्घकालतक वृक्ष होकर रहनेका—यह संतके दर्शनका प्रभाव था।

लीलामय नटनागरने द्वापरमें अवतार लेकर अपने ही घरमें दहीका मटका फोड़ा, माखन चुराया और इस प्रकार मैया यशोदाको रुष्ट करके उनके हाथों अपनेको ऊखलसे बँधवाया। इसके बाद रस्सीमें ऊखलसे बँधा वह दामोदर ऊखल घसीटता अपने द्वारपर अर्जुन वृक्ष बने कुबेरपुत्रोंके पास पहुँचा। वृक्षोंके मध्य ऊखल अटकाकर उसने बलपूर्वक वृक्षोंको गिरा दिया; क्योंकि अपने प्रिय भक्त देवर्षिकी बात उसे सत्य करनी थी। कुबेरके पुत्रोंको वृक्षयोनिसे परित्राण दिया उसने। —सु० सिं०

(श्रीमद्भागवत १०। ९-१०)

क्षणभरका कुसङ्ग भी पतनका कारण होता है

किसी समय कन्नौजमें अजामिल नामका एक तरुण ब्राह्मण रहता था। वह शास्त्रोंका विद्वान् था, शीलवान् था, कोमल स्वभावका, उदार, सत्यवादी तथा संयमी था। गुरुजनोंका सेवक था, समस्त प्राणियोंका हितैषी था, बहुत कम और संयत वाणी बोलता था एवं किसीसे भी द्वेष या घृणा नहीं करता था।

वह धर्मात्मा ब्राह्मण युवक पिताकी आज्ञासे एक दिन वनमें फल, पुष्प, अग्निहोत्रके लिये सूखी समिधा और कुश लेने गया। इन सब सामग्रियोंको लेकर वह लौटने लगा तो उससे एक भूल हो गयी। वह ऐसे मार्गसे लौटा, जिस मार्गमें आचरणहीन लोग रहा करते थे। यह एक नन्ही-सी भूल ही उस ब्राह्मणके पतनका कारण हो गयी।

ब्राह्मण अजामिल जिस मार्गसे लौट रहा था, उस मार्गमें एक शूद्र एक दुराचारिणी स्त्रीके साथ शराब पीकर निर्लज्ज विनोद कर रहा था। वह स्त्री शराबके नशेमें लज्जाहीन हो रही थी। उसके वस्त्र अस्तव्यस्त हो रहे थे। अजामिलने पाससे यह दृश्य देखा। वह शीघ्रतापूर्वक वहाँसे चला आया; किंतु उसके मनमें सुप्त विकार उस क्षणभरके कुसङ्गसे ही प्रबल हो चुका था।

अजामिल घर चला आया; किंतु उसका मन उन्मत्त हो उठा। वह बार-बार मनको संयत करनेका प्रयत्न करता था; किंतु मन उस कदाचारिणी स्त्रीका ही चिन्तन करनेमें लगा था। अन्ततः अजामिल मनके इस संघर्षमें हार गया। एक क्षणके कुसङ्गने धर्मात्मा संयमी ब्राह्मणको डुबा दिया पाप-सागरमें। उस कदाचारिणी स्त्रीको ही संतुष्ट करनेमें अजामिल लग गया। माता-पिता, जाति-धर्म, कुल-सदाचार और साध्वी पत्नीको भी उसने छोड़ दिया। लोक-निन्दाका कोई भय उसे रोक नहीं सका। समस्त पैतृक धन घरसे ले जाकर उसने उसी कुलटाको संतुष्ट करनेमें लगा दिया और बात यहाँतक बढ़ गयी कि उसी स्त्रीके साथ अलग घर बनाकर वह रहने लगा।

जब एक बार मनुष्यका पतन हो जाता है, तब फिर उसका सम्हलना कठिन होता है। वह बराबर नीचे ही गिरता जाता है। अब अजामिलको तो उस कुलटा नारीको संतुष्ट करना था और इसका उपाय था उसे धन देते रहना। चोरी, जूआ, छल-कपट—जिस उपायसे धन मिले—धर्म-अधर्मका प्रश्न ही अजामिलके सामनेसे हट गया।

तनिक देरका कुसङ्ग कितना महान् अनर्थ करता है। एक धर्मात्मा संयमी एक क्षणके प्रमादसे आचारहीन घोर अधर्मी बन गया। —सु० सिं० (श्रीमद्भागवत ६ । १)

क्षणभरका सत्सङ्ग कलुषित जीवनको भी परमोज्ज्वल कर देता है

उलटा नाम जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

बहुत प्राचीन बात है, सङ्गदोषसे एक ब्राह्मण क्रूर डाकू बन गया था। जन्मसे ही वह अशिक्षित था। अपने परिवारके पालन-पोषणके लिये उसने बड़ा घोर मार्ग अपनाया। घोर वनसे जानेवाले एक मार्गके समीप उसका अड्डा था। जो भी यात्री उधरसे निकलता, उसे वह मार डालता बिना यह सोचे कि इस हत्यासे उसे लाभ कितना होगा। मृत व्यक्तिके पास जो कुछ मिलता, उसे लेकर वह शवको कहीं ठिकाने लगा देता। उसने इतने व्यक्ति मारे कि उनमें जो द्विजाति थे, उनके यज्ञोपवीत ही साढ़े सात बैल गाड़ी एकत्र हो गये।

वह मार्ग यात्रियोंके लिये मृत्यु-द्वार बन गया था। पथिकोंकी यह विपत्ति देवर्षि नारदसे देखी नहीं गयी। वे स्वयं उसी मार्गसे चल पड़े। सदाकी भाँति शस्त्र उठाये डाकू उनपर भी झपटा। देवर्षिको भला, भय क्या। उन्होंने कहा—'भाई ! तुम व्यर्थ क्यों क्रोध करते हो? शस्त्र उठानेसे क्या लाभ ? मैंने तो तुम्हारा कुछ बिगाड़ा नहीं है। तुम चाहते क्या हो ?'

'मैं चाहता हूँ तेरे प्राण, तेरी यह तुमड़ी और वस्त्र तथा तेरे पास कुछ और निकले तो वह भी।' डाकू गरज उठा।

'निरन्तर जीव-हत्याका यह पाप किये बिना भी तो तुम वनके फल-कन्दसे पेट भर सकते हो!' देवर्षिका तेज और उनके स्वरमें भरी दया डाकूको स्तम्भित किये दे रहे थे।

'किंतु मेरे माता-पिता, स्त्री-पुत्रका पेट कौन भरेगा तू ?' डाकू अभी क्रूर व्यंग ही कर रहा था।

'भाई ! तुम जिनके लिये नित्य यह पाप करते हो, उनमेंसे कोई तुम्हारे पापका फल भोगनेमें भाग नहीं लेगा ! अपने पापका फल तुम्हें अकेले ही भोगना होगा।' नारदजीने बड़ी मृदुतासे कहा।

'यह कैसे हो सकता है ?' डाकू विचलित हो उठा था। 'जो मेरे पापसे कमाये धनका सुख भोगते हैं, वे मेरे पापके फलमें भी भाग तो लेंगे ही।'

'बहुत भोले हो, भाई ! पापके फलमें कोई भाग नहीं लेगा। तुम्हें मेरी बातका विश्वास न हो तो घर जाकर उन लोगोंसे पूछ लो।' देवर्षिने बात पूरी कर दी।

'बाबाजी ! तू मुझे मूर्ख बनाना चाहता है। मैं घर पूछने जाऊँ और तू यहाँसे खिसकता बने !' डाकूने फिर शस्त्र सम्हाला।

'तुम मुझे इस पेड़के साथ भलीभाँति बाँध दो।' चुप-चाप नारदजी स्वयं एक पेड़से लगकर खड़े हो गये।

अब डाकूको उनकी बात सच्ची लगी। उसने उन्हें पेड़के साथ वनकी लताओंसे भलीभाँति बाँध दिया और स्वयं शीघ्रतापूर्वक घर पहुँचा। घर जाकर उसने पितासे पूछा—'पिताजी ! आप तो जानते ही हैं कि मैं यात्रियोंकी हत्या करके उनके साथकी सामग्री लाता हूँ और उसीसे परिवारका भरण-पोषण करता हूँ। मैं जो नित्य यह पाप करता हूँ, उसके फलमें आपका भी तो भाग है न ?'

तनिक खाँसकर पिताने उसकी ओर देखा और कहा—'बेटा ! हमने तुम्हारा पालन-पोषण किया, तुम्हें छोटेसे बड़ा किया और अब तुम समर्थ हो गये। हमारी वृद्धावस्था आ गयी। तुम्हारा कर्तव्य है हमारा भरण-पोषण करना। तुम कैसे धन लाते हो, इससे हमें क्या। तुम्हारे पाप-पुण्यमें भला हमारा भाग क्यों होने लगा।'

पहली बार डाकू चौंका। वह माताके पास गया; किंतु माताने भी उसे वही उत्तर दिया जो पिताने दिया था। उसने पत्नीसे पूछा—तो पत्नीने कहा—'स्वामी ! मेरा कर्तव्य है आपकी सेवा करना, आपके गुरुजनों तथा परिवारकी सेवा करना। वह अपना कर्तव्य मैं पालन करती हूँ। आपका कर्तव्य है मेरी रक्षा करना और मेरा पोषण करना, वह आप करते हैं। इसके लिये आप कैसे धन लाते हैं सो आप जानें। आपके उस पापसे मेरा क्या सम्बन्ध। मैं उसमें क्यों भाग लूँगी।'

डाकू निराश हो गया, फिर भी उसने अपने बालक पुत्रसे अन्तमें पूछा। बालकने और स्पष्ट उत्तर दिया—'मैं छोटा हूँ, असमर्थ हूँ; अतः आप मेरा भरण-पोषण करते हैं। मैं समर्थ हो जाऊँगा, तब आप वृद्ध और असमर्थ हो जायँगे। उस समय मैं आपका भरण-पोषण करूँगा और अवश्य करूँगा। यह तो परस्पर सहायताकी बात है। आपके पापको आप जानें; मैं उसमें कोई भाग लेना नहीं चाहता, न लूँगा।'

डाकूके नेत्रोंके आगे अन्धकार छा गया। जिनके लिये वह इतने पाप कर चुका, वे कोई उस पापका दारुण फल भोगनेमें उसके साथ नहीं रहना चाहते ! पश्चात्तापसे जलने लगा उसका हृदय। दौड़ा वह वनकी ओर ! वहाँ पहुँचकर देवर्षिके बन्धनकी लताएँ उसने तोड़ फेंकीं और क्रन्दन करता उनके चरणोंपर गिर पड़ा।

'तुम राम-नामका जप करो।' देवर्षिने प्रायश्चित्त बतलाया। किंतु हत्या-निष्ठुर हृदय, पाप-कलुषित वाणी यह दिव्य नाम सीधा होनेपर भी उच्चारण करनेमें समर्थ नहीं हुई। देवर्षि हारना नहीं जानते; वे जिसे मिल जायँ वह भगवान्‌के चरणोंसे दूर बना रहे, यह शक्य नहीं। उन्होंने कहा—'चिन्ता नहीं, तुम 'मरा मरा' ही जपो।'

डाकू वहीं बैठ गया। उसे पता नहीं कि उसके उपदेष्टा कब चले गये। उसकी वाणी लग गयी जपमें—'मरा मरा मरा मरा मरा·······'दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतते चले गये; किंतु डाकूको कुछ पता नहीं था। उसके शरीरमें दीमक लग गये, दीमकोंकी पूरी बाँबी—वल्मीक बन गयी उसके ऊपर।

डाकूके तपने सृष्टिकर्ताको आश्चर्यमें डाल दिया। वे हंसवाहन स्वयं पधारे वहाँ और अपने कमण्डलुके अमृत-जलसे उन्होंने उस तपस्वीपर छींटे दिये। उन जल-सीकरोंके प्रभावसे उस दीमकोंके वल्मीकसे जो पुरुष निकल खड़ा हुआ, वह अब पूरा बदल चुका था। उसका रूप, रंग, शरीर और हृदय सब दिव्य हो चुका था।

संसार ठीक नहीं जानता कि डाकूका नाम क्या था; कोई-कोई उसे रत्नाकर कहते हैं। किंतु वह जो तपस्वी उठा, वल्मीकसे निकलनेके कारण उसे वाल्मीकि कहा गया। वह आदिकवि, भगवान् श्रीरामके निर्मल यशका प्रथम गायक—विश्व उसकी वन्दना करके आज भी कृतार्थ होता है। रहा होगा वह कभी अज्ञातनामा क्रूर डाकू; किंतु एक क्षणके सत्सङ्गने उसे महत्तम जो बना दिया।—सु० सिं०

किसीको धर्ममें लगाना ही उसपर सच्ची कृपा करना है

एक बार एक दरिद्र ब्राह्मणके मनमें धन पानेकी तीव्र कामना हुई। वह सकाम यज्ञोंकी विधि जानता था; किंतु धन ही नहीं तो यज्ञ कैसे हो? वह धनकी प्राप्तिके लिये देवताओंकी पूजा और व्रत करने लगा। कुछ समय एक देवताकी पूजा करता; परंतु उससे कुछ लाभ नहीं दिखायी पड़ता तो दूसरे देवताकी पूजा करने लगता और पहलेको छोड़ देता। इस प्रकार उसे बहुत दिन बीत गये। अन्तमें उसने सोचा—'जिस देवताकी आराधना मनुष्यने कभी न की हो, मैं अब उसीकी उपासना करूँगा। वह देवता अवश्य मुझपर शीघ्र प्रसन्न होगा।'

ब्राह्मण यह सोच ही रहा था कि उसे आकाशमें कुण्डधार नामक मेघके देवताका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। ब्राह्मणने समझ लिया कि 'मनुष्यने कभी इनकी पूजा न की होगी। ये बृहदाकार मेघदेवता देवलोकके समीप रहते हैं, अवश्य ये मुझे धन देंगे।' बस, बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे ब्राह्मणने उस कुण्डधार मेघकी पूजा प्रारम्भ कर दी।

ब्राह्मणकी पूजासे प्रसन्न होकर कुण्डधारने देवताओंकी स्तुति की; क्योंकि वह स्वयं तो जलके अतिरिक्त किसीको कुछ दे नहीं सकता था। देवताओंकी प्रेरणासे यक्षश्रेष्ठ मणिभद्र उसके पास आकर बोले—'कुण्डधार! तुम क्या चाहते हो?'

कुण्डधार—'यक्षराज! देवता यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरे उपासक इस ब्राह्मणको वे सुखी करें।'

मणिभद्र—'तुम्हारा भक्त यह ब्राह्मण यदि धन चाहता हो तो इसकी इच्छा पूर्ण कर दो। यह जितना धन माँगेगा, वह मैं इसे दे दूँगा।'

कुण्डधार—'यक्षराज! मैं इस ब्राह्मणके लिये धनकी प्रार्थना नहीं करता। मैं चाहता हूँ कि देवताओंकी कृपासे यह धर्मपरायण हो जाय। इसकी बुद्धि धर्ममें लगे।'

मणिभद्र—'अच्छी बात! अब ब्राह्मणकी बुद्धि धर्ममें ही स्थित रहेगी।' उसी समय ब्राह्मणने स्वप्नमें देखा कि उसके चारों ओर कफन पड़ा हुआ है। यह देखकर उसके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा—'मैंने इतने देवताओंकी और अन्तमें कुण्डधार मेघकी भी धनके लिये आराधना की, किंतु इनमें कोई उदार नहीं दीखता। इस प्रकार धनकी आशामें ही लगे हुए जीवन व्यतीत करनेसे क्या लाभ। अब मुझे परलोककी चिन्ता करनी चाहिये।'

ब्राह्मण वहाँसे वनमें चला गया। उसने अब तपस्या करना प्रारम्भ किया। दीर्घकालतक कठोर तपस्या करनेके कारण उसे अद्भुत सिद्धि प्राप्त हुई। वह स्वयं आश्चर्य करने लगा—'कहाँ तो मैं धनके लिये देवताओंकी पूजा करता था और उसका कोई परिणाम नहीं होता था और कहाँ अब मैं स्वयं ऐसा हो गया कि किसीको धनी होनेका आशीर्वाद दे दूँ तो वह निःसंदेह धनी हो जायगा!'

ब्राह्मणका उत्साह बढ़ गया। तपस्यामें उसकी श्रद्धा बढ़ गयी। वह तत्परतापूर्वक तपस्यामें ही लगा रहा। एक दिन उसके पास वही कुण्डधार मेघ आया। उसने कहा—'ब्रह्मन्! तपस्याके प्रभावसे आपको दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी है। अब आप धनी पुरुषों तथा राजाओंकी गति देख सकते हैं।' ब्राह्मणने देखा कि धनके कारण गर्वमें आकर लोग नाना प्रकारके पाप करते हैं और घोर नरकोंमें गिरते हैं।

कुण्डधार बोला—'भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करके आप यदि धन पाते और अन्तमें नरककी यातना भोगते तो मुझसे आपको क्या लाभ होता? जीवका लाभ तो कामनाओंका त्याग करके धर्माचरण करनेमें ही है। उन्हें धर्ममें लगानेवाला ही उनका सच्चा हितैषी है।'

ब्राह्मणने मेघके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। कामनाओंका त्याग करके अन्तमें वह मुक्त हो गया। —सु० सिं०

(महाभारत, शान्ति० २७१)

वैष्णव-सङ्गका श्रेष्ठ फल

'मैंने जीवनपर्यन्त पाप-ही-पाप किये हैं—रस, कम्बल और चमड़ेके व्यापारसे ही जीविका चलायी, जिसको लोग अच्छा काम नहीं समझते। मदिरापान, वेश्यागमन, मिथ्या-भाषणमेंसे मैंने किसीको भी नहीं छोड़ा।' अवन्तीपुरीका रहनेवाला धनेश्वर ब्राह्मण इस प्रकारकी अनेक बातोंका चिन्तन करता हुआ अपने पथपर बढ़ रहा था। वह सामान खरीदने-बेचनेके लिये माहिष्मती जा रहा था।

माहिष्मती आ गयी। परम पवित्र भगवती नर्मदाकी स्वच्छ तरङ्गें माहिष्मतीकी प्राचीर चूमकर उसकी पवित्रता बढ़ा रही थीं। ऐसा लगता था मानो अमरकण्टक पर्वतपर तप करनेके

बाद सिद्धियोंने माहिष्मतीमें ही निवास करनेका विचार किया हो। इस तीर्थमें कहीं वेदमन्त्रोंका उच्चारण हो रहा था, कहीं बड़े-बड़े यज्ञ हो रहे थे; पुराण-श्रवणका क्रम चल रहा था; स्नान, ध्यान-पूजनमें लोग तत्पर थे तो कहीं भगवान् शंकरको प्रसन्न करनेके लिये नृत्य-गान आदि उत्सव भी विधिपूर्वक सम्पन्न हो रहे थे। नदीके तटपर वैष्णवजन कहीं दान-पुण्य कर रहे थे तो कहीं बड़े-बड़े व्रत-अनुष्ठान भी दर्शनीय थे। धनेश्वरको माहिष्मतीमें निवास करते एक मास पूरा हो रहा था, वह घूम-घूमकर शुभ कृत्योंका दर्शन करता था।

'आह !' एक दिन नदी-तटपर घूमते समय उसके मुखसे सहसा निकल पड़ा। वह मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसे काले साँपने काट लिया था। अगणित लोग एकत्र हो गये। उसकी चेतना लौटानेके लिये वैष्णवोंने तुलसीदल-मिश्रित जलका उसके मुखपर छींटा दिया, श्रीविष्णुका नाम सुनाया, द्वादशाक्षर मन्त्रका उच्चारण किया; पर उसके शरीरमें प्राणका संचार न हो सका।

× × ×

संयमनीपुरीमें पहुँचनेपर धनेश्वरके लिये कड़ी-से-कड़ी यातनाका विधान सोचा गया। यमदूत उसे मुद्गरसे मारने लगे।

'इसने पृथ्वीपर एक भी पुण्य नहीं किया है, महाराज ! यह महान् पापी है।' चित्रगुप्तने यमराजका ध्यान आकृष्ट किया; धनेश्वर कुम्भीपाक नरकमें खौलते तेलके कड़ाहेमें डाल दिया गया। उसके गिरते ही तेल ठंडा हो गया।

'संयमनीपुरीकी यह पहली आश्चर्यमयी घटना है, महाराज !' प्रेतराजने विस्मित दृष्टिसे यमराजको देखा।

'इसमें आश्चर्य करनेकी आवश्यकता ही नहीं है; धनेश्वरने एक मासतक वैष्णवोंके सम्पर्कमें माहिष्मतीमें निवासकर अनेक पुण्य कमाये हैं; व्रत-अनुष्ठान, दान, नृत्य, संगीत, कथा-वार्ता आदिसे इसका मन पवित्र है; इसके पहलेके पाप नष्ट हो गये हैं।' वीणा बजाते हुए देवर्षि नारद आ पहुँचे। यम और प्रेतराज—दोनोंने उनकी चरण-वन्दना की।

'यह यक्षयोनि पानेका अधिकारी है; इसके लिये नरक-यातनाकी आवश्यकता नहीं है, केवल नरक-दर्शनसे ही काम चल जायगा।' नारद चले गये।

प्रेतराजने धनेश्वरको तप्तवालुका, अन्धतामिस्र, क्रकच, असिपत्रवन, अर्गला, कूटशाल्मली, रक्तपूय और कुम्भीपाक नरकका दर्शन कराया। उसने यक्षयोनि पायी। —रा० श्री०

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड)

चित्रध्वजसे चित्रकला

प्राचीन कालमें चन्द्रप्रभ नामके एक राजर्षि थे। भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे उन्हें चित्रध्वज नामक सुन्दर पुत्र प्राप्त था। वह लड़कपनसे ही भगवान्‌का भक्त था। वह जब बारह वर्षका हुआ, तब राजाने किसी ब्राह्मणके द्वारा उसे अष्टादशाक्षर—(ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन-वल्लभाय स्वाहा) मन्त्र दिलवा दिया। बालकने मन्त्रपूत अमृतमय जलमें स्नान करके पिताको प्रणाम किया और एक दिन वह सुन्दर पवित्र नवीन वस्त्र तथा आभूषण धारण करके श्रीविष्णु-मन्दिरमें चला गया। वहाँ वह यमुना-पुलिनपर वनमें गोपबालाओंके साथ क्रीड़ा करते हुए भुवनमोहन श्रीकृष्णका ध्यान करने लगा और भगवान्‌के लिये उसका हृदय अत्यन्त व्याकुल हो उठा। भगवत्कृपासे उसे परमा विद्या प्राप्त हुई और उसने स्वप्नमें देखा—

उस भवनमें सुवर्णपीठपर समस्त सुलक्षणोंसे युक्त श्यामवर्ण स्निग्ध और लावण्यशाली त्रिभङ्गललित भगवान् श्रीकृष्णका मनोहर श्रीविग्रह है। सिरपर मयूरपिच्छ सुशोभित है। वे श्रीविग्रहरूप भगवान् मानो अधरोंपर स्थापित स्वर्णवेणु बजा रहे हैं। उनके दोनों ओर दो सुन्दरियाँ विराजमान हैं। चित्रध्वजने इस प्रकार वेशविलासयुक्त श्रीकृष्णको देखकर लज्जावनत होकर उन्हें प्रणाम किया। तदनन्तर श्रीकृष्णने अपने दाहिनी ओर बैठी हुई लज्जिता प्रियासे हँसते हुए कहा—'मृगलोचने ! तुम अपने ही अंशभूत इस बालकके लिये ऐसा चिन्तन करो मानो यह तुम्हारे ही जैसी दिव्य अद्भुत युवती है। तुम्हारे और इसके शरीरमें कोई भी भेद नहीं रहना चाहिये। तुम्हारे ऐसा चिन्तन करनेपर तुम्हारे अङ्ग-तेजका स्पर्श पाकर यह बालक तुम्हारे रूपको प्राप्त हो जायगा।'

तब वह कमलनयनी चित्रध्वजके पास जाकर अपने अङ्गोंके समान उसके समस्त अङ्गोंका अभेदभावसे चिन्तन करने लगी। उस देवीके अङ्गोंकी तेजोराशि चित्रध्वजके अङ्गोंका आश्रय करके उसका वैसा ही निर्माण करने लगी। देखते-ही-देखते वह सुन्दर नितम्ब, वक्षःस्थल, केशराशि

युक्त रमणीय युवती-रूपमें परिणत हो गया । वह रमणी सम्पूर्ण सुन्दर वस्त्र, आभूषण तथा हार-मालादिसे सुशोभित होकर वैसे ही हाव-भावोंसे सम्पन्न दीखने लगी। तब एक दीपकसे दूसरे दीपकके जल उठनेकी भाँति देवीशरीरसे उत्पन्न देवी-मूर्तिको देखकर उस देवीने उस लज्जासे संकुचित और यौवन-सुलभ मन्द मुसकानसे युक्त नवीन रमणीका हाथ पकड़कर परम आनन्दसे उसे श्रीगोविन्दकी बायीं ओर बैठा दिया। तदनन्तर उस देवीने श्रीभगवान्से कहा—'प्रभो ! आपकी यह दासी उपस्थित है; इसका नामकरण कीजिये और इसको आपकी रुचिकी कौन-सी अत्यन्त प्रिय सेवामें नियुक्त किया जायगा, यह भी बता दीजिये ।' इसके पश्चात् उसने स्वयं ही उसका 'चित्रकला' नाम रखकर उससे कहा कि 'तुम इस वीणाको लो और सदा-सर्वदा प्रभुके समीप रहकर विविध स्वरोंमें मेरे प्राणनाथका गुणगान किया करो । तुम्हारे लिये यही सेवा है ।'

'चित्रकला'ने उसका आदेश स्वीकार करके भगवान् श्रीमाधवको प्रणाम किया और उनकी प्रेयसीके चरणारविन्दकी धूलि लेकर वह युगलस्वरूपके आनन्दवर्धक गुणोंका सुललित स्वरोंमें गान करने लगी। तब आनन्दमय भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त प्रसन्न होकर उसका आलिङ्गन किया । भगवान् श्रीकृष्णके आनन्दमय स्पर्शसे चित्रकला ज्यों ही आनन्द-सागरमें निमग्न हुई कि उसकी नींद टूट गयी । अब तो श्रीकृष्ण-प्रेम-परवश होकर कुमार चित्रध्वज स्वप्नके उस अपार अलौकिक आनन्दका स्मरण करके फुफकार मारकर उच्च स्वरसे रोने लगा । उसका आहार-विहार सब छूट गया। महीनेभर इस प्रकार व्याकुल हृदयसे घरमें रहा, फिर एक दिन आधी रात्रिके समय श्रीकृष्णको सहचर बनाकर वह घरसे निकल पड़ा और श्रीकृष्ण-प्राप्तिके लिये मुनियोंके लिये भी दुःसाध्य तपस्या करने लगा । इसी महामुनिने देह-त्यागके अनन्तर वीरगुप्त नामक गोपके घर 'चित्रकला' नामसे कन्यारूपसे जन्म लिया । चित्रकला गोपीके कंधेपर सदा-सर्वदा सप्तस्वर-शोभित मनोहर वीणा रहती है और यह भगवान्के समीप युगल-स्वरूप श्रीराधाकृष्णका नित्य निरन्तर गुणगान किया करती है ।

सु-भद्रा

(लेखक—पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

जो पहले था, अब भी है और सदा रहेगा, वही 'सत्' है; जिसके सुननेसे हित होता है, ऐसे वृत्तान्तको भी 'सत्' कहते हैं । ऐसे 'सत्'की कथा करना ही 'कल्याण'के इस अङ्ककी विशेषता है । मैं आपकी सेवामें ऐसी एक सत्कथा उपस्थित करता हूँ, जो जीवनका उत्तम दर्शन है एवं जिसके आधारपर हमारा मनुष्य-जीवन प्रत्येक अवस्थामें शान्त, निर्मल और प्रगतिशील रहकर स्व-पर-कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है—

वसुदेव-नन्दन, कंस-चाणूर-मर्दन, देवकी-परमानन्द जगद्गुरु श्रीकृष्णकी बहिन 'सुभद्रा' देवी दोग्धा गोपाल-नन्दनके मित्र वत्स पार्थको दी गयी थी ।

पुत्र अभिमन्युके चन्द्र-लोकगमनका समाचार सुनकर सुभद्राकी अश्रुधारा रोकना धर्मराजको भी असम्भव लगा । नन्दनन्दन बोले—'बहिन ! तू योगेश्वरकी बहिन होकर रोती है—यह शोभा नहीं देता । जो आत्मा था, वह तो किसीने देखा नहीं और जो शरीर दिखायी दिया, वह अब भी है । कौन अभिमन्यु पैदा हुआ और कौन मरा ! बता तो सही ।' इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान सुनानेपर भी रुदन बंद नहीं हुआ । भगवान् बोले—'बहिन ! युद्धमें तो तूने ही उसे तिलक करके भेजा था और कहा था कि हारा हुआ मुँह मुझे मत दिखाना । यदि विजय करके आया तो मेरी गोद है अन्यथा पृथ्वी माताकी गोद है । इस प्रकार वीरतापूर्ण संदेश देनेवाली रोये, यह अयोग्य है ।'

सुभद्राने उत्तर दिया, 'भैया, चुप रहो ! इस समय बोलो मत । तुम्हारी बहिन सुभद्रा तो सु-भद्रा ही है—परम शान्त है—वह कभी नहीं रोती । युद्धमें भेजनेवाली वीर-पत्नी क्षत्रियाणी थी और रोनेवाली बेटेकी माँ है, इसे रो लेने दो । जाओ ! तुम पहले माँ बनो और बेटा मर जाये तो नहीं रोओ, तब मुझे समझाने आना ।' भगवान् श्रीकृष्ण चुप हो गये ।

प्रत्येक मनुष्यके मानसमें ऐसी एक सुभद्रावृत्ति रहती है, जो भगवान्की बहिन है। वह निरन्तर शान्त रहती है और दुनियाके सब कर्तव्यकर्म निर्लिप्तभावसे करती है—उसे पहचानकर स्वधर्मका पालन करना ही जीवनका उत्तम दर्शन है ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।

धैर्यसे पुनः सुखकी प्राप्ति

एक बार युधिष्ठिरने पितामह भीष्मसे पूछा—'पितामह! क्या आपने कोई ऐसा पुरुष देखा या सुना है, जो एक बार मरकर पुनः जी उठा हो ?'

भीष्मने कहा—''राजन्! पूर्वकालमें नैमिषारण्यमें एक अद्भुत घटना हुई थी, उसे सुनो। एक बार एक ब्राह्मणका एकमात्र बालक अल्पावस्थामें ही चल बसा। रोते-बिलखते उसे लेकर सभी श्मशानमें पहुँचे और उसे भूमिपर रखकर करुण क्रन्दन करने लगे। उनके रोनेका शब्द सुनकर वहाँ एक गीध आया और कहने लगा—'अब तुमलोग इस बालकको छोड़कर तुरंत घर चले जाओ। व्यर्थ विलम्ब मत करो। सभीको अपनी आयु समाप्त होनेपर कूच करना ही पड़ता है। यह श्मशान-भूमि गृध्र और गीदड़ोंसे भरी है। इसमें सर्वत्र नरकङ्काल दिखलायी पड़ रहे हैं। तुमलोगोंको यहाँ अधिक नहीं ठहरना चाहिये। प्राणियोंकी गति ऐसी ही है कि एक बार कालके गालमें जानेपर कोई जीव नहीं लौटता। देखो, अब सूर्यभगवान् अस्ताचलके अञ्चलमें पहुँच चुके हैं, इसलिये इस बालकका मोह छोड़कर तुम अपने घर लौट जाओ।'

''उस गृध्रकी बातें सुनकर वे लोग उस बालकको पृथ्वीपर रखकर रोते-बिलखते चलने लगे। इतनेमें ही एक काले रंगका गीदड़ अपनी माँदमेंसे निकला और वहाँ आकर कहने लगा—'मनुष्यो! वास्तवमें तुम बड़े स्नेहशून्य हो। अरे मूर्खो! अभी तो सूर्यास्त भी नहीं हुआ। इतने डरते क्यों हो? कुछ तो स्नेह निबाहो। किसी शुभ घड़ीके प्रभावसे यह बालक कहीं जी ही उठे। तुम कैसे निर्दयी हो। तुमने पुत्रस्नेहको तिलाञ्जलि दे दी है और इस नन्हे-से बालकको भीषण श्मशानमें यों ही पृथ्वीपर सुलाकर छोड़कर जानेको तैयार हो गये हो! देखो, पशु-पक्षियोंको भी अपने बच्चोंपर इतना कम स्नेह नहीं होता। यद्यपि उनका पालन-पोषण करनेपर उन्हें इस लोक या परलोकमें कोई फल नहीं मिलता।'

''गीदड़की बातें सुनकर वे लोग शवके पास लौट आये। अब वह गृध्र कहने लगा—'अरे बुद्धिहीन मनुष्यो! इस तुच्छ मन्दमति गीदड़की बातोंमें आकर तुम लौट कैसे आये। मुझे जन्म लिये आज एक हजार वर्षसे अधिक हो गया; किंतु मैंने कभी किसी पुरुष, स्त्री या नपुंसकको मरनेके बाद यहाँ जीवित होते नहीं देखा। देखो, इसका मृत-देह निस्तेज और काष्ठके समान निश्चेष्ट हो गया है। अब तुम्हारा स्नेह और श्रम तो व्यर्थ ही है। इससे कोई फल हाथ लगनेवाला नहीं! मैं तुमसे अवश्य कुछ कठोर बातें कर रहा हूँ; पर ये हेतुजनित हैं और मोक्षधर्मसे सम्बद्ध हैं। इसलिये मेरी बात मानकर तुम घर चले जाओ। किसी मरे हुए सम्बन्धीको देखनेपर और उसके कामोंको याद करनेपर तो मनुष्यका शोक दुगुना हो जाता है।'

''गृध्रकी बातें सुनकर पुनः सब वहाँसे चलने लगे। उसी समय गीदड़ तुरंत उनके पास आया और बोला—'भैया! देखो तो सही इस बालकका रंग सोनेके समान चमक रहा है। एक दिन यह अपने पितरोंको पिण्ड देगा। तुम गृध्रकी बातोंमें आकर इसे क्यों छोड़े जाते हो? इसे छोड़कर जानेमें तुम्हारे स्नेह, व्यथा और रोने-धोनेमें तो कोई कमी आयेगी नहीं। हाँ, तुम्हारा संताप अवश्य बढ़ जायगा। सुनते हैं भगवान् श्रीरामने शम्बूकको मारकर ब्राह्मणके मरे बालकको पुनः जिला दिया था। एक बार राजर्षि श्वेतका बालक भी मर गया था, किंतु धर्मनिष्ठ श्वेतने उसे पुनः जीवित कर लिया था। इसी प्रकार यहाँ भी कोई सिद्ध मुनि या देवता आ गये तो वे रोते देखकर तुम्हारे ऊपर कृपा करके इसे पुनः जिला सकते हैं।'

''गीदड़के इस प्रकार कहनेपर वे सब लोग फिर श्मशानमें लौट आये और उस बालकका सिर गोदमें रखकर रोने लगे। अब वह गृध्र उनके पास आया और कहने लगा—'अरे लोगो! यह तो धर्मराजकी आज्ञासे सदाके लिये सो गया है। जो बड़े तपस्वी, धर्मात्मा और बुद्धिमान् होते हैं, उन्हें भी मृत्युके हाथमें पड़ना पड़ता है। अतः बार-बार लौटकर शोकका बोझा सिरपर लादनेसे कोई लाभ नहीं है। जो व्यक्ति एक बार जिस देहसे नाता तोड़ लेता है, वह पुनः उस शरीरमें नहीं आ सकता। अब यदि इसके लिये एक नहीं, सैकड़ों गीदड़ अपने शरीरका बलिदान भी कर दें तो भी यह बालक नहीं जी सकता। तुम्हारे आँसू बहाने, लंबे-लंबे श्वास लेने या गला फाड़कर रोनेसे इसे पुनर्जीवन नहीं मिल सकता।'

''गृध्रके ऐसा कहनेपर वे लोग फिर घरकी ओर चल पड़े। इसी समय गीदड़ फिर बोल उठा—'अरे! तुम्हें धिक्कार है।

तुम इस गृध्रकी बातोंमें आकर मूर्खोंकी तरह पुत्रस्नेहको तिलाञ्जलि देकर कैसे जा रहे हो। यह गृध्र तो महापापी है। मैं सच कहता हूँ, मुझे अपने मनसे तो यह बालक जीवित ही जान पड़ता है। देखो, तुम्हारी सुखकी घड़ी समीप है। निश्चय रखो, तुम्हें अवश्य सुख मिलेगा।'

"इस प्रकार गृध्र और गीदड़ दोनों उन्हें बार-बार अपनी-अपनी कहकर समझाते थे।

"राजन्! वे गृध्र और गीदड़ दोनों ही भूखे थे। वे दोनों ही अपना-अपना काम बनानेपर तुले हुए थे। गृध्रको भय था कि रात हो जानेपर मुझे घोंसलेमें जाना पड़ेगा और इसका मांस सियार खायेगा। इधर गीदड़ सोचता कि दिनमें गृध्र बाधक होगा या इसे लेकर उड़ जायगा। इसलिये गृध्र तो यह कहता था कि अब सूर्यास्त हो गया और गीदड़ कहता था कि अभी अस्त नहीं हुआ। दोनों ही ज्ञानकी बातें बनानेमें कुशल थे। इसलिये उनकी बातोंमें आकर वे कभी घरकी ओर चलते और कभी रुक जाते। कुशल गृध्र और गीदड़ने अपना काम बनानेके लिये उन्हें चक्करमें डाल रक्खा था और वे शोकवश रोते हुए वहीं खड़े रहे। इतनेमें ही श्रीपार्वतीजीकी प्रेरणासे वहाँ भगवान् शंकर प्रकट हुए। उन्होंने उनसे वर माँगनेको कहा। तब सभी लोग अत्यन्त विनीत भावसे दुःखित होकर बोले—'भगवन्! इस एकमात्र पुत्रके वियोगसे हम बड़े दुखी हैं, अतः आप इसे पुनः जीवनदान देकर हमें मरनेसे बचाइये।'

"उनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उस बालकको पुनः जिला दिया और उसे सौ वर्षकी आयु दी। भगवान्ने कृपाकर उस गीदड़ तथा गृध्रको भूख मिट जानेका वर दिया। वर पाकर सभीने पुनः-पुनः प्रभुको प्रणाम किया और कृतकृत्य होकर नगरकी ओर चले गये।

"राजन्! यदि कोई दृढ़निश्चयी व्यक्ति धैर्यपूर्वक किसी कार्यके पीछे लगा रहे, उससे ऊबे नहीं, तो भगवत्कृपासे उसे सफलता मिल सकती है।"—जा० श०

(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १५३)

आत्म-प्रशंसासे पुण्य नष्ट हो जाते हैं

महाराज ययातिने दीर्घकालतक राज्य किया था। अन्तमें सांसारिक भोगोंसे विरक्त होकर अपने छोटे पुत्र पूरुको उन्होंने राज्य दे दिया और वे स्वयं वनमें चले गये। वनमें कन्द-मूल खाकर क्रोधको जीतकर वानप्रस्थाश्रमकी विधिका पालन करते हुए पितरों एवं देवताओंको संतुष्ट करनेके लिये वे तपस्या करने लगे। वे नित्य विधिपूर्वक अग्नि-होत्र करते थे; जो अतिथि-अभ्यागत आते, उनका आदरपूर्वक कन्द-मूल-फलसे सत्कार करते और स्वयं कटे हुए खेतमें गिरे अन्नके दाने चुनकर तथा स्वतः वृक्षसे गिरे फल लाकर जीवन-निर्वाह करते थे। इस प्रकार पूरे एक सहस्र वर्ष तप करनेके बाद महाराज ययातिने केवल जल पीकर तीस वर्ष व्यतीत कर दिये। फिर एक वर्षतक केवल वायु पीकर रहे। उसके पश्चात् एक वर्षतक वे पञ्चाग्नि तापते रहे। अन्तके छः महीने तो वायुके आहारपर रहकर एक पैरसे खड़े होकर वे तपस्या करते रहे।

इस कठोर तपस्याके फलसे राजा ययाति स्वर्ग पहुँचे। वहाँ देवताओंने उनका बड़ा आदर किया। वे कभी देवताओं-के साथ स्वर्गमें रहते और कभी ब्रह्मलोक चले जाते थे। उनका यह महत्त्व देवताओंकी ईर्ष्याका कारण हो गया। ययाति जब कभी देवराजके भवनमें पहुँचते, तब इन्द्रके साथ उनके सिंहासनपर बैठते थे। देवराज इन्द्र उन परम पुण्यात्माको अपनेसे नीचा आसन नहीं दे सकते थे। परंतु स्वर्गमें आये मर्त्यलोकके एक जीवको अपने सिंहासनपर बैठाना इन्द्रको बुरा लगता था। इसमें वे अपना अपमान अनुभव करते थे। देवता भी चाहते थे कि किसी प्रकार ययातिको स्वर्ग-भ्रष्ट कर दिया जाय। इन्द्रको देवताओंका भाव भी ज्ञात हो गया।

एक दिन ययाति इन्द्रभवनमें देवराज इन्द्रके साथ एक सिंहासनपर बैठे थे। इन्द्रने अत्यन्त मधुर स्वरमें कहा—'आप तो महान् पुण्यात्मा हैं। आपकी समानता भला, कौन कर सकता है। मेरी यह जाननेकी बहुत इच्छा है कि आपने कौन-सा ऐसा तप किया है, जिसके प्रभावसे ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँ इच्छानुसार रह लेते हैं।'

ययाति बड़ाई सुनकर फूल गये और वे इन्द्रकी मीठी वाणीके जालमें आ गये। वे अपनी तपस्याकी प्रशंसा करने लगे। अन्तमें उन्होंने कहा—'इन्द्र! देवता, मनुष्य, गन्धर्व और ऋषि आदिमें कोई भी तपस्यामें मुझे अपने समान दीख नहीं पड़ता।'

बात समाप्त होते ही देवराजका भाव बदल गया। कठोर स्वरमें वे बोले—'ययाति ! मेरे आसनसे उठ जाओ। तुमने अपने मुखसे अपनी प्रशंसा की है, इससे तुम्हारे वे सब पुण्य नष्ट हो गये, जिनकी तुमने चर्चा की है। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, ऋषि आदिमें किसने कितना तप किया है—यह बिना जाने ही तुमने उनका तिरस्कार किया है, इससे अब तुम स्वर्गसे गिरोगे।'

आत्म-प्रशंसाने ययातिके तीव्र तपके फलको नष्ट कर दिया। वे स्वर्गसे गिर गये। उनकी प्रार्थनापर देवराजने कृपा करके यह सुविधा उन्हें दे दी थी कि वे सत्पुरुषोंकी मण्डलीमें ही गिरें। सत्सङ्ग-प्राप्तिके परिणामस्वरूप वे पुनः शीघ्र ही स्वर्ग जा सके।—सु० सिं०

(महाभारत, आदि० ८०-८१)

जरा-मृत्यु नहीं टल सकतीं

राजा जनकने पञ्चशिख मुनिसे वृद्धावस्था और मृत्युसे बचनेका उपाय पूछा। तब पञ्चशिखने कहा—'कोई भी मनुष्य जरा और मृत्युसे नहीं बच सकता। अज्ञानी मनुष्य जरा-मृत्युरूपी जलचरोंसे भरे हुए कालरूपी सागरमें नित्य ही बिना नावके डूबते-उतराते रहते हैं। इन्हें कोई नहीं बचा सकता। संसारमें कोई किसीका नहीं है। जैसे राहमें चलते हुए यात्रियोंकी एक-दूसरेसे भेंट हो जाती है, संसारमें स्त्री-पुत्र और भाई-बन्धुके सम्बन्धको भी ऐसा ही समझना चाहिये। जैसे गरजते हुए बादलोंको हवा अनायास ही एक जगहसे उड़ाकर दूसरी जगह ले जाती है, वैसे ही भूत-प्राणी कालसे प्रेरित होकर हाय-हाय करते हुए मरते और जन्मते रहते हैं। जरा और मृत्यु भेड़ियेकी भाँति दुर्बल और बलवान् तथा नीच और ऊँच, सभीको खा जाती हैं; इसलिये शरीरके लिये शोक नहीं करना चाहिये।'

विद्या अध्ययन करनेसे ही आती है

कनखलके समीप गङ्गा-किनारे थोड़ी दूरके अन्तरसे महर्षि भरद्वाज तथा महर्षि रैभ्यके आश्रम थे। दोनों महर्षि परस्पर घनिष्ठ मित्र थे। रैभ्यके अर्वावसु और परावसु नामके दो पुत्र हुए। ये दोनों ही अपने पिताके समान शास्त्रोंके गम्भीर विद्वान् हुए। भरद्वाजजी तपस्वी थे। अध्ययन-अध्यापनमें उनकी रुचि नहीं थी। शास्त्रज्ञ न होनेके कारण उनकी ख्याति भी रैभ्यकी अपेक्षा कम थी। उनके एक पुत्र थे यवक्रीत। पिताके समान यवक्रीत भी अध्ययनसे अलग ही रहे। परंतु यवक्रीतको अपने पिताकी समाजद्वारा उपेक्षा और रैभ्य तथा उनके पुत्रोंका सम्मान देखकर बड़ा दुःख होता था। अन्तमें सोच-समझकर उन्होंने वैदिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उग्र तप प्रारम्भ किया। पञ्चाग्नि तापते हुए वे प्रज्वलित अग्निसे अपना शरीर संतप्त करने लगे।

यवक्रीतका कठोर तप देखकर देवराज इन्द्र उनके पास आये और उनसे इस तपका कारण पूछने लगे। यवक्रीतने बताया—'गुरुके मुखसे वेदोंकी सम्पूर्ण शिक्षा शीघ्र नहीं पायी जा सकती, इसलिये मैं तपके प्रभावसे ही सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ।'

इन्द्रने कहा—'आपने सर्वथा उलटा मार्ग पकड़ा है। गुरुके पास जाकर अध्ययन कीजिये। इस प्रकार व्यर्थ आत्म-हत्या करनेसे क्या लाभ।'

इन्द्र तो चले गये; किंतु यवक्रीतने तपस्या छोड़ी नहीं। उन्होंने और कठोर तप प्रारम्भ कर दिया। देवराज दया करके फिर पधारे और बोले—'ब्राह्मण ! आपका यह उद्योग बुद्धिमत्तायुक्त नहीं है। किसीको गुरुमुखसे पढ़े बिना विद्या प्राप्त भी हो तो वह सफल नहीं होती। आप अपने दुराग्रह-को छोड़ दें।'

जब देवराज यह आदेश देकर चले गये, तब यवक्रीतने निश्चय किया कि वे अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग काटकर अग्निमें हवन कर देंगे। उन्होंने तपस्यासे ही विद्या पानेका आग्रह रक्खा। उनका निश्चय जानकर देवराज इन्द्र अत्यन्त वृद्ध एवं रोगी ब्राह्मणका रूप बनाकर वहाँ आये और जहाँ यवक्रीत गङ्गाजीमें स्नान किया करते थे, उसी स्थानपर गङ्गाजीमें बालू डालने लगे।

यवक्रीत जब स्नान करने आये तब उन्होंने देखा कि एक दुर्बल वृद्ध ब्राह्मण अञ्जलिमें बार-बार रेत लेकर गङ्गामें डाल रहा है। उन्होंने पूछा—'विप्रवर ! आप क्या कर रहे हैं?'

वृद्ध ब्राह्मणने उत्तर दिया—'लोगोंको यहाँ गङ्गाके उस पार जानेमें बड़ा कष्ट होता है, इसलिये मैं गङ्गापर पुल बाँध देना चाहता हूँ।'

यवक्रीत बोले—'भगवन्! आप इस महाप्रवाहको बालूसे किसी प्रकार बाँध नहीं सकते। इसलिये इस असम्भव कार्यको छोड़कर जो कार्य हो सके,उसके लिये प्रयत्न कीजिये।'

अब वृद्धने घूमकर यवक्रीतकी ओर देखा—'तुम जैसे तपस्याके द्वारा वैदिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, वैसे ही मैं यह कार्य कर रहा हूँ। तुम असाध्यको यदि साध्य कर सकोगे तो मैं क्यों नहीं कर सकूँगा।'

ब्राह्मण कौन है, यह यवक्रीत समझ गये। उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—'देवराज! मैं अपनी भूल समझ गया। आप मुझे क्षमा करें।' —सु० सिं०

(महाभारत, वन० १३५)

जहाँ मन, वहीं हम

सुशील नामके एक ब्राह्मण थे। उनके दो पुत्र थे। बड़ेका नाम था सुवृत्त और छोटेका वृत्त। दोनों युवा थे। दोनों गुणसम्पन्न तथा कई विद्याओंके विशारद थे। घूमते-घामते दोनों एक दिन प्रयाग पहुँचे। उस दिन थी जन्माष्टमी। इसलिये श्रीवेनीमाधवजीके मन्दिरमें महान् उत्सव था। महोत्सव देखनेके लिये वे दोनों भी निकले। वे लोग सड़कपर निकले ही थे कि बड़े जोरकी वर्षा आ गयी। इसलिये दोनों मार्ग भूल गये। किसी निश्चित स्थानपर उनका पहुँचना कठिन था। अतएव एक तो वेश्याके घरमें चला गया, दूसरा भूलता-भटकता माधवजीके मन्दिरमें जा पहुँचा। सुवृत्त चाहता था कि वृत्त भी उसके साथ वेश्याके यहाँ ही रह जाय। पर वृत्तने इसे स्वीकार नहीं किया। वह माधवजी-के मन्दिरमें पहुँचा भी, पर वहाँ पहुँचनेपर उसके संस्कार बदले और वह लगा पछताने। वह मन्दिरमें रहते हुए भी सुवृत्त और वेश्याके ध्यानमें डूब गया। वहाँ भगवान्‌की पूजा हो रही थी। वृत्त उसे सामनेसे ही खड़ा देख रहा था। पर वह वेश्याके ध्यानमें ऐसा तल्लीन हो गया था कि वहाँकी पूजा, कथा, नमस्कार, स्तुति, पुष्पाञ्जलि, गीत-नृत्यादिको देखते-सुनते हुए भी नहीं देख रहा था और नहीं सुन रहा था। वह तो बिल्कुल चित्रके समान वहाँ निर्जीव-सा खड़ा था।

इधर वेश्यालयमें गये सुवृत्तकी दशा विचित्र थी। वह पश्चात्तापकी अग्निमें जल रहा था। वह सोचने लगा—'अरे! आज भैया वृत्तके हजारों जन्मोंके पुण्य उदय हुए जो वह जन्माष्टमीकी रात्रिमें प्रयागमें भगवान् माधवका दर्शन कर रहा है। ओहो! इस समय वह प्रभुको अर्घ्य दे रहा होगा। अब वह पूजा-आरतीका दर्शन कर रहा होगा। अब वह नाम एवं कथा-कीर्तनादि सुन रहा होगा। अब तो नमस्कार कर रहा होगा। सचमुच आज उसके नेत्र, कान, सिर, जिह्वा तथा अन्य सभी अङ्ग सफल हो गये। मुझे तो बार-बार धिक्कार है जो मैं इस पापमन्दिर वेश्याके घरमें आ पड़ा। मेरे नेत्र मोरके पाँखके समान हैं, जो आज भगवद्दर्शन न कर पाये। मेरे हाथ, जो आज प्रभुके सामने नहीं जुड़े, कलछुलसे भी गये बीते हैं। हाय! आज संत-समागमके बिना मुझे यहाँ एक-एक क्षण युगसे बड़ा मालूम होने लगा है। अरे! देखो तो मुझ दुरात्माके आज कितने जन्मोंके पाप उदित हुए कि प्रयाग-जैसी मोक्षपुरीमें आकर भी मैं घोर दुष्ट-सङ्गमें फँस गया!'

इस तरह दोनोंको सोचते रात बीत गयी। प्रातःकाल उठकर वे दोनों परस्पर मिलने चले। वे अभी सामने आये ही थे कि वज्रपात हुआ और दोनोंकी तत्क्षण मृत्यु हो गयी। तत्काल वहाँ तीन यमदूत और दो भगवान् विष्णुके दूत आ उपस्थित हुए। यमदूतोंने तो वृत्तको पकड़ा और विष्णुदूतोंने सुवृत्तको साथ लिया। ज्यों ही वे लोग चलनेको तैयार हुए, सुवृत्त घबराया-सा बोल उठा, 'अरे! आपलोग यह कैसा अन्याय कर रहे हैं। कलके पूर्व तो हम दोनों समान थे। पर आजकी रातमें वेश्यालयमें रहा हूँ, और वह वृत्त, मेरा छोटा भाई, माधवजीके मन्दिरमें रहकर परम पुण्य अर्जन कर चुका है। अतएव भगवान्‌के परम धाममें तो वही जानेका अधिकारी हो सकता है।'

अब भगवान्‌के दोनों पार्षद ठहाका मारकर हँस पड़े। वे बोले—'हमलोग भूल या अन्याय नहीं करते। देखो, धर्मका रहस्य बड़ा सूक्ष्म तथा विचित्र है। सभी धर्मकर्मोंमें मनःशुद्धि ही मूल कारण है। मनसे भी किया गया

पाप दुःखद होता है, और मनसे भी चिन्तित धर्म सुखद होता है। आज तुम रातभर शुभचिन्तामें लगे रहे हो, अतएव तुम्हें भगवद्धामकी प्राप्ति हुई। इसके विपरीत वह आजकी सारी रात अशुभ-चिन्तनमें ही रहा है, अतएव वह नरक जा रहा है। इसलिये सदा धर्मका ही चिन्तन और मन लगाकर धर्मानुष्ठान करना चाहिये।'

वस्तुतः जहाँ मन है, वहीं मनुष्य है। मन वेश्यालयमें हो तो मन्दिरमें रहकर भी मनुष्य वेश्यालयमें है और मन भगवान्‌में है तो वह चाहे कहीं भी हो, भगवान्‌में ही है।

सुवृत्तने कहा 'पर जो हो, इस भाईके बिना मेरी भगवद्धाममें जानेकी इच्छा ही नहीं होती। अन्यथा आपलोग कृपा करके इसे भी यमपाशसे मुक्त कर दें।'

विष्णुदूत बोले—'सुवृत्त! यदि तुम्हें उसपर दया है तो तुम्हारे गतजन्मके मानसिक माघस्नानका संकल्पित जो पुण्य बच रहा है, उसे तुम वृत्तको दे दो तो यह भी तुम्हारे साथ ही विष्णुलोकको चल सकेगा। सुवृत्तने तत्काल वैसा ही किया और फलतः वृत्त भी हरिधामको अपने भाईके साथ ही चला गया।—जा० श० (वायुपुराण, माघमाहात्म्य, अध्याय २१)

बुरे काममें देर करनी चाहिये

महर्षि गौतमके एक पुत्रका नाम था चिरकारी। वे बुद्धिमान् थे, कार्यकुशल थे, किंतु प्रत्येक कार्यको बहुत सोच-विचार करनेके पश्चात् करते थे। उनका स्वभाव ही धीरे-धीरे कार्य करनेका हो गया था। जबतक किसी कार्यकी आवश्यकता और औचित्य उनकी समझमें नहीं आ जाता था, तबतक वे कार्य प्रारम्भ ही नहीं करते थे। केवल उस कार्यके सम्बन्धमें विचार करते रहते थे। बहुत-से लोग उनको इस स्वभावके कारण आलसी समझते थे।

एक बार महर्षि गौतम किसी कारणसे अपनी पत्नीसे रुष्ट हो गये। क्रोधमें आकर उन्होंने चिरकारीको आज्ञा दी—'बेटा! अपनी इस दुष्टा माताको मार डालो।' यह आज्ञा देकर महर्षि वनमें चले गये।

अपने स्वभावके अनुसार चिरकारीने विचार करना प्रारम्भ किया—'मुझे क्या करना चाहिये। पिताकी आज्ञाका पालन करनेपर माताका वध करना पड़ेगा और माताका वध न करनेपर पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन होगा। पुत्रके लिये पिता और माता दोनों पूज्य हैं। दोनोंमेंसे किसीकी भी अवज्ञा करनेसे पुत्र पापका भागी होता है। कोई भी माताका नाश करके सुखी नहीं हो सकता। पिताकी आज्ञा टालकर भी सुख और कीर्ति नहीं मिल सकती। मेरी मातामें कोई दोष है या नहीं, यह सोचना मेरे लिये अधर्म है। इसी प्रकार पिताकी आज्ञा भी उचित है या नहीं, यह सोचना मेरे अधिकारमें नहीं।'

चिरकारी तो ठहरे ही चिरकारी। वे चुपचाप हाथमें शस्त्र लेकर बैठे रहे और सोचते रहे। किसी भी निश्चयपर उनकी बुद्धि पहुँचती नहीं थी और बुद्धिके ठीक-ठीक निर्णय किये बिना कोई काम करना उनके स्वभावमें नहीं था।

उधर वनमें जानेपर जब महर्षि गौतमका क्रोध शान्त हुआ, तब उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई। वे बहुत दुखी होकर सोचने लगे—'मैंने आज कितना बड़ा अनर्थ किया। अवश्य मुझे स्त्री-वधका पाप लगेगा। मेरी पत्नी तो निर्दोष है। क्रोधमें आकर मैंने बिना विचारे ही उसको मार डालनेका आदेश दे दिया। कितना अच्छा हो कि चिरकारी अपने नामको आज सार्थक करे।'

महर्षि शीघ्रतापूर्वक आश्रमकी ओर लौटे। उनको आते देखकर चिरकारीने लज्जासे शस्त्र छिपा दिया और उठकर पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। महर्षिने अपने पुत्रको उठाकर हृदयसे लगा लिया और सब वृत्तान्त जानकर प्रसन्न हृदयसे उसको आशीर्वाद दिया। वे चिरकारीको उपदेश देते हुए बोले—'हितैषीका वध और कार्यका परित्याग बहुत सोच-समझकर करना चाहिये। किसीसे मित्रता करनी हो तो सोच-विचारकर करनी चाहिये। क्रोध, अभिमान, किसीका अनिष्ट, अप्रिय तथा पापकर्म करनेमें अधिक-से-अधिक विलम्ब करना चाहिये। किसीके भी अपराध करनेपर उसे शीघ्र दण्ड नहीं देना चाहिये। बहुत सोच-समझकर दण्ड देना चाहिये।' —सु० सिं०

(महाभारत, शान्ति० २६६)

प्रतिज्ञा

त्रेतामें राम अवतारी, द्वापरमें कृष्णमुरारी

(लेखक—श्रीसदानन्दजी शर्मा)

भगवान् श्रीराम जब समुद्र पारकर लङ्का जानेके लिये समुद्रपर पुल बाँधनेमें संलग्न हुए, तब उन्होंने समस्त वानरोंको संकेत किया कि 'वानरो ! तुम पर्वतोंसे पर्वत-खण्ड लाओ जिससे पुलका कार्य पूर्ण हो ।' आज्ञा पाकर वानरदल भिन्न-भिन्न पर्वतोंपर खण्ड लानेके लिये दौड़ चले और अनेक पर्वतोंसे बड़े-बड़े विशाल पर्वत-खण्डोंको लाने लगे । नल और नील जो इस दलमें शिल्पकार थे, उन्होंने कार्य प्रारम्भ कर दिया । हनुमान् इस वानरदलमें अधिक बलशाली थे । वे भी गोवर्धन नामक पर्वतपर गये और उस पर्वतको उठाने लगे; परंतु अत्यन्त परिश्रम करनेपर भी वे पर्वतराज गोवर्धनको न उठा सके । हनुमान्को निराश देखकर पर्वतराजने कहा, 'हनुमान्! यदि आप प्रतिज्ञा करें कि भक्त-शिरोमणि भगवान् श्रीरामके दर्शन करा दूँगा तो मैं आपके साथ चलनेको तैयार हूँ ।' यह सुनकर हनुमान्ने कहा—'पर्वतराज ! मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आप मेरे साथ चलनेपर श्रीरामजीका दर्शन कर सकेंगे ।' विश्वास पाकर पर्वतराज गोवर्धन हनुमान्जीके करकमलोंपर सुशोभित होकर चल दिये । जिस समय हनुमान्जी पर्वतराज गोवर्धनको लेकर व्रजभूमिपरसे आ रहे थे, उस समय सेतु-बाँधनेका कार्य सम्पूर्ण हो चुका था और भगवान् श्रीरामने आज्ञा दी कि 'वानरो ! अब और खण्ड न लाये जायँ; जो जहाँपर है, वह वहींपर पर्वत-खण्डोंको रख दे ।' आज्ञा पाते ही समस्त वानरोंने जहाँ-के-तहाँ पर्वत-शिलाओंको रख दिया । हनुमान्जीने भी आज्ञाका पालन किया और उन्हें पर्वतराज गोवर्धनको वहींपर रखना पड़ा । यह देख पर्वतराजने कहा—'हनुमान्जी ! आपने तो विश्वास दिलाया था कि मुझे श्रीरामजीका दर्शन कराओगे, पर आप तो मुझे यहींपर छोड़कर चले जाना चाहते हैं । भला कहिये तो सही, अब मैं पतितपावन श्रीरामजीका दर्शन कैसे कर सकूँगा ।' हनुमान्जी विवश थे; क्या करते, प्रभुकी आज्ञा ही ऐसी थी । हनुमान्जी शोकातुर होकर कहने लगे, 'पर्वतराज ! निराश मत हो, मैं श्रीरामजीके समीप जाकर प्रार्थना करूँगा; आशा है कि दीनदयालु आपको लानेकी आज्ञा प्रदान कर देंगे, जिससे आप उनका दर्शन कर सकेंगे ।'

इतना कहकर हनुमान्जी वहाँसे चल दिये और रामदलमें आकर श्रीरामजीके चरणोंमें उपस्थित हो अपनी 'प्रतिज्ञा' निवेदन की । श्रीरामजीने कहा—'हनुमान्जी ! आप अभी जाकर पर्वतराजसे कहिये कि वह निराश न हो । द्वापरमें कृष्णरूपसे उसे दर्शन होगा ।' हनुमान्जी तुरंत ही पर्वतराज गोवर्धनके पास गये और जाकर बोले—'पर्वतराज ! भगवान् श्रीरामजीकी आज्ञा है कि आपको द्वापरमें कृष्ण-रूपसे दर्शन होंगे ।'

द्वापर आया । भगवान् श्रीरामने श्रीकृष्णरूप धारणकर व्रजमें जन्म लिया । एक समय देवताओंके राजा इन्द्रने व्रजवासियों-द्वारा अपनी पूजा न पानेके कारण क्रोधातुर हो व्रजको समूल नष्ट करनेका विचार करके मेघोंको आज्ञा दी कि 'आप व्रजमें जाकर समस्त व्रजभूमिको वर्षाद्वारा नष्ट कर दो ।' मेघ देवराज इन्द्रकी आज्ञा पाकर व्रजपर मूसलाधार जल बरसाने लगे ।

अतिवृष्टिके कारण व्रजमें हाहाकार मच गया । समस्त व्रजवासी इन्द्रके कोपसे भयभीत होकर नन्दबाबाके घरकी ओर दौड़े । भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'व्रजवासियो ! धैर्य धारण करो, इन्द्रका कोप आपका कुछ न कर सकेगा; आओ, हमारे साथ चलो । भगवान् श्रीकृष्ण गोप तथा व्रजबालाओं-सहित गोवर्धनकी ओर चल दिये । पर्वतराज गोवर्धनको दर्शन देकर अङ्गुलिपर धारण कर लिया और समस्त व्रजवासियोंका भय हर लिया तथा अपने वचन तथा सेवक हनुमान्की प्रतिज्ञा भी पूरी की ।

बोलो भगवान् श्रीराम-कृष्णकी जय !

गृध्र और उलूकको न्याय

एक बार जब भगवान् श्रीराघवेन्द्र अपने दरबारमें विराज रहे थे, तब एक उलूक और एक गृध्र उनके चरणोंमें उपस्थित हुए और बार-बार उनके चरणोंको बारी-बारीसे छूने लगे । प्रभुके द्वारा कार्य पूछे जानेपर गीध कहने लगा—'आप देवताओं तथा असुरोंमें प्रधान हैं । बुद्धिमें आप बृहस्पति और शुक्रसे भी बढ़-चढ़कर हैं । साथ ही प्राणियोंके बाहर-

भीतर, ऊपर-नीचे सर्वत्रकी बातें जानते हैं। प्रभो! इस उल्लूने मेरे अपने बाहुवीर्यसे बनाये हुए मकानका अपहरण कर लिया है। मैं, नाथ! आपकी शरण हूँ। आप कृपया मेरी रक्षा करें।'

गीधकी बात समाप्त भी न हो पायी थी कि उल्लू कहने लगा—'महाबाहु राम! इन्द्र, चन्द्र, यम, कुबेर और सूर्यके अंशसे राजाकी उत्पत्ति होती है। उसमें मनुष्यका अंश तो थोड़ा ही होता है। फिर आप तो सर्वदेवमय साक्षात् भगवान् नारायण ही हैं। इसलिये आपसे परे तो कुछ है ही नहीं। नाथ! सबके स्वामी होनेके कारण आप हमलोगोंके भी स्वामी तथा न्यायकर्त्ता हैं। देव! घर मेरा है और यह गीध उसमें घुसकर नित्यप्रति मुझे बाधा पहुँचाता है। इसलिये स्वामिन्! इसे शासित किया जाय।'

इसपर भगवान्‌ने गीधसे पूछा—'अच्छा, तुम यह तो बतलाओ कि तुम उस मकानमें कितने वर्षोंसे रह रहे हो?' गीधने कहा—'प्रभो! जबसे यह पृथ्वी मनुष्योंसे घिरी हुई प्रकट हुई, तभीसे वह घर मेरा आवास रहा है।'

इसपर प्रभुने अपने सभासदोंसे कहा—'सभ्यो! वह सभा नहीं, जहाँ वृद्ध न हों; वे वृद्ध नहीं, जिन्हें धर्मका परिज्ञान न हो। वह धर्म भी नहीं, जहाँ सत्य न हो और वह सत्य सत्य भी नहीं, जो छलसे अनुविद्ध हो। इसके साथ ही यदि सभासद्‌गण सभी बातोंको ठीक-ठीक जानते हुए भी चुप्पी साधे बैठे रहते हैं और यथावसर बोलनेका कष्ट नहीं करते तो वे सभी मिथ्यावादी ही समझे जाते हैं। या जो काम, क्रोध और भयके कारण जानते हुए भी प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर नहीं देते, वे सभासद् अपनेको एक सहस्र वारुणपाशोंसे बाँध लेते हैं। उन पाशोंमेंसे एक पाश एक वर्षपर छूटता है। इसलिये कौन-सा ऐसा सभासद् होगा, जो इन रहस्योंको जानते हुए भी सत्यका अपलाप करे, या जान-बूझकर मौन साध ले*। अतएव आपलोग इनके व्यवहारका ठीक-ठीक निर्णय करें।'

सभासदोंने कहा—'महामति, राजसिंह रघुनन्दन! लक्षणों तथा वाणीके विकारोंसे गीधकी बातें ठीक नहीं जान पड़तीं। उल्लू ही ठीक कह रहा है। पर यह तो हमलोगोंका मत है, यथार्थतः महाराज! इसमें आप ही अब परम प्रमाण हैं।'

मन्त्रियोंकी बात सुनकर प्रभुने कहा—'पुराणोंमें कहा गया है कि पहले यह सारी पृथ्वी और यह सारा चराचर जगत् जलमय था और वह महाविष्णुके हृदयमें विलीन हो गया था। महातेजस्वी विष्णु इसे हृदयमें लिये हुए अनन्त वर्षोंतक योगनिद्रामें सोते रहे। उनके उठनेपर उनकी नाभिसे पद्म उत्पन्न हुआ, जिससे ब्रह्माजी प्रकट हुए। उनके कानके मलसे मधु और कैटभ—ये दो दैत्य उत्पन्न हुए, जो ब्रह्माजीको ही खाने दौड़े, किंतु जिन्हें चक्रके प्रहारसे साक्षात् श्रीहरिने मार डाला। उन्हीं असुरोंके मेदसे प्लावित होकर यह पृथ्वी उत्पन्न हुई। उसे श्रीविष्णुने फिर शुद्धकर वृक्ष, ओषधियों एवं नाना प्रकारके धान्योंसे परिपूर्ण किया। पर यह गीध कह रहा है कि यह उस घरमें तबसे बसता आ रहा है, जबसे मनुष्योंसे आवृत यह पृथ्वी निकली। ऐसी दशामें यह घर उल्लूका ही है, गीधका नहीं। अतएव परगृह-हर्ता, परपीड़क होनेके नाते गीधको दण्ड दिया जाना चाहिये।'

भगवान् यों कह ही रहे थे कि आकाशसे निर्मल ध्वनि सुनायी पड़ी—''रामभद्र! आप इस गीधका वध मत कीजिये। यह कालगौतमके तपोबलसे पहले ही दग्ध हो चुका है। पूर्वजन्ममें यह ब्रह्मदत्त नामका राजा था। एक बार कालगौतम नामक महात्मा इसके घर भोजनके लिये पधारे। उन महात्माके आहारमें अनजानमें थोड़ा मांस रखा गया। यह देख उन्होंने क्रोधमें इसे शाप दे डाला कि 'जा तू गीध हो जा।' यह 'नहीं-नहीं, क्षमा कीजिये, अनजानमें भूल हो गयी है' आदि बातें कहता ही रह गया, पर उन्होंने एक न सुनी। अन्तमें शापकी अवधि करते हुए उन्होंने कहा कि 'जब इक्ष्वाकुकुलमें महायशा, राजीवलोचन श्रीरामभद्र प्रकट होंगे और वे तुम्हें अपने हस्तारविन्दसे स्पर्श करेंगे, तब पुनः तुम्हें

---

* न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥
ये तु सभ्याः सदा ज्ञात्वा तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
यथाप्राप्तं न ब्रुवते ते सर्वेऽनृतवादिनः॥
जानन्न वाब्रवीत् प्रश्नान् कामात् क्रोधाद्भयात् तथा।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति॥
तेषां संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते।
तस्मात् सत्येन वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा॥
(वा० उत्तर० ५९ के बादका प्र० सर्ग १। ३३—३६; महाभारत, उद्योगपर्व)

प्रायः ये सभी श्लोक ज्यों-के-त्यों नारदीय पुराण, मनुसंहिता आदिमें भी उपलब्ध होते हैं।

दिव्य शरीरकी प्राप्ति हो जायगी।' अतः देव ! यह दयनीय है, वध्य नहीं।''

इस अन्तरिक्षगत अशरीरवाणीको सुनकर भगवान्‌ने ज्यों ही उसका स्पर्श किया, गीधने घृणित शरीर त्यागकर दिव्यगन्धानुलिप्त दिव्य पुरुषका रूप धारण कर लिया और 'राघव ! साधु, साधु; धर्मज्ञ रामभद्र साधु !' आज आपने मेरा घोर नरकसे उद्धार कर दिया, मेरे शापका अन्त कर दिया।' यों कहता हुआ वह दिव्यलोकको चला गया। —जा० श०

पुण्य-कार्य कलपर मत टालो

धर्मराज युधिष्ठिरके समीप कोई ब्राह्मण याचना करने आया। महाराज युधिष्ठिर उस समय राज्यके कार्यमें अत्यन्त व्यस्त थे। उन्होंने नम्रतापूर्वक ब्राह्मणसे कहा—'भगवन् ! आप कल पधारें, आपको अभीष्ट वस्तु प्रदान की जायगी।'

ब्राह्मण तो चला गया; किंतु भीमसेन उठे और लगे राजसभाके द्वारपर रक्खी हुई दुन्दुभि बजाने। उन्होंने सेवकोंको भी मङ्गलवाद्य बजानेकी आज्ञा दे दी। असमयमें मङ्गलवाद्य बजनेका शब्द सुनकर धर्मराजने पूछा—'आज इस समय मङ्गलवाद्य क्यों बज रहे हैं ?'

सेवकने पता लगाकर बताया—'भीमसेनजीने ऐसा करनेकी आज्ञा दी है और वे स्वयं ही दुन्दुभि बजा रहे हैं ?'

भीमसेनजी बुलाये गये तो बोले—'महाराजने कालको जीत लिया, इससे बड़ा मङ्गलका समय और क्या होगा।'

'मैंने कालको जीत लिया ?' युधिष्ठिर चकित हो गये।

भीमसेनने बात स्पष्ट की—'महाराज ! विश्व जानता है कि आपके मुखसे हँसीमें भी झूठी बात नहीं निकलती। आपने याचक ब्राह्मणको अभीष्ट दान कल देनेको कहा है, इसलिये कम-से-कम कलतक तो अवश्य कालपर आपका अधिकार होगा ही।'

अब युधिष्ठिरको अपनी भूलका बोध हुआ। वे बोले—'भैया भीम ! तुमने आज मुझे उचित सावधान किया। पुण्य-कार्य तत्काल करना चाहिये। उसे पीछेके लिये टालना ही भूल है। उन ब्राह्मण देवताको अभी बुलाओ।' —सु० सिं०

तर्पण और श्राद्ध

एक बार महाराज करन्धम महाकालका दर्शन करने गये। कालभीतिने जब करन्धमको देखा, तब उन्हें भगवान् शंकरका वचन स्मरण हो आया। उन्होंने उनका स्वागत-सत्कार किया और कुशल-प्रश्नादिके बाद वे सुखपूर्वक बैठ गये। तदनन्तर उन्होंने महाकाल (कालभीति) से पूछा—'भगवन् ! मेरे मनमें एक बड़ा संशय है कि यहाँ जो पितरोंको जल दिया जाता है, वह तो जलमें ही मिल जाता है; फिर वह पितरोंको कैसे प्राप्त होता है ? यही बात श्राद्धके सम्बन्धमें भी है। पिण्ड आदि जब यहीं पड़े रह जाते हैं, तब हम कैसे मान लें कि पितरलोग उन पिण्डादिका उपयोग करते हैं। साथ ही यह कहनेका साहस भी नहीं होता कि वे पदार्थ पितरोंको किसी प्रकार मिलते ही नहीं; क्योंकि स्वप्नमें देखा जाता है कि पितर मनुष्योंसे श्राद्ध आदिकी याचना करते हैं। देवताओंके चमत्कार भी प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। अतः मेरा मन इस विषयमें मोहग्रस्त हो रहा है।'

महाकालने कहा—'राजन् ! देवता और पितरोंकी योनि ही इस प्रकारकी है कि दूरसे कही हुई बात, दूरसे किया हुआ पूजन-सत्कार, दूरसे की हुई अर्चा, स्तुति तथा भूत, भविष्य और वर्तमानकी सारी बातोंको वे जान लेते हैं और वहीं पहुँच जाते हैं। उनका शरीर केवल नौ तत्त्वों (पाँच तन्मात्रा, चार अन्तःकरण) का बना होता है, दसवाँ जीव होता है; इसलिये उन्हें स्थूल उपभोगोंकी आवश्यकता नहीं होती।'

करन्धमने कहा, 'यह बात तो तब मानी जाय, जब पितर लोग यहाँ भूलोकमें हों। परंतु जिन मृतक पितरोंके लिये यहाँ श्राद्ध किया जाता है, वे तो अपने कर्मानुसार स्वर्ग या नरकमें चले जाते हैं। दूसरी बात, जो शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि पितरलोग प्रसन्न होकर मनुष्योंको आयु, प्रजा, धन, विद्या, राज्य, स्वर्ग या मोक्ष प्रदान करते हैं, यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि जब वे स्वयं कर्मबन्धनमें पड़कर नरकमें हैं, तब दूसरोंके लिये कुछ कैसे करेंगे !'

महाकालने कहा—'ठीक है, किंतु देवता, असुर, यक्ष आदिके तीन अमूर्त तथा चारों वर्णोंके चार मूर्त—ये सात प्रकारके पितर माने गये हैं। ये नित्य पितर हैं। ये कर्मोंके अधीन नहीं, ये सबको सब कुछ देनेमें समर्थ हैं। इन नित्य पितरोंके अत्यन्त प्रबल इक्कीस गण हैं। वे तृप्त होकर श्राद्ध-कर्ताके पितरोंको, वे चाहे कहीं भी हों, तृप्त करते हैं।'

करन्धमने कहा, 'महाराज ! यह बात तो समझमें आ गयी; किंतु फिर भी एक संदेह है—भूत-प्रेतादिके लिये जैसे एकत्रित बलि आदि दी जाती है, वैसे ही एकत्र ही संक्षेपसे देवतादिके लिये भी क्यों नहीं दी जाती ? देवता, पितर, अग्नि—इनको अलग-अलग नाम लेकर देनेमें बड़ा झंझट तथा विस्तारसे कष्ट भी होता है।'

महाकालने कहा—'सभीके विभिन्न नियम हैं। घरके दरवाजेपर बैठनेवाले कुत्तेको जिस प्रकार खानेको दिया जाता है, क्या उसी प्रकार एक विशिष्ट सम्मानित व्यक्तिको भी दिया जाय ? और क्या वह उस तरह दिये जानेपर स्वीकार करेगा ? अतः जिस प्रकार भूतादिको दिया जाता है, उसी प्रकार देनेपर देवता उसे नहीं ग्रहण करते। बिना श्रद्धाके दिया हुआ चाहे वह जितना भी पवित्र तथा बहुमूल्य क्यों न हो, वे उसे कदापि नहीं लेते। श्रद्धापूर्वक पवित्र पदार्थ भी बिना मन्त्रके वे स्वीकार नहीं करते।'

करन्धमने कहा—'मैं यह जानना चाहता हूँ कि जो दान दिया जाता है, वह कुश, तिल और अक्षतके साथ क्यों दिया जाता है ?' महाकालने कहा—'पहले भूमिपर जो दान दिये जाते थे, उन्हें असुरलोग बीचमें ही घुसकर ले लेते थे। देवता और पितर मुँह देखते ही रह जाते। आखिर उन्होंने ब्रह्माजीसे शिकायत की। ब्रह्माजीने कहा कि—पितरोंको दिये गये पदार्थोंके साथ तिल, जल, कुश एवं जो देवताओंको दिया जाय, उसके साथ अक्षत (जौ, चावल) जल, कुशका प्रयोग हो। ऐसा करनेपर असुर इन्हें न ले सकेंगे। इसीलिये यह परिपाटी है।' अन्तमें युगसम्बन्धी शङ्काओंको भी दूरकर कृतकृत्य हो करन्धम लौट आये।—जा० श०

(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, कुमारिकाखण्ड, अध्याय ३५, ३६)

आत्महत्या कैसी मूर्खता !

पूर्वकालमें काश्यप नामक एक बड़ा तपस्वी और संयमी ऋषिपुत्र था। उसे किसी धनमदान्ध वैश्यने अपने रथके धक्केसे गिरा दिया। गिरनेसे काश्यप बड़ा दुखी हुआ और क्रोधवश आपेसे बाहर होकर कहने लगा—'दुनियामें निर्धनका जीना व्यर्थ है, अतः अब मैं आत्मघात कर लूँगा।'

उसे इस प्रकार क्षुब्ध देखकर इन्द्र उसके पास गीदड़का रूप धारण करके आये और बोले, 'मुनिवर ! मनुष्य-शरीर पानेके लिये तो सभी जीव उत्सुक रहते हैं। उसमें भी ब्राह्मणत्वका तो कुछ कहना ही नहीं। आप मनुष्य हैं, ब्राह्मण हैं और शास्त्रज्ञ भी हैं। ऐसा दुर्लभ शरीर पाकर उसे यों ही नष्ट कर देना, आत्मघात कर लेना भला, कहाँकी बुद्धिमानी है। अजी ! जिन्हें भगवान्‌ने हाथ दिये हैं, उनके तो मानो सभी मनोरथ सिद्ध हो गये। इस समय आपको जैसे धनकी लालसा है, उसी प्रकार मैं तो केवल हाथ पानेके लिये उत्सुक हूँ। मेरी दृष्टिमें हाथ पानेसे बढ़कर संसारमें कोई लाभ नहीं है। देखिये, मेरे शरीरमें काँटे चुभे हैं; किंतु हाथ न होनेसे मैं उन्हें निकाल नहीं सकता। किंतु जिन्हें भगवान्‌से हाथ मिले हैं, उनका क्या कहना ? वे वर्षा, शीत, धूपसे अपना कष्ट निवारण कर सकते हैं। जो दुःख बिना हाथके दीन, दुर्बल और मूक प्राणी सहते हैं, सौभाग्यवश, वे तो आपको नहीं सहन करने पड़ते। भगवान्‌की बड़ी दया समझिये कि आप गीदड़, कीड़ा, चूहा, साँप या मेढक आदि किसी दूसरी योनिमें नहीं उत्पन्न हुए।

'काश्यप ! आत्महत्या करना बड़ा पाप है। यही सोचकर मैं वैसा नहीं कर रहा हूँ; अन्यथा देखिये, मुझे ये कीड़े काट रहे हैं, किंतु हाथ न होनेसे मैं इनसे अपनी रक्षा नहीं कर सकता। आप मेरी बात मानिये, आपको वेदोक्त कर्मका वास्तविक फल मिलेगा। आप सावधानीसे स्वाध्याय और अग्निहोत्र कीजिये। सत्य बोलिये, इन्द्रियोंको अपने काबूमें रखिये, दान दीजिये, किसीसे स्पर्धा न कीजिये। विप्रवर ! यह शृगाल-योनि मेरे कुकर्मोंका परिणाम है। मैं तो रात-दिन अब कोई ऐसी साधना करना चाहता हूँ, जिससे किसी प्रकार आप-जैसी मनुष्ययोनि प्राप्त हो सके।'

काश्यपको मानवदेहकी महत्ताका ज्ञान हो गया। उसे यह भी भान हुआ कि यह कोई प्राकृत शृगाल नहीं, अपितु शृगाल-वेशमें शचीपति इन्द्र ही हैं। उसने उनकी पूजा की और उनकी आज्ञा पाकर घर लौट आया।

(महा० शान्तिपर्व, अध्याय १८०)

रोम-रोमसे 'जय कृष्ण' की ध्वनि

एक बार कैलासके शिखरपर श्रीश्रीगौरीशङ्कर भगवद्भक्तोंके विषयमें कुछ वार्तालाप कर रहे थे। उसी प्रसङ्गमें जगज्जननी श्रीपार्वतीजीने आशुतोष श्रीभोलेबाबासे निवेदन किया—'भगवन्! जिन भक्तोंकी आप इतनी महिमा वर्णन करते हैं, उनमेंसे किसीके दर्शन करानेकी कृपा कीजिये। आपके श्रीमुखसे भक्तोंकी महिमा सुनकर मेरे चित्तमें बड़ा आह्लाद हुआ है और अब मुझे ऐसे भक्तराजके दर्शनोंकी अति उत्कण्ठा हो रही है। अतः कृपया शीघ्रता कीजिये।'

प्राणप्रिया उमाके ये वचन सुनकर श्रीभोलानाथ उन्हें साथ लेकर इन्द्रप्रस्थको चले और वहाँ कृष्ण-सखा अर्जुनके महलके द्वारपर जाकर द्वारपालसे पूछा—'कहो, इस समय अर्जुन कहाँ हैं?' उसने कहा—'इस समय महाराज शयनागारमें पौढ़े हुए हैं।' यह सुनकर पार्वतीजीने उतावलीसे कहा, 'तो अब हमें उनके दर्शन कैसे हो सकेंगे।' प्रियाको अधीर देखकर श्रीमहादेवजीने कहा—'देवि! कुछ देर शान्त रहो। इतनी अधीर मत हो, भक्तको उसके इष्टदेव भगवान्के द्वारा ही जगाना चाहिये, अतः मैं इसका प्रयत्न करता हूँ।' तदनन्तर उन्होंने समाधिस्थ होकर प्रेमाकर्षणद्वारा आनन्दकन्द श्रीव्रजचन्द्रको बुलाया और कहा, 'भगवन्! कृपया अपने भक्तको जगा दीजिये, देवी पार्वती उनका दर्शन करना चाहती हैं।' श्रीमहादेवजीके कहनेसे श्यामसुन्दर तुरंत ही मित्र उद्धव, देवी रुक्मिणी और सत्यभामासहित अर्जुनके शयनागारमें गये और देखा कि वह अधिक थकानसे सो रहा है और सुभद्रा उसके सिरहाने बैठी हुई धीरे-धीरे पंखा डुलाकर उसके स्वेद-क्लान्त केशोंको सुखा रही हैं। भाई कृष्णको आये हुए देखकर सुभद्रा हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई और उसकी जगह श्रीसत्यभामाजी विराजमान होकर पंखा डुलाने लगीं। गरमी अधिक थी, इसलिये भगवान्का संकेत पाकर उद्धवजी भी पंखा हाँकने लगे। इतनेमें ही अकस्मात् सत्यभामा और उद्धव चकित-से होकर एक दूसरेकी ओर ताकने लगे। भगवान्ने पूछा, तुमलोग किस विचारमें पड़े हो? उन्होंने कहा—'महाराज! आप अन्तर्यामी हैं, सब जानते हैं; हमें क्या पूछते हैं?' भगवान् श्रीकृष्ण बोले, 'बताओ तो सही, क्या बात है?' तब उद्धवने कहा कि ''अर्जुनके प्रत्येक रोमसे 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' की आवाज आ रही है। रुक्मिणीजी पैर दबा रही थीं, वे बोलीं—'महाराज! पैरोंसे भी वही आवाज आती है।' भगवान्ने समीप जाकर सुना तो उन्हें भी स्पष्ट सुनायी दिया कि अर्जुनके प्रत्येक केशसे निरन्तर 'जय कृष्ण-कृष्ण, जय कृष्ण-कृष्ण' की ध्वनि निकल रही है। कुछ और ध्यान दिया तो विदित हुआ कि उसके शरीरके प्रत्येक रोमसे यही ध्वनि निकल रही है। तब तो भगवान् उसे जगाना भूलकर स्वयं भी उसके प्रेम-पाशमें बँध गये और गद्गद होकर स्वयं उसके चरण दबाने लगे। भगवान्के नवनीत-कोमल कर-कमलोंका स्पर्श होनेसे अर्जुनकी निद्रा और भी गाढ़ी हो गयी।

इधर महादेव और पार्वतीको प्रतीक्षा करते हुए जब बहुत देर हो गयी, तब वे मन-ही-मन कहने लगे, 'भगवान् श्रीकृष्णको गये बहुत विलम्ब हो गया। मालूम होता है उन्हें भी निद्राने घेर लिया है।' तब उन्होंने ब्रह्माजीको बुलाकर अर्जुनको जगानेके लिये भेजा। किंतु अन्तःपुरमें पहुँचनेपर ब्रह्माजी भी अर्जुनके रोम-रोमसे 'कृष्ण-कृष्ण'की ध्वनि सुनकर और स्वयं भगवान्को अपने भक्तके पाँव पलोटते देखकर अपने प्रेमावेशको न रोक सके। एवं अपने चारों मुखोंसे वेद-स्तुति करने लगे। अब क्या था, ये भी हाथसे गये। जब ब्रह्माजीकी प्रतीक्षामें भी श्रीमहादेव और पार्वतीको बहुत समय हो गया, तब उन्होंने देवर्षि नारदजीका आवाहन किया। अबकी बार वे अर्जुनको जगानेका बीड़ा उठाकर चले। किंतु शयनागारका अद्भुत दृश्य देख-सुनकर उनसे भी न रहा गया। वे भी अपनी वीणाकी खूँटियाँ कसकर हरि-कीर्तनमें तल्लीन हो गये। जब उनके कीर्तनकी ध्वनि भगवान् शङ्करके कानमें पड़ी तो उनसे भी और अधिक प्रतीक्षा न हो सकी; वे भी पार्वतीजीके साथ तुरंत ही अन्तःपुरमें पहुँच गये। वहाँ अर्जुनके रोम-रोमसे 'जय कृष्ण, जय कृष्ण' का मधुर नाद सुनकर और सभी विचित्र दृश्य देखकर वे भी प्रेम-समुद्रकी उत्ताल तरङ्गोंमें उछलने-डूबने लगे। अन्तमें उनसे भी न रहा गया। उन्होंने भी अपना त्रिभुवन-मोहन ताण्डव-नृत्य आरम्भ कर दिया; साथ ही श्रीपार्वतीजी भी स्वर और तालके साथ सुमधुर वाणीसे हरि-गुण गाने लगीं। इस प्रकार वह सम्पूर्ण समाज प्रेम-समुद्रमें डूब गया, किसीको भी अपने तन-मनकी सुध-बुध नहीं रही। सभी प्रेमोन्मत्त हो गये। भक्तराज अर्जुनके प्रेम-प्रवाहने सभीको सराबोर कर दिया। अर्जुन! तुम्हारा वह अविचल प्रेम धन्य है!

(क० ६—२)

रोम-रोमसे 'जय कृष्ण' ध्वनि
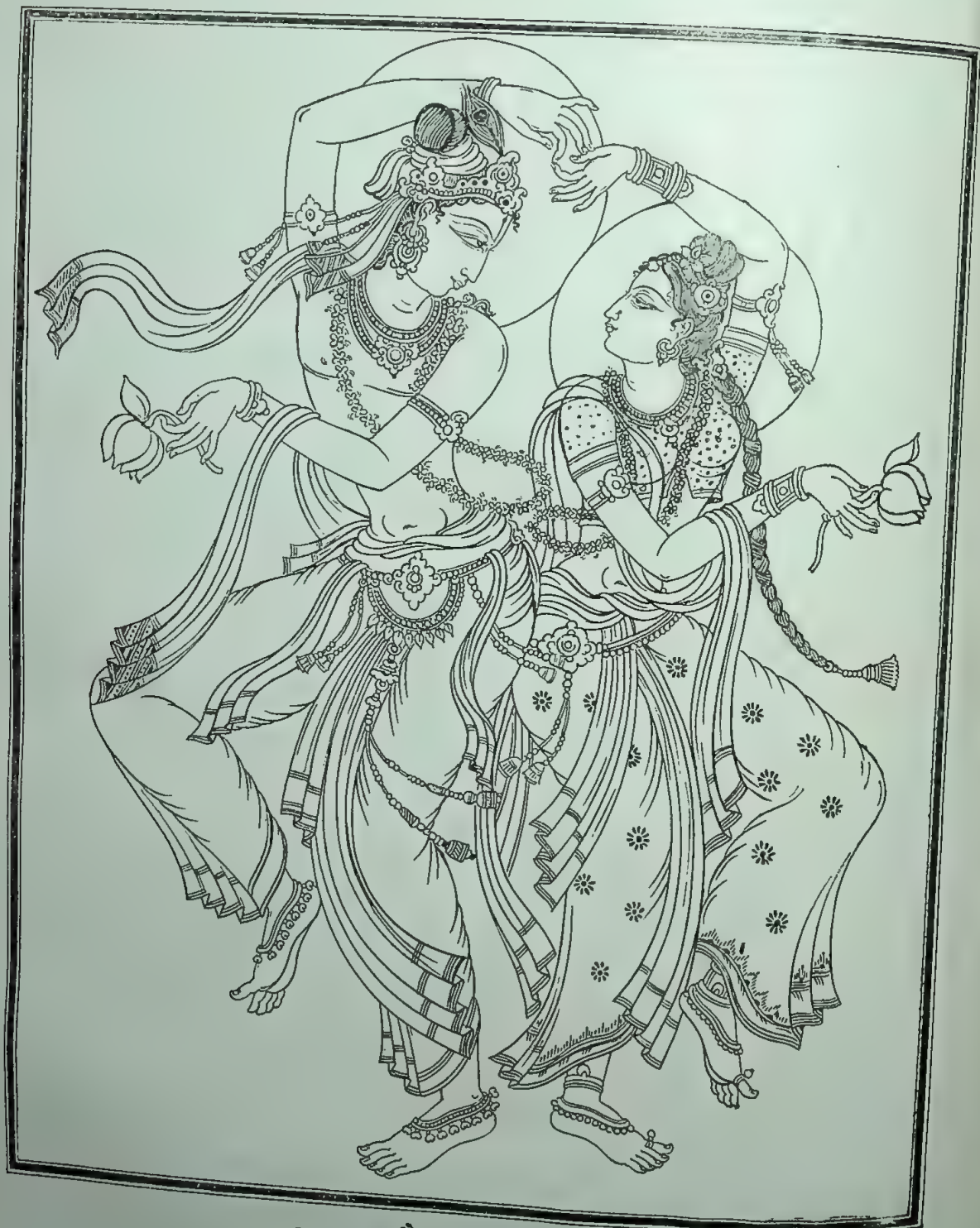
आनन्द और प्रेमका रस-नृत्य

कृतघ्न पुरुषका मांस राक्षस भी नहीं खाते

गौतम नामका एक ब्राह्मण था। ब्राह्मण वह केवल इस अर्थमें था कि ब्राह्मण माता-पितासे उत्पन्न हुआ था, अन्यथा था वह निरक्षर और म्लेच्छप्राय। पहले तो वह भिक्षा माँगता था; किंतु भिक्षाटन करता हुआ जब म्लेच्छोंके नगरमें पहुँचा, तब वहीं एक विधवा स्त्रीको पत्नी बनाकर बस गया। म्लेच्छोंके संसर्गसे उसका स्वभाव भी उन्हींके समान हो गया। वनमें पशु-पक्षियोंका आखेट करना ही उसकी जीविका हो गयी।

संयोगवश उधर एक विद्वान् ब्राह्मण आ निकले। यज्ञोपवीतधारी गौतमको व्याधके समान पक्षियोंको मारते देख उन्हें दया आ गयी। उन्होंने गौतमको समझाया कि यह पापकर्म वह छोड़ दे। उनके उपदेशसे गौतम भी धन कमानेका दूसरा साधन ढूँढ़ने निकल पड़ा। उसने पहले व्यापारियोंके एक यात्रीदलका साथ पकड़ा; किंतु वनमें मतवाले हाथियोंने उस दलपर आक्रमण कर दिया। कितने व्यापारी मारे गये, पता नहीं। प्राण बचानेके लिये गौतम अकेला भागा और फिर घोर वनमें भटक गया।

ब्राह्मण गौतमका भाग्य अच्छा था। वह भटकता हुआ एक ऐसे वनमें पहुँच गया, जिसमें पके हुए मधुर फलोंवाले वृक्ष थे। सुगन्धित वृक्ष भी वहाँ पर्याप्त थे और मधुर स्वरमें बोलनेवाले पक्षियोंका तो वह निवास ही था। उसी वनमें महर्षि कश्यपके पुत्र राजधर्मा नामक बगुलेका निवास था। ब्राह्मण गौतम संयोगवश उस वनमें उसी विशाल वटवृक्षके नीचे जा बैठा, जिसपर राजधर्माका विश्रामस्थान था।

संध्याके समय चमकीले पंखोंवाले राजधर्मा ब्रह्मलोकसे अपने स्थानपर आये तो उन्होंने देखा कि उनके यहाँ एक अतिथि आया है। उन्होंने मनुष्यभाषामें गौतमको प्रणाम किया और अपना परिचय दिया। गौतमके लिये उन्होंने कोमल पत्तों तथा सुगन्धित पुष्पोंकी शय्या बना दी। उसे भोजन कराया। भोजन करके जब ब्राह्मण लेट गया तब राजधर्मा अपने पंखोंसे उसे हवा करने लगे।

जब राजधर्माको पता लगा कि ब्राह्मण दरिद्र है और धन पानेके लिये यात्रा कर रहा है, तब उन्होंने उसे वहाँसे तीन योजन दूर अपने मित्र विरूपाक्ष नामक राक्षसराजके यहाँ जानेको कहा। दूसरे दिन प्रातःकाल ब्राह्मण वहाँसे चल पड़ा। जब राक्षसराजने सुना कि उनके मित्र राजधर्माने गौतमको भेजा है, तब उन्होंने गौतमका खूब सत्कार किया और उसे बहुत अधिक धन दिया।

राक्षसराजसे विदा होकर गौतम फिर उसी वनमें आया। राजधर्माने उसका फिर सत्कार किया। रात्रिमें राजधर्मा भी भूमिपर ही सो रहे। वहाँ उन्होंने पासमें अग्नि जला दी थी, जिससे वन्य-पशु रात्रिमें ब्राह्मणपर आक्रमण न करें। रात्रिमें ही ब्राह्मणकी निद्रा भङ्ग हुई। वह सोचने लगा—'मेरा घर यहाँसे दूर है। लोभवश मैंने धन भी बहुत ले लिया। मार्गमें भोजनके लिये कुछ मिलेगा नहीं और मेरे पास भी कुछ है नहीं। इस मोटे बगुलेको मारकर साथ ले लूँ तो मेरा काम चल जायगा।' यह विचारकर उस क्रूरने सोते हुए राजधर्माको मार डाला। उनके पंख नोचकर जलती अग्निमें उनका शरीर भून लिया और धनकी गठरी लेकर वहाँसे चल पड़ा।

इधर राक्षस विरूपाक्षने अपने पुत्रसे कहा—'बेटा! मेरे मित्र राजधर्मा प्रतिदिन ब्रह्माजीको प्रणाम करने ब्रह्मलोक जाते हैं और लौटते समय मुझसे मिले बिना किसी दिन घर नहीं जाते। आज दो रातें बीत गयीं, वे मुझसे मिलने नहीं आये। मुझे उस गौतम ब्राह्मणके लक्षण अच्छे नहीं लगते थे। मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है। तुम पता तो लगाओ कि मेरे मित्र किस अवस्थामें हैं।'

राक्षसराजका कुमार दूसरे राक्षसोंके साथ जब राजधर्माके निवासस्थानपर पहुँचा, तब वहाँ उसने उन पक्षिश्रेष्ठके नोचे हुए पंखोंको इधर-उधर बिखरे देखा; इससे उसे बड़ा दुःख हुआ। शोक और क्रोधके मारे उसने उस ब्राह्मणको ढूँढ़ना प्रारम्भ किया। थोड़ी ही देरमें राक्षसोंने ब्राह्मणको पकड़ लिया। उसे लेकर वे राक्षसराजके पास पहुँचे।

अपने मित्र बगुलेका झुलसा हुआ शरीर देखकर राक्षसराज शोकसे मूर्छित हो गये। उनके परिवार-परिजनके लोग दुखी होकर रोने लगे। मूर्छा दूर होनेपर राक्षसराजने कहा—'राक्षसो! इस दुष्ट ब्राह्मणको मारकर इसका मांस खा लो!'

हाथ जोड़कर राक्षसगण बोले—'राजन्! इस पापीको हमलोग नहीं खाना चाहते। इस कृतघ्नका मांस खाकर हम भी पापी बनेंगे। आप इसे चाण्डालोंको दे दें।'

परंतु जब राक्षसराजने राक्षसोंद्वारा गौतमके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कराके वह मांस चाण्डालोंको देना चाहा, तब वे भी

उसे लेनेको तैयार नहीं हुए। वे बोले—'यह तो कृतघ्नका मांस है। इसे तो पशु, पक्षी और कीड़ेतक नहीं खाना चाहेंगे। हम इसे नहीं ले सकते।' फलतः वह मांस यों ही एक खंदकमें फेंक दिया गया।

अब राक्षसराजने सुगन्धित चन्दनकी चिता बनवायी और उसपर बड़े सम्मानसे अपने मित्र राजधर्माका शरीर रक्खा। परंतु उसी समय देवराज इन्द्रके साथ कामधेनु आकाशमार्गसे वहाँ पधारीं। कामधेनुके मुखसे अमृतमय झाग चितापर रखे राजधर्माके शरीरपर गिर गया, इससे राजधर्मा जीवित हो गये।

जीवित होनेपर धर्मात्मा राजधर्माने उस ब्राह्मणको भी जीवित कर देनेका अनुरोध इन्द्रसे किया। देवराजकी कृपासे वह ब्राह्मण भी जीवित हो गया। यों बुरा करनेवालेको भी आपने जीवनदान दिया। यही साधुता है।—सु० सिं०

(महा० शान्ति० १६८-१७३)

जटिल प्रश्नोत्तर

एक बार देवर्षि नारदजी मही-सागर-संगममें स्नान करने पधारे। उसी समय वहाँ बहुत-से ऋषि-मुनि भी आ पहुँचे। नारदजीने उनसे पूछा—''महात्माओ! आपलोग कहाँसे आते हैं?' उन्होंने बतलाया—'मुने! हमलोग सौराष्ट्र देशमें रहते हैं, जहाँके राजा धर्मवर्मा हैं। एक बार उस राजाने दानके तत्त्वको समझनेके लिये बहुत वर्षोंतक तपस्या की। तब आकाशवाणीने उनसे—

द्विहेतु षडधिष्ठानं षडङ्गं च द्विपाकयुक्।
चतुष्प्रकारं त्रिविधं त्रिनाशं दानमुच्यते॥

—अर्थात् दानके दो हेतु, छः अधिष्ठान, छः अङ्ग, दो फल, चार प्रकार, तीन भेद और तीन विनाश-साधन हैं। यह श्लोक कहा और मौन हो गयी। नारदजी! राजाके पूछनेपर भी आकाशवाणीने इसका अर्थ नहीं बतलाया। तब राजाने ढिंढोरा पिटवाकर यह घोषणा करवायी कि 'जो इस श्लोककी ठीक-ठीक व्याख्या करेगा, उसे मैं सात लाख गौएँ, उतनी ही स्वर्ण-मुद्राएँ तथा सात गाँव दूँगा।' हम लोग सब वहींसे आ रहे हैं। श्लोकका अर्थ दुर्बोध होनेसे उसकी कोई व्याख्या नहीं कर सका है।'

नारदजी यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। वे एक वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारण कर धर्मवर्माके पास पहुँचे और कहा—'राजन्! मुझसे श्लोककी व्याख्या सुनिये और उसके बदले जो देनेके लिये ढिंढोरा पिटवाया है, उसकी सत्यता प्रमाणित कीजिये।' राजाने कहा—'ब्रह्मन्! ऐसी बात तो बहुतसे ब्राह्मण कह चुके, पर किसीने वास्तविक अर्थ नहीं बताया। दानके दो हेतु कौन हैं? छः अधिष्ठान कौन हैं? छः अङ्ग कौन हैं? दो फल कौन हैं? चार प्रकार, तीन भेद और तीन विनाश-साधन कौन हैं? इन सात प्रश्नोंको यदि आप ठीक-ठीक बतला सकें तो मैं आपको सात लाख गौएँ, सात लाख स्वर्ण-मुद्राएँ और सात गाँव दूँगा।'

नारदजीने कहा—'श्रद्धा' और 'शक्ति' ये दो दानके हेतु हैं; क्योंकि दानका थोड़ा या बहुत होना पुण्यका कारण नहीं होता। न्यायोपार्जित धनका श्रद्धापूर्वक थोड़ा-सा भी दान भगवान्‌की प्रसन्नताका हेतु होता है। धर्म, अर्थ, काम, लज्जा, हर्ष और भय—ये दानके छः अधिष्ठान कहे जाते हैं। दाता, प्रतिग्रहीता, शुद्धि, धर्मयुक्त देय वस्तु, देश और काल—ये दानके छः अङ्ग हैं। इहलोकके और परलोकके—ये दो फल हैं। ध्रुव, त्रिक, काम्य और नैमित्तिक—ये चार प्रकार हैं। (कुआँ-पोखरा खुदवाना, बगीचा लगाना आदि जो सबके काम आये वह 'ध्रुव' है। नित्य दान ही 'त्रिक' है। संतान, विजय, स्त्री आदिकी विषयक इच्छापूर्तिके लिये दिया गया दान, 'काम्य' है। ग्रहण, संक्रान्ति आदि पुण्य अवसरोंपर दिया गया दान 'नैमित्तिक' है।) उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ—ये तीन भेद हैं। दान देकर पछताना, कुपात्रको देना, बिना श्रद्धाके देना अर्थात् पश्चात्ताप, कुपात्र और अश्रद्धा—ये तीन दानके नाशक हैं। इस प्रकार सात पदोंमें बँधा हुआ जो दानका माहात्म्य है, उसे मैंने तुमको सुना दिया।

इसपर धर्मवर्मा बहुत चकित हुआ, उसने कहा—'मुने! आप कौन हैं? आप कोई साधारण मनुष्य नहीं हो सकते। मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। आप कृपया अपना परिचय दीजिये।' नारदजीने कहा—'मैं देवर्षि नारद हूँ। अब तुम जो मुझे भूमि दे रहे हो, इसे मैं तुम्हारे ही पास धरोहर छोड़ रहा हूँ। आवश्यकता पड़नेपर ले लूँगा।' यों कहकर वे रैवतक पर्वतपर चले गये और वहाँ बिचारने लगे कि मैंने भूमि तो पा ली, पर

अब योग्य ब्राह्मण कहाँ मिले, जिसे मैं भूमि-दान दूँ। यह सोचकर उन्होंने बारह प्रश्न बनाये और उन्हें ही गाते हुए वे ऋषियोंके आश्रमोंपर विचरने लगे। उनके प्रश्न थे—(१) मातृका क्या और कितनी हैं ? (२) पच्चीस वस्तुओंसे बना अद्भुत गृह क्या है ? (३) अनेक रूपवाली स्त्रीको एक रूपवाली बनानेकी कलाका किसे ज्ञान है ? (४) संसारमें विचित्र कथाकी रचना करना कौन जानता है ? (५) समुद्रमें बड़ा ग्राह कौन है ? (६) आठ प्रकारके ब्राह्मण कौन हैं ? (७) चार युगोंके आरम्भके दिन कौन-से हैं ? (८) चौदह मन्वन्तरोंका आरम्भ किस दिन हुआ ? (९) सूर्यनारायण रथपर पहले-पहल किस दिन बैठे ? (१०) काले साँपकी तरह प्राणियोंका उद्वेजक कौन है ? (११) इस घोर संसारमें सबसे बड़ा चतुर कौन है ? और (१२) दो मार्ग कौन-से हैं ?

इन प्रश्नोंको पूछते हुए वे सारी पृथ्वीपर घूम आये, पर कहीं उनके प्रश्नोंका समाधान न हुआ। योग्य ब्राह्मण न मिलनेके कारण नारदजी बड़े दुखी हुए और हिमालय पर्वतपर एकान्तमें बैठकर विचारने लगे। सोचते-सोचते अकस्मात् उनके ध्यानमें आया कि 'मैं कलापग्राममें तो गया ही नहीं। वहाँ ८४ हजार विद्वान् ब्राह्मण नित्य तपस्या करते हैं। सूर्य-चन्द्र-वंश एवं सद्ब्राह्मणोंके पुनः प्रवर्तक देवापि और मरुत्त वहीं रहते हैं।' यों विचारकर वे आकाश-मार्गसे कलापग्राम पहुँचे। वहाँ उन्होंने बड़े तेजस्वी, विद्वान् एवं कर्मनिष्ठ ब्राह्मणोंको देखा। उन्हें देखकर नारदजी बड़े प्रसन्न हुए। ब्राह्मण जहाँ बैठे शास्त्रचर्चा कर रहे थे, वहाँ जाकर नारदजीने कहा—'आपलोग यह क्या काँव-काँव कर रहे हैं। यदि कुछ समझनेकी शक्ति है तो मेरे कठिन प्रश्नोंका समाधान कीजिये।'

यह सुनकर ब्राह्मण अचंभेमें पड़ गये और बोले, 'वाह, सुनाओ तो जरा अपने प्रश्नोंको।' नारदजीने अपने बारह प्रश्नोंको दुहरा दिया। यह सुनकर वे मुनि कहने लगे, 'मुने! ये आपके प्रश्न तो बालकोंके-से हैं। आप यहाँ जिसे सबसे छोटा और मूर्ख समझते हों, उसीसे पूछिये; वही इनका उत्तर दे देगा।' अब नारदजी बड़े विस्मयमें पड़ गये; उन्होंने एक बालकसे, जिसका नाम सुतनु था, इन प्रश्नोंको पूछा।

सुतनुने कहा—"इन बालोचित प्रश्नोंके उत्तरमें मेरा मन नहीं लगता। तथापि आपने मुझे सबसे मूर्ख समझा है, इसलिये कहना पड़ता है—(१) ऊ, अ, आ इत्यादि ५२ अक्षर ही मातृका हैं। (२) २५ तत्त्वोंसे बना हुआ गृह यह शरीर ही है। (३) बुद्धि ही अनेक रूपोंवाली स्त्री है। जब इसके साथ धर्मका संयोग होता है, तब यह एकरूपा हो जाती है। (४) विचित्र रचनायुक्त कथनको पण्डित ही कहते हैं। (५) इस संसार-समुद्रमें लोभ ही महाग्राह है। (६) मात्र, ब्राह्मण, श्रोत्रिय, अनूचान, भ्रूण, ऋषिकल्प, ऋषि और मुनि—ये आठ प्रकारके ब्राह्मण हैं। इनमें जो केवल ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न है और संस्कार आदिसे हीन है, वह 'मात्र' है। कामनारहित होकर सदाचारी वेदोक्त-कर्मकारी ब्राह्मण 'ब्राह्मण' कहा जाता है। अङ्गोंसहित वेदोंका पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर षट्कर्ममें परायण ब्राह्मण 'श्रोत्रिय' है। वेदका पूर्ण तत्त्वज्ञ, शुद्धात्मा, केवल शिष्योंको अध्यापन करनेवाला ब्राह्मण 'अनूचान' है। यज्ञावशिष्टभोजी पूर्वोक्त अनूचान ही 'भ्रूण' है। लौकिक-वैदिक समस्त ज्ञानसे परिपूर्ण जितेन्द्रिय ब्राह्मण 'ऋषिकल्प है। ऊर्ध्वरेता, निःसंशय, शापानुग्रह-सक्षम, सत्यसन्ध ब्राह्मण 'ऋषि' है। सदा ध्यानस्थ, मृत्तिका और सुवर्णमें तुल्य दृष्टिवाला ब्राह्मण 'मुनि' है।

"अब सातवें प्रश्नका उत्तर सुनिये। कार्तिक शुक्ल नवमीको कृतयुगका, वैशाख शुक्ल तृतीयाको त्रेताका, माघ कृष्ण अमावास्याको द्वापरका और भाद्रपद कृष्ण त्रयोदशीको कलियुगका आरम्भ हुआ। अतः उक्त तिथियाँ 'युगादि' कही जाती हैं। अब आठवें प्रश्नका भी उत्तर लीजिये। आश्विन शुक्ल नवमी, कार्तिक शुक्ल द्वादशी, चैत्र शुक्ल तृतीया, भाद्रपद शुक्ल तृतीया, फाल्गुन कृष्ण अमावास्या, पौष शुक्ल एकादशी, आषाढ़ शुक्ल दशमी, माघ शुक्ल सप्तमी, श्रावण कृष्ण अष्टमी, आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा, चैत्री पूर्णिमा और ज्येष्ठकी पूर्णिमा—ये स्वायम्भुव आदि चौदह मनुओंकी आदि तिथियाँ हैं। (९) माघ शुक्ल सप्तमीको पहले-पहल भगवान् सूर्य रथपर सवार हुए थे। (१०) सदा माँगनेवाला ही उद्वेजक है। (११) पूर्ण चतुर—'दक्ष' वही है, जो मनुष्ययोनिका मूल्य समझकर इससे अपना पूर्ण निःश्रेयसादि सिद्ध कर ले। (१२) 'अर्चि' और 'धूम'—ये दो मार्ग हैं। अर्चिमार्गसे जानेवालेको 'मोक्ष' होता है और धूममार्गसे जानेवालोंको पुनः लौटना पड़ता है।"

इन उत्तरोंको सुनकर नारदजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें धर्मवर्मासे प्राप्त अपनी भूमि दान कर दी। —जा० श०

(स्कन्द,० माहेश्वर० कुमारिका० अध्याय ३-४)

पूर्ण समर्पण

(तेरा, सो सब मेरा)

(लेखक—श्रीहरकिशनजी झवेरी)

राजा बृहदश्व सौ अश्वमेध यज्ञ करना चाहते थे। लगभग बानबे यज्ञ वे कर चुके थे। उनके गुरु उस समय समाधिस्थ थे। "राजा सौ यज्ञ पूरा करनेपर स्वर्गका राज्य पायेंगे और तब उनकी आत्मोन्नति मन्द हो जायगी; क्योंकि फिर वे स्वर्गमें एक कल्पतक राज्य करेंगे और क्षीणपुण्य होते ही वे फिर 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' के चक्करमें पड़ जायँगे। यह सब न होने पाये और राजा सीधे आत्मोन्नतिके उन्नत सोपानपर चढ़ जायँ।"—यह विचारकर उनके श्रीगुरुने एक ब्राह्मणके यहाँ जन्म लिया। राजाने जब सौवाँ यज्ञ प्रारम्भ किया, उस समय उनके गुरु श्रीवामदेवजी नौ वर्षके थे। उनका यज्ञोपवीत हो चुका था। भिक्षा माँगते समय पिताकी आज्ञा लेकर श्रीवामदेवजी प्रथम भिक्षा माँगने राजाके पास गये। श्रीवामदेवका अद्भुत वटुकस्वरूप, अनुपम कान्ति, हाथमें दण्ड-कमण्डलु इत्यादि देखकर राजा हाथ जोड़कर खड़े हो गये। श्रीवामदेवजीने कहा—'मैं भिक्षा माँगने आया हूँ।' अश्वमेध यज्ञके नियमानुसार राजाने उनसे इच्छानुसार माँगनेको कहा। इसपर श्रीवामदेवजीने कहा—'मैं जो माँगूँ, वह यदि मुझे न मिला तो फिर क्या होगा! इसलिये आप पहले यह संकल्प करें कि मैं जो कुछ माँगूँगा, वह आप दे चुके हैं।' 'ये बहुत माँगेंगे तो सारा राजपाट माँग लेंगे और अश्वमेध करनेवालेको मुँहमाँगा देनेके लिये तैयार रहना ही पड़ता है'—यह सोचकर राजाने संकल्प करते हुए कहा—'आप जो माँगेंगे, वह मैंने आपको दे दिया।' तब वामदेवजीने कहा—'जो तेरा है, वह सब मेरा हो जाय।' राजा तुरंत राज्यासनपरसे हट गये और वामदेवजी उसपर जा विराजे। आपने दानपर दक्षिणा माँगी, तब राजाने शरीरपरसे आभूषण उतारकर वामदेवजीके चरणोंपर रख दिये। परंतु 'तेरा है, वह सब मेरा हो जाय' इस वचनके अनुसार राजाकी सभी चीजें श्रीवामदेवजीकी पहले ही हो चुकी थीं। अतएव श्रीवामदेवजीने कहा कि—'ये आभूषण तो मेरे ही हैं। अब आपके पास यदि कुछ शेष रहा हो तो उसमेंसे दक्षिणा दीजिये।' ये शब्द सुनते ही राजाने सोचा कि वामदेवजीने उनके अश्वमेधका सारा पुण्य भी ले लिया है। अब राजा सोचने लगे कि 'क्या किया जाय?' तब वामदेवजीने कहा—'सावधान! कुछ मत सोचो। कारण, तुम्हारा मन भी तो मेरा हो चुका है। तुमको मैं विचारतक नहीं करने दूँगा।' यह सुनकर राजा मूर्छित हो गये और स्वप्न देखने लगे कि वे मरनेके बाद यमके दरबारमें पहुँचे हैं। वहाँ उनका बड़ा सत्कार हुआ। फिर उनसे कहा गया कि उनका बहुत बड़ा पुण्य है और उन्हें स्वर्गका राज्य मिलनेवाला है परंतु कुछ पाप भी है। अतएव यह प्रश्न आया। वे पहले पाप भोगेंगे या पुण्य?' उसी स्वप्नावस्थामें राजाने सोचा कि पुण्यके बाद पापके भोगनेमें कष्ट होगा, इसलिये उन्होंने पहले पाप भोगनेकी इच्छा प्रकट की। इसपर वे मरुभूमिमें डाल दिये गये। वहाँ सूर्यकी कड़ी धूप और गरमागरम बालूसे राजा मानो झुलसने लगे। उस समय वे विचार करने लगे कि 'मैंने अपना सब कुछ वामदेवजीको दे दिया है। पुण्य भी दे दिया है, तब फिर यह पाप मुझे क्यों भोगना पड़ रहा है?' उनके यह सोचते ही वह मरुभूमि चन्दनवत् शीतल हो गयी और वामदेवजीने वहाँ प्रकट होकर कहा—'यदि तुम यमके दरबारमें कह देते कि तुमने पाप-पुण्य दोनों मुझे दे दिये हैं तो तुम्हें पाप भोगना न पड़ता। परंतु तुम्हें पुण्य भोगनेका मन था, इसलिये यह पाप भी भोगना पड़ा। जब पुण्य तुम भोगते, तब पाप मैं थोड़े ही भोगता।'

राजाकी मूर्छा दूर हो गयी। वे उठकर बैठ गये। सामने श्रीवामदेवजी खड़े थे। अपने गुरुको पहचानकर राजाने उन्हें सादर प्रणाम किया।

भक्तको इसी तरह अपने मनका साधन करना पड़ता है। मन अर्पण करनेके बाद साधकका कुछ भी नहीं रहता। फिर तो साधक ऐसा काम करेगा ही नहीं, जिससे उसको पाप-पुण्यका बन्धन हो।

जरा-सा भी गुण देखो, दोष नहीं

संसारे सुखिनो जीवा भवन्ति गुणग्राहकाः।
उत्तमास्ते हि विज्ञेयाः कृष्णवद् दन्तपश्यकाः॥

एक बार देवराज इन्द्रने अपनी देवसभामें कहा कि इस समय मनुष्यलोकमें श्रीकृष्ण देव (कोई राजा) ही सबसे श्रेष्ठ और गुणशाली पुरुष हैं।

ऐसे श्रीकृष्णकी बड़ाई एक देवताको अच्छी नहीं

लगी। वह परीक्षा करनेके लिये मरे कुत्तेका रूप धारण करके रास्तेमें पड़ गया। उसके शरीरसे दुर्गन्ध निकल रही थी। उसका मुँह फट गया था। रास्ते जाते श्रीकृष्णने उस मरे कुत्ते-को देखा और कहा—'अहो, इस मरे कुत्तेके दाँतोंकी पङ्क्ति कैसी निर्मल, मोती-जैसी दिप रही है !' इस प्रकार सड़ी दुर्गन्धके दोषकी ओर उनका ध्यान नहीं गया और उसमें जो जरा-सा गुण था, उसीपर उनकी दृष्टि गयी। यह देखकर देवता कुत्तेका रूप त्यागकर अपने रूपमें प्रकट हो गया और बोला—'सच है, सच्ची गुणग्राहकता और गुण-दर्शनपरायणता तो आपमें ही है। संसारमें गुणग्राहकलोग ही सुखी हुआ करते हैं।'

एक मुट्ठी अनाजपर भी अधिकार नहीं

एक बड़ा सुन्दर मकान है। उसके नीचे अनाजकी दूकान है। दूकानके सामने अनाजकी ढेरी लगी है। एक बकरा आया। उसने ढेरीपर मुँह मारा। दूकानका मालिक एक तरुण धनी दूकानपर बैठा था। उसके हाथमें नुकीली छड़ी थी। उसने बकरेके सिरपर जोरसे छड़ी मार दी। बकरा में-में करता हुआ भागा।

श्रीनारदजी तथा श्रीअङ्गिराजी अपनी राह जा रहे थे। बकरेकी उपर्युक्त घटना देखकर नारदजीको हँसी आ गयी। अङ्गिराजीने इस हँसीका रहस्य पूछा। तब नारदजीने बताया कि 'यह अनाजकी दूकान पहले बहुत छोटी थी। इसके मालिकने इसी दूकानसे अपने व्यापारकी प्रतिष्ठा की। वह अन्तमें करोड़पति हो गया। उसीने यह इतनी बड़ी इमारत बनवायी। वह बहुत बड़े-बड़े व्यापार करने लगा। परंतु अनाजकी बुनियादी दूकानको अपने रहनेके मकानके नीचे ही रक्खा; क्योंकि इसी दूकानसे उसकी क्रमशः उन्नति हुई थी। मालिक मर गया। उसका बेटा उत्तराधिकारी हुआ। वही तरुण दूकानपर बैठा है, जिसने बकरेको छड़ीसे मारकर भगाया है। यह इस दूकानपर रोज घंटे भर आकर बैठता है। काम-काज तो नौकर करते हैं। मुझे हँसी इस बातपर आ गयी कि दूकानका वह मालिक—इस तरुणका पिता ही बकरे-की योनिमें पैदा हुआ है। यही एक दिन इस दूकानका, मकानका और सारे कारोबारका मालिक था; पर आज एक मुट्ठी अनाजपर भी उसका अधिकार नहीं है। अनाजकी ओर मुँह करते ही मार पड़ती है और जिस पुत्रको बड़े प्यारसे पाला-पोसा, वही मारता है। यही है जगत्‌का स्वरूप।

परोपकारमें आनन्द

स्वर्गकी देवसभामें देवराजने किसी नरेशकी दयालुताका वर्णन किया। एक देवताके मनमें राजाकी परीक्षा लेनेकी इच्छा हुई। वे पृथ्वीपर आये और राजासे बोले—'नरेश ! तू मुझे प्रतिदिन एक मनुष्यकी बलि दे, नहीं तो मैं तेरे नगरके सभी मनुष्योंको मार डालूँगा।'

राजाने शान्त चित्तसे कह दिया—'जो कुछ होनेवाला हो, हो जाय। मैं जान-बूझकर किसी प्राणीकी बलि नहीं दूँगा।'

देवताने ऐसा दृश्य उपस्थित कर दिया जिससे प्रत्येक नगरवासीको आकाशमें एक विशाल चट्टान दीखने लगी। लगता था कि चट्टान गिरनेवाली ही है और पूरा नगर उसके गिरनेसे ध्वस्त हो जायगा। नगरके लोग राजाके पास गये और उन्होंने प्रार्थना की—'सम्पूर्ण नगरकी रक्षाके लिये एक बलिदान दे देना चाहिये।'

राजाने स्थिरभावसे स्पष्ट कह दिया—'जो होनेवाला हो, हो जाय। मैं जान-बूझकर किसी प्राणीको नहीं मारूँगा।'

नगरके लोगोंने अब परस्पर सलाह की। उन्होंने चंदा करके धन एकत्र किया और उससे मनुष्यकी एक स्वर्णमूर्ति बनवायी। अब उन लोगोंने यह घोषणा की—'जो कोई प्रसन्नतासे अपने घरके किसी व्यक्तिको बलिदानके लिये देगा, उसे यह मूर्ति तथा और भी धन मिलेगा।'

एक लोभी व्यक्तिने धनके लोभसे अपना पुत्र बलिदान-के लिये दे दिया। जब उस लड़केको बलि देनेके स्थानपर पहुँचाया गया तब वह हँस रहा था। राजाने उससे हँसनेका कारण पूछा। लड़का बोला—'मेरे लिये आज परम मङ्गलका दिन है; क्योंकि एक मेरे प्राण जानेसे पूरे नगरके लोगोंकी रक्षा हो जायगी।'

राजाको अपना कर्तव्य सूझ गया। उन्होंने लड़केको हटा दिया और स्वयं अपनी बलि देनेको उद्यत हो गये। राजाकी दयावृत्तिसे देवता प्रसन्न हो गये। नगरपर गिरती शिला जो दीख रही थी, अदृश्य हो गयी। देवताने राजाको आशीर्वाद दिया। —सु० सिं०

आत्मज्ञानसे ही शान्ति

द्वापरान्तमें उज्जैनमें शिखिध्वज नामके नरेश थे। उनकी पत्नी चूडाला सौराष्ट्र-नरेशकी कन्या थीं। रानी चूडाला बड़ी विदुषी थीं। युवावस्था दिनों दिन क्षीण हो रही है और वार्धक्य समीप आता जा रहा है, यह उन्होंने

बहुत पहिले अनुभव कर लिया था। राजसदनमें आनेवाले महापुरुषोंसे आत्मतत्त्वकी व्याख्या सुनकर वे उसका मनन करने लगीं और मननसे निश्चित तत्त्वमें चित्तको उन्होंने स्थिर किया। इस प्रकार निदिध्यासनकी पूर्णता होनेपर उन्हें तत्त्व-बोध हो गया। आत्मज्ञानसम्पन्ना रानीके मुख और शरीरपर दिव्य कान्ति आ गयी। उनका सौन्दर्य अद्भुत हो गया। राजा शिखिध्वजने यह देखकर पूछा—'रानी! तुम्हें यह विलक्षण शान्ति और अलौकिक सौन्दर्य कैसे प्राप्त हुआ? तुमने कोई औषध सेवन की है? कोई मन्त्र प्रयोग किया है? अथवा और कोई साधन प्राप्त किया है? तुम्हारा शरीर तो ऐसा हो रहा है जैसे पुनः युवावस्था प्राप्त कर रहा हो।'

चूडालाने उत्तर दिया—'मैंने न औषध सेवन की है, न मन्त्रानुष्ठान किया है और न कोई अन्य साधन ही प्राप्त किया है। मैंने समस्त कामनाओंका त्याग कर दिया है। देहात्मभावको त्यागकर मैं अपरिच्छिन्न, अव्यक्तपरमतत्त्वमें स्थित हूँ, इसीसे कान्तिमती हूँ। भुक्त भोगोंके समान ही मैं अभुक्त भोगोंसे भी संतुष्ट हूँ। न मैं क्रोध करती हूँ न हर्षित होती हूँ, न असंतुष्ट होती हूँ। भूषण, सम्मान तथा अन्य भोगोंकी प्राप्तिसे न मुझे हर्ष होता न उनकी अप्राप्तिसे खेद। मैं सुख नहीं चाहती, अर्थ नहीं चाहती, अनर्थका परिहार नहीं चाहती। प्रारब्धसे प्राप्त स्थितिमें सदा संतुष्ट रहती हूँ। राग-द्वेषरहित होकर मैं समझ चुकी हूँ कि निखिल विश्वमें व्याप्त चराचरकी नियामिका शक्ति मेरा स्वरूप है, इसीसे मैं कान्तिमती हूँ।'

राजा शिखिध्वज रानीकी बात समझ नहीं सके। वे बोले—'तुम अभी प्रौढ़ नहीं हुई हो, तुम्हारी बुद्धि अपरिपक्व है, कोई बात ठीक कहना भी तुम्हें नहीं आता; इसीलिये ऐसी असङ्गत बातें कहती हो। अव्यक्तमें भला, कोई कैसे स्थित हो सकता है। अभुक्त भोगोंमें संतुष्ट होनेका अर्थ ही क्या। ऐसी अटपटी बातें छोड़ दो और भलीभाँति राजसुखका उपभोग करती हुई मुझे आनन्दित करो।'

रानीने समझ लिया कि 'महाराजके आत्मबोधका अवसर अभी नहीं आया है, उनके चित्तका मल अभी दूर नहीं हुआ है, इससे परमतत्त्वकी बात अभी वे समझ नहीं पा रहे हैं। अनधिकारीको ज्ञानोपदेश करनेसे लाभ तो होता नहीं, अनर्थकी ही सम्भावना रहती है। धर्मात्मा नरेशमें जब वैराग्य उत्पन्न होगा और तपसे उनके चित्तका मल नष्ट हो जायगा, तभी वे अध्यात्मतत्त्वको हृदयंगम कर सकेंगे।' ऐसा निश्चय करके पतिके परम कल्याणकी इच्छा रखनेवाली रानी समयकी प्रतीक्षा करती हुई राजभवनमें पतिके अनुकूल व्यवहार करती रहीं।

रानी चूडालाके मनमें एक बार कुछ सिद्धियोंको पानेकी इच्छा हुई। वे आत्मज्ञानसम्पन्ना थीं और योग-साधनाओंका रहस्य भी जान चुकी थीं। उन्होंने आसन लगाकर प्राणोंको संयत किया और विधिपूर्वक धारणाका आश्रय लिया। इस प्रकार साधना करके उन्होंने आकाशमें स्वच्छन्द घूमने तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेकी सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं।

धर्मात्मा राजा शिखिध्वजको धर्मपूर्वक प्रजापालन एवं राज्यसुख भोगते हुए बहुत समय बीत गया। उन्होंने देखा कि सांसारिक सुखोंके भोगसे वासनाएँ तृप्त होनेके स्थानपर बढ़ती ही जाती हैं, कोई प्रतिकूलता न होनेपर भी चित्तको शान्ति नहीं मिलती। यह सब देखकर वे राज्यभोगसे खिन्न हो गये। राजाने ब्राह्मणोंको बहुत धन दान किया; कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रत किये और अनेक तीर्थोंमें घूमे भी; किंतु उन्हें शान्ति नहीं मिली।

अन्तमें राजाके चित्तमें वैराग्यका उदय हुआ। उन्होंने वनमें जाकर तपस्या करनेका निश्चय किया। अपना विचार उन्होंने रानी चूडालाको सूचित किया, तब रानीने उनका समर्थन नहीं किया। रानीने कहा—'जिस कार्यका समय हो, वही करना उचित है। अभी आपकी अवस्था वानप्रस्थ स्वीकार करके वनमें जानेकी नहीं है। वनमें जाकर तप करनेसे ही शान्ति नहीं मिला करती। अभी आप घरमें ही रहें। वानप्रस्थका समय आनेपर हम दोनों साथ ही वनमें चलेंगे।'

महाराजको रानीकी बात जँची नहीं। उन्होंने रानीसे कहा—'भद्रे! तुम प्रजाका पालन करो और मुझे तपस्याके पवित्र मार्गमें जाने दो। प्रजापालन जो मेरा कर्तव्य है, उसका भार मैं तुमपर छोड़ता हूँ।'

राजा समझते थे कि समझानेसे रानी चूडाला उन्हें वनमें अकेले नहीं जाने देंगी। अतएव आधी रातको जब रानी निद्रामग्न थीं, महाराज उठे और राजभवनसे बाहर निकल गये। संयोगवश रानीकी निद्रा टूट गयी। उन्होंने देखा कि महाराज अपनी शय्यापर नहीं हैं तो समझ गयीं कि वे वनकी ओर ही गये होंगे। योगिनी रानी खिड़कीके मार्गसे निकलकर आकाशमें पहुँच गयीं। शीघ्र ही उन्होंने वनमें जाते अपने पतिको देख लिया। आकाशमार्गसे गुप्त रहकर वे महाराजके पीछे चलती रहीं। वनमें एक सुन्दर स्थानपर सरिताके पास राजाने रुकनेका विचार किया और बैठ गये।

पतिके तपःस्थानको देखनेके अनन्तर चूडाला सोचने लगीं—'मैं इस समय महाराजके पास जाऊँ; यह उचित नहीं

है। उनकी तपस्यामें मुझे बाधा नहीं देनी चाहिये। प्रजापालन-रूप पतिका कर्तव्य मुझे पूरा ही करना चाहिये। प्रारब्धवश यह जो मुझे पति-वियोग प्राप्त हुआ है, उसे भोग लेना ही उचित है।' ऐसा निश्चय करके रानी चूडाला नगरमें लौट आयीं। उन्होंने सम्पूर्ण राज्य-संचालन अपने हाथमें ले लिया और प्रजाका भली प्रकार पालन करने लगीं।

कुछ काल बीत जानेपर चूडालाके मनमें पति-दर्शनकी इच्छा हुई। वे आकाशमार्गसे उस तपोवनमें पहुँच गयीं। महाराज शिखिध्वजका शरीर कठोर तप करनेके कारण अत्यन्त दुर्बल हो गया था। वे अत्यन्त कृश, शान्त और उदास दीखते थे। योगिनी चूडालाने समझ लिया कि तपस्यासे राजाके चित्तका मल नष्ट हो गया है और विक्षेप भी समाप्त-प्राय है, अब वे तत्त्वबोधके अधिकारी हो गये हैं। परंतु श्रद्धाके बिना सुने हुए उपदेशमें विश्वास नहीं होता, इसलिये अपने स्त्री-वेशसे रानीने महाराजके सम्मुख जाना उचित नहीं समझा। उन्होंने एक युवक ऋषिका स्वरूप अपनी संकल्प-शक्तिसे धारण कर लिया और आकाशमार्गसे तपस्वी नरेशके सम्मुख उतर पड़ीं।

राजा शिखिध्वजने आकाशसे उतरते एक तेजस्वी ऋषि-को देखा तो उठ खड़े हुए। उन्होंने ऋषिको प्रणाम किया और ऋषिने भी उन्हें प्रणाम किया। राजाने अर्घ्य आदि देकर आगत अतिथिका सत्कार किया। यह सब हो जानेपर सत्सङ्ग प्रारम्भ हुआ। ऋषिरूपधारिणी रानीने पूछा—'आप कौन हैं?'

राजाने अपना परिचय देकर कहा—'संसाररूपी भयसे भीत होकर मैं इस वनमें रहता हूँ। जन्म-मरणके बन्धनसे मैं डर गया हूँ। कठोर तप करते हुए भी मुझे शान्ति नहीं मिल रही है। मेरा प्रयत्न कुण्ठित हो गया है। मैं असहाय हूँ। आप मुझपर कृपा करें।'

चूडालाने कहा—'कर्मोंका आत्यन्तिक नाश ज्ञानके द्वारा ही होता है। ज्ञानी कर्म करते हुए भी अकर्ता है। उसके कर्म उसके लिये बन्धन नहीं बनते; क्योंकि उसमें आसक्ति-कामना नहीं रहती। सभी देवता और श्रुतियाँ ज्ञानको ही मोक्षका साधन मानती हैं, फिर आप तपको मोक्षका हेतु मानकर क्यों श्रान्त हो रहे हैं? यह दण्ड है, यह कमण्डलु है, यह आसन है, आदि नानात्वके भ्रममें आप क्यों पड़े हैं। मैं कौन हूँ, यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ, इसकी शान्ति कैसे होगी,—इस प्रकारका विचार आप क्यों नहीं करते?'

शिखिध्वजने अब उस ऋषिकुमारको ही तत्त्वोपदेश करनेका आग्रह किया—'मैं आपका शिष्य हूँ, आपका अनुगत हूँ; अब आप कृपा करके मुझे ज्ञानका प्रकाश दें।'

चूडालाने कहा—'आपकी पत्नीने तो बहुत पहले आपको तत्त्व-ज्ञानका उपदेश किया था। आपने उसके उपदेशको ग्रहण नहीं किया और न सर्व-त्यागका ही आश्रय लिया।'

राजाने सर्व-त्यागका ठीक आशय नहीं समझा। उन्होंने उस वनके त्यागका संकल्प किया। परंतु जब ऋषिकुमारने वन-त्यागको भी सर्वत्याग नहीं माना, तब राजाने अपने आश्रमकी ममता भी छोड़ दी। उन्होंने कुटियाकी सब वस्तुएँ एकत्र करके उनमें अग्नि लगा दी। राजामें विचार जाग्रत् हो गया था; अब वे स्वयं सोचने लगे थे कि सर्व-त्याग हुआ या नहीं। ऋषिकुमार चुपचाप उनकी ओर देख रहे थे। आसन, कमण्डलु, दण्ड आदि सब कुछ उन्होंने एक-एक करके अग्निमें डाल दिया।

'राजन्! अभी आपने कुछ नहीं छोड़ा है। सर्व-त्यागके आनन्दका झूठा अभिनय मत कीजिये। आपने जो कुछ जलाया है, उसमें आपका था ही क्या? वे तो सब प्रकृति-निर्मित वस्तुएँ थीं।' अब उस ऋषिकुमारने कहा।

राजाने दो क्षण सोचा और कहा—'आप ठीक कहते हैं। अभी मैंने कुछ नहीं छोड़ा है; किंतु अब मैं सर्व-त्याग करता हूँ।'

अपने शरीरकी आहुति देनेको उद्यत नरेशको ऋषि-कुमारने फिर रोका—'तनिक ठहरिये! यह शरीर आपका है, यह भी आपका भ्रम है। यह भी प्रकृतिसे ही बना है। इसे नष्ट करनेसे कुछ लाभ नहीं।'

'तब मेरा क्या है?' अब नरेश थके-से बैठ गये और पूछने लगे।

ऋषिकुमार बोले—'यह अहंकार ही आपका है। आप इस अहंकारको कि यह सब मेरा है, छोड़ दीजिये। परिच्छिन्नमें अहंभाव छोड़नेपर ही आपका सर्व-त्याग पूरा होगा।'

'अहंकारका त्याग!' शिखिध्वजके निर्मल चित्तमें यह बात प्रकाश बनकर पहुँची। अहंकारके त्यागके बाद जो रह जाता है, वह तो वर्णनका विषय नहीं है। तत्त्वबोध प्राप्त हुआ नरेशको और तब ऋषिकुमारका रूप छोड़कर चूडालाने अपना रूप धारण करके उनके चरण छूए। वे ज्ञानी दम्पति नगरमें लौट आये शेष प्रारब्ध पूर्ण करने।—सु० सिं०

भक्त विमलतीर्थ

एक नैष्ठिक भक्त पण्डित थे। भक्त विमलतीर्थ उनके ही पुत्र थे। पिताने बाल्यकालमें इन्हें यथाविधि यज्ञोपवीतादि संस्कारोंसे संस्कृत कर दिया। इनकी नानी बड़ी भक्तिमती थीं। उनके संसर्गमें आकर इनकी भक्ति अनुदिन भगवच्चरणोंमें बढ़ने लगी। समयपर इनका विवाह हो गया। इनकी पत्नी सुनयना तो मानो भक्तिकी प्रतिमूर्ति ही थीं। उनके संसर्गमें आकर विमलतीर्थजी-का वैराग्य तथा उपासना पराकाष्ठाको ही पहुँच गयी। दोनोंने सलाहसे भगवदाराधन-व्रत ले लिया। तथापि सुनयनाने बाजी मार ली। उन्हें प्रथम भगवत्साक्षात्कार हो गया।

अब तो विमलतीर्थजीको और उत्साह हुआ। वे वनमें जाकर रहने लगे। अहर्निश भगवद्ध्यानमें प्रमत्त। अन्ततोगत्वा प्रभुने प्रकट होकर इन्हें गले लगा लिया। इन्होंने प्रभुसे विमल भक्तिका वर माँग लिया और सर्वदाके लिये पवित्र हो गये।

भक्त विमलतीर्थपर कृपा

जगत् कल्पना है ! संकल्पमात्र है !!

कोसलमें गाधि नामके एक बुद्धिमान्, श्रोत्रिय, धर्मात्मा ब्राह्मण रहते थे । शास्त्रज्ञान और धर्माचरणका फल विषयोंसे वैराग्य न हो तो शास्त्रज्ञान और धर्माचरणको वन्ध्य ही मानने चाहिये । गाधिको वैराग्य हो गया । वे बन्धु-बान्धवोंसे अलग होकर वनमें तपस्या करने चले गये ।

गाधिने वनमें एक सरोवरके जलमें खड़े होकर तपस्या प्रारम्भ की । जलमें वे बराबर आकण्ठ मग्न रहते थे । भगवद्दर्शनके अतिरिक्त कोई कामना नहीं थी उनके मनमें । आठ महीनेकी कठोर तपस्याके बाद भगवान् विष्णु उनके सम्मुख प्रकट हुए । ब्राह्मणके नेत्र धन्य हो गये । उनका तपस्यासे क्षीण शरीर पुष्ट हो गया एक ही क्षणमें ।

'वर माँगो !' मेघ-गम्भीर वाणीमें प्रभुने कहा ।

'प्रभो ! जीवोंको मोहित करनेवाली उस मायाको मैं देखना चाहता हूँ, जिसके द्वारा यह संसार आपमें अध्यस्त है ।' ब्राह्मणने वरदान माँगा; क्योंकि बहुत विचार करके वह थक गया था; जगत् नित्य है या अनित्य, तथ्य है या अतथ्य—यह उसकी समझमें ठीक आता नहीं था ।

भगवान् बोले—'अच्छी बात ! मायाको तुम देखोगे और तब उसका त्याग करोगे ।'

वरदान देकर गरुडध्वज प्रभु अदृश्य हो गये । कई दिन बीत गये ब्राह्मणको उसी वनमें । अब वे जलमें खड़े रहकर तपस्या नहीं करते थे । वृक्षके नीचे रहकर फल-मूल खाकर भजन करते थे । मायाके दर्शनकी प्रतीक्षामें थे वे ।

एक दिन सरोवरमें स्नान करके विप्रश्रेष्ठ गाधिने हाथके कुशोंसे जलमें आवर्त बनाया और जलमें डुबकी लगाकर अघमर्षण मन्त्रका जप करने लगे । सहसा वे मन्त्र भूल गये । उनके चित्तकी अद्भुत दशा हो गयी । उन्हें लगा कि वे अपने घर लौट आये हैं और वहाँ उनका शरीर छूट गया है । अब वे सूक्ष्म शरीरमें हैं । उनके सम्बन्धी रो रहे हैं । उन्होंने सूक्ष्म शरीरमें स्थित होकर देखा कि उनके मृत देहको सम्बन्धी श्मशान ले गये और वहाँ उसे चितामें रखकर जला दिया गया ।

सूक्ष्म शरीरमें स्थित गाधिने अनुभव किया कि वह भूत-मण्डल नामक देशके एक गाँवमें एक चाण्डाल स्त्रीके गर्भमें पहुँच गया है । यह भूलना नहीं चाहिये कि गाधि यह सब केवल अनुभव कर रहे थे । वस्तुतः उन्होंने तो जलमें अघमर्षणके लिये डुबकी लगायी थी । उन्होंने अनुभव किया कि वे चाण्डाल-बालक होकर उत्पन्न हुए । माता-पिताने उस बालकका नाम कटंज रक्खा ।

चाण्डालकुमार कटंज धीरे-धीरे बढ़ने लगा । वह खूब बलवान् निकला । युवा होनेपर शिकार करनेमें बहुत निपुण हो गया । उसका एक चाण्डाल-कन्यासे विवाह हो गया । कालक्रमसे उसके कई पुत्र हुए । अचानक उस गाँवमें महामारी फैली । चाण्डाल कटंजके स्त्री-पुत्र तथा परिवारके लोगोंकी समाप्ति हो गयी उस महामारीमें । अब परिवार-हीन शोकाकुल कटंज वह ग्राम छोड़कर निकल पड़ा । अनेक देशोंमें वह घूमता-भटकता फिरा ।

उस समय कीरदेशका नरेश मर गया था । उस देशकी प्रथा थी कि राजाके मरनेपर एक सुशिक्षित हाथी छोड़ दिया जाता था नगरमें और वह हाथी जिसे अपनी पीठपर बैठा लेता था, उसे राजगद्दी दे दी जाती थी । कीरदेशकी राजधानी श्रीमतीपुरीमें जब चाण्डाल कटंज घूमता हुआ पहुँचा, तब नगर भली प्रकार सजाया गया था । नवीन नरेशकी खोज करनेके लिये छोड़ा हुआ हाथी नगरमें घूम रहा था । नगरके लोग मार्गमें खड़े थे और अत्यन्त उत्सुक थे यह देखनेको कि राजा होनेका सौभाग्य किसे मिलता है । सहसा हाथी कटंजके पास आया और उसे सूँड़से उठाकर उसने अपने मस्तकपर बैठा लिया । नगरमें नगारे बजने लगे, जयध्वनि होने लगी नवीन नरेशके स्वागतमें ।

कटंजने अब अपना नाम छिपा लिया और जाति भी छिपा ली । उसने अपना नाम गवल बतलाया । राजभवनमें उसका स्वागत हुआ । राज्यका संचालन, राजसुख-भोग प्राप्त हुए उसे । अनेक रानियाँ बनायीं उसने । बड़े उत्साहसे उसने कीरदेशमें आठ वर्ष राज्य किया ।

एक दिन नगरके चाण्डालोंका कोई उत्सव था । दूर-दूरके चाण्डालोंके सरदार उसमें आये थे । चाण्डाल नगरमें गाते, नाचते निकले । कुतूहलवश कीरदेशका नरेश राजभवनसे अकेला निकला और राजद्वारपर खड़ा होकर चाण्डालोंकी उस भीड़को देखने लगा । उस भीड़में उसके चाण्डाल-ग्रामका एक वृद्ध भी आया था । उसने राजाके रूपमें स्थित कटंजको

पहिचान लिया और दूरसे पुकारकर कहा—'कटंज ! तुम यहाँ आ गये हो हमलोगोंको छोड़कर ? बड़े सौभाग्य और प्रसन्नताकी बात है कि तुम्हें राजपद और यह उत्तम राजभवन प्राप्त हुआ। हमलोगोंका भी कुछ ध्यान रखना, भाई !'

राजाने संकेतसे उस वृद्ध चाण्डालको रोकनेकी बहुत चेष्टा की; किंतु वृद्ध अपनी बात तो कह ही चुका था। राजभवनके ऊपरसे रानियाँ झरोखोंसे चाण्डालोंका उत्सव देख रही थीं, राजसेवक तथा कुछ मन्त्री भी आसपास थे। उन सबने वृद्ध चाण्डालकी बात सुन ली। सब चौंके—'यह राजा तो चाण्डाल है !'

अब स्वागत-सत्कार तो दूर, कोई सेवकतक राजाको छूना या उससे बोलना नहीं चाहता था। राजभवन और पूरे नगरमें खलबली मच गयी। लोगोंके समूह एकत्र हुए। विद्वान् ब्राह्मणोंकी सभा जुटी और विचार होने लगा कि 'आठ वर्ष चाण्डालके स्पर्शमें सब लोग रहे, सबको उसके साथ खाना-पीना पड़ा, अब सबकी शुद्धि कैसे हो ?' विद्वानोंने निश्चय किया कि अब शरीरकी शुद्धि सम्भव नहीं। एक भारी चिता बनाकर उसमें शरीरकी आहुति दे देनी चाहिये।

नगरके बाहर एक भारी चिता बनायी गयी। नगरके ब्राह्मण, जो राजाके यहाँ भोजन कर चुके थे, उन ब्राह्मणोंके परिवारके लोग, राजसेवक, रानियाँ, अमात्यगण—सब उस जलती चितामें कूद पड़े। यह देखकर राजाको बड़ा दुःख हुआ। उसने सोचा—'यह सब अनर्थ मेरे ही कारण हुआ !' वह भी उसी चितामें कूद पड़ा।

उधर चितामें कूदकर चाण्डाल राजा जला और इधर सरोवरके जलमें डुबकी लगाये ब्राह्मण गाधिकी चेतना लौटी। उन्हें मन्त्र स्मरण हो आया। जप पूरा करके, संध्या-कर्म समाप्त हो जानेपर वे सरोवरसे निकले। उनके मनमें विचित्र विकल्प चल रहे थे—'मैंने यह सब क्या देखा ? क्या मैं जलमें जागते हुए ही स्वप्न देख रहा था ?'

ब्राह्मण गाधिको वनमें कुछ दिन और बीत गये। एक दिन उनके पास उनके पूर्व-परिचित एक ब्राह्मण घूमते हुए आये। गाधिने अतिथिका आदरपूर्वक सत्कार किया। फल-मूलादि देकर उन्हें तृप्त किया। इसके बाद दोनों तपस्वी जब स्वस्थचित्त बैठ गये, तब गाधिने पूछा—'आपका शरीर इतना कृश कैसे हो गया है ?'

अतिथि बोले—'क्या कहूँ, भाई, भाग्यवश घूमते हुए मैं उत्तर दिशामें स्थित कीरदेशमें पहुँच गया था। उस समृद्ध देशके लोगोंने मेरा बड़ा सत्कार किया। वहाँ मैं एक महीने रह गया। वहीं पता लगा कि उस देशमें एक चाण्डाल राजाने आठ वर्षतक राज्य किया। जब भेद खुला, तब देशके सैकड़ों ब्राह्मण अग्निमें जल मरे और वह चाण्डाल भी अग्निमें जल मरा। यह बात सुनकर उस दूषित देशका अन्न खानेसे जो पाप हुआ था, उसका प्रायश्चित्त करने मैं प्रयाग चला आया। प्रयाग-स्नान करके मैंने तीन चान्द्रायण-व्रत किये। तीसरे चान्द्रायणका पारण करके मैं यहाँ आया हूँ, इसीसे मेरा शरीर दुर्बल है।'

गाधि तो चौंक पड़े—'आप ठीक कह रहे हैं ?'

ब्राह्मण बोले—'मैंने कोई बात झूठी नहीं कही है।'

अब गाधिको कहाँ शान्ति मिलती थी। अतिथिके विदा होनेपर दूसरे ही दिन गाधि उस वनको छोड़कर निकल पड़े और अकेले ही घूमते-फिरते, मार्ग पूछते उत्तर दिशामें भूतमण्डल नामके देशमें जा पहुँचे। उस देशमें उन्होंने उस चाण्डाल-ग्रामको ढूँढ़ लिया और उस ग्राममें उस घरको, जिसमें चाण्डाल-रूपसे रहते अपनेको उसने देखा था, शीघ्र पहचान लिया। अब ब्राह्मण गाधिको वे सब स्थान स्मरण आने लगे, सब पहिचाने-से लगने लगे, जहाँ चाण्डाल-देहसे उसने अनेक कार्य किये थे। लोगोंसे पूछनेपर भी उसे कटंज चाण्डालका वही चरित्र सुननेको मिला, जो उसने अनुभव किया था।

उस स्थानमें गाधि पूरे एक महीने रहे। आस-पासके लोगोंसे उन्होंने पूछ-ताछ की; किंतु चाण्डाल-जीवनकी बातोंके सत्य होनेमें कोई संदेहका कारण उन्हें नहीं मिला। वहाँसे वे आगे चले और अनेक कष्ट उठाकर कीरदेश पहुँच गये। कीरदेशकी राजधानी श्रीमतीपुरीमें पहुँचनेपर उन्हें राजभवन, नगर, गलियाँ आदि सब परिचित लगे। वहाँ उन्होंने आठ वर्षतक एक चाण्डालके राज्य करनेकी बात बहुत लोगोंसे सुनी।

'यह सब क्या है ? जलमें मैं दो क्षण डुबकी लगाये रहा और इधर उतने ही कालमें वर्षोंतक चाण्डाल-ग्राममें रहा और आठ वर्ष यहाँ राज्य किया। इन बातोंमें सत्य क्या है ?' ब्राह्मण गाधिका चित्त इस उलझनमें पड़कर अत्यन्त व्याकुल हो गया था।

कीरदेशकी राजधानीसे चलकर गाधि एक पर्वतकी

गुफामें पहुँचे और फिर तपस्या करने लगे। डेढ़ वर्षतक उन्होंने केवल एक चुल्लू पानी प्रतिदिन पिया। उनके तपसे भगवान् नारायणने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया। भगवान्ने गाधिसे कहा—'ब्रह्मन्! तुमने मेरी मायाको देख लिया? तुम जिस संसारको देखते हो, सत्य मानते हो, वह केवल भ्रम है। वह आत्माका मनोभाव—संकल्पमात्र है। भूत, भविष्य, वर्तमानकाल तथा संसारके सब दृश्य चित्तके ही धर्म हैं। यह जगत्-रूपी जाल जब चित्तसे ही प्रकट हुआ है, तब उसमें एक चाण्डाल और प्रकट हो गया—इसमें आश्चर्य क्या है। तुमने जो कुछ देखा, वह सब भ्रमात्मक है और उसके समान ही यह समस्त दृश्य प्रपञ्च भ्रमात्मक है। अब तुम उठो, शान्तचित्तसे अपने नित्य-नैमित्तिक कर्तव्य कर्मको करो।'

ब्राह्मणको आश्वासन देकर उसे यह समझाकर कि 'जैसे बहुत-से लोग समान स्वप्न देखें, वैसे ही सदृश भ्रमके कारण तुमने अपने चाण्डालादि रूप देखे और लोगोंने उन घटनाओंका समर्थन किया। तुम्हारा संकल्प ही सब जगह मूर्त होता रहा।' भगवान् अन्तर्हित हो गये।

ब्राह्मण गाधि उस पर्वतपर रहकर ही भगवान्की आराधना करने लगे।—सु० सिं० (योगवाशिष्ठ)

सर्वत्याग

देवगुरु महर्षि बृहस्पतिके पुत्र कचने युवा होते ही निश्चय किया कि 'प्राणीका पहला कर्तव्य है—जन्म-मरणके पाशसे छुटकारा पा लेना।' वे देवगुरुके पुत्र थे, वेद-वेदाङ्गोंके विद्वान् थे। सात्त्विकता उनकी पैतृक सम्पत्ति थी। उन्हें सद्गुरु ढूँढ़ना नहीं था। पिताकी सेवामें उपस्थित होकर उन्होंने पूछा—'भगवन्! इस संसारसागरसे मैं कैसे पार हो सकता हूँ?'

देवगुरु बोले—'पुत्र! नाना अनर्थरूपी संसारसागरसे जीव सर्वत्यागका आश्रय लेकर अनायास पार हो जाता है।'

पिताका उपदेश सुनकर कचने उन्हें प्रणाम किया और देवलोक त्यागकर वे एक वनमें चले गये। महर्षि बृहस्पतिको इस प्रकार पुत्रके जानेसे न खेद हुआ न शोक और न चिन्ता ही। पुत्र सत्पथपर जाता हो तो विचारवान् पिताको प्रसन्नता ही होती है।

कचको देवलोकसे गये आठ वर्ष बीत गये। उनके चित्तकी क्या दशा है, यह जाननेके लिये महर्षि बृहस्पति उनके तपोवनमें पहुँचे। कचने पिताको प्रणाम किया, उनकी पूजा की और बोले—'भगवन्! सर्वत्याग किये मुझे आठ वर्ष हो गये; किंतु मुझे शान्ति नहीं मिली।'

'पुत्र! सभीका त्याग करो।' केवल इतना कहकर देवगुरु बृहस्पति अदृश्य हो गये। महर्षिके अदृश्य हो जानेपर कचने अपने शरीरपरसे वल्कल उतार दिया। वह दिगम्बर अवधूत बन गया। उसने वह आश्रम छोड़ दिया। अब धूप, शीत या वर्षासे बचनेके लिये वह गुफामें भी नहीं जाता था। एक स्थानपर वह नहीं रहता था। दिगम्बर अवधूत कचका अब न कोई आश्रय था न आश्रम। वह तपस्यासे क्षीणकाय हो गया।

तीन वर्ष और बीत गये। सहसा एक वनमें महर्षि बृहस्पति कचके सामने प्रकट हुए। इस बार उन्होंने पुत्रका आलिङ्गन किया। कचने पितासे कहा—'भगवन्! मैंने आश्रम, वल्कल, कमण्डलु आदि सबका त्याग कर दिया; किंतु आत्मतत्त्वका ज्ञान मुझे अब भी नहीं हुआ।'

बृहस्पतिजी बोले—'पुत्र! चित्त ही सब कुछ है। तुम उस चित्तका ही त्याग करो। चित्तका त्याग ही सर्वत्याग कहा जाता है।'

देवगुरु उपदेश देकर चले गये। कच बैठकर सोचने लगे कि 'चित्त है क्या और उसका त्याग कैसे किया जाय?' बहुत प्रयत्न करनेपर भी जब उन्हें चित्तका पता नहीं लगा, तब वे स्वर्गमें अपने पिताकी सेवामें उपस्थित हुए और वहाँ उन्होंने पूछा—'भगवन्! चित्त क्या है?'

देवगुरुने बतलाया—'आयुष्मन्! अपना अहंकार ही चित्त है। प्राणीमें जो यह देहके प्रति अहंभाव है, यही त्याज्य है।'

कचके सामने एक समस्या आ गयी। उन्होंने फिर पूछा—'इस अहंकारका त्याग कैसे हो सकता है? यह तो असम्भव लगता है।'

देवगुरु हँसकर बोले—'पुत्र! अहंकारका त्याग तो कोमल पुष्पको मसल देनेकी अपेक्षा भी सुगम है। इस त्याग-

में कोई क्लेश है ही नहीं। जो वस्तु अज्ञानसे उत्पन्न होती है, वह ज्ञान होनेपर स्वतः नष्ट हो जाती है। एक ही चेतन सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। उस साक्षीके अपरिचयके कारण देहमें मोहवश अहंभाव हुआ है। अतः साक्षीका परिचय होनेपर यह अहंकार स्वतः नष्ट हो जायगा। जैसे रस्सीमें सर्प प्रतीत होता हो, इसी प्रकार यह समस्त प्रपञ्च एक ही चेतन सत्तामें प्रतीत हो रहा है, वस्तुतः इसकी कोई सत्ता नहीं है। एक, अनादि, अनन्त चैतन्य मात्र ही सत्य है।

'एक ही चिन्मात्र सत्तामें ये दृश्य क्यों हैं, कैसे हैं, इनका क्या स्वरूप है—यह बात अनिर्वचनीय है; क्योंकि जो वस्तु है नहीं, केवल भ्रमसे प्रतीत हो रही है, उसका विवेचन सम्भव नहीं है। इस भ्रममें सदा, सब समय निर्विकार रूपसे जो 'अहं'का ज्ञान है, वह 'अहं' देह नहीं है, मन नहीं है; क्योंकि देहादि तो बदलते हैं, नष्ट होते हैं। 'अहं'का लक्ष्य तो वह देश, काल आदिसे अपरिच्छिन्न, निर्मल, निर्विकार, व्यापक, अद्वय, चिन्मात्र सत्ता ही है।

'देहमें अहंभावको त्यागकर जो सबकी आधारभूत चित्-सत्ता है, ब्रह्म है, वही मैं हूँ—ऐसा निश्चय करो। यह तुम्हारी परिच्छिन्न अहं-भावना तो कोई वस्तु ही नहीं है।' देवगुरुने इस प्रकार अपना उपदेश समाप्त कर दिया।

कचका अन्तःकरण तपस्यासे शुद्ध हो चुका था। पिताके उपदेशको ग्रहण करनेमें उन्हें कठिनाई होनी नहीं थी। उनका ममत्व और अहंकार नष्ट हो गये। वे शुद्ध आत्मतत्त्वमें स्थित हो गये।—सु० सिं० (योगवाशिष्ठ)

साधुताकी कसौटी

देवराज इन्द्र अपनी देवसभामें श्रेणिक नामके राजाके साधु-स्वभावकी प्रशंसा कर रहे थे। उस प्रशंसाको सुनकर एक देवताके मनमें राजाकी परीक्षा लेनेकी इच्छा हुई। देवता पृथ्वीपर आये और राजा जिस मार्गसे नगरमें आ रहे थे बाहरसे घूमकर, उस मार्गमें साधुका वेश बनाकर एक तालाबपर बैठकर मछली मारनेका ढोंग करने लगे।

राजा उधरसे निकले तो साधुको यह विपरीत आचरण करते देख बोले—'अरे! आप यह क्या अपकर्म कर रहे हैं?'

साधुने कहा—'राजन्! मैं धर्म-अधर्मकी बात नहीं जानता। मछली मारकर उन्हें बेचूँगा और प्राप्त धनसे जाड़ोंके लिये एक कम्बल खरीदूँगा।'

'आप कोई जन्म-मरणके चक्रमें भटकनेवाले प्राणियोंमेंसे ही जान पड़ते हैं।' इतना कहकर राजा अपने मार्गसे चले गये।

देवता स्वर्ग लौट आये। पूछनेपर उन्होंने देवराजसे कहा—'सचमुच वह राजा साधु है। समत्वमें उसकी बुद्धि स्थित है। पापी, असदाचारीकी निन्दा करना तथा उससे घृणा करना उसने छोड़ दिया है; इसका अर्थ ही है कि उसे अपने सत्कर्मपर गर्व नहीं है।'

क्रियाहीनं कुसाधुं च दृष्ट्वा चित्ते न यश्चलेत्।
तेषां दृढं तु सम्यक्त्वं धर्मे श्रेणिकभूपवत्॥

—सु० सिं०

सत्संकल्प

उसका नाम श्रुतावती था; वह महर्षि भरद्वाजकी स्नेहमयी कन्या थी, बालब्रह्मचारिणी थी; उसमें यौवन था, रूप और रस था; पर उसका सर्वस्व अपने प्रेमास्पदके चरणोंमें समर्पित था। श्रुतावतीकी तेजस्वितासे महर्षिके आश्रमकी प्रदीप्ति बढ़ गयी।

× × × ×

'तुम धन्य हो, रूपमयि; तुम महर्षिके तप और पुण्यकी स्नेहमयी लावण्याकृति हो।' वशिष्ठने श्रुतावतीको आश्रममें समिधा एकत्र करते हुए देखा। यज्ञकी धूमशिखासे उसके कलेवरकी आभा प्राणमयी हो उठी थी।

'मैं क्या सेवा करूँ महर्षे! मैं अपने आपको छोड़कर अपनी अन्य समस्त वस्तुओंसे आपकी प्रसन्नता-प्राप्तिकी आशा कर सकती हूँ। हृदय मैंने स्वर्गके अधिपति इन्द्रके करकमलोंमें समर्पित कर दिया है; मेरा सत्संकल्प है कि मेरा विवाह उन्हींसे होगा। आज्ञा दीजिये, देव।' श्रुतावतीने विनम्रतापूर्वक नेत्र नीचे कर लिये, वह संकोच और लज्जासे धरतीमें गड़ी जा रही थी।

'मुझे पता है, श्रुतावती! मैं तुम्हारी तपस्याकी शक्ति जानता हूँ, वह शीघ्र ही सफल होगी। भगवान् सर्वेश्वर

तुम्हारी कामना अवश्य पूरी करेंगे। मेरे लिये पाँच बदरीफल पकाकर रख देनेसे ही सेवा हो जायगी।' वशिष्ठने अपना रास्ता लिया।

× × × ×

'सारा दिन बीत गया, आँच भी तेज है; पर ये बदरीफल अभीतक सिद्ध नहीं हो सके। न जाने भाग्यमें क्या लिखा है ?' श्रुतावती विस्मित थी। फिर थोड़ी देर बाद उसने पात्रका ढकना हटाकर फलोंको देखा, पर वे कड़े-के-कड़े थे। सेवामें विघ्न उपस्थित होते देखकर वह चिन्तित हो उठी।

'तप ही भगवान्की पूजा है, तपोबलसे बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ मिलती हैं।' उसने वशिष्ठके इन शब्दोंका स्मरण किया और जब सारा ईंधन जल गया, तब अपने शरीरको आगमें लगा देनेका निश्चय किया। उसे भय था कि कहीं वशिष्ठ शाप दे दें और आराध्य इन्द्र न मिल पायें।

श्रुतावतीने आगमें पैर डाल दिये, वह जलने लगी; उसे ऐसा लगा कि मानो वह हिमकी सरितामें स्नान कर रही है। उद्देश्यकी सिद्धिके लिये तप कर रही थी वह।

× × × ×

'देवि ! मैं प्रसन्न हूँ, मैं तुम्हारी कड़ी-से-कड़ी परीक्षा ले रहा था।' एक दिव्य पुरुषने श्रुतावतीका ध्यान आकृष्ट किया। उनके कानमें दिव्य कुण्डल हिल रहे थे, परिधान दिव्य था, उत्तरीय समीरके मन्द-मन्द कम्पनसे आन्दोलित था।

'अभिवादन स्वीकार कीजिये।' श्रुतावतीने तृप्तिकी साँस ली।

'मैंने वशिष्ठका रूप धारणकर तुम्हें सत्यकी कसौटीपर कसनेका दुस्साहस किया था, क्षमा चाहता हूँ। मैं इन्द्र हूँ, श्रुतावती ! इस शरीरको छोड़कर तुम मेरे लोकमें मेरी पत्नीके रूपमें निवास करोगी।' श्रुतावती अपलक देखती रही उन्हें।

—रा० श्री० (महाभारत० शल्य० अ० ४८)

विचित्र न्याय

कहते हैं कि प्राचीन रोमनिवासियोंके न्यायालयमें न्यायके स्थानपर एक ऐसी स्त्रीकी प्रतिमा बनी रहती थी, जिसकी आँखोंके ऊपर तो कपड़ेकी पट्टी बँधी रहती थी और हाथमें तराजू होता था। इसका अर्थ था कि यदि उसके सामने उसका पिता, पुत्र या पति भी आ जाय तो उसके माप-तौलमें वह न्यूनाधिक कुछ भी न कर सकेगी। इसी तरह न्यायाधीशको भी वहाँ अपने पुत्र, मित्र, शत्रु और मध्यस्थ—सभीको एक प्रकारका उचित न्याय वितरण करना पड़ेगा। (देखिये Youths Noble Path, by F. J. Gould pp. 226)

अन्यान्य देशोंमें यह चाहे जैसा भी रहा हो, पर भारतके प्राचीन इतिहासमें ऐसे न्यायोंकी कमी न थी। राजा दिष्टके पुत्र नाभागने एक वैश्य-कन्यासे शादी कर ली थी। वैश्यने राजासे निवेदन किया कि 'आपके पुत्रने बलपूर्वक मेरी कन्याका अपहरण कर लिया है। आप यथोचित न्याय करें।' राजाने देखा कि उसका पुत्र विद्रोही-सा बन रहा है तो वह एक छोटी-सी टुकड़ी लेकर उसे पकड़ने चल पड़ा। युद्ध हुआ। युद्धमें ऋषियोंने राजासे आकर कहा—'न्यायतः तुम्हारा यह पुत्र वैश्य हो गया; क्योंकि यदि कोई उच्च वर्णका व्यक्ति बिना अपने वर्णकी कन्यासे विवाह किये किसी निम्न वर्णकी कन्यासे विवाह कर लेता है तो वह उसी वर्णका हो जाता है, जिस वर्णकी कन्या होती है। अतएव अब तुम्हारा, जो क्षत्रिय हो, इस वैश्यसे युद्ध न्यायोचित नहीं है।' इसपर युद्ध बंद हो गया।

अब थोड़ी देरमें नाभाग वैश्यका वेष बनाकर राजाके पास उपस्थित हुआ और बोला—'महाराज ! अब मैं न्यायतः आपकी वैश्य जातिकी एक प्रजा हूँ और मुझे उचित आज्ञा प्रदान करें।' तबसे नाभागने कृषि, वाणिज्य, गोपालन आदि वैश्योचित धर्म-कर्मोंको ही अपना लिया। —जा० श०

(Aryan Ancedotes, by R. S. Pandyaji)

विचित्र सहानुभूति

कोसलका राजा ब्रह्मदत्त प्रायः आखेटमें ही रहता था। जब वह शिकारमें निकलता था, तब उसके पीछे-पीछे उसकी बड़ी भारी सेना तथा बहुत-सी प्रजा भी जाती। इस तरह बहुत-से वन्य जन्तुओं एवं मृग, पक्षियोंका भारी संहार प्रतिदिन होता ही रहता था।

उन्हीं दिनों काशीके समीप मृगदाव नामक वन (आधुनिक सारनाथ) में एक नन्दीय नामका मृग अपने माता-पिताके साथ सुखपूर्वक निवास करता था। उसे इस महासंहारसे बड़ा कष्ट हुआ। उसने मृग-जन्तुओंकी एक सभा बुलायी। सबने निर्णय किया कि इममें-से एक मृग

प्रतिदिन राजासे मिलने स्वयं चला जाय। इससे वन्य मृग-पक्षियोंका भयंकर संहार रुक जायगा, साथ ही बहुत कुछ शान्ति भी बनी रहेगी। निवेदित किये जानेपर राजाने भी इस प्रस्तावको स्वीकार कर लिया।

बहुत दिनोंके बाद नन्दीयकी बारी आयी। पर उसकी शान्ति और सौम्यभावने राजाका मन परिवर्तित कर दिया। वह उसके अस्वाभाविक चरित्रसे इतना प्रभावित हुआ कि उसके धनुष-बाण हाथमें ही रह गये, वह उनका संधान ही न कर सका।

नन्दीय बोला—'राजन्! तुम मुझे मारते क्यों नहीं?' राजाने कहा—'मृग! तुममें बहुत-से दिव्य गुण हैं, तुम धर्मात्मा हो; मैं तुम्हें नहीं मार सकता। मैं तुम्हें पूर्ण आयुके उपभोगका सौभाग्य प्रदान करता हूँ।'

'राजन्! क्या तुम अवशेष मृगोंको इसी प्रकार अभय अथवा पूर्णायु-उपभोगका सौभाग्य नहीं प्रदान कर सकते?' मृग बोला।

'मैं अवश्य कर दूँगा'—राजाने कहा।

'और क्या तुम इन हवामें उड़नेवाले पक्षियों तथा जलमें रहनेवाली मछलियोंको भी इस प्रकारका आश्वासन नहीं दे सकते?' मृगने पूछा।

'अवश्यमेव!' राजा बोला।

तदनन्तर उसने दूतोंद्वारा सारे राज्यमें घोषणा करा दी कि अबसे सभी वन्य जन्तु, पक्षी एवं जलचरोंको अभय-दान दिया जा रहा है। कोई भी व्यक्ति इनकी हिंसा न करे।

प्राचीन जातक-कथाएँ बतलाती हैं कि गौतम बुद्धके पूर्वमें सौ अवतार हुए थे। मृगदावका यह नन्दीय मृग भी उन्हींमेंसे एक है।—जा० श०

(जातक भाग ३, कथा ३८५, फ्रांसिस और वेलके अंग्रेजी अनुवादसे)

सदुपदेश

प्राचीन कालमें राजा सर्वमित्रके शासनकालमें महात्मा बुद्ध बोधिसत्त्व-शरीरमें थे। उन्होंने विनम्रता, उदारता, क्षमाशीलता और दान तथा सदाचारके बलपर शक्रपद प्राप्त कर लिया था। वे शक्रपदपर रहकर भी कभी ऐश्वर्य और विषय-सुखमें आसक्त न हो सके। सदा प्राणिमात्रके हितमें ही लगे रहते थे। लोगोंको सद्‌गुण-सम्पन्न देखकर प्रसन्न होते थे।

× × × ×

राजा सर्वमित्रको मदिरा पीनेका व्यसन था। वह अपने तो पीता ही था, दूसरोंको—प्रजा तथा राजकर्मचारियोंको भी पिलाकर हर्षित होता था। उसके मदिरा-पानसे राज्यभरमें अराजकता छा गयी। लोग दुराचारी हो गये, पापकी वृद्धि होने लगी। प्रजाका उत्पीड़न होने लगा। न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म और प्रकाश तथा अन्धकार आदिमें लोगोंकी भेद-बुद्धि समाप्त हो गयी। राजा सर्वमित्रको इन बातोंकी तनिक भी चिन्ता नहीं थी। वह तो राग-रंगमें निमग्न था।

एक समय राजा पान-गृहमें अधिकारियोंके साथ बैठा हुआ था; मदिरापानका क्रम चलनेवाला ही था कि लोग चौंक उठे।

'इस पात्रमें सुरा भरी हुई है। इसका मुख सुगन्धित पुष्पोंसे ढका है; इसे कौन खरीदेगा?' एक ब्राह्मणने राजाके सिंहासनके सामने खड़े होकर घोषणा की। उसका स्वर्ण वर्ण था, जटाएँ धूलिधूसरित और गुँथी हुई थीं, शरीर पर वल्कल और मृगचर्मका परिधान था। उसके बायें हाथमें सुरा-पात्र था।

'आप कोई बहुत बड़े मुनि हैं, आपके नेत्रोंसे चन्द्र-ज्योत्स्नाकी तरह दया उमड़ रही है। अद्‌भुत तेज है आपका!' राजाने उठकर चरणवन्दना की। उपस्थित अधिकारियोंने अभिवादन किया।

'यदि तुम्हें इस लोक और परलोककी चिन्ता न हो, नरक-यातनाका भय न हो तो इसे खरीद लो।' ब्राह्मणके शब्द थे।

'महाराज! आप तो विचित्र ढंगका सौदा कर रहे हैं; सब अपनी वस्तुकी प्रशंसा करते हैं, पर आप अपनी वस्तुके सारे दोष प्रकट कर रहे हैं। कितने सत्यवादी हैं! आप धर्मपर अडिग हैं।' सर्वमित्र आश्चर्यमें पड़ गया।

'सर्वमित्र! न तो इसमें पवित्र फूलोंका मधु है न गङ्गा-जल है, न दूध है और न दही है। इसमें विषमयी मदिरा है। जो पीता है, वह वशमें नहीं रहता। उसे भक्ष्याभक्ष्यका विचार नहीं रहता। राजपथपर लड़खड़ाकर गिर पड़ता है, अपनी की हुई उलटीको आप खाता है, कुत्ते उसका मुख चाटते हैं। इसे खरीद लो; अच्छा अवसर है। इसका पानकर तुम सड़क-पर नंगे होकर नाचोगे; तुम्हें पत्नी और अपनी युवती कन्यामें

भेद नहीं दीख पड़ेगा। इसका पानकर स्त्री अपने धनी-से-धनी पतिको भी वृक्षसे बाँधकर पीटती है। इसका पानकर बड़े-बड़े धनवान् दरिद्र हो गये। राजाओंके राज्य मिट गये। यह अभिशापकी मूर्ति है, पापकी जननी है; यह ऐसे नरकमें ले जाती है, जिसमें रात-दिन अग्नि-ज्वाला धधकती रहती है।' ब्राह्मणने समझाया।

'भला, इसका पान ही कोई क्यों करेगा। आपने अपने सदुपदेशसे मेरी आँखें खोल दीं। आपने मुझे उस तरह शिक्षा दी है जिस तरह पिता पुत्रको, गुरु शिष्यको और मुनि दुखीको सन्मार्गपर ले जाते हैं। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब कभी मदिरा-पान नहीं करूँगा। पुरस्कार-रूपमें आपको अच्छे-अच्छे पाँच गाँव, सौ दासियाँ और अश्वयुक्त दस रथ प्रदान करता हूँ।' सर्वमित्र ब्राह्मणके पैरोंपर गिर पड़ा।

'सर्वमित्र! मुझे तुम्हारी किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है। मेरे पास तो स्वर्गका वैभव है। मुझसे तुम्हारा पतन नहीं देखा गया, इसीलिये ऐसा स्वाँग बनाकर मैंने मदिरा-पानके दोष बताये। मैं इन्द्र-पदपर हूँ।' ब्राह्मण-वेषधारी बोधिसत्त्वने रहस्य स्पष्ट किया। —रा० श्री० (जातकमाला)

सहनशीलता

भगवान् बुद्ध किसी जन्ममें भैंसेकी योनिमें थे। जंगली भैंसा होनेपर भी बोधिसत्त्व अत्यन्त शान्त थे। उनके सीधेपनका लाभ उठाकर एक बंदर उन्हें बहुत तंग करता था। वह कभी उनकी पीठपर चढ़कर कूदता, कभी उनके सींग पकड़कर हिलाता और कभी पूँछ खींचता था। कभी-कभी तो उनकी आँखमें भी अँगुली डाल देता था। परंतु बोधिसत्त्व सदा शान्त ही रहते थे। यह देखकर देवताओंने कहा—'ओ शान्तमूर्ति! इस दुष्ट बंदरको दण्ड देना चाहिये। इसने क्या तुमको खरीद लिया है या तुम इससे डरते हो?'

बोधिसत्त्व बोले—'देवगण! न इस बंदरने मुझे खरीदा है न मैं इससे डरता हूँ। इसकी दुष्टता भी मैं समझता हूँ और केवल सिरके एक झटकेसे अपने सींगद्वारा इसे फाड़ डालने-जितना बल भी मुझमें है। परंतु मैं इसके अपराध क्षमा करता हूँ। अपनेसे बलवान्के अपराध तो सभी विवश होकर सहन करते हैं। सहनशीलता तो वह है जब अपनेसे निर्बलके अपराध सहन किये जायँ।'

—सु० सिं०

धनका सदुपयोग

भगवान् बुद्धके पहले जन्मकी बात है। उस समय वे बोधिसत्त्व अवस्थामें थे। उन्होंने एक समृद्ध घरमें जन्म लिया था। अपनी दानशीलता, उदारता और दरिद्रों तथा भिखारियोंकी अहैतुकी सेवाके लिये वे बहुत प्रसिद्ध थे। वे किसीको दुखी और दरिद्र नहीं देख सकते थे; अपने पास जो कुछ भी था, उसीसे कंगालोंकी सेवा करते थे। उनके लिये यह बात असह्य थी कि कोई दरवाजेपर आकर लौट जाय; इसलिये लोगोंमें बोधिसत्त्व अविषह्य नामसे प्रसिद्ध थे।

एक दिन प्रातःकाल शय्यासे उठनेपर उन्होंने देखा कि घरकी समस्त वस्तुएँ चोरी चली गयी हैं; नाममात्रको भी चोरने कुछ नहीं छोड़ा है। धनमें उनकी आसक्ति—ममता तो थी नहीं, इसलिये चोरीसे वे संतप्त नहीं हो सके; पर बार-बार यह सोचकर दुखी होने लगे कि जिस घरसे आजतक कोई भी व्यक्ति खाली हाथ नहीं गया, उसीसे भिक्षु और कंगाल लोग भूखे-प्यासे और अतृप्त चले जायँगे। अविषह्य इस प्रकार सोच ही रहे थे कि उनके नेत्रोंमें नया प्रकाश आ गया, वे हर्षसे नाच उठे। चोरोंने शेष सामानमें एक हँसुआ और रस्सीकी गेंडुल छोड़ी थी। अविषह्यने तत्काल कहा कि सेवाका साधन मिल गया। अब मेरे दरवाजेसे कोई नहीं लौटने पायेगा। निर्धनतामें भी अविषह्यने पवित्र कार्य-सम्पादनका उपाय सोच लिया।

वे दिन भर उसी हँसियेसे घास काटते थे और शाम होनेपर सिरपर गेंडुल रखकर घासका बोझा लादकर बाजारमें बेचा करते थे। परिश्रमसे जो कुछ भी पाते थे, उसका भिखमंगों और असहायोंकी सेवामें सदुपयोग करते थे। कभी-कभी तो ऐसा भी होता था कि स्वयं भूखे रहकर दूसरोंकी आवश्यकता पूरी कर देते थे।

× × ×

'तुम्हारा धन चोरीमें नहीं गया। तुम्हारी उदारता, दानशीलता और सेवावृत्तिसे उसका अभाव हो चला है। मैं

तुम्हें सावधान करता हूँ कि इस गरीबीमें भी जो कुछ भी पैदा कर लेते हो, उसे आगेके लिये बचाकर रख दो। सब दिन समान नहीं जाते। कण-कण जोड़नेसे पहाड़ खड़ा हो जाता है।' एक दिव्य पुरुषने अविषह्यको चेतावनी दी।

'आर्य अनार्य-पथपर कभी पैर नहीं रखते। जिस धनको बटोरनेमें मुझे कंजूसकी तरह रहना पड़े, वह मुझे नहीं चाहिये। चाहे मुझे स्वर्गके ही ऐश्वर्य क्यों न मिलें; मैं दान-व्रतका त्याग नहीं कर सकता। धन आता है, चला जाता है, वह अनित्य है; पर दान आदि सेवोपयोगी सद्गुण बार-बार नहीं मिला करते। उनके सहारे अपने जीवनको समृद्ध करना ही आर्यपुरुषका श्रेष्ठ आचरण है; वे नित्य दिव्य सम्पत्ति हैं; मैं उनका परित्याग किसी भी मूल्यपर नहीं कर सकता।' अविषह्यने दिव्यपुरुषसे निवेदन किया।

'तुम धनियोंके योग्य बातें करते हो। तुम तो बड़े गरीब हो; दान देते-देते सब कुछ खो बैठे। जिनके पास खजाने हैं, असंख्य दास-दासियाँ हैं, उनके लिये दानशीलता अलंकार है। तुम्हें तो चाहिये कि परिश्रमसे अर्जित धनका थोड़ा-सा अंश कभी-कभी उत्सव आदिमें मित्रोंको बुलाकर व्यय कर दो; इससे नाम बढ़ेगा, कीर्ति अमर होगी। दान-वृत्तिका परित्याग ही तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है। जब तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है, उस समय यदि दान नहीं दोगे तो क्या बिगड़ जायगा।' दिव्य पुरुषने अविषह्यकी परीक्षा ली।

'आपका ऐसा आग्रह अनुचित है। दूसरोंके हितकी अपेक्षा अपने स्वार्थकी ओर ध्यान देनेवालोंको भी दान और असहायोंकी सेवामें लगे रहना चाहिये। जो दूसरेके दुःखमें अपने आप तकका दान कर सकता है, उसके लिये स्वर्गका राज्य भी बेकार है। धनकी तरह यह जीवन भी क्षणभङ्गुर है। मैं आर्यपथसे कभी विचलित नहीं हो सकूँगा। यदि मेरी पूर्वस्थिति लौट आयेगी तो दीन-दुखियोंकी प्रसन्नता सीमातीत हो उठेगी। इस असहाय अवस्थामें तो मेरा सर्वस्व उनके लिये है ही।' अविषह्यने दृढ़तासे कहा।

'तुम धन्य हो! धन्य हो!! समस्त संसार स्वार्थ और ममतासे अंधा होकर धन बटोरता है, अपने सुखके लिये दूसरोंको दुःख देता है; पर तुम धनका परित्याग करके भी सेवा और दीन-दुखियोंकी सहायतामें रत हो। मैं परीक्षा ले रहा था, मैंने ही तुम्हारा धन छिपा दिया है; वह तुम्हें फिर दे रहा हूँ, धनका सदुपयोग तुम कर सकते हो।' शक्र (इन्द्र) ने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया, फिर अदृश्य हो गये। —रा० श्री० (जातकमाला)

ब्राह्मण

श्रीसङ्ग्रामजीको तप करते कितने दिन बीत गये। स्त्री, पुत्र एवं जगत्की किसी भी वस्तुके प्रति उनके मनमें आसक्ति नहीं रह गयी थी। ममताके बन्धन छिन्न हो चुके थे। अखण्ड ब्रह्मचर्य उनका व्रत था। शाश्वत शान्तिके पथिकके अडिग मनमें कभी कोई विकार नहीं उत्पन्न हो पाता। पर भगवान् तथागतके दर्शन किये कितने दिन बीत गये थे। उनका मन रह-रहकर भगवान्के चरणोंका चिन्तन करता रहता। उन्होंने सुना 'भगवान् इस समय श्रावस्तीमें अनाथ पिण्डकके जेतवनमें विहार कर रहे हैं।' वे भगवान्के दर्शनार्थ चल पड़े।

श्रीसङ्ग्रामजी भगवान्के समीप कुछ दूरीपर एक सघन वृक्षकी शीतल छायामें विश्राम कर रहे थे।

'हे श्रमण!' उनकी पहली स्त्रीको उनके आनेका समाचार मिल गया था। चरणोंमें मस्तक रखकर उसने निवेदन किया 'मैं पुत्रवती हूँ। मेरी गोदमें आपका पुत्र है। आप मेरा पालन करें।'

सङ्ग्रामजीके नेत्र बंद हो गये। कोई उत्तर नहीं पाकर पत्नीने पुनः विनीत प्रार्थना की—'मैं आपकी पत्नी हूँ। यह पुत्र आपका है। आपके बिना मैं असहाय हो गयी हूँ। आप मुझपर कृपा करके मेरा और इस बालकका पालन करें।'

साधक जडकी भाँति निश्चल था। पत्नीने अधीर होकर कुछ रोषसे अपना बच्चा वहीं धरतीपर रख दिया और कहा—'इस अबोध बालकके लालन-पालनके लिये मैं क्या करूँ! आप मेरी चिन्ता भले नहीं करें, किंतु इस शिशुका जैसे बने, ध्यान रक्खें। मैं चली।'

स्त्री चल पड़ी। दूर चली गयी। पर, उसके प्राण संतानके पास थे। हृदय-खण्डको वह कैसे पृथक् कर सकती थी। दूरसे वृक्षकी ओटसे उसने देखा, पति पाषाण-प्रतिमाकी भाँति अचल था; उसने पुत्रकी ओर देखा भी नहीं। अन्ततः उसे निश्चय हो गया—'अब इनके मनमें मेरे तथा पुत्रके लिये ममताकी छाया भी नहीं रह गयी।'

स्त्री लौटी और शिशुको अङ्कमें लेकर चल पड़ी।

स्त्रीकी यह दशा सर्वज्ञ प्रभुकी दृष्टिसे छिपी नहीं थी। उनके मुँहसे निकल पड़ा—'उसके आनेसे न उसे हर्ष होता है और न चले जानेसे विषाद। आसक्तिसे सर्वथा रहित है ब्राह्मण सञ्जामजी।'—शि० दु०

अग्नि-परीक्षा

'कौन जाग रहा है ?' शकारि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकी नींद टूट गयी। राजभवनमें दीप टिम-टिमा रहा था; हसन्तिका (अँगीठी) जल रही थी। हेमन्तकालीन शीत अपने पूर्ण यौवनपर था। रात आधीसे अधिक बीत चुकी थी। प्रहरी सो गये थे।

'आपका सेवक।' मातृगुप्तने शयनगृहमें प्रवेशकर दीप-बत्ती प्रज्वलित कर दी। वह शीतसे काँप रहा था। देहपर एक मैला-कुचैला वस्त्र था, ओठ फट गये थे ठंडसे। मुखपर चिन्ताके बादल थे। नींदसे परित्यक्त था वह अभागा और सत्पात्रको दी गयी पृथ्वीके समान रात समाप्त होना जानती ही नहीं थी। शयनगृहका पट बंदकर वह पहरेपर आ गया।

सम्राट्का हृदय द्रवित हो गया। मातृगुप्त उच्च कोटिका कवि था। वह अनेक राजाओं और सामन्तोंद्वारा सम्मानित था, पर अपनी योग्यताका प्रमाणपत्र वह कान्यकुब्जेश्वर चन्द्रगुप्तसे पाना चाहता था। महाराजने सदा उसके प्रति उपेक्षा दिखायी, पर वह विचलित नहीं हो सका; वह जानता था कि सम्राट् उच्च कोटिके साहित्य-मर्मज्ञ और व्यवहार-कुशल शासक हैं, वे किसी-न-किसी दिन मेरी सेवासे प्रसन्न होकर मुझे पुरस्कृत अवश्य करेंगे। वह इस प्रकार सोच ही रहा था कि महाराजने शयनकक्षसे बाहर आकर एक भोजपत्र दिया।

'यह पढ़ा नहीं जायेगा, शपथ है। इसे काश्मीरका मन्त्रिमण्डल ही पढ़ सकता है।' सम्राट्ने काश्मीर जानेका आदेश दिया।

× × ×

काश्मीरराज्यकी सीमामें प्रवेश करते ही उसे पता चला कि मन्त्रिमण्डल कांबुक घाटीमें किसी आवश्यक कार्यसे उपस्थित है। वह भूख-प्याससे परिश्रान्त होकर कांबुक पहुँच गया और राजमुद्राङ्कित पत्र मन्त्रिमण्डलके सामने रख दिया।

'क्या मातृगुप्त आप ही हैं ?' मन्त्रियोंके मुखसे अपना नाम सुनकर कवि आश्चर्य-चकित हो गया। मन्त्रियोंने कहा कि सम्राट्का एक दूत आपसे पहले आ गया है; हमलोग आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने राजसिंहासनकी ओर संकेत किया।

'पधारिये, काश्मीरका राजसिंहासन सम्राट्ने आपको सौंपा है। वे आपकी सच्ची सेवा और निष्कपटतासे बहुत प्रसन्न हैं।' मन्त्रियोंने वैदिक विधिसे काश्मीरके धर्मसिंहासनपर मातृगुप्तका राज्याभिषेक किया।

मातृगुप्तने सम्राट् विक्रमादित्यके पास आभार-पत्र भेजा, जिसका आशय यह था—'आप आकारसे तथा गर्वयुक्त भाषणसे दानकी इच्छा प्रकट किये बिना ही दे दिया करते हैं। शब्दरहित मेघके द्वारा की गयी वृष्टिके समान आपकी प्रसन्नता फलसे ही गिनी जाती है।' मातृगुप्तने अग्नि-परीक्षामें सफलता प्राप्त की।—रा० श्री० (राजतरङ्गिणी)

सच्ची माँग

'सिन्धुका वेग बढ़ रहा है, महाराज! सेनाका पार उतरना कठिन ही है।' सेनापतिने काश्मीरनरेश ललितादित्यका अभिवादन किया।

'पर हमें पञ्चनद देशमें अपना बल बढ़ाना ही है। काश्मीरके धर्मसिंहासनका व्रत पूरा ही करना है कि आसेतु-हिमाचल प्रदेशमें धर्मकी भावना जाग्रत् हो, जनता सत्यका पालन करे और सर्वत्र न्यायकी विजय हो। इसी कार्यके लिये हम काश्मीरसे इतनी दूर आ गये हैं।' महाराज ललितादित्य शिबिरसे बाहर निकलकर सिन्धुके तटपर टहलने लगे। पटह-ध्वनिसे आकाश गूँज उठा, सैनिकोंने अपने नरेशके प्रति सम्मान प्रकट किया।

× × × ×

'आपके सत्कार्यमें विलम्ब नहीं होगा, महाराज! मैंने आजीवन आपका नमक खाया है। काश्मीरकी सेना सिन्धु

नदीको पार करेगी ही ।' महामन्त्री चिंकुणके शब्दोंसे ललितादित्यके ललाट-देशका पसीना सूख गया । वे आश्वस्त थे।

'प्रकृतिपर विजय करना हमारे वशकी बात नहीं है, चिंकुण ! सिन्धुकी उमड़ती जलधारामें हमारे सैनिकोंका पता-तक न लगेगा ।' महाराज ललितादित्यका संशय था ।

'आइये, महाराज !' चिंकुणने सैनिक बेड़ेपर महाराज ललितादित्यसे आसन ग्रहण करनेकी प्रार्थना की । वे मध्य धारामें पहुँच गये । चिंकुणने मध्यधारामें एक परम दीप्तिमयी मणि डाल दी । मणिके स्पर्शसे अथाह जल दो भागोंमें बट गया । सरिताका वेग नियन्त्रित होनेपर सेना पार उतर गयी। महाराज प्रसन्न थे ।

'और यह दूसरी मणि है ।' चिंकुणने मध्यधारामें उसे डाल दिया और उसकी सहायतासे पहली मणि निकाल ली । सिन्धुका प्रवाह पहले-जैसा हो गया । ललितादित्य आश्चर्यचकित थे ।

'आजतक मैंने पृथ्वीपर भगवान्‌को छोड़कर किसी दूसरेसे याचना नहीं की । दोनों मणियाँ मुझे दे दो, चिंकुण ।' महाराजके इन शब्दोंसे महामन्त्रीके रोंगटे खड़े हो गये ।

'राजकोषमें असंख्य रत्न हैं, देव ! उसमें इन्हें महत्त्व ही क्या मिलेगा ? मेरे-जैसे साधारण व्यक्तिके पास रहनेसे ही इनका मूल्य आँका जा सकता है । चन्द्रकान्त-मणि जब-तक समुद्रसे दूर है, तबतक उसके झरनेका महत्त्व है, रत्नाकर-में विलीन होनेपर उसकी कीमत घट जाती है ।' चिंकुणका निवेदन था ।

'यदि तुम यह समझते हो कि मेरे पास इन मणियोंसे भी उत्कृष्ट कोई वस्तु है तो उसके बदले इन्हें दे दो।' ललितादित्यने मन्त्रीको अभय दिया ।

'महाराज ! मैं आपके पवित्र आदेशसे धन्य हो गया। मुझे भगवान् बुद्धकी वह प्रतिमा दे दी जाय, जिसको मगध-नरेशने आपके पास उपहारस्वरूप भेजा है । भवसागरसे पार उतरनेके लिये वही मेरा परम प्रिय साधन है । लौकिक जलसंतरणमें सहायक इन मणियोंकी शोभा आपके ही राजकोषमें बढ़ेगी ।' महामन्त्रीने प्रार्थना की ।

'सच्ची माँग तो यही है, चिंकुण । सत्य वस्तुकी प्राप्ति-की योग्यता तो तुममें ही है । तुम जीत गये ।' महाराजने पराजय स्वीकार की । चिंकुणको वैराग्य हो गया। भगवान् बुद्धकी प्रतिमा लेकर उन्होंने अपनी जन्मभूमि तुषारदेशकी ओर प्रस्थान किया ।— रा० श्री० (राजतरङ्गिणी)

आत्मदान

'महाराजा मेघवाहनके धार्मिक शासनमें भी असहाय और निरपराधका वध हो—यह तो घोर लज्जाकी बात है; मुझे बचाओ, मेरे प्राण जा रहे हैं ।' वनके मध्यभागमें इन शब्दों-को सुनकर काश्मीर-नरेश मेघवाहनने रथ रोक दिया; सेना आगे निकल गयी । महाराज समुद्र-बेलावनमें दिग्विजय करते-करते पहुँच गये थे । वे रथसे उतर पड़े और नंगी तलवार लेकर वनके सघन अन्तरालमें जा पहुँचे । वे चौंक पड़े ।

'मुझे बचाइये, भद्रपुरुष । यह शबर-सेनापति मेरा वध करनेको उद्यत है । इस संसारमें मेरा कोई भी सहायक नहीं रह गया है ।' वध्य पुरुष चण्डिकाकी प्रतिमाके सामने नतमस्तक था; शबर-सेनापतिके हाथमें नंगी तलवार थी, वह वध करने ही जा रहा था ।

'तुम्हारे प्राण सुरक्षित हैं, चिन्ता मत करो ।' महाराजने आश्वासन दिया ।

'पर मैं इसे नहीं छोड़ सकता । मेरा पुत्र सांघातिक रोगसे पीड़ित है । वह मरणासन्न है । इसके बचनेका उपाय देवताओंने मनुष्यका बलिदान बताया है । आप मेरे पुण्य-कर्ममें विघ्न मत डालिये ।' शबर-सेनापतिने विवशता प्रकट की ।

'असहाय प्राणीका वध करना महापाप है; धिक्कार है तुम्हें । स्वार्थमें अंधे होकर लोग इस प्रकारके पापकार्य-में लग सकते हैं, इसका पता मुझे आज चला ।' महाराज चिन्तित थे ।

'देव ! यदि असहाय पुरुषकी प्राण-रक्षामें आप इस तरह तत्पर हैं तो मेरे बालकने क्या बिगाड़ा है ? यह वध्य पुरुष तो अपने परिवारमें अकेला है, मेरे परिवारके अनेक प्राणियोंका जीवन इस बालककी प्राण-रक्षापर निर्भर है।' शबर-सेनापति अपने बालकके प्राणोंकी भिक्षा माँगने लगा ।

महाराज मेघवाहन दोनोंकी परिस्थितिपर विचार करने लगे । वे वध्यकी करुणा और वधिककी विवशतासे अभिभूत होकर अपनी तलवारकी ओर देखने लगे । ×

× × ×

'तुम निःशङ्क होकर मुझपर खड्गसे प्रहार करो। मेरे प्राण-दानसे असहाय वध्य और तुम्हारे बालक—दो प्राणियोंकी रक्षा हो जायगी। दोनोंकी प्राण-रक्षा मेरा धर्म है, कर्तव्य है।' महाराज मेघवाहन चण्डिकाकी प्रतिमाके सामने नत हो गये। शबर-सेनापति काँपने लगा।

'महाराज! आपके द्वारा असंख्य प्राणियोंके प्राण सुरक्षित हैं। आप विशेष दयाके आवेशमें ही ऐसा कार्य करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। आप सोच लीजिये। आपका शरीर तो अनेक प्राणियोंका प्राण-दान करके भी सर्वथा रक्षणीय हैं, यह अमूल्य है आप सर्वदेवमय भगवान्‌के अंश हैं, पृथ्वीपर उनके प्रतिनिधि हैं। राजालोग अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये धन, धर्म, परिवार—किसीकी भी चिन्ता नहीं करते।' शबर-सेनापतिने असहाय पुरुषके वधपर जोर दिया।

'शबर! तुम अपनी दृष्टिसे ठीक ही कहते हो। जिस प्रकार मरुदेशवासी गङ्गाजलके निर्मल स्वाद और स्नानके सुखको नहीं जानते, उसी प्रकार तुम वनचरोंको सदाचार-रूपी अमृतके स्वादका पता नहीं लग सकता। मैं अपने नश्वर शरीरसे अमर यश खरीद रहा हूँ, तुम दुराग्रह मत करो। तुम यदि मेरा वध नहीं कर सकते तो मैं अपनी तलवारसे ही उसका सम्पादन करता हूँ। मेरे आत्मदानसे भगवती प्रसन्न होंगी। दोनों प्राणियोंको जीवन मिलेगा।' महाराज आत्मबलिदान करने ही जा रहे थे कि उन्होंने अपने सामने एक दिव्य पुरुषको देखा। शबर-सेनापति, चण्डिकाकी मूर्ति, अवध्य पुरुष और रुग्ण बालक—सब-के-सब अदृश्य हो गये।

'मैं आपके अहिंसा-व्रत और प्रजा-पालनकी परीक्षा ले रहा था। आप धन्य हैं।' वरुणदेव अपना परिचय देकर अन्तर्धान हो गये।—रा० श्री० (राजतरङ्गिणी)

'जाको राखै साइयाँ, मारि सकै ना कोय'

गौड़ेश्वर वत्सराजका मन राजा मुञ्जके आदेश-पालन और स्वकर्तव्य-निर्णयके बीच झूल रहा था। वह जानता था कि यदि राजा मुञ्ज भोजका खूनसे लथपथ सिर न देखेगा तो मुझे जीवित नहीं छोड़ेगा। वह इसी उधेड़-बुनमें था कि सूर्यास्त हो गया। पश्चिमकी लालिमामें उसकी नंगी तलवार चमक उठी, मानो वह भोजके खूनकी प्यासी हो।

भुवनेश्वरी-वनके मध्यमें वत्सराजने रथ रोक दिया और भोजको राजादेश सुनाया कि मुञ्ज राजसिंहासनका पूरा अधिकार-भोग चाहता है; उसने तुम्हारे वधकी आज्ञा दी है।

'तुमको राजाकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। भगवान् श्रीरामने वनवासका क्लेश सहा; समस्त यादवकुलका निधन हो गया। नलको राज्यसे च्युत होना पड़ा। सब कालके अधीन है।' कुमार भोजने अपने खूनसे वटपत्रपर एक श्लोक लिखा मुञ्जके लिये।

वनकी नीरवतामें काली रात भयानक हो उठी। वत्सराजके हाथमें लपलपाती-सी नंगी तलवार ऐसी लगती थी मानो निरपराधीके खूनसे नहानेमें मृत्यु सहम रही हो। वत्सराजके हाथसे तलवार गिर पड़ी, वह सिहर उठा।

'मैं भी मनुष्य हूँ, मेरा हृदय भी सुख-दुःखका अनुभव करता है।' उसने कुमारको अपनी गोदमें उठा लिया। उसके नेत्रोंसे अश्रु-कण झरने लगे। अँधेरा बढ़ता गया।

× × × ×

'उसने मरते समय कुछ कहा भी था?' टिमटिमाते दीपके मन्द प्रकाशमें खूनसे लथपथ सिर देखकर सहम उठा मुञ्ज। 'हाँ, महाराज!' वत्सराजने पत्र हाथमें रख दिया। 'उसने ठीक ही लिखा है—

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते
नैकेनापि समं गता वसुमती मुञ्ज त्वया यास्यति॥

कितना बड़ा महापाप कर डाला मैंने। मैं स्वर्गीय महाराज सिन्धुको क्या उत्तर दूँगा, जिन्होंने पाँच वर्षके अल्पवयस्क कुमारको मेरी गोदमें रख दिया था? मैंने विधवा सावित्रीकी ममता—मातृत्वकी हत्या कर दी।' मुञ्ज रोने लगा।

राजप्रासादमें हाहाकार मच गया। बुद्धिसागर मन्त्रीने राजाके शयन-गृहमें किसीके भी जानेकी मनाही कर दी और खिन्न होकर शयन-गृहसे सटे सभा-भवनमें बैठ गया। वत्सराजने उसके कानमें कहा कि 'भोज जीवित हैं, मैंने नकली सिर दिखाया है।' वह राजभवनसे बाहर हो

गया । राजाने रातमें ही अग्नि-प्रवेश करना चाहा ।

× × × ×

सारी-की-सारी धारा नगरी शोकसागरमें निमग्न थी । रात धीरे-धीरे अपनी भयानकता फैला रही थी । सभाभवनमें एक कापालिकने आकर बुद्धिसागरसे निवेदन किया कि मैं मरे हुए व्यक्तिको जिला सकता हूँ । कटे हुए सिरको धड़से जोड़कर प्राण-संचार कर सकता हूँ । राजा मुञ्ज कापालिककी घोषणा सुनकर सभा-भवनमें आया । 'महाराज ! मैंने महापाप किया है । उसके प्रायश्चित्तके लिये मैंने ब्राह्मणोंकी सम्मतिसे अग्निमें प्रवेश करनेका निश्चय किया है। मेरे प्राण कुछ ही क्षणोंके लिये इस शरीरमें हैं । आप कुमारको जीवन-दान दीजिये ।' मुञ्जने खूनसे रँगा सिर कापालिकके हाथमें रख दिया । बुद्धिसागर कापालिकके साथ तत्क्षण श्मशानमें गया ।

× × × ×

दूसरे दिन सबेरे धारा नगरीमें प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी । 'कुमार भोजको कापालिकने प्राण-दान किया ।' यही बात प्रत्येक व्यक्तिकी जीभपर थी । राजा मुञ्जने राजसिंहासन भोजको सौंप दिया तथा स्वयं तप करनेके लिये वनकी राह पकड़ी । —रा० श्री० (भोजप्रबन्ध)

गुणग्राहकता

मालवेश्वर भोजको राजसिंहासनपर बैठे कुछ ही दिन हुए थे । एक दिन प्रातःकाल वे अपने रथपर समासीन होकर राजकीय उद्यानकी ओर क्रीड़ाके लिये जा रहे थे । सूर्यकी सुनहली किरणें पृथ्वीपर अपनी आभा फैला रही थीं । धारापतिका रथ बड़ी तेजीसे राजपथपर बढ़ा जा रहा था । सहसा महाराज भोजने रथ रोकनेका आदेश दिया । वे रथसे उतर पड़े एक ब्राह्मण देवताको देखकर । ब्राह्मणका नाम गोविन्द था । वह देखनेमें मनीषी और कुलीन लगता था । महाराज भोजने सादर अभिवादन किया, ब्राह्मणने दोनों नेत्र मूँद लिये । राजा भोज उसके इस आचरणसे विस्मयमें पड़ गये ।

'न तो आपने स्वस्ति-वचन किया और न आशीर्वाद ही दिया । आपने मुझे देखते ही दोनों नेत्र बंद कर लिये । कारण बतानेकी कृपा कर सकते हैं ?' महाराज भोजने बड़े आदरसे जिज्ञासा प्रकट की ।

'आप वैष्णव हैं, आप अनजानमें भी दूसरोंको पीड़ा नहीं पहुँचा सकते हैं, न ब्राह्मणोंके प्रति उत्पात कर सकते हैं; इसलिये मुझे आपसे भय नहीं है । आप किसीको कुछ दान भी नहीं देते, लोकोक्ति है कि सबेरे-सबेरे कृपणका मुख देखकर नेत्र बंद कर लेने चाहिये । अप्रगल्भकी विद्या, कृपणका धन और कायरका बाहुबल—ये तीनों पृथ्वीपर व्यर्थ हैं । राजाके पास सम्पत्ति भले न हो; पर यदि वह गुणग्राही है तो सेव्य है । दधीचि, शिबि और कर्ण आदि स्वर्ग जानेपर भी अपने दानके बलपर पृथ्वीपर अमर हैं; लोग उनका यश गाते हैं, उनकी उदारता और दानशीलताकी प्रशंसा करते हैं । महाराज ! यह देह नश्वर है, अनित्य है; इसलिये कीर्ति ही उपार्जनीय है ।' गोविन्दने महाराज भोजसे अत्यन्त खरा सत्य कहा ।

'मैंने आपके वचनामृतसे परम तृप्ति पायी है । आपने अत्यन्त कोमल ढंगसे मेरे हितकी बात कही है । संसारमें प्रशंसा करनेवाले तो अनेक लोग मिलते हैं; पर आप-जैसे मनीषी और हितैषी कम ही दीख पड़ते हैं । आपने मेरे हितकी बात कहकर मेरी आँखें खोल दी हैं । आपने मेरा बड़ा उपकार किया है; वास्तवमें ऐसी औषध नहीं मिलती है, जो हितकर और साथ-ही-साथ स्वादयुक्त भी हो । आपने मेरी दान-वृत्ति जगाकर मुझे नरकमें जानेसे बचा लिया ।' राजा भोजने ब्राह्मणकी सत्कथन-प्रवृत्तिकी सराहना की तथा एक लाख रुपयेसे पुरस्कृत किया । उसके लिये राजप्रासादके दरवाजे सदाके लिये खोल दिये गये । —रा० श्री० (भोजप्रबन्ध)

धनी कौन ?

मध्याह्न वेला । भिक्षु भिक्षा कर चुके थे । जेतवनमें विश्राम करते हुए एकने कहा—'मगधराज सेनिय बिम्बसार राज्य एवं सम्पत्तिकी दृष्टिसे बड़ा है ।'

'नहीं !' दूसरे भिक्षुने बात काटकर कहा—'कोसलराज प्रसेनजित् बड़ा है ।'

'तुम्हें पता नहीं' ! पहले भिक्षुने अपनी बातका समर्थन किया । 'महाराज सेनिय बिम्बसारके राज्यकोषकी तुलना कोसलराजसे कैसे हो सकती है ।'

'प्रसेनजित्के वैभवसे महाराज सेनिय बिम्बसारकी तुलना नहीं।' दूसरे भिक्षुने चटसे उत्तर दिया 'और.........'

'क्या बात हो रही है ?' भगवान् आ निकले। दूसरे भिक्षुका मुँह खुला-का-खुला ही रह गया। प्रथम भिक्षु भी मौन था।

'महाराज सेनिय बिम्बसार और कोसलराज प्रसेनजित्में राज्य, धन एवं वैभवकी दृष्टिसे कौन बड़ा है ? इसीपर चर्चा हो रही थी।' तीसरे भिक्षुने भगवान्को आसन देकर अत्यन्त विनीत वाणीमें कहा।

'भिक्षुओ !' प्रभु बोले—'प्रव्रजित होनेके बाद सांसारिक चर्चा ही उचित नहीं। तुम्हें बोलना हो तो केवल धार्मिक चर्चा करो, अन्यथा मौन रहो।'

कुछ क्षणोंके अनन्तर भगवान्ने पुनः कहा—'तृष्णा-क्षयके दिव्य सुखकी तुलनामें सांसारिक काम-सुख धूलिके तुल्य हैं।' —शि० दु०

'युक्ताहारविहारस्य........योगो भवति दुःखहा।'

अपनी प्रियपत्नी यशोधराको, नवजातपुत्र राहुलको, स्नेहमूर्ति पिता महाराज शुद्धोदनको तथा वैभवसम्पन्न राज्यको ठुकराकर युवावस्थामें ही गौतम घरसे निकले थे। केवल तर्कपूर्ण बौद्धिक ज्ञान उन्हें कैसे संतुष्ट कर सकता था। उन्हें तो रोगपर, बुढ़ापेपर और मृत्युपर विजय पानी थी। उन्हें शाश्वत जीवन—अमरत्व अभीष्ट था। प्रख्यात विद्वानों, उद्भट शास्त्रज्ञोंके समीप वे गये; किंतु वहाँ उनका संतोष नहीं हुआ—हो नहीं सकता था। आश्रमोंसे, विद्वानोंसे निराश होकर वे गयाके समीप वनमें आये और तपस्या करने लगे।

जाड़ा, गरमी और वर्षामें भी गौतम वृक्षके नीचे नग्न अपनी वेदिकापर स्थिर बैठे रहे। उन्होंने सब प्रकारका आहार बंद कर दिया था। दीर्घकालीन तपस्याके कारण उनके शरीरका मांस और रक्त सूख गया। केवल हड्डियाँ, नसें और चमड़ा शेष रहा।

गौतमका धैर्य अविचल था। कष्ट क्या है, इसे वे अनुभव ही नहीं करते थे; किंतु उन्हें अपना अभीष्ट प्राप्त नहीं हो रहा था। तपस्यासे ज्ञान नहीं हुआ करता। उससे सिद्धियाँ मिलती हैं। एक सच्चे साधक, सच्चे मुमुक्षुके लिये सिद्धियाँ बाधक हैं, मारके प्रलोभन हैं। गौतमने उन सब प्रलोभनोंपर विजय प्राप्त कर ली थी।

एक दिन जहाँ गौतम तपस्या कर रहे थे, उस स्थानके समीपके मार्गसे कुछ गायिकाएँ निकलीं। वे किसी नगरके उत्सवमें भाग लेकर अपने घर लौट रही थीं। मार्गमें भी वे गाती, बाजे बजाती, नाचती, आमोद-प्रमोद करती जा रही थीं। वे जब गौतमकी तपोभूमिके पाससे निकलीं, तब एक गीत गा रही थीं। उस गीतका भाव यह था—'सितारके तारोंको ढीला मत छोड़ो। ढीला छोड़नेसे वे सुस्वर नहीं उत्पन्न करेंगे। परंतु उन्हें इतना खींचो भी मत कि वे टूट जायँ।'

गौतमके कानोंमें वह संगीत-ध्वनि पड़ी। उनकी प्रज्ञामें सहसा प्रकाश आ गया। साधनाके लिये घोर तपस्याका मार्ग उपयुक्त नहीं। संयमित भोजन तथा नियमित निद्रादि व्यवहार ही उपयुक्त हैं। यह मध्यममार्ग उनको स्पष्ट सूझ गया। उसी समय उन्होंने अपना आसन छोड़ दिया और नदीकी ओर चल पड़े।—सु० सिं०

अपनी खोज

सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करनेके बाद भगवान् बुद्ध वाराणसी चले आये। मृगदाव ऋषिपत्तनमें पञ्चवर्गीय शिष्योंको सम्बुद्ध-कर उन्होंने चारिका-विचरणके लिये उरुवल वनमें प्रवेश किया और एक घने वृक्षकी छायामें पद्मासन लगाकर बैठ गये।

× × × ×

'वह इधर ही गयी होगी। कितनी नीच है वह !' किसीने अत्यन्त उद्वेगभरे स्वरमें चिन्ता प्रकट की।

'पर वह इस वन-खण्डसे भागकर जायगी कहाँ। कितने अमूल्य थे हमारे रत्नाभरण।' दूसरेने एक वृक्षकी छायामें ठहरकर संतोषकी साँस ली। दूसरे साथी आ गये।

'हम उसके लिये उरुबलका एक-एक कोना छान मारेंगे। वेश्याका विश्वास करनेवाला धोखा खाता ही है।' लोगोंने तत्परता प्रकट की।

वे उसकी खोजमें एक साथ निकल पड़े। वनके मध्य-

भागमें प्रवेश करते ही उन्होंने विशेष शान्तिकी अनुभूति की। कुछ दूर जानेपर उन्होंने भगवान् बुद्धका दर्शन किया। दिव्य पुरुष समझकर उनकी चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ायी। भगवान्‌के कृश शरीरकी स्वर्णिम प्रदीप्तिसे वे विमुग्ध हो गये।

'आपने उसको इधरसे जाते देखा है ?' तीसों भद्रवर्गीय मित्रोंने भगवान्‌से निवेदन किया।

'मुझे अपने-आपके सिवा दूसरा दीख ही नहीं रहा है। इतना ही सत्य है।' वे मौन हो गये।

'भन्ते ! हमारा आशय एक स्त्रीसे है। वह वेश्या है। हमलोग अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ वन-विहार करने आये थे। पत्नीके अभावमें एक मित्रके मनोरञ्जनके लिये वह वेश्या हमारे साथ थी। हमें विशेष राग-रंगमें लिप्त देखकर हमारे कीमती रत्नालंकार आदि लेकर वह इसी वन-खण्डमें अदृश्य हो गयी है। हमें उसीकी खोज है।' भद्रजनोंने पश्चात्ताप किया।

'भद्रो ! जगत्‌के विषय-भोग और सुख नश्वर और क्षणिक हैं। रत्नालंकार आदि तो आते-जाते रहते हैं। स्त्रीकी खोजसे कहीं अधिक सत्य आत्माकी खोज आवश्यक है।' भगवान् बुद्धने धर्मचक्षु जाग्रत् किया। अपनी शीतल मुसकान बिखेर दी।

'ठीक है, भन्ते ! हमें स्त्रीकी आवश्यकता नहीं है, आत्माकी खोज करनी है।' भद्रवर्गीयोंने भगवान्‌से प्रव्रज्या-उपसम्पदाकी याचना की।

भगवान्‌ने धार्मिक सत्कथाओंसे उन्हें आत्मज्ञान और सद्धर्मका मर्म समझाया। वे उनके क्षणिक सत्सङ्गसे अपनी खोजमें लग गये।—रा० श्री० (बुद्धचर्या)

वैराग्यका क्षण

वाराणसीके सबसे बड़े सेठका पुत्र यश विलासी और विषयी था। उसके विहारके लिये ग्रीष्म, हेमन्त और वर्षाकाल-के तीन अमूल्य प्रासाद थे। वर्षाकालीन प्रासादमें प्रवेश करनेपर परिचारिकाओं और रमणियों तथा नर्तकियोंके राग-रंगमें वह इतना निमग्न हो जाता था कि कोठेपरसे नीचे नहीं उतरता था।

× × ×

'तो क्या संसारका रूप यही है।' उसकी अन्तरात्मा टिमटिमाते दीपकके मन्द प्रकाशमें सिहर उठी; रात अपने अन्तिम चरणपर थी। उसका अङ्ग पीला पड़ गया; रेशमी परिधानमें शिकन पड़ गयी; कानोंके स्वर्णकुण्डल और गलेके रत्नहारोंमें विशेष कम्पनका आभास मिला उसे। क्षण भरके लिये अमित गम्भीर चिन्तामें उसने नेत्र बंद कर लिये। उसने देखा नर्तकियाँ तथा परिचारिकाएँ चेतनाशून्य थीं, नींदके वशमें थीं। किसीके मुखसे लार टपक रही थी तो किसीके अधरोंपर कफका फेनिल विकार था। कोई टेढ़ी सो रही थी तो किसीकी अनावृत भुजाएँ बीभत्सता प्रकट कर रही थीं। किसी रमणीके गलेमें मृदङ्ग था तो किसीकी अँगुली वीणाके तारोंका स्पर्श कर रही थी। उसने देखा कामिनीकी कनक-कायाका कुत्सित रूप और उसका सिर घूमने लगा; नेत्रोंके सामने अँधेरा छा गया।

'मैं जिसे सत्य समझता था, वह नश्वर और असत्य दीखता है।' यश जमीन पकड़कर बैठ गया, उसके हृदयमें उसी क्षण वैराग्यका उदय हो गया। ब्रह्मवेला निकट थी।

'मुझे सत्यकी खोज करनी चाहिये।' उसने नीचे उतर-कर वर्षाकालीन प्रासादका अन्तिम दरवाजा खोला।

'मुझे प्रकाश पाना चाहिये।' यश घरसे बाहर निकल गया।

'मुझे संन्यास लेना चाहिये।' यश मृगदाव—ऋषिपत्तनके पथपर था। वह भगवान् बुद्धसे सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करने जा रहा था। उस समय वे ऋषिपत्तनमें ही थे। संसारकी विषय-वासनाएँ उसका पीछा कर रही थीं और वह आगे बढ़ता जा रहा था।

यशने देखा भगवान् बुद्ध ऋषिपत्तनमें टहल रहे थे। समीरकी चञ्चल गतिसे उनका गैरिक वस्त्र आन्दोलित था। वे उसे देखकर आसनपर बैठ गये।

'जगत् संतप्त है, पीड़ित है, असत्य है, भन्ते।' यश विकल था।

'जगत् असंतप्त है, अपीड़ित है, सत्य है, कुमार!' भगवान्‌ने उसे बैठनेकी आज्ञा दी।

'मुझे सत्यका रूप बताइये, भन्ते !' यशने स्वर्णनिर्मित पदत्राण उतार दिये, वह उनके समीप बैठ गया।

भगवान्‌ने आनुवर्ती कथा—दान, शील, धर्म और वासनाक्षयपर प्रकाश डाला । उसे दुःखका कारण और उसके नाशका उपाय बताया । यशमें धर्मचक्षु उत्पन्न हुआ; निर्मल वैराग्य मिला उसे ।

× × ×

'मेरी पत्नी, यशकी पत्नी और समस्त परिजन विकल हैं, भन्ते !' यशके पिताने भगवान् बुद्धको प्रणाम किया । उनके सांनिध्यमें सेठने धर्मचक्षु प्राप्त किया । वह उपासक बन गया ।

'तेरी माँ रोती-पीटती है । तेरी पत्नी संज्ञाशून्य है । प्राणका संचार करना चाहिये, तात !' सेठने यशका आलिङ्गन करना चाहा । यश एक क्षणके वैराग्यके परिणाम-स्वरूप निर्मल हो गया था, दोषमुक्त था ।

'अब यश कामोपभोगके योग्य नहीं है, सेठ !' भगवान् बुद्धने यशके पिताको सचेत किया ।

× × ×

सेठके अनुरोधपर श्रमण यशके साथ भगवान् बुद्ध उसीके घर भिक्षा लेने गये । माताकी ममता और पत्नीकी आसक्ति निष्फल हो गयी । वे उपासिकाएँ बन गयीं । यशके अनेक मित्र और परिजनोंने भी वैराग्यके अभय और अकण्टक राज्यमें प्रवेश किया ।

वैराग्यका एक क्षण यशके लिये अमृतस्वरूप हो उठा । उसे संसारकी अनित्यताका पता चल गया, सत्यलाभ किया उसने । भगवान् बुद्धने उसे प्रव्रज्या दी ।

'ब्रह्मचर्यका पालन करो । यह महान् सत्य है । इससे दुःखका क्षय होता है ।' यशने भगवान्‌के इस आदेशका आजीवन पालन किया ।—रा० श्री० (बुद्धचर्या)

संन्यासका मूल्य

'मैं अपने सारे सम्बन्ध, यौवन और धन आदिको त्यागकर संन्यास लूँगा । प्रव्रजित होना ही मेरे जीवनका लक्ष्य है ।' मगधदेशीय महातिथ्य-ग्रामनिवासी कपिल ब्राह्मणके पुत्र पिप्पली माणवकका दृढ़ संकल्प था । उसकी माँने उसे वैवाहिक बन्धनमें बाँधनेकी बार-बार चेष्टा की, पर उसकी स्वीकृति न मिल सकी । माणवकने एक हजार निष्क (स्वर्ण-मुद्रा) की लागतकी एक स्वर्ण-प्रतिमा बनवाकर माँसे कहा—यदि मेरी होनेवाली पत्नी इतनी ही रूपवती होगी तो मैं विवाह कर लूँगा । इस तरह उसने समय टालना चाहा; पर माँने प्रतिमाके साथ कन्याकी खोजके लिये आठ ब्राह्मण बाहर भेजे ।

ब्राह्मणोंने मद्रदेशमें जाकर एक अत्यन्त रूपवती कन्याका पता लगाया, कन्याके पिताने विवाह करना स्वीकार कर लिया । ब्राह्मणोंने माणवकके घर समाचार भेजा । वह चिन्तित हो उठा । उसने अपनी होनेवाली पत्नी भद्रा कापिलायनीको पत्र लिखा कि 'अपनी जाति, गोत्र और रूप-रंगके अनुसार गृहस्थ-धर्म स्वीकार करना चाहिये । मेरा प्रव्रजित होनेका विचार है ।' इसी आशयका पत्र भद्राने भी लिखा था । दोनोंके पत्र-वाहकोंकी बीचमें ही भेंट हो गयी; उन्होंने पत्र फाड़कर अनुकूल पत्र उपस्थित किये । सम्बन्ध हो गया; अपने पहलेके लिखे पत्रोंके अनुसार दोनों एक-दूसरेसे खिंचे-खिंचे रहते थे । दैवयोगसे विवाह होनेके बाद दोनोंने एक-दूसरेका स्पर्शतक नहीं किया ।

कुछ दिनोंके बाद माता-पिताका प्राणान्त होनेपर माणवक कुटुम्बके लिये विचार करने लगा, पर मन विषयासक्त न हो सका । एक दिन सजे हुए घोड़ेपर सवार होकर वह सैरके लिये निकला; एक पेड़के नीचे खड़ा होकर उसने कौओंको कीड़े-मकोड़े खाते देखा । मनमें कहा कि 'ये तो हमारी भूमिके ही जीव हैं, इनके पापका उत्तरदायित्व मुझपर है ।' इसी प्रकारका विचार घरपर भद्राके मनमें भी उठा । एक-दूसरेसे मिलनेपर दोनोंने संन्यासका पक्ष लिया । बाजारसे मिट्टीके नये पात्र मँगाये गये । दोनोंने एक-दूसरेके केश काटे, प्रव्रजित होकर कंधेपर झोली रखकर दोनों घरसे निकल पड़े । जो भी उन्हें मार्गमें देखता था, उसके नयनोंमें अश्रु उमड़ पड़ते थे ।

'देवि ! हमारा एक साथ रहना कदापि शोभन नहीं है । संसारके लोग कहेंगे कि माणवक प्रव्रजित होनेपर भी स्त्रीके मोहसे मुक्त न हो सका । इस प्रकार हमारे सम्बन्धमें अनेक भावनाएँ कर वे पापके भागी हो सकते हैं ।' माणवकका हृदय कठोर हो गया ।

'आर्य-पुत्रकी आज्ञा सर्वथा पालनीय है ।' उसने माणवककी चरण-वन्दना की; दूसरा रास्ता पकड़ लिया । भद्रा प्रसन्न थी ।

माणवक भगवान् बुद्धका दर्शन करनेके लिये वेणुवनकी ओर चल पड़ा। शास्ताने उपसम्पदा दी और स्थविर माणवक (महाकाश्यप) को साथ लेकर चारिका करने चल पड़े।

राजगृह और नालन्दाके बीचमें एक पेड़के नीचे तथागत खड़े हो गये।

'भगवान् इस आसनपर विश्राम करें।' माणवकने अपनी रेशमी संघाटी बिछा दी।

'कितना कोमल है यह!' तथागतने परीक्षा ली उसके वैराग्यकी।

'तो भगवान् इसे धारण करें।' माणवक प्रसन्न था।

'क्या तुम हमारी जीर्ण-शीर्ण गुदड़ी पहन सकते हो! चिथड़ोंको सीकर पहननेवाला ही इसे उपयोगमें ला सकता है, काश्यप!' तथागत उसकी ओर देखने लगे।

'जिसे मैंने अपार धन और अत्यन्त रूपवतीके बदले ग्रहण किया है, उस वैराग्यका भाव गिरने नहीं पायेगा। भन्ते! चीवर-परिवर्तन ही हमारे संन्यासका अन्तिम मूल्य है।' महाकाश्यपने भगवान्का चीवर धारण कर लिया।

—रा० श्री० (बुद्धचर्या)

परीक्षाका माध्यम

हेमन्तकी संध्या थी, सूर्य अस्ताचलपर अदृश्य होनेवाले ही थे, पश्चिम गगनकी नैसर्गिक लालिमा अद्भुत और अमित मनोहारिणी थी। भगवान् बुद्ध राजगृहमें विहार समाप्तकर चारिकाके लिये वैशालीके पथपर थे। उन्होंने देखा कि उनके पीछे-पीछे अनेक भिक्षु चले आ रहे हैं। किसीने सिरपर, तो किसीने बगलमें और कटिदेशमें चीवरोंकी गठरी लाद रक्खी थी। तथागत आश्चर्यचकित थे भिक्षु-सङ्घकी संग्रह-वृत्तिपर।

'कहाँ तो भिक्षुओंने जनताके समक्ष उत्कट त्यागका आदर्श रक्खा और कहाँ थोड़े ही समयके बाद उन्होंने संग्रह और संचयमें आसक्ति दिखायी।' तथागत चिन्तित थे।

× × ×

रातका पहला पहर था। धीरे-धीरे शीतल समीर ठंडक फैला रहा था। तथागत वैशालीके गौतम-चैत्यमें समासीन थे; भिक्षुसङ्घने उनके चेहरेपर उदासीकी छाप देखी। भिक्षुओंने चरण-वन्दना की, वे अपने-अपने आसनपर चले गये। भगवान् बुद्धका मन बार-बार यही विचार कर रहा था कि किस प्रकार सङ्घकी संग्रह-वृत्तिका निवारण हो। उन्होंने चीवरोंको सीमित करनेका निश्चय किया और अपने-आपको ही कड़ी परीक्षाका माध्यम स्थिर किया।

वे गौतम-चैत्यके बाहर आकर जमीनपर संघाटी बिछाकर लेट गये। साधारण ठंडक थी, एक चीवर लेकर शरीर ढक लिया। ठंडकका वेग रातमें बढ़ गया; बिचले पहरमें उन्होंने दूसरा चीवर ओढ़ लिया। तीसरे पहर अथवा पिछले पहरमें आकाश लोहित वर्णका हो चला; शीतका उत्कर्ष देखकर भगवान् बुद्धने तीसरा चीवर ओढ़ लिया। सबेरा हो गया।

'प्रत्येक भिक्षुका काम केवल तीन चीवरसे चल सकता है; अधिकके संग्रहसे पापकी वृद्धि हो सकती है। सङ्घमें शिथिलता आ जायगी।' तथागतने भिक्षु-सङ्घको आमन्त्रित-कर अनुज्ञा प्रदान की। सङ्घकी वैराग्य-वृत्तिको कलङ्कित होनेसे शास्ताने बचा लिया। उन्होंने अपने जीवनके त्यागमय अनुभवका दूसरोंके हितमें उपयोग किया। —रा० श्री०

(बुद्धचर्या)

सहज अधिकार

भगवान् बुद्धके जीवनकी घटना है। तथागत छप्पन सालके थे। अभीतक अपनी परिचर्याके लिये किसी उपस्थाक (परिचारक) की नियुक्तिकी आज्ञा नहीं दी थी। कभी उनके साथ, परिचर्याके लिये मेघिय, उपवाण या राध रहते थे तो कभी नागसमाल भगवान्का पात्र लेकर पीछे-पीछे चलते थे।

एक समय तथागत श्रावस्तीके पथपर थे। उनके पीछे पात्र-चीवर लेकर नागसमाल चल रहे थे।

'अपना पात्र सम्हालिये। मैं चारिकाके लिये दूसरी ओर जाना चाहता हूँ।' नागसमालका प्रस्ताव भगवान् बुद्धने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने दूसरी बार कहा—तथागत शान्त थे।

तीसरी बार नागसमाल पात्र-चीवर भूमिपर रखकर

दूसरा रास्ता पकड़ना ही चाहते थे कि महाश्रमणने चीवर-पात्र अपने हाथमें ले लिये। नागसमाल चले गये।

× × ×

श्रावस्तीमें प्रवेश करके गन्धकुटीके परिवेण (चौक) के बिछे आसनपर भगवान् बुद्ध बैठे ही थे कि नागसमाल आ पहुँचे। उनके सिरमें चोट थी, रास्तेमें चोरोंने पात्र-चीवर आदि छीन लिये थे। उन्होंने चरणवन्दना की और आज्ञा-उल्लङ्घन करनेपर पश्चात्ताप किया।

'मेरे लिये परिचारक नियत करनेकी आवश्यकता है। लोग मेरा साथ आधे रास्तेमें ही छोड़ दिया करते हैं, पात्र-चीवर रखकर चले जाते हैं।' तथागतके इस उद्‌गारसे उपस्थित भिक्षुसङ्घ दुखी हुआ।

'मैंने जन्म-जन्मान्तर आपके उपस्थानके लिये तप किया है, मुझे अवसर मिले।' आयुष्मान् सारिपुत्रका यह प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया।

'तुम जिस दिशामें चारिका करते हो, वह मुझसे अशून्य रहती है। तुम उपस्थानके योग्य नहीं हो।' तथागतने संकेत किया।

महामौद्गल्यायन आदि अस्सी महाश्रावकोंने उपस्थान-का अधिकार माँगा, पर तथागतने स्वीकृति नहीं दी।

'दशबल उपस्थानका अधिकार दे रहे हैं, माँग लो, आयुष्मन्।' कुछ लोगोंने स्थविर आनन्दको प्रोत्साहित किया।

'यदि माँगनेसे मिला तो अधिकार है ही नहीं, सेवाका अधिकार तो सहज ही मिला करता है। भगवान् दशबल मुझे देख ही रहे हैं, उचित समझेंगे तो अनुज्ञा प्रदान करेंगे ही।' स्थविर आनन्द स्वस्थ था।

'आनन्दको प्रोत्साहित करना ठीक नहीं है, भिक्षुओ! वह स्वयं ही मेरा उपस्थान करेगा।' दशबल प्रसन्न थे।

'मेरे चार प्रतिक्षेप और चार याचनाएँ हैं।' आनन्दने तथागतसे निवेदन किया कि भगवान् अपने पाये उत्तम चीवर मुझे न दें, पिण्ड (भिक्षा) न दें, एक गन्ध-कुटीमें निवास न दें, निमन्त्रणमें लेकर न जायँ।

'इनमें दोष क्या है, आनन्द?' दशबलने परीक्षा ली।

'यदि आप इनको मुझे देंगे तो लोग लाञ्छन लगायेंगे कि आनन्द अपने स्वार्थ-लाभके लिये दशबलका उपस्थान करता है।' उसने भाव स्पष्ट किया अपने मनका। स्थविर आनन्दने कहा कि 'मेरी चार याचनाएँ ये हैं कि आप मेरे स्वीकार किये निमन्त्रणमें जायँ, यदि दूसरे राष्ट्र या परिषद्से कोई व्यक्ति दर्शनके लिये उपस्थित हो तो उसके आते ही मैं आपका दर्शन करा पाऊँ, किसी भी समय आपके पास आनेमें मेरे लिये रोक न रहे, आप मेरे परोक्षमें जो धर्मोपदेश करें, उसका आकर मुझे भी उपदेश कर दें।'

'यह सदाचारका पथ है, स्थविर! यह आत्मीयताका अभिव्यञ्जन है, आनन्द! वास्तवमें मेरी सेवाके सहज अधिकारका यही उपाय है।' भगवान् तथागतने आनन्दकी प्रशंसा की; उसकी समस्त माँगें स्वीकार कर ली गयीं। उपस्थानका सहज (स्वाभाविक) अधिकार मिल गया उसे।

—रा० श्री० (बुद्धचर्या)

निर्वाण-पथ

'साधन और अनुष्ठान तीर्थोंमें ही शीघ्र सफल होते हैं और उनका अक्षय फल होता है। इसी विचारसे साधु बाहिय सुप्पारक तीर्थमें वास करने लगे थे।

बाहियका जीवन अत्यन्त सरल एवं सात्त्विक था। उनके मनमें किसी प्राणीके प्रति वैर-विरोध नहीं था। अपने साधनमें उनकी निष्ठा थी और उसमें वे सतत संलग्न थे। उनके तेजके साथ उनकी सम्मान-प्रतिष्ठा भी बढ़ने लगी थी।

समीपके ही नहीं, दूर-दूरके लोग उनके समीप आते और चरणोंमें सिर झुकाते। सभी उनकी पूजा और देवोचित आदर करते। चीवर, पिण्डपात, शयनासन और दवा-बीरो उनको अनायास ही प्रचुर परिमाणमें प्राप्त हो जाते थे।

'संसारमें जो अर्हत् या अर्हत्-मार्गारूढ़ हैं, उनमें एक मैं भी हूँ।' बाहियके मनमें एक दिन विचार उठा।

'बाहिय मेरा अत्यन्त प्रिय है,' बाहियके कुलदेवताने सोचा, 'और सन्मार्गपर चलनेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील है। इसे मुक्तिकी प्रत्येक क्षण कामना है। अतएव इसे सावधान करना चाहिये।'

'बाहिय! तुम अर्हत् नहीं हो।' कृपापूर्वक कुलदेवताने बाहियके सम्मुख उपस्थित होकर कहा। 'अर्हत्-मार्गपर आरूढ़ भी नहीं हो। अर्हत् या अर्हत्-मार्गारूढ़ होनेके पथका दर्शन

भी तुम्हें नहीं हो सका है। अभिमान नहीं करना चाहिये। अभिमान निर्वाण-पथका सबसे बड़ा बाधक है।'

'कृपामय !' बाहिय सहम गये। कुलदेवताकी ओर कृतज्ञताभरी दृष्टिसे देखते हुए उन्होंने अत्यन्त विनीत स्वरमें पूछा—'इस धरतीपर ऐसे कौन हैं, जो अर्हत् या अर्हत्-मार्गारूढ़ हो चुके हैं। यह बता देनेकी दया कीजिये।'

'बाहिय !' कुलदेवताने उत्तर दिया, 'इसी आर्यधरापर श्रावस्ती नामक पुण्यनगर है। वहाँ इस समय भगवान् बुद्धदेव निवास कर रहे हैं। वे भगवान् तथागत ही स्वयं अर्हत् हो जगत्को अर्हत्-पद प्राप्त करनेका मार्ग-दर्शन करा रहे हैं। उनके परम पवित्र धर्मोपदेशसे जीव चिरकालिक भवबाधासे त्राण पा रहे हैं, मुक्त होते जा रहे हैं।'

कुलदेवता अदृश्य हो गये और बाहिय भगवान् बुद्धदेवके दर्शनार्थ सुप्पारक तीर्थसे चल पड़े।

× × × ×

बाहिय जेतवन पहुँचे। ये सुप्पारक तीर्थसे यहाँतक अनवरत रूपसे चलते आये थे। यात्राके बीच इन्होंने केवल एक रात्रि विश्राम किया था। इनके नेत्रोंमें सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् बुद्ध जैसे समा गये थे। उन्हींके दर्शनार्थ उक्त पवित्र तीर्थको त्यागकर वे द्रुतगतिसे चल पड़े थे। जेतवनकी पावन भूमि और वहाँके सघन वृक्षोंको देखकर उन्हें अपूर्व शान्ति मिली। उन्हें लगा, जैसे जेतवनकी तरु-लता-वल्लरियाँ ही नहीं, वहाँका प्रत्येक कण निर्वाण प्राप्त कर चुका है। वे श्रद्धा-विभोर हो गये। उस समय वहाँ कितने ही भिक्षु इधर-उधर टहल रहे थे।

'भन्ते ! एक भिक्षुके समीप जाकर उन्होंने विनीत वाणीमें पूछा, मैं अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध भगवान्के दर्शनार्थ सुप्पारक तीर्थसे चलकर आया हूँ। इस समय वे कहाँ विहार कर रहे हैं ?'

'बाहिय ! भिक्षुने उत्तर दिया, 'आप कुछ देर यहाँ विश्राम करें। भगवान् पिण्डपातके लिये इस समय गाँवमें गये हैं।'

'मैं भगवान्के दर्शन बिना एक क्षण भी विश्राम नहीं करना चाहता।' उन्होंने भिक्षुको उत्तर दिया। 'मैं अभी भगवान्के समीप जाऊँगा।'

और भिक्षुके बताये गाँवकी ओर वे चल पड़े।

× × × ×

बाहिय जेतवनसे दौड़ पड़े थे। उनके पैरोंमें जैसे पंख उग आये थे। तथागतके दर्शन बिना वे अधीर-से हो रहे थे। श्रावस्तीमें पहुँचकर उन्होंने भगवान्को देखा, भगवान् भिक्षापात्र लिये एक साधारण परिवारकी देहरीपर खड़े थे। भगवान्का भुवन-मोहन सौन्दर्य एवं उनकी आकृतिपर क्रीड़ा करती हुई दिव्य ज्योति देखकर बाहिय चकित हो गये। अत्यन्त संयमी, अत्यन्त शान्त एवं शमथ-दमथ*को प्राप्त प्रभुको देखकर बाहिय उनके चरणोंमें दण्डकी भाँति पड़ गये। अपने हाथोंमें उन्होंने भगवान्के पद-पद्मोंको पकड़ लिया और नेत्रोंसे प्रवाहित अनवरत वारिधारासे वे बहुत देरतक उनका प्रक्षालन करते रहे।

'भन्ते !' कुछ देर बाद स्वस्थ होकर उन्होंने अत्यन्त श्रद्धापूरित नम्र वाणीमें निवेदन किया, 'भगवान् मुझे धर्मोपदेश करें, जिससे मुझे चिरकालिक अक्षय सुख-शान्तिकी प्राप्ति हो। सुगत कृपापूर्वक मुझे धर्मोपदेश करें।'

'बाहिय !' भगवान्ने अत्यन्त शान्तिपूर्वक कहा, 'मैं भिक्षाटनके लिये निकला हूँ। यह समय धर्मोपदेशके उपयुक्त नहीं।'

'भन्ते !' बाहियने तुरंत निवेदन किया—'जीवन अत्यन्त अस्थिर है। पता नहीं अगले क्षण भगवान् या मैं ही रह सकूँगा या नहीं। अतएव भगवान् मुझे वह उपदेश करें, जिससे मुझे चिरकालिक अक्षय सुख-शान्ति उपलब्ध हो। भगवान् मुझे शीघ्र उपदेश करें।'

'बाहिय !' दूसरी बार भी भगवान्ने अत्यन्त शान्तिसे उत्तर दिया, 'मैं भिक्षार्थ गाँवमें हूँ। गृहस्थ-परिवारकी देहरीपर खड़े हो भिक्षापात्रमें भिक्षा लेनेकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। धर्मोपदेशके लिये यह उचित समय नहीं।'

'भन्ते !' बाहियने तीसरी बार पुनः अनुरोध किया, 'जीवनका ठिकाना नहीं। आम्र-पल्लवकी नोकपर लटके जल-सीकरका ठिकाना है, पर जीवनके सम्बन्धमें यह भी निश्चय नहीं। अगले क्षण भगवान् या मैं ही रह पाऊँगा या नहीं, कुछ भी निश्चित नहीं। अतएव जिससे मुझे चिरकालिक अक्षय सुख-शान्तिकी उपलब्धि हो, इस भवार्णवसे मैं सदाके लिये मुक्ति प्राप्त कर लूँ, भगवान् मुझे वैसा ही उपदेश दें।'

'अच्छा, बाहिय !' भगवान् उसी अवस्थामें गृहस्थकी

* लोकोत्तर प्रज्ञाविमुक्ति और चेतोविमुक्तिवाले उत्तम शमथ और दमथको जो प्राप्त कर चुके हैं। (अट्ठकथा)

देहरीपर अपना रिक्त पात्र लिये अत्यन्त शान्त स्वरमें बोले, 'तुम्हें अभ्यास करना चाहिये, तुम्हें देखनेमें केवल देखना ही चाहिये, सुननेमें केवल सुनना ही चाहिये। सूँघने, चखने और स्पर्श करनेमें केवल सूँघना, चखना, स्पर्श ही करना चाहिये। जाननेमें केवल जानना ही चाहिये। बाहिय! यदि तुमने ऐसा सीख लिया अर्थात् देखकर, सूँघकर, चखकर, स्पर्शकर और जानकर उसमें लिप्त नहीं हो सके, आसक्ति तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकी, तो तुम्हारे दुःखोंका अन्त हो जायगा। जागतिक आसक्ति ही जगत्में आबद्ध करनेवाली हैं एवं इससे त्राण पाना ही निर्वाण है।'

'भन्ते!' बाहिय पुनः भगवान्के चरणोंमें गिर पड़े। उन्होंने अनुभव किया, भगवान्के उपदेशमात्रसे उनका चित्त उपादान (प्रापञ्चिक जगत्की आसक्ति) से रहित तथा आश्रवोंसे मुक्त हो गया। वे बोले—'मैं आपका आजीवन ऋणी रहूँगा। भगवान्ने मुझे मुक्तिके मूल-तत्त्वका साक्षात्कार करा दिया।'

मधुर स्मितके साथ भगवान् भिक्षाटनके लिये आगे बढ़े। बाहिय उनकी ओर ललकभरे अपलक नेत्रोंसे तबतक देखते रहे, जबतक वे दृष्टिसे ओझल नहीं हो गये।

× × × ×

'भन्ते!' एक भिक्षुने दौड़कर भिक्षाटनसे नगरके बाहर लौटते हुए भगवान्से कहा। वह हाँफ रहा था। आगे वह नहीं बोल पाया।

'क्या बात है?' भगवान्ने प्रश्न किया।

'भन्ते!' कुछ स्थिर होकर उसने निवेदन किया, 'भगवान्के धर्मोपदेशके अनन्तर लौटते हुए बाहियको एक साँड़ने अपने सींगोंपर उठाकर जोरसे पटक दिया। बाहियका ऐहिक जीवन तत्काल समाप्त हो गया। उनका शव कुछ ही दूरपर पड़ा है।'

भगवान् उठे और दौड़ पड़े। उन्होंने बाहियके शवको देखकर एकत्र हुए भिक्षुओंसे कहा—'भिक्षुओ! यह तुम्हारा एक सब्रह्मचारी (गुरुभाई) था। इसकी निर्जीव देहकी रथी बनाकर अग्निमें जला दो और इसके भस्मोंपर स्तूप निर्मित कर दो।'

'जैसी आज्ञा!' भिक्षुओंने उत्तर दिया और बाहियके शवके अन्तिम संस्कारमें लग गये।

× × × ×

'भन्ते!' भगवान्के चरणोंके समीप बैठकर भिक्षुओंमेंसे एकने विनम्र निवेदन किया। 'भगवान्के आदेशानुसार बाहियकी निर्जीव देह प्रज्वलित अग्निमें भस्म कर दी गयी। उनके भस्मोंपर स्तूप उठवा दिया गया।'

कुछ क्षण रुककर उसी भिक्षुने पुनः निवेदन किया—'भगवान्से हमलोग जानना चाहते हैं कि बाहियकी क्या गति होगी।'

अत्यन्त शान्त एवं गम्भीर वाणीमें उन्होंने धीरे-धीरे उत्तर दिया, 'भिक्षुओ! जब क्षीणाश्रव भिक्षु आत्म-साक्षात्कार कर लेता है, तब वह रूप-अरूप तथा सुख-दुःखसे छूट जाता है। बाहियने मेरे बताये धर्मोपदेशको ठीकसे ग्रहण कर लिया था, वह निर्वाणके मार्गपर आरूढ़ हो गया था।'

भिक्षुओंकी आकृतिपर हर्ष नृत्य कर उठा। भगवान् मौन हो गये। शीतल-मन्द समीर भगवान्के चरणोंका स्पर्श करके प्रसन्नतासे नृत्य करने लगा। —शि० दु०

कोई घर भी मौतसे नहीं बचा

किसा गौतमीका प्यारा इकलौता पुत्र मर गया। उसको बहुत बड़ा शोक हुआ। वह पगली-सी हो गयी और पुत्रकी लाशको छातीसे चिपटाकर 'कोई दवा दो, कोई मेरे बच्चेको अच्छा कर दो' चिल्लाती हुई इधर-उधर दौड़ने लगी। लोगोंने बहुत समझाया, परंतु उसकी समझमें कुछ नहीं आया। उसकी बड़ी ही दयनीय स्थिति देखकर एक सज्जनने उसे भगवान् बुद्धके पास यह कहकर भेज दिया कि 'तुम सामनेके विहारमें भगवान्के पास जाकर दवा माँगो, वे निश्चय ही तुम्हारा दुःख मिटा देंगे।'

किसा दौड़ी हुई गयी और बच्चेको जिलानेके लिये भगवान् बुद्धसे रो-रोकर प्रार्थना करने लगी।

भगवान्ने कहा—'बड़ा अच्छा किया, तुम यहाँ आ गयी। बच्चेको मैं जिला दूँगा। तुम गाँवमें जाकर, जिसके घरमें आजतक कोई भी मरा न हो, उससे कुछ सरसोंके दाने माँग लाओ।'

किसा बच्चेकी लाशको छातीसे चिपकाये दौड़ी और लोगोंसे सरसोंके दाने माँगने लगी; जब किसीने देना चाहा,

तब उसने कहा—'तुम्हारे घरमें आजतक कोई मरा तो नहीं है न? मुझे उसीसे सरसों लेनी है, जिसके घरमें कभी कोई मरा न हो।' उसकी इस बातको सुनकर घरवालेने कहा—'भला, ऐसा भी कोई घर होगा जिसमें कोई मरा न हो—मनुष्य तो हर घरमें मरते ही हैं।'

वह घर-घर फिरी, पर सभी जगह एक ही जवाब मिला; तब उसकी समझमें आया कि मरना तो हर घरका रिवाज है। जो जन्मता है, वह मरता ही है। मृत्यु किसी भी उपायसे टलती नहीं। टलती होती तो क्यों कोई अपने प्यारेको मरने देता? एक घरमें ही नहीं—जगत्‌भरमें सभी जगह मृत्युका विस्तार है। बस, जब यह बात ठीक-ठीक समझमें आ गयी, तब उसने बच्चेकी लाशको ले जाकर श्मशानमें गाड़ दिया और लौटकर भगवान् बुद्धसे सारी बात कह दी। भगवान्‌ने उसे फिर समझाया कि 'देखो—यहाँ जो जन्म लेता है, उसे मरना ही पड़ेगा। यही नियम है। जैसे हमारे घरके मरते हैं, वैसे ही हम भी मर जायँगे। इसलिये मृत्युका शोक न करके उस स्थितिकी खोज करनी चाहिये, जिसमें पहुँच जानेपर जन्म ही न हो। जन्म न होगा तो मृत्यु आप ही मिट जायगी। बस, समझदार आदमीको यही करना चाहिये।'

सच्चा साधु

भगवान् बुद्धका एक पूर्ण नामक शिष्य उनके समीप एक दिन आया और उसने तथागतसे धर्मोपदेश प्राप्त करके 'सुनापरंत' प्रान्तमें धर्मप्रचारके लिये जानेकी आज्ञा माँगी। तथागतने कहा—'उस प्रान्तके लोग तो अत्यन्त कठोर तथा बहुत क्रूर हैं। वे तुम्हें गाली देंगे, तुम्हारी निन्दा करेंगे, तो तुम्हें कैसा लगेगा?'

पूर्ण—'भगवन्! मैं समझूँगा कि वे बहुत भले लोग हैं; क्योंकि वे मुझे थप्पड़-घूँसे नहीं मारते।'

बुद्ध—'यदि वे तुम्हें थप्पड़-घूँसे मारने लगें तो?'

पूर्ण—'मुझे पत्थर या डंडोंसे नहीं पीटते, इससे मैं उन्हें सत्पुरुष मानूँगा।'

बुद्ध—'वे पत्थर-डंडोंसे भी पीट सकते हैं।'

पूर्ण—'वे शस्त्रप्रहार नहीं करते, इससे वे दयालु हैं—ऐसा मानूँगा।'

बुद्ध—'यदि वे शस्त्र-प्रहार ही करें?'

पूर्ण—'मुझे वे मार नहीं डालते, इसमें मुझे उनकी कृपा दीखेगी।'

बुद्ध—'ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे तुम्हारा वध नहीं करेंगे।'

पूर्ण—'भगवन्! यह संसार दुःखरूप है। यह शरीर रोगोंका घर है। आत्मघात पाप है, इसलिये जीवन धारण करना पड़ता है। यदि 'सुनापरंत' (सीमाप्रान्त) के लोग मुझे मार डालें तो मुझपर वे उपकार ही करेंगे। वे लोग बहुत अच्छे सिद्ध होंगे।'

भगवान् बुद्ध प्रसन्न होकर बोले—'पूर्ण! जो किसी दशामें किसीको भी दोषी नहीं देखता, वही सच्चा साधु है। तुम अब चाहे जहाँ जा सकते हो, धर्म सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करेगा।'—सु० सिं०

समझौता

ग्रीष्मकी भयंकर ज्वालासे प्राणिमात्र संतप्त थे। सरोवरों, नालों और बावलियोंका जल सूख गया था; वृक्ष तपनसे दग्ध थे, जीव-जन्तु आकुल थे। कपिलवस्तु और कोलिय नगरकी सीमा, रोहिणी नदी जेठ मासके प्रकोपसे सिमिटकर अत्यन्त क्षीणकाय हो गयी थी। धरती इन्द्रकी कृपा—जलवृष्टिसे वञ्चित थी। ऐसी स्थितिमें एक दिन अचानक रोहिणीके तटपर शाक्यों और कोलियोंमें रोहिणीके पानीके उपयोगपर विवाद छिड़ गया।

सरितामें पानी कम रह गया है। केवल हमारी खेतीके ही लिये इतना पानी पर्याप्त है। बाँधके द्वारा पानी दो भागोंमें बँट जानेसे हम दोनोंकी खेती सूख जायगी। शाक्य मजदूरों (कर्मकरों) ने कहा।

'यही स्थिति हमारी भी है; हमीं पानीका उपयोग कर लेंगे तो हानिकी क्या बात है?' कोलियोंने अपना पक्ष दृढ़ किया।

कलह बढ़ गया। यह बात दोनों राजकुलोंमें पहुँच

गयी। तनातनी बढ़ गयी। दोनों एक दूसरेके प्राणोंके शत्रु हो गये। द्वेषकी आग प्रज्वलित हो उठी।

'किस बातका कलह है, महाराजो !' भगवान् बुद्ध उस समय कपिलवस्तुमें ही रोहिणीके तटपर चारिका कर रहे थे। प्रातःकालका समय था। दोनों ओरके सैनिकोंने शस्त्र अलग रखकर तथागतकी वन्दना की। वे कलहका कारण नहीं बता सके।

'रोहिणीके पानीका झगड़ा है, भन्ते।' दोनों ओरके मजदूरोंने भगवान्के प्रश्नका सम्मिलित उत्तर दिया।

'उदकों (पानी) का क्या मूल्य है, महाराजो !' भगवान्ने दोनों ओरके सेनापतियों और सैनिकों तथा मजदूरोंसे प्रश्न किया।

'कुछ भी नहीं है, भन्ते। पानी विना मूल्यके ही प्रत्येक स्थानपर आसानीसे मिल जाता है।' शाक्यों और कोलियोंको अपनी करनीपर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने दृष्टि नत कर ली।

'क्षत्रियों (सैनिकों) का क्या मूल्य है, महाराजो !' भगवान् तथागतके इस प्रश्नसे लोग अत्यन्त लज्जित हुए।

'क्षत्रियोंका मूल्य लगाया ही नहीं जा सकता, भन्ते ! वे नितान्त अनमोल हैं !' दोनों पक्षोंने अपनी भूल स्वीकार की।

'अनमोल क्षत्रियोंका खून साधारण उदकके लिये बहाना क्या उचित है, महाराजो !' प्रश्न था।

'नहीं, भन्ते ! हमें प्रकाश मिल गया। समझौतेका पथ प्राप्त हो गया।' उन्होंने सुगतकी चरण-वन्दना की।

'शत्रुओंमें अशत्रु होकर जीना परम सुख है। वैरियोंमें अवैरी होकर रहना चाहिये।' भगवान् बुद्धने अपनी शीलमयी वाणीसे लोगोंको आप्लावित किया।

समझौता हो गया शाक्यों और कोलियोंमें।—रा० श्री० (बुद्धचर्या)

सच्चे सुखका बोध

उसके केश और वस्त्र भीगे हुए थे। मुखपर बड़ी उदासी और मनमें अत्यन्त खिन्नता थी। उसके नेत्रोंमें जिज्ञासाका चित्र था और होठोंपर कोई अत्यन्त निगूढ़ प्रश्न था।

'तुम्हारी ऐसी असाधारण-सी स्थितिसे आश्चर्य होता है।' भगवान् बुद्धने मृगारमाता विशाखासे पूछा। वह अभिवादन करके उनके निकट बैठ गयी।

'इसमें आश्चर्यकी क्या बात है, भन्ते ! मेरे पौत्रका देहान्त हो गया है, इसलिये मृतके प्रति यह शोक-आचरण है।' विशाखाने भगवान्के चरणोंमें निवेदन किया, वह स्वस्थ दीख पड़ी।

'विशाखे ! श्रावस्तीमें इस समय जितने मनुष्य हैं, तुम उतने पुत्र-पौत्रकी इच्छा करती हो ?' भगवान्के प्रश्नसे श्रावस्तीके पूर्वाराम विहारका कण-कण चकित हो उठा।

'हाँ, भन्ते !' विशाखाका उत्तर था।

'श्रावस्तीमें नित्य कितने मनुष्य मरते होंगे ?' तथागतका दूसरा प्रश्न था।

'प्रतिदिन कम-से-कम दस मरते हैं। किसी-किसी दिन तो संख्या एकतक ही सीमित रहती है। पर कभी नागा नहीं हो पाता।' विशाखा इस प्रकारके प्रश्नोत्तरसे विस्मित थी।

'तो क्या किसी दिन विना भीगे केश और वस्त्रके भी तुम रह सकती हो ?' शाक्यमुनिका तीसरा प्रश्न था।

'नहीं, भन्ते ! केवल उस दिन भीगे केश और भीगे वस्त्रकी आवश्यकता है, जिस दिन मेरे पुत्र-पौत्रका देहावसान होगा।' विशाखाका अङ्ग-प्रत्यङ्ग रोमाञ्चित हो उठा।

'इसलिये यह स्पष्ट हो गया कि जिसके सौ प्रिय—अपने (सम्बन्धी) हैं, सौ दुःख होते हैं उसे; जिसका एक प्रिय—अपना होता है, उसे केवल एक दुःख होता है। जिसका एक भी प्रिय—अपना नहीं है, उसके लिये जगत्में कहीं भी दुःख नहीं है, वह सुखका बोध पाता है, सुखस्वरूप हो जाता है।' भगवान्ने दुःख-सुखका विवेचन किया।

'मैं भूलमें थी, भन्ते ! मुझे आत्मप्रकाश मिल गया।' विशाखाने शास्ताकी प्रसन्नता प्राप्त की।

'जगत्में सुखी होनेका एकमात्र उपाय यह है कि किसीको भी प्रिय (अपना) न माने, ममता न करे, अशोक और विरज (रागरहित) होना चाहे तो कहीं भी सम्बन्ध न स्वीकार करे।' तथागतने धर्मकथासे विशाखाको समुत्तेजित (जाग्रत्) किया। उसने सच्चे सुखका बोध पाया।

—रा० श्री० (बुद्धचर्या)

गाली कहाँ जायगी ?

भारद्वाज नामका एक ब्राह्मण भगवान् बुद्धसे दीक्षा लेकर भिक्षु हो गया था। उसका एक सम्बन्धी इससे अत्यन्त क्षुब्ध होकर तथागतके समीप पहुँचा और उन्हें अपशब्द कहने लगा। बुद्धदेव तो देव ही ठहरे, देवताके समान ही वे शान्त और मौन बने रहे। ब्राह्मण अन्ततः अकेला कहाँतक गाली देता, वह थककर चुप हो गया। अब तथागतने पूछा—'क्यों भाई ! तुम्हारे घर कभी अतिथि आते हैं ?'

'आते तो हैं।' ब्राह्मणने उत्तर दिया।

'तुम उनका सत्कार करते हो ?' बुद्धने पूछा।

ब्राह्मण खीझकर बोला—'अतिथिका सत्कार कौन मूर्ख नहीं करेगा।'

तथागत बोले—'मान लो कि तुम्हारी अर्पित वस्तुएँ अतिथि स्वीकार न करे तो वे कहाँ जायँगी ?'

ब्राह्मणने फिर झुँझलाकर कहा—'वे जायँगी कहाँ, अतिथि उन्हें नहीं लेगा तो वे मेरे पास रहेंगी।'

'तो भद्र !' बुद्धने शान्तिसे कहा—'तुम्हारी दी हुई गालियाँ मैं स्वीकार नहीं करता। अब यह गाली कहाँ जायगी ? किसके पास रहेगी ?'

ब्राह्मणका मस्तक लज्जासे झुक गया। उसने भगवान् बुद्धसे क्षमा माँगी। —सु० सिं०

आकर्षण

'भगवान् बुद्धदेवकी जय !'

गगन-मण्डल गूँज उठा तथागतके नामघोषसे। कितने दिनों बाद कपिलवस्तुके प्राणप्रिय नरेश शुद्धोदनके पुत्र सिद्धार्थ राजधानीमें पधार रहे हैं। समस्त प्रजा हर्षोत्फुल्ल है। सिद्धार्थ आज बालक सिद्धार्थ नहीं हैं। उन्हें जगत्का मिथ्यात्व-बोध हो गया है। ज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया है, मोक्ष उनके करतलगत है और अखण्ड शान्ति उनका साथ नहीं छोड़ती। पृथ्वीको सुख-शान्ति वितरित करते हुए एक बार यहाँ पधारनेका उन्होंने कष्ट स्वीकार किया है। नगरकी प्रत्येक देहरीपर आम्र-पल्लवके तोरण बँधे हैं। विविध सुगन्धित पुष्पोंकी मालाएँ टँगी हैं। राजमार्ग और समस्त पथ प्रशस्त हो गये हैं। उनपर जल-सिञ्चन हो गया है और सर्वत्र ही बिखरी पुष्पराशि दीख रही है। भगवान् अपने सुकोमल चरण धीरे-धीरे रखते हुए आ रहे थे।

उनके पीछे विशाल जनसमुद्र लहरा रहा था। मार्गके दोनों ओर छतोंपर स्त्रियाँ मङ्गल-गानके द्वारा उनकी स्तुति करती हुई उनपर पुष्प-वृष्टि कर रही थीं और अपलक नेत्रोंसे उनके दर्शन कर रही थीं। आज कपिलवस्तुकी प्रजा धन्य हो गयी थी, आज उसका जीवन सफल हो गया था, वह कृतार्थ हो गयी थी जो अपने भगवान्की दिव्यमूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन कर रही थी। आज कपिलवस्तुके समस्त प्राणी अपनी चिन्ता, शोक और विषाद सदाके लिये भूल गये हैं। उनके सामने आनन्दको मुक्तहस्तसे वितरित करनेवाले देवता जो आ गये हैं।

'मैं धन्य हो गया।' सिद्धार्थके वैमात्रेय भ्राता नन्द नंगे पैरों दौड़े आये थे और तथागतके चरणोंमें दण्डकी भाँति पड़ गये। उनके नेत्रोंसे बहती अनवरत वारिधाराएँ बुद्धदेवके युगल पद-पद्मोंका प्रक्षालन करने लगीं। उनका हृदय गद्गद और वाणी अवरुद्ध हो गयी थी। इच्छा होनेपर भी वे बोल नहीं पा रहे थे।

'प्रिय नन्द !' बुद्धदेवने नन्दको उठाकर अङ्कसे कस लिया। उनकी विमाता मायादेवी और यह उनका भाई उन्हें कितना प्रिय था, वे कैसे बताते। पर आज तो जगतीका प्रत्येक जीव उनके लिये प्राणाधिक प्रिय हो गया था। वे नन्दके सिरपर हाथ फेर रहे थे। नन्दके नेत्र अब भी अश्रुवर्षा कर रहे थे। बड़ी कठिनाईसे नन्दने कहा—'आज कपिलवस्तु और उसकी प्रजा धन्य हो गयी। आप-जैसे भाईको पाकर मेरा जीवन परम पावन बन जाय, इसमें तो कहना ही क्या। आपके अवतरित होनेसे समस्त मेदिनी पुनीत हो गयी। जगत्के पाप-ताप दूर भाग गये। पृथ्वीका भार हल्का हो गया। आज यह पुलकित······।'

नन्द आगे नहीं बोल सके। एक अत्यन्त सुमधुर स्मितके साथ बुद्धदेवने उन्हें अपने अङ्कमें पुनः कस लिया और उधर प्रेमोन्मत्त असंख्य जन-कण्ठोंने उच्चघोष किया—'भगवान् बुद्धदेवकी जय।'

'भगवान् बुद्धदेवकी जय !' नन्दके मुखसे स्वतः निकल गया। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहते ही जा रहे थे।

'बुद्धं शरणं गच्छामि।'

'धम्मं शरणं गच्छामि।'

'संघं शरणं गच्छामि।'

नन्द बार-बार उच्चारण करते। बोधिसत्त्वके चरणोंका ध्यान एवं उनके उपदेशका वे प्रतिक्षण मनन करते। 'जगत्‌की प्रत्येक प्रिय और मनोरम वस्तुका बिछोह होगा। वे छूटेंगी ही। उनका नाश निश्चित है।' बोधिसत्त्वकी इस वाणीने उनके मनमें वैराग्य उत्पन्न कर दिया था। मुक्ति-प्राप्तिके लिये वे प्राणपणसे प्रयत्न कर रहे थे। उनकी प्रत्येक क्रिया मुक्तिके लिये ही हो रही थी।

किंतु जिस प्रकार सघन जलद-मालाके बीच सौदामनी कौंधकर क्षणार्द्धके लिये घनान्धकारको समाप्त कर देती है, सर्वत्र प्रकाश छा जाता है, उसी प्रकार नन्दके मस्तिष्कमें एक ऐसी स्मृति उदित हो जाती, जिसके कारण वे क्षणभर-के लिये सहम जाते, उनका सारा प्रयत्न जैसे शिथिल हो जाता। मुक्तिके सम्पूर्ण प्रयत्नपर जैसे पानी फिर जाता।

'प्रिय ! शीघ्र लौटना।' नागिन-जैसे अपने कृष्ण केशोंको फैलाये चन्द्रमुखी शाक्यानी जनपद-कल्याणीने अत्यन्त करुण स्वरमें कहा था। उसकी चम्पकलता-सी कोमल काया काँप रही थी और कमल-सरीखे नेत्रोंसे आँसूकी गोल-गोल बड़ी-बड़ी बूँदें लुढ़क रही थीं। नन्दने अपनी प्राणप्रियाके इस रूपको तिरछे नेत्रोंसे एक बार, केवल एक ही बार देखा था; पर उसकी वह करुणमूर्ति बरबस न चाहनेपर भी नन्दके हृदय-मन्दिरमें प्रवेश कर गयी थी—चुपकेसे नेत्रोंमें बस गयी थी।

पर नन्दने बोधिसत्त्वके तेजस्वी रूपका दर्शन कर लिया था, उनका अमृतमय उपदेश सुन लिया था। संसारकी असारता तथागतके शब्दोंमें अब भी उनके कानोंमें झंकृत हो रही थी, फिर वे किस प्रकार पीछे पग रखते। वे बढ़े—बढ़ते गये तथागतके चरणोंमें। जीवमात्रको मुक्तिका मार्ग बतानेके लिये जब भगवान्‌ने धरित्रीपर पग रक्खा था, तब नन्दको वे क्यों नहीं दीक्षित करते ?

नन्द विशुद्ध अन्तर्मनसे ब्रह्मचर्यका पालन कर रहे थे। किंतु प्रातः-सायं-मध्याह्न या नीरव निशीथमें जब वे एकाकी 'बुद्धं शरणं गच्छामि' ' 'की आवृत्ति करते होते, तब अचानक शाक्यानी जनपद-कल्याणीकी करुणमूर्ति नेत्रोंके सामने आ जाती। उसकी बड़ी-बड़ी आँसूकी बूँदोंकी स्मृतिसे वे सिहर उठते और उसी समय उन्हें कोकिल-कण्ठका अनुनय सुनायी देता—'प्रिय ! शीघ्र लौटना।'

नन्द आकुल हो जाते। उनकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी। सुविस्तृत मार्गपर वे अपने पग दृढ़तासे बढ़ाते जायँगे, इसकी आशा उनके मनसे तिरोहित-सी होती चली जा रही थी।

'आवुस !' अन्ततः अधीर नन्दने अपने मनकी बात एक भिक्षुपर प्रकट कर दी। 'मेरा साधन शिथिल होता जा रहा है। ब्रह्मचर्यका पालन मुझसे सम्भव नहीं। मैं इस व्रत-को त्यागकर पुनः गार्हस्थ्य-जीवनमें लौट जानेका विचार कर रहा हूँ।'

'सत्य कहते हो, नन्द !' भिक्षुने आश्चर्यचकित हो पूछा और नन्दकी ओर देखने लगा।

'आवुस !' नन्दने अवनत-वदन उत्तर दे दिया। 'मैं सत्य कहता हूँ। पत्नीकी स्मृति मुझे विकल कर रही है।'

नन्द चकित थे। उन्होंने ऐसे-ऐसे विस्तृत और रमणीय प्रासाद कभी नहीं देखे थे। मणिमय भित्तियाँ और स्वर्णके दीप्तिमय ऊँचे कलश देखकर मन लुब्ध हो जाता था। विस्तीर्ण पथ, उपवन और जिस ओर भी दृष्टि जाती, वहीं रुक जाती। नन्दने पूछा—'भन्ते ! हम कहाँ हैं ?'

'यह देवलोक है।' तथागतने उत्तर दिया और आगे बढ़ गये।

'भन्ते ! ऐसा रूप-लावण्य तो मैंने कभी देखा नहीं।' नन्दके आश्चर्यकी सीमा नहीं थी। अपने नेत्रोंसे उन्होंने जो कभी नहीं देखा और जो कभी सुननेको भी नहीं मिला और मनने जिसकी कभी कल्पनातक नहीं की, वह सब यहाँ दीख रहा था। वे परम विस्मित थे। शाक्यानी जनपद-कल्याणी तथा पृथ्वीकी सर्वोत्तम सुन्दरी तो इन लावण्यवतियोंके सम्मुख पुच्छहीना कुत्सिता कानी कुतियासे भी अत्यधिक कुरूपा और उपेक्षणीया हैं। 'ये देवियाँ कौन हैं ?' पूछ लिया उन्होंने।

'ये अप्सराएँ हैं। देवाधिपति शक्रकी सेवामें उपस्थित हुई हैं ये।' बोधिसत्त्वने मुस्कराते हुए कहा। 'एक बात पूछूँ, बताओगे ?'

'अवश्य बताऊँगा।' नन्दकी दृष्टि अप्सराओंकी ओर थी। 'आपसे क्या गोप्य है।'

'भूलोककी सुन्दरियाँ इनकी तुलनामें······'

'कुछ भी नहीं।' तथागतका प्रश्न पूरा हुए बिना ही नन्दने उत्तर दे दिया। 'महाकुरूपा हैं वे इनके सामने।'

'जनपदकल्याणी?' तथागतने पुनः पूछा।

'वह भी।' नन्दने बल देकर कहा। 'इस सौन्दर्यकी तुलना जगत्‌में कहाँ, प्रभो!'

'मैं इन पाँच सौ रूपसियोंको तुम्हें दिला दूँगा।' तथागतने कहा। 'मेरे वचनपर विश्वास करके तुम ब्रह्मचर्यका पालन करो!'

'भन्ते! मैं अवश्य ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करूँगा।' अत्यन्त उत्साहसे नन्दने उत्तर दिया। 'आपके वचनका विश्वास धरातलका कौन प्राणी नहीं करेगा।'

नन्दने देखा, वे भगवान्‌के साथ पुनः जेतवनमें आ गये हैं। देवलोक अलक्षित हो गया।

'पाँच सौ रूपसियोंके लोभसे नन्द ब्रह्मचर्यका पालन कर रहे हैं।' तीक्ष्ण शूल-जैसी कटूक्तियोंकी नन्द चिन्ता नहीं करते। उन्हें तो दृढ़ विश्वास था भगवान्‌के वचनका। निश्चय ही पाँच सौ अलौकिक लावण्यवतियाँ सुलभ हो जायँगी। वे दत्तचित्त हो ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते जा रहे थे।

विशुद्ध निष्ठा और आत्मसंयमसे वे व्रतमें लगे रहे। कुछ ही समय बाद उन्हें वह प्राप्त हो गया, जिसके लिये प्रव्रजित हुआ जाता है। उनका व्रत सफल हो गया। ममताका बन्धन छिन्न हो गया। इसके बाद कुछ करना शेष नहीं है' इसे उन्होंने जान लिया। तत्त्वका उन्होंने साक्षात्कार कर लिया।

प्रत्यूष वेला। शीतल पवन मन्थर गतिसे बह रहा था। सर्वत्र शान्तिका एकाधिप साम्राज्य था। भगवान् शान्त बैठे थे।

'भन्ते!' नन्दने अभिवादन करनेके पश्चात् कहा, 'जिन पाँच सौ अप्सराओंको मुझे दिलानेका आपने वचन दिया था, अब मुझे उनकी आवश्यकता नहीं रह गयी।'

'नन्द!' बुद्धदेवने वैसी ही शान्तिसे कहा, 'मुझे विदित हो गया है कि नन्द यहींपर चेतोविमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्तिको जान, उनका साक्षात्कार कर चुका है। तुम्हें प्रापञ्चिक जगत्‌से मुक्ति मिलते ही मैं अपने वचन-पालनके दायित्वसे मुक्त हो गया।'

कुछ रुककर भगवान्‌ने पुनः धीरे-धीरे कहा—'काम जिन्हें स्पर्श नहीं कर पाता, ममता-पाशमें जो बँध नहीं पाता और सुख-दुःखसे जो प्रभावित नहीं होता, वही सच्चा भिक्षु है।'

'भन्ते! जगत्‌का आकर्षण मेरे मनसे सर्वथा समाप्त हो गया!' सीस झुकाकर आयुष्मान् नन्दने निवेदन किया। 'अब तो मेरे मनमें तीव्रतम आकर्षण है केवल आपके पद-पद्मोंमें।'

तथागत मौन तथा शान्त थे। उनकी आकृतिसे तेज छिटक रहा था। नन्द मन-ही-मन आवृत्ति कर रहे थे—'बुद्धं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं··'

—शि० दु०

आत्मकल्याण

'आत्मकल्याणके अधिकारी पापी, पुण्यात्मा सब हैं। अपने उद्धारकी बात प्रत्येक प्राणी सोच सकता है।' अम्बपालीके मनमें आशाका संचार हुआ।

'यान प्रस्तुत है, देवि!' श्रृङ्गारदासीने वैशालीकी सर्व-सुन्दरी गणिकाका ध्यान आकृष्ट किया। वह रथपर बैठकर भगवान् बुद्धका दर्शन करने चल पड़ी। शास्ता उसीके अम्बपाली-वनमें भिक्षुओंके साथ विहार करते थे।

'जिस यानपर बैठकर मैं राग-रंग और आमोद-प्रमोद आदिमें समयका दुरुपयोग करती थी, उसीपर बैठकर शास्तासे धर्मकथा सुनने जा रही हूँ। कितना महान् सौभाग्य है मेरा!' श्वेत-परिधान-धारिणी अम्बपालीके मनमें अनेक सात्त्विक भावोंका उदय हो रहा था। उसके शरीरपर एक भी अलंकार नहीं था, रथ वेगके साथ चला जा रहा था। राजपथकी शून्य निर्जनता ही असंख्य हृदयोंपर शासन करनेवाली अम्बपालीकी सङ्गिनी थी।

वनके निकट पहुँचकर उसने रथ रोकनेका आदेश दिया। वह उतर पड़ी। नंगे पाँव पैदल चलकर उसने शास्ताका अभिवादन किया। निकट बैठ गयी। भगवान् बुद्धने उसको धर्मकथासे समुत्तेजित किया। उसका जीवन बदल गया, वह मूर्तिमती विरति-सी दीख पड़ी।

'भगवान् भिक्षुओंसमेत कल मेरा भोजन (भात) स्वीकार करें।' अम्बपालीके निवेदनको तथागतने मौनसे स्वीकार किया।

× × × ×

अम्बपाली अपने प्रासादकी ओर लौट रही थी। उसने देखा कि अनेक रथ नगरसे वनकी ओर आ रहे हैं। उनपर लिच्छवी युवक लाल-पीले-नीले-हरे और श्वेत परिधानसे समलंकृत होकर तथागतका स्वागत करने जा रहे थे।

'इतनी प्रसन्नता क्यों है, अम्बपाली?' लिच्छवियोंने राजपथपर रथ रोक दिये।

'भद्रो! मुझे आत्मकल्याणका पथ मिल गया है। तथागतने कलके (भात) भोजनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है। वे कल मेरे वनमें (पिण्ड-चार) भिक्षा ग्रहण करेंगे।' गणिकाने हृदयके समग्र भाव उँड़ेल दिये।

'ऐसा कदापि नहीं हो सकता। शास्ता हमारा निमन्त्रण स्वीकार करेंगे। हम बड़ी-से-बड़ी कीमत देकर भात खरीदना चाहते हैं, मिल सकेगा अम्बपाली?' युवकोंने उसका मन धनसे जीतना चाहा।

'नहीं, भद्रो। अब ऐसा नहीं हो सकता। धन तो मैंने जीवनभर कमाया; आत्मकल्याणका मूल्य धनसे नहीं लग सकता।' अम्बपाली स्वस्थ हो गयी।

रथ अपनी-अपनी दिशाओंकी ओर चल पड़े।......

लिच्छवियोंने भगवान् बुद्धका दर्शन किया। भगवान्को पिण्डचारका निमन्त्रण दिया, शास्ताने अस्वीकार किया।

× × × ×

'आज मैं कृतकृत्य हो गयी। भगवान् और भिक्षु-संघने मेरे हाथका परोसा भोजन स्वीकार कर मेरा अनित्य जगत्के प्रपञ्चोंसे उद्धार कर दिया।' अम्बपालीने भगवान् बुद्धके भोजनोपरान्त उनके आसनके निकट बैठकर संतोषकी साँस ली।

'सम्यक् सम्बुद्धने मेरे अम्बपाली-वनमें विहार किया है; मैं इस आरामको भिक्षुसंघके हाथोंमें सौंपती हूँ।' तथागतने अम्बपालीके इस निवेदनपर मौन स्वीकृति दी।

भगवान् बुद्धने उसको धार्मिक कथासे समुत्तेजित किया। अम्बपाली धन्य हो गयी, पवित्र हो गयी। उसका रोम-रोम पुलकित था। उसका कल्याण हो गया।—रा० श्री०

(बुद्धचर्या)

दानकी मर्यादा

भगवान् गौतम बुद्ध श्रावस्तीमें विहार कर रहे थे। एक दिन विशेष उत्सव था। धर्मकथा-श्रवणके लिये विशाल जन-समूह उनकी सेवामें उपस्थित था। विशाखा भी इस धर्म-परिषद्में सम्मिलित थी। भगवान्के सामने आनेके पहले विहारके दरवाजेपर ही उसने अपना महालता-प्रसाधन (विशेष आभरण) उतारकर दासीको सौंप दिया था; तथागतके सम्मुख पहनकर जानेमें उसे बड़ा संकोच था।

धर्म-परिषद् समाप्त होनेपर अपनी सुप्रिया नामकी दासीके साथ विहारमें ही घूमती रही। दासी आभरण भूल गयी।

'विशाखाका महालता-प्रसाधन छूट गया है, भन्ते।' स्थविर आनन्दने तथागतका आदेश माँगा। परिषद् समाप्त होनेपर भूली वस्तुओंको आनन्द ही सम्हाला करते थे। शास्ताने आभरणको एक ओर रखनेका आदेश दिया।

'आर्य! मेरी स्वामिनीके पहनने योग्य यह अलङ्कार नहीं रह गया है। आपके हाथसे छू गयी वस्तुको वे विहारकी सम्पत्ति मानती हैं।' सुप्रियाने विशाखाके उदार दानकी प्रशंसा की। वह विहारके दरवाजेपर लौट गयी; विशाखा रथ रोककर उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। स्थविर आनन्द दासीके कथनसे विस्मित थे। वे विशाखाकी त्यागमयी वृत्ति और विशेष दानशीलतासे प्रसन्न थे।

विशाखाने सोचा कि महालता-प्रसाधन रखने-रखानेमें महाश्रमणको विशेष चिन्ता होगी। इसका भिक्षु-संघके लिये दूसरी तरहसे भी सदुपयोग हो सकता है। उसने प्रसाधन लौटा दिया।

× × ×

दूसरे दिन विहारके दरवाजेके ठीक सामने एक भव्य रथ आ पहुँचा। विशाखा उतर पड़ी। उसने तथागतका अभिवादन किया, बैठ गयी।

'भन्ते, मैंने घरपर सुनारोंको बुलवाया था; प्रसाधनका मूल्य नौ करोड़ उन लोगोंने (गलानेके बाद) निश्चित किया और एक लाख बनवानेका मूल्य लगाया गया। नौ करोड़ एक लाख आपकी सेवामें उपस्थित है।' विशाखाने आदेश माँगा।

'तुम्हारे दानकी मर्यादा स्तुत्य है। विहारके पूर्व दरवाजेपर संघके लिये वासस्थानका निर्माण उचित है।' शास्ताने विशाखाको धर्मकथा, शील, दान आदिसे समुत्तेजित किया।

भगवान् बुद्धकी प्रसन्नताके लिये विशाखाने भूमि खरीदी और महालता-प्रसाधनके पूरे मूल्यसे भव्य प्रासादका निर्माण कराया। उसकी श्रद्धा धन्य हो गयी। श्रावस्तीकी अत्यन्त धनी रमणीके अनुरूप ही आचरण था उसका। दानकी मर्यादाका ज्ञान था उसे।—रा० श्री० (बुद्धचर्या)

आत्मशान्ति

लगभग तीन हजार साल पहलेकी बात है। भगवान् गौतम बुद्ध कुरुदेशके कल्माषदम्य निगम (उपनगर) में विहार करते थे। वे निगमके समीप एक वनखण्डमें विराजमान थे। चारों ओर शान्ति थी।

'कितनी स्वर्णिम प्रभा है शरीरकी। ऐसा लगता है कि साक्षात् सुमेरुका ही मानवीय वेषमें पृथ्वीपर अवतरण हुआ हो। मेरी कन्या भी स्वर्ण-वर्णकी है। जिसे बड़े-बड़े नरेन्द्रोंने प्राप्त करनेका प्रयत्न किया, उसे मैं इसी श्रमणको दूँगा। निगमके मागन्दीय नामक ब्राह्मणने तथागतका दर्शन किया; वह सरोवरके तीरपर पानी पी रहा था। घर गया। उसने अपनी पत्नीसे सारी बात बतायी। दोनोंने कन्याको विशेष अलंकार, वस्त्र और अङ्गराग आदिसे सजाया।

× × ×

'श्रमणका आसन यहीं था।' वनखण्डमें प्रवेश करके उसने अपनी पत्नीका ध्यान आकृष्ट किया; कन्या भी साथ थी। वह सौन्दर्यकी सजीव स्वर्णप्रतिमा थी, कोमलता और विनयशीलताकी चलती-फिरती आकृति थी। उसके लावण्यसे समस्त वनखण्ड प्रदीप्त था।

तथागतके बैठनेके स्थानपर तृण-आसन था। ब्राह्मणीने देखा।

'काम पूरा नहीं होगा' उसने पतिसे निवेदन किया। 'श्रमणने काम (मार) को जीत लिया है, इसलिये तृण इधर-उधर नहीं बिखर सके।' ब्राह्मणीने गम्भीर होकर अपनी कन्याको देखा, चिन्तित थी वह।

'मङ्गलके समय अमङ्गल नहीं कहना चाहिये।' ब्राह्मणने पत्नीको समझाया। ब्राह्मणीने भगवान् बुद्धका पदचिह्न देखा।

'श्रमणका मन काममें लिप्त नहीं है। रागयुक्तका चरण उकड़ूँ होता है, द्वेषयुक्तका पद निकला होता है, मोहयुक्तका पद दबा होता है पर मलरहितका पद ऐसा होता है। इस तरहकी बातें पति-पत्नीमें हो ही रही थीं कि भगवान् तथागत पिण्डचार (भोजन) समाप्त करके निगमसे अपने स्थानकी ओर आते दीख पड़े।

'इस तरहके पुरुष कामोपभोगमें नहीं रमते।' ब्राह्मणीने उनका तेजोमय भव्य रूप देखा।.....सुगत अपने आसनपर बैठ गये। 'आप और मेरी कन्या—दोनों स्वर्ण वर्णके हैं। इसका पाणिग्रहण करें।' ब्राह्मणके एक हाथमें जलभरा कमण्डलु था, दूसरे हाथसे उसने कन्याकी बाँह पकड़ी।

'तृष्णा और रागसे भरी लावण्यमयी स्वर्गीय मार-कन्याओंको भी देखकर मन नहीं विकृत हो सका तो मल-मूत्रसे भरी इस वस्तुका पैरसे भी स्पर्श नहीं किया जा सकता।' ऐसा लगता था कि शास्ता ब्राह्मणसे नहीं, किसी दूसरेके प्रति ऐसी बातें कह रहे हैं।

'यदि अनेक नरेन्द्रोंद्वारा प्रार्थित इस रूपराशिको आप नहीं चाहते तो अपनी दृष्टि, शील, व्रत, जीवनकी भवमें उत्पत्तिके प्रति क्या धारणा है?' मागीन्दयकी जिज्ञासा थी।

'मैंने दृश्योंको देख उन्हें न ग्रहण कर आत्मशान्तिको ही देखा। विवादरहित होनेपर आत्माको शान्ति मिलती है। संज्ञासे विरक्त नहीं बँधता; प्रज्ञाद्वारा विमुक्तको मोह नहीं रहता है। संज्ञा और दृष्टि—नाम-रूपको ग्रहण करनेवाला ही लोकमें धक्का खाता है।' भगवान्ने ब्राह्मणको आत्मशान्तिका पथ बताया। वह चला गया।—रा० श्री० (बुद्धचर्या)

बासी अन्न

श्रावस्ती नगरीके नगरसेठ मिगार भोजन करने बैठे थे। उनकी सुशीला पुत्रवधू विशाखा हाथमें पंखा लेकर उन्हें वायु कर रही थी। इसी समय एक बौद्ध-भिक्षु आकर उनके द्वारपर खड़ा हुआ और उसने भिक्षा माँगी। नगरसेठ मिगारने भिक्षुकी पुकारपर ध्यान ही नहीं दिया। वे चुपचाप भोजन करते रहे। भिक्षुने जब फिर पुकारा, तब विशाखा बोली—'आर्य! मेरे श्वशुर बासी अन्न खा रहे हैं, अतः आप अन्यत्र पधारें।'

नगरसेठके नेत्र लाल हो गये। उन्होंने भोजन छोड़ दिया। हाथ धोकर पुत्रवधूसे बोले—'तूने मेरा अपमान किया है। मेरे घरसे अभी निकल जा!'

विशाखाने नम्रतासे कहा—'मेरे विवाहके समय आपने मेरे पिताको वचन दिया है कि मेरी कोई भूल होनेपर आप आठ सद्गृहस्थोंसे उसके विषयमें निर्णय करायेंगे और तब मुझे दण्ड देंगे।'

'ऐसा ही सही !' नगरसेठको तो क्रोध चढ़ा था। वे पुत्र-वधूको निकाल देना चाहते थे। उन्होंने आठ प्रतिष्ठित व्यक्तियोंको बुलवाया।

विशाखाने सब लोगोंके आ जानेपर कहा—'मनुष्यको अपने पूर्वजन्मके पुण्योंके फलसे ही सम्पत्ति मिलती है। मेरे श्वशुरको जो सम्पत्ति मिली है, वह भी उनके पहलेके पुण्योंका फल है। इन्होंने अब नवीन पुण्य करना बंद कर दिया है, इसीसे मैंने कहा कि ये बासी अन्न खा रहे हैं।'

पंच बने पुरुषोंको निर्णय नहीं देना पड़ा। नगरसेठने ही लज्जित होकर पुत्रवधूसे क्षमा माँगी।—सु० सिं०

चमत्कार नहीं, सदाचार चाहिये

गौतम बुद्धके समयमें एक पुरुषने एक बहुमूल्य चन्दनका एक रत्नजटित शराव (बड़ा प्याला) ऊँचे खंभेपर टाँग दिया और उसके नीचे यह लिख दिया 'जो कोई साधक, सिद्ध या योगी इस शरावको बिना किसी सीढ़ी या अङ्कुश आदिके, एकमात्र चमत्कारमय मन्त्र या यौगिक शक्तिसे उतार लेगा, मैं उसकी सारी इच्छा पूर्ण करूँगा।' उसने इसकी देख-रेखके लिये वहाँ कड़ा पहरा भी नियुक्त कर दिया।

कुछ ही समयके बाद कश्यप नामका एक बौद्ध भिक्षु वहाँ पहुँचा और केवल उधर हाथ बढ़ाकर उस शरावको उतार लिया। पहरेके लोग आश्चर्यचकित नेत्रोंसे देखते ही रह गये और कश्यप उस शरावको लेकर बौद्ध-विहारमें चला गया।

बात-की-बातमें एक भीड़ एकत्रित हो गयी। वह भीड़ भगवान् बुद्धके पास पहुँची। सबने प्रार्थना की—'भगवन्! आप निःसंदेह महान् हैं; क्योंकि कश्यपने, जो आपके अनुयायियोंमेंसे एक हैं, एक शरावको, जो बड़े ऊँचे खंभेपर टँगा था, केवल ऊपर हाथ उठाकर उतार लिया और उसे लेकर वे विहारमें चले गये।'

भगवान्‌का इसे सुनना था कि वे वहाँसे उठ पड़े। वे सीधे चले और पहुँचे उस विहारमें सीधे कश्यपके पास। उन्होंने झट उस रत्नजटित शरावको पटककर तोड़ डाला और अपने शिष्योंको सम्बोधित करते हुए कहा—'सावधान! मैं तुमलोगोंको इन चमत्कारोंका प्रदर्शन तथा अभ्यासके लिये बार-बार मना करता हूँ। यदि तुम्हें इन मोहन, वशीकरण, आकर्षण और अन्यान्य मन्त्र-यन्त्रोंके चमत्कारोंसे जनताका प्रलोभन ही इष्ट है तो मैं सुस्पष्ट शब्दोंमें कह देना चाहता हूँ कि अद्यावधि तुमलोगोंने धर्मके सम्बन्धमें कोई जानकारी नहीं प्राप्त की। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो इन चमत्कारोंसे बचकर केवल सदाचारका अभ्यास करो।'

—जा० श०

(Caru's Gospel of Buddha, pp. 99—101)

धर्मविजय

'भगवती स्वर्णलेखा और गोदावरी सरिताके मध्यदेश—कलिङ्गकी प्रजाने विद्रोह कर दिया है, महाराज! यदि यह विद्रोह पूर्णरूपसे दबा नहीं दिया जायगा तो भरतखण्ड अराजकता और अशान्तिका शिकार हो जायगा।' प्रधानामात्य राधागुप्तने मगधपति अशोकका ध्यान आकृष्ट किया; राजसभामें सन्नाटा छा गया।

'पाटलिपुत्रका राजतन्त्र साम्राज्यकी प्रत्येक घटनासे परिचित है। इस विद्रोहको दबानेका उपाय है युद्ध। पूर्वीय महासागरकी उत्तुङ्ग तरङ्गें हमारी रणभेरीसे प्रकम्पित हो जायँगी। सागरका नीला पानी शत्रुके खूनसे लाल हो जायगा।' अशोककी भृकुटी तन गयी। सम्राट्‌ने आक्रमणका आदेश दिया। उन्होंने सैन्य-संचालनका भार स्वयं सम्हाला।… कलिङ्ग प्रान्तमें युद्धका बाजा बज उठा।

× × × × ×

'विजयश्रीने आपका चरण-स्पर्श किया है, सम्राट्। कलिङ्ग मगधके अधिकारमें आ गया।' महामन्त्री राधागुप्तने सम्राट्‌के शिविरमें प्रवेश करके अभिवादन किया।

'विजयश्री—जिसने मृत्युकी कोखसे जन्म लिया, जिसने सैकड़ों घरोंमें हिंसाकी विकराल ज्वाला प्रस्फुटित कर असंख्य रमणियोंका सिन्दूर धो डाला, अगणित शिशुओं और वृद्धोंकी जीविका छीन ली, जिसने हरे-भरे खेतोंमें शवोंका पहाड़ खड़ा कर दिया है—मुझे नहीं चाहिये; यह पराजय है। राधागुप्त! शस्त्र-अस्त्रसे प्राप्त विजय अधर्मकी देन है।'

सम्राट् शिविरसे बाहर निकलकर रणभूमिमें टहलने लगे।

चारों ओर विचित्र-सी सड़न थी; कौए, चील्ह और गिद्ध मँडरा रहे थे। वायुके बहनेमें विचित्र उदासी थी।

'कलिङ्गमें शान्ति-स्थापना आपकी देन है; मगधका ऐश्वर्य बढ़ गया।' महामन्त्रीने सम्राट्का उद्वेग शान्त करना चाहा।

'कलिङ्गका युद्ध महापाप है और मैं इसका प्रायश्चित्त करूँगा धर्मविजयसे। आत्मविजय ही सुख, शान्ति और लौकिक तथा अलौकिक समृद्धिकी सिद्धि-भूमि है।' सम्राट्के नेत्रोंसे ज्योतिकी निर्झरिणी प्रवाहित हो उठी। उन्होंने मगध लौटनेका आदेश दिया।

× × × × ×

सारे साम्राज्यमें शान्तिकी मन्दाकिनी बह चली। अशोकके धर्मघोषसे सारा-का-सारा भरतखण्ड धन्य हो उठा। विहार-यात्राओं (राग-रङ्ग तथा आमोद-प्रमोद)ने धर्मयात्राओंका रूप ग्रहण कर लिया। शस्त्र-अस्त्रके स्थानपर देशके कोने-कोनेमें शिलालेख उत्कीर्ण हुए। सम्राट्की प्रेममयी मङ्गलकारिणी वृत्तिने घोषणा की—'सारी प्रजा मेरी संतान है। मैं उसकी लौकिक-पारलौकिक सुख-शान्तिकी कामना करता हूँ।'—कलिङ्ग-युद्धने धर्म-विजयका पथ प्रशस्त किया।

—रा० श्री०

यह धन मेरा नहीं, तुम्हारा है

कहते हैं कि सम्राट् अशोकसे पहलेकी यह बात है—एक अत्यन्त दयालु तथा न्यायी राजा था। उसके राज्यमें बाघ-बकरी एक घाट पानी पीते थे और कोई किसीको कभी भी सताता नहीं था। उसके राज्यमें लोगोंमें भोगलिप्सा नहीं थी। दूसरेकी वस्तुकी ओर तो कोई ताकता ही नहीं था। इससे कोई मामला-मुकदमा नहीं होता था। कचहरियाँ खाली रहती थीं। नामके लिये न्यायालय था। उसमें एक न्यायाध्यक्ष रहते थे। पर उनके पास कोई काम नहीं आता था।

बहुत दिनों बाद दो पुरुष एक झगड़ेका न्याय कराने न्यायालयमें आये। दोनों ही किसान थे। पहलेने कहा—'न्यायमूर्ति! मैंने इनसे थोड़ी-सी जमीन खरीदी थी। मैं उसमें खेती करता था। एक दिन मेरा हल जाकर किसी बर्तनसे टकराया। मिट्टी हटाकर देखा तो उसमें हीरे, मोती तथा सोनेकी मोहरें भरी थीं। सरकार! मैंने तो जमीन खरीदी थी। धनका खजाना तो खरीदा ही नहीं था। मुझे पहले कुछ पता भी नहीं था। मैंने इनसे कहा कि अपना खजाना हटा लो; पर ये मेरी एक भी नहीं सुनते। मेरे खेतका काम रुक रहा है।'

दूसरेने कहा—'न्यायाध्यक्ष! यह बात बिल्कुल सत्य है। पर मैं भला, अपनेको इस धनका मालिक कैसे मान लूँ? मैंने तो जमीन तथा उसके अंदर जो कुछ था सब इनको बेचकर पूरा मूल्य ले लिया था। अब उसके अंदरका सभी कुछ इनका है। ये मुझे बिना कारण सता रहे हैं। मेरा पिण्ड छुड़ाइये इनसे।'

यों कहकर दोनों वहाँ परस्पर झगड़ने लगे और समझाने-बुझानेपर भी दोनोंमें कोई भी उस धनराशिको लेनेके लिये राजी नहीं हुआ। बेचारे न्यायाधीश क्या करते। कुछ देरतक तो वे उन लोगोंके त्याग और निःस्वार्थ भावकी प्रशंसा मन-ही-मन करते रहे। अन्तमें उन्हें एक उपाय सूझा। उन्होंने उन दोनोंसे पूछा कि 'तुम्हारे कोई संतान है या नहीं?' पता लगा कि एकके पुत्र है, दूसरेके कन्या है और उनमें परस्पर सम्बन्ध होता है। न्यायाध्यक्षने उन दोनोंसे प्रार्थना की कि 'यदि आप लोगोंमेंसे कोई भी इस धनको स्वीकार नहीं करना चाहता तो आप अपनी संतानका सम्बन्ध करके उनका विवाह कर दीजिये और सारा धन उनको बाँट दीजिये।'

दूसरे समयके शासनमें तो बिना स्वामित्वका सारा धन सहज ही राज्यकी सम्पत्ति होता। पर आजकी दृष्टिसे यह विचित्र शासन था, विचित्र मुकदमा था तथा विचित्र ही न्याय था।* —जा० श०

* प्रायः इसी प्रकारकी एक कथा सीरियाके राजा शादीदके शासनकालकी भी आती है।

अर्जुनका उदारताका अभिमान-भङ्ग

(कर्णका चन्दन-दान)

यह प्रसिद्ध है कि कर्ण अपने समयके दानियोंमें सर्वश्रेष्ठ थे। इधर अर्जुनको भी अपनी दानशीलताका बड़ा गर्व था। एक बार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके समक्ष ही कर्णकी उदारता एवं याचकमात्रको बिना दिये न लौटानेकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा की। अर्जुन इसे सह न सके। उन्होंने कहा— 'माधव ! आप बार-बार कर्णकी प्रशंसा कर हमारे हृदयको ठेस पहुँचा रहे हैं। मैं समझता हूँ आपको मेरी दानशीलताका ज्ञान ही नहीं है; अन्यथा मेरे सामने ही आप इस प्रकारकी बात बार-बार न कहते।' भगवान् चुप रहे।

आखिर एक दिन इसकी परीक्षाका भी अवसर आ ही गया। एक दिन एक ब्राह्मण अर्जुनके दरवाजेपर पहुँचा और कहने लगा, 'धनंजय ! सुना है आपके दरवाजेसे कोई भी याचक लौटकर नहीं जाता। मैं आज बड़े ही धर्मसंकटमें पड़ गया हूँ। मेरी स्त्री आज चल बसी। मरते समय उसने कहा कि 'मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करो; वह यह कि मेरे शरीरका दाह केवल चन्दनकी लकड़ियोंसे ही करना।' क्या आप इतने चन्दनकी लकड़ियोंकी व्यवस्था कर सकियेगा ?' अर्जुनने कहा 'क्यों नहीं। अभी प्रबन्ध होता है।' और कोठारीको बुलाकर आज्ञा दी कि इन्हें तुरंत पचीस मन चन्दन-की लकड़ी तौल दो। दुर्भाग्यवश उस दिन न तो भण्डारमें ही कोई चन्दनकी लकड़ी थी न कहीं बाजारमें ही। अन्तमें कोठारी लाचार होकर अर्जुनके पास आया और कहने लगा कि 'महाराज ! चन्दनकी लकड़ीका प्रबन्ध सर्वथा असम्भव है।' इसपर ब्राह्मणने पूछा 'तो क्या मैं किसी दूसरेके दरवाजे जाऊँ ?' अर्जुनने कहा 'महाराज ! अब तो लाचारी है।'

अब वह ब्राह्मण कर्णके यहाँ पहुँचा। वहाँ भी यही हालत थी। उनका भी कोठारी बाजारसे खाली हाथ लौट आया। ब्राह्मणने कहा 'तो महाराज ! मैं अब चलूँ।' कर्णने कहा, 'महाराज ! आप नाराज न होइये। मैं अभी आपके काष्ठका प्रबन्ध करता हूँ।' और देखते-देखते उन्होंने अपने महलके चन्दनके खंभे निकलवाकर उसकी माँग पूरी कर दी। यद्यपि उनका महल ढह गया, तथापि उन्होंने उस ब्राह्मणको लौटाया नहीं। ब्राह्मणने पत्नीका दाह-संस्कार किया। शामको श्रीकृष्ण तथा अर्जुन टहलने निकले। देखा तो एक ब्राह्मण श्मशानपर संकीर्तन कर रहा है। पूछनेपर वह कहने लगा —'बस, बार-बार धन्यवाद है उस कर्णको, जिसने आज मेरे संकटको दूर करनेके लिये, अपनी दानकी मनोवृत्तिकी रक्षाके लिये, महलके चन्दनके खंभोंको निकलवाकर सोने-से महलको ढहा दिया। भगवान् उसका भला करें।'

अब श्रीकृष्ण अर्जुनकी ओर देखने लगे और बोले— 'भाई ! चन्दनके खंभे तो तुम्हारे महलमें भी थे, पर तुम्हें उनकी याद ही नहीं आयी।' यह देख-सुनकर अर्जुनको मन-ही-मन बड़ी लज्जा आयी।

अर्जुनका भक्ति-अभिमान-भङ्ग

(दिगम्बरकी भक्तिनिष्ठा)

संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
तेहि ते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

एक बार अर्जुनको गर्व हुआ कि 'भगवान्का सबसे लाड़ला मैं ही हूँ। तभी तो श्रीकृष्ण स्वयं 'पाण्डवानां धनञ्जयः' कहते फूले नहीं समाते। उन्होंने मेरे प्रेममें आबद्ध होकर अपनी बहिन सुभद्राको भी मुझे सौंप दिया। समराङ्गणमें वे मेरे सारथि बने और मेरे निमित्त उन्होंने दैत्यादिका जघन्य कृत्य स्वीकार किया, यहाँतक कि रणभूमिमें स्वयं अपने हाथोंसे मेरे घोड़ोंके घावतक भी धोते रहे। मैं यद्यपि उनकी प्रसन्नताके लिये कुछ भी नहीं करता, तथापि मेरे सुखी रहनेसे ही उन्हें बड़ा सुख तथा आनन्द मिलता है। सचमुच मैं उनका परम प्रियतम हूँ।'

प्रभुको इसे ताड़ते देर न लगी। एक दिन वे अर्जुनको वनभूमिके मार्गसे ले गये। अर्जुनने देखा कि एक नग्न मनुष्य बायें हाथमें तलवार लिये, भूमिपर पड़े सूखे तृण खा रहा है। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा, 'सखे ! यह कौन-सा जीव है' ? श्रीकृष्णने विस्मयका अभिनय करते हुए कहा, 'यह तो कोई क्षीव (शराबी) मालूम पड़ता है। इसका भोजन भी विचित्र ही दिखलायी पड़ता है।' श्रीकृष्ण-को वहीं एक शिलाखण्डपर बैठाकर अर्जुन अकेले ही उस नग्न व्यक्तिकी ओर चले और उसके पास जाकर बोले, 'पुण्यव्रत ! मुझे क्षमा करेंगे, मैं अत्यन्त कौतूहलसे भरकर आपकी ओर आकृष्ट हुआ हूँ। मेरी यह जिज्ञासा है कि आपने मानवोचित भोजनका परित्याग करके इस तृणराशिको अपना

खाद्य क्यों बनाया ?' क्षीबने कहा—'जाओ' तुम्हारा पथ निरापद हो । तुम्हारे कुतूहल-निराकरणके लिये मेरे पास जरा भी अवकाश नहीं । साथ ही ग्रासाच्छादन-जैसे तुच्छ पदार्थोंकी भी वृथा चिन्ता करनेका मेरे पास अवसर कहाँ है ।'

अर्जुनने कहा—'धर्मवेत्ता जन जिज्ञासापूर्ण कुतूहल-निवृत्तिको धर्म बतलाते हैं ।' क्षीबने कहा 'देखता हूँ तुम्हारे इस दुराग्रह-परिहारका कोई उपाय नहीं है। पर तुम्हीं बतलाओ कि इस दग्ध उदरकी पूर्तिके लिये क्या कोमल शिशु-तृणराजि-का वध किया जाय ?' अर्जुनने कहा, 'योगेश्वर ! आपको तथा आपके इस सार्वभौम अहिंसा-महाव्रतको नमस्कार । तथापि आपका चरित्र मुझ जडबुद्धिके लिये तो सर्वथा दुरवग्राह्य ही है; क्योंकि एक ओर तो तृणपर्यन्त प्राणियोंको अभय देनेवाला आपका यह अहिंसाका सार्वभौम महाव्रत और दूसरी ओर बायें हाथमें यह नग्न तलवार ।'

नग्नने कहा—'देखता हूँ, तुम्हारा कौतूहल निरङ्कुश एवं दुर्वार है । अच्छा हो तुम इसे अपने मनोबलसे ही शान्त कर लो; क्योंकि तुम्हारे कौतूहल-निवारणके प्रयत्नमें मेरा जो अपने हृदयस्थ सखासे विच्छेद होगा, उसे मैं सहन नहीं कर सकूँगा । तो भी यदि तुम मेरे शत्रुओंको मारनेकी प्रतिज्ञा करो, तो निश्चय समझो कि मैं तुम्हारा दास हो जाऊँगा ।'

अर्जुनने कहा—'क्या आपका भी कोई शत्रु है ? यदि ऐसा है तो वस्तुतः वह विश्वका शत्रु है और उसे मारनेके लिये मैं सदा प्रस्तुत हूँ ।' क्षीबने कहा—'और वही अकेला नहीं, दो और हैं । इन तीनोंने मिलकर मेरे प्राणप्रिय सखाको अपमानित किया है ।' अर्जुनने कहा—'बतलाइये, वे कौन हैं और कहाँ रहते हैं ? कौन हैं आपके वे सखा और उनका अपमान कहाँ और कैसे हुआ है ? आप विश्वास रक्खें मैं वृथा श्लाघा करनेवाला व्यक्ति नहीं हूँ ।'

उस दिगम्बरने कहा—'जगत्पालक प्रभु मेरे परम सखा जब श्रमसे सो रहे थे, तब उनकी छातीपर एक विप्राधमने तीव्र पादाघात किया और जब प्रभुने इसपर भी केवल यही कहा—'विप्र ! आपके चरणोंमें चोट तो नहीं आयी ?' यही नहीं, वे उस ब्राह्मणाधमके चरणको अपनी गोदमें लेकर दबाने लगे । पर उस ब्राह्मणने उधर दृष्टि भी नहीं डाली । मैं जब-जब ध्यानमें अपने परम मित्रके हृदयको देखता हूँ, तब उस पद-चिह्नको देखकर मेरे हृदयमें शूल होता है । मैं उस चिह्नको मिटा न सका तो उस भू-कलङ्क ब्राह्मणको ही मिटा डालूँ ।' अर्जुनने कहा—'तो क्या इस ब्रह्महत्याके आचरणसे ही आपके कर्तव्यका पालन होगा और वह ब्रह्महत्या भी और किसीकी नहीं, उसकी जो ज्ञानीकुलका आदिपुरुष है ?' क्षीबने कहा—'उस मेरे प्राणप्रियतम बन्धुके लिये ऐसा कौन-सा अकार्य है, जिसे मैं नहीं कर सकता ?'

अर्जुनने कहा—'अस्तु ! आप और किस पुरुषका विनाश चाहते हैं ?' क्षीबने कहा 'पुरुषका ? ऐसा क्यों कहते हो ? किस स्त्रीका विनाश चाहते हैं, यह पूछो ! क्या तुमने नहीं सुना कि जिसके पाँच-पाँच पति हैं, उस स्त्रीने दुर्वासाके शापसे बचनेके लिये अपना जूँठा शाक मेरे सखाको खिलाया था । यदि वह स्त्री कहीं मुझे दीख जाय तो मेरा यह खड्ग उसे अवश्य ही चाट जाय ।'

अर्जुनने कहा—'हे योगेश्वर ! क्या ब्रह्महत्या और स्त्रीहत्या करनेके लिये ही मेरी माँने मुझे स्तनपान कराया था ? यदि ऐसा ही था तो मेरा जन्म न लेना ही अच्छा था; यदि कोई क्षत्रियोचित कार्य हो तो उसे करनेके लिये मुझे आज्ञा दें ।'

यह सुनकर दिगम्बर बोला—'यदि तुम्हें थोड़ा भी अपने शौर्यका गर्व हो तो तुम उस क्षत्रियाधम निकृष्ट योद्धाका विनाश कर क्षत्रियकुलको निष्कलङ्क करो, जिसने मेरे सखाको घोड़ोंकी लगाम हाथमें सौंपकर सारथि बनाया था, दूसरेसे शक्ति उधार लेकर जो मनमें अपनेको वीर मानता है ।

> तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
> सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
> सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
> भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥
> (श्रीमद्भा० १ । १५ । २१)

वह कृत्रिम वीर यदि कभी मेरे सामने आ गया तो आततायी समझकर मैं उसे तुरंत मार डालूँगा; क्योंकि उसने जगदीश्वरका इतना बड़ा अपमान किया है ।'

अर्जुनको अब भान हुआ कि मैं कितने पानीमें हूँ । उन्होंने कहा, 'योगेश्वर ! यदि आप चाहते हैं कि वह पापिष्ठ अभी लुप्त हो जाय तो आप अपनी तलवार मुझे दे दीजिये । योगिन् ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ इसी क्षण मैं आपको उसका मुण्ड दिखला रहा हूँ ।' क्षीबने कहा, 'तब तो इस तलवारके साथ मेरा वेदोक्त आशीर्वाद लो और शीघ्र विजयी होकर लौटो ।' खड्ग लेकर अर्जुनने कहा, 'भगवान् शंकरकी कृपासे आपका यह आशीर्वाद पुनरुक्तिमात्र है; मैं आपसे विदा लेता हूँ और साथ ही आपको विदित होना चाहिये

कि आपके सामने की हुई प्रतिज्ञासे मैं सर्वथा मुक्त होकर जा रहा हूँ।'

अर्जुनके लौटनेपर भगवान्ने कहा—'वह तो मदोन्मत्त मालूम पड़ता है, मैंने तुम्हें उधर निरस्त्र भेजकर ठीक नहीं कियां; मुझे बड़ी चिन्ता हो रही थी।' अर्जुनने कहा—'वह तो महाराज ! प्रचण्ड मूर्ति धारण किये मुझे ही खोज रहा है।' अन्तमें भगवान्ने उन्हें सारा रहस्य समझाया और बतलाया कि "तीनों लोकोंमें वही प्रधान भगवद्भक्त है। प्राणोंका मोह छोड़कर, अहिंसाव्रत अपनाया; पर प्रभुके अपमानका ध्यान आते ही ब्रह्महत्या, स्त्री-हत्यादिके लिये भी तैयार हो गया। वस्तुतः 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' का उसीने ठीक अर्थ समझा है" अन्तमें वह क्षीब अर्जुनके देखते-देखते भगवान्के हृदयमें प्रविष्ट हो गया। अर्जुनका अहंकार गलकर पानी हो गया।

श्रीनारदका अभिमान-भङ्ग

एक बार श्रीनारदजीके मनमें यह दर्प हुआ कि मेरे समान इस त्रिलोकीमें कोई संगीतज्ञ नहीं। इसी बीच एक दिन उन्होंने रास्तेमें कुछ दिव्य स्त्री-पुरुषोंको देखा जो घायल पड़े थे और उनके विविध अङ्ग कटे हुए थे। नारदके द्वारा इस स्थितिका कारण पूछनेपर उन दिव्य देव-देवियोंने आर्त स्वरमें निवेदन किया—'हम सभी राग-रागिनियाँ हैं। पहले हम अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे पूर्ण थे; पर आजकल नारद नामका एक संगीतानभिज्ञ व्यक्ति दिन-रात राग-रागिनियोंका अलाप करता चलता है, जिससे हमलोगोंका अङ्ग-भङ्ग हो गया है। आप यदि विष्णुलोक जा रहे हों तो कृपया हमारी दुरवस्थाका भगवान् विष्णुसे निवेदन करेंगे और उनसे प्रार्थना करेंगे कि हमलोगोंको इस कष्टसे शीघ्र वे मुक्त कर दें।'

नारदजीने जब अपनी संगीतानभिज्ञताकी बात सुनी, तब वे बड़े दुखी हो गये। जब वे भगवद्धामको पहुँचे, प्रभुने उनका उदास मुखमण्डल देखकर उनकी खिन्नता और उदासीका कारण पूछा। नारदजीने सारी बात बता दी। भगवान् बोले, 'मैं भी इस कलाका मर्मज्ञ कहाँ हूँ। यह तो भगवान् शंकरके वशकी बात है। अतएव उनके कष्ट दूर करनेके लिये शंकरजीसे प्रार्थना करनी चाहिये।'

जब नारदजीने महादेवजीसे सारी बातें कहीं, तब भगवान् भोलेनाथने उत्तर दिया—'मैं ठीक ढंगसे राग-रागिनियोंका अलाप करूँ तो निस्संदेह वे सभी अङ्गोंसे पूर्ण हो जायँगी; पर मेरे संगीतका श्रोता कोई उत्तम अधिकारी मिलना चाहिये।' अब नारदजीको और भी क्लेश हुआ कि 'मैं संगीत सुननेका अधिकारी भी नहीं हूँ।' जो हो, उन्होंने भगवान् शंकरसे ही उत्तम संगीत-श्रोता चुननेकी प्रार्थना की। उन्होंने भगवान् नारायणका नाम निर्देश किया। प्रभुने भी यह प्रस्ताव मान लिया। संगीत-समारोह आरम्भ हुआ। सभी देव, गन्धर्व तथा राग-रागिनियाँ वहाँ उपस्थित हुईं। महादेवजीके राग अलापते ही उनके अङ्ग पूरे हो गये। नारदजी साधु-हृदय, परम महात्मा तो हैं ही। अहंकार दूर हो ही चुका था, अब राग-रागिनियोंको पूर्णाङ्ग देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए।

नारदका कामविजयका अभिमान-भङ्ग

हिमालय पर्वतपर एक बड़ी पवित्र गुफा थी, जिसके समीप ही गङ्गाजी बह रही थीं। वहाँका दृश्य बड़ा मनोहर तथा पवित्र था। देवर्षि नारद एक बार घूमते-घामते वहाँ पहुँचे तो आश्रमकी पवित्रता देखकर उन्होंने वहीं तप करनेकी ठानी। भगवान्का स्मरण किया, श्वास रोका। मन निर्मल तो था ही, सहज ही समाधि लग गयी। सौ, सहस्र, अयुत वर्ष बीत गये। पर नारदजीकी समाधिभङ्ग नहीं हुई। उनकी गति देख इन्द्रको बड़ा भय हुआ। उन्होंने सोचा देवर्षि मेरा पद लेना चाहते हैं। अतएव झट उन्होंने कामदेवको आदरपूर्वक बुलाकर बड़ा सम्मान किया और पूरी सामग्रीके साथ नारदजीके पास तपोभङ्गके लिये तत्काल बिदा कर दिया।

कामदेवने अपनी सारी कलाओंका प्रयोग किया, पर मुनिपर उसकी एक न चली। कारण कि यह वही स्थान था, जहाँ भगवान् शङ्करने कामको जलाया था। रतिके रोने-पीटनेपर उन्होंने कहा था कि कुछ समय बीतनेपर कामदेव जीवित तो हो जायगा और इसको पुनर्देह भी मिल जायगी; पर इस स्थानपर यहाँसे जितनी दूरतककी पृथ्वी दिखलायी पड़ती है, वहाँतक कामके बाणोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा*। लाचार होकर कामदेव अपने सहायकोंके

* कश्चित्समयमासाद्य जीविष्यति सुराः स्मरः।
परं त्विह स्मरोपायश्चरिष्यति न कश्चन॥
इह यावद् दृश्यते भूर्जनैः स्थित्वामराः सदा।
कामबाणप्रभावोऽत्र न चलिष्यत्यसंशयम्॥
(शिवपुराण, रुद्रसंहिता, ३।२।२०-२१)

साथ अमरावती लौट गया और नारदजीकी सुशीलताका वर्णन करने लगा। उसने कहा—'न तो नारदजीको काम ही है और न क्रोध ही; क्योंकि उन्होंने मुझे पास बुलाकर सान्त्वना दी और मधुर वचनोंसे आतिथ्य किया।' यह सुनकर सभी आश्चर्यसे दंग रह गये।

इधर नारदजीकी तपस्या पूरी हो गयी। वे वहाँसे सीधे चलकर भगवान् शङ्करके पास पहुँचे और अपनी कथा सुनायी। शङ्करजीने उन्हें सिखलाया—'नारदजी! इसे अब आप कहीं भी न कहियेगा। विशेषकर विष्णु भगवान् पूछें भी तो आप इसे छिपा लीजियेगा।' पर नारदजीको यह सब अच्छा नहीं लगा, वे वीणा लेकर वैकुण्ठको चल दिये और वहाँ जाकर भी काम-विजयका अपना माहात्म्य गाने लगे। भगवान्ने सोचा, इसके हृदयमें सकल शोकदायक अहंकार-का मूल अंकुर उत्पन्न हो रहा है, सो इसे झट उखाड़ डालना चाहिये और वे बोले—'महाराज! आप ज्ञान-वैराग्यके मूर्त-रूप ठहरे, भला आपको मोह कैसे सम्भव है।' नारदजीने अभिमानसे ही कहा—'प्रभो! यह आपकी कृपामात्र है।'

विष्णुलोकसे जब नारदजी भूलोकपर आये, तब देखते क्या हैं कि 'एक बहुत बड़ा विस्तृत नगर जगमगा रहा है। यह नगर वैकुण्ठसे भी अधिक रम्य तथा मनोहर है। भगवान्की मायाकी बात वे न समझ सके। उन्होंने सोचा 'यह नगर कहाँसे आ गया। मैं तो बराबर संसारका पर्यटन करता रहता हूँ, आजतक तो यह नगर दीखा नहीं था।' इधर-उधर लोगोंसे पूछनेपर पता चला कि इस नगरका राजा शीलनिधि अपनी लड़की श्रीमतीका स्वयंवर कर रहा है। इसीकी तैयारीमें शहर सजाया गया है। देश-विदेशके राजा-लोग पधार रहे हैं। नारदजी कौतुकी तो स्वभावसे ही ठहरे। झट पहुँच गये राजाके यहाँ। राजाने भी अपनी लड़कीको बुलाकर नारदजीको प्रणाम कराया। तत्पश्चात् उनसे उस लड़कीका लक्षण पूछा। नारदजी तो उसके लक्षणोंको देखकर चकित रह गये। उसके लक्षण सभी विलक्षण थे। जो इसे विवाह ले, वह अजर-अमर हो जाय, संग्रामक्षेत्रमें वह सर्वथा अजेय हो। सम्पूर्ण चराचर विश्व उसकी सेवा करे। वह सर्वथा सर्वश्रेष्ठ हो जाय। नारदजीने ऊपर-चापरसे राजाको कुछ कहकर छुट्टी ली और चले इस यत्नमें कि कैसे इसे पाया जाय।

सोचते-विचारते उन्हें एक उपाय सूझा। वे झट भगवान् विष्णुकी प्रार्थना करने लगे। प्रभु प्रकट हुए। नारदजी बोले—'नाथ! अब मेरा हित करो! आपकी कृपाके बिना कोई उपाय उसे प्राप्त करनेका नहीं है।' प्रभुने कहा—'वैद्य जिस प्रकार रोगीकी औषधि करके उसका कल्याण करता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारा हित अवश्य करूँगा।' यद्यपि भगवान्की ये बातें बड़ी स्पष्ट थीं, नारदजी इस समय मोह तथा कामसे अंधे-से हो रहे थे, इसलिये कुछ न समझकर 'भगवान्ने मुझे अपना रूप दे दिया'—यह सोचकर झट स्वयंवर-सभामें जा विराजे। इधर भगवान्ने उनका मुँह तो बंदरका बना दिया; पर शेष अङ्ग अपने-से बना दिये थे।

अब राजकुमारी जयमाल लेकर स्वयंवर-सभामें आयी। जब नारदजीपर उसकी दृष्टि पड़ी, वह बंदरका मुँह देखकर जल-भुन-सी गयी। भगवान् विष्णु भी राजाके रूपमें वहाँ बैठे थे। श्रीमतीने उनके गलेमें जयमाल डाल दी। वे उसे लेकर चले गये। इधर नारदजी बड़े दुःखित और बेचैन हुए। उनकी दशाको दो हरगण अच्छी प्रकार जानते थे। उन्होंने कहा—'जरा अपना मुँह आइनेमें देख लीजिये।' नारदजीको दर्पण तो नहीं मिला, पानीमें अपना मुँह देखा तो निराला बंदर। अब दौड़े विष्णुलोकको। बीचमेंही श्रीमतीके साथ भगवान् मिल गये। नारदजीके क्रोधका अब क्या पूछना। झल्ला पड़े—'ओहो! मैं तो जानता था कि तुम भले व्यक्ति हो, पर वास्तवमें तुम इसके सर्वथा विपरीत निकले। समुद्र-मन्थनके अवसरपर असुरोंको तुमने शराब पिलाकर बेहोश कर दिया और स्वयं कौस्तुभादि चार रत्न और लक्ष्मीतकको ले लिया। शङ्करजीको बहकाकर दे दिया जहर। अगर उन कृपालुने उस समय उस हालाहलको न पी लिया होता तो तुम्हारी सारी माया नष्ट हो जाती। और आज हमारे साथ यह तमाशा। अच्छा चलो, तुमने मेरी अभीष्ट कन्या छीनी, अतएव तुम भी स्त्रीके विरहमें मेरे-जैसे ही विकल होओगे।'

भगवान्ने अपनी माया खींच ली। अब नारदजी देखते हैं तो न वहाँ राजकुमारी है और न लक्ष्मी ही। वे बड़ा पश्चात्ताप करने लगे और 'त्राहि-त्राहि' कहकर प्रभुके चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्ने उन्हें सान्त्वना दी और सौ बार शिवनाम जपनेको कहकर आशीर्वाद दिया कि अब माया तुम्हारे पास भी न फटकेगी।—जा० श० (शिवपुराण, रुद्रसंहिता अ० २-४)
(रामचरितमानस बालकाण्ड)
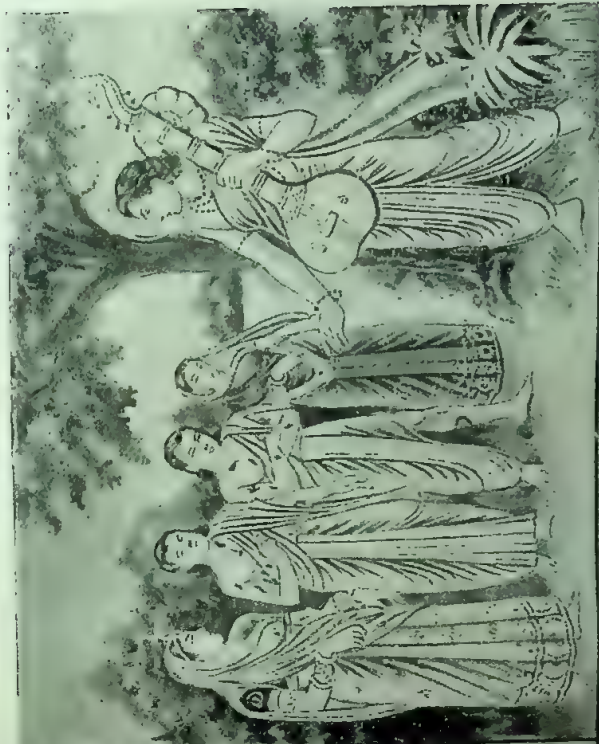
अर्जुनका अभिमान-भङ्ग

नारदका अभिमान-भङ्ग
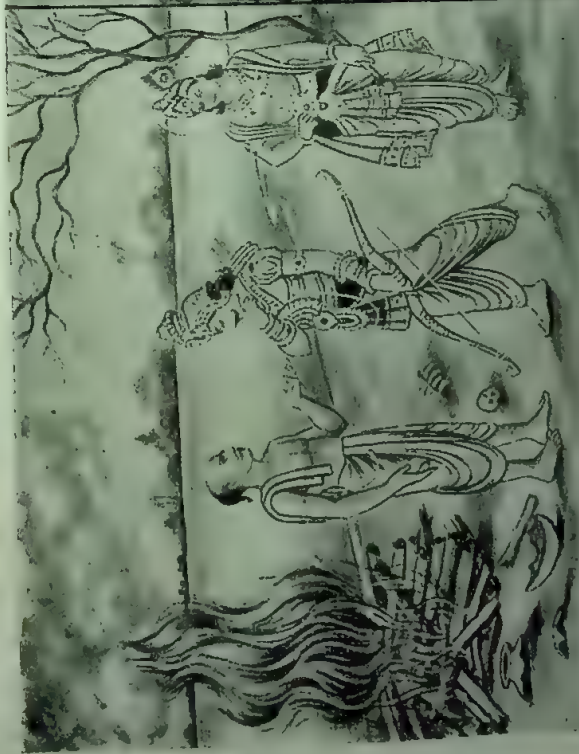
अर्जुनका भक्ति-अभिमान-भङ्ग

नारदका काम-जय-अभिमान-भङ्ग
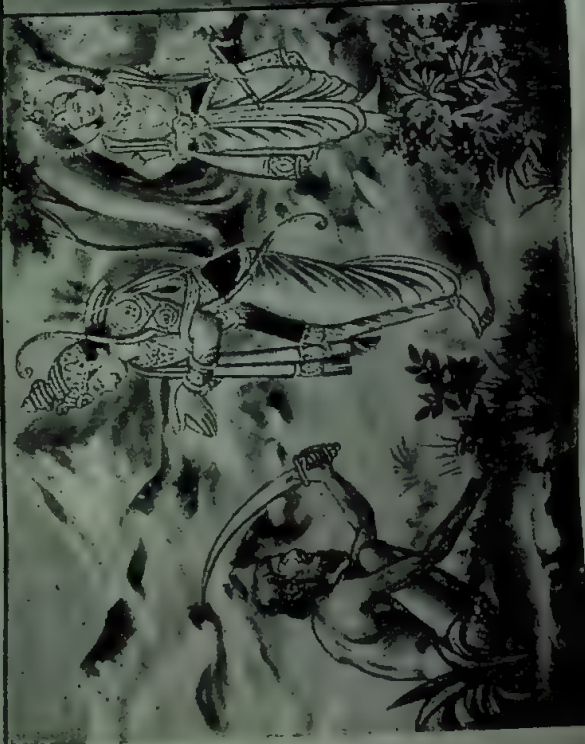
इन्द्रका गर्वभङ्ग

गरुड-सुदर्शन आदिका गर्वभङ्ग
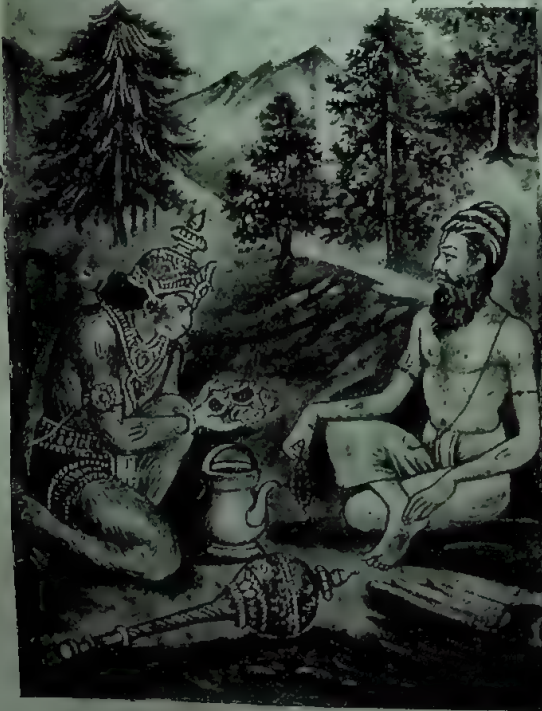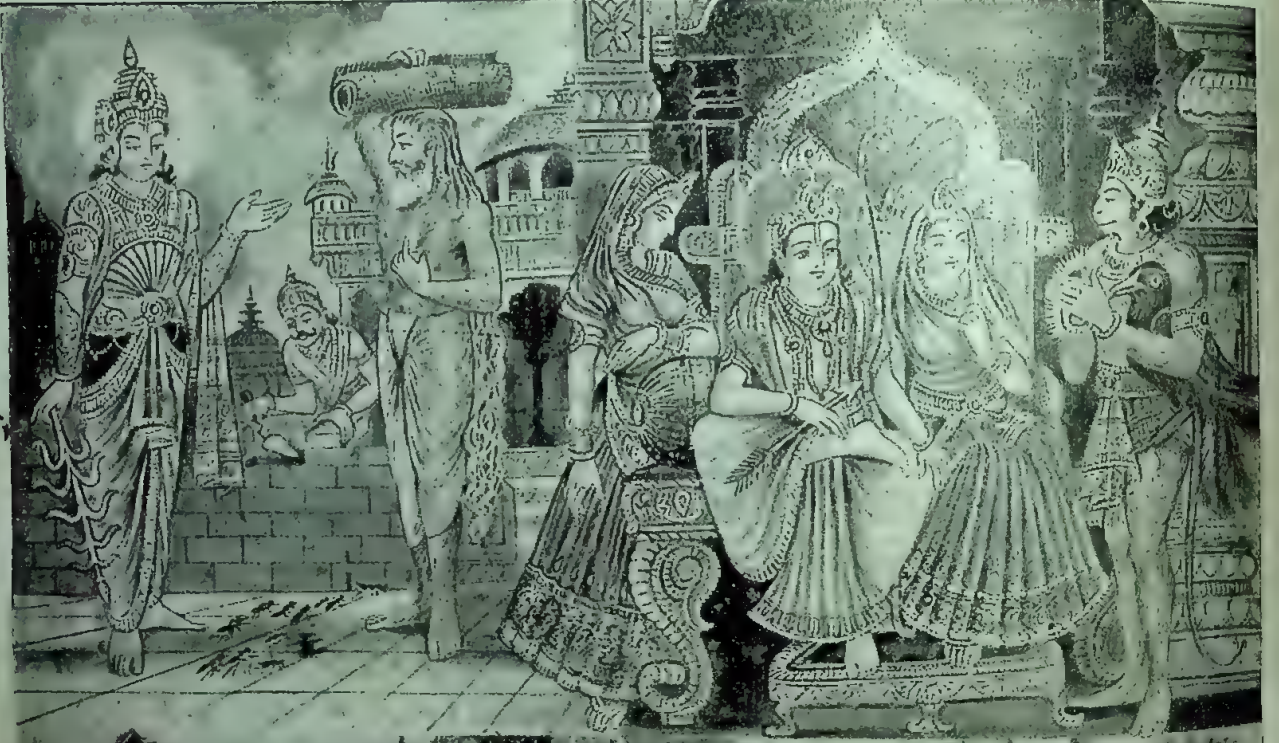
मारुतिका गर्वभङ्ग

भीमका गर्वभङ्ग

इन्द्रका गर्व-भङ्ग

शचीपति देवराज इन्द्र कोई साधारण व्यक्ति नहीं, एक मन्वन्तरपर्यन्त रहनेवाले स्वर्गके अधिपति हैं। घड़ी-घण्टोंके लिये जो किसी देशका प्रधान मन्त्री बन जाता है, लोग उसके नामसे घबराते हैं; फिर जिसे इकहत्तर दिव्य युगोंतक अप्रतिहत दिव्य भोगोंका साम्राज्य प्राप्त है, उसे गर्व होना तो स्वाभाविक है ही। इसीलिये उनके गर्वभङ्गकी कथाएँ भी बहुत हैं। दुर्वासाने शाप देकर स्वर्गको श्रीविहीन किया; वृत्रासुर, विश्वरूप, नमुचि आदि दैत्योंके मारनेपर बार-बार ब्रह्म-हत्या लगी। बृहस्पतिके अपमानपर पश्चात्ताप, बलिद्वारा राज्यापहरणपर दुर्दशा तथा गोवर्धनधारण, पारिजातहरण आदिमें भी कई बार इनका प्रचुर मानभङ्ग हुआ ही है। मेघनाद, रावण, हिरण्यकशिपु आदिने भी इन्हें बहुत नीचा दिखलाया और बार-बार इन्हें दुष्यन्त, खट्वाङ्ग, अर्जुनादिसे सहायता लेनी पड़ी। इस प्रकार इनके गर्वभञ्जनकी अनेकानेक कथाएँ हैं; तथापि ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें इनके गर्वापहारकी एक विचित्र कथा है, जिसे हम नीचे दे रहे हैं।

एक बार इन्द्रने एक बड़ा विशाल प्रासाद बनवाना आरम्भ किया। इसमें पूरे सौ वर्षतक इन्होंने विश्वकर्माको छुट्टी नहीं दी। विश्वकर्मा बहुत घबराये। वे ब्रह्माजीके शरण गये। ब्रह्माजीने भगवान्से प्रार्थना की। भगवान् एक ब्राह्मण-बालकका रूप धारणकर इन्द्रके पास पहुँचे और पूछने लगे—'देवेन्द्र! मैं आपके अद्भुत भवननिर्माणकी बात सुनकर यहाँ आया हूँ। मैं जानना चाहता हूँ इस भवनको कितने विश्वकर्मा मिलकर बना रहे हैं और कबतक यह तैयार हो पायेगा।'

इन्द्र बोले—'बड़े आश्चर्यकी बात है! क्या विश्वकर्मा भी अनेक होते हैं, जो तुम ऐसी बातें कर रहे हो?' बहुरूपी प्रभु बोले—'देवेन्द्र! तुम बस, इतनेमें ही घबरा गये? सृष्टि कितने ढंगकी है, ब्रह्माण्ड कितने हैं, ब्रह्मा-विष्णु-शिव कितने हैं, उन-उन ब्रह्माण्डोंमें कितने इन्द्र और विश्वकर्मा पड़े हैं—यह कौन जान सकता है। यदि कदाचित् कोई पृथ्वीके धूलिकणोंको गिन भी सके, तो भी विश्वकर्मा अथवा इन्द्रोंकी संख्या तो नहीं ही गिनी जा सकती। जिस तरह जलमें नौकाएँ दीखती हैं, उसी प्रकार महाविष्णुके लोमरूपी सुनिर्मल जलमें असंख्य ब्रह्माण्ड तैरते दीख पड़ते हैं।'

इस तरह इन्द्र और वटुमें संवाद चल ही रहा था कि वहाँ दो सौ गज लंबा-चौड़ा एक चींटोंका विशाल समुदाय दीखा। उन्हें देखते ही वटुको सहसा हँसी आ गयी। इन्द्रने उनकी हँसीका कारण पूछा। वटुने कहा—'हँसता इसलिये हूँ कि यहाँ जो ये चींटे दिखलायी पड़ रहे हैं, वे सब कभी पहले इन्द्र हो चुके हैं। किंतु कर्मानुसार इन्हें अब चींटेकी योनि प्राप्त हुई है। इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं करना चाहिये; क्योंकि कर्मोंकी गति ही ऐसी गहन है। जो आज देवलोकमें है, वह दूसरे ही क्षण कभी कीट, वृक्ष या अन्य स्थावर योनियोंको प्राप्त हो सकता है।' भगवान् इतना कह ही रहे थे कि इसी समय कृष्णाजिनधारी, उज्ज्वल तिलक लगाये, चटाई ओढ़े एक ज्ञानवृद्ध तथा वयोवृद्ध महात्मा वहाँ पहुँच गये। इन्द्रने उनकी यथालब्ध उपचारोंसे पूजा की। अब वटुने महात्मासे पूछा—'महात्मन्! आपका नाम क्या है, आप आ कहाँसे रहे हैं, आपका निवासस्थल कहाँ है और आप कहाँ जा रहे हैं? आपके मस्तकपर यह चटाई क्यों है तथा आपके वक्षःस्थलपर यह लोमचक्र कैसा है?'

आगन्तुक मुनिने कहा—'थोड़ी-सी आयु होनेके कारण मैंने कहीं घर नहीं बनाया, न विवाह ही किया और न कोई जीविका ही खोजी। वक्षःस्थलके लोमचक्रोंके कारण लोग मुझे लोमश कहा करते हैं और वर्षा तथा गर्मीसे रक्षाके लिये मैंने अपने सिरपर यह चटाई रख छोड़ी है। मेरे वक्षःस्थलके लोम मेरी आयु-संख्याके प्रमाण हैं। एक इन्द्रका पतन होनेपर मेरा एक रोआँ गिर पड़ता है। यही मेरे उखड़े हुए कुछ रोओंका रहस्य भी है। ब्रह्माके द्विपरार्धावसानपर मेरी मृत्यु कही जाती है। असंख्य ब्रह्मा मर गये और मरेंगे। ऐसी दशामें मैं पुत्र, कलत्र या गृह लेकर ही क्या करूँगा। भगवान्की भक्ति ही सर्वोपरि, सर्वसुखद तथा दुर्लभ है। वह मोक्षसे भी बढ़कर है। ऐश्वर्य तो भक्तिके व्यवधानस्वरूप तथा स्वप्नवत् मिथ्या हैं। जानकार लोग तो उस भक्तिको छोड़कर सालोक्यादि मुक्ति-चतुष्टयको भी नहीं ग्रहण करते।

दुर्लभं श्रीहरेर्दास्यं भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी।
स्वप्नवत् सर्वमैश्वर्यं सद्भक्तिव्यवधायकम्॥

यों कहकर लोमशजी अन्यत्र चले गये। बालक भी वहीं अन्तर्धान हो गया। बेचारे इन्द्रका तो अब होश ही ठंडा हो गया। उन्होंने देखा कि जिसकी इतनी दीर्घ आयु है, वह तो एक घासकी झोपड़ी भी नहीं बनाता, [illegible] चटाईसे ही काम चला लेता है; फिर मुझे कितना दि

है, जो इस घरके चक्करमें पड़ा हूँ। बस, झट उन्होंने विश्वकर्माको एक लंबी रकमके साथ छुट्टी दे दी और आप अत्यन्त विरक्त होकर किसी वनस्थलीकी ओर चल पड़े। पीछे बृहस्पतिजीने उन्हें समझा-बुझाकर पुनः राज्यकार्यमें नियुक्त किया। —जा० श०

(ब्रह्मवैवर्त-पुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अध्याय ४७)

गरुड, सुदर्शनचक्र और रानियोंका गर्व-भङ्ग

एक बार भगवान् श्रीकृष्णने गरुडको यक्षराज कुबेरके सरोवरसे सौगन्धिक कमल लानेका आदेश दिया। गरुडको यह अहंकार तो था ही कि मेरे समान बलवान् तथा तीव्रगामी प्राणी इस त्रिलोकीमें दूसरा नहीं है। वे अपने पंखोंसे हवाको चीरते तथा दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए गन्धमादन पहुँचे और पुष्पचयन करने लगे। महावीर हनुमान्‌जीका वहीं आवास था। वे गरुडके इस अनाचारको देखकर उनसे बोले—'तुम किसके लिये यह फूल ले जा रहे हो और कुबेर-की आज्ञाके बिना ही इन पुष्पोंका क्यों विध्वंस कर रहे हो।'

गरुडने उत्तर दिया, 'हम भगवान् श्रीकृष्णके लिये इन पुष्पोंको ले जा रहे हैं। भगवान्‌के लिये हमें किसीकी अनुमति आवश्यक नहीं दीखती।' गरुडकी इस बातसे हनुमान्‌जी कुछ गरम हो गये और उनको पकड़कर अपनी काँखमें दबा-कर आकाशमार्गसे द्वारकाकी ओर उड़ चले। उनकी भीषण ध्वनिसे सारे द्वारकावासी संत्रस्त हो गये। सुदर्शनचक्र हनुमान्‌जीकी गतिको रोकनेके लिये उनके सामने जा पहुँचा। हनुमान्‌जीने झट उसे दूसरी काँखमें दाब लिया। भगवान् श्रीकृष्णने तो यह सब लीला ही रची थी। उन्होंने अपने पार्श्वमें स्थित रानियोंसे कहा—'देखो, हनुमान् क्रुद्ध होकर आ रहे हैं। यहाँ यदि उन्हें इस समय सीता-रामके दर्शन न हुए तो वे द्वारकाको समुद्रमें डुबो देंगे। अतएव तुममेंसे तुरंत कोई सीताका रूप बना लो, मैं तो देखो यह राम बना।' इतना कहकर वे श्रीरामके स्वरूपमें परिणत होकर बैठ गये। अब जानकीजीका रूप जब बननेको हुआ, तब कोई भी न बना सकीं। अन्तमें उन्होंने श्रीराधाजीको स्मरण किया। वे आयीं और झट श्रीजानकीजीका स्वरूप बन गयीं।

इसी बीच हनुमान्‌जी वहाँ उपस्थित हुए। वहाँ वे अपने इष्टदेव श्रीसीता-रामजीको देखकर उनके चरणोंपर गिर गये। इस समय भी वे गरुड और सुदर्शनचक्रको बड़ी सावधानीसे अपने दोनों बगलोंमें दबाये हुए थे। भगवान् श्रीकृष्णने (राम-वेशमें) उन्हें आशीर्वाद दिया और कहा—'वत्स! तुम्हारी काँखोंमें यह क्या दिखलायी पड़ रहा है?' हनुमान्‌जीने उत्तर दिया—'कुछ नहीं, सरकार; यह तो एक दुबला-सा क्षुद्र पक्षी निर्जन स्थानमें मेरे श्रीरामभजनमें बाधा डाल रहा था, इसी कारण मैंने इसको पकड़ लिया। दूसरा यह चक्र-सा एक खिलौना है; यह मेरे साथ टकरा रहा था, अतएव इसे भी दाब लिया है। और आपको यदि पुष्पोंकी ही आवश्यकता थी तो मुझे क्यों नहीं स्मरण किया गया? यह बेचारा पखेरू महाबली शिवभक्त यक्षोंके सरोवरसे बलपूर्वक पुष्प लानेमें कैसे समर्थ हो सकता है।'

भगवान्‌ने कहा, 'अस्तु! इन बेचारोंको छोड़ दो। मैं तुम्हारे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ; अब तुम जाओ, अपने स्थानपर स्वच्छन्दतापूर्वक भजन करो।'

भगवान्‌की आज्ञा पाते ही हनुमान्‌जीने सुदर्शनचक्र और गरुडको छोड़ दिया और उन्हें पुनः प्रणाम करके 'जय राम' कहते हुए गन्धमादनकी ओर चल दिये। गरुडको गतिका, सुदर्शनको शक्तिका और पट्टमहिषियोंको सौन्दर्यका बड़ा गर्व था। वह एकदम चूर्ण हो गया।

श्रीमारुति-गर्व-भङ्ग

हनुमान्‌जी जब लङ्का-दहन करके लौट रहे थे, तब उन्हें समुद्रोल्लङ्घन, सीतान्वेषण, रावण-मद-मर्दन एवं लङ्का-दहन आदि कार्योंका कुछ गर्व हो गया। दयालु भगवान् इसे ताड़ गये। हनुमान्‌जी घोर गर्जना करते हुए जा ही रहे थे कि रास्तेमें उन्हें बड़ी प्यास लग गयी। महेन्द्राचलपर उन्होंने दृष्टि दौड़ायी तो उनकी दृष्टि एक मुनिपर गयी, जो शान्त बैठे हुए थे। उनके पास जाकर हनुमान्‌जीने कहा—'मुने! मैं श्रीरामचन्द्रजीका सीतान्वेषणका कार्य करके लौटा आ रहा हूँ। मुझे बड़ी प्यास लग रही है; थोड़ा जल दीजिये या किसी जलाशयका पता बताइये।' मुनिने उन्हें तर्जनी अङ्गुलिसे एक जलाशयकी ओर इशारा किया। हनुमान्‌जी श्रीसीताजीकी दी हुई चूड़ामणि, मुद्रिका और एक ब्रह्माजीका दिया हुआ पत्र—यह सब मुनिके आगे रखकर जल पीने चले गये। इतनेमें एक दूसरा बंदर आया, उसने इन सभी वस्तुओंको उठाकर मुनिके कमण्डलुमें डाल दिया। तबतक हनुमान्‌जी जल पीकर लौटे। उन्होंने अपनी वस्तुओंके सम्बन्धमें पूछा। मुनिने

भौंहोंके इशारेसे उन्हें कमण्डलुकी ओर निर्देश किया। हनुमान्‌जीने चुप-चाप जाकर कमण्डलुमें देखा तो ठीक उसी प्रकारकी रामनामाङ्कित हजारों मुद्रिकाएँ दिखलायी पड़ीं। अब वे बहुत घबराये। उन्होंने पूछा, 'ये सब मुद्रिकाएँ आपको कहाँसे मिलीं तथा इनमें मेरी मुद्रिका कौन-सी है ?'

मुनिने उत्तर दिया कि जब-जब श्रीरामावतार होता है और सीता-हरणके पश्चात् हनुमान्‌जी पता लगाकर लौटते हैं, तब शोध-मुद्रिका यहीं छोड़ जाते हैं। वे ही सब मुद्रिकाएँ इसमें पड़ी हैं।' अब तो हनुमान्‌जीका गर्व गल गया। उन्होंने पूछा—'मुने! कितने राघव यहाँ आये हैं ?' मुनिने कहा, 'यह तो मुद्रिकाओंकी गणनासे ही पता चल सकता है।' पर हनुमान्‌जीने देखा तो उन मुद्रिकाओंका कोई अन्त नहीं था। उन्होंने सोचा, 'भला मुझ-जैसे कितने लोगोंने ऐसे कार्य कर रक्खे हैं, इसमें मेरी क्या गणना।' फिर वे वहाँसे चलकर अङ्गदादिसे मिलकर प्रभुके पास आये। वहाँ वे अत्यन्त डरते हुए कहने लगे—'प्रभो! मुझसे एक बड़ा अपराध बन गया है।' और फिर सारा मुनि-वृत्तान्त सुना दिया। प्रभुने कहा—'भद्र! मुनिरूपसे तुम्हारे कल्याणके लिये मैंने ही वह कौतुक रचा था। देखो! वह मुद्रिका तो मेरी अङ्गुलिमें ही लगी है।'

अब श्रीअञ्जनीनन्दन, केसरीकिशोर हनुमतलालका गर्व सर्वथा नष्ट हो गया। उन्होंने प्रभुके विष्णुस्वरूपपर विश्वास किया और बड़ी ही श्रद्धासे वे उनके चरणोंपर गिर गये और चिर कालतक लेटे रहे।

(आनन्दरामायण, सारकाण्ड, अध्याय ९, श्लोक २८० से ३१६ तक)

भीमसेनका गर्व-भङ्ग

भीमसेनको अपनी शक्तिका बड़ा गर्व था। एक बार वनवास-कालमें जब ये लोग गन्धमादन पर्वतपर रह रहे थे, तब द्रौपदीको एक सहस्रदल-कमल वायुकोणसे उड़ता आता दीखा। उसे उसने ले लिया और भीमसेनसे उसी प्रकारका एक और कमल लानेको कहा। भीमसेन वायुकोणकी ओर चल पड़े। चलते समय भीषण गर्जना करना उनका स्वभाव ही था। उनके इस भीषण शब्दसे बाघ अपनी गुफाओंको छोड़कर भागने लगे। जंगली जीव जहाँ-तहाँ छिपने लगे, पक्षी भयभीत होकर उड़ने लगे और मृगोंके झुंड घबराकर चौकड़ी भरने लगे। भीमसेनकी गर्जनासे सारी दिशाएँ गूँज उठीं। वे बराबर आगे बढ़ते जा रहे थे। आगे जानेपर गन्धमादनकी चोटीपर उन्हें एक विशाल केलेका वन मिला। महाबली भीम नृसिंहके समान गर्जना करते हुए उसके भीतर घुस गये।

इधर इसी वनमें महावीर हनुमान्‌जी रहते थे। उन्हें अपने छोटे भाई भीमसेनके उधर आनेका पता लग गया। उन्होंने सोचा कि अब आगे स्वर्गके मार्गमें जाना भीमके लिये भयकारक होगा। यह सोचकर वे भीमसेनके रास्तेमें लेट गये। अब भीमसेन उनके पास पहुँचे और भीषण सिंहनाद किया। भीमसेनकी उस गर्जनासे वनके जीव-जन्तुओं और पक्षियोंको बड़ा त्रास हुआ। हनुमान्‌जीने भी अपनी आँखें खोलीं और उपेक्षापूर्वक उनकी ओर देखते हुए कहा—'भैया! मैं तो रोगी हूँ, यहाँ आनन्दसे सो रहा था; तुमने आकर क्यों जगा दिया ? समझदार व्यक्तिको जीवोंपर दया करनी चाहिये। यहाँसे आगे यह पर्वत मनुष्योंके लिये अगम्य है। अतः अब तुम मीठे कन्द-मूल-फल खाकर यहींसे लौट जाओ। आगे जाकर व्यर्थ अपने प्राणोंको संकटमें क्यों डालते हो।'

भीमसेनने कहा—'मैं मरूँ या बचूँ तुमसे तो इस विषयमें नहीं पूछ रहा हूँ। तुम जरा उठकर मुझे रास्ता दे दो।' हनुमान्‌जीने कहा, 'मैं रोगसे पीड़ित हूँ; तुम्हें जाना ही है तो मुझे लाँघकर चले जाओ।' भीमसेन बोले—'परमात्मा समस्त प्राणियोंके देहमें है, किसीको लाँघकर मैं उसका अपमान नहीं करना चाहता।' हनुमान्‌जीने कहा, 'तो तुम मेरी पूँछ पकड़कर हटा दो और निकल जाओ।' हनुमान्‌जीका यह कहना था कि भीमसेनने अवज्ञापूर्वक बायें हाथसे हनुमान्‌जीकी पूँछ पकड़कर बड़े जोरसे खींची। पर वे टस-से-मस न हुए। अब क्रोधसे भरकर उन्होंने दोनों हाथोंसे उनकी पूँछको खींचना आरम्भ किया। पर इतनेपर भी उनकी पूँछ टस-से-मस न हुई। जब भीमकी सारी शक्ति व्यर्थ चली गयी, तब उनका मुँह लज्जासे झुक गया। वे समझ गये कि यह वानर कोई साधारण वानर नहीं है। अतएव उनके चरणोंपर गिरकर क्षमा माँगने लगे। हनुमान्‌जीने अपना परिचय दिया और बहुत-सी नीतिका उपदेश करके उन्हें वहाँसे लौटा दिया। वहीं उन्होंने भीमसेनको यह वरदान दिया था कि महाभारत-युद्धके समय मैं अर्जुनकी ध्वजापर बैठकर तुमलोगोंकी सहायता करूँगा। (महाभारत, वनपर्व, अध्याय १४६-१५१)

सर्वश्रेष्ठ शासक

प्रियदर्शी सम्राट् अशोकके जन्म-दिनका महोत्सव था। सभी प्रान्तोंके शासक एकत्र हुए थे। सम्राट्की ओरसे घोषणा हुई—'सर्वश्रेष्ठ शासक आज पुरस्कृत होगा।'

उत्तरसीमान्तके प्रान्तपतिने बताया—'प्रादेशिक शासनकी आय मैं तीनगुनी कर चुका हूँ।'

दक्षिणके शासकने निवेदन किया—'राज्यकोषमें प्रति-वर्षकी अपेक्षा द्विगुण स्वर्ण मेरे प्रान्तने अर्पित किया है।'

पूर्वीय प्रदेशोंके अधिकारीने सूचना दी—'पूर्वी सीमान्तके उपद्रवियोंको मैंने कुचल दिया है। वे राज्यके विरुद्ध सिर उठानेका साहस फिर नहीं करेंगे।'

एक और प्रान्ताधिप उठे—'प्रजासे प्राप्त होनेवाली आय बढ़ गयी है, सेवकोंका व्यय घटा दिया है और आयके कुछ दूसरे साधन भी ढूँढ़ लिये गये हैं। कोषाध्यक्ष श्रीमान्‌को विवरण देंगे।'

अन्तमें उठे मगधके प्रान्तीय शासक। उन्होंने नम्रता-पूर्वक कहा—'श्रीमान्! मैं क्या निवेदन करूँ। मेरे प्रान्तने प्रतिवर्षकी अपेक्षा आधेसे भी कम धन राज्यकोषमें दिया है। प्रजाका कर घटाया गया है। राज्यसेवकोंको कुछ अधिक सुविधा दी गयी है। प्रान्तमें सार्वजनिक धर्मशालाएँ तथा मार्गोंपर उपयुक्त स्थलोंमें कुएँ बनवाये गये हैं। अनेक स्थानों पर रोगियोंकी चिकित्साके लिये चिकित्सालय खोले गये हैं और प्रजाके बालकोंको शिक्षित करनेके लिये पर्याप्त पाठ-शालाएँ खोली गयी हैं।'

सम्राट् सिंहासनसे उठे। उन्होंने घोषणा की—'मुझे प्रजाका शोषण करके प्राप्त होनेवाली स्वर्णराशि नहीं चाहिये। प्रजाके शूरोंकी उचित बातें सुने बिना उनका दमन करनेकी मैं निन्दा करता हूँ। प्रजाको सुख-सुविधा दी जाय, यही मेरी इच्छा है। मगधके प्रान्तीय शासक सर्वश्रेष्ठ शासक हैं। इस वर्षका पुरस्कार उनका गौरव बढ़ायेगा। अन्य प्रान्तोंके शासक उनसे प्रेरणा ग्रहण करें।' —सु० सिं०

अद्भुत पितृ-भक्ति

मनुष्य कैसा भी हो, उसमें कुछ-न-कुछ दुर्बलता भी होती ही है। देवप्रिय सम्राट् अशोकमें अपार सद्‌गुण थे; साथ ही एक दुर्बलता भी थी। उन्होंने बुढ़ापेमें विवाह किया था और वे अपनी उस नयी रानी तिष्यरक्षिताके वशमें हो गये थे। उधर तिष्यरक्षिताने महाराज अशोकके ज्येष्ठ पुत्र कुणाल-को जो देखा तो उसका चित्त उसके वशमें नहीं रहा। उसने कुणालको अपने यहाँ बुलवाया। राजकुमार कुणालने सौतेली माताका भाव समझा तो एकदम सहम गये। वे तिष्य-रक्षिताका घृणित प्रस्ताव स्वीकार नहीं कर सके। तिष्य-रक्षिताने उनकी अस्वीकृतिसे क्रोधोन्मत्त होकर पैर पटकते हुए कहा—'तुम्हारे जिन सुन्दर नेत्रोंने मुझे व्याकुल किया है, उन्हें ज्योतिहीन न कर दूँ तो मेरा नाम तिष्यरक्षिता नहीं।'

महाराज अशोक तो छोटी रानीके वशमें थे ही। तक्षशिलाके समीप शत्रुओंने कुछ उपद्रव किया है, यह समाचार महाराजके पास आया। तिष्यरक्षिताने महाराजको मन्त्रणा दी—'कुणाल अब बड़ा हो गया है, उसे युवराज होना है; अतः राज्यकार्य और शत्रु-दमनका अनुभव प्राप्त करना चाहिये उसे। आप मेरी बात मानें तो उसे तक्षशिला इस समय भेजें।'

महाराजकी आज्ञासे कुणाल सेनाके साथ तक्षशिला गये। उनकी पत्नी भी उनके साथ ही गयीं। राजकुमारने अपने नीति-कौशलसे बिना युद्ध किये ही शत्रुओंको वशमें कर लिया। उनके निरीक्षणमें वहाँ सुव्यवस्था स्थापित हो गयी।

इधर राजधानीमें तिष्यरक्षिताने महाराजका पूरा विश्वास प्राप्त कर लिया। वह राजकीय मुहर भी अपने पास रखने लगी। अवसर पाकर उसने तक्षशिलाके मुख्य अधिकारीके नाम महाराजकी ओरसे आज्ञापत्र लिखा—'कुणालने राज्यका बहुत बड़ा अपराध किया है। आज्ञापत्र पाते ही उसके नेत्र लौहशलाका डालकर फोड़ दिये जायँ और उसका सब धन छीनकर उसे राज्यसे निकाल दिया जाय।' आज्ञापत्रपर राजकीय मुहर लगाकर उसने गुप्तरूपसे वह पत्र भेज दिया।

तक्षशिलाके सभी अधिकारी राजकुमार कुणालकी सच्चरित्रता तथा उदारताके कारण उनसे प्रेम करते थे। महाराजका आज्ञापत्र पहुँचनेपर वे चकित रह गये। आज्ञापत्र कुणालको दिखलाया गया। कुणालने पत्रको देखकर कहा—'पत्र किसने लिखा है, यह मैं अनुमान कर सकता हूँ; मेरे पिताको इसका पता भी नहीं होगा, यह भी मैं जानता हूँ। किंतु

इस पत्रपर महाराजकी मुहर है। अतः राजाज्ञाका सम्मान अवश्य होना चाहिये।'

कोई अधिकारी तत्पर नहीं हुआ और कोई जल्लाद तक तैयार नहीं हुआ कुणालके नेत्रोंमें लोहेकी शलाका डालनेके लिये। जब कोई उद्यत नहीं हुआ, तब उस पितृभक्त राजकुमारने स्वयं अपने नेत्रोंमें लोहेकी कीलें घुसेड़ लीं। पिताकी आज्ञाका सम्मान करनेके लिये वह स्वयं अंधा हो गया। स्त्रीको साथ लेकर वह वहाँसे निकल पड़ा। अब वह राहका भिखारी था। अपनी वीणा बजाकर भीख माँगते हुए वह एक स्थानसे दूसरे स्थानपर भटकने लगा।

पाप कबतक छिपा रह सकता है। राजकुमार कुणाल जब भटकता हुआ मगध पहुँचा, पिताद्वारा पहचान लिया गया। उस उदारने प्रार्थना की—'मेरी सौतेली माताको क्षमा किया जाय।' परंतु अशोक तिष्यरक्षिताको क्षमा नहीं कर सके। उसे प्राणदण्ड मिला। कुणालके पुत्रको महाराजने उत्तराधिकारी बनाया।—सु० सिं०

सत्यकी ज्योति

'महेन्द्र* विद्रोही हो गया है, सम्राट्। वह अधिकार और ऐश्वर्यमें इतना उन्मत्त है कि उसे आपके धर्मराज्यके सिद्धान्तोंका तनिक भी ध्यान नहीं रह गया है। दिन-दोपहर प्रजापर मनमाना अत्याचार करना उसका तथा उसके सैनिकों और आश्रित अधिकारियोंका कार्य-क्रम हो चला है। प्रजा विद्रोह करेगी, महाराज।' महामन्त्री राधागुप्तने मगधेश्वर भारतसम्राट् अशोकके धर्म-सिंहासनके सामने नतमस्तक हो अभिवादन किया।

राज-सभामें उपस्थित मन्त्रिगण तथा अन्य सदस्य विस्मित हो उठे। पाटलिपुत्रके भव्य राजभवनमें सन्नाटा छा गया। अशोकके नेत्र लाल हो गये। अहिंसक सम्राट् सब कुछ सह सकते थे, पर प्रजाके अहितमें तल्लीन रहनेवालोंको दण्ड देनेमें वे कभी आगा-पीछा नहीं करते थे। सौतेले भाई महेन्द्रका यह महान् अपराध था उनकी दृष्टिमें। सम्राट्के आदेशसे महेन्द्र राजसभामें उपस्थित हुआ और अपराधी-कक्षमें खड़ा हो गया।

'मुझे तुमसे इस प्रकारके कुत्सित आचरणकी आशा नहीं थी। तुमने सम्राट् चन्द्रगुप्तके राजसिंहासनको लाञ्छित किया है। जानते हो इस अपराधका दण्ड? जानते हो प्रजाकी शान्तिको भङ्ग करनेका परिणाम?'

'मृत्यु···। मेरा आचरण वास्तवमें प्रजाके लिये अहितकर हो चला था, देव। मृत्यु-दण्ड देनेके पहले सात दिनके अवकाशकी माँग है। यह आपके भाईकी याचना नहीं, पाटलिपुत्रके एक अपराधी नागरिककी याचना है।' महेन्द्र नतमस्तक था।

× × ×

'आज छठा दिन है, अपराधी। कल तुम्हारे समस्त राग-रंग समाप्त हो जायँगे।' कारागार-अधिकारीने महेन्द्रको सावधान किया।

महेन्द्र अन्धकारपूर्ण कालकोठरीकी दीवारकी ओर देखने लगा। एक दरारसे उसने भगवती गङ्गाकी धवलिमाका दर्शन किया; उसपर डूबते सूर्यकी लालिमा विकल थी। वह झरोखेके पास आ गया और सांध्य शान्तिमें उसने अद्भुत प्रकाश देखा।

'मुझे सत्यकी ज्योति मिल गयी। मैंने मृत्युको जीत लिया।' वह आनन्दसे नाच उठा।

'तुम वास्तवमें मुक्त हो गये अब, महेन्द्र।' अशोक उसकी बातोंसे प्रसन्न थे। वे अन्तिम विदा देने आये थे। सूर्य डूब गया। प्रहरीने एक टिमटिमाता दीपक सोपानपर रखकर भारतसम्राट्का अभिवादन किया।

'हाँ भैया! मुझे अमरता मिल गयी। सम्यक् सम्बोधिकी प्राप्ति हो गयी मुझे। धर्म-ज्योति देखी है मैंने।' उसने सम्राट्का आलिङ्गन किया।

'पाटलिपुत्रका राजप्रासाद प्रतीक्षा कर रहा है, महेन्द्र!' अशोकने मुक्ति-संदेश सुनाया।

'नहीं सम्राट्! अब तो पहाड़, वन, निर्जन स्थान ही मेरे आश्रय हैं। मैं धर्मकी ज्योतिसे जनताको समुत्तेजित करूँगा। यह प्रजाके कल्याणका मार्ग है।' वह कारागारसे निकलकर पहाड़ीकी ओर चला गया।

'तुम धन्य हो, श्रमण।' सम्राट् अशोक सादर नतमस्तक थे।

—रा० श्री०

* इतिहासकारोंने महेन्द्रको अशोकका पुत्र माना है, पर ह्वेनसाङ्गने अपने भ्रमण-वृत्तान्तमें उसे विमातृज भाई स्वीकार किया है।

पाँच स्कन्धोंका संघात*

(लेखक—श्रीप्रतापनारायणजी टंडन)

एक बार एक ग्रीक राजा एक बौद्ध भिक्षुके पास गया। उसने उस भिक्षुसे, जिसका नाम नागसेन था, पूछा—'महाराज! आप कहते हैं कि हमारे व्यक्तित्वमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो स्थिर हो। फिर यह बताइये कि वह क्या है, जो संघके सदस्योंको आज्ञा देता है, पवित्र जीवन व्यतीत करता है, उपासना करता है, निर्वाण प्राप्त करता है, पाप-पुण्यका फल भोगता है? आपको संघके सदस्य नागसेन कहते हैं? यह नागसेन कौन है? क्या सिरके बाल नागसेन हैं?'

भिक्षुने कहा—ऐसा नहीं है।

राजाने फिर पूछा—क्या ये दाँत, मांस, मस्तिष्क आदि नागसेन हैं?

उसने कहा—नहीं।

राजाने फिर पूछा—फिर क्या आकार, वेदनाएँ अथवा संस्कार नागसेन हैं?

उसने उत्तर दिया—नहीं।

राजाने फिर पूछा—क्या ये सब वस्तुएँ मिलकर नागसेन हैं? या इनके बाहर कोई ऐसी वस्तु है, जो नागसेन है?

उसने फिर कहा—नहीं।

राजाने अब कहा—तो फिर नागसेन कुछ नहीं है। जिसे हम अपने सामने देखते हैं और नागसेन कहते हैं, वह नागसेन कौन है?

अब भिक्षु नागसेनने राजासे कहा—राजन्! क्या आप पैदल आये हैं?

राजाने उत्तर दिया—नहीं, रथपर।

तब उसने पूछा—फिर तो आप जरूर जानते होंगे कि रथ क्या है। क्या यह पताका रथ है?

राजाने कहा—नहीं।

उसने पूछा—क्या ये पहिये या धुरी रथ है?

राजाने कहा—नहीं।

उसने फिर पूछा—फिर क्या ये रस्सियाँ या चाबुक रथ है?

राजाने कहा—नहीं।

उसने पूछा—क्या इन सबके बाहर कोई चीज है, जो रथ है?

राजाने कहा—नहीं।

उसने कहा—तो फिर रथ कुछ नहीं है। जिसे हम अपने सामने देखते हैं और रथ कहते हैं, वह क्या है?

राजा बोला—ये सब साथ होनेपर ही उसे रथ कहते हैं, महात्मन्!

इसपर भिक्षु नागसेनने कहा—राजन्! ठीक है। ये सब वस्तुएँ मिलकर ही रथ हैं। इसी प्रकार पाँच स्कन्धोंके संघातके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

विद्याका अहंकार

एक बौद्ध ब्रह्मचारी था। अवस्था बीस वर्षकी होगी। चतुर तो था ही, ज्ञानार्जनमें भी कुशल और तत्पर था। वह अपनी प्रशंसाके लिये अनेक कलाओंका अभ्यास करना चाहता था और एतदर्थ वह कई देशोंमें घूमता रहा। एक व्यक्तिको उसने बाण बनाते देखा और उससे बाण बनानेकी कला सीख ली। इसी प्रकार एक दूसरे देशमें जाकर उसने जहाज बनानेकी—नौ-निर्माण-कला सीख ली। एक तीसरे देशमें जाकर गृह-निर्माण-कला भी सीख ली। इसी प्रकार वह सोलह देशोंमें गया और वहाँसे अनेक कलाओंका विशारद होकर लौटा। वह अपने देशमें पहुँचा तो प्रायः अहंकारसे लोगोंको पूछ बैठता—'पृथ्वीपर है मुझ-जैसा कोई चतुर व्यक्ति?'

भगवान् बुद्धको इस युवा ब्रह्मचारीकी दशापर दया आयी। उन्होंने उसे एक उच्चतर कला सिखानी चाही। वे एक वृद्ध श्रमणका वेष बनाकर हाथमें भिक्षापात्र लिये उसके सामने उपस्थित हुए।

'कौन हो तुम?' ब्रह्मचारीने बड़े अभिमानसे पूछा।

'मैं आत्मविजयका पथिक हूँ।' भगवान्ने कहा।

'क्या अर्थ है तुम्हारे इस कथनका?'

'इषुकार बाण बना लेता है, नौचालक जहाजपर नियन्त्रण रख लेता है। गृहनिर्माता घर भी बना लेता है।

* एक दार्शनिक ग्रन्थके एक उद्धरणके आधारपर।

पर यह तो महाविद्वान्का ही कार्य है जो अपने शरीरपर, मनपर नियन्त्रण रख सके—आत्मविजय पा सके।'

'किस प्रकार ?' युवकने प्रश्न किया।

'यदि संसार उसकी प्रशंसाके गीत गाता है तो उसका मन शान्त स्थिर है। यदि संसार उसे गाली देता है, तब भी उसका दिल-दिमाग ठीक है। जो ऐसा है, वही साधक शान्ति तथा निर्वाणको प्राप्त करता है—न कि प्रशंसाका इच्छुक।' उत्तर था भगवान्का। वह समझ गया अपनी भूलको।

—जा० श०

(Dhamma Pada, Translated by Beal, Section XIV)

सच्ची दृष्टि

प्राचीन कालमें सिंहलद्वीपके अनुराधपुर नगरसे बाहर एक टीला था, उसे चैत्यपर्वत कहा जाता था। उसपर महातिष्य नामके एक बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। एक दिन वे भिक्षा माँगने नगरकी ओर जा रहे थे। मार्गमें एक युवती स्त्री मिली। वह अपने पतिसे झगड़ा करके अपने पिताके घर भागी जा रही थी। उस स्त्रीका आचरण संदिग्ध था। भिक्षुको देखकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये वह हँसने लगी।

भिक्षु महातिष्य बराबर चिन्तन करते रहते थे कि मनुष्य-शरीर हड्डी-मांसका पिंजड़ा है। उस स्त्रीके हँसनेपर भिक्षुकी दृष्टि उसके दाँतोंपर गयी। स्त्रीके सौन्दर्यकी ओर तो उनकी चित्तवृत्ति गयी नहीं; केवल यह भाव उनके मनमें आया कि यह एक हड्डियोंका पिंजड़ा जा रहा है।

स्त्री आगे चली गयी। थोड़ी दूर जानेपर नगरकी ओरसे आता एक पुरुष मिला। वह उस स्त्रीका पति था। अपनी पत्नीको वह ढूँढ़ने निकला था। उसने भिक्षुसे पूछा—'महाराज! इस मार्गसे गहने पहिने जाती किसी सुन्दरी युवती स्त्रीको आपने देखा है?'

भिक्षु बोले—'इधरसे कोई पुरुष गया या स्त्री, इस बातपर तो मेरा ध्यान गया नहीं; किंतु इतना मुझे पता है कि इस मार्गसे अभी एक अस्थिपञ्जर गया है।'—सु० सिं०

मुक्तिका मूल्य

महाराज बिम्बसारको निद्रा नहीं आ रही थी। तीर्थंकर महावीरने स्पष्ट कह दिया था कि 'उनको नरक जाना पड़ेगा।' नरक—महाराज नरककी कल्पनासे ही काँप उठे थे। उन्होंने निश्चय किया—'कुछ भी हो, मैं नरकसे त्राण पाऊँगा। मेरे पास कोष है, साम्राज्य है; मोक्ष मेरे लिये अलभ्य कैसे रहेगा।'

दूसरे दिन सूर्यकी प्रथम किरणके साथ महाराज पुलआचलपर तीर्थंकरके चरणोंमें उपस्थित हो गये। उन्होंने प्रार्थना की—'प्रभो! मेरा समस्त कोष और सम्पूर्ण साम्राज्य श्रीचरणोंमें समर्पित है। नरकसे उद्धार करके मुझे मुक्त करें।'

तीर्थंकरके अधरोंपर स्मित-रेखा आयी। उन्होंने देख लिया कि 'अहम्' ने ही यह रूप धारण किया है। 'मैं दान कर सकता हूँ, दान करूँगा।' यह गर्व है और गर्व जहाँ है, वहाँ मोक्ष कैसा। महाराजको आदेश हुआ—'अपने राज्यके पुण्य नामक श्रावकसे एक सामायिकका फल प्राप्त करो। तुम्हारे उद्धारका यही उपाय है।'

महाराज उस श्रावकके समीप पहुँचे। उनका यथोचित सत्कार हुआ। बड़ी कातरतासे उन्होंने कहा—'श्रावकश्रेष्ठ! मैं याचना करने आया हूँ। मूल्य जो माँगोगे, दूँगा; किंतु मुझे निराश मत करना।'

महाराजकी माँग सुनकर श्रावकने कहा—'महाराज! सामायिक तो समताका नाम है। राग-द्वेषकी विषमताको चित्तसे दूर कर देना ही सामायिक है। यह कोई किसीको दे कैसे सकता है। आप उसे खरीदना चाहते हैं; किंतु सम्राट् होनेके अहंकारको छोड़े बिना उसे आप उपलब्ध कर कैसे सकते हैं।'

महाराज सामायिक खरीद नहीं सके; किंतु उसकी उपलब्धिका रहस्य वे पा गये। समत्वमें स्थित होनेपर उनको कोई मुक्त करे—यह अपेक्षा ही कहाँ रह गयी।—सु० सिं०

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्

जैनपुराणकी कथा है कि एक बार श्रीबलदेव, वासुदेव और सात्यकि—ये तीनों बिना किसी सेवक या सैनिकके वनमें भटक गये। बात यह थी कि तीनोंके घोड़े शीघ्रगामी थे। वे नगरसे तो सेवक-सैनिकोंके साथ ही निकले थे, किंतु इनके घोड़े बहुत आगे निकल गये, सैनिक पीछे रह गये। घोर वनमें सैनिकोंसे ये पृथक् हो गये। संध्या तो कबकी बीत चुकी थी, रात्रिका अन्धकार फैल रहा था। अब न आगे जाना सम्भव था और न पीछे लौटना। एक सघन वृक्षके नीचे रात्रि-विश्राम करनेका निश्चय हुआ। घोड़े बाँध दिये गये और उनपर कसी जीन भूमिपर उतार दी गयी।

रात्रिका प्रथम आधा प्रहर बीत चुका था। अन्तिम आधे प्रहरसे पूर्व तो तीनोंको ही प्रातःकृत्यके लिये उठ ही जाना था। बात केवल तीन प्रहर व्यतीत करनेकी थी। निश्चय हुआ कि बारी-बारीसे एक-एक व्यक्ति जगते हुए रक्षाका कार्य करे और शेष दो निद्रा लें। पहले सात्यकिको रक्षाका काम करना था। जब बलदेव और वासुदेव सो गये, तब वहाँ एक भयंकर पिशाच प्रकट हुआ। वह सात्यकिसे बोला—'मैं तुम्हें छोड़ दूँगा, इन दोनोंको भक्षण कर लेने दो।'

सात्यकिने उसे डाँटा—'प्राण बचाना हो तो भाग जा यहाँसे। तनिक भी इधर-उधर की तो कचूमर निकाल दूँगा।'

पिशाचने लाल-लाल आँखें निकालीं—'तू नहीं मानता तो आ जा!'

पिशाच और सात्यकि भिड़ गये। परंतु सात्यकि जितना ही क्रोध करते थे, पिशाचका आकार और बल उतना ही बढ़ता जाता था। उस पिशाचने सात्यकिको अनेक बार पटका। स्थान-स्थानसे सात्यकिका शरीर छिल गया। उनका मुख तथा घुटने सूज गये।

युद्ध करते हुए जब एक प्रहर हो गया, पिशाच स्वयं अदृश्य हो गया। सात्यकिने बलदेवजीको जगा दिया और स्वयं सो गये। परंतु सात्यकिके निद्रामग्न होते ही पिशाच फिर प्रकट हुआ। बलदेवजीसे भी उसने पहलेके समान बातें कीं और उनसे भी उसका द्वन्द्वयुद्ध होने लगा। पूरे एक प्रहर द्वन्द्वयुद्ध चला। पिशाचका बल और आकार बढ़ता ही जाता था। बलदेवजीको भी उसने भरपूर तंग किया।

रात्रिके पिछले भागमें वासुदेव उठे। बलदेवजीके निद्रित हो जानेपर जब पिशाच प्रकट हुआ और वासुदेवको उसने निद्रित लोगोंको छोड़कर चले जानेको कहा, तब वे बोले—'तुम अच्छे आये। तुम्हारे साथ द्वन्द्वयुद्ध करनेमें एक प्रहर मजेसे बीतेगा। न निद्रा आयेगी और न आलस्य।'

पिशाच वासुदेवसे भी भिड़ गया। परंतु इस बार उसकी दुर्गति होनी थी। वह जब दाँत पीसकर घूसे या थप्पड़ चलाता था, तब वासुदेव हँस उठते थे—'ओह, तुम अच्छे वीर हो! तुममें उत्साह तो है।' इसका परिणाम यह होता था कि पिशाचका बल बराबर घटता जाता था और उसका आकार भी छोटा होता जा रहा था। अन्तमें तो वह एक छोटे कीड़े-जितना ही रह गया। वासुदेवने उसे उठाकर पटुकेके छोरमें बाँध लिया।

प्रातःकाल तीनों उठे। सात्यकिका मुख और घुटना इतना फूला था, उसे इतने घाव लगे थे कि उसे देखते ही वासुदेवने पूछा—'तुम्हें क्या हो गया है?'

सात्यकिने पिशाचकी बात बतलायी। उसकी बातें सुनकर श्रीबलदेव बोले—'ओह! बड़ा भयंकर पिशाच था वह। मुझे भी उसने बहुत तंग किया।'

वासुदेवने पटुकेके कोनेसे खोलकर पिशाचको आगे रख दिया और बोले—'यह रहा वह पिशाच! आपलोगोंने इसे पहचाना ही नहीं। यह तो क्रोध है। जितना क्रोध आप करते गये, उतना यह बढ़ता और बलवान् होता गया। यही इसका स्वरूप है। क्रोध न किया जाय तो इसका बल और विस्तार सब समाप्त हो जाता है।'—सु० सिं०

कथा-प्रेम

अवन्तीप्रदेशके कुरघर नगरमें साधु कोटिकर्ण पधारे थे। उनका प्रवचन सुनने नगरके श्रद्धालु जनोंकी भीड़ एकत्र होती थी। श्राविका कातियानी भी नियमपूर्वक कथाश्रवण करती थी। चोरोंने यह अवसर लक्षित कर लिया। एक दिन जब कातियानी कथा सुनने गयी, चोरोंने उसके घरमें सेंध लगायी और भीतर घुस गये। संयोगवश कातियानीने एक दासीको भेजा—'घर जाकर थोड़ा तेल ले आ। कथामें प्रदीप जलता ही है, मेरा तेल भी उसके उपयोगमें आ जायगा।'

दासी घर गयी; किंतु सेंध लगी देखकर घरके बाहरसे ही लौटी और दौड़ती हुई अपनी स्वामिनीके पास आयी। वह कह रही थी—'आप शीघ्र घर चलें! घरमें चोरोंने सेंध लगायी है।'

कातियानीने धीरेसे कहा—'चुपचाप बैठ। कथामें विघ्न मत कर। चोर धन ही तो ले जायँगे। मेरे प्रारब्धमें धन होगा तो फिर मिलेगा; किंतु सत्पुरुषके द्वारा जीवनको पवित्र बनानेवाला ऐसा उपदेश फिर कहाँ प्राप्त होगा।'

कातियानीके घरमें सेंध लगाकर चोर भीतर घुसे थे और उनका सरदार घरसे कुछ दूर खड़ा हुआ देख रहा था कि कोई आता तो नहीं है। कोई आशंकाकी बात होनेपर साथियोंको सावधान कर देना उसका काम था। दासी घरके पास आकर जब लौटी, तब उस सरदारने छिपे-छिपे उसका पीछा किया और इस प्रकार वह भी कथा-स्थलतक गया। कातियानीकी बातें उसने सुनीं। उसे बड़ी ग्लानि हुई—'कहाँ तो यह धर्मात्मा नारी और कहाँ मैं अधम पापी कि इसीके घर चोरी करा रहा हूँ।'

चोरोंका सरदार शीघ्र लौट पड़ा। उसने अपने साथियोंको बिना कुछ लिये उस घरसे निकल चलनेका आदेश दिया। चोर वहाँसे निकल गये। परंतु जब कातियानी कथासे लौट आयी, तब सब चोर अपने सरदारके साथ उसके घर फिर आये। वे हाथ जोड़कर बोले—'देवी! आप हमें क्षमा करें।'

कातियानीने कहा—'भाइयो! मैं तो आपलोगोंको पहचानती ही नहीं। आपने तो मेरा कोई अपराध किया नहीं है।'

'हमने आपके घरमें सेंध लगायी। अब हम प्रतिज्ञा करते हैं कि चोरीका यह पाप फिर कभी नहीं करेंगे।' चोर उस देवीके चरणोंपर गिर पड़े।—सु० सिं०

नशा उतर गया

नशा ही तो—कामका नशा चढ़ गया था सेठ धनदत्तके पुत्रके सिरपर। एक नट आया उनके यहाँ और उसने अपनी कलाका प्रदर्शन किया; किंतु उसकी कन्याको देखकर सेठका पुत्र इलायचीकुमार हठ कर बैठा—'मैं इसीसे विवाह करूँगा। यह मुझे न मिली तो आत्मघात कर लूँगा।'

सेठ धनदत्त क्या करते, इलायची उनका एकमात्र पुत्र था, उसकी हठके आगे उन्हें झुकना पड़ा। उन्होंने नटसे प्रस्ताव किया कि वह अपनी पुत्री दे दे; किंतु नट लाल हो उठा—'धनके मदमें मतवाले मत बनो! हम कंगाल सही; किंतु हमारा भी कुलगौरव है; किसीका सम्मान पैसोंसे नहीं खरीदा जा सकता।'

नगर-नगर घूमनेवाले नटके द्वारा यह अपमान सहकर भी सेठ धनदत्त शान्त रह गये। उन्हें अपने पुत्रके प्राणोंकी चिन्ता थी। अन्तमें सेठकी अनुनय-विनयपर नट प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'आपका पुत्र मेरे साथ बारह वर्ष रहकर मेरी कलाका अभ्यास करे। जिस दिन किसी नरेश-द्वारा वह पुरस्कृत होगा, उसी दिन मेरी पुत्रीका उससे विवाह हो जायगा।'

इलायचीकुमारने नटकी बात स्वीकार कर ली। माता-पिता, स्वजन तथा अपने वैभवको त्यागकर वह नटके साथ निकल पड़ा। बारह वर्षतक उसने नटकी कलाका अभ्यास किया। कठोर श्रम करके वह उस विद्यामें प्रवीण हो गया।

नटके साथ इलायचीकुमार वाराणसी गया और वहाँके नरेश उसकी कला देखकर प्रसन्न हो गये। नरेशने कहा—'नटकुमार! हम तुम्हारी कलापर प्रसन्न हैं, माँगो क्या माँगते हो?'

उस समय इलायची एक बहुत ऊँचे स्तम्भके सिरेपर बैठा था। उसकी दृष्टि दूर एक भवनके द्वारपर थी। वह देख रहा था कि वहाँ उस द्वारपर एक मुनि खड़े हैं और भवनसे एक अत्यन्त सुन्दरी नवविवाहिता युवती उन्हें भिक्षा देने आयी है। युवती पर्याप्त अधिक भिक्षा ले आयी है; किंतु मुनि थोड़ी सामग्री लेकर कह रहे हैं—'बस करो, बहिन!' इसी समय वाराणसीनरेशका सम्बोधन उसके कानमें पड़ा—'नटकुमार!' इलायची चौंक पड़ा—'कौन नटकुमार? एक नगर-सेठका पुत्र मैं और मेरा इतना पतन!'

इलायचीकुमारका नशा उतर गया। उसने स्तम्भसे उतरकर सीधे उन मुनिके चरणोंमें उपस्थित होकर मस्तक झुकाया। मुनिसे उसने दीक्षा ग्रहण की। नटकुमारीके मोहजालसे ही नहीं, मायारूपी नटिनीके मोहजालसे भी वह छूट गया। नाना योनियोंमें जन्म लेकर अनेक रूपसे नटकी भाँति नाचते रहनेकी परम्परासे छुटकारा पा लिया उसने।

—सु० सिं०

प्रतिकूल परिस्थितिसे बचे रहो

क्या हुआ जो स्थूलभद्र पहिले अत्यन्त विलासी थे और उन्होंने बारह वर्ष नर्तकी कोशाके यहाँ व्यतीत किये थे। जब उनके चित्तमें विवेकका उदय हुआ, वे सचमुच जाग्रत् हो गये। दीक्षा लेकर मुनिवेश ग्रहण करनेके अनन्तर उनका संयम, उनकी एकाग्रता, उनका वैराग्य कभी शिथिल नहीं पड़ा। आज आचार्य अपने शिष्योंसे पूछ रहे थे—'वे चातुर्मास्य कहाँ करेंगे?' आचार्यके दो शिष्य उपयुक्त स्थान चुन चुके थे। तीसरेने कहा—'मैं सिंहकी गुहामें चातुर्मास्य करूँगा।' उन्हें भी अनुमति मिल गयी। अन्तमें स्थूल-भद्रसे पूछा गया तो वे बोले—'मैं ये चार महीने कोशाके घर व्यतीत करना चाहता हूँ।'

'ये चार महीना तो क्या चार जन्म उसी पाप-पङ्कमें व्यतीत करेंगे। वह नर्तकी इन्हें भूल कैसे सकती है।' गुरु-भाइयोंने परस्पर कानाफूसी प्रारम्भ की। परंतु आचार्य गम्भीर हो गये। दो क्षण सोचकर उन्होंने कह दिया—'तथास्तु।'

कोशा नर्तकी थी, वेश्या थी; किंतु स्थूलभद्रमें उसका सच्चा अनुराग था। स्थूलभद्र जब उसे छोड़कर गये थे—रात-रात जगकर वह रोती रही थी। आज वही स्थूलभद्र उसके यहाँ पधारे थे, क्या हुआ जो अब वे मुनिवेशमें थे। कोशाने उनका स्वागत किया। उनके रहनेकी सुव्यवस्था की। उनको रिझानेके प्रयत्नमें लग गयी। वह नर्तकी थी, लोकरुचि परखना जानती थी और पुरुषको पहिचान सकती थी। शीघ्र ही उसने समझ लिया कि उसके आभूषण, उसके भव्य वस्त्र, उसका अद्भुत शृंगार अब स्थूलभद्रको आकर्षित नहीं कर सकता। यह सब उन त्यागीके चित्तको उससे अधिक विमुख करेगा। नर्तकी कोशाने आभूषण उतार दिये। शृंगार करना बंद कर दिया। वह केवल एक उज्ज्वल साड़ी पहिनने लगी। दासीकी भाँति स्थूलभद्रकी सेवामें लग गयी। इससे भी जब स्थूलभद्र आकृष्ट नहीं हुए, तब उनके पैरोंपर गिरकर एक दिन वह फूट-फूटकर रोने लगी।

स्थूलभद्र बोले—'कोशा! मैं बहुत दुखी हूँ तुम्हारे दुःखसे। तुमने मेरे लिये जीवन अर्पित कर दिया, भोग त्याग दिये; किंतु सोचो तो सही कि क्या जीवन इसीलिये है? नारी क्या केवल भोगकी सामग्री मात्र है? तुम्हारे भीतर जो मातृत्व है, उसे पहिचानो। नारीका सच्चा रूप है माता। वह जगत्में मातृत्वका स्नेह देने उत्पन्न हुई है कोशा बहिन!'

विशुद्ध प्रेम हृदयमें वासना नहीं उत्पन्न करता, हृदयको वासनाशून्य करता है। कोशाका प्रेम शुद्ध था। उसकी वासना स्थूलभद्रके शब्दोंसे ही नष्ट हो गयी। उसने स्थूल-भद्रके चरणोंमें मस्तक रख दिया। उन्हींसे दीक्षा ली उसने। उसका जीवन पवित्र बन गया।

चातुर्मास्य समाप्त करके शिष्य आचार्यके पास पहुँचे। स्थूलभद्रके सम्बन्धमें वे अनेक हीन सम्भावना कर रहे थे; किंतु स्थूलभद्र जब पहुँचे उनका शान्त, गम्भीर, ओजपूर्ण भाव देखकर सब शान्त रह गये। आचार्यने उन्हें अपने समीप आसन दिया।

अगला चातुर्मास्य आया तो आचार्यके तीसरे शिष्यने कोशाके यहाँ रहनेकी इच्छा प्रकट की। आचार्य बोले—'तुम अभी इसके योग्य नहीं हो।'

'जब सिंहकी गुफामें मैं निर्भय रह सका तो वहाँ भी स्थिर रहूँगा।' शिष्यने आग्रह किया और आचार्यने खिन्न मनसे अनुमति दे दी।

वे कोशाके घर पहुँचे। कोशा अब नर्तकी नहीं थी। वह बहुत सादे वेशमें, संयमपूर्वक रहती थी। उसने नवीन मुनिका भी स्वागत किया। उनके रहनेकी भी सुव्यवस्था कर दी। कोशामें अब न मादक हाव-भाव था और न मोहक शृंगार; किंतु उसके सौन्दर्यपर ही वे मुनि मुग्ध हो गये। अपने मनके संघर्षसे पराजित होकर उन्होंने अन्तमें कोशासे उसके रूपकी याचना की।

स्थूलभद्रकी शिष्या कोशा चौंकी। परंतु उसमें नर्तकीका कौशल तो था ही। उसने कहा—'मैं तो धनकी दासी हूँ। नैपालनरेशसे आप रत्न-कम्बल माँगकर ला सकें तो आपकी प्रार्थना मैं स्वीकार करूँगी।'

वासना अंधी होती है। मुनिका संयम-नियम छूट गया। वे पैदल जंगल-पर्वतोंमें भटकते नैपाल पहुँचे और वहाँसे रत्न-कम्बल लेकर लौटे। कोशाने उपेक्षापूर्वक रत्न-कम्बल लिया। उससे अपने पैर पोंछे और फेंक दिया उसे गंदी नालीमें।

इतने श्रमसे प्राप्त उपहारका यह अनादर देखकर मुनि क्रोधपूर्वक बोले—'मूर्ख इस दुर्लभ महामूल्य कम्बलको तू नालीमें फेंकती है !'

कोशाने तीक्ष्णस्वरमें उत्तर दिया—'पहिले अपनी ओर देखो कि तुम अपना अमूल्य शीलरत्न कहाँ फेंक रहे हो ।'

मुनिको धक्का लगा, उनका सोया हुआ विवेक जाग उठा । उन्होंने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया—'मुझे क्षमा करो देवि ! तुम मेरी उद्धारिका हो ।'

चातुर्मास्य कबका बीत चुका था । आचार्यके चरणोंमें उपस्थित होकर जब उन्होंने सब बातें बतायीं, तब आचार्य बोले—'प्रतिकूल परिस्थितिसे बचे ही रहना चाहिये । संयमको स्थिर रखनेके लिये यह नितान्त आवश्यक है ।' —सु० सिं०

अपने बलपर अपना निर्माण

(लेखक—कविरत्न श्रीअमरचन्द्रजी मुनि)

एक बार श्रमण महावीर कुम्मार ग्रामसे कुछ दूर संध्या-वेलामें ध्यानस्थ खड़े थे । एक गोपाल आया और ध्यानस्थ महावीरसे बोला—'रे श्रमण ! जरा देखते रहना मेरे बैल यहाँ चर रहे हैं, मैं अभी लौटकर आया ।' दीर्घतपस्वी महावीर अपनी समाधिमें थे ।

गोपाल लौटकर आया तो देखा बैल वहाँ नहीं हैं, परंतु श्रमण वैसे ही ध्यानमें स्थित है । पूछा—'मेरे बैल कहाँ हैं ?' इधर-उधर देखा भी बहुत । पर बैलोंका कुछ भी अता-पता नहीं लगा । वे अपने सहज स्वभावसे चरते-चरते कहीं दूर निकल गये थे ।

श्रमण महावीरका कुछ उत्तर न पाकर वह कोपमें भर-कर बोला—'धूर्त ! तू श्रमण नहीं, चोर है ।' इधर वह गोपाल रस्सीसे श्रमण महावीरको मारनेके लिये उद्यत होता है, उधर देवराज इन्द्र स्वर्गसे आते हैं कि कहीं यह अज्ञानी श्रमण महावीरको सताने न लगे ।

इन्द्रने ललकारकर गोपालसे कहा—'सावधान, तू जिसे चोर समझता है, वे राजा सिद्धार्थके वर्चस्वी राजकुमार वर्धमान हैं । आत्म-साधनाके लिये इन्होंने कठोर श्रमणत्वको धारण किया है । दीर्घ तप और कठोर साधना करनेके कारण ये महावीर हैं ।'

गोपाल अपने अज्ञानमूलक अपराधकी क्षमा माँगकर चला गया । पर, इन्द्रने श्रमण महावीरसे कहा—'भंते ! आपका साधनाकाल लम्बा है । इस प्रकारके उपसर्ग, परीषह और संकट आगे और भी अधिक आ सकते हैं । अतः आप-की परम पवित्र सेवामें मैं आपके समीप रहनेकी कामना करता हूँ ।'

गोपालका विरोध और इन्द्रका अनुरोध महावीरने सुना तो अवश्य । पर अभीतक वे अपने समाधिभावमें स्थिर थे । समाधि खोलकर बोले—

'इन्द्र ! आजतकके आत्म-साधकोंके जीवन-इतिहास-में न कभी यह हुआ, न कभी यह होगा और न कभी यह हो सकता है कि मुक्ति या मोक्ष अथवा कैवल्य दूसरेके बलपर, दूसरेके श्रमपर और दूसरेकी सहायतापर प्राप्त किया जा सके ।'

आत्म-साधक अपने बल, अपने श्रम और अपनी शक्ति-पर ही जीवित रहा है और रहेगा । वह अपनी मस्त जिन्दगी-का बादशाह होता है, भिखारी नहीं । वह स्वयं अपना रक्षक है, वह किसीका संरक्ष्य होकर नहीं रह सकता । साधकका कैवल्य मोक्ष साधकके आत्म-बलमेंसे प्रसूत होता है । श्रमण भगवान् महावीरके सम्मुख जीवनके दो चित्र थे—गोपाल और इन्द्र । एक विरोधी, दूसरा विनत । एक त्रासक, दूसरा भक्त । परंतु भगवान् दोनोंको समत्व दृष्टिसे देख रहे थे । न गोपालके अकृत्यके प्रति घृणा और न इन्द्र-की भक्तिके प्रति राग । यह समत्वयोग ही जनोत्थानका मूल-मन्त्र है ।

अभयका देवता

(लेखक—कविरत्न श्रीअमरचन्द्रजी मुनि)

विराट्-विश्वको अभय, अद्वेष और अखेदका दिव्य संदेश देनेवाले भगवान् महावीरने साधना-पथपर चलनेवाले साधकोंको सम्बोधित करके कहा—'साधको ! तुम स्वयं अपने वैरी हो और स्वयं ही अपने परम मित्र भी । जब आत्मा क्रोधके क्षणोंमें होता है, तब अपना वैरी और जब क्षमाके क्षणोंमें होता है, तब अपना मित्र ।'

एक तपस्वी था। शिष्यके बार-बार कुछ कह देनेपर तपस्वीको क्रोध आया और मारने दौड़नेपर रातके अँधेरेमें खम्भेसे टकराकर मर गया।

तपस्वी मरकर भी अपने तपोबलसे फिर तापस बना। आश्रमका अधिपति बन गया। नाम था चण्डकौशिक तापस। एक बार आश्रममें ग्वाल-बाल फल-फूल तोड़नेके अभिप्रायसे आ घुसे और फल-फूल तोड़ने लगे। चण्डकौशिकने देखते ही ललकारा; किंतु वे फिर आ घुसे। अबकी बार चण्डकौशिकको प्रचण्ड क्रोध आया। कुल्हाड़ी लेकर दौड़ा मारने। क्रोधावेशमें ध्यान न रहनेसे कूपमें जा गिरा और मर गया।

प्रचण्ड क्रोधके क्षणोंमें मृत्यु होनेसे वह चण्डकौशिक तापस उसी वनमें विष-दृष्टि सर्प बना। विषधर और भयङ्कर सर्पके भयसे भीत होकर लोगोंने उधर जाना-आना बंद कर दिया।

एक बार परम प्रभु महावीर साधना करते-करते व निकले उस वनमें। देखनेवाले लोगोंने जानेका निषेध भी बहुत किया। पर अभयको भय क्या? क्षमाश्रमण महावीरको विष-दृष्टि चण्डकौशिक नागराजने ज्यों ही देखा कि फुफकार करने लगा, विष-ज्वाला उगलने लगा। और प्रभु भी उसके बिलके पास ही अडिग और अमिट होकर खि खड़े रहे। क्षमा और क्रोधका संघर्ष काफी देरतक चला रहा। अपना तीक्ष्ण दंश भी मारा भगवान्‌के चरणमें। औ तो खूनके बदले दूधकी धार बह निकली। वह हार गया।

क्रोधपर क्षमाकी विजय। अमृतने विषको जीत लिया। परम प्रभु महावीरने शान्त और मधुर स्वरमें कहा—'चण्ड! चेतो, जरा सोचो-समझो। तुम कौन थे? क्या बन बैठे हो?' वह समझा और तबसे लोगोंको उसने अभय देना सीखा। लोग उसे मारते, तब भी शान्त रहता। अपने जीवनके क्ष पूरे करके वह देव बना।

नारी नरसे आगे

(लेखक—कविरत्न श्रीअमरचन्द्रजी मुनि)

सतीशिरोमणि राजमती—जिसका घरेलू प्यारका नाम राजुल था, यादववंशकी एक उज्ज्वल कन्या-रत्न थी। यदुकुलभूषण समुद्रविजयके तेजस्वी पुत्र नेमिकुमारके साथ राजुलका पाणि-ग्रहण निश्चित हुआ था। यह संयोग रत्न और स्वर्णके संयोग जैसा था।

यथासमय नेमिकुमारकी वरयात्रा सज-धजके साथ द्वारकासे मथुरा पहुँची। विधिका विधान विचित्र होता है। कन्याके पिताने बहुत-से पशु-पक्षी इसलिये एकत्रित किये थे कि वर-यात्रियोंको अभिलषित मांस-भोजन दिया जा सके। एक बाड़ेमें बंद और करुणापूर्ण विलाप करते पशु-पक्षियोंको देख, नेमिकुमारका कोमल मानस दयाकी पुकारसे भर गया। दयाशील एवं करुणाप्रवण नेमिकुमारने अपना रथ लौटानेका सारथिको आदेश दिया और संयम-साधनाके लिये श्रमण बन गया।

राजुलका सुषुप्त मानस इस घटना-चक्रसे सजग हो गया। उच्च संस्कृतिसे संस्कृत जीवन अपनी दिशा बदलनेमें विलम्ब नहीं करता। पतिकी जीवन-दिशा ही पत्नीकी जीवन-दिशा होती है। सुकुमारी राजुल भी भोगसे निकल, कठोर योग-साधनामें सध गयी।

एक बार सती राजुल भगवान् नेमिनाथके दर्शनको रैवतगिरिपर चली। मार्गमें वर्षा हो जानेसे आर्द्रवसना होकर समीपस्थ पर्वत-गुफामें जा पहुँची वस्त्र सुखाने। संयोगवश उसी गुफामें भगवान् नेमिनाथका अनुज भ्राता रथनेमि श्रमण भी ध्यानस्थ खड़ा था।

राजुलका जातरूप देखकर विचलित हो उठा। योगको भूलकर भोगके कर्दममें फँसनेको तैयार हो गया। मानसमें सुषुप्त वासनाकी नागिन फुफकार उठी। राजुल स्थितिकी नाजुकताको समझकर सतेज वाणीमें बोली—'सावधान रथनेमि! अपनेको सँभालके रख। जिस भोग-वमनका परित्याग कर श्रमणत्व संधारण किया, क्या उस वमनको फिर आस्वादित करेगा? पशु जिस गर्हित कर्मको करता है, उस अपकर्मको तू मानव होकर और फिर श्रमण होकर भी करनेको तैयार हुआ है—धिक्कार है तुझे। जिस-किसी भी नारीके रूपमें विमुग्ध होकर यदि तू संयमकी सीमासे निकला, तो तेरी

स्थिति वही होगी, जो सरोवरकी सतहपर स्थित वातप्रेरित शैवालकी होती है। अतः अपनेको सँभालकर रख।'

मत्तगजराज जैसे अंकुशसे सन्मार्गपर आ जाता है, वैसे रथनेमि भी राजुलके सुभाषित अंकुशसे श्रमणत्वके पूजित पथपर लौट आया।

राजुलका जीवन एक संस्कृत जीवन था। जनमानसके विस्मृत और विलुप्त सद्भावोंके प्रबोधके लिये एक अनुपम संजीवन शक्ति है राजुलका गौरवमय नारी-जीवन। युग-युग-तक राजुलका जीवन-दीप भूले-चूके गुमराहीको धर्मका सच्चा रास्ता बताता रहेगा।

भोगमेंसे जन्मा वैराग्य

(लेखक—कविरत्न श्रीअमरचन्द्रजी मुनि)

मानव-जीवन एक शून्य-बिन्दुके सदृश है। तबतक उसका कुछ भी मूल्य नहीं, जबतक उसके आगे त्याग एवं वैराग्यका कोई अङ्क न लगे। भोग और भोजनमें तथा वसन और भवनमें विमुग्ध रहनेवाले मानव-जीवनमें भी कभी इतना चमत्कारपूर्ण परावर्त होता है कि वह अपने शून्य होते जीवनके आगे वैराग्यका अङ्क लगाकर मर्त्यसे अमृत हो जाता है।

विदेह देशकी राजधानी मिथिलाके राजा नमि भव-भोगोंमें अत्यन्त आसक्त रहते थे। भोगके अतिरेकमेंसे दाह-ज्वरका वह भयंकर कालकूट फूट निकला, जो रात-दिन नमिके प्रिय देहको सालता रहता। नमिका जीवन-सुख जीवन-भारमें परिणत हो गया—सर्वत्र दुःख और दर्दकी दुनिया।

वैद्यराजने वामन चन्दनके लेपका आदेश दिया। चन्दन घिसनेका और लेप करनेका काम राजरानियोंने अपने हाथमें ही रक्खा—नमिके प्रति रानियोंके मनमें कितना गहरा अनुराग था।

चन्दन घिसते समय चूड़ियोंके सम्मिलनसे समुत्थित कोलाहल भी जब नमिको सह्य न हो सका, तब रानियोंने सौभाग्यसंसूचक एक-एक चूड़ी रखकर अपना काम चालू रखा। अब काम होते भी कोलाहल नहीं था, वातावरणमें शान्ति थी।

नमिने पूछा—क्या चन्दन नहीं घिसा जा रहा है? उत्तर मिला—घिसा तो जा रहा है, परंतु हर रानीके हाथमें एक-एक चूड़ी होनेसे संघर्षणजन्य शब्द नहीं हो पा रहा है।

नमिकी अन्तश्चेतना जागी। राजा नमि हृदयके अन्तस्तलमें उतरकर सोचने लगा—एकत्वमें ही वास्तविक सुखका अधिष्ठान है। एकत्व-भावनाकी, असङ्गत्व-विचारणाकी पराकाष्ठामेंसे वैराग्य आविर्भूत हुआ, जिसको पाकर नमि एक पलभर भी राजप्रासादोंमें न रह सके। आत्म-साधनाके महा-पथपर चल पड़े।

भोगका सम्राट् योगका परिव्राट् बनकर आत्म-भावमें भावित होकर अमर बन गया।

सत्सङ्गका लाभ

राजगृह नगरमें रौहिणेय नामका एक चोर रहता था। उसके पिताने मरते समय उसे आदेश दिया था—'यदि तुम्हें अपने व्यवसायमें सफल होना है तो कहीं कथा-कीर्तन और साधुओंके उपदेशमें मत जाना। ऐसे स्थानपर जाना ही पड़े तो कान बंद रखना।'

संयोगकी बात—एक बार रौहिणेय कहीं जा रहा था। उसने देखा कि मार्गमें बहुत-से लोग एकत्र हैं। समीप पहुँचने-पर ज्ञात हुआ कि श्रमण महावीर स्वामी उपदेश कर रहे हैं। रौहिणेयने चौंककर अपने दोनों कानोंमें अँगुलियाँ डाल लीं।

लेकिन उसी समय उसके पैरमें काँटा चुभ गया। विवश होकर उसे एक हाथसे वह काँटा निकालना पड़ा! इतने समयमें तीर्थंकरके उपदेशका यह अंश उसके कानोंमें पहुँच ही गया—'देवताओंके शरीरकी छाया नहीं पड़ती और उनके चरण पृथ्वीका स्पर्श न करके चार अंगुल ऊपर ही रहते हैं।'

रौहिणेय उस स्थानसे यथाशीघ्र दूर हट गया। थोड़े दिनों पीछे वह चोरीके अपराधमें पकड़ा गया। राजकर्मचारी उसे बहुत दिनोंसे ढूँढ़ रहे थे; किंतु पकड़ लेनेपर भी यह रौहिणेय ही है या कोई दूसरा व्यक्ति, यह निश्चय करना सरल

नहीं था। रौहिणेयको पहचानता कोई नहीं था और मारने-पीटने तथा अनेक प्रकारका कष्ट देनेपर भी रौहिणेय अपना कोई परिचय दे नहीं रहा था। दूसरा कोई उपाय न देखकर राजकर्मचारियोंने उस चोरको ऐसी औषध दे दी, जिससे वह मूर्छित हो गया। मूर्छित दशामें ही वे लोग उसे एक सुसज्जित उपवनमें रख आये।

जब रौहिणेयकी मूर्च्छा दूर हुई, तब वह अपने चारों ओर-का दृश्य देखकर चकित रह गया। उस उपवनमें मणिजटित मण्डप थे। अद्भुत वृक्ष थे और बहुमूल्य वस्त्राभरणोंसे भूषित स्त्रियाँ गाती-बजाती एवं नाचती थीं। उन युवती स्त्रियोंने उस चोरको नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोलीं—'देव! कितने सौभाग्यकी बात है कि आप स्वर्ग पधारे! कृपा करके आप बतलायें कि आप मर्त्यलोकमें कहाँ किस नामसे जाने जाते थे। आप तो जानते ही हैं कि देवलोकमें छल करना या झूठ बोलना वर्जित है। यहाँ असत्यका आश्रय लेनेवाला तत्काल च्युत कर दिया जाता है।'

'मैं स्वर्ग आ गया? ये स्वर्गीय देवियाँ हैं?' रौहिणेय चौंका। वह अपना परिचय देने ही जा रहा था कि उसे उस दिनके तीर्थंकरके मुखसे सुने वचन स्मरण हो आये—'इनके शरीरोंकी छाया पड़ रही है और ये भूमिपर ही खड़ी हैं।' उसने स्पष्ट कहा—'मेरे साथ छल करनेकी आवश्यकता नहीं है। राजकर्मचारियोंसे कह दो कि मैं ही रौहिणेय हूँ; किंतु जिनके एक वाक्यके सुननेसे मुझे इतना लाभ हुआ, उन तीर्थंकरके चरणोंमें ही मैं अब अपना जीवन अर्पित कर देना चाहता हूँ।'

रौहिणेयके विचारोंका राजाने सम्मान किया। उसे क्षमा प्राप्त हो गयी और उस चोरने चोरी छोड़कर तीर्थंकरसे दीक्षा ग्रहण की।—सु० सिं०

महत्त्वपूर्ण दान

पट्टन-साम्राज्यके महामन्त्री उदयनके पुत्र बाहड़ जैनोंके शत्रुञ्जयतीर्थका पुनरुद्धार करके दिवंगत पिताकी अपूर्ण इच्छा पूरी कर देना चाहते थे। तीर्थोद्धारका कार्य प्रारम्भ हुआ तो जनताके लोगोंने भी मन्त्री महोदयसे प्रार्थना की—'आप समर्थ हैं; किंतु हमें भी इस पुण्यकार्यमें भाग लेनेका अवसर प्रदान करें।'

लोगोंकी प्रार्थना स्वीकार हो गयी। जिसकी जितनी शक्ति और श्रद्धा थी, उसने उतना धन दिया। जब तीर्थका उद्धार हो गया और आर्थिक सहायता देनेवालोंकी नामावली घोषित की गयी, तब लक्ष-लक्ष मुद्रा देनेवाले भी चकित रह गये। सबसे पहला नाम था भीम नामक एक मजदूरका और उसने सहायता दी थी केवल सात पैसेकी।

मन्त्री महोदयने सम्पन्न लोगोंका रोष लक्षित कर लिया। वे बोले—'भाइयो! मैंने स्वयं और आप सबने तीर्थके उद्धारमें जो कुछ दिया है, वह अपने धनका एक भाग ही दिया है। लेकिन भीम पता नहीं कितने दिनोंके परिश्रमके बाद सात पैसे बचा पाया था। उसने तो अपना सर्वस्व दान कर दिया है। उसका दान ही सबसे बड़ा दान है, यह निर्णय करनेमें मुझसे भूल तो नहीं हुई?'

सबने मस्तक झुका रक्खा था। एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं निकला जो इसका विरोध कर सकता।—सु० सिं०

प्रलोभनोंपर विजय प्राप्त करो

चम्पा नगरीके व्यापारी माकंदीके पुत्र जिनपालित और जिनरक्षित बार-बार जलयानसे समुद्री यात्रा करते थे। समुद्री व्यापारमें उन्होंने पर्याप्त धन एकत्र कर लिया था। ऐसी ही एक यात्रामें समुद्रमें अंधड़ आ गया, उनका जलयान लहरोंके चपेटेमें आकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। पता नहीं लगा कि मल्लाह और सेवकोंका क्या हुआ; किंतु वे दोनों भाई लकड़ीके एक पटरेको पकड़कर समुद्रपर तैरते हुए एक द्वीपपर जा पहुँचे।

जिस द्वीपपर जिनपालित और जिनरक्षित बहते हुए पहुँचे थे, उसपर एक यक्षिणीका भवन था। ये दोनों भाई द्वीपपर पहुँचकर कुछ समयतक विश्राम करते रहे। थकावट दूर होनेपर वहाँके सरोवरमें स्नान करके फल-कन्द आदि

ढूँढ़ने निकले। उसी समय यक्षिणीने उन्हें देखा। वह उन दोनोंको अपने भवनमें ले गयी।

उस यक्षिणीके भवनमें दोनों भाइयोंको कोई कष्ट नहीं था। उनका भरपूर स्वागत-सत्कार होता था। उन्हें सब सुखोपभोग उपलब्ध थे। किंतु यक्षिणी उन्हें उस द्वीपसे बाहर नहीं जाने देना चाहती थी। थोड़े ही समयमें दोनों भाई अपने नगर जाकर अपने सम्बन्धियोंसे मिलनेको उत्सुक हो उठे। वे वहाँसे निकल भागनेका अवसर ढूँढ़ने लगे।

समय-समयपर वे दोनों उस द्वीपमें घूमने निकलते थे। द्वीपके वन्य प्रदेशमें घूमते समय उन्हें एक व्यक्ति मिला जो शूलीपर चढ़ा दिया गया था। वह मृत्युके निकट पहुँच गया था। उससे ज्ञात हुआ कि वह भी व्यापारी है। समुद्रमें जलयानके डूबनेसे वह भी तैरता हुआ इस द्वीपपर पहुँचा था और यक्षिणीने उसका भी पहिले पर्याप्त सत्कार किया था। किंतु कुछ ही दिनों बाद साधारण अपराधपर रुष्ट होकर यक्षिणीने उसे शूलीपर लटका दिया। उसी पुरुषने बताया—"इस द्वीपपर कुछ निश्चित तिथियोंमें एक यक्ष घोड़ेका रूप धारण करके आता है और पुकारता है—'मैं किसे पार उतारूँ?' उसके पास जाकर प्रार्थना करनेसे वह समुद्र पार उतार देता है। परंतु उसका नियम है कि उसकी पीठपर बैठा व्यक्ति यदि पीछे दौड़ती यक्षिणीके रूप एवं हाव-भावपर आसक्त हो जाय तो वह यक्ष उस व्यक्तिको तत्काल समुद्रमें फेंक देता है।"

दोनों भाइयोंने उस व्यक्तिको धन्यवाद दिया। निश्चित तिथिपर यक्ष आया। संयोगवश यक्षिणी उस समय कहीं बाहर गयी हुई थी। दोनों भाई उस अश्वरूपधारी यक्षके पास गये और उसने इनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। परंतु जैसे ही दोनों भाई उसकी पीठपर बैठकर समुद्र पार होने लगे, यक्षिणी आ पहुँची। उसने बड़ा सुन्दर रूप बनाया था। वह दोनोंको पुकारने लगी—'प्यारे! तुम मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो? तुम तो मुझे बहुत प्यार करते थे।'

दोनोंमेंसे जिनरक्षितका मन विचलित होने लगा। जिन-पालितने कहा—'भैया! प्रलोभनमें मत पड़ो।' किंतु वह यक्षिणी अब जिनरक्षितको ही नाना प्रकारसे सम्बोधित करके प्रेमदर्शन कर रही थी। उससे प्रभावित होकर जैसे ही जिनरक्षितने यक्षिणीकी ओर देखा, उस अश्वरूपधारी यक्षने उसे अपनी पीठसे समुद्रमें फेंक दिया और उस क्रूर यक्षिणीने उसे मार डाला। जिनपालितपर अपनी बातोंका कोई प्रभाव न पड़ते देखकर वह लौट गयी। प्रलोभनजयी जिनपालितके ही भाग्यमें अपनी मातृभूमि और परिवारका दर्शन था।

हमारे कुलमें युवा नहीं मरते

काशीके राजा ब्रह्मदत्तके राज्यमें एक ब्राह्मण रहता था—धर्मपाल। उसमें नामके अनुसार ही गुण थे। यहाँतक कि उसके घरके नौकर-चाकरतक बड़े सदाचारी, दानी तथा व्रत-उपवासपरायण थे।

धर्मपालके एक ही पुत्र था। जब वह वयस्क हो गया, तब पिताने उसे पर्याप्त धन देकर तक्षशिला-महाविद्यालयमें पढ़ने भेज दिया। वहाँ पाँच सौ शिष्य थे। थोड़े ही दिनोंमें वह सबसे आगे निकल गया।

दुर्दैववश एक दिन ऐसा हुआ कि आचार्यका एक युवा पुत्र मर गया। सभी लोग रोने-धोने लगे। अन्तमें श्मशानसे लौटकर सभी परस्पर बात करने लगे—'देखो, कैसा युवा लड़का था, बेचारा चल बसा।' धर्मपालका लड़का भी वहीं बैठा सब सुन रहा था। प्रसङ्गवशात् उसके मुँहसे निकल गया, 'पर भाई! हमलोगोंके यहाँ तो कोई युवा व्यक्ति नहीं मरता।' अब तो सभी लड़के उसकी खिल्ली उड़ाने लगे। बात आचार्यतक पहुँची। उन्होंने बुलाकर उससे सारी बात पूछी। उसने कहा—'गुरुदेव! धर्मका कुछ ऐसा प्रभाव है कि हमारे यहाँ सात पीढ़ियोंतक कोई युवा नहीं मरा।'

आचार्यको आश्चर्य हुआ। उन्होंने एक व्यक्तिको विद्यालयका भार सौंपकर कुछ बकरेकी हड्डियाँ साथमें लीं और चल पड़े काशीकी ओर। पता लगाते हुए किसी प्रकार धर्मपालके गाँवमें भी पहुँच गये। धर्मपालने इनका बड़ा स्वागत किया। कुशल-प्रश्नकी बात आनेपर आचार्यने कहा—'धर्मपाल! तुम्हारा पुत्र सहसा चल बसा। यह महान् क्लेशकी बात है।' इसपर धर्मपाल बड़े जोरोंसे हँस पड़ा और बोला—'महाराज! कोई दूसरा मरा होगा। हमारे यहाँ तो आज सात पीढ़ियोंसे कोई भी युवा नहीं मरा।'

अब आचार्यने हड्डियाँ दिखायीं। धर्मपाल बोला—'महाराज! ये हड्डियाँ तो बकरे-कुत्तेकी होंगी। हमारे यहाँ तो ऐसा होता नहीं।' इतना कहकर वह फिर खिलखिलाकर हँस पड़ा।

अन्तमें आचार्यने अपने कपटका भेद खोला और उससे युवावस्थामें किसीके न मरनेका कारण पूछने लगे। धर्मपालने कहा—'महाराज! हम धर्मका आचरण करते हैं, पापकर्मोंसे दूर रहते हैं, सत्य बोलते हैं, असत्यसे दूर रहते हैं। सत्सङ्ग करते हैं, दुर्जनसे दूर रहते हैं। दान देते समय मीठे वचन बोलते हैं। श्रमण, ब्राह्मण, प्रवासी, याचक, दरिद्र—इन सबों को अन्न-जलसे संतुष्ट रखते हैं। हमारे यहाँके पुरुष पत्नीव्रत और स्त्रियाँ पतिव्रतका पालन करती हैं। इसी कारण धर्म धर्मचारीकी रक्षा करता है और हमलोग अल्पावस्थामें कभी भी मौतके मुँहमें नहीं जाते। —जा० श०

(जातक १०। ९)

मैं दलदलमें नहीं गिरूँगा

अभिरूप कपिल कौशाम्बीके राजपुरोहितका पुत्र था और आचार्य इन्द्रदत्तके पास अध्ययन करने श्रावस्ती आया था। आचार्यने उसके भोजनकी व्यवस्था नगरसेठके यहाँ कर दी। किंतु यहाँ अभिरूप कपिल भोजन परोसनेवाली सेविकाके रूपपर मुग्ध हो गया। उस सेविकाने वसन्तोत्सव पास आनेपर अभिरूप कपिलसे उत्तम वस्त्र तथा आभूषण माँगे।

अभिरूप कपिलके पास क्या धरा था; किंतु सेविकाने ही उसे मार्ग दिखलाया—'श्रावस्तीनरेशका नियम है कि प्रातःकाल सर्वप्रथम उन्हें जो अभिवादन करता है, उसे वे दो माशे स्वर्ण प्रदान करते हैं। तुम प्रयत्न करो।'

अभिरूप कपिलने दूसरे दिन कुछ रात्रि रहते ही महाराजके शयनकक्षमें प्रवेश करनेकी चेष्टा की। परिणाम यह हुआ कि द्वारपालोंने उसे चोर समझकर पकड़ लिया। महाराजके सामने वह उपस्थित किया गया और पूछे जानेपर उसने सब बातें सच-सच कह दीं। महाराजने उसके भोलेपनपर प्रसन्न होकर कहा—'तुम जो चाहो, माँग लो। जो माँगोगे, दिया जायगा।'

'तब तो मैं सोचकर माँगूँगा।' अभिरूप कपिलने कहा। और उसे एक दिनका समय मिल गया। वह सोचने लगा—'दो माशा स्वर्ण तो बहुत कम है—क्यों सौ स्वर्णमुद्राएँ न माँगी जायँ? किंतु सौ स्वर्णमुद्राएँ कितने दिन चलेंगी। यदि सहस्र मुद्राएँ माँगूँ तो? उँहुँ, ऐसा अवसर जीवनमें क्या फिर आयेगा? इतना माँगना चाहिये कि जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो। तब लक्ष मुद्रा? यह भी अल्प ही है। एक कोटि स्वर्णमुद्रा ठीक होगी।'

अभिरूप कपिल सोचता रहा, सोचता रहा और उसके मनमें नये-नये अभाव होते गये, उसकी कामनाएँ बढ़ती गयीं। दूसरे दिन जब वह महाराजके सम्मुख उपस्थित हुआ, तब उसने माँग की—'आप अपना पूरा राज्य मुझे दे दें।'

श्रावस्तीनरेशके कोई संतान नहीं थी। वे धर्मात्मा नरेश किसी योग्य व्यक्तिको राज्य देकर वनमें तपस्या करने जानेका निश्चय कर चुके थे। अभिरूप कपिलकी माँगसे वे प्रसन्न हुए। यह ब्राह्मणकुमार उन्हें योग्य पात्र प्रतीत हुआ। महाराजने उसको सिंहासनपर बैठानेका आदेश दिया और स्वयं वन जानेको उद्यत हो गये।

महाराजने कहा—'द्विजकुमार! तुमने मेरा उद्धार कर दिया। तृष्णारूपी सर्पिणीके पाशसे मैं सहज ही छूट गया। कामनाओंका अथाह कूप भरते-भरते मेरा जीवन समाप्त ही हो चला था। विषयोंकी तृष्णारूपी दलदलमें पड़ा प्राणी उससे पृथक् हो जाय, यह उसका महान् सौभाग्य है।'

अभिरूप कपिलको जैसे झटका लगा। उसका विवेक जाग्रत् हो गया। वह बोला—'महाराज! आप अपना राज्य अपने पास रक्खें। मुझे आपका दो माशा स्वर्ण भी नहीं चाहिये। जिस दलदलसे आप निकल जाना चाहते हैं, उसीमें गिरनेको मैं प्रस्तुत नहीं हूँ।'

अभिरूप कपिल वहाँसे चल पड़ा; किंतु अब वह निर्द्वन्द्व, निश्चिन्त और प्रसन्न था। —सु० सिं०

क्षुद्र गिलहरीपर सर्वेश्वर रामकी कृपा

भगवान् प्रसन्न होते हैं

(गिलहरीपर राम-कृपा)

कहा जाता है कि जब लंका-विजयके लिये नल-नील समुद्रपर सेतु बनानेमें लगे थे और अपार वानर-भालुसमुदाय गिरिशिखर तथा वृक्षसमूह ला-लाकर उन्हें दे रहा था, एक गिलहरी भी मर्यादा-पुरुषोत्तमके कार्यमें सहायता करने वृक्षसे उतरकर वहाँ आ गयी। नन्ही-सी गिलहरी—उससे न वृक्षकी शाखा उठ सकती थी और न शिलाखण्ड। लेकिन उसने अपने उपयुक्त एक कार्य निकाल लिया। वह बार-बार समुद्रके जलमें स्नान करके रेतपर लोट-पोट होती और सेतुपर दौड़ जाती। वहाँ वह अपने शरीरमें लगी सारी रेत झाड़ देती और फिर स्नान करने दौड़ती। अविराम उसका यह कार्य चलता रहा।

महापुरुष तथा शास्त्र बतलाते हैं कि भगवान् साधन-साध्य नहीं हैं। जीवका महान्-से-महान् साधन उन सर्वेशको न तो विवश कर सकता और न उनकी प्राप्तिका मूल्य बन सकता। इसलिये किसने कितना जप, तप आदि किया, इसका वहाँ महत्त्व नहीं है। जीवनिष्ठ साधन तथा भगवन्निष्ठ कृपाके संयोगसे भगवत्प्राप्ति होती है, यह महापुरुष कहते हैं; किंतु भगवान् तो नित्य कृपाके अनन्त-अनन्त सागर हैं। जीव अप्रमत्त होकर अपनी शक्तिका पूरा उपयोग करके सच्ची श्रद्धा तथा प्रीतिसे जब साधन करता है, वे करुणावरुणालय प्रसन्न हो जाते हैं। कितने समय या कितना साधन किसीने किया, यह प्रश्न वहाँ रहता नहीं। भगवान् प्रसन्न होते हैं····वे नित्य प्रसन्न जो हैं।

गिलहरीकी चेष्टा बड़े कुतूहलसे, बड़ी एकाग्रतासे मर्यादा-पुरुषोत्तम देख रहे थे। उस क्षुद्र जीवकी ओर दूसरे किसीका ध्यान नहीं था; किंतु कबीरदासजीने कहा है न—

'चींटी के पग घुँघुरू बाजे सो भी साहब सुनता है।'

श्रीराघवेन्द्रने हनुमान्‌जीको संकेतसे पास बुलाकर उस गिलहरीको उठा लानेका आदेश दिया। हनुमान्‌जीने गिलहरीको पकड़कर उठा लिया और लाकर रघुनाथजीके किसलयकोमल बन्धूकारुण हाथपर रख दिया उसे। प्रभुने उस नन्हे प्राणीसे पूछा—'तू सेतुपर क्या कर रही थी? तुझे भय नहीं लगता कि कपियों या रीछोंके पैरके नीचे आ सकती है या कोई वृक्ष अथवा शिलाखण्ड तुझे कुचल दे सकता है?'

गिलहरीने हर्षसे रोम फुलाये, पूँछ उठाकर श्रीराघवके करपर गिरायी और बोली—'मृत्यु दो बार तो आती नहीं, आपके सेवकोंके चरणोंके नीचे मेरी मृत्यु हो जाय यह तो मेरा सौभाग्य होगा। सेतुमें बहुत बड़े-बड़े शिलाखण्ड तथा वृक्ष लगाये जा रहे हैं। बहुत श्रम करनेपर भी नल-नील सेतुको पूरा समतल नहीं कर पा रहे हैं। ऊँची-नीची विषम भूमिपर चलनेमें आपके कोमल चरणोंको बड़ा कष्ट होगा, यह सोचकर पुलके छोटे-छोटे गड्ढे मैं रेतसे भर देनेका प्रयत्न कर रही थी।'

मर्यादा-पुरुषोत्तम प्रसन्न हो गये। उन्होंने वाम हस्तपर गिलहरीको बैठा रक्खा था। उस क्षुद्र जीवको वह आसन दे रक्खा था जिसकी कल्पना त्रिभुवनमें कोई कर ही नहीं सकता। अब दाहिने हाथकी तीन अँगुलियोंसे उन्होंने गिलहरीकी पीठ थपथपा दी। कहते हैं कि गिलहरीकी पीठपर श्रीरामकी अँगुलियोंके चिह्नस्वरूप तीन श्वेत रेखाएँ बन गयीं और तभीसे सभी गिलहरियोंको वे रेखाएँ भूषित करती हैं।

मस्तक-विक्रय

कोसलके राजाका नाम दिग्-दिगन्तमें फैल रहा था। वे दीनोंके रक्षक और निराधारके आधार थे। काशीपतिने जब उनकी कीर्ति सुनी, तब वे जल-भुन गये। झट उन्होंने एक बड़ी सेना ली और कोसलपर चढ़ आये। युद्धमें कोसलनरेश हार गये और वनमें भाग गये। पर किसीने काशिराजका स्वागत नहीं किया। कोसलनरेशकी पराजयसे वहाँकी प्रजा रात-दिन रोने लगी। काशिराजने देखा कि प्रजा उसका सहयोगकर कहीं पुनः विद्रोह न कर बैठे, इसलिये शत्रुको निःशेष करनेके लिये उन्होंने घोषणा करा दी कि—'जो कोसलपतिको ढूँढ़ लायेगा, उसे सौ मोहरें दी जायँगी।' जिसने भी यह घोषणा सुनी आँख-कान बंदकर जीभ दबा ली।

इधर कोसलनरेश दीन-मलीन हो जंगलोंमें भटक रहे थे। एक दिन एक पथिक उनके सामने आया और पूछने लगा—'वनवासी! इस वनका कहाँ जाकर अन्त होता है और कोसलपुरका मार्ग कौन-सा है?' राजाने पूछा—'तुम्हारे वहाँ जानेका कारण क्या है?' पथिक बोला—'मैं व्यापारी हूँ। मेरी नौका डूब गयी है। अब द्वार-द्वार कहाँ भीख माँगता फिरूँ। सुना था कि कोसलका राजा बड़ा उदार है, अतएव उसीके दरवाजे जा रहा हूँ।' थोड़ी देरतक कुछ सोचकर राजाने कहा—'चलो, तुम्हें वहाँतक पहुँचा ही आऊँ। तुम बहुत दूरसे हैरान होकर आये हो।'

× × × ×

काशिराजकी सभामें एक जटाधारी व्यक्ति आया। काशीनरेशने पूछा—'कहिये किस लिये पधारे?' जटाधारीने कहा—'मैं कोसलराज हूँ। तुमने मुझे पकड़ लानेवालेको सौ स्वर्णमुद्रा देनेकी घोषणा करायी है। बस, मेरे इस साथीको वह धन दे दो। इसने मुझे पकड़कर तुम्हारे पास उपस्थित किया है।'

सारी सभा सन्न रह गयी। प्रहरीकी आँखोंमें भी आँसू आ गये। काशीपति सारी बातें जान-सुनकर स्तब्ध रह गये। क्षण भरके बाद वे बोल उठे—'महाराज! आज युद्धस्थलमें इस दुरन्त आशाको ही जीतूँगा; आपका राज्य भी लौटा देता हूँ, साथ ही अपना हृदय भी प्रदान करता हूँ।' बस, झट उन्होंने उनका हाथ पकड़कर सिंहासनपर बिठला दिया और उनके मलिन मस्तकपर मुकुट चढ़ा दिया। सारी सभा 'धन्य-धन्य' कह उठी। व्यापारीको मुहमाँगी मुद्राएँ तो मिलनी ही थीं। —जा० श०

(कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरकी कृति बँगला 'मस्तक-विक्रय'का भाषान्तर)

मातृ-भक्त आचार्य शंकर

बालक श्रीशंकराचार्यने विद्याध्ययन समाप्तकर संन्यास लेना चाहा; परंतु जब उन्होंने मातासे आज्ञा माँगी, तब माताने नाहीं कर दी। शंकर माताके बड़े भक्त थे, उन्हें कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। एक दिन माताके साथ वे नदीमें स्नान करने गये। उन्हें एक मगरने पकड़ लिया। इस प्रकार पुत्रको संकटमें देख माताके होश उड़ गये। वह बेचैन होकर हाहाकार मचाने लगी। शंकरने मातासे कहा—'मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा।' माताने तुरंत आज्ञा दे दी और मगरने शंकरको छोड़ दिया। इस तरह माताकी आज्ञा प्राप्तकर वे आठ वर्षकी उम्रमें ही घरसे निकल पड़े।

माताने कहा—'अच्छी बात है—बेटा! तुम जाओ; परंतु मेरी एक बात माननी पड़ेगी, मेरी मृत्युके समय तुम्हें मेरे पास रहना पड़ेगा।' मातृभक्त शंकरने इसे स्वीकार किया और माताकी मृत्युके समय आदर्श संन्यासी आचार्य शंकर संन्यासके नियमकी परवा न करके माताके समीप रहे।

कमलपत्रोंपर गङ्गापार

(लेखक—आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

स्वामी शंकराचार्य दिग्विजय करते हुए काशी पधारे। शास्त्रार्थप्रेमी काशीके पण्डितोंसे उनका डटकर शास्त्रार्थ हुआ। शंकराचार्यसे 'अद्वैतवाद'के विषयमें काशीके पण्डितोंने हार मानी। अद्वैतवादका प्रचार करते हुए आचार्य शंकर कुछ दिन काशीमें रुक गये। वे नित्य गङ्गास्नान और बाबा विश्वनाथका दर्शन करते और शेष समय सत्सङ्गमें व्यतीत करते थे। एक दिन आचार्य शंकर गङ्गातटपर विचर रहे थे कि उनकी दृष्टि गङ्गाके उस पार गयी। आचार्यने देखा एक

भव्य पुरुष उन्हें प्रणाम कर रहा है। आचार्य शंकरने उस पुरुषको सीधे चले आनेका संकेत किया। वह भद्र पुरुष सनन्दन थे, जो आचार्य शंकरसे दीक्षा लेनेके लिये काशी आ रहे थे। वह पुरुष आचार्यकी आज्ञा समझ चित्तमें घबराहट-के साथ विचार करने लगा—'क्या करूँ—मैंने मनसे उन्हें गुरु माना और उनकी यह आज्ञा कि सीधे चला आऊँ ! पासमें कोई नौका भी नहीं। इस स्थितिमें आज्ञानुसार मेरा जाना कैसे सम्भव है ?' किंतु सनन्दनने गुरु-आज्ञाको बलीयसी मानकर आगे पाँव रख ही दिये। जैसे ही गङ्गामें उनका पाँव पड़ा वहाँपर एक कमलपत्र पैदा हो गया; आगे दूसरा पाँव उन्होंने रखा तो वहाँ भी कमलका पत्र पैदा हो गया। अब सनन्दनको गुरुका प्रभाव समझमें आ गया और धीरे-धीरे नये-नये प्रकट होनेवाले कमलपत्रोंपर पैर रखकर वे गङ्गापार हो गये। सनन्दनजी आचार्यसे दीक्षित होकर अद्वैत-मतके विशिष्ट प्रचारक बन गये। कमलपत्रोंद्वारा गङ्गा-पार करनेके कारण उनका नाम भी 'पद्मपाद' पड़ा।

कुत्तेका भय भी अनित्य है

(लेखक—आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री एम्० ए०, साहित्यरत्न)

काशीके कुछ पण्डित आचार्य शंकरसे द्रोह मानते थे। एक दिन काशीके कुछ पण्डितोंने आचार्य शंकरके ऊपर एक कटहे कुत्तेको काटनेके लिये ललकारा। अपने ऊपर कुत्तेको झपटते देख आचार्य शंकर एक ओर हट गये। आचार्यको हटते देखकर पण्डितोंने कहा—'आप जब अद्वैतवादके समर्थक हैं, तब इस नाशवान् शरीरसे क्या डर और वही एक नियन्ता तो कुत्तेमें भी वर्तमान है।' आचार्यने कहा, 'तथास्तु, जिस प्रकार यह शरीर अनित्य है, उसी प्रकार कुत्तेसे भय करना भी तो अनित्य है।' पण्डित लोग इस तर्कसे अवाक् हो गये।

वैदिक धर्मका उद्धार

(लेखक—आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

महाराज काशीनरेशकी एक कन्या थी, जो परम विदुषी और धार्मिक भावनासे युक्त होकर दिन-रात धर्मकी चर्चा किया करती थी। उसे वैदिक धर्मसे स्नेह था, किंतु वैदिक धर्म तो बौद्ध धर्मकी ओटमें लुप्त हो रहा था। कुमारी कन्याको वैदिक धर्मके उद्धारकी प्रबल चिन्ता थी। इसी चिन्तामें वह दिन-रात चिन्तित रहा करती थी। एक दिन अपनी खिड़कीपर बैठकर वह वैदिक धर्मके उद्धारके लिये अत्यन्त ग्लानिके साथ भविष्यका चिन्तन कर रही थी। अकस्मात् उसके प्रासादके नीचेसे एक भव्य आकृतिवाला ब्रह्मचारी गुजरा। कुमारी कन्याकी आँखोंसे गर्म-गर्म आँसू ब्रह्मचारीके शरीरपर टपक पड़ा। उष्ण अश्रुके स्पर्शसे ब्रह्मचारीका ध्यान उधर आकर्षित हुआ, जहाँसे अश्रुविन्दु टपके थे। ब्रह्मचारीने देखा कि कुमारी रो रही है। ब्रह्मचारीको महान् आश्चर्य हुआ—भला, एक राजकन्या इस प्रकार खिड़कीपर बैठकर रोये ! क्या रहस्य है इसका ! 'आप क्यों रो रही हैं ! आपके रोनेका क्या कारण है ?' कुमारिलने पूछा। वह कुमारी कन्या साधारण बालिका नहीं थी। उसने परिस्थिति और पुरुषको भली प्रकारसे समझ लिया।

'वैदिक धर्मके उद्धारके लिये मुझे चिन्ता है। कौन ऐसा पुरुष है, जो वैदिक धर्मका उद्धार कर सकेगा ?' राजकुमारीने कहा। 'कुमारी ! इसके लिये तनिक भी चिन्ता मत करो ! यह कुमारिलभट्ट ही वह पुरुष है जो वैदिक धर्मका उद्धार करेगा।' कुमारिलभट्टने धीरताके साथ कुमारीको आश्वासन दिया।

× × ×

कुमारिलभट्टने जो प्रतिज्ञा की, वह बहुत दुस्तर प्रतिज्ञा थी। कुमारिलने समझ लिया कि वैदिक धर्मके उद्धारके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि बौद्धधर्मका, जो इस समय पाखण्डियोंके हाथमें है, खण्डन किया जाय। पर यह साधारण बात नहीं थी। सर्वप्रथम बौद्धदर्शनका अध्ययन और तब उसका खण्डन सम्भव था। बौद्धदर्शनके अध्ययनके लिये काशीका त्याग आवश्यक था; क्योंकि बिना तक्षशिला गये बौद्धधर्म और बौद्धदर्शनका अध्ययन सम्भव न था। ब्रह्मचारी कुमारिलके लिये काशी-त्याग एक भयानक समस्या हो गयी। परंतु वही परीक्षाका अवसर था। ब्रह्मचारी कुमारिल चल पड़े तक्षशिलाके लिये और तक्षशिला पहुँचनेपर ब्रह्मचारी कुमारिलका बहुत आदर-सत्कार हुआ।

तक्षशिलाके आचार्यने कुमारिलको बहुत प्रेमसे बौद्ध-धर्मके तत्त्वों और बौद्धदर्शनका अध्ययन कराया। प्रतिभाशाली कुमारिल थोड़े ही दिनोंमें बौद्धधर्मके गहन तत्त्वों और बौद्धदर्शनके पूर्ण ज्ञाता हो गये। एक दिन कुमारिलको अपनी पूर्वप्रतिज्ञा स्मरण हो आयी और उन्होंने अपने पूज्य गुरुसे ही शास्त्रार्थ करनेकी अभिलाषा प्रकट की। एक ओर ब्रह्मचारी कुमारिल, दूसरी ओर बौद्धधर्मके समस्त आचार्य। विषय था—ईश्वरकी सत्ता और उसके कर्मनियन्ता होनेका प्रमाण। शास्त्रार्थ छिड़ गया। दोनों ओरसे मध्यस्थताकी आवश्यकता पड़ी। मगधराज सुधन्वा मध्यस्थ बनाये गये। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। कुमारिलकी जिह्वापर जान पड़ता था कि सरस्वती आकर बैठ गयीं। विषयका निर्णय असम्भव हो गया। मध्यस्थके लिये कुछ भी निर्णय देना असम्भव था। अन्ततोगत्वा ब्रह्मचारी कुमारिलके आगे वहाँकी अध्यापक-मण्डलीको झुकना पड़ा। कुमारिलकी प्रतिभा और शास्त्रार्थसे सभी प्रभावित हुए; किंतु ईश्वरके अस्तित्वको यों ही तर्कसे माननेके लिये बौद्ध आचार्य तैयार न थे। ईश्वर-सत्ताका प्रत्यक्ष निर्णय करनेके लिये बौद्धोंने एक युक्ति सोची और घोषित किया 'यदि दोनों वक्ता अपना पक्ष सिद्ध करके विजय प्राप्त करना चाहते हैं तो पर्वतकी ऊँची चोटीसे कूदनेपर उनमें जो सुरक्षित रह जायगा, वही विजयी माना जायगा; अतः दोनों शास्त्रार्थी पर्वतकी ऊँची चोटीसे कूदकर अपने पक्षकी विजय सिद्ध करें।' कुमारिल उक्त घोषणासे तनिक नहीं घबराये और समस्त राजकर्मचारियोंके सम्मुख पर्वतकी ऊँची चोटीपर चढ़कर उन्होंने भगवान्का स्मरण किया और स्पष्ट घोषणा की—'वेद प्रमाण है। भगवान् ही रक्षक हैं। सर्वज्ञाता ईश्वर ही शक्तिमान् हैं। आत्मा अच्छेद्य है, सत्य ही अमर है।' यह कहकर ब्रह्मचारी कुमारिल कूद पड़े उस ऊँचे शिखरसे। कुमारिलका बाल भी बाँका नहीं हुआ। बौद्धोंने उसे 'जादुई चमत्कार' कहा और जब उनके आचार्यकी बारी आयी; तब वे भाग खड़े हुए। उस घटनासे वैदिकधर्मकी पताका समस्त भारतमें फहरा गयी। काशीकी राजकुमारी और काशीवासियोंको उस घटनासे बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। कुमारिलकी विजयकी चर्चा समस्त भारतमें व्याप्त हो गयी; लोग कुमारिलका यशोगान करने लगे।

कुमारिलको उस विजयपर गर्व नहीं हुआ, किंतु उनके मनपर उलटा ही प्रभाव पड़ा। शास्त्रार्थमें गुरुको पराजित करनेका जो 'पाप' हुआ, उसका उन्होंने प्रायश्चित्त करना चाहा; क्योंकि वैदिकधर्ममें गुरुका अपमान महान् अपराध माना जाता है। बस; कुमारिल प्रयाग पहुँचे प्रायश्चित्तके लिये। उस समय भारतके कोने-कोनेसे विद्वान् और आचार्य कुमारिलका प्रायश्चित्त देखने पहुँचे। सुना जाता है कि स्वयं शंकराचार्य भी वहाँ पधारे थे। वीरात्मा कुमारिलने शास्त्रानुसार 'तुषाग्नि'से शनैः-शनैः अपने शरीरको जलाकर प्रायश्चित्त करके शरीरका त्याग किया; किंतु वैदिक-धर्मका उद्धार करके वे अमर हो गये।

भगवान् नारायणका भजन ही सार है

महान् संत श्रीविष्णुचित्त पेरि-आळ्वारमें बाल्यकालसे ही भगवद्भक्तिके चिह्न दीखने लगे थे। यज्ञोपवीत-संस्कार होनेके बाद ही बालकने विना जाने-पहचाने अपना तन-मन और प्राण भगवान् श्रीनारायणके चरणोंमें समर्पित कर दिया था। श्रीनारायणके रूपका ध्यान, उनके नामका जप तथा श्रीविष्णुसहस्रनामका गायन वे किया करते थे। युवावस्थामें पदार्पण करते ही उन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति बेचकर एक उर्वरा भूमि ले ली और उसमें एक सुन्दर बगीचा लगाया। प्रतिदिन वे प्रातःकाल उठकर 'नारायण' नामका जप करते हुए पुष्प-चयन करते और उसकी माला बनाकर भगवान् नारायणको पहनाते और मन-ही-मन प्रसन्न होते। एक दिन रात्रिमें उन्हें श्रीनारायणने स्वप्नमें कहा—"तुम मदुराके धर्मात्मा राजा बलदेवसे मिलो, वहाँ सब धर्मोंके लोग एकत्र होंगे। वहाँ जाकर तुम मेरे प्रेम और भक्तिका प्रचार करो। तुम वहाँ 'भगवान्के सविशेष रूपकी उपासना ही आनन्द प्राप्त करनेका सच्चा और सरल मार्ग है' यह प्रमाणित कर दो।"

विष्णुचित्त भगवान्का आदेश पाकर प्रसन्नतासे खिल उठे। वे बोले, 'प्रभो! मैं अभी मदुराके लिये प्रस्थान करता हूँ; किंतु मुझे शास्त्रोंका किंचित् भी ज्ञान नहीं। आपके चरणोंको अपने हृद्देशमें विराजितकर मैं सभामें जा रहा हूँ। आप जैसा चाहें, यन्त्रवत् मुझसे करा लें।' विष्णुचित्त मदुरा चले।

× × ×

बलदेव नामक राजा मदुरा और तिन्नेवेली जिलोंपर शासन करते थे। उन्हें प्रजाके सुखका अत्यधिक ध्यान था। इसी कारण वे कभी-कभी अपना वेश बदलकर रात्रिमें घूमा

करते थे। एक दिन रात्रिमें घूमते हुए उन्होंने वृक्षके नीचे विश्राम करते हुए एक ब्राह्मणको देखा। राजाने उनसे परिचय पूछा और ब्राह्मणने बताया कि मैं गङ्गा-स्नान करने गया था और अब सेटू नदीमें स्नान करनेके लिये जा रहा हूँ। रातभर विश्राम करनेके लिये यहाँ ठहर गया हूँ। राजाने उनसे कुछ अनुभवकी बात पूछी। ब्राह्मणने कहा—

वर्षार्थमष्टौ प्रयतेत मासान् निशार्थमर्थं दिवसं यतेत।
वार्द्धक्यहेतोर्वयसा नवेन परत्रहेतोरिहजन्मना च॥

राजाके पूछनेपर उन्होंने अर्थ किया—'मनुष्यको चाहिये कि आठ महीनेतक खूब परिश्रम करे, जिससे वह वर्षा-ऋतुमें सुखपूर्वक खा सके; दिनभर इसलिये परिश्रम करे कि रातको सुखकी नींद सो सके; जवानीमें बुढ़ापेके लिये संग्रह करे और इस जन्ममें परलोकके लिये कमाई करे।'

इस उपदेशसे राजा बहुत प्रभावित हुए। ब्राह्मणने उनके मनमें भक्तिका बीज डाल दिया था। लौटकर उन्होंने समस्त धर्मोंके आचार्योंको एकत्रकर उपर्युक्त निश्चय किया था, जिससे उन्हें संतोंका सङ्ग एवं उनका उपदेश सुननेका अवसर मिल जाय।

× × ×

पण्डित-मण्डलीमें विष्णुचित्त शान्तभावसे भगवान् श्रीनारायणका स्मरण करते हुए बैठे। उन्होंने सबकी शङ्काओंका बड़े ही सरल शब्दोंमें समाधान कर दिया। उनका प्रभाव सबपर पड़ा। उन्होंने विस्तारसे समझाया—'भगवान् श्रीनारायण ही सृष्टिके निर्माता, पालक एवं प्रलयकालमें समेट लेनेवाले हैं। वे ही सर्वोपरि देव हैं। सर्वतोभावेन अपना जीवन उनके चरणप्रान्तमें अर्पित कर देना ही कल्याणका एकमात्र मार्ग है। वे ही हमारे रक्षक हैं। महात्मा पुरुषोंकी रक्षा एवं दुष्टोंका दलन करनेके लिये वे ही समय-समयपर पृथ्वीपर अवतरित होकर धर्म-संस्थापनका कार्य करते हैं। इस मायामय जगत्से त्राण पानेके लिये विश्वासपूर्वक उनपर तन-मन न्योछावरकर उनकी आराधना करनी चाहिये। उनके नामका जप एवं उनके गुणोंका गान करना चाहिये।'

भगवान् नारायणका भजन ही जीवनका सार है। इनके दिव्य उपदेशसे सभी प्रभावित हुए और भगवान् नारायणकी भक्तिमें लग गये। —शि० दु०

भगवान्से विवाह

कर्कटे पूर्वफाल्गुन्यां तुलसीकाननोद्भवम्।
पाण्ड्ये विश्वंवरां कोदां वन्दे श्रीरङ्गनायकीम्॥

पुष्प-चयन करते समय प्रातःकाल श्रीविष्णुचित्तने तुलसी-काननमें एक नवजात कन्या देखी। उसे उठाकर उन्होंने श्रीनारायणके चरणोंमें रखकर निवेदन किया, 'दयामय! यह तुम्हारी सम्पत्ति है और तुम्हारी ही सेवाके लिये आयी है, इसे अपने चरणकमलोंमें आश्रय दो।' श्रीविग्रहसे उत्तर मिला—'इस बालिकाका नाम कोदयी रक्खो और अपनी ही पुत्रीकी भाँति इसका लालन-पालन करो।'

'कोदयी'का अर्थ होता है 'पुष्पतुल्य कमनीय'। सयानी होनेपर जब इस बालिकाने भगवान्का प्रेम प्राप्त कर लिया, तब इसका नाम 'आण्डाल' हो गया।

भगवान्के आदेशानुसार श्रीविष्णुचित्त कन्याका लालन-पालन करने लगे। लड़कीकी वाणी खुली तो वह 'विष्णु'के अतिरिक्त कुछ बोल ही नहीं सकती थी। वह वाटिकासे सुगन्धित पुष्प तोड़ती और हार गूँथकर भगवान्को अर्पण करती। बड़ी होनेपर भगवान् श्रीरङ्गनाथको वह पतिके रूपमें भजने लगी। अत्यन्त सुन्दर हार गूँथकर वह स्वयं पहन लेती और दर्पणके सामने खड़ी होकर अपना रूप देख-देखकर कहती, 'क्या मेरा सौन्दर्य मेरे प्रियतमको आकर्षित नहीं कर सकेगा?' और फिर वही माला वह भगवान्को धारण करानेके लिये भेज देती। एक दिन पुजारीने देखा—मालाके साथ बाल लगा हुआ है। इस कारण उसने माला वापस कर दी। दूसरे दिन भी पुजारीकी शिकायत रही कि माला मुर्झायी हुई है। विष्णुचित्तने सोचा कि अवश्य ही इसमें कोई कारण होना चाहिये। वे पता लगाने लगे। एक दिन उन्होंने अपनी लड़कीको प्रभुको अर्पित की जानेवाली माला पहने दर्पणके सामने खड़ी देखा और सुना कि वह मन-ही-मन प्रभुसे बात कर रही है। वे दौड़कर समीप गये और बोले, 'बेटी! तुमने यह क्या किया। भगवान्को अर्पित की जानेवाली वस्तुका स्वयं किसी प्रकार भी पहले उपयोग नहीं करना चाहिये।' और उस दिन उन्होंने नयी माला बनाकर भगवान्को पहनायी। किंतु उसी रात्रिमें भगवान्ने विष्णुचित्तको स्वप्नमें कहा, 'मुझे आण्डालकी धारण की हुई माला धारण करनेमें

विशेष आनन्द मिलता है। इसलिये मुझे वही चढ़ाया करो।' अब विष्णुचित्तको निश्चय हो गया कि यह कोई अद्भुत बालिका है और वे उसकी पहनी हुई माला भगवान्‌को पहनाने लगे।

आण्डालकी मधुरभावकी उपासना चरम सीमापर पहुँच गयी थी। वह शरीरसे ऊपर उठी हुई थी। उसे बाहर-भीतर, आगे-पीछे, सर्वत्र उसके प्राणवल्लभ ही दीखते रहते थे। शरीरसे वह विष्णुचित्तकी वाटिकामें रहती, पर मनसे वह वृन्दावनमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका दर्शन करती रहती। कभी-कभी वियोगमें बड़बड़ा उठती।

एक दिन वह अपने प्रियतम श्रीरङ्गनाथके विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो गयी। श्रीरङ्गनाथसे मिलनेके लिये वह अधीर थी, भगवान् श्रीरङ्गनाथने मन्दिरके अधिकारियोंको दर्शन देकर कहा—'मेरी प्राणप्रिया आण्डालको मेरे पास ले आओ।' और विष्णुचित्तको स्वप्नमें दर्शन देकर प्रभुने कहा—'आण्डालको शीघ्र मेरे पास पहुँचा दो। मैं उसका पाणिग्रहण करूँगा।' भगवान्‌ने आण्डालको भी स्वप्नमें दर्शन दिया। उसे लगा कि 'बड़ी ही धूमधामसे मेरा विवाह भगवान् श्रीरङ्गनाथके साथ सम्पन्न हो रहा है।'

दूसरे ही दिन श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरसे आण्डाल और उसके धर्मपिता विष्णुचित्तको लेनेके लिये कई पालकियाँ और सामग्रियाँ आयीं। ढोल बजने लगे, वेदपाठी ब्राह्मण वेद पढ़ने लगे, शङ्ख-ध्वनि हुई। भक्तलोग श्रीरङ्गनाथ और आण्डालकी जय बोलने लगे। प्रेमोन्मत्त आण्डाल मन्दिरमें प्रवेश करते ही भगवान्‌की शेषशय्यापर चढ़ गयी। लोगोंने देखा, उस समय एक दिव्य प्रकाश छा गया और आण्डाल सदाके लिये अपने प्राणनाथमें लीन हो गयी। प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गये। वह भगवान् श्रीरङ्गनाथमें मिल गयी।

—शि० दु०

नम्रताके आँसू

(लेखक—श्रीयुत ति० न० आत्रेय)

उस गाँवमें कुळशेखर एक विद्वान् और ईश्वरभक्त व्यक्ति थे। रोज उनके घरके पार्श्ववर्ती मन्दिरमें कथावाचनका क्रम चलता था। कथा सुनानेमें कुळशेखर बड़े प्रख्यात थे। गाँवके अधिकांश लोग उनकी कथा सुनने नित्य एकत्र होते थे।

नंबियार उसी गाँवके एक सज्जन थे। विद्वत्तामें कुळशेखरकी बराबरी तो नहीं कर सकते थे, फिर भी विज्ञलोगोंमें इनकी भी गिनती थी। आज ये भी कुळशेखरके समान ही एक संत माने जाते हैं।

मानव-सहज दोष कभी-कभी संतोंकी भी परीक्षा ले लेते हैं।

एक दिन नंबियारके मनमें ईर्ष्याका अनुभव होने लगा। वे मनमें सोचने लगे कि 'लोग कथा सुनने कुळशेखरके ही पास क्यों जाते हैं? मेरे पास क्यों नहीं आते? मैं कुळशेखरसे किस बातमें कम हूँ।'

देखते-देखते यह ईर्ष्या द्वेषका रूप धारण करने लगी।

एक दिन संध्याको नंबियार बाहरसे थके-माँदे घर आये। भूख लगी थी। उनकी पत्नी कहीं बाहर गयी थी। बैठे-बैठे कुळशेखरके ही बारेमें सोचते रहे। नंबियारके मनमें शङ्का उत्पन्न हुई कि उनकी पत्नी भी कहीं कुळशेखरकी कथा सुनने तो नहीं गयी।

पर्याप्त प्रतीक्षा की। फिर भी पत्नी नहीं आयी। कुछ और समय पत्नीकी बाट देखते बैठे। तब भी पत्नी नहीं आयी। लगभग घंटाभर बीत गया। नंबियारकी भूख जोर पकड़ रही थी। अबतक भी पत्नी घर न आयी। अब उनसे सहा नहीं गया। उन्हें विश्वास हो चला कि हो-न-हो उनकी पत्नी निश्चय कुळशेखरकी कथा सुनने ही गयी है।

नंबियार मन-ही-मन झल्ला उठे। घरसे बाहर निकल पड़े। क्रोधमें घरका किंवाड़तक बंद करना भूल गये। लंबे-लंबे डग रखते हुए सीधे उस मन्दिरके सामने जा पहुँचे।

रामायणकी कथा चल रही थी। कथा सुननेमें सब लोग लीन थे। नंबियारको द्वारपर खड़े-खड़े दो-तीन मिनट बीत गये। किसीका ध्यान उनकी ओर नहीं गया। नंबियारने जब देखा उनकी पत्नी भी वहाँ बैठी कथा सुन रही है, तब तो वे अपना आपा खो बैठे, उनका विवेक जाता रहा। दो कदम बढ़कर कठोर स्वरसे चिल्ला उठे—'तुम मूर्ख हो, तुम कथा सुनाना क्या जानते हो; ये सारे लोग तुमसे बढ़कर मूर्ख हैं जो तुम्हारी कथा सुनने आते हैं।'

सब-के-सब चकित रह गये। कथा बंद हो गयी। लोग नंबियारकी ओर ताकने लगे। स्वयं कुळशेखर भी मूकवत् बने रहे। किसीने कुछ न कहा। नंबियारकी पत्नी सभामेंसे उठकर घरकी ओर चल दीं। कुछ देरतक नंबियार इसी प्रकार सम्बद्ध-असम्बद्ध प्रलाप करते रहे और घर लौट पड़े। कथा जो बीचमें बंद हुई सो फिर नहीं चली। सब उठ-उठकर अपने घर चल दिये। कुळशेखर भी विषण्णवदन हो पोथी समेटकर उठ चले।

घर पहुँचकर नंबियार अपने बचे क्रोधको अपनी पत्नीपर उतारकर बिस्तरपर जा लेट गये। उनकी भूख मर गयी थी। उनको खिलानेकी पत्नीकी सारी चेष्टा निष्फल रही। पत्नी भी भूखी सो गयी।

नंबियारके मनका क्रोध कदाचित् शान्त भी हो गया हो। परंतु उन्हें नींद नहीं आयी। बिस्तरपर करवट बदलते रहे। बाहर कड़ाकेकी सर्दी पड़ रही थी, भीतर नंबियार पसीना पोंछ रहे थे।

लंबी देरके बाद नंबियारकी भूख जगी। गिलास भर पानी पी वे फिर लेटे। रह-रहकर वे ही सारी संध्याकी बातें याद आने लगीं। भरी सभामें वे कुळशेखरका अपमान कर आये थे। कुळशेखरने उनका कुछ भी बिगाड़ा नहीं था। कुळशेखर विद्वान् हैं। उनका जीवन भी पवित्र है। बिना कारण ही नंबियारने उनका अपमान किया।

नंबियारका सारा क्रोध पश्चात्तापमें बदल गया। जितना-जितना वे सोचते गये, उतना-उतना उनका पश्चात्ताप बढ़ता गया। बिस्तरपर वे तिलमिलाने लगे। लेटे रहना उन्हें असम्भव हो गया।

अन्तमें उन्होंने निर्णय कर लिया कि कुळशेखरसे क्षमा-याचना किये बिना उनके इस अपराधका निस्तार नहीं। परंतु अभी आधी रात है। कुळशेखर सो रहे होंगे। इस समय उन्हें जगाया कैसे जाय? सबेरेतक वेदना सहनी ही पड़ेगी।

छतके छेदमेंसे नंबियारने देखा शुक्रका तारा पूरबमें चमक उठा है। नंबियार बिस्तर छोड़कर उठे। अपराधके बोझसे दबा हुआ मन और पश्चात्तापके आवेगसे संतप्त हृदय लेकर कुळशेखरके घर जानेके लिये घरसे निकले। एकमात्र उनको जल्दी थी कि कब मैं कुळशेखरके चरणोंमें अपना मस्तक झुका दूँ और मनका भार उतारूँ।

टिमटिमाती हुई बत्ती उनके हाथमें थी, मानो उनके क्षीणहृदयका प्रतिबिम्ब ही हो। ज्यों ही वे किंवाड़ खोलकर बाहर आये तो दरवाजेके पास नीचे कोनेमें कोई वस्तु दिखी। अँधेरेमें नंबियार पहचान नहीं सके। बत्ती ऊँची करके देखा तो कोई व्यक्ति कंबल ओढ़े बैठे दिखा। वह व्यक्ति ऊँघ रहा था। जान पड़ता था लंबे समयसे बैठा था।

'कौन हो भाई?' नंबियारने पूछा। नंबियारका शब्द निकलना था कि झटसे उस मनुष्यने उठकर नंबियारके चरणोंमें अपना मस्तक रख दिया। अज्ञात व्यक्तिको प्रणाम करते देख नंबियारको संकोच हो आया। एक कदम पीछे हटकर झुके हुए व्यक्तिको उठाया। सान्त्वनापूर्ण स्वरमें फिर प्रश्न किया—'कौन हो भाई, क्या बात है?'

अज्ञात व्यक्तिने सिर उठाया। अँधेरा था। नंबियार पहचान नहीं सके। परंतु उस व्यक्तिके स्वरसे पहचान गये कि ये तो कुळशेखर हैं।

कुळशेखर बोलते गये, परंतु नंबियारके कानोंमें एक भी शब्द प्रवेश न कर पाया। अन्तिम शब्द इतने ही सुन पड़े—'आपने मुझे मेरा दोष दिखा दिया, इसका मुझे संतोष ही है। परंतु मैं यह समझ नहीं सका कि मुझसे क्या अपराध हो गया। अनजानमें मुझसे कुछ-न-कुछ अपराध अवश्य हो गया है, तभी आप मुझपर असंतुष्ट हैं। मुझ पापीपर आप दयाभाव रखें और मुझे क्षमा करें।'

इतना कहकर कुछ क्षण मौन रहे और आँखें पोंछकर फिर कहने लगे—'मुझे पता नहीं अब आपसे क्षमायाचना करने आकर मैंने आपके किस काममें बाधा डाली। अब आपको अधिक रोकूँगा नहीं, परंतु आप जाते-जाते मुझे क्षमा कर जायँ।'

नंबियारका मन पहलेसे ही पश्चात्तापसे संतप्त था। तिसपर कुळशेखर स्वयं आकर अपने किसी अज्ञात अपराधके लिये क्षमायाचना कर रहे हैं!

नंबियारकी जिह्वा मानो जकड़ गयी, गला सूख गया, उनके मुँहसे एक भी शब्द न निकल सका। उनका मनोभार कम क्या होता, अब तो दूभर हो गया। हृदय उमड़ पड़ा। आँसू बनकर बाहर आया और धूलमें मिल गया।

स्त्रीके सहवाससे भक्तका पतन

भक्त ब्राह्मण श्रीविप्रनारायण भक्तपदरेणुने वेदाध्ययन करनेके उपरान्त अपना जीवन भगवान् श्रीरङ्गनाथके चरणोंमें अर्पित कर दिया। मन्दिरके चारों ओर एक बगीचा लगाया। प्रातःकाल ही वे उसके पुष्प उतारते और हार बनाकर भगवान्को अर्पित करनेके लिये नियमसे देते। स्वयं एक वृक्षके नीचे साधारण झोपड़ीमें रहते। मन्दिरका प्रसाद पाकर शरीर-निर्वाह करते हुए भगवान्का स्मरण तथा नाम-जप करते रहते। उन्हें जगत्की कोई सुधि नहीं रहती। शेषशय्यापर भगवान्को शयन करते देखकर उनका शरीर प्रेमसे शिथिल हो जाया करता था।

किंतु भगवान् बड़े विलक्षण हैं। वे अपने प्रियजनोंकी परीक्षा कब किस प्रकार लेते हैं, कहा नहीं जाता। श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें एक अत्यन्त लावण्यवती देवदासी रहती थी, जिसके सौन्दर्यपर स्वयं राजा मुग्ध थे। उसका नाम देवदेवी था। एक दिन वह अपनी छोटी बहिनके साथ वाटिकामें घूमते हुए श्रीविप्रनारायणके समीपसे निकली; किंतु उसने देखा कि उक्त साधारण ब्राह्मणने उसकी ओर दृष्टितक नहीं डाली। उसके मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। अपनी बहिनसे उसने कहा—'देखो, मेरे रूपपर स्वयं नरेश मुग्ध हैं, पर यह अहंकारवश मेरी ओर देख भी नहीं रहा है।' बहिनने उत्तर दिया—'नहीं बहिन, जिन्होंने अपना जीवन भुवनमोहन परमेश्वरको अर्पित कर दिया है, उन्हें जगत्का कोई रूप अपनी ओर आकर्षित करनेमें सफल नहीं होता।' देवदेवीने साभिमान कहा—'यदि छः मासमें इसे मैं अपना दास नहीं बना लूँ, अपने पीछे-पीछे नहीं घुमा दूँ, तो छः मासतक तुम्हारी दासी होकर रहूँगी।' छोटी बहिनने भी कह दिया—'यदि तुमने इसपर अपना प्रभाव डाल दिया तो छः मासतक मैं तुम्हारी दासीकी भाँति सेवा करूँगी।' दोनों बहिनोंमें होड़ लग गयी।

एक दिन देवदेवीने संन्यासिनीके वेषमें आकर विप्रनारायणसे अत्यन्त करुण स्वरमें कहा—'महाराज! मेरी माता मुझे अपना धर्म बेचनेके लिये विवश कर रही है, इस कारण भागकर मैंने यह वेष अपनाया है। मैंने निश्चय किया है कि अपना जीवन भगवान्के चरणोंमें अर्पित कर दूँगी। मुझे कहीं आश्रय नहीं। आप कृपापूर्वक अपनी झोपड़ीके बाहर रहनेकी आज्ञा मुझे दे दें। मैं आपकी झोपड़ीमें प्रवेश नहीं करूँगी और भगवान्की सेवा करती हुई अपना जीवन सफल कर लूँगी। आपने इतनी कृपा नहीं की तो मेरा जीवन नरकगामी बन जायगा।'

सरल ब्राह्मण देवदेवीकी कपटचातुरीको नहीं समझ सके; उन्होंने उसे अनुमति दे दी। देवदेवी वहाँ रहने लगी।

एक बारकी बात है, माघका महीना था। वर्षा हो रही थी। शीत समीर तेज छुरीकी भाँति शरीरको जैसे काट रहा था। देवदेवी जलसे भीग गयी थी। गीली साड़ीमें वह काँप रही थी। विप्रनारायणका करुण हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने उसे भीतर आनेकी आज्ञा दे दी और सूखा वस्त्र पहननेके लिये दिया।

एकान्तमें स्त्री-पुरुषको नहीं मिलना चाहिये। कन्या, बहिन और युवती माताके साथ भी एकान्तमें रहनेकी शास्त्र आज्ञा नहीं देते। देवदेवीका जादू चल गया। वह विप्रनारायणको पराजित करनेमें सफल रही। विप्रनारायणका मन भगवान्के चिन्तनसे हटकर मानवी-वेश्याका चिन्तन करने लगा।

देवदेवी वहाँसे चली गयी। विप्रनारायण उसके घर जाने लगे। वे उसके यहाँ जाते नियमित रूपसे। धीरे-धीरे उसने विप्रनारायणकी समस्त सम्पत्ति हड़प ली। इनके पास कुछ नहीं रहा। धनलुब्धा वेश्या फिर इन्हें कैसे पूछती, उसने दुतकार दिया। ये अधीर रहने लगे। देवदेवीके बिना इन्हें कुछ अच्छा नहीं लगता था। कई दिन बीत गये।

'यह सोनेका थाल ले लो, विप्रनारायणने भेजा है। मैं उनका नौकर हूँ।' आवाज सुनकर देवदेवीने द्वार खोला और सोनेका थाल पाकर वह बड़ी प्रसन्न हुई। उसने तुरंत विप्रनारायणको बुलवाया। विप्रनारायणकी प्रसन्नताका क्या कहना। दौड़े उसके घरकी ओर।

दूसरे दिन हल्ला हुआ, भगवान् श्रीरङ्गनाथकी स्वर्ण-थाली नहीं मिल रही है। गुप्तचर फैले। देवदेवी पकड़ी गयी। उसने बताया—'विप्रनारायणका नौकर मुझे दे गया।' विप्रनारायणने निवेदन किया—'मुझ दरिद्रके पास नौकर कहाँसे आया।'

चोरीका माल स्वीकार करनेके कारण देवदेवीको राज्यकी ओरसे दण्ड दिया गया और विप्रनारायणको निगलपुरीके राजाने हिरासतमें रक्खा। उनका विश्वास था कि विप्रनारायणजी भक्त हैं, इस प्रकारका कर्म इनसे कैसे सम्भव हुआ!

राजाको रात्रिमें स्वप्न हुआ, 'नौकरके वेशमें देवदेवीको थाली दे आनेका काम मैंने किया था। विप्रनारायण बहक गया था। अब उसे मुक्त कर दो, जिससे जाकर मेरे भजनमें लग सके।' राजाने सबेरे ही बड़े आदरसे विप्रनारायणको छोड़ दिया।

इस घटनासे विप्रनारायणके ज्ञाननेत्र खुल गये। उनका हृदय पश्चात्तापकी आगसे जल उठा। वे भगवान्के चरणोंमें गिरकर रोने लगे। अत्यन्त करुण शब्दोंमें उन्होंने कहा— 'प्रभो! मैं अत्यन्त नीच और पतित हूँ, तथापि आपने मेरी रक्षा की। मैंने सदाचारको तिलाञ्जलि दी, आपको भूल गया और बाजारकी एक वेश्याके रूपजालमें उलझ गया। अपना विवेक और आपका भजन—सब छोड़ दिया मैंने। प्रभो! तुम्हीं मेरी माता हो, तुम्हीं मेरे पिता हो, तुम्हीं मेरे रक्षक और तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो। अब मुझे तुम्हारी कृपाके सिवा और किसीका भरोसा नहीं है। अब मुझे अपने चरणोंसे किसी प्रकार भी पृथक् मत होने देना, नाथ!' विप्रनारायणजी रोते रहे, बहुत देरतक रोते रहे।

उनका जीवन बदल गया। उन्होंने 'भक्तपदरेणु' अपना नाम रक्खा। निरन्तर वे भगवान्के रूपका ध्यान और उनके नामका जप करते रहे। देवदेवीको भी पापसे घृणा हो गयी। वह अपनी सारी सम्पत्ति श्रीरङ्गनाथजीको भेंट करके उनकी सेवामें लग गयी। इस प्रकार श्रीभक्तपदरेणु और देवदेवी दोनोंका ही जीवन प्रभु-पद-पद्मोंमें समर्पित होकर सफल हो गया। —शि॰ दु॰

ब्राह्मणके कंधेपर

मुनिवाहन—तिरुप्पनाळवार जातिके अन्त्यज माने जाते थे। धानके खेतमें पड़े हुए एक अन्त्यजको मिल गये थे। उसने इनका अत्यन्त प्यारसे लालन-पालन किया था। धर्मपिता गान-विद्यामें निपुण थे, इसलिये इन्होंने भी संगीतका अच्छा अभ्यास कर लिया था। वीणा ये अत्यन्त तन्मयतासे बजाते थे, किंतु भगवान्के मधुर नामके अतिरिक्त ये और कुछ नहीं गाते। भगवान्का नाम सुनते ही ये भावविह्वल हो जाया करते। श्रीरङ्गनाथके दर्शनकी इनको तीव्र उत्कण्ठा थी, किंतु अन्त्यज होनेके कारण ये मन्दिरमें जाकर मन्दिरकी मर्यादा नष्ट करना नहीं चाहते थे। ये तो अहर्निश भगवान्के नामका जप और उनके स्वरूपके ध्यानमें तन्मय रहते। अवश्य ही ध्यान-भङ्ग होनेके बाद ये उनके दर्शनके लिये आकुल हो जाते। प्रेमके कारण उनके नेत्रोंसे अश्रु-सरिता प्रवाहित होने लगती। हिचकियाँ बँध जातीं।

ये निशुलापुरी नामक अछूतोंकी बस्ती छोड़कर श्रीरङ्गक्षेत्रमें चले आये और कावेरीके दक्षिण तटपर एक छोटी-सी झोंपड़ी बनाकर रहने लगे। रात-दिन भगवान्के नाम-गुणोंका कीर्तन और उनका स्मरण करने लगे। उत्सवोंके अवसरपर जब भगवान् श्रीरङ्गनाथकी सवारी निकलती, तब दूरसे उनके दर्शन करके ये उन्मत्त-से हो जाते। इनका मन-मयूर नृत्य करने लगता। ये बड़े सबेरे भगवान् श्रीरङ्गनाथका मार्ग स्वच्छ कर आया करते, जिससे भक्तजनोंको दर्शन करने जाते समय किसी प्रकारका कष्ट न हो।

इन्हें न कोई बुलाता और न ये कहीं जा सकते थे। इस प्रकार भजनके लिये इन्हें पर्याप्त सुविधा मिल गयी थी। एक दिन इन्होंने देखा झोंपड़ीमें एक महात्मा आये हैं। ये महात्माके चरणोंपर गिर पड़े। इनके आश्चर्यकी सीमा नहीं थी। वे सोचने लगे, क्या मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। महात्माने बताया—'भैया, मैं भगवान् श्रीरङ्गनाथका तुच्छ सेवक हूँ। आपको कंधेपर चढ़ाकर मन्दिरमें ले चलनेके लिये भगवान्ने मुझे आज्ञा दी है, इसलिये आप मेरे कंधेपर आ जायँ और अपना चरण-स्पर्श कराकर मुझे कृतार्थ करें।'

मुनिवाहन बड़े संकोचमें पड़े, पर उनकी एक नहीं चली। वे भगवान्के आदेशानुसार उच्चकुलके ब्राह्मणके कंधेपर चढ़कर चले। उनका हृदय भर आया था। भगवान्की कृपा और उनका अद्भुत प्यार देखकर वे करुण क्रन्दन कर रहे थे। अश्रु रुक नहीं रहे थे। वे मन्दिरमें पहुँचे। भगवान्का दर्शन करके कृतार्थ हो गये। उन्होंने रोते-रोते कहा—'प्रभो! आपने मुझे कृतार्थ कर दिया। मेरे कर्मके बन्धन समाप्त कर दिये। मैं किस प्रकार आपके गुण गाऊँ, दयामय!' इस प्रकार स्तुति करते-करते उनकी वाणी रुक गयी। उनका शरीर चमकने लगा। लोगोंने देखा उनके मस्तकपर भगवान्का चरण रक्खा हुआ है और चारों ओर दिव्य प्रकाश छाया हुआ है। देखते-देखते मुनिवाहन उस दिव्य प्रकाशमें लीन हो गये। —शि॰ दु॰

छोटी कोठरीमें भगवद्दर्शन

सरोयोगी अथवा पोयगै आळवार, भूतत्ताळवार और पेयाळवार—ये तीनों ही अद्भुत ज्ञानी एवं भगवान्‌के भक्त थे। ये निर्लोभी और भगवान्‌के गुणगानमें तन्मय रहते थे। ये चाहते तो नरेशके कोषसे अगाध सम्पत्ति प्राप्त कर सकते थे, पर इन्हें सम्पत्तिका करना ही क्या था।

एक बार ये तीनों संत तिरुक्कोइलूर नामक क्षेत्रमें गये और वहीं तीनोंका एक साथ मिलन हुआ। इसके पूर्व ये लोग एक दूसरेसे सर्वथा अपरिचित थे। भगवान्‌की पूजाके बाद रात्रिके समय सरोयोगी एक भक्तकी कुटियामें आकर लेट गये। वहाँ घना अन्धकार था और कुटिया बहुत छोटी थी। वे लेटे हुए भगवान्‌का ध्यान कर रहे थे कि सुनायी पड़ा—'भीतर रातभर मुझे आश्रय मिल सकता है क्या ?' संतने तुरंत उत्तर दिया—'अवश्य मिल सकता है। इस कुटियामें स्थान है—एक आदमी लेट सकता है और दो आदमी बड़े मजेसे बैठ सकते हैं। आइये, हम दोनों बैठ रहें।' आगन्तुक भीतर आया और परस्पर भगवच्चर्चा होने लगी। इसी बीचमें पुनः शब्द सुनायी पड़ा—'रातभरके लिये आश्रय मिल सकता है ?' सरोयोगीने उत्तर दिया—'अवश्य आइये, इस कुटियामें इतना स्थान है कि एक आदमी लेट सकता है, दो बैठ सकते हैं और तीन खड़े रह सकते हैं।' तीनों खड़े होकर भगवान्‌का ध्यान करने लगे। इन्हें लगा कि इन तीनोंके बीचमें कोई चौथा व्यक्ति खड़ा है। देखनेपर कोई दीखा नहीं। तब ध्यानके नेत्रोंसे देखा तो पता चला कि भगवान् श्रीनारायण हमारे बीचमें खड़े हैं। तीनों एक साथ ही भगवान्‌का दर्शन करके कृतार्थ हो गये। उनका जीवन सफल हो गया। भगवान्‌ने वर माँगनेके लिये कहा, तब तीनोंने कहा—'प्रभो! हम जीवनभर आपका गुणगान करते रहें; आप हमें यही वरदान दें कि हमसे आपका गुणगान कभी न छूटे।' भगवान्‌ने कहा—'प्यारे भक्तो ! मैं तुमलोगोंके प्रेममें इतना जकड़कर बँध गया हूँ, कि तुमलोगोंको छोड़कर कहाँ जा सकता हूँ।' उस समय इन लोगोंने भगवान्‌की महिमाके सौ-सौ पद रचे, जो 'ज्ञानका प्रदीप' के नामसे प्रसिद्ध है।

—शि० दु०

भगवान् लूट लिये गये

भक्त नीलन्—तिरुमंगैयाळवार भगवान्‌के दास्यभावके उपासक थे। ये बाणविद्यामें अत्यन्त कुशल और योद्धा थे। चोळदेशके राजाने इनकी वीरतासे प्रभावित होकर इन्हें अपने सेनापतिके पदपर प्रतिष्ठित किया था।

ये दक्षिणके तिरुवालि नामक क्षेत्रमें रहनेवाली कुमुदवल्ली नामक सुन्दरी कन्यासे विवाह करना चाहते थे। उस लावण्यवतीसे विवाह करनेके लिये कितने ही बड़े राजा भी इच्छुक थे। कुमुदवल्लीका पालन एक भक्तने किया था। यह नारायणकी भक्ता थी। नीलन्‌के आग्रहपर उसने उत्तर दिया—'विष्णु-भक्तसे ही मेरा विवाह हो सकता है।' उत्तर सुनकर नीलन् एक वैष्णव भक्तसे दीक्षित होकर उसके सम्मुख उपस्थित हो गये। कुमुदवल्लीने कहा—'मुझसे विवाह करनेके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं। एक वर्षतक प्रतिदिन एक सहस्र आठ भक्तोंको भोजन कराकर उनका प्रसाद लाकर मुझे देना होगा।' नीलन्‌ने यह भी स्वीकार किया और उन दोनोंका विवाह हो गया। प्रतिदिन एक सहस्र आठ भक्त भोजन करने लगे। इससे नीलन्‌के जीवनमें महान् परिवर्तन होने लगा। उनका मन धीरे-धीरे भगवान् नारायणके चरणोंमें अनुरक्त होने लगा और पहलेकी अपेक्षा अत्यधिक प्रेमसे ये भक्तोंकी सेवा करने लगे। पर सम्पत्ति कितने दिन साथ देती। वह समाप्त हो गयी। यहाँतक कि चोळदेशके राजाको वार्षिक कर देनेके लिये जो रुपया बचा था, वह भी खर्च हो गया। नरेशको पता चला तो उन्होंने इनके विरुद्ध सेना भेज दी। पर इनकी वीरताके सम्मुख सेना टिक न सकी, भाग गयी। दूसरी बार राजाने बड़ी वाहिनी भेजी, वह भी इनके सम्मुख नहीं टिक सकती थी; पर उनकी वीरताकी प्रशंसा करके राजाने संधिका प्रस्ताव रक्खा और कर न देनेके कारण इनको कारावासमें डाल दिया। ये एक सहस्र आठ भक्तोंको भोजन करानेका व्रत भङ्ग नहीं करना चाहते थे और कारागारमें इसकी व्यवस्था सम्भव नहीं थी; इस कारण ये उपवास करने लगे। भक्तप्राणधन भगवान्‌ने उन्हें स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—"काञ्चीनगरीमें वेगवती नदीके तटपर अमुक स्थानमें विपुल सम्पत्ति गाड़ी हुई है, उससे 'कर' देकर अपना सेवाकार्य चालू कर सकते हो।" नीलन्‌

ने नरेशसे वहाँ जाकर कर देनेकी बात कही तो राजाने कई अधिकारियोंके साथ उन्हें वहाँ जाने दिया। निर्दिष्ट स्थानपर विपुल धनराशि मिली। नीलन्‌ने व्याजसहित राजाको कर दे दिया और भक्तोंको भोजन एवं भजनका कार्यक्रम चलने लगा। काञ्चीमें भगवान् वरदराजने नीलन्‌को दर्शन दिये और चोळदेशके नरेशको भी निश्चय हो गया कि नीलन् असाधारण पुरुष और भगवान्‌के भक्त हैं। उन्होंने नीलन्‌से क्षमा-याचना की।

भक्तोंको भोजन करानेमें दम्पतिका उत्साह और बढ़ा, पर सम्पत्ति पुनः समाप्त हो गयी। अब आयका कोई मार्ग नहीं था। इन्होंने भक्तोंकी सेवाके लिये धनवानोंको लूटना आरम्भ किया। जहाँ कहीं धनवान् मिलता, इनका दल उसपर टूट पड़ता और ये उसका धन लेकर दीन-असहाय और भगवान्‌के भक्तोंमें वितरित कर देते। किंतु भगवान्‌को यह मार्ग अनुचित प्रतीत हुआ। एक दिन भगवान् श्रीलक्ष्मी-नारायण एक धनवान् दम्पतिके रूपमें मार्गसे निकले कि इनका दल उनपर टूट पड़ा, वे लूट लिये गये। हीरे-मोती आदि लाखोंका माल गठरीमें बाँधा गया, पर नीलन् तथा उनके साथियोंके उठानेपर भी वह गठरी उठ नहीं सकी। नीलन्‌ने खीझकर कहा—इसने किसी जादूसे इसे भारी कर दिया है। दम्पतिसे बोले—'मुझे भी जादू बता दो, अन्यथा तुम्हारा कल्याण नहीं।' पुरुषने कानमें धीरेसे कहा—'ॐ नमो नारायणाय।' मन्त्र कानमें पड़ते ही नीलन्‌की विचित्र दशा हो गयी। उनके शरीरमें जैसे विद्युत्-धारा प्रविष्ट हो गयी। उन्होंने आँख खोलकर देखा तो सामने कोई नहीं था। उनकी दृष्टि ऊपर उठी। वहाँ गरुड़पर भगवान् श्रीलक्ष्मी-नारायण विराजित थे। नीलन्‌का हृदय भर आया। वे बिक गये। भगवान्‌की अद्भुत कृपा, उनका अतुलित स्नेह! वे कुछ सोच ही नहीं पाते। लगे करुण-क्रन्दन करने और भगवान्‌की प्रार्थना करने। उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान्‌ने कहा—'प्रिय नीलन्! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम मनमें ग्लानि न करो। अब तुम श्रीरङ्गम् जाकर वहाँके मन्दिरको पूर्ण करवाओ और भजनकी पुष्पमालाओंसे मेरी पूजा करो। आजीवन मेरी भक्ति और मेरे प्रेमका प्रचार करो। शरीर-त्यागके अनन्तर मेरे धाममें पुनः मुझसे मिलोगे।'—शि० दु०

भगवान्‌की मूर्ति बोल उठी

मधुर कविके गुरुका नाम नम्माळवार—शठकोप था। वे तिरुक्कुरुकूर—श्रीनगरीमें उत्पन्न हुए थे। इनके जन्म लेते ही माता-पिताने इन्हें भगवान्‌के मन्दिरमें भेंट चढ़ा दिया, और कहते हैं मन्दिरमें प्रवेश करते ही ये चलने लगे थे और मन्दिरके समीप इमलीके पेड़के कोटरमें जाकर आँखें मूँदकर ध्यानस्थ हो गये। इन्हें शरीरका ज्ञान बिलकुल नहीं था, इसीलिये इन्हें 'शठकोप' भी कहा जाता है। इन्होंने बहुतसे पद बनाये थे, उनका दक्षिणमें बहुत प्रचार है और 'सामवेदका सार'के नामसे उनकी ख्याति है।

तमिळ भाषाके अत्युत्कृष्ट कवि कंबन्‌ने जब तमिळ-रामायणकी रचना की, तब सर्वप्रथम उन्होंने अपनी कृति भगवान् श्रीरङ्गनाथके चरणोंमें ले जाकर रख दी। इसपर मूर्तिसे उत्तर मिला—'क्या तुमने शठकोपका चरित्र भी गाया है?' कंबन्‌ने उत्तर दिया, 'नहीं, प्रभो! क्षमा करें। अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।' इसके बाद उन्होंने अपनी रामायणके आदिमें नम्माळवारकी स्तुति जोड़ दी। जब शठकोपने भगवान् श्रीरङ्गनाथके सामने अपने पदोंको गाकर सुनाया, तब मूर्ति बोल उठी—'ये हमारे आळवार (नम् आळवार) हैं। —शि० दु०

गुरु-प्राप्ति

मधुर कवि तिरुकोलूर नामक स्थानमें एक सामवेदी ब्राह्मणके यहाँ उत्पन्न हुए थे। ये वेदके अच्छे ज्ञाता थे; किंतु इन्होंने सोचा कि भगवान्‌की भक्तिके बिना वेदके ज्ञानका कोई मूल्य नहीं। इन्हें भगवान्‌की प्राप्तिकी तीव्र अभिलाषा थी। एक दिन ये गङ्गातटपर घूम रहे थे कि दक्षिणकी ओर इन्हें प्रकाश दिखायी दिया। यह प्रकाश इन्हें तीन दिनोंतक दीखा। इस प्रकाशसे प्रभावित होकर ये खिंचे-खिंचे उसी ओर चलते गये। पूछनेपर पता चला कि आगे एक योगी रहते हैं। ये वहाँ गये। प्राचीन मन्दिरके समीप इमलीके कोटरमें समाधिस्थ योगीके इन्हें दर्शन हुए। इन्होंने उनके उपदेशके लिये प्रतीक्षा की, पर योगीकी समाधि नहीं खुली। आवाज दी, ताली बजायी; पर कोई उत्तर नहीं मिला। मन्दिरकी दीवालपर

पत्थर मारा, पर महात्मापर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। विवशतः मधुर कविने साहस किया और कोटरके समीप जाकर बोले—'महाराज! मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता था। यदि सत्-पदार्थ-(सूक्ष्म चेतन शक्ति) असत् (जड प्रकृति)-के अंदर ही आविर्भूत हो जाय, तो वह क्या खायेगा और कहाँ विश्राम करेगा?' योगीने अब उत्तर दिया—'वह उसीको खायेगा और वहींपर विश्राम करेगा।' मधुर कविने अपने गुरुको पहचान लिया, जिनकी वे इतने दिनोंसे खोज कर रहे थे। वे इस असत्-शरीरके अंदर सत् (परमात्मा) के रूपमें विद्यमान थे। —शि० दु०

भगवान्‌का पेट कब भरता है?

(लेखक—पं० श्रीगोविन्द नरहरि बैजापुरकर)

प्राचीन कालमें एक परम शिवभक्त राजा था। एक दिन उसे कल्पना सूझी कि आगामी सोमवारको अपने इष्टदेव शंकरका हौद दूधसे लबालब भर दिया जाय। हौद काफी गहरा और चौड़ा था। उसने प्रधानसे मन्त्रणा की। प्रधानने लगे हाथ डुग्गी पिटवा दी—'सोमवारको सारे ग्वाले शहरका पूरा दूध लेकर मन्दिर चले आयें। हौद भरना है, राजाकी आज्ञा है। जो इसका उल्लङ्घन करेगा, वह कठोर दण्डका भागी होगा।'

सारे ग्वाले घबरा उठे। उस दिन किसीने घूँट भर भी दूध अपने बच्चोंको नहीं पिलाया। कुछने तो बछड़ोंको गायको मुँह लगाते ही छुड़ा लिया।

दूध आया और हौदमें छोड़ा गया। हौद थोड़ा खाली ही रह गया। राजा बड़ी चिन्तामें पड़ गया। इसी बीच एक बूढ़ी आयी। भक्ति-भावसे उसने लुटियाभर दूध चढ़ाकर भगवान्‌से कहा कि 'शहरभरके दूधके आगे मेरी लुटियाकी क्या बिसात! फिर भी भगवन्, बुढ़ियाकी श्रद्धाभरी ये दो बूँदें स्वीकार करो।'

दूध चढ़ाकर बुढ़िया बाहर निकल आयी। सभीने देखा—भगवान्‌का हौद एकाएक भर गया। उन्होंने राजासे जाकर कहा। राजाके आश्चर्यका ठिकाना न रहा।

दूसरे सोमवारको राजाने फिर वैसा ही आदेश दिया और गाँवभरका दूध महादेवके हौदमें छोड़ा गया, फिर भी हौद खाली ही रहा। पहलेकी तरह बुढ़िया आयी और उसकी लुटियाका दूध छोड़ते ही हौद भर गया। राजसेवकोंने राजाको जाकर वृत्तान्त सुनाया।

राजाका आश्चर्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया। अबकी बार उसने स्वयं उपस्थित होकर रहस्यका पता लगानेका निश्चय किया।

तीसरा सोमवार आया और पुनः गाँवभरका दूध राजाने अपने सामने हौदमें डलवाया। हौद खाली ही रहा। इसी बीच बूढ़ी आयी और उसके लुटिया उँड़ेलते ही हौद भर गया। बुढ़िया पूजा करके निकल गयी।

राजा भी उसके पीछे हो लिया। कुछ दूर जानेके बाद उसने बुढ़ियाका हाथ पकड़ा। वह काँपने लगी। राजाने अभय दिया और इसके रहस्यकी जिज्ञासा करते हुए कहा—'बताओ क्या बात है, तुमने कौन-सा जादू कर दिया जो हौद एकाएक भर गया?'

बुढ़ियाने कहा—'बेटा! जादू-वादू कुछ नहीं। घरके बाल-बच्चों, ग्वालबालों—सभीको पिलाकर बचे दूधमेंसे एक लुटिया लेकर मैं आती हूँ। सभीको तृप्त करके शेष दूध भगवान्‌को चढ़ाते ही वे प्रसन्न हो जाते, भावसे उसे ग्रहण करते हैं और हौद भर जाता है। किंतु तुम राजबलसे गाँवके सारे बाल-बच्चों, ग्वालबालों, रुग्ण-बूढ़ोंका पेट काटकर, उन्हें तड़पता रखकर सारा दूध अपने कब्जेमें करते और उसे भगवान्‌को चढ़ाते हो तो उनकी आहसे भगवान् उसे ग्रहण नहीं करते। उतनेसे उनका पेट नहीं भरता। इसीलिये हौद खाली रह जाता है।'

राजाको अपनी भूल समझमें आयी। वह बुढ़ियाको प्रणाम करके लौट गया और ऐसी हरकतोंसे विरत हो गया।

—प्राचीन कथाएँ

अपना काम स्वयं पूरा करें

एक राजाके चार पत्नियाँ थीं। राजाने हर एकको एक-एक काम सौंप दिया। पहलीको दूध दुहनेका काम बताया, दूसरीको रसोई पकानेका, तीसरीको बाल-बच्चे सँभालनेका और चौथीको अपनी सेवा करनेका।

कुछ दिनों तो चारोंने ठीक-ठीक अपना-अपना काम किया। पर आगे चलकर हर एकको यह मालूम पड़ने लगा कि मैं ही क्यों रसोई पकाऊँ, राजाकी सेवा क्यों न करूँ; मैं ही दूध क्यों दुहूँ, बच्चोंको क्यों न खिलाऊँ। इस तरह एक-दूसरी

आपसमें लड़ने लगीं। फलतः घरका काम भी रुक जाता।

राजा इस गृहकलहसे भीतर-ही-भीतर बड़ा उदास रहता। एक बार उसके यहाँ एक महात्मा आये। राजाने अर्घ्य-पाद्यादिसे उनकी सम्भावना की। महात्माने राजाका उदास चेहरा देखकर कारण पूछा। राजाने सारा किस्सा कह सुनाया। महात्माने उसे आश्वासन देकर इसका उपाय कर देना स्वीकार किया।

महात्माने अन्तर्दृष्टि लगायी। झगड़ेके कारणोंका पता पा लिया और राजाको लेकर पहली रानीके यहाँ आये। उससे पूछा—'तुम्हें दूध दुहनेका काम दिया गया है न?' उसने कहा—'हाँ।' महात्माने बताया—'तो सुनो, पूर्वजन्ममें तुम गाय थी। दिनभर जंगलमें चरती और शामको वहींके एक शिवालयमें आ अपने स्तनोंकी दुग्धधारसे उनपर अभिषेक करती थीं। पर बीचमें ही मृत्यु हो गयी। उस पुण्यसे रानी बनी, पर आराधना पूर्ण नहीं हुई थी। इसीलिये राजाने तुम्हें दूध दुहनेको कहा। दूध दुहकर शंकर समक्ष उन्हें पिलाती जाओ, इसीमें तुम्हारा कल्याण है।'

रानीने 'तथास्तु' कहकर नमस्कार किया।

महात्मा आगे बढ़े। दूसरी रानीके पास आकर कहा कि 'तुम रसोई पकानेसे क्यों भागती हो। अरी, पूर्वजन्ममें तुम गरीब ब्राह्मणकी पत्नी थीं। सोमवारका व्रत करतीं और प्रतिदिन कोरा अन्न भिक्षामें माँग लातीं तथा पकाकर भगवान्‌को भोग लगाती थीं। उसी पुण्यसे तुम रानी बनीं। इसलिये रसोई पकाया करो और सबकी आत्मा तृप्तकर भगवान्‌को प्रसन्न करो।' उसने भी 'तथास्तु' कहा।

महात्मा तीसरी रानीके पास गये। उससे कहा—'पूर्वजन्ममें तुम वानरी थीं। अच्छे-अच्छे फल तोड़कर शंकरको चढ़ाती थीं। इसीलिये रानी बनीं और बाल-बच्चे हुए। इन्हें ही सँभालनेमें तुम्हारा कल्याण और शंकरकी प्रसन्नता है।' तीसरीने भी मान लिया।

महात्मा चौथी रानीके पास आये। उससे कहा—'पूर्वजन्ममें तुम चील थीं। आकाशमें उड़तीं और दोपहरमें जंगलके एक महादेवके सिरपर छाँह करके उन्हें नित्य धूपसे बचाती थीं। इसीलिये तुम्हें भगवान्‌ने रानी बनाकर छप्पर-पलंगपर बिठाया। इसलिये तुम भी राजाको यहीं बैठकर सुख दो, उसकी सेवा करो; इसीमें तुम्हारा कल्याण है।' उसने भी स्वीकार कर लिया।

महात्मा चले गये। चारों रानियाँ अपना-अपना कर्तव्य पूर्वजन्म-प्राप्त समझकर उन-उन कामोंको बड़े प्रेमसे करने लगीं। दूसरेका काम अच्छा और अपना बुरा, यह कभी भी मनमें न लातीं। एक-दूसरेकी ईर्ष्यासे बचकर बड़े प्रेमसे रहने लगीं। राजाके भी आनन्दका ठिकाना न रहा।—गो. बै.

—प्राचीन कथाएँ

सबके कल्याणका पवित्र भाव

गुरुदेवने श्रीरामानुजाचार्यको अष्टाक्षर नारायण-मन्त्रका उपदेश करके समझाया—'वत्स! यह परम पावन मन्त्र एक बार भी जिसके कानमें पड़ जाता है, वह समस्त पापोंसे छूट जाता है। मरनेपर वह भगवान् नारायणके दिव्य वैकुण्ठधाममें जाता है। जन्म-मृत्युके बन्धनमें वह फिर नहीं पड़ता। यह अत्यन्त गुह्य मन्त्र है। इसे किसी अनधिकारीको मत सुनाना।'

श्रीरामानुजाचार्यके मनमें उसी समय द्वन्द्व प्रारम्भ हुआ—'जब इस भगवन्मन्त्रको एक बार सुननेसे ही घोर पापी भी पाप-मुक्त होकर भगवद्धामका अधिकारी हो जाता है, तब संसारके ये प्राणी क्यों मृत्युपाशमें पड़े रहें। क्यों न इन्हें यह परम पावन मन्त्र सुनाया जाय। लेकिन गुरु-आज्ञाका उल्लङ्घन महापाप है—ऐसा पाप, जिसे कोई दूर नहीं कर सकता।'

हृदयमें संघर्ष चलता हो, तब निद्रा कैसे आती। रात्रि हो गयी थी, सब लोग सो गये थे; किंतु रामानुज जाग रहे थे। वे धीरेसे उठे और कुटियाके छप्परपर चढ़कर पूरी शक्तिसे चिल्लाने लगे—'नमो नारायणाय! नमो नारायणाय!'

आस-पासके सभी लोग चौंककर जाग उठे। गुरुदेवने रामानुजको छप्परसे नीचे आनेको कहा। नीचे आनेपर पूछा—'तू यह क्या कर रहा है?'

रामानुजने उत्तर दिया—'भगवन्! आपकी आज्ञा भङ्ग करनेका महापाप करके मैं नरकमें जाऊँगा, इसका मुझे कोई दुःख नहीं है। ये सब प्राणी आपके द्वारा उपदिष्ट मन्त्रका श्रवण करके भगवद्धाम तो पहुँच जायँगे।'

गुरुदेवके नेत्र भर आये। उन्होंने रामानुजको हृदयसे लगाते हुए कहा—'तू ही सच्चा शिष्य है। प्राणियोंके उद्धार-की जिसे इतनी चिन्ता है, वही प्राणियोंका उद्धारक बनेगा।'

—सु० सिं०

भक्त आचार्यकी आदर्श विनम्रता

(लेखक—आचार्य स्वामीजी श्रीराघवाचार्यजी महाराज)

शेषावतार श्रीरामानुज महामुनीन्द्रके पवित्र सम्प्रदायमें श्रीवैष्णव जगत्के महान् आचार्य श्रीवेङ्कटनाथका प्राकट्य विक्रम संवत् १३२५ में विजयादशमीके दिन हुआ था। ये बहुत बड़े विद्वान्, प्रचारक, महान् भक्त, परम आदर्श-चरित्र महात्मा थे। श्रीवेदान्तदेशिकका चमत्कारपूर्ण जीवन सर्वथा वन्दनीय है। श्रीदेशिकजीके जीवनकी एक घटना यहाँ दी जाती है। श्रीदेशिककी प्रतिष्ठासे जलनेवाले कुछ लोग इनसे द्वेष करते थे और वे सदा यही सोचा करते थे कि किसी प्रकार श्रीदेशिककी प्रतिष्ठा भङ्ग हो।

एक दिन कुछ ईर्ष्यालु लोगोंने मिलकर आपके द्वारपर जूतोंकी माला लटका दी। वह इतनी नीची थी कि बाहर निकलते ही उसका सिरमें लगना अवश्यम्भावी था। जब श्रीदेशिकजी अपनी कुटीरसे बाहर निकले तो उन्होंने इस कुकृत्यको देखा। देखकर वे शान्तिपूर्वक बाहर निकल आये और यह कहने लगे—

कर्मावलम्बकाः केचित् केचिज्ज्ञानावलम्बकाः।
वयं तु हरिदासानां पादरक्षावलम्बकाः॥

अर्थात् 'कोई कर्ममार्गका अनुसरण करते हैं और कोई ज्ञानमार्गका अनुसरण करते हैं, किंतु हम तो हरिदासों—भगवद्भक्तोंके जूतोंके अनुयायी हैं।'

इन शब्दोंको सुनकर आस-पासके लोग बहुत प्रभावित हुए; और जिन लोगोंने यह कुकृत्य किया था, उनको बड़ी लज्जा आयी। वे आकर श्रीदेशिकके चरणोंपर गिर पड़े और क्षमा माँगने लगे।

विद्यादान न देनेसे ब्रह्मराक्षस हुआ

बात उस समयकी है, जब श्रीरामानुजाचार्य अपने प्रथम विद्यागुरु श्रीयादवप्रकाशजीसे अध्ययन करते थे। यादवप्रकाशजी अपने इस अद्भुत प्रतिभाशाली शिष्यसे डाह रखने लगे थे। उन्हीं दिनों काञ्चीनरेशकी राजकुमारी प्रेत-बाधासे पीड़ित हुई। अनेक मन्त्रज्ञ बुलाये गये, किंतु कोई लाभ नहीं हुआ। नरेशका आमन्त्रण पाकर शिष्योंके साथ यादवप्रकाशजी भी काञ्ची पहुँचे। उन्होंने जैसे ही मन्त्रप्रयोग प्रारम्भ किया, राजकुमारीके मुखसे प्रेत बोला—'तू जीवन-भर मन्त्रपाठ करे तो मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता। उलटे मैं तुझे चाहूँ तो अभी धर पटकूँ। मैं सामान्य प्रेत नहीं हूँ, ब्रह्मराक्षस हूँ।'

यादवप्रकाशजी डरकर हटने लगे। उस समय श्रीरामानुजाचार्य आगे आये। उन्होंने पूछा—'ब्रह्मन्! आपको यह दुःखदायिनी योनि क्योंकर मिली?'

रोकर ब्रह्मराक्षस बोला—'मैं विद्वान् था, किंतु मैंने अपनी विद्या छिपा रक्खी। किसीको भी मैंने विद्यादान नहीं किया, इससे ब्रह्मराक्षस हुआ। आप समर्थ हैं। मेरे मस्तकपर आप अपना अभय कर रख दें तो मैं इस प्रेतत्वसे छूट जाऊँ।'

श्रीरामानुजने राजकुमारीके मस्तकपर हाथ रखकर जैसे ही भगवान्का स्मरण किया, वैसे ही ब्रह्मराक्षसने उसे छोड़ दिया; क्योंकि वह स्वयं प्रेतयोनिसे मुक्त हो गया। —सु० सिं०

प्रेमपात्र कौन ?

बिल्वमङ्गलके पिताका श्राद्ध था। विवश होकर बिल्वमङ्गलको घर रहना पड़ा। जैसे-तैसे दिन बीता; क्या हुआ, कैसे हुआ—यह सब किसे पता था। बिल्वमङ्गल बेमन-से सब काम कर रहे थे। एक-एक क्षण उन्हें भारी हो रहा था। कब इस उलझनसे छूटें और कब अपनी प्रेयसी वेश्या चिन्तामणिके पास जायँ—यही चिन्ता थी उन्हें।

संध्याको बिल्वमङ्गलको छुटकारा मिला। दौड़े-दौड़े नदी-किनारे गये; किंतु उसी समय आकाशमें घटाएँ छा गयीं, वेगकी आँधी आयी, चारों ओर अन्धकार छा गया। कोई केवट नदी-किनारे मिला नहीं। नौका ढूँढ़नेमें देर हुई। रात्रि हो गयी। जब कोई साधन पार जानेको नहीं मिला, तब बिल्वमङ्गल नदीमें कूद पड़े। संयोगवश एक बहता मुर्दा मिल गया। उसे लकड़ी समझकर बिल्वमङ्गलने पकड़ लिया और उसीके सहारे नदी-पार हुए।

आँधी-पानीके मारे वेश्याने अपने घरका द्वार तथा खिड़कियाँ बंद कर दी थीं। बिल्वमङ्गलके घर श्राद्ध होनेसे उसके आनेकी बात थी ही नहीं, अतः वेश्या निश्चिन्त सो गयी थी। बिल्वमङ्गलने उसे द्वारपर पहुँचकर बहुत पुकारा, द्वार खटखटाया; किंतु वर्षा तथा आँधीके कारण उनका शब्द वेश्या सुन नहीं सकी। बिजली चमकी, बिल्वमङ्गलको एक खिड़कीसे रस्सी-जैसा कुछ लटकता दीखा। वे उसे पकड़कर ऊपर चढ़ गये। वह खिड़की संयोगवश खुली थी, अतः भीतर पहुँच गये।

जगायी जानेपर चिन्तामणि पानीसे भीगे बिल्वमङ्गलको देखकर चौंक गयी। उसने पूछा—'तुम इतनी रात गये कैसे आये? तुम्हारे शरीरसे इतनी दुर्गन्ध क्यों आ रही है?' बिल्वमङ्गलने बताया कि वे लकड़ीके तख्तेपर बैठकर नदी पार हुए थे और रेशमकी रस्सीके सहारे घरमें पहुँचे। वर्षा रुक गयी थी। चिन्तामणिने दीपक लेकर देखा तो खिड़की-से बाहर भयंकर सर्प लटक रहा था। अब तो वह बिल्वमङ्गल-के साथ नदी-तटतक गयी। वहाँ वह जलजीवोंसे स्थान-स्थानपर नुचा, सड़ी दुर्गन्ध देता मुर्दा पड़ा था, जिसे काष्ठ समझकर, जिसपर बैठकर बिल्वमङ्गल नदी-पार हुए थे।

वेश्याका मन घृणासे भर गया। उसने कहा—'ब्राह्मण-कुमार! आज तुम्हारे पिताका श्राद्ध था और फिर भी तुम मेरे यहाँ दौड़े आये। जिसके प्रेममें तुम्हें सड़े मुर्देकी दुर्गन्ध नहीं आयी, काला नाग तुम्हें रेशमकी डोरी जान पड़ा, वह तुम्हारा प्रेमपात्र कौन है—यह आँख खोलकर देख लो। यह मेरा देह भी इसी मुर्दे-जैसा है। इसमें भी ऐसा ही मांस, हड्डियाँ, घृणित मल-मूत्र, नसें, मज्जा-मेद ही है। यह मुर्दा है तुम्हारा प्रेमपात्र? अरे! जितना प्रेम तुम्हारा इस मुर्देसे है, उसका एक अंश भी श्रीकृष्णसे होता तो तुम निश्चय कृतार्थ हो जाते।'

बात ठिकाने लग गयी। बिल्वमङ्गलने वेश्या चिन्तामणि-को प्रणाम किया—'तुम्हीं मेरी गुरु हो!' वे वहींसे चल पड़े व्रजकी ओर। सचमुच प्रेमपात्र कौन है, यह आज उन्होंने जान लिया था।—सु० सिं०

सत्याग्रह

विक्रमीय दसवीं शताब्दीकी बात है।···एक दिन काश्मीर-नरेश महाराज यशस्करदेव अपनी राजसभामें बैठकर किसी गम्भीर विषयका चिन्तन कर रहे थे कि प्रायोपवेशन-अधिकारीने सूचना दी कि एक व्यक्ति राजद्वारपर प्राण-त्याग करनेके लिये प्रस्तुत है। महाराज विस्मित हो उठे; उनके राज्यमें प्रजा सुखी, स्वस्थ और सम्पन्न थी। कहीं चोरीका भय नहीं था, लोग धर्मपर आरूढ़ थे, जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सत्यपरक आचरण होता था। महाराजने तत्क्षण उस व्यक्तिको सभा-भवनमें बुलाया।

'किसी दस्यु या अनार्यने तुम्हारे यज्ञ-कर्ममें विघ्न तो नहीं उपस्थित किया? ऐसा तो नहीं है कि किसी राजकर्मचारीने अनजानमें तुम्हारे प्रति अनागरिकताका बर्ताव किया हो?' महाराज उत्तरकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

'भगवती वितस्ता (झेलम) की पवित्र जलधारासे ललित आपके विशाल राज्यमें मुझे किसीसे भय नहीं है। मेरे साथ राज्यके न्यायाधीशोंने अन्यायका व्यवहार किया है; मैंने उनसे सब कुछ सत्य कहा, पर उन्होंने मेरे धनी शत्रु-के पक्षमें ही निर्णय दिया।' व्यक्तिने अपने प्राण-त्यागका कारण बताया।

'बात क्या है? स्पष्ट कहो, नागरिक! मैंने कभी न्यायका भाव गिरने नहीं दिया। मुझपर विश्वास रक्खो।' महाराज-ने आश्वासन दिया।

'मैं पहले आपकी ही राजधानीमें रहता था। मेरे पास अपार सम्पत्ति थी, पर अलक्ष्मीके प्रकोपसे मैंने दरिद्र होकर उसे बेच दिया। घरतक बेच डाला, पत्नीकी जीविकाके लिये मकानके सोपानके पासका कूप छोड़ दिया था। गर्मीमें उसपर माली बैठकर फूल बेचा करते थे और कुछ पैसे मेरी पत्नीको भी मिल जाते थे। मैं रुपया कमाने विदेश चला गया तो मकान खरीदनेवालेने मेरी पत्नीको बलपूर्वक कूप-परसे हटा दिया। वह मजदूरी करने लगी—लौटनेपर मैंने

न्यायालयका दरवाजा खटखटाया तो उसने मेरे सत्यकी उपेक्षा कर दी।' नागरिकने स्पष्ट किया।

× × × ×

'हमलोगोंने सोच-समझकर निर्णय किया है, महाराज!' न्यायाधीशोंने अपना पक्ष दृढ़ किया। सभाभवनमें श्रेष्ठ नागरिक उपस्थित थे। जिसने मकान खरीदा था, वह भी था। महाराज धर्म-सिंहासनपर विराजमान थे। नागरिक कीमती अँगूठी पहने हुए थे। महाराज कौतूहलसे उनकी अँगूठियाँ हाथमें लेकर परीक्षण कर रहे थे। मकान खरीदनेवाले व्यक्तिकी अँगूठी हाथमें आते ही महाराज लोगोंको बैठे रहनेका आदेश देकर बाहर आ गये। उस मुद्रिकाको सेठके घर भेजकर महाराजने सेवकसे उसके बदलेमें वह बही मँगायी, जिसमें मकानके विक्रय-पत्रका विवरण लिखा था'''''''उन्होंने उसको पढ़ा।

वे बही लेकर धर्म-सिंहासनपर बैठ गये। महाराजने न्यायाधीशोंको समझाया कि विक्रय-पत्रके अधिकरण-शुल्कमें सेठने राजलेखकको एक हजार दीनार दिये हैं। यह बात समझमें नहीं आती कि एक साधारण कामके लिये इतना धन क्यों व्यय किया गया। मुझे ऐसा लगता है कि लेखकने उत्कोच (घूस) पाकर 'सोपान-कूपरहित मकान' के स्थानपर 'सोपान-कूपसहित मकान' लिख दिया है। सभामें सन्नाटा छा गया।''''''महाराज यशस्करदेवके आदेशसे न्यायालयके लेखकको सभाभवनमें उपस्थित होना पड़ा। वह लज्जित था। 'महाराज न्यायका खून मैंने किया है। 'रहित' के बदले सहित मैंने ही लिखा था।' लेखकने प्रमाणित किया।

'सोपान, कूप, मकान—सब कुछ नागरिकका है।' महाराजने न्यायको धोखा देनेके अपराधमें मकान खरीदनेवालेको आजीवन देश-निर्वासनका दण्ड दिया।

नागरिकके सत्याग्रहने विजय प्राप्त की। न्यायने सत्यकी पहचान की।—रा० श्री० (राजतरङ्गिणी)

धर्मकी सूक्ष्म गति

लगभग एक हजार वर्ष पहलेकी बात है। महाराज यशस्करदेव काश्मीरमें शासन करते थे। प्रजाका जीवन धर्म, सत्य और न्यायके अनुरूप था। महाराज स्वयं रात-दिन प्रजाका हित-चिन्तन किया करते थे। एक दिन वे सायंकालिक संध्या-वन्दन समाप्त करके भोजन करने जा ही रहे थे कि द्वारपालने एक ब्राह्मणके राजद्वारपर आमरण अनशनकी सूचना दी। महाराजने भोजनका कार्यक्रम स्थगित कर दिया, वे तुरंत बाहर आये। उन्होंने ब्राह्मणको दुखी देखा और उनका हृदय करुणासे द्रवित हो गया।

'महाराज! आप अपने राज्यमें अन्यायका प्रचार कर रहे हैं। प्रजाका मन अधर्ममें सुख मान रहा है। यदि आप ठीक तरह न्याय नहीं करेंगे तो राजद्वार ब्राह्मणकी समाधिके रूपमें परिणत हो जायगा।' ब्राह्मणने यशस्करदेवको सावधान किया।

'मैंने आपके कथनका आशय नहीं समझा, ब्राह्मण-देवता! मुझे अपने न्याय-विधानपर भरोसा है। आप जो कुछ कहना चाहते हैं, कह डालिये। कहीं ऐसा तो नहीं है कि द्वारपालके यह कहनेसे कि मुझसे कल भेंट हो सकेगी, आपने प्राण-त्यागका निश्चय कर लिया है?' महाराजकी भ्रुकुटी तन गयी।

'नहीं, महाराज! मैंने विदेशसे सौ स्वर्ण-मुद्राएँ उपार्जित करके आपके राज्यमें प्रवेश किया। मुझे पता चला कि आपके शासन-कालमें काश्मीरमें सुराज्य आ गया है। रास्तेमें मैंने इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया। पर लवणोत्स ग्रामके निकट आते-आते मैं थक गया। रातमें एक रमणीय उद्यानमें पेड़के नीचे मैं शयन करने लगा। दैवयोगसे मेरे शयन-स्थलके निकट घाससे आच्छादित एक कूप था, जिसका पता मुझे नहीं था; उसमें मेरी स्वर्ण-मुद्राओंकी गठरी गिर पड़ी। सबेरा होनेपर मैंने कूपमें कूदकर प्राण-त्यागका निश्चय किया ही था कि ग्रामवाले एकत्र हो गये। उनमेंसे एक साहसी व्यक्तिने कहा कि 'यदि मैं गठरी निकाल दूँ तो क्या दोगे?' मैंने कहा कि 'उस धनपर मेरा अधिकार ही क्या रह गया है; तुमको जो ठीक लगे, वह मुझे दे देना।' उसने गठरी निकाल ली और मुझे केवल दो मुद्राएँ दीं। मैंने इसपर आपत्ति की तो उसने कहा कि महाराज यशस्करदेवके राज्यमें व्यवहार मनुष्यके वचनपर चलते हैं। सरलताके कारण इस औपचारिक वचनके कथनसे मेरा धन उसने हड़प लिया। इसका उत्तरदायित्व आपपर है, अन्याययुक्त व्यवहार राज्यमें आपके नामपर होता है।' ब्राह्मणने अपनी कथा सुनायी। महाराजने कहा कि निर्णय कल

होगा और ब्राह्मणके साथ ही भोजन करने चले गये।

× × × ×

दूसरे दिन लवणोत्स ग्रामके लोग महाराजके आदेशसे सभाभवनमें उपस्थित हुए। ब्राह्मणने पोटली निकालनेवाले व्यक्तिको आकृतिसे पहचाना। महाराज धर्म-आसनपर थे।

'ब्राह्मणने जो कुछ भी कहा है, वह अक्षरशः ठीक है। मैंने सत्यका पालन किया है। वचनके अनुरूप आचरण किया है, महाराज!' पोटली निकालनेवालेने यशस्करदेवको सत्यकी स्वीकृतिसे विस्मित कर दिया। वे गम्भीर होकर सोचने लगे।

'अट्ठानबे मुद्राएँ ब्राह्मणको दी जायँ और दो पोटली निकालनेवालेकी हैं।' महाराजने निर्णय दिया, लोग शङ्कित हो उठे।

'उत्कट अधर्मका दमन करनेके लिये दौड़ते हुए महामहिम धर्मकी गति गम्भीर विचारद्वारा निश्चित की जाती है। सूर्य प्रगाढ़ अन्धकारका नाश करता है; धर्म अधर्मका उन्मूलन कर देता है। ब्राह्मणने यह नहीं कहा कि जो देते हो, वह दो; ऐसा कहा कि जो ठीक लगे, वह दो। पोटली निकालनेवालेको दो मुद्राएँ रुचिकर नहीं थीं, इसलिये उन्हें ब्राह्मणको दे दिया; जो अच्छी लगीं, उनको रख लिया। यह अन्याय था।' महाराजने शङ्का-समाधान किया। उनके जयनादसे न्यायालय गूँज उठा।—रा० श्री० [राजतरङ्गिणी]

सच्ची प्रशंसा

कन्नौजके महामहिम शासक महाराज हर्षकी कृपासे मातृगुप्तका काश्मीरके सिंहासनपर राज्याभिषेक हुआ। मातृगुप्तकी उदारता, काव्यप्रियता और दानशीलतासे आकृष्ट होकर बड़े-बड़े विद्वानों, कवियों और गुणज्ञोंने काश्मीरकी राजसभा समलंकृत की।

महाकवि मेण्ठ सातवीं शताब्दीके महान् कवियोंमें परिगणित थे। एक दिन राजा मातृगुप्तको द्वारपालने मेण्ठके आगमनकी सूचना दी, राजाने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। धूम-धामसे उनका स्वागत किया। मातृगुप्तने मेण्ठसे अपना प्रसिद्ध काव्य हयग्रीव-वध सुनानेकी प्रार्थना की।

'आपपर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों अनुकूल हैं। धन्य हैं आप!' कवि मेण्ठने राजाकी प्रशस्ति गायी और उसके बाद काव्य सुनाना आरम्भ किया।

समस्त राजसभा काव्य-श्रवणके आनन्दसे झूम उठी, पर मेण्ठका मुख उतरा हुआ-सा था। उनके नयनोंमें विस्मय था कि इतनी सुन्दर रचना होनेपर भी राजाने काव्य-श्रवणके समय एक बार भी 'साधुवाद' नहीं किया। कवि मेण्ठके मनमें विचार उठा कि मातृगुप्तने जीवनके पहले चरणमें दरिद्रताका अनुभव किया और साथ-ही-साथ मुझे अपने-से छोटा कवि भी समझा है; अपनी काव्य-बुद्धिपर राजाको अभिमान हो गया है। ऐसे राजासे पुरस्कारकी भी आशा नहीं की जा सकती। मेण्ठने काव्य सुनानेके बाद खिन्न मनसे उसके पत्रोंको वेष्टनमें बाँधना आरम्भ किया कि सहसा मातृगुप्तने पत्रोंके नीचे एक स्वर्णपात्र रखवा दिया। राजाके जीवनमें यह अपूर्व कार्य था; विद्वानों और राजमन्त्रियोंके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा।

'इस पात्रको नीचे रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, महाराज!' कविने स्वाभिमान प्रकट किया।

'कविवर! आप ऐसी बात क्यों कहते हैं। आप जानते ही हैं कि इस काव्यमें कितना अमृत भरा हुआ है। इसकी एक कणिका भी भूमिपर गिर पड़ती तो मुझे कितना दुःख होता। मैं धन्य हो गया, मित्र!' मातृगुप्तने सिंहासनसे उठकर मेण्ठको हृदयसे लगा लिया।

'आज आपके शासन-कालमें श्री और सरस्वतीका अपूर्व संगम हुआ है महाराज!' जनताने अपने नरेशका जयनाद किया।

'और मुझे सच्ची प्रशंसा मिल गयी।' मेण्ठने मातृगुप्त-की ओर देखा। ऐसा लगता था मानो चन्द्रमा सूर्यके प्रति कृतज्ञता प्रकट कर रहा है अमृत-दानके लिये।

—रा० श्री० [राजतरङ्गिणी]

जीरादेई

सं० ७०१ की बात है। मकरान (बलूचिस्तान) में राजा सहसराय राज्य करते थे। ये भारतीय शूद्र थे तथा बौद्धमतके अनुयायी थे। इनके पुत्र सुबल एवं प्रबलराय बड़े ही उत्साही तथा साहसी थे। एक बार छाछ नामक ब्राह्मणने इनपर आक्रमण किया और इनका राज्य छीन लिया। सहसराय तो लड़ाईमें काम आये, पर दोनों राजकुमार महलसे निकलकर भारतकी ओर चले। प्रबलरायको एक साधुकी दयासे अक़ीक़ नामका एक बहुमूल्य रत्न प्राप्त हो गया और वह गुरौलमें गढ़ बनाकर राज्य करने लगा।

इधर सुबलरायने चम्पारण्य (चम्पारन) में प्रवेश किया। उसे सुदूर वनमें एक ज्योति दीख पड़ी। उसकी ओर वे बढ़ते गये। अन्तमें देखा कि वह ज्योति और कुछ नहीं, एक कुमारीके ताटङ्ककी आभामात्र थी। वह कुमारी एक डाकूकी कन्या थी, जिसका नाम था जीरादेई। वह सुबलरायपर मुग्ध हो गयी।

जब डाकू लौटकर आया, तब बड़ी कठिनतासे उसने जीरादेईका प्रस्ताव स्वीकार किया। राजकुमारसे बातें करते हुए उसने बतलाया कि 'जीरादेई भारतीय नरेश रतिबलरायकी पुत्री है। उसके ईरानविजयके समय मैं उस राजाके पास ही था। वह मुझे बहुत मानता था। पर इस कन्याके लिये मैंने उसके साथ विश्वासघात किया और इसे ले भागा। तत्पश्चात् इस जंगलमें आश्रय लिया। जब यह कन्या बड़ी हुई, तब मैंने इसके योग्य वर खोजनेके लिये अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग—सभी देशोंको छान डाला; पर कहीं सफलता न मिली। पर आज तुम्हारे यहाँ आ जानेसे वह मेरी कामना स्वयमेव पूरी हो गयी।'

अन्तमें उसने कन्याके पिता रतिबलरायको भी बुलाया। उन्होंने आकर अपने हाथों कन्यादान किया। तत्पश्चात् वहीं एक गढ़ बनाकर जीरादेईके साथ सुबलरायने शासन आरम्भ किया; गढ़का नाम उसने सुरौल रखा। दोनों पति-पत्नी बड़े धर्मात्मा एवं सात्त्विक थे। तथापि उनसे एक अपराध बन गया, जिससे पाँच वर्षतक वहाँ अनावृष्टिका कुचक्र चल पड़ा। इस घोर अकालसे प्रजाका त्राण करनेके लिये राजा सुबलराय तथा जीरादेई तन-मनसे प्रजाकी सेवामें लग गये। सारा राज्य-कोष समाप्त हो गया। अब राजदंपति शरीर-त्याग करनेपर तुल गये। तब राज्यके धनाढ्य लोगोंने आकर स्थिति सँभालनेका आश्वासन दिया। फिर वृष्टि भी हुई। प्रजाका कष्ट भी दूर हो गया। पर सुबलरायकी अवस्था नहीं सुधरी। वे इस आघातको सहन न कर सके और अन्तमें उनका शरीर छूट गया। रानी जीरादेई भी उनके साथ सती हो गयीं। चितापर उनके अञ्चलसे अपने-आप अग्निकी लपट निकल पड़ी।

रानी जीरादेई जहाँ सती हुई थीं, उस ग्रामका नाम जीरादेई पड़ गया। अब भी उसका यही नाम है। सुरौल भी, जिसे अब सुरवल कहते हैं, पासमें ही है। जीरादेई पूर्वोत्तर रेलवेके भाटपोखर स्टेशनसे दो मील दक्षिण है। भारतसङ्घके अद्यतन अध्यक्ष देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की जन्मभूमि होनेका सौभाग्य इसी ग्रामको प्राप्त है।

—जा० श०

(History of Persia by V. A. Smith)

दुष्टोंको भी सौजन्यसे जीतिये

एक बार एक तंग रास्तेपर काशिराज और कोसलराज दोनोंके ही रथ आमने-सामने आ गये। अब बिना रास्तेसे एक ओर हटे दूसरे रथको निकलनेकी गुंजाइश न थी। काशिराजके सारथिने कहा—'मेरे रथपर महाराज काशीनरेश हैं; तुम रास्ता दो, हम निकल जायँ।'

'नहीं-नहीं, तुम रास्ता छोड़कर हट जाओ। तुम्हें मुझे रास्ता देना चाहिये; क्योंकि मेरे रथपर कोसलके राजा बैठे हैं।' दूसरे सारथिने कहा।

'जो अवस्थामें छोटा हो, वह बड़ेको जाने दे।' दोनोंको यह बात पसंद आ गयी। पर कोई हल न निकल सका; क्योंकि दोनों राजाओंकी अवस्था सर्वथा समान थी।

'जो बड़ा राजा हो, उसे प्रथम निकलनेका अधिकार होना चाहिये' इसे दोनों सारथियोंने उचित समझा। पर यह भी कोई हल न बन सका; क्योंकि दोनों राजाओंका राज्य समान—तीन सौ योजनका था।

'जो अधिक सदाचारी हो, उसे प्रथम निकलनेका अधि-

कार है ।' दोनोंने फिर एक हलका मार्ग ढूँढ़ा ।

कोसलराजके सारथिने बतलाया 'मेरे राजा भलेके साथ भला तथा शठके साथ शठताके साथ व्यवहार करते हैं। यह इनका महान् गुण है।'

काशिराजके सारथिने बतलाया 'तब तो मेरा रथ ही निकलेगा, क्योंकि मेरे राजा सद्व्यवहारसे ही दूसरोंके दुर्गुणोंको दूर करते हैं।'

इसपर कोसलराजने स्वयं काशिराजको मार्ग दे दिया।

—जा० श०

(The Jataka, Eng. Translation by Cowell, Vol. II, Story 151)

दानका फल

प्रतिष्ठानपुर-नरेश सातवाहन आखेटको निकले और सैनिकोंसे पृथक् होकर वनमें भटक गये। वनमें भटकते भूखे-प्यासे राजा सातवाहन एक भीलकी झोपड़ीपर पहुँच गये। भील उन्हें पहचानता नहीं था, फिर भी अतिथि समझकर उसने उनका स्वागत किया। भीलकी झोपड़ीमें धरा क्या था; सत्तू था उसके पास। राजाने वह सत्तू खाकर ही क्षुधा दूर की। रात्रि हो चुकी थी, भीलकी झोपड़ीमें ही वे सो रहे।

रात्रि शीतकालकी थी। शीतल वायु चल रही थी। भील स्वयं झोपड़ीसे बाहर सोया और राजा सातवाहनको उसने झोपड़ीमें सुलाया। रात्रिमें वर्षा भी हुई। भील भीगता रहा। उसे सर्दी लगी और उसी सर्दीसे रात्रिमें ही उसकी मृत्यु हो गयी।

प्रातःकाल राजाके सैनिक उन्हें ढूँढ़ते पहुँचे। सातवाहनने बड़े सम्मानसे भीलका अन्तिम संस्कार कराया। भीलकी पत्नीको उन्होंने बहुत-सा धन दिया। यह सब करके भी नरेशको शान्ति नहीं हुई। वे नगर लौट तो आये, किंतु उदास रहने लगे। उनका शरीर दिनोंदिन दुर्बल होने लगा। मन्त्री तथा देशके विद्वान् क्या करते ! राजाको चिन्ता-का रोग था और उसकी ओषधि किसीके पास नहीं थी।

'बेचारे भीलने मुझे सत्तू दिया, मुझे झोपड़ीमें सुलाकर स्वयं बाहर सोया और उसकी मृत्यु हो गयी। दान और अतिथि-सत्कारका ऐसा ही फल होता हो तो कौन दान-पुण्य करेगा।' राजाकी चिन्ता यही थी।

कई महीने बीत गये, अन्तमें भगवती सरस्वतीके कृपा-पात्र पण्डित वररुचि प्रतिष्ठानपुर पधारे। राजाकी चिन्ताका समाचार पाकर वे राजभवन पधारे और राजाको लेकर नगर-सेठके घर गये। नगरसेठके नवजात पुत्रको राजाके सामने लाया गया। पण्डितजीके आदेशसे वह अबोध बालक सहसा बोल उठा—'राजन् ! मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। आपको सत्तू देनेके फलसे भीलका शरीर छोड़कर मैं नगरसेठका पुत्र हुआ हूँ और उसी पुण्यके प्रभावसे मुझे पूर्वजन्मका स्मरण भी है।'—सु० सिं०

केवल इतनेसे ही पतन

मनुष्यके जीवनमें संयमकी बड़ी आवश्यकता है। गृहस्थ, तपस्वी और संन्यासी—सब-के-सब इन्द्रिय-संयम और सात्त्विक आचार-विचारसे समुन्नति करते हैं। जीवन क्षणभरके ही असंयम और असावधानीसे विनष्ट हो जाता है।

लगभग तीन हजार वर्ष पूर्वकी बात है। मगध (बिहार) प्रान्तमें माही नदीके तटस्थ वनमें एक उद्रामपुत्र नामके महात्मा रहते थे। वे उच्चकोटिके सिद्ध थे, अपनी यौगिक सिद्धियोंके लिये बहुत प्रसिद्ध थे। मगधेश्वरके निमन्त्रणपर प्रतिदिन दोपहरको आकाशमार्गसे उड़कर भिक्षा करने आया करते थे। मगधपति उनका यथाशक्ति सम्मान करते थे।

× × × ×

'आज मुझे बड़े आवश्यक कार्यसे नगरके बाहर जाना है। राजप्रासादमें इस योग्य कोई नहीं है कि उद्रामपुत्रको भिक्षा करवा सके। महात्माके आनेका समय हो गया है।' महाराज मगधपतिने अपने एक परिचारककी कन्याको उद्रामपुत्रके स्वागत-सत्कारका पवित्र कार्य सौंपा। वह अत्यन्त शुद्धाचरण-वाली थी, अल्पवयस्का और देखनेमें रूपवती थी। उसने महाराजको प्रणाम किया और मगधपतिका रथ बड़े वेगसे राजद्वारसे बाहर आकर राजपथपर अदृश्य हो गया।

'स्वागत है, महाराज।' दासीने योगसिद्धिसे राजप्राङ्गणमें उड़कर आये हुए तपस्वी उद्रामपुत्रका स्वागत किया।

'कितनी सुन्दरी है यह ! अङ्गोंमें कितना लावण्य है !

वाणी तो अमृतरससे सम्पूर्ण आप्लावित है।' महात्मा उद्रराम-पुत्रने आसन ग्रहण किया। वे भोजन करने लगे।...परिचारक-की कन्या उनकी सेवामें तत्पर थी।

'नहीं, अब कुछ नहीं चाहिये।' उद्ररामपुत्र उसीको देखने लगे।...दासी संकोचमें पड़ गयी।

योगीने आकाशमार्गसे उड़कर तपोवनमें जानेकी बड़ी चेष्टा की, पर उनकी शक्ति कुण्ठित हो गयी। वे लज्जासे नत हो गये।

'दासी! आज मेरा उड़कर जानेका विचार नहीं है। राजधानीमें घोषणा कर दी जाय कि संन्यासी उद्ररामपुत्र असंख्य नागरिकोंको अपने दर्शनसे तृप्त करेंगे, उनकी चिरकालीन पिपासा शान्त करेंगे।' महात्माने बात बदल दी।

राजपथपर अगणित लोगोंने अचानक पैदल चलकर दर्शन देनेवाले महात्माके जयनादसे धरती और गगनको प्रकम्पित कर दिया। वे अपने आश्रमतक पैदल गये।...उनकी योगसिद्धि समाप्त हो गयी केवल एक क्षणके लिये युवतीका रूप देखनेसे। उनका तपोबल नष्ट हो गया उससे पलभरके लिये एकान्तमें बात करनेसे। उनकी बहुत दिनोंसे दबायी गयी वासनाकी आग प्रज्वलित हो गयी नारीके नश्वर सौन्दर्यसे। उनका आत्मबल क्षीण हो गया।

वे मगधके राजप्रासादमें आकाशमार्गसे फिर कभी नहीं जा सके। संयमके मार्गसे च्युत हो गये थे वे। —रा० श्री०

आत्मयज्ञ

'देश, धर्म और स्वराज्यकी बलिवेदीपर प्रत्येक भारतीयको चढ़ जाना चाहिये; यह पवित्र कार्य है। इसीमें आत्मसम्मानका संरक्षण है।' महाराज दाहिरके ये अन्तिम वाक्य थे। मुहम्मद बिन कासिमकी सेनाने सिंधके अधिपतिका प्राणान्त कर डाला। राजधानी अलोरमें उदासी छा गयी महाराजके स्वर्ग-प्रस्थानसे। उनके पुत्र जयसिंहने अरबी सेनाका पीछा किया। किलेमें भयानक नीरवता थी।

'माता! महाराजके आकस्मिक स्वर्ग-गमनसे सारा-का-सारा नगर क्षुब्ध हो गया है; पर हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि शत्रुकी छाया भी इस किलेमें नहीं आ सकती।' सेनापतिने तलवार खींच ली; वह रणभूमिके लिये प्रस्थान करनेवाला ही था, पर सहसा ठहर गया।

'बोलो, अम्बा! आदेश दो।' उसने फिर प्रार्थना की। दाहिरकी महारानी गहरी चिन्तामें थीं; वे बड़ी गम्भीरतासे कुछ सोच रही थीं कि जयसिंहने चरणाभिवादन किया।

'शत्रु किलेके द्वारपर आ पहुँचे हैं, वे शीघ्र ही भीतर प्रवेश करेंगे।' जयसिंह कुछ और कहने जा रहे थे कि महारानीके नेत्र लाल हो उठे; वे गरज उठीं, मानो महिषमर्दिनी दुर्गाका उनपर आवेश हो।

'शत्रु किलेमें नहीं प्रवेश कर सकते, हम उन्हें अपने सतीत्वकी आगमें स्वाहा कर देंगी।' महारानीने सेनापतिके हाथमें नंगी तलवार रख दी महाराज दाहिरकी।

'माँ, मुझे इसकी शपथ है, विदेशी हमारी पवित्र स्वाधीनताको कलङ्कित नहीं कर सकेंगे।' सेनापतिने कुमार जयसिंहके साथ किलेसे बाहर निकलना चाहा।

'रण आज किलेमें ही होगा; अधर्मका अस्तित्व समाप्त करनेके लिये धर्मयुद्ध होगा, असत्यका मस्तक उड़ा देनेके लिये युद्ध-ऐसे सत्कार्यका आरम्भ यहीं होगा।' महारानीने भीतरी प्राङ्गणमें प्रवेश किया सेनापति और कुमार जयसिंहके साथ।

अनेक चिताएँ सजायी गयी थीं। नगरकी कुलवधुएँ उपस्थित थीं। अत्यन्त भयंकर दृश्य था। किलेके द्वारपर रणका बाजा बज रहा था। शत्रु द्वार तोड़नेकी चेष्टामें थे।

'वीरो! हमलोग आपसे पहले स्वर्ग जा रही हैं; पर स्मरण रहे कि शत्रु हमारे चिताभस्मका भी स्पर्श न कर सकें। इस सत्कर्मकी पवित्रता कलङ्कित होगी तो हिमालयका उन्नत दिव्य भाल सदाके लिये लज्जासे नत हो जायगा। स्वतन्त्रता, स्वधर्म और स्वदेशकी रक्षाके लिये मर मिटना ही वीरता है। भगवान् सहायता करेंगे।' महारानी अन्य नगर-वधुओंके साथ धधकती चितामें कूद पड़ीं।

अलोर किलेकी रक्षाके लिये भीषण युद्ध हुआ। अरबोंने भीतर प्रवेश किया; पर उनमें इतना साहस नहीं था कि वे अग्निकी लपटोंके सामने खड़े हो सकें। —रा० श्री०

सच्ची क्षमा

गीतगोविन्दके कर्ता भक्तश्रेष्ठ महाकवि जयदेव तीर्थ-यात्राको निकले थे। एक नरेशने उनका बहुत सम्मान किया और उन्हें बहुत-सा धन दिया। धनके लोभसे कुछ डाकू उनके साथ हो लिये। एकान्त स्थानमें पहुँचनेपर डाकुओंने आक्रमण करके जयदेवजीको पटक दिया, उनके हाथ-पैर काटकर उन्हें एक कुएँमें डाल दिया और धनकी गठरी लेकर चलते बने।

संयोगवश उस कुएँमें पानी नहीं था। जयदेवजीको जब चेतना लौटी, तब कुएँमें ही भगवन्नाम-कीर्तन करने लगे। उधरसे उसी दिन गौड़ेश्वर राजा लक्ष्मणसेनकी सवारी निकली। कुएँके भीतरसे मनुष्यका शब्द आता सुनायी पड़ा उन्हें। नरेशकी आज्ञासे जयदेवजी बाहर निकाले गये। जयदेवजीको लेकर नरेश राजधानी आये। नरेशपर जयदेवजी-की विद्वत्ता तथा भगवद्भक्तिका इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने जयदेवजीको अपनी पञ्चरत्नसभाका प्रधान बना दिया और सर्वाध्यक्षका भार भी उन्हें सौंप दिया।

बहुत पूछनेपर भी नरेशको जयदेवजीने अपने हाथ-पैर काटनेवालोंका हुलिया बताया नहीं। एक बार राजमहल-में कोई उत्सव था। बहुत अधिक भिक्षुक, साधु तथा ब्राह्मण भोजन करने आये थे। उन्हींमें जयदेवजीके हाथ-पैर काटनेवाले डाकू भी साधुके वेशमें आये थे। लूले, पङ्गु जयदेवजीको वहाँ सर्वाध्यक्ष देखकर डाकुओंके प्राण सूख गये। जयदेवजीने भी उन्हें पहचान लिया और राजासे बोले—'मेरे कुछ पुराने मित्र आये हैं। आप चाहें तो उन्हें कुछ धन दे सकते हैं।'

नरेशने डाकुओंको पास बुलवाया। डाकुओंने समझा कि अब प्राण नहीं बचेंगे; किंतु राजाने उनका बड़ा सत्कार किया, उन्हें बहुत अधिक धन दिया। डाकू शीघ्र वहाँसे चले जाना चाहते थे। नरेशने उन्हें साधु और जयदेवजीका मित्र समझकर बहुत धन दिया था। कुछ सेवक उनके साथ कर दिये, जिसमें वे सुरक्षित घर पहुँच सकें।

मार्गमें राजसेवकोंने स्वभाववश पूछा—'श्रीजयदेवजी-से आपलोगोंका क्या सम्बन्ध है?'

डाकू बोले—'हमलोग एक राज्यमें ही कर्मचारी थे। तुम्हारा जो आज सर्वाध्यक्ष है, उसने वहाँ ऐसा कुकर्म किया कि राजाने इसे प्राणदण्डकी आज्ञा दी। लेकिन हमलोगोंने दया करके इसे हाथ-पैर कटवाकर जीवित छुड़वा दिया। हम उसका भेद न खोल दें, इस डरसे उसने हमारा इतना सम्मान कराया है।'

डाकुओंका पाप अब सृष्टिकर्ताको असह्य हो गया। उसी समय वहाँ पृथ्वी फटी और सब डाकू उसमें समा गये। राजसेवक धन लेकर लौटे। श्रीजयदेवजीको समाचार मिला तो बहुत दुखी हुए। उन्होंने राजासे सब बातें सच-सच बता दीं और बोले—'मैंने सोचा था कि ये बेचारे दरिद्र हैं। धनके लोभसे पाप करते हैं। धन मिल जायगा तो पाप करनेसे बचेंगे; किंतु मैं ऐसा अभागा हूँ कि मेरे कारण उन्हें प्राण खोने पड़े। भगवान् उन्हें क्षमा करें। उनकी सद्गति हो!' इसी समय जयदेवजीके हाथ-पैर पहलेके समान हो गये।—सु० सिं०

धन्य भामती

(लेखक—श्रीयुत एस्० एम्० वोरा)

रात्रिका समय है। दक्षिणभारतके एक छोटे-से गाँवकी एक छोटी-सी कोठरीमें रेंड़ीके तेलका दीपक जल रहा है। कोठरीका कच्चा आँगन और मिट्टीकी दीवालें गोबरसे लिपी-पुती बड़ी स्वच्छ और सुन्दर दिखायी दे रही हैं। एक कोनेमें कुछ मिट्टी पड़ी है, एक ओर पानीका घड़ा रक्खा है; दूसरे कोनेमें एक चक्की, मिट्टीके कुछ बरतन और छोटी-सी एक चारपाई पड़ी है। दीपकके समीप कुशके आसनपर एक पण्डितजी बैठे हैं, पास ही मिट्टीकी दावात रक्खी है और हाथमें कलम लिये वे बड़ी एकाग्रतासे लिख रहे हैं। बीच-बीचमें पास रक्खी पोथियोंके पन्ने उलट-पलटकर पढ़ते हैं, फिर पन्ने रखकर आँखें मूँद लेते हैं। कुछ देर गहरा विचार करनेके पश्चात् पुनः आँखें खोलकर लिखने लगते हैं। इतनेमें दीपकका तेल बहुत कम हो जानेके कारण बत्तीपर गुल आ गया और प्रकाश मन्द पड़ गया। इसी बीच एक प्रौढ़ा स्त्रीने आकर दीपकमें तेल भर दिया और वह बत्तीसे गुल झाड़ने लगी। ऐसा करते दीपक बुझ गया। पण्डितजीको

हाथ अँधेरेमें रुक गया। स्त्री बत्ती जलाकर तुरंत वहाँसे लौट रही थी कि पण्डितजीकी दृष्टि उधर चली गयी। उन्होंने कौतूहलमें भरकर पूछा—'देवी! आप कौन हैं?' 'आप अपना काम कीजिये। दीपक बुझनेसे आपके काममें विघ्न हुआ, इसके लिये क्षमा कीजिये।' स्त्रीने जाते-जाते बड़ी नम्रतासे कहा। 'परंतु ठहरें, बताइये तो आप कौन हैं और यहाँ क्यों आयी हैं।' पण्डितजीने बल देकर पूछा। स्त्रीने कहा—'महाराज! आपके काममें विघ्न पड़ रहा है, इस विक्षेपके लिये मैं बड़ी अपराधिनी हूँ।'

अब तो पण्डितजीने पन्ने नीचे रख दिये, कलम भी रख दी, मानो उन्हें जीवनका कोई नया तत्त्व प्राप्त हुआ हो। वे बड़ी आतुरतासे बोले—'नहीं, नहीं, आप अपना परिचय दीजिये—जबतक परिचय नहीं देंगी, मैं पन्ना हाथमें नहीं लूँगा।' स्त्री सकुचायी, उसके नेत्र नीचे हो गये और बड़ी ही विनयके साथ उसने कहा—'स्वामिन्! मैं आपकी परिणीता पत्नी हूँ, 'आप' कहकर मुझपर पाप न चढ़ाइये।' पण्डितजी आश्चर्यचकित होकर बोले—'हैं, मेरी पत्नी! विवाह कब हुआ था?' स्त्रीने कहा—'लगभग पचास साल हुए होंगे, तबसे दासी आपके चरणोंमें ही है।'

पण्डितजी—तुम इतने वर्षोंसे मेरे साथ रहती हो, मुझे आजतक इसका पता कैसे नहीं लगा!

स्त्री—प्राणनाथ! आपने विवाहमण्डपमें दाहिने हाथसे मेरा बायाँ हाथ पकड़ा था और आपके बायें हाथमें ये पन्ने थे। विवाह हो गया, पर आप इन पन्नोंमें संलग्न रहे। तबसे आप और आपके ये पन्ने नित्यसङ्गी बने हुए हैं।

पण्डितजी—पचास वर्षका लंबा समय तुमने कैसे बिताया? मैं तुम्हारा पति हूँ, यह बात तुमने इससे पहले मुझको क्यों नहीं बतलायी?

स्त्री—प्राणेश्वर! आप दिन-रात अपने काममें लगे रहते थे और मैं अपने काममें। मुझे बड़ा सुख मिलता था इसीमें कि आपका कार्य निर्विघ्न चल रहा है। आज दीपक बुझनेसे विघ्न हो गया! इसीसे यह प्रसङ्ग आ गया।

पण्डितजी—तुम प्रतिदिन क्या करती रहती थी?

स्त्री—नाथ! और क्या करती; जहाँतक बनता, स्वामीके कार्यको निर्विघ्न रखनेका प्रयत्न करती। प्रातःकाल आपके जागनेसे पहले उठकर धीरे-धीरे चक्की चलाती। आप उठते तब आपके शौच-स्नानके लिये जल दे देती। तदनन्तर संध्या आदिकी व्यवस्था करती, फिर भोजनका प्रबन्ध होता। रातको पढ़ते-पढ़ते आप सो जाते, तब मैं पोथियाँ बाँधकर ठिकाने रखती और आपके सिरहाने एक तकिया लगा देती एवं आपके चरण दबाते-दबाते वहीं चरणप्रान्तमें सो जाती।

पण्डितजी—मैंने तो तुमको कभी नहीं देखा।

स्त्री—देखना अकेली आँखोंसे थोड़े ही होता है, उसके लिये तो मन चाहिये। दृष्टिके साथ मन न हो तो फिर ये चक्षु-गोलक कैसे किसको देख सकते हैं। चीज सामने रहती है, पर दिखायी नहीं देती। आपका मन तो नित्य-निरन्तर तल्लीन रहता है—अध्ययन, विचार और लेखनमें। फिर आप मुझे कैसे देखते।

पण्डितजी—अच्छा, तो हमलोगोंके खान-पानकी व्यवस्था कैसे होती है?

स्त्री—दुपहरको अवकाशके समय अड़ोस-पड़ोसकी लड़कियोंको बेल-बूटे निकालना तथा गाना सिखा आती हूँ और वे सब अपने-अपने घरोंसे चावल, दाल, गेहूँ आदि ला देती हैं; उसीसे निर्वाह होता है।

यह सुनकर पण्डितजीका हृदय भर आया, वे उठकर खड़े हो गये और गद्गद कण्ठसे बोले—'तुम्हारा नाम क्या है, देवी?' स्त्रीने कहा—भामती! 'भामती! भामती! मुझे क्षमा करो; पचास-पचास सालतक चुपचाप सेवा ग्रहण करनेवाले और सेविकाकी ओर आँख उठाकर देखनेतककी शिष्टता न करनेवाले इस पापीको क्षमा करो'—यों कहते हुए पण्डितजी भामतीके चरणोंपर गिरने लगे।

भामतीने पीछे हटकर नम्रतासे कहा—'देव! आप इस प्रकार बोलकर मुझे पापग्रस्त न कीजिये। आपने मेरी ओर दृष्टि डाली होती तो आज मैं मनुष्य न रहकर विषय-विमुग्ध पशु बन गयी होती। आपने मुझे पशु बननेसे बचाकर मनुष्य ही रहने दिया, यह तो आपका अनुग्रह है। नाथ! आपका सारा जीवन शास्त्रके अध्ययन और लेखनमें बीता है। मुझे उसमें आपके अनुग्रहसे जो यत्किंचित् सेवा करनेका सुअवसर मिला है, यह तो मेरा महान् भाग्य है। किसी दूसरे घरमें विवाह हुआ होता तो मैं संसारके प्रपञ्चमें कितना फँस जाती। और पता नहीं, शूकर-कूकरकी भाँति कितनी वंश-वृद्धि होती। आपकी तपश्चर्यासे मैं भी पवित्र बन गयी। यह सब आपका ही प्रताप और प्रसाद है। अब आप कृपापूर्वक अपने अध्ययन-लेखनमें लगिये। मुझे सदाके लिये भूल जाइये।' यों कहकर वह जाने लगी।

पण्डितजी—भामती! भामती! तनिक रुक जाओ, मेरी बात तो सुनो!

भामती—नाथ ! आप अपनी जीवनसङ्गिनी साधनाका विस्मरण करके क्यों मोहके गर्तमें गिरते हैं और मुझको भी क्यों इस पाप-पङ्कमें फँसाते हैं ।

पण्डितजी—भामती ! मैं तुझे पाप-पङ्कमें नहीं फँसाना चाहता । मैं तो अपने लिये सोच रहा हूँ कि मैं पाप-गर्तमें गिरा हूँ या किसी ऊँचाईपर स्थित हूँ ।

भामती—नाथ ! आप तो देवता हैं; आप जो कुछ लिखेंगे, उससे जगत्‌का उद्धार होगा ।

पण्डितजी—'भामती ! तुम सच मानो ! भगवान् व्यासने वर्षों तप करनेके बाद इस वेदान्त-दर्शन ग्रन्थकी रचना की और मैंने जीवनभर इसका पठन एवं मनन किया; परंतु तुम विश्वास करो कि मेरा यह समस्त पठन, मनन, मेरा समग्र विवेक, यह सारा वेदान्त तुम्हारे पवित्र सहज तपोमय जीवनकी तुलनामें सर्वथा नगण्य है । व्यासभगवान्‌ने ग्रन्थ लिखा, मैंने पठन-मनन किया; परंतु तुम तो मूर्तिमान् वेदान्त हो ।' यों कहते-कहते पण्डितजी पुनः उसके चरणोंपर गिरने लगे । भामतीने उन्हें उठाकर विनम्रभावसे कहा—'पतिदेव ! यह क्या कर रहे हैं ! मैंने तो अपने जीवनमें आपकी सेवाके अतिरिक्त कभी कुछ चाहा नहीं । आपने मुझ-जैसीको ऐसी सेवाका सुअवसर दिया, यह आपका मुझपर महान् उपकार है । आजतक मैं प्रतिदिन आपके चरणोंमें सुखसे सोकर नींद लेती रही हूँ; यों इन चरणोंमें ही सोती-सोती महानिद्रामें पहुँच जाऊँ तो मेरा महान् भाग्य हो ।'

पण्डितजी—'भामतीदेवी ! सुनो, मैंने अपना सारा जीवन इन पन्नोंके लिखनेमें ही बिता दिया । परंतु तुमने मेरे पीछे जैसा जीवन बिताया है, उसके सामने मुझे अपना जीवन अत्यन्त क्षुद्र और नगण्य प्रतीत हो रहा है । मुझे इस ग्रन्थके एक-एक पन्नेमें, एक-एक पंक्तिमें और अक्षर-अक्षरमें तुम्हारा जीवन दीख रहा है । अतः जगत्‌में यह ग्रन्थ अब तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगा । तुमने मेरे लिये जो अपूर्व त्याग किया, उसकी चिरस्मृतिके लिये मेरा यह अनुरोध स्वीकार करो ।' 'प्रभो ! आप ऐसा कीजिये जिसमें इस अतुलनीय आत्मत्यागके सामने मुझ-जैसे क्षुद्र मनुष्यको जगत् भूल जाय ।' 'आप अपने काममें लगिये, देव !' यों कहकर भामती जाने लगी । तब 'तुमको जहाँ जाना हो, जाओ । परंतु अब मैं जीवित मूर्तिमान् वेदान्तको छोड़कर वेदान्तके मृत शवका स्पर्श नहीं करना चाहता ।' यों कहकर पण्डितजी-ने पोथी-पत्रे बाँध दिये ।

पण्डितजीके द्वारा रचित महान् ग्रन्थ वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) का अपूर्व भाष्य आज भी वेदान्तका एक अप्रतिम रत्न माना जाता है । इस ग्रन्थका नाम है 'भामती' और इसके लेखक हैं—प्रसिद्ध पण्डितशिरोमणि श्रीवाचस्पति मिश्र ।

किसीकी हँसी उड़ाना उसे शत्रु बनाना है

(दुर्योधनका अपमान)

धर्मराज युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ समाप्त हो गया था । वे भूमण्डलके चक्रवर्ती सम्राट् स्वीकार कर लिये गये थे । यज्ञमें पधारे नरेश तथा अन्य अतिथि-अभ्यागत विदा हो चुके थे । केवल दुर्योधनादि बन्धुवर्गके लोग तथा श्रीकृष्णचन्द्र इन्द्रप्रस्थमें रह गये थे ।

राजसूय यज्ञके समय दुर्योधनने पाण्डवोंका जो विपुल वैभव देखा था, उससे उसके चित्तमें ईर्ष्याकी अग्नि जल उठी थी । उसे यज्ञमें आये नरेशोंके उपहार स्वीकार करनेका कार्य मिला था । देश-देशके नरेश जो अकल्पित मूल्यकी अत्यन्त दुर्लभ वस्तुएँ धर्मराजको देनेके लिये ले आये, दुर्योधनको ही उन्हें लेकर कोषागारमें रखना पड़ा । उनको देख-देखकर दुर्योधनकी ईर्ष्या बढ़ती ही गयी । यज्ञ समाप्त हो जानेपर जब सब अतिथि चले गये, तब एक दिन वह हाथमें नंगी तलवार लिये अपने भाइयोंके साथ पाण्डवोंकी राजसभामें कुछ कठोर बातें कहता प्रविष्ट हुआ ।

उस समय मय दानवद्वारा निर्मित राजसभामें धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों तथा द्रौपदीके साथ बैठे थे । श्रीकृष्णचन्द्र भी उनके समीप ही विराजमान थे । दुर्योधनने मुख्य द्वारसे सभामें प्रवेश किया । मय दानवने उस सभाभवन-को अद्भुत ढंगसे बनाया था । उसमें अनेक स्थानोंपर लोगों-को भ्रम हो जाता था । सूखे स्थल जलपूर्ण सरोवर जान पड़ते थे और जलपूर्ण सरोवर सूखे स्थल-जैसे लगते थे । दुर्योधनको भी उस दिन यह भ्रम हो गया । वैसे वह अनेक बार उस सभामें आ चुका था; किंतु आवेशमें होनेके कारण वह स्थलोंको पहचान नहीं सका । सूखे स्थलको जलसे भरा समझकर उसने अपने वस्त्र उठा लिये । जब पता लगा कि

वह स्थल सूखा है, तब उसे संकोच हुआ। लोग उसकी ओर देख रहे हैं, यह देखकर उसका क्रोध और बढ़ गया। उसने वस्त्र छोड़ दिये और वेगपूर्वक चलने लगा। आगे ही जलपूर्ण सरोवर था। उसे भी उसने सूखा स्थल समझ लिया और स्थलके समान ही वहाँ भी आगे बढ़ा। फल यह हुआ कि वह जलमें गिर पड़ा। उसके वस्त्र भीग गये।

दुर्योधनको गिरते देखकर भीमसेन उच्चस्वरसे हँस पड़े। द्रौपदीने हँसते हुए व्यंग किया—'अंधेका पुत्र अंधा ही तो होगा।'

युधिष्ठिरने सबको रोका; किंतु बात कही जा चुकी थी और उसे दुर्योधनने सुन लिया था। वह क्रोधसे उन्मत्त हो उठा। जलसे निकलकर भाइयोंके साथ शीघ्रगतिसे वह राजसभासे बाहर चला गया और बिना किसीसे मिले रथमें बैठकर हस्तिनापुर पहुँच गया।

इस घटनासे दुर्योधनके मनमें पाण्डवोंके प्रति इतनी घोर शत्रुता जग गयी कि उसने अपने मित्रोंसे पाण्डवोंको पराजित करनेका उपाय पूछना प्रारम्भ किया। शकुनिकी सलाहसे जुएमें छलपूर्वक पाण्डवोंको जीतनेका निश्चय हो गया। आगे जो जुआ हुआ और जुएमें द्रौपदीका जो घोर अपमान दुर्योधनने किया, जिस अपमानके फलस्वरूप अन्तमें महाभारतका विनाशकारी संग्राम हुआ, वह सब अनर्थ इसी दिनके भीमसेन एवं द्रौपदीके हँस देनेका भयंकर परिणाम था।

(श्रीमद्भागवत १०। ७५)

परिहासका दुष्परिणाम

(यादव-कुलको भीषण शाप)

द्वारकाके पास पिंडारकक्षेत्रमें स्वभावतः घूमते हुए कुछ ऋषि आ गये थे। उनमें थे विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ठ तथा नारदजी-जैसे त्रिभुवनवन्दित महर्षि एवं देवर्षि। वे महापुरुष परस्पर भगवच्चर्चा करने तथा तत्त्वविचार करनेके अतिरिक्त दूसरा कार्य जानते ही नहीं थे।

यदुवंशके राजकुमार भी द्वारकासे निकले थे घूमने-खेलने। वे सब युवक थे, स्वच्छन्द थे, बलवान् थे। उनके साथ कोई भी वयोवृद्ध नहीं था। युवावस्था, राजकुल, शरीरबल और धनबल और उसपर इस समय पूरी स्वच्छन्दता प्राप्त थी। ऋषियोंको देखकर उन यादव-कुमारोंके मनमें परिहास करनेकी सूझी।

जाम्बवती-नन्दन साम्बको सबने साड़ी पहिनायी। उनके पेटपर कुछ वस्त्र बाँध दिया। उन्हें साथ लेकर सब ऋषियोंके समीप गये। साम्बने तो घूँघट निकालकर मुख छिपा रक्खा था, दूसरोंने कृत्रिम नम्रतासे प्रणाम करके पूछा—'महर्षिगण! यह सुन्दरी गर्भवती है और जानना चाहती है कि उसके गर्भसे क्या उत्पन्न होगा। लेकिन लज्जाके मारे स्वयं पूछ नहीं पाती। आपलोग तो सर्वज्ञ हैं, भविष्यदर्शी हैं, इसे बता दें। यह पुत्र चाहती है, क्या उत्पन्न होगा इसके गर्भसे?'

महर्षियोंकी सर्वज्ञता और शक्तिका यह परिहास था। दुर्वासाजी क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने कहा—'मूर्खो! अपने पूरे कुलका नाश करनेवाला मूसल उत्पन्न करेगी यह।' ऋषियोंने दुर्वासाका अनुमोदन कर दिया। भयभीत यादव-कुमार घबराकर वहाँसे लौटे। साम्बके पेटपर बँधा वस्त्र खोला तो उसमेंसे एक लोहेका मूसल निकल पड़ा।

अब कोई उपाय तो था नहीं, यादव-कुमार वह मूसल लिये राजसभामें आये। सब घटना राजा उग्रसेनको बताकर मूसल सामने रख दिया। महाराजकी आज्ञासे मूसलको कूटकर चूर्ण बना दिया गया। वह सब चूर्ण और कूटनेसे बचा छोटा लौहखण्ड समुद्रमें फेंक दिया गया।

महर्षियोंका शाप मिथ्या कैसे हो सकता था। लौहचूर्ण लहरोंसे बहकर किनारे लगा और एरका नामक घासके रूपमें उग गया। लोहेका बचा टुकड़ा एक मछलीने निगल लिया। वह मछली मछुओंके जालमें पड़ी और एक व्याधको बेची गयी। व्याधने मछलीके पेटसे निकले लोहेके टुकड़ेसे बाणकी नोक बनायी। इसी जरा नामक व्याधका वह बाण श्रीकृष्णचन्द्रके चरणमें लगा और यादव-वीर जब समुद्र-तटपर परस्पर युद्ध करने लगे मदोन्मत्त होकर, तब शस्त्र समाप्त हो जानेपर एरका घास उखाड़कर परस्पर आघात करते हुए उसकी चोटसे समाप्त हो गये। इस प्रकार एक विचारहीन परिहासके कारण पूरा यदुवंश नष्ट हो गया।

किसीकी हँसी उड़ाना उसे शत्रु बनाना है

परिहासका दुष्परिणाम
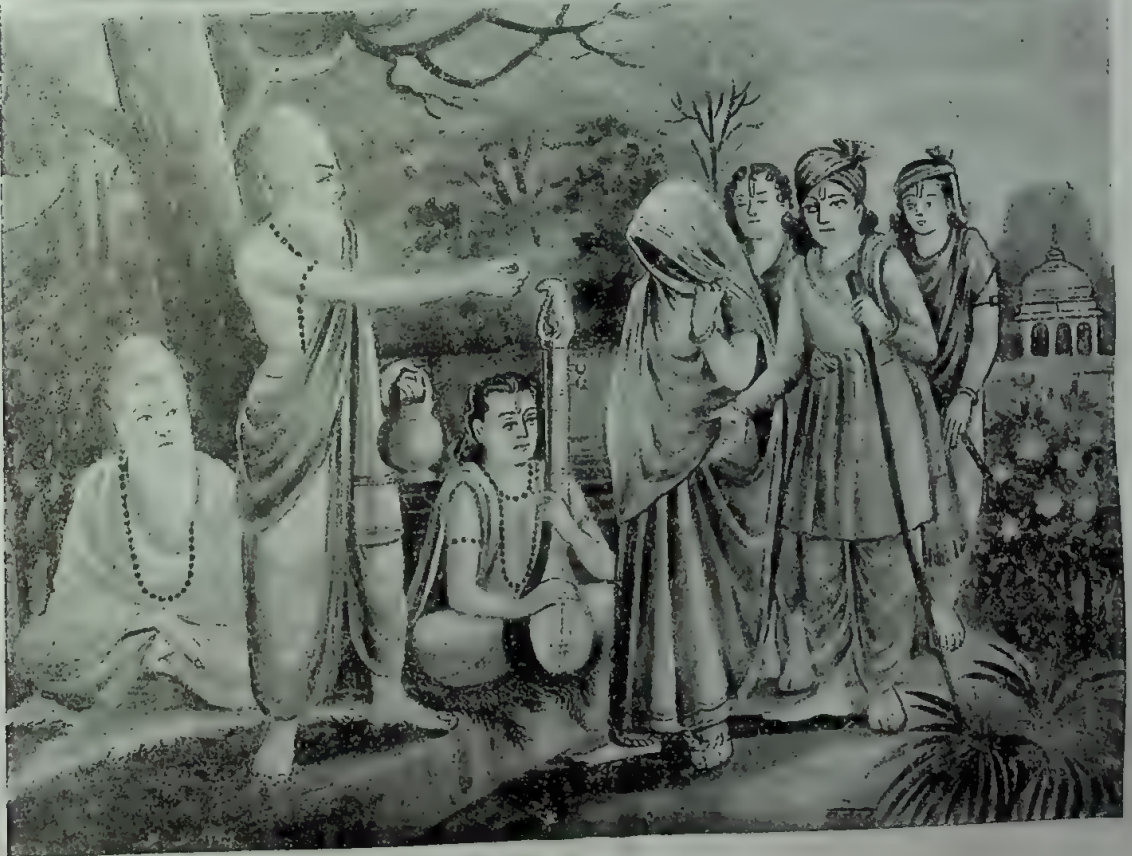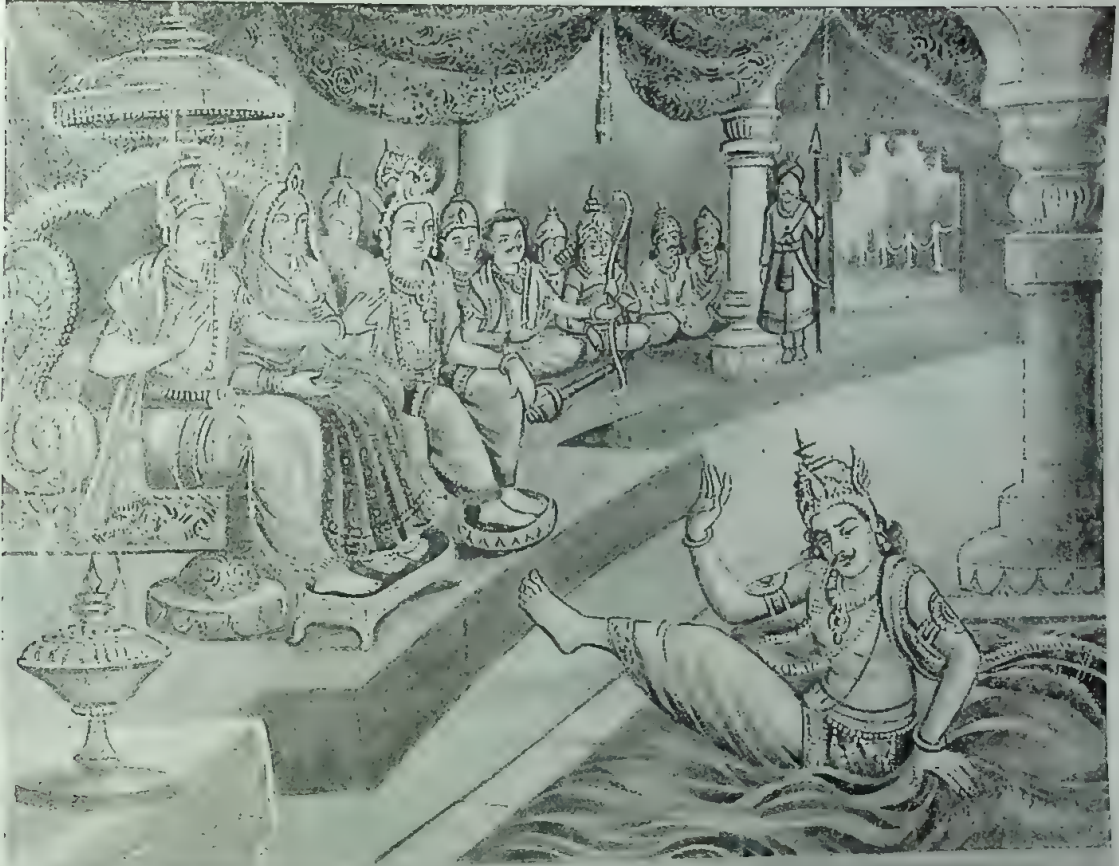
जाता रहा । अजामिल ब्राह्मण नहीं रहा, म्लेच्छप्राय हो गया । पापरत पामर जीवन हो गया उसका और महीने-दो-महीने नहीं, पूरा जीवन ही उसका ऐसे ही पापोंमें बीता ।

उस कुलटा दासीसे अजामिलके कई संतानें हुईं । पहलेका किया पुण्य सहायक हुआ, किसी सत्पुरुषका उपदेश काम कर गया । अपने सबसे छोटे पुत्रका नाम अजामिलने 'नारायण' रखा । बुढ़ापेकी अन्तिम संतानपर पिताका अपार मोह होता है । अजामिलके प्राण जैसे उस छोटे बालकमें ही बसते थे । वह उसीके प्यार-दुलारमें लगा रहता था । बालक कुछ देरको भी दूर हो जाय तो अजामिल व्याकुल होने लगता था । इसी मोहग्रस्त दशामें जीवनकाल समाप्त हो गया । मृत्युकी घड़ी आ गयी । यमराजके भयंकर दूत हाथोंमें पाश लिये आ धमके और अजामिलके सूक्ष्मशरीरको उन्होंने बाँध लिया । उन विकराल दूतोंको देखते ही भयसे व्याकुल अजामिलने पास खेलते अपने पुत्रको कातर स्वरमें पुकारा—'नारायण ! नारायण !'

'नारायण !' एक मरणासन्न प्राणीकी कातर पुकार सुनी सदा सर्वत्र अप्रमत्त, अपने स्वामीके जनोंकी रक्षामें तत्पर रहनेवाले भगवत्पार्षदोंने और वे दौड़ पड़े । यमदूतोंका पाश उन्होंने छिन्न-भिन्न कर दिया । बलपूर्वक दूर हटा दिया यमदूतोंको अजामिलके पाससे ।

बेचारे यमदूत हक्के-बक्के देखते रह गये । उनका ऐसा अपमान कहीं नहीं हुआ था । उन्होंने इतने तेजस्वी देवता भी नहीं देखे थे । सब-के-सब इन्दीवर-सुन्दर, कमललोचन, रत्नाभरणभूषित, चतुर्भुज, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म लिये, अमिततेजस्वी—इन अद्भुत देवताओंसे यमदूतोंका कुछ वश भी नहीं चल सकता था । साहस करके वे भगवत्पार्षदोंसे बोले—'आपलोग कौन हैं ? हम तो धर्मराजके सेवक हैं । उनकी आज्ञासे पापीको उनके समक्ष ले जाते हैं । जीवके पाप-पुण्यके फलका निर्णय तो हमारे स्वामी संयमनी-नाथ ही करते हैं । आप हमें अपने कर्तव्यपालनसे क्यों रोकते हैं ?'

भगवत्पार्षदोंने तनिक फटकार दिया—''तुम धर्मराजके सेवक सही हो, किंतु तुम्हें धर्मका ज्ञान ही नहीं है । जानकर या अनजानमें ही जिसने 'भगवान् नारायण' का नाम ले लिया वह पापी रहा कहाँ ! संकेतसे, हँसीमें, छलसे, गिरनेपर या और किसी भी बहाने लिया गया भगवन्नाम जीवके जन्म-जन्मान्तरके पापोंको वैसे ही भस्म कर देता है जैसे अग्निकी छोटी चिनगारी सूखी लकड़ियोंकी महान् ढेरीको भस्म कर देती है । इस पुरुषने पुत्रके बहाने सही, नाम तो नारायण प्रभुका लिया है; फिर इसके पाप रहे कहाँ । तुम एक निष्पापको कष्ट देनेकी धृष्टता मत करो !'

यमदूत क्या करते, वे अजामिलको छोड़कर यमलोक आ गये और अपने स्वामीके सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हो गये । उन्होंने उन धर्मराजसे ही पूछा—'स्वामी ! क्या विश्वका आपके अतिरिक्त भी कोई शासक है ? हम एक पापीको लेने गये थे । उसने अपने पुत्र नारायणको पुकारा; किंतु उसके 'नारायण' कहते ही वहाँ कई तेजोमय सिद्ध पुरुष आ धमके । उन सिद्धोंने आपके पाश तोड़ डाले और हमारी बड़ी दुर्गति की । वे अन्ततः हैं कौन, जो निर्भय आपकी भी अवज्ञा करते हैं ?'

दूतोंकी बात सुनकर यमराजने हाथ जोड़कर किसी अलक्ष्यको मस्तक झुकाया । वे बोले—'दयामय भगवान् नारायण मेरा अपराध क्षमा करें । मेरे अज्ञानी दूतोंने उनके जनकी अवहेलना की है ।' इसके पश्चात् वे दूतोंसे बोले—'सेवको ! समस्त जगत्के जो आदिकारण हैं, सृष्टि-स्थिति-संहार जिनके भ्रूभङ्गमात्रसे होता है, वे भगवान् नारायण ही सर्वेश्वर हैं । मैं तो उनका क्षुद्रतम सेवकमात्र हूँ । उन नारायण भगवान्के नित्य सावधान पार्षद सदा-सर्वत्र उनके जनोंकी रक्षाके लिये घूमते रहते हैं । मुझसे और दूसरे समस्त संकटोंसे वे प्रभुके जनोंकी रक्षा करते हैं ।'

यमराजने बताया—'तुमलोग केवल उसी पापी जीवको लेने जाया करो, जिसकी जीभसे कभी किसी प्रकार भगवन्नाम न निकला हो, जिसने कभी भगवत्कथा न सुनी हो, जिसके पैर कभी भगवान्के पावन लीलास्थलोंमें न गये हों अथवा जिसके हाथोंने कभी भगवान्के श्रीविग्रहकी पूजा न की हो ।' यमदूतोंने अपने स्वामीकी यह आज्ञा उसी दिन भलीभाँति रटकर स्मरण कर ली; क्योंकि इसमें प्रमाद होनेका परिणाम वे भोग चुके थे ।

यमदूतोंके अदृश्य होते ही अजामिलकी चेतना सजग हुई; किंतु वह कुछ पूछे या बोले, इससे पूर्व ही भगवत्पार्षद भी अदृश्य हो गये । भले भगवत्पार्षद अदृश्य हो जायँ; किंतु अजामिल उनका दर्शन कर चुका था । यदि एक क्षणके कुसङ्गने उसे पापके गड्ढेमें ढकेल दिया था तो एक क्षणके सत्सङ्गने उसे उठाकर ऊपर खड़ा कर दिया । उसका हृदय बदल चुका था । आसक्ति नष्ट हो चुकी थी ।

अपने अपकर्मोंके लिये घोर पश्चात्ताप उसके हृदयमें जाग्रत् हो गया था।

तनिक सावधान होते ही अजामिल उठा। अब जैसे इस परिवार और इस संसारसे उसका कोई सम्बन्ध ही न था। बिना किसीसे कुछ कहे वह घरसे निकला और चल पड़ा। धीरे-धीरे वह हरिद्वार पहुँच गया। वहाँ भगवती पतितपावनी भागीरथीमें नित्य स्नान और उनके तटपर ही आसन लगाकर भगवान्‌का सतत भजन—यही उसका जीवन बन गया।

आयुको तो समाप्त होना ही ठहरा; किंतु जब अजामिलकी आयु समाप्त हुई, वह मरा नहीं। वह तो देह त्यागकर मृत्युके चंगुलसे सदाको छूट गया। भगवान्‌के वे ही पार्षद विमान लेकर पधारे और उस विमानमें बैठकर अजामिल भगवद्धाम चला गया।

(श्रीमद्भागवत ६। १-३)

कुन्तीका त्याग

कुन्तीसहित पाँचों पाण्डवोंको जलाकर मार डालनेके उद्देश्यसे दुर्योधनने वारणावत नामक स्थानमें एक चपड़ेका महल बनवाया और अंधे राजा धृतराष्ट्रको समझा-बुझाकर उनके द्वारा युधिष्ठिरको यह आज्ञा दिलवा दी कि 'तुमलोग वहाँ जाकर कुछ दिन रहो और भाँति-भाँतिसे दान-पुण्य करके पुण्य-संचय करो।'

दुर्योधनने अपनी चंडाल-चौकड़ीमें यह निश्चय किया था कि पाण्डवोंके वहाँ रहने लगनेपर किसी दिन रात्रिके समय आग लगा दी जायगी और चपड़ेका महल तुरंत पाण्डवोंसहित भस्म हो जायगा। धृतराष्ट्रको इस बुरी नीयतका पता नहीं था; परंतु किसी तरह विदुरको पता लग गया और विदुरने उनके वहाँसे बच निकलनेके लिये अंदर-ही-अंदर एक सुरंग बनवा दी तथा सांकेतिक भाषामें युधिष्ठिरको सारा रहस्य तथा बच निकलनेका उपाय समझा दिया।

पाण्डव वहाँसे बच निकले और अपनेको छिपाकर एकचक्रा नगरीमें एक ब्राह्मणके घर जाकर रहने लगे। उस नगरीमें बक नामक एक बलवान् राक्षस रहता था। उसने ऐसा नियम बना रक्खा था कि नगरके प्रत्येक घरसे नित्य बारी-बारीसे एक आदमी उसके लिये विविध भोजन-सामग्री लेकर उसके पास जाय। वह दुष्ट अन्य सामग्रियोंके साथ उस आदमीको भी खा जाता था। जिस ब्राह्मणके घर पाण्डव टिके थे, एक दिन उसीकी बारी आ गयी। ब्राह्मणके घर कुहराम मच गया। ब्राह्मण, उसकी पत्नी, कन्या और पुत्र अपने-अपने प्राण देकर दूसरे तीनोंको बचानेका आग्रह करने लगे। उस दिन धर्मराज आदि चारों भाई तो भिक्षाके लिये बाहर गये थे। डेरेपर कुन्ती और भीमसेन थे। कुन्तीने सारी बातें सुनीं तो उनका हृदय दयासे भर गया। उन्होंने जाकर ब्राह्मण-परिवारसे हँसकर कहा—'महाराज! आपलोग रोते क्यों हैं। जरा भी चिन्ता न करें। हमलोग आपके आश्रयमें रहते हैं। मेरे पाँच लड़के हैं, उनमेंसे एक लड़केको मैं भोजन-सामग्री देकर राक्षसके यहाँ भेज दूँगी।'

ब्राह्मणने कहा—'माता! ऐसा कैसे हो सकता है। आप हमारे अतिथि हैं। अपने प्राण बचानेके लिये हम अतिथिका प्राण लें, ऐसा अधर्म हमसे कभी नहीं हो सकता।'

कुन्तीने समझाकर कहा—'पण्डितजी! आप जरा भी चिन्ता न करें। मेरा लड़का भीम बड़ा बली है। उसने अबतक कितने ही राक्षसोंको मारा है। वह अवश्य इस राक्षसको भी मार देगा। फिर, मान लीजिये, कदाचित् वह न भी मार सका तो क्या होगा। मेरे पाँचमें चार तो बच ही रहेंगे। हम लोग सब एक साथ रहकर एक ही परिवारके-से हो गये हैं। आप वृद्ध हैं, वह जवान है। फिर हम आपके आश्रयमें रहते हैं। ऐसी अवस्थामें आप वृद्ध और पूजनीय होकर भी राक्षसके मुँहमें जायँ और मेरा लड़का जवान और बलवान् होकर घरमें मुँह छिपाये बैठा रहे, यह कैसे हो सकता है।'

ब्राह्मण-परिवारने किसी तरह भी जब कुन्तीका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, तब कुन्ती देवीने उन्हें हर तरहसे यह विश्वास दिलाया कि भीमसेन अवश्य ही राक्षसको मारकर आयेगा और कहा कि 'भूदेव! आप यदि नहीं मानेंगे तो भीमसेन आपको बलपूर्वक रोककर चला जायगा। मैं उसे निश्चय भेजूँगी और आप उसे रोक नहीं सकेंगे।'

तब लाचार होकर ब्राह्मणने कुन्तीका अनुरोध स्वीकार किया।

माताकी आज्ञा पाकर भीमसेन बड़ी प्रसन्नतासे जानेको तैयार हो गये। इसी बीच युधिष्ठिर आदि चारों भाई लौटकर घर पहुँचे। युधिष्ठिरने जब माताकी बात सुनी, तब उन्हें बड़ा

दुःख हुआ और उन्होंने माताको इसके लिये उलाहना दिया। इसपर कुन्तीदेवी बोलीं—

'युधिष्ठिर ! तू धर्मात्मा होकर भी इस प्रकारकी बातें कैसे कह रहा है। भीमके बलका तुझको भलीभाँति पता है, वह राक्षसको मारकर ही आयेगा; परंतु कदाचित् ऐसा न भी हो, तो इस समय भीमसेनको भेजना ही क्या धर्म नहीं है? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—किसीपर भी विपत्ति आये तो बलवान् क्षत्रियका धर्म है कि अपने प्राणोंको संकटमें डालकर भी उसकी रक्षा करे। ये प्रथम तो ब्राह्मण हैं, दूसरे निर्बल हैं और तीसरे हमलोगोंके आश्रयदाता हैं। आश्रय देनेवालेका बदला चुकाना तो मनुष्यमात्रका धर्म होता है। मैंने आश्रयदाताके उपकारके लिये, ब्राह्मणकी रक्षारूप क्षत्रिय-धर्मका पालन करनेके लिये और प्रजाको संकटसे बचानेके लिये भीमको यह कार्य समझ-बूझकर सौंपा है। इस कर्तव्य-पालनसे ही भीमसेनका क्षत्रिय-जीवन सार्थक होगा। क्षत्रिय वीराङ्गना ऐसे ही अवसरोंके लिये पुत्रको जन्म दिया करती हैं। तू इस महान् कार्यमें क्यों बाधा देना चाहता है और क्यों इतना दुखी होता है।'

धर्मराज युधिष्ठिर माताकी धर्मसम्मत वाणी सुनकर लज्जित हो गये और बोले—'माताजी ! मेरी भूल थी। आपने धर्मके लिये भीमसेनको यह काम सौंपकर बहुत अच्छा किया है। आपके पुण्य और शुभाशीर्वादसे भीम अवश्य ही राक्षसको मारकर लौटेगा।'

तदनन्तर माता और बड़े भाईकी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर भीमसेन बड़े ही उत्साहसे राक्षसके यहाँ गये और उसे मारकर ही लौटे।
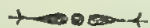
अद्भुत क्षमा

(द्रौपदीका मातृ-भाव)

महाभारतका युद्ध जिस दिन समाप्त हो गया, उस दिन श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवोंके साथ उनके शिविरमें नहीं लौटे। वे सात्यकि तथा पाण्डवोंको लेकर शिविरसे दूर वहाँ चले गये, जहाँ युद्धकालमें द्रौपदी तथा अन्य रानियाँ रहती थीं। उसी रात्रिमें द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाने पाण्डवोंके शिविरमें अग्नि लगा दी और पाण्डवपक्षके बचे हुए वीरोंको उसने सोयी दशामें मार डाला। उसने द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको भी मार दिया था।

प्रातःकाल श्रीकृष्णचन्द्रके साथ पाण्डव लौटे। शिविरकी दशा देखकर जो दुःख उन्हें हुआ, नारियोंमें जो क्रन्दन व्याप्त हुआ, उसका वर्णन व्यर्थ है। महारानी द्रौपदीकी व्यथाका पार नहीं था। उनके पाँचों पुत्रोंके मस्तकहीन शरीर उनके सामने पड़े थे।

'मैं हत्यारे अश्वत्थामाको इसका दण्ड दूँगा। उसका कटा मस्तक देखकर तुम अपना शोक दूर करना।' अर्जुनने द्रौपदीको आश्वासन दिया।

श्रीकृष्णचन्द्रके साथ जब गाण्डीवधारी अर्जुन एक रथमें बैठकर चले, तब ऐसा कोई कार्य नहीं था जो उनके द्वारा पूर्ण न हो। अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके भी बच नहीं सका। अर्जुनने उसे पकड़ लिया, किंतु गुरुपुत्रका वध करना उन्हें उचित नहीं जान पड़ा। रस्सियोंसे भली प्रकार बाँधकर रथमें डालकर वे उसे ले आये और द्रौपदीके सम्मुख खड़ा कर दिया।

अश्वत्थामाको देखते ही भीमसेनने दाँत पीसकर कहा—'इस दुष्टको तत्काल मार देना चाहिये। एक क्षण भी इसे जीवित रहनेका अधिकार नहीं।'

दयामयी देवी द्रौपदीकी दशा ही भिन्न थी। पाँच-पाँच पुत्रोंकी लाश सम्मुख पड़ी थी और उनका हत्यारा सामने खड़ा था; किंतु उन दयामयीको पुत्र-शोक भूल गया। पशुके समान बँधे, लज्जासे मुख नीचा किये अश्वत्थामाको देखकर वे बोलीं—'हाय ! हाय ! यह क्या किया आपने ? जिनकी कृपासे आप सबने अस्त्रज्ञान पाया है, वे गुरु द्रोणाचार्य ही यहाँ पुत्ररूपमें खड़े हैं; इन्हें झटपट छोड़ दीजिये, छोड़ दीजिये। पुत्र-शोक कैसा होता है, यह मैं अनुभव कर रही हूँ। इनकी पूजनीया माता कृपी देवीको यह शोक न हो, वे मेरे समान रुदन न करें। इन्हें अभी छोड़िये !'

द्रौपदीकी दया विजयिनी हुई। अश्वत्थामाके मस्तककी मणि लेकर अर्जुनने उसे छोड़ दिया। (श्रीमद्भागवत १। ७)

लगन हो तो सफलता निश्चित है

कहा जाता है कि बचपनमें पण्डित बोपदेवजीकी स्मरणशक्ति अत्यन्त क्षीण थी। वे बहुत परिश्रम करते थे, किंतु व्याकरणके सूत्र उन्हें कण्ठस्थ नहीं हो पाते थे। उनके सहपाठी उन्हें चिढ़ाया करते। गुरुदेव भी उन्हें झिड़कते थे। इन सबसे दुखी होकर बोपदेव एक दिन गुरुगृहसे भाग खड़े हुए। वे एक कुएँके पास जा बैठे। अब अध्ययन छोड़ देनेका उन्होंने विचार कर लिया था।

कुएँपर ग्रामकी नारियाँ जल भरने आती थीं। कुएँसे जल खींचकर वे घड़ेको पत्थरपर रख देती थीं तनिक देर-को और रस्सी समेटकर पीछे घड़ेको उठाती थीं। बोपदेव-ने देखा कि कुएँके मुखपर जो पत्थर है, उसमें पानी खींचने-की रस्सीसे कई गड्ढे पड़ गये हैं और जहाँ महिलाएँ घड़ा रखती हैं, वहाँ भी घड़ा रखते-रखते पत्थरमें गड्ढा बन गया है। बोपदेवके मनने कहा—'जब कोमल रस्सी और मिट्टी-का घड़ा बार-बारकी रगड़से पत्थरमें गड्ढा बना सकते हैं, तब क्या निरन्तर दृढ़ अभ्याससे तुम विद्वान् नहीं हो सकते ?'

बोपदेव वहींसे गुरुगृहमें लौट आये। वे अध्ययनमें जुट गये। सच्ची लगन और दृढ़ अभ्यासके कारण आगे वे प्रसिद्ध विद्वान् हुए। देवगिरिके यादव नरेश महादेवके वे सभापण्डित बने। पाणिनीय व्याकरणकी दुरूहता उन्होंने अनुभव की; इसीलिये मुग्धबोध नामका संस्कृतका सुगम व्याकरण बनाया।—सु० सिं०

स्वामिभक्ति धन्य है

महाराणा संग्रामसिंह स्वर्ग पधारे। मेवाड़के सिंहासनके योग्य उनका ज्येष्ठ पुत्र विक्रमादित्य सिद्ध नहीं हुआ। राजपूत सरदारोंने उसे शीघ्र सिंहासनसे उतार दिया। छोटे कुमार उदयसिंह अभी शिशु थे। उनका राज्याभिषेक तो हो गया; किंतु दासीपुत्र बनवीरको उनका संरक्षक बनाया गया। बालक राणा उदयसिंहकी ओरसे बनवीर राज्य-संचालन करने लगा।

बनवीरके मनमें राज्यका लोभ आया। एक रात्रिको वह स्वयं नंगी तलवार लेकर उठा और राजभवनमें निःशङ्क सोते राजकुमार विक्रमादित्यकी उसने हत्या कर दी। उसका यह क्रूर कर्म राजभवनमें दोने-पत्तल उठानेका काम करनेवाला सेवक देख रहा था। वह दौड़ा हुआ राणा उदयसिंहकी धाय पन्नाके पास गया। उसने बतलाया—'बनवीर इसी ओर आ रहा है।'

पन्ना दाईने दो क्षणमें कर्तव्य निश्चित कर लिया। उसने सोते हुए उदयसिंहके वस्त्र उतार लिये और उन्हें एक टोकरीमें लिटाकर ऊपरसे दोने-पत्तलसे ढक दिया। वह टोकरी उस सेवकको देकर कह दिया—'चुप-चाप राजभवनसे बाहर निकल जाओ। नगरके बाहर नदीके पास मेरी प्रतीक्षा करना।'

अपने पुत्र चन्दनको उस स्वामिभक्ता धायने उदय-सिंहके कपड़े पहिनाकर उनके पलंगपर सुला दिया। इतनेमें ही रक्तसे सनी तलवार लिये बनवीर आ पहुँचा। उसने पूछा—'उदय कहाँ है ?'

हृदयपर पत्थर रखकर पन्नाने अपने बच्चेकी ओर संकेत कर दिया। एक ही झटकेमें उस बालकका मस्तक बनवीरने शरीरसे पृथक् कर दिया। वह शीघ्रतासे वहाँसे चल दिया। पन्ना अपने पुत्रका शव लिये नदी-किनारे पहुँची। आज वह खुलकर रो भी नहीं सकती थी। पुत्रका शरीर नदीमें विसर्जित करके वह उदयसिंहको लेकर वहाँसे चली गयी।

समय आया जब कि बड़े होकर उदयसिंहने बनवीरको उसके कर्मका दण्ड दिया और मेवाड़के सिंहासनको भूषित किया। पन्ना दाईके अपूर्व त्यागने ही राणाके कुलकी रक्षा की। धन्य है ऐसी स्वामि-भक्ति। —सु० सिं०

दूसरोंका पाप छिपाने और अपना पाप प्रकट करनेसे धर्ममें दृढ़ता होती है

श्रीराममिश्रजी महात्मा पुण्डरीकाक्षजीकी सेवामें गये। बोले—'भगवन्! मेरे मनमें स्थिरता नहीं है। इसका कारण मैंने यह निश्चय किया है कि मेरी निज धर्ममें दृढ़ता नहीं है। इसलिये आप कृपापूर्वक यह बतायें कि धर्ममें दृढ़ता किस प्रकार होती है।'

उपर्युक्त संतने कहा—'जिस उपायसे दृढ़ता प्राप्त होती है,

उसे आप कर नहीं सकते; इसलिये उसका बताना व्यर्थ ही है।'

मिश्रजीने फिर कहा—'आप उसे बतायें, मैं अवश्य करूँगा। जिस किसीने जो उपाय मुझे बताया है, उसे मैंने अवश्य किया है। आप संकोच न करें। इसके लिये मैं सर्वस्व-त्याग करनेको भी तैयार हूँ।'

श्रीपुण्डरीकाक्ष—'आपने अभीतक अंधोंसे ही यह बात पूछी है, आँखवालोंसे नहीं। अंधोंकी लकड़ी पकड़कर भला, आजतक कोई गन्तव्य स्थानपर पहुँचा है।'

मिश्रजी—'हाँ, ऐसा ही हुआ है। मैंने ठोकर खाकर इसका अनुभव किया है। तभी तो आँखवालोंके पास आया हूँ।'

श्रीपुण्डरीकाक्ष—'आपके उस अनुभवमें एक बातकी कसर रह गयी है। आपमें आँखवालोंकी पहचान नहीं है, नहीं तो मेरे पास क्यों आते।'

मिश्रजीके बहुत अनुनय-विनय करनेपर आचार्य पुण्डरीकाक्षजीने उन्हें छः महीने पीछे बतानेको कहा। जब अवधि बीतनेपर मिश्रजी फिर आये, तब संतने कहा—'दूसरोंका पाप छिपाने और अपना पाप कहनेसे धर्ममें दृढ़ता प्राप्त होती है।'

इस सुन्दर उपदेशको सुनकर मिश्रजीने गद्गद स्वरसे कहा—'भगवन्! कृपाके लिये धन्यवाद! मुझे अपने सदाचारीपनका बड़ा गर्व था और दूसरोंकी बुराइयाँ सुनकर उन्हें मुँहपर फटकारना और भरी सभामें उन्हें बदनाम करना अपना कर्तव्य समझता था। उसी अंधेकी लकड़ीको पकड़कर मैं भवसागरको पार करना चाहता था। कैसी उलटी समझ थी!'

अपनी भूल समझकर पश्चात्ताप करनेसे जीवनकी घटनाओंपर विचार करनेका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। तब मनुष्य अपनी अल्पज्ञतासे सधे हुए दृष्टिकोणको छोड़कर भगवदीय दृष्टिकोणसे देखने और विचार करने लगता है।

गोस्वामीजीकी कविता

एक बार श्रीसूरदासजी बादशाह अकबरके दरबारमें विराज रहे थे। उनसे पूछा गया कि 'कविता सर्वोत्तम किसकी है, निष्पक्ष भावसे बतलाइये।' श्रीसूरदासजीने कहा—'कविता मेरी सर्वोत्तम है।' इसपर बादशाहको संतोष न हुआ। उसने आश्चर्यसे पूछा—'मैं समझ नहीं सका। आपने अपनी कविताको सबसे उत्तम कहा भी कैसे? क्या इसमें कोई रहस्य है? गोस्वामी तुलसीदासजीकी कविताके सम्बन्धमें आपका क्या मत है?'

श्रीसूरदासजीने हँसकर कहा—'गोस्वामीजीकी कविता तो कविता है ही नहीं, मैं तो उसे सर्वोत्तम महामन्त्र मानता हूँ। मैंने जो अपने काव्यकी श्लाघा की सो तो इसलिये कि उसमें सर्वत्र भगवन्नाम—यश अङ्कित है।'

इसके बाद सूरदासजीने गोस्वामीजीका पूरा परिचय तथा बड़ी प्रशंसा सुनायी।

सूरदास और कन्या

उस समय मुगलसम्राट् अकबर राज्य कर रहा था। उसके बहुत-सी हिंदू बेगमें भी थीं। उनमेंसे एकका नाम था जोधाबाई।

एक दिन जोधाबाई नदीमें नहाने गयी। वहाँ उसने देखा कि एक छोटी-सी सुकुमार लड़की पानीमें डूब-सी रही है। उसको दया आ गयी। उसने उस लड़कीको उठा लिया और घर ले आयी तथा अपनी गर्भजात कन्याकी भाँति बड़े स्नेहसे उसका लालन-पालन करने लगी। जब लड़की ग्यारह-बारह वर्षकी हो गयी, तब एक दिन जोधाबाईने देखा कि वह उसकी पेटी खोल रही है। जोधाबाई छिपकर देखने लगी कि देखूँ, वह क्या करती है। लड़कीने पेटी खोलकर एक सुन्दर-सी साड़ी पहन ली और अपनेको सजा लिया। सजकर वह ऊपर छतपर जाकर खड़ी हो गयी। वह रोज़ ऐसे ही करती।

एक दिन जोधाबाईने पूछा—'बेटी! तू ऐसा क्यों करती है?'

लड़की चुप रही, पर बार-बार आग्रह करनेपर बोली—'माँ! उस समय मेरा पति गाय चराकर लौटा करता है। उसके सामने मलिन वेषमें रहना ठीक नहीं, इसीलिये मैं ऐसा करती हूँ।'

जोधाबाई—'क्या तुम मुझको भी उसे दिखा दोगी ?'

लड़कीने कोई उत्तर नहीं दिया, किंतु दूसरे दिन जोधाबाई भी ऊपर चली गयी। कहते हैं कि उस दिन उसे केवल मुरलीकी क्षीण ध्वनि सुनायी पड़ी।

एक दिन जोधाबाई कुछ चिन्तित-सी बैठी थी। लड़कीने अपनी धर्ममातासे इसका कारण पूछा। माँने कहा—'बेटी! मैं बूढ़ी हो गयी हूँ, इसलिये तेरा पिता मुझे प्यार नहीं करता! क्या तू मुझे एक दिन अपने हाथसे सजा देगी ?'

लड़कीने अपने हाथसे माँका श्रृङ्गार कर दिया।

उधरसे अकबर निकला और जोधाबाईका सौन्दर्य देखकर चकित हो गया। उसने पूछा कि 'तुम इतनी सुन्दरी कैसे हो गयीं ?' जोधाबाईने टालनेकी बहुत चेष्टा की, पर अकबर पीछे पड़ गया। अन्तमें जोधाबाईने बात बता दी और कहा कि 'मेरी धर्मकी बेटीने मुझे इतना सुन्दर बना दिया है।' अकबरके मनमें आया कि 'मैं उस लड़कीसे विवाह कर लूँ।' किंतु ज्यों ही यह विचार आया त्यों ही उसके शरीरमें बिजलीका करेंट-सा लगा और बड़ी तीव्र जलन होने लगी। उसने बहुत कोशिश की कि औषधके द्वारा यह जलन मिट जाय। पर पीड़ा बढ़ती ही गयी। अन्तमें उसने बीरबलसे उपाय पूछा। उसने कहा कि 'आपके मनमें कोई बुरा विचार आया है। आप सूरदासजीको बुलाइये। वे चाहें तो ठीक कर दे सकते हैं।'

अकबरने बड़ी विनय करके सूरदासजीको बुलाया। उनके आते ही उसकी जलन मिटने लगी। उसी समय वह लड़की वहाँ आयी और सूरदासजीसे बोली—'आप कैसे आ गये, महात्मा ?'

सूरदासजीने हँसकर कहा—'जैसे आप आ गयीं !'

इतनेमें वह लड़की फुर्रसे जल गयी। वहाँ केवल थोड़ी-सी राख बच गयी। यह देखकर जोधाबाई रोने लगी।

सूरदासजीने जोधाबाईसे कहा—'आप रोइये मत। मैं उद्धव हूँ। जब मैं गोपियोंको समझाने गया था, उस समय मैं एक दिन किसी निकुञ्जकी ओर बिना पूछे चल पड़ा। सहसा वहाँ ललिताजी आ गयीं। ललिताजीने कहा—'यह हमारा राज्य है; आप उधर मत जाइये।'

'मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैंने उनको मर्त्यलोकमें जन्म धारण करनेका शाप दे दिया। उन्होंने भी तुरंत वैसा ही शाप मुझे भी दिया। इसीसे मैं एक अंशसे सूरदास हुआ हूँ और ललिताजी एक अंशसे आपके यहाँ आयी थीं।'

सूरदासने वह राख बटोरकर अपने सिरपर चढ़ा ली तथा वे चुप-चाप शाही महलसे बाहरकी ओर चल पड़े। —'राधा'

मेरी आँखें पुनः फूट जायँ

महात्मा श्रीसूरदासजी जन्मान्ध थे। एक बार वे अपनी मस्तीमें कहीं जा रहे थे। रास्तेमें एक सूखा कुआँ था। वे उसमें गिर गये। सात दिन हो गये। वे भगवान्‌की बड़े करुण कण्ठसे प्रार्थना कर रहे थे, उस समय भगवान्‌ने आकर उनको बाहर निकाल दिया। बाहर आकर वे अपनी नेत्रहीनतापर पछताने लगे कि 'मैं पास आनेपर भी भगवान्‌के दर्शन नहीं कर सका !'

एक दिन बैठे हुए वे ऐसे ही विचार कर रहे थे कि उन्हें श्रीकृष्ण और श्रीराधाकी बातचीत सुनायी दी।

श्रीकृष्ण—'आगे मत जाना, नहीं तो यह अंधा टाँग पकड़ लेगा।'

श्रीराधा—'मैं तो जाती हूँ'—कहकर वे सूरदाससे पूछने लगीं—'क्या तुम मेरी टाँग पकड़ लोगे ?' सूरदासजीने कहा, 'नहीं, मैं तो अंधा हूँ, क्या पकड़ूँगा।' तब श्रीराधा उसके पास जाकर अपने चरणका स्पर्श कराने चलीं। श्रीकृष्णने कहा—'आगेसे नहीं, पीछेसे टाँग पकड़ लेगा।'

फिर तो सूरदासने मनमें सोचा कि 'श्रीकृष्णने तो आज्ञा दे ही दी; अब मैं क्यों न पकड़ूँ।' यह सोचकर वे भी तैयार होकर बैठ गये। जैसे ही उन्होंने चरणस्पर्श कराया कि सूरदासने पकड़ लिया। किंतु श्रीजी भाग गयीं; हाँ, उनकी पैंजनी खुलकर सूरदासके हाथमें आ गयी।

श्रीराधा—'सूरदास! तुम मेरी पैंजनी दे दो, मुझे रास करने जाना है।'

सूरदास—'मैं अंधा क्या जानूँ, किसकी है। मैं तुमको दे दूँ, फिर कोई दूसरा मुझसे माँगे तो मैं क्या करूँगा ? हाँ, मैं तुमको देख लूँ तब तो मैं दे दूँगा।' तब श्रीराधाजी हँसीं और उन्होंने सूरदासको दर्शन दे दिया।

श्रीकृष्ण और श्रीराधाने प्रसन्न होकर सूरदाससे

कहा—'सूरदास ! तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो ।'

सूरदासने कहा—'आप देंगे नहीं !'

श्रीकृष्णने कहा—'तुम्हारे लिये कुछ भी अदेय नहीं है ।'

सूरदास—'वचन देते हैं ?'

श्रीराधा—'अवश्य ।'

सूरदासने कहा—'जिन आँखोंसे मैंने आपको देखा, उनसे मैं संसारको नहीं देखना चाहता । मेरी आँखें पुनः फूट जायँ ।'

श्रीराधा और श्रीकृष्णकी आँखें छल-छल करने लगीं और देखते-देखते सूरदासकी दृष्टि पूर्ववत् हो गयी । —'राधा'

समर्पणकी मर्यादा

महाप्रभु यह सुनकर आश्चर्यचकित हो गये कि भगवद्-विग्रहके राजभोगके लिये द्रव्यका अभाव हो चला है ।

'सोनेकी कटोरी गिरवी रख दी जाय,' महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके आदेशका तुरंत पालन हुआ । भगवान् श्रीनाथजीके समक्ष राजभोग प्रस्तुत किया गया, पर महाप्रभुके भक्तोंने इस बातपर बड़ी चिन्ता प्रकट की कि आचार्यने स्वयं प्रसाद नहीं ग्रहण किया । केवल इतना ही नहीं—महाप्रभुने दो दिनतक उपवास भी किया, अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं किया । वैष्णवोंने कारण पूछनेका साहस नहीं किया ।

दो दिनोंके बाद द्रव्य आनेपर उन्होंने प्रसाद स्वीकार किया । वैष्णवोंद्वारा कारण पूछनेपर आचार्यने कहा कि 'सोनेकी कटोरी पहलेसे ही भगवत्सेवामें अर्पित थी; उसपर भगवान्का ही अधिकार था; उसके बदलेमें लाया गया भोग भगवान् तो ग्रहण कर सकते हैं, पर उनके इस भोगका प्रसाद लेना मेरे लिये महापातक था ।' आचार्यने व्यवस्था कर दी कि मेरे वंशमें या मेरा कहलाकर जो कोई भगवद्द्रव्यका उपयोग करेगा उसका नाश हो जायगा । —रा० श्री०

भागवत-जीवन

मध्यकालीन भक्त संत कुम्भनदासका जीवन समग्ररूपसे श्रीकृष्णके चरणारविन्दमें समर्पित था । वे उच्चकोटिके त्यागी थे । व्रजके निकट जमुनावतो ग्राममें खेती कर अपनी जीविका चलाते और भगवान् श्रीनाथजीकी सेवामें उपस्थित होकर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी आज्ञासे कीर्तन सुनाया करते थे ।

एक समयकी बात है । बादशाह अकबरके दाहिने हाथ महाराजा मानसिंहका व्रजमें आगमन हुआ था । जिस समय वे श्रीनाथजीका आरती-दर्शन कर रहे थे, उस समय वीणा और मृदङ्गके सहारे महात्मा कुम्भनदासजी प्रेमोन्मत्त होकर प्रभुके चरणोंमें कीर्तन समर्पित कर रहे थे । महाराजा उनकी कीर्तन-शैलीसे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उनके निवास-स्थानपर जाकर मिलनेका निश्चय किया ।

× × ×

राजवैभवने भगवान्के भक्तका दरवाजा खटखटाया । महाराजा मानसिंह उनके घरपर उपस्थित हुए । कुम्भनदास स्नान करके तिलक करने जा रहे थे कि महाराजाने उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया ।

'मेरा दर्पण और आसनी तो लाओ ।' कुम्भनदासने अपनी भतीजीको आदेश दिया ।

'बाबा, दर्पण पड़ियाने पी लिया है और आसनी भी खा गयी ।' भतीजीके मुखसे ऐसे शब्द सुनकर मानसिंह आश्चर्यचकित हो गये और जब उन्हें पता चला कि ये पानीमें मुख देखकर तिलक लगाते हैं और पुआलसे आसनीका काम लेते हैं, तब उनकी श्रद्धा गङ्गा और यमुनाकी बाढ़के समान बढ़ गयी । उन्होंने अपना सोनेका दर्पण कुम्भनदासके हाथमें रख दिया ।

'मेरा घर तो एक झोंपड़ीमात्र है । इस दर्पणसे मेरी आन्तरिक शान्ति नष्ट हो जायगी और चोर-डाकू जान लेनेपर तुल जायँगे ।' महात्माने दर्पण लौटा दिया ।

'महाराज ! मेरी बड़ी इच्छा है कि जमुनावतो ग्राम आपके नाम लग जाय ।' मानसिंहका मस्तक नत था संतके चरणपर ।

'मेरी सबसे बड़ी जागीर है श्रीनाथजीकी सेवा ।' कुम्भनदासने प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया । राजा मानसिंहने मोहरोंकी थैली भेंटमें दी ।

'नरेश ! व्रजके करील और बेर मेरे सबसे बड़े मोदी हैं ।' कुम्भनदासने थैली लौटा दी ।

महाराजा मानसिंहका रोम-रोम पुलकित हो उठा । कण्ठ अवरुद्ध हो गया ।

'महाभागवत ! मैंने आपका दर्शन पाकर परमधन प्राप्त कर लिया । आपका भागवत-जीवन धन्य है । व्रजदेशकी श्रीकृष्णभक्तिकी गोद सदा फूले-फले । मुझे प्रकाश मिल गया ।' राजा मानसिंहने सादर अभिवादन किया और चले गये । —रा० श्री०

हाथोंमें थाम लिया

एक बार भक्त चतुर्भुजदासजी अपने गुरुके साथ कहीं तीर्थ-यात्रा करने जा रहे थे। पर उनका मन जानेका नहीं था; क्योंकि वहाँके भगवान्में उनका मन बहुत रम रहा था।

किंतु जब जाना पड़ा, तब वे बहुत व्याकुल हो गये और एक पेड़पर चढ़कर मन्दिरको देखने लगे। देखते-देखते इतने मस्त हो गये कि पेड़से गिर पड़े। उसी समय भगवान् वहाँ आ गये और उन्होंने अपने हाथोंमें थाम लिया। उस समय भगवान्के विरहमें जो पद उन्होंने गाया, वह इस प्रकार है। कहते हैं श्रीनाथजीने उसी समय उन्हें यह वरदान दिया कि जो कोई इस पदको भावसे प्रतिदिन गायेगा, उसे वे साक्षात् दर्शन देनेको बाध्य होंगे। पद इस प्रकार है :—

श्रीगोबरधनवासी साँवरे लाल, तुम बिन रह्यौ न जाय।
ब्रजराज लड़ैते लाड़ले हो, तुम बिन रह्यौ न जाय॥
बंक चितै मुसुकाय कैं लाल, सुंदर बदन दिखाय।
लोचन तलफैं मीन ज्यौं लाल, पल-छिन कलप बिहाय॥
सप्तक स्वर बंधान सों लाल, मोहन बेनु बजाय।
सुरत सुहाई बाँधि कै लाल, मधुरैं-मधुरैं गाय॥
रसिक रसीली बोलनी लाल, गिरि चढ़ गैयाँ बुलाय।
गाँग बुलाई धूमरी, नैंक ऊँची टेर सुनाय॥
दृष्टि परे जा दिवस तें लाल, तब तें रुचै न आन।
रजनी नींद न आवई, मोहि बिसर्यौ भोजन-पान॥
दरसन कौं नयना तपैं लाल, बचन सुनन कौं कान।
मिलिबे कौं हियरा तपै, मेरे जिय के जीवन प्रान॥
पूरन ससि मुख देखि कै लाल, चित चौंट्यो वहि ओर।
रूप सुधा रस पान कैं लाल, सादर कुमुद-चकोर॥
मन अभिलाषा ह्वै रही लाल, लगत न नयन निमेष।
इकटक देखूँ भावँतौ प्यारौ, नागर नटवर भेष॥
लोक लाज कुल बेद की लाल, छाँड्यौ सकल बिबेक।
कमल कली रबि ज्यों बढ़ै लाल, छिन-छिन प्रीति बिसेष॥
कोटिक मनमथ वारने लाल, देखत डगमगि चाल।
जुवती जन-मन फंदना लाल, अंबुज नयन बिसाल॥
कुंज-भवन कीड़ा करौ लाल, सुखनिधि मदनगुपाल।
हम श्रीवृंदाबन मालती, तुम भोगी भ्रमर भुवाल॥
यह रट लागी लाड़िले लाल, जैसैं चातक मोर।
प्रेम नीर बरषा करौ लाल, नवघन नंदकिसोर॥
जुग जुग अबिचल राखिये लाल, यह सुख सैल निवास।
श्रीगोवर्धनधर रूप पै, बलि जाय चतुर्भुजदास॥

भगवान्की कृपासे उनके गुरुजीके मनमें भी आ गया कि उनको न ले जायँ; बस, उनको वहींसे वापस लौटा दिया।

व्यासजीकी प्रसादनिष्ठा

(लेखक—श्रीवासुदेवजी गोस्वामी)

महात्मा हरिराम व्यासजी घर छोड़कर संवत् १६१२ में ओरछासे वृन्दावन चले आये थे। उस समय इनकी अवस्था ४५ वर्षकी थी। श्रीराधाकृष्णकी लीलाओंमें इनका मन रम चुका था। भक्तोंको ये अपने इष्टदेवके समान मानते थे। भगवान्के प्रसादकी पावनता इनके विचारसे सर्वोपरि थी और वे मानते थे कि—

स्वान प्रसादहि छी गयौ, कौआ गयौ बिटारि।
दोऊ पावन ब्यास के कह भागौत बिचारि॥

इनसे इस प्रकारकी बातें सुनकर कुछ लफंगोंने प्रसादके प्रति इनकी उस परम निष्ठाकी परीक्षा लेनेका विचार किया। एक दिन व्यासजीके निकटसे श्रीठाकुरजीका प्रसाद और संतोंके भोजनका जूँठन लिये हुए एक भंगिन निकली। उसे देखकर उन लोगोंने व्यासजीसे कहा—'महाराज! ठाकुरजीका प्रसाद तो इससे लीजिये।' यह सुनते ही व्यासजीने उस भंगिनके सामने प्रसादके लिये हाथ फैला दिये। पहले तो वह भंगिन कुछ झिझकी, किंतु जब अन्य लोगोंने व्यासजीको प्रसाद देनेके लिये उसे प्रोत्साहित किया, तब उसने अपनी डलियामेंसे एक पकौड़ी उठाकर व्यासजीकी हथेलीपर रख दी। भगवान्के उस प्रसादका बड़ी श्रद्धासे भोग लगाकर व्यासजी गाने लगे—

हमारी जीवन मूरि प्रसाद।
अतुलित महिमा कहत भागवत, मेटत सब प्रतिबाद॥
जो षटमास ब्रतनि कीनें फल, सो एक सीथ के स्वाद।
दरसन पाप नसात, खात सुख, परसत मिटत विषाद॥

देत-लेत जो करै अनादर, सो नर अधम गवाद ।
श्रीगुरु सुकल प्रताप 'ब्यास' यह रस पायौ अनहाद ॥

यह देखकर सभी लोग दंग रह गये। व्यासजीने उन्हें सुनाया—

'ब्यास' जाति तजि भक्ति कर, कहत भागवत टेरि ।
जातिहि भक्तिहि ना बनै, ज्यों केरा ढिंग बेरि ॥
'ब्यास' कुलीननि कोटि मिलि पंडित लाख पचीस ।
स्वपच भक्त की पानही तुलै न तिन के सीस ॥

'ब्यास' मिठाई विप्र की तामें लाग आग ।
बृंदावन के स्वपच की जूँठिन खैये माँग ॥

व्यासजीके इस प्रकारके अनेक पुनीत चित्र हैं, जिन्हें देखकर ही महात्मा ध्रुवदासजीने उनके लिये लिखा था—

प्रेम-मगन नहिं गन्यौ कछु बरनाबरन विचार ।
सबन मध्य पायौ प्रगट कै प्रसाद रस-सार ॥

अनन्य आशा

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

कवि श्रीपतिजी निर्धन ब्राह्मण थे, पर थे बड़े तपस्वी, धर्मपरायण, निर्भीक भगवद्भक्त । भगवान्में आपका पूर्ण विश्वास था । आप भिक्षा माँगकर लाते, उसीसे अपने परिवारका पालन-पोषण करते। ब्राह्मणी आपसे बार-बार कहती—'नाथ ! आप कोई काम कीजिये, जिससे घरका काम चले ।' पर आप उसे यही उत्तर देते कि 'ब्राह्मणोंका परम धर्म भजन करना ही है।' एक दिन पत्नीने आपको बहुत विवश करके प्रार्थना की—'आप इतने बड़े कवि हैं और आपका काव्य-सौन्दर्य अत्यन्त मन-मोहक है । सुना है बादशाह अकबरको कविता सुननेका बहुत शौक है। आप उनके दरबारमें एक बार अवश्य जायँ।' पत्नीके बहुत आग्रह करनेपर श्रीपतिजी अकबरके दरबारमें गये और गुणग्राही बादशाहको जब अपनी स्वरचित कवितामें भगवान् श्रीरामके गुणसमूहको सुनाया, तब बादशाह गद्गद हो गये और इनको अपने दरबारमें रख लिया। ये दरबारी कवि हो गये, परंतु इन्होंने बादशाहकी प्रशंसामें कभी एक भी रचना नहीं की; ये केवल भगवत्सम्बन्धी रचना ही करते थे। दरबारके दूसरे कविगण दिन-रात बादशाहके गुण-गानमें ही लगे रहते थे। वे मानो भगवान्‌की सत्ताको ही भूले हुए थे। अकबर श्रीपतिजीकी कवितापर प्रसन्न होकर उन्हें समय-समयपर अच्छा इनाम दिया करते थे, इससे वे सब इनसे जलते थे। उन सबने मिलकर इन्हें नीचा दिखानेकी युक्ति सोची और बादशाहको समझानेकी चेष्टा की कि श्रीपति तो आपका अपमान करता है।

एक दिन दरबारमें सबने मिलकर एक समस्या रक्खी—'करौ मिलि आस अकब्बरकी' और प्रस्ताव किया कि कल सब कवि इसी समस्याकी पूर्ति करें। सबने सोचा—'देखें अब श्रीपति क्या करते हैं।' उन्हें कहाँ पता था कि यह लोभी टुकड़खोर ब्राह्मण नहीं है, यह तो भगवान्‌का परम विश्वासी है। दूसरे दिन दरबारमें भीड़ लग गयी । सभीकी दृष्टि श्रीपतिजीकी ओर थी। इधर श्रीपतिजी भगवान्पर विश्वास करके निश्चिन्त अपने स्थानपर बैठे प्रभुका स्मरण कर रहे थे। सब कवियोंने बारी-बारीसे बादशाहकी प्रशंसामें लिखी कविताएँ सुनायीं । सबने दिल खोलकर अकबरकी प्रशंसाके पुल बाँधे । तदनन्तर भक्त श्रीपतिजीकी बारी आयी। वे निर्भय निश्चिन्त मुसकराते हुए उठे और उन्होंने निम्नलिखित कवित्त सुनाया—

अबके सुलतां फनियान समान हैं, बाँधत पाग अटब्बरकी ।
तजि एक को दूसरे को जु भजै, कटि जीभ गिरै वा लब्बरकी ॥
सरनागत 'श्रीपति' रामहि की, नहिं त्रास है काहुहिं जब्बरकी ।
जिनको हरिमें परतीति नहीं, सो करौ मिलि आस अकब्बरकी ॥

इस कवित्तको सुनते ही सब द्वेषी लोग भौंचक्के हो गये, उनके होश गुम हो गये और चेहरे फीके पड़ गये। भगवत्प्रेमी दरबारी और दर्शकोंके मुख खिल उठे। बादशाह प्रसन्न हो गये श्रीपतिजीकी निष्ठा और रचना-चातुरी देखकर। धन्य विश्वास !

ब्रज-रजपर निछावर

लगभग ढाई सौ वर्ष पहलेकी बात है । बादशाह मुहम्मदशाहके खास-कलम—मीर-मुंशी थे कविवर घनानन्द। वे ब्रजरसके महान् रसिक थे। जीवनके अन्तिम दिनोंमें किसी घटना-विशेषके कारण बादशाहने उन्हें दिल्ली छोड़ देनेका आदेश दे दिया । तब वे वृन्दावन चले आये और एक पेड़के नीचे संन्यास ग्रहण करके श्रीकृष्ण-की भक्तिमें रँग गये ।

नादिरशाहने भारतवर्षपर आक्रमण किया । उसके

सैनिकोंने दिल्लीके आस-पासके जनपदोंमें भयंकर लूटपाटका दृश्य उपस्थित कर दिया । सैनिक हत्या और लूटपाट करते वृन्दावन पहुँच गये । उन्हें पता चल गया कि बादशाहके मीर-मुंशी वृन्दावनमें ही रहते हैं । वे घनानन्दके पास पहुँच गये ।

'जर, जर, जर ।' सैनिकोंने खजाना माँगा । उनका विश्वास था कि बादशाहके खास-कलमको खजानेका पता अवश्य होगा । पर घनानन्द तो आज श्रीकृष्णके भक्ति-राज्यके खजांची थे । उनके पास परमधन व्रज-रजके सिवा दूसरा पदार्थ था ही क्या ।

'रज, रज, रज'—तीन बार 'रज' शब्दका उच्चारण करके रसिक संतने सैनिकोंके शरीरपर धूलि फेंक दी । सैनिकोंने समझा कि मीर-मुंशी विनोद कर रहे हैं; उन्होंने तत्काल घनानन्दका एक हाथ काट डाला ।

'मेरे प्राण अधरतक आ गये हैं और सुजान—श्रीकृष्णका संदेश लेकर निकलना चाहते हैं !' उनके अन्तिम शब्द थे । घनानन्दने व्रजरजपर अपने-आपको निछावर कर दिया ।—रा० श्री०

प्रसादका अपमान

प्रसादो जगदीशस्य अन्नपानादिकं च यत् ।
ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत् ॥

नरेशका हृदय जला जा रहा था । वे मन-ही-मन छटपटा रहे थे । अशान्ति बढ़ती जा रही थी । बात यह थी कि वे नियमपूर्वक प्रतिदिन भोजनके पूर्व प्रभु श्रीजगन्नाथजीका प्रसाद लिया करते थे । प्रसादके बिना वे भोजनका स्पर्श भी नहीं करते थे । प्रसादमें बड़ी निष्ठा थी उनकी । किंतु उस दिन पाकशालामें पुजारीने प्रसाद नहीं दिया था । कारण यह था कि महाराज चौपड़ खेल रहे थे । खेलमें वे तन्मय थे । उसी समय पुजारीजी भगवत्-प्रसाद लेकर पहुँचे । नरेशने चौपड़ खेलते हुए प्रसादको बायें हाथसे स्पर्श कर दिया । पुजारीजीसे प्रसादका अपमान नहीं सहा गया और उस दिन उन्होंने पाकशालामें प्रसाद नहीं दिया । उन्होंने नरेशको प्रसाद देनेका अधिकारी नहीं समझा ।

धार्मिक नरेश व्यथित थे । उनका हृदय बैठा जा रहा था । 'प्रसादका अपमान करनेवाला अङ्ग अनावश्यक है ।' अपनी इस धारणाके अनुसार उन्होंने अपना दाहिना हाथ अलग कर देनेका निश्चय कर लिया था ।

'मेरे शयनकक्षमें खिड़कीसे हाथ डालकर एक प्रेत प्रतिदिन मुझे डराता है ।'—नरेशने हाथ कटानेकी युक्ति सोचकर अपने मन्त्रीसे कहा ।

'रात्रिमें आपके साथ मैं भी शयन करूँगा' मन्त्रीने नरेशको निर्भीक रहनेका आश्वासन दिया ।

× × × ×

दूसरे दिन प्रातःकाल जब मन्त्रीको विदित हुआ कि खिड़कीसे हाथ डालकर हिलानेवाले महाराज ही थे और प्रेतके विचारसे मैंने अपनी तीक्ष्ण तलवारसे परम पुण्यात्मा नरेशका दाहिना हाथ काटकर अलग कर दिया है, तब उनके मनमें बड़ा खेद हुआ । वे पश्चात्ताप करने लगे । किंतु नरेश आनन्द-निमग्न थे । उनकी आकृतिपर हँसी खेल रही थी ।

× × × ×

श्रीपुजारीजीको प्रसाद लाते देखकर नरेशने दौड़कर उनका स्वागत किया और प्रसादके लिये ललककर एक हाथ बढ़ाया, तो दूसरा हाथ भी निकल आया; यह पूर्व हाथकी अपेक्षा अधिक सुन्दर था । राजाके नये हाथके निकल आनेसे मन्त्री और सारी प्रजा भगवान्की जय-जयकार करने लगी ।

गहत प्रसाद हाथ जमि आयौ । सकल पुरी जय-जय-रव छायौ ॥

× × × ×

श्रीजगन्नाथजीके आदेशानुसार पुजारीजीने नरेशका कटा हाथ एक खेतमें गाड़ दिया । वही दानाके पौदोंके रूपमें उग आया । 'दाना' भगवान्को अबतक नित्य चढ़ाया जाता है । उसकी सुगन्ध प्रभुको अत्यन्त प्रिय लगती है ।—शि० दु०

लीलामयकी लीला

'मन बड़ा चञ्चल होता है !' श्रीनारायणदासजी बदरिकाश्रमसे मथुरा आये थे । वहाँ प्रभुके दर्शनार्थियोंका ताँता लगा रहता था । दर्शनार्थी अपने-अपने उपानह् छोड़कर दर्शन करने जाते थे । उन्हें देखकर वे मन-ही-मन विचार कर रहे थे, 'भक्त-गण भगवान्के दर्शन करने तो जाते हैं, किंतु उनका मन उपानहोंकी चिन्तामें पूर्ण पवित्र नहीं रह पाता होगा ।' बस, उन्होंने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया ।

वे प्रभुकी देहरीसे थोड़ी दूरपर खड़े रहते । भक्तगण

दर्शनके लिये आते । आप अत्यन्त आदर तथा प्रेमसे उनके उपानहोंकी देख-भाल करते । दर्शनार्थी निश्चिन्त होकर प्रभुके दर्शन कर आते । इससे दर्शनार्थियोंको बड़ी सुविधा रहने लगी और श्रीनारायणदासजीको इससे बड़ी तृप्तिकर शान्ति प्राप्त होती थी ।

× × ×

'मेरी गठरी सिरपर रख ले और मेरे साथ चल !' भक्तकी अत्यन्त सरलता देखकर एक व्यक्तिने अभिमानके साथ कहा ।

'अच्छी बात है !' आपने गठरी सिरपर उठा ली और उस व्यक्तिके साथ हो लिये । भगवदिच्छा समझकर उन्होंने गठरी ढोनेमें भी आपत्ति नहीं की । व्यक्ति उन्हें साधारण मनुष्य समझ रहा था ।

'महाराज !' गठरी ढोते हुए श्रीनारायणदासजीके युगल चरणोंपर एक परिचित पुरुष गिर पड़ा । 'आप यह क्या कर रहे हैं ?' सहसा उसके मुँहसे निकल गया । वह आश्चर्य-विस्फारित नेत्रोंसे श्रीनारायणदासजीकी ओर देख रहा था ।

'प्रभुकी इच्छा ही अपनी इच्छा है ।' वैराग्यके प्रतीक साधुने सीधे शब्दोंमें उत्तर दे दिया ।

गठरीवाला व्यक्ति अब उन्हें समझ सका । उसका मस्तक आपके चरणोंपर था । उसके नेत्र अश्रु बरसा रहे थे । वह मन-ही-मन छटपटा रहा था ।

'तुम्हारा कोई दोष नहीं है, भैया !' बड़े प्यारसे उसे उठाकर सहलाते हुए आपने कहा । 'यह तो उस लीलामयकी लीला है ।'

संत-स्पर्शसे उस व्यक्तिके पाप धुल गये । उसका मन पवित्र हो गया । पूर्वके शुभ-संस्कार जाग्रत् हो गये । वह मन और कर्म दोनोंसे दुष्ट था । परंतु उस दिन उसने श्रीनारायणदासजीसे दीक्षा ले ली और फिर घर लौटकर नहीं गया । उसका जीवन बदल गया । वह स्वयं तो सिद्ध साधु हुआ ही, उसके सम्पर्कमें आनेवालोंको भी प्रभु-प्रेमकी प्राप्ति हुई ।

× × ×

भक्त श्रीनारायणदासजीकी संसारमें तनिक भी आसक्ति नहीं थी । प्रभुमें भक्ति और प्रेम आपका अद्वितीय था । आप सदैव भगवन्नामका जप किया करते थे । साधु-संत तथा दीन-दुखी, स्त्री-पुरुष, सबकी—उन्हें नारायणका स्वरूप समझकर—आप बड़े प्रेमसे सेवा करते थे और इस प्रकार अपूर्व सुखका अनुभव करते थे । आपके द्वारा बदरिकाश्रमके मनुष्योंका तो उपकार ही हुआ; अन्यत्र भी जहाँ कहीं जो भी आपके सम्पर्कमें आया, उसका जीवन पावन हो गया । वह प्रभुके चरणोंकी प्रीति पाकर कृतार्थ हो गया । —शि० दु०

मरते पुत्रको बोध

ठाकुर मेघसिंह बड़े प्रजाप्रिय और न्यायकारी जागीरदार थे । भगवान्‌के विश्वासी भक्त थे । वे इतने साधु-स्वभाव थे कि बुरा करनेवालेमें भी भलाई देखते थे ।

भगवत्-कृपा तथा भगवान्‌के मङ्गल-विधानमें उनका अटूट विश्वास था । ठाकुर मेघसिंहके एक ही कुमार था—सज्जनसिंह । सोलह वर्षकी उम्र थी । शील, सौन्दर्य और गुणोंका भंडार था वह । अभी तीन ही महीने हुए उसका विवाह हुआ था । भगवान्‌के विधानसे वह एक दिन घोड़ेसे गिर पड़ा और उसके मस्तकमें गहरी चोट आयी । थोड़ी देरके लिये तो वह चेतनाशून्य हो गया, परंतु कुछ ही समय बाद उसको चेत हो आया । यथासाध्य पूरी चिकित्सा हुई, पर घावमें कोई सुधार नहीं हुआ । होते-होते घाव बढ़ गया और उसका जहर सारे शरीरमें फैल गया । अब सबको निश्चय हो गया कि सज्जनसिंहके प्राण नहीं बचेंगे । सज्जनसिंहसे भी यह बात छिपी नहीं रही । उसके चेहरेपर कुछ उदासी आ गयी । ठाकुर मेघसिंह पास बैठे विष्णुसहस्रनामका पाठ कर रहे थे । उसे उदास देखकर उन्होंने हँसते हुए कहा—'बेटा ! तुम्हारे चेहरेपर उदासी क्यों है । अभी तुम मेरे पुत्र हो, मेरी जागीरके मालिक हो, तुम्हें मेरे कुँअरका पद मिला है । यह सब तुम्हारे गोपालजीके मङ्गलविधानसे ही हुआ है । अब उन्हींके मङ्गलविधानसे तुम साक्षात् उनके पुत्र बनने जा रहे हो । अब तुम्हें उनके कुँअरका पद मिलेगा और तुम दिव्यधामकी जागीरीके अधिकारी बनोगे । यह तो बेटा ! हर्षका समय है । तुम प्रसन्नतासे जाओ, मङ्गलमय प्रभुसे मेरा नमस्कार कहना और यह भी कहना कि मेघसिंहके आपके धाममें तबादिलेकी भी कोई व्यवस्था हो रही है क्या ? मुझे कोई जल्दी नहीं है; क्योंकि मुझे तो सदा चाकरीमें रहना है, चाहे जहाँ रक्खें; परंतु इतना अवश्य होना चाहिये कि आपकी चाकरीमें हूँ, मुझे इसका स्मरण सदा बना रहे ।

'बेटा ! यहाँके संयोग-वियोग सब उन लीलामयके

लीलासंकेतसे होते हैं और होते हैं हमारे मङ्गलके लिये! इस बातका जिसको पता है, वह न तो दुःखके संयोगसे दुखी होता है न सुखके वियोगसे। उसे तो सभी समय सभी संयोग-वियोगोंमें, सभी दुःख-सुखोंमें सदा अखण्ड सुख, अखण्ड शान्ति और अखण्ड तृप्तिका अनुभव होता है। तुम भगवान्के मङ्गलसंकेतसे ही यहाँ आये और उनके मङ्गल-संकेतसे मङ्गलमयकी चरणधूलि प्रत्यक्ष प्राप्त करने जा रहे हो। इसमें जरा भी संदेह मत करो। संशयवान्का ही पतन होता है। विश्वासी तथा श्रद्धालु तो हँसते-हँसते प्रभुके धाममें चला जाता है। तुम श्रद्धाको दृढ़ताके साथ पकड़े रहो, विश्वासको जरा भी इधर-उधर मत होने दो। यहाँसे जाकर तुम वहाँ उस अपरिसीम अनन्त आनन्दको प्राप्त करोगे कि फिर यहाँकी सभी सुखकी चीजें उसके सामने तुम्हें तुच्छ दिखायी देंगी। रही कुअँरानीकी बात सो उसकी कोई चिन्ता मत करो। वह पतिव्रता है। यहाँ साधुभावसे जीवन बिताकर वह भी दिव्य-धाममें तुम्हारे साथ ही श्रीगोपालजीकी चरणसेविकाका पद प्राप्त करेगी। बेटा! विषयोंका चिन्तन ही पतनका हेतु होता है, फिर स्त्री-पुरुषके विषयी जीवनमें तो प्रत्यक्ष विषय-सेवन होता है। प्रत्यक्ष नरक-द्वारोंमें अनुराग हो जाता है। अतएव वह पतनका निश्चय हेतु है। भगवान्ने दया करके उन नरक-द्वारोंकी अनुरक्ति और सेवासे कुअँरानीको मुक्त कर दिया है। वह परम भाग्यवती और साध्वी है, इसीसे उसपर यह अनुग्रह हुआ है। वह तपोमय जीवन बितायेगी और समय-पर भगवान्के दिव्यधाममें तुमसे आ मिलेगी। तुम्हारी माताको तो भगवान्के मङ्गलविधानपर अखण्ड विश्वास है ही। उसे तो सर्वत्र सर्वथा मङ्गल ही दीखता है। बेटा! तुम सुखसे यात्रा करो। स्वयं हँसते-हँसते और सबको हँसाते हुए जाओ। जब सबको यह विश्वास हो जायगा कि तुम वहाँ जाकर यहाँकी अपेक्षा कहीं अनन्तगुने विशेष और अधिक सुखकी स्थितिको प्राप्त करोगे, तब तुम्हारे वियोगमें दुःखका अनुभव होनेपर भी सच्चे प्रेमके कारण तुम्हारे सुखसे वे सभी परम सुखी हो जायँगे। पर यह विश्वास उन सबको तभी होगा, जब तुम विश्वास करके हँसते-हँसते जाओगे।'

ठाकुरकी इन सच्ची बातोंका सज्जनसिंहपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसका मुखमण्डल दिव्य आनन्दकी निर्मल ज्योतिसे उद्भासित हो उठा। उसके होठोंपर मधुर हँसी छा गयी; उसका ध्यान भगवान् गोपालजीके मधुर श्रीविग्रहमें लग गया और उसके मुखसे भगवन्नामका उच्चारण होने लगा। फिर देखते-ही-देखते ब्रह्माण्ड फटकर उसके प्राण निकलकर दिव्यधाममें पहुँच गये।

ठाकुर, ठकुराइन, कुअँरानी—सभी वहाँ उपस्थित थे। परंतु सभी आनन्दमग्न थे। मानो अपने किसी परम प्रिय आत्मीयको शुभ आनन्दमय स्थानकी शुभ यात्रामें सहर्ष सोत्फुल्ल हृदयसे विदा दे रहे हों।

ठाकुर, ठकुराइन, कुअँरानी—तीनोंने ही अपने जीवनको और भी वैराग्यसे सुसम्पन्न किया, भगवत्-रंगमें विशेषरूपसे रँगा और अन्तमें यथासमय इस अनित्य मर्त्यलोकसे सदाके लिये छूटकर भगवद्धाममें प्रयाण किया।

चोरका हृदय पलटा

श्रीगदाधर भट्ट बड़े ही रसिक तथा भगवद्विश्वासी भक्त थे। ये श्रीचैतन्यमहाप्रभुके समकालीन थे। एक दिन रातको भट्टजीके घरमें एक चोरने सेंध लगायी। मालमतेकी गठरी बाँधकर चोर ले जाना चाहता था; परंतु गठरी बहुत भारी हो गयी थी, वह उसे उठा नहीं पा रहा था। इतनेमें भट्टजी लघुशङ्काको उठे और चोरकी यह दशा देखकर उन्हें बड़ी दया आयी। उन्होंने प्रेमसे कहा 'लो, मैं उठाये देता हूँ।' चोरने भट्टजीको देखते ही भागना चाहा। भट्टजीने उसे आश्वासन देते हुए कहा—'भैया! भागते क्यों हो। कोई डर नहीं है; तुम्हें जरूरत थी, इसीसे इतनी अँधेरी रातमें तुम इतने कष्टसे लेने आये हो!' चोर लज्जित हो गया। भट्टजीके बड़े आग्रहसे चोर गठरी अपने घर ले गया, परंतु उसका मन बदल चुका था। वह सबेरे गठरी लेकर लौटा और भट्टजीके चरणोंपर गिरकर रोने लगा। भट्टजीने उसे हृदयसे लगा लिया। चोरका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। वह सदाके लिये साधुचरित्र हो गया।

सम्पत्तिके सब साथी, विपत्तिका कोई नहीं

धनदत्त नामक सेठके घर एक भिखारी आया। सेठ उसे एक मुट्ठी अन्न देने लगे तो उसने अस्वीकार कर दिया। झुँझलाकर सेठ बोले—'अन्न नहीं लेता, तब क्या मनुष्य लेगा?'

भिखारी भी अद्भुत हठी था। उसे भी क्रोध आ गया। उसने कहा—'अब तो मैं मनुष्य ही लेकर हटूँगा।' बैठ गया वह सेठके द्वारपर और अन्न-जल छोड़ दिया उसने। सेठ घबराये, उन्होंने उसे बहुत धन देना चाहा; किंतु भिखारी तो हठपर आ गया था। वह अड़ा हुआ था—'या तो मैं यहीं मरूँगा या मनुष्य लेकर उठूँगा।'

सेठजी गये राजाके मन्त्री तथा अन्य अधिकारियोंके पास सम्मति लेने। सबने कहा—'मर जाने दो उस मूर्खको।'

सेठजी लौट आये, किंतु थे बुद्धिमान्। उनके मनमें यह बात आयी कि अभी तो मन्त्री तथा राजकर्मचारी यह बात कहते हैं; किंतु यदि भिक्षुक सचमुच मर गया तो मेरी रक्षा करेंगे या नहीं, यह देख लेना चाहिये। वे फिर मन्त्रीके पास गये और बोले—'भिक्षुक तो मर गया।'

मन्त्री चौंक पड़े। कहने लगे—'सेठजी! यह तो बुरा हुआ। आपको उसे किसी प्रकार मना लेना था। यह मृत्यु आपके द्वारपर हुई। नियमानुसार इसकी जाँच होगी और उसमें आप निमित्त सिद्ध होंगे। पता नहीं आपको क्या दण्ड मिलेगा। मेरा कर्तव्य है इस काण्डकी सूचना राजाको दे देना। आप मुझे क्षमा करें। सरकारी कर्मचारी होनेसे मैं आपको कोई सलाह नहीं दे सकता।'

सेठजीने कहा—'धन्यवाद! मैं हँसी कर रहा था। वह अभी जीवित है।'

घर लौटकर सेठजीने कुछ सोचा और पत्नीको ले जाकर भिक्षुकके सामने खड़ी करके बोले—'तुम्हें मनुष्य ही लेना है न? इनको ले जाओ।'

भिक्षुक उठ खड़ा हुआ। वह बोला—'ये तो मेरी माता हैं। मैं अपनी बात सत्य करनेको अड़ा था, वह सत्य हो गयी। भगवान् आपका मङ्गल करें।' वह चला गया वहाँसे। —सु० सिं०

श्रीधर स्वामीका संन्यास

परम भागवत श्रीधर स्वामी पूर्वाश्रममें दिग्विजयी पण्डित थे। एक समय वे दिग्विजय करके घर लौट रहे थे। रास्तेमें डाकुओंने आपको घेर लिया। तब वे आँखें मूँदकर मन-ही-मन अपने इष्टदेव भगवान् श्रीरामचन्द्रका स्मरण करने लगे। उसी क्षण डाकुओंको दिखायी दिया कि एक नवदूर्वादल-श्याम तेजस्वी तरुण धनुष-बाण लिये ललकार रहा है। डाकू डर गये और उन्होंने श्रीधरजीके चरणोंपर गिरकर दीन भावसे कातर प्रार्थना की—'महाराज! आपके साथी ये श्याम-सुन्दर युवक हमें बाणोंसे मार डालना चाहते हैं—बचाइये, बचाइये।' यह सुनकर श्रीधरजी मन-ही-मन बड़े दुखी हुए और उन्होंने सोचा कि तुच्छ धनकी रक्षाके लिये मेरे प्रभुको कितना कष्ट सहना पड़ रहा है। उन्हें वैराग्य हो गया और वे उसी क्षण संसार छोड़कर काशी चले गये और वहाँ श्रीपरमानन्द स्वामीजीसे संन्यास लेकर श्रीनृसिंह-मन्त्रकी दीक्षा प्राप्त की।

विकट तपस्वी

'महाराज! हमें जिनकी खोज थी, वे मिल गये।' मन्त्रीने शिविरमें प्रवेश करके महाराजा वीरसिंहको शुभ सूचना दी। महाराजा सरिता-तटकी ओर चल पड़े। उन्हें स्वप्नमें किसी महान् शक्तिने प्रेरणा दी थी कि महात्मा मधुसूदन सरस्वतीकी सेवा करनेसे संतान-प्राप्ति होगी। महाराजा वीरसिंह अपनी राजधानीसे थोड़ी दूरपर एक सरिताके किनारे कई दिनोंसे शिविरमें निवास कर रहे थे।...वे प्रसन्नतासे आगे बढ़ रहे थे और उनके पीछे-पीछे महामन्त्री और असंख्य सैनिक थे।

'महाराज! भगवान्की कृपासे आपका दर्शन हो सका।' राजाने तपस्वीसे सपनेकी बात कही, पर वे कुछ बोले ही नहीं। उन्होंने पलक उठाकर देखा तक नहीं! पिछले चौदह

वर्षोंसे नयनोंको बंद करके तथा मौन-व्रत लेकर वे एकान्त-सेवनमें लीन थे। राजा वीरसिंह उनकी विकट तपस्यासे आश्चर्यचकित हो गये; पर उनके मनमें यह बात अच्छी तरह बैठ गयी कि उन्हें मधुसूदन सरस्वतीका दर्शन हुआ है। महामन्त्रीको उस स्थानपर एक विशाल मन्दिरके निर्माणका आदेश देकर वे अपनी राजधानीमें लौट आये।

× × ×

तीन वर्ष बीत गये। एक दिन अचानक महात्मा मधुसूदन सरस्वतीने नेत्र खोल दिये। उन्होंने अपने आपको एक विशाल राजमन्दिरमें पाया। भगवान्‌के श्रीविग्रहका दर्शन किया। मन्दिरमें राजभोग आदिका उत्तम प्रबन्ध देखकर वे किसी विशेष चिन्तामें लीन हो गये।

'भैया! इस माया-मन्दिरका निर्माण किसने कराया? मेरी कुटी कहाँ चली गयी?' महात्माने पुजारीसे प्रश्न किया।

पुजारीके मुखसे वीरसिंहका वृत्तान्त सुनकर वे आश्चर्य-चकित हो गये।

दो-चार क्षण विचार करनेके बाद वे उठ पड़े। उन्होंने सदाके लिये मन्दिरका परित्याग कर दिया और तपस्याके लिये बाहर निकल गये।

कितने विकट तपस्वी थे वे। उनका जीवन धन्य था।

—रा० श्री०

निर्मलाकी निर्मल मति

पण्डित विश्वनाथजी भगवान् रामके परम भक्त थे। उनकी एकमात्र संतान निर्मला बड़ी गुणवती थी। विश्वनाथजीने परम सुशील सुन्दर और सदाचारी युवक गुलाबरायसे उसका विवाह किया। पर विधाताका विधान कौन टाल सकता है। साल भरके बाद ही हैजेसे उसका देहान्त हो गया। विश्वनाथपर मानो वज्रपात हुआ, उनका हृदय आकुल हो उठा; परंतु प्रभु रामजीकी भक्तिने उनको सँभाला। आकुलतामें ही उनका मन रामजीके चरणोंमें चला गया। विश्वनाथजी रो-रोकर मानसिक भावोंसे राम-जीकी पूजा करने लगे। प्रभु रामजीने भक्तपर कृपा की। वे स्वप्नमें अपने संत-सुखदायी सर्वदुःखहारी मङ्गलमय युगल स्वरूपमें दिव्य-सिंहासनसहित प्रकट हो गये और भक्त विश्वनाथजीको ढाढ़स बँधाते हुए बोले—'भैया विश्वनाथ! इतने आतुर क्यों हो रहे हो! जानते नहीं मेरा प्रत्येक विधान मङ्गलमय होता है? निर्मलाको यह वैधव्य तुम्हारे और उसके कल्याणके लिये ही प्राप्त हुआ है। सुनो! पूर्व-जन्ममें भी तुम सदाचारी ब्राह्मण थे। वहाँ भी निर्मला तुम्हारी कन्या थी। तुम्हारा नाम था जगदीश और निर्मला-का नाम था सरस्वती। तुममें और सरस्वतीमें सभी सद्‌गुण थे। परंतु तुम्हारे पड़ोसमें एक क्षत्रियका घर था, वह बड़ा ही दुष्टहृदय था। वह मनसे बड़ा कपटी, हिंसक और दुराचारी था; परंतु ऊपरसे बहुत मीठा बोलता था। वह बातें बनानेमें बहुत चतुर था। सद्‌गुणी होनेपर भी उसके कुसङ्गसे तुम्हारे हृदयपर कुछ कालिमा आ गयी थी, वह सरस्वतीको कुदृष्टिसे देखता था। उसके बहकावेमें आकर सरस्वतीने अपने पतिका घोर अपमान किया था और तुमने उसका समर्थन किया था। सरस्वतीके पतिने आकुल होकर मन-ही-मन सरस्वतीको और तुमको शाप दे दिया था। यद्यपि उसके लिये यह उचित नहीं था, तथापि दुःख-में मनुष्यको चेत नहीं रहता। उसी शापके कारण निर्मला इस जन्ममें विधवा हो गयी है और तुम्हें यह संताप प्राप्त हुआ है। पतिके तिरस्कारके सिवा सरस्वतीका जीवन बड़ा पवित्र रहा। उसने दुराचारी पड़ोसीके बुरे प्रस्तावको ठुकरा दिया। जीवन भर तुलसीजीका सेवन, एकादशीका व्रत और रामनामका जाप करती रही। तुम इसमें उसके सहायक रहे। इसीसे तुमको और उसको दूसरी बार फिर वही ब्राह्मणका शरीर प्राप्त हुआ है और मेरी कृपासे तुम दोनोंके हृदयमें भक्ति आ गयी है। मेरी भक्ति एक बार जिसके हृदयमें आ जाती है, वह कृतार्थ हुए बिना नहीं रहता। भक्तिका यह स्वभाव है कि एक बार जिसने उसको अपने हृदयमें धारण कर लिया, उसको वह मेरी प्राप्ति कराये बिना नहीं मानती। बड़ी-बड़ी रुकावटोंको हटाकर, बड़े-बड़े प्रलोभनोंसे छुड़ाकर वह उसे मेरी ओर लगा देती है और मुझे ले जाकर उसके हृदयमें बसा देती है। मैं भक्तिके वश रहता हूँ—यह तो प्रसिद्ध ही है। तुमलोगोंपर यह जो दुःख आया है, यह भक्तिदेवीकी कृपासे तुम्हारे कल्याणके लिये ही आया है। यह दुःख तुम्हारे सारे दुःखोंका सदाके लिये नाश कर देगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

विश्वनाथ विचित्र स्वप्न देखकर जगे हुए पुरुषकी भाँति चकित-से रह गये। इतनेमें ही निर्मला सामने आ

गयी। निर्मलाको देखकर विश्वनाथका हृदय फिर भर आया। उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। वे दुःसह मर्मपीड़ासे व्यथित हो गये। परंतु निर्मलाकी साधना बहुत ऊँची थी। वह अपने वैधव्यकी हालतको खूब समझती थी, परंतु वह साधनाकी जिस भूमिकापर स्थित थी, उसपर वैधव्यकी भीषणताका कुछ भी प्रभाव नहीं था। उसने कहा, 'पिताजी! आप विद्वान्, ज्ञानी और भगवद्भक्त होकर रोते क्यों हैं? शरीर तो मरणधर्मा है ही। जड पञ्चभूतोंसे बने हुए शरीरमें तो मुर्दापन ही है। फिर उसके लिये शोक क्यों करना चाहिये? यदि शरीरकी दृष्टिसे देखा जाय तो स्त्री अपने स्वामीकी अर्द्धाङ्गिनी है। उसके आधे अङ्गमें वह है और आधे अङ्गमें उसके स्वामी हैं। इस रूपमें स्वामीका विछोह कभी होता ही नहीं। सती स्त्रीका स्वामी तो सदैव अर्धाङ्गरूपमें उसके साथ मिला हुआ ही रहता है। अतएव सती स्त्री वस्तुतः कभी विधवा होती ही नहीं। वह विलासके लिये विवाह नहीं करती, वह तो धर्मतः पतिको अपना स्वरूप बना लेती है। ऐसी अवस्थामें—पृथक् शरीरके लिये रोनेकी क्या आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्वकी बात तो यह है कि सारा जगत् ही प्रकृति है, पुरुष—स्वामी तो एकमात्र भगवान् श्रीरघुनाथजी ही हैं। श्रीरघुनाथजी अजर, अमर, नित्य, शाश्वत, सनातन, अखण्ड, अनन्त, अनामय, पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। प्रकृति कभी उनके अंदर सोती है, कभी बाहर उनके साथ खेलती है। प्रकृति उनकी अपनी ही स्वरूपा शक्ति है। इस प्रकृतिसे पुरुषका वियोग कभी होता ही नहीं। पुरुषके बिना प्रकृतिका अस्तित्व ही नहीं रहता। अतएव हमारे रघुनाथजी नित्य ही हमारे साथ हैं। आप इस बातको जानते हैं, फिर भी आप रोते क्यों हैं। कर्मकी दृष्टिसे देखें तो जीव अपने-अपने कर्मवश जगत्में जन्म लेते हैं, कर्मवश ही सबका परस्पर यथायोग्य संयोग होता है, फिर कर्मवश ही समयपर वियोग हो जाता है। कर्मजनित यह सारा सम्बन्ध अनित्य, क्षणिक और मायिक है। यह नश्वर जगत् संयोग-वियोगमय ही तो है। यहाँपर नित्य क्या। इस संयोग-वियोगमें हर्ष-विषाद क्यों होना चाहिये।

'फिर भगवान्का भक्त तो प्रत्येक बातमें भगवान्के मङ्गलमय विधानको देखकर विधानके रूपमें स्वयं विधाताका स्पर्श पाकर प्रफुल्लित होता रहता है, चाहे वह विधान देखनेमें कितना ही भीषण क्यों न हो। अतएव पिताजी! आप निश्चय मानिये—भगवान्ने हमारे परम मङ्गलके लिये ही यह विधान किया है, जो जगत्की दृष्टिमें बड़ा ही अमङ्गलरूप और भयानक है। आप निश्चिन्त रहिये, हमारा परम कल्याण ही होगा।'

निर्मलाके दिव्य वचन सुनकर विश्वनाथजीकी सारी पीड़ा जाती रही। उन्होंने कहा—'बेटी! तू मानवी नहीं है, तू तो दिव्यलोककी देवी है। तभी तेरे ऐसे भाव हैं। तूने मुझको शोकसागरसे निकाल लिया। मैं धन्य हूँ, जो तेरा पिता कहलाने योग्य हुआ हूँ।'

मेरा उगना कहाँ गया ?

बाणेश्वर महादेवके समक्ष विद्यापति मधुर कण्ठसे कीर्तन करते रहते और आँखोंसे झर-झर अश्रु झरता रहता—

कखन हरब दुख मोर।
हे भोलानाथ।
दुखहि जनम भेल दुखहि गमाएब।
सुख सपनहु नहि भेल, हे भोलानाथ।

× × ×

मन विद्यापति मोर भोलानाथ गति।
देहु अभय वर मोहि, हे भोलानाथ॥

आशुतोषको प्रसन्न होते कितनी देर लगती। एक दिन एक व्यक्ति आया। जितना वह सुन्दर था और जैसी उसकी मीठी बातें थीं—विद्यापति मन्त्रमुग्ध-से उसकी ओर देखते रह गये। आखिर उसने विद्यापतिसे अपनेको नौकर रख लेनेकी याचना की। विद्यापतिने भी सहर्ष स्वीकार कर लिया। उसका नाम था 'उगना'। अब आगे उगना ही विद्यापतिकी समस्त सेवाएँ किया करता।

'उगना! भैया! पानी पिला सकोगे? बड़ी प्यास लगी है।'—चलते-चलते विद्यापति थक गये थे। लंबी यात्रा थी। साथमें केवल उगना था।

उगना समीपकी वृक्षावलीकी ओटमें गया और कुछ ही देर बाद हाथमें जलसे भरा लोटा लेकर लौट आया। विद्यापति जल पीने लगे, किंतु जलका स्वाद भी कहीं इतना मधुर होता है! यह तो निश्चय ही भागीरथीका जल है।—विद्यापति एकटक अपने सेवकको देख रहे थे।

'उगना ! यह तो निस्संदेह गङ्गाजल है। कहाँ पाया तुमने ?'—बार-बार विद्यापति पूछते और उत्तरमें उगना केवल इतना ही कह देता—'निकटसे ही लाया हूँ।'

विद्यापति गङ्गाजल एवं कूप-जलका भेद न कर सकें, यह सम्भव नहीं। उगनाका उत्तर उनका समाधान न कर सका। किंतु यह उगना भी वञ्चना करे—यह तो सोचनेकी बात ही नहीं। वे क्या करते, मौन हो गये। फिर तो सहसा उगनाके स्थानपर उनके आराध्यदेव भगवान् शंकरका श्रीविग्रह व्यक्त हो गया और विद्यापति उनके श्रीचरणोंमें लोटने लगे। उनकी जटासे वैसे ही सुरसरिकी धारा प्रसरित होकर आकाशमें विलीन होती जा रही थी और अभी उस लोटेमें जल उस पुनीत प्रवाहसे ही आया था।

'विद्यापति ! तुम्हें छोड़कर मैं रह नहीं सकता। किंतु सावधान ! इस रहस्यको किसीपर प्रकट न करना; अन्यथा 'उगना'को फिर नहीं देख पाओगे।'—आकाशमें ये शब्द गूँजने लगे और फिर उन देवाधिदेवके स्थानपर उगना हँसने लगा।

यात्रासे लौटे हुए अपने पतिका गृहिणीने स्वागत किया। उगनाने भी गृहस्वामिनीकी वन्दना की, किंतु अब विद्यापति दूसरे थे। एक क्षण भी उन्हें उगनाके बिना चैन नहीं। सेवाके क्रममें भी पर्याप्त अन्तर था। 'उगना मेरे स्वामीकी सेवा करता है या मेरे स्वामी उगनाकी मनुहार करते हैं ?'—गृहिणीके लिये यह समस्या-सी बन गयी थी और वह अपने नौकरके इस व्यवहारसे पद-पदपर चिढ़ने लगी थी।

'तबका गया तू अब आ रहा है, कब मैंने तुझे भेजा था वह लानेके लिये। बहुत सिर चढ़ गया है तू !'—एक मोटा-सा ईंधनका चैला लेकर गृहस्वामिनी उगनापर टूट पड़ीं।

'अरी, हाय री अधमे ! क्या कर रही है ? मेरे स्वामी साक्षात् महादेवको चैलेसे मारेगी तू !'—विद्यापतिने अपनी पत्नीको दौड़कर धक्का दे दिया। किंतु अब उगना तो अन्तर्हित हो चुका था।

विद्यापति विक्षिप्त होकर न जाने कितने दिन पुकारते रहे—

उगना रे मोर कतए गेला।
कतए गेला सिव कीदहु भेला॥
भाँग नहिं बटुआ रुसि बैसलाह।
जोहि हेरि आनि देल, हँसि उठलाह॥
जे मोर कहता उगना उदेस।
ताहि देबओं कर कँगना बेस॥
नंदन बनमें भेटल महेस।
गौरि मन हरषित मेटल कलेस॥
विद्यापति मन उगना सों काज।
नहि हितकर मोर त्रिभुवन राज॥

गृह-कलह रोकनेके लिये आत्मोत्सर्ग

राजपूतोंमें विजयादशमीके दिन आखेट करनेकी प्रथा चली आ रही है। मेवाड़के राणा प्रताप तथा उनके छोटे भाई शक्तसिंह सैनिकोंके साथ इस तिथिको आखेटके लिये निकले थे। दोनों भाई साथ ही आखेट कर रहे थे। संयोगवश एक मृग दोनोंकी दृष्टिमें एक साथ पड़ा। दोनोंने उसपर साथ ही बाण चलाया।

मृग तो बाणोंके आघातसे मर गया; किंतु एक विवाद उठ खड़ा हुआ कि मृग मरा किसके बाणसे। राणा कह रहे थे—'मेरे बाणसे यह मरा।' शक्तसिंह कह रहे थे—'इसे मैंने मारा है।' यह छोटी-सी बात इतनी बढ़ गयी कि दोनों भाइयोंने तलवार खींच ली। दोनोंमें युद्ध छिड़ गया।

'ठहरो ! युद्ध बंद करो।' राजपुरोहितने दूरसे ही दोनोंको पुकारकर रोका और दौड़े हुए वहाँ आये। दोनोंको उन्होंने समझाया—'देश इस समय संकटमें है। विधर्मियोंके आक्रमण आये दिन होते ही रहते हैं। ऐसे समय यह कैसी मूर्खता है कि मेवाड़की आशाके दो आधार परस्पर ही लड़ मरनेको उद्यत हैं।'

ब्राह्मणने राणाको समझाया कि शक्तसिंहको बालक समझकर उसीको विजयी मान लें। शक्तसिंहको समझाया कि वे ही बड़े भाईका सम्मान करें। दोनोंको शपथें दीं; किंतु क्रोधमें अच्छे विचारवान् भी विवेकशून्य हो जाते हैं। दोनों भाइयोंमें कोई झुकनेको प्रस्तुत नहीं था।

कोई उपाय नहीं रहा, तब राजपुरोहित नंगी तलवार लिये परस्पर आघातको उद्यत दोनों भाइयोंके बीचमें खड़े-खड़े बोले—'यदि रक्तपानके बिना तुम्हारा क्रोधरूपी पिशाच

शान्त नहीं होता तो वह ब्राह्मणका रक्त-पान करे। मैंने मेवाड़का अन्न खाया है, मेवाड़की मिट्टीसे यह शरीर बना है, मैं मेवाड़को गृह-कलहसे नष्ट होते नहीं देख सकता।' ब्राह्मणने कटार निकालकर अपनी छातीमें मार ली। दोनों भाइयोंके बीचमें उनका शरीर भूमिपर गिर पड़ा। दोनों भाइयोंके मस्तक लज्जासे झुक गये।—सु० सिं०

स्वामिभक्ति

मारवाड़—जोधपुरके अधिपति जसवंतसिंहके स्वर्गवासके बाद दिल्लीनरेश औरंगजेबने महारानीके पुत्र अजीतसिंहका उत्तराधिकार अस्वीकार कर दिया। उसने जसवंतसिंहके दीवान आशकरणके वीर पुत्र दुर्गादासको आठ हजार स्वर्ण-मुद्राओंका उत्कोच प्रदानकर अल्पवयस्क राजकुमार और उसकी माताकी रक्षासे विमुख करना चाहा, पर दुर्गादास वशमें न आ सके। औरंगजेबने अपने राजमहलमें ही अजीतसिंहके पालन-पोषणका आश्वासन दिया, पर राजपूतोंने उसका विश्वास नहीं किया। दुर्गादासने राजकुमारकी प्राण-रक्षा की और जबतक वह राजकार्य सँभालनेके योग्य नहीं हो सका, तबतक उसको इधर-उधर छिपाते रहे। दुर्गादासकी स्वामिभक्ति तथा वीरतासे अजीतसिंहने मारवाड़का आधिपत्य प्राप्त किया।

× × ×

'आपने बचपनमें मेरी बड़ी ताड़ना की है। आपने मेरा अभिभावक बनकर मुझे जितना दुःख दिया, उसे सोचनेपर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्या आप जानते नहीं थे कि मैं एक दिन मारवाड़के राजसिंहासनपर बैठूँगा? कठोर बर्तावके लिये मैं आपको कड़े-से-कड़ा दण्ड प्रदान करता हूँ।' अजीतसिंहके इस कथनसे समस्त राजसभा विस्मित थी। वृद्ध दुर्गादासके चेहरेपर तनिक भी शिकन नहीं थी। उनका मौन प्रकट कर रहा था कि वे स्वामीकी आज्ञासे प्रसन्न हैं।

'आप एक मिट्टीका टूटा-फूटा करवा लेकर जोधपुरकी गलियोंमें भिक्षाटन कीजिये। इतना दण्ड पर्याप्त है।' अजीतसिंहका आदेश था।

दुर्गादासने अपने नरेशका अभिवादन किया और राजदण्डको कार्यरूप प्रदान करनेके लिये राजसभासे बाहर निकल गये।

× × ×

एक दिन महाराजा अजीतसिंह घोड़ेकी पीठपर सवार होकर राजप्रासादकी ही ओर जा रहे थे। उनके साथ अनेक सेवक थे। वे राजसी ठाटमें थे। महाराजाने सहसा घोड़ेकी रास रोक ली राजपथपर। दुर्गादास एक धनीके मकानके सामने खड़े थे। हाथमें वही फूटा मिट्टीका करवा था, तनपर फटे वस्त्र थे, चेहरेपर झुर्रियाँ थीं, पर आँखमें विचित्र तेज था।

'आप प्रसन्न तो हैं?' महाराजाका प्रश्न था।

'मेरी प्रसन्नताकी भी कोई सीमा है क्या? आपकी राजधानीमें सब-के-सब समृद्ध हैं, सोने-चाँदीके पात्रमें भोजन करते हैं। अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते हैं। केवल मैं बिना घरका हूँ; कभी भोजन मिलता है, कभी फाँका करना पड़ता है। केवल करवा ही मेरी एकमात्र सम्पत्ति है। यदि मैंने आपको कड़ाईसे न रक्खा होता, आपमें अनेक शिथिलताएँ आने देता, तो मैं भी आज इन्हीं लोगोंकी तरह सुखी रहता और ये लोग एक अन्यायी शासकके राज्यमें दरिद्र हो जाते।' दुर्गादासने अजीतसिंहको प्रेमभरी दृष्टिसे देखा। वे प्रसन्न थे।

महाराजा घोड़ेपरसे कूद पड़े। उन्होंने दुर्गादासका आलिङ्गन किया। आँखोंसे सावन-भादों बरस रहे थे दोनोंकी।

'मैं आपकी स्वामिभक्तिकी परीक्षा ले रहा था, इसीलिये दण्डका स्वाँग किया था। आप तो मेरे पिताके समान हैं।' महाराजाने अपने अभिभावकके साथ पैदल चलकर राजप्रासादमें प्रवेश किया।—रा० श्री०

आतिथ्य-निर्वाह

मारवाड़के ही नहीं, समग्र भारतीय इतिहासमें दुर्गादास राठौड़का नाम अमर है। जिस समय औरंगजेबकी सारी कुचेष्टाओंको विफलकर वे कुमार अजीतसिंहकी रक्षामें तत्पर थे, दिल्लीश्वरने अपने पुत्र आजम और अकबरकी अध्यक्षतामें मेवाड़ और मारवाड़को जीतनेके लिये महती सेना भेजी। अकबर दुर्गादासके शिष्ट व्यवहार और सौजन्यसे प्रभावित होकर उनसे मिल गया। औरंगजेबको यह बात अच्छी नहीं लगी, वह हाथ धोकर दोनोंके पीछे पड़ गया। अकबर

ईरान चला गया। दिल्लीश्वरको जब यह पता चला कि अकबरके पुत्र बुलंद अख्तर और पुत्री सफायतुन्निशा जोधपुरमें ही हैं तो उन्हें दिल्ली लानेके लिये उसने ईश्वरदास नागरको अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा। दुर्गादासने दोनोंको इस बातपर लौटाना स्वीकार कर लिया कि औरंगजेब जोधपुरके राजसिंहासनपर जसवंतसिंहके पुत्र अजीतसिंहका आधिपत्य स्वीकार कर ले। वे सफायतुन्निशाको साथ लेकर दरबारमें उपस्थित हुए, पर बुलन्द अख्तरको जोधपुरमें ही रक्खा, जिससे औरंगजेब उन्हें शिवाजी महाराजकी ही तरह धोखा न दे सके।

× × ×

'बेटी! तुमने अपने जीवनको विधर्मीके संरक्षणमें बिताया है। तुम्हें हमारे धर्मका तनिक भी ज्ञान नहीं है। इसलिये तुम्हें तुरंत कुरानके पाठमें लग जाना चाहिये।' औरंगजेबने अपनी सोलह सालकी पौत्रीको समझाया; वह ब्रह्मपुरीके शिविरमें था।

'यह आप क्या कह रहे हैं, बड़े अब्बा? सम्माननीय दुर्गादासने केवल पुत्रीकी तरह मेरा लालन-पालन ही नहीं किया, स्वाभिमानी राजपूत सरदारने मुझे कुरानका पाठ पढ़ानेके लिये एक मुस्लिम महिला भी नियुक्त कर दी थी। मुझे सारा-का-सारा कुरान कण्ठ है। विश्वास न हो तो ईश्वरदास नागरसे ही पूछ लीजिये।'

'वाह! क्या बढ़िया बात सुनायी तुमने। इन हिंदुओंकी धार्मिक सहिष्णुता तो इन्हींकी मौलिक सम्पत्ति है। आतिथ्यका मर्म कोई इनसे सीखे।' औरंगजेबका मस्तक आदरसे विनत हो गया।

'यह तो हमारा कर्तव्य था, दिल्लीश्वर! समस्त प्राणिमात्र परमात्माकी संतान हैं। सारे धर्मोंमें परमात्माकी ही सत्ता—सत्यकी महिमाका ही वर्णन है। हमारा वैर दिल्लीके राजसिंहासनके अन्यायी अधिपतिसे है, औरंगजेब और उसकी पौत्रीसे द्वेष ही नहीं है।' दुर्गादासने शिविरमें प्रवेश करके दिल्लीश्वरको अपने कथनसे मुग्ध कर लिया।

'आप देवता हैं, दुर्गादास! अतिथिका सम्मान करनेवाला परमात्माका प्यारा होता है।' औरंगजेबने वीर राठौड़को सम्मानपूर्ण स्थानपर आसन प्रदान किया। अजीतसिंह जोधपुरके महाराज मान लिये गये। दुर्गादासने आदरपूर्वक बुलंद अख्तरको दिल्ली भेज दिया।—रा० श्री०

परमात्मा सर्वव्यापक है

गुरु नानकदेवजी यात्रा करते हुए कराची, बिलोचिस्तानके स्थलमार्गसे मक्का पहुँच गये थे। जब रात्रि हुई, तब वे काबाकी परिक्रमामें काबाकी ओर ही पैर करके सो रहे। सबेरे मौलवियोंने उन्हें इस प्रकार सोते देखा तो क्रोधसे लाल होकर डाँटा—'तू कौन है? खुदाके घरकी ओर पैर पसारे पड़ा है, तुझे शरम नहीं आती?'

गुरुने आँखें खोलीं और धीरेसे कहा—'मैं तो थका-हारा मुसाफिर हूँ। जिधर खुदाका घर न हो, उधर मेरे पैर मेहरबानी करके कर दीजिये।'

मौलवी लोगोंको और क्रोध आया। उनमेंसे एकने गुरु नानकका पैर पकड़कर झटकेसे एक ओर खींचा; किंतु उसने देखा कि गुरुके पैर जिधर हटाता है, काबा तो उधर ही दीख पड़ता है। अब तो वे लोग उन महान् संतके चरणोंपर गिर पड़े।

गुरु नानकदेवने उन्हें समझाया—'परमात्मा सर्वव्यापक है। उसका घर किसी एक ही स्थानमें है, यह मानना अज्ञान है।'—सु० सिं०

गरीबके दानकी महिमा

गुजरातकी प्रसिद्ध राजमाता मीणलदेवी बड़ी उदार थी। वह सवा करोड़ सोनेकी मोहरें लेकर सोमनाथजीका दर्शन करने गयी। वहाँ जाकर उसने स्वर्ण-तुलादान आदि किये। माताकी यात्राके पुण्य-प्रसङ्गमें पुत्र राजा सिद्धराजने प्रजाको लाखों रुपयेका लगान माफ कर दिया। इससे मीणलके मनमें अभिमान आ गया कि मेरे समान दान करनेवाली जगत्‌में दूसरी कौन होगी। रात्रिको भगवान् सोमनाथजीने स्वप्नमें कहा—'मेरे मन्दिरमें एक बहुत गरीब स्त्री यात्रा करने आयी है, तू उससे उसका पुण्य माँग।'

सबेरे मीणलदेवीने सोचा, 'इसमें कौन-सी बड़ी बात है। रुपये देकर पुण्य ले लूँगी।' राजमाताने गरीब स्त्रीकी खोजमें आदमी भेजे। वे यात्रामें आयी हुई एक गरीब

ब्राह्मणीको ले आये । राजमाताने उससे कहा—'अपना पुण्य मुझे दे दे और बदलेमें तेरी इच्छा हो, उतना धन ले ले ।' उसने किसी तरह भी स्वीकार नहीं किया । तब राजमाताने कहा—'तूने ऐसा क्या पुण्य किया है, मुझे बता तो सही ।'

ब्राह्मणीने कहा—'मैं घरसे निकलकर सैकड़ों गाँवोंमें भीख माँगती हुई यहाँतक पहुँची हूँ । कल तीर्थका उपवास था । आज किसी पुण्यात्माने मुझे जैसा-तैसा थोड़ा-सा बिना नमकका सत्तू दिया । उसके आधे हिस्सेसे मैंने भगवान् सोमेश्वरकी पूजा की । आधेमेंसे आधा एक अतिथिको दिया और शेष बचे हुएसे मैंने पारण किया । मेरा पुण्य ही क्या है । आप बड़ी पुण्यवती हैं; आपके पिता, भाई, स्वामी और पुत्र—सभी राजा हैं । यात्राकी खुशीमें आपने प्रजाका लगान माफ करवा दिया । सवा करोड़ मोहरोंसे शंकरकी पूजा की । इतना पुण्य कमानेवाली आप मेरा अल्प-सा दीखनेवाला पुण्य क्यों माँग रही हैं ? मुझपर कोप न करें तो मैं निवेदन करूँ ।'

राजमाताने क्रोध न करनेका विश्वास दिलाया । तब ब्राह्मणीने कहा—'सच पूछें तो मेरा पुण्य आपके पुण्यसे बहुत बढ़ा हुआ है । इसीसे मैंने रुपयोंके बदलेमें इसे नहीं दिया । देखिये—१. बहुत सम्पत्ति होनेपर भी नियमोंका पालन करना, २. शक्ति होनेपर भी सहन करना, ३. जवान उम्रमें व्रतोंको निबाहना और ४. दरिद्र होकर भी दान करना—ये चार बातें थोड़ी होनेपर भी इनसे बड़ा लाभ हुआ करता है ।'

ब्राह्मणीकी इन बातोंसे राजमाता मीणलदेवीका अभिमान नष्ट हो गया । शंकरजीने कृपा करके ही ब्राह्मणीको भेजा था ।

'अंत न होइ कोई आपना'

सवारने एँड़ लगायी और घोड़ा रुक गया भैंसावा ग्रामकी सीमापर ।

'समुझि लेओ रे मना भाई ।
अंत न होइ कोई आपना ॥'

महात्मा ब्रह्मगिरिके शिष्य साधु मनरंगीर बड़ी मस्तीसे यह पद गा रहे थे ।.........सवारने घोड़ा रोक दिया; हृदयमें संतके शब्द-बाण लग चुके थे, इसलिये विकलता बढ़ती जा रही थी ।

'महाराज ! आप अपने चरणोंमें मुझे स्थान दीजिये । आपके शब्दामृतसे मुझे नया जीवन मिल गया । मेरा कल्याण हो गया ।' सवारने घोड़ेसे उतरकर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक महात्मा मनरंगीरके चरणोंमें माथा टेक दिया ।

'अब मुझसे हरकारेका काम नहीं हो सकता, चाहे भामगढ़के राव साहब प्रसन्न हों या अप्रसन्न । मैं भगवान्के भजनामृतका त्याग करके सांसारिक प्रपञ्चका विष नहीं पी सकता ।' सवारके उद्गार थे ।

'सिंगाजी ! वास्तवमें आपने संतका हृदय पाया है । आप धन्य हैं ।' महात्मा मनरंगीरने सिंगाजीके त्यागकी प्रशंसा की । वे मध्यप्रदेशके नीमाड़ मण्डलमें भामगढ़के राव साहबकी डाक ले जाया करते थे । उनका वेतन एक रुपया था । सिंगाजीने राव साहबकी नौकरी छोड़ दी और साधु मनरंगीरकी कृपासे पीपाल्याके जंगलमें कुटी बनाकर भगवान्के भजनमें तल्लीन हो गये । उन्होंने अनेक पद रचे । संत सिंगाजी तुलसीदासके समकालीन थे ।—रा० श्री०

शेरको अहिंसक भक्त बनाया !

गड़मण्डलके राजा पीपाजी राज-काज छोड़ रामानन्द स्वामीके शिष्य बने और उनकी आज्ञासे द्वारकामें हरि-दर्शनार्थ गये । दर्शन करके अपनी पत्नीसहित लौट रहे थे कि रास्तेमें उन्हें एक महाव्याघ्र मिला ।

रानी शेरको देख कातर हो उठी । राजाने उसे समझाया—'अरी ! घबराती क्यों है । गुरुदेवने सर्वत्र हरिरूप देखनेका जो उपदेश दिया था, वह भूल गयी ? मुझे तो इसमें हरिरूप ही दीख रहा है । और हरिसे भय कैसा ।'

रानी कुछ आश्वस्त हुई । राजाने गलेसे तुलसी-माला निकाल व्याघ्रके गलेमें डाल दी और उसे एक कृष्ण-मन्त्रका उपदेश देते हुए कहा—'मृगेन्द्र ! इसे जपो; इसीके प्रतापसे वाल्मीकि, अजामिल, गजेन्द्र—सभी तर गये ।'

राजाकी निष्ठा और सर्वत्र देवदृष्टि शेरपर भी काम कर गयी। उसने हाथ जोड़ा और वह जप करने लगा। पीपाजी वहाँसे चले गये।

सात दिनतक शेर जंगलमें घूमता, मांस त्यागकर सूखे पत्ते चबाता हरिजप करता रहा। अन्तमें उसने हरि-भजन करते हुए प्राण त्यागा। दूसरे जन्ममें वही जूनागढ़का परम हरिभक्त नरसी मेहता बना। गो० न० बै०

(भक्तिविजय, अध्याय २६)

संसारसे सावधान !

सूर्याजी पंतका सुपुत्र नारायण बचपनसे ही विरक्त-सा रहता, तप और ज्ञानार्जनमें ही उसका बचपन बीता। माँ पुत्रवधूका मुँह देखनेके लिये उतावली हो रही थी। आखिर पिताने वह योग जुटा ही दिया।

बारह वर्षका किशोर नारायण बरातियोंकी भीड़में धूम-धाम और बाजे-गाजेके साथ विवाह-मण्डपमें पहुँचा। ब्राह्मणोंने अन्तःपट लगाया। एक ओर वधू हाथमें सौभाग्य-माल लेकर अखण्ड सौभाग्यके लिये गौरीको मना रही थी तो दूसरी ओर वरराज प्राप्त ज्ञानके आधारपर प्रपञ्चसे सावधान रहनेका चिन्तन कर रहे थे। आज्ञाकी ही देर थी।

मङ्गलाष्टक शुरू हुए। ब्राह्मणोंने 'शुभ मङ्गल, सावधान!' कहा! 'संसारकी दुःखप्रद बेड़ी तुम्हारे पैरोंमें पड़ने जा रही है, इसलिये सावधान!' नारायणको यह अर्थ समझते देर न लगी। 'ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः' नारायण तत्काल उठकर भाग निकला।

बारह वर्ष कठोर तप और फिर अखिल भारतके तीर्थोंकी यात्रा करता, प्रपञ्चमें परमार्थ-साधनाके साथ सावधानताका उपदेश देता वह साधु अपने इष्ट-देवकी कृपासे 'रामदास' और फिर 'समर्थ' बन गया। गो० न० बै० (साधुसंताच्या गोष्टी, प्रथम भाग)

जो तोकौं काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल !

समर्थ रामदास शिष्योंके साथ शिवाजी महाराजके पास जा रहे थे। रास्तेमें ईखका खेत पड़ा। शिष्योंने गन्ने तोड़-तोड़कर चूस लिये। खेतका मालिक दौड़ा। उसे देखकर शिष्य भाग गये। केवल समर्थ ही एक पेड़के नीचे बैठे थे। मालिकने सोचा—इसी गोसाईंने हमारे गन्ने तुड़वाये हैं। उसने उन्हें खूब पीटा और वहाँसे भगा दिया। धरित्रीके समान अन्तरमें अपार क्षमा-शान्ति रखनेवाले समर्थने चूँतक नहीं किया।

वे शिवाजी महाराजके पास पहुँचे। समर्थकी पीठपर कोड़ोंके घाव देख उन्होंने जाँच करवायी। ईखका मालिक गिरफ्तारकर उनके सामने लाया गया। शिवाने पूछा—'गुरो! इसे क्या दण्ड दूँ ?'

समर्थने सारा दोष अपने ऊपर ले लिया और शिवाजी महाराजसे उसे क्षमा कर देनेके लिये कहा। इतना ही नहीं, उन्होंने ईखका वह खेत उसे इनाममें दिलवा दिया। गो० न० बै०

(साधुसंताच्या गोष्टी, भाग १)

अम्बादासका कल्याण

(लेखक—श्रीयुत मा० परांडे)

इन श्रीकल्याणजीका पहला नाम था—अम्बादास। छोटी उम्रमें ही इनका गुरु श्रीसंत रामदासजीसे सम्बन्ध हो गया था। गुरुजीने देखा कि यह तो पका हुआ फल ही है। अतः उन्होंने इनको अपने साथ ही सेवामें रहनेकी अनुमति दे दी। तबसे ये एकाग्रचित्त होकर अपने गुरुकी सेवामें रहे।

अम्बादासकी तपस्या पूरी हुई, परंतु अभीतक उन्हें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन नहीं हुए। वे इसके लिये परम व्याकुल हो उठे। श्रीरामदासजीने भी देखा कि इसकी सेवा पूर्ण हो चुकी है, अतः अब यह भगवान्के शुभ दर्शनका पात्र हो गया है।

एक दिन श्रीरामदासजी सहज ही शिष्योंके साथ एक बड़े कुएँके समीप एक वृक्षके नीचे आराम कर रहे थे। उस वृक्षकी एक शाखा बिल्कुल कुएँके ऊपरतक पहुँच गयी थी। रामदासजीने सोचा कि 'यह मध्याह्नका समय है। इसी

समय प्रभु श्रीरामचन्द्रका प्राकट्य (अवतार) हुआ था। और यह समय अपने शिष्य अम्बादासके सौभाग्योदय होनेके योग्य भी है। साथ ही इसी समय गुरुके शब्दोंपर अम्बादासकी कितनी श्रद्धा तथा विश्वास है, इसकी भी परीक्षा हो जायगी।'

गुरुजी श्रीरामदासजीने सहज भावसे अम्बादासको पास बुलाया। मुझे गुरुजीने बुलाया है, इसी बातसे अम्बादासको महान् आनन्द हुआ। वृक्षकी उस कुएँपर पहुँची हुई शाखाको अङ्गुलिसे दिखाकर रामदासजी बोले—'अम्बादास! तुम उस डालीतक जा सकोगे?' तत्परतासे अम्बादासने उत्तर दिया—'हाँ जी! सहज ही जा सकूँगा।'

'तो फिर ऐसा करो, करौत साथ ले जाओ। उस शाखापर जाकर उसे काट डालो।' गुरुजीने आज्ञा दी।

आज्ञाको ही अनुग्रह माननेवाले अम्बादासने 'जी, अभी गया' कहकर अपनी धोतीको अच्छी तरहसे बाँधकर पेड़पर चढ़नेकी तैयारी की। ये चढ़ ही रहे थे कि गुरुजीने फिर कहा—'देखो, अच्छी तरह काटना। परंतु एक काम करना, शाखाके अगले भागकी ओर पीठ करके शाखापर खड़े होकर शाखाको अपने सामनेसे काटना।'

सब शिष्य तो यह सुनकर देखते ही रह गये। इस आज्ञाके अनुसार काटनेपर तो अम्बादास भी शाखाके साथ ही कुएँमें गिरेंगे। इसका कुछ भी विचार गुरुजीने नहीं किया।

परंतु अम्बादासके मनमें कोई दूसरा विचार ही नहीं आया। 'जो आज्ञा' कहकर वह शीघ्र ही उस शाखातक पहुँच गया। और जैसे गुरुजीने कहा था, उसी तरह शाखाके अगले भागपर खड़े होकर उसे काटना आरम्भ किया। उसके मनमें संदेह उत्पन्न करनेके लिये रामदासजी बोले—'मूढ! यों काटोगे तो तुम स्वयं गिर जाओगे। कुएँमें पड़कर डूबोगे।'

अम्बादासने उसी जगहसे प्रणाम करके विनयपूर्वक कहा—'गुरुदेव! आज्ञाका पालन करते समय मुझे कुछ भी नहीं हो सकता। जब आपकी कृपासे मैं संसार-सागरसे ही तर जाऊँगा, तब इस जरा-से कुएँकी तो बात ही क्या है।'

'ठीक है!' गुरुजीने संतोषसे कहा—'इतनी श्रद्धा है तो जरूर काटो।'

अम्बादासने शाखाको आधा काटा होगा कि वह टूटकर बड़ी आवाजके साथ अम्बादासके सहित कुएँमें गिर पड़ी। शिष्य-मण्डली काँपकर हाहाकार कर उठी। श्रीरामदासजीने सबको वहीं चुपचाप बैठे रहनेकी आज्ञा दी। व्यथित-चित्तसे सब वहीं बैठ गये। वे तरह-तरहकी कल्पना करने लगे कि 'जलमें डूबकर अम्बादासका देहान्त तो नहीं हो गया होगा।' 'इतने बड़े कुएँमें तो गिरनेकी आशङ्कासे ही आदमी मर जाता है और अम्बादास तो प्रत्यक्ष गिरा है।' 'गिरते समय मारे भयके उसकी चेतना लुप्त हो गयी होगी। तभी कोई आवाज नहीं आयी। देखें, अब उसकी आवाज आयेगी।' परंतु समर्थ श्रीरामदासजी तो बड़ी शान्तिसे पहली बातें आगे चलाने लगे, मानो कुछ हुआ ही नहीं।

अम्बादास सीधा कुएँके बीचमें गिरा। न मालूम शाखा और करौत कहाँ गयी। जलमें गिरते समय उसने अपने गुरुका और प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण किया। एक बार जलसे ऊपर आकर आँखें खोलीं तो देखा कि जिनके पुण्य तथा दुर्लभ दर्शनके लिये अनेकों साधकोंने अपने प्राण-मन अर्पण कर दिये, जिनके लिये वह स्वयं बड़ी आतुरता तथा अधीरतासे प्रतीक्षा कर रहा था, वे ही भास्कर-कुल-दिवाकर रघुवंशशिरोमणि सच्चिदानन्दघन-विग्रह भगवान् श्रीरामचन्द्र उसके सामने मन्द-मन्द मुसकराते हुए खड़े हैं। पता नहीं, जल कहाँ चला गया। निर्निमेष नेत्रोंसे टकटकी लगाये अम्बादास देखता ही रहा। अत्यन्त तेजःपुञ्ज शरीरसे मधुर-मधुर दिव्य सुगन्ध निकलकर मनको मुग्ध कर रही थी। अति सुन्दर श्यामसुन्दर शरीर था। प्रभुके एक हाथमें बाण और दूसरेमें धनुष था। मस्तकपर अति प्रखर सुवर्ण-मुकुटसे बिखरे हुए बाल बाहर निकलकर कंधोंतक फैले हुए थे। सुन्दर पीताम्बर फहरा रहा था।

बस, अम्बादास स्मित-मुग्ध होकर देखता ही रह गया। उसके नेत्रोंसे प्रेमानन्दके आँसू बहने लगे। तदनन्तर बाह्य चेतना आनेपर वह प्रभुके चरणोंपर गिर गया। उसका जीवन कृतार्थ हो गया। एकमात्र दिव्य सुखानुभूतिके अतिरिक्त कोई भी संवेदना उसके मनमें उस समय नहीं रह गयी। हाथमें और सिरमें समीप सटे हुए भगवान्के कोमल चरण-कमल और सिरपर प्रभुका वरद हस्त। इसके अतिरिक्त सारा जगत् उसके लिये विस्मृत अथवा विलुप्त हो गया। वह अनन्त सुखसागरमें निमग्न हो गया।

ऊपर वृक्षके नीचे बैठे हुए शिष्योंने देखा कि बहुत देर हो गयी है और स्वामीजी उसी पूर्वप्रसङ्गको शान्तिपूर्वक चला रहे हैं। तब अधीर होकर एक शिष्यने हाथ जोड़कर विनती की—'महाराज! जबतक हम अम्बादासको नहीं

निकाल लेते, तबतक हमें अन्य किसी भी बातका ज्ञान नहीं हो रहा है। कृपा करके आज्ञा दें हमें, उसे देखें।' मुसकराते हुए श्रीरामदासजीने वहीं बैठे-बैठे पुकारा—'क्यों अम्बादास! कैसे क्या हो रहा है?'

अब अम्बादास बहिर्जगत्में आया। तत्क्षण उसने ऊपरकी ओर देखा। इसी बीच प्रभु अन्तर्धान हो गये। अम्बादासने वहींसे गद्गद वाणीसे उत्तर दिया—'आपकी कृपासे परम कल्याण है, महाराज! सब आनन्दमय है।'

फिर प्रयत्न करके कुएँसे बाहर निकलकर अम्बादासने समर्थ श्रीरामदासजीके चरण पकड़ लिये। आनन्द तथा प्रेमके आँसुओंसे उनके चरणोंको धोता हुआ रोमाञ्चित शरीर और गद्गद वाणीसे वह बोला—'भगवन्! आपने मेरा कल्याण कर दिया…'यों कहते-कहते उसकी वाणी रुक गयी। दूसरे शिष्योंको उसकी आनन्दानुभूतिका पता उस समय कैसे लगता।

तभीसे अम्बादासका नाम 'कल्याण' हुआ। श्रीसंत रामदासजीके शिष्योंमें ये अग्रगण्य माने जाते हैं।

अहंकार-नाश

(लेखक—श्रीयुत एम्० एन्० धारकर)

किसी राष्ट्रकार्य-धुरन्धर अथवा साधारण-से व्यक्तिमें समस्त दुर्गुणोंका अग्रणी अहंकार या अभिमान जब प्रवेश पा जाता है, तब उसके कार्योंमें होनेवाली उन्नतिकी बात तो दूर रही, किये हुए कार्योंपर भी पानी फिरनेमें विलम्ब नहीं लगता। पर यदि उसे यथासमय सचेत कर दिया गया तो वह यशके शिखरपर पहुँच ही जाता है। इस प्रकारकी अनेक कथाएँ अपने इतिहास-पुराणादिमें हैं। अभी केवल २५० वर्ष पूर्वकी एक 'सत्-कथा' इस प्रकार है।

हिंदू-स्वराज्य-संस्थापक श्रीशिवाजी महाराजके सद्गुरु श्रीसमर्थ रामदास स्वामी महाराजका तपःसामर्थ्य और उनका किया हुआ राष्ट्रकार्य अलौकिक है। सद्गुरुके द्वारा निर्दिष्ट मार्गका अनुसरण करके श्रीश्रीभवानी-कृपासे श्रीशिवाजी महाराजने कई किले जीत लिये। उस समय किलोंका बड़ा महत्त्व था। इसलिये जीते हुए किलोंको ठीक करवानेका एवं नये किलोंके निर्माणका कार्य सदा चलता रहता था और इस कार्यमें हजारों मजदूर सदा लगे रहते थे। सामनगढ़ नामक किलेका निर्माण हो रहा था, एक दिन उसका निरीक्षण करनेके लिये श्रीशिवाजी महाराज वहाँ गये। वहाँ बहुसंख्यक श्रमिकोंको कार्य करते देखकर उनके मनमें एक ऐसी अहंकार-भरी भावनाका अङ्कुर उत्पन्न हो आया कि 'मेरे कारण ही इतने जीवोंका उदर-निर्वाह चल रहा है।' इसी विचारमें वे तटपर घूम रहे थे। अन्तर्यामी सद्गुरु श्रीसमर्थ इस बातको जान गये और 'जय जय रघुवीर समर्थ'की रट लगाते हुए अकस्मात् न जाने कहाँसे वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखते ही श्रीशिवाजी महाराजने आगे बढ़कर दण्डवत्-प्रणाम किया और पूछा, 'सद्गुरुका शुभागमन कहाँसे हुआ?' हँसकर श्रीसमर्थ बोले—'शिवबा! मैंने सुना कि यहाँ तुम्हारा बहुत बड़ा कार्य चल रहा है, इच्छा हुई कि मैं भी जाकर देखूँ। इसीसे चला आया। वाह वाह शिवबा! इस स्थानका भाग्योदय और इतने जीवोंका पालन तुम्हारे ही कारण हो रहा है।' सद्गुरुके श्रीमुखसे यह सुनकर श्रीशिवाजी महाराज-को अपनी धन्यता प्रतीत हुई और उन्होंने कहा—'यह सब कुछ सद्गुरुके आशीर्वादका फल है।'

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे किलेसे नीचे, जहाँ मार्ग-निर्माणका कार्य हो रहा था, आ पहुँचे। मार्गके बने हुए भागमें एक विशाल शिला अभी वैसी ही पड़ी थी। उसे देखकर सद्गुरुने पूछा—'यह शिला यहाँ बीचमें क्यों पड़ी है?' उत्तर मिला—'मार्गका निर्माण हो जानेपर इसे तोड़कर काममें ले लिया जायगा।' श्रीसद्गुरु बोले—'नहीं, नहीं, कामको हाथों-हाथ ही कर डालना चाहिये; अन्यथा जो काम पीछे रह जाता है, वह हो नहीं पाता। अभी कारीगरोंको बुलाकर इसके बीचसे दो भाग करा दो।' तुरंत कारीगरोंको बुलाया गया और उस शिलाके समान दो टुकड़े कर दिये गये। सबोंने देखा कि शिलाके अंदर एक भागमें ऊखल-जितना गहरा एक गड्ढा था, जिसमें पर्याप्त जल भरा था और उसमें एक मेंढक बैठा हुआ था। उसे देखकर श्रीसद्गुरु बोले—'वाह, वाह, शिवबा, धन्य हो तुम! इस शिलाके अंदर भी तुमने जल रखवाकर इस मेंढकके पोषणकी व्यवस्था कर रक्खी है।' बस, पर्याप्त थे इतने शब्द श्रीशिव-छत्रपतिके लिये। उनके चित्तमें प्रकाश हुआ। उन्हें अपने अहंकारका पता लग गया और पता लगते ही 'इतने लोगोंके पेट मैं भरता हूँ'—इस अभिमान-तिमिरका तुरंत नाश हो गया। उन्होंने तुरंत श्रीसद्गुरुके चरण पकड़ लिये और अपराधके लिये क्षमा-याचना की।

कुत्तेको भी न्याय

(रामराज्यकी महिमा)

अक्लिष्टकर्मा राजराजेन्द्र, राघवेन्द्र श्रीरामभद्रकी राजसभा इन्द्र, यम और वरुणकी सभाके समकक्ष थी। उनके राज्यमें किसीको आधि-व्याधि या किसी प्रकारकी भी बाधा थी ही नहीं। तथापि एक दिन श्रीलक्ष्मणको प्रभुने आज्ञा दी कि देखो बाहर कोई व्यवहारी या प्रार्थी तो उपस्थित नहीं है। कोई हो तो उसे बुलाओ, उसकी बात सुनी जाय। एक बार लक्ष्मणजी लौट गये और कहा कि 'दरवाजेपर कोई भी उपस्थित नहीं है।' प्रभुने कहा—'नहीं, तुम ध्यानसे देखो, वहाँ जो कोई भी हो उसे तत्परतापूर्वक बुला लाओ।' इस बार जब लक्ष्मणजीने देखा तो मनुष्य तो कोई दरवाजेपर था नहीं, पर एक श्वान वहाँ अवश्य खड़ा था, जो बार-बार दुःखित होकर रो रहा था। जब लक्ष्मणजीने उससे भीतर चलनेको कहा तो उसने बतलाया कि 'हमलोग अधम योनिमें उत्पन्न हुए हैं और राजा साक्षात् धर्मका विग्रह ही होता है, अतएव महाराज! मैं राजदरबारमें प्रवेश कैसे करूँ ?'

अन्तमें लक्ष्मणजीने भगवान्से पुनः आज्ञा लेकर उसकी प्रभुके पास पेशी करायी। भगवान्ने देखा तो उसके मस्तकमें चोट लगी हुई थी। भगवान्ने उसे अभयदान देकर पूछा—'बतलाओ, तुम्हें क्या कष्ट है, निडर होकर बतलाओ, मैं तुम्हारा कार्य तत्काल सम्पन्न कर देता हूँ।'

कुत्ता बोला—'नाथ! मैंने किसी प्रकारका अपराध नहीं किया तो भी सर्वार्थसिद्धि नामक भिक्षुने मेरे मस्तकपर प्रहार किया है। मैं इसीका न्याय कराने श्रीमान्के द्वारपर आया हूँ।' भगवान् रामने उस भिक्षुको बुलाकर पूछा—'तुमने किस अपराधके कारण इसके मस्तकपर लाठीका प्रहार कर इसका सिर फोड़ दिया है।'

भिक्षुने कहा—'प्रभो! मैं क्षुधातुर होकर भिक्षाटनके लिये जा रहा था और यह श्वान विषम ढंगसे मार्गमें आ गया। भूखसे व्याकुल होनेके कारण मुझे क्रोध आ गया। मैं अपराधी हूँ, आप कृपापूर्वक मेरा शासन करें।' इसपर भगवान्ने अपने सभासदोंसे न्याय-व्यवस्थानुसार दण्ड बतलानेको कहा। ब्राह्मण अदण्ड्य होता है अतः सभासदोंने कुत्तेको ही प्रमाण माना। कुत्तेने भगवान्से कहा कि 'यदि प्रभो! आप मुझपर प्रसन्न हैं और मेरी सम्मति चाहते हैं तो मेरी प्रार्थना है कि इस भिक्षुको कालंजर मठके कुलपति पदपर अभिषिक्त कर दिया जाय।' कुत्तेके इच्छानुसार भिक्षुको मान-दानपूर्वक हाथीपर चढ़ाकर वहाँ भेज दिया गया। तदनन्तर सभासदोंने बड़े आश्चर्यपूर्वक श्वानसे पूछा, 'भैया! यह तो तुमने उस भिक्षुको वर ही दे डाला, शाप नहीं।' कुत्ता बोला—'आपलोगोंको इसका रहस्य विदित नहीं है। मैं भी पूर्वजन्ममें वहींका कुलपति था। यद्यपि मैं बड़ा सावधान था और बड़ा विनीत, शीलसम्पन्न, देव-द्विजकी पूजा करनेवाला, सभी प्राणियोंका हितचिन्तक तथा देव-द्रव्यका रक्षक था। तथापि कुलपतित्वके दोषसे मैं इस दुर्योनिको प्राप्त हुआ; फिर यह भिक्षु तो अत्यन्त क्रोधी, असंयमी, नृशंस, मूर्ख तथा अधार्मिक है। ऐसी दशामें वहाँका कुलपतित्व इसके लिये वरदान नहीं, अपितु घोर अभिशाप है। किसी भी कल्याणकामी व्यक्तिको मठाधिपतित्वको तो भूलकर भी नहीं स्वीकार करना चाहिये। मठाधिपत्य सात पीढ़ियों तकको नरकमें डाल देता है। जिसे नरकमें गिराना चाहे, उसे देवमन्दिरोंका आधिपत्य दे दे। जो ब्रह्मस्व, देवांश, स्त्रीधन, बालधन अथवा अपने दिये हुए धनका अपहरण करता है, वह सभी इष्टमित्रोंके साथ विनाशको प्राप्त होता है। जो मनसे भी इन द्रव्योंपर बुरी दृष्टि रखता है, वह घोर अवीचिमान नामक नरकमें गिरता है। और फिर जो सक्रिय इनका अपहरण करता है उसका तो एक-से-दूसरे नरकोंमें बराबर पतन ही होता चलता है। अतएव भूलकर भी मनुष्य ऐसा आधिपत्य न ले।'

कुत्तेकी बात सुनकर सभी महान् आश्चर्यमें डूब गये। वह कुत्ता जिधरसे आया था उधर ही चला गया और काशी आकर प्रायोपवेशनमें बैठ गया।

(वा० रामायण, उत्तरकाण्ड, अध्याय ५९ के बाद प्रक्षिप्तसर्ग अ० १)

राम-दरबारमें कुत्तेको न्याय

कुत्तेको भी न्याय

(रामराज्यकी महिमा)

अक्लिष्टकर्मा राजराजेन्द्र, राघवेन्द्र श्रीरामभद्रकी राजसभा इन्द्र, यम और वरुणकी सभाके समकक्ष थी। उनके राज्यमें किसीको आधि-व्याधि या किसी प्रकारकी भी बाधा थी ही नहीं। तथापि एक दिन श्रीलक्ष्मणको प्रभुने आज्ञा दी कि 'देखो बाहर कोई व्यवहारी या प्रार्थी तो उपस्थित नहीं है। यदि हो तो उसे बुलाओ, उसकी बात सुनी जाय।' एक बार लक्ष्मणजी लौट गये और कहा कि 'दरवाजेपर कोई भी उपस्थित नहीं है।' प्रभुने कहा—'नहीं, तुम ध्यानसे देखो, वहाँ जो कोई भी हो उसे तत्परतापूर्वक बुला लाओ।' इस बार जब लक्ष्मणजीने देखा तो मनुष्य तो कोई दरवाजेपर था नहीं, पर एक श्वान वहाँ अवश्य खड़ा था, जो बार-बार दुःखित होकर रो रहा था। जब लक्ष्मणजीने उससे भीतर चलनेको कहा तो उसने बतलाया कि 'हमलोग अधम योनिमें उत्पन्न हुए हैं और राजा साक्षात् धर्मका विग्रह ही होता है, अतएव महाराज! मैं राजदरबारमें प्रवेश कैसे करूँ?'

अन्तमें लक्ष्मणजीने भगवान्से पुनः आज्ञा लेकर उसकी प्रभुके पास पेशी करायी। भगवान्ने देखा तो उसके मस्तकमें चोट लगी हुई थी। भगवान्ने उसे अभयदान देकर पूछा—'बतलाओ तुम्हें क्या कष्ट है, निडर होकर बतलाओ, मैं तुम्हारा कार्य तत्काल सम्पन्न कर देता हूँ।'

कुत्ता बोला—'नाथ! मैंने किसी प्रकारका अपराध नहीं किया तो भी सर्वार्थसिद्धि नामक भिक्षुने मेरे मस्तकपर प्रहार किया है। मैं इसीका न्याय कराने श्रीमान्के द्वारपर आया हूँ।' भगवान् रामने उस भिक्षुको बुलाकर पूछा—'तुमने किस अपराधके कारण इसके मस्तकपर लाठीका प्रहार कर इसका सिर फोड़ दिया है।'

भिक्षुने कहा—'प्रभो! मैं क्षुधातुर होकर भिक्षाटनके लिये जा रहा था और यह श्वान विषम ढंगसे मार्गमें आ गया। भूखसे व्याकुल होनेके कारण मुझे क्रोध आ गया। मैं अपराधी हूँ, आप कृपापूर्वक मेरा शासन करें।'

इसपर भगवान्ने अपने सभासदोंसे न्याय-व्यवस्थानुसार [illegible] होता है अत- [illegible] भगवान्ने [illegible] और ये [illegible] इस भिक्षुको [illegible] दिया जाय।' कुत्तेकी इच्छानुसार भिक्षुको [illegible] हाथीपर चढ़ाकर वहाँ भेज दिया गया। [illegible] बड़े आश्चर्यपूर्वक श्वानसे पूछा, 'भैया! [illegible] उस भिक्षुको वर ही दे डाला, शाप नहीं!' कुत्ता बोला—'आपलोगोंको इसका रहस्य विदित नहीं है। मैं भी पूर्वजन्ममें वहींका कुलपति था। यद्यपि मैं बड़ा सावधान था और बड़ा विनीत, शीलसम्पन्न, देव-द्विजकी पूजा करनेवाला, सभी प्राणियोंका हितचिन्तक तथा देव-द्रव्यका रक्षक था। तथापि कुलपतित्वके दोषसे मैं इस दुर्योनिको प्राप्त हुआ; फिर यह भिक्षु तो अत्यन्त क्रोधी, असंयमी, नृशंस, मूर्ख तथा अधार्मिक है। ऐसी दशामें वहाँका कुलपतित्व इसके लिये वरदान नहीं, अपितु घोर अभिशाप है। किसी भी कल्याणकामी व्यक्तिको, मठाधिपतित्वको तो भूलकर भी नहीं स्वीकार करना चाहिये। मठाधिपत्य सात पीढ़ियों तकको नरकमें डाल देता है। जिसे नरकमें गिराना चाहे, उसे देवमन्दिरोंका आधिपत्य दे दे। जो ब्रह्मस्व, देवांश, स्त्रीधन, बालधन अथवा अपने दिये हुए धनका अपहरण करता है, वह सभी इष्ट-मित्रोंके साथ विनाशको प्राप्त होता है। जो मनसे भी इन द्रव्योंपर बुरी दृष्टि रखता है, वह घोर अवीचिमान नामक नरकमें गिरता है। और फिर जो सक्रिय इनका अपहरण करता है उसका तो एक-से-दूसरे नरकोंमें बराबर पतन ही होता चलता है। अतएव भूलकर भी मनुष्य ऐसा आधिपत्य न ले।'

कुत्तेकी बात सुनकर सभी महान् आश्चर्यमें डूब गये। वह कुत्ता जिधरसे आया था उधर ही चला गया और काशी आकर प्रायोपवेशनमें बैठ गया।

(वा० रामायण, उत्तरकाण्ड, अध्याय ५९ के बाद प्रक्षिप्तसर्ग अ० १)

राम-दरबारमें कुत्तेको न्याय

सिंहिनीका दूध !

छत्रपति शिवाजी महाराज समर्थ गुरु रामदासस्वामीके एकनिष्ठ भक्त थे । समर्थ भी सभी शिष्योंसे अधिक उन्हें प्यार करते । शिष्योंको भावना हुई कि शिवाजीके राजा होनेके कारण समर्थ उनसे अधिक प्रेम रखते हैं। समर्थने तत्काल उनका संदेह दूर कर दिया ।

समर्थ शिष्यमण्डलीके साथ जंगलमें गये । सभी रास्ता भूल गये और समर्थ एक गुफामें जाकर उदरशूलका बहाना करके लेट गये ।

इधर शिवाजी महाराज समर्थके दर्शनार्थ निकले । उन्हें पता चला कि वे इस जंगलमें कहीं हैं। खोजते-खोजते एक गुफाके पास आये । गुफामें पीड़ासे विह्वल शब्द सुनायी पड़ा। भीतर जाकर देखा तो साक्षात् गुरुदेव ही विकलतासे करवटें बदल रहे हैं । शिवाजीने हाथ जोड़कर उनकी वेदनाका कारण पूछा ।

समर्थने कहा—'शिवा, भीषण उदरपीड़ासे विकल हूँ ।'

'महाराज ! इसकी दवा ?'

'शिवा ! इसकी कोई दवा नहीं, रोग असाध्य है । हाँ, एक ही दवा काम कर सकती है, पर जाने दो...'

'नहीं, गुरुदेव ! निःसंकोच बतायें, शिवा गुरुको स्वस्थ किये बिना चैन नहीं ले सकता ।'

'सिंहिनीका दूध और वह भी ताजा निकाला हुआ, पर शिवबा ! वह सर्वथा दुष्प्राप्य है ।'

पासमें पड़ा गुरुदेवका तुंबा उठाया और समर्थको प्रणाम करके शिवाजी तत्काल सिंहिनीकी खोजमें निकल पड़े।

कुछ दूर जानेपर एक जगह दो सिंह-शावक दीख पड़े । शिवाने सोचा—निश्चय ही यहाँ इनकी माता आयेगी। संयोगसे वह आ भी गयी । अपने बच्चोंके पास अनजाने मनुष्यको देख वह शिवापर टूट पड़ी और अपने जबड़ेमें उनकी नटई पकड़ ली ।

शिवा कितने ही शूर-वीर हों, पर यहाँ तो उन्हें सिंहिनीका दूध जो निकालना था । उन्होंने धीरज धारण किया और हाथ जोड़कर वे सिंहिनीसे विनय करने लगे—

'माँ ! मैं यहाँ तुम्हें मारने या तुम्हारे बच्चोंको उठा ले जानेको नहीं आया । गुरुदेवको स्वस्थ करनेके लिये तुम्हारा दूध चाहिये, उसे निकाल लेने दो । गुरुदेवको दे आऊँ, फिर भले ही तुम मुझे खा जाना ।'—शिवाजीने ममताभरे हाथसे उसकी पीठ सहलायी ।

मूक प्राणी भी ममतासे प्राणीके अधीन हो जाते हैं। सिंहिनीका क्रोध शान्त हो गया । उसने शिवाका गला छोड़ा और बिल्लीकी तरह उन्हें चाटने लगी ।

मौका देख शिवाजीने उसकी कोखमें हाथ डाल दूध निचोड़ तुंबा भर लिया और उसे नमस्कार कर बड़े आनन्दके साथ वे निकल पड़े ।

इधर सभी शिष्य भी गुरुसे आ मिले । गुरु उन्हें साथ ले एक आश्चर्य दिखाने पीछेके मार्गसे जंगलमें बढ़े । शिवा बड़े आनन्दसे आगे बढ़ रहे थे कि समर्थ शिष्योंसहित उसके पीछे पहुँच गये । उन्होंने आवाज लगायी ।

शिवाने पीछे मुड़कर गुरुदेवको देखा । पूछा—'उदर-शूल कैसा है ?'

'आखिर तुम सिंहिनीका दूध भी ले आये, धन्य हो शिवबा ! तुम्हारे-जैसा एकनिष्ठ शिष्य रहते गुरुको पीड़ा ही क्या रह सकती है ।'—समर्थने सिरपर हाथ रखते हुए कहा ।

—गो० न० बै० —('समर्थांचे सामर्थ्य')

प्रेम-दयाके बिना व्रत-उपवास व्यर्थ

बेलगाँव जिले (दक्षिण कर्नाटक) के मुरगोड़ स्थानके चिदम्बर दीक्षित सनातन वैदिक धर्मके बहुत बड़े उद्धारक, भक्ति-ज्ञानके प्रसारक और प्रेम, सेवा एवं परोपकारके साकार विग्रह माने जाते थे ।

एक बार एक स्त्री संतान न होनेसे अत्यन्त खिन्न हो दीक्षितकी कृपा पानेके लिये आ पहुँची । वह अनेक व्रत-उपवासादि करती, पर उसका चित्त प्रेम-दयादि गुणोंसे सर्वथा रहित था । दीक्षितने पासमें पड़े भूने चनेकी दो मुट्ठी उसे देकर कहा—'जा, दूर बैठ; बुलाऊँ, तब आना ।'

वह दूर जाकर चना चबाने बैठी । खेलते-खेलते वहाँ पाँच-सात बच्चे आये । कुछ उसके मुँहकी ओर देख रहे थे तो कुछने हाथ भी पसारा । 'एकको देनेपर सभीको देना

पड़ेगा' यह सोच वह स्त्री मुँह छिपाकर चने खाने लगी। उसने एक दाना भी किसीको नहीं दिया।

दीक्षितने उसे पास बुलाकर कहा—'अरी, जब फोकटमें मिले चनोंमेंसे चार दाने भी तुमसे किसीको देते नहीं बना, तब भगवान् तुम्हें हाड़-मांसके बच्चे कैसे देंगे। प्रेम और दयाके बिना कोरे व्रत-उपवासोंसे भगवान् कभी प्रसन्न नहीं होते।' उपस्थित लोगोंने यह शिक्षा गाँठ बाँध ली। —गो० न० बै०

(संतचरित्रमाला, पृ० २११)

परधर्मसहिष्णुताकी विजय

शिवाजी अपने तंबूमें बैठे सेनानी माधव भामलेकरके आनेकी चिन्तापूर्ण प्रतीक्षा कर रहे थे। इसी बीच हाथमें एक ग्रन्थ लिये सेनानी पहुँचे। उनके पीछे एक डोला लिये दो सैनिक आये। डोला रखकर वे चले गये।

सेनानीने प्रसन्नमुद्रासे कहा—'छत्रपते! आज मुगलसेना दूरतक खदेड़ दी गयी। बेचारा बहलोल जान लेकर भागा। अब ताकत नहीं कि मुगल सेना यहाँ पुनः पैर रख सके।'

शिवाजीने डोलेकी ओर देखते हुए गम्भीरतापूर्वक पूछा—'यह क्या है?'

अट्टहास करते हुए सेनानीने कहा—इसमें मुसलिम रमणियोंमें सुन्दरताके लिये प्रसिद्ध बहलोलकी बेगम है, जो महाराजको भेट करनेके लिये लायी गयी है और यह मेरे हाथका कुरान लीजिये। हमारी हिंदू-संस्कृतिसे खिलवाड़ करनेवालोंका जी भर कर प्रतिशोध लीजिये।

शिवाजीने कुरान लेकर चूम लिया और डोलेके पास-आकर पर्दा हटाया और बहलोलकी बेगमको बाहर आनेको कहा। उसको ऊपरसे नीचे तक निहारकर कहा—'सचमुच तू बड़ी ही सुन्दर है। अफसोस है कि मैं तेरे पेटसे पैदा नहीं हुआ, नहीं तो मैं भी कुछ सुन्दरता पा जाता।'

उन्होंने अपने एक अन्य अधिकारीको आदेश दिया कि ससम्मान और पूरी सुरक्षाके साथ बेगम तथा कुरान-शरीफको बहलोलखाँको जाकर सौंप आइये।

फिर शिवाजीने सेनानीको फटकारा—'सेनापते! आप मेरे साथ इतने दिन रहे, पर मुझे नहीं पहचान सके। हम वीर हैं; वीरकी यह परिभाषा नहीं कि अबलाओंपर प्रहार करें, उनका सतीत्व लूटें और धर्मग्रन्थोंकी होली जलायें। किसीकी संस्कृति नष्ट करना कायरता है। ऐसे कायरोंका शीघ्र अन्त हो जाता है। परधर्म-सहिष्णु ही सच्चा वीर है!'

सेनापतिको अपनी मूर्खतापर लज्जा आयी।

इधर पत्नी और कुरानको ससम्मान लौटाया देख बहलोलखाँ-जैसा क्रूर सेनापति भी पिघल गया। शिवाजीने उसे दिल्ली लौट जानेका जो पत्र भेजा, उसे भी उसने पढ़ लिया और अन्तमें यही निश्चय किया कि इस फरिश्तेको देखकर दिल्ली लौटूँगा।

बहलोलने सैनिक भेजकर शिवाजीसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की। साथ ही भेटके समय दोनोंके निःशस्त्र रहनेकी प्रार्थना की। शिवाजीने भी स्वीकार कर लिया।

नियत तिथि और समयपर शिवाजी मशाल लिये नियत स्थानपर बहलोलकी प्रतीक्षा करते खड़े थे। इसी बीच बहलोलखाँ आ पहुँचा और 'फरिश्ते' कहकर शिवाजीसे लिपट गया। फिर शिवाजीके पैरोंपर गिरकर कहने लगा—'माफ कर दे मुझे। बेगुनाहोंका खून मेरे सर चढ़कर बोलेगा। खुदाके लिये तू तो माफ कर दे। अब मुझ-जैसे नापाक इन्सानको इस दुनियामें रहनेका कोई हक नहीं। सिर्फ तेरे पाक कदम चूमने की ख़्वाहिश थी। बिदा! अलविदा!!'

बहलोल छुरा निकाल आत्महत्या करना ही चाहता था कि शिवाजीने हाथ पकड़ लिया और छुरा दूर फेंक उसे गले लगा लिया। —गो० न० बै०

शिवाका आदर्श दान

सन् १६५६ की बात है, शिवाजी महाराज रायगढ़से चलकर सताराके किलेमें आकर निवास कर रहे थे। एक दिन वे वहीं राजवाडेमें बैठे थे कि नीचेसे 'जय-जय रघुवीर समर्थ!' की आवाज आयी।

शिवाजी तत्काल नीचे उतर आये। देखा, सामने साक्षात् गुरुदेव भिक्षाकी झोली लिये खड़े हैं। उन्होंने प्रणाम किया और भिक्षा लानेके लिये वे भीतर आये।

भिक्षाके लिये अन्न-वस्त्र, सोना-मोती, मणि-माणिक्य

—जो भी उठाते, उन्हें थोड़ा ही जँचता। एकाएक उन्हें कल्पना सूझी। कलम-दावात ले कागजपर कुछ लिखा और उसको लेकर बाहर आये। समर्थने झोली पसारी और शिवाने उसमें वह चिट्ठी डाल दी।

समर्थने कहा—'शिवबा! अरे, हम तुम्हारे यहाँ अच्छे-अच्छे धान्यकी आशासे आये थे। पर तुम कागजका टुकड़ा हमारी झोलीमें डालकर यह क्या मजाक कर रहे हो। मुट्ठी भर आटा डालते तो उसकी रोटी भी बनाकर खा सकते थे।'

'महाराज! झोलीमें मैंने भिक्षा ही डाली और कुछ नहीं, क्षमा करें।' शिवाने विनयके साथ कहा।

समर्थने उद्धवसे चिट्ठी निकाल पढ़नेके लिये कहा। उद्धव चिट्ठी पढ़ने लगा—

'आजतक कमाया हुआ सारा राज्य स्वामीके चरणोंमें समर्पित।'—शिवराज और यह राजकीय मुद्रा।

समर्थने कहा—'और शिवबा! अब तुम क्या करोगे?'

'श्रीकी सेवा, सेवकको क्या आज्ञा है?'

'झोली उठाओ और चलो मेरे साथ भीख माँगने।'

शिवराज भिक्षुकको ले समर्थने गाँव भर भिक्षा माँगी। फिर नदीके तीरपर आकर रसोई बनायी गयी और सबने भोजन किया।

समर्थने कहा—'शिवबा! हम वैरागियोंको राज्यसे क्या काम। तुम्हीं इसे सँभालो।'

शिवाजी तैयार ही न होते थे। समर्थने अपनी पादुकाएँ और झोलीका भगवा वस्त्र ध्वजके लिये दे अपने प्रतिनिधि-रूपमें शिवाको राज्य चलानेका आदेश दिया। शिवाजीने जीवनभर उसे निभाया।—गो० न० बै०

('समर्थांचे सामर्थ्य', ४१९)

पहले कर्तव्य पीछे पुत्रका विवाह

'माताजी! इतनी गम्भीरतासे क्या देख रही हैं?'

'कुछ नहीं शिवा! यही कि आस-पास सभी किलोंपर तेरी विजय-वैजयन्ती फहरा रही है, फिर केवल बीचके इस कोंडणा दुर्गपर ही यवनोंका आधिपत्य क्यों? मैं वहाँ रहना चाहती हूँ।'

'जो आज्ञा माताजीकी!'—शिवाजीने स्वीकार कर लिया और तत्काल एक पत्र तानाजीके नाम लिखा—'माताजीकी आज्ञा है कि कोंडणा दुर्ग अभी फतह किया जाय। यह काम तुम ही कर सकते हो।'

तानाजी अपने पुत्रके विवाहकी तैयारीमें लगे थे। स्वामीका पत्र पाते ही उन्होंने बरातियोंसे कहा—'पहले कोंडणा दुर्गसे ब्याह, फिर मेरे बच्चेका ब्याह!'

तुरंत तानाजी सेना लेकर निकल पड़े। किलेपर चढ़नेके लिये डाली घोरपड़ तीन बार गिरी। शेलार मामाने कहा—'तेरे अपशकुनकी परवा नहीं। अबकी बार न चढ़ी तो टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा।'

घोरपड़ चिपक गयी। तानाजी दुर्गपर चढ़ गये। नीचे डोर डालकर सेनाको चढ़ाया। वहाँ जमकर युद्ध हुआ। कोंडणापर विजय प्राप्त की गयी—गढ़ हाथ लगा, पर सिंह तानाजी, शिवाजीकी दूसरी प्रतिमूर्ति और उनके बाल साथी वहीं काम आ गये।

शिवाजीको समाचार मिलते ही उनके मुँहसे निकल पड़ा—'गढ आला, पण सिंह गेला।' तबसे उस दुर्गका नाम 'सिंहगढ' रक्खा गया।—गो० न० बै०

समय-सूचकका सम्मान

सिद्दियोंने जंजीरेके अभागे दीवान आवजी हरि चित्रेका खून करके उनकी पत्नी और दो पुत्रोंको बेच भी दिया। यह तो पत्नीकी चतुराई थी कि अधिक मूल्यके लोभमें वे राजापुरमें बेचे गये और उन्हें इनके मामाने खरीद लिया। पत्नी गुलबाई १७ वर्षीय प्रथम पुत्र बालाजी, द्वितीय चिमणाजी और अन्तिम नन्हे श्यामजीको लेकर वहीं रहने लगी।

बालाजीने शिवाजी महाराजके यहाँ नौकरीके लिये आवेदन करते हुए सारी घटना लिख भेजी थी। संयोगवश कुछ ही दिनों बाद लड़ाईसे लौटते हुए शिवराजका राजापुरमें ही पड़ाव पड़ा। अवसर देख बालाजी उनसे मिला और महाराजने तत्काल उसे अपने यहाँ लेखकके स्थानपर रख लिया। महाराज उसके सुन्दर अक्षरोंपर मुग्ध थे, अतः माताके हठ पकड़नेपर वे मातासहित तीनों भाइयोंको रायगढ़ ले गये।

शिवराज पर्यङ्कपर पौढ़े कागज-पत्र देख रहे थे। सूचना

पाकर बालाजी आ पहुँचे। महाराजने पूछा—'प्रातः हमने एक पत्रका उत्तर लिखनेके लिये तुमसे कहा था, सो लिखा ही होगा।' बालाजीने कहा—'हाँ, महाराज!' 'तो दिखाओ।'—शिवाजीने प्रश्न किया। बालाजीने कहा—'अभी साफ नहीं किया, कल दरबारमें साफ करके सुनाऊँगा।'

'क्या, साफ किये बिना पत्र नहीं पढ़ना चाहिये?' शिवाजीने आग्रहपूर्ण स्वरमें कहा।

थैलीसे कागज निकाल, 'जैसी महाराजकी इच्छा!' कहते हुए बालाजी पढ़ने लगा—

'श्रीः। परमेश्वरप्रतिनिधि साक्षात् तीर्थरूप श्रीपितृचरणोंमें बालक शिवाका त्रिकाल साष्टाङ्ग नमस्कार। अनन्तर—

आपका पत्र प्राप्त हुआ। आशय ध्यानमें आया। आपने लिखा कि जिस कार्यका बीड़ा उठाया, उसके लिये सर्वदा कटिबद्ध रहो; सो आपका आदेश हमारे लिये ईश्वरका आदेश है। अनन्तर आपने शुभ कामना प्रकट की है कि तुम्हारे शत्रुओंकी पत्नियाँ अपने गरम-गरम अश्रुओंसे अपने संतप्त हृदयको शीतल करें, सो आपके तथा पूर्वजोंके पुण्यसे आपका यह आशीर्वाद सदा सफल रहा है। अनन्तर आपने लिखा है कि शिवा, यदि तू मेरा पुत्र है तो मेरा अपमान करनेवाले, मुझे बंदी बनानेवाले नीच बाजी घोरपड़ेका शासन होना चाहिये, सो आपके प्रतापसे वह नीच घोरपड़े उसी प्रकार नष्ट होगा, जिस प्रकार गजराजपर सामनेसे आक्रमण करनेवाला वनराज इति अलम्। आशीर्वादेच्छु—'

महाराजको पत्र पसंद आ गया। उन्होंने कल साफकर दरबारमें लानेको कहा। और आज्ञा लेकर बालाजी चला गया। सारी घटना देख और सुनकर शिवाजीका सेवक रायबा मुसकरा रहा था।

बालाजीके जानेपर शिवाजीने उससे मुसकरानेका कारण पूछा। रायबाने अपराधके लिये क्षमा माँगकर कहा—'बालाजी आपकी आज्ञा पाकर धूर्ततासे सादा कागज पढ़ रहा था, इसीलिये हँसी आयी।' शिवाजीके आश्चर्यका ठिकाना न रहा।

दूसरे दिन दरबार लगनेपर शिवाजीने बालाजीसे पत्र साफ करनेकी बात पूछी। बालाजीने पत्र निकाल सामने रख दिया। शिवाजीने पास पड़े सादे कागजको उठा बालाजीको देते हुए कहा—'यह तुम्हारे इस पत्रकी प्रथम प्रति, जो तुमने कल पढ़ी, लो और ठीक उसी तरह पढ़ो। अगर एक भी गलती हुई तो माँ भवानी ही तुम्हारी रक्षा कर सकती है।'

सरदार आबाजीको पत्र देते हुए कहा—'आप इससे मिलाइये, यह जो पढ़ेगा।'

बालाजीने सिर अञ्जलिमें छिपाकर कहा—क्षमा हो महाराज! कार्यव्यस्ततासे लिख नहीं पाया। महाराजकी आज्ञा हुई तो 'नहीं' कहनेका साहस भी नहीं हुआ और…और…'

महाराजने कहा—'और सादा कागज इस तरह पढ़ दिया मानो लिखा हुआ ही पढ़ रहे हो! पर बिल्लीके आँखें मूँदनेसे दुनिया अंधी नहीं हो जाती। दरबारियो! इसने धोखा दिया है। बतायें, क्या दण्ड दें?'

दरबारी चुप रहे। महाराजने कहा—'अच्छा मैं स्वयं दण्डविधान करता हूँ। बालाजी! तुमने गम्भीर अपराध किया, इसलिये दण्ड भी गम्भीर भुगतना होगा। आगे आओ।'

बालाजी आगे आ सिर झुकाकर खड़ा हो गया। महाराजने सेवकको संकेत किया। सेवक आच्छादित चाँदीका थाल ले आया। शिवाने उसमेंके वस्त्र उलटकर पगड़ी निकाली और बालाजीके सिरपर धर दी।

बालाजीने आनन्द और आश्चर्यके साथ कहा—'महाराज!'

शिवाजीने कहा—'हाँ, बालाजी! आजसे तुम दरबारके मन्त्री नियुक्त किये गये। अबसे सरकारी पत्र-व्यवहार-विभाग तुम्हारे अधीन रहेगा। तुम्हारे अपराधका दण्ड यही है कि आजसे तुम अपनी यह समय-सूचकता, अद्भुत स्मरण-शक्ति, अलौकिक चातुर्य और अपने मोतीके समान अक्षरोंका उपयोग स्वदेश-हितको छोड़ और किसी काममें न लानेकी शपथ लो।'

बालाजीने जमीनपर सिर लगाकर शपथ ली।—गो० न० बै०

उदारताका त्रिवेणी-सङ्गम

(शिवाजीका ब्राह्मण-प्रेम, तानाजीकी स्वामिनिष्ठा और ब्राह्मणकी प्रत्युपकार-बुद्धि)

औरंगजेबने भेंटके बहाने शिवाजीको दिल्ली बुलाकर कैद कर लिया और शिवाजीने भी धोखा देकर आगरेसे भाग उसे इसका करारा जवाब दिया। भागते समय उनके साथ उनके पुत्र संभाजी और दो अन्य अनन्य स्वामिभक्त येसाजी और तानाजी थे।

रास्तेमें एक झाड़ीके बीच उनकी शेरसे मुठभेड़ हुई।

शेर मारा गया, पर मरते-मरते वह शिवाजीके कंधेपर पंजेसे वार कर ही गया। साथियोंने पानी और आस-पास सुलभ पेड़ और लताओंकी पत्तियोंसे उनकी मरहम-पट्टी की और सभी आगे बढ़े।

मुर्शिदाबाद पहुँचते ही शिवाजीको एकाएक जोरोंसे बुखार चढ़ आया। खुली हवामें उनका निरापद रहना असम्भव जान साथियोंने नगरमें कुछ दिन शरणके लिये खोज की। कोई भी इन गुप्तवेषधारी अपरिचितोंको स्थान देनेको तैयार न हुआ। आखिर विनायकदेव नामक एक महान् विद्वान् और दयालु ब्राह्मणने इन सबको आश्रय दिया। वह किसी भयंकर प्रसङ्गसे विरागी बनकर माताके साथ यहाँ रहता और सूखा अन्न माँगकर जीविका चलाता था।

देवके घर रहकर शिवाजीका स्वास्थ्य सुधरने लगा। पर पूर्ण स्वस्थ होनेके लिये कुछ दीर्घ अवधि अपेक्षित थी। शिवाजीने साथियोंसे कहा—'आप दोनों संभाजीको लेकर दक्षिण पहुँचिये, तबतक मैं स्वस्थ होकर आ रहा हूँ। मेरे पीछे मेरे द्वारा खड़े किये गये राज्यकी (नींव) किसी तरह हिलने न पाये।'

लाचार हो साथियोंने शिवाजीका आग्रह मान लिया और प्रणामकर वे संभाजीके साथ निकल पड़े। कुछ दूर जाकर तानाजीने येसाजीसे कहा—'आप सावधानीसे संभाजीको दक्षिण ले जायँ। मैं यहीं आस-पास छिपा रहकर स्वामीकी देख-रेख करता रहूँगा और स्वस्थ होनेपर साथ लेकर पहुँच जाऊँगा।'

इधर ब्राह्मण नित्य भिक्षा माँग लाता और तीनोंका निर्वाह चलता। शिवाजीके स्वस्थ होनेपर ही एक दिन ब्राह्मणको भिक्षा कम मिली तो उसने भोजन बनाकर दोनोंको खिला दिया और स्वयं भूखा रह गया। यह बात शिवाजीकी नजरमें आ गयी। उन्होंने सोचा—'ब्राह्मण कितने दिनोंसे ऐसा कर रहे होंगे' 'गोब्राह्मण-प्रतिपालक' शिवाके लिये ब्राह्मण भूखा रहे, यह उन्हें असह्य हो उठा। किस प्रकार उसकी मदद की जाय! यही वे बार-बार सोचने लगे। इन्हें दक्षिण ले जाना निरापद नहीं और वहाँसे धन भेजनेपर भी वह इसके हाथ लगेगा ही, इसका क्या भरोसा? और यह बात कहीं प्रकट हो गयी तो इसपर क्या बीतेगी?' अन्तमें एक निश्चयपर वे पहुँच ही गये।

ब्राह्मणसे उन्होंने कागज और स्याही-कलम मँगायी और एक पत्र लिख उसे सूबेदारको दे आनेके लिये भेजा। अकस्मात् अनिर्धारित व्यक्तिके हाथों आये पत्रसे सूबेदारकी उत्कण्ठा बढ़ गयी और उसने उसे खोलकर पढ़ा—

'शिवाजी इस ब्राह्मणके घर टिका है। इसके साथ आयें और खुशीसे पकड़ लें। पर ध्यान रहे कि शिवाजीको पकड़नेके लिये घोषित इनामके दो हजार रुपये इस ब्राह्मणको जरूर दें। अगर इसमें धोखाधड़ी की तो पछताना पड़ेगा।'

पत्र पढ़ते ही सूबेदारको विलक्षण आनन्द हुआ। शिवाजीको दिल्ली-दरबारमें हाजिरकर शाहनशाहसे एक सूबा बक्शीस पानेतक वह मनोराज्य कर बैठा। यह सब काम चुपचाप कर सम्राट्को अपनी कुशलतापर आश्चर्यचकित करनेकी सोच वह अपने पाससे दो हजारकी थैली लेकर ब्राह्मणके घर पहुँचा। ब्राह्मणके आगे थैली उड़ेलकर वह गोसाईं (शिवाजी) को अपने साथ ले गया। ब्राह्मण यह सब चमत्कार देख ठक्-सा रह गया। उसे भेदका कुछ भी पता न चला। फिर भी घर आये अतिथिको यवनद्वारा ले जाते देख वह बड़ा ही दुखी हुआ। उसे चैन नहीं पड़ता था।

इसी बीच दूरसे उसी गोसाईंके एक साथीको आते देख देवने उसे तत्काल पहचान लिया। अपने स्वामीको गिरफ्तार कर ले जाते हुए उसने अपनी आँखों देखा और पहलेसे ही पता लगा लिया कि कल अमुक समय, अमुक रास्तेसे उन्हें दिल्ली लाया जायगा।

साथीने आकर ब्राह्मणसे सारी हकीकत पूछी और विह्वल हो ब्राह्मणने ज्यों-का-त्यों सारा किस्सा सुना दिया। साथीके ध्यानमें बात आ गयी कि स्वामीने ब्राह्मणके उपकारका बदला चुकानेके लिये अपनेको इस संकटमें डाला है। फिर भी उसने निश्चय किया कि मरते दमतक उन्हें इस संकटसे उबारकर ही रहूँगा।

ब्राह्मणको सच्चा और विश्वस्त पाकर आखिर साथीने सारा रहस्य खोल दिया—'भूदेव! ये और कोई नहीं, स्वयं गोब्राह्मण-प्रतिपालक छत्रपति शिवराज थे, वह बच्चा उनका पुत्र संभाजी, मैं उनका सेवक तानाजी और दूसरे येसाजी थे।'

तानाजी आगे कह ही रहे थे कि ब्राह्मण मूर्च्छित हो गया। तानाजीने उसे सँभाला। होश आनेपर वह अपनी करनीपर बिलख-बिलखकर रोने लगा और इन दो हजारके सहारे किसी तरह उनको छुड़ानेका हर सम्भव यत्न करनेके लिये तानाजीकी विनती करने लगा।

तानाजीने ब्राह्मणदेवताको आश्वासन दिया तथा स्वयं

पठानका वेष धारणकर और उन रुपयोंसे पचास आदमियोंको साथ ले उस झाड़ीमें छिप गया, जहाँसे होकर सूबेदार शिवाजीको दिल्ली ले जानेवाला था ।

मध्यरात्रिके बाद सूबेदारकी सवारी पच्चीस सिपाहियोंके साथ शिवाजीको लेकर झाड़ीके पास आ पहुँची । तानाजीने अचानक हल्ला बोल दिया और एक ही साथ पचासों जवान उनपर टूट पड़े । सूबेदारके पास तानाजीसे कम लोग थे और वे असावधान भी थे । इसलिये इसका परिणाम क्या हुआ, यह सहज ही समझा जा सकता है । सूबेदारसहित सारी पलटन-का सफाया कर तानाजी शिवाजीको लेकर ब्राह्मणके घर लौट आये ।

ब्राह्मण आनन्दसे फूला नहीं समाता था । तीनों उदार नेताओंका संगम वहाँ त्रिवेणी और तीर्थराजका दृश्य उपस्थित कर रहा था ।—गो० न० बै० (नीतिबोध पृ० ७०)

धन है धूलि समान

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी अडालजा)

'आप घर तो नहीं भूल गये हैं ? मैं इस सम्मानका पात्र नहीं हूँ ।'

'भूले नहीं हैं, निश्चय ही हम आपकी ही सेवामें उपस्थित हुए हैं ।'

'मेरी सेवा ? मैं तो पामर प्राणी हूँ । सेवा तो विट्ठल भगवान्‌की करनी चाहिये भाई !'

'आप जगदीश्वरके परम भक्त हैं, यह सुनकर महाराजा छत्रपति शिवाजीने आपका स्वागत करनेके लिये ये हाथी, घोड़े, पाल्की और सेवकगण भेजे हैं । आप हमारे साथ पधारने-की कृपा करें ।'

भक्तराज तुकाराम हँस पड़े—'अरे भाई ! यदि मुझे जाना ही होगा तो ईश्वरके दिये हुए पैर तो मौजूद हैं । फिर इस आडंबरकी क्या जरूरत ?'

गाँवके लोगोंको हँसी उड़ानेका अवसर मिला—'वाह, अब तुका भगत भक्ति छोड़कर राजदरबारमें विराजेंगे ।'

संत तुकाराम नम्रतापूर्वक कहने लगे—'आप छत्रपतिको मेरा संदेश कह दें कि मेरा आपको सदा-सर्वदा आशीर्वाद है । कृपा करके मुझे मेरे विट्ठल भगवान्‌की सेवासे विमुख न करें । मैं जहाँ और जैसे हूँ, वहाँ वैसे ही ठीक हूँ । मेरी यह कुटिया ही मेरा राजमहल है और यह छोटा-सा मन्दिर ही मेरे प्रभुका मेरा राजदरबार है । वैभवकी वासनाको जगा-कर मुझे इस भक्ति-मार्गसे विचलित न करें । मेरे विठोबा उनका कल्याण करें ।'

इकट्ठे हुए गाँववाले फिर हँस पड़े—'कैसे गँवार हैं तुका भगत ! सामने आये हुए राज-वैभवको ठुकराते हैं, घर आयी लक्ष्मीको धक्का मारते हैं ।'

× × ×

छत्रपति शिवाजीने जब तुकारामकी अटल निःस्पृहताकी बात सुनी, तब वे ऐसे सच्चे संतके दर्शनके लिये अधीर हो उठे और स्वयं तुकारामके पास जा पहुँचे ।

देहू गाँवकी जनताको आज और आश्चर्यका अनुभव हुआ । देहू-जैसे छोटे-से गाँवमें छत्रपति शिवाजी महाराजका शुभागमन ! जय-घोषणासे दिशाएँ गूँज उठीं ।—'छत्रपति शिवाजी महाराजकी जय !'

तुकारामको देखते ही शिवाजी उनके चरणोंमें लोट गये।

'हँ, हँ छत्रपति ! राजाको ईश्वरस्वरूप माना जाता है । आप तो पूजनीय हो ।' तुकारामने शिवाजीको उठाया और प्रेमसे हृदयसे लगा लिया ।

'आज आप-जैसे संतके दर्शन पाकर मैं कृतार्थ हो गया । मेरी प्रार्थना है कि मेरी इस अल्प सेवाको आप स्वीकार करें ।'

राजाने स्वर्ण-मुद्राओंसे भरी थैली तुकारामके चरणोंमें रख दी ।

'यह आप क्या कर रहे हैं महाराज ? भक्तिमें बाधा डालने-वाली मायामें मुझे क्यों फँसाते हैं ? मुझे धन नहीं चाहिये । मुझे जो कुछ चाहिये वह मेरे विट्ठल प्रभुकी कृपासे अनायास मिल जाता है । जब भूख लगती है, तब भिक्षा माँग लाता हूँ । रास्तेमें पड़े चिथड़ोंसे शरीरको ढँक लेता हूँ । कहीं भी सोकर नींद ले लेता हूँ । फिर मुझे किस बातकी कमी है । मैं तो मेरे विठोबाकी सेवामें परम सुख-सर्वस्वका अनुभव कर रहा हूँ महाराज ! आप इस धनको वापस ले जाइये । प्रभु आपका कल्याण करें ।'

शिवाजी चकित हुए । वे बोल उठे—'धन्य हो भक्त-शिरोमणि ! ऐसी अनुपम निःस्पृहता और निर्भयता मैंने कभी

नहीं देखी । आपको मेरा कोटि-कोटि प्रणाम ।'

'धन है धूलि-समान' इस सूत्रको ज्ञानपूर्वक आचरणमें लानेवाले इस अद्भुत संतकी चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ाकर उनको वन्दन करते हुए शिवाजी वापस लौट गये ।

इधर भक्तराज तुकारामने प्रभुसे प्रार्थना की—'ऐसी माया कभी फिर न दिखाना मेरे प्रभु !'

पितरोंका आगमन

संत एकनाथजीके पिताका श्राद्ध था । घरमें श्राद्धकी रसोई बन रही थी । हलवा पकने लगता है तब उसकी सुन्दर सुगन्ध दूरतक फैल जाती है । अतएव इनके भी घरके बाहर-तक सुगन्ध छा रही थी । इसी समय कुछ महार सपरिवार उधरसे जा रहे थे । सुगन्ध उनकी नाकोंमें भी गयी । महारके एक बच्चेने कहा—'माँ ! कैसी मीठी महक है । कैसे बढ़िया पक्वान्न बने होंगे ।' माँने उदास होकर कहा—'बेटा ! हम-लोगोंके नसीबमें ये चीजें कहाँ रक्खी हैं । हम अभागोंको तो इनकी गन्ध भी दुर्लभ है ।' संत एकनाथजीने उनकी यह बात सुन ली । उनका हृदय द्रवित हो गया । उन्होंने सोचा—'सब शरीर भगवान्‌के ही तो मन्दिर हैं—इन महारोंके द्वारा भी तो भगवान् ही भोग लगायेंगे ।' उन्होंने तुरंत महारोंको बुलाया और अपनी पत्नी गिरिजाबाईसे कहा कि 'यह रसोई इनको दे दो ।' गिरिजाबाईका भाव और भी सुन्दर था, उन्होंने कहा—'अन्न तो बहुत है, इनको सब बाल-बच्चों और स्त्रियोंसहित बुलवा लीजिये, सबको अच्छी तरह परोसकर जिमाया जाय । भगवान् सर्वत्र हैं, सब प्राणियोंमें हैं, आज भगवान्‌ने ही इनके द्वारा यह अन्न चाहा है, अतएव आज इन्हींको तृप्त करके भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये ।'

सबको बुलाया गया, रास्तेपर पत्तलें रक्खी गयीं और बड़े आदर-सत्कारके साथ सब पक्वान्न बाहर लाकर, उनको भोजन कराया गया । जिनकी गन्ध भी कभी नसीब नहीं होती, उन चीजोंको भरपेट खाकर महार और उसके स्त्री-बच्चोंको कितना आनन्द हुआ, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता । इस भोजनसे तो उनको अपरिमित प्रसन्नता हुई ही, इससे भी अधिक सुख मिला उनको संत एकनाथ और साध्वी गिरिजाबाईके प्रेमपूर्ण नम्र व्यवहारसे । उनके अङ्ग-अङ्ग एकनाथजीको मूक आशीर्वाद देने लगे ! गिरिजाबाईने पान-सुपारी देकर उन्हें विदा किया ।

तदनन्तर वर्णाश्रमधर्मको माननेवाले एकनाथ और गिरिजाबाईने घर-आँगन धोया, बर्तन मले, नया शुद्ध जल मँगवाया और फिरसे श्राद्धकी रसोई बनवायी । परंतु जब निमन्त्रित ब्राह्मणोंने सब हाल सुना तब उन्होंने भोजन करनेसे इन्कार कर दिया । एकनाथजीने हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की—'पूजनीय ब्राह्मणगण ! पहली रसोई बनी तो थी आपलोगोंके लिये ही, परंतु जब उसकी गन्ध अन्त्यज परिवारके नाकोंमें पहुँच गयी, तब वह उच्छिष्ट अन्न आपको कैसे परोसा जाता । वह अन्न उन लोगोंको खिला दिया गया और फिरसे सारी सामग्री इकट्ठी करके आपके लिये नयी रसोई बनायी गयी । आप हमें क्षमा करके इसे ग्रहण कीजिये ।' बहुत अनुनय-विनय की, परंतु ब्राह्मणोंको उनकी बात नहीं जँची । एकनाथजीको चिन्ता हुई । उनके यहाँ श्रीखंडिया तो रहता ही था । श्रीखंडियाने उनसे कहा—'नाथजी ! आपने रसोई पितरोंके लिये बनायी है न ? फिर चिन्ता क्यों करते हैं ? पत्तलें परोसकर पितरोंको बुलाइये । वे स्वयं आकर भोजन क्यों नहीं करेंगे ?' एकनाथजीने ऐसा ही किया । पत्तलें लगा दी गयीं और 'आगतम्' कहते ही सूर्यनारायण, चक्रपाणि और भानुदास तीनों पितर आकर अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये । एकनाथजीने बड़े भक्तिभावसे उनका पूजन किया और भोजन परोसकर उन्हें जिमाया । तीनों पितर तृप्त होकर आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गये । जब ब्राह्मणोंको यह सब हाल मालूम हुआ, तब उन्होंने एकनाथजीका महत्त्व समझा और अपनी करनीपर पश्चात्ताप किया ।

नाथकी भूतदयाकी फल-श्रुति

श्राद्धीय अन्न चमारको खिला देनेसे पैठणके ब्राह्मण एकनाथ स्वामीपर रुष्ट हो गये थे । फिर नया स्वयंपाक बना, उन्हें बुलानेपर भी वे न आये । नाथके घर भगवान्‌का पानी भरनेवाले श्रीखंडियाके [illegible] साक्षात् [illegible] बुलाकर [illegible] भी [illegible]

उन्होंने नाथको जाति-बहिष्कृत तो पहले ही कर दिया था। अब एक सभामें उन्हें बुलाकर इस पापका प्रायश्चित्त करनेको कहा।

नाथने कुछ पाप तो किया ही न था। उन्होंने विनीत भावसे कहा—'भले ही आपलोग मुझे बहिष्कृत रक्खें, पर मैं प्रायश्चित्त नहीं करूँगा। मेरे माई-बाप श्रीकृष्ण बैठे हुए हैं, मैं किस बातका प्रायश्चित्त करूँ?'

ब्राह्मणोंने कहा—'एकनाथजी! यह तो हमलोग भी जानते हैं कि भगवान् तुम्हारे रक्षक हैं। फिर भी हमलोगोंकी बात रखकर आप प्रायश्चित्त अवश्य कर लें।'

एकनाथ तैयार हो गये। उनके समक्ष नाथने नदीमें डुबकी लगायी। शरीरमें भस्म, गोमय और पञ्चगव्य मला। ब्राह्मण जोर-जोरसे मन्त्र पढ़ रहे थे।

इसी बीच वहाँ अकस्मात् नासिक त्र्यम्बकेश्वरसे एक ब्राह्मण आया और 'एकनाथ कौन और कहाँ है?' यह पूछने लगा। उसके सर्वाङ्गमें कुष्ठ हो गया था, तिल रखनेको स्थान न था।

ब्राह्मणोंने कहा—'देखो, वह नदी-किनारे प्रायश्चित्त कर रहा है। आखिर तुम्हें उससे क्या काम है?'

अभ्यागत ब्राह्मणने बताया—'मैंने त्र्यम्बकेश्वरमें कठोर अनुष्ठान किया। भगवान् शंकरने प्रसन्न हो मुझे आदेश दिया कि पैठणमें जाओ। वहाँ विष्णुभक्त एकनाथने श्राद्धके दिन एक चमारको अन्न खिलाकर भूतदयाका अपूर्व पुण्य कमाया है। यदि वह तुम्हें उसमेंसे कुछ पुण्य दे देगा तो तुम्हारा कुष्ठ मिट जायगा।'

ब्राह्मण आश्चर्यके साथ आपसमें तरह-तरहके वितर्क करने लगे। कोढ़ी ब्राह्मणने एकनाथके पास पहुँचकर सारा हाल कह सुनाया।

नाथने कहा—'अवश्य ही उस दिन अन्त्यजको अन्न-दान कराकर भगवान् शंकरने मुझे भूतदयाका पुण्य प्राप्त कराया है। लो, उनकी आज्ञा है तो उसका थोड़ा भाग तुम्हें भी दिये देता हूँ।'

प्रायश्चित्त करानेवाले ब्राह्मण एकटक देखते रहे। नाथने हाथमें जल ले उस पुण्यका अंशदान कर उस ब्राह्मणपर प्रोक्षण किया। देखते-देखते उसकी काया स्वर्ण-सी चमक उठी। कुष्ठका नामोनिशान न था। प्रायश्चित्त करानेवालोंने ही नाथसे क्षमा माँग अपने संत-द्रोहका प्रायश्चित्त किया।

—गो०न०बै० (भक्ति-विजय, अ० ४६)

क्षमाने दुर्जनको सज्जन बनाया

दक्षिणके पैठण नगरमें गोदावरी-स्नानके मार्गमें ही एक सराय पड़ती थी। उस सरायमें एक पठान रहता था। मार्गसे स्नान करके लौटते हिंदुओंको वह बहुत तंग किया करता था। दूसरोंको छेड़ने तथा सतानेमें ही उसे अपना बड़प्पन जान पड़ता था।

श्रीएकनाथजी महाराज भी उसी मार्गसे गोदावरी-स्नानको जाते थे। वह पठान उन्हें भी बहुत तंग करता था। दूसरे लोग तो बुरा-भला भी कुछ कहते थे; किंतु एकनाथ महाराज कभी कुछ बोलते ही नहीं थे। एक दिन जब श्रीएकनाथजी स्नान करके सरायके नीचेसे जा रहे थे, तब उस पठानने उनके ऊपर कुल्ला कर दिया। श्रीएकनाथजी फिर नदी-स्नान करने लौट गये; किंतु जब वे स्नान करके आने लगे, तब पठानने फिर उनपर कुल्ला किया। इस प्रकार कभी-कभी चार-पाँच बार एकनाथजीको स्नान करना पड़ता था।

'यह काफिर गुस्सा क्यों नहीं करता?' पठान एक दिन श्रीएकनाथजीके पीछे ही पड़ गया। वह बार-बार कुल्ला करता और एकनाथजी बार-बार गोदावरी-स्नान करके लौटते गये। पूरे एक सौ आठ बार उसने कुल्ला किया और उतनी ही बार एकनाथजीने स्नान किया।

संतकी क्षमाकी अन्तमें विजय हुई। पठानको अपने कामपर लज्जा आयी। वह एकनाथजीके पैरोंपर गिर पड़ा—'आप खुदाके सच्चे बंदे हैं। मुझे माफ कर दें। अब मैं कभी किसीको तंग नहीं करूँगा।'

'इसमें क्षमा करनेकी क्या बात है। आपकी कृपासे आज मुझे एक सौ आठ बार गोदावरीका पुण्य स्नान प्राप्त हुआ।' एकनाथजीने उस पठानको आश्वासन दिया।

—सु० सिं०

तुकारामजीकी शान्ति

संत तुकारामजी अपने खेतसे गन्ने ला रहे थे। रास्तेमें लोगोंने गन्ने माँगे, उन्होंने दे दिये। एक गन्ना बच रहा, उसे लेकर वे घर पहुँचे। घरमें बड़ी गरीबी थी और भोजनका अभाव था। फिर, उनकी पत्नी जीजीबाई थी भी बड़े करारे स्वभावकी। उसने झुँझलाकर गन्ना उनके हाथसे छीन लिया और उसे बड़े जोरसे उनकी पीठपर दे मारा। गन्नेके दो टुकड़े हो गये। तुकारामजीने हँसकर कहा—'हम दोनोंके खानेके लिये मुझे दो टुकड़े करने ही पड़ते। तुमने सहज ही कर दिये, बड़ा अच्छा किया।'

पतिसेवासे पति वशमें

वेरूलके निकट देवगाँवके आऊदेवकी कन्या बहिणाबाई और उसके पति गङ्गाधरराव पाठक पट्टीदारीके झगड़ेसे ऊबकर घर त्याग कोल्हापुरमें आकर बस गये। वहाँ मकान-मालिक हिरंकटने उन्हें एक सवत्सा कपिला गौ समर्पित की। कपिलाका बछड़ा बहिणासे इतना हिल-मिल गया कि उसके बिना उसे एक क्षण भी चैन नहीं पड़ता।

उन दिनों कोल्हापुरमें समर्थ-पंचायतनके प्रसिद्ध संत जयराम स्वामीका कीर्तन चल रहा था। बहिणाबाई भी वहाँ पहुँची और साथमें बछड़ेको लेती गयी। स्वामीका चरण छूकर वह उन्हींके पास बछड़ेसहित बैठ गयी। कार्तिकी एकादशीके कारण बढ़ती भीड़ देख प्रबन्धकोंने बछड़ेको वहाँसे बाहर ले जाकर बाँध दिया। बछड़ा जोर-जोरसे रँभाने लगा और बहिणा भी अनमनी हो उठी। स्वामीको पता चलते ही उन्होंने बछड़ेको भीतर बुलवाया और दिव्य दृष्टिसे दोनोंको अधिकारी जान उनका विशेष गौरव किया।

फिर क्या था! चारों ओर बहिणाकी चर्चा चल पड़ी। सभी कहा करते—'इतने बड़े साधु जब बहिणाबाईका इतना सम्मान करते हैं, तब निश्चय ही वह पहुँची हुई होगी।' वैसे गृहस्थ होते हुए भी बहिणाबाईका सारा समय भजन-पूजन और गोसेवामें ही बीतता।

गङ्गाधररावको यह पसंद न था। बहिणाका गृहस्थीसे विराग और निवृत्तिसे अनुराग देख वे भीतर-ही-भीतर उसपर कुढ़ते थे। यह विराग त्याग देनेके लिये उन्होंने कई बार बहिणाका मन विषयोंकी ओर मोड़ना चाहा, पर वे कभी सफल न हुए।

जयरामस्वामीकी इस घटनाने तो आगमें घीका काम कर दिया। रावका क्रोध भड़क उठा और उन्होंने बहिणाको इतना पीटा कि बेचारी सप्ताहों खटियापर पड़ी रही। उसे कभी होश आता तो कभी बेहोश हो जाती। पता लगनेपर जयराम स्वामी उसकी खबर लेने आये और रावको समझाकर भविष्यमें उसपर हाथ चलानेसे रोका; पर परम संसारी रावको यह अमृत-उपदेश भी कडुवा लगा।

इधर मर्मस्थानोंकी चोटसे बहिणाकी दशा दिन-पर-दिन बिगड़ने लगी। इसी बीच एक दिन बहिणाको स्वप्नमें किसी ब्राह्मणने आकर कहा—'बच्ची, सचेत हो जाओ।' स्वप्नमें ही उसने जयरामस्वामीकी जय बोली और तुकारामकी प्रार्थना की। तुकारामने स्वप्नमें ही बहिणाको मन्त्रोपदेश दे दीक्षित किया।

जागनेके साथ ही बहिणाके स्वास्थ्यमें आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया। उसकी सारी पीड़ा हवा हो चली। चेहरा दिव्य कान्तिसे दीप्त हो उठा। अब तो वह भगवदानन्दमें और भी रमने लगी। उसके अन्तरमें तुकोबाके प्रत्यक्ष दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा जाग उठी। दुबारा जयदेवस्वामी उसके घर पधारे। अब तो सारा कोल्हापुर बहिणाके घर टूट पड़ने लगा। बहिणाका घर साधकोंका अखाड़ा बन गया।

यह सब देखकर गङ्गाधरराव अत्यन्त निराश हुए। शूद्र जातिके तुकारामकी शिष्या बननेमें गौरव माननेपर बहिणासे वे और भी चिढ़ गये। उन्हें संसारसे विराग-सा हो गया। उन्होंने घर त्याग कहीं चले जानेकी सोची और एक दिन जानेके लिये निश्चित भी कर लिया।

बहिणाको इसका पता चलते ही उसे भारी दुःख हुआ। पतिद्वारा परित्यक्ता होनेकी कल्पनासे ही वह काँप उठी। उसने बहुत अनुनय-विनय किया, पर राव टस-से-मस नहीं हुए।

लाचार बहिणा निर्बलके बल रामको मनाने लगी—'प्रभो! मैंने कौन-सा ऐसा महान् अपराध किया जो आप इतना कठोर दण्ड दे रहे हो? सच कहती हूँ, पति मुझसे अलग हो गये तो मैं प्राण दे दूँगी। पत्थरके पण्ढरिनाथ और स्वाप्निक

तुकारामके लिये प्रत्यक्ष देवता पतिको त्यागनेके लिये मैं कभी तैयार नहीं। नारीके जीवनका विश्राम एकमात्र पति ही होता है दयालो! दया करो और पत रक्खो!'

भगवान्‌ने पतिव्रताकी पुकार सुन ली। घर त्यागनेसे ठीक पहले दिन रातमें गङ्गाधररावको अकस्मात् जोरका ज्वर आ गया और उनकी यात्रा रुक गयी।

साध्वी बहिणाको अवसर मिला और उसने उसका पूरा-पूरा लाभ उठाया। उसने लगातार एक मासतक एकनिष्ठासे पतिकी सेवा-शुश्रूषा की। पति-सेवामें वह नींद ही क्या, भूख-प्यासतक भूल गयी।

बहिणाकी इस अद्भुत सेवासे रावको अपनी करनीपर अनुताप हुआ और उसीके बाद उनका ज्वर-ताप भी मिटा। वे बहिणाको लेकर देहू आये और तुकाराम महाराजके अनन्य भक्त बन गये। पतिव्रताकी सेवाने परम संसारी पतिको परमार्थका पथिक बना लिया।—गो० न० बै०

(धेनुकथा-संग्रह)

तुकारामका गो-प्रेम

संत बहिणाबाई और उनके पति गंगाधरराव अपनी प्यारी कपिलाके साथ देहूमें तुकाराम महाराजके दर्शनार्थ आये थे। रास्तेमें एक दिन गंगाधररावको तुकारामसे जलनेवाले वहींके एक ब्राह्मण मंबाजी मिले। रावके आनेके कारणका पता चलते ही वे आपेसे बाहर हो उठे और लगे तुकोबाको अनाप-शनाप कहने। गंगाधररावसे सहा नहीं गया, उन्होंने कहा—'महाराज! आप मेरी निन्दा प्रसन्नतासे कीजिये पर भगवद्भक्त तुकोबाकी निन्दा कर व्यर्थ ही पापकी गठरी क्यों बाँध रहे हैं?'

यह सुनकर मंबाजी रावपर आगबबूला हो उठे और बदला लेनेपर उतारू हो गये।

एक दिन बहिणा और राव तुकोबाके भजनमें मग्न थे। मौका पाकर मंबाजी धीरेसे उनकी कपिलाको खोल ले गये और उसे बेदम मारकर तहखानेमें छिपा दिया।

भजनके बाद कपिलाको न देखकर बहिणा शोक करने लगी। गाँवभर खोजवाया गया, आस-पासके गाँवोंमें भी लोग भेजे गये, पर कपिलाका कहीं पता न चला। बहिणा उसके बिछोहसे विह्वल हो उठी।

बहिणाकी गाय गुम होनेका तुकोबाको भी भारी क्लेश हुआ। उनका चित्त उद्विग्न हो उठा। दो दिन बाद अकस्मात् स्वप्नमें आकर कपिला फूट-फूटकर रोने लगी और तुकोबासे उबारनेकी बार-बार प्रार्थना करने लगी। गायकी गुहार सुन तुकोबाकी आँखें खुलीं—गायपर पड़ी मारसे तुकोबाकी पीठपर बड़े-बड़े फफोले हो गये थे और सारा शरीर बेरहमीकी मारसे दर्द कर रहा था।

तुकोबाने अपने दर्दकी कुछ परवा नहीं की और गायके लिये अपने सर्वस्व आराध्य प्रभुसे प्रार्थना की।

भगवान्‌ने तुकाराम महाराजकी प्रार्थना सुनी। एकाएक मंबाजीके घरमें आग लगी और अग्निदेव धू-धूकर उनका सर्वस्व स्वाहा करने लगे। लोग आग बुझाने दौड़ पड़े। इसी बीच उन्हें गायका डकारना सुनायी दिया। सभी ठक्-से रह गये। गाय कहाँ? खोज होने लगी। आखिर तहखाना खोला गया। गाय निकाली गयी। उसकी पीठ मारसे सूज गयी थी। तबतक मंबाजीको संत-निन्दा और गोघातका पूरा प्रायश्चित्त प्राप्त हो गया। उनका गगनचुम्बी प्रासाद और उसका सारा सामान राखका ढेर बन गया!

संत तुकारामको पता चलते ही वे दौड़ते आये और कपिलाको साष्टाङ्ग दण्डवत्कर उसके मुँहपर हाथ फेर आँसू बहाने लगे। संतका यह गो-प्रेम देख बहिणाबाईके शरीरपर सात्त्विक अष्टभाव उमड़ पड़े, वह रोमाञ्चित हो उठी।—गो० न० बै०

(धेनुकथा-संग्रह)

भगवान् थाल साफ कर गये

पंढरपुरमें दामाजी सेठ नामक एक दर्जी (छींपी) भगवान् विठ्ठलनाथके बड़े ही भक्त थे। उनके सुपुत्र नामाजीको भी बचपनसे वही लत लग गयी थी।

दामाजीका नित्य नियम था कि रसोई बननेपर थाल परोसकर विठ्ठलनाथके पास जा उन्हें भोग लगाते और फिर घर आकर भोजन करते। एक दिन दामाजीको किसी दूसरे गाँव जाना था। जाते समय वे स्त्रीसे कहते गये कि मैं आऊँ तबतक प्रतिदिन नामाके हाथ विठ्ठलनाथको भोग भेजती रहना, मेरा नियम भङ्ग न होने पाये।

दूसरे दिन बालक नामदेव परोसी हुई थाली लेकर

विट्ठलनाथके मन्दिर पहुँचा और थाली रखकर भोग खानेके लिये आग्रह करने लगा। उसकी निर्मल बालबुद्धिमें यह विकल्प ही नहीं उठा कि पत्थरकी मूर्ति कैसे खायेगी? 'भगवन्! क्या मेरे हाथका भोग आपको नहीं भाता? मैं अज्ञान बच्चा हूँ, इसलिये मेरी उपेक्षा कर रहे हो? अरे, पिताजी हाट गये हैं, इसीलिये माताजीने आज मुझे भेजा। अगर तुम न खाओगे तो लोग मुझे पापी कहेंगे और माताजी ऊपरसे मारेंगी। मेरे लिये दुनियामें मुँह दिखाना मुश्किल हो जायगा। प्रभो! तुम ही मेरी उपेक्षा करोगे तो मैं किसकी शरण जाऊँगा। अगर नहीं खाओगे तो मैं यहीं भूखा रहकर प्राण दे दूँगा।'—वह करुणाभरे शब्दोंमें भगवान्‌को मनाने लगा।

नामदेव समझता था कि भगवान् रोज भोग खाते हैं और आज ही नहीं खा रहे हैं? इसीलिये वह भगवान्‌के चरणोंमें अन्न-सत्याग्रह कर बैठ गया। और अन्तमें सरलहृदय नामदेवकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने वह भोग पा ही लिया।

नामदेव प्रसन्न हो घर आया और मातासे बड़े आनन्दसे कहने लगा कि मेरे नन्हा होनेपर भी भगवान्‌ने मेरे हाथसे भोग खा लिया। माँने थाल देखा। सचमुच वह खाली था। माताको दृढ़ विश्वास था कि मेरा पुत्र कभी झूठ नहीं बोल सकता।

दूसरे दिन दामाजीके घर पहुँचनेपर उसने सारी बात कह सुनायी तो उन्हें भी आश्चर्य हुआ कि पत्थरकी मूर्ति कैसे भोग खा गयी! दामाजीका भी नामदेवपर पूर्ण विश्वास था कि वह कभी झूठ नहीं बोलता। अन्तमें उन्होंने नामासे कहा—'आज भी तू ही मन्दिरमें भोग ले चल। मैं तेरे पीछे-पीछे आ रहा हूँ। देखता हूँ, वह तेरे हाथसे खाता है या तू झूठ बोलता है।'

नामदेव परोसा थाल लेकर भगवान्‌के पास आया और उनसे उसे खानेके लिये अत्यन्त करुणासे मनाने लगा—'प्रभो! अगर आज तुमने भोग न खाया तो व्यर्थ ही मैं झूठा ठहरूँगा और माता-पिताका मुझपरसे विश्वास भी उठ जायगा। भगवन्! सिवा आपके मेरी लाज कौन रख सकता है?'

भगवान् फिर संकटमें पड़े। भक्तका संकट दूर करने और उसकी लाज रखनेके लिये भोग खानेके सिवा दूसरा उपाय ही न देख भगवान्‌को पुनः उसे खाना पड़ा। दामाजी सेठ यह देख अपनेको धन्य-धन्य मानने लगे।—गो० न० बै०

(भक्तविजय, अध्याय ४)

कच्चा बर्तन

संत-मण्डलीके साथ ज्ञानेश्वर महाराज गोरा कुम्हारके घर आये। नामदेव भी साथ थे। ज्ञानदेवने गोरासे कहा—'तुम कुशल कुम्भकार हो। बताओ, इनमेंसे कौन-सा बर्तन कच्चा है?'

गोराने पिटनी लेकर पीटना शुरू कर दिया। सभी संत मार खाकर भी शान्त रहे। नामदेवकी बारी आयी तो वे एकदम बिगड़ उठे। चट गोरा बोला—'यही कच्चा भाजन है।'

नामदेव बड़े ही दुखी हुए। सब संतोंके बीच गोराद्वारा किये गये अपमानकी उन्होंने भगवान्‌से शिकायत की।

भगवान्‌ने कहा—'नामा! सच है कि तू मेरा परम भक्त है और मैं तेरे लिये सदा सब कुछ करनेको तैयार रहता हूँ। फिर भी तुझमेंसे मेरे-तेरेका भेद न मिटनेसे तू कच्चा ही है। वह तो बिना गुरुकी शरण गये मिट नहीं सकता। शिवालयमें विठोबा खेचर परम संत हैं। उनके पास जाकर ज्ञान प्राप्त कर आ।'

नामदेव विठोबाके पास गये। विठोबा सो रहे थे। उनके पैर शिवकी पिण्डीपर धरे देख नामदेवको बड़ी अश्रद्धा हुई। उसने सोचा—क्या ऐसे ही अधिकारीसे ज्ञान पानेकी प्रभुने मुझे सलाह दी। क्या यही 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः?'

आखिर नामदेव कह ही बैठे—'महाशय, आप बड़े संत कहलाते हैं और शङ्करकी पिण्डीपर पैर धरते हैं।'

विठोबाने कहा—'नामा! मैं बूढ़ा जर्जर हो गया हूँ। तुम्हीं मेरे पैर उठाकर उस जगह रख दो, जहाँ शिवकी पिण्डी न हो।'

नामदेवने उनके पैर पकड़कर पिण्डीसे उतार अन्यत्र रक्खे। वहाँ भी शिवकी पिण्डी दीख पड़ी। वह जहाँ-जहाँ उनके पैर उठाकर रखता वहीं सर्वत्र शिवकी पिण्डिका दीख पड़ती। नामदेव असमंजसमें पड़ गया। उसने विठोबा खेचरके चरण पकड़ सर्वत्र शिव-ही-शिव दीख पड़नेकी बात कही और इसका रहस्य पूछा।

विठोबाने नामदेवके सिरपर अभय कर रखकर अद्वैतका बोध कराया। नामदेवकी द्वैतबुद्धि मिट गयी।

दूसरे दिन संत-सभाके बीच भगवान्‌ने नामदेवको लक्ष्यकर संतोंसे सगर्व कहा—'अब यह भाजन भी पक्का बन गया।'
—गो० न० बै०

(भक्ति-विजय, अध्याय १८)

योगक्षेमं वहाम्यहम्

भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन नामदेवका घरसे बिल्कुल ही ध्यान जाता रहा। उनकी पत्नी राजाईको पुत्र भी हो चुका था। घर दाने-दानेके लिये मुँहताज हो गया। पास-पड़ोसके लोग व्यंग्य कसने लगे। माता गोणाई भी नामदेवको उनकी करनीपर कठोर वचन कहा करतीं।

एक दिन इन्हीं सबसे अत्यन्त अनुतप्त हो नामदेव घरसे निकल पड़े और पंढरिनाथके द्वारपर आकर सजल नेत्रोंसे उनकी प्रार्थना करने लगे—'नाथ! क्यों आपने मुझे संसारके इस कठोर बन्धनमें बाँधा। कहाँ हो? आओ, शीघ्र सहारा दो।' भगवान्‌ने प्रकट होकर नामदेवको आश्वासन दिया।

इधर नामदेवके घरसे चले जानेपर उनकी माता गोणाई किसी तरह पेटकी ज्वाला शान्त करनेके निमित्त इधर-उधरसे कुछ माँगनेको निकल पड़ी। इसी बीच भगवान् केशव सेठका रूप धारण कर नामदेवके घरका पता पूछते-पूछते वहाँ आ पहुँचे। पास-पड़ोसकी स्त्रियाँ हँसी उड़ाती राजाईके पास दौड़ी आयीं और कहने लगीं—'पाहुने आये हैं, आव-भगत करो न।'

राजाई बड़े संकटमें पड़ गयी। वह उनसे कहने लगी—'घरमें एक दाना अन्न नहीं और ये अतिथि आये हैं। क्या करूँ? कह दूँ, वे नहीं हैं, उनके आनेपर पधारियेगा।'

अतिथि दरवाजेके बाहरसे सारी बातें सुन रहा था। उसने राजाईको पुकारकर कहा—'नामदेव मेरा बचपनका साथी है। मुझे पता चला कि इन दिनों वह बड़ी विपत्तिमें है। इसलिये मैं अशर्फियोंकी थैलियाँ लाया हूँ। इन्हें ले लीजिये। बस, इतना ही काम है।'

राजाई बाहर आयी और उससे थैलियाँ ले लीं। अतिथि जाने लगा तो राजाईने कहा—'जरा ठहरिये, नहा-धोकर भोजन कीजिये और फिर जाइये।' अतिथिने कहा—'नहीं, नामदेवके बिना मैं ठहर नहीं सकता।' और वह चला गया।

राजाईने भीतर जाकर अशर्फियोंकी थैलियाँ उँड़ेलीं, सोनेका ढेर देख वह आनन्द-विभोर हो उठी। तत्काल कुछ अशर्फियाँ ले दूकानदारके पास पहुँची और बहुत-सा सामान खरीदकर घर ले गयी। फिर जल्दीसे विविध पकवान बनानेमें जुट गयी।

इधर माता गोणाई कुछ सामान माँगकर भगवान् विट्ठलके मन्दिर पहुँचीं।

नामदेवको लेकर घर आयीं। राजाईको प्रसन्नमुखसे विविध पकवान बनाते देख उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। राजाईने माताके चरण छुये और पतिको प्रणाम कर उनके मित्र केशव सेठका सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

नामदेवको रहस्य समझते देर न लगी। उनकी आँखोंसे अश्रुधाराएँ बहने लगीं। अपने लिये भगवान्‌को यह कष्ट देख उन्होंने प्रभुसे बार-बार क्षमा माँगी। उनका हृदय द्रवित हो उठा।

इसी उपलक्ष्यमें नामदेवने गाँवके सब ब्राह्मणोंको निमन्त्रित किया और भरपेट भोजन कराकर सारा धन उन्हें लुटा दिया।

—गो० न० बै० (भक्तिविजय, अध्याय ४)

सबमें भगवान्

पंढरपुरकी कार्तिक-यात्राका मेला लगा था। अनेकों साधु-संत पधारे थे। एकादशीका निर्जल उपवास करके द्वादशीके दिन पारणके लिये सभी उतावले दीख रहे थे। कोई आटा सानता, कोई रोटी बनाता तो कोई रसोई बनाकर भगवान्‌को भोग लगाता था।

इसी बीच एक काला कुत्ता वहाँ आ पहुँचा। साधुओंकी एकादशीका उसपर भी काफी असर दीख रहा था। कदाचित् पहले दिन कुछ भी न मिलनेसे वह भूखा कुत्ता किसीके आटेमें मुँह डालता, किसीकी पकी रोटी छूता तो किसीकी परोसी थालीमें ही मुँह डालता। प्रत्येक साधु उसे दुत्कारता, मारता, भगाता था। कोई कहता—हमारा अन्न छू गया, अब वह खानेयोग्य नहीं रहा। दूसरा महात्मा कहता—'अरे! यह काला कुत्ता है, धर्मशास्त्रोंमें पढ़ा है कि इसकी छूत नहीं लगती।'

चारों ओरसे तिरस्कृत कुत्ता नामदेवके पास आया और उनकी सेकी रोटी लेकर भागा। यह देख नामदेव पासमें रक्खी घीकी कटोरी ले उसके पीछे-पीछे दौड़े और कहने लगे—'भई! रूखी रोटी मत खाओ, पेटमें दर्द होगा। यह घी है, मैं इसमें रोटी चुपड़कर देता हूँ; फिर खाओ।' नामदेव घी चुपड़कर अपने हाथों उसे रोटी खिलाने लगे।

सभी साधु-महात्मा नामदेवकी करनीपर हँसने लगे और कहने लगे—'नामदेव पागल हो गया है!' पर नामदेवने उनकी परवा नहीं की।

अन्तमें पेट भर जानेके बाद श्वानने मनुष्य-वाणीमें नामदेवसे कहा—"नामदेव! सचमुच तुम्हारी सभी प्राणियोंमें समान दृष्टि है। यहाँ जुटे हुए इन महात्माओंकी अभी विषमदृष्टि मिटी नहीं, पर तुमने 'सर्वत्र समदृष्टि' रखनेका मेरा आदेश अपने अन्तरमें भर लिया।"

यह कहकर श्वानरूप भगवान् अन्तर्धान हो गये। उपस्थित सभी साधु-महात्मा नामदेवका भाग्य सराहने लगे और भगवान्को खिलानेका अवसर पाकर भी उसे खो देनेपर पछताने लगे।—गो० न० बै० (भक्तिविजय, अध्याय २०)

नामदेवका गौके लिये प्राणदान

संत ज्ञानेश्वर और संत नामदेव महाराज तीर्थ-यात्रा करते-करते हस्तिनापुर (दिल्ली) पहुँचे। संतोंके आनेसे दिल्लीमें नामदेवके कीर्तनकी धूम मच गयी। हजारोंकी संख्यामें लोग जुटते और कीर्तन सुनकर आनन्दमग्न हो जाते।

यह बात बादशाहके कानोंतक पहुँची। नामदेवके कीर्तन-की प्रचण्ड ध्वनिसे दिल्लीकी गली-गली गूँजती देख उसके क्रोधका पारावार न रहा। एक दिन रातमें सोता हुआ वह इस प्रचण्ड कोलाहलसे जाग उठा। तत्काल घोड़ेपर सवार हो वह कीर्तन-स्थलपर पहुँचा। उसने आँखों देखा कि लाखोंकी भीड़ वहाँ जुटी है।

बादशाह लौट आया। उसने इस काफिर नामदेवको खूब मजा चखानेका निश्चय किया। सोचा—हिंदू गायकी कुर्बानीसे ठिकाने आते हैं। अतः ठीक कीर्तनके समय उसीके सामने यह किया जाय और नामदेवकी संतई देखी जाय।

दूसरे दिन कीर्तनके समय उसीके सामने बादशाहने अपने हाथों गोहत्या करके नामदेवसे कहा—'यदि तुम सच्चे फकीर हो तो इसे जिलाओ; तभी हिंदूधर्मपर तुम्हारा प्रेम माना जायगा। नहीं जिला सकोगे तो इसे ढोंग मानकर तुम्हारा भी सिर उड़ा दूँगा।'

गोहत्यासे नामदेवका हृदय पानी-पानी हो गया। वे भगवान्को मनाने लगे—'प्रभो! जल्दी आओ और सनातन-धर्मकी तथा इस देवताकी रक्षा करो।' नामदेवकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। गो-माताका सिर गोदमें लेकर वे बड़ी ही करुणासे भगवान्की गुहार करने लगे।

शोक करते-करते नामदेवको मूर्छा आ गयी और वे संज्ञाहीन हो गिर पड़े। उनके प्रिय परमात्माको दया आयी। वे वहाँ प्रकट हुए और नामदेवको जगाने लगे—'नामा! उठो, प्यारी गायकी रक्षाके निमित्त प्राण देनेवाले तुम धन्य हो। मैं तुम्हारे सहायतार्थ आ गया हूँ। देखो, गाय तुम्हें चाट रही है, उठो।'

नामदेव पुनः संज्ञायुक्त हुए। उन्होंने आँखें खोलीं। सचमुच गाय उन्हें चाट रही थी। बादशाहने नामदेवके चरणोंपर सिर धरकर क्षमा माँगी। —गो० न० बै०

(धेनुकथा-संग्रह)

पारस-कंकड़ एक समान

नामदेवकी पत्नी राजाई अपनी सहेली परिसा भागवतकी पत्नीके पास गयी। घरेलू सुख-दुःखकी कथाके प्रसङ्गमें राजाईने अपने घरकी अत्यधिक विपन्नताकी राम-कहानी सुनायी।

परिसाकी पत्नीने कहा—'सखि! मेरे पास माता रुक्मिणी-की दी हुई एक पारसमणि है। मैंने बहुत-से लोहेको उसे छुला-कर सोना बनाया और वह सारी सम्पत्ति तहखानेमें धरी है। तू भी उसे ले जा और थोड़े-से लोहेको उससे स्पर्श कराके सोना बना ले तथा मेरी मणि शीघ्र मुझे ला दे। किसीको यह भेद न बताना।'

राजाई पारस ले आयी। लोहेसे उसका स्पर्श कराते ही बहुत-सा सोना बन गया। उसे बाजारमें बेचकर वह बहुत-सा सामान खरीद लायी और विविध व्यञ्जन तैयार करके बैठ गयी।

नामदेव भोजनके लिये घर आये। घरका नया रंग देख उन्हें आश्चर्य हुआ। पत्नीसे सब कुछ साफ-साफ बतानेको कहा। राजाईने सारी घटना कह सुनायी। तब नामदेवने कहा—'दिखाओ मुझे।'

राजाईने मणि लाकर नामदेवके हाथमें धर दी। नामदेव

उसे लेकर मध्याह्न-स्नानके लिये चल पड़े। चन्द्रभागामें स्नान करके आह्निकके लिये बैठे और उस पारसमणिको चन्द्रभागामें डाल दिया।

इधर राजाईको देर होते देख परिसा भागवतकी पत्नी आयी और उससे पारस माँगने लगी। राजाईने घाटपर पहुँचकर नामदेवसे उसे माँगा तो उन्होंने कहा—'उसे तो चन्द्रभागाने ले लिया।'

दुःखित और लज्जित हो राजाईने आकर भागवतकी पत्नीको यह बात सुनायी। बेचारी खाली हाथ घर लौटी।

भागवतके घर आनेपर उन्होंने मणि न देखकर अपनी पत्नीसे पूछा। उसने सारा हाल कह सुनाया। उसने सर्वत्र प्रचार किया कि नामदेवने पारस चुरा लिया। लोगोंमें एक तहलका मच गया।

देखते-देखते चन्द्रभागापर भीड़ लग गयी। भागवतने आकर नामदेवसे सीधेसे पारस दे देनेको कहा। नामदेवने कहा—'उसे मैंने तो चन्द्रभागामें डाल दिया। चाहिये तो निकालकर दिखा दूँ।'

लोग हँसने लगे। नदीके गर्भमें गयी मणि कैसे निकल सकती है।

नामदेवने डुबकी लगायी, अञ्जलिपर कुछ कंकड़ निकाले और कहा—'लीजिये, इतने सारे पारस!'

मजाक करते हुए लोगोंने लोहेके टुकड़े उन कंकड़ोंसे स्पर्श कराये। सचमुच वे सोनेके बन गये। लोगोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। —गो॰ न॰ बै॰

(भक्तिविजय, अध्याय १८)

धूलपर धूल डालनेसे क्या लाभ?

राँका-बाँका पति-पत्नी थे। बड़े भक्त और प्रभुविश्वासी थे। सर्वथा निःस्पृह थे। भगवान्‌ने उनकी परीक्षा करनेकी ठानी। एक दिन वे लकड़ी लाने जंगलको जा रहे थे। पति आगे-आगे चल रहे थे, पत्नी पीछे-पीछे आ रही थी। राहमें किसी चीजकी राँकाजीको ठोकर लगी। उन्होंने देखा, सोनेकी मोहरोंसे भरी थैली खुली पड़ी है। वे उसे देखकर जल्दी-जल्दी धूल डालकर उसे ढकने लगे। इतनेमें बाँकाजी आ पहुँचीं। उन्होंने पतिसे पूछा, 'क्या कर रहे हैं?' राँकाजीने पहले तो नहीं बताया, पर विशेष आग्रह करनेपर कहा—'सोनेकी मोहरें थीं। मैंने समझा, इनपर कहीं तुम्हारा मन न चल जाय; इसलिये इन्हें धूल डालकर ढक रहा था।' बाँकाने हँसकर कहा—'वाह, धूलपर धूल डालनेसे क्या लाभ है! सोनेमें और धूलमें भेद ही क्या है, जो आप इन मोहरोंको ढक रहे हैं।'

जब सूली पानी-पानी हो गयी!

एक शूद्र अपनी पत्नीके साथ कार्तिकी यात्राके निमित्त पंढरपुर गया। उसके साथ उसकी नन्ही-सी पुत्री जनी भी थी। उत्सव समाप्त होनेपर वह अपने घर लौटने लगा। जनीका मन पंढरपुरमें भगवान्‌के भजन-कीर्तनमें इतना रम गया कि वह माता-पिताके साथ घर जानेके लिये तैयार नहीं हो रही थी। माता-पिताने बहुत समझाया, पर उसने एक भी न मानी। लाचार माता-पिता उसे विट्ठल-मन्दिरमें ही छोड़कर चले गये।

भजन समाप्त होनेपर जब सभी भक्त चले गये, तब नामदेवकी दृष्टि जनीपर पड़ी। उसके अभिभावकको वहाँ न देख उस अनाथाको वे अपने साथ घर ले आये। अब जनी नामदेवके घर दासी बनकर रहने लगी।

नामदेवके यहाँ नित्य ही बड़े-बड़े साधु-संत आते। जनीको अनायास उनका सत्सङ्ग प्राप्त होता। सत्सङ्गकी महिमासे धीरे-धीरे उसका मन भगवान्‌में इतना रमने लगा कि वह अपना नित्यका काम भी भूल जाती। उसने अपना चित्त प्रभु-चरणोंमें समर्पित कर दिया। इस कारण भक्तवत्सल भगवान्‌को उसके काम पूरे करने पड़ते। कई बार ऐसा हुआ कि वह भजनकी धुनमें कितने ही घरके काम करना भूल गयी। नामदेवकी माता गोणाई ज्यों ही उसे डाँटने-फटकारने लगतीं त्यों ही भगवान् उन कामोंको स्वयं रूप बदलकर कर देते।

प्रातःकाल आटा पीसनेका काम जनीके जिम्मे रहा। एक दिन वह सो गयी। भगवान्‌ने तत्काल पहुँचकर उसे जगाया और आटा पीसनेमें उसका साथ स्वयं देने लगे। आटा

पीसते-पीसते सुबह हो गयी। भगवान् जल्दीसे उठे और मन्दिरमें जाकर बैठ गये। इसी बीच उनके गलेका जड़ाऊ हार वहीं रह गया।

पूजाके समय पुजारीने हार न देखकर शोर मचाया। सभीकी तरह जनीसे भी पूछा गया। पर उसने साफ इनकार कर दिया। बेचारी कुछ जानती ही न थी। जनीपर जलनेवालोंने उसके घरकी तलाशी लेनेको कहा और जाँचमें हार उसीकी कोठरीसे बरामद हुआ।

भगवान्‌के गलेका हार चुराने और इनकार करनेके अपराधमें लोगोंने जनीको सूलीपर चढ़ानेका कठोर दण्ड दिया। भीमाके तटपर सूली बैठायी गयी और जनीको उसपर चढ़ानेका उपक्रम हो ही रहा था कि अपने निरपराध भक्तको बचानेकी बात भगवान्‌ने सोच ली। लोगोंके देखते-देखते सूली पानी-पानी हो गयी और लोग जनीबाईको निर्दोष बता उसे गौरव देने लगे।—गो०न०बै० (भक्तिविजय, अ० २१)

नित्य-नियमका कठोर आचरण

बार्शी नगरमें जोगा धरमानन्द नामक प्रसिद्ध हरिभक्त नित्य पूजाके बाद गीताका एक-एक श्लोक कहकर पंढरिको ७०० बार साष्टाङ्ग नमस्कार करता। नमस्कार किये बिना कभी उसने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। एक बार महाद्वारमें एक व्यापारी आया। रातमें पानी बरसनेसे कीचड़ हो गया था। जोगा नित्यकी तरह उस दिन भी आया और उसने नमस्कार शुरू कर दिये। उसकी देह कीचड़से सन गयी।

व्यापारी यह स्थिति देख अत्यन्त प्रभावित हुआ। पासकी दूकानसे एक बहुमूल्य पीताम्बर खरीदकर वह जोगाको देने लगा। जोगाने कहा—'भाई! मुझपर दया आती हो तो कोई फटा-पुराना वस्त्र दे दो। यह बहुमूल्य वस्त्र तो भगवान्‌को ही फबता है। इसे भगवान्‌को ही चढ़ाओ।' व्यापारी नहीं माना, उसका अत्याग्रह और निष्ठा देख जोगाने पीताम्बर स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन जोगा पीताम्बर पहनकर नमस्कार करने लगा। उसका मन रह-रहकर पीताम्बरको कीचड़से बचानेमें ही लग जाता। फलतः मध्याह्न हो गया, पर उसके नमस्कार पूरे नहीं हुए। जोगाको यह बात ध्यानमें आते देर न लगी। पीताम्बरके कारण नित्यके नियममें विघ्न पड़ते देख वह बड़ा दुखी हुआ और सोच-विचार करता भगवान्‌के महाद्वारके बाहर आ अनमना-सा बैठ गया। अपने कियेपर पश्चात्तापके कारण उसकी आँखोंसे अविरल अश्रुधारा बह चली।

इसी बीच एक किसान सुन्दर बैलोंकी जोड़ीपर हल्की धुरा रक्खे जाता दीख पड़ा। जोगा अपने अपराधके प्रायश्चित्तकी एक अद्भुत कल्पना अनायास सूझ पड़नेसे उछल पड़ा। उसने हरवाहेको रोककर कहा—'भैया! यह बहुमूल्य पीताम्बर ले लो और यह बैलोंकी जोड़ी मुझे दे दो। कृपाकर मुझे हलमें बाँध दो और बिगड़कर बैलोंको दो चाबुक जड़ो, ताकि बैल मुझे घसीटते दूर ले जायँ। फिर तुम आकर बैलोंको ले जाना।'

पीताम्बर बैलोंसे अधिक मूल्यका देख किसान लोभमें आ गया और 'लोभमूलानि पापानि'—उसे कुछ भी करनेमें विवेक नहीं रहा। हलमें जोगाको बाँध उसने बैलोंपर चाबुक फटकारा। बैल प्राण लेकर भाग निकले।

बहुत दूर घोर जंगलमें पहुँचकर बैल रुके। पत्थरों, कंकड़ों और काँटोंसे जोगाका सारा शरीर लहू-लुहान हो गया था। प्राण निकलना ही चाहते थे कि जोगाने अपनेको सँभालकर भगवान्‌की अन्तिम स्तुति आरम्भ की। भक्तकी नियमनिष्ठा पूरी हो गयी। भक्तवत्सलसे अब रहा नहीं गया। पीताम्बर पहने वनमाली बैलोंके बीच आविर्भूत हो गये और उन्होंने उसे हलके बन्धनसे मुक्त किया।

भगवान्‌के श्रीहस्तका स्पर्श होते ही जोगाकी सारी पीड़ा, सारे घाव हवा हो गये। नित्य-नियमका कठोर आचरण करनेवाले अपने इस भक्तको भगवान्‌ने सदाके लिये अपना बना लिया।—गो० न० बै०

(भक्तिविजय, अध्याय २०)

प्रेम-तपस्विनी ब्रह्मविद्या

देवर्षि नारद व्रजभूमिमें भ्रमण कर रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्रका अवतार हुआ नहीं था; किंतु होनेवाला ही था। घूमते हुए वे एक यमुनापारके वनमें पहुँचे। देवर्षिको आश्चर्य हुआ—सृष्टिमें इतनी शान्ति भी सम्भव है? लगता था कि उस काननमें पवनके पद भी शिथिल हो जाते हैं। पशु-पक्षी कहीं दीखते नहीं थे। पूरा कानन निस्पंद—गतिहीन और आश्चर्य तो यह था कि वहाँ पहुँचकर देवर्षिकी वीणा भी मूक हो गयी थी। उनकी गति भी शिथिल होती जा रही थी और उनका मन भी लगता था कि विलीन होने जा रहा है।

'कौन है यहाँ? किसका प्रभाव है यह?' देवर्षिने इधर-उधर देखा। एक अद्भुत शान्ति वहाँ सर्वत्र व्याप्त थी; किंतु उसमें तमस् नहीं था। शुद्ध सत्त्वमयी शान्ति। जैसे आलोक एवं आनन्दसे परितृप्त कण-कण अपनी गति खोकर स्थिर हो गया हो।

'तुम कौन हो देवि?' एक अद्भुत ज्योतिर्मयी देवी वृक्षमूलमें बैठी दीख पड़ी। वह तपस्विनी थी, शृङ्गार और आभूषणसे रहित थी। उसमें लगता था कि कोई पार्थिव अंश है ही नहीं, केवल ज्योतिका पुञ्जीभाव है वह। देवर्षिको लगा कि वह चिरपरिचिता है, फिर भी अपरिचित है। उसे पहचानकर भी पहचाना नहीं जा पाता।

'मैं ब्रह्मविद्या हूँ।' देवीका स्वर प्रणवके परानादके समान गूँजा।

'ब्रह्मविद्या! आप? आप क्या कर रही हैं यहाँ?' देवर्षिने श्रद्धासे मस्तक झुका दिया।

'आप देख ही रहे हैं कि तपस्या कर रही हूँ।' देवीने उत्तर दिया।

'परंतु आपका प्राप्तव्य क्या है?' देवर्षि नहीं समझ पाते थे कि जिनकी प्राप्तिके लिये ऋषिगण युग-युगके तपसे पवित्र मनके द्वारा ध्यान करते हैं, मनन-निदिध्यासन करते हैं, उस ब्रह्मज्ञानकी साक्षात् अधिदेवताको पाना क्या हो सकता है। जो निखिल कामनाओंकी निषेधरूपा हैं, उनमें कामना क्या और बिना कामनाके तप क्यों?

'मैं गोपीभावसे श्रीनन्दनन्दनके चरण-कमल पाना चाहती हूँ!' ब्रह्मविद्याके नेत्र सजल हो गये। 'उनकी कृपाके बिना उनके श्रीचरण मिला नहीं करते देवर्षि!'

—पद्मपुराण, पातालखण्ड ७२

हंसोंके द्वारा भीष्मको सन्देश

महाभारत युद्धके १०वें दिन भीष्मपितामहके ही बतलाये मार्गसे शिखण्डीकी आड़ लेकर अर्जुनने उन्हें घायल कर दिया और अन्ततोगत्वा उन्हें रथसे गिरा दिया। उस समय सूर्य अस्त हो रहे थे और उस दिन पौष कृष्ण पञ्चमी थी। तबतक सूर्य दक्षिणायन ही थे। भीष्मजीके शरीरमें सभी ओरसे बाण बिंधे हुए थे। इसलिये गिरनेपर भी वे उन बाणोंके ऊपर ही टँग गये। धरतीसे उनका स्पर्श न हो सका। तबतक उनमें दिव्य भावका आवेश हो गया और उन्हें यह पता चल गया कि यह दक्षिणायन काल मरनेके उपयुक्त नहीं है। इसलिये उन्होंने अपने होश-हवाश ठीक रक्खे तथा प्राणोंका भी त्याग नहीं किया। तब-तक आकाशमें दिव्य वाणी हुई कि—'समस्त शास्त्रोंके वेत्ता भीष्मजीने अपनी मृत्यु दक्षिणायनमें कैसे स्वीकार कर ली ?'

भीष्मजीने कहा—'मैं अभी जीवित हूँ और उत्तरायण आनेतक अपने प्राणोंको रोक रक्खूँगा।' जब उनकी माता भगवती भागीरथी गङ्गाको मालूम हुआ, तब उन्होंने महर्षियोंको हंसके रूपमें उनके पास भेजा। तदनन्तर मानसरोवरवासी शीघ्रगामी हंस भीष्मपितामहके दर्शनके लिये वहाँ आये जहाँ रणस्थलमें वे शरशय्यापर पड़े थे। हंसरूपधारी मुनियोंने उनकी प्रदक्षिणा की। वहाँ उन हंसोंने आपसमें कुछ आमन्त्रणा—विचार-विमर्श किया और कहने लगे—'भीष्मजी तो बड़े महात्मा हैं। भला ये दक्षिणायनमें शरीरत्याग क्योंकर करेंगे ?' ऐसा कहकर वे चलने लगे। भीष्मजी उन हंसोंको पहचान गये। वे बोले—'हंसगण! मैं दक्षिणायन सूर्यमें कभी भी परलोक-यात्रा नहीं करता। इसका आप पूर्ण विश्वास रक्खें। मैंने उत्तरायण सूर्यमें परलोक जानेकी बात मनमें पहलेसे ही निश्चित कर रक्खी है। पिताके वरदानसे मृत्यु मेरे अधीन है। अतएव तबतक प्राण धारण करनेमें मुझे कोई कठिनाई या बाधा नहीं उपस्थित होगी।'

ऐसा कहकर वे शरशय्यापर सो रहे और हंस-गण उड़ते हुए दक्षिण दिशाकी ओर चले गये।

(महा० भीष्मपर्व, अध्याय ११९)

संत बनना सहज नहीं

रोजन गाँवमें एक ब्राह्मण नित्य बात-बातपर पत्नीसे झगड़ता और जब-तब कहता—'नहीं मानोगी तो संतोबा पवारके पास चला जाऊँगा; फिर खूब दुर्दशा भोगोगी।' पत्नी पतिकी इस धमकीसे परेशान हो गयी थी।

एक दिन संतोजी उनके घर भिक्षार्थ आये। ब्राह्मण-पत्नीने अपनी रामकहानी उन्हें सुनाकर दयाके लिये प्रार्थना की। संतोबाने कहा—'अब जब कभी वह ऐसा कहे, तब तुम साफ कह देना कि 'अभी जाइये।' यों उसे मेरे पास भेज देना। मैं मन्त्र फूँक दूँगा, फिर वह तुम्हारे वश हो जायगा।'

संत चले गये। पतिदेव आये। भोजनमें विलम्ब देख बिगड़ने लगे और अपना नित्यका अस्त्र चलाया—'यदि ऐसा ही करोगी तो मैं जाकर संतोबा बन जाऊँगा।' पत्नीने कहा—'देर क्यों? इसी दम जाइये।'

ब्राह्मण पेंचमें पड़ गया। वह लोटा और कुछ वस्त्र ले पगड़ी-कुरता पहन निकल पड़ा। संतोजीके पास आकर उसने अपनेको पूर्ण वैराग्य हो जानेकी बात कही और उनसे शिष्य बना लेनेकी प्रार्थना की। संतोबाने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। ब्राह्मण वहीं रह गया।

संतोबाका आदेश पाकर वह तूँबा भर जल लाने नदी-पर गया। इसी बीच संतोबाने उसके सारे कपड़े फाड़कर पेड़पर फेंक दिये। ब्राह्मण भूखसे तड़फड़ाता ऊपर आया।

संतोबाने उसे लँगोटी लगवायी। संतोबा-दम्पती कन्द-मूल खाने लगे। ब्राह्मणको भी वही दिया गया। खाते हुए उसने कहा—'तीता लग रहा है। कुछ मीठी चीज दीजिये।' संतोबाने पासके पेड़से कड़वा नीम तोड़कर दिया। ब्राह्मण उसे मुँहपर रखते ही दुखी हो उठा। उसने सोचा—घरपर सूखी रोटी तो मिलती थी, मैंने यह विपत्ति क्यों मोल ली। वह रोने लगा।

संतोबाने कहा—'जब वैराग्यका यह पहला पाठ ही पढ़नेमें तुम रोने लगे, तब फिर संसारमें रहकर उदास क्यों रहते हो। बार-बार संतोबा बननेका डर दिखाकर पत्नीको क्यों छलते हो। क्या संत बनना सहज है?'

अब तो उसने क्षमा माँगी और भविष्यमें पत्नीको कभी ऐसा न कहनेकी प्रतिज्ञा की।

संतोबाने लँगोटी पहने ही उसे उसके घर भिजवा दिया। संतोबाद्वारा पहलेसे समाचार मिला होनेके कारण पत्नीने तत्काल उसे वस्त्र पहननेको दे दिया। तबसे वह सुखसे रहने लगा।—गो०न०बै०

(भक्तिविजय, अ० ५६)

सभीका ईश्वर एक

'नरहरि! भगवान् विट्ठलनाथने प्रसन्न हो मुझे पुत्र दिया। मैं आज उन्हें रत्नजटित कमरपट्टा चढ़ाने आया हूँ। पंढरपुरमें सिवा तुम्हारे कोई उसे गढ़ नहीं सकता। इसलिये उठो, भगवान्‌की कमरका नाप ले आओ और शीघ्र उसे तैयार कर दो।'—एक साहूकारने आकर नरहरि सुनारसे कहा।

नरहरिने पंढरपुरमें रहकर भी कभी भूलकर विट्ठलनाथका दर्शन नहीं किया था। वह परम शैव था। शिवके भजन-पूजनमें सदा अनुरक्त वह भक्त वैष्णवोंके देव विट्ठलनाथसे इतना बचता कि बाहर निकलते समय सिर नीचा कर चलता, ताकि धोखेमें विट्ठल-मन्दिरका शिखर-दर्शन भी न हो जाय।

नरहरिने मन्दिरमें जाना स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया। लाचार हो व्यापारी स्वयं ही जाकर नाप ले आया। कमरपट्टा बना और भगवान्‌को पहनाया गया तो छोटा होने लगा। फिर नरहरिके पास उसे लाया गया। नरहरिने बड़ी कुशलतासे उसे बड़ा कर दिया। अबकी बार वह अपेक्षासे अधिक बड़ा हो गया।

साहूकार चिन्तित हो उठा—'क्या सचमुच भगवान् हमपर अप्रसन्न हो गये? क्योंकर वे इसे स्वीकार नहीं करते?' उसने आकर नरहरिसे बड़ी अनुनय-विनय की। अन्ततः नरहरि मन्दिर चलने और स्वयं नाप लेनेको तैयार हुआ—इस शर्तपर कि मेरी आँखोंपर पट्टी बाँध ले चलो और मैं हाथोंसे टटोलकर नाप ले लूँगा।

आँखोंपर पट्टी बाँधे नरहरि सुनार पकड़कर मन्दिरमें लाया गया। उसने मूर्तिको टटोला तो दशभुज, पञ्चवदन, भुजङ्गभूषण, जटाधारी शंकर ईंटपर खड़े मालूम पड़े। अपने

आराध्यदेवको पाकर उनके दर्शनसे बचनेकी अपनी बुद्धिपर उसे तरस आयी और उसने अत्यन्त अनुतप्त हो आँखोंसे पट्टी खोली। पट्टी खोलते ही पुनः पीताम्बरधारी वनमालीको देख वह सकपकाया और पुनः पट्टी बाँध ली। फिर हाथोंसे टटोला तो वे ही भवानीपति भोलानाथ और पट्टी खोलते ही रुक्मिणीरमण पाण्डुरङ्ग ईंटपर खड़े तथा कटिपर हाथ धरे दिखायी पड़ते।

नरहरि बड़े असमंजसमें पड़ गया। उसे ईश्वरमें भेद-बुद्धि रखनेपर अच्छा पाठ मिल गया। शिवका अनन्य भक्त होनेके कारण उसे अब ईश्वराद्वैतका रहस्य समझते देर नहीं लगी। उसने दीनवाणीसे प्रभुकी प्रार्थना की।

भगवान् प्रसन्न हो उठे। ईश्वरमें भेदबुद्धि नष्ट करना ही उनका लक्ष्य था। उसके सिद्ध हो जानेपर भक्तकी अनन्यताके वशीभूत हो उन्होंने उसकी प्रसन्नताके लिये अपने सिरपर शिवलिङ्ग धारण कर लिया। तबसे पंढरपुरके विठ्ठल भगवान्‌के सिरपर आज भी शिवलिङ्ग विराजमान है।—गो० न० बै०

(भक्तिविजय, अध्याय २०)

अकालपीड़ितोंकी आदर्श सेवा

एक बार धामणगाँवमें बहुत बड़ा अकाल पड़ा। लोग अन्नके लिये तड़प-तड़पकर मर रहे थे। गाँवके पटवारी माणकोजी बोधलासे यह देखा नहीं गया। स्वयं पति-पत्नी और पुत्र तथा पुत्रवधूमात्रके इस छोटे-से परिवारमें भगवान्‌की दयासे काफी धन-धान्य और पशु-सम्पत्ति थी।

माणकोजीने अपना अन्न-भंडार लुटा दिया। देते-देते अन्न समाप्त हो गया, पर अकाल-पीड़ितोंको राहत न मिली। माणकोजीने पत्नी और पुत्रवधूके गहने बेच अकाल-पीड़ितोंको अन्न पहुँचाया। बेचारेको पशु भी बेच देने पड़े, फिर भी अकाल-पीड़ितोंका ताँता टूटा नहीं।

पटवारीने सोचा कि अब कुल्हाड़ी ले जंगलसे लकड़ी तोड़ लायें और उन्हें बेच अकाल-पीड़ितोंकी सेवा की जाय। वह जंगलमें गया, लकड़ी भी लाया; पर उसे बेचनेपर केवल तीन पैसे उसे मिले। एक पैसा उसने भगवान्‌को चढ़ाया, दूसरेसे पूजन-सामग्री ले नित्यका भगवत्पूजन किया और बाकी बचे पैसेका आटा अँगोछेमें बाँध अतिथिकी प्रतीक्षा करने लगा।

पाटिलकी दयनीय दशा देख अब कोई उसके निकट अतिथि बन आनेको प्रस्तुत न था। माणकोजीको हार्दिक दुःख हुआ। सेवा और दान नसीब न होनेसे वह अनमना हो उठा।

भगवान्‌से यह देखा नहीं गया। ब्राह्मणका रूप धरकर वे स्वयं उसके अतिथि बनकर आये। माणकोजीने बड़े आनन्दसे आटा उन्हें दे प्रणाम करके कहा—'मुझे आज इतनी ही अनुकूलता है, क्षमा करें।'

ब्राह्मण-वेषधारी भगवान् उसे मन्दिरमें ले गये। अहरे लगाये। इसी बीच ब्राह्मणी भी भूख-भूख करती वहाँ आ पहुँची। ब्राह्मणने तीन टिक्कर बनाये। उनमेंसे एक उसने ब्राह्मणीको दिया, एक स्वयं लिया और एक पटवारीको खानेको दिया। आधा खाते-खाते ब्राह्मणी और ब्राह्मण तृप्त हो गये। पटवारी अकाल-पीड़ितोंकी सेवाका साफल्य मान फूला नहीं समाता था।—गो० न० बै०

(साधु-संतोंच्या गोष्टी, पृष्ठ ८५)

अग्नि भी वशमें !

परली वैजनाथके नागरिक वहाँके जगन्मित्र नामक ब्राह्मण-की विरक्ति और भक्तिसे अत्यधिक प्रभावित थे। प्रतिदिन रातमें कीर्तन-प्रसङ्गमें उनकी अमृत-वाणी सुन सभी गद्गद हो उठते। जगन्मित्र नित्य गाँवसे भिक्षा माँग परिवारका भरण-पोषण करते।

संसारमें ऐसे भी लोगोंकी कमी नहीं, जो दूसरेका उत्कर्ष सहन नहीं कर पाते। जगन्मित्रसे जलनेवाले भी परलीमें पैदा हो गये और वे भाँति-भाँतिके अपशब्दोंसे उनकी निन्दा करते। फिर भी कोई उनकी बातोंपर ध्यान नहीं देता था।

खीझकर उन दुर्जनोंने जगन्मित्रको सपरिवार फूँक देनेकी सोची। रातमें सुनसान हो जानेपर उन्होंने ब्राह्मणके छप्परमें मशालोंसे आग लगा दी। भीतर ताप और उजाला पाते ही जगन्मित्रको यह समझते देर न लगी। बाल-बच्चे गाढ़ निद्रामें सो रहे थे। अपघातकी स्थिति देख जगन्मित्रने

सबको उठाया और एक साथ बैठ प्रभुके भजनमें रात बिता दी।

भोरमें जगते ही लोगोंको आग दिखायी दी। उन्होंने सोचा—हो-न-हो, आग रातमें देरीसे लगी हुई है। वे शोक करते दौड़ पड़े—हरे! हरे! किस दुष्टने जगन्मित्रके घरको आग लगायी। निश्चय ही सपरिवार भक्त इसमें भस्म हो गया होगा।

छप्परके ईंधनको जलाकर अग्निदेव शान्त हो गये। जगन्मित्रके भजनने उन्हें वशमें कर लिया था, फिर वे कैसे उसके घरके भीतर जलाने पहुँच सकते। लोग दरवाजा खोल भीतर घुसे। जगन्मित्र सपरिवार भगवद्भजनमें ही रमे थे। छप्परकी भीषण आगकी एक चिनगारी, राख या कोयला—कुछ भी घरके भीतर दिखायी न पड़ा। लोग भक्त जगन्मित्रकी भक्तिको श्रद्धापूर्वक नमस्कार करने लगे।—गो० न० बै०

(भक्तिविजय, अध्याय १९)

साधुसे छेड़छाड़ न करें

नये दारोगाने जगन्मित्रकी जमीन जप्त करनेका निश्चय किया। लोगोंने उसे समझाया—'इस परम संतको हमलोगोंने यह भूमि इनाममें दी है और इसकी सेवाके निमित्त हमलोग ही जमीनकी देख-भाल करते हैं। हमपर दया करो, संतसे छेड़खानी मत करो।'

दारोगा अपनी ही हठपर अड़ा रहा। उसने एक शर्त रक्खी। जगन्मित्रके पास आकर कहने लगा—'मेरी कन्याका विवाह है। हमारे कुलदैवत शेर हैं। उनका रहना विवाहके समय जरूरी है। यदि तुम उसे ला दो तो तुम्हारी जमीन छोड़ देंगे।'

दारोगाने संतसे यह दूसरी भयानक छेड़छाड़ की। संतने 'तथास्तु' कहा और वह जंगलमें निकल पड़ा। शेर दिखायी न पड़ा। उसने भगवान्‌को पुकारा। भगवान् स्वयं शेर बनकर उसके सामने आकर खड़े हो गये। जगन्मित्रने शेरको प्रणाम करके कंधेपरसे गमछा उतारा और उसके गलेमें डाल उसे लेकर घरकी ओर लौटे।

गौकी तरह शेरको बाँध लाते देख रास्तेके लोग आश्चर्यके साथ दूर भागते जा रहे थे। नगरके पास पहुँचते ही नागरिकोंमें कुहराम मच गया। सभी दारोगाकी दुष्टताको कोस रहे थे। शेरने दहाड़ लगायी; पुरद्वार, जिसे लोगोंने भयसे बंद कर रक्खा था, गड़गड़ाकर गिर पड़ा। जगन्मित्र शेरको ले भीतर घुसा।

लोग किलेपर चढ़कर यह दृश्य देखते और भयसे काँप रहे थे। जगन्मित्र दारोगाके घर पहुँचा। घरके कपाट बंद थे। घरके बाल-बच्चे कोठरीमें बंद थे। जगन्मित्रने दरवाजा खुलवाया। शेरको देख दारोगा थरथर काँपने लगा। उसकी पत्नीने, जो घरपर बैठी पतिकी दुष्टताको कोस रही थी, पतिसे कहा—'नाथ! अब भी संतकी शरण जायँ और लोगोंकी रक्षा करें।'

दारोगाने जगन्मित्रके चरण पकड़े—'संत! आप सचमुच जगत्‌के मित्र हैं। भूलसे आपसे छेड़छाड़ की, क्षमा करें और सबको जीवदान दें।'

जगन्मित्र शेरको पकड़कर जंगल चला गया।—गो० न० बै०

(भक्तिविजय, अध्याय १९)

अपकारका प्रत्यक्ष दण्ड

भक्त भानुदास सदैव हरिभजनमें रमे रहते। जबतक माता-पिता जीवित रहे, भानुदासकी पत्नी तथा बाल-बच्चोंका पालन-पोषण करते रहे; पर उनके मरनेके बाद वे भूखों मरने लगे।

पास-पड़ोसके सज्जनोंको दया आयी। सौ रुपये चंदा करके उन्हें कपड़े खरीद दिये और बाजारके व्यापारियोंको राजी करके उन्हें जीवननिर्वाह करनेकी सलाह दी। व्यवसायियोंने भानुदासको व्यापारका क्रम और भाषा भी पढ़ा दी।

भानुदास व्यापारमें जरा भी असत्यका सहारा लेना अनुचित मानते। ग्राहक आते ही माल, उसका सार, उसका सच्चा मूल्य बताकर यह भी कह देते—इसमें मुझको इतना नफा है। इस कारण उसकी अच्छी साख बाजारमें जम गयी।

भानुदासका व्यापार दिनोंदिन बढ़ने लगा और बाजारके अन्य व्यवसायियोंका काम ठप पड़ने लगा। व्यापारी भानुदाससे जलने लगे। समझदार व्यापारी उसकी सचाईकी

प्रशंसा भी करते और उसकी उन्नतिका मूल उसीको मानते। पर दुराग्रही व्यापारियोंका रोष क्रमशः बढ़ने लगा।

एक दिन एकादशीके निमित्त नगरमें एक प्रसिद्ध कीर्तनकारका कीर्तन था। भक्त भानुदास इस हरिभक्तिके सुखमय प्रसङ्गको कैसे छोड़ सकते थे। उस दिन जल्दी-से दूकान बढ़ाकर भानुदासने पास-पड़ोसके व्यापारियोंसे प्रार्थना की—'मैं जरा कीर्तनमें जाता हूँ, दूकानका आपलोग कृपया ध्यान रखियेगा।' उन्होंने रोषमें कहा—'हम नहीं जानते, तुम अपना देखो।' भानुदासने परवा नहीं की। माल लादनेका घोड़ा वहीं दूकानपर बाँधकर सीधे मन्दिरमें कीर्तनके लिये चले गये।

व्यापारियोंने बदला लेनेका अच्छा अवसर देख उसके घोड़ेको छोड़ दिया और सामान निकालकर पासके ही एक गहरे गड्ढेमें भर दिया और उसे ऊपरसे ढक दिया। फिर शोर मचा दिया कि चोरोंने भानुदासका सामान चुरा लिया। घोड़ा कुछ दूर गया तो उन्हीं प्रभुको चिन्ता हुई, जिनके भजनमें भानुदास रातभर लीन रहे। एक व्यापारीका रूप धर कुछ दूरपर घोड़ेको पकड़कर बैठे रहे।

भानुदाससे इस तरह छल करके व्यापारी अपनी-अपनी दूकानें बंद करके जा रहे थे कि चोरोंका एक गिरोह हथियारोंसे लैस हो वहाँ आ धमका। उन्होंने व्यापारियोंको खूब पीटा, उनके घोड़े छुड़ा लिये और उनकी दूकानोंका भरपेट सामान लूटकर वे भाग गये। व्यापारियोंने अपनी करनीका फल पाया। कुआँ खोदनेवालेको खाई तैयार है।

कीर्तन समाप्त होनेपर कुछ रात शेष रहते ही भानुदास अपनी दूकान देखने आये। रास्तेमें एक अपरिचितको भागते हुए घोड़ेको पकड़कर अपने हवाले करते देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उससे भी अधिक आश्चर्य हुआ व्यापारियोंको रोते-कलपते देखकर।

व्यापारियोंने गड्ढेसे कपड़ोंकी गाँठें निकाल भानुदासको समर्पित कीं और अपनी दुर्बुद्धिके लिये उनसे क्षमा माँगी। —गो० न० बै०

(भक्तिविजय, अ० ४२)

उजड्डपनका इनाम

'अबे ए जोगड़े! खबरदार, मेरी धोतीको छुआ तो! जरा हटकर जा, मैंने यह धोती पूजाके लिये सुखायी है!'—दस वर्षके एक बालकने यों ही कह दिया।

जोगड़ा और कोई नहीं, प्रत्यक्ष शाहू महाराज थे और बालक माहुलीके एक कुलकर्णीका आवारा लड़का दोपहरके पूर्व कृष्णामें नहा रहा था। शाहू महाराजको शिकारका भारी शौक था। देर हो जानेसे जल्दी अकेले ही वे कंधेपर भाला रखकर लौट रहे थे। लंबी दाढ़ी और शरीरपर कफनी-जैसा वस्त्र—सचमुच उनका यह वेष एक साधुको ही फबनेवाला था।

'नहीं बाबा, तुम्हारी धोतीको न छूऊँगा।'—कहकर हँसते हुए महाराज आगे बढ़ गये।

थोड़ी देरमें दो सिपाही बालकके पास आ धमके। उन्होंने उसे बताया कि वे जोगड़ा नहीं, महाराज थे। बालक दण्डकी कल्पनासे काँप उठा।

शाहू महाराजके समक्ष लाये जानेपर उन्होंने मुसकराते हुए बालकसे पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है और अकेले नदीपर तुम क्यों आये?'

'मेरा नाम विठू, माहुलीके कुलकर्णीका पुत्र। माँ सुबह बहुत बिगड़ी—'काम नहीं करता, खाने न दूँगी। निकल जा घरसे।' इसीलिये निकल पड़ा। नहा-धोकर पूजा करके मधुकरी माँगने गाँव जानेवाला था।'

'तो फिर काम क्यों नहीं करते?'

'वह मेरे मनलायक काम नहीं बताती। और जो बताती है, वह मुझे पसंद नहीं। मुझे घोड़ेपर बैठकर दूर दौड़ना और शिकार करना पसंद है, पर माँ मुझे घरमें ही बंद करके रखती है।'

महाराजने सेवकोंको आदेश दिया—'महीने-भर बाड़ेमें ही इसके भोजनकी व्यवस्था की जाय। इसे एक टट्टू ला दो और यह जहाँ जाय, जाने दो। एक महीने बाद मुझे पुनः खबर दो।'

बालकके मनकी मुराद अनायास पूरी हो गयी। राजशाही भोजन ऊपरसे। सुबह-शाम सदैव वह अच्छे-से टट्टूपर बैठकर भर-पेट घूमता। घर आनेपर स्वयं टट्टूकी देख-भाल, खाना-सफाई करता। तबेलेके अन्य टट्टुओंकी भी कभी-कभी सेवा कर देता। बालक सभीको प्रिय हो गया। वह नित्य महाराजके साथ शिकारके लिये भी जाने लगा।

एक दिन महाराजके साथ नित्यकी तरह शिकारके लिये जानेपर महाराजने एक सूअरके पीछे पड़कर उसपर गोली

दागी; पर निशाना चूक गया और सूअर बच निकला तथा सीधे महाराजकी ओर झपट पड़ा। संयोगकी बात यह थी कि विठू या विट्ठल सूअरके पीछे था। उसने उसे लक्ष्यकर भाला फेंका और उसे घायल करके तत्काल घोड़ेसे उतर दोनों हाथोंसे सूअरको रोक रक्खा।

शाहू महाराज तत्काल उसके पास आये और सूअरका काम तमामकर बालककी समयसूचकताकी प्रशंसा की। महाराजने तत्काल उसके लिये सौ घुड़सवारों और बड़ी-सी जागीरकी व्यवस्था कर दी।

यही विठू आगे चलकर विट्ठल शिवदेव विंचुरकर नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिन्होंने पचास-साठ सालतक मराठा-साम्राज्यकी निष्ठासे सेवा की।—गो० न० बै०

(मराठ्यांच्या राज्यकथा, १२८)

अपनेको पहचानना सहज नहीं

'क्यों री! आज सागमें नमक डालना भूल गयी?'—पैठनके परम कर्मठ षट्शास्त्री बहिरंभट्टने अपनी पत्नीसे पूछा।

पत्नीने जवाब दिया—'साठ साल बीत गये, अभीतक आपकी जीभका चटोरपन नहीं गया! अब तो कुछ नियन्त्रण करते!'

बहिरंभट्टने पत्नीसे विनम्रतापूर्वक कहा—'तुमने आज दिव्य अञ्जन लगाकर मेरी आँखें खोल दीं।' और तत्काल वे आत्मज्ञान प्राप्त करके जीवन सार्थक करनेके लिये निकल पड़े।

कुछ दूर एकान्तमें जाकर उन्होंने सोचा—'क्या करूँ? गृहस्थ बना रहूँ तो संसारसे पिण्ड नहीं छूटता और संन्यास ले लूँ तो भी संसार नहीं छोड़ता।' अन्तमें वे एक निष्कर्षपर पहुँचे। पास ही एक काजीके घर गये और उससे मुस्लिम-धर्मकी दीक्षा ले ली, ताकि अपने लोगोंसे पिण्ड छूटे।

बहिरे खाँको वहाँ भी शान्ति नहीं मिली और वे पुनः गङ्गातीरपर आकर अपनी भूलपर बिलख-बिलखकर रोने लगे। ब्राह्मणोंको दया आ गयी और उन्होंने उन्हें शुद्धकर पुनः हिंदू बना लिया।

अब तो बहिरंभट्ट और भी लोगोंकी चर्चाका विषय बन गये। मुसलमान आकर कहने लगे—'हमारे मियाँको तुमने हिंदू क्यों बनाया?' हिंदू कहने लगे—'हमारे बहिरंभट्टको ही तुमने बहिरे खाँ बनाया, पहला अपराध तुम्हारा ही है।'

बहिरंभट्ट बड़े असमंजसमें पड़ गये। वे पागल हो उठे, उन्होंने कहा—'आखिर मैं कौन हूँ? यदि बहिरे खाँ हूँ तो मेरा कान बिंधा ही हुआ है, उसके छेद अभीतक भर नहीं गये और बहिरंभट्ट हो गया तो सुन्नत किया मांस फिर कहाँ आया है, देखो।'

पगला बहिरंभट्ट यह जाननेके लिये कि 'मैं कौन हूँ?' वहाँसे निकल पड़ा और इधर-उधर भटकने लगा। भटकते-भटकते वह एक स्थानपर आया; जहाँ सिद्ध नागनाथ अपने शिष्योंद्वारा स्वयं जीवित समाधि लेनेकी तैयारी करा रहे थे। बहिरंभट्टने कहा—'हाँ, यहाँ 'मैं कौन?' इसका पता चलेगा।'

उसने सिद्धसे भी जाकर यही प्रश्न और वितर्क किया। सिद्ध बिगड़ उठे। उन्होंने पासका दण्ड उठाकर भट्टके सिरपर दे मारा। बहिरंभट्टका शरीर चैतन्यविहीन हो गया।

फिर सिद्धने शिष्योंद्वारा उसके पिण्डको कूट-काट, गोली बना अग्निमें दे दिया। अग्नि शान्त होते ही सिद्धके देखनेके साथ राखमें प्राण संचरित हो गया। बहिरंभट्ट पुनः खड़े हो गये। गुरुने पूछा—'तू कौन?'

वह चुप हो गया। सिद्धने भट्टके सिरपर हाथ रक्खा और उसे सिद्धान्त-ज्ञानका उपदेश दिया। बस, बहिरंभट्ट अपने-आपको समझ गया। —गो० न० बै०

(भक्तिविजय, अध्याय ४४)

दानाध्यक्षकी निष्पक्षता

रामशास्त्री प्रभुणे पेशवाईके प्रमुख विचारपतिका काम कर रहे थे। साथ ही दानाध्यक्षका काम भी उन्हींके अधीन रहा। एक बार दक्षिणा बाँटते समय शास्त्री बोवाके सगे भाई दक्षिणा लेने पहुँचे।

पासमें ही नाना फड़नवीस बैठे थे। नानाने कहा—'मैं समझता हूँ, आप अपने बन्धुको बीस रुपये दक्षिणा दें।'

'मेरे भाई कोई विशेष विद्वान् नहीं, साधारण हैं। इसलिये अन्य ब्राह्मणोंकी तरह इन्हें भी दो रुपये देना ही ठीक होगा। नाना! मेरे भाईके नाते जो कुछ इन्हें देना हो, मैं स्वयं दूँगा। दानाध्यक्ष रामशास्त्रीके यहाँ भाई-भतीजेके प्रति किसी प्रकारके पक्षपातकी गुंजाइश नहीं।'

नाना फड़नवीस चुप हो गये। रामशास्त्रीने भाईको दो रुपये दिये और वे उसे लेकर चुपचाप चलते बने।

—गो० न० बै०

मूर्ख छन्दानुरोधेन

मिरजका अधिकारी दिलेलखान रातमें गश्त लगाता जयराम स्वामीके कीर्तनमें पहुँचा। स्वामीने कहा—'साधुके रास्तेसे जानेपर तत्काल रामका दर्शन मिलता है।'

दूसरे दिन तड़के जयराम स्वामी बुलाये गये। खानने कहा—'साधु जिस रास्तेसे जाय, मैं चलनेको तैयार हूँ; मुझे आप रामका दर्शन करा दें। नहीं तो झूठ कहनेके लिये आपको कठोर दण्ड भुगतना पड़ेगा। जाइये, कलतक इसकी व्यवस्था कीजिये।'

जयराम स्वामी बड़े ही असमंजसमें पड़ गये। लगे हाथ वे नदीके किनारे पहुँचे। समर्थ आह्निक कर रहे थे। सारी घटना सुनाकर समर्थसे उन्होंने इस विपत्तिसे उबारनेकी प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने जयराम स्वामीको दुत्कार दिया, पर पीछे तैयार हो गये।

खानको सूचना भेजी गयी कि 'आज ही तुम्हें रामके दर्शन कराये जायँगे। हमलोग आह्निकसे निवृत्त होकर चल रहे हैं। तुम हमारे पीछे-पीछे आना।'

खान आकर तैयार हो गया। समर्थ और जयराम स्वामी भी निवृत्त हो चल पड़े। खान उनके पीछे-पीछे चलने लगा।

कुछ दूर जानेपर मिरजका किला आया। किलेके बाहर कुछ छेद बने थे, जो भीतरसे बंदूकोंका वार करनेके काममें आते थे। समर्थ सूक्ष्म रूप बनाकर चटसे उसके भीतर घुस गये। भीतरसे ही जयराम स्वामीसे कहा—'चले आओ।' वे भी भीतर चले आये।

फिर समर्थने खानसे कहा—'खान! तुम भी जल्दी इसी रास्ते चले आओ, साधु-संत इसी रास्तेसे आये हैं। देखो, ये रामचन्द्र खड़े हैं। जल्दी आओ और उनके दर्शन कर लो।'

खान अपनी मूर्खता और दुष्टतापर बड़ा ही लज्जित हुआ। उसने समर्थसे क्षमा माँगी और भविष्यमें किसी हिंदू साधुसे छेड़-छाड़ न करनेका वचन दिया। —गो० न० बै०

(समर्थांचे सामर्थ्य)

डाकूसे संत

(लेखक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

बड़ोदाके शेडखी नामक गाँवमें संत रविसाहेबका निवास था। एक समय उत्तर गुजरातके कुछ प्रेमी भजनीक शेडखीकी ओर जा रहे थे। रास्तेमें डाकू कबाजीसे उनकी भेंट हो गयी। भजनीक लोग मस्तीसे भजन गा रहे थे। उनका कबाजीपर प्रभाव पड़ा और उसके मनमें भी शेडखी जाकर रविसाहेबके दर्शन करनेकी इच्छा जाग उठी। वह भेष बदलकर शेडखी पहुँचा। रात्रिका समय था। संतधाममें भजनकी धूम मची हुई थी। डाकूने अपने जीवनमें रविसाहेब और भजन-कीर्तनको पहली ही बार देखा। रविसाहेबने अवश्य ही उसको पहचान लिया।

कबाजी वहाँका सात्त्विक प्रभाव लेकर रात्रिके अन्धकारमें ही लौट गया। एक दिनकी बात है। एक नवविवाहित वर-कन्या शेडखीके संतके चरणोंमें प्रणाम करके उनका शुभाशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये जा रहे थे। अनेकों सेहले बँधे वरोंको बरातसहित निर्दयतासे लूट लेनेवाले क्रूर डाकू कबाजीने उनको देख लिया। पर रविसाहेबका नाम सुनकर कबाजीने उनको छोड़ ही नहीं दिया अपितु उसके मनपर एक चोट लगी। उसके पुत्र नहीं था, इससे दूसरे ही क्षण उसके मनमें वात्सल्यभाव जाग उठा—मानो उसीका पुत्र विवाह करके शेडखी संतधाममें जा रहा हो। सोनेकी मोहरोंसे भरी एक थैली उनके हाथोंमें सौंपते हुए उसने कहा—'यह रविसाहेबकी सेवामें दे देना और कबाजी डाकूके प्रणाम कहना।'

दोनों वर-कन्या संतधाम पहुँचे। थैली चरणोंमें रखकर उन्होंने संतको कबाजीके प्रणाम कहे। उन स्वर्ण-मुद्राओंको संतने स्वयं न लेकर नवविवाहित वर-कन्याको दे दिया और उन्हें आशीर्वाद देकर विदा किया।

एक बार एक बड़ी संत-मण्डली पहाड़ी रास्तेसे शेडखी जा रही थी। रविसाहेब साधु हैं, इतने संतोंका स्वागत-सत्कार वे कैसे करेंगे; इधर मेरे पास बहुत धन है, यह सोचकर कबाजीने एक गँठरी बाँधी और शेडखी जाकर उसे अतिथि-सत्कारमें लगानेके लिये संत-चरणोंमें आग्रहपूर्ण प्रार्थना की।

डाकूकी रक्तसे सनी धनराशिको अस्वीकार करते हुए

संतने उसको फटकारकर कहा—'तू बड़ा निर्दय है, असहाय यात्रियोंको लूटता है ! यहाँ हठ मत कर, आज तू धन देने आया है, कल इसी धनके लिये निरपराध मनुष्योंका खून करके उन्हें लूटेगा । अत्याचारी ! तू यहाँसे चला जा ।'

संतके इन अपमान-भरे आवेशयुक्त शब्दोंको कबाजीने शान्तिसे सुना और नम्रतासे शपथ करते हुए कहा—'महाराज! आजसे डकैतीका पेशा मेरे लिये हराम है ।' यों कहकर उसने तलवार, ढाल, बाण, तरकस—सब संत-चरणोंमें डाल दिये और रविसाहेबके चरणोंमें डंडेकी तरह गिर पड़ा । संतने उसका हाथ पकड़कर उठाया और उसे हृदयसे लगा लिया । उसी दिनसे क्रूर कबाजी डाकू सरल साधुहृदय भक्त बन गया और तबसे पहाड़ी रास्तोंमें उसका स्थान संतोंका आतिथ्य-धाम बन गया ।

अपनी कमाईका पकवान ताजा !

एक वृद्ध महाशय अपने बचपनके साथी श्यामजीके पुत्र रामजीके यहाँ आये । उन्होंने कहा—'बच्चे रामजी ! दुःख है कि श्यामजीको गुजरे साल बीत गया, पर मैं तुम्हारी खोज-खबर लेने नहीं आया । बेटा ! अब तुम्हारे सिरपर कोई नहीं, समझ-बूझकर अच्छे चाल-चलनसे रहना । क्यों, सब ठीक चल रहा है न ?'

बूढ़ा रामजीके चाल-चलनसे भलीभाँति परिचित था । उसे मालूम था कि वह बापका पैसा पानीकी तरह मौज-मस्ती और मित्रमण्डलीमें उड़ा रहा है ।

रामजीने कहा—'चाचाजी, अब आप ही मेरे लिये पिताजीकी जगह हैं । बड़ा अच्छा हुआ जो आप आ गये । कुछ ही दिनों बाद दीवाली है । चार दिन यहीं बिताइये । आपका मुझपर बहुत प्रेम है । बताइये, आपको कौन-सा पकवान अच्छा लगता है ? भगवान्की दयासे मुझे कोई कमी नहीं है ।'

बूढ़ेकी पसंदका गूजा बना । मित्रमण्डली दीवालीके स्नान आदिसे निवृत्त हो भोजनको बैठी । बूढ़े चाचाजी भी पंक्तिमें आ बैठे । भोजन परोसा गया । चाचाजीकी थालीमें तला हुआ ताजा गूजा परोसा गया । मुँहमें रखते ही उन्होंने कहा—'बेटा ! गूजा बासी है, छिः !'

रामजीने समझाया—'चाचाजी ! गूजा अभी-अभी तलकर झरनेसे उतारा गया है । घी निथरनेपर आपको परोसा गया है । सारा सामान ताजा है । फिर आप बासी कैसे कह रहे हैं ।'

बूढ़ेने कहा—'बेटा ! इसमें पचीस साल पुरानी गन्ध आ रही है । यह बहुत ही बासी है । मेरे साथी श्यामजीने कितने कष्टसे पैसा कमाया । उन्हें गुजरे एक ही साल हुआ, इसी बीच तुमने आधी सम्पत्ति उड़ा दी; तब आगे क्या करोगे! तुम अपने परिश्रमसे कमाये धनसे गूजा बनाते तो मैं उसे ताजा कहता । ताजा गूजा मुझे बड़ा ही पसंद है; पर मालूम पड़ता है कि वह मेरे नसीबमें नहीं ।'

'बूढ़ेकी बातें सुन सभी मित्र सकपकाये । रामजीने उनके चरण छुए और कसम खायी कि अबसे मैं अपने श्रमकी ही रोटी खाऊँगा । अगले साल जरूर आइये, आपकी पसंदका गूजा निश्चय खिलाऊँगा ।' —गो० न० बै०

(धेनुकथा-संग्रह पृ० २३)

बाजीराव प्रथमकी उदारता

बाजीराव प्रथम उर्फ बाजीराव बल्लाल पेशवा और निजाम-उल-मुल्कके बीच सन् १७२८ में गोदावरीके किनारे लड़ाई हुई । मराठे जीत गये और मुस्लिम सेनामें अन्नका भारी तोड़ा आ गया । इसी बीच एक मुस्लिम त्योहार आया। निजामने बाजीरावके पास दूत भेजकर अपील की कि 'सेनामें भोजनकी बड़ी कमी आ गयी है, इसलिये अन्न और किरानेकी मदद भेजिये ।'

बाजीरावने अपने प्रमुख सहायकोंकी गुप्त बैठक बुलायी और निजामकी यह अपील उनके समक्ष रखकर निर्णय माँगा । प्रायः सभीने यही सलाह दी कि 'निजामको कुछ भी न भेजा जाय । इस तरह अनायास शत्रुको भलीभाँति तंग करनेका मतलब सध जायगा ।'

पेशवाको यह निर्णय पसंद नहीं आया । उन्होंने कहा—'हम सैनिकोंके लिये यह कदापि उचित नहीं कि

शत्रु बीमार, भूखा या सोया हुआ हो तो धोखेमें उसे नष्ट कर डाला जाय। नवाबने जितनी माँग की है, उससे अधिक भेजकर उसका सम्मान किया जाय।'

पेशवाने पाँच हजार बैलोंपर सारी सामग्री रखकर निजामके पास भिजवा दी। निजाम अत्यन्त प्रभावित हुआ और शीघ्र ही सलाह-मशविरा होकर दोनोंकी भेंट हुई।

—गो० न० बै० (नीतिबोध, पृष्ठ ८४)

मधुर विनोद

एक मुसलमान भक्त थे। उनका नाम अहमदशाह था। उन्हें प्रायः भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होते रहते थे। अहमदशाहसे वे विनोद भी किया करते थे। एक दिन अहमदशाह एक बड़ी लंबी टोपी पहनकर बैठे हुए थे। भगवान्को हँसी सूझी। वे उनके पास प्रकट होकर बोले—'अहमद! मेरे हाथ अपनी टोपी बेचोगे क्या?' अहमद श्रीकृष्णकी बात सुनकर प्रेमसे भर गये। पर उन्हें भी विनोद सूझा। वे बोले—'चलो हटो, दाम देनेके लिये तो कुछ है नहीं और आये हैं टोपी खरीदने!'

भगवान्—'नहीं जी! मेरे पास बहुत कुछ है!'

अहमद—'बहुत कुछ क्या है, लोक-परलोककी समस्त सम्पत्ति ही तो तुम्हारे पास है। पर वह लेकर मैं क्या करूँगा?'

भगवान्—'देखो अहमद! यदि तुम इस प्रकार मेरी उपेक्षा करोगे तो मैं संसारमें तुम्हारा मूल्य घटा दूँगा। इसीलिये तो तुम्हें लोग पूछते हैं, तुम्हारा आदर करते हैं कि तुम भक्त हो और मैं भक्तके हृदयमें निवास करता हूँ। किंतु अब मैं कह दूँगा कि अहमद मेरी हँसी उड़ाता है, उसका आदर तुमलोग मत करना। फिर संसारका कोई व्यक्ति तुम्हें नहीं पूछेगा।' अब तो अहमद भी बड़े तपाकसे बोले—'अजी! मुझे क्या डर दिखाते हो! तुम यदि मेरा मूल्य घटा दोगे तो तुम्हारा मूल्य भी मैं घटा दूँगा। मैं सबसे कह दूँगा कि भगवान् बहुत सस्ते मिल सकते हैं, वे सर्वत्र रहते हैं, सबके हृदयमें निवास करते हैं। जो कोई उन्हें अपने हृदयमें झाँककर देखना चाहेगा, उसे वहीं मिल सकते हैं। कहीं जानेकी जरूरत नहीं। फिर तुम्हारा आदर भी घट जायगा।'

भगवान् हँसे और बोले—'अच्छा भैया! न तुम चलाओ मेरी न मैं चलाऊँ तेरी!'

ये अहमद निरन्तर भगवान्के ध्यानमें ही तल्लीन रहा करते थे। राधा

रहस्य-उद्घाटन

रहीमकी रक्षा

(कुमारी श्रीराधा)

रहीम खानखाना मुसलमान होनेपर भी श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे। एक बार दिल्लीके बादशाहकी आज्ञासे उन्होंने दक्षिण भारतके एक हिंदू राजापर चढ़ाई की। घोर युद्ध हुआ तथा अन्तमें विजय रहीम खानखानाकी हुई। उस हिंदू राजाने रहीमके पास यह प्रस्ताव भेजा कि 'अब जीत तो आपकी हो ही गयी है; ऐसी स्थितिमें हमलोग परस्पर मित्र बन जाते तो मेरे लिये एक गौरवकी बात होती।' रहीम बड़े सज्जन थे। उन्होंने राजाका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया; क्योंकि किसीको भी नीचा दिखाना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। दूसरे दिन राजाने रहीमसे यह प्रार्थना की कि आप यहाँसे जानेके पूर्व मेरे घर भोजन करें। रहीमने यह भी मान लिया तथा संध्या-समय एक सिपाही साथ लेकर भोजन करने चले। वे किलेके फाटकपर पहुँचे तो उन्हें एक बालक मिला। बालकने पूछा—'खाँ साहब! कहाँ जा रहे हैं?'

रहीम—'राजाके यहाँ भोजन करने जा रहा हूँ।'

बालक—'मत जाइये।'

रहीम—'क्यों?'

बालक—'इसलिये कि राजाके मनमें पाप है। उसने आपके भोजनमें जहर मिला दिया है। आपको मारकर फिर

वह युद्ध करेगा तथा आपकी सेनाको मार भगा देगा।'

रहीम—'पर मैं तो वचन दे चुका हूँ कि भोजन करूँगा।'

बालक—'वचन तोड़ दीजिये।'

रहीम—'यह मेरे लिये बड़ा कठिन है।'

इसपर वह बालक बड़ी देरतक रहीमको समझाता रहा। पर रहीम जाकर भोजन करनेके पक्षमें ही रहे। उन्होंने यह दोहा कहा—

अमी पियावत मान बिनु, कह रहीम न सुहाय।
प्रेम सहित मरिबौ भलौ, जो बिष देय बुलाय॥

किंतु बालक फिर भी उन्हें रोकता रहा। अन्तमें रहीमने हँसकर कहा—'क्या तू भगवान् श्रीकृष्ण है जो मैं तेरी बात मान लूँ!'

अब तो बालक खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला—'कहीं मैं श्रीकृष्ण ही होऊँ तो!'

रहीम उस बालककी ओर आश्चर्यभरी दृष्टिसे देखने लगे। इतनेमें वहाँ परम दिव्य प्रकाश फैल गया और बालकके स्थानपर भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। माथेपर मोर-मुकुट एवं फेंटमें वंशीकी विचित्र निराली शोभा थी। रहीम उनके चरणोंपर गिर पड़े। भगवान् बोले—'अब तो नहीं जाओगे न?'

रहीम—'जैसी प्रभुकी आज्ञा।'

भगवान् अन्तर्धान हो गये और रहीम वहींसे लौट पड़े। आकर उसी समय उन्होंने किलेपर चढ़ाई कर दी। एक पहरके अंदर उन्होंने राजाको बंदी बना लिया।

बंदी-वेषमें राजा रहीमके पास आया तो रहीमने पूछा—'क्यों राजा साहब! मित्रको भी जहर दिया जाता है?' राजाने सिर नीचा कर लिया, पर उसे अत्यन्त आश्चर्य था कि रहीम जान कैसे गये; क्योंकि उसके अतिरिक्त और किसीको भी इस बातका पता नहीं था। उसने हाथ जोड़कर पूछा—'रहीम! मैं जानता हूँ कि मुझे मृत्युदण्ड मिलेगा; पर मृत्युसे पहले कृपया यह बतायें कि आप यह भेद जान कैसे गये?' रहीमने कहा—'मैं अपने मित्रकी हत्या नहीं करूँगा, आपको मृत्युदण्ड नहीं मिलेगा। पर वह बात मैं नहीं बताना चाहता।'

राजाने पृथ्वीपर सिर रखकर कहा—'मुझे प्राणोंकी भीख न देकर केवल उसी बातको बता देनेकी भीख दे दें।'

रहीम बोले—'अच्छी बात है; लीजिये, मेरे एवं आपके प्रभु श्रीकृष्णने यह बात बतायी है!'

राजा फूट-फूटकर रोने लगा। रहीमने उसकी हथकड़ी-बेड़ी खोल दी और उसे हृदयसे लगा लिया। दोनों उस दिनसे सच्चे मित्र बन गये।

मर्यादाका औचित्य

छत्रपति शाहुजी महाराजके दाहिने हाथ श्रीमंत पेशवा बाजीराव थे। उनकी कामना थी कि भगवती कृष्णाके तटसे सिन्धु-प्रदेशतक छत्रपति शिवाजीकी अक्षय कीर्तिका प्रतीक भगवा ध्वज लहर उठे। वे अपने समयकी बहुत बड़ी शक्ति थे। महाराज जयसिंह द्वितीयकी हार्दिक इच्छा थी कि तत्कालीन मुगलसम्राट् मुहम्मदशाह और श्रीमंत पेशवासे संधि हो जाय। मुगलसम्राट्के आदेशसे जयसिंहने पेशवाको दिल्ली पधारनेका निमन्त्रण दिया। अपने साथ अपार सेना लेकर पेशवाने छत्रपति शाहुकी आज्ञासे पूनासे प्रस्थान किया। दिल्ली पहुँचनेके पहले उन्होंने उदयपुरकी सीमामें प्रवेश किया; पर ध्यान देनेकी बात यह है कि पेशवाके साथ कुछ ही सैनिक थे, शेष सैनिकोंको उन्होंने बाहर-ही-बाहर दिल्ली जानेका आदेश दिया। उन्होंने सेनाके साथ मेवाड़की पवित्र भूमिपर चरण रखना अनुचित समझा।

महाराणा जगतसिंहने उनका धूम-धामसे स्वागत किया। समस्त नगरमें प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी। महाराणाने चम्पा बागमें उनके ठहरनेकी व्यवस्था की और दूसरे दिन उनके सम्मानमें विशेष उत्सवका आयोजन किया।

× × ×

'हिंदूपदपातशाहीके प्राण—श्रीमंत पेशवाकी जय हो। हिंदू-स्वत्व-संरक्षक महाराणा अमर हों।' मागध और बन्दी-जनोंकी प्रशंसासे राजसभा-भवन परिव्याप्त हो उठा।

'आओ, मित्र!' महाराणाने पेशवाका आलिङ्गन किया। बाजीराव गम्भीर थे, पर अधरोंपर मुसकानकी ज्योतिमयी

गरिमा थी। पेशवाके चरण सिंहासनकी ओर बढ़ते गये। बाजीरावकी गति शिथिल हो गयी, आगे बढ़नेमें विवशता थी।

मेवाड़के कोने-कोनेसे सामन्त पेशवाके भव्य दर्शनके लिये उपस्थित थे। पेशवाके दिल्लीस्थित प्रतिनिधि महादेवभट्ट और जयसिंहके दीवान मलजी भी दैवयोगसे आ गये थे। पेशवाने महाराणाकी राजसभाका ऐश्वर्य देखा, वे सोचने लगे।

'आओ, वीर!' महाराणाने फिर कहा। उन्होंने दो स्वर्णसिंहासन सजाये थे, सिंहासन एक पंक्तिमें थे।

'महाराणा! यह बापा रावलका सिंहासन है; इस सिंहासनमें महारानी पद्मिनीकी आन, महाराणा साँगाकी वीरता, पन्ना-धायका स्वार्थ-बलिदान और राजरानी मीराकी भक्ति अङ्कित है। इस सिंहासनपर विराजमान होकर महाराणा प्रतापने स्वदेश, स्वराज्य और स्वधर्मका मन्त्रानुष्ठान किया; घासकी रोटी खाकर इसकी प्रदीप्ति अक्षुण्ण रक्खी। इस सिंहासनमें महाराणा राजसिंह और संग्रामसिंहका ऐश्वर्य संनिहित है।' पेशवा खड़े थे।

'मित्र! इस सिंहासनपर बैठनेवाला मेवाड़ाधिपति अपने समकक्ष आसन प्रदानकर आपका अभिनन्दन करता है।' जगतसिंहने हाथ बढ़ाया।

'महाराणा! मैं इस सिंहासनके समकक्ष आसनपर किस तरह बैठ सकता हूँ। यह छत्रपति शिवाजीके पूर्वजोंका सिंहासन है। मैंने सीसोदिया वंशका नमक खाया है। मेरे पूर्वजोंने सतारा और सिंहगढ़में इस सिंहासनका जयगान गाया है। मैं मर्यादा-भङ्ग नहीं कर सकता।' पेशवा सिंहासनके नीचे बैठ गये।

'मेवाड़-केसरीकी जय हो!' बाजीरावने आशीर्वाद दिया।

—रा० श्री०

हम-सरीखोंको कौन जिमाता है

मानकोजी बोधला भगवान्‌के परम भक्त थे, उनको भगवान्‌के दर्शन तथा उनसे वार्तालापका सौभाग्य प्राप्त था। एक बार बातचीतमें भगवान्‌ने कहा—'मुझे भक्तका प्रेम-प्रसाद बड़ा अच्छा लगता है। बड़ी-बड़ी दिखावटी जेवनारोंमें मैं नहीं जाता; क्योंकि वहाँ मुझे कौन पूछता है।' बोधलाने कहा—'महाराज! ऐसा क्यों होगा।' भगवान् बोले—'अच्छा, कल अमुक सेठके यहाँ एक हजार ब्राह्मण-भोजनका आयोजन है। मिठाइयाँ बन रही हैं। तुम कल जाकर कौतुक देखना।'

आज्ञानुसार दूसरे दिन ठीक समयपर बोधला वहाँ जा पहुँचे। देखा पंक्तियाँ लगी हैं, हजार पत्तलें परसी गयी हैं, सेठके मुनीम निमन्त्रित ब्राह्मणोंको सूची-नाम देख-देखकर बैठा रहे हैं। सेठजी खड़े हैं, कोई फालतू आदमी न आ जाय—इस निगरानीमें! इतनेमें ही वही बूढ़ा कुबड़ा ब्राह्मण कमरमें एक टाटका टुकड़ा लपेटे लाठी टेकता हुआ वहाँ आ पहुँचा। उसने सेठसे कहा—'सेठजी! बड़ी भूख लगी है!' सेठजीने कहा—'आपको निमन्त्रण थोड़े ही मिला था, यहाँ तो निमन्त्रित ब्राह्मणोंको छोड़कर और कोई नहीं जीम सकता।' ब्राह्मणने कहा—'सेठजी! गरीब हूँ, बहुत ही भूखा हूँ। आपके यहाँ तो पूरे हजार ब्राह्मण भोजन करेंगे, एक ज्यादा ही हो गया तो क्या हर्ज है।' सेठजीने जरा घुड़ककर कहा—'नहीं-नहीं, यों बिना बुलाये आनेवाले भिखमंगोंको खिलाने लगें तो फिर क्या पता लगे। जाओ, जाओ! यहाँ कुछ नहीं मिलेगा।' ब्राह्मणने कहा—'भूखके मारे प्राण जा रहे हैं, चला नहीं जाता; मैं तो खाकर ही जाना चाहता हूँ।' यों कहकर ब्राह्मण एक पत्तलपर जाकर बैठ गया। यह देखकर सेठजी जामेसे बाहर हो गये। उन्होंने पुकारकर कहा—'है कोई? इस बुढ़वाको पकड़कर बाहर तो निकालो।' जमादार दौड़े, बूढ़े ब्राह्मणको पकड़कर लगे घसीटने। ब्राह्मणने कहा—'भूखों मर रहा हूँ, भाई! दया करो।' सेठजीका गुस्सा और भी बढ़ गया, उन्होंने कहा—'निकालो धक्के देकर बाहर। इसका बाप यहाँ रकम जमा करवा गया था सो यह उसे लेने आया है। कमबख्त कहींका, बड़ा शैतान है, अपने मनसे ही जाकर पत्तलपर बैठ गया है, मानो इसके बापका घर है।' बोधला दूर खड़े यह सारा तमाशा देख रहे थे। सेठके चौकीदारोंने ब्राह्मणको घसीटकर बाहर निकाल दिया। ब्राह्मण बाहर निकलकर बोधलाकी ओर देखकर मुसकराया और बोला—'देखा न? यहाँ हम-सरीखोंको कौन जिमाता है।'

भक्तापराध

एक बार भक्त श्रीरूपगोस्वामीजी ध्यानमें यह झाँकी कर रहे थे कि श्रीराधाजी तथा भगवान् श्रीकृष्ण खड़े हैं और आपसमें एक दूसरेके मुँहमें पान खिला रहे हैं।

उसी समय श्रीरूपगोस्वामीजीकी बड़ी ख्याति सुनकर एक गरीब ब्राह्मण वहाँ आ पहुँचा। गोस्वामीजी अपने ध्यानमें तन्मय थे। वे उससे कुछ नहीं बोले। यह देखकर उसके मनमें बहुत दुःख हुआ तथा वह गरीब भक्त यह सोचकर चला गया कि मुझ गरीबसे कौन बोलता है। उस भक्तके दुखी होकर जाते ही श्रीगोस्वामीजीके अन्तस्तलसे भगवान् अन्तर्हित हो गये। उसके बाद उनके मनमें ऐसा लगा मानो कोई कह रहा है कि 'तुमने भक्तका अपराध किया है।' उन्होंने उस भक्तका पता लगाकर जब उससे क्षमा माँगी, तभी उन्हें फिर भगवद्दर्शन हुए। सचमुच भक्त भगवान्से भी बढ़कर है।

ध्यानमें मधुर लीलादर्शन

श्रीजीवगोस्वामीजीके समयकी बात है। उनके प्रेमी एक महात्मा कदमखंडीमें बैठे श्रीराधा-माधवकी मधुर लीलाका ध्यान कर रहे थे। उनको दिखायी दिया कि श्रीप्रियाजी एक वृक्षकी शाखापर लगे हुए मनोहर पुष्पको तोड़ना चाहती हैं, किंतु शाखा ऊँची होनेसे वहाँतक उनका हाथ पहुँचता नहीं। उनको उदास देखकर श्रीश्यामसुन्दरने उन्हें अपने कंधेपर चढ़ा लिया और श्रीजीको वह शाखा पकड़ा दी। श्रीजी पुष्प तोड़नेका उपक्रम करने लगीं। विनोदप्रिय श्रीश्यामसुन्दरने जब देखा कि श्रीजीने शाखा पकड़ ली है तो आप तुरंत हट गये। श्रीप्रियाजी शाखामें लटककर झूलने लगीं। यह देखकर ध्यानस्थ महात्मा जोरसे हँस पड़े।

ध्यानकी लीला

श्रीराधाके भक्तोंको एक दिव्य रूप प्राप्त होता है। उसीसे वे उनके दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। भक्त श्रीनिवासजी भी श्रीराधाके भक्त थे। अतः उनको वह रूप प्राप्त था। वे प्रतिदिन भगवान्का ध्यान करते थे। एक दिन वे इस तरह ध्यान कर रहे थे कि राधाकुण्डमें श्रीराधा-कृष्ण सब सखियोंके साथ विहार कर रहे हैं। इसी समय श्रीराधाका एक कुण्डल जलमें गिर गया। श्रीराधाजीने उनको उसे ढूँढ़कर लानेकी आज्ञा दी, वे उसको ढूँढ़ने लगे। वहाँका तो एक मिनट बीता, पर यहाँके सात दिन बीत चुके थे। उनके घरवाले सब घबरा गये। अन्तमें उन सबोंने उनके एक मित्र रामचन्द्रजीको बुलाया। उनको भी दिव्य रूप प्राप्त था। वे जान गये कि श्रीनिवासजी इस समय कहाँ हैं। उन्होंने भी कुण्डल ढूँढ़ना आरम्भ कर दिया। कुण्डल एक दिव्य कमलके नीचे पड़ा था। रामचन्द्रजीने उसे लेकर श्रीनिवासजीके हाथमें दे दिया। वे उसे श्रीराधाको दे आये। श्रीराधाने अपने मुँहका आधा पान श्रीनिवासजी तथा आधा श्रीरामचन्द्रजीको दे दिया। इधर उनकी आँखें खुलीं और उन्होंने अपने मुँहको उस दिव्य पानसे भरा हुआ पाया।

यह उदारता !

मध्यकालीन इतिहासमें अकबर बादशाहके सेनापति रहीम खानखानाका नाम बहुत प्रसिद्ध है। उनपर सरस्वती और लक्ष्मी दोनोंकी कृपा समानरूपसे थी। वे उच्चकोटिके दानी और काव्यमर्मज्ञ थे।

एक समय वे पालकीसे कहीं जा रहे थे। रास्तेमें एक व्यक्तिने उनकी पालकीमें पँचसेरी (पाँचसेरका लोहेका बाट) रख दी। खानखानाको इससे तनिक भी क्रोध नहीं आया और इस कार्यके लिये उन्होंने उतने ही तौलका सोना ब्राह्मणको दिलवा दिया।

साथमें चलनेवाले सैनिक आपसमें इस घटनाकी आलोचना करने लगे।

'भाई ! इस मनुष्यने मुझे पारस समझकर पँचसेरीसे कसना चाहा था, इसे सोनाके सिवा दूसरी वस्तु दी ही क्या जाती !' रहीम खानखानाकी दानप्रियता और उदारतासे लोग आश्चर्यचकित हो गये। —रा० श्री०

प्रकाशानन्दजीको प्रबोध

काशीमें वेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित, सगुण-उपासनाके विरोधी स्वामी प्रकाशानन्द सरस्वती रहते थे। श्रीचैतन्यदेव जब पुरीमें प्रेमभक्तिका प्रवाह बहा रहे थे, तब उनपर कुछ नाराज होकर स्वामीजीने एक श्लोक लिखकर उनके पास भेजा—

यत्रास्ते मणिकर्णिकामलसरः स्वर्दीर्घिका दीर्घिका
रत्नं तारकमक्षरं तनुभृते शम्भुः स्वयं यच्छति।
तस्मिन्नद्भुतधामनि स्मररिपोर्निर्वाणमार्गे स्थिते
मूढोऽन्यत्र मरीचिकासु पशुवत् प्रत्याशया धावति॥

'जहाँ मणिकर्णिका है, अमल सरोवर आदि पुण्यतोया तलाई और तालाब हैं तथा जहाँ शम्भु स्वयं जीवोंको 'तारक' यह दुर्लभ अक्षर-रत्न प्रदान करते हैं, कामशत्रुके ऐसे मुक्तिपथस्वरूप अद्भुत स्थानका परित्याग करके मूर्ख-लोग ही पशुवत् प्रत्याशाकी मोहिनी मूर्तिपर विमुग्ध होकर मरीचिकाके लोभसे इधर-उधर भटकते हैं।'

श्लोक पढ़कर श्रीचैतन्यदेव मुसकराये और उत्तरमें निम्नलिखित श्लोक लिखकर भेज दिया—

घर्माम्भो मणिकर्णिका भगवतः पादाम्बु भागीरथी
काशीनां पतिरर्द्धमस्य भजते श्रीविश्वनाथः स्वयम्।
एतस्यैव हि नाम शम्भुनगरे निस्तारकं तारकं
तस्मात् कृष्णपदाम्बुजं भज सखे श्रीपादनिर्वाणदम्॥

'जिनके पसीनेके जलसे मणिकर्णिकाकी उत्पत्ति हुई, जिनके चरणकमलोंका धोवन ही भागीरथी गङ्गा हैं, श्रीविश्वनाथ जिनका आधा अङ्ग बने हुए हैं और श्रीशम्भु जिनका तारक नाम देकर जीवोंका निस्तार करते रहते हैं, हे सखे! तुम उन्हीं मुक्तिदाता श्रीकृष्णके चरणकमलोंका भजन करो।'

इस श्लोकको पढ़कर प्रकाशानन्दजीके मनमें बड़ा परिवर्तन हो गया। इसके बाद श्रीचैतन्यदेव जब काशी पधारे, तब स्वामी प्रकाशानन्दजी दो महीने उनके सत्सङ्गमें रहकर श्रीकृष्ण-भक्त बन गये।

भगवान्‌की प्रसन्नता

महात्मा रामलिङ्गम् इस बातको सोचकर सदा खिन्न रहते थे कि मेरे पापोंका क्षय नहीं हो रहा है। वे रात-दिन इसी चिन्तासे परिश्रान्त रहते थे। इस समय उनकी अवस्था केवल सोलह सालकी थी। भगवान् शिवमें उनकी बड़ी निष्ठा थी; वे अच्छी तरह समझते थे कि शिवकी प्रसन्नता और कृपासे उनके पापोंका अन्त हो जायगा।

एक दिन वे मद्रासके निकट तिरुवत्तुरूर मन्दिरमें भगवान् शिवके श्रीविग्रहकी परिक्रमा कर रहे थे। वे अपने पापोंका स्मरण करके चिन्तित हो उठे और भगवान् महादेवका स्मरण करने लगे।

मन्दिरमें उस समय केवल वे ही थे। अचानक उन्हें एक दिव्य पुरुषका दर्शन हुआ। रामलिङ्गम् शिवकी प्रशस्ति गा रहे थे। बड़ी श्रद्धा और विश्वाससे वे अपने आराध्यदेवका हृदयमें आवाहन कर रहे थे। एक दिव्य पुरुष सिद्धयोगीके रूपमें दीख पड़े। रामलिङ्गम् उनके पैरोंपर गिर पड़े।

'मैं इस असार संसार-सागरमें डूब-उतरा रहा हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये। मुझे पाप-पङ्कमें गिरनेसे बचा लीजिये।' रामलिङ्गम्‌ने योगीसे निवेदन किया।

'वत्स! मैं तुम्हारी सच्ची श्रद्धा और स्वाभाविक भक्तिसे प्रसन्न हूँ। संसारमें रहकर भगवदाश्रय करनेवाला व्यक्ति निस्संदेह पाप और पुण्यके पचड़ेसे मुक्त हो जाता है।' दिव्य पुरुष अदृश्य हो गये।

रामलिङ्गम् आश्चर्यचकित थे। उन्हें विश्वास हो गया कि साक्षात् शिवने ही कृपा की। वे उनके श्रीविग्रहको बार-बार देखने लगे। —रा० श्री०

संतका सम्पर्क

संत त्यागराजके जीवनकी एक घटना है। उनकी राम-भक्ति और दिव्य संगीत-माधुरीसे जिस समय समस्त दक्षिण भारत भागवतरसमें निमग्न हो रहा था, उस समय तंजौर-नरेशके मनमें संतके दर्शनकी इच्छा जाग पड़ी। वह त्याग-राजको अपनी राजसभामें बुलाना चाहता था, पर त्यागराज नहीं गये। उन्होंने कहलवा दिया कि 'मेरा मन रामभजनमें ही

सुख मानता है; उसे राजवैभव और धनोपार्जनकी कोई आवश्यकता नहीं है।' उन्होंने राजाके निमन्त्रणकी उपेक्षा कर दी।

× × × ×

एक दिन आधी रातको भावविभोर होकर संत त्यागराज अपने मनको समझा रहे थे कि 'हे मन ! सुन्दर राजमार्ग रहते हुए तुम गलियोंका आश्रय क्यों लेते हो। मुक्तिके लिये भक्तिमार्ग सुलभ है। कुमार्गमें पड़कर क्यों नष्ट होते हो।' इस भावका सरस पद वे अपने सितारपर गा रहे थे कि सहसा चौंक पड़े; उन्हें ऐसा लगा कि उनके सिवा कोई दूसरा व्यक्ति भी उपस्थित है। उनका अनुमान ठीक निकला तंजौर-नरेश छतमें छेद करके उनका संगीत सुन रहे थे। वे शापके भयसे सामने आ गये और चरणोंपर गिरकर क्षमा-याचना की।

'महाराज ! मेरा कल्याण हो गया। आपने ठीक ही कहा है कि हे सुन्दर राजा ! राजपथ छोड़कर तुम रहस्यमार्गसे मेरे घरमें क्यों आ गये।' राजाके मुखसे अपने पदका विलक्षण अर्थ सुनकर तथा उसके सच्चे भावसे प्रसन्न होकर त्यागराजने उन्हें पद सुनाया। राजा निहाल हो गये संतकी रामभक्ति-माधुरीसे। उनका सचमुच कल्याण हो गया।

—रा० श्री०

मैं श्रीकृष्णसे मिलने जा रहा हूँ

लगभग सौ वर्ष पहलेकी बात है। सौराष्ट्रके प्रसिद्ध वैष्णव कवि अभिनव नरसी मेहता—दयाराम भाईने श्रीकृष्ण-लीलापर सरस गान लिखकर अपने आपको अमर कर लिया। उनका समस्त जीवन रास-रसिक नन्दनन्दनके चरणोंपर समर्पित था। वे उन्हींके लिये सारे काम करते थे। उन्हींकी प्रसन्नताके लिये खाते-पीते और कपड़ा पहनते थे। वे कीमती-से-कीमती कपड़े पहनकर अपने आराध्यदेवका दर्शन करनेके लिये मन्दिरमें जाया करते थे।

एक दिन वे अच्छी तरह बन-ठनकर कहीं जा रहे थे। उनका शरीर बड़ा सुन्दर और मुख कान्तिपूर्ण था। उन्होंने हरी किनारीकी अहमदाबादी धोती पहन रक्खी थी, बंडी झीनी मलमलकी थी, अँगरखा बड़ा सुन्दर था; सिरपर लाल रंगकी नागरी पगड़ी थी। बगलमें सितार दबाये वे चले जा रहे थे कि किसी मित्रने छेड़ ही तो दिया कि 'कहाँ जा रहे हैं ! किसीसे मिलनेका कार्यक्रम तो नहीं है ?'

दयाराम भाईका रोम-रोम मित्रके प्रश्नसे पुलकित हो उठा। आँखोंसे प्रेमाश्रु झरने लगे। वे कुछ देरतक आत्म-विभोर होकर जडके समान खड़े रहे।

''भैया ! श्रीकृष्णसे बढ़कर मेरे लिये दूसरा कौन है। उनकी रूप-माधुरीसे बड़ी संसारमें दूसरी वस्तु है ही क्या। आपने कितनी सुन्दर बात पूछी है। बड़े भाग्यसे आपका दर्शन मिल गया। इस समय मैं अपने परमाराध्य प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलने जा रहा हूँ।'' दयाराम भाईने मित्रके प्रति आभार प्रकट किया और चल पड़े।—रा० श्री०

नामनिन्दासे नाक कट गयी

एक बार भक्त हरिदासजी सप्तग्रामके जमींदार हिरण्य मजूमदारके यहाँ हरिनामका माहात्म्य वर्णन करते हुए बोले कि 'भक्तिपूर्वक हरिनाम लेनेसे जीवके हृदयमें जो भक्ति-प्रेमका संचार होता है, वही हरिनाम लेनेका फल है।' इसी बातचीतके सिलसिलेमें जमींदारके गोपाल चक्रवर्ती नामक एक कर्मचारीने हरिनामकी निन्दा की और यह कहा कि—'ये सब भावुकताकी बातें हैं। यदि हरिनामसे ही मनुष्यकी नीचता मिटती हो तो मैं अपनी नाक कटवा डालूँ।' हरिदासजीने भी बड़ी दृढ़तासे उत्तर दिया कि—'भाई ! यदि हरिनाम-स्मरण और हरिनाम-जपसे मनुष्यको मुक्ति न मिले तो मैं भी अपनी नाक कटवा डालूँगा।' कहते हैं कि दो-तीन महीने बाद ही गोपाल चक्रवर्तीकी नाक कुष्ठरोगसे गलकर गिर पड़ी। हरिनाम-निन्दाका फल प्रत्यक्ष हो गया।

सर्वत्र गुणदृष्टि

श्रीगदाधर भट्टजीसे श्रीमद्भागवतकी भावपूर्ण कथा सुननेके लिये भावुक भक्तोंका समुदाय एकत्र हुआ करता था। श्रीमद्भागवत एक तो वैसे ही भक्तोंका हृदय-धन है, भावनाओंका अमृत-सागर है, दूसरे भक्तश्रेष्ठ गदाधरजी-जैसे वक्ता थे। वक्ता भूल जाते थे कि वे कथा सुनाने बैठे हैं और श्रोता भूल जाते थे कि वे घर-द्वार छोड़कर आये हैं। वक्ता गद्गद हो जाते थे। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा चलने लगती थी। श्रोताओंमेंसे भी प्रायः सभीके नेत्र टपकने लगते थे। श्रोताओंमें एक महंतजी भी आते थे। उनके ही नेत्रोंसे अश्रु नहीं आते थे। उन्हें इससे लज्जा होती थी कि लोग कहेंगे, इसमें तनिक भी भक्ति-भाव नहीं है।

महंतजीने एक उपाय निकाल लिया। वे एक वस्त्रमें लाल मिर्चका चूर्ण बाँध लाते थे। कथामें जब ऐसा प्रसङ्ग आता कि सब श्रोता भाव-विह्वल हो उठते, सबके नेत्रोंसे अश्रु निकलने लगते, तब महंतजी भी नेत्र पोंछनेके बहाने लाल मिर्चकी पोटली नेत्रोंपर रगड़ लेते। इससे उनके नेत्रोंसे भी आँसू निकलने लगते।

महंतजीके पास बैठे किसी श्रोताने उनकी चतुरता जान ली। कथा समाप्त होनेपर वह अकेलेमें भट्टजीके पास गया और बोला—'महाराज! आपकी कथामें जो महंत आता है, वह बड़ा ढोंगी है। उसमें भगवद्भक्तिका तो नाम नहीं है, किंतु कथामें दूसरोंको दिखानेके लिये आँखोंमें लाल मिर्चकी पोटली लगाकर आँसू बहाता है, जिससे लोग समझें कि वह कथा सुनकर अश्रु बहा रहा है।'

भट्टजीने पूछा—'आप सच कह रहे हैं?'

श्रोता—'मैंने स्वयं देखा है।'

भट्टजी तो उठ खड़े हुए। वे बोले—'वे महात्मा धन्य हैं! मैं अभी उनके दर्शन करने जाऊँगा।'

भट्टजीके साथ उनके कुछ शिष्य-सेवक भी मठमें गये। मठाधीश महंतको भट्टजीने भूमिपर गिरकर दण्डवत् प्रणाम किया और बोले—'मैंने सुना है कि कथामें नेत्रोंमें स्वाभाविक आँसू न आनेके कारण आप उनमें लाल मिर्च लगाते हैं। आप-जैसे भगवद्भक्तका दर्शन पाकर मैं धन्य हो गया। मैंने पढ़ा है और सत्पुरुषोंके मुखसे सुना है कि भगवान्‌के गुण तथा लीलाको सुनकर भी जिन नेत्रोंमें जल न आवे, उन्हें दण्ड देना चाहिये; किंतु इस बातको क्रियात्मकरूप देनेवाले महात्माके दर्शन तो मुझे आज हुए हैं!'—सु० सिं०

चोरोंका सत्कार

(लेखक—बाबू महिन्द्रसिंहजी)

करीब डेढ़ सौ वर्ष बीत चुके होंगे। चम्पारनमें केशरिया थानाके अन्तर्गत एक ढेकहा गाँव है। वहीं गण्डक नदीके किनारे श्रीकर्त्ताराम बाबा और श्रीधवलराम बाबाका मन्दिर था। मन्दिरके अंदर कुल ढाई-तीन बीघा जमीन थी। उसी जमीनकी फसलसे अतिथियोंका स्वागत होता था तथा मूँजकी रस्सियाँ बनाकर हाटों-बाजारोंमें बेचकर मन्दिरके दीपक इत्यादिका इंतजाम बाबालोग किया करते थे।

अगहनका महीना था। दोनों बाबा अपने मन्दिरमें सोये थे, मन्दिरकी जमीनमें कुछ धान पका था। बाबा लोगोंका विचार उस फसलको काटनेका था। उसी रातको करीब पंद्रह-बीस चोरोंने बाबाके कुल पके हुए धानको काटकर बाँध लिया। जब उन लोगोंने बोझोंको उठाकर सिरपर रखा और उन्हें ले जानेका विचार किया, तब उनको रास्ता ही नहीं सूझा। वे खेतमें ही अंधे हो गये। समूची रात वे जाड़ेसे काँपते हुए उसी खेतमें भटकते रहे।

रातके चौथे प्रहरमें कर्ताराम बाबाने जागते ही धवलराम बाबाको जगाकर उन चोरोंके लिये खानेकी सामग्री भेजी। धवलराम बाबाके खेतमें पहुँचते ही सब चोर लज्जित हो गये। बाबा तो क्षमामूर्ति थे ही, उन्होंने उन लोगोंको सान्त्वना दी, खानेको दिया और साथ ही धानके बोझोंमेंसे उनको उचित मजदूरी भी दी। उन चोरोंका चोरीका पेशा उसी दिनसे छूट गया।

डाकूसे महात्मा

(लेखक—वैद्य श्रीभगवद्दासजी साधु आयुर्वेदाचार्य)

संवत् १७०० के लगभग जैसलमेर राज्यान्तर्गत वारू ग्राममें चौहान क्षत्रिय माधवसिंहजी हुए। ये स्वभावसे बहुत ही रजोगुणी थे। डाकुओंका संघटन करके आसपासमें लूट करना इनका दैनिक व्यवहार-सा बन गया था। ये विशेषकर जंगलोंमें रहते और उधरसे माल लेकर जब कोई व्यापारी निकलते तो ये उन्हें लूट लेते। इस कारण प्रायः सिंधसे इधर वस्तुओंका आना-जाना बंद-सा हो गया था। फिर भी, अकालके समय कभी-कभी लोग निकटवर्ती मार्गसे जल्दी आने-जानेकी बात सोचकर अपने ऊँटोंसे वस्तु लाया-ले जाया करते थे। वे कई बार माधवसिंहजीद्वारा लूट लिये जाते थे। यह क्रम कई वर्षोंतक चलता रहा। लोग इनके नामसे ही काँपने लगे थे। एक समय देशमें भयंकर दुष्काल पड़ा, चारों ओर हाहाकार मच गया। उस समय ऊँटोंपर अनाज लेकर कई यात्री सिंधसे आ रहे थे। जिस झाड़ीले जंगलमें माधवसिंहजी रहते थे, उसके पास पहुँचते-पहुँचते सूर्य अस्त हो गया। कतारिये रात्रिकी भयानकताको देखकर आगे चलना नहीं चाहते थे और वहाँ ठहरनेसे लुट जानेका डर था। दैवगति विचित्र होती है, वे वहाँ ठहर गये। खानेके लिये रोटियाँ बनाने लगे। उनमेंसे एकने कहा—'यहाँ ठहर तो गये, कहीं माधवसिंह आ गये और लूट लिया तो बाल-बच्चे सब नष्ट हो जायँगे।' दूसरेने कहा—'अब तो श्री-रघुनाथजी ही बचायेंगे।' रात्रिके अन्धकारमें वहीं पास खड़े माधवसिंह ये सब बातें सुन रहे थे। इनकी बातें सुनकर उनका हृदय द्रवित हो गया। वे अपनेको रोक नहीं सके, हठात् कतारियोंके सामने जा पहुँचे। इनको देखते ही वे सब रोटियाँ छोड़कर चिल्लाने लगे। उनको रोते-कराहते देखकर माधव-सिंहने कहा—'भाई! डरो मत, तुम रोटी खाकर यहाँसे चले जाओ। मैं तुम्हें नहीं लूटूँगा। मेरी सम्मतिके बिना मेरे साथी भी तुम्हें कष्ट नहीं देंगे।' यों कहकर उन लोगोंको वहाँसे विदा कर दिया। माधवसिंह रातभर अग्नि जलाकर वहींपर बैठे रहे। उन्होंने अपने सारे कपड़े जला दिये। सबेरे जब उनके साथी आये और पूछा—'यह क्या किया?' तब आपने कहा—'भाई! तुमलोगोंमेंसे जो भाई सत्य और अहिंसासे अपना उद्धार करना चाहे, वह मेरे साथ रहे। मैं अब कलङ्कको धोकर अपने जीवनको पवित्र करूँगा।' माधवसिंहजीके बर्ताव और कथनसे प्रभावित होकर सभीने डकैतीका त्याग करके धर्मोचित कार्य करना शुरू किया। आगे चलकर ये ही माधवदासजी वीतराग महात्मा हुए, जिनका स्थान कोडमदेसर है।

पापका बाप कौन ?

पण्डित चन्द्रशेखरजी दीर्घ कालतक न्याय, व्याकरण, धर्मशास्त्र, वेदान्त आदिका अध्ययन करके काशीसे घर लौटे थे। सहसा उनसे किसीने पूछ दिया—'पापका बाप कौन?' पण्डितजीने बहुत सोचा, ग्रन्थोंके पृष्ठ भी बहुत उलटे; किंतु कहीं उन्हें इसका उत्तर नहीं मिला। सच्चा विद्वान् सच्चा जिज्ञासु होता है। पण्डित चन्द्रशेखरजी अपने प्रश्नका उत्तर पाने फिर काशी आये। वहाँ भी उन्हें उत्तर नहीं मिला तो उन्होंने यात्रा प्रारम्भ कर दी। अनेक तीर्थोंमें, अनेक विद्वानोंके स्थानोंपर वे गये; किंतु उनका संतोष कहीं नहीं हुआ।

पण्डित चन्द्रशेखरजी देशाटन करते हुए पूनाके सदाशिव पेठसे जा रहे थे। वहाँकी विलासिनी नामकी वेश्या झरोखेपर बैठी थी। उसकी दृष्टि चन्द्रशेखरजीपर पड़ी। चतुर वेश्या दासीसे बोली—'यह ब्राह्मण रंग-ढंगसे विद्वान् जान पड़ता है; किंतु यह इतना उदास क्यों है? तू पता तो लगा।'

दासी भवनसे बाहर आयी। उसने ब्राह्मणको प्रणाम किया और पूछा—'महाराज! मेरी स्वामिनी पूछती हैं कि आप इतने उदास क्यों हैं?'

ब्राह्मणने कहा—'मुझे न कोई रोग है न धनकी इच्छा। अपनी स्वामिनीसे कहना कि वे मेरी कोई सहायता नहीं कर सकतीं। यह तो शास्त्रीय बात है!'

दासीने हठ किया—'कोई हानि न हो तो आप वह बात बता दें।'

ब्राह्मणने प्रश्न बता दिया। वे कुछ ही आगे बढ़े थे कि

दासी दौड़ती हुई आयी और बोली—'मेरी स्वामिनी कहती हैं कि आपका प्रश्न तो बहुत सरल है। उसका उत्तर वे बतला सकती हैं; किंतु इसके लिये आपको यहाँ कुछ दिन रुकना पड़ेगा।'

चन्द्रशेखरजीने सहर्ष यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उनके लिये वेश्याने एक अलग भवन ही दे दिया और उनके पूजा-पाठ तथा भोजनादिकी सुव्यवस्था करा दी। चन्द्रशेखरजी बड़े कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। अपने हाथसे ही जल भरकर स्वयं भोजन बनाते थे। विलासिनी नित्य उनको प्रणाम करने आती थी। एक दिन उसने कहा—'भगवन्! आप स्वयं अग्निके सामने बैठकर भोजन बनाते हैं, आपको धुआँ लगता है—यह देखकर मुझे बड़ा कष्ट होता है। आप आज्ञा दें तो मैं प्रतिदिन स्नान करके, पवित्र वस्त्र पहिनकर भोजन बना दिया करूँ। आप इस सेवाका अवसर प्रदान करें तो मैं प्रतिदिन दस स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणारूपमें अर्पित करूँगी। आप ब्राह्मण हैं, विद्वान् हैं, तपस्वी हैं। इतनी दया कर दें तो आपकी इस तुच्छ सेवासे मुझ अपवित्र पापिनीका भी उद्धार हो जायगा।'

सरल-हृदय ब्राह्मणके चित्तपर वेश्याकी नम्र प्रार्थनाका प्रभाव पड़ा। पहले तो उनके मनमें बड़ी हिचक हुई, किंतु फिर लोभने प्रेरणा दी—'इसमें हानि क्या है? बेचारी प्रार्थना कर रही है, स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर भोजन बनायेगी और यहाँ अपने गाँव-घरका कोई देखने तो आता नहीं। दस सोनेकी मोहरें मिलेंगी। कोई दोष ही हो तो पीछे प्रायश्चित्त कर लिया जा सकता है।' चन्द्रशेखरजीने वेश्याकी बात स्वीकार कर ली।

भोजन बनाया वेश्याने। बड़ी श्रद्धासे उसने ब्राह्मणके पैर धुलाये, सुन्दर पट्टा बिछा दिया और नाना प्रकारके सुस्वादु सुगन्धित पकवानोंसे भरा बड़ा-सा थाल उनके सामने परोस दिया। किंतु जैसे ही ब्राह्मणने थालीमें हाथ डालना चाहा, वेश्याने थाल शीघ्रतासे खिसका दिया। चकित ब्राह्मणसे वह बोली—'आप मुझे क्षमा करें। एक कर्मनिष्ठ ब्राह्मणको मैं आचारच्युत नहीं करना चाहती थी। मैं तो आपके प्रश्नका उत्तर देना चाहती थी। जो दूसरेका लाया जल भी भोजन बनाने या पीनेके काममें नहीं लेते, वे शास्त्रज्ञ, सदाचारी ब्राह्मण जिसके वशमें होकर एक वेश्याका बनाया भोजन स्वीकार करनेको उद्यत हो गये, वह लोभ ही पापका बाप है।'—सु० सिं०

विचित्र दानी

रहीम खानखाना अपने समयके उदार और दानी व्यक्तियोंमेंसे एक थे। वे बहुत बड़े गुणग्राहक और भगवद्भक्त थे। उन्होंने अपने जीवनकालमें अगणित व्यक्तियोंको लाखों रुपयोंसे पुरस्कृतकर सम्मानित किया था।

एक समय मुल्ला नजीरी नामक व्यक्तिने रहीम खानखानासे निवेदन किया कि मैंने अपने समस्त जीवनमें कभी एक लाख रुपयेका ढेर नहीं देखा है।

'एक लाख रुपयेका ढेर शीघ्र लगा दिया जाय।' खानखानाका आदेश होते ही उनके कोषाध्यक्षने रुपयोंका ढेर लगा दिया।

'परमात्माको धन्यवाद है। उनकी कृपासे खानखानाने एक लाखका ढेर लगवा दिया।' मुल्ला नजीरी प्रसन्नतासे नाच उठे। इधर परमात्माको धन्यवाद देते देखकर रहीमका भक्त-हृदय पिघल उठा।

'मुल्लाको एक लाख रुपयेका ढेर सदाके लिये सौंप दिया जाय, जिससे वे इतनी ही सचाई और भक्तिसे एक बार फिर परमात्माको धन्यवाद दे सकें।' महादानी खानखानाके अधर स्पन्दित हो उठे; वे आनन्दमग्न थे।—रा० श्री०

सहनशीलता

बंगालके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीविश्वनाथ शास्त्री एक बार दूसरे विद्वानोंसे शास्त्रार्थ कर रहे थे। जब विपक्षके विद्वान् शास्त्रार्थमें हारने लगे, तब उस पक्षके एक विद्वान्ने सूँघनेके तंबाकूकी डिबिया खोलकर सारी तंबाकू श्रीविश्वनाथ शास्त्रीके मुखपर फेंक दी। शास्त्रीजीने झटपट मुखपर पड़ी तंबाकू पोंछ डाली और हँसते हुए बोले—'यह तो कुछ क्षणके लिये प्रसङ्गके बाहरकी बात हो गयी, अब हमलोग अपने मूल विषयपर विचार करें।'

शास्त्रीजीका पाण्डित्य विपक्षको पराजित कर पाता या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता; किंतु उनकी सहनशीलताने विपक्षको तत्काल पराजित कर दिया। दूसरे पक्षके विद्वान् लज्जित होकर उनसे क्षमा माँगने लगे। —सु० सिं०

भट्टजीकी जाँघोंपर भगवान्

वृन्दावनमें श्रीभट्ट नामक एक महात्मा रहते थे। लोगोंका कहना था कि उनकी दोनों जाँघोंपर श्रीराधा-कृष्ण आकर बैठा करते हैं ।

एक दिन एक ग्यारह वर्षके बालकने सोचा कि मैं भी जाकर भगवान्के दर्शन करूँ। वह भागकर भट्टजीके समीप आया। आकर उसने महात्माको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

महात्माने उसे बुलाया और खड़े रहनेका कारण पूछा। लड़केने अपनी इच्छा बता दी। इसपर उन्होंने पूछा कि 'तुमको मेरी जाँघपर कुछ दिखायी पड़ता है?' लड़केने कहा—'नहीं।'

महात्मा—'बेटा! तुम्हारी आँखें अभी खराब हैं। लेकिन इसके ठीक होनेका एक उपाय है। तुम जाकर बारह वर्षतक गोवर्धन पर्वतकी परिक्रमा करो। तब तुम्हारी आँखें ठीक हो जायँगी। वहाँ जब तुमको भूख लगे, माँग-कर खा लेना और जहाँ नींद आये सो जाना।'

लड़का चला गया और विश्वासपूर्वक बारह वर्षतक ऐसे ही करता रहा। बारह वर्ष बीत जानेपर उसने सोचा कि अब मुझको भगवान्के दर्शन होंगे। यह सोचकर वह वहाँ आया।

महात्माने फिर पूछा—'अब तुमको कुछ दिखायी देता है?' उसने कहा—'नहीं।' वह निराश हो गया। किंतु महात्माने कहा—'अच्छा, तुम फिर जाओ। इस बार तुम्हारी आँखें जरूर ठीक हो जायँगी।'

वह फिर गया और वैसे ही परिक्रमा करने लगा। बारह वर्ष बाद वह लौटा। इस बार जब महात्माने पूछा—'तुमको कुछ दिखायी पड़ता है?' उत्तरमें उसने उल्लसित होकर कहा, 'मुझको आपकी एक जाँघपर श्रीराधाजी और दूसरीपर श्रीकृष्ण बैठे दिखलायी पड़े हैं।'

फिर तो उसे उस समयसे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी और वे सज्जन आगे चलकर एक प्रसिद्ध महात्मा बने, जिनकी बनायी हुई एक बड़ी सुन्दर लीलाकी पुस्तक है। सभी उनके आगे सिर झुकाते थे।—'राधा'

काशीमें मरनेसे मुक्ति

एक महात्मा थे। वे काशीमें रहते थे। उनके पास एक बिल्ली थी, वह मर गयी। महात्माने उसको लाल कपड़ेमें बाँधकर गङ्गाजीमें डाल दिया।

दूसरे दिन महात्मा जब ध्यान कर रहे थे, तब एक लड़की साड़ी पहने हुए उनके पास आयी और बोली—'महात्माजी! प्रणाम।'

महात्मा—'बेटी! तू कौन है?'

लड़की—'आपने मुझे नहीं पहचाना। मैं वही कलवाली बिल्ली हूँ। आपने दया करके मुझे गङ्गाजीमें डाल दिया था, इससे अब मैं शिवलोकको जा रही हूँ। आपको प्रणाम करने आ गयी।'

यह कहकर लड़की अन्तर्धान हो गयी।—'राधा'

ईमानदारी सबसे बड़ी सिद्धि

संवत् १७४० वि० में गुजरात-सौराष्ट्रमें भारी अकाल पड़ा था। अन्नके बिना मनुष्य और तृणके बिना पशु तड़प रहे थे। वर्षा-ऋतु व्यतीत हो रही थी; किंतु आकाशमें बादलका नाम नहीं था।

तत्कालीन नरेशने यज्ञ कराये, साधु-महात्माओंसे प्रार्थना की; किंतु कोई लाभ नहीं हुआ। एक दिन किसीने नरेशसे कह दिया—'आपके नगरके अमुक व्यापारी चाहें तो वर्षा हो सकती है।' राजा स्वयं गये उस व्यापारीके यहाँ। व्यापारीने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'अन्नदाता! मैं तो तुच्छ मनुष्य हूँ, मेरे कहनेसे कहीं वर्षा हो सकती है।'

परंतु नरेशको जिसने सम्मति दी थी, उसकी बातपर उन्हें विश्वास था। वे हठ करके बैठ गये—'आपको दीन प्रजाके ऊपर और मूक पशुओंपर दया करनी पड़ेगी। जबतक वर्षा नहीं होती, मैं आपके द्वारपर बैठा रहूँगा।'

व्यापारीने देखा कि उसका ऐसे छुटकारा नहीं हो

सकता। उसने अपनी तराजू उठायी और बाहर आकर बोला—'देवता और लोकपाल साक्षी हैं, यदि इस तराजूसे मैंने कभी कम-ज्यादा तौला न हो, यदि यह तराजू सत्य और ईमानका सौदा ही तौलता रहा हो तो देवराज इन्द्र वर्षा करें।'

सबसे बड़ी सिद्धि तो है ईमानदारी। व्यापारीकी बात पूरी होते-न-होते तो आँधीका शब्द सुनायी पड़ने लगा। कुछ क्षणोंमें आकाश मेघोंसे ढक गया और प्रबल वृष्टि पृथ्वीको शीतल करने लगी। —सु० सिं०

धर्मके लिये प्राण-दान

बात शाहजहाँके शासनकालकी है। स्यालकोटके एक छोटे मदरसेमें बालक हकीकतराय पढ़ता था। एक दिन मौलवी साहब कहीं बाहर चले गये। अवसर पाकर बालक खेलने लगे। मुसलमान लड़के स्वभावसे हकीकतरायको छेड़ते रहते थे। उन सबोंने उस दिन भी हकीकतरायको तंग करना प्रारम्भ किया, उसे गालियाँ दीं और फिर हिंदुओंके देवी-देवताओंको गालियाँ देनी प्रारम्भ कीं।

जब हकीकतरायसे नहीं सहा गया, तब उसने कहा—'अगर तुम्हारे पैगम्बरको भी यही बातें कही जायँ तो?'

मुसलमान लड़कोंने गुस्सेसे कहा—'तुम इतनी हिम्मत कर सकते हो! जरा कहकर तो देखो।'

बालक हकीकतरायने वे ही शब्द दुहरा दिये। लेकिन वहाँ तो मुसलमान लड़कोंकी यह दशा हो गयी मानो प्रलय हो गयी हो। उन्होंने बातका बतंगड़ बना लिया। मौलवी साहबके पास सब दौड़े गये और नमक-मिर्च लगाकर सब बातें कहीं।

हकीकतरायको झूठ नहीं बोलना था। फल यह हुआ कि मौलवी साहबने मामला उस स्थानके हाकिमकी अदालतमें पहुँचा दिया। हकीकतराय गिरफ्तार कर लिया गया। नन्हे बालकके हाथ-पैर हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर उसे अदालतमें खड़ा किया गया।

'अगर तू मुसलमान बन जाय तो मरनेसे बच सकता है।' काजीने बालकके सामने यह प्रस्ताव रक्खा।

बालक हकीकतरायके माता-पिता रो रहे थे। उसकी बालिका पत्नी मूर्च्छित हो गयी थी। माता तो कह रही थी—'बेटा! तू काजीकी बात मान ले। तू मुसलमान होकर भी जीता रहेगा तो हम तुझे देख तो सकेंगे।'

काजीने प्रलोभन दिया—'मुसलमान होनेपर तुम्हें ऊँचा ओहदा दिया जायगा।'

हकीकतराय बालक था, किंतु उसका चित्त धर्मवीरतासे पूर्ण था। उसने मातासे कहा—'माँ! मैं अमर होकर तो उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। जब एक दिन मरना ही है तो अपना धर्म छोड़कर थोड़े जीवनके लिये पतित क्यों बनूँ। धर्म-भ्रष्ट होकर जीनेसे तो मरना बहुत उत्तम है।'

'मैं अपना धर्म नहीं छोड़ सकता।' काजीको उस बालकने स्पष्ट सुना दिया। खुले मैदानमें जल्लादकी तलवारने उस बालकका सिर धड़से अलग कर दिया। —सु० सिं०

सज्जनता

सर प्रभाशङ्कर पट्टनी लंदनकी सड़कपर पैदल निकले थे। भारतीय वेश, लंबी दाढ़ी और हाथमें मोटा सोटा लिये यह भारतीय बुड्ढा अंग्रेज लड़कोंको विचित्र लगा। कुछ बालकोंका समुदाय एकत्र हो गया। लड़के सर प्रभाशङ्करपर कंकड़ियाँ फेंकने लगे।

सर प्रभाशङ्कर न झल्लाये और न लड़कोंको उन्होंने डाँटा। वे बोले—'वाह! बालको! तुममें उत्साह और स्फूर्ति तो है। आओ! मैं तुम्हें जलपान करनेके लिये आमन्त्रित करता हूँ।'

बालक इस अद्भुत वृद्धकी सुन्दर अंग्रेजी और मधुर स्वरसे प्रभावित हुए। सर प्रभाशङ्कर उन्हें पासके होटलमें ले गये और अपने पैसोंसे उन्हें जलपान कराया।—सु० सिं०

सच्चे भाई-बहन

लंबी लाठी कंधेपर रक्खे, कमरमें तलवार बाँधे फतहसिंह अपनी स्त्री राजूलाको ससुरालसे बिदा कराके घर जा रहा था। उसका घर दूर था, सूर्यास्त हो चुका था और मार्गमें डाकुओंका भय था। मार्गके गाँवमें कुछ लोगोंने उसे

रोका भी कि वह रात्रि गाँवमें व्यतीत करके तब आगे बढ़े; किंतु जवानीका जोश ठहरा; भला, पत्नीके सम्मुख वह अपनेको दुर्बल कैसे स्वीकार करता । उसने यात्रा जारी रक्खी ।

स्वाभाविक था कि मार्गमें स्त्री कुछ पीछे रह जाती । पुरुषके समान तेज चालसे वह कैसे चल सकती थी । इतनेमें डाकका थैला बल्लममें लटकाये, घुँघुरूका शब्द करते, तलवार बाँधे 'जटा-हरकारा' नामसे पुकारे जानेवाले जटाशङ्कर महाराज उसी मार्गसे निकले । राजूलाने उन्हें प्रणाम किया ।

'कौन ? अभयराम काकाकी कन्या राजूला बहिन, अँधेरा होनेपर तू इधर कहाँ जा रही है ?' जटाशंकर महाराजने उसे पहिचान लिया और अपनी चाल धीमी करके वे उसके साथ हो गये । फतहसिंहके पूछनेपर राजूलाने बता दिया कि जटाशंकर महाराज उसीके गाँवके हैं, उसके पड़ोसी हैं ।

ये लोग कुछ ही आगे बढ़े थे कि एक सोतेके किनारे बबूलके वृक्षोंके झुरमुटमें छिपे आँबला गाँवके बारह कोइरी तलवार लिये निकले । उन्होंने फतहसिंहको ललकारा—'चुपचाप तलवार रख दो ।'

बारह कोइरियोंको देखकर फतहसिंहकी हेकड़ी भूल गयी। उन्होंने चुपचाप तलवार नीचे डाल दी । लुटेरोंने फतहसिंहके हाथ बाँध दिये और उन्हें एक ओर बैठा दिया । अब वे राजूलाके शरीरपरसे गहने उतारने लगे । राजूला भयके कारण पुकार उठी—'जटाशंकर भाई! दौड़ो ! बचाओ !'

जटाशंकर महाराज जान-बूझकर कुछ पीछे आ रहे थे, जिससे राजूलाके पतिको संकोच न हो । अब पुकार सुनकर उन्होंने डाकका थैला फेंक दिया और तलवार खींचकर दौड़े। लुटेरोंने उनसे कहा—'जटा महाराज ! तुम अपने रास्ते जाओ, व्यर्थ क्यों लड़ाई मोल लेते हो ।'

जटा महाराजने गर्जना की—'अपनी बहिनको अपनी आँखोंसे मैं लुटती हुई देखूँ तो मेरे जीवनको धिक्कार है ।'

जटाशंकर महाराज तलवारके मँजे हुए खिलाड़ी थे। उनके सधे हाथ पड़ने लगे । कोइरियोंने भी उनपर एक साथ आक्रमण कर दिया । छपाछप तलवारें चलने लगीं; किंतु जटा महाराजने जब दसको तलवारके घाट उतार दिया, तब शेष दो भाग खड़े हुए । महाराजने उनका भी पीछा किया और उनमेंसे एकको काट गिराया; किंतु दूसरेने उनपर पीछेसे आघात किया । जटाशंकर महाराज भी गिर पड़े ।

फतहसिंहने अब अपने हाथ खोल लिये, लाठी उठा ली और तलवार बाँध ली । पत्नीसे वे बोले—'चल जल्दी !'

राजूलाने कहा—'अब मैं कहाँ जाऊँ । जिसने तीन पद साथ चलकर मेरे लिये अपने प्राण दे दिये, मेरी इज्जत बचानेके लिये जो जूझ गया, उसकी लाश सियारोंसे नोची जानेको छोड़कर मैं तुम्हारे साथ संसारके सुख भोगने जाऊँ ! मेरा सच्चा भाई मरा पड़ा है, उसके देहके साथ मैं अपनी देहकी आहुति दूँगी ।'

'तेरे-जैसी स्त्री मुझे बहुत मिलेंगी !' कहकर कायर फतहसिंह तो चला गया; किंतु राजूला वहाँ जटाशंकर महाराजके शरीरके पास रातभर बैठी रही । सबेरा होनेपर उसने लकड़ियाँ एकत्र करके चिता बनायी । उस चितामें सच्चे भाईके देहके साथ वह सच्ची बहिन भी भस्म हो गयी । उस सोतेपर उन दोनोंके स्मारककी आज भी पूजा होती है ।

—सु० सिं०

सच्ची शिक्षा

रविशंकर महाराज एक गाँवमें सवा सौ मन गुड़ बाँट रहे थे । एक लड़कीको वे जब गुड़ देने लगे, तब उसने इन्कार करते हुए कहा—'मैं नहीं लूँगी ।'

'क्यों ?' महाराजने पूछा ।

'मुझे शिक्षा मिली है कि यों नहीं लेना चाहिये ।'

'तो कैसे लेना चाहिये ?'

'ईश्वरने दो हाथ तथा दो पैर दिये हैं और उनके बीचमें पेट दिया है। इसलिये मुफ्त कुछ भी नहीं लेना चाहिये । यह तो आप मुफ्त दे रहे हैं, मजदूरीसे मिले तो ही लेना चाहिये ।'

महाराजको आश्चर्य हुआ । इसको ऐसी शिक्षा देनेवाला कौन है, यह जाननेके लिये उन्होंने पूछा—'तुझे यह सीख किसने दी ?'

'मेरी माँने ।'

महाराज उसकी माँके पास गये और पूछा—'तुमने लड़कीको यह सीख कैसे दी ?'

'क्यों महाराज ? मैंने इसमें नयी बात क्या कही ? भगवान्ने हाथ-पग दिये हैं, तब मुफ्त क्यों लेना चाहिये ?'

'तुमने धर्मशास्त्र पढ़े हैं ?'

'ना'

'तुम्हारी आजीविका किस प्रकार चलती है ?'

'भगवान् सिरपर बैठा है। मैं लकड़ी काट लाती हूँ और उससे अनाज मिल जाता है। लड़की राँध लेती है।' यों मजदूरीसे हमारा गुजरान सुख-संतोषके साथ निभ रहा है।

'तो इस लड़कीके पिताजी''''''''''''।'

वह बहिन उदास हो गयी, कुछ देर ठहरकर बोली—'लड़कीके पिता थोड़ी उम्र लेकर आये थे। जवानीमें ही वे हमें अकेले छोड़कर चले गये। यद्यपि लगभग तीस बीघे जमीन और दो बैल वे छोड़ गये थे, तो भी मैंने विचार किया कि इस सम्पत्तिमें मेरा क्या लेना-देना है, मैं कब इसके लिये पसीना बहाने गयी थी ?' अथवा यदि मैं पुरानी बुढ़िया होती या अपंग अथवा अशक्त होती तो अपने लिये सम्पत्तिका उपयोग भी करती। परंतु ऐसी तो मैं थी नहीं। मेरे मनमें आया कि इस सम्पत्तिका क्या करूँ और भगवान्‌ने ही मुझे यह सुझाव दिया कि यदि यह सम्पत्ति गाँवके किसी भलाईके काममें लगा दी जाय तो बहुत अच्छा हो। मैंने सोचा, ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता है—मेरी समझमें यह आया कि इस गाँवमें जलकी बहुत तकलीफ है, इसलिये कुँआ बनवा दूँ। मैंने सम्पत्ति बेच दी और उससे मिली हुई रकम एक सेठको सौंपकर उनसे कहा कि 'आप इन पैसोंसे एक कुँआ बनवा दें।' सेठ भले आदमी थे। उन्होंने परिश्रम और कोर-कसर करके कुएँके साथ ही उसी रकममेंसे पशुओंके जल पीनेके लिये खेल भी बनवा दी।'

इस प्रकार उस बहिनने पतिकी सम्पत्तिका हक छोड़ करके उसका सद्व्यय किया। उसे नहीं तो उसके हृदयको तो इतनी शिक्षा अवश्य मिली होगी कि 'मैं जो पतिको ब्याही गयी हूँ सो सम्पत्तिके लिये नहीं, पर ईश्वरकी—सत्यकी प्राप्तिके मार्गमें आगे बढ़नेके लिये ही ब्याही गयी हूँ।' इस प्रकारकी समझ तथा संस्कारसे बढ़कर और कौन-सी शिक्षा हो सकती है।

संतके सामने दम्भ नहीं चल सकता

बंगालमें द्वारका नदीके तटपर तारापीठ एक प्रसिद्ध स्थान है। कुछ ही साल पहलेकी बात है, एक सज्जन तारादेवीका दर्शन करनेके लिये तारापीठ आये। उन्होंने भगवतीका दर्शन करनेके पहले द्वारका नदीमें स्नान करके आह्निक कृत्य समाप्त करनेका विचार किया।

वे स्नान करके नदीके तटपर बैठकर आह्निक कर रहे थे। उसी समय अघोरी संत वामाक्षेपा नदीमें स्नान कर रहे थे। वे हँस-हँसकर उक्त सज्जनके ऊपर जलके छींटे फेंकने लगे। सज्जनको पता नहीं था कि वे महात्मा वामाक्षेपा हैं।

'तुम अंधे हो ! इस समय मैं आह्निक कर रहा हूँ और तुम विघ्न डाल रहे हो !' सज्जन बिगड़ने लगे। वे बहुत बड़े जमींदार थे।

'तुम आह्निक कर रहे हो या कलकत्तेकी मूर कम्पनीमें बैठकर जूते खरीद रहे हो ?' वामाक्षेपा तेजीसे पानीके छींटे फेंकने लगे।

जमींदारको बड़ा आश्चर्य हुआ, उसे पता चल गया कि ये कोई असाधारण महात्मा हैं।

'हाँ महाराज ! मैं यही सोच रहा था कि मूर कम्पनीसे जूते खरीदकर घर लौटूँगा।' जमींदार उनके पैरोंपर गिर पड़ा।

'देवकार्यमें दम्भ नहीं करना चाहिये।' महात्मा वामाक्षेपा हँसते हुए तारापीठमें चले गये।—रा० श्री०

संतकी सर्वसमर्थता

कुछ ही दिनों पहलेकी बात है, एक महात्माने हरद्वारमें एक सज्जनको देखकर दीर्घ साँस ली। पूछनेपर उन्होंने बताया कि एक सप्ताहमें तुम्हें साँप काट लेगा, तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। महात्माने उनको बनारस जानेका आदेश दिया और कहा कि मणिकर्णिका घाटपर एक संत रहते हैं, वे ही तुम्हारे प्राणोंकी रक्षा करेंगे। वे बनारस गये; बनारसके महात्माने विवशता प्रकट की और तारापीठ जानेकी सम्मति दी।

'तारापीठमें महात्मा वामाक्षेपा रहते हैं। वे ही तुम्हारे प्राणोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं।' काशीवाले महात्माके कहनेसे वे तारापीठ आये।

'तारापीठ बंगालमें एक प्रसिद्ध सिद्धपीठ है। उसमें बहुत-से संतोंने समय-समयपर निवास करके तपस्या की है। सज्जनने श्मशानभूमिमें प्रवेश करते ही भगवती ताराको प्रणाम किया। उन्होंने द्वारका नदीके तटपर तारापीठके निकट

ही प्रसिद्ध अघोरी संत वामाक्षेपाका दर्शन किया और उनका विकराल रूप देखकर सहम गये।

'बाबा ! मेरे प्राण बचाइये; देखिये, यह साँप मेरा पीछा कर रहा है।' सज्जनने संत समर्थका दरवाजा खटखटाया। साँप भाग गया।

'मैं क्या कर सकता हूँ, कालपर किसका वश चलता है; साँप तुम्हें काटेगा अवश्य, पर माँ ताराकी कृपासे तुम बच सकते हो।' वामाने आश्वासन दिया। अन्तिम दिन था साँपके काटनेका। सज्जनको अपने प्राणकी आशा नहीं थी; फिर भी संतकी सर्वसमर्थतापर उनके मनमें सच्चा विश्वास था।

वामाक्षेपाने कहा कि आधी रातको साँप तुम्हें काटेगा, पर तुम ताराका पवित्र नाम उस समय भी लेते रहना। उन्होंने एक लकीर खींच दी और उसीके भीतर रहनेका आदेश दिया।

साँप ठीक आधी रातको आया। उसने उनको काट खाया, पर सज्जन संत-वाक्यपर पूरा भरोसा कर ताराका पवित्र नाम उच्चारण करते रहे।

वामा इस दृश्यको देखते रहे। अचानक उनके सामने तारा प्रकट हो गयीं।

'माँ ! बचा लो मृत्युसे इसे।' वामाका इतना कहना था कि साँपका विष उतर गया। सज्जनके प्राणकी रक्षा हो गयी। तारा अन्तर्धान हो गयीं अपने सेवककी सर्वसमर्थता प्रमाणित करके। वामा उनके दर्शनसे निहाल थे। —रा० श्री०

कुलीनता

और अमरा अदृश्य हो गया !······

'बचाओ, बचाओ' वेदनाभरी पुकार सुनते ही दादू मियाँने लकड़ीका बोझा अलग रख दिया। घने वनमें एक चिड़ियाकी भी आवाज नहीं सुनायी पड़ती थी। वे दौड़ पड़े।

'तुम कौन हो, भाई ! कराहते क्यों हो ? तुम्हारे साथ यह दूसरा व्यक्ति कौन है ? डाकुओंने तुम्हें लूटा और घायल भी कर दिया; कितने निर्दयी होते हैं ये।' दादू मियाँने सारथिसे पूछा, वह कुछ-कुछ होशमें था।

'इस रथमें जैसलमेर-नरेश महाराज पीथल परमारका राजकवि ईहर बारहट है। डाकुओंने हमलोगोंको कहींका न रक्खा। बारहटकी हालत तो अत्यन्त शोचनीय है। हम लोग गोहिलवाड़से गौतमेश्वर महादेवका दर्शन करके गुरु दत्तात्रेयका दर्शन करनेके लिये गिरनार जा रहे थे।' सारथिने संक्षिप्त परिचय दिया, उसके वक्षदेशसे खून बह रहा था। दादू मियाँने लकड़ी जंगलमें ही छोड़ दी; उन्हें इस बातकी चिन्ता नहीं रही कि आज परिवारके लोग क्या खायँगे। लकड़ी बेचकर ही वे गरीबीके दिन काट रहे थे; उन्होंने अतिथियोंकी सेवाको ही अपना महान् धर्म समझा। वे उन्हें घर लाये, घर क्या था—एक छोटी-सी झोपड़ी। दादूने उनको पेड़के नीचे चारपाई बिछाकर लिटा दिया। वे उनकी सेवामें लग गये······।

'सेठजी ! माण्डवीमें आप ही हमारे परिचित हैं। घरमें दो अतिथि आ गये हैं। आपको मेरी दीन-दशाका पता है ही। अतिथियोंको डाकुओंने बुरी तरह घायल कर दिया है। मैंने नाऊको बुलाया था। वह मलहम-पट्टीके लिये प्रस्तुत है, पर कहता है कि तीन मासतक दवा चलेगी। हजार रुपये लगेंगे। सेठजी ! आप विश्वास रखिये कि आपका पैसा डूबने नहीं पायेगा।' दादू मियाँ रोने लगे। उनकी आँखोंसे सावन-भादों बरसने लगे। सेठका हृदय पिघल गया। उन्होंने रुपये दे दिये और कहा कि मैं जानता हूँ तुम लकड़ी बेचकर परिवारका पोषण करते हो; रुपये लौटानेकी आवश्यकता नहीं है; तुम्हारे-ऐसे तपस्वी और परोपकारीद्वारा परहितमें यदि ये रुपये लग जायँगे तो बड़ी अच्छी बात है।

'मैं एक-एक पैसेकी भरपाई कर दूँगा सेठजी !' दादू मियाँका निश्छल हृदय बोल उठा। दादूने कृतज्ञतासे देखा···।

तीन मासकी चिकित्साके बाद बारहट अच्छा हो गया। उसने सारथिको बुलाकर जैसलमेर चलनेकी इच्छा प्रकट की।

'मैं अपने दयालु उपकारीका दर्शन करना चाहता हूँ।' सबेरे-सबेरे बारहटके मुखसे ऐसी बात सुनकर सारथि चकित हो गया। बारहटका नियम था, दिन चढ़नेके सवा पहर बाद ही किसी मुसलमानका मुख देखनेका।

'पर जब उन्हें यह पता चला तो उन्होंने अपने घरसे दूर इस स्थानपर आपके रहनेका प्रबन्ध किया, वे आपके नियमको भङ्ग नहीं करना चाहते थे। वे चिकित्साका सारा सामान समयपर भेज दिया करते थे।' सारथिके नेत्रोंमें अश्रु-कण आ गये।

'भैया! वे मुसलमान नहीं हैं, वे अल्लाहके पवित्र और निष्पाप सेवक हैं। ऐसे व्यक्तिके दर्शनसे जन्म-जन्मके पाप भस्म हो जाते हैं।' ईहर बारहटका हृदय भर आया।

'मैंने क्या किया, सब कुछ अल्लाह करते हैं। मेरे-ऐसे साधारण व्यक्तिकी प्रशंसामें अपनी अमृत-वाणीका व्यय न कीजिये।' दादू मियाँ आ पहुँचे। बारहटने उनको भर आँख देखा। वह धन्य हो गया।

'आपके एक बैलको डाकुओंने घायल कर दिया है। रथमें मेरा बैल जोत लीजिये। इसपर लकड़ी भी कम लद पाती है, मैं अपने कंधेपर अधिक बोझा रखकर ला सकता हूँ।' दादू मियाँकी कुलीनता भयानक गरीबीमें भी चमक उठी। बारहटने प्रस्थान किया।

× × ×

'वे देवता हैं देवता, मैंने आजतक ऐसा आदमी ही नहीं देखा था, महाराज!' बारहटने राजसभामें उपस्थित होकर पीथल परमारके सामने दादू मियाँकी प्रशंसा की। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि राजा उन्हें अच्छे पदपर नियुक्त कर ले।''बारहटके कहनेसे राजाने दादू मियाँको जैसलमेर आनेका निमन्त्रण दिया और आनेपर बड़े ठाट-बाटसे उनका स्वागत किया। पीथल परमारने उन्हें देखते ही अपने भाग्यकी सराहना की और कलके लकड़ी काटनेवालेकी ढाई हजार सैनिकोंके अध्यक्ष-पदपर नियुक्ति हो गयी। दादू मियाँके दिन सुखसे बीतने लगे।

'पीथल परमार मेरे भाईको आज फाँसीपर लटका देंगे। आपने जीवनमें कभी अन्यायका साथ नहीं दिया। अन्याय और असत्यका समर्थन न करनेके कारण आपको अपनी जन्मभूमितक छोड़नी पड़ी थी, टोडाके राजा सवाई सतारने आपको जमादार-पदसे हटाकर राज्यसे बाहर कर दिया था।' दादूकी पत्नीने ढोला राँकके प्राण बचानेकी प्रार्थना की।

'अन्याय नहीं होने पायेगा जबतक मेरी तलवारमें धार है। तुमने जिसे धर्मका भाई मान लिया है, वह मरने नहीं पायेगा। उसने अपराध ही क्या किया है।' दादूने आश्वासन दिया, वे राजप्रासादकी ओर चल पड़े।

'महाराज! आपकी राजकुमारी ढोलासे प्रेम करती है। ढोलामें इतना साहस नहीं है कि वह राजकन्यापर कुदृष्टिपात करे।' ककल सेठने पीथल परमारसे निवेदन किया, पर राजाने आदेश नहीं बदला।

'यह अन्याय है महाराज! राजस्थानकी पवित्र भूमिको न्यायके खूनसे रँगना कदापि उचित नहीं है। मेरी सेना विद्रोह करेगी; मैं जैसलमेरके राजसिंहासनको पापसे कलङ्कित नहीं होने दूँगा।' दादू मियाँने तलवार खींच ली। राजा सोचने लगे।

'दोनोंका विवाह हो ही जाना चाहिये।' ककल सेठने राजाको विश्वास दिलाया; बारहटकी कृपासे वह जैसलमेरका लब्धप्रतिष्ठ नागरिक था।

'ढोला राँक मुसलमान नहीं है, महाराज! वह अपनी माँके साथ आपकी राजधानीमें ही रहता है। सबके दिन समान नहीं होते। वह टोडाके राजा सवाई सतारकी विधवा रानी चंदा गौरीका लाड़ला पुत्र है। राजाने अपने जीवनकालमें ही स्वामिभक्त जमादारको हटाकर अमरा डाकूको मन्त्रीपदपर रक्खा। वे सिद्ध करना चाहते थे कि गरीबीमें मनुष्य कुलीनताका त्याग कर देता है और राजाकी कृपासे चोर या डाकू भी समृद्धि प्राप्तकर कुलीन हो सकता है। पर राजाके स्वर्गवासके बाद राज्य हड़पनेके लिये उसने ढोलारायको मार डालनेका विचार किया। दादू मियाँ और उनकी पत्नीको भी इस रहस्यका पता नहीं है, ढोलाराय उनके घर आता-जाता है।' ककल सेठकी बातसे पीथल परमार सन्न हो गये। चंदा गौरी भी घटनास्थलपर आ गयी थी अपने पुत्रका प्राण बचानेके लिये।

'माँ! आपने मुझे भी अपने आनेकी सूचना नहीं दी। मैंने तो जीवनभर आपका नमक खाया है।' दादू मियाँ चंदा गौरीके पैरपर गिर पड़े, उन्होंने राजपुत्र ढोलाको फाँसीके तख्तेसे पलभरमें उतारकर हृदयसे लगा लिया। नयनोंकी सजल निर्झरिणी बहती ही रही।

पीथल परमारकी कन्यासे ढोलारायका विवाह हो गया। उन्होंने टोडाका राज्य-अधिकार सैनिकबलसे प्राप्त किया। ककल सेठके समझानेपर अमराको प्राणदान देकर राज्यसे निकाल दिया। ककल सेठने मन्त्रित्व और दादू मियाँने सेनापतिका भार सम्हाला।

× × ×

कच्छनरेश रणमलकी राजकन्या मारूका पत्र पाकर ढोलारायने प्रस्थान किया। वह कच्छके राजप्रासादमें कुछ दिनतक ठहर गया।

'यह लंबी कहानी है, बेटा! मैं अपनी रानी हंसावलीके साथ भगवान् गौतमेश्वरके पूजनके लिये गोहिलवाड़ गया था। दैवयोगसे तुम्हारे पिता भी सपत्नीक वहींपर थे।

तुम और मारू—दोनों अल्पवयस्क थे। तुम दोनोंकी मँगनी वहीं हो गयी। राजपूतकन्या दूसरी बार विवाह नहीं किया करती'''''उसी स्थानपर रंगमें भंग भी हो गया था। ईहर बारहटने तुम्हारे पिताका यश नहीं गाया; वे अपकीर्ति नहीं सह सके। उन्होंने आत्मयज्ञ कर स्वर्ग प्राप्त कर लिया। रणमलने साँडनीपर बैठे ढोला-दम्पतिको आशीर्वाद दिया। ''''''साँडनी चल पड़ी''''''।

'चूडावावमें भूतोंका अड्डा है।' मारूने पतिको सावधान किया ही था कि किसीने नंगी तलवारसे दोनोंपर आक्रमण किया। पर प्रहार करनेके पहले ही किसीने पीछेसे आक्रमणकारीके सिरके दो टुकड़े कर दिये।

'दादू मियाँ, आप!' ढोलारायने घूमकर पीछे देखा।

'हाँ महाराज! मैं जानता था कि अमरा बदला लेगा। उसे मारूके साथ आपके विवाहकी बात ज्ञात थी। वह जानता था आप इस रास्तेसे मारूके साथ लौटेंगे।' दादू मियाँने नमकका मूल्य पूरा किया।

'आप देवता हैं, दादू मियाँ!' दम्पति नतमस्तक थे।

—रा० श्री०

ब्रह्मज्ञान कब होता है ?

दक्षिणेश्वरमें एक दिन एक अवधूत आये। उनके केश और नख बढ़े हुए थे, शरीर धूलिसे सना था, मैली फटी गुदड़ी पहिन रक्खी थी उन्होंने। जब भिखारियोंको भोजन दिया जाने लगा, तब भिखारियोंने भी उनके गंदे वेशके कारण उन्हें अपनी पंक्तिमें नहीं बैठने दिया। वे चुपचाप वहाँसे हट गये। जब सब लोग भोजन कर चुके और जूठी पत्तलें फेंक दी गयीं, तब लोगोंने देखा कि एक पत्तलमें बचे अन्नको एक कुत्ता खा रहा है और कुत्तेके गलेमें एक हाथ डाले वे महात्मा भी उसी पत्तलका अन्न खा रहे हैं।

परमहंस रामकृष्णदेवने 'हृदय'से कहा—'लोग इन्हें पागल समझते हैं, किंतु ये तो परम ज्ञानी हैं। शरीराभिमानसे ये ऊपर उठ चुके हैं।'

खा-पीकर जब वे जाने लगे, तब हृदय उनके पीछे लग गया। उसने प्रार्थना की—'महाराज! मुझे ब्रह्मज्ञान कब होगा?'

संतने मुड़कर देखा हृदयकी ओर और अपनी मस्तीमें ही बोले—'जब तुझे नालीके गंदे पानी और गङ्गाजलमें कुछ भेद नहीं जान पड़ेगा, तब ब्रह्मज्ञान होगा।'

—सु० सिं०

मैं मूर्खता क्यों करूँ

श्रीरामकृष्ण परमहंसके गलेमें नासूर हो गया था। उस समय श्रीशशधर तर्कचूड़ामणि परमहंसदेवके पास आये थे। उन्होंने कहा—"आप यदि मनको एकाग्र करके कहें 'रोग चला जा! रोग चला जा!' तो निश्चय रोग चला जायगा।"

परमहंसदेव बोले—"आप विद्वान् होकर मुझे ऐसी सम्मति देते हैं! जो मन सच्चिदानन्दमयी माँका स्मरण करनेके लिये मुझे मिला है, उसे वहाँसे हटाकर मैं हाड़-मांसके पिंजड़ेमें लगाऊँ!"

परंतु शिष्योंको इससे संतोष नहीं हुआ। सब लोगोंने मिलकर आग्रह किया—'आप माँसे ही प्रार्थना करें कि यह रोग मिटा दो।'

परमहंसदेव बोले—'मैं ऐसी मूर्खता क्यों करूँ। माँ दयामयी हैं, सर्वज्ञ हैं और समर्थ हैं। उन्हें जो मेरे कल्याणके लिये उचित लगता है, वह कर ही रही हैं। उनकी व्यवस्थामें हाथ डालनेका छिछोरापन मुझसे नहीं होगा।'

—सु० सिं०

हकसे अधिक लेना तो पाप है

श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवके अनुगतोंमें श्रीदुर्गाचरणजी नाग प्रायः नाग महाशयके नामसे जाने जाते हैं। इनके घरकी स्थिति अच्छी नहीं थी। पिता नौकरी करते थे साधारण-सी और ये होमियोपैथिक दवा करते थे; लेकिन इनके अधिकांश रोगी गरीब होते थे। नाग महाशय उन्हें ओषधिके अतिरिक्त पथ्यके लिये पैसे भी प्रायः अपने पाससे दे देते थे। इनके

पिता जिनके यहाँ नौकरी करते थे उस कुटुम्बकी एक महिलाको इन्होंने कष्टसाध्य रोगसे मुक्त किया। वे लोग सम्पन्न थे; नाग महाशयको उन्होंने कुछ धन देना चाहा, पर इन्होंने केवल बीस रुपये लिये। पिताको यह सब पता लगा तो वे असंतुष्ट हुए।

नाग महाशयने पितासे कहा—'पिताजी! चौदह रुपये हुए मेरी सात दिनकी फीसके और छः रुपये औषधका मूल्य। इस प्रकार बीस रुपये ही मेरे हकके हैं। हकसे अधिक लेना तो पाप है। मैं अधिक कैसे ले सकता था।'

—सु० सिं०

सेवा-भाव

नाग महाशयका सेवा-भाव तो अद्भुत ही था। एक दिन इन्होंने एक गरीब मनुष्यको अपनी झोपड़ीमें भूमिपर पड़े देखा। आप घर गये और घरसे अपना बिछौना उठा लाये। अपने हाथसे बिछौना लगाकर उस रोगी व्यक्तिको उसपर लिटाया।

एक बार एक रोगीको जाड़ोंमें ठिठुरते देखकर नाग महाशयने उसे अपनी ऊनी चद्दर उढ़ा दी और स्वयं रातभर उसके पास बैठकर उसकी सेवा करते रहे।

कलकत्तेमें प्लेग पड़ा था। महामारीके उन दिनोंमें निर्धनोंकी झोंपड़ियोंमें नाग महाशयको छोड़कर और कोई झाँकनेवाला नहीं था। आप एक झोंपड़ीमें पहुँचे तो वहाँ एक मरणासन्न रोगी रो रहा था। आपने उसे आश्वासन देना चाहा; किंतु वह कह रहा था—'मुझ पापीके भाग्यमें दो बूँद गङ्गाजल भी नहीं। मेरा कोई नहीं जो आज मुझे गङ्गा-किनारे तो पहुँचा दे।'

'आप रोयें नहीं। मैं ले चलता हूँ आपको।' नाग महाशयने अकेले ही उसे कंधेपर उठाया और गङ्गा-किनारे ले गये। जबतक उसका शरीर छूट नहीं गया, उसे गोदमें लिये बैठे रहे और शरीर छूट जानेपर उसका शव-दाह करके तब घर लौटे।

× × ×

एक दिन नाग महाशयके घर एक अतिथि आ गये। जाड़ेके दिन थे। जोरकी वर्षा हो रही थी। घरके भीतर चार कोठरियाँ थीं; किंतु तीनमें इतना पानी चूता था कि बैठनेको भी स्थान नहीं था। केवल एक कोठरी सूखी थी। अतिथिको विश्रामके लिये आपने वह कोठरी दे दी और पत्नीके साथ स्वयं बरामदेमें आ बैठे। पत्नीसे बोले—'आज हमारा बड़ा सौभाग्य है। आओ, भगवान्‌का स्मरण करनेमें यह रात्रि व्यतीत करें।' —सु० सिं०

जीव-दया

नाग महाशय जैसे दयाकी मूर्ति थे। इनके घरके सामनेसे मछुए यदि मछली लेकर निकलते तो आप सारी मछलियाँ खरीद लेते और उन्हें ले जाकर तालाबमें छोड़ आते। एक दिन एक सर्प इनके बगीचेमें आ गया। स्त्रीने इन्हें पुकारा—'काला साँप! लाठी ले आओ!'

नाग महाशय आये, किंतु खाली हाथ। आप बोले—'जंगलका सर्प कहाँ किसीको हानि पहुँचाता है। यह तो मनका सर्प है जो मनुष्यको मारे डालता है।'

इसके पश्चात् आप सर्पसे बोले—'देव! आपको देखकर लोग डर रहे हैं। कृपा करके आप यहाँसे बाहर पधारें।'

सचमुच वह सर्प नाग महाशयके पीछे-पीछे बाहर गया और जंगलमें निकल गया। —सु० सिं०

नाग महाशयकी साधुता

परमहंस रामकृष्णदेवके भक्त शिष्य डा० दुर्गाचरण नाग आदर्श पुरुष थे। एक समय वे अपने देशमें थे। पुआलसे छाये हुए घरकी छान टूट गयी थी। उससे जल गिरता था। नागजीकी माताने छान ठीक करानेके लिये थवई (छानेवाले) को बुलाया। थवईके घरमें आते ही नाग महाशय चिन्तामें पड़ गये। उन्होंने उसे आदरपूर्वक बैठाया, चिलम सजा दी। कुछ देर बाद जब वह छानपर चढ़कर काम करने लगा, तब तो नाग महाशय हाथ जोड़कर उससे नीचे उतर आनेके लिये विनय करने लगे। जब वह नहीं उतरा, तब सिर पीट-पीटकर कहने लगे 'हाय परमहंसदेव! तुमने क्यों

मुझको गृहस्थाश्रममें रहनेके लिये आदेश दिया; मेरे सुखके लिये दूसरोंको कष्ट हो रहा है ।' नाग महाशयकी व्याकुलता देखकर थवई नीचे उतर आया । नाग महाशयने उसके लिये फिर चिलम सजा दी और खड़े होकर उसे हवा करने लगे । थकावट दूर होनेपर उसको दिनभरका मेहनताना देकर बिदा किया ।

किसीके कष्टकी बातपर अविश्वास उचित नहीं

कलकत्तेके कुछ कॉलेजके विद्यार्थी वहाँका 'फोर्ट विलियम' किला देखने गये थे । सहसा उनके एक साथीके शरीरमें पीड़ा होने लगी । उसने अपने मित्रोंसे अपनी पीड़ा बतायी और वह सीढ़ियोंपर बैठ गया; लेकिन उसके साथियोंने उसकी बातपर विश्वास नहीं किया । उसकी हँसी उड़ाते हुए वे सब ऊपर चले गये ।

ऊपर पहुँचकर एक विद्यार्थीके मनमें संदेह हुआ— 'कहीं सचमुच ही तो उसे पीड़ा नहीं है !' वह लौट पड़ा । नीचे आकर देखता है कि वह विद्यार्थी मूर्च्छित पड़ा है । ज्वरसे उसका शरीर जल रहा है । दूसरे विद्यार्थीने दौड़कर एक गाड़ी मँगायी और उसे गाड़ीमें रखकर घर ले गया । उसके अन्य साथियोंको जब पता लगा, तब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ ।

उस विद्यार्थीका नाम ज्ञात नहीं, जो बीमार था; किंतु जो उसे गाड़ीमें रखकर घर ले आया था, वह था नरेन्द्र । आगे चलकर संसारने उसे स्वामी विवेकानन्दके नामसे पहिचाना ।

—सु० सिं०

आत्मीयता इसका नाम है

स्वामी विवेकानन्दके पूर्वाश्रमकी बात है । उस समय उनका नाम नरेन्द्र था । वे कभी-कभी परमहंस रामकृष्णदेवके दर्शनके लिये दक्षिणेश्वर मन्दिरमें भी जाया करते थे । वे कहा करते थे कि 'बूढ़े संन्यासीके पास मैं उपदेश सुनने नहीं जाता हूँ, मुझे प्रेमकी शक्ति उनके पास अपने-आप खींच ले जाती है ।'

अचानक नरेन्द्रके पिताका देहान्त हो गया । वे बी० ए० की परीक्षामें उत्तीर्ण हुए । वकालत पढ़नेके लिये उन्होंने कालेजमें प्रवेश किया ही था कि परिवारके भरण-पोषणका भार उन्हींके कंधोंपर आ पड़ा । आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी । नौकरीके लिये कलकत्तेकी एक-एक गली छान डाली, पर कहीं सफलता नहीं मिली । भूखों मरनेतककी नौबत आ गयी ।

एक दिन वे अपने मित्रोंके साथ दक्षिणेश्वर मन्दिरमें परमहंस रामकृष्णके सामने बैठे हुए थे ।

'नरेन्द्रके पिताका देहान्त हो गया है । आजकल इसकी दशा अच्छी नहीं है । घरपर लोग भूखों मर रहे हैं । भक्तोंको चाहिये कि इसकी सहायता करें ।' परमहंसदेवने अपने प्रेमियोंको प्रोत्साहित किया । वे नरेन्द्रकी दीन अवस्थासे बहुत चिन्तित थे । रात-दिन सोचा करते थे कि किस प्रकार उनकी चिन्ता दूर हो ।

भक्त चले गये । मन्दिरमें रह गये केवल नरेन्द्र ।

'महाराज ! आपने ऐसा क्यों कहा । न जाने ये लोग मेरे सम्बन्धमें कैसी धारणा बनायेंगे ।' नरेन्द्र लज्जासे नत थे ।

'तुम यह क्या कहते हो, नरेन्द्र ! प्यारे नरेन्द्र ! मैं तुम्हारे लिये सब कुछ कर सकता हूँ । मैं तुम्हें सुखी रखनेके लिये झोली लेकर गली-गलीमें और दरवाजे-दरवाजेपर भीख माँग सकता हूँ ।' उनके नेत्रोंसे अश्रु बरस पड़े । उन्होंने नरेन्द्रके कंधेपर अपना हाथ रखा । परमहंस रामकृष्णके स्पर्शसे वे धन्य हो गये ।

—रा० श्री०

शिष्यकी परीक्षा

'दक्षिणेश्वर मन्दिरके परमहंसदेव समर्थ हैं मेरी विपत्ति दूर करनेके लिये । वे मुझे कितना चाहते हैं !' नरेन्द्र (विवेकानन्द) ने दक्षिणेश्वर जानेका निश्चय किया । पिताके देहान्तके बाद उनकी आर्थिक स्थिति बहुत ही खराब हो गयी थी । उन्होंने नौकरीके लिये बड़ी चेष्टा की पर असफल रहे ।

× × ×

'आप कालीके बहुत बड़े उपासक हैं । माँकी आपपर अपार कृपा है, आप मेरी दरिद्रताका नाश कर सकते हैं । नष्ट

कर दीजिये न !' युवक नरेन्द्रने परमहंसदेवसे प्रार्थना की।

'वत्स ! मैं जानता हूँ कि कालीने संसारमें तुम्हें अपने कार्यके लिये भेजा है। तुम्हारे कंधेपर बहुत बड़े और अत्यन्त पवित्र कार्यके सम्पादनका भार है। जबतक मेरा शरीर पृथ्वीपर है, तबतक तुम्हें इस बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये।' परमहंसदेवने मुसकरा दिया।

'पर इस समय मेरी दरिद्रताको दूर करनेका प्रश्न उपस्थित है।' नरेन्द्रने अपनी बात दुहरायी।

'तो तुम स्वयं कालीसे क्यों प्रार्थना नहीं करते ?' रामकृष्णने माँके श्रीविग्रहके सम्मुख जानेकी प्रेरणा दी। और नरेन्द्रने माँसे कहा—

'जगदम्बा ! मुझे अपनी भक्ति दो, अपने नामके प्रचारकी शक्ति दो, जिससे लोग आपका नाम स्मरणकर धन्य हो जायँ। माँ ! संसार-सागरसे पार होनेके लिये हाथका सहारा दो।' नरेन्द्र पवित्र श्रद्धासे सम्पन्न हो उठे। आवेशमें उन्होंने जगदम्बासे सांसारिक ऐश्वर्यके स्थानपर दिव्य सम्पत्तिकी याचना की। रामकृष्ण परमहंसने फिर प्रार्थना करनेके लिये कहा और नरेन्द्र किसी अदृश्य शक्तिद्वारा माँके विग्रहके सामने खींच लिये गये। उन्होंने पूर्ववत् याचना की। तीसरी बार माँगने गये तो ज्ञान और वैराग्यके ही लिये प्रार्थना की।

'महाराज ! आपने मेरा परम कल्याण किया। मुझे माँकी कृपा मिल गयी, संसारका नश्वर वैभव नहीं चाहिये मुझे।' नरेन्द्रमें भावी विवेकानन्दके बीज अङ्कुरित हो उठे। वे परमहंसदेवकी परीक्षामें सफल हुए। —रा० श्री०

केवल विश्वास चाहिये

स्वामी विवेकानन्द परिव्राजकके रूपमें राजस्थानका भ्रमण करते-करते अलवर जा पहुँचे। राजाके दीवान थे मेजर रामचन्द्र। वे आध्यात्मिक मनोवृत्तिके व्यक्ति थे। संतोंमें उनकी बड़ी श्रद्धा और निष्ठा थी। उन्होंने सदुपदेशके लिये स्वामीजीको अपने निवासस्थानपर आदरपूर्वक निमन्त्रित किया। दैवयोगसे अलवरनरेश महाराज मंगलसिंहजी भी सत्सङ्गमें उपस्थित थे।

'बाबाजी ! मूर्तिपूजामें मेरा तनिक भी विश्वास नहीं है। मुझे उसमें कोई सार्थकता नहीं दीखती।' मंगलसिंहने स्वामीजीसे निवेदन किया।

'आप मुझसे मजाक तो नहीं कर रहे हैं ?' स्वामीजी आश्चर्यचकित थे।

'नहीं-नहीं, यह विनोद नहीं है; मेरे जीवनकी सत्य अनुभूति है।' राजाने अपनी बात दुहरायी।

'तो फिर इसपर थूक दो।' स्वामीजीने उपस्थित लोगोंसे राजाके चित्रपर थूकनेका संकेत किया। दीवानकी बैठकमें मंगलसिंहका एक भव्य चित्र टँगा हुआ था। लोग स्वामीजीके आदेशसे विस्मित हो उठे। राजाकी ओर देखने लगे। मंगलसिंहजीकी समझमें भी कोई बात नहीं आ सकी। स्वामीजी मौन थे।

'हमलोग ऐसा किस तरह कर सकते हैं, यह हमारे राजाका चित्र है।' लोगोंका उत्तर था।

स्वामीजीने दीवानको भी आदेश दिया, पर उसने भी असमर्थता प्रकट की।

'राजा साहब ! आपमें इन लोगोंकी श्रद्धा है, आप इनके इष्ट हैं; इसलिये आपके चित्रपर ये लोग किसी भी स्थितिमें नहीं थूक सकते। यह निश्चित है कि आप यह चित्र नहीं हैं; पर यह भी सच है कि इस चित्रमें लोगोंको आप उपस्थित दीख पड़ते हैं। ठीक यही बात मूर्तिके सम्बन्धमें है। मूर्तिपूजा वे ही लोग करते हैं, जिनकी उसमें इष्टभावना है। इस प्रकार घट-घटमें व्यापक सबके इष्ट भगवान् मूर्तिमें विद्यमान हैं, इस सत्यको समझनेके लिये केवल विश्वास चाहिये।' स्वामीजीने मूर्तिपूजाकी सार्थकता सिद्ध की।

राजा मंगलसिंह स्वामीजीके पैरोंपर गिर पड़े। 'आपने मेरा संशय नष्ट कर दिया। मेरे हृदयमें विश्वासका दीप जलाकर आपने मुझे शाश्वत सत्यका दर्शन करा दिया।' राजकीय ऐश्वर्यने वैराग्यकी अभिवन्दना की। राजा मंगलसिंहजीकी श्रद्धा स्वामी विवेकानन्दके चरणोंमें स्थिर हो गयी।

—रा० श्री०

साधुताका परम आदर्श

सन् १८४४ ई०में कलकत्तेके संस्कृत कालेजमें एक व्याकरणाध्यापककी आवश्यकता हुई और प्रबन्ध-समितिने ईश्वरचन्द्र विद्यासागरको वह पद दिया। विद्यासागरको उस समय पचास रुपये मासिक मिलते थे और अब नये स्थानपर उन्हें नब्बे रुपये मिलते। पर आश्चर्य! विद्यासागरने सोचा कि उनके मित्र तर्कवाचस्पति व्याकरणमें उनसे अधिक दक्ष हैं और उन्होंने समितिके सामने इस पदको उन्हींको दिये जानेका प्रस्ताव रक्खा। अन्तमें समितिने विद्यासागरकी सम्मति मान ली। इससे विद्यासागरको अपार आनन्द हुआ। वे आनन्दके आवेशमें अपने मित्रको उसका समाचार देनेके लिये कलकत्तेसे कुछ दूरतक चले गये।

जब तर्कवाचस्पतिने विद्यासागरके मुँहसे यह सारी कहानी सुनी, तब वे आश्चर्यचकित रह गये। वे बोल उठे—'विद्यासागर! तुम मनुष्य नहीं, बल्कि मनुष्य-वेषमें साक्षात् देवता हो।' —जा० श०

महापुरुषोंकी उदारता

सन् १८६५ ई०की बात है। बंगालमें भीषण अकाल पड़ा था। सभी लोग क्षुधासे व्याकुल होकर इधर-उधर भाग रहे थे। अन्न कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता था। इसी समय बर्दवानमें एक अत्यन्त दुर्बल दीन बालक ईश्वरचन्द्र विद्यासागरके पास आया। उसने उनसे एक पैसा माँगा। बालकका मुँह सूखकर पीला हो रहा था, पर उसके मुँहपर एक ज्योति-सी छिटक रही थी।

'मान लो मैं तुम्हें चार पैसे दूँ तो?' विद्यासागरने उससे पूछा।

'महानुभाव! कृपया इस समय उपहास न करें, मैं बड़े कष्टमें हूँ', बालक बोला।

'नहीं, मैं उपहास या परिहास कुछ नहीं करता। बतलाओ, तुम चार पैसोंसे करोगे क्या?'

'दो पैसोंसे कुछ खानेकी चीज़ खरीदूँगा और दो पैसे अपनी माँको दूँगा।'

'और मान लो, मैं तुम्हें दो आने ˘ तो?' विद्यासागरने पुनः पूछा।

लड़केने अपना मुँह फेर लिया और वहाँसे चलने लगा; पर विद्यासागरने उसकी बाँह पकड़ ली और कहा—'बोलो'।

बालकके कपोलोंपर आँसू टपक पड़े, उसने कहा 'चार पैसेसे तो मैं चावल या कोई भोजन खरीद लूँगा और अवशेष अपनी माताको दे दूँगा।'

'और यदि तुम्हें चार आने दे दूँ?'

'मैं दो आनोंका तो दो दिनोंके भोजनमें उपयोग कर लूँगा और दो आनेका आम खरीद लूँगा, जिन्हें चार आनेमें बेचकर अपनी माँके तथा अपने जीवनकी रक्षा करूँगा।'

विद्यासागरने उसे एक रुपया दे दिया और लड़का प्रसन्नताके मारे खिल उठा। वह दौड़कर आँखोंसे ओझल हो गया।

दो वर्षके बाद विद्यासागर पुनः बर्दवान गये। एक बली युवा पुरुष अपनी दूकानसे बाहर आया और उसने उन्हें सलाम किया।

'श्रीमान्! क्या आप मेरी दूकानमें क्षणभर बैठनेकी दया करेंगे?' युवा बोला।

'मैं तुम्हें बिल्कुल पहचान नहीं पाता, भाई!' विद्यासागरने कहा।

लड़केकी आँखोंमें आँसू उमड़ आया। उसने दो वर्ष पूर्वकी सारी कथा ईश्वरचन्द्रसे सुनायी। अब वह फेरीवाला हो गया था और उसकी एक छोटी पूँजी तथा व्यवसाय हो गया था। विद्यासागरने उसे बड़ा प्रोत्साहन तथा आशीर्वाद दिया। वे बड़ी देरतक उसकी दूकानमें बैठे बातें करते रहे।

विद्यासागरकी उस फेरीवालेके साथ सुहृद्-जैसी गोष्ठी देख लोग आश्चर्य-सागरमें डूब गये। —जा० श०

अतिथि-सत्कार

श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर उस समय खर्मा टाँड़में रहते थे। आवश्यकतावश उन्हें ढूँढ़ता एक व्यक्ति पहुँचा। उससे ज्ञात हुआ कि वह कई दिनसे विद्यासागरजीको ढूँढ़ रहा है और कलकत्ते तथा अन्य कई स्थानोंमें भटकता हुआ आया है। विद्यासागरजीने उससे कहा—'देखिये, भोजन तैयार है। पहले आप भोजन कर लें, फिर बातें होंगी।'

वह एक साधारण मनुष्य था। गरीबको कौन पूछता है। जहाँ-जहाँ वह गया था, किसीने उसे पानी पीनेतकको नहीं पूछा था। विद्यासागरजी-जैसे प्रतिष्ठित व्यक्तिका ऐसा उदार व्यवहार देखकर उसके नेत्रोंसे आँसू टपक पड़े। विद्यासागरजीने पूछा—'आप रोते क्यों हैं? भोजनके लिये आपको मैंने कहा है; इसमें कुछ अनुचित हो तो क्षमा करें। मेरे यहाँ आप भोजन न कर सकें तो स्वयं भोजन बना लें। मैं अभी व्यवस्था कर देता हूँ।'

उस व्यक्तिने कहा—'मुझे तो आपकी दयालुताने रुलाया है। इधर मैं कितना भटका हूँ, कई दिनोंसे कुछ मिला नहीं है; किंतु किसीने बैठनेको भी नहीं कहा और आप···।'

परंतु विद्यासागरजी अपनी प्रशंसा सुननेके अभ्यासी नहीं थे। उन्होंने उसे बीचमें ही रोककर कहा—'इसमें हो क्या गया। अपने यहाँ कोई अतिथि आये तो उसका सत्कार करना सभीका कर्तव्य है। आप झटपट चलकर भोजन कर लीजिये।'

जब वह भोजन कर चुका, तब उससे विद्यासागरजीने पूछा कि वह किस कामसे उनके पास आया है।—सु० सिं०

स्वावलम्बन

बंगालके एक छोटे-से रेलवे-स्टेशनपर ट्रेन खड़ी हुई। स्वच्छ धुले वस्त्र पहिने एक युवकने 'कुली! कुली!' पुकारना प्रारम्भ किया। युवकके पास कोई भारी सामान नहीं था। केवल एक छोटी पेटी थी। भला, देहातके छोटे-से स्टेशनपर कुली कहाँ। परंतु एक अधेड़ व्यक्ति साधारण ग्रामीण-जैसे कपड़े पहिने युवकके पास आ गया। युवकने उसे कुली समझकर कहा—'तुमलोग बड़े सुस्त होते हो। ले चलो इसे।'

उस व्यक्तिने पेटी उठा ली और युवकके पीछे चुपचाप चल पड़ा। घर पहुँचकर युवकने पेटी रखवा ली और मजदूरी देने लगा। उस व्यक्तिने कहा—'धन्यवाद! इसकी आवश्यकता नहीं है।'

'क्यों?' युवकने आश्चर्यसे पूछा। किंतु उसी समय युवकके बड़े भाई घरमेंसे निकले और उन्होंने उस व्यक्तिको प्रणाम किया। अब युवकको पता लगा कि वह जिससे पेटी उठवाकर लाया है, वे तो बंगालके प्रतिष्ठित विद्वान् ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हैं। युवक उनके पैरोंपर गिर पड़ा।

विद्यासागर बोले—'मेरे देशवासी व्यर्थ अभिमान छोड़ दें और समझ लें कि अपने हाथों अपना काम करना गौरवकी बात है। वे स्वावलम्बी बनें, यही मेरी मजदूरी है।'

—सु० सिं०

कोई वस्तु व्यर्थ मत फेंको

श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागरके यहाँ खुदीराम बोस नामके एक सज्जन पधारे। विद्यासागरने उन्हें नारंगियाँ दीं। खुदीरामजी नारंगियोंको छीलकर उसकी फाँकें चूस-चूसकर फेंकने लगे। यह देखकर विद्यासागर बोले—'देखो भाई! इन्हें फेंको मत, ये भी किसीके काम आ जायँगी।'

खुदीराम बोले—'इन्हें आप किसे देनेवाले हैं?'

विद्यासागरने हँसकर कहा—'आप इन्हें खिड़कीके बाहर रख दें और वहाँसे हट जायँ तो अभी पता लग जायगा।'

खिड़कीके बाहर उन चूसी हुई फाँकोंको रखनेपर कुछ कौए उन्हें लेने आ गये। अब विद्यासागरने कहा—'देखो, भाई! जबतक कोई पदार्थ किसी भी प्राणीके काममें आने योग्य है, तबतक उसे व्यर्थ नहीं फेंकना चाहिये। उसे इस प्रकार रखना चाहिये कि धूल-मिट्टी लगकर वह नष्ट न हो जाय और दूसरे प्राणी उसका उपयोग कर सकें।'—सु० सिं०

एक बात

उन दिनों विद्यासागर ईश्वरचन्द्रजी बड़े आर्थिक संकटमें थे। उनपर ऋण हो गया था। यह ऋण भी हुआ था दूसरोंकी सहायता करनेके कारण। उस समय उनका प्रेस, प्रेसकी डिपाजिटरी और अपनी लिखी पुस्तकें ही उनकी जीविकाके साधन थे। ऋण चुका देनेके लिये उन्होंने प्रेसकी डिपाजिटरी-का अधिकार बेच देनेका निश्चय किया। उनके एक मित्र थे श्रीव्रजनाथजी मुखोपाध्याय। विद्यासागरने मुखोपाध्यायजीसे चर्चा की तो वे बोले—'यदि आप डिपाजिटरीका अधिकार मुझे दे दें तो मैं उसे आपके इच्छानुसार चलानेका प्रयत्न करूँगा।'

विद्यासागरने सब अधिकार व्रजनाथजीको दे दिया। यह समाचार फैलनेपर अनेक लोग विद्यासागरके पास आये। कई लोगोंने तो कई-कई हजार रुपये देनेकी बात कही; किंतु विद्यासागरने सबको एक ही उत्तर दिया—'मैं एक बार जो कह चुका, उसे बदल नहीं सकता। कोई बीस हजार रुपये दे तो भी अब मैं यह अधिकार दूसरेको नहीं दूँगा।'—सु० सिं०

सच्ची दानशीलता

श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर मार्ग चलते समय भी देखते जाते थे कि किसीको उनकी सेवाकी आवश्यकता तो नहीं है। एक दिन वे कलकत्तेमें कहीं जा रहे थे। उनकी दृष्टि एक व्यक्तिपर पड़ी, जो सिर झुकाये, बहुत उदास चला जा रहा था। विद्यासागरने पूछा—'आप इतने उदास क्यों हैं?'

विद्यासागर न उसे पहचानते थे और न वह इन्हें। एक अपरिचितको इस प्रकार पूछते देखकर उसने लंबी श्वास ली और बोला—'विपत्तिका मारा हूँ, भाई!'

'कौन हैं आप? क्या विपत्ति है आपपर?' विद्यासागर-ने फिर पूछा; किंतु बहुत सादे कपड़ोंमें रहनेवाले विद्यासागरको उसने एक साधारण निर्धन मनुष्य समझकर कहा—'आप सुनकर क्या करेंगे! आप कोई सहायता नहीं कर सकते।'

विद्यासागर यों छोड़ देनेवाले नहीं थे। उनके आग्रह करनेपर उसने अपनी विपत्ति बतलायी। वह एक गरीब ब्राह्मण था। अपनी पुत्रीके विवाहमें ऋण लेना पड़ा था उसे और अब महाजनने दावा कर दिया था। रुपये देनेका कोई प्रबन्ध हो नहीं रहा था। विद्यासागरने उसका नाम, पता तथा मुकदमा किस अदालतमें है, यह पूछकर ब्राह्मणके साथ सहानुभूति प्रकट की और वे चले गये।

मुकदमेकी तारीखपर ब्राह्मण अदालतमें उपस्थित हुआ तो उसे पता लगा कि उसकी ओरसे किसीने रुपये जमा कर दिये हैं, मुकदमा समाप्त हो चुका है। वह सोचने लगा—'किस उदार पुरुषने उसपर दया की?' किंतु मार्गमें मिले अत्यन्त साधारण दीखनेवाले उस दिनके व्यक्तिका यह काम हो सकता है, यह बात उसके ध्यानमें आ ही कैसे सकती थी।

—सु० सिं०

आदर्श नम्रता

श्रीभूदेव मुखोपाध्यायने अपनी एक लाख, साठ हजारकी सम्पत्ति दान करके अपने पिता श्रीविश्वनाथ तर्कभूषणकी स्मृतिमें 'विश्वनाथ फंड' स्थापित किया था। इस फंडसे देशके सदाचारी, विद्वान् ब्राह्मणोंको बिना माँगे प्रतिवर्ष पचास रुपयेकी सहायता मनीआर्डरसे उनके घर भेजी जाती थी। पण्डितोंको न तो सहायता पानेके लिये प्रार्थना करनेकी आवश्यकता थी और न फंडके कार्यालयमें आनेकी। इस फंडके प्रथम वर्षकी वृत्तियोंका विवरण 'एजुकेशन गजट' में देनेके लिये एक कर्मचारीने सूची बनायी। उसमें लिखा था—'इस वर्षमें जिन-जिन अध्यापकों एवं विद्वानोंको 'विश्वनाथ-वृत्ति' दी गयी, उनकी नामावली।'

श्रीभूदेव बाबूने वह सूची देखी तो अप्रसन्न होकर बोले—'तुमने यह क्या लिख मारा है? इसे इस प्रकार लिखो—'इस वर्षमें जिन-जिन अध्यापकों और विद्वानोंने 'विश्वनाथ-वृत्ति' स्वीकार करनेकी कृपा की, उनकी नामावली।'

—सु० सिं०

सबमें आत्मभाव

हुगलीके सरकारी वकील स्वर्गीय शशिभूषण बन्द्योपाध्याय एक दिन वैशाखके महीनेमें दोपहरकी कड़कती लूमें एक किरायेकी गाड़ीमें बैठकर एक प्रतिष्ठित व्यक्तिके घर पहुँचे। वे एक आवश्यक कार्यसे आये थे। उनका वहाँ स्वागत हुआ। फिर उस व्यक्तिने पूछा—'इस भयंकर दोपहरीमें आपने आनेका कष्ट क्यों किया? आप किसी नौकरके हाथ पत्र भेज देते तो भी यह काम हो जाता।'

श्रीशशिभूषणजीने कहा—'मैंने पहले नौकरको ही भेजनेका विचार किया था और पत्र भी लिख लिया था; किंतु बाहरकी प्रचण्ड गरमी तथा लू देखकर मैं किसी भी नौकर-को भेजनेका साहस नहीं कर सका। मैं तो गाड़ीमें आया हूँ, उस बेचारेको तो पैदल आना पड़ता। उसमें भी तो वही आत्मा है, जो मुझमें है।' —सु० सिं०

मातृभक्ति

श्रीआशुतोष मुखर्जी कलकत्ता हाईकोर्टके जज और विश्वविद्यालयके वाइस चान्सलर थे। उनके मित्र उन्हें विलायत जानेकी सलाह देते थे और स्वयं उनकी भी इच्छा विलायत जानेकी थी; किंतु उनकी माताने समुद्रयात्रा करनेकी अनुमति नहीं दी, इसलिये यह विचार उन्होंने सर्वथा त्याग दिया।

लार्ड कर्जन भारतके गवर्नर-जनरल होकर आये। उन्होंने एक दिन श्रीआशुतोष मुखर्जीको विलायत जानेकी सम्मति दी। श्रीमुखर्जीने कहा—'मेरी माताकी इच्छा नहीं है।'

लार्ड कर्जनने तनिक सत्ताके स्वरमें कहा—'जाकर अपनी मातासे कहिये कि भारतके गवर्नर-जनरल आपको विलायत जानेकी आज्ञा करते हैं।'

श्रीमुखर्जी-जैसे मातृभक्त स्वाभिमानीका उत्तर था—'यदि ऐसी बात है तो मैं माननीय गवर्नर-जनरलसे कहूँगा कि आशुतोष मुखर्जी अपनी माताकी आज्ञा भङ्ग करके दूसरे किसीकी आज्ञाका पालन नहीं कर सकेगा, फिर भले वह भारतका गवर्नर-जनरल हो या उससे भी बड़ा कोई अधिकारी हो।' —सु० सिं०

मेरे कारण कोई झूठ क्यों बोले

कलकत्तेके सुप्रसिद्ध सुधारक विद्वान् श्रीरामतनु लाहिड़ी उन दिनों कृष्णनगर कालिजियट स्कूलके प्रधानाध्यापक थे। वे एक दिन कलकत्तेमें सड़ककी एक पटरीसे कहीं जा रहे थे। श्रीअश्विनीकुमारजी उनके पीछे चल रहे थे। अचानक लाहिड़ीबाबू शीघ्रतासे दूसरी पटरीपर चले गये। अश्विनी-कुमारजीने उनसे ऐसा करनेका कारण पूछा। लाहिड़ीबाबूने पहली पटरीसे जाते एक व्यक्तिकी ओर संकेत करके कहा—'उन सज्जनने मुझसे कुछ रुपये उधार लिये हैं। जब वे मुझसे मिलते हैं, तभी कोई-न-कोई तिथि बताते हैं कि उस तिथिको रुपया दे देंगे। परंतु सम्भवतः अपनी परिस्थितिसे वे विवश हैं। अपनी बात वे सत्य नहीं कर पाते। उन्हें देखकर मैं इधर चला आया कि मेरे कारण किसी-को झूठ क्यों बोलना पड़े।' —सु० सिं०

सत्यके लिये त्याग

श्रीअश्विनीकुमार दत्त जब हाईस्कूलमें पढ़ते थे, तब कलकत्ता विश्वविद्यालयका नियम था कि सोलह वर्षसे कम अवस्थाके विद्यार्थी हाईस्कूलकी परीक्षामें नहीं बैठ सकते थे। इस परीक्षाके समय अश्विनीबाबूकी अवस्था चौदह वर्ष थी; किंतु दूसरोंकी भाँति उन्होंने भी सोलह वर्षकी अवस्था लिखायी और परीक्षामें बैठे। इस प्रकार वे मैट्रिक पास हो गये।

ठीक एक वर्ष पश्चात् एफ० ए० के प्रथम वर्षकी परीक्षामें उत्तीर्ण हो जानेपर अश्विनीकुमारजीको अपने आचरणमें जो असत्यका दोष था, उसका भान हुआ। उन्हें अपने असत्याचरणपर बड़ी ग्लानि हुई। अपने कालेजके प्रिन्सिपलसे उन्होंने सब बातें प्रकट करके इस असत्यके सुधारनेकी प्रार्थना की। प्रिन्सिपलने उनकी सत्यनिष्ठाकी प्रशंसा की; किंतु जो कुछ हो गया, उसे सुधारनेमें असमर्थता बतायी। अश्विनीकुमारजी विश्वविद्यालयके रजिस्ट्रारसे मिले; परंतु वहाँ भी उत्तर मिला—'अब बात हाथसे बाहर हो गयी।' लेकिन अश्विनीबाबूने प्रायश्चित्त किया। दो वर्ष झूठी उमर बढ़ाकर जो लाभ उठाया गया था, उसके लिये उन्होंने दो वर्ष पढ़ाई बंद रक्खी। —सु० सिं०

माता-पिताके चरणोंमें

प्रथमपूज्य गणेशजी

देवता सभी पूज्य हैं; किंतु एक बार देवताओंमें विवाद हो गया कि उनमें प्रथम पूज्य कौन है ? जब परस्पर कोई निर्णय न हो सका, तब वे एकत्र होकर लोकपितामह ब्रह्माजीके पास पहुँचे । बूढ़े ब्रह्माजी बहुत कार्यव्यस्त रहते हैं । उन्हें सृष्टिके कार्यसे दो पलका भी अवकाश नहीं । पञ्चायत करनेको समय निकाल पाना उनके लिये कठिन ही था । अपना नवीन सृजन-कार्य करते-करते ही उन्होंने देवताओंकी बात सुन ली और एक निर्णय सुना दिया—'जो पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करके सबसे पहले मेरे पास आ जाय वही अबसे प्रथम पूज्य माना जाय ।'

देवराज इन्द्र अपने ऐरावतपर चढ़कर दौड़े, अग्निदेवने अपने भेंड़ेको भगाया, धनाधीश कुबेरजीने अपनी सवारी ढोनेवाले कहारोंको दौड़नेकी आज्ञा दी । वरुणदेवका वाहन ठहरा मगर, अतः उन्होंने समुद्री मार्ग पकड़ा । सब देवता अपने-अपने वाहनोंको दौड़ाते हुए चल पड़े । सबसे पीछे रह गये गणेशजी । एक तो उनका तुन्दिल भारी भरकम शरीर और दूसरे वाहन मूषक । उन्हें लेकर बेचारा चूहा अन्ततः कितना दौड़ता । गणेशजीके मनमें प्रथम पूज्य बननेकी लालसा कम नहीं थी, अतः अपनेको सबसे पिछड़ा देख वे उदास हो गये ।

संयोगकी बात—सदा पर्यटन करनेवाले देवर्षि नारदजी खड़ाऊँ खटकाते, वीणा बजाते, भगवद्गुण गाते उधरसे आ निकले । गणेशजीको उदास देखकर उन परम-दयालुको दया आ गयी । उन्होंने पूछा—'पार्वती-नन्दन ! आज आपका मुख म्लान क्यों है ?'

गणेशजीने सब बातें बतायीं । देवर्षि हँस पड़े, बोले—'बस !' गणेशजीमें उत्साह आ गया । वे उत्कण्ठासे पूछ उठे—'नारदजी ! कोई युक्ति है क्या ?'

'बुद्धिके देवताके लिये भी युक्तियोंका अभाव !' देवर्षि फिर हँसे और बोले—'आप जानते ही हैं कि माता साक्षात् पृथ्वीरूपा होती हैं और पिता परमात्माके ही रूप होते हैं । इसमें भी आपके पिता—उन परम-तत्त्वके ही भीतर तो अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड हैं ।'

गणेशजीको अब और कुछ सुनना-समझना नहीं था । वे सीधे कैलास पहुँचे और भगवती पार्वतीकी अँगुली पकड़कर छोटे शिशुके समान खींचने लगे—'माँ ! पिताजी तो समाधिमग्न हैं, पता नहीं उन्हें उठनेमें कितने युग बीतेंगे, तू ही चलकर उनके वामभागमें तनिक देरको बैठ जा ! चल बैठ जा माँ !'

भगवती पार्वती हँसती हुई जाकर अपने ध्यानस्थ आराध्यके समीप बैठ गयीं; क्योंकि उनके मङ्गलमूर्ति कुमार इस समय कुछ पूछने-बतानेकी मुद्रामें नहीं थे । वे उतावलीमें थे और केवल अपनी बात पूरी करनेका आग्रह कर रहे थे ।

गणेशजीने भूमिमें लेटकर माता-पिताको प्रणाम किया, फिर चूहेपर बैठे और सात बार दोनोंकी प्रदक्षिणा की । प्रदक्षिणा करके पुनः साष्टाङ्ग प्रणाम किया और माता कुछ पूछें इससे पहले तो उनका मूषक उन्हें लेकर ब्रह्मलोककी ओर चल पड़ा । वहाँ ब्रह्माजीको अभिवादन करके वे चुपचाप बैठ गये । सर्वज्ञ सृष्टिकर्ताने एक बार उनकी ओर देख लिया और अपने नेत्रोंसे ही मानो स्वीकृति दे दी ।

बेचारे देवता वाहनोंको दौड़ाते पूरी शक्तिसे पृथ्वी-प्रदक्षिणा यथाशीघ्र पूर्ण करके एकके बाद एक ब्रह्मलोक पहुँचे । जब सब देवता एकत्र हो गये, ब्रह्माजीने कहा—'श्रेष्ठता न शरीरबलको दी जा सकती, न वाहनबलको । श्रद्धासमन्वित बुद्धिबल ही सर्वश्रेष्ठ है और उसमें भवानीनन्दन श्रीगणेशजी अग्रणी सिद्ध कर चुके अपनेको ।'

देवताओंने पूरी बात सुन ली और तब चुपचाप गणेशजीके सम्मुख मस्तक झुका दिया । देवगुरु बृहस्पतिने उस समय कहा था—'सामान्य माता-पिताका सेवक और उनमें श्रद्धा रखनेवाला भी पृथ्वी-प्रदक्षिणा करनेवालेसे श्रेष्ठ है, फिर गणेशजीने जिनकी प्रदक्षिणा की है, वे तो विश्वमूर्ति हैं इसे कोई अस्वीकार कैसे करेगा ।'

माता-पिताके चरणोंमें—प्रथम पूज्य गणेशजी

जाको राखै साइयाँ, मार सकै ना कोय

(१)

रामतारण चक्रवर्ती नामके एक सज्जन कलकत्तेमें किसी व्यापारी फर्ममें काम करते थे। उनके घरमें स्त्री और दस-बारह वर्षकी एक लड़कीके सिवा दूसरा कोई न था। एक दिन कार्यालयसे लौटनेपर उन्होंने देखा कि उनकी स्त्री और लड़की बड़े आनन्दसे एक पत्र पढ़ रही हैं। उन्होंने पूछा 'किसका पत्र है, क्या बात है ?' लड़की बोली—'क्या आपने नहीं सुना ? छोटे मामाका विवाह है, उन्होंने आपको और हमलोगोंको देश जानेके लिये विशेष आग्रहपूर्वक पत्र लिखा है।' रामतारण बाबू प्रसन्न नेत्रोंसे अपनी स्त्रीकी ओर देखकर बोले—'अच्छी बात है; चलो, इतने दिनों बाद तुम्हारे छोटे भाईकी एक व्यवस्था तो हुई। जरा पत्र तो देखूँ।' इतना कहकर वे पत्र पढ़ने लगे।

विवाहके दिनको एक सप्ताह रह गया। रामतारण बाबू मालिकसे कुछ दिनोंके लिये छुट्टी लेकर देश जानेकी तैयारी करने लगे। धीरे-धीरे यात्राका दिन आ गया। विवाहोत्सवमें जानेके लिये हबड़ा स्टेशनपर जाकर यथासमय ट्रेनपर सवार होकर वे देशकी ओर चले। जिस स्टेशनपर उन्हें उतरना था, वहाँ गाड़ी दोपहरको पहुँची। स्टेशनसे उनकी ससुराल ११ मील दूर थी और बैलगाड़ीके सिवा वहाँ जानेके लिये दूसरा कोई साधन न था। रामतारण बाबू एक बैलगाड़ी भाड़ा करके भगवान्‌का नाम लेकर चल पड़े। गाड़ीवान उनके साथ तरह-तरहकी बातें करने लगा और सरलहृदय रामतारण बाबूने भी निष्कपट भावसे सारी बातें उससे कह डालीं। यहाँतक कि वे विवाहमें जा रहे हैं तथा साथमें गहने-कपड़े तथा रुपये-पैसे हैं—यह बात भी उनके मुँहसे निकल गयी। चक्रवर्ती महाशय यदि इन बातोंके बीचमें गाड़ीवानके मुँहकी ओर विशेष ध्यान देकर देख लेते तो उन्हें मालूम हो जाता कि उसके दोनों नेत्र कितने कुटिल और हिंस्र-भावसे भर गये हैं; परंतु अत्यन्त सरलहृदय होनेके कारण वे कुछ भी ताड़ न सके।

बैलगाड़ी धीरे-धीरे एक वनके बाद दूसरे वन, एक मैदानके बाद दूसरे मैदानको पार करती हुई चली। रामतारण बाबू अपनी स्त्री और लड़कीको नाना प्रकारके प्राकृतिक दृश्य दिखलाते हुए प्रसन्न चित्तसे विभिन्न प्रकारकी बातें करते रहे। इतनेमें गाड़ीवानने एक नदीके किनारे पहुँचकर गाड़ीको रोक दिया। नदीमें उस समय बड़ी भयानक धारा बह रही थी। गाड़ीसे पार करनेपर विपत्तिकी सम्भावना थी। नदी उतनी गहरी नहीं थी, लेकिन बहुत चौड़ी थी; अतएव चक्रवर्ती महाशय बहुत डर गये। गाड़ीवानने चक्रवर्ती महाशयकी ओर देखकर कहा—'बाबूजी ! समीप ही हमारा परिचित गाँव है। हम वहींसे किसीको बुला लाते हैं। एक और आदमीकी सहायता मिलनेसे नदी पार होनेमें विशेष कष्ट न होगा।' चक्रवर्तीजी उसीमें राजी हो गये। तब गाड़ीवानने उन लोगोंको गाड़ीसे उतरनेके लिये कहकर बैलोंको गाड़ीसे खोल दिया। बैल छुट्टी पाकर आनन्दसे नदीके किनारे घास चरने लगे।

लगभग आध घंटेके बाद गाड़ीवान एक दूसरे आदमीको साथ लेकर पहुँचा। उस दूसरे आदमीकी यमदूतके समान मुखाकृति तथा हिंसाभरी क्रूरदृष्टि देखकर चक्रवर्तीजी मन-ही-मन डरने लगे; परंतु उनके मुँहसे कोई बात न निकल सकी। गाड़ीवान और उसका साथी दोनों चक्रवर्तीजीके समीप आकर सामने खड़े हो गये और तड़ककर बोले कि 'तुम्हारे पास जो कुछ है, सो तुरंत दे दो; नहीं तो इस छुरेसे तुम्हारा काम तमाम करके नदीमें डुबो देंगे।' इतना कहकर दोनोंने बड़े तेज शान धराये हुए छुरे निकाल लिये। चक्रवर्ती महाशय, उनकी स्त्री और लड़की—सब डरके मारे चिल्ला उठे। दोनों डाकू छुरे हाथमें लिये उनकी ओर बढ़े। चक्रवर्ती महाशय बहुत अनुनय-विनय करने लगे और प्राण-रक्षाके लिये दोनों डाकुओंके चरणोंपर गिर पड़े। डाकुओंने कहा—'तुम्हारे पास जो कुछ गहने-कपड़े और रुपये-पैसे हैं, सब अभी हमारे हवाले कर दो।' चक्रवर्तीजीने कोई उपाय न देखकर सारे रुपये तथा गहने दोनों डाकुओंको दे दिये। धन हथियानेके बाद दोनों डाकू बोले कि 'यदि तुम बचे रहोगे तो पुलिसमें खबर देकर हमको पकड़वा दोगे। अतएव तुमलोगोंको मारकर हम इस नदीमें डुबा देंगे।'

इतना कहकर दोनों डाकू छुरे लिये उनकी ओर बढ़े। चक्रवर्तीजी और उनकी लड़की प्राणोंके भयसे भीत होकर रोते-रोते विपद्-विदारण भगवान् मधुसूदनको जोर-जोरसे पुकारने लगे। डाकू छुरे भोंक ही रहे थे कि अचानक एक अघटन घटना घटी।

दोनों बैल समीप ही घास चर रहे थे। कोई नहीं कह सकता कि क्या हुआ; पर दोनों बैल सींग नीचे करके आकर बिजलीकी तरह टूट पड़े और दोनों डाकुओंको सींगोंसे मारने लगे। सींगोंकी भयानक चोटसे दोनों डाकू घायल होकर दूर गिर पड़े। जहाँ-जहाँ सींग लगे थे, वहाँ-वहाँसे बहुत जोरसे खून बहने लगा। वे वेदनासे छटपटाते हुए मिट्टीमें लोटने लगे। सहसा इस अद्भुत घटनाको देखकर चक्रवर्ती महाशय, उनकी स्त्री और लड़की विस्मयसे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर पत्थरके समान स्तब्ध रह गये। इसी बीच उसी मार्गसे दूसरे यात्री आ निकले। उन्होंने इस भीषण दृश्यको देखकर चक्रवर्ती महाशयसे पूछ-ताछ की। चक्रवर्तीजीने निष्कपट भावसे सारी बातें कह डालीं। उन यात्रियोंमें एक आदमी चौकीदार था। वह उसी समय उन दोनों डाकुओंको बाँधकर थानेमें खबर देने चला। चक्रवर्तीजीने दूसरे यात्रियोंकी सहायतासे एक दूसरी बैलगाड़ी ठीक करके अपने गन्तव्य स्थानकी राह ली।

अदालतमें मुकदमा चलनेपर दोनों डाकुओंको कठोर कारागारका दण्ड मिला। चक्रवर्तीजीने बहुत प्रयत्न करके उन दोनों बैलोंको खरीदकर अपने घरमें रक्खा और उनकी सेवा की। इसके बाद जब कभी भी कोई उस घटनाके विषयमें उनसे पूछता तो वे भक्तिसे गद्गदचित्त होकर कहते कि 'कौन कहता है भगवान् जीवकी करुण प्रार्थना नहीं सुनते। नहीं तो, उनके विना इन दो अबोध प्राणियों (बैलों) को दोनों डाकुओंका दमन करनेके लिये किसने प्रेरित किया? ये यन्त्र हैं, वे यन्त्री हैं'—इतना कहकर चक्रवर्ती महाशय भावावेशमें रो पड़ते!

(२)

डेवन नगरके बब्बाकूम्ब (Babbacomb) गाँवके निवासी जॉन ली (John Lee) की घटना ऐसी है, जिसपर जल्दी विश्वास नहीं होता, किंतु है वह सोलहों आने सत्य। श्रीमती केयीज (Mrs. Keyes) की हत्याका अभियोग लगाकर लीको फाँसीकी आज्ञा हो गयी थी। मृत्युसे तनिक भी भयभीत होनेकी अपेक्षा लीने न्यायाधीशोंके समक्ष उनकी सम्मतिके विरुद्ध अपनेको निर्दोष बताया और कहा, 'मैंने यह काम नहीं किया है। भगवान् जानते हैं कि मैं निर्दोष हूँ। वे कभी मुझे फाँसीसे मरने नहीं देंगे। उन्होंने मुझसे निर्भय रहनेके लिये कहा है।'

उधर फाँसीकी सारी व्यवस्था हो गयी। रस्सीकी जाँचके लिये एक पुतला लटकाया गया। सब कुछ ठीक साबित हुआ। इस दृश्यको देखनेके लिये एक उन्मत्त भीड़ साँस खींचे खड़ी थी। सिपाहियोंने लीको यथास्थान खड़ा कर दिया। फिर उसको एक काली कुलही उढ़ाकर खटका खींच लिया गया। पर ली जहाँ-का-तहाँ ही खड़ा रह गया। आश्चर्यचकित होकर एक निरीक्षक सिपाही कैदीकी जगह स्वयं जाकर खड़ा हो गया। इस बार जब खटका खींचा गया, तब सिपाही धड़ामसे नीचे आ गिरा और उसका एक पैर भी टूट गया। फाँसीकी सजाको एक सप्ताहके लिये स्थगित कर दिया गया। पर दूसरी बार भी लीको फंदेमें लटकानेकी चेष्टा फिर व्यर्थ सिद्ध हुई। जबतक पुतलोंको लटकाकर परीक्षा की जाती, तबतक तो खटकेका खींचना सार्थक होता; पर जब लीको वहाँ लाकर खड़ा कर दिया जाता, तब खटका काम ही नहीं करता। उस स्थानका अधिकारी (शरिफ) एक धर्मभीरु और श्रद्धालु पुरुष था। उसने तार देकर गृहसचिवसे परामर्श माँगा। वहाँसे यही कठोर उत्तर आया—'फाँसीका काम पूरा करो।'

स्थानीय नागरिकोंने अत्यन्त उत्तेजित होकर लीके छोड़ दिये जानेकी माँग की। परंतु शरिफ बेचारेको तो हुकुम बजाना था। उसने फिर इस घोर कर्मको पूरा करनेकी चेष्टा की, परंतु वह सफल नहीं हुआ। चार पृथक्-पृथक् दिन फाँसी देनेका प्रयत्न किया गया, पर हर बार खटकेका यन्त्र कुण्ठित हो जाता। इतनेमें गृहसचिवका फिर शीघ्र ही तार आ गया, जॉन लीके प्राणदण्डकी आज्ञा रद्द कर दी गयी थी। कुछ समय बाद उसको क्षमा प्रदान करके छोड़ भी दिया गया।

सर गुरुदासकी कट्टरता

कलकत्ता हाईकोर्टके जज स्वर्गीय श्रीगुरुदास बनर्जी अपने आचार-विचार, खान-पानमें बड़े कट्टर थे। 'माडर्न रिव्यू' के पुराने एक अङ्कमें श्रीअमल होमने इस सम्बन्धमें उनके जीवनकी एक घटनाका उल्लेख किया था। लार्ड कर्जनके समय जो 'कलकत्ता-विश्वविद्यालय-कमीशन' नियुक्त हुआ था, उसके गुरुदास भी एक सदस्य थे। उसका कार्य समाप्त

होनेपर शिमलासे वे वाइसरायके साथ उनकी स्पेशलमें कलकत्ते जा रहे थे। कानपुरमें वाइसरायने उन्हें अपने डिब्बेमें बुला भेजा। दोनोंमें बहुत देरतक कमीशनकी सिफारिशोंके सम्बन्धमें बातचीत होती रही। इतनेमें ही दोपहरके खानेका समय हो गया। वाइसरायने श्रीगुरुदाससे कहा कि 'जाइये, अब आप भी भोजन कीजिये।' उन्होंने इसके लिये धन्यवाद देते हुए कहा—'मैं रेलमें कुछ नहीं खाता।' यह सुनकर वाइसरायको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्हें विश्वास न हुआ। उन्होंने फिर पूछा तो उत्तर मिला—'मैं रेलमें कुछ गङ्गाजल रखता हूँ और केवल उसीको पीता हूँ।' इसपर वाइसरायने फिर पूछा 'तब फिर आपका लड़का क्या करेगा?' श्रीगुरुदासने कहा—'जबतक मैं उपवास करता हूँ, वह भला कैसे खा सकता है। घरकी बनी हुई उसके पास कुछ मिठाई है; भूख लगती है तो वह उसे खा लेता है।' वाइसरायने कहा—'तो फिर मैं भी नहीं खाऊँगा, जबतक आप नहीं खा लेते। आगे किसी स्टेशनपर गाड़ी खड़ी रहेगी और वहाँ आप अपने नियमानुसार भोजन कर लें।' श्रीगुरुदासने बहुत समझाया कि इसकी आवश्यकता नहीं है, आपको कष्ट होगा; पर वाइसरायने एक भी न सुनी और अपने ए० डी० सी० (शरीर-रक्षक) को तुरंत बुलाकर पूछा कि 'अगले किस स्टेशनपर गाड़ी खड़ी होगी?' उसने उत्तर दिया—'हुजूर, इलाहाबादमें।' वाइसरायने कहा—'अच्छी बात है, जबतक डाक्टर बनर्जीका भोजन नहीं हो जाता, हम वहीं ठहरेंगे।' प्रयाग स्टेशनपर स्पेशल रुक गयी, पिता-पुत्र दोनोंने जाकर संगमपर स्नान किया और त्रिवेणी-तटकी रेतीपर दाल-भात बना-खाकर जब लौटे, तब कहीं गाड़ी आगे बढ़ी।

श्रीगुरुदास कहा करते थे कि जहाँ भी, जिस किसीके साथ, जो कुछ भी खा-पी लेनेसे जाति जाती है या नहीं, यह दूसरी बात है; पर इन नियमोंके पालनसे आत्मसंयम और अनुशासनकी कितनी अच्छी शिक्षा मिलती है, जिसका जीवनमें कुछ कम मूल्य नहीं है। नियमपालनमें किसीकी कट्टरता देखकर उसका उपहास भले ही किया जाय, पर हृदयमें उसके प्रति आदर-भाव भी बिना जाग्रत् हुए न रहेगा। लार्ड कर्जन-सरीखे उद्दण्ड वाइसरायको भी इस कट्टर सनातनीके 'वहमों' का आदर करना पड़ा, परंतु आजकल तो अनुशासन और संयमका कुछ मूल्य ही नहीं है। उनसे तो स्वतन्त्रता और सुखमें बाधा पड़ती है। आजकल तो जीवनका मन्त्र है—'स्वतन्त्रता और भोग!' वैसा ही फल भी मिल रहा है!

महेशकी महानता

महेश मंडल जातिका था नमःशूद्र—चाण्डाल। दिनभर मजदूरी करके कुछ पैसे लाता, उसीसे अपना तथा अपनी स्त्री, पुत्र, कन्या—चारोंका पेट भरता। आज दो दिनका उपवास था, महेशने बड़ी मुश्किलसे छः आने पैसे कमाये। बाजारसे दो सेर चावल खरीदे और पार जानेके लिये नदीपर पहुँचा। नदीके घाटपर खेपू महाराज दिखायी दिये।

खेपू उदास मुँह घाटपर खड़े थे। महेशने ब्राह्मणका चेहरा उतरा हुआ देखकर पूछा कि 'घरमें सब कुशल तो है?' खेपूने जवाब दिया 'क्या बताऊँ? माँ दुर्गाने मेरे नसीबमें कुछ लिखा ही नहीं। कहीं भी भीख नहीं मिली। तीन दिनसे घरमें किसीने कुछ नहीं खाया। आज घर जानेपर सभी लोग मरणासन्न ही मिलेंगे। इसी चिन्तामें डूब रहा हूँ।' महेशने कहा—'विपत्तिमें माँ दुर्गाके सिवा और कौन रक्षा करनेवाला है? वही खानेको देती है और वही नहीं देती। हमारा तो काम है बस, माँके आगे रोना। उनके आगे पुकारकर रोनेसे जरूर भीख मिलेगी।' खेपूने कहा—'भाई! अब यह विश्वास नहीं रहा। देखते हो दुःखके सागरमें डूब-उतरा रहा हूँ। बस, प्राण निकलना ही चाहते हैं। बताओ, कैसे विश्वास करूँ?'

माँ दुर्गाके प्रति अविश्वासकी बात सुनकर महेशकी आँखोंमें पानी भर आया। महेशने कहा—'लो न, माँ दुर्गाने तुम्हारी भीख मेरे हाथ भेजी है। तुम रोओ मत।' चावल-दाल सब खेपूको देकर महेश हँसता हुआ घरको चला। खेपूको अन्न देकर महेश मानो अपनेको कृतार्थ मान रहा था। उसने सोचा—'आज एकादशी है। जीवनमें कभी एकादशीका व्रत नहीं किया। कल दशमी थी। कुछ खाया नहीं। आज उपवास हो गया, इससे व्रतका नियम पूरा सध गया। अब भगवान् देंगे तो कल द्वादशीका पारण हो ही जायगा। एक दिन न खानेसे मर थोड़े ही जायँगे।'

इस प्रकार सोचता-विचारता महेश घर पहुँचा। महेशको देखते ही स्त्रीने सामने आकर कहा—'जल्दी चावल दो तो भात बना दूँ। बच्चा शायद आज नहीं बचेगा। बड़ी देरसे भूखके मारे बेहोश पड़ा है। मुझे चावल दो, मैं चूल्हेपर

चढ़ाऊँ और तुम जाकर बच्चेको सँभालो।' महेशने कहा—'माँ दुर्गाका नाम लेकर बच्चेके मुँहमें जल डाल दो। माँकी दयासे यह जल ही उसके लिये अमृत हो जायगा। खेपू महाराजके बच्चे तीन दिनसे भूखे हैं। आज खानेको न मिलता तो मर ही जाते। मैं दो सेर चावल लाया था, सब उनको दे आया हूँ।' महेशकी स्त्रीने कहा, 'आधा उनको देकर आधा ले आते तो बच्चोंको दो कौर भात दे देती। तीन वर्षका बच्चा दो दिनसे बिना खाये बेहोश पड़ा है। अब क्या होगा! माँ दुर्गा ही जाने।'

महेशने कहा, 'यदि माँ काली बचायेगी तो कौन मारनेवाला है, अवश्य ही बच जायगा और यदि समय पूरा ही हो गया है तो प्राणोंका वियोग होना ठीक ही है। खेपूका सारा परिवार तीन दिनसे भूखा है। पहले वह बचे। हमारे भाग्यमें जो कुछ बदा है, हो ही जायगा।'

सद्व्यवहार

सेठ रमणलाल भगवान्‌के भक्त तथा साधुस्वभावके पुरुष थे। एक बार रसोइयाने भूलसे हलुएमें चीनीकी जगह नमकका पानी बनाकर डाल दिया और तरकारियोंमें नमककी जगह चीनी डाल दी। वह अपनी पत्नीकी बीमारीके कारण रातभरका जगा हुआ था और पत्नीकी रुग्णताके कारण उसके मनमें चिन्ता भी थी। इसीसे भूल हो गयी। सेठ रमणलाल भोजन करने बैठे तो उन्हें हलुआ नमकीन और तरकारी मीठी किंतु बिना नमककी मालूम हुई। उन्होंने रसोइयाके चेहरेकी ओर देखा, उसका चेहरा उदास था। सेठने हार्दिक सहानुभूतिके स्वरमें उससे पूछा—'महाराज! आज उदास कैसे हो?' लाभशंकर रसोइयाने जवाब दिया—'ब्राह्मणी बीमार है, इसीसे चेहरेपर कुछ मलिनता आ गयी होगी।' उसने रात जगनेकी बात नहीं कही। पर सेठ उसकी उनींदी आँखोंको देखकर ताड़ गये। उन्होंने कहा—'लाभशंकर! तुम खाकर जल्दी घर चले जाओ—ब्राह्मणी अकेली है, उसे सँभालो; यहाँ दूसरा आदमी काम कर लेगा। तुम भला, आये ही क्यों। फिर भैया! तुम्हारे घरमें दूसरा कोई है भी तो नहीं। तुम रातभर जगे भी होओगे! मैं एक आदमी भेजता हूँ, वह बैठेगा। तुम कुछ देर आराम कर लेना।' रसोइयाको बड़ी सान्त्वना मिली। वह मन-ही-मन आशीर्वाद देता हुआ घर चला गया।

लाभशंकरके चले जानेपर सेठ रमणलालने अपनी पत्नी चम्पाबाईसे धीरेसे कहा—'देखो, बेचारा डरके मारे स्त्रीको बीमार छोड़कर कामपर आ गया। रातकी नींद थी और ब्राह्मणीकी चिन्ता थी। इससे उसने भूलसे हलुएमें नमक और तरकारियोंमें चीनी डाल दी है। अगर इन चीजोंको घरके सब लोग, नौकर-चाकर आदि खायेंगे तो बेचारे ब्राह्मणकी हँसी उड़ायेंगे और उसे भारी दुःख होगा। अतएव ये चीजें गोशालामें ले जाकर गायोंको खिला दो और जल्दीसे दूसरी बार हलुआ-तरकारी बनवा लो, जिसमें लाभशंकरकी भूलका किसीको पता भी न चले।' साध्वी चम्पाबाईने वैसा ही किया। बात बहुत छोटी, परंतु इससे सेठ रमणलालकी विशालहृदयता और सदाशयताका पता लगता है!

पुजारीको आश्चर्य

वृन्दावनमें एक महात्मा हो गये हैं। उनका नाम था नारायणस्वामी। वे कुसुमसरोवरपर रहा करते थे। वहीं मन्दिरका एक पुजारी भी रहता था। एक दिन पुजारीने देखा—नारायणस्वामी पागलकी तरह कुसुमसरोवरसे गिरिराजकी ओर दौड़े जा रहे हैं। गिरिराजके पास जाकर वे फिर पीछेकी ओर लौटे तथा कुसुमसरोवरके पासतक दौड़ आये। पुनः गिरिराजकी ओर दौड़े और वैसे ही फिर पीछे लौट आये। इस प्रकार कितनी बार उस ओर दौड़े, फिर पीछे लौटे और पुनः उसी ओर दौड़ गये। पुजारीको आश्चर्य हुआ, पर उसने कुछ पूछा नहीं। किंतु दूसरे दिन भी नारायणस्वामीजी वैसे ही दौड़ते रहे। आज संध्याके समय पुजारीने उनके चरण पकड़कर पूछा—'महाराज! इस प्रकार आप दौड़ते क्यों रहते हैं?' नारायणस्वामीजीने कुछ भी उत्तर देना नहीं चाहा। पर पुजारी उनके पीछे पड़ गया। अन्ततोगत्वा उसका अतिशय प्रेम देखकर स्वामीजी बोले—'देखो, भैया! मैं जाता हूँ कुसुमसरोवरपर बैठकर भजन करने। जैसे बैठता हूँ कि मुझे दीखता है—भगवान् श्रीकृष्ण कुछ दूरपर खड़े हैं। उस समय उनकी सुन्दर शोभा देखकर मैं

पागल हो जाता हूँ और उन्हें पकड़ने दौड़ता हूँ; किंतु वे भाग चलते हैं। मैं पीछे-पीछे दौड़ता हूँ। गिरिराजके पास पहुँचनेपर दीखता है कि वे मेरे पीछेकी ओर खड़े हैं और मैं उन्हें पकड़नेके लिये पीछे दौड़ पड़ता हूँ। इसी प्रकार आज कई दिनोंसे दौड़ रहा हूँ।'

पुजारीने पूछा—'महाराजजी! उनसे कोई बात आप नहीं पूछते?'

स्वामीजी बोले—'पहले तो बहुत-सी बातें याद रहती हैं। सोचता भी हूँ कि यह पूछ लूँगा, वह पूछ लूँगा; किंतु उनके दीखते ही और सब भूल जाता हूँ, केवल उनकी याद बच रहती है।'

इन नारायणस्वामीको भगवान्‌की दिव्य लीलाओंके भी दर्शन कई बार हुआ करते थे।

भगवान्‌का नृत्य-दर्शन

बाबा खड्गसेनजी बड़े ही प्रेमी भक्त थे। इनके जीवन-धन व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्णचन्द्र थे। ये उन्हींके स्मरण-चिन्तन एवं स्तवनमें व्यस्त रहते थे। श्रीकृष्णलीला-दर्शन, श्रीकृष्ण-कथा-श्रवण और श्रीकृष्ण-नामके अखण्ड-जपके अतिरिक्त इनका और कोई कार्यक्रम नहीं था। ये श्रीकृष्णमें ही रम गये थे, जगत्‌के ज्ञानसे सर्वथा शून्य थे।

अपने परमाराध्य श्रीकृष्णकी मधुर लीलाके सहायक गोप और गोपिकाओंके माता-पिताका नाम ग्रन्थोंसे ढूँढ़-ढूँढ़कर इन्होंने बड़े परिश्रमसे पुस्तक तैयार की। दधि-दान-लीला, श्रीकृष्ण-केलि-लीला और रास आदिका बड़ा ही सरस और मधुर चित्रण किया इन्होंने। जीवनका परमोद्देश्य यही था और इसीमें इनका जीवन समाप्त हुआ।

ये ग्वालियरमें रहते थे। इनके यहाँ प्रतिदिन नियमपूर्वक रासलीला होती और उसे ये बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे देखते थे। शरत्-पूर्णिमाकी रात्रि थी। निर्मल आकाशमें पूर्णचन्द्र हँस रहा था। शीतल, मधुर बयार बह रही थी। श्रीखड्गसेनजी श्यामा-श्यामकी भुवन-मन-मोहिनी, संतजन-चित्ताकर्षिणी लीलाका अपलक नेत्रोंसे पान कर रहे थे। मधुर वाद्य बज रहे थे। भगवान् धीरे-धीरे नृत्य कर रहे थे। स्वर्गीय सौन्दर्य-सुख उतर आया था भूतलपर। श्रीखड्गसेनजी आनन्दसे गद्गद हो गये थे। इनकी आँखें अश्रुमुक्ताओंकी माला पिरो रही थीं। सहसा ये श्यामसुन्दरके चरणोंपर गिर पड़े और सदैवके लिये उनके पावन धाममें चले गये।—शि० दु०

निर्लोभी कर्मचारी

रामदुलाल सरकार कलकत्ता हटखोलाके दत्तबाबुओंके यहाँ नौकरी करते। वेतन था पाँच रुपये मासिक। वे अपने मालिकोंके बड़े कृपापात्र थे। एक दिन गङ्गाजीमें एक जहाज डूब गया। उसका माल नीलाम होनेको था। जहाजमें चने भरे थे। नीचेके चने सब भीग गये थे। ऊपर अच्छे थे। नीलामकी डाक पड़ने लगी। रामदुलाल भी नीलाममें डाक लगा रहे थे। रामदुलालने बड़ी दक्षताके साथ चने बहुत सस्ते दामोंमें डाक लिये। कुछ ही देर बाद एक व्यापारीने वे सब चने एक लाख रुपये नगद मुनाफेमें देकर रामदुलालसे खरीद लिये। एक ही घंटेमें यह सब हो गया। बिना किसी खर्चके एक लाख रुपये नकद लेकर रामदुलाल मालिकोंके पास आये और उन्हें सब हाल सुनाया। मालिकोंको कुछ पता ही नहीं था। मालिकोंने सब बातें सुनकर कहा—'रामदुलाल! इन रुपयोंपर तो तुम्हारा ही हक है। तुमने अपने बुद्धिकौशलसे ये रुपये कमाये हैं। हम इसमें कुछ भी हिस्सा नहीं लेना चाहते। भगवान्‌ने कृपा करके तुम्हें ये रुपये दिये हैं। इनके मालिक तुम्हीं हो। हमलोग बड़ी ही प्रसन्नतासे तुम्हें ये रुपये लेनेके लिये कह रहे हैं।'

उस समयके लाख रुपये आजके करोड़के बराबर थे। रामदुलालने बहुत प्रयत्न किया। कहा, मेरा कोई हक नहीं है। परंतु मालिकोंने नहीं माना। धन्य है पाँच रुपयेका नौकर रामदुलाल और वैसे ही धन्य हैं उसके निःस्वार्थ मालिक। रामदुलालका भाग जागा, उनके पास लाखों रुपये हुए। पर वे अन्ततक मालिकोंसे पाँच रुपये मासिक लेते रहे और सदाके नौकरकी भाँति ही आचरण भी करते रहे। रामदुलालके देहान्तके बाद उनके पुत्र भी वे ही पाँच रुपये मासिक लेकर अपनेको धन्य मानते थे।

राक्षसीका उद्धार

(पुण्यदानकी महिमा)

पवित्र सह्याचलके अञ्चलमें पहले कोई करवीरपुर नामका एक नगर था। वहाँ धर्मदत्त नामका एक पुण्यात्मा ब्राह्मण रहता था। एक बार कार्तिक मासमें वह एकादशीके दिन जागरणके बाद थोड़ी रात रहते पूजन-सामग्री लिये भगवान्के मन्दिरमें चला जा रहा था। रास्तेमें उसने देखा कि भयंकर नाद करती हुई एक विकराल राक्षसी उसकी ओर दौड़ी चली आ रही है। अब तो बेचारा ब्राह्मण भयसे काँप उठा। भगवान्का नाम तो वह ले ही रहा था। बस, सारी पूजनसामग्रीको उस राक्षसीपर दे मारा। भगवन्नामयुक्त तुलसीदल आदिके संस्पर्शसे वह राक्षसी निष्पाप-सी हो गयी। उसी क्षण उसे अपने पूर्वजन्मका स्मरण हो आया। वह तत्क्षण ब्राह्मणके सामने साष्टाङ्ग प्रणाम करती हुई पृथ्वीपर लेट गयी और कहने लगी—'विप्रवर! अपने पूर्वके कर्मोंके कारण मैं इस दुर्दशाको प्राप्त हुई हूँ। अब मैं पुनः उत्तम दशाको कैसे प्राप्त होऊँ, बतलानेका कष्ट करें।'

धर्मदत्तको अब दया आ गयी। उसने उसके जन्मान्तरके कर्मोंकी जिज्ञासा की। राक्षसी कहने लगी—''ब्रह्मन्! सौराष्ट्र नगरमें पहले भिक्षु नामका एक ब्राह्मण था। मैं उसीकी पत्नी थी। मेरा नाम कलहा था। मेरा स्वभाव अत्यन्त दुष्ट एवं निष्ठुर था। अधिक क्या, मैंने वाणीसे भी कभी अपने पतिका हित नहीं किया। भोजन बनाकर स्वयं तो मैं सभी अच्छी वस्तुओंको पहले खा लेती थी, बाद निस्सार अवशिष्ट चीजें अपने पतिके भोजनके लिये रख छोड़ती थी। मुझ कलहाकी यह दशा थी कि पति जो कुछ भी कहते थे, मैं ठीक उसके प्रतिकूल आचरण करती थी। एक बार मेरे पतिने अपने मित्रसे मेरी कथा कही। थोड़ा सोच-विचार कर उन्होंने मेरे पतिसे कहा कि 'आप 'निषेधोक्ति'से (उलटा कहकर) कहें तो आपकी स्त्री आपके कार्यको ठीक-ठीक कर देगी।' तत्पश्चात् मेरे पतिने मुझसे आकर एक बार कहा—'देखो, मेरा मित्र बड़ा दुष्ट है, उसे तुम भूलकर भी भोजनके लिये निमन्त्रित न करना।' इसपर मैंने कहा, 'नहीं-नहीं, वह तुम्हारा मित्र तो सर्वथा साधु है। मैं आज ही उसे बुलाकर भोजन कराऊँगी।' ऐसा कहकर मैंने उसे बुलाकर उसी दिन भोजन कराया। उस दिनसे मेरे पतिने सदा 'निषेधोक्ति'से ही कहना आरम्भ किया। एक दिन मेरे श्वशुरका श्राद्ध-दिवस आ पहुँचा। मेरे पतिने कहा—'प्रिये! मैं पिताका श्राद्ध नहीं करूँगा।' मैंने कहा—'तुम्हें बार-बार धिक्कार है। मालूम होता है तुम्हें पुत्र-धर्मका जरा भी ज्ञान नहीं। भला बतलाओ तो श्राद्ध न करनेसे तुम्हारी क्या गति होगी?' बस, मैं तुरंत जाकर ब्राह्मणोंको निमन्त्रित कर आयी। तब मेरे पतिने कहा, 'प्रिये! बस एक ही ब्राह्मणको भोजन कराना, विस्तार मत करना।' यह सुनकर मैं अठारह ब्राह्मणोंको निमन्त्रित कर आयी। मेरे पतिने कहा—'पकान्न तुम मत बनाना।' बस, मैंने पकान्न बनाकर रख दिया। पतिने कहा, 'पहले हम-तुम दोनों भोजन कर लें तो पीछे ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाय।' मैंने कहा—'तुम्हें बार-बार धिक्कार है। भला, ब्राह्मणोंके खिलानेसे पहले खाते तुम्हें लाज नहीं लगती?'

''इसी प्रकार निषेधोक्तिसे ही मेरे पतिने सारी श्राद्ध-क्रिया जैसे-तैसे सम्पन्न कर ली। दैववशात् अन्तमें उन्हें निषेधोक्तिकी याद भूल गयी और बोल उठे—'प्रिये! इन पिण्डोंको किसी सत्तीर्थमें डाल आओ।' बस, मैंने उन्हें विष्ठाकूपमें डाल दिया। अब तो वे खिन्न होकर हाहाकार कर उठे। थोड़ा सोचकर उन्होंने फिर कहा—'अच्छा! देखना इन पिण्डोंको बाहर मत निकालना।' मैं झट शौचकूपमें उतरकर उन पिण्डोंको बाहर निकाल लायी। तब उन्होंने कहा—'इन्हें किसी अच्छे तीर्थमें न डाल देना।' तब मैंने बड़े आदरसे उन्हें ले जाकर तीर्थमें डाल दिया।

"अन्तमें मेरी दुष्टतासे व्यथित होकर मेरे पतिने दूसरा विवाह करनेका निश्चय किया। यह सुनकर मैंने जहर खाकर प्राण-परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् यमदूत मुझे बाँधकर ले गये। यमराजने मुझे देखकर चित्रगुप्तसे पूछा। चित्रगुप्तने कहा—'इसके द्वारा शुभकर्म तो कभी हुआ ही नहीं। यह सदा स्वयं मिठाइयाँ खाती थी और पतिको निस्सार उच्छिष्ट देती थी। अतः इसे झिंगुरकी योनि प्राप्त हो। यह पतिके साथ सदा द्वेष तथा कलह करती थी अतः विष्ठा-भक्षी शूकरी योनिमें भी रहे। जिन पात्रोंमें भोजन बनाती थी, उन्हींमें यह खाती भी रहती थी, अतएव इसे स्वजातापत्यभक्षिणी वैडाली-योनि भी मिले। पतिके अकल्याणके लिये इसने आत्म-हत्या कर डाली है, इसलिये चिरकालतक इसे प्रेतयोनिमें भी रक्खा जाय।' बस, चित्रगुप्तका यह कहना था कि यमदूतोंने मुझे मरुदेशमें ढकेल दिया। एक बार एक व्यापारी उधरसे आ रहा था। मैं उसके शरीरमें घुस गयी। जब उसके साथ यहाँ कृष्णावेणीके तटपर पहुँची, तब विष्णु तथा शिवके दूतोंने बलात् मुझे मारकर उसके शरीरसे अलग कर दिया। मैं इधर-उधर भटक ही रही थी, तबतक तुम दीख पड़े। तुम्हारे द्वारा तुलसी-जल फेंके जानेपर मेरे पाप सब नष्ट हो गये। अब मुनिश्रेष्ठ! मैं तुम्हारे चरणोंकी शरण हूँ। आगे होनेवाली विडाल, शूकरादि तीन योनियाँ तथा दीर्घकालिक इस प्रेत-शरीरसे तुम्हीं त्राण दे सकते हो।"

धर्मदत्तको इसपर बड़ी दया लगी। उसने सोचा, 'साधारण पुण्योंसे तो इसका उद्धार होगा नहीं। अतएव मैंने यावज्जीवन जितना भी कार्तिक व्रत किया है, उसका आधा भाग इसे दे दूँ।' ऐसा सोचकर धर्मदत्तने द्वादशाक्षर मन्त्र तथा तुलसीदलसे उसका अभिषेक कर दिया और अपना संकल्पित पुण्य दे डाला। बस, तत्क्षण वह राक्षसी प्रज्वलित अग्निके समान उर्वशी-जैसी सौन्दर्य-राशिमें परिणत हो गयी। इधर आकाशसे एक विमान उतरा। उसपर पुण्यशील और सुशील ये दो भगवान्के गण थे। धर्मदत्तने विस्मित होकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। गणोंने उन्हें उठाकर गले लगाया और धन्यवाद दिया। वे बोले, 'विप्रश्रेष्ठ! तुम धन्य हो, जो दीनोंपर इस प्रकारकी दया करते हो। तुम्हारी कृपासे इसके सारे पाप नष्ट हो गये। यह अन्तकालतक विष्णुलोकमें रहेगी। अब तुम्हारा पुण्य दूना हो गया। अतएव तुम भी अपनी दोनों स्त्रियोंके साथ मरनेपर वहीं आओगे। अगले जन्ममें तुम राजा दशरथ होओगे। तब तुम्हारी दोनों स्त्रियोंके साथ अर्धपुण्यभागिनी यह स्त्री भी कैकेयी नामसे तुम्हारी स्त्री होगी। वहाँ भी तुम्हें भगवान् पुत्ररूपसे प्राप्त होंगे। तदनन्तर तुम्हें परमधामकी पुनः प्राप्ति होगी। —जा० श० (आनन्दरामायण, सारकाण्ड अध्याय ४; पद्मपुराण, उत्तरार्ध अ० १०६—७)

परोपकारका आदर्श

(सुलक्षणापर शिवकृपा)

काशीपुरीकी उत्तर दिशामें उत्तर अर्ककुण्ड है, जहाँ भगवान् सूर्य उत्तरार्ध नामसे निवास करते हैं। वहीं एक प्रियव्रत नामसे ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नी अत्यन्त सुन्दरी तथा पतिव्रता थी। उन दोनोंसे एक कन्या उत्पन्न हुई जिसका नाम सुलक्षणा था। सुलक्षणाका जन्म मूल नक्षत्रके प्रथम चरणमें हुआ था तथापि उसके केन्द्रमें बृहस्पति थे। वह कन्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी। वह बड़ी रूपवती, विनीत, सदाचारिणी तथा माता-पिताकी अति प्रियकारिणी थी। धीरे-धीरे वह विवाहके योग्य हुई। अब उसके पिताको चिन्ता हुई कि इसके योग्य उत्तम वर मुझे कहाँ मिलेगा जो कुल, अवस्था, शील, स्वभाव, शास्त्राध्ययन, रूप और धनसे

सम्पन्न हो ?' इस भयंकर चिन्ताज्वरसे ग्रस्त होकर बेचारे प्रियव्रत अन्तमें मृत्युको प्राप्त हो गये । प्रियव्रत-की पत्नी भी पातिव्रत्यका पालन करती हुई उनके साथ सती हो गयी ।

अब माता-पिताके मरनेपर सुलक्षणा दुःखसे व्याकुल हो उठी । उसने किसी प्रकार उनका और्ध्वदैहिक तथा दशाह आदि संस्कार किये । अब वह अनाथा सोचने लगी—'मैं असहाय अबला इस संसारको कैसे पार करूँगी ? स्त्रीभाव सबसे तिरस्कृत ही होता है । मेरे माता-पिताने मुझे किसी वरको अर्पण भी नहीं किया । ऐसी दशामें मैं स्वेच्छासे किस वरको वरण करूँ ? यदि मैंने किसीका वरण किया भी और यदि वह कुलीन, गुणवान्, सुशील और अनुकूल न मिल पाया तो उसका वरण करनेसे भी क्या लाभ होगा ?' यद्यपि उसके पास कई युवक इस इच्छासे आये भी, पर उसने किसी-को वरण नहीं किया । वह सोचने लगी—'अहो ! जिन्होंने मुझे जन्म दिया, बड़े लाड़-प्यारसे पाला, वे मेरे माता-पिता कहाँ चले गये ? देहधारी इस जीवकी अनित्यता-को धिक्कार है । जैसे मेरे माता-पिताका शरीर चला गया, निश्चय ही उसी प्रकार मेरा यह शरीर भी चला ही जायगा ।'

ऐसा विचार कर सुलक्षणाने उत्तरार्कके समीप घोर तपस्या आरम्भ की । उसकी तपस्याके समय प्रतिदिन एक छोटी-सी बकरी उसके आगे आकर अविचल भावसे खड़ी हो जाती । फिर शामको वह कुछ घास तथा पत्ते आदि चरकर और उत्तरार्क-कुण्डका जल पीकर अपने स्वामीके घर चली जाती । इस प्रकार छः वर्ष बीत गये । तदनन्तर एक दिन भगवान् शङ्कर पराम्बा भगवती पार्वतीके साथ लीलापूर्वक विचरते हुए वहाँ आये । सुलक्षणा वहाँ ठूँठकी भाँति खड़ी थी । वह तपस्यासे अत्यन्त दुर्बल हो रही थी । दयामयी भगवतीने भगवान् शङ्करसे निवेदन किया, 'भगवन् ! यह सुन्दरी कन्या बन्धु-बान्धवोंसे हीन है, इसे वर देकर अनुगृहीत कीजिये ।' दयासागर भगवान्‌ने भी इसपर सुलक्षणासे वर माँगनेको कहा ।

सुलक्षणाने जब नेत्र खोले, तब देखा, सामने भगवान् त्रिलोचन खड़े हैं । उनके वामाङ्गमें उमा विराजमान हैं । सुलक्षणाने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया । इतनेहीमें उसकी दृष्टि अपने आगे खड़ी उस बकरीपर पड़ी । उसने सोचा—'इस लोकमें अपने स्वार्थके लिये तो सभी जीते हैं, पर जो परोपकारके लिये जीता है, उसीका जीवन सफल है ।' वह बोली—'कृपानिधान ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो पहले इस बकरीपर कृपा करें ।'

सुलक्षणाकी बात सुनकर भगवान् शङ्कर बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने पार्वतीसे कहा—'देवि ! देखो, साधुपुरुषों-की बुद्धि ऐसी ही परोपकारमयी होती है । वास्तवमें एक-मात्र परोपकार ही संग्रहणीय है; क्योंकि सभी संग्रहोंका क्षय हो जाता है, पर एकमात्र परोपकार ही चिरस्थायी होता है । अब तुम्हीं बतलाओ, इस बकरी एवं सुलक्षणाका मैं कौन-सा उपकार करूँ ?'

तदनन्तर पराम्बा जगज्जननी पार्वतीने कहा—'यह शुभलक्षणा—सुलक्षणा—तो मेरी सखी होकर रहे । यह बालब्रह्मचारिणी है, अतएव मेरी बड़ी प्रिया है, इसलिये यह दिव्य शरीर धारणकर सदैव मेरे पास रहे और यह बकरी काशिराजकी कन्या हो और बादमें उत्तम भोगोंको भोगकर मोक्षको प्राप्त हो । इसने शीत आदिकी चिन्ता न कर पौष मासके रविवारको सूर्योदयके पूर्व स्नान किया है । इसलिये इस कुण्डका नाम आजसे बर्करीकुण्ड हो जाय । यहाँ इसकी प्रतिमाकी सभी लोग पूजा करें ।'

'एवमस्तु' कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये । इस प्रकार सुलक्षणाने अपने साथ उस बकरीका भी परम कल्याण सिद्ध कर लिया ।

(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, ४८ वाँ अध्याय)

राक्षसीका उद्धार

परोपकारका आदर्श

न्याय और धर्म

शास्त्रज्ञानने रक्षा की

विक्रमकी जीवदया

सर्वस्वदान
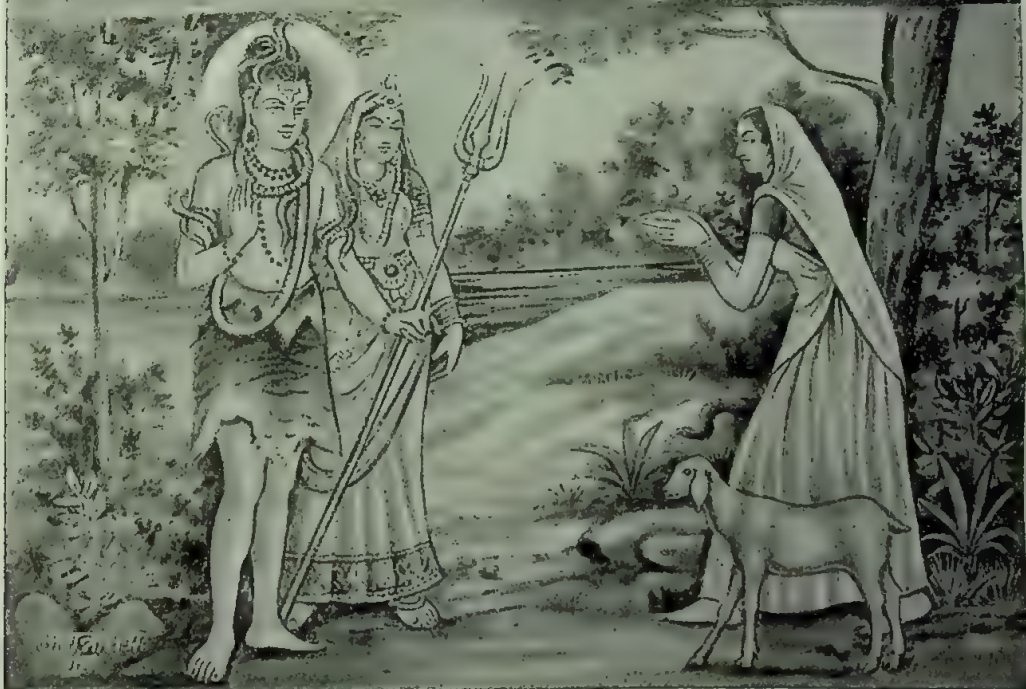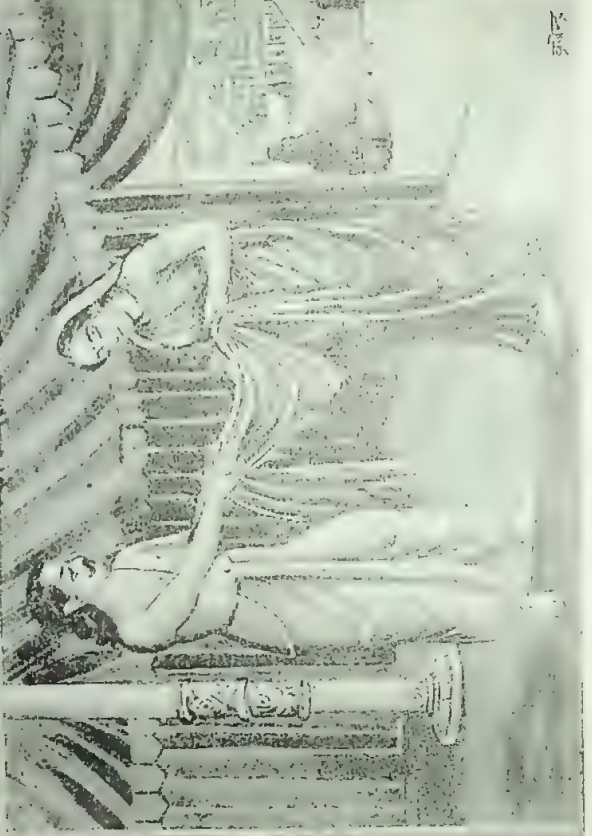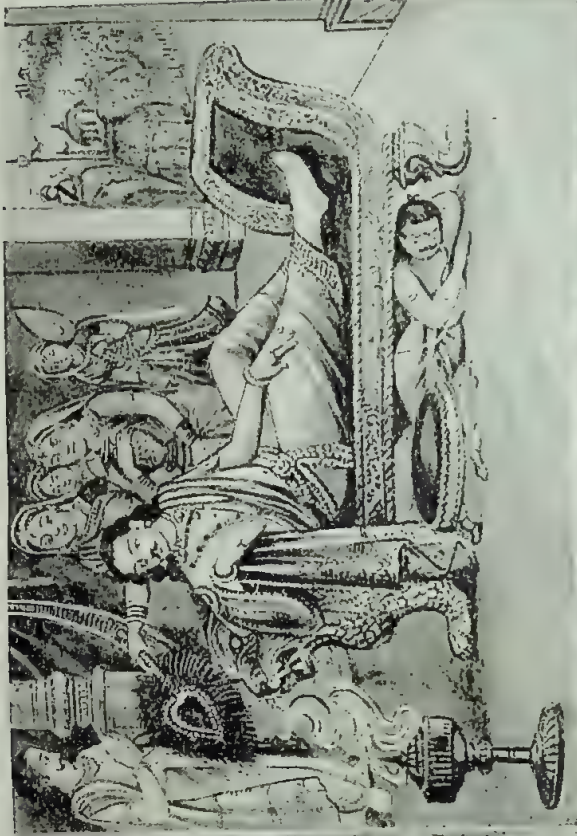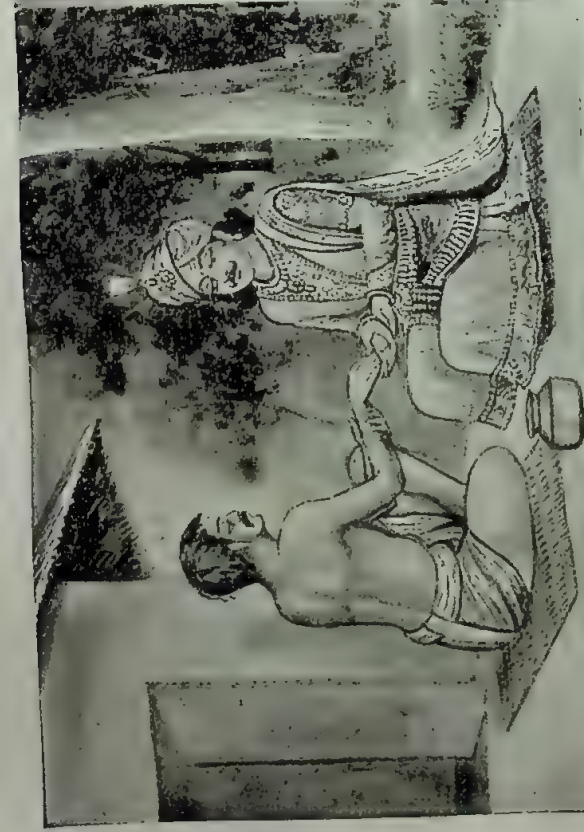
न्याय और धर्म

चमारसे भूमिदान

काश्मीरके हिंदू-नरेश अपनी उदारता, विद्वत्ता और न्यायप्रियताके लिये बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। उनमेंसे महाराज चन्द्रापीड उस समय गद्दीपर थे। उन्होंने एक देवमन्दिर बनवानेका संकल्प किया। शिल्पियोंको आमन्त्रण दिया गया और राज्यके अधिकारियोंको शिल्पियोंके आदेशोंको पूरा करनेकी आज्ञा हो गयी।

शिल्पियोंने एक भूमि मन्दिर बनानेके लिये चुनी। परंतु उस भूमिको जब वे मापने लगे, तब उन्हें एक चमारने रोक दिया। भूमिके एक भागमें चमारकी झोपड़ी थी। उस झोपड़ीको छोड़ देनेपर मन्दिर ठीक बनता नहीं था। राज्यके मन्त्रीगण चमारको बहुत अधिक मूल्य देकर वह भूमि खरीदना चाहते थे; किंतु चमार किसी भी मूल्यपर अपनी झोपड़ी बेचनेको उद्यत नहीं था। बात महाराजके पास पहुँची। उन न्याय-प्रिय धर्मात्मा राजाने कहा—'बलपूर्वक तो किसीकी भूमि छीनी नहीं जा सकती। मन्दिर दूसरे स्थानपर बनाया जाय।'

शिल्पियोंके प्रधानने निवेदन किया—'पहिली बात तो यह कि उस स्थानपर मन्दिर बननेका संकल्प हो चुका, दूसरे आराध्यका मन्दिर सबसे उत्तम स्थान-पर होना चाहिये और उससे अधिक उपयुक्त स्थान हमें दूसरा कोई दीखता नहीं।'

महाराजकी आज्ञासे चमार बुलाया गया। नरेशने उससे कहा—'तुम जो मूल्य चाहो, तुम्हारी झोपड़ीका दिया जायगा। दूसरी भूमि तुम जितनी कहोगे, तुम्हें मिलेगी और यदि तुम स्वीकार करो तो उसमें तुम्हारे लिये भवन भी बनवा दिया जाय। धर्मके काममें विघ्न क्यों डालते हो? देवमन्दिरके निर्माणमें बाधा डालना पाप है, यह तो तुम जानते ही होगे।'

चमारने नम्रतापूर्वक कहा—'महाराज! यह झोपड़ी या भूमिका प्रश्न नहीं है। वह झोपड़ी मेरे पिता, पितामह आदि कुलपुरुषोंकी निवासभूमि है। मेरे लिये वह भूमि माताके समान है। जैसे किसी मूल्यपर, किसी प्रकार आप अपना पैतृक राजसदन किसीको नहीं दे सकते, वैसे ही मैं अपनी झोपड़ी नहीं बेच सकता।'

नरेश उदास हो गये। चमार दो क्षण चुप रहा और फिर बोला—'परंतु आपने मुझे धर्मसंकटमें डाल दिया है। देवमन्दिरके निर्माणमें बाधा डालनेका पाप मैं करूँ तो वह पाप मुझे और मेरे पूर्वजोंको भी ले डूबेगा। आप धर्मात्मा हैं, उदार हैं और मैं हीन जातिका कंगाल मनुष्य हूँ; किंतु यदि आप मेरे यहाँ पधारें और मुझसे मन्दिर बनानेके लिये झोपड़ी माँगें तो मैं वह भूमि आपको दान कर दूँगा। इससे मुझे और मेरे पूर्वजोंको भी पुण्य ही होगा।'

'महाराज इस चमारसे भूमि-दान लेंगे?' राजसभा-के सभासदोंमें रोषके भाव आये। वे परस्पर काना-फूसी करने लगे।

'अच्छा, तुम जाओ!' महाराजने चमारको उस समय बिना कुछ कहे विदा कर दिया; परंतु दूसरे दिन काश्मीरके वे धर्मात्मा अधीश्वर चमारकी झोपड़ीपर पहुँचे और उन्होंने उस चमारसे भूमि-दान ग्रहण किया।

(राजतरङ्गिणी)

शास्त्रज्ञानने रक्षा की

महाराज भोजके नगरमें ही एक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। वे स्वयं याचना करते नहीं थे और बिना माँगे उन्हें द्रव्य कहाँसे मिलता। दरिद्रता महादुःखदायिनी है। उससे व्याकुल होकर ब्राह्मणने राजभवनमें चोरी करनेका निश्चय किया; वे रात्रिमें राजभवनमें पहुँचनेमें सफल हो गये।

ब्राह्मण दरिद्र थे, दुखी थे, धन-प्राप्तिके इच्छुक थे और राजभवनमें पहुँच गये थे। वहाँ सब सेवक-सेविकाएँ निश्चिन्त सो रही थीं। स्वर्ण, रत्न आदि बहुमूल्य पात्र इधर-उधर पड़े थे। ब्राह्मण चाहे जो उठा लेते, कोई रोकनेवाला नहीं था।

परंतु एक रोकनेवाला था और ब्राह्मण जैसे ही कोई वस्तु उठानेका विचार करते थे, वह उन्हें उसी क्षण रोक देता था। वह था ब्राह्मणका शास्त्र-ज्ञान। ब्राह्मणने जैसे ही स्वर्णराशि उठानेका संकल्प किया, बुद्धिमें स्थित शास्त्रने कहा—'स्वर्णचौर नरकगामी होता है। स्मृतिकार कहते हैं कि स्वर्णकी चोरी पाँच महापापोंमेंसे है।'

वस्त्र, रत्न, पात्र, अन्न आदि जो भी ब्राह्मण लेना चाहता, उसीकी चोरीको पाप बतानेवाले शास्त्रीय वाक्य उसकी स्मृतिमें स्पष्ट हो उठते। वह ठिठक जाता। पूरी रात्रि व्यतीत हो गयी, सबेरा होनेको आया, किंतु ब्राह्मण कुछ ले नहीं सका। सेवक जागने लगे। उनके द्वारा पकड़े जानेके भयसे ब्राह्मण राजा भोजकी शय्याके नीचे ही छिप गया।

नियमानुसार महाराजके जागरणके समय रानियाँ और दासियाँ सुसज्जित होकर जलकी झारी तथा दूसरे उपकरण लेकर शय्याके समीप खड़ी हुईं। सुहृद्-वर्गके लोग तथा परिवारके सदस्य प्रातःकालीन अभिवादन करने द्वारपर एकत्र हुए। सेवकसमुदाय पंक्तिबद्ध प्रस्तुत हुआ; उठते ही महाराजका स्वागत करनेके लिये सजे हुए हाथी तथा घोड़े भी राजद्वारसे बाहर प्रस्तुत किये गये। राजा भोज जगे और उन्होंने यह सब देखा। आनन्दोल्लासमें उनके मुखसे एक श्लोकके तीन चरण निकले—

'चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
वल्गन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः'

इतना बोलकर महाराज रुक गये तो उनकी शय्याके नीचे छिपे विद्वान् ब्राह्मणसे रहा नहीं गया, उन्होंने श्लोकका चौथा चरण पूरा कर दिया—

'सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति॥'

अर्थात् नेत्र बंद हो जानेपर यह सब वैभव कुछ नहीं रहता। महाराज यह सुनकर चौंके। उनकी आज्ञासे ब्राह्मणको शय्याके नीचेसे निकलना पड़ा। पूछनेपर उन्होंने राजभवनमें आनेका कारण बतलाया। राजा भोजने पूछा—'आपने चोरी क्यों नहीं की?'

ब्राह्मण बोले—'राजन्! मेरा शास्त्रज्ञान मुझे रोकता रहा। उसीने मेरी रक्षा की।'

राजा भोजने ब्राह्मणको प्रचुर धन दिया।

विक्रमकी जीव-दया

महाराज विक्रमादित्य प्रजाके कष्टोंका पता लगानेके लिये प्रायः अकेले घूमा करते थे। एक बार वे घोड़ेपर चढ़कर एक वनमेंसे जा रहे थे। संध्या हो चुकी थी। भयङ्कर पशुओंसे पूर्ण वनसे उन्हें शीघ्र बाहर चले जाना था; किंतु उन्हें एक गायकी डकराहट सुनायी पड़ी। महाराजने उस शब्दकी दिशा पकड़ी। वर्षा-ऋतुमें नदीकी बाढ़ उतर रही थी। नालोंमें चढ़ आया नदीका जल नीचे जा चुका था; किंतु उनमें एकत्र

पंक दल-दल बन गया था। ऐसे ही एक नालेकी दल-दलमें एक गाय फँस गयी थी। गायके चारों पैर पेटतक दलदलमें डूब चुके थे। वह हिलनेमें भी असमर्थ होकर डकरा रही थी।

महाराज विक्रमादित्यने अपने वस्त्र उतार दिये और वे गायको निकालनेका प्रयत्न करने लगे। उन्होंने बहुत परिश्रम किया। स्वयं कीचड़से लथपथ हो गये, अन्धकार फैल गया; किंतु गायको निकालनेमें वे सफल नहीं हुए। उधर गायकी डकराहट सुनकर एक सिंह वहाँ आ पहुँचा। महाराज अब अन्धकारके कारण कुछ कर तो सकते नहीं थे, तलवार लेकर गायकी रक्षा करने लगे, जिससे सिंह उसपर आक्रमण न कर दे। सिंह बार-बार आक्रमण कर रहा था और बार-बार महाराज उसे रोक रहे थे।

नालेके समीप एक भारी वटवृक्ष था। उसपरसे एक शुक बोला—'राजन्! गाय तो मरेगी ही। वह अभी न भी मरे तो दलदलमें डूबकर कलतक मर जायगी। उसके लिये तुम क्यों प्राण दे रहे हो। यहाँसे शीघ्र चले जाओ या इस वृक्षपर चढ़ जाओ। सिंहनी तथा दूसरे वन-पशु आ जायँगे तो तुम्हारे प्राण संकटमें पड़ जायँगे।'

महाराज बोले—'पक्षिश्रेष्ठ! मुझे अधर्मका मार्ग मत दिखलाओ। अपनी रक्षा तो सभी जीव करते हैं; किंतु दूसरोंकी रक्षामें जो प्राण दे देते हैं, वही धन्य हैं, जैसे स्वामीके बिना सेना व्यर्थ है, वैसे ही दयाके बिना अन्य सब पुण्य कर्म व्यर्थ हैं। अपने प्राण देकर भी मैं इस गायको बचानेका प्रयत्न करूँगा।'

पूरी रातभर महाराज गायकी रक्षा करते रहे; किंतु प्रातःकाल उन्होंने देखा कि वहाँ न गाय है, न सिंह है और न शुक पक्षी ही है। उनके बदले वहाँ देवराज इन्द्र, धर्म और भू देवी खड़ी हैं। देवराज इन्द्रने प्रसन्न होकर महाराजको कामधेनु गौ प्रदान की।

सर्वस्वदान

(हर्षवर्धनकी उदारता)

'भारतके सार्वभौम-सम्राट् महाराजाधिराज शिलादित्य—हर्षवर्धनकी जय हो; वे चिरायु हों।' सरस्वती-पुत्रोंने प्रशस्ति गायी। गङ्गा-यमुनाके सङ्गमके ठीक सामने ऊँची सैकत-भूमिपर असंख्य जनताकी भीड़ एकत्र थी। देश-देशके सामन्त और कामरूप, गौड़, वल्लभी आदिके नरेशोंसे परिवेष्टित महाराज हर्षने मोक्ष-सभामें पदार्पण किया। बहिन राज्यश्री साथ थी। विशेष अतिथि-आसनपर चीनके धर्मदूत ह्वेनसांग उपस्थित थे। उनके गैरिक कौशेय परिधान, ठिगने और पीत वर्णके शरीर तथा छोटी-छोटी दाढ़ीने लोगोंके लिये अद्भुत कौतूहल उपस्थित किया था।

'महाराज! आपने समस्त धर्मोंके प्रति उदारता प्रकटकर आर्य-संस्कृतिकी उदार मनोवृत्तिका परिचय दिया है। आपने पाँच वर्षसे संचित कोषराशिका इन पचहत्तर दिनोंमें दानकर इस 'महादान भूमि' पर जो दिव्य कीर्ति कमायी है, उससे इन्द्रकी भी स्पर्धा-वृत्ति बढ़ गयी है। आप धन्य हैं।' चीनी यात्री ह्वेनसांगकी प्रशस्ति थी।

'महाराज! दशबल और दिक्पालोंकी पूजाका समय आ गया।' धर्माचार्यने सम्राट्का ध्यान आकृष्ट किया। सम्राट् गम्भीर हो उठे।

वसन्त-ऋतुका पहला चरण था। शीतल मलयानिल सङ्गमके स्पर्शसे अपने-आपको पवित्र कर रहा था। मोक्ष-सभाका अन्तिम उत्सव था यह और सम्राट् स्थाण्वीश्वर-

गमनका आदेश महामन्त्रीको दे चुके थे।

'महाराजकी दान-वृत्ति सराहनीय है, सत्य दानकी ही नींवपर स्थित है। दान सर्वश्रेष्ठ धर्म है, पर····।' एक ब्राह्मणने सभामें अचानक प्रवेशकर लोगोंको आश्चर्य-चकित कर दिया। यह एक विचित्र घटना थी।

'कहो विप्र, कहो! यह धर्मसभा है, इसमें सत्यपर कोई रोक नहीं है।' महाराज दिक्पालोंके पूजनके लिये प्रस्थान करना चाहते थे।

'आपने हरिश्चन्द्र, शिबि, दधीचि, रघु और कर्णके दान-यशको अमर कर दिया है सम्राट्!' वह उनके स्वर्णमुकुट और कण्ठ-देशकी रत्नमालाकी ओर ही देख रहा था।

'मैं 'पर'का आशय समझ गया।' सम्राट्ने अपनी शेष सम्पत्ति (मुकुट और रत्नमाला) ब्राह्मणके कर-कमलोंमें रख दी। उनकी जयसे जनताकी कण्ठ-वाणी सम्प्लावित थी।

'बहिन! भारत-सम्राट्ने आजतक किसीसे याचना नहीं की।' हर्षने राज्यश्रीको देखा। वह चकित थी।

'मेरे पास दशबल और दिक्पालोंके पूजनके लिये अब कोई वस्त्र शेष नहीं है। मैंने शत्रुसे केवल उनके सिरकी ही याचना की है। मुझे इन्द्रके सिंहासन-की भी अपेक्षा नहीं है।' सम्राट्ने भिक्षा माँगी।

'भैया! इस महादानभूमिमें आपके पहनने योग्य मेरे पास भी कोई वस्त्र नहीं रह गया है। इस पवित्र तीर्थसे कुछ भी बचाकर ले जाना दानराज्यमें अधर्म है।' देवी राज्यश्रीने एक जीर्ण-शीर्ण वस्त्र सम्राट्के हाथमें रख दिया।

हर्ष प्रसन्न थे मानो उन्हें सर्वस्व मिल गया। सम्राट् भगवान् दशबल और दिक्पालोंकी पूजामें लग गये।

बैलोंकी चोट संतपर

श्रीकेवलरामजी ऐसे ही थे। श्रीकृष्णके नयन-शरके लक्ष्य ये हो चुके थे। श्रीकृष्णके अतिरिक्त इनकी आँखोंमें और कोई था ही नहीं। ये विषय-वासनाको बहुत दूर छोड़ आये थे। मायाकी छाया भी इनको स्पर्श नहीं कर पाती थी। करुणा और प्रेमके आप मूर्तिमान् स्वरूप थे।

'भिक्षा दो, माँ!' किसीकी देहरीपर पहुँचकर ये आवाज लगा देते। माताएँ चावल, दाल, शाक और घृतादि लेकर आपके सामने आतीं तो आप कहने लगते—'अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करें, मेरी यही भिक्षा है!' और उल्टे पाँव लौट पड़ते। बड़ा प्रभाव पड़ता इनकी बातोंका सुननेवालोंपर। इसी प्रकार ये प्रत्येक स्त्री-पुरुषको श्रीकृष्ण-प्रेम-पथपर अग्रसर करनेके लिये सतत प्रयत्न करते रहते।

'मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करें!' किसी अनाचारी वैष्णव-को देखते ही ये झटसे विनय-पूर्वक कहते। ये भगवद्भक्त थे। इनके मनमें अविरल शान्ति लहरें लेती रहती। पर श्रीकृष्णके पूजा-प्रचारके लिये जैसे इनके मनमें आग लगी रहती थी। जिस किसीको देखते ही ये उसके पीछे पड़ जाते थे। श्रीकृष्णका नाम-जप करनेका वचन ले ही लेते थे। विनय और आग्रहको देखकर वैष्णव पूछ बैठते 'क्या कहते हैं?'

'आप श्यामसुन्दरकी प्रतिदिन नियमपूर्वक अन्तर्हृदयके विशुद्ध प्रेमसे पूजा किया करें!' कहते हुए ये श्यामसुन्दरकी मनोहर प्रतिमा सामने रख देते। साथ ही इनकी आँखें छलक पड़तीं।

साधु इनका ढंग देखकर दंग हो जाते। उनके मनमें पश्चात्ताप होता और प्रभुकी प्रतिमा लेकर प्रेमपूर्वक उपासना-में लग जाते।

एक बारकी बात है, आप एक गाड़ीवानके साथ चल रहे थे। गाड़ीवान गाड़ीपर बैठा गाड़ी हाँकता जा रहा था और श्रीकेवलरामजी पृथ्वीपर पैदल ही गाड़ीवानको श्रीकृष्ण-कथा सुनाते जा रहे थे।

एक स्थानपर बैल थोड़ेसे रुके तो गाड़ीवानने क्रोधित होकर दो-तीन साँटियाँ जोरसे उनकी पीठपर दे मारीं। बैल

साँटीके भयसे दौड़ने लगे। गाड़ीवानने कथा सुननेके लिये श्रीकेवलरामजीकी ओर देखा तो वे नहीं थे। गाड़ीवानने गाड़ीपर खड़े होकर देखा तो आप पीछे मूर्च्छित होकर गिर पड़े थे।

गाड़ीवान घबराकर गाड़ीसे कूद पड़ा और उसने दौड़कर श्रीकेवलरामजीको अपनी गोदमें उठा लिया। उसने देखा जो साँटी उसने बैलको मारी थी, वह श्रीकेवलरामजीकी पीठपर लगी थी। उसका चिह्न स्पष्ट दीख रहा था।

ये संत इतनी उच्चकोटिपर पहुँच गये हैं, इसकी गाड़ीवानके मनमें कल्पना भी नहीं थी। वह उनके चरणोंपर गिरकर क्षमा-प्रार्थना करने लगा। गाड़ीपर और भी कई आदमी थे। सब-के-सब श्रीकेवलरामजीके चरणोंपर माथा रखकर क्षमाकी याचना कर रहे थे। 'भगवान् श्रीकृष्ण प्रेम और क्षमाके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। सृष्टिके कर्त्ता, पालक और विनाशक वे ही हैं। माया-मोह उन्हींकी देन है; पर जो सबको त्यागकर उनके चरण-कमलोंके भ्रमर बन जाते हैं, बड़ी सरलतासे वे भवसागर पार कर लेते हैं। तुमलोग श्रीकृष्णके बन जाओ। बस, वे स्वयं क्षमा कर देंगे।' कहकर श्रीकेवलरामजी हँसने लगे, पर उपस्थित व्यक्तियोंकी आँखोंसे अश्रु-सरिता प्रवाहित हो रही थी।—शि० दु०

संत-दर्शनका प्रभाव

'इस संसारके सब प्राणी अपने ही हैं, कोई भी पराया नहीं है। पापी घृणाका पात्र नहीं है, उससे निष्कपट प्रेम करना चाहिये। भगवान् पापीके ही उद्धारके लिये अवतार लेते हैं।' महात्मा हरनाथने निर्भयतापूर्वक अपने प्रेमियों और शिष्योंको समझाया और उस ओर चल पड़े, जिधर डाकू रामखान रहता था। उसके अत्याचार और लूटपाटसे समस्त कटक प्रदेश संत्रस्त था। उसके भयसे लोग थर-थर काँपते थे और धोखेसे भी उसका नाम नहीं लेते थे।

'पागल' हरनाथने उस वनमें प्रवेश किया, जिसमें उस डाकूका निवास-स्थान था। निर्जन वनमें महात्माने भीषण आकारवाले एक व्यक्तिको देखा और समझ गये कि यह रामखान ही है। वे बढ़ते गये और दो-चार क्षणके बाद ही डाकू उनके सामने खड़ा था।

'पिताजी! मैंने आजतक पाप-ही-पाप किये हैं। मैंने अपने पाप और अत्याचारकी कथा किसीसे नहीं कही। मेरे उद्धारका समय आ पहुँचा है। मैं इस निर्जन पथपर खड़ा होकर केवल आपकी राह देख रहा था। जगत्‌के किसी भी पदार्थमें मुझे सुख नहीं मिल सका। मुझे भवसागरके पार उतारिये।' डाकू रामखानकी वृत्ति बदल गयी। एक क्षणके लिये ही संतके सम्पर्कमें आनेसे उसके पाप नष्ट हो गये और वह पागल हरनाथके चरणोंपर गिर पड़ा। वह सिसक रहा था। महात्मा हरनाथने उसका बड़े प्रेमसे आलिङ्गन किया और कहा कि 'परमात्माके राज्यमें शाश्वत और परम आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है, तुमने पश्चात्तापकी आगमें अपने समस्त पाप जला दिये।'

'मुझे रास्ता दिखाइये। प्रकाश दीजिये। मैं आपका दास हूँ।' रामखानने कातर स्वरसे कहा।

'भगवान्‌का नाम ही मन्त्रराज है। सोते-जागते, उठते-बैठते और खाते-पीते उस मधुर नामामृतका पान करते रहना चाहिये। वे प्रभु सर्वसमर्थ हैं। जीवमात्रसे प्रेम करो, सच्चा प्रेम ही प्रभुकी प्राप्तिका सुगम पथ है।' महात्मा हरनाथने उसे अपनी अहैतुकी कृपासे धन्य कर दिया।

रामखानने संन्यास ले लिया और वृन्दावनमें यमुनातटस्थ किसी रमणीय स्थानमें निवास करके वे भगवान् श्रीकृष्णका भजन करने लगे। संतदर्शनकी महिमाका बखान नहीं किया जा सकता। बड़े भाग्यसे ही संतका दर्शन मिलता है।

—रा० श्री०

रामूकी तीर्थयात्रा

एक संत किसी प्रसिद्ध तीर्थस्थानपर गये थे। वहाँ एक दिन वे तीर्थ-स्नान करके रातको मन्दिरके पास सोये थे। उन्होंने स्वप्नमें देखा—दो तीर्थ-देवता आपसमें बातें कर रहे हैं। एकने पूछा—

'इस वर्ष कितने नर-नारी तीर्थमें आये?'

'लगभग छः लाख आये होंगे।' दूसरेने उत्तर दिया।

'क्या भगवान्‌ने सबकी सेवा स्वीकार कर ली?'

'तीर्थके माहात्म्यकी बात तो जुदी है; नहीं तो उनमें

बहुत ही कम ऐसे होंगे, जिनकी सेवा स्वीकृत हुई हो ।'

'ऐसा क्यों ?'

'इसीलिये कि भगवान्में श्रद्धा रखकर पवित्र भावसे तीर्थ करने बहुत थोड़े ही लोग आये, उन्होंने भी तीर्थोंमें नाना प्रकारके पाप किये ।'

'कोई ऐसा भी मनुष्य है जो कभी तीर्थ नहीं गया, परंतु जिसको तीर्थोंका फल प्राप्त हो गया हो और जिसपर प्रभुकी प्रसन्नता बरस रही हो ?'

'कई होंगे, एकका नाम बताता हूँ; वह है रामू चमार, यहाँसे बहुत दूर केरल देशमें रहता है ।'

इतनेमें संतकी नींद टूट गयी । उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और इच्छा हुई केरल देशमें जाकर भाग्यवान् रामू चमारका दर्शन करनेकी । संत उत्साही और दृढ़निश्चयी तो होते ही हैं, चल दिये और बड़ी कठिनतासे केरल पहुँचे । पता लगाते-लगाते एक गाँवमें रामूका घर मिल गया । संतको आया देखकर रामू बाहर आया । संतने पूछा—'क्या करते हो, भैया ?'

'जूते बनाकर बेचता हूँ, महाराज !' रामूने उत्तर दिया ।

'तुमने कभी तीर्थयात्रा भी की है ?'

'नहीं, महाराज ! मैं गरीब आदमी—पैसा कहाँसे लाता तीर्थयात्राके लिये । यात्राका मन तो था परंतु जा सका नहीं ।'

'तुमने और कोई बड़ा पुण्य किया है ?'

'ना, महाराज ! मैं नीच पुण्य कहाँसे करता ।'

तब संतने अपना स्वप्न सुनाकर उससे पूछा—

'फिर भगवान्की इतनी कृपा तुमपर कैसे हुई ?'

''भगवान् तो दयालु होते ही हैं, उनकी कृपा दीनोंपर विशेष होती है । (इतना कहते-कहते वह गद्गद हो गया, फिर बोला—) महाराज ! मेरे मनमें वर्षोंसे तीर्थ-यात्राकी चाह थी । बहुत मुश्किलसे पेटको खाली रख-रखकर मैंने कुछ पैसे बचाये थे, मैं तीर्थ-यात्राके लिये जानेवाला ही था कि मेरी स्त्री गर्भवती हो गयी । एक दिन पड़ोसीके घरसे मेथीकी सुगन्ध आयी । मेरी स्त्रीने कहा—मेरी इच्छा है मेथीका साग खाऊँ; पड़ोसीके यहाँ बन रहा है, जरा माँग लाओ । मैंने जाकर साग माँगा । पड़ोसिन बोली—'ले जाइये, परंतु है यह बहुत अपवित्र । हमलोग सात दिनोंसे सब-के-सब भूखे थे, प्राण जा रहे थे । एक जगह एक मुर्देपर चढ़ाकर साग फेंका गया था । वही मेरे पति बीन लाये । उसीको मैं पका रही हूँ ।' (रामू फिर गद्गद होकर कहने लगा—) मैं उसकी बात सुनकर काँप गया । मेरे मनमें आया, पड़ोसी सात-सात दिनोंतक भूखे रहें और हम पैसे बटोरकर तीर्थयात्रा करने जायँ ? यह तो ठीक नहीं है । मैंने बटोरे हुए सब पैसे आदरके साथ उनको दे दिये । वह परिवार अन्न-वस्त्रसे सुखी हो गया । रातको भगवान्ने स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'बेटा ! तुझे सब तीर्थोंका फल मिल गया, तुझपर मेरी कृपा बरसेगी ।' महाराज ! तबसे मैं सचमुच सुखी हो गया । अब मैं तीर्थस्वरूप भगवान्को अपनी आँखोंके सामने ही निरन्तर देखा करता हूँ और बड़े आनन्दसे दिन कट रहे हैं ।''

रामूकी बात सुनकर संत रो पड़े । उन्होंने कहा—सचमुच तीर्थयात्रा तो तूने ही की है ।

रंगनादकी पितृभक्ति

सन् १८३१ की बात है, एक १२ वर्षका हिंदू बालक चित्तूरके जिला-जजके दरवाजेपर उपस्थित हुआ । वह एक ऐसे किसानका लड़का था, जिसे समयपर मालगुजारी न अदा करनेके कारण जेलकी सजा दे दी गयी थी । किसानने कुछ सरकारी ज़मीन ली थी, पर उस वर्ष कोई फसल न हुई और तत्कालीन कानूनके अनुसार उसे जेल जाना पड़ा । इधर पिता जेलमें ही था कि उसके पितामहके वार्षिक श्राद्धका अवसर आ गया । अब उसकी माँ इसलिये रोने लग गयी कि उसका पिता इस समय घर न होकर जेलमें था, फिर यह क्रिया हो कैसे ? यही रंगनादके चित्तूरके जिला-जजके दरवाजेपर उपस्थित होनेका कारण था ।

जजने बालककी पूरी बात सुन ली और कहा—'मैं तुम्हारे पिताको बिना किसी जमानत तथा प्रतिभूके नहीं जाने दे सकता ।'

लड़केने बड़े उत्साहके साथ कहा, 'मेरे पास धन तो है नहीं जो ज़मानत-मुचलकेकी बात करूँ । पर मैं पिताके स्थानपर स्वयं ही जेलमें बंद रहूँगा ।'

जजका हृदय पिघल गया । उसने उसके पिताकी मुक्ति-सम्बन्धी कागजातपर हस्ताक्षर करके उसे छोड़ दिया । दोनों पिता-पुत्र उसी रात घर पहुँचे । उचित समयपर श्राद्ध-क्रिया सम्पन्न हुई ।

यही रंगनाद आगे चलकर पंद्रह भाषाओंमें अच्छी तरह बोल और लिख लेनेवाला प्रसिद्ध रंगनाद शास्त्री हुआ ।

—जा० श०(Representative Indians by G. P. Pillai)

कृतज्ञता

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपनी असीम उदारताके कारण कंगाल हो चुके थे। एक समय ऐसा आया जब उनके पास इतने पैसे नहीं थे कि आये हुए पत्रोंका उत्तर भेज सकें। जो पत्र आते थे, उनका उत्तर लिखकर लिफाफे बंद करके भारतेन्दुजी मेजपर रख देते थे। उनपर टिकट लगानेको पैसे हों तो पत्र भेजे जायँ। पत्रोंकी एक ढेरी एकत्र हो गयी उनकी मेजपर। उनके एक मित्रने उन्हें पाँच रुपयेके टिकट लाकर दिये और तब वे पत्र डाकमें डाले गये।

भारतेन्दुजीकी स्थिति कुछ ठीक हुई। अब जब वे मित्र मिलते थे, तभी भारतेन्दुजी बलपूर्वक पाँच रुपये उनकी जेबमें डाल देते और कहते—'आपको स्मरण नहीं, आपके पाँच रुपये मुझपर ऋण हैं।'

अन्तमें मित्रने एक दिन कहा—'मुझे अब आपसे मिलना बंद कर देना पड़ेगा।'

भारतेन्दु बाबूके नेत्र भर आये। वे बोले—'भाई! तुमने ऐसे समय मुझे पाँच रुपये दिये थे कि मैं जीवनभर प्रतिदिन तुम्हें अब पाँच रुपये देता रहूँ, तो भी तुम्हारे ऋणसे छूट नहीं सकता।'—सु० सिं०

गुरु-निष्ठा

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीको बड़ी खोजके बाद विरजानन्द-ऐसे परम वेदज्ञ महात्माका दर्शन हुआ। विरजानन्द अंधे थे। उन्होंने दयानन्दको शिष्य बना लिया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने गुरुको प्रसन्न रखनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहते थे। उनकी सेवाका वे सदा ध्यान रखते थे। विरजानन्द तीनों ऋतुओंमें यमुना-जलसे स्नान किया करते थे। दयानन्द बड़े सबेरे उनके लिये बारह घड़े यमुना-जल लाते थे और उसके बाद निवास-स्थानमें झाड़ू-बहारू किया करते थे।

एक दिन दयानन्दजी महाराज झाड़ू दे रहे थे। दैवयोगसे कहींपर थोड़ा-सा कूड़ा शेष रह गया था और उसपर विरजानन्दका पैर पड़ गया। वे दयानन्दको डंडेसे पीटने लगे। स्वामी दयानन्दने उफ् तक नहीं किया।

'गुरुदेव! आप मुझे और मत मारिये। दुःख सहते-सहते मेरी पीठ पत्थर-जैसी हो गयी है। इसपर प्रहार करते-करते आपके हाथोंमें पीड़ा होती होगी।' स्वामी दयानन्दजी महाराज अपने गुरुके हाथ सहलाने लगे।

स्वामी विरजानन्दने बड़े प्रेमसे उन्हें गले लगा लिया और उनकी गुरुनिष्ठाकी सराहना की।—रा० श्री०

स्वामी श्रीदयानन्दजी सरस्वतीके जीवनकी कुछ कथाएँ

(लेखक—श्रीबाबूरामजी गुप्त)

कानपुरमें एक दिन आप अपनी मौजमें गङ्गामें लेटे हुए थे। थोड़ी दूरपर एक मगरमच्छ निकला। किनारे खड़े श्रीप्यारेलालने चिल्लाकर कहा, 'महाराज! देखिये वह मगरमच्छ निकला है।' ईश्वर-विश्वासी, निर्भय दयानन्द बोले, 'भाई! जब हम इसका कुछ नहीं बिगाड़ते, तब हमें यह क्यों दुःख देगा।'

एक बार कुम्भके अवसरपर एक साधुने कहा, स्वामीजी! आप ज्ञानी होकर भी भिक्षुककी तरह ईश्वरसे प्रार्थना करते रहते हैं! ये तो अज्ञानियोंके कर्म हैं।' बड़ी गम्भीरतासे आपने उत्तर दिया, 'यह सत्य नहीं है कि ज्ञानीजन परमात्मासे प्रार्थना नहीं करते। वास्तविक सत्य यह है कि जैसे भूख-प्यासको अन्न-जलादिसे तृप्त किया जाता है, वैसे ही आत्मिक न्यूनताएँ ईश्वराराधना और बलयाचनाके बिना पूरी नहीं हो सकतीं।'

फर्रुखाबादके कमिश्नर स्काट साहिब एक दिन पूछने लगे—'स्वामीजी! पिछले जन्मके कर्मोंका क्या

सबूत है ?' स्वामीजीने कहा, 'पहले यह बताइये, आपके पाँवमें यह नुक्स क्यों है ?' (साहिब कुछ लँगड़ाकर चलते थे।) साहब बोले, 'खुदाकी मर्जी है।' स्वामीजीने कहा—'खुदाकी मर्जी न कहिये। वह तो बड़ा दयालु तथा न्यायकारी है। जब किसी कष्टका कारण इस जन्ममें मालूम और दिखायी न दे तो समझ लेना चाहिये कि यह किसी पिछले ज़न्मका पापफल है।'

एक साधु 'पुरुषार्थ और प्रारब्धमेंसे किसकी मान्यता है ?' पूछने लगे। कहा, 'दोनों आवश्यक हैं। प्रारब्ध पिछले कर्मों तथा उनके भोगका नाम है और पुरुषार्थ इस जन्मके नये कर्म करनेका।'

अनूपशहरमें किसीने स्वामीजीको पानमें विष दे दिया। उनके मुसल्मान भक्त सैय्यद मुहम्मद तहसीलदारको पता चला तो विष देनेवाले व्यक्तिको पकड़ मँगवाया। दयानन्दके दरबारमें अपराधी पेश किया गया। महाराजने कहा, 'इसे मुक्त कर दो। मैं संसारमें लोगोंको कैद कराने नहीं अपितु छुड़ाने आया हूँ।'

कायमगंजमें किसीने कहा, 'आपके पास पात्र नहीं है। कमण्डलु तो होना चाहिये।' हँसकर बोले, 'हमारे हाथ भी तो पात्र हैं।'

स्वामीजी अपने आरम्भिक जीवनमें केवल एक कौपीनसे निर्वाह करते थे। एक दिन एक सज्जनने आकर कहा, 'महाराज! आपके पास एक ही लँगोटी है। मैं यह नयी लँगोटी लाया हूँ।' दयानन्दजी बोले, 'अरे, मुझे तो यह अकेली लँगोटी बोझ हो रही है। तू और ले आया है; जा, ले जा; भाई, इसे ले जा।'

फर्रुखाबादमें एक देवी अपने मृत बालकका शव लेकर पाससे गुजरी। लाश मैले-कुचैले कपड़ोंसे लपेटी हुई थी। स्वामीजीने कहा—'माई, इसपर सफेद कपड़ा क्यों नहीं लपेटा ?' 'मेरे पास सफेद कपड़ा और उसके लिये पैसे कहाँ, महाराज !' रोकर उसने कहा। ठंडी साँसके साथ करुणानिधि दयानन्दके आँसू उमड़ आये और वे बोले, 'हाँ ! राजराजेश्वर भारतकी यह दुर्दशा कि आज उसके बच्चोंके लिये कफनतक नहीं।'

अमृतसरमें एक साधारण व्यक्तिने एक दिन पूछा, "दीनबन्धु धनी लोग तो दान-पुण्यसे धर्मशालाएँ बना और धर्मकार्योंमें दान देकर तर जायँगे, महाराज! गरीबोंके लिये क्या उपाय है।' कहा, 'तुम भी नेक और धर्मात्मा बन सकते हो। संसारमें जहाँ एक पुरुष दान देने और परोपकारसे पार हो सकता है, वहाँ दूसरा बुराई न करनेसे, परनिन्दासे बचते हुए, नेक बन सकता है। पाप न करना संसारकी भलाई करना है।'

बरसातकी ऋतु थी। बनारसमें वायुसेवन करते-करते दादूपुर नगरकी सड़कपर आप जा निकले। देखा एक गाड़ीके बैल और पहिये कीचड़में फँसे हुए हैं। पास खड़े लोग, तमाशाइयोंकी तरह तरकीबें बता रहे हैं। करुणासागर दयानन्दसे यह दृश्य कैसे देखा जाता। समीप जाकर बैलोंको खोल दिया। अखण्ड ब्रह्मचारी दयानन्दके कंधेपर आयी गाड़ी दलदलसे निकलकर पार हो गयी।

शाहजहाँपुरमें अपने कर्मचारियोंको नियत समयसे आध घंटे देरसे आये देखकर बोले—'आज हमारे देशवासी समयकी महानताको भूल गये हैं। समयकी सारताका तब पता चलता है जब मृत्युशय्यापर पड़े किसी रोगीको देखकर वैद्य कहता है, यदि पाँच मिनट पहले मुझे बुला लिया होता तो बच जानेकी सम्भावना थी। अब लाखों खर्च करनेपर भी नहीं बच सकता।'

बम्बईमें एक सेठजीके साथ आये हुए उनके दशवर्षीय पुत्रको पास बुलाकर बड़े प्यारसे कहा, 'प्रातःकाल उठकर हाथ-मुँह धोकर माता-पिताको प्रणाम किया करो। अपनी पुस्तकोंको आप ही उठाया करो, नौकरोंसे

नहीं। मार्गमें कोई माता मिले तो दृष्टि नीचे रक्खा करो। ऐसा किया करो तो कल्याण होगा।'

सन् १८९१ में वीरभूमि चित्तौड़ पधारे। एक दिन कुछ राजकर्मचारियोंके साथ भ्रमण कर रहे थे। मार्गमें एक मन्दिरके पास छोटे-छोटे बालक खेल रहे थे। उनमें एक पञ्चवर्षीय बालिका भी थी। स्वामी दयानन्दने उस बालिकाको देखकर सीस झुका दिया। साथियोंने मर्मको न समझते हुए इधर-उधर देखा। दयानन्दजीने उनके आश्चर्यको बड़ी गम्भीरतासे यह कहकर दूर कर दिया, 'देखते नहीं हो, वह मातृशक्ति सामने खड़ी है।'

मौन व्याख्यान

एक दिनकी बात है। योगिराज गम्भीरनाथ अपने कपिलधारा पहाड़ीवाले आश्रममें अत्यन्त शान्त और परम गम्भीर मुद्रामें बैठे हुए थे। वे आत्मानन्दके चिन्तनमें पूर्ण निमग्न थे। उसी समय उनके पवित्र दर्शनसे अपने आपको धन्य करनेके लिये कुछ शिक्षित बंगाली सज्जन आ पहुँचे। उन्होंने विनम्रतापूर्वक योगिराजसे उपदेश देनेके लिये निवेदन किया। योगिराजके अधरोंपर मुसकानकी मृदुल शान्ति थी; उनकी दृष्टिमें कल्याणप्रद आशीर्वादका अमृत था; उन्होंने बड़ी आत्मीयतासे उन सज्जनोंको आसन ग्रहण करनेका संकेत किया।

सज्जनोंने उपदेशके लिये बड़ा आग्रह किया; योगिराजकी विनम्रता मुखरित हो उठी—'वास्तवमें मैं कुछ भी नहीं जानता, आपको मैं क्या उपदेश दूँ।' आगत सज्जन महापुरुषकी विनम्रतासे बहुत ही प्रभावित हुए, पर उनका यह दृढ़ विश्वास था कि बाबा गम्भीरनाथ आध्यात्मिक उन्नतिकी पराकाष्ठापर पहुँचे हुए हैं। अतएव उनके हृदयमें योगिराजके श्रीमुखसे उपदेश श्रवण करनेकी उत्सुकता कम न हो सकी। उन्होंने अपना आग्रह फिर उपस्थित किया और योगिराजने भी विनम्रताके साथ अपने पहले उत्तरको दुहरा दिया। उनके उत्तरमें किसी प्रकारका दम्भ या दिखावा नहीं था; योगिराजने मौन संकेत किया कि 'यदि वे वास्तवमें जिज्ञासु हैं तो मेरे आचरणको देखें तथा सत्य—वस्तु-तत्त्वकी खोज अपने भीतर करें।'

—रा० श्री०

पैदल यात्रा

'महाराज! आपका पैदल जाना कदापि उचित नहीं है। रास्ता ऊबड़-खाबड़ है तथा शान्तिपुरसे नीलाचलतक पैदल जानेसे स्वास्थ्य बिगड़ जायगा।' शिष्योंने महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीसे प्रार्थना की।

'तुमलोग अपने भावके अनुसार बिल्कुल ठीक कहते हो। पर मुझे अपने पूर्वज अद्वैताचार्यका, जिन्होंने महाभावमें निमग्न महाप्रभु श्रीचैतन्यकी लीलाका रसास्वादन किया था, स्मरण होते ही मनमें विश्वास हो जाता है कि भगवान् जगन्नाथ मेरा प्रेमसे आलिङ्गन करनेके लिये तथा अपने चरणोंमें स्थान देनेके लिये कितने उत्सुक हैं। तुम्हें यह बात अच्छी तरह विदित ही है कि मेरे पिताने नीलाचल क्षेत्रकी दण्डौती यात्रा पूरी की थी। उनके चरणोंमें बड़े-बड़े छाले पड़ गये थे, तलवेसे रक्त बह रहा था, पर उन्होंने यात्रा पूरी कर दी। अतएव मैं पैदल ही जाऊँगा केवल लाठी लेकर; मेरे साथ कोई दूसरा नहीं जायगा।' उनका रोम-रोम पुलकित था। नयनोंसे अश्रुपात हो रहा था। वे चल पड़े। उनकी श्रद्धा साकार हो उठी।

'महाराज! बड़े भाग्यसे इस जन्ममें हमलोगोंको

आप-ऐसे पुण्यात्माका साथ मिला है । हमें अपने सङ्गसे वञ्चित न कीजिये ।' कुछ शिष्योंने उनके हृदयकी करुणाका दरवाजा खटखटाया । अन्तमें इस यात्रामें पचास शिष्योंने उनका साथ दिया । शेष व्यक्ति अपने-आपको नहीं सम्हाल सके । वे उनके वियोगकी आशङ्कासे फूट-फूटकर रोने लगे ।

'आपलोग यह क्या कर रहे हैं । आशीर्वाद दीजिये कि जगन्नाथदेव मुझे स्वीकार कर लें; आपलोग प्रार्थना करें कि वे मुझे अपने चरणोंमें शरण दें ।'

महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने पैदल यात्रा आरम्भ की । उनके जय-जयकारसे यात्रापथ धन्य हो उठा । उनके हृदयकी श्रद्धा फलवती हो उठी । —रा० श्री०

भाव सच्चा होना चाहिये

प्रसिद्ध संत महात्मा रूपकलाजीके बचपनकी बात है । वे उस समय प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर रहे थे । वे अपने दो-तीन मित्रोंके साथ नदी-स्नानके लिये जाया करते थे । एक दिन वे अपने दो मित्रोंके साथ नदीमें स्नान कर रहे थे कि अचानक सरिताका वेग बढ़ आया, लहरें उठने लगीं और उनके साथी नन्दकुमार बाबू मध्य धाराकी ओर बढ़ चले ।

'प्रभो ! आपने यह क्या किया । मैं घर जाकर नन्दकुमारके माता-पिताको क्या उत्तर दूँगा । क्या आप चाहते हैं कि मेरा अपयश हो ?' वे श्रीसीता-रामका स्मरण करने लगे, जोर-जोरसे भगवान्‌का परम मधुर नाम लेने लगे । भगवान् तो भावके भूखे हैं, सच्चे भाव और निष्कपट व्यवहारसे वे दयामय बहुत प्रसन्न होते हैं । इधर भगवानसहाय गिड़गिड़ाये और उधर जलका वेग शान्त होने लगा । देखते-ही-देखते किसी अदृश्य शक्तिकी प्रेरणासे नन्दकुमार बाबूको लहरोंने किनारेपर फेंक दिया । वे अचेत थे ।

रूपकला जोर-जोरसे भगवन्नाम-कीर्तन करने लगे । उनके सच्चे भावने नन्दकुमार बाबूको नया जीवन प्रदान किया ।—रा० श्री०

जीवनचरित कैसे लिखना चाहिये

आर्यसमाजके संस्थापक श्रीस्वामी दयानन्दजी सरस्वतीके अत्यन्त निकटके श्रद्धालु भक्तोंमें थे पंजाबके पण्डित श्रीगुरुदत्तजी विद्यार्थी । स्वामीजीके देहावसानके अनन्तर उनके एक दूसरे श्रद्धालु अनुयायीने पण्डित गुरुदत्तजीसे कहा—'पण्डितजी ! स्वामीजी महायोगी थे । आपको उनके घनिष्ठ सम्पर्कमें रहनेका सुअवसर मिला है । आपको उनके सम्बन्धमें विस्तृत जानकारी है । आप स्वामीजीका एक जीवनचरित क्यों नहीं लिखते ?'

पण्डित गुरुदत्तजी बड़ी गम्भीरतासे बोले—'स्वामीजीका जीवनचरित लिखनेका मैं प्रयत्न कर रहा हूँ । थोड़ा प्रारम्भ भी कर चुका हूँ ।'

बड़ी उत्सुकतासे उस श्रद्धालुने पूछा—'यह जीवनचरित कब सम्पूर्ण होगा ? कबतक प्रकाशित हो जायगा ।'

गुरुदत्तजी बोले—'आप यह धारणा मत बनायें कि मैं कागजपर कोई जीवनचरित लिख रहा हूँ । मेरे विचारसे तो महापुरुषोंका जीवनचरित मनुष्योंके स्वभावमें लिखा जाना चाहिये । मैं इसी प्रकार प्रयत्न कर रहा हूँ कि मेरा जीवन स्वामीजीके पद-चिह्नोंपर चले ।'

—सु० सिं०

दयालुता

स्वर्गीय श्रीयुत सी० वाई० चिन्तामणिने महामना मालवीयजीके सम्बन्धमें कहा था—'वे सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय हैं ।'

महामनाके शिक्षाकालकी घटना है । उन्होंने देखा कि एक कुत्तेके कानके समीप घाव हो गया है, वह पीड़ासे छटपटाता कुत्ता इधर-से-उधर भाग रहा है । ऐसे घावसे सड़े कुत्ते हम-आप देखते ही रहते हैं, देखकर उधरसे मुख फेर लेते हैं; किंतु मालवीयजी ऐसा नहीं कर सके । उन्होंने अपना काम छोड़ा और दौड़े गये औषधालयमें । वैद्यजीने उनकी बातें सुनीं । दवा तो दे दी वैद्यजीने, पर वे बोले—'मदनमोहन ! ऐसे कुत्ते प्रायः पागल हो जाते हैं, छूनेपर काट लेते हैं । तुम इस खतरेमें न पड़ो तो अच्छा है ।'

मालवीयजी ऐसी सम्मति कब सुननेवाले थे । उन्होंने औषध ली, एक लंबे बाँसमें कपड़ा लपेटा और कुत्तेको ढूँढ़ने लगे । कुत्ता एक सँकरी गलीमें बैठ गया था । मालवीयजी बाँस लेकर डट गये दवा लगानेमें । कुत्ता गुर्राता था, दाँत निकालता था, झपटनेका ढंग भी बनाता था; किंतु मालवीयजी बिना झिझके लगे रहे । औषध भलीभाँति लग जानेसे कुत्तेकी पीड़ा कम हुई और वह सो गया, तब मालवीयजीको शान्ति मिली ।

—सु० सिं०

संकटमें भी चित्तशान्ति

सन् १८९७ की बात है, लोकमान्य तिलक दाजी साहेब खरेके बँगलेपर उतरे । रातके ९॥ बजे एक यूरोपियन पुलिस सुपरिंटेंडेंट आया और उसने तिलकको बाहर बुलाकर १२४ धाराके अन्तर्गत वारंट दिखाया ।

उसे पाँच मिनट ठहरनेको कहकर तिलक भीतर आये और दाजी साहेबके साथ उस धारापर चर्चा की तथा दाजी साहेबसे कहा—'आप मजिस्ट्रेटके बँगलेपर जाकर जमानतके लिये प्रार्थना-पत्र दीजिये और उसका निर्णय जेलमें आकर बताइये ।'

तिलक दस बजेके करीब पुलिसके साथ जेल गये । १०॥ बजे जेलमें पहुँचते ही वे निश्चिन्त होकर बिस्तरपर सो गये । तत्काल उन्हें गाढ निद्रा आ गयी । ११॥ बजे दाजी साहेब आये । तब तिलक सो रहे थे । उन्होंने दो बार आवाज लगायी, तब जाकर वे जगे ।

—गो० न० बै०

विद्या-व्यासङ्गकी रुचि

तिलक महाराजके एक मित्रने बातचीतके प्रसङ्गमें उनसे कहा—'बलवंतराव ! स्वराज्य होनेपर आप कौन-सा काम अपने हाथमें लेंगे—आप प्रधान मन्त्री बनेंगे या परराष्ट्रमन्त्री ?'

तिलकने तत्काल उत्तर दिया —'नहीं, भैया ! जब स्वराज्य स्थापित हो जायगा, तब मैं किसी स्वदेशी कालेजमें गणित विषयके प्रोफेसरका काम करूँगा और सार्वजनिक आन्दोलनसे संन्यास ले लूँगा । राजनीतिसे मेरा जी ऊब गया है । 'डिफरेंशियल कैल्क्युलस' पर एक-आध पुस्तक लिखनेकी मेरी अब भी इच्छा है । देशकी स्थिति बड़ी बुरी है और आपमेंसे कोई कुछ नहीं करता, इसलिये मुझे इस ओर समय लगाना पड़ता है ।

—गो० न० बै०

कागज-पत्र देखना था, रमणी नहीं

प्रत्येक महान् पुरुषके यशका बीज उसके शुद्धाचरणमें ही समाया होता है। सन् १८९६ सालकी घटना है, श्री ल० रा० पांगारकर और लोकमान्य तिलक बैठे हुए बातचीत कर रहे थे।

इसी बीच किसी बड़े रईसकी पत्नी कुछ कागज-पत्र और नीचेकी अदालतका निर्णय लेकर अपील तैयार कर देनेके निमित्त तिलकजीके पास आयी। लोकमान्य डेढ़ घंटेतक उन कागज-पत्रोंको देखते रहे और साथ ही उस रमणीसे आवश्यक प्रश्न भी करते रहे।

रमणीका सारा मामला समझकर उन्होंने उससे कहा—'आप आठ दिन बाद आइये, तबतक मैं अपील तैयार किये देता हूँ। आप अभी जा सकती हैं।'

रमणी चली गयी। आश्चर्यकी बात यह कि रमणी डेढ़ घंटेतक दरवाजेके बीच खड़ी थी और तिलक महाराजने उससे प्रश्नोत्तर भी किये। पर उन्होंने एक बार भी सिर उठाकर नहीं देखा कि रमणी कैसी है।

—गो० न० बै०

विपत्तिमें भी विनोद

कठिन समयमें भी तिलक महाराजका विनोदी स्वभाव बना ही रहता। समयकी कठिनता उनपर कुछ भी असर नहीं करती थी।

उनका एक मुकदमा हाईकोर्टमें चल रहा था। उनके बैरिस्टरको आनेमें थोड़ा विलम्ब हुआ। वहींके एक युवक बैरिस्टर अपने एक मित्र दूसरे बैरिस्टरके साथ लोकमान्यके निकट पहुँचे और कहा—'आपके बैरिस्टरको आनेमें विलम्ब हुआ तो कोई बात नहीं, हमलोग आपकी मददके लिये तैयार हैं!'

तिलकने हँसते हुए कहा—'किसी षोडशीके लिये बीस-बाईस सालके पूर्ण युवककी जगहपर दस-दस सालके दो किशोर वर क्या कभी चल सकते हैं?'

हाईकोर्टमें हँसीकी धूम मच गयी। दोनों बैरिस्टर अपना-सा मुँह लेकर चले गये।—गो० न० बै०

स्थितप्रज्ञता

सन् १९१६ की २३ जुलाईको लोकमान्य तिलककी ६०वीं वर्षगाँठ थी। दो वर्ष पूर्व ही वे माँडलेमें छः वर्षकी सजा भोगकर छूटे थे। उनका यह हीरक-जयन्ती-उत्सव सभीने धूम-धामसे मनानेका निश्चय किया। सार्वजनिक अभिनन्दनका पूनामें आयोजन करके एक लाख रुपयोंकी थैली उन्हें देनेका निर्णय हुआ।

वह शुभ दिन आ गया। देशके कोने-कोनेसे अनेक राष्ट्रिय नेता एवं तिलकभक्त उनके अभिनन्दनार्थ पूनेमें पधारे थे। आयोजन गायकवाड़ेमें किया गया था। सभी कुशलप्रश्न, हँसी-मजाक और तिलकके कार्यसे कृतकृत्यताका अनुभव करनेमें लीन थे। स्वयं तिलक महाराज भी सम्भाषणोंमें विलक्षण रीतिसे मग्न थे।

इसी बीच जिला पुलिस सुपरिंटेंडेंट आये और उन्होंने तिलकको एक नोटिस दिया। नोटिसमें लिखा था—'आपके अहमदनगर और बेलगाँवमें दिये गये भाषण राजद्रोहात्मक हैं, इसलिये एक वर्षतक नेकचलनीका बीस हजारका मुचलका और दस-दस हजारकी दो जमानतें आपसे क्यों न ली जायँ?'

किसी स्थितप्रज्ञकी तरह तिलकने नोटिस ले लिया और फिर समारम्भमें आकर उसी तरह समरस हो गये।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः !

लोकमान्य तिलक कितने स्थितप्रज्ञ थे, यह उनके जीवनकी अनेक घटनाओंसे प्रकट है।

एक बार वे अपने कार्यालयमें किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर विचार कर रहे थे। प्रश्न बड़ा ही जटिल और राजनीतिक था। इधर उनके ज्येष्ठ पुत्र कई दिनोंसे बीमार थे।

एकाएक चपरासीने आकर कहा—'बड़े लड़के साहबकी तबियत बहुत खराब है।' तिलकने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। वे अपने काममें लगे रहे।

थोड़ी देर बाद उनके एक सहयोगीने आकर कहा—'पुत्र इतना अस्वस्थ है कि कब क्या हो जाय' कहा नहीं जा सकता। फिर भी आप अपने काममें ही उलझे हैं!'

तिलकने प्रश्नोत्तरोंसे काममें बाधा होती देख बड़ी उपेक्षासे कहा—'उसके लिये डाक्टरोंको कह दिया है। वे देख ही लेंगे। मैं जाकर क्या करूँगा। यह काम तो मुझे ही न करना है।' साथी चला गया।

काम पूरा करके लोकमान्य शामको घर लौटे तो पुत्रका प्राणोत्क्रमण हो चुका था। लगे हाथ कपड़े उतार वे उसकी महायात्राकी तैयारीमें जुट पड़े।—गो० न० बै०

सत्याचरण

श्रीगोपालकृष्ण गोखले जब बालक थे और पाठशालामें पढ़ते थे, उस समय एक दिन उनके अध्यापकने कुछ अङ्कगणितके प्रश्न विद्यार्थियोंको घरसे लगा लानेको दिये। उनमें एक प्रश्न गोखलेको आता नहीं था, उसे उन्होंने दूसरे विद्यार्थीसे पूछकर लगाया।

पाठशालामें शिक्षकने विद्यार्थियोंके उत्तरोंकी जाँच की। केवल गोपालकृष्णके सभी उत्तर ठीक थे। शिक्षकने प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा की और उन्हें कुछ पुरस्कार देने लगे। किंतु गोखले तो फूट-फूटकर रोने लगे। आश्चर्यपूर्वक शिक्षकने पूछा—'तुम रोते क्यों हो?'

गोखले बोले—'आपने समझा है कि सब प्रश्नोंका उत्तर मैंने स्वयं लिखा है, किंतु एक प्रश्न मैंने अपने मित्रकी सहायतासे लगाकर आपको धोखा दिया है। मुझे तो पुरस्कारके स्थानमें दण्ड मिलना चाहिये।'

शिक्षक गोखलेकी सत्यप्रियतासे बहुत संतुष्ट हुए। वे बोले—'अब यह पुरस्कार मैं तुम्हें तुम्हारी सत्यप्रियताके लिये देता हूँ।'—सु० सिं०

जिह्वाको वशमें रखना चाहिये

श्रीमहादेव गोविन्द रानडेके यहाँ एक दिन उनके किसी मित्रने आम भेजे। श्रीरानडेकी पत्नी रमाबाईने वे आम धोकर, बनाकर रानडेके सम्मुख रखे। रानडेने आमके दो-एक टुकड़े खाकर उनके स्वादकी प्रशंसा की और कहा—'इसे तुम भी खाकर देखो और सेवकोंको भी देना।'

रमाबाईको आश्चर्य हुआ कि उनके पतिदेवने आमके केवल दो-तीन टुकड़े ही क्यों खाये? उन्होंने पूछा—'आपका स्वास्थ्य तो ठीक है?'

रानडे हँसे—'तुम यही तो पूछती हो कि आम स्वादिष्ट हैं, सुपाच्य हैं तो मैं अधिक क्यों नहीं लेता? देखो, ये मुझे बहुत स्वादिष्ट लगे, इसलिये मैं अधिक नहीं लेता।'

यह अच्छा उत्तर है कि स्वादिष्ट लगता है, इसलिये

अधिक नहीं लेना है ! पतिकी यह अटपटी बात रमाबाई समझ नहीं सकीं। रानडेने कहा—"तुम्हारी समझमें मेरी बात नहीं आती दीखती। देखो, बचपनमें जब मैं बंबईमें पढ़ता था, तब मेरे पड़ोसमें एक महिला रहती थीं। वे पहिले सम्पन्न परिवारकी सदस्या रह चुकी थीं, किंतु भाग्यके फेरसे सम्पत्ति नष्ट हो गयी थी। किसी प्रकार अपना और पुत्रका निर्वाह हो, इतनी आय रही थी। वे अनेक बार जब अकेली होतीं, तब अपने-आप कहती थीं—'मेरी जीभ बहुत चटोरी हो गयी है। इसे बहुत समझाती हूँ कि अब चार-छः साग मिलनेके दिन गये। अनेक प्रकारकी मिठाइयाँ अब दुर्लभ हैं। पकवानोंका स्मरण करनेसे कोई लाभ नहीं। फिर भी मेरी जीभ मानती नहीं। मेरा बेटा रूखी-सूखी खाकर पेट भर लेता है, किंतु दो-तीन साग बनाये बिना मेरा पेट नहीं भरता।"

श्रीरानडेने यह घटना सुनाकर बताया—'पड़ोसमें रहनेके कारण उस महिलाकी बातें मैंने बार-बार सुनीं। मैंने तभीसे नियम बना लिया कि जीभ जिस पदार्थको पसंद करे, उसे बहुत ही थोड़ा खाना। जीभके वशमें न होना। यदि उस महिलाके समान दुःख न भोगना हो तो जीभको वशमें रखना चाहिये।'—सु० सिं०

अद्भुत शान्तिप्रियता

एक बार महात्मा गांधीके पास एक उद्धत युवा पुरुष आया और उसने उनसे लगातार प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी। बहुत-से बेसिर-पैरके प्रश्न कर लेनेके बाद उसने उनसे व्यङ्ग्यपूर्वक पूछा—'आपको जब कन्याकुमारीके मन्दिरमें लोगोंने प्रवेश करनेसे रोक दिया था, तब आप अंदर क्यों नहीं गये ? आप तो संसारकी दिव्य ज्योति हैं, फिर वे आपको रोकनेवाले कौन होते थे।' गांधीजीने उसके सारे प्रश्नोंका उत्तर बड़े शान्तिपूर्ण ढंगसे दिया था। उसके इस प्रश्नपर वे थोड़ा मुसकराये और बोले—'या तो मैं संसारकी ज्योति नहीं था और वे लोग मुझे बाहर रखकर न्याय करना चाहते थे अथवा यदि मैं जगत्की ज्योति था तो मेरा यह कर्तव्य नहीं था कि मैं बलपूर्वक घुसनेकी चेष्टा करता।'

उस युवकने उनसे पुनः पूछा—"अस्तु! आपको मालूम होना चाहिये मौलाना मुहम्मद अलीने कहा है—'गांधीजीकी अपेक्षा तो एक दुराचारी मुसल्मान भी श्रेष्ठ है।' फिर क्या इतनेपर भी आप हिंदू-मुसलिम-एकताकी आशा करते हैं ?"

'क्षमा कीजिये!' गांधीजी बोले—"उन्होंने ऐसा बिल्कुल नहीं कहा। अलबत्ता उन्होंने यह कहा था कि 'ऐसा मुसल्मान केवल एक बातमें बड़ा है और वह है अपने धर्ममें। और वह भी केवल कहनेका एक सुन्दर ढंग मात्र था। उसे हम इस तरह क्यों न समझनेकी चेष्टा करें—'मान लीजिये मेरे पास कोहिनूर हीरा है और यदि किसीने इसपर यह कहा कि गांधीजीके पास हीरा है, इस अर्थमें वे अमुक जमींदारसे अच्छे हैं' तो इसमें क्या बुरा कहा। इसी प्रकार अपने मजहबको सर्वोत्तम समझनेका सबको वैसा ही अधिकार है, जैसे किसी पुरुषको अपनी स्त्रीको सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी समझनेका अधिकार है। आपने पढ़नेमें भूल की है। मुहम्मद अलीका तर्कपूर्ण दृष्टिकोण सर्वथा निर्दोष है; क्योंकि धार्मिक मामलोंमें मैं सचमुच बड़ा ढीला-ढाला हूँ।"

युवक निरुत्तर होकर चला गया। —जा० श०

हस्त-लेखका मूल्य

१९२५ के जूनमें, जब गांधीजीका खादी-प्रचार तथा चरखा-उद्योगका प्रयत्न चल रहा था, देशबन्धु चितरञ्जन दासने उनसे दार्जिलिंगमें अपने यहाँ ठहरकर कुछ दिन विश्राम करनेका नम्र प्रस्ताव रक्खा। गांधीजीने वहाँ पाँच दिन ठहरना स्वीकार कर लिया। अब देशबन्धुजीका घर एक आकर्षणका केन्द्र बन गया और दार्जिलिंगका पर्वतीय स्थान चरखोंसे गूँज उठा।

उन दिनों गांधीजीके पास फोटोग्राफरों तथा स्वहस्त-लेख-याचकों (autograph-hunters) की खासी भीड़-सी रहती। पर गांधीजी उन लोगोंसे अपना मूल्य कुछ ले लेते। वे कहते कि हमारा मूल्य आधुनिक है और वह है—'आधा घंटा प्रतिदिन चरखा कातना और खादी धारण करना।'

एक दिन एक लड़की अपनी स्वहस्त-लेख-संग्रह-पुस्तिका (autograph book) के साथ महात्मा गांधीके पास आयी। जब गांधीजीने परिस्थिति बतलायी, तब उसने वैसा करने (चर्खा कातने तथा खादी पहनने) की प्रतिज्ञा की। गांधीजीने—'तो धन्यवाद! लो, मैं यह अपना स्वहस्त-लेख (autograph) दिये देता हूँ,' कहते हुए यों उसकी पुस्तिकापर लिख दिया—'Never make a promise in haste. Having once made a promise, fulfil it even at the cost of your life. (जल्दीमें कभी कोई प्रतिज्ञा न करो। पर एक बार प्रतिज्ञा कर लेनेपर उसे प्राणपणसे निभा दो।'

—जा० श०

काले झंडेका भी स्वागत

२३ मार्च १९३१ की रातमें लाहौर जेलमें भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरुको श्रीगांधीजी आदिकी लाख चेष्टाके बाद भी फाँसी दे दी गयी। समाचार मिलते ही देशमें तीव्र रोष फैल गया। नेहरूजीने कहा—'भगतसिंहकी लाश इंग्लैंड तथा हमलोगोंके बीचमें दरार-जैसी रहेगी। 'भगतसिंह जिंदाबाद' का नारा भारतभरमें गूँज उठा। अंग्रेज अधिकारियोंने चेतावनी दी कि उनकी स्त्रियाँ दस दिनोंतक घरसे बाहर न निकलें। सर्वत्र रोषपूर्ण प्रदर्शन हुए। कलकत्तेमें तो प्रदर्शनकारियोंकी पुलिससे मुठभेड़ हो गयी और बहुत बड़ी संख्यामें लोग मारे गये और घायल हुए। उन्हीं दिनों कराँचीमें कांग्रेस-अधिवेशनके लिये उसके सदस्यगण एकत्र हो रहे थे। गांधीजी भी आये। वे ज्यों ही स्टेशनपर उतरे नवजीवन-सभाके सदस्योंने, जो लाल कुर्ते पहने हुए थे—'गांधी, लौट जाओ'—'गांधीवाद नष्ट हो' के नारे लगाये। साथ ही 'भगतसिंह जिंदाबाद।' 'गांधीजीकी युद्धविराम-घोषणाने ही भगतसिंहको फाँसीके तख्तेपर भेजा है' आदि नारोंके साथ काले झंडे भी दिखलाये गये।

पर गांधीजी इससे तनिक भी अप्रसन्न न हुए। उलटे उन्होंने एक वक्तव्य प्रकाशित करके उनकी प्रशंसा की। उन्होंने कहा—'यद्यपि वे अत्यन्त दुखी तथा क्रुद्ध थे—वे चाहते तो मुझे शारीरिक क्षति पहुँचा सकते थे तथा वे अन्य कई प्रकारसे मुझे अधिक अपमानित कर सकते थे फिर भी उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया। केवल काले फूल तथा कपड़ोंसे मेरा स्वागत किया! जहाँतक मैं समझता हूँ, इससे उन्होंने उन तीन स्वर्गीय देशभक्तोंके फूल (भस्म) का अभिप्राय व्यक्त किया है। मैं उनसे बैठक समाप्त होनेतक इसी शिष्टताकी आशा करता हूँ; क्योंकि वे यह जानते और मानते हैं कि मैं भी उसी लक्ष्यके लिये प्रयत्नशील हूँ, जिसके लिये वे प्रयत्न कर रहे हैं। भेद केवल इतना ही है कि

हमारे मार्ग कुछ-कुछ भिन्न हैं। भगतसिंहकी वीरता तथा त्यागके सामने किसका सिर न झुकेगा; पर मेरा यह अनुमान भी गलत नहीं है कि हमलोग जिस देश-कालमें रह रहे हैं, यह वीरता कम मिलेगी। फिर पूर्ण अहिंसाका पालन तो शायद इससे भी बड़ी वीरता है।'

गांधीजीके शब्दोंका उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने तत्काल उनके प्रति अपने हार्दिक प्रेमका परिचय दिया।—जा० श०

कर्मण्येवाधिकारस्ते

महात्मा गांधी और लेनिन

(लेखक—पं०श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी)

गांधीजी

उड़ीसा-यात्रा—

'हाँ, अब मुझे ठीक तौरपर प्रणाम करो। तुम जानते हो कि मेरा रक्तका दबाव १९५ है?'

महात्माजीने डाक्टरके छोटे बच्चेके सोनेके बटन झपट-कर हँसते हुए कहा और तत्पश्चात् डाक्टरसे भी अनेक मजाक किये। डाक्टर बेचारे अत्यन्त चिन्तित थे। यन्त्र लगाकर उन्होंने हालमें ही देखा था। वे सोच रहे थे कि यह क्या हुआ। बापूने कोई बदपरहेजी तो नहीं की? सबेरे तो रक्तका दबाव कुल जमा १८२ ही था, शामको एक साथ इतना क्यों बढ़ गया? कारण, आखिर क्या हुआ? कारणका ब्यौरा स्व० महादेव भाईके शब्दोंमें सुन लीजिये—

'अपनी उड़ीसाकी यात्रामें गांधीजीको बेशुमार मेहनत करनी पड़ती थी। यद्यपि सब लोग उनसे यही प्रार्थना करते थे कि आप कुछ आराम कर लें, इतना कठोर श्रम न करें, फिर भी वे किसीकी क्यों सुनने लगे। उन्हें ज्ञात हुआ कि एक कार्यकर्ताने उनके भाषणको गलत समझा है। उन्होंने उससे तथा उसके साथियोंसे गरमागरम बहस की और उन्हें अपना दृष्टिकोण समझानेकी भरपूर कोशिश की। डाक्टरने बापूको कह रक्खा था कि वे अधिक बात न करें; पर वे कहते थे—'उड़ीसा आनेके बाद मेरा यह फर्ज हो जाता है कि मैं अपना सर्वोत्तम समय और पूर्ण शक्ति यहाँके कार्यकर्ताओंको अर्पित कर दूँ। भला, ऐसा किये बिना मैं यहाँसे कैसे लौट सकता हूँ।' बापूने उन लोगोंको एक बार वक्त दिया, दुबारा वक्त दिया और अन्तिम दिन तिबारा समय दिया। वे अत्यन्त थके हुए थे। उन्हें ज्ञात था कि इस जगहपर कुष्ठाश्रम है, जहाँ वे दो वर्ष पहले गये थे। बापूने उस आश्रमके मित्रोंको कलकत्तेसे आये हुए फूल भेंटस्वरूप भेजे। आश्रमके सुपरिंटेंडेंटको स्वभावतः यह इच्छा हुई कि बापू एक बार फिर कुष्ठाश्रममें पधारें। गांधीजी अबकी बार नारंगियोंकी टोकरी लेकर वहाँ गये। अध्यक्ष महोदयके प्रार्थनानुसार उन्हें आश्रमका निरीक्षण भी करना पड़ा। आध घंटे धूपमें इधर-उधर घूमना पड़ा, यद्यपि स्वास्थ्यकी वर्तमान दशामें उनके लिये यह असह्य था। निवास-स्थानपर लौटे तो अत्यन्त थके हुए। डाक्टर साहब शामको आये तो उन्हें कार्यकर्ताओंसे बातचीत करते हुए पाया।'

डाक्टर साहबने कहा—'महात्माजी! आप भी ज्यादती कर रहे हैं—दूसरे मरीजोंकी तरह।'

महादेव भाईने लिखा था—'बापू अपने अट्टहास्यमें मानो अपने घोर कष्टको डुबो देना चाहते थे। कठोर परिश्रम करना उन्होंने अपना स्वभाव ही बना लिया था।'

'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।'

वर्धा—

बापूने रातको नौ बजेसे आध घंटेका समय बातचीतके लिये मुझे दिया था। बापू खूब हँसते और हँसाते रहे, फिर गम्भीरतापूर्वक बोले—'अब साढ़े नौ बज चुके। मैं रातके डेढ़ बजेका उठा हुआ हूँ और दोपहरको सिर्फ पचीस मिनटके लिये आराम किया है।' रातके डेढ़ बजेसे लेकर रातके साढ़े नौ बजेतक पूरे बीस घंटे ! मैं चकित रह गया। मद्रासके भाई हरिहर शर्मासे, जो उन दिनों वहीं थे, दूसरे दिन मैंने पूछा—'बापू इतनी मेहनत क्यों करते हैं ?' उन्होंने तुरंत ही उत्तर दिया—'प्रायश्चित्तस्वरूप ! हम सब लोग आलसी हैं, उसीका तो प्रायश्चित्त बापू कर रहे हैं।'

काशी—

२ अक्टूबर। 'आज तो महात्माजी ! आपने और भी अधिक काम किया।' श्री-श्रीप्रकाशजीने कहा। 'भाई, आज मेरी वर्षगाँठ है न ?' बापूने उत्तर दिया।

हरिजन-आश्रम, दिल्ली—

'महात्माजी ! क्या आपकी घड़ी बंद हो गयी थी ? आप तो ढाई बजे रातसे ही काम कर रहे हैं !' श्रीवियोगी हरिजीने पूछा। महात्माजीने उत्तर दिया—'घड़ी तो मेरी बिल्कुल ठीक चल रही है। मेरी नींद पूरी हो चुकी थी सो अपनी डाक निपटानेमें लग गया। अब साढ़े पाँच बच चुके हैं।'

विश्ववन्द्य महात्मा गांधीजीके जीवनकी ऐसी सैकड़ों ही घटनाएँ लिखी जा सकती हैं। वे अपने क्षण-क्षणका हिसाब रखते थे। उनकी तपस्या अद्वितीय थी।

लेनिन

और वैसी ही साधना की थी एक अन्य तपस्वीने। सन् १९१९ की बात है। मास्को-कजान रेलवे कई जगहपर टूटी पड़ी थी। रूसी मजदूरोंने उस वक्त अपनी शनिवारकी छुट्टीको, जो कानूनन उन्हें मिलती थी, स्वेच्छापूर्वक राष्ट्रके आपत कर दिया था। उस दिन भी वे कामपर आते थे। लेनिनने उस समय कहा था—'मजदूरोंका यह त्याग इतिहासमें अनेक साम्राज्यवादी युद्धोंकी अपेक्षा अधिक उल्लेखयोग्य तथा महत्त्वपूर्ण घटना है।'

यद्यपि लेनिनके गलेमें तकलीफ थी, एक गुमराह साम्यवादी लड़कीने उनपर छर्रेंभरी पिस्तौल चला दी थी। कुछ छर्रें अभी भी गलेमें रह गये थे और वे कष्ट देते थे, फिर भी नवयुवक सिपाहियोंका साथ देनेके लिये लेनिन खुद अपने कंधोंपर लट्ठे उठाकर सबेरेसे शामतक काममें जुटे रहते थे। लोग मना करते कि आप कोई हलका काम ले लें; पर वे नहीं मानते थे। जब सालभरतक इसी प्रकार अपने शनिवारोंको बिना किसी इनाम या मजदूरीके उन श्रमजीवियोंने व्यय किया और इस 'यज्ञ' की वर्षगाँठ मनायी गयी, तब लेनिनने कहा था—

'साम्यवादियोंका श्रम समाजके निर्माणके लिये होता है—वह किसी इनाम या पुरस्कारकी इच्छासे नहीं, बल्कि 'बहुजनहिताय' अर्पित किया जाता है। स्वस्थ शरीरके लिये श्रम तो एक अनिवार्य वस्तु है।'

श्रमकी महिमाके उपर्युक्त दो दृष्टान्त क्या हमारे लिये पर्याप्त प्रेरणाप्रद नहीं हैं ? १९५ रक्तके दबावमें धूपमें आध घंटे चलना और बीस-बीस घंटे मेहनत करना—यह थी बापूकी साधना; और गलेमें पिस्तौलका छर्रा लिये हुए सबेरेसे शामतक सिपाहियोंके साथ कंधेपर लट्ठे उठाना—यह था लेनिनका तप।

पूरे सालभर आम नहीं खाये !

एक बार गांधीजीके यहाँ, जब कि वे आठ वर्षके थे, कोई उत्सव था। उस दिन भोजनके लिये कई लोग आमन्त्रित थे, जिनमें गाँधीजीके एक समवयस्क मित्र भी थे। उस दिन भोजनमें प्रधान खाद्य वस्तु थी आम-

का फल । भूलसे उस दिन उचित समयपर उस मित्र-को सूचना नहीं मिल सकी । अतएव वह सम्मिलित नहीं हो सका । गांधीजीको इससे बड़ा आघात पहुँचा । बस ! शिष्टाचारकी इस चूकके प्रायश्चित्तमें उस दिनसे उन्होंने आम न खानेका व्रत ले लिया और पूरे एक वर्षतक आम नहीं खाये । उनके माता-पिता तथा पूर्वोक्त मित्रने भी बड़ा आग्रह किया कि वे इस व्रतको छोड़ दें; पर उन्होंने अपनी टेक पूरी करके ही छोड़ी।

—जा० श०

मारे शरमके चुप !

गांधीजीके बचपनके एक मित्र थे—शेख मेहताब साहब । इन मित्रके कारण उनमें पहले अनेकों बाल-सुलभ दुर्गुण भी आ गये थे, जिन्हें गांधीजीने पीछे अपने मित्रके साथ ही बड़ी कठिनतासे एक-एक करके परित्याग किया । इन्हीं महोदयने कृपा करके इन्हें एक दिन वेश्यालय भी पहुँचा दिया था । पर भगवत्कृपासे या जन्मान्तरके संस्कार या अज्ञानसे ये कैसे बच गये, इसका विस्तृत विवरण स्वयं उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये—

—'मैं मकानमें दाखिल तो हुआ; पर ईश्वर जिसे बचाना चाहता है, वह गिरनेकी इच्छा करता हुआ भी बच सकता है । उस कमरेमें जाकर मैं तो मानो अंधा हो गया । कुछ बोलनेका औसान ही न रहा । मारे शरमके चुपचाप उस बाईकी खटियापर बैठ गया । बाई झल्लाई और दो-चार बुरी-भली सुनाकर सीधा दरवाजे-का रास्ता दिखलाया ।

'उस समय तो मुझे लगा, मानो मेरी मर्दानगीको लाञ्छन लग गया और धरती फट जाय तो मैं उसमें समा जाऊँ । पर बादको इससे मुझे उबार लेनेके लिये मैंने ईश्वरका सदा उपकार माना है । मेरे जीवनमें ऐसे ही चार प्रसङ्ग और आये हैं । पर मैं दैवयोगसे बचता गया हूँ । विशुद्ध दृष्टिसे इन अवसरोंपर मैं गिरा ही समझा जा सकता हूँ; क्योंकि विषयकी इच्छा करते ही मैं उसका भोग तो कर चुका । फिर भी लौकिक दृष्टिसे हम उस आदमीको बचा हुआ ही मानते हैं, जो इच्छा करते हुए भी प्रत्यक्ष कर्मसे बच जाता है । और मैं इन अवसरोंपर इतने ही अंशतक बचा हुआ समझा जा सकता हूँ । फिर कितने ही काम ऐसे होते हैं, जिनके करनेसे बचना व्यक्तिके तथा उसके सम्पर्कमें आनेवालों-के लिये बहुत लाभदायक साबित होता है । और विचार-शुद्धि हो जानेपर उस कर्मसे बच जानेमें व्यक्ति ईश्वरका अनुग्रह मानता है । जिस प्रकार न गिरनेका यत्न करते हुए भी मनुष्य गिर जाता है, उसी प्रकार पतनकी इच्छा हो जानेपर भी मनुष्य अनेक कारणोंसे बच जाता है। इसमें कहाँ पुरुषार्थके लिये स्थान है, कहाँ दैवके लिये अथवा किन नियमोंके वशवर्ती होकर मनुष्य गिरता है या बचता है, ये प्रश्न गूढ़ हैं । ये आजतक हल नहीं हो सके हैं। और यह कहना कठिन है कि इनका अन्तिम निर्णय हो सकेगा या नहीं ।'

सचमुच इन विचारोंमें गांधीजीकी सरलता तथा महत्ता साफ फूट पड़ती है ।

—जा० श०

अद्भुत क्षमा

जिसने दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास पढ़ा होगा, वह भलीभाँति जानता होगा कि निरपराध होते तथा परोपकार करते हुए महात्मा गांधी-जितना दूसरा कोई भी व्यक्ति न पिटा होगा । इतनेपर भी इन्होंने किसीपर हाथ उठाना तो दूर रहा, अपने प्रतिरोधीके अकल्याणकी बात कभी मनमें भी न आने दी । क्षमा

तो उसे तुरंत कर ही दिया, दण्डसे भी बचानेकी भरपूर चेष्टा की । इतना ही नहीं, जहाँतक हो सका, बड़े प्रेमसे शक्तिभर जी लगाकर उसकी भलाई की। आदिसे अन्ततक ऐसी घटनाओंको पढ़कर मानवहृदय सर्वथा दुःखित, चकित, विस्मित और क्या-क्या होता जाता है, यह कौन बताये । ऐसी घटनाएँ उनके जीवनमें एक-दो नहीं, पग-पगपर और जीवनके अन्ततक होती दीखती हैं; उनकी गणना कौन करे ? पर इनमें ट्रान्सवाल (दक्षिण अफ्रीका) की एक घटना बड़ी मर्मस्पर्शी है । वह नीचे दी जाती है—

जनवरी १९०८ की बात है । ट्रान्सवालमें उपनिवेशवाद (भारतीयोंके वहाँ बसने-न-बसने) का सत्याग्रह चल रहा था । कुछ लोगोंने मिलकर गांधीजी-के एक पुराने मवक्किल मीर आलमको उनके विरुद्ध बहकाया और उनको मारनेके लिये ठीक किया । एक दिन वे फॉन ब्राडिस स्क्वायर स्थित एशियाटिक आफिसमें आम मार्गसे चले जा रहे थे । वे गिब्सनकी कोठीके पार ही हुए थे कि मीर आलम उनकी बगलमें आ गया और उनसे पूछा, 'कहाँ जाते हो ?' गांधीजीने पहले दिनके दिये भाषणके अनुसार बतलाया कि 'मैं दस अंगुलियोंकी निशानी देकर रजिस्ट्रीका सर्टिफिकेट लेने जा रहा हूँ। अगर तुम भी चलो तो तुम्हें दसों अंगुलियोंकी निशानी न देकर केवल दोनों अंगूठेकी निशानी देनेपर ही पहले सर्टिफिकेट दिलवा दूँ ।' गांधीजी अभी यह कह ही रहे थे कि इतनेमें उसने ताबड़तोड़ उनके सिरपर लाठी बरसाना आरम्भ किया । गांधीजी तो पहली लाठीमें ही 'हे राम' कहकर गिर पड़े और बेहोश हो गये । गिरते समय उनका शिरोभाग एक नुकीले पत्थरपर गिरा; परिणामतः ऊपरका ओठ और ठुड्डी बुरी तरह फट गयी, एक दाँत टूट गया । दूसरे नुकीले पत्थरसे ललाट फटा और तीसरेसे आँख । इतनेपर भी आलम और उसके साथी गाँधीजीको लाठियों और लातोंसे मारते ही रहे । उनमेंसे कुछ इसप मियाँ और थम्बी नायडूको भी लगे ।

शोर हुआ । गोरे आ गये । आलम और उसके साथी भागने लगे । पर गोरोंने उन्हें पकड़ लिया । गांधीजीको लोग मि० गिब्सनके दफ्तरमें ले गये । होश आते ही उन्होंने पूछा—'मीर आलम कहाँ है ?' रेवरेंड डोक उनके पास थे । उन्होंने बतलाया 'वह और उसके सभी साथी पकड़ लिये गये हैं ।' गांधीजीने तुरंत कहा—'उन्हें छूटना चाहिये ।' लोगोंने लाख समझाया कि अभी इतनी क्या जल्दी है, अभी आप आराम करें; पर गांधीजीने एक न सुनी और ऐटर्नी-जेनरलके नाम तुरंत तार भेजा—'मीर आलम और उनके साथियोंने मेरे ऊपर जो हमला किया, उसके लिये मैं उन्हें दोषी नहीं मानता । उनपर फौजदारी मुकदमा न चलाकर मेरी खातिर उन्हें तुरंत छोड़ दिया जाय ।' इस तारके उत्तरमें वे छोड़ दिये गये ।

पर जोहान्सबर्गके गोरोंने तुरंत ऐटर्नी-जेनरलको एक कड़ा पत्र लिखा—'गांधीजीके निजी विचार यहाँ नहीं चल सकते । अपराधियोंने उन्हें सरेआम बीच रास्तेमें मारा है । यह सार्वजनिक अपराध है । अपराधियोंको पकड़ना ही होगा ।' फलतः वे पुनः पकड़ लिये गये । गांधीजीकी छुड़ानेकी चेष्टाके बावजूद भी उन्हें तीन मासकी सख्त सजा मिली ।

मुश्किलसे चार महीने बीते होंगे । जुलाईकी एक सभामें मीर आलमको गांधीजीने देखा । उसने सभामें अपनी भूल स्वीकार की और उनसे क्षमा माँगी । गांधीजीने उसका हाथ पकड़ लिया और बड़े स्नेहसे उसे दबाते हुए कहा—'मैंने तुम्हारे विरुद्ध कभी कुछ नहीं सोचा । इसमें तो तुम्हारा कोई अपराध था ही नहीं । तुम बिल्कुल निश्चिन्त रहो ।'

—जा० श०

सहनशीलता

महात्मा गांधीजी उन दिनों चम्पारनमें थे। एक दिन वे वहाँसे बेतिया जा रहे थे। रातका समय था, ट्रेन खाली थी। महात्माजीको चलना तो तीसरे दर्जेमें ही ठहरा। वे एक सीटपर सो गये। उनके दूसरे साथी दूसरी सीटोंपर बैठ गये। आधी रातको गाड़ी एक स्टेशनपर खड़ी हुई तो एक किसान उसी डिब्बेमें चढ़ा। उसने डिब्बेमें घुसते ही सीधे महात्माजीको धक्का देकर उठाया—'उठो, बैठो! तुम तो ऐसे पसरे पड़े हो जैसे गाड़ी तुम्हारे ही बापकी है।'

महात्माजी उठकर बैठ गये और उनके पास ही बैठकर वह किसान गाने लगा—

'धन धन गाँधीजी महाराज दुखीका दुःख मिटानेवाले।'

वह महात्माजीका दर्शन करने बेतिया जा रहा था। उसे क्या पता कि उसने जिन्हें धक्का दिया है, वे ही महात्माजी हैं और उसका गीत सुनकर अब मुसकरा रहे हैं।

बेतिया स्टेशनपर हजारों व्यक्ति महात्माजीके स्वागतके लिये एकत्र थे। ट्रेनके स्टेशनपर पहुँचते ही जयध्वनिसे आकाश गूँजने लगा। अब किसानको अपनी भूलका पता लगा। वह फूट-फूटकर रोने लगा और महात्माजीके पैरोंपर गिर पड़ा। महात्माजीने उसे उठाया और आश्वासन दिया।—सु० सिं०

रामचरितमानसके दोष

एक बार गांधीजीको उनके मित्रोंने लिखा कि 'रामचरितमानसमें स्त्रीजातिकी निन्दा है, बालि-वध, विभीषणके देशद्रोह, जाति-द्रोहकी प्रशंसा है। काव्य-चातुर्य भी उसमें कोई नहीं, फिर आप उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ क्यों मानते हैं?'

इसके उत्तरमें उन्होंने लिखा था—"यदि आपलोग जैसे कुछ और अधिक समीक्षक मिल सकें तो फिर कहना पड़ेगा कि सारी रामायण केवल 'दोषोंका पिटारा' है। इसपर मुझे एक बात याद आती है। एक चित्रकारने अपने समीक्षकोंको उत्तर देनेके लिये एक बड़े सुन्दर चित्रको प्रदर्शिनीमें रक्खा और उसके नीचे लिख दिया—'इस चित्रमें जिसको जहाँ कहीं भूल या दोष दिखायी दे, वह उस जगह अपनी कलमसे चिह्न कर दे।' परिणाम यह हुआ कि चित्रके अङ्ग-प्रत्यङ्ग चिह्नोंसे भर गये। परंतु वस्तुस्थिति यह थी कि 'वह चित्र अत्यन्त कलायुक्त था।' ठीक यही दशा रामायणकी आपलोगोंने की है। ऐसे तो वेद, बाइबिल और कुरानके आलोचकोंका भी अभाव नहीं है। पर जो गुणदर्शी हैं, उनमें दोषोंका अनुभव नहीं करते। तब मैं रामचरितमानसको सर्वोत्तम इसलिये नहीं कहता कि कोई उसमें एक भी दोष नहीं निकाल सकता, पर इसलिये कि उसमें करोड़ों मनुष्योंको शान्ति मिली है। और यह बात इस ग्रन्थके लिये दावेके साथ कही जा सकती है।

'मानस'का प्रत्येक पृष्ठ भक्तिसे भरपूर है। वह अनुभवजन्य ज्ञानका भंडार है।"—जा० श०

मैं खून नहीं पी सकता!

महात्मा गांधीजीने कहा है—'मैंने गुरु नहीं बनाया; किंतु मुझे कोई गुरु मिले हैं तो वे हैं—रायचंद भाई।'

ये रायचंद भाई पहले बम्बईमें जवाहरातका व्यापार

करते थे। उन्होंने एक व्यापारीसे सौदा किया। यह निश्चित हो गया कि अमुक तिथितक, अमुक भावमें इतना जवाहरात वह व्यापारी देगा। व्यापारीने रायचंद भाईको लिखा-पढ़ी कर दी।

संयोगकी बात, जवाहरातके मूल्य बढ़ने लगे और इतने अधिक बढ़ गये कि यदि रायचंद भाईको उनके जवाहरात वह व्यापारी दे तो उसे इतना घाटा लगे कि उसका अपना घरतक नीलाम करना पड़े।

श्रीरायचंद भाईको जवाहरातके वर्तमान बाजार भावका पता लगा तो वे उस व्यापारीकी दूकानपर पहुँचे। उन्हें देखते ही व्यापारी चिन्तित हो गया। उसने कहा—'मैं आपके सौदेके लिये स्वयं चिन्तित हूँ। चाहे जो हो, वर्तमान भावके अनुसार जवाहरातके घाटेके रुपये अवश्य आपको दे दूँगा, आप चिन्ता न करें।'

रायचंद भाई बोले—'मैं चिन्ता क्यों न करूँ? तुमको जब चिन्ता लग गयी है तो मुझे भी चिन्ता होनी ही चाहिये। हम दोनोंकी चिन्ताका कारण यह लिखा-पढ़ी है। इसे समाप्त कर दिया जाय तो दोनोंकी चिन्ता समाप्त हो जाय।'

व्यापारी बोला—'ऐसा नहीं। आप मुझे दो दिन-का समय दें, मैं रुपये चुका दूँगा।'

रायचंद भाईने लिखा-पढ़ीके कागजको टुकड़े-टुकड़े करते हुए कहा—'इस लिखा-पढ़ीसे तुम बँध गये थे। बाजार-भाव बढ़नेसे मेरा चालीस-पचास हजार रुपया तुमपर लेना हो गया। किंतु मैं तुम्हारी परिस्थिति जानता हूँ। ये रुपये तुमसे मैं लूँ तो तुम्हारी क्या दशा होगी? रायचंद दूध पी सकता है, खून नहीं पी सकता।'

वह व्यापारी तो रायचंद भाईके पैरोंपर गिर पड़ा। वह कह रहा था—'आप मनुष्य नहीं, देवता हैं।'

क्या ही अच्छा हो कि छल-कपट, ठगी-मक्कारी, झूठ-फरेब करके किसी प्रकार दूसरेकी परिस्थितिसे लाभ उठानेको आतुर आजका समाज इन महापुरुषोंके उदार चरितसे कुछ भी प्रेरणा ले।—सु० सिं०

चिन्ताका कारण

सन् १९२७ में 'स्टूडेंट्स वर्ल्ड फेडरेशन' का अधिवेशन मैसूरमें हुआ। अमेरिकाके रेवरेंड मॉट् उसके अध्यक्ष थे। वे जब भारत आये, तब गांधीजीसे मिलनेके लिये उन्होंने समय चाहा। उन दिनों गांधीजीको अवकाश बहुत कम मिलता था। इसलिये उन्होंने उन्हें रातमें सोनेके पहले दस मिनटका समय दिया। कई लोग इस कुतूहलसे कि 'देखें दस मिनटमें ये लोग क्या बातें करते हैं' वहाँ जा उपस्थित हुए।

गांधीजी आँगनमें सोये हुए थे। रेवरेंड मॉट्ने अपने प्रश्न लिख रक्खे थे और उन्हें लेकर वे एक बेंचपर बैठ गये। उन्होंने पूछा कि 'आपको ऐसी क्या वस्तु दिखी, जिससे अधिक आश्वासन मिलता है?'

गांधीजीने कहा—'कितनी ही छेड़छाड़ करनेपर भी यहाँके लोगोंके मनसे अहिंसा-वृत्ति नहीं जाती। इससे मुझे बहुत आश्वासन मिलता है।'

'और कौन-सी ऐसी चीज है, जिससे दिन-रात आप चिन्तित तथा अस्वस्थ रहते हैं?' मॉट्ने पूछा।

'शिक्षित लोगोंके अंदरसे दयाभाव सूखता जा रहा है। इससे मैं सर्वदा चिन्तित रहता हूँ।'

गांधीजीके उत्तरसे मॉट् तथा दर्शक चकरा गये। कालेलकरजीके मनपर इसका इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने तत्काल 'ग्राम-सेवा-अभ्यासक्रम' आरम्भ किया।

एक बार एक ऐंग्लो-इंडियनने, जो किसी जेलका साधारण नौकर था, गांधीजीसे autograph (स्वाक्षरी

—अपने हाथका लिखा कोई वाक्य तथा हस्ताक्षर) माँगा। उन्होंने लिखा—'It does not cost to be kind—(दयालु बननेमें कुछ भी खर्च नहीं पड़ता) ।' कहते हैं कि इस वाक्यसे उस व्यक्तिका स्वभाव ही बदल गया।—जा० श०

विलक्षण संकोच

गांधीजीने जब दक्षिण अफ्रिकामें आश्रम खोला था, तब अपना सर्वस्व वहाँके आश्रम अर्थात् देशवासियोंको दे दिया। गोकी नामकी इनकी बहिन थीं; जिनका निर्वाह करना कठिन था। गांधीजीके पास अपनी कोई सम्पत्ति थी नहीं। बड़ी कठिनतासे डा० प्राणजीवन मेहतासे कहकर दस रुपये मासिककी व्यवस्था करवायी।

थोड़े ही दिनोंके बाद गोकी बहिनकी लड़की भी विधवा हो गयी। गोकीने गांधीजीको लिखा—'अब खर्च बढ़ गया है। हमें पड़ोसियोंका अनाज पीसकर काम चलाना पड़ता है। कोई उपाय ढूँढ़ो।'

जवाबमें गांधीजीने लिखा—'आटा पीसना बड़ा अच्छा है। तुम दोनोंका स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। हम भी आश्रममें आटा पीसते हैं। जब जी चाहे आश्रममें रहने तथा जन-सेवा करनेका तुम दोनोंका पूरा अधिकार है। पर मैं घरपर कुछ नहीं भेज सकता, न इसके लिये अपने मित्रोंसे ही कह सकता हूँ।'—जा० श०

भगवत्-विस्मृतिका पश्चात्ताप

एक बार गांधीजीको दक्षिणभारतके दौरेमें चर्खा-दंगल देखनेमें बड़ी रात हो गयी। वहाँसे जब वे लौटे, तब इतने थक गये थे कि एक चारपाईपर लेटते ही उन्हें नींद लग गयी। दो बजे उनकी नींद खुली तो स्मरण आया कि सोनेके पूर्व प्रार्थना करना भूल गये। फिर तो वे सारी रात सोये नहीं। उनके मनपर बड़ा आघात पहुँचा। शरीर थर-थर काँपने लगा। सारा बदन पसीनेसे लथपथ हो गया। प्रातःकाल लोगोंने जब पूछा, तब सारी बात बतलाते हुए उन्होंने कहा—'जिसकी कृपासे मैं जीता हूँ, उस भगवान्‌को ही भूल गया, इससे बढ़कर बड़ी गलती और क्या होगी।'

—जा० श०

गोरक्षाके लिये स्वराज्य भी त्याज्य

कांग्रेसका २६ वाँ अधिवेशन मद्रासमें हो रहा था। गांधीजी श्रीनिवास आयंगरके मकानपर ठहरे थे। वे उन दिनों प्रायः राजनीतिसे अलग-से रह रहे थे। शामको श्रीआयंगर महोदय एक मसविदा उनके सामने लाये, जिसमें हिंदू-मुस्लिम समझौतेकी बात थी। गांधीजीने उसे हाथमें लेकर कहा—'इसे मुझे क्या दिखाना है। किसी भी शर्तपर हिंदू-मुस्लिम समझौता हो सके तो वह मुझे मंजूर ही है।' तत्पश्चात् शामकी प्रार्थनाके बाद वे सो गये।

प्रातः उठते ही उन्होंने महादेव देसाईको जगाया, काका कालेलकरको भी बुलाया और कहने लगे—"रात बड़ी गलती हो गयी। मैंने मसविदेपर बिना ही विचारे कह दिया कि 'ठीक है' उसमें मुसलमानोंको गो-वध

करनेकी आम इजाजत दी गयी है। भला, यह मुझसे कैसे बर्दाश्त होगा। मैं तो स्वराज्यके लिये भी गोरक्षाका आदर्श नहीं छोड़ सकता। अतएव उन लोगोंको जाकर तुरंत कह आओ कि यह प्रस्ताव मुझे बिलकुल मान्य नहीं है। परिणाम चाहे जो हो, पर मैं बेचारी गौओंपर इस प्रकार आपत्ति नहीं ढहा सकता।'

बस, तत्काल उनके आदेशानुसार व्यवस्था की गयी।

—आ० श०

अन्यायका परिमार्जन

डाक्टर प्राणजीवन मेहता गांधीजीके मित्रोंमेंसे थे। रेवाशंकर जगजीवनदास इनके भाई थे। पहले गांधीजी जब बम्बई जाते तब प्रायः इनके ही मकानमें ठहरते थे। एक दिन वहीं आनन्दस्वामी भी गांधीजीके साथ थे। उनकी रेवाशंकरजीके रसोइयेके साथ कुछ बोल-चाल हो गयी। बात-बातमें उसने आनन्दस्वामीका अपमान कर दिया। स्वामीजीने क्रोधावेशमें कसकर उसे एक चाँटा जड़ दिया। शिकायत बापूतक पहुँची। बापूने स्वामीजीसे कहा—'अगर बड़े लोगोंसे तुम्हारा ऐसा झगड़ा हो जाता तो उन्हें तो तुम थप्पड़ नहीं लगाते। वह नौकर है, इसलिये तुमने उसे चाँटा जड़ दिया। अभी जाकर उससे क्षमा माँगो।' जब आनन्दस्वामीने आनाकानी की, तब आपने कहा—'यदि तुम अन्यायका परिमार्जन नहीं कर सकते तो तुम मेरे साथ नहीं रह सकते।'

आनन्दस्वामी सीधे गये और उन्होंने रसोइयेसे क्षमा माँगी।

नल-राम-युधिष्ठिर पूजनीय हैं

किसीने महात्मा गांधीजीसे पूछा कि 'रामचन्द्रने सीताका अग्निमें प्रवेश कराया और उसका त्याग किया। युधिष्ठिरने जुआ खेला और द्रौपदीकी रक्षा करनेकी भी हिम्मत नहीं बतलायी। नलने अपनी पत्नीपर कलङ्क लगाया और अर्धनग्न-अवस्थामें उसे घोर वनमें अकेली छोड़ दिया। इन तीनोंको पुरुष कहें या राक्षस?' इसके उत्तरमें महात्माजीने उनको लिखा—

'इसका जवाब सिर्फ दो ही व्यक्ति दे सकते हैं—या तो स्वयं कवि या वे सतियाँ। मैं तो प्राकृत दृष्टिसे देखता हूँ तो मुझे ये तीनों ही पुरुष वन्दनीय लगते हैं। रामकी तो बात ही छोड़ देनी चाहिये। परंतु आइये, जरा देरके लिये ऐतिहासिक रामको दूसरे दोनोंकी पंक्तिमें रख दें। ये तीनों सतियाँ इतिहासमें सती न बखानी गयी होतीं यदि वे इन तीनों महापुरुषोंकी अर्धाङ्गनाके रूपमें न रही होतीं। दमयन्तीने नलका नाम रसनासे नहीं छोड़ा, सीताके लिये रामके सिवा इस जगत्‌में दूसरा कोई न था। द्रौपदी धर्मराजपर भौंहें ताने रहती थीं, फिर भी उनसे जुदा नहीं होती थीं। जब-जब इन तीनोंने इन सतियोंको सताया, तब-तब हम यदि उनकी हृदय-गुफामें बैठ गये होते तो उसमें जलती हुई दुःखाग्नि हमें भस्म कर डालती। रामको जो दुःख हुआ है, उसका चित्र भवभूतिने चित्रित किया है। द्रौपदीको फूलकी तरह रखनेवाले भी वे पाँचों भाई थे। उसके बोल सहनेवाले भी वही थे। नलने जो कुछ किया, वह तो अपनी अचेत-अवस्थामें। नलकी पत्नी-परायणताको तो देवता भी उस समय आकाशमें झाँककर देख रहे थे, जब वह ऋतुपर्णको लेकर आया था। इन तीनों सतियोंके प्रमाणपत्र मेरे लिये बस हैं। हाँ, यह सच है कि कवियोंने इनको पतियोंसे विशेष गुणवती चित्रित किया है। सीताके

बिना रामकी क्या शोभा ? दमयन्तीके बिना नलकी क्या शोभा ? और द्रौपदीके बिना धर्मराजकी क्या शोभा ? पुरुष विह्वल, उनके धर्म-प्रसङ्गानुसार भिन्न-भिन्न और उनकी भक्ति 'व्यभिचारिणी' है। पर इन सतियोंकी भक्ति तो स्वच्छ स्फटिक-मणिकी तरह अव्यभिचारिणी है। स्त्रीकी क्षमाशीलताके सामने पुरुषकी क्षमाशीलता कोई चीज नहीं। और क्षमा तो वीरताका लक्षण है। इसलिये ये तीनों सतियाँ अबला नहीं बल्कि सबला थीं। पर मानना चाहें तो यह दोष पुरुषमात्रका मान सकते हैं, नलादिका विशेषरूपसे नहीं। कवियोंने इन सतियोंको सहनशीलताकी साक्षात् मूर्ति चित्रित किया है। मैं तो इनको सती-शिरोमणिके रूपमें पहचानता हूँ। परंतु इनके पुण्यरूप पतियोंको राक्षसके रूपमें नहीं देखना चाहता। उन्हें राक्षस माननेसे सतियाँ दूषित होती हैं। सतियोंके पास आसुरी भावना रह ही नहीं सकती। हाँ, वे सतियोंसे कनिष्ठ भले ही माने जायँ; पर दोनोंकी जाति तो एक ही है, दोनों पूजनीय हैं।

संत-सेवा

अहमदाबादके प्रसिद्ध संत महाराज सरयूदासके जीवनकी एक घटना है; उनके पूर्वाश्रमकी बात है। वे साधु-संतोंकी सेवामें बड़ा रस लेते थे। यदि उनके कानमें साधु-महात्माओंके आगमनका समाचार पड़ जाता तो सारे काम-काज छोड़कर वे उनका दर्शन करने चल पड़ते थे।

एक दिन वे अपनी दूकानपर बैठे हुए थे, इतनेमें अचानक उन्हें पता चला कि गाँवके बाहर पेड़के नीचे कुछ संत अभी-अभी आकर विश्राम कर रहे हैं। उन्होंने तुरंत दूकान बंद कर दी और खड़ी दोपहरीमें उनके दर्शनके लिये दौड़ पड़े। मध्याह्न-कालका सूर्य बड़े जोरसे तप रहा था। तेजीसे चलनेके नाते उनका शरीर श्रान्त-क्लान्त हो गया और पसीनेसे भीग गया था।

'महाराज ! दास सेवामें उपस्थित है। इस गाँवका परम सौभाग्य है कि आपने अपनी चरण-धूलिसे इसको पवित्र कर दिया। बड़े पुण्यसे आप-ऐसे महात्माओंका दर्शन होता है।' सरयूदासने उनका चरणस्पर्श किया और उनकी चरण-धूलि-गङ्गामें स्नान करके स्वस्थ हो गये।

मध्याह्नकाल समाप्त हो रहा था। ऐसी स्थितिमें गाँवमें भिक्षा माँगनेके लिये निकलना कदापि उचित नहीं था। संतोंको बड़ी भूख लगी थी, पर वे संकोचवश कुछ कह नहीं पाते थे। श्रद्धालु सरयूदाससे यह बात छिपी नहीं रह सकी। वे तुरंत घर गये। भोजनालयमें देखा तो आटा केवल दो-ढाई सेर ही था। उन्होंने घरवालोंको छेड़ना उचित नहीं समझा और स्वयं आटेकी चक्कीपर गेहूँ पीसने बैठ गये। भोजनकी सारी आवश्यक सामग्री लेकर वे संतोंकी सेवामें उपस्थित हुए। उन्होंने बड़े प्रेमसे भोजन किया। वे सरयूदासजीकी श्रद्धा और सेवासे बहुत प्रसन्न हुए तथा उनके संत-प्रेमकी बड़ी सराहना की।—रा० श्री०

आदर्श सहनशीलता

अहमदाबादके प्रसिद्ध संत सरयूदासजी महाराज एक बार रेलगाड़ीकी तीसरी श्रेणीमें बैठकर डाकोर जा रहे थे। गाड़ीमें बड़ी भीड़ थी। कहीं तिल छींटनेका भी अवकाश नहीं था। महाराजके पास ही बगलमें एक हट्टा-कट्टा पठान बैठा हुआ था। वह महाराजकी ओर अपने पैर बढ़ाकर बार-बार ठोकर मार रहा था।

'भाई ! संकोच मत करो । दिखाओ, तुम्हारे पैरमें किस स्थानपर पीड़ा हो रही है । तुम मेरी ओर पैर बढ़ाकर भी पीछे खींच लिया करते हो। मुझे एक बार तो सेवाका अवसर दो । मैं तुम्हारा ही हूँ ।' सरयूदासजी महाराज पैर पकड़कर सहलाने लगे । उसकी ओर करुणाभरी दृष्टिसे देखा ।

'महाराज ! मेरा अपराध क्षमा कीजिये । आप औलिया हैं, यह बात मुझे अब विदित हो सकी है ।' वह शरमा गया । उसने बड़े दैन्यसे महाराजका चरणस्पर्श किया, क्षमा-याचना की । —रा० श्री०

विलक्षण क्षमा

स्वामी उग्रानन्दजी बहुत अच्छे संत थे । बड़े सहिष्णु तथा सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखनेवाले थे । एक बार आप उन्नाव जिलेके किसी ग्राममें पहुँचे । संध्या हो गयी थी । आप ब्रह्मानन्दकी मस्तीमें निमग्न एक पेड़के तले गुदड़ी बिछाकर लेट गये । रात्रिमें उसी गाँवमें किसी किसानके बैलको चोर चुराकर ले गये । गाँवमें थोड़ी देर बाद ही हल्ला मचा और सबने कहा कि 'चलो, बैलोंको ढूँढ़ें, कहीं चोर जाता हुआ मिल ही जायगा ।' ऐसा विचार करके बहुतसे गाँववाले लाठी ले-लेकर बैलको ढूँढ़ने निकले । ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे उस जगहपर आये, जहाँ स्वामीजी पेड़के नीचे सो रहे थे । उनमेंसे एक आदमीको स्वामीजी दिखायी दिये । उसने सबको पास बुलाकर कहा कि 'लो, चोरका पता तो लग गया । देखो ! यह जो पेड़के नीचे पड़ा हुआ है इसके साथी तो बैल आगे लेकर भाग गये हैं और यह यहीं रह गया है ।' यों कहकर उन सबने स्वामीजीको चोर समझकर पकड़ लिया, उनकी गुदड़ी छीन ली और सबने मिलकर उन्हें खूब मारा । किंतु स्वामीजी बिल्कुल शान्त रहे और कुछ भी नहीं बोले । पिटते-पिटते स्वामीजीके मुखसे खूनतक बहने लगा । फिर वे उन्हें बाँधकर गाँवमें ले आये और उन्हें किसी चौपाल-पर ले जाकर एक कोठरीमें बंद करके डाल दिया । जब प्रातःकाल हुआ, तब सबने उन्हें उस कोठरीमेंसे निकाला और पकड़कर उन्हें थानेमें ले जाने लगे । थानेदार स्वामीजीको अच्छी तरहसे जानता था और वह स्वामीजीका बड़ा प्रेमी था । जब गाँववाले उन्हें लेकर वहाँ पहुँचे, तब थानेदारने दूरसे उन्हें देख लिया । वह कुर्सी छोड़कर भागा हुआ वहाँ आया और स्वामीजीके पैरोंमें पड़कर उसने प्रणाम किया । थानेदारको प्रणाम करते देखकर गाँववाले बहुत घबराये कि यह क्या बात है । थानेदारने सिपाहियोंको बुलाकर कहा कि 'मारो इन दुष्टोंको, ये स्वामीजीको क्यों पकड़कर लाये हैं ।' किसानलोग थर-थर काँपने लगे । जब सिपाही उन्हें पकड़ने चलें, तब स्वामीजीने उन्हें ऐसा करनेसे रोका और फिर थानेदारसे कहा कि 'देख, जो तू मेरा प्रेमी है तो तू इन्हें कुछ भी दण्ड न दे और इन्हें छोड़ दे तथा सबको मिठाई मँगवाकर खिला ।' थानेदारने बहुत-कुछ कहा, परंतु स्वामीजी नहीं माने । उन्होंने थानेदारसे मिठाई मँगवाकर उन्हें खिलवायी और तब लौट जानेकी आज्ञा दी । थानेदार यह देखकर दंग रह गया और बोला कि 'ऐसा महात्मा तो आजतक कभी नहीं देखा ।'

स्वामीजीके साथ ऐसी घटना और भी एक बार हुई थी ।

घट-घटमें भगवान्

लगभग पचास वर्ष पहलेकी बात है। दक्षिण-भारतके प्रसिद्ध संत औलिया साईं बाबाने अध्यात्म-जगत्में बड़ा नाम कमाया। एक समयकी बात है। वे किसी विचारमें मग्न थे कि सहसा उनके अधरोंपर मुसकराहट थिरक उठी।

'तुम्हारे पास मन्दिरमें अन्य व्यक्ति भी आते हैं?' उन्होंने बड़े प्रेमसे प्रश्न किया अपने प्रसिद्ध शिष्य उपासनी महाराजसे। वे बाबाकी आज्ञासे शिरडीकी सीमापर नदीतटपर श्मशान-भूमिके निकट ही खण्डोबाके टूटे-फूटे मन्दिरमें निवास करते थे। वे ब्राह्मण थे, इसलिये द्वारिका माई (मस्जिद)में रहनेमें उन्होंने आपत्ति की। वे नित्य बाबाका दर्शन करते रहते थे। अपने हाथसे भोजन बनाकर नित्य दोपहरको मस्जिदमें बाबाके लिये ले जाया करते थे। साईं बाबाके भोजन करनेके बाद ही अन्न-जल ग्रहण करते थे।

'वहाँ कोई नहीं जाता, बाबा!' उपासनी महाराजका उत्तर था।

'अच्छा, कभी-कभी मैं आता रहूँगा।' बाबाने महाराजपर कृपा की।

× × ×

खड़ी दोपहरीका समय था। सूर्यकी प्रखर किरणोंसे पृथ्वी पूर्ण संतप्त थी। महाराज कड़ी धूपमें भोजनकी थाली लेकर गुरुके पास जा रहे थे। अचानक वे मार्गमें रुक गये। उन्होंने एक काला कुत्ता देखा, जो भूखसे व्याकुल था। महाराजने सोचा कि गुरुको भोजन समर्पित करनेके बाद ही इसे खिलाना उचित है। वे आगे बढ़ रहे थे कि सहसा विचार-परिवर्तन हुआ; पर काला कुत्ता अदृश्य हो गया।

'तुम्हें इतनी कड़ी धूपमें आनेकी क्या आवश्यकता थी। मैं तो रास्तेमें ही खड़ा था।' साईं बाबाके कथनसे महाराजको कुत्तेका स्मरण हो आया, वे पश्चात्ताप करने लगे। साईं बाबा मौन थे।

दूसरे दिन भोजनकी थाली लेकर महाराज ज्यों ही मन्दिरसे बाहर निकले थे कि दीवारके सहारे खड़ा एक शूद्र दीख पड़ा। महाराजने मस्जिदकी ओर प्रस्थान किया। भूखे शूद्रकी ओर देखा तक नहीं। वह गिड़गिड़ाने लगा, पर महाराजको गुरुके पास पहले पहुँचना था।

'तुमने आज फिर व्यर्थ कष्ट किया। मैं तो मन्दिरके पास ही खड़ा था।' साईं बाबाने अपने प्यारे शिष्यकी आँख खोल दी।

'कुत्ते और शूद्र—सबमें एक ही परमात्माका वास है। मैंने उनके रूपमें आत्म-सत्य प्रकटकर तुम्हें वेदान्त-प्रतिपाद्य परब्रह्म परमात्माकी सर्वव्यापकताका रहस्य समझाया है। सबमें परमात्मा हैं, प्रत्येकके प्रति सद्भाव रखकर यथोचित कर्तव्यका पालन करना परम श्रेयस्कर है। भगवान् घट-घटमें परिव्याप्त हैं। उन्हें पहिचानो, जानो, मानो।' साईंबाबाने आशीर्वाद दिया।—रा० श्री०

मैं नहीं मारता तो मुझे कोई क्यों मारेगा

ऋषिकेशके जंगलमें पहले एक महात्मा रहते थे। उनका नाम था द्वारकादासजी। वे बिल्कुल दिगम्बर रहा करते थे।

एक बार एक साहब उस जंगलमें शिकार करने गये। उन्होंने एक बाघके जोड़ेमेंसे बाघको तो मार दिया, किंतु बाघिन बचकर भाग गयी। तब साहबको

उसको भी मारनेका मन हुआ। बस, वे खूब सँभलकर मचानपर बैठ गये।

इसी समय द्वारकादासजी साहबके पास गये और उससे कहा कि 'आज बाघिनको मत मारना, वह दुखी है।' यह कहकर वे वहीं लेट गये।

इतनेमें बाघिन आयी। यह देखकर साहबने बंदूक तानी। द्वारकादासजी ऊँचे स्वरमें चिल्लाये—'तुझे मना किया था न, फिर तू क्यों नहीं मानता!'

साहब रुक गये। बाघिन आयी और उनके चारों तरफ चक्कर लगाकर वापस चली गयी।

यह देखकर साहबको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे आकर उनसे पूछने लगे—'महाराज! आपको बाघिनने क्यों नहीं मारा।'

महात्मा—'मैं किसीको नहीं मारता, तब वह मुझे क्यों मारेगी।'

साहब—'आपको डर नहीं लगता क्या?'

महात्मा—'नहीं।'

साहब—'मुझे भगवान्‌के दर्शनका कुछ उपाय बतला दीजिये।' महात्माने उसको कुछ उपाय बता दिये।

(कु० राधा)

प्रसादका स्वाद

एक महात्मा थे। वे किसीके यहाँ भोजन करने गये। भोजनमें उनको थोड़ी-सी खीर मिली। उसमें उनको अपूर्व स्वाद मिला। उन्होंने थोड़ी-सी और माँगी, भोजन परसनेवालेने लाकर दे दी। किंतु उसमें वैसा स्वाद नहीं आया। उन्होंने इसका कारण पूछा। उन सज्जनने बहुत आग्रह करनेके पश्चात् बताया—'जब मैं भगवान्‌से प्रार्थना करता हूँ, तब वे कभी-कभी कोई चीज आकर खा लेते हैं। आज छोटी कटोरीकी खीर तनिक-सी उन्होंने खा ली थी। वही खीर मैंने आपको पहली बार दी थी। किंतु दूसरी बार आपके माँगनेपर मैंने दूसरी खीर दी; क्योंकि भोगवाली खीर तनिक भी बची नहीं थी।'

भगवन्नाममय जीवन

लोग उन्हें काछी बाबा कहते थे। वे जातिके काछी थे और साधु होनेसे नहीं, वृद्ध होनेसे उस प्रदेशकी प्रथाके अनुसार बाबा कहलाते थे। वैसे वे बगीचेमें मजदूरीका काम करते थे, दिनभर परिश्रम करते थे। शामको सरोवरके किनारे मालती-कुञ्जके नीचे रोटियाँ सेंककर खा लेते और वहीं सो रहते थे।

रात्रिमें किसीको शौच जाना हो तो मालती-कुञ्जवाले घाटपर ही हाथ धोनेकी सुविधा थी। घाटपर पहुँचते ही सुनायी पड़ता था स्पष्ट—'राम, राम, राम'। यह किसीकी जप-ध्वनि नहीं थी। निद्रामग्न काछी बाबाके श्वाससे यह स्पष्ट ध्वनि आया करती थी।

एक दिन काछी बाबाने नगरमें आकर बगीचेके स्वामीसे रसगुल्ला खानेकी इच्छा प्रकट की। भर-पेट रसगुल्ला खिलाया गया उन्हें। दूसरे दिन फिर पूछा गया—'काछी बाबा! रसगुल्ला खाओगे?'

काछी बाबा बोले—'बाबू! ऐसा पाप मैं फिर कभी नहीं करूँगा। मिठाई खानेसे मेरे रामजी रात नहीं आये।'

नित्य वे वृद्ध श्रीरामजीका दर्शन पाते थे। उन्होंने फिर कभी मिठाई खायी ही नहीं।—सु० सिं०

परोपकारके लिये अपना मांस-दान

त्रावणकोर राज्यके तोरूर ग्राममें एक साहूकारका हाथी किसी कारणसे उन्मत्त हो उठा। उसने अपने महावत नारायण नायरको सूँड़से पकड़कर पृथ्वीपर पटक दिया और उनकी पीठमें दाँतसे आघात किया। संयोग अच्छा था, दूसरे लोगोंने हाथीको झटपट वशमें कर लिया। नारायण नायरके प्राण बच गये। वे मूर्छित थे, उठाकर अस्पताल लाये गये।

डाक्टरने महावत नारायण नायरके घावकी जाँच की। हाथीका दाँत भीतरतक पीठमें घुस गया था। घाव बड़ा था, वह टाँकेसे बंद होने योग्य नहीं था। उससे रक्तका प्रवाह चल रहा था। डाक्टरने बताया—'रोगीका जीवन संकटमें है। किसी जीवित मनुष्यका लगभग डेढ़ पौण्ड (तीन पाव) मांस मिले तो उसे घावमें भरकर घावपर टाँका दिया जा सकता है।'

अपने शरीरमेंसे तीन पाव मांस कौन काटने दे। रोगीके परिवारमें, मित्रोंमें, परिचितोंमें ऐसा कोई उसका शुभचिन्तक नहीं निकला जो इतना त्याग उसके लिये कर सके। किंतु भारतकी पवित्र भूमि कभी अलौकिक त्यागियोंसे शून्य नहीं हुई है। समाचार पाकर पानावली ग्रामके एक सम्पन्न कुटुम्बके सदस्य श्रीकन्नङ्कृष्ण नायर डाक्टरके पास पहुँचे। उन्होंने डाक्टरसे अपना मांस लेनेको कहा। डाक्टरने उनकी जाँघसे मांस लेकर रोगीके घावमें भरा और टाँका लगाया, इससे महावत नारायण नायरके प्राण बच गये। श्रीकन्नङ्कृष्ण नायरको भी जाँघका घाव भरनेतक अस्पतालमें रहना पड़ा।—सु० सिं०

गुप्ताज़ फ़ॉली

विश्वास कीजिये—बिल्कुल सत्य बात है—यह एक मकानका नाम है, जो उत्तर प्रदेशके एक विख्यात शहरमें ही है। इस विचित्र नामकरणका कोई रहस्य तो होगा ही और वह यह है कि गुप्ता महोदय जब मकान बनवा रहे थे, तब उस जमीनके सिलसिलेमें एक झगड़ा हुआ और मुकदमेबाजी हो गयी। हजारों रुपये खर्च करनेके बाद श्रीगुप्ता जीत तो गये, पर उन्हें इस प्रसङ्गमें जो हानि और ग्लानि हुई, उससे उन्होंने अपने मकानको अपनी मूर्खताका परिणाम मान लिया और उसका नामकरण ही कर दिया गुप्ताज़ फ़ॉली (गुप्ताकी मूर्खता)। —जा० श०

विचित्र पञ्च

कलकत्तेमें श्रीलक्ष्मीनारायणजी मुरोदिया नामक एक संतस्वभावके व्यापारी थे। एक बार किन्हीं दो भाइयोंमें सम्पत्तिको लेकर आपसमें झगड़ा हो गया और बँटवारेमें एक अँगूठीपर बात अड़ गयी। दोनों ही भाई उस अँगूठीको लेना चाहते थे। श्रीमुरोदियाजी पञ्च थे, उन्होंने समझाया कि एक भाई अँगूठी ले ले और दूसरा भाई कीमत ले ले, पर वे नहीं माने। तब मुरोदियाजीने युक्ति सोची और ठीक वैसी ही एक अँगूठी अपने पाससे बनवायी। फिर, जिस भाईके पास अँगूठी थी, उसको समझाया कि 'देखो, मैं उसे समझा दूँगा, पर आप अँगूठी पहनना छोड़कर उसे घरमें रख दीजिये ताकि उसको उसकी याद ही न आये।' उसने बात मान ली। तदनन्तर दूसरे भाईके पास जाकर उसे अपनी बनवायी हुई अँगूठी देकर कहा कि 'देखो, मैंने तुमको अँगूठी ला दी है, परंतु इस बातको किसीसे भी कहना नहीं। नहीं तो, तुम्हारा भाई अपनी हार समझ-

कर दुखी होगा । अँगूठीको घरमें रख देना, उसे पहनना ही मत । तुम्हें अँगूठीसे काम था सो मिल गयी। अब इसकी चर्चा ही मत करना !' उसने खुशी-खुशी अँगूठी ले ली और बात मान ली । दोनों भाइयोंमें निपटारा और मेल हो गया । दो-तीन साल बाद जब यह भेद खुला, तब दोनों भाइयोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे अँगूठी लौटाने गये, पर मुरोदियाजीने यह कहकर कि, 'देखो मैं आपलोगोंसे बड़ा हूँ और इसलिये मुझे अधिकार है कि मैं अपनी ओरसे आपको कुछ उपहार दूँ' अँगूठी नहीं ली ।

तुलसीका चमत्कार

श्रीठाकुरसाहब लदाणा (जयपुर) के पास एक मुसल्मान सज्जन आये, उनके गलेमें तुलसीकी कंठी बँधी हुई थी । ठाकुरसाहबने पूछा कि 'आप मुसल्मान होते हुए तुलसीकी कंठी कैसे पहने हुए हैं ?' उत्तरमें उन्होंने कहा कि "ठाकुरसाहब ! इसके लिये एक समय मैंने प्रत्यक्ष बड़ा चमत्कार देखा है; तभीसे यह तुलसीकी माला हमेशा रखता हूँ । चमत्कार क्या देखा, सो आपसे निवेदन करता हूँ—

"एक समय मैं पैदल ही किसी दूसरे गाँव जा रहा था । रास्तेमें एक जंगल था । उस जंगलमें एक पेड़के नीचे बड़े आकारके दो मनुष्य मिले । मैं उनको देखकर डर गया । मुझे डरा हुआ जानकर उन्होंने विश्वास दिलाया कि 'घबराओ मत; आपको कुछ नहीं कहेंगे । हम यमराजके दूत हैं । अभी थोड़ी देरमें एक मनुष्य गाड़ी लेकर यहाँ आयेगा, उसके बैलकी जोती (जो जुआसे बैलके कंधेपर बाँधी जाती है) टूट जायगी । फिर हम बैलरूपी काल बनकर उसको मारकर यमलोक ले जायँगे ।'

"यह बात सुनकर मैं भी वहाँ ठहर गया । थोड़ी देर बाद एक गाड़ीवान गाड़ी लेकर आया और उसी जगह वह जोती टूट गयी और गाड़ीवान सुधारनेके लिये नीचे उतरा, उसी समय बैलने उसके पेटमें इतने जोरसे सींग मारा कि तत्काल वह एक पेड़ोंके झुरमुटमें जा गिरा और उसके प्राण छूट गये ।

"तब यमके दोनों दूत निराश होकर मुझसे बोले कि 'हम तो खाली हाथ जा रहे हैं, अब हमारा इसपर अधिकार नहीं रहा ।' इसे भगवान्‌के दूत ले गये जो आपके नजर नहीं आये ।' मैंने यमदूतोंसे कारण पूछा, तब बोले कि 'उस झुरमुटमें तुलसीके पौधे थे । इसके शरीरसे उनका स्पर्श हो गया । अतः इसे यमलोकमें ले जानेका अधिकार नहीं रहा ।'

"इस प्रकार मैंने स्वयं जब तुलसीका चमत्कार देखा, तभीसे मैं तुलसीकी माला पहनता हूँ ।"

भगवान्‌के भरोसे उद्योग कर्तव्य है

भिखारिणीका अक्षय भिक्षापात्र

घोर दुष्काल पड़ा था । लोग दाने-दानेके लिये भटक रहे थे । भगवान् बुद्धसे जनताका यह कष्ट सहा नहीं गया । उन्होंने नागरिकोंको एकत्र किया । नगरके सभी सम्पन्न व्यक्ति जब उपस्थित हो गये, तब तथागतने उनसे प्रजाकी पीड़ा दूर करनेका कुछ प्रबन्ध करनेको कहा ।

नगरके सबसे बड़े अन्नके व्यापारीकी ओर प्रभुने देखा । वे उठकर खड़े हो गये और बोले—'मैं अपना सभी संचित अन्न देनेको प्रस्तुत हूँ; किंतु वह इतना नहीं है कि उससे पूरी प्रजाको एक सप्ताह भी भोजन दिया जा सके ।'

नगरसेठने निवेदन किया—'प्रभु आज्ञा दें तो मैं अपना सम्पूर्ण कोष लुटा दे सकता हूँ; किंतु प्रजाको दस दिन भी भोजन उससे मिलेगा या नहीं—संदेहकी बात है।'

स्वयं नरेशने भी अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। सम्पूर्ण सभा मौन हो गयी। सबने मस्तक झुका लिये। तथागतके मुखपर चिन्ताकी रेखाएँ झलकने लगीं। इतनेमें सभामें सबसे पीछे खड़ी फटे मैले वस्त्रोंवाली एक भिखारिणीने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया और बोली—'प्रभु आज्ञा दें तो मैं दुष्कालपीड़ित जनोंको भोजन दूँगी।'

एक ओरसे सबकी दृष्टि उस कंगाल नारीकी ओर उठ गयी। सबने देखा कि वह तो अनाथपिण्डदकी कन्या है। अपना ही पेट भरनेके लिये उसे प्रतिदिन द्वार-द्वार भटककर भीख माँगना पड़ता है। तथागत उस भिखारिणीकी ओर देखकर प्रसन्न हो गये थे। किसीने क्रोधपूर्वक पूछा—'तेरे यहाँ कहाँ खजाना गड़ा है कि तू सबको भोजन देगी?'

बिना हिचके, बिना भयके उस नारीने कहा—'मैं तो भगवान्‌की कृपाके भरोसे उद्योग करूँगी। मेरा कर्तव्य उद्योग करना है। मेरा कोष तो आप सबके घरमें है। आपकी उदारतासे ही यह मेरा भिक्षापात्र अक्षय बनेगा।'

सचमुच उस भिखारिणीका भिक्षापात्र अक्षय बन गया। वह जहाँ भिक्षा लेने गयी, लोगोंने उसके लिये अपने भण्डार खोल दिये। जबतक वर्षा होकर खेतोंमें अन्न नहीं हुआ, अनाथपिण्डदकी कन्या प्रजाको भोजन देती रही।

अहिंसाका चमत्कार

लगभग तीन हजार साल पहलेकी बात है। एक समय भगवान् बुद्ध राजगृहमें विहार कर रहे थे। देवदत्त उनसे ईर्ष्या करता था। बहुत-से भिक्षुओंको साथ लेकर पूर्वाह्णके समय पात्र, चीवर लेकर पिंडचार (भिक्षा) के लिये उन्होंने नगरमें प्रवेश किया ही था कि देवदत्तके आदेशसे महावतने राजपथपर नालागिरि नामका प्रचण्ड गज छोड़ दिया। मतवाला हाथी सूँड उठाकर बड़े वेगसे भगवान्‌की ओर झपट पड़ा, उसके कान फट-फट शब्द करते हिल रहे थे।

'भन्ते! नालागिरि आ रहा है। प्राण ले लेगा। पथसे हट जाइये।' भिक्षुओंने सुगतके चरणोंमें निवेदन किया।

'अहिंसा-बल श्रेष्ठ है, भिक्षुओ!' तथागतने आश्वासन दिया।

राजपथके दोनों किनारोंके प्रासाद, हर्म्य और छतपर खड़े जन-समूह चिन्तामग्न थे।

दुराचारियोंने सोचा कि सुगत मारे जायँगे। सदाचारियोंने उनकी प्राण-रक्षाकी कामना की।

नालागिरि अति निकट आ गया। शाक्यसिंहने उसको मैत्री-भावनासे भर दिया। उनकी करुणदृष्टिसे वह पानी-पानी हो गया। अहिंसाकी तेजस्विनी ज्योतिसे उसके नेत्र चमत्कृत हो उठे। उसकी हिंसा-वृत्ति समाप्त हो गयी। हाथीने सूँड नीची कर भगवान्‌की वन्दना की, चरण-धूलिसे अपना मस्तक पवित्र किया; ऐसा लगता था मानो गजराजने अहिंसाके राज्यमें प्रवेश कर अपना राज्याभिषेक किया हो। हिंसाने नतमस्तक होकर आत्मसमर्पण कर दिया। अहिंसाके पद-देशमें हाथी अपने स्थानको लौट गया।—बुद्धचर्या

हृदय-परिवर्तन

अंगुलिमालका परिवर्तन

अंगुलिमालके नामके श्रवणमात्रसे ही समस्त कोशल-राज्य त्रस्त और संतप्त हो उठता था। गुरुके दक्षिणा-स्वरूप मैत्रायणीपुत्र वनमें रहता था और यात्रियोंको मारकर उनकी अंगुलियोंकी माला पहनता था; धन या वस्तु आदिका वह अपहरण नहीं करता था। श्रावस्तीके प्रसेनजित् और उनकी प्रजा उससे भयभीत थी।

× × ×

'इस वनमें डाकू अंगुलिमाल रहता है, भन्ते। वह प्राणियोंका वध करता है।' गोपालकों और किसानोंने भगवान् बुद्धको आगे बढ़नेसे रोका। वे श्रावस्तीमें पिण्डचार समाप्त कर वनमें जा रहे थे विहारके लिये। भिक्षु-संघके मना करनेपर भी वे आगे बढ़ते गये।

अंगुलिमालको आश्चर्य हुआ कि लोग समूहमें भी मेरे पास आनेमें डरते हैं और यह श्रमण तनिक भी भय नहीं मानता है। उसने इनको मार डालनेका संकल्प किया; पर वेगसे दौड़नेपर भी वह तथागतके पास नहीं पहुँच सका।

'खड़े रहो, श्रमण!' अंगुलिमालने संकेत किया।

'खड़ा हूँ, अंगुलिमाल! प्राणियोंके प्रति दण्डका त्याग करनेसे स्थित हूँ। तुम अस्थित हो।' तथागतने प्रबुद्ध किया।

'श्रमण असत्य भाषण नहीं कर सकता है। मैं अंधा हो गया था। मैंने बड़े-बड़े पाप किये हैं।' वह दौड़कर तथागतके चरणोंपर गिर पड़ा और भगवान्ने 'आ भिक्षु' कहकर उसे उपसम्पदा दी। वह प्रव्रजित हो गया।

× × ×

'कुशल तो है, प्रसेनजित्?' भगवान् बुद्धने कोशलपतिको पाँच सौ घुड़सवारोंके साथ आते देखकर प्रश्न किया। प्रसेनजित्ने चरण-वन्दना की।

'अंगुलिमालका दमन करने जा रहा हूँ, भन्ते। उसके उत्पातसे जनता आतङ्कित है।' राजाके शब्द थे।

'यदि वह काषायवेषधारी प्रव्रजित हो गया हो तो कैसा व्यवहार करोगे?' शास्ता गम्भीर थे।

'उसका स्वागत होगा, भन्ते। श्रावस्ती चीवर, पात्र और आसनकी व्यवस्था करेगी; पिण्डके लिये निमन्त्रित करेगी।' राजाका उत्तर था।

'तो यह है अंगुलिमाल।' तथागतने उसकी ओर दृष्टिपात किया। कोशलनरेशका हृदय थर-थर काँपने लगा। प्रसेनजित्ने सम्मान प्रकट किया।

'जिसे हम शस्त्र-अस्त्रसे भी न जीत सके वह यों ही जीत लिया गया।' राजाने तथागतकी प्रदक्षिणाकर राजप्रासादकी ओर प्रस्थान किया।

× × ×

तथागतके आदेशसे पिण्डचारके लिये उसने श्रावस्तीमें प्रवेश किया। भोजनके उपरान्त उसने एक ऐसी स्त्रीको देखा जिसका गर्भ निष्प्राण था। अंगुलिमालका हृदय व्यथित हो गया।

'यदि जानकर मैंने प्राणिवध न किया हो तो स्त्रीका मङ्गल हो; गर्भका मङ्गल हो।' भगवान्ने स्त्रीके सामने जाकर उसे ऐसा कहनेका आदेश दिया।

'पर यह तो असत्य भाषण है।' अंगुलिमालने विवशता प्रकट की; भगवान्की प्रेरणासे उसने आदेशका पालन किया और स्त्रीका मङ्गल हो गया; गर्भका मङ्गल हो गया।

श्रावस्तीसे लौटनेपर उसका सिर फट गया था; खूनकी धारा बह रही थी; जनताने उसे पत्थरसे मारा था पर उसने किसीका भी विरोध नहीं किया। उसके पात्र टूट गये थे; चीवर फट गया था। स्थविरने सहनशीलताका परिचय दिया।

'सत्य भाषण और अविरोध व्रतसे तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, स्थविर! अपूर्व हृदय-परिवर्तन है यह।' तथागतने धर्मकथासे उसे समुत्तेजित किया।

अंगुलिमालका नाम मिट गया; उसने नये जीवनका प्रकाश प्राप्त किया। —बुद्धचर्या

इन्द्रिय-संयम

नर्तकीका अनुताप

मथुराकी सर्वश्रेष्ठ नर्तकी, सौन्दर्यकी मूर्ति वासवदत्ताकी दृष्टि अपने वातायनसे राजपथपर पड़ी और जैसे वहीं रुक गयी। पीत-चीवर ओढ़े, भिक्षापात्र लिये एक मुण्डितमस्तक युवा भिक्षु नगरमें आ रहा था। नगरके प्रतिष्ठित धनी-मानी लोग एवं राजपुरुषतक जिसकी चाटुकारी किया करते थे, जिसके राजभवन-जैसे प्रासादकी देहलीपर चक्कर काटते रहते थे, वह नर्तकी भिक्षुको देखते ही उन्मत्तप्राय हो गयी। इतना सौन्दर्य! ऐसा अद्भुत तेज! इतना सौम्य मुख!—नर्तकी दो क्षण तो ठिठकी देखती रह गयी और फिर जितनी शीघ्रता उससे हो सकी, उतनी शीघ्रतासे दौड़ती हुई सीढ़ियाँ उतरकर अपने द्वारपर आयी।

'भन्ते!' नर्तकीने भिक्षुको पुकारा।

'भद्रे!' भिक्षु आकर मस्तक झुकाये उसके सम्मुख खड़ा हो गया और उसने अपना भिक्षापात्र आगे बढ़ा दिया।

'आप ऊपर पधारें!' नर्तकीका मुख लज्जासे लाल हो उठा था; किंतु वह अपनी बात कह गयी—'यह मेरा भवन, मेरी सब सम्पत्ति और स्वयं मैं अब आपकी हूँ। मुझे आप स्वीकार करें।'

'मैं फिर तुम्हारे पास आऊँगा।' भिक्षुने मस्तक ऊपर उठाकर बड़ी बेधक दृष्टिसे नर्तकीकी ओर देखा और पता नहीं क्या सोच लिया उसने।

'कब?' नर्तकीने हर्षोत्फुल्ल होकर पूछा।

'समय आनेपर!' भिक्षु यह कहते हुए आगे बढ़ गया था। वह जबतक दीख पड़ा, नर्तकी द्वारपर खड़ी उसीकी ओर देखती रही।

× × ×

मथुरा नगरके द्वारसे बाहर यमुनाजीके मार्गमें एक स्त्री भूमिपर पड़ी थी। उसके वस्त्र अत्यन्त मैले और फटे हुए थे। उस स्त्रीके सारे शरीरमें घाव हो रहे थे। पीव और रक्तसे भरे उन घावोंसे दुर्गन्ध आ रही थी। उधरसे निकलते समय लोग अपना मुख दूसरी ओर कर लेते थे और नाक दबा लेते थे। यह नारी थी नर्तकी वासवदत्ता! उसके दुराचारने उसे इस भयंकर रोगसे ग्रस्त कर दिया था। सम्पत्ति नष्ट हो गयी थी। अब वह निराश्रित मार्गपर पड़ी थी।

सहसा एक भिक्षु उधरसे निकला और वह उस दुर्दशाग्रस्त नारीके समीप खड़ा हो गया। उसने पुकारा—'वासवदत्ता! मैं आ गया हूँ।'

'कौन?' उस नारीने बड़े कष्टसे भिक्षुकी ओर देखनेका प्रयत्न किया।

'भिक्षु उपगुप्त!' भिक्षु बैठ गया वहीं मार्गमें और उसने उस नारीके घाव धोने प्रारम्भ कर दिये।

'तुम अब आये? अब मेरे पास क्या धरा है। मेरा यौवन, सौन्दर्य, धन आदि सभी कुछ तो नष्ट हो गया।' नर्तकीके नेत्रोंसे अश्रुधार चल पड़ी।

'मेरे आनेका समय तो अभी हुआ है।' भिक्षुने उसे धर्मका शान्तिदायी उपदेश देना प्रारम्भ किया। ये भिक्षुश्रेष्ठ ही देवप्रिय सम्राट् अशोकके गुरु हुए।

भिखारिणीका अक्षय भिक्षापात्र

अहिंसाका चमत्कार

हृदय-परिवर्तन

नर्तकीका अनुताप

निष्पक्ष न्याय

अहिंसाकी हिंसापर विजय

वैभवको धिक्कार है

शूलीसे सिंहासन
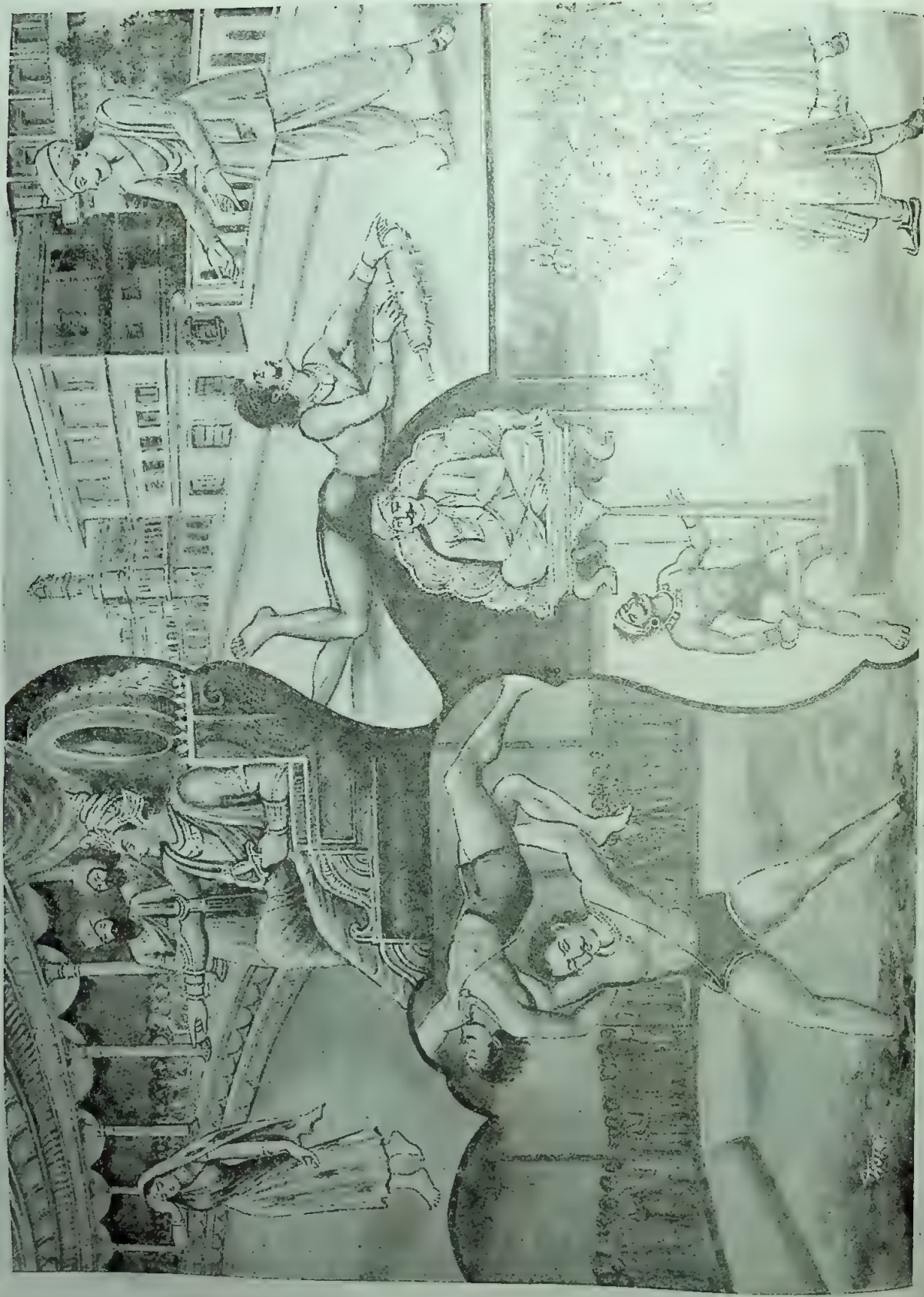
निष्पक्ष न्याय

रानीको दण्ड

काशीनरेशकी महारानी अपनी दासियोंके साथ वरुणा स्नान करने गयी थीं। उस समय नदीके किनारे दूसरे किसीको जानेकी अनुमति नहीं थी। नदीके पास जो झोपड़ियाँ थीं, उनमें रहनेवाले लोगोंको भी राजसेवकोंने वहाँसे हटा दिया था। माघका महीना था, प्रात:काल स्नान करके रानी शीतसे काँपने लगीं। उन्होंने इधर-उधर देखा; किंतु सूखी लकड़ियाँ वहाँ थीं नहीं। रानीने एक दासीसे कहा—'इनमेंसे एक झोपड़ेमें अग्नि लगा दे। मुझे सर्दी लग रही है, हाथ-पैर सेंकने हैं।'

दासी बोली—'महारानी! इन झोपड़ोंमें या तो कोई साधु रहते होंगे या दीन परिवारके लोग। इस शीतकालमें झोपड़ा जल जानेपर वे बेचारे कहाँ जायँगे।'

रानीजीका नाम तो करुणा था; किंतु राजमहलोंके ऐश्वर्यमें पली होनेके कारण उन्हें गरीबोंके कष्टका भला क्या अनुभव? अपनी आज्ञाका पालन करानेकी ही वे अभ्यासी थीं। उन्होंने दूसरी दासीसे कहा—'यह बड़ी दयालु बनी है। हटा दो इसे मेरे सामनेसे और एक झोपड़ेमें तुरंत आग लगाओ।'

रानीकी आज्ञाका पालन हुआ। किंतु एक झोपड़ेमें लगी अग्नि वायुके वेगसे फैल गयी। सब झोपड़े भस्म हो गये। रानीजी तो इससे प्रसन्न ही हुईं। परंतु वे राजभवनमें पहुँचीं और जिनके झोपड़े जले थे, वे दुखी प्रजाजन राजसभामें पहुँचे। राजाको इस समाचारसे बड़ा दु:ख हुआ। उन्होंने अन्त:पुरमें जाकर रानीसे कहा—'यह तुम्हें क्या सूझी? तुमने प्रजाके घर जलवा कर कितना अन्याय किया है, इसका कुछ ध्यान है तुम्हें?'

रानी अत्यन्त रूपवती थीं। महाराज उन्हें बहुत मानते थे। अपने रूप तथा अधिकारका गर्व था उन्हें। वे बोलीं—'आप उन घासके गंदे झोपड़ोंको घर बता रहे हैं! वे तो फूँक देने ही योग्य थे। इसमें अन्याय-की क्या बात।'

महाराजने कठोर मुद्रामें कहा—'न्याय सबके लिये समान होता है। तुमने लोगोंको कितना कष्ट दिया है। वे झोपड़े गरीबोंके लिये कितने मूल्यवान् हैं, यह तुम समझ जाओगी।'

महाराजने दासियोंको आज्ञा दी—'रानीके वस्त्र तथा आभूषण उतार लो। इन्हें एक फटा वस्त्र पहिनाकर राजसभामें ले आओ।'

रानी कुछ कहें, इससे पहिले महाराज चले गये अन्त:पुरसे बाहर। दासियोंने राजाज्ञाका पालन किया। एक भिखारिनीके समान फटे वस्त्र पहिने रानी जब राजसभामें उपस्थित की गयीं, तब न्यायासनपर बैठे महाराजकी घोषणा प्रजाने सुनी। वे कह रहे थे—'जबतक मनुष्य स्वयं विपत्तिमें नहीं पड़ता, दूसरोंके कष्टोंकी व्यथा समझ भी नहीं पाता। रानीजी! आपको राजभवनसे निर्वासित किया जा रहा है। वे सब झोपड़े, जिन्हें आपने जलवा दिया है, भिक्षा माँगकर जब आप बनवा देंगी, तब राजभवनमें आ सकेंगी।'

अहिंसाकी हिंसापर विजय

अर्जुनमाली बड़ी श्रद्धापूर्वक एक यक्षकी नित्य पूजा करता था। एक दिन उसने जैसे ही पूजा समाप्त की, छः डाकू आ धमके। उन दुर्जनोंने अर्जुनको रस्सियोंसे बाँध दिया और उसके घरको लूट लिया। उसकी पत्नीके साथ भी वे दुर्व्यवहार करने लगे।

अब अर्जुनमालीको क्रोध आया। वह बँधा-बँधा

दाँत पीसने लगा और मन-ही-मन कहने लगा—'मैंने इतने दिनों व्यर्थ इस यक्षकी पूजा की। इसके सामने ही मेरी तथा मेरी पत्नीकी यह दुर्गति हो रही है। मैं जानता कि यह इतना कापुरुष तथा असमर्थ है तो इसकी प्रतिमा यहाँसे उठा फेंकता।'

अर्जुन क्रोधमें भी सच्चे भावसे मान रहा था कि प्रतिमा जड नहीं है, उसमें सचमुच यक्ष है। उसके इस भावसे यक्ष संतुष्ट हो गया। अर्जुनके शरीरमें ही यक्षका आवेश हुआ। अब तो आवेशमें अर्जुनने अपने बन्धन तोड़ डाले और मूर्तिके पास रक्खा एक लोहेका मुद्‌गर उठा लिया। अर्जुनमें यक्षका बल था, उसने छः डाकुओं तथा अपनी स्त्रीको भी तत्काल मार दिया। परंतु इसके पश्चात् यक्षके आवेशमें अर्जुनमाली जैसे उन्मत्त हो गया। वह प्रतिदिन सात मनुष्योंको मारने लगा। राजगृहमें हाहाकार मच गया। लोगोंने घरोंसे निकलना बंद कर दिया।

उन्हीं दिनों भगवान् महावीर राजगृहके समीप उद्यानमें पधारे। उनके आगमनका समाचार सेठ सुदर्शनको मिला। तीर्थंकरका दिव्योपदेश श्रवण करने उन्हें अवश्य जाना था। घरके लोगोंने उन्हें मना किया कि अर्जुन राजपथपर मुद्गर लिये घूम रहा है, तो वे बोले—'वह भी तो मनुष्य ही है, मैं उसे समझाऊँगा।'

सेठ सुदर्शन राजपथपर पहुँचे। अर्जुन आज छः व्यक्तियोंका वध कर चुका था और सातवेंकी खोजमें था। सेठको देखते ही वह मुद्गर उठाकर दौड़ा; किंतु सेठ स्थिर खड़े रहे। प्रहारके लिये उसने मुद्गर उठाया तो मुद्गरके साथ स्वयं भूमिपर गिर पड़ा। उसके शरीरमें आविष्ट यक्ष एक नैष्ठिक आचारवान् अहिंसकका तेज सहन नहीं कर सका था, इसलिये वह भाग गया था।

सेठ सुदर्शनने पुकारा—'उठो अर्जुन! मेरी ओर क्या देख रहे हो भाई! आओ! हम दोनों साथ चलकर आज तीर्थंकरकी पवित्र वाणी श्रवण करें।'

सेठने हाथ पकड़कर उसे उठाया और सचमुच उठा लिया जीवनके पाप-पंकसे; क्योंकि तीर्थंकरके सम्मुख पहुँचते ही अर्जुन उनके चरणोंमें नत हो गया। वह दीक्षित हो गया। नगरवासी उसे मुनिवेशमें देखकर भी उसके द्वारा मारे गये अपने स्वजनोंका बदला लेनेके लिये उसे पत्थरोंसे मारते थे, उसपर दण्डप्रहार करते थे; किंतु वह अब शान्त रहता था। उसे आदेश जो मिला था—मा हतो।

वैभवको धिक्कार है!

भरत और बाहुबलि

सम्राट् भरतको चक्रवर्ती बनना था। वे दिग्विजय कर चुके थे, किंतु अभी वह अधूरी थी; क्योंकि उनके छोटे भाई पोदनापुरनरेश बाहुबलिने उनकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी। बाहुबलिके पास संदेश भेजा गया तो उन्होंने उत्तर दिया—'महासम्राट् पिता श्रीऋषभदेव महाराजने मुझे यह राज्य दिया था। मैं अपने ज्येष्ठ भ्राताका सम्मान करता हूँ; किंतु वे इस राज्यपर कुदृष्टि न डालें।'

भरतको तो चक्रवर्ती सम्राट् बनना था। वे अपनी दिग्विजय अपूर्ण रहने देना नहीं चाहते थे। बाहुबलिके उत्तरसे उनका क्रोध भड़क उठा। रणभेरी बजने लगी। चतुर मन्त्रियोंने सम्मति दी—'व्यर्थ नरसंहार करनेसे क्या लाभ? भाई-भाईका यह युद्ध है सम्राट्! आप दोनों दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध तथा मल्लयुद्ध करके परस्पर ही जय-पराजयका निर्णय कर लें।'

दोनोंने यह सम्मति स्वीकार कर ली। परंतु दृष्टियुद्ध और जलयुद्धमें बाहुबलि विजयी हो गये। सम्राट् भरतने बाहुबलिको मल्लयुद्धके लिये ललकारा। दोनों

भाई अखाड़ेमें उतरे। इस संघर्षमें भी भरतको जब जीतनेकी आशा नहीं रह गयी, तब क्रोधपूर्वक उन्होंने छोटे भाईपर अपने पितासे प्राप्त अमोघ अस्त्र 'चक्ररत्न' का प्रयोग कर दिया। वे क्रोधमें यह भूल ही गये कि 'चक्ररत्न' कुटुम्बियोंपर नहीं चलेगा। किंतु उन्हें अपनी भूल शीघ्र ज्ञात हो गयी। 'चक्ररत्न' बाहुबलिके समीप पहुँचकर लौट गया।

भरतने अन्याय किया था। उनके अन्यायसे बाहुबलि क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने अपनी प्रचण्ड भुजाओंसे भरतको पृथ्वीसे ऊपर उठा लिया—ऊपर उठा लिया अपने सिरसे भी। एक क्षणमें वे भरतको पृथ्वीपर पछाड़ फेंकनेवाले थे। सहसा प्रज्ञाका उदय हुआ। बाहुबलिने धीरेसे भरतको सामने खड़ा कर दिया और बोले—'भाई! क्षमा करना। इस राज्य और वैभवको धिक्कार है, जिसके मदसे अंधा होकर मनुष्य छोटे-बड़ेका मान करना भी भूल जाता है।'

भरत पुकारते रहे, प्रजाके लोग पुकारते रहे; किंतु बाहुबलि मल्लशालासे जो निकले तो फिर नहीं लौटे। उन्होंने दीक्षा ले ली। मोह-मायाकी सब गाँठें खोलकर वे निर्ग्रन्थ हो गये।

शूलीसे स्वर्णसिंहासन

राजपुरोहित तथा सेठ सुदर्शनकी प्रगाढ़ मैत्री थी। पुरोहितजीकी पत्नीने सेठके सदाचारकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया। एक दिन जब पुरोहितजी घरसे कहीं गये थे, उनकी पत्नीने सेठजीके पास संदेश भेजा—'आपके मित्र अस्वस्थ हैं।'

सेठ सुदर्शन पुरोहितजीके घर पहुँचे तो पुरोहित-पत्नीका पापपूर्ण प्रस्ताव सुनकर वे काँप उठे। उन्होंने कानोंपर हाथ रखकर कहा—'मुझे क्षमा करो बहिन!' और वहाँसे चले आये।

राजपुरोहितकी पत्नी चम्पानरेशकी रानीके साथ दूसरे दिन धर्मचर्चा करते हुए बोलीं—'आज भी पृथ्वीपर सच्चे सदाचारी विद्यमान हैं।'

रानी हँसी—'तभीतक, जबतक कोई सुन्दरी नारी अपने कटाक्षका उन्हें लक्ष्य नहीं बनाती।'

पुरोहितानी—'आपका भ्रम है रानीजी! ऐसे महापुरुष भी हैं जिन्हें देवाङ्गनाएँ भी विचलित नहीं कर सकतीं। इतिहास साक्षी है।'

रानी—'वे बातें लिखने तथा पढ़नेकी ही हैं।'

पुरोहितानी—'आप चाहें तो परीक्षा कर देखें। सेठ सुदर्शन वे जा रहे हैं राजपथसे।'

रानीको बात लग गयी। उसने दासी भेजकर सेठ सुदर्शनको राजभवनके अन्तःपुरमें बुलवाया। परंतु रानी विफल हुई। उसके हाव-भाव, प्रलोभन तथा धमकियोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। ऐसे अवसरोंपर प्रायः पराजित नारी जो करती है, रानीने भी वही किया। उसने सेठ सुदर्शनपर आरोप लगाया कि वे छिपकर अन्तःपुरमें पहुँचे और रानीको भ्रष्ट करना चाहते थे।

सेठ सुदर्शन मौन बने रहे। उनका अपराध ही ऐसा बताया गया था कि नरेश क्रोधान्ध हो उठे। उन्होंने आज्ञा दी—'इसे इसी समय शूलीपर चढ़ा दो।'

सेठ सुदर्शन शूलीपर चढ़ाये जाने लगे; किंतु नरेश, बधिक तथा सभी उपस्थित लोग चकित रह गये यह देखकर कि शूली सहसा स्वर्णसिंहासन बन गयी। अब जाकर रानीके पापका भण्डाफोड़ हुआ। परंतु सेठने उसे जीवनदान दिला दिया।

अडिग निश्चय—सफलताकी कुंजी

राष्ट्रिय स्वयंसेवक सङ्घके मूल संस्थापक स्वनामधन्य डाक्टर श्रीकेशवराव बलिराम हेडगेवार किसी कारणवश एक बार शनिवारके दिन कुछ साथियोंको लेकर अड़ेगाँव गये हुए थे। वहाँ कार्यक्रममें संध्या हो गयी। यह गाँव नागपुरसे बत्तीस मीलकी दूरीपर स्थित है; रास्ता बहुत ही विकट है। गाँव नागपुर अमरावतीकी पक्की सड़कसे भी नौ-दस मील दूर है। डाक्टर साहबका नागपुर पहुँचना आवश्यक था; क्योंकि उनका नियम था कि प्रत्येक रविवारको प्रभातकी परेडमें वे स्वयं नागपुरमें उपस्थित रहते थे। साथियोंने अनुरोध किया कि आज रात यहाँ ठहरें। पर वे उनके निश्चयको परिवर्तित नहीं कर सके।

रात अँधेरी, रास्तेमें कीचड़ और पैर मिट्टीसे सने हुए, इसपर पैरमें एक काँटा गहरा चुभा हुआ। इतनी दूरकी पैदल यात्रा। कुछ भी हो, प्रत्येक बाधापर पैर रखकर निःशङ्क आगे बढ़ते जाना तो उनकी आदत हो गयी थी। उनका विश्वास था कि लक्ष्य-प्राप्तिके मार्गमें कठिनाइयाँ तो आयेंगी ही। इसलिये निश्चय करके उत्साहपूर्वक उन्होंने यात्रा प्रारम्भ कर दी।

डाक्टरजीके यात्रा प्रारम्भ करते ही घनघोर मूसलाधार वृष्टि आरम्भ हो गयी। पर संकटोंने अधिक देरतक उनकी परीक्षा नहीं ली। भगवान् सम्भवतः उनके साहसको ही परखना चाहते थे। डाक्टरजी इस कसौटीपर खरे उतरे। कुछ ही मील पैदल चलनेपर उसी रास्ते नागपुर जानेवाली मोटर लगभग ग्यारह बजे रातको मिल गयी। ड्राइवरने डाक्टरजीको पहचानकर गाड़ी खड़ी की और उसमें चढ़ा लिया। गाड़ी खचाखच भरी थी, फिर भी किसी प्रकार पात्रदान आदिपर खड़े होकर साथियोंने जगह ली। ढाई-तीन बजे रातको सब नागपुर पहुँच गये। निश्चयानुसार डाक्टरजी प्रभातमें परेडके कार्यक्रममें उपस्थित रह सके।

डाक्टरजीकी सफलताकी यही कुंजी है। उनका निश्चय अटल था। आत्म-विश्वास तथा आत्म-श्रद्धा उनमें भरपूर थी। कठिनाइयों और विपत्तियोंका सामना करनेमें उन्हें आनन्द आता था। साहस, शौर्य, निश्चयपर अडिग रहना उनका स्वभाव था।

सर्वत्र परम पिता

(लेखक—श्रीलोकनाथप्रसादजी ढाँढनिया)

लाला बलदेवसिंहजी देहरादूनके रईस थे। वे प्राणिमात्रमें भगवान्‌की ज्योतिका निरन्तर अनुभव करते थे। प्रेम-तत्त्वका उच्चकोटिका अनुभव उन्हें प्राप्त था। प्राणिमात्रसे उनका प्रेमका बर्ताव प्रत्यक्ष था। कोई भी प्राणी कितना ही उनके विरुद्ध अपना भाव या आचरण रखता हो, उनके प्रेममें किसी प्रकारकी कमी नहीं होती, बल्कि विरोधियोंके प्रति तो उनका विशेष प्रेम दिखायी देता था। उनके जीवनके कई अनुभव और आदर्श विलक्षण घटनाएँ मेरे देखने-सुननेमें आयी हैं। उनमेंसे दो घटनाएँ संक्षेपमें लिख रहा हूँ।

डाकूके रूपमें परम पिता

एक बार उन्हें कुछ डाकुओंका एक पत्र मिला। जिसमें लिखा था 'अमुक तारीखको हमलोग आपके यहाँ डाका डालने आयेंगे।' इसको पढ़कर उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके चेहरेसे और बातचीतसे यही प्रकट होता था कि मानो साक्षात् भगवान् ही या उनके अपने पूर्वजोंके आत्मा ही डाकुओंके रूपमें पधारेंगे। इसलिये उस दिन उनके स्वागतके लिये

लालाजीने हलुआ, पूरी आदि बहुत-सी चीजें बनवायीं और बड़े उत्साह तथा आनन्दके साथ उनकी प्रतीक्षा की गयी। लालाजीके भतीजे श्रीअनिरुद्धकुमारके नाम भी ऐसा ही पत्र आया था। वे पत्र पढ़कर बहुत घबरा गये। उन्होंने पुलिस सुपरिंटेंडेंट तथा जिलाधीशको सूचना दी और अपनी रक्षाके लिये बड़ी तैयारी की। वे जब बलदेवसिंहजीके पास इस पत्रकी सूचना देने आये, उस समय मैं वहाँ मौजूद था, मैंने देखा—उनके चेहरेपर बड़ी घबराहट थी। लालाजीने उनको बहुत समझाया और कहा कि 'भैया! मेरे पास भी ऐसी चिट्ठी आयी है। पर मुझे तो इस बातसे बहुत हर्ष हो रहा है। पता नहीं, भगवान् ही उनके रूपमें पधार रहे हैं या हमारे-तुम्हारे बाप-दादोंकी आत्मा उन्हींके रूपमें आ रही है। इसलिये मैं तो उनके स्वागतके लिये आनन्द और उत्साहके साथ तैयारी कर रहा हूँ, तुमको भी ऐसा ही करना चाहिये और बहुत आनन्द तथा हर्ष मनाना चाहिये। यह तो परम पिताकी बहुत बड़ी कृपा है। यदि उन लोगोंके कामकी चीज होगी और वे ले जायँगे तो बहुत ही आनन्दकी बात होगी।' लाला बलदेवसिंहजीकी ये बातें अनिरुद्धकुमारजीको अच्छी नहीं लगी थीं। वे मनमें कुछ नाराज-से भी हुए थे; परंतु जिस तारीखको डाकुओंने आनेकी सूचना दी थी, उस तारीखको कोई आया नहीं। लालाजीको इसका विचार हुआ और डाकुओंके स्वागतके लिये बने हुए हलुआ-पूरी आदिको हमलोगोंने खाया।

प्रजाके रूपमें परम पिता

इनके भतीजे श्रीअनिरुद्धकुमारजी जमींदार थे। एक बार मालगुजारीका रुपया वसूल न होनेके कारण उन्होंने रैयतोंको धमकाया और डाँटा। कुछ कहा-सुनी हो गयी। इसपर प्रजाके लोगोंने दुखी होकर उनके विरुद्ध फौजदारी कोर्टमें मामला कर दिया। मामला सच्चा था और उन लोगोंके पास काफी सबूत थे अतएव मामला कुछ संगीन हो गया। अनिरुद्धकुमारजीने अपने चचा लाला बलदेवसिंहजीसे सलाह पूछी। दोनों ओरके वकील-बैरिस्टर लोग मामलेको अपने-अपने पक्षपर खूब सजाकर लड़ रहे थे। लालाजीने अनिरुद्धकुमारजीको समझाया कि 'जिनको तुमने रैयत समझा और जिनके साथ ऐसा बर्ताव किया वे तो साक्षात् भगवान्के ही रूप हैं, सबमें परम पिताजीकी ज्योति ही प्रकाशित हो रही है। अथवा पता नहीं, उनके भीतर हमलोगोंके बाप-दादोंकी आत्मा ही आयी हुई है। तुमको उनसे माफी माँग लेनी चाहिये तथा उनका सत्कार-सम्मान करना चाहिये।' परंतु अनिरुद्धकुमारजीको यह बात पसंद नहीं आयी। इस स्थितिमें मामलेकी तारीखके दिन स्वयं लाला बलदेवसिंहजी कोर्टमें गये। इनको देखकर न्यायाधीशने इनका सम्मान किया और अपने समीप कुर्सीपर आदरसे बैठाया। दोनों ओरसे वकील-बैरिस्टर पैरवी कर रहे थे। इस बीच लालाजीने हाकिमसे कहा—'आपको इसमें व्यर्थ तकलीफ हो रही है। मैं जानता हूँ अज्ञानताके कारण अनिरुद्धकुमारसे भूल हुई है। इन लोगोंको अनिरुद्धकुमारने प्रजा समझा और अपना लगान वसूल करनेके लिये ऐसा बर्ताव किया। यह बड़े खेदकी बात है। जिनको ये रैयत समझते हैं, उनमें परम पिता परमात्माकी ही प्रत्यक्ष ज्योति है और न मालूम उनके भीतर हमारे ही बाप-दादोंकी आत्मा इस रूपमें आयी हुई है। इसलिये मेरी यह इच्छा है कि अनिरुद्धकुमार तुरंत प्रजासे माफी माँग लें और प्रजा इन्हें ऐसा उचित दण्ड दे, जिससे प्रजाकी आत्माको संतोष हो।'

यों कहकर वे उठकर नीचे आ गये और अनिरुद्धकुमारका हाथ पकड़कर प्रजाके सम्मुख ले गये और बोले—'हाथ जोड़कर इनसे माफी माँगो।' इतना सुनते ही प्रजाके सब लोग विह्वल हो गये और लालाजीके तथा अनिरुद्धकुमारजीके चरणोंपर गिरने लगे। लालाजीके इस बर्तावसे वे लोग आनन्द-गद्गद हो गये। मामला उसी समय कोर्टसे उठा

लिया गया। लालाजीने प्रजाके सब लोगोंको अनिरुद्धकुमार-जीसे गले लगाया। उनको परस्पर हृदयसे हृदय लगाकर मिलाया और प्रजाके लोगोंके लिये अपने यहाँ प्रीतिभोज कराया। सब ओर प्रसन्नता छा गयी। सारा वैमनस्य क्षणोंमें दूर हो गया और दोनों पक्ष अपनेको दोषी बताकर क्षमाप्रार्थी हो गये। कचहरी तथा सारे शहरमें यह बात फैल गयी। चारों ओर सद्भावनाका प्रसार हो गया। लोगोंको आश्चर्यमिश्रित अभूतपूर्व आनन्द मिला।

संन्यासी और ब्राह्मणका धनसे क्या सम्बन्ध ?

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

परम पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय पं० श्रीडूँगरदत्तजी महाराज बड़े ही उच्चकोटिके विद्वान्, परम त्यागी, तपस्वी, पूर्ण सदाचारी, कर्मकाण्डी, अनन्य भगवद्भक्त ब्राह्मण थे। मेरठके एक ग्राममें रहा करते थे। एक छोटी-सी संस्कृतकी पाठशाला थी, उसीमें आप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंके लड़कोंको संस्कृत पढ़ाया करते थे, पर लेते किसीसे एक पाई भी न थे। बिना माँगे कहीं किसीसे कुछ आ जाता तो उसीमें संतोष करते थे। भगवान्की कृपासे आपको धर्मपत्नी भी परम तपस्विनी और संतोषी मिली थी। दोनों-का सारा समय भगवान् शालिग्रामकी सेवामें व्यतीत होता था। आप किसीसे माँगते नहीं थे, इसलिये कभी-कभी कई दिनोंतक भोजन किये बिना रह जाना पड़ता था।

एक दिनकी बात है कि अकस्मात् एक दण्डी संन्यासी गाँवमें आ गये और उन्होंने आकर किसी कर्मकाण्डी ब्राह्मणका मकान पूछा। उन्हें भिक्षा करनी थी। लोगोंने पण्डित डूँगरदत्तजी महाराजका मकान बता दिया। स्वामीजी आपके पास आये। स्वामीजीको देखते ही पण्डितजी गद्गद हो गये और श्रीचरणोंमें सिर टेककर बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे बैठाया। भिक्षाकी प्रार्थना की। स्वामीजी तो भिक्षा करने आये ही थे। पण्डितजी घरमें गये और धर्मपत्नीसे स्वामीजीके लिये भिक्षा बनानेको कहा।

ब्राह्मणीने कहा—'नाथ! घरमें तो एक दाना भी नहीं है, भिक्षा कैसे बनेगी?' पण्डितजी बड़ी चिन्तामें पड़े। अन्तमें यह तय हुआ कि न माँगनेकी प्रतिज्ञा आज तोड़ी जाय और पड़ोसीके घरसे आटा ले आया जाय। ब्राह्मणी आटा-दाल ले आयी और भिक्षा तैयार हो गयी। दोनों कई दिनोंके भूखे थे, पर इन्हें अपनी चिन्ता नहीं थी। चिन्ता यह थी कि घरपर आये दण्डी संन्यासी कहीं भूखे न चले जायँ। पण्डितजीने भरसक प्रयत्न किया कि इस बातका तनिक भी स्वामीजीको पता न लगे। बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे रसोई तैयार हो जानेपर सबसे पहले श्रीठाकुरजी महाराजको भोग लगाया गया और फिर स्वामीजीको बड़े प्रेमसे भिक्षा करायी गयी। पर न जाने कैसे स्वामीजीको आपकी निर्धनताका पता लग गया और स्वामीजीने मन-ही-मन कहा कि 'देखो कितने बड़े उच्चकोटिके विद्वान् हैं, फिर भी इन्हें कई दिनों भूखों रह जाना पड़ता है और संतोष तथा त्याग इतना कि ये किसीको मालूम भी नहीं पड़ने देते।

स्वामीजीको पण्डितजीपर बड़ी दया आयी और उन्होंने पण्डितजीका दुःख-दारिद्र्य दूर करनेका निश्चय कर लिया। स्वामीजी रसायन बनाना जानते थे और आपके पास सोना भी था। आपने पण्डितजीको पास बैठाकर कहा कि 'पण्डितजी! मैं श्रीहरिद्वार जा रहा हूँ। आप अमुक दिन श्रीहरिद्वारमें जरूर आइये। मैं अमुक स्थानपर मिलूँगा।' पण्डितजी इस रहस्यको नहीं समझ सके और उन्होंने स्वामीजीकी आज्ञाका पालन करनेकी दृष्टिसे श्रीहरिद्वार जाना स्वीकार कर लिया। आप ठीक समयपर श्रीहरिद्वार पहुँच गये और स्वामीजीसे मिले। स्वामीजी आपको पाकर बड़े प्रसन्न हुए। अगले दिन स्वामीजी और पण्डितजी दोनों श्रीगङ्गास्नानके लिये गये और वहाँपर

पण्डितजीने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे शास्त्रानुसार स्नान-ध्यान किया। जब आप भजन-पूजनसे निवृत्त हो गये, तब स्वामीजीने पण्डितजीको अपने पास बुलाकर अपनी एक झोली निकाली और उसमेंसे आपने एक तो बहुमूल्य सुवर्णकी पाँच-सात तोलेकी मूर्ति निकाली और एक बड़ी सोनेकी डली निकाली तथा उसे हाथमें लेकर पण्डितजी महाराजसे कहा कि 'डूँगरदत्त! देखो यह सुवर्णकी मूर्ति है और यह कई तोले सुवर्णकी डली है; यह सब तुम ले लो। तुम बड़े निर्धन ब्राह्मण हो। इसीलिये मैंने तुम्हें बुलाया था। जाओ अब तुम्हें इतना माल दे दिया है, तुम्हारी सारी निर्धनता भाग जायगी।'

पण्डितजी महाराज स्वामीजीके हाथसे सब चीजें अपने हाथमें लेकर एकदम उठे और सीधे श्रीगङ्गाजीके अंदर गहरे जलमें जा पहुँचे। संन्यासीजी इस रहस्य-को न समझ सके। पण्डितजीने जाकर मन्त्र बोलते हुए उन बहुमूल्य मूर्तिको और सोनेकी डलीको एकदम जलमें बहा दिया और स्वयं बाहर निकल आये। आप-को इतने बड़े धनको न लेते प्रसन्नता हुई और न फेंकते दुःख हुआ।

जब स्वामीजीने यह देखा तो वे आश्चर्यमें डूब गये और उन्हें इस घटनासे महान् दुःख हुआ तथा उन्होंने क्रोधमें भरकर पण्डितजीको बड़ी डाँट-फटकार सुनाते हुए कहा—'अरे डूँगरदत्त! तूने यह क्या किया? हमने तुझे यह सब इस लिये नहीं दिया था कि तू इन्हें श्रीगङ्गाजीमें ले जाकर फेंक दे।'

पण्डितजीने हाथ जोड़कर नम्रतासे कहा—

पण्डितजी—महाराज! क्षमा करो तो बताऊँ?

स्वामीजी—बताओ।

पण्डितजी—महाराज! मैंने यह ठीक ही किया।

स्वामीजी—कैसे ठीक किया?

पण्डितजी—अपना भी कल्याण किया और आपका भी कल्याण किया।

स्वामीजी—अरे मेरे पास भी नहीं रहने दिया और अपने पास भी नहीं रहने दिया। क्या यही कल्याण किया?

पण्डितजी—जी हाँ महाराज, यही कल्याण किया।

स्वामीजी—कैसे?

पण्डितजी—महाराज! मेरा तो कल्याण इस लिये हुआ कि हम ब्राह्मणोंको भला धनसे क्या मतलब? हमारा धन तो तप ही है। इस तुच्छ धनमें फँसकर हम प्रभुको भूल जाते। और आपका कल्याण इसलिये हुआ कि शास्त्रोंमें संन्यासीके लिये द्रव्यका स्पर्श करना भी महान् पाप तथा निषिद्ध बतलाया है। इसलिये अब आपसे भी यह झंझट छूट गया। इस प्रकार मेरा और आपका दोनोंका ही कल्याण हो गया।

स्वामीजी महाराज तथा सैकड़ों दर्शनार्थी इस विलक्षण त्यागके दृश्यको देखकर चकित हो गये और दाँतोंतले अंगुली दबा गये तथा कहने लगे 'ऐसे कलिकालमें इस प्रकारके त्यागी ब्राह्मण मौजूद हैं। मैंने तो व्यर्थ ही संन्यास लिया। असली संन्यासी तो यही हैं। पण्डित डूँगरदत्तने वास्तवमें अपना और मेरा दोनोंका कल्याण किया। इनका कहना बिलकुल सत्य है। त्याग ही ब्राह्मण और संन्यासियोंका भूषण है।'

स्वप्नके पापका भीषण प्रायश्चित्त

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

परम संत श्रीबाबा वैष्णवदासजी महाराज बड़े ही उच्चकोटिके श्रीरामभक्त—संत थे। आपका सारा समय श्रीरामभजनमें व्यतीत होता था। जो भी दर्शनार्थी आपके पास आता, आप उसे किसी भी जीवको न सताने, सबपर दया करने, जीवमात्रको सुख पहुँचाने और श्रीरामभजन करनेके लिये उपदेश देते थे। आपके सत्सङ्गसे हजारों मनुष्योंने जीवोंकी हत्या करना, मांस-मछली, अंडे-मुर्गे खाना, किसीको सताना छोड़ दिया

था और श्रीरामभजन करना प्रारम्भ कर दिया था। श्रीहनुमान्‌जी महाराजकी प्रसन्नताके निमित्त आप बंदरोंको लड्डू खिलाते थे और मीठे रोटका भोग लगाते थे। आप मन, कर्म, वचन तीनोंसे किसीको न कभी सताते, न दुःख पहुँचाते थे। और सभीको इसी प्रकारका उपदेश दिया करते थे।

स्वप्नमें किये पापका प्रायश्चित्त—शरीरका त्याग

एक दिन नित्यकी भाँति जब भक्त आपके पास आये तो सबने देखा कि आज महात्माजीका चेहरा सदाकी भाँति प्रसन्न नहीं है। क्या कारण है, इसका कुछ पता नहीं है। एक भक्तने उन्हें उदास देखकर पूछा—

भक्त—महाराजजी! कुछ पूछना चाहता हूँ?

महात्माजी—पूछो!

भक्त—आज आप कुछ उदास-से प्रतीत होते हैं?

महात्माजी—हाँ, ठीक, बिल्कुल ठीक।

भक्त—महाराजजी! क्यों?

महात्माजी—हमसे आज एक घोर पाप हो गया।

भक्त—महाराज! क्या पाप हो गया?

महात्माजी—पूछो मत।

भक्त—पाप और आपसे हो गया। यह तो असम्भव है। बतलाइये, क्या हुआ?

महात्माजी—नहीं भैया! हो गया—बस हो गया, पूछो मत, घोर पाप हो गया?

भक्त—नहीं महाराज! बताना ही होगा।

महात्माजी—पाप ऐसा हुआ है कि जिसके कारण खाना, पीना, सोना सभी हराम हो गया है।

भक्त—महाराज! आखिर क्या पाप हो गया?

महात्माजी—आज रात्रिको हमने स्वप्न देखा और आगे मत पूछो भैया!

भक्त—नहीं महाराज, बताओ क्या हुआ?

महात्माजी—अरे भैया! हुआ क्या, स्वप्नमें हमसे घोर पाप बन गया जो कि महात्माओंसे नहीं होना चाहिये। स्वप्नमें देखा कि हमने स्वप्नमें अपने हाथोंसे किसी बंदरको मार डाला है। यही पाप अब हमें चैनसे नहीं बैठने दे रहा है। हाय! मुझसे स्वप्नमें बंदर मारा गया। मालूम होता है कि मुझसे श्रीहनुमान्‌जी महाराज अप्रसन्न हैं तभी तो मुझसे ऐसा घोर पाप हुआ।

भक्त—महाराज! आप चिन्ता न करें। यह तो स्वप्न है; स्वप्न दीखते ही रहते हैं।

महात्माजी—क्या मुझे ऐसे ही स्वप्न दीखने चाहिये थे? क्या अच्छे स्वप्न मेरे भाग्यमें नहीं लिखे थे। बंदर मारना तो घोर पाप है। इससे बढ़कर और घोर पाप क्या होगा? शास्त्रोंमें लिखा है कि यदि भूलसे भी बंदर मर जाय तो नरक जाय और जबतक पैदल चारों धामोंकी यात्रा न कर ले, पाप दूर नहीं होता। हाय! मुझसे स्वप्नमें बंदर मारा गया, बड़ा पाप हुआ।

भक्त—महाराज! आप स्वप्नकी बातोंमें व्यर्थ दुखी होते हैं।

महात्माजी—अरे, स्वप्नमें ऐसा घोर पाप होते देखना क्या उचित था?

भक्तोंने महात्माजीको खूब समझाया, पर महात्माजीका दुःख दूर नहीं हुआ। आपने स्वप्नमें बंदर मारे जानेके कारण खाना-पीना सब छोड़ दिया और दिन-रात श्रीहनुमान्‌जी महाराजसे क्षमा-प्रार्थना करनी प्रारम्भ कर दी। एक दिन भक्तोंने आकर देखा कि महात्माजीके शरीरपर कुछ मला हुआ है और आपके मुखसे श्रीराम-रामका उच्चारण हो रहा है और आपका शरीर जल रहा है। भक्त देखकर भागे पर महात्माजीने उन्हें पास आनेसे रोका और कहा 'वहीं रहो, मुझे न छूओ। मैं पापी हूँ, मैंने स्वप्नमें बंदर मार दिया है; अब मैं अपने पापोंका सहर्ष प्रायश्चित्त कर रहा हूँ। संत वह है जो स्वप्नमें भी किसी जीवको न सताये, किसीका जी न दुखाये।'

अजेय राम-सेवक—महावीर हनुमान्‌जी

भगवत्सेवक अजेय है

महावीर हनूमान्‌जी

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनूमान् शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥
अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्॥

—वाल्मीकीय रामायण सुन्दरकाण्ड ४२। ३३ से ३६

महावीर श्रीहनूमान्‌जी समुद्र-लङ्घन करके लङ्कामें पहुँच गये थे। उन्होंने अशोकवाटिकामें श्रीजानकीजीके दर्शन कर लिये थे और उनको श्रीराघवेन्द्रका कुशल-संवाद सुना दिया था। अब तो वे श्रीविदेहनन्दिनीकी अनुमति प्राप्त करके अशोकवाटिकामें पहुँच गये थे।

त्रिभुवनजयी राक्षसराज रावणकी परमप्रिय वाटिका ध्वस्त हो रही थी। वृक्षोंकी पंक्तियाँ धराशायी पड़ी थीं। तरुशाखाएँ छिन्न-भिन्न हो गयी थीं। जहाँ-तहाँ ठूँठ खड़े थे और उनके मध्य हेमाभ, पर्वताकारदेह, प्रचण्डमूर्ति श्रीपवनकुमार बार-बार हुंकार करते कूद रहे थे, गिराते-तोड़ते जा रहे थे वृक्षोंको। उपवनके रक्षकोंमें-से एक किसी प्रकार साहस करके आगे बढ़ा। कुछ दूरसे ही उसने पूछा—'निर्भीक कपि! तू कौन है?'

जैसे विशाल पर्वतके सम्मुख छोटा-सा भैंसा खड़ा हो। वृक्षोंसे भी ऊपर मस्तक उठाये केशरीकुमारके सम्मुख कुछ दूर खड़ा वह राक्षस—एक बार उसकी ओर देखा श्रीरामदूतने। वे स्थिर खड़े हो गये और उनकी भुवनघोषी हुंकार गूँज उठी—'अमित पराक्रम श्रीराघवेन्द्रकी जय! महाबलशाली कुमार लक्ष्मणकी जय! श्रीरघुनाथजीद्वारा रक्षित वानरराज सुग्रीवकी जय! मैं अद्भुतकर्मा कोसलेन्द्र श्रीरामका दूत हूँ। राक्षस! शत्रुसेनाके संहारक मुझ पवनपुत्रका नाम हनूमान् है। सुन ले भली प्रकार! पर्वतशिखरों और सहस्रों वृक्षोंसे मैं जब प्रहार करने लगूँगा, तब संग्राममें एक सहस्र रावण भी मेरा सामना नहीं कर सकेंगे। तुमलोग सावधान हो जाओ! इस उपवनको ही नहीं, पूरी लङ्कापुरीको चौपट करके, श्रीजानकीको प्रणाम करके, तुम सब राक्षसोंके देखते-देखते मैं अपना कार्य पूर्ण करके यहाँसे जाऊँगा।'

यह निर्भय गर्जना गर्वकी नहीं थी। यह थी अपने सर्वसमर्थ स्वामीके प्रति विश्वासकी अभय गर्जना। भुवनविजयी रावण देखता रह गया और उसकी लङ्का भस्म कर दी—अकेले हनूमान्‌ने भस्म कर दी। कैलासको उठा लेनेवाला रावण, महेन्द्रको बंदी बनानेवाला मेघनाद और सुरासुरजयी राक्षसवीर—सभी थे, सभी देखते रहे; किंतु किसीके किये कुछ नहीं हो सका। लङ्काको भस्म करके श्रीजनकनन्दिनीके चरणोंमें प्रणाम करके समस्त राक्षसोंके देखते-देखते हनूमान् सकुशल लौट गये। त्रिभुवनके स्वामीके सेवकको पराजित कर कौन सकता है? वह तो नित्य अजेय है।

दीनोंके प्रति आत्मीयता

(प्रेषक—श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल)

श्रीधाम पुरीके 'बड़े बाबाजी' सिद्ध श्रीरामरमणदास-जीके विद्यार्थी-जीवनका नाम राइचरण था। उस समय इनकी आयु दस-बारह वर्षकी थी। इस अवस्थामें आप सदैव परहितमें तत्पर रहते थे। एक दिन विद्यालयसे आते समय एक विद्यार्थीको बिना छातेके आता हुआ देखकर आपने अपना छाता उसे दे दिया और स्वयं धूपमें तपते घर आये। एक दिन एक व्यक्तिको वस्त्राभावसे जाड़ेमें कष्ट पाते देख आपने अत्यन्त आग्रहपूर्वक अपना मूल्यवान् शीतवस्त्र उसे दे दिया और स्वयं शीतसे काँपते हुए घर लौटे। माँसे डरकर कहा—'माँ, मेरी अलवान कहीं खो गयी।' माँ कनकसुन्दरी दुःख करने लगी। इसपर उनके कुछ साथियोंने कहा कि 'नहीं माँ! राइचरण झूठ बोल रहा है, कल स्कूलसे आते समय एक गरीबको जाड़ेसे काँपते देखकर यह अपनी अलवान उसे दे आया है।' यह सुनकर देवी कनकसुन्दरी हँसकर कहने लगी—'अच्छा! गरीबको दे आया, बहुत अच्छा किया। माँ जगदम्बा तुझे और देंगी।' माता और पुत्रके इस व्यवहारको देखकर सभी अवाक् रह गये। जैसी दयामयी माँ, वैसा ही दयार्द्रहृदय बेटा।

एक दिन राइचरणने देखा कि एक वृद्ध बाजारसे लौटते समय ज्वराक्रान्त हो गया है। वह दाल-चावलादि सामान बाजारसे खरीदकर घर ले जा रहा था। अब वह उस सामानको लेकर घर जानेमें असमर्थ है। आपने शीघ्रतासे उसका गट्ठर उठाकर अपने सिरपर रख लिया और उसके घर ले जाने लगे। वह भय एवं संकोचसे कहने लगा—'बाबूजी! आप मेरा बोझ अपने सिरपर न रक्खें, मैं तो नीच जाति धोबी हूँ।' आपने उत्तर दिया—'तुम कोई भी क्यों न हो, परिचयसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं। इस समय तुम पीड़ित हो, चलो, तुम्हें घर पहुँचा दूँ।' वृद्धको पहुँचाकर घर लौटनेमें इन्हें देर हुई, स्नेहमयी माँ रोने लगीं। कुछ समय पश्चात् जब आप घर पहुँचे तो बात सुनकर माता आनन्दमग्न हो गयीं।

संस्कृत-हिंदीको छोड़कर अन्य भाषाका कोई भी शब्द न बोलनेका नियम

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

पूज्यपाद गोस्वामी श्रीगुल्लूजी देववाणी—संस्कृत, हिंदी या व्रजभाषाको छोड़कर दूसरी भाषाका एक शब्द भी नहीं बोलते थे। उन्होंने एक दिन सुना कि उनके पुत्र गोस्वामी श्रीराधाचरण अंग्रेजी पढ़ रहे हैं, तब आपने उन्हें अपने पास बुलाया और बहुत समझाया। एक बार आप श्रीसाहूजी साहेब श्रीललितकिशोरीजीसे मिले थे। बातों-ही-बातोंमें बंदूकका प्रसङ्ग सामने आ गया। आपका कड़ा नियम था कि संस्कृत और व्रजभाषाको छोड़कर एक शब्द भी नहीं बोलूँगा। आपने बंदूक चलानेका वर्णन इस प्रकार व्रजभाषामें किया—

—'लौहनलिकामें श्याम चूर्ण प्रवेश करिके अग्नि दीनी तो भड़ाम शब्द भयौ।'

गो-ब्राह्मण-भक्ति

स्वर्गीय धार्मिक नरेश परम भक्त महाराज प्रतापसिंहजी काश्मीरके जीवनकी घटनाएँ

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

स्वर्गीय काश्मीरनरेश महाराज प्रतापसिंहजी बड़े ही कट्टर आस्तिक, धर्मपरायण तथा गो-ब्राह्मणोंके अनन्य भक्त थे। ब्राह्मणोंको देखते ही खड़े हो जाते थे और उनका बड़ा आदर-सम्मान करते थे। आपके यहाँ सैकड़ों ब्राह्मण रहा करते थे। कोई विद्वान् ब्राह्मण रुद्रीका पाठ करते, तो कोई चण्डीका पारायण; कोई लक्ष्मीका पठन करते तो कोई जप-अनुष्ठान, कोई पूजा-अर्चना तो कोई वेदपाठी ब्राह्मण वेदपाठ करते। आप प्रतिदिन बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे ब्राह्मण-भोजन कराते थे और हर महीने उन्हें दान-दक्षिणा देकर प्रसन्न करते थे। एक बार जब आपसे घरवालोंने कहा कि 'महाराज! आपने इन सैकड़ों ब्राह्मणोंका खर्च व्यर्थ ही क्यों बाँध रक्खा है, इससे क्या लाभ है?' यह सुनकर आपको बड़ा दुःख हुआ और आपने उन्हें उत्तर दिया कि 'भाई! देखो बहुतसे राजा-नवाब विलास तथा दुराचारमें धन तथा जीवन बिता रहे हैं? उनसे तो हमारा यह कार्य लाखोंगुना अच्छा है जो हमें पूज्य ब्राह्मणोंके नित्यप्रति दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है और उनके द्वारा पूजा-पाठ करानेसे हमारा जन्म सफल हो रहा है। वेदध्वनि, वेदपाठ, देव-पूजा आदिके कारण देश सुख-शान्तिकी ओर जा रहा है। यह व्यर्थ खर्च नहीं है बल्कि इसीमें धनकी सार्थकता है।' यह सुनकर सब शान्त हो गये।

गोमाताके भी आप ऐसे अनन्य भक्त थे कि आपकी रियासतमें अस्सी प्रतिशत मुसल्मान होनेपर भी गोवध सर्वथा निषिद्ध था। गायें निर्भय होकर विचरा करती थीं। महाराजको चलते समय रास्तेमें यदि गाय मिल जाती थी तो आप गायको बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे सिर झुकाते थे और दाहिनी ओर लेते थे। एक बार आप जा रहे थे तो आगे रास्तेमें कहीं गाय बैठी थी, नौकरोंने दौड़कर गायको उठा दिया ताकि महाराजके लिये रास्ता साफ हो जाय। आपने उस नौकरको बड़े जोरसे डाँटकर कहा कि 'आनन्दसे बैठी गोमाताको कष्ट पहुँचाना बड़ा अपराध है। इससे बढ़कर और क्या पाप होगा? जिस गोमाताकी रक्षाके लिये परमात्मा श्रीकृष्ण अवतार लेकर आते हैं और नंगे पाँव उन्हें चराते जंगल-जंगल भटकते हैं, उसी गोमाताको मेरे लिये कष्ट पहुँचाना बड़ा पाप है। हम क्षत्रियोंका जन्म गोसेवाके लिये हुआ है, गोमाताको कष्ट पहुँचानेके लिये नहीं। आगेको भूलसे भी ऐसा किया तो दण्ड दिया जायगा।'

आजादकी अद्भुत जितेन्द्रियता

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

सुप्रसिद्ध महान् देशभक्त क्रान्तिकारी तरुण वीर चन्द्रशेखर आजाद बड़े ही दृढ़प्रतिज्ञ थे। हर समय आपके गलेमें यज्ञोपवीत, जेबमें गीता और पिस्तौल साथ रहा करती थी। आप कट्टर आस्तिक, ईश्वरपरायण, सदाचारी, ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय और संयमी थे। व्यभिचारियोंको बड़ी घृणाकी दृष्टिसे देखा करते थे और कहा करते थे कि जो कामी कुत्ता है और परस्त्रीगामी है, वह न तो देश-जातिकी सेवा कर सकता है और न अपना ही उत्थान कर सकता है। आप चाहते थे कि भारतमें एक भी व्यभिचारी पुरुष न रहे और एक भी व्यभिचारिणी स्त्री न हो। जहाँ भी किसीने आपके सामने तनिक भी स्त्रीका प्रसङ्ग चलाया

तो आप आपत्ति किये बिना नहीं रहते थे और आप कहा करते थे कि स्त्रीसे दूर रहनेमें ही देशभक्तका कल्याण है।

एक बार आप अपने एक मित्र महानुभावके यहाँ ठहरे हुए थे। उनकी नवयुवती कन्याने उन्हें काम-जालमें फाँसना चाहा, आजादजीने डाँटकर उत्तर दिया 'इस बार तुम्हें क्षमा करता हूँ, भविष्यमें ऐसा हुआ तो गोलीसे उड़ा दूँगा।' यह बात आपने उसके पिताको भी बता दी और भविष्यमें उनके यहाँ ठहरना तक बंद कर दिया।

आपके पास क्रान्तिकारी दलके हजारों रुपये भी रहते थे; परंतु उसमेंसे अपनी कराहती माँको भी कभी एक पैसा आपने नहीं दिया। जब किसीने इस सम्बन्धमें उनसे कहा तो आपने उत्तर दिया 'यह पैसा मेरा नहीं, राष्ट्रका है। चन्द्रशेखर इसमेंसे एक भी पैसा व्यक्तिगत कार्योंमें नहीं लगा सकता।'

सिगरेट आपकी तो उसका धुआँ किसका ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीप्रेमपुरीजी)

एक बार कैलासाश्रम ऋषिकेशसे ब्रह्मलीन महात्मा स्वामीजी श्रीप्रकाशानन्दपुरीजी होशियारपुरसे हरद्वार पधार रहे थे। रेलके अम्बाला छावनी स्टेशनपर खड़ी होते ही तीन-चार पहलवान सेवकोंके साथ एक नव-शिक्षित युवक धूम्रपान करता हुआ स्वामीजीवाले डिब्बेमें चढ़ा। जिन नाक, आँख, मुखको प्रथम कभी सिगरेटके धुएँका परिचय नहीं था, उनको इससे बड़ा कष्ट हुआ। परंतु उस अल्हड़ युवकसे कुछ कहना तो दूर रहा, उसकी ओर झाँकनेकी भी हिम्मत किसीकी न हो सकी। यह करुण दृश्य स्वामीजीसे नहीं देखा जा सका। उन्होंने युवकसे कहा—'आप नीचे प्लेटफॉर्मपर उतरकर धूम्रपान करें।' युवक—'क्यों? हम क्यों नीचे उतरें? हमारा सिगरेट पीना जो सहन न कर सकता हो, वही उतर जाय।' स्वामीजी—'आप देख रहे हैं कि आपके अतिरिक्त अन्य किसीको भी सहन नहीं हो रहा है, ऐसी दशामें सबके उतरनेकी अपेक्षा अकेले आपको ही यह कष्ट करना उचित है।'

युवक—'सिगरेट हमारी है, हम पी रहे हैं, इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ता है? अपनी चीजका उपयोग करनेमें हम स्वतन्त्र हैं, हमें नीचे उतारनेका तुम्हें क्या अधिकार है? हाँ, तुमसे न सहा जाता हो तो लो हमसे सिगरेट लो और तुम भी पियो।' स्वामीजी शान्त, सौम्य, परंतु प्रभावोत्पादक ढंगसे बोले—'जो कुछ बिगड़ रहा है वह तो सबके सामने है, इस बीभत्स धूमसे अनभ्यस्त इन बच्चे एवं माताओंकी मुखमुद्रा तो देखिये। आप स्वतन्त्र हैं, ईश्वरके अनुग्रहसे पूर्ण स्वतन्त्र बने रहें; किंतु स्वच्छन्दी बनकर दूसरोंकी स्वतन्त्रताका विघात न करें। हम-आप सभी भारतीय हैं, इस नाते आपसे उपर्युक्त निवेदन करनेका हमें पूरा अधिकार है। आप हमें सिगरेट भेंट कर रहे हैं यह आपकी उदारता है, आप और भी उदार बनें, किंतु उड़ाऊ (दूसरोंके मुखपर धुआँ उड़ानेवाले) मत बनें। सिगरेट आपकी है तो उसका धुआँ किसका है? वह भी आपका ही होना चाहिये। आप अपनी सिगरेट अपने ही मुखमें रक्खें और उसके धुएँको भी अपने ही मुखमें छिपाये रक्खें।'

युवकको कुछ प्रभावित हुआ-सा देख स्वामीजी और भी अधिक उत्साहसे उसे उपदेश देने लगे—'मैं आपसे सिगरेटकी आशा नहीं रखता, प्रत्युत इस विनाशकारी व्यसनको सदाके लिये

छोड़ देनेकी आशा अवश्य रखता हूँ, मुझे आप कुछ देना चाहते हैं तो यही दीजिये। युवक तो आप हैं ही, कुलीन भी मालूम होते हैं; किंतु आपके मुखपर यौवनकी आभा कहाँ है? इस सत्यानाशी व्यसनने सब नष्ट कर डाला है। शरीरका स्वास्थ्य अमूल्य है, मनके स्वास्थ्यका महत्त्व इससे भी कहीं अधिक है, सिगरेट दोनोंको चौपट कर देती है। मानवसे दानव बना डालनेवाले व्यसनमें मनुष्य जितना आसक्त रहता है उतना ही आसक्त वह यदि व्यसनियोंके भी जीवनदाता प्रभुमें रह सके तो दानवसे देव बन जाता है।'

युवक ध्यानसे सुन रहा था, अतः स्वामीजीने प्रसन्नतापूर्वक अपना वक्तव्य चालू रक्खा—'हम अपने जीवनकी लम्बाईको यद्यपि नहीं बढ़ा सकते, तथापि उसकी चौड़ाई, गहराई एवं ऊँचाईको अवश्य बढ़ा सकते हैं और इसके लिये जीवनको दुर्व्यसनोंसे ऊपर उठाना आवश्यक है। निर्मल वस्तुके संसर्गसे हमें निर्मलताका अनुभव नहीं होता, परंतु मलिन वस्तुके तो स्पर्शमात्रसे ही मलिनताका चेप प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाया करता है। शुभ संस्कार सहसा नहीं पड़ते, अशुभ अभ्यास सहज ही हो जाता है। कपड़ेपर दाग लगनेमें देर नहीं लगती, देर लगती है दागके छुड़ानेमें। उसके लिये खर्च तथा परिश्रम भी करना पड़ता है, इतनेपर भी सम्भव है, दाग सर्वथा साफ न हो, थोड़ा-बहुत धब्बा रह जाय। अपने जीवनकी भी यही दशा है। जीवनको कलङ्कित करनेवाले व्यसनके लग जानेकी आशङ्का पद-पदपर रहती है, अतः सदा सावधान रहना उचित है, असावधानीसे भी एक बार व्यसन लग गया तो फिर घोर परिश्रमके बिना उसका छूटना असम्भव है। दीर्घकालका व्यसन स्वभाव बन जाता है और स्वभाव (भला या बुरा, जैसा भी हो) सुदृढ़ हो जाता है। तात्पर्य कि व्यसनको शीघ्रातिशीघ्र छोड़नेके प्रयत्नमें तन-मनसे तत्पर हो जाना चाहिये। सुखकी आशा अथवा दुःखके डरसे हम समझमें न आनेवाली और विचार करनेपर असत्य प्रतीत होनेवाली मान्यताओंको तो जोरसे पकड़े रहते हैं और सत्यको छूनेमें भी सकुचाते हैं। आप तो निःस्पृह एवं निडर मालूम देते हैं, यही नहीं, सौम्य एवं सुज्ञ भी प्रतीत होते हैं। मेरी बातें आपने ध्यानसे सुनी हैं, यदि हितकर जँची हों तो इनपर अभीसे अमल शुरू होना चाहिये और इस दुराग्रही दुर्व्यसनका त्याग करनेकी हिम्मत करनी चाहिये। बस, यही भिक्षा मैं आपसे चाहता हूँ। परम दयानिधान परमात्मा आपको सद्बुद्धि दें, शक्ति दें, साहस दें।'

युवकका संस्कारी हृदय पुकार उठा,—'दूँगा, दूँगा, स्वामीजीको मनचाही भिक्षा अवश्य दूँगा।' उसने सिगरेटका डिब्बा फेंक दिया और सबके सामने ही स्वामीजीके चरण पकड़कर प्रतिज्ञा की 'भगवन्! मर जाना कबूल, पर सिगरेट पीना हराम है।' खानदानी, श्रद्धालु तथा युवा हृदय स्वामीके उपदेशामृतसे प्रभावित था।

कर सौं तलवार गहौ जगदंबा

जीवन मिश्र नामके एक पण्डित थे। वे देवीके भक्त थे। एक दिन वे कहींसे देवीकी पूजा करवाके आ रहे थे। उनके पास बहुत रुपये थे। रास्तेमें उनको चोरोंने घेर लिया और कहा—'तुम्हारे पास जो कुछ है सब दे दो, नहीं तो, हम तुमको मार डालेंगे।' तब जीवन मिश्रने कहा—

'जग जीवन जानि पुकारि कहै कर सौं तलवार गहौ जगदंबा।'

उसी समय एक बिल्कुल नंगी स्त्री हाथमें तलवार लिये वहाँ आयी और चोरोंसे सब धन जीवन मिश्रको दिलवा दिया तथा चोर अंधे हो गये। कुछ दिनों बाद जब चोरोंने जीवन मिश्रकी बहुत खुशामद की, तब उनकी आँखें ठीक हुईं।

जीव ब्रह्म कैसे होता है

(लेखक—श्रीयोगेश्वरजी त्रिपाठी, बी० ए०)

बाबा श्रीभास्करानन्दजी अपनी गङ्गातटकी कुटियामें बैठे भगवन्नामका जप कर रहे थे। सहसा आहट पाकर उनकी दृष्टि सामनेकी ओर गयी। बोले—'आओ, माधवदास! कैसे आ गये?'

अभिवादनादिके बाद बैठकर माधवदासने विनम्र भावसे पूछा—'महाराजजी! क्या कभी जीव ब्रह्मके पदको प्राप्त कर सकता है? यदि कर सकता है तो कैसे?'

बाबाजीने कहा—कमरेकी दीवाल टूटनेसे जैसे कमरेका आकाश बाहरके आकाशसे मिलकर एक हो जाता है, वह है तो एक अब भी, परंतु दीवालके कारण अलग मानता है। वैसे ही मायारूपी दीवालके हट जानेपर जीव ब्रह्म हो जाता है। अथवा यों समझो कि एक छोटा घड़ा, जिसमें थोड़ा जल है, नदीमें बहता जा रहा है, घड़ा फूट जाता है तो घड़ेका जल नदीके जलमें मिलकर एक हो जाता है, है तो जल अपनी जातिसे एक ही, पर घड़ेके कारण अलग दीखता है, वैसे ही मायारूपी घड़ेके फूट जानेपर जीव ब्रह्ममें मिल जाता है।

न समझमें आया हो तो जाओ भीतरसे लोहेकी डिबिया उठा लाओ। आज्ञा पाते ही माधवदास अंदरसे डिबिया ले आये और बाबाजीसे पूछने लगे—'इसमें क्या है?'

बाबाजी बोले—इसमें पारसकी बटिया है।

माधवदासके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, उन्होंने पूछा—'महाराज! मैंने तो सुन रक्खा है कि पारसके स्पर्शसे लोहा सोना हो जाता है, फिर यह लोहेकी डिबिया लोहेकी ही कैसे रह गयी?'

'समझ जाओगे भैया! जरा इसे खोलो तो' बाबाजीने कहा। माधवदासने तुरंत डिबिया खोली, देखा कि कोई वस्तु पतली कागजकी झिल्लीमें लपेटी रक्खी है।

बाबाजी बोले—'भैया! इस कागजकी झिल्लीको निकालकर बटियाको डिबियामें रख दो।' आज्ञा पाकर माधवदासने ऐसा ही किया और डिबिया सोनेकी हो गयी। बाबा भास्करानन्दजीने कहा—देखो—लोहेकी डिबियामें पारस था, पर कागजकी झिल्लीका व्यवधान बीचमें था। पारसका स्पर्श नहीं हो पाता था। इसीसे लोहा लोहा बना रहा। इसी प्रकार यह पतली-सी माया है जिसने स्वरूपतः एक होनेपर भी ब्रह्मसे जीवको अलग कर रक्खा है। माया हटते ही जीव ब्रह्म हो जाता है।

भगवत्-प्रेम

एक समयकी बात है। महात्मा ईसा अपने शिष्योंसे घिरे हुए एक स्थानपर विश्राम कर रहे थे। कुछ देर पहले उपदेश देकर कहीं बाहरसे आये हुए थे।

कुछ शिष्ट महिलाएँ उनके दर्शनके लिये आ पहुँचीं। शिष्योंने उनको महात्मा ईसाके पास जानेसे रोक दिया। उनकी गोदमें भोले-भाले नन्हे बच्चे थे।

'उन्हें मेरे पास आने दो। ये बच्चे स्मरण दिलाते हैं कि ईश्वरके प्रेमराज्यमें आनेके लिये इन्हींके समान सीधा-सादा और भोला-भाला बन जाना चाहिये। ये भगवत्प्रेमकी निर्मल मूर्ति हैं।' महात्मा ईसाने बच्चोंको गोदमें ले लिया और अपने स्नेहामृतसे उन्हें धन्य करने लगे।

'परमात्मा प्रेम हैं। उनके दिव्य राज्यमें—भक्ति साम्राज्यमें प्रवेश करनेका साधन प्रेम, केवल प्रेम है। बच्चेके समान सीधे-सादे निष्कपट हृदयसे भगवत्प्रेमकी आराधना करनी चाहिये।' महात्मा ईसाने शिष्योंको भगवत्प्रेमका रहस्य समझाया। —रा० श्री०

पड़ोसी कौन ?

एक बार कोई वकील ईसामसीहके पास आया और कहने लगा—'प्रभो ! मुझे अमरत्व-प्राप्तिके लिये क्या करना होगा ?' ईसाने कहा—'तुम्हारे कानूनमें क्या लिखा है ?' वकीलने उत्तर दिया—'प्रभो ! कानूनमें तो यह लिखा है कि हमें भगवान्‌को हृदयसे सर्वात्मना प्रेम करना चाहिये । तन, मन, शक्ति, जीवन सबको भगवान्‌में लगा देना चाहिये और अपने पड़ोसी इष्ट-मित्रोंको भी भगवान्‌से सम्बद्ध कर देना चाहिये ।'

ईसाने कहा—'बिल्कुल ठीक तो कहा । बस, तुम इसीका आचरण करो और तुम अपनेको नित्य सनातन अध्यात्म-जीवनमें प्रविष्ट समझो ।'

'पर पड़ोसी मेरा कौन है ?'—वकीलने ठीक-ठीक समझना चाहा ।

ईसा बोले—'देखो ! एक व्यक्ति जेरुसल्मसे जेरिको जा रहा था । बीचमें उसे कुछ चोर मिल गये । उन्होंने उसका सारा धन छीन लिया तथा वे उसे मार-पीटकर अधमरी स्थितिमें छोड़कर चलते बने । संयोग-वश उधरसे एक पादरी आया । उसने उस व्यक्तिको वहाँ पड़े देखा और देखकर वह एक ओर किनारे खिसक गया । इसी प्रकार एक दूसरा छोटा पादरी आया और वह भी उसे देखकर एक ओर चलता बना ।

पर उसी रास्तेसे एक समरियाका यात्री भी जा रहा था । उसने उस आहत व्यक्तिको देखा । उसे उस-पर दया आयी, उसने उसके पास जाकर घावोंकी मरहम-पट्टी की । उसे कंधेपर टाँगकर एक धर्मशालामें पहुँचाया और उसकी सेवा-शुश्रूषा की । दूसरे दिन जब वह जाने लगा, तब धर्मशालावालोंसे कहता गया—'देखो, तुमलोग इसका ध्यान रखना । इसकी सेवामें तुम्हारा जो कुछ व्यय होगा, मैं लौटकर तुम लोगोंको चुका दूँगा ।'

'अब कहो इन तीनोंमेंसे उस घायल आदमीका सगा पड़ोसी कौन हुआ, दोनों पादरी या वह अपरिचित यात्री ?'

'वह अपरिचित, जिसने उसपर दया दिखलायी ।' वकील बोला ।

'तो बस, तुम भी इसे समझकर वैसा ही आचरण करो, वैसे ही बनो ।'—जा० श०

दर्शनकी पिपासा

महात्मा ईसाने जेरिको नगरमें प्रवेश किया । क्षण-मात्रमें उनके दर्शन और उपदेश-श्रवणके लिये एक बड़ी भीड़ एकत्र हो गयी । महात्मा ईसा राजपथपर आगे बढ़ने लगे और भीड़ उनके पीछे थी ।

'मैं महात्माका दर्शन अवश्य करूँगा । मुझे इस दर्शनसे कोई नहीं रोक सकता है । यह सच बात है कि महात्माओंके दर्शनसे कल्याण होता है ।' नगरका शुल्क-आदाता जैकियस सोच रहा था । महात्माके दर्शन-की प्यास बढ़ रही थी । भीड़ निकट आ गयी; महात्मा ईसा भीड़से इस तरह घिरे थे कि उनका दर्शन उसके लिये कठिन हो गया । उसका कद (आकार) भी नाटा था । पर अचानक उसने उपाय सोच लिया ।

राजपथपर ही थोड़ी दूरपर अंजीरका एक वृक्ष था । जैकियस दौड़कर उसपर चढ़ गया । वह बैठने ही जा रहा था कि जनसमूह आ पहुँचा । अचानक भीड़ वृक्षके नीचे ही रुक गयी । शुल्क-आदाता (टैक्स कलक्टर) को बड़ा आश्चर्य हुआ जब महात्मा ईसाने

उसका नाम लेकर नीचे आनेको कहा ।

'जैक्रियस ! शीघ्र नीचे उतरो । आज मैं तुम्हारे घरपर निवास करूँगा ।' महात्मा ईसाने उसके सद्भावपर प्रसन्नता प्रकट की । जैकियसकी दर्शनकी प्यास निवृत्त हो गयी और उसने अपने-आपको धन्य माना ।

—रा० श्री०

परमात्मामें विश्वास

'वीर सैनिक ! घूम जाओ, आगे बढ़नेपर प्राण चले जायँगे ।' राजकन्याने घोड़ेके सवारको सावधान किया । वह सुन्दर-से-सुन्दर वस्त्र पहने समुद्रतटपर किसीकी प्रतीक्षा कर रही थी ।

'परमात्मामें विश्वास रखनेवाला, उनकी कृपापर निर्भर रहनेवाला किसीसे भी नहीं डरता, मृत्यु भी उसके सामने आनेमें संकोच करती है ।' सैनिक आगे बढ़ आया; उसके हाथमें तलवार और भाला था ।

राजकन्या उसे देखकर आपादमस्तक सिहर उठी । पीछे कुछ दूरसे लोग जोर-जोरसे चिल्ला रहे थे; वे दल-दलवाली पहाड़ीपर बने नगरके प्राचीरपर खड़े होकर समुद्रकी ओर देख रहे थे ।

'इस समुद्रमेंसे अभी कुछ ही क्षणोंमें एक काला नाग निकलनेवाला है । समुद्रकी नीली-नीली तरङ्गोंका रंग काला होता जा रहा है । इस नागने अनेक बार हमारे नगरमें प्रवेशकर अनेक पशु-पक्षी और प्राणियोंका प्राणान्त कर डाला है । प्रत्येक वर्ष एक कुमारी इसकी पूजाके लिये इस स्थानपर उपस्थित होती है और नाग उसका भक्षण करता है । यदि नगरकी ओरसे उसे पूजा नहीं मिलती है तो वह नित्य नगरमें प्रवेश कर उत्पात करता है ।' राजकन्या शबराने अपनी उपस्थिति-का कारण बताया ।

'तुमलोग भगवान्‌को नहीं मानते हो इसीसे यह उत्पात हो रहा है । भगवद्भक्तोंका इन विषैले पदार्थोंसे कोई अमङ्गल नहीं हो सकता ।' इंगलैंडकी राज-कन्याका सैनिक जार्जने समाधान किया ।

समुद्रकी उत्ताल तरङ्गें फेनिल हो उठीं और भयंकर नाग विष-वमन करता हुआ समुद्रतटपर आ गया । उसके मुखसे विकराल ज्वाला निकल रही थी । नागने जार्जपर आक्रमण किया । जार्जने भाला चलाया, पर उसके हजार टुकड़े हो गये । वीर जार्ज शान्त चित्तसे भगवान्‌की प्रार्थना करने लगे । नागकी शक्ति कुण्ठित हो गयी । भगवान्‌के भक्तने उसे अपने वशमें कर लिया ।

शबरा और जार्ज नगरकी ओर बढ़ने लगे और नाग शान्तिसे उनके पीछे-पीछे चलने लगा । बाजारमें पहुँचते ही लोग नागको देखकर इधर-उधर भागने लगे ।

'भाई ! डरनेकी बात ही नहीं है । परमात्माकी शक्तिमें विश्वास करो; परमात्माकी भक्ति प्रदान करनेके लिये ही मैंने नागको अपने पीछे-पीछे आनेकी प्रेरणा दी है ।'—जार्जने राजधानीके लोगोंमें परमात्माके प्रति विश्वास पैदा किया । वे ईश्वर-विश्वासीके सम्पर्कसे आस्तिक हो गये । संत जार्जके जीवनकी यह एक महान् घटना कही जाती है ।—रा० श्री०

विश्वासकी शक्ति

साइमन नामक एक प्रेमी व्यक्तिने महात्मा ईसामसीहको भोजनके लिये अपने घर निमन्त्रित किया ।

एक नगर-महिलाने साइमनके घरमें प्रवेश किया । उसने महात्मा ईसाके चरण पकड़ लिये; धोकर उनपर तेल मलना आरम्भ किया । उसके नेत्रोंसे अश्रु झरने लगे । साइमन महिलाकी उपस्थितिसे आश्चर्य-चकित हो गया । मैगडलनके दुश्चरित्रसे नगरका बच्चा-बच्चा परिचित था । लोग उससे घृणा करते थे ।

साइमनने सोचा कि यदि ईसा भगवान्‌के दूत होंगे तो मैगडलनको पापिनी समझकर उसे अपने सामनेसे हटा देंगे।

'मुझे तुमसे कुछ कहना है साइमन !' महात्मा ईसाके शब्द थे। उनके चरणोंको मैगडलनके अश्रुकण श्रद्धापूर्वक धो रहे थे। ईसाके इतना कहते ही वातावरण-में अद्भुत शान्ति छा गयी।

'अवश्य कृपा कीजिये।' साइमनने आदर प्रकट किया।

एक महाजनसे दो व्यक्तियोंने क्रमशः पाँच सौ पेंस और पचास पेंसका ऋण लिया था। जब उनके पास ऋण भरनेके लिये कुछ भी नहीं रह गया, तब महाजनने दोनोंको ऋणमुक्त कर दिया। क्षमा प्रदान की। बताओ तो उनमेंसे कौन व्यक्ति उसे अधिक चाहेगा ?' ईसाका प्रश्न था।

'मेरा अनुमान है कि जिसपर उसने अधिक कृपा की वही महाजनको विशेषरूपसे चाहेगा।' साइमनका निवेदन था।

'तुमने ठीक कहा।' महात्मा ईसाने साइमनकी प्रशंसा की और मैगडलनकी ओर पहले-पहल दृष्टिपात किया।

'साइमन ! तुम देखते हो इस महिलाको। मैंने तुम्हारे घरमें प्रवेश किया; तुमने मेरे चरणोंके लिये पानी नहीं दिया, पर इस पवित्र देवीने अपने अश्रुओंसे मेरे चरण धोये और केशोंसे पोंछ दिये। तुमने मेरे सिरपर तेलतक नहीं रक्खा, पर इसने मेरे पैरोंकी तेलसे मालिश की। मेरी थकावट दूर की। मैं तुमसे निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि इसके पाप, जो अनेक थे, इस श्रद्धामयी और पवित्र तथा निष्काम सेवासे धुल गये। इसके पाप क्षमा कर दिये गये। इसने अधिक प्रेम प्रकट किया।' ईसाने साइमनकी शङ्का-निवृत्ति की।

'तुम्हारे पाप क्षमा कर दिये गये।' ईसाने मैगडलनको आश्वासन दिया।

'इन्हें दूसरोंके पाप क्षमा करनेकी शक्ति कहाँ है ?' उपस्थित भीड़ने शान्ति भङ्ग की।

मैगडलन रो रही थी। उसके हृदयके पश्चात्तापका प्रपात नयनोंसे प्रवाहित हो रहा था।

'तुम्हारा यह विश्वास कि संत और महात्माकी सेवासे पाप नष्ट हो जायँगे, सफल हुआ। विश्वासमें बड़ी शक्ति होती है। यह सत्यकी शक्ति है; इससे परमात्मा मिल जाते हैं।' ईसाने मैगडलनको अपने कृपामृतसे परम पवित्र कर दिया। —रा० श्री०

दीनताका वरण

संत फ्रांसिसके जीवनकी बात है। इटलीके अस्सीसाई नगरमें अपनी युवावस्थाके दिन उन्होंने राग-रंग और आमोद-प्रमोदमें बिताये। धनियोंके लड़कोंके साथ वे कपड़े पहनने और विलासपूर्ण ढंगसे रहनेमें होड़ लगाया करते थे। एक दिन उनके जीवनमें विचित्र परिवर्तन हुआ।

उन्होंने अपने रेशमी कपड़े फाड़ डाले और चीथड़े पहनकर वे घर गये।

'फ्रांसिस ! तुमने कैसा रूप बना लिया है ? इस पागलपनका अर्थ क्या है ?' पिताने क्रोध प्रकट किया।

'पिताजी ! मैं पागल नहीं हूँ। यदि आप मुझे पागल ही समझते हैं तो यह आपकी बड़ी कृपा है। मुझे इस जीवनसे संतोष है। मेरी अन्तरात्माने मुझे दीनता-को वरण करनेके लिये विवश किया है। मैंने उसका पाणिग्रहण किया है। वह मुझे भगवान्‌से मिला देगी।' फ्रांसिसका उत्तर था।

'तुम्हें अस्सीसाईके लोग गाली देते हैं; कल जो तुम्हारे साथ थे, वे ही मित्र आज तुमपर ढेले बरसाते

हैं; धूलि और कीचड़ फेंकते हैं। समझदारीसे काम लो फ्रांसिस! हमलोग कहींके न रह जायँगे।' पिताने पुत्रको बड़े स्नेहसे देखा।

'पिताजी! आप गलत सोच रहे हैं। मेरा जीवन भगवान्के चिन्तनसे धन्य हो रहा है। दीनता-सुन्दरीकी शक्ति अपार है। उसका सहारा लेनेपर—हाथ पकड़नेपर भगवान्की कृपा मिलती ही है। हमलोगोंका सम्मान बढ़ गया दूसरोंकी दृष्टिमें। हमें ईश्वरद्वारा निर्मित प्रत्येक वस्तुसे प्रेम करना चाहिये। भगवान् सबके रक्षक हैं। उनकी शरणमें जानेपर जीवका कल्याण हो जाता है।' फ्रांसिसकी मीठी-मीठी बातोंने पिताको पूर्ण संतुष्ट कर दिया।

फ्रांसिस नगरमें घूम-घूमकर लोगोंको सादे जीवन और उच्च आचार-विचारका उपदेश देने लगे। भगवान्के राज्यमें प्रवेश करनेका साधन दैन्य ही है—इसका उन्हें आजीवन स्मरण था।—रा० श्री०

दरिद्रनारायणकी सेवा

यूरोपियन संत-साहित्यके इतिहासमें इटलीके प्रसिद्ध संत अस्सीसाईवाले फ्रांसिसका नाम अमर है। विरक्त जीवनसे पूर्व समयकी एक घटना है। वे नौजवान थे। राग-रंगमें उनकी बड़ी रुचि थी। कलाकारों और संगीतज्ञोंका वे बड़ा सम्मान करते थे तथा साथ-ही-साथ बारहवीं शताब्दीके इटलीके प्रसिद्ध धनी व्यापारी बरनरडोनके पुत्र होनेके नाते उदारता और दानशीलतामें भी वे सबसे आगे थे। कोई भिखारी उनके सामनेसे खाली हाथ नहीं जाने पाता था।

एक समय वे अपनी रेशमी कपड़ेकी दूकानपर बैठे हुए थे। उनके पिता दूकानके भीतर थे। फ्रांसिस एक धनी ग्राहकसे बात कर रहे थे कि अचानक दूकानके सामने उन्हें एक भिखारी दीख पड़ा। वह कुछ पानेके लोभसे खड़ा था। फ्रांसिस बातमें उलझ गये थे। सौदेकी बात हो जानेपर ग्राहक चला गया तब फ्रांसिसको भिखारीका स्मरण हो आया, पर वह वहाँ था ही नहीं।

'कितना भयानक पाप कर डाला मैंने!' वे भिखारीकी खोजमें निकल पड़े। दूकान खुली पड़ी रह गयी। लाखोंकी सम्पत्ति थी, पर इसकी उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं थी।

वे प्रत्येक दूकानदार और यात्रीसे उस भिखारीके सम्बन्धमें पूछते दौड़ रहे थे। उनका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ था। लोगोंने समझा कि भिखारीने माल चुरा लिया है। फ्रांसिसके हृदयकी वेदना अद्भुत थी; उनके नयन तो भिखारीको ही खोज रहे थे और वे अपने आपको धिक्कार रहे थे कि अतिथि भिखारीके रूपमें दरवाजेसे तिरस्कृत होकर लौट गया। अचानक उनका मन प्रसन्नतासे नाच उठा। भिखारी थोड़ी ही दूरपर दीख पड़ा और वे दौड़कर उससे लिपट गये।

'भैया! मुझसे बड़ी भूल हो गयी। रुपये-पैसेका सौदा ही ऐसा है कि आदमी उसमें उलझकर अंधा हो जाता है।' फ्रांसिसने विवशता बतायी; अपने पासके सारे रुपये उसे दे दिये और कोट पहना दिया।

'आपका कल्याण हो।' भिखारीने आशीर्वाद दिया। फ्रांसिसने संतोषकी साँस ली दरिद्रनारायणको प्रसन्न देखकर।—रा० श्री०

अमर जीवनकी खोज

'हे देव! अमर जीवन—ईश्वरीय जीवन प्राप्त करनेका मुझे उपाय बताइये। जगत्‌की वस्तुओंमें मुझे शान्ति नहीं दीखती।' एक धनी युवकने नतमस्तक होकर महात्मा ईसाकी चरणधूलि ली। वे उस समय अपने शिष्योंके साथ गैलिलीमें भ्रमण कर रहे थे। शिष्य धनी युवककी जिज्ञासासे विस्मित थे।

"वत्स! तुमने मुझे 'देव' सम्बोधनसे स्मरण किया है। देव—परमदेव तो केवल परमात्मा ही हैं; मैं तो उनके कृपाराज्यका एक साधारण-सा सेवक हूँ। मेरे विचारसे अभी तुम्हें आचार-विचार और संयम तथा नैतिक बल-प्राप्तिकी ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये; परमात्मा प्रसन्न होंगे।" उन्होंने युवकपर स्नेह-दृष्टि डाली। समस्त वातावरण उनकी पवित्र उपस्थितिसे धन्य हो गया।

'मैंने इनका दृढ़ अभ्यास किया, पर अमर जीवनकी प्राप्तिका प्रकाश मुझे नहीं दीख पड़ा। मैंने बचपनसे ही इनकी ओर ध्यान दिया था।' युवकने उद्विग्नता प्रकट की। ईसा उसकी सदाचारपरक वृत्ति और सत्कथनसे बहुत प्रसन्न थे।

'बस, तुममें केवल एक बातकी कमी है। जाओ, अपनी सारी वस्तुएँ बेच दो और सम्पत्ति गरीबोंको दे दो। विश्वास रक्खो, तुम्हारे लिये स्वर्गका ऐश्वर्य सुरक्षित है, मेरे साथ चलो।' महात्मा ईसाने कृपावृष्टि की।

धनी युवकके मुखपर उदासी छा गयी। बिना कुछ कहे ही वह चल दिया। उसके पास महती सम्पत्ति थी और उसे छोड़ना उसके लिये सम्भव नहीं था।

शिष्योंको उसकी दशापर बड़ा आश्चर्य हुआ। महात्मा ईसा शान्त थे।

'धनी (धनाभिमानी) व्यक्तिके लिये ईश्वरीय राज्यमें प्रवेश बहुत ही कठिन है। यह सम्भव है कि ऊँट सूईकी नोकमेंसे निकल आये; पर धनी व्यक्ति, जो पूर्ण रूपसे धन और सांसारिक वस्तुओंमें ही आसक्त है, ईश्वरीय राज्यमें प्रवेश नहीं कर सकता। परमात्माके प्रेममें धनाभिमानी और सांसारिक विषय-वासनाओंमें लिप्त जीवन अत्यन्त बाधक है। सांसारिक मनुष्यके हृदयमें कभी कृपामय ईश्वरके पवित्र प्रेमका उदय ही नहीं हो सकता।' महात्मा ईसाने शिष्योंको सदुपदेश दिया।

'ईश्वरीय प्रेम-प्राप्तिका उपाय क्या है?' शिष्योंका प्रश्न था।

'परमात्माकी कृपासे ही यह सम्भव है। उनकी कृपा और निष्काम भक्तिसे ही लोग संसार-सागरसे तर सकते हैं।' ईसाने समाधान किया।—रा० श्री०

प्रभु-विश्वासी राजकन्या

करमान देशके राजा बड़े भक्त और ईश्वर-विश्वासी थे। उनके एक परम भक्तिमती सुन्दरी कन्या थी। राजाने निश्चय किया था कि मैं भगवान्‌पर परम विश्वास रखनेवाली अपनी इस कन्याको उसीके हाथोंमें सौंपूँगा, जो सच्चा त्यागी और अडिग प्रभुविश्वासी होगा। राजा खोज करते रहे, परंतु ऐसा पुरुष उन्हें नहीं मिला। लड़की बीस वर्षकी हो गयी। एक दिन राजाको एक प्रसन्नमुख त्यागी नवयुवक मिला। उसके तनपर कपड़ा नहीं था और न उसके पास कोई वस्तु ही थी। राजाने उसे भगवान्‌की मूर्तिके सामने बड़ी भक्तिभावनासे ध्यान-मग्न देखा। मन्दिरसे निकलनेपर राजाने उससे पूछा—'तुम्हारा घर कहाँ है?' उसने कहा, 'प्रभु जहाँ रक्खें।' राजाने पूछा—'तुम्हारे पास कोई सामग्री है?' उसने कहा—'प्रभुकी कृपा ही मेरी सामग्री है।' राजाने फिर

पूछा—'तुम्हारा काम कैसे चलता है ?' उसने कहा—'जैसे प्रभु चलाते हैं ।'

उसकी बातोंसे राजाको निश्चय हो गया कि यह अवश्य ही प्रभुविश्वासी और वैराग्यवान् है ! मैं अपनी धर्मशीला कन्याके लिये जैसा वर खोजता था, आज ठीक वैसा ही प्रभुने भेज दिया ।

राजाने बहुत आग्रह करके और अपनी कन्याके त्याग-वैराग्यकी स्थिति बतलाकर उसे विवाहके लिये राजी किया । बड़ी सादगीसे विवाह हो गया ।

राजकन्या अपने पतिके साथ जंगलमें एक पेड़के नीचे पहुँची । वहाँ जाकर उसने देखा—वृक्षके एक कोटरमें जलके सकोरेपर सूखी रोटीका टुकड़ा रक्खा है । राजकन्याने पूछा—'स्वामिन् ! यह रोटी यहाँ कैसे रक्खी है ?' नवयुवकने कहा—'आज रातको खानेके काममें आयेगी, इसलिये कल थोड़ी-सी रोटी बचाकर रख छोड़ी थी ।'

राजकन्या रोने लगी और निराश होकर अपने नैहर जानेको तैयार हो गयी । इसपर नवयुवकने कहा—'मैं तो पहले ही जानता था कि तू राजमहलमें पली हुई मेरे-जैसे दरिद्रके साथ नहीं रह सकेगी ।'

राजकन्याने कहा—'स्वामिन् ! मैं दरिद्रताके दुःखसे उदास होकर नैहर नहीं जा रही हूँ । मुझे तो इसी बातपर रोना आ रहा है कि आपमें प्रभुके प्रति विश्वासकी इतनी कमी है कि आपने 'कल क्या खायेंगे' इस चिन्तासे रोटीका टुकड़ा बचा रक्खा । मैं अबतक इसीलिये कुआँरी रही थी कि मुझे कोई प्रभुका विश्वासी पति मिले । मेरे पिताने बड़ी खोज-बीनके बाद आपको चुना । मैंने समझा कि आज मेरी जीवनकी साध पूरी हुई; परंतु मुझे बड़ा खेद है कि आपको तो एक टुकड़े रोटी-जितना भी भगवान्पर विश्वास नहीं है ।'

पत्नीकी बात सुनकर उसको अपने त्यागपर बड़ी लज्जा हुई, उसने बड़े संकोचसे कहा—'सचमुच मैंने बड़ा पाप किया; बता, इसका क्या प्रायश्चित्त करूँ ?'

राजकन्याने कहा—'प्रायश्चित्त कुछ नहीं; या तो मुझे रखिये, या रोटीके टुकड़ेको रखिये ।' नवयुवककी आँखें खुल गयीं और उसने रोटीका टुकड़ा फेंक दिया।

असहायके आश्रय

यूनानके बादशाह रोगी हो गये थे । हकीमोंकी चिकित्सा कोई लाभ नहीं कर रही थी । अन्तमें हकीमोंने मिलकर सलाह की । उन्होंने कुछ लक्षण बताये और कहा—'जिस मनुष्यमें ये लक्षण हों, उसका पित्ताशय मिले बिना बादशाहके रोगको दूर करनेवाली दवा नहीं बन सकती ।'

राजसेवक इधर-उधर दौड़े और एक बालकको वे पकड़ ही लाये । बालक एक निर्धन परिवारका था । उसके और भी भाई थे । उसके माता-पिताने पर्याप्त धन लेकर अपने पुत्रको वधके लिये दे दिया था । बादशाहने काजीसे पुछवाया कि क्या करना चाहिये तो उसने फतवा दे दिया—'मुल्कके शाहंशाहकी जान बचानेके लिये रिआयामें किन्हीं एक-दोकी जान लेनी हो तो वह गुनाह नहीं है ।'

हकीमोंकी व्यवस्थाके अनुसार लड़केको बादशाहके सामने खड़ा किया गया । हकीम अपनी तैयारी करके बैठ गये । अब जल्लादने तलवार उठायी । इसी समय लड़केने आकाशकी ओर देखा और हँस पड़ा । बादशाहने संकेतसे जल्लादको रोककर पूछा—'लड़के ! तू हँसा क्यों ?'

लड़का बोला—'माँ-बाप जिस संतानकी रक्षाके लिये प्राण देते थे, उसी संतानको उन्होंने मारनेके लिये बेच दिया । काजी जो न्यायमूर्ति कहा जाता है, उसने एक निरपराधकी हत्याका फतवा दे दिया । बादशाह जो मुल्कका रक्षक है, अपनी निर्दोष प्रजाके एक बालककी

हत्या करवा रहा है। ऐसी दशामें असहाय मनुष्य किसका आश्रय ले ? मैं इस असहाय अवस्थामें पहुँच गया हूँ। अब मैं दीन-दुनियाके मालिककी ओर देखकर हँसा कि परमात्मा ! संसारकी लीला तो देख ली, अब तेरी लीला देखनी है। जल्लादकी उठी तलवारका तू क्या करेगा ?

'मुझे माफ कर, बेटा ! वह तलवार अब फिर नहीं उठेगी।' बादशाहने उस दरिद्र बालकसे क्षमा माँगी। —सु० सिं०

क्षणिक जीवन

महात्मा नूहको दीर्घायु मिली थी ! पूरे एक हजार वर्ष तक वे जीवित रहे, अन्तमें उनका शरीर छूटा और वे स्वर्ग गये। वहाँ देवताओंने पूछा—'संसारमें इतनी बड़ी आयु तुम्हें कैसी प्रतीत हुई ?'

हजरत नूह बोले—'इतनी आयुतक जीवित रहना मुझे तो ऐसा ही लगा जैसे कोई सरायके एक द्वारसे प्रवेश करके वहाँ रुके बिना दूसरे द्वारसे बाहर आ जाय।'

—सु० सिं०

सत्यं शिवं सुन्दरम्

एथेनियन कवि एगोथनने अपने यहाँ एक बार एक विशाल भोजका आयोजन किया था। इस व्यक्तिको ग्रीक थियेटरमें प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था, उसी प्रसन्नताके उपलक्ष्यमें उसने अपने परम विद्वान् दार्शनिक मित्रोंको आमन्त्रित किया था। समागत मित्रोंने मनोरञ्जनके लिये वार्तालापका विषय रक्खा 'प्रेम' और उसपर सबने अपना मन्तव्य प्रकाशित करना आरम्भ किया।

फेडरसने कहा—'प्रेम देवताओंका भी दैवत तथा सबका अग्रणी है। यह उनमें सर्वाधिक शक्तिशाली है। यह वह वस्तु है, जो एक साधारण मनुष्यको वीरके रूपमें परिणत कर देती है; क्योंकि प्रेमी अपने प्रेमास्पदके सामने अपनेको कायरके रूपमें प्रदर्शित करनेमें लज्जाका अनुभव करता है। वह तो अपना शौर्य प्रदर्शितकर अपनेको शूरतम ही सिद्ध करना चाहता है। यदि मुझे एक ऐसी सेना दी जाय, जिसमें केवल प्रेमी-ही-प्रेमी रहे हों तो मैं निश्चय ही विश्व-विजय कर दूँ।'

पासनियस बोला—'बात बिल्कुल ठीक है, तथापि आपको पार्थिव प्रेम तथा दिव्य ईश्वरप्रेमका पार्थक्य तो स्वीकार करना ही होगा। सामान्य प्रेम—चमड़ियोंके सौन्दर्य-पर लुब्ध मनकी यह दशा होती है कि यौवनके अन्त होते-न-होते उसके पंख जम जाते हैं और वह उड़ जाता—छूमंतर हो जाता है। पर परमात्म-प्रीति—भगवत्प्रेम सनातन होता है और उसकी गति निरन्तर विकासोन्मुख ही रहती है।'

अब विनोदी कवि अरिस्टोफेन्सकी बारी आयी। उसने प्रेमपर कुछ नवीन सिद्धान्तोंका आविष्कार कर रक्खा था। उसने कहना आरम्भ किया—'प्राचीन युगमें नर-मादोंका एकत्र एक ही विग्रहमें समन्वय था। उसका स्वरूप गेंद जैसा गोल था, जिसके चार हाथ, चार पैर तथा दो मुँह होते थे। इस जगत्की शक्ति तथा गति बड़ी तीव्र तथा भयंकर थी। साथ ही इनकी उमंग भी अपार थी। ये देवताओंपर विजय पानेके लिये आतुर हो रहे थे।

इसी बीच ज्यिस (ग्रीस देशके सर्वश्रेष्ठ देवता, ईश्वर) ने इनके दो विभाग इसलिये कर दिये, जिसमें उनकी शक्ति आधी ही रह जाय। तभीसे स्त्री-पुरुषका विभाजन हुआ। ये दोनों शक्तियाँ आज भी पुनर्मिलनके लिये आतुर दीखती हैं। इस आतुरताको ही हम 'प्रेम' शब्दसे पुकारते हैं।

अब सभी अतिथियोंने सुकरातसे इस विषयपर अपना मन्तव्य प्रकाशित करनेकी प्रार्थना की। उसने इन वक्ताओंके सामने ऐसे प्रश्न उपस्थित किये कि ये लोग सर्वथा निरुत्तर

हो गये। अन्तमें सुकरातने अपने सिद्धान्तको प्रकाशित करते हुए कहा—'प्रेम' ईश्वरीय सौन्दर्यकी भूख है। प्रेमी प्रेमके द्वारा अमृतत्वकी ओर अग्रसर होता है। विद्या, पुण्य, यश, उत्साह, शौर्य, न्याय, विश्वास और श्रद्धा—ये सभी उस सौन्दर्यके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। यदि एक शब्दमें कहा जाय तो आत्मिक सौन्दर्य ही परम सत्य है। और सत्य वह मार्ग है, जो सीधे परमेश्वर तक पहुँचा देता है।

सुकरातके इस कथनका प्लेटोपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसी दिनसे उसका शिष्य हो गया। यही प्लेटो आगे चलकर यूनानके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकोंमें परिगणित हुआ।

—जा० श०

मुझे एक ही बार मरना है

जूलियस सीज़रके विरुद्ध उसके शत्रु षड्यन्त्र करनेमें लगे थे। उसके शुभचिन्तकों तथा मित्रोंने सलाह दी—'आप अपने अङ्गरक्षक सिपाहियों तथा शस्त्रके बिना अकेले खाली हाथ घूमने अब न निकला करें।'

सीज़रने उत्तर दिया—'कोई अमर होकर संसारमें नहीं आता, सबको मरना ही पड़ता है। किंतु मुझे एक ही बार मरना है, मृत्युसे भयभीत रहनेवाले तो पल-पल मृत्युकी पीड़ा भोगते रहते हैं।' —सु० सिं०

गर्व किसपर ?

आल्सिबाइडिस नामक एक सम्पन्न जमींदार था। उसे अपनी सम्पत्ति और जागीरका बड़ा गर्व था। एक दिन सुकरातके पास जाकर उसने अपने ऐश्वर्यका वर्णन प्रारम्भ किया। सुकरात उसकी बात कुछ देर चुपचाप सुनते रहे। थोड़ी देर बाद उन्होंने पृथ्वीका एक नक्शा माँगा। नक्शा फैलाकर वे उस जमींदारसे बोले—'अपना यूनान देश इसमें आप देखते हैं?'

'यह रहा यूनान।' जमींदारने नक्शेपर अँगुली रक्खी।

'और अपना ऐटिका प्रान्त?' सुकरातने फिर पूछा।

बड़ी कठिनाईसे कुछ देरमें जमींदार अपने छोटे-से प्रान्तको ढूँढ़ सका। परंतु उससे फिर पूछा गया—'इसमें आपकी जागीरकी भूमि कहाँ है?'

'श्रीमान्! नक्शेमें इतनी छोटी जागीर कैसे बतायी जा सकती है।' जमींदारने उत्तर दिया। अब सुकरातने कहा—'भाई! इतने बड़े नक्शेमें जिस भूमिके लिये एक बिन्दु भी नहीं रक्खा जा सकता, उस नन्ही-सी भूमिपर तुम गर्व करते हो? इस पूरे ब्रह्माण्डमें तुम्हारी भूमि और तुम कहाँ कितने हो, यह सोचो और विचार करो कि यह गर्व किसपर? कितनी क्षुद्रता है यह!' —सु० सिं०

विषपान

'इसका सबसे बड़ा अपराध यही है कि यह नगरके देवी-देवताओंमें अविश्वास प्रकटकर नवयुवकोंको सत्य शिक्षणके नामपर गलत रास्तेपर ले जाता है। यूनानकी संस्कृति और नागरिकताका यह सबसे बड़ा शत्रु है। इसे मृत्यु-दण्ड दिया जाय।' मेलिटस और उसके साथियों—अनीटस और लीसनने अभियोग लगाया। एथेंसवासियोंकी बहुत बड़ी संख्या न्यायालयके बाहर निर्णयकी प्रतीक्षा कर रही थी।

'नाटककार एरिस्टॉफनीसने अपने क्लाउड नाटकमें सुकरातको स्वर्ग-पातालकी बात जाननेवाले और हवामें उड़नेवालेके रूपमें चित्रित कर यह सिद्ध कर दिया है कि यह जनताको असत्य और अनाचारका पाठ

पढ़ाता है । मेलिटसने उसपर अभियोग चलाकर हमारे देशका बड़ा उपकार किया है। अपराधीको विषपानके द्वारा मृत्यु-वरणका दण्ड दिया जाता है।' न्यायालयके इस निर्णयसे उपस्थित नागरिक विक्षुब्ध हो उठे। सुकरात मौन था। उसे कारागारमें डाल दिया गया।

× × ×

'मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप अब भी अपने प्राण बचा सकते हैं। इस कारागारसे निकल भागनेमें हमलोग आपकी पूरी-पूरी सहायता करेंगे।' क्रीटोने सुकरातको समझाना आरम्भ किया।

'तुम सत्यसे अधिक कीमती और महत्त्वपूर्ण मृत्युको समझते हो। क्रीटो ! सत्य अमर और अविनश्वर ज्ञान है, वह शाश्वत प्रकाश है, उसे मृत्युके अन्धकार-से ढकना कदापि सम्भव नहीं है। सत्यकी बलिवेदीपर प्राण चढ़ा देना ही मेरा कर्तव्य है। इससे न्यायका भाल उन्नत होगा।' सत्तर वर्षका वृद्ध सुकरात इस तरह क्रीटोको सदाचारकी शिक्षा दे ही रहा था कि मृत्यु-का समय आ पहुँचा।

न्यायपतियोंके सेवकने विषसे भरा प्याला सुकरात-के हाथमें रख दिया। समस्त वातावरणमें विचित्र शोक परिव्याप्त था।

'अभी विष पीनेका समय नहीं आया है, सुकरात। दिन-का कुछ अंश शेष है।' क्रीटोने उस समय विष पीनेसे मना किया। उसका प्रश्न था कि अन्त्येष्टि क्रिया किस तरह सम्पन्न हो।

'अपने भीतरकी चेतन आत्माका ज्ञान प्राप्त करो। यह ज्ञान ही सर्वव्यापक सत्य है। अपने-आपको पहिचानो। तुम शरीर नहीं, आत्मा हो, जो अमर है, चिरन्तन, शाश्वत और अक्षय है। मेरे भीतर स्थित आत्मसत्यको समझो क्रीटो। मृत्यु देहका नाश कर सकती है, आत्माके राज्य-में उसका प्रवेश नहीं है। —प्राणान्त होनेपर शरीर-को समाधिस्थ कर देना।' सुकरातने विषका प्याला ओठोंसे लगा लिया। वह न्यायपतिके आदेशके अनुसार टहल-टहलकर विष पी रहा था। उसके पैर लड़खड़ाने लगे।

'तुम समझते होगे कि मैंने तुम्हारी बात नहीं मानी और तत्काल विष पीना आरम्भ कर दिया। मैं सत्यके अमरलोकमें प्रवेश करनेमें क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करना चाहता था। अब हम दोनों एक दूसरेसे अलग हो रहे हैं। तुम जीवनकी ओर जा रहे हो और मैं मरण-पथपर हूँ। जीवन और मरणमें कौन श्रेष्ठ है—इसका ज्ञान परमात्मा—केवल परमात्माको ही है।' सुकरात बहुत देरतक अपने-आपको नहीं सँभाल सका। क्रीटोकी सहायतासे वह भूमिपर लेट गया। आँखोंके सामने अन्धकार था। क्रीटोने उसके मुखको कपड़ेसे ढक दिया।

आत्मवादी सुकरात सत्यके लिये विषपान कर धरतीपर अमर हो गया। —रा० श्री०

सत्यभाषणका प्रताप

हंगरीका राजा मत्थियस अपने गड़ेरियेको बहुत मानता था। वह कभी झूठ नहीं बोलता था।

एक दिन प्रशियाके राजा मत्थियसके साथ उसीके राजमहलमें भोजन कर रहे थे। प्रशियाकी अविवाहिता राजकन्या भी उपस्थित थी। बात-ही-बातमें हंगरीके राजाने अपने गड़ेरियेके सत्यभाषणकी प्रशंसा की। प्रशिया-के राजाको यह बात अच्छी नहीं लगी। उसने कहा—'यह नितान्त असम्भव है। मैं उसे असत्यभाषणके लिये विवश कर दूँगा।'

'और यदि वह ऐसा नहीं कर सकेगा तो ?' मत्थियसका प्रश्न था।

'मैं अपना आधा राज्य हार जाऊँगा और यदि

वह असत्य बोलेगा तो तुम्हें आधा राज्य देना पड़ेगा ।' प्रशियाके राजाका उत्तर था । वह चिन्तित था ।

रातभर उसे नींद नहीं आयी, वह उपाय सोचता रहा, पर कोई बात उसके मनमें न बैठ सकी ।

'मत्थियसके पास सुनहले रंगका एक मेमना है । मैं बड़ी-से-बड़ी घूस देकर गड़ेरियेसे मेमना माँग लूँगा । उसके गायब हो जानेपर वह राजाके सामने कोई कल्पित कथा कहकर प्राण बचायेगा, असत्य बोलनेके लिये विवश होगा ।' उसे नींद आ गयी ।

× × × ×

'मैं किसी भी मूल्यपर सुनहला मेमना आपको नहीं दे सकता । मैंने अपने राजाका नमक खाया है; मेमना आपको देकर मैं राजसिंहासनके सामने झूठ नहीं बोल सकता ।' गड़ेरियेके इस उत्तरसे प्रशियानरेशकी आशाओंपर पानी पड़ गया । वह सबेरे-सबेरे उससे चरागाहपर मिलने गया था ।

'मैं तुम्हें इतना धन दे दूँगा कि उससे तुम्हारा जीवन-निर्वाह हो जायगा । मेमना मुझे दो और अपने मालिकसे झूठ बोल दो कि उसे भेड़िया उठा ले गया ।' प्रशियानरेशने फिर प्रयत्न किया । गड़ेरियाने उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया ।—राजाने अपनी लड़की भेजी । उसे विश्वास था कि लड़कीके सौन्दर्यसे विमुग्ध होकर गड़ेरिया मेमना अवश्य दे देगा ।

'मैं तुम्हें धनसे पूर्ण तृप्त कर दूँगी, तुम्हें किसी बातकी चिन्ता नहीं रहेगी, पर मेमना मुझे दे दो । मेरे पिताको इसकी बड़ी आवश्यकता है ।' राजकन्याने मोहरोंकी थैली दिखायी और पीनेके लिये पेय प्रदान किया ।

गड़ेरियाने कहा कि 'मैं अपने सत्यव्रतसे एक इंच भी पीछे नहीं हटूँगा; मुझे सारे संसारका साम्राज्य क्यों न मिले, पर मैं झूठ नहीं बोल सकता ।'—राजकन्याकी प्रार्थनापर पेय पदार्थ-सेवनसे उसकी चेतना जाती रही । उसने अस्वस्थ दशामें मेमना राजकन्याको सौंप दिया । राजकुमारीको केवल मेमनेके सुनहले बालकी आवश्यकता थी, जिससे यह प्रमाणित हो सके कि गड़ेरियेने मेमना दे दिया था ।—प्रशियानरेशकी प्रसन्नताकी सीमा न रही । वह यही सोचने लगा कि कब सबेरा हो और मैं मत्थियसके राजमहलमें जा पहुँचूँ ।

× × × ×

गड़ेरियाने चेतना प्राप्त की । उसे अपनी करनीपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ । उसने सोचा कि मैं राजासे कह दूँगा कि मेमना भाग गया ।

'पर यह असम्भव है । ऐसा कभी नहीं हो सकता । मेमनेके साथ-ही-साथ पूरे झुंडको भाग जाना चाहिये था ।' उसकी अन्तरात्माने धिक्कारा कि यह झूठ है, ऐसा कभी नहीं कहना चाहिये । वह राजमहलकी ओर बढ़ता गया । उसके मनमें यह बात आयी कि मैं राजासे कह दूँगा कि मेमना कुएँमें गिर पड़ा और उसीमें डूबकर मर गया ।

'यह ठीक नहीं है । ऐसा होता तो दूसरे भेड़ भी गिर पड़ते ।' उसके मनने फटकारा कि झूठ बोलना महापाप है ।

अचानक वह प्रसन्न हो उठा । उसने सोचा कि मैं राजाको समझा दूँगा कि मेमनेको भेड़िया खा गया । पर इस बातसे भी उसका मन संतुष्ट नहीं हुआ ।

राजमहलमें प्रवेश करते ही गड़ेरिया हँस पड़ा । 'मैं एक शुभ समाचार सुनाना चाहता हूँ, नरेश !' गड़ेरियेने मत्थियस और उसके अतिथि प्रशियानरेश और उसकी कन्याको अभिवादन किया । प्रशियानरेश समझता था कि गड़ेरिया झूठ बोलेगा, पर उसके चेहरेपर हवाइयाँ उड़ने लगीं ।

'मैंने आपके मेमनेको बदलकर काले रंगका मेमना

ले लिया है। और महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि यह नया सौदा सुनहले मेमनेसे कहीं अधिक सुन्दर है।' गड़ेरिया प्रसन्न था। प्रशियानरेशका चेहरा उसके सत्यभाषणसे उतर गया। वह खिन्न था।

"मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने धन, सौन्दर्य और पेय—किसी भी कीमतपर असत्य भाषण नहीं किया। इन्हीं तीनोंसे अंधा होकर मनुष्य बड़े-से-बड़ा पाप कर डालता है। तुम्हारी सत्य-निष्ठाने मुझे प्रशियानरेशके आधे राज्यका अधिकार दिया है और यह आधा राज्य मैं तुम्हें सौंपता हूँ। तुम्हारे सत्यव्रतका यह पुरस्कार है।' हंगरीके राजाके वचन थे।

'और यह है काले रंगका मेमना।' गड़ेरियेने सुन्दरी राजकन्याकी ओर मत्थियसका ध्यान आकृष्ट किया।

'यह राजकन्या मैं अपनी ओरसे तुम्हें प्रदान करता हूँ असत्य-विजयके उपलक्षमें।' प्रशियानरेशने उदारतापूर्वक अपना कर्तव्य पूरा किया।

गड़ेरियेका सुन्दरी राजकुमारीसे विवाह हो गया। सत्यभाषणके प्रतापसे गड़ेरिया एक विशाल राज्यका अधिकारी घोषित किया गया।—रा० श्री०

पिताके सत्यकी रक्षा

जापानके सामन्तराज सातोमी बड़ी कठिनाईमें पड़ गये थे। शत्रु-सेनाने उनके दुर्गको तीन महीनेसे घेर रक्खा था। यह ठीक था कि पर्वतपर बना और गहरी खाईंसे घिरा दृढ़ दुर्ग शत्रुके प्रबल आक्रमणोंके सम्मुख भी मस्तक उठाये खड़ा था; किंतु दुर्गवासियोंका भोजन समाप्त हो रहा था। भूखों मरनेका अवसर आ गया था। अन्तमें सातोमीने घोषणा की—'शत्रुके सेनापतिका सिर जो काट लायेगा, उसे वह अपनी एकमात्र पुत्री ब्याह देगा।'

पहाड़ीपर शीतकालकी सूचना देनेवाले 'प्लाम' पुष्प खिलने लगे। एक दिन शामसे ही हिमपात प्रारम्भ हो गया। सामन्तराज उस रात विशेष चिन्तित हो उठे। उनका प्यारा कुत्ता जात सुबूसा कहीं दीख नहीं रहा था। वह शिकारी जातिका ऊँचा, बलवान् और स्वामिभक्त जानवर पता नहीं कहाँ चला गया था। कहीं हिमपातमें बाहर रह गया तो बरफ उसे जमा ही देगी और शत्रुकी दृष्टिमें वह पड़ गया तो गोलीसे भून दिया जायगा। परंतु कुत्ता उस रात मिला नहीं। दूसरे दिन सबेरे भी नहीं मिला।

दूसरे दिन सामन्तराजने अपने सब मित्र और नायक एकत्र किये। उनमें मन्त्रणा प्रारम्भ हुई कि अब युद्धके विषयमें क्या करना चाहिये। इसी समय सातोमीका कुत्ता सुबूसा वहाँ आ पहुँचा। उस कुत्तेके मुखमें रक्तसे लथपथ लंबे बालोंवाला एक मानव-सिर था। देखनेपर निश्चय हो गया कि वह शत्रुके सेनापतिका ही मस्तक है।

सामन्तराज सातोमीके दुर्गमें आनन्दकी जयध्वनि गूँज उठी। उनके सैनिक दुर्गका द्वार खोलकर शत्रु-सेनापर टूट पड़े। सेनापतिहीन शत्रुसेना छिन्न-भिन्न हो गयी। उसके कुछ सैनिक मारे गये और कुछ भाग गये।

सातोमीकी विजय हुई, विपत्ति कट गयी। किंतु जिसके द्वारा यह सब कार्य हुआ, वही कुत्ता अब सातोमीको अपना परम शत्रु जान पड़ने लगा। जापानके सामुराईके वचनका मूल्य होता है। भारतके राजपूतके समान वह दृढ़प्रतिज्ञ माना जाता है। सातोमीको अपनी प्रतिज्ञा स्मरण आती और वे ग्लानिसे भर उठते—'छिः! उनकी प्रतिज्ञा पूरी करके कुत्ता उनकी पुत्रीका अधिकारी हो गया है। कितना अभागा दिन था, जब उन्होंने वह प्रतिज्ञा की।'

इस ग्लानिका परिणाम यह हुआ कि कुत्तेके प्रति उनके मनमें घृणा और द्वेषके भाव प्रबल हो गये। वह स्वामिभक्त कुत्ता अब पास आता तो उसे वे तत्काल मारकर भगा देते। सामन्तराजके सेवक भी अपने स्वामीकी देखा-देखी कुत्तेको मारने तथा भगाने लगे। उसे भोजन देना एकदम बंद कर दिया गया। लोग चाहते थे कि भूख और अपमानसे पीड़ित होकर वह स्वयं कहीं भाग जाय।

सामन्तराज सातोमीकी एकमात्र संतान थी उनकी पुत्री। उस उदार राजकुमारीको कुत्तेके प्रति लोगोंके वर्तमान व्यवहारको देखकर बड़ा खेद हुआ। उसने सोचा—'मेरे पिता और पूरे राज्यको बचानेवाले इस उपकारी प्राणीकी रक्षा और सेवा हमारा कर्तव्य होना चाहिये। फिर पिताकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करना संतानका धर्म है। मेरे पिताने प्रतिज्ञा कर दी और अब मेरे मोहके कारण इस उपकारी पशुका तिरस्कार करते हैं; ऐसी दशामें पिताके सत्यकी रक्षाके लिये इस कुत्तेका पालन मुझे करना चाहिये।'

राजकन्या जानती थी कि उसके विचारोंका कोई समर्थन नहीं करेगा। भय यह था कि उसके विचार प्रकट होनेपर लोग उस उपकारी कुत्तेकी हत्या ही न कर दें; इसलिये कुत्तेको साथ लेकर वह रात्रिमें दुर्गसे निकल गयी। सबेरे जब कुत्ता और राजकुमारी दुर्गमें नहीं मिले; तब कुहराम मच गया। सामन्तराज पुत्रीके वियोगमें व्याकुल हो उठे। चारों ओर सैनिक भेजे गये; किंतु कहीं राजकन्याका पता नहीं लगा।

राजकन्या वनके मार्गसे भटकती, नदी-नाले पार करती एक घने वनमें पहुँची। उसने एक पर्वतकी गुफाको घर बनाया। राजसुखमें पली वह देवी तपस्विनी बनी। कुत्ता अब छायाके समान उसके साथ लगा रहता था। दिनमें वह राजकन्याके साथ घूमता था वनोंमें और रात्रिमें उसकी चौकीदारी करता था।

राजकुमारी अब अपना निर्वाह करती थी भिक्षा माँगकर। उसका समय अब उपासनामें व्यतीत होता था और उसकी प्रार्थना थी तथागतके चरणोंमें 'प्रभो! इस स्वामिभक्त प्राणीको अपने चरणोंमें स्वीकार करो। जन्म-मृत्युके पाशसे इसे मुक्त करो।'

अपने लिये राजकुमारीको कोई कामना नहीं रह गयी थी। वह अपने साथ धर्मग्रन्थ ले आयी थी और उसीका पाठ किया करती थी। इस प्रकार दिन-पर-दिन बीतते चले गये। अचानक एक दिन सामन्तराज सातोमीका एक सैनिक आखेट करता हुआ उस वनमें पहुँच गया। उसने दूरसे जाते सुबूसा को देखा। अपने स्वामीके कुत्तेको देखते ही वह पहचान गया और पहचानते ही उसने बंदूक सीधी की—'इस दुष्ट कुत्तेके कारण ही राजकन्या कहीं चली गयी और हमारे स्वामी पुत्रीके शोकमें व्यथित रहते हैं।'

सैनिककी बंदूक तड़प उठी और कुत्ता भूमिपर लुढ़ककर छटपटाने लगा। एक सुकुमार कण्ठसे उसी समय चीत्कार निकली। सैनिक दौड़कर पास आया तो उसने देखा कि कुत्तेकी आड़में ही राजकुमारी प्रार्थना करने बैठी थी और बंदूककी गोली कुत्तेके साथ उसे भी समाप्त कर चुकी है।—सु० सिं०

आतिथ्यका सुफल

जापानके किसी नगरमें एक वृद्ध व्यक्ति रहता था। वह और उसकी पत्नी दोनों बड़े उदार थे। पशु-पक्षियोंके प्रति उनके हृदयमें बड़ा प्रेम था। दोनोंने एक गौरैया पक्षी पाल रक्खा था। वह नित्यप्रति उड़कर उनके आँगनमें आया करता था और दाना चुगकर चला जाता था। उन दोनोंके कंधोंपर बैठकर वह मीठे स्वरसे चहचहाया करता था।

एक दिन वह बूढ़ी औरत अपने बगीचेमें धीरे

उसकी दुष्ट पड़ोसिनने कहा कि 'तुम अपने प्राणप्यारे गौरैयेको फिर कभी नहीं देख सकोगी। मैंने उसकी जीभ काट डाली है। वह मेरी धानकी खेती नष्ट कर दिया करता था।' द्वेषी पड़ोसिन हँसने लगी।

वृद्ध दम्पति इस घटनासे बहुत दुखी हुए। उन्होंने अपनी पड़ोसिनपर रोष प्रकट किये बिना ही जंगलमें गौरैयेकी खोजमें घूमना आरम्भ किया। वे भयभीत थे कि ऐसा न हो कि गौरैया भूखसे तड़प-तड़पकर प्राण दे दे। दैवयोगसे एक हरे-भरे खेतके निकट गौरैयेका घोंसला मिल गया। गौरैया अपने प्रेमदाताओंको देखकर आनन्दसे नाच उठा।

'आज मेरा सौभाग्य है कि मेरे प्रेमदाता अतिथि-रूपमें मेरे निवासस्थानपर उपस्थित हैं।' गौरैयेने अपनी पत्नीसे कहा और वे अपने बच्चोंसहित वृद्ध दम्पतिके स्वागत-सत्कारमें लग गये। दो-चार दिनोंतक आमोद-प्रमोद होता रहा।

वृद्ध दम्पतिके चलते समय गौरैयेने दो टोकरियाँ उनके सामने रख दीं और पूछा कि 'आप छोटी टोकरी साथ ले जायँगे या बड़ी?' दोनों बूढ़े हो चले थे, इसलिये दूरतक हाथसे ढोनेमें सुविधाके नाते उन्होंने छोटी टोकरी पसंद की; पर रास्तेमें वह एक पेटीके रूपमें परिणत हो गयी। घर आकर उन्होंने पेटी खोली तो उसमें रेशमी कपड़े तथा अन्य उपयोगी सामान देखकर आश्चर्यचकित हो गये।

बूढ़ी पड़ोसिनको जब इस बातका पता चला, तब उसने झूठ-मूठ रोकर कहा कि 'कभी-कभी मनुष्यकी बुद्धि बिगड़ जाती है और वह अकारण क्रोध कर बैठता है। गौरैया मुझे अवश्य क्षमा कर देगा।' यों सोचकर उसे धोखा देनेके लिये वह भी घोंसलेपर जा पहुँची। गौरैयेने बिना स्वागत-सत्कार किये ही दो टोकरी सामने रखकर प्रश्न किया, 'बड़ी लोगी या छोटी?'

'बड़ी।' बुढ़ियाका उत्तर था। वह बड़ी टोकरी लेकर चल पड़ी। रास्तेमें वह अपने मनपर नियन्त्रण नहीं रख सकी। उसने यह देखनेके लिये कि टोकरीमें कितने कीमती सामान और रेशमी कपड़े हैं, टोकरी खोल ली। दैवी प्रेरणासे उसमेंसे दो भूत निकलते दीख पड़े और उस स्थानपर उसे उड़ाकर ले गये, जिसमें पशु-पक्षियोंके सतानेवालोंको यातना दी जाती है।—रा० श्री०

धर्मप्रचारके लिये जीवनदान

चीनसे भारत आनेवाले यात्री ह्यु-एन-साँग केवल घुमक्कड़ यात्री नहीं थे। वे थे धर्मके जिज्ञासु। विद्याकी लालसा ही उन्हें दुर्गम हिमालयके इस पार ले आयी थी। भारतके सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय नालन्दाने उनका स्वागत किया। ह्यु-एन-साँग नालन्दाके छात्र रहे और अध्ययन करके उसके अध्यापक भी रहे। भारतने विद्याका सम्मान करनेमें कोई भेदभाव सीखा ही नहीं।

ह्यु-एन-साँग कई वर्ष भारतमें रहकर अपनी जन्मभूमि लौट रहे थे। उन्होंने चीनमें बौद्धधर्मकी व्यवस्थित शिक्षाके प्रचारका निश्चय किया था। बहुत-से धर्मग्रन्थ वे अपने साथ ले जा रहे थे। नालन्दाके कुछ उत्साही भारतीय विद्यार्थी उनके साथ थे। सिंधु नदीके मुहानेतक इस यात्रीदलकी यात्रा निर्विघ्न पूरी हुई; किंतु जब वे नौकासे सिंधु नदी पार करने लगे, तब आँधी आ गयी। मुहानेके पास समुद्रमें आया तूफान अपना प्रभाव दिखलाता ही है। स्थिति ऐसी हो गयी कि 'नौका अब डूबी, अब डूबी' लगने लगा।

'मेरा पूरा परिश्रम व्यर्थ गया! ह्यु-एन-साँग मस्तकपर हाथ रखकर बैठ गये। परंतु भारतीय विद्यार्थियोंने एक दूसरेकी ओर देखा। एकने अपने साथियोंसे कहा—'भार कम हो जाय तो वाहन बच सकता है।

क्या धर्मग्रन्थोंकी रक्षासे होनेवाले धर्मप्रचारकी अपेक्षा हमारा जीवन अधिक मूल्यवान् है ?'

उस विद्यार्थीको शब्दोंमें उत्तर नहीं मिला । उसके साथी पलक झपकते नदीके अथाह जलमें कूदकर अदृश्य हो गये । सबसे अन्तमें कूदनेवाला वह स्वयं था ।—सु० सिं०

मृतकके प्रति सहानुभूति

लगभग ढाई हजार वर्ष पहलेकी बात है । चीनके महान् तत्त्वविवेचक महात्मा कनफ्युसियसने घोड़ागाड़ीसे वी नगरमें प्रवेश ही किया था कि उस घरसे रोने-पीटनेकी आवाज आयी कि जिसमें कुछ ही दिनों पहले वे अतिथि थे । उन्हें यह बात समझनेमें देर न लगी कि किसी प्राणीकी मृत्यु हो गयी है ।

उन्होंने बड़ी शान्तिसे उस घरमें प्रवेश किया और विलाप करनेवालेकी दशासे उनका हृदय विचलित हो उठा, नयनोंसे अश्रुवृष्टि होने लगी ।

वे उस शोकपूर्ण स्थितिसे इतने प्रभावित हुए कि अपनी गाड़ीके घोड़ोंको उन्होंने मृतककी उत्तम गतिके लिये दान कर दिया ।

'घरमें प्रवेश करते ही मेरा हृदय शोकसे इतना बोझल हो गया कि बिना रोये मैं रह नहीं सकता था । मृतकके प्रति रोने-पीटनेका मिथ्या प्रदर्शन दम्भके सिवा और कुछ भी नहीं है । यदि मेरे आँसू दिखावेके लिये होते तो मुझे बड़ी घृणा होती अपने आपपर । मृतककी पारलौकिक शान्तिके लिये यदि हम चेष्टा नहीं करते या उसके प्रति प्रेम अथवा आत्मीयता नहीं व्यक्त करते तो यह तो उसके प्रति अपने आपमें अपनत्वका अभाव है और यदि उसे मृतककी स्थितिमें देखकर भी ऐसा व्यवहार करते हैं जैसा जीवित प्राणीके प्रति किया जाता है तो यह भी कदापि उचित नहीं है; क्योंकि यह हमारी मूर्खता अथवा विवेकहीनताका द्योतक है ।' महात्मा कनफ्युसियसके उद्गार थे उस अवसरपर ।—रा० श्री०

सच्चा बलिदान

लगभग चौबीस सौ वर्ष पहलेकी बात है । खुतन देशमें नदीका जल सूख जानेसे घोर अकाल पड़ गया । प्रजा भूखों मरने लगी । खुतन-नरेश बहुत चिन्तित हो उठा । मन्त्रियोंकी सम्मतिसे वह राज्यमें ही निकटस्थ पहाड़ीपर निवास करनेवाले एक बौद्ध भिक्षुकी सेवामें उपस्थित हुआ ।

'देव ! मेरे राज्यमें अन्यायका प्राबल्य तो नहीं हो गया है ? ऐसा तो नहीं है कि मेरा पुण्य-फल संसारके समस्त प्राणियोंको समानरूपसे नहीं मिल रहा है ? मैंने आजतक प्रजाका कभी उत्पीड़न नहीं किया । जब मेरा कोई अपराध ही नहीं है, तब प्रजाको दुःखका मुख क्यों देखना पड़ रहा है ? देव ! ऐसा उपाय बताइये कि नदीमें जल फिर आ जाय ।' खुतन-नरेशने चिन्ता प्रकट की ।

श्रमणने नद-नागकी पूजाका आदेश दिया । राज्यकी जनताने नदीके तटपर जाकर धूम-धामसे पूजा की; राजा अपने प्रमुख अधिकारीवर्गके सहित उपस्थित था ।

'मेरा पति (नाग) स्वर्गस्थ हो गया है । इसीलिये हमारे कार्यका क्रम बिगड़ गया है ।' नागपत्नीने कमल

रमणी-वेषमें मध्य धारापर प्रकट होकर एक राज्यकार्य-कुशल व्यक्तिकी माँग की।

राजा उसकी इच्छा-पूर्तिका आश्वासन देकर राजधानीमें लौट आया।

× × × ×

'देवराज (राजाकी उपाधि)! आप इतने चिन्तित क्यों हैं? मेरा जीवन आजतक ठीक तरह प्रजाके हितमें नहीं लग सका। यद्यपि चित्तमें स्वदेशकी सेवाकी प्रवृत्ति सदा रही, फिर भी उसको कार्यरूपमें परिणत करनेका अभीतक अवसर ही नहीं आया था।' प्रधानमन्त्रीने नरेशकी चिन्ता कम की।

'पर प्रधानमन्त्री ही राज्यका दुर्ग होता है। वह समस्त देशकी अमूल्य सम्पत्ति है। उसका प्राण किसी भी मूल्यपर भी निछावर नहीं किया जा सकता।' राजा गम्भीर हो उठा।

'आप ठीक ही सोच रहे हैं, पर प्रजा और देशके हितके सामने साधारण मन्त्रीके जीवनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। मन्त्री तो सहायकमात्र है। किंतु प्रजा मुख्य अङ्ग है राज्यका। यह सच्चा बलिदान है, महँगा नहीं है देवराज!' प्रधानमन्त्रीका उत्तर था।

मन्त्रीने नागभवनमें जानेकी व्यवस्था की। नागरिकोंने उसके सम्मानमें भोजका आयोजन किया। वह एक सफेद घोड़ेपर सवार हो गया। उसका वस्त्र भी श्वेत था। उसने घोड़ेकी पीठपर बैठे हुए नदीमें प्रवेश किया; पर किसी भी स्थानपर इतना जल नहीं था कि वह उसमें अश्वसमेत डूबकर अदृश्य हो सके। मन्त्रीने मध्यधारामें पहुँचकर जलको कोड़ेसे प्रताड़ित किया। अथाह जलराशि उमड़ पड़ी और प्रधानमन्त्री नदीके गहरे जलमें विलीन हो गया। लोग तटपर खड़े होकर उसकी जय बोल रहे थे। थोड़ी देरके बाद घोड़ा जलके ऊपर तैरने लगा। उसकी पीठपर चन्दनका एक नगारा बँधा था। एक पत्र भी था, उसमें लिखा था कि 'खुतन-नरेशकी प्रसन्नताकी सदा वृद्धि होती रहे, प्रजा स्वस्थ और सुखी रहे। जिस समय राज्यपर शत्रुका आक्रमण होगा, उस समय नगारा अपने-आप बजने लगेगा।'—नदी जलसे परिपूर्ण हो उठी।

खुतन-राज्यके प्रधानमन्त्रीने आत्मत्यागका आदर्श उपस्थितकर अपना ही जीवन नहीं सफल कर लिया, राष्ट्रकी महान् सेवा भी की। स्वार्थ-त्यागकी महिमा अकथनीय है।—रा० श्री०

संतकी एकान्तप्रियता

मिश्र देशके प्रसिद्ध संत एन्थानीने अठारह सौ वर्ष पहले जो नाम कमाया, वह विश्वके संतसाहित्यकी एक अमूल्य निधि है। वे पिसपिरकी पहाड़ीपर एकान्त स्थानमें निवास करते हुए भगवान्‌का चिन्तन किया करते थे।

एक समयकी बात है वे अलेक्जन्ड्रियामें आये हुए थे जनताको ईश्वर-चिन्तनके मार्गपर लगानेके लिये। अपना कर्तव्य पूरा करके वे पहाड़ीकी ओर प्रस्थान करनेकी व्यवस्था करने लगे। इस समाचारसे लोग व्याकुल हो उठे। वे संतको अपने प्राणोंसे भी अधिक चाहते थे। एक क्षणके लिये भी उनका वियोग नहीं सह सकते थे। उनकी कुटीके सामने बात-की-बातमें एक बड़ी भीड़ एकत्र हो गयी।

'आप हमारे बीचमें ही निवास कीजिये। हमें आपकी बड़ी आवश्यकता है। अपने कृपामृतसे हमारे प्राणोंको नित्य सींचते रहिये।' अलेक्जन्ड्रियाके प्रशासकने संतके चरणोंमें मस्तक विनतकर निवेदन किया। भीड़ने उसके प्रस्तावका समर्थन किया। संत सोचने लगे।

'भाई! मछली जलसे बाहर भूमिपर आ जानेपर जलके अभावमें छटपटाकर विकलतासे प्राण छोड़ देती है। इसी प्रकार संत-महात्मा जनसमूहमें आनेपर अपने एकान्त मौनव्रतसे पतित—च्युत हो जाते हैं। जिस प्रकार जल-की ओर बड़े आवेगसे मछली दौड़ती है, उसी प्रकार हमलोग अपने पहाड़ी स्थानोंमें पहुँचकर शान्ति प्राप्त करते हैं।' संतने विनम्रतापूर्वक अपना मत व्यक्तकर पहाड़ीकी ओर प्रस्थान किया।—रा० श्री०
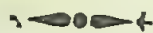
प्रार्थनाकी शक्ति

लगभग सोलह सौ वर्ष पहलेकी बात है। संत स्कालस्टिका प्रत्येक वर्ष अपने भाई संत बेनडिक्टसे मिलने जाया करती थी, दिनभर आध्यात्मिक विषयपर बात करके वह शामको अपने स्थानको लौट जाया करती थी; क्योंकि स्कालस्टिकाका यह नियम था कि वे रातको अपने मठमें ही निवास करती थीं और बेनडिक्ट भी केसिनीकी पहाड़ीपर स्थित अपने मठमें चले जाते थे। स्कालस्टिकाको केसिनी मठमें जानेकी आज्ञा नहीं थी। इससे वर्षमें एक दिन बेनडिक्ट भी मठसे कुछ दूर आ जाते थे बहिनसे मिलनेके लिये और बहिन स्कालस्टिका भी आ जाती थी। एक साल वह संत बेनडिक्टसे मिलने गयी थी। उसे ऐसा लगा कि यह उसकी अन्तिम भेंट है।

'मेरी बड़ी इच्छा है कि आज आप अपने मठमें न जायँ। मैं सारी रात आपसे भगवान्के सम्बन्धमें बात करना चाहती हूँ।' स्कालस्टिकाने संत बेनडिक्टसे प्रार्थना की। उसका हृदय भारी हो चला था और नयनोंमें अश्रुका प्रवाह था।

'बहिन! तुम ठीक कहती हो, पर मैं अपने नियमसे विवश हूँ। मेरे लिये मठसे बाहर रातमें रहना अत्यन्त कठिन है। दिनमें तो हमलोगोंने भगवान्की स्तुति और स्मरण तथा चिन्तनमें अपने समयका सदुपयोग किया ही है।' संत बेनडिक्टने अपने साथियोंके साथ केसिनी-की पहाड़ीपर स्थित मठकी ओर प्रस्थान करना चाहा, जो स्कालस्टिकाके प्लोमबेरियोलावाले मठसे पाँच मीलकी दूरीपर था।

भाईके दृढ़ निश्चयसे स्कालस्टिकाका गला भर आया। वह मनमें भगवान्का ध्यान करने लगी। सूर्यास्तका समय था; ज्यों-ज्यों अँधेरा बढ़ता जाता था—त्यों-त्यों उसकी उदासी भी बढ़ रही थी। अचानक आकाशमें बादल छा गये, बिजली चमकने लगी, पवनका वेग बढ़ गया और वृष्टि होने लगी।

'बहिन! ईश्वर क्षमा करें। तुमने यह क्या कर डाला' संत बेनडिक्ट मुसकराने लगे।

'मैंने आपका दरवाजा खटखटाया, पर आपने मेरी पुकारकी उपेक्षा कर दी। मैंने भगवान्से प्रार्थना की; उन्होंने अपनी कृपासे मुझे निहाल कर दिया। अब तो आप रुकेंगे ही!' स्कालस्टिका प्रसन्न थी।

'प्रार्थनाकी शक्ति अमोघ है।' बेनडिक्ट ठहर गये। उन्होंने रातमें अपनी बहिनसे भगवच्चर्चा-सम्बन्धी बात की। निस्संदेह यह उनकी अन्तिम भेंट थी।—रा० श्री०

संतकी निर्भयता

परमात्माके भक्ति-साम्राज्यमें निवास करनेवाले संत सदा अभय होते हैं। वे किसीसे भी नहीं डरते। सोलह सौ वर्ष पहलेकी एक घटना है मिश्र देशके प्रसिद्ध संत हिलेरियोके पूर्वाश्रमकी! बचपनसे ही उनकी संतोंके चरणोंमें श्रद्धा थी। वे संत एन्टोनीकी प्रसिद्धिसे आकृष्ट होकर उनसे मरुस्थलमें मिलने गये थे।

वे उनके समीप दो मासतक रह गये। घर लौटनेपर उन्हें अपने माता-पिताकी मृत्युका समाचार मिला। इस समय उनकी अवस्था केवल पंद्रह वर्षकी थी। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति सम्बन्धियों और गरीबोंको दे दी और स्वयं भगवान्‌का भजन करनेके लिये घरसे बाहर निकल पड़े।

उन्होंने मरुस्थलमें रहनेका निश्चय किया, जो समुद्र-तटसे थोड़ी दूरपर अवस्थित था तथा झाड़-झंखाड़ोंसे अमित भयानक दीख पड़ता था। मित्रोंने सावधान किया कि वह स्थान लूटपाट और मार-काटके लिये प्रसिद्ध है; दिन दहाड़े डाकूलोग सारी वस्तुएँ छीनकर मार डालते हैं।

'मुझे भगवान्‌का भरोसा है। संसारमें मैं किसीसे नहीं डरता। केवल मृत्युका भय लगता है।' हिलोरियोने मरुस्थलके लिये प्रस्थान किया।

'यदि आपको इस मरुस्थलमें कोई मार डाले तो आप क्या करेंगे? यदि चोर और डाकू छेड़-छाड़ करें तो उनसे आप कैसा व्यवहार कीजियेगा?' कुछ अपरिचित व्यक्तियोंने संतसे पूछा।

'गरीब और नंगे-भूखे रहनेवाले किसीसे भी नहीं डरते हैं।' संतका उत्तर था।

'पर वे आपको जानसे मार सकते हैं।' उन लोगोंने अपने वचन दोहराये।

'यह नितान्त सच है। यही कारण है कि मैं उनसे नहीं डरता। मैं मरनेके लिये सदा प्रस्तुत हूँ।' संत हिलोरियोकी निर्भयताने अपरिचित व्यक्तियोंको भी आश्चर्य-चकित कर दिया। वे मरुस्थलके डाकू थे, जो वेष बदल-कर संतकी परीक्षा लेने आये थे।—रा० श्री०

सौन्दर्यकी पवित्रता

स्पेनके पेरु प्रान्तके लिमा नगरमें सोलहवीं शताब्दीमें संत रोजका जन्म हुआ था। वह असाधारण रूपवती थी। उसके मनमें यह धारणा परिपुष्ट हो गयी थी कि मेरा सौन्दर्य भगवान्‌के लिये है और जब वह भगवान्‌के लिये है—तब परम पवित्र है। सौन्दर्य सांसारिकोंकी दृष्टि पड़नेपर अपवित्र हो जाता है। वह इस दिशामें सदा सावधान रहती थी कि कहीं उसका शारीरिक सौन्दर्य दूसरोंके मनमें विकार उत्पन्न न कर दे। अपने निवास-स्थानसे बाहर निकलनेपर वह अपने मुखपर लाल मिर्चकी बुकनी पोत लिया करती थी; इससे मुख सूज जाता था और उसकी आकृति भद्दी दीख पड़ती थी।

'यह तो स्वर्गकी सुन्दरी है। कितने सुन्दर और चिकने हैं इसके हाथ! इसके बनानेवालेने अपनी सारी कला इसके सृजनमें समाप्त कर दी है।' एक नवयुवकके उद्गार थे संत रोजके प्रति। वह घरसे बाहर कहीं जा रही थी। रोजके खुले हाथोंकी ओर उसकी दृष्टि चली गयी थी। नारीके अङ्ग इसीलिये ढके रहने योग्य हैं। अस्तु।

रोज उसके इस कथनसे बहुत दुखी हुई। जो सौन्दर्य दूसरेके मनमें वासना उत्पन्न कर दे, वह इस शरीरपर रहने योग्य नहीं है—यह सोचकर वह घरमें चली गयी। उसने अपने दोनों सुन्दर और स्निग्ध हाथोंको खौलते चूनेके पानीमें तत्काल डालकर विकृत कर दिया। अपने शरीरसे अपवित्र सौन्दर्य समाप्तकर वह प्रसन्नतासे नाच उठी।—रा० श्री०

संतकी सेवा-वृत्ति

मिश्र देशके प्रसिद्ध संत सेरापियोकी त्याग-वृत्ति उच्च कोटिकी थी। चौथी शताब्दीके संत-साहित्यमें उनका नाम अमित प्रसिद्ध है। वे सदा मोटे कपड़ेका चोगा पहनते थे और समय-समयपर दीन-दुखियोंकी

सहायताके लिये उसे बेच दिया करते थे। कभी-कभी तो आवश्यकता पड़नेपर अपने-आपको भी निश्चित अवधिके लिये बेचकर गरीबोंको आर्थिक सहायता देते थे।

एक समय उनकी अपने घनिष्ठ मित्रसे भेंट हुई। वह उनको बिल्कुल फटे-हाल देखकर आश्चर्यचकित हो गया।

'भाई! आपको नंगा और भूखा रहनेके लिये कौन विवश कर दिया करता है?' मित्रने पूछा।

'यह बात पूछनेकी नहीं, समझनेकी है। गरीब और असहाय लोगोंकी आवश्यकताको देखकर मैं अपने आपको नहीं सम्हाल पाता। मेरी धर्म-पुस्तकका आदेश है कि दीन-दुखियोंकी सेवाके लिये अपनी सारी वस्तुएँ बेच डालो। मैंने भगवान्‌की आज्ञाके पालनको ही अपने जीवनका उद्देश्य बनाया है।' संतने मित्रका समाधान किया।

'पर आपकी वह धर्म-पुस्तक कहाँ है?' मित्रका प्रश्न था।

'मैंने असहायोंकी आवश्यकताके लिये उसे भी बेच दिया है। जो पुस्तक परसेवाके लिये सारे सामान बेच देनेका आदेश देती है, समय पड़नेपर उसको भी बेचा जा सकता है। इससे दो लाभ हैं; पहला तो यह है कि जिसके हाथमें ऐसी दिव्य पुस्तक पड़ेगी, वह धन्य हो जायगा, उसकी त्याग-वृत्ति निखर उठेगी; और दूसरा यह कि पुस्तकके बदलेमें जो पैसे मिलेंगे, उनसे असहायों और दुखियों तथा अभावग्रस्त व्यक्तियोंकी ठीक-ठीक सेवा हो सकेगी।' सेरापियोने सरलता और विनम्रतासे उत्तर दिया।—रा० श्री०

संत प्रचारसे दूर भागते हैं

ऐसा प्रायः देखा जाता है और संतोंके जीवन-वृत्तान्तसे पता चलता है कि बड़े-बड़े संत विज्ञापन, प्रचार और प्रसिद्धिसे दूर भागते हैं, उन्हें ये काँटोंकी तरह चुभते हैं।

पाँचवीं शताब्दीके प्रसिद्ध संत अरसेनियस प्रचार और प्रसिद्धिसे बहुत घबराते थे। वे नितान्त एकान्तसेवी थे। सदा अपनी गुफामें निवास करते हुए परमात्माका स्मरण किया करते थे।

एक दिन सिकन्दरिया नगरके कुलपति थियॉफिलसके संकेतपर एक रोमकी महिला मेलनिया उनसे मिलने आयी। वह इटलीसे मिश्र केवल उनका दर्शन करनेके लिये ही आयी थी। संत अपनी गुफासे बाहर निकल रहे थे कि धनी महिलाने उनकी चरणधूलि अपने मस्तकपर चढ़ा ली।

'स्त्रीको अपना घर छोड़कर अकेले बाहर नहीं जाना चाहिये। आप हमारे पास इसलिये आयी हैं कि आप रोममें पहुँचकर लोगोंसे यह कह सकें कि आपको मेरा दर्शन हुआ है। इस तरह आप लोगोंको मेरे पास आनेमें प्रेरणा देंगी। है न यही ध्येय?' अरसेनियसके प्रश्नसे महिला लज्जित हो गयी।

'आप मुझे सदा याद रखियेगा और भगवान्‌से मेरे कल्याणके लिये प्रार्थना कीजियेगा।' महिलाने दीनतापूर्वक निवेदन किया।

'मैं तो यह प्रार्थना करूँगा कि मेरे मस्तकसे आपका स्मरण ही मिट जाय।' संतका कथन था।

महिलाको इस उत्तरसे बड़ा दुःख हुआ पर उसके सिकन्दरिया पहुँचनेपर थियॉफिलसने सान्त्वना दी कि अरसेनियसका आशय शारीरिक स्मरणसे था; संत तो दूसरोंके आत्मकल्याणके लिये सदा भगवान्‌से प्रार्थना किया ही करते हैं। —रा० श्री०

गरजनेके बाद बरसना भी चाहिये

सुकरातकी पत्नी अंटीपी अत्यन्त कर्कशा थी। वह अकारण ही पतिसे झगड़ा किया करती थी। एक बार किसी बातपर असंतुष्ट होकर वह सुकरातको भली-बुरी सुनाने लगी। सुकरात चुपचाप उसके कठोर वचन सुनते रहे। कोई प्रत्युत्तर न मिलनेसे उसका क्रोध बढ़ता ही गया। अन्तमें उसने एक पानी भरा बर्तन उठाकर सुकरातके सिरपर उड़ेल दिया। सुकरात बोले—'बहुत गर्जनाके बाद कुछ वर्षा भी तो होनी ही चाहिये थी।'

सुकरातके एक मित्रने उनकी दुर्दशा देखकर कहा—'ऐसी कर्कशा नारी छड़ीसे ही ठीक करने योग्य है।'

सुकरात हँसकर बोले—'आप चाहते हैं कि हम दोनों झगड़ें और आप तमाशा देखें?' मित्र इस शान्त पुरुषके सम्मुख लज्जित हो गये।—सु० सिं०

कलाकी पूजा सर्वत्र होती है

क्रियों यूनानके एथेंस नगरका एक नवयुवक गुलाम था। उसके जीवन-कालमें राज्यका कानून था कि कोई गुलाम कलाकी उपासना नहीं कर सकता। ललित कलाओंको सीखनेका उसे अधिकार नहीं था। क्रियों बड़ा गरीब था; वह संगमरमरकी कलापूर्ण मूर्ति बनाकर जीविका चलाता था। कानून बन जानेपर वह विवश हो गया।

वह अपनी बहिनकी सम्मतिसे एक गुफामें रहने लगा। वह चोरी-चोरी संगमरमरकी मूर्ति बनाया करता था। एक समयकी बात है। एथेंसमें कला-प्रदर्शनी हुई। क्रियोंको पेरिक्लीजसे* पुरस्कार पानेकी आशा थी। उसने संगमरमरकी कई मूर्तियाँ भेज दीं, प्रदर्शनीमें स्वयं न जाकर अपनी बहिनको भेज दिया।

प्रदर्शनीमें दर्शकोंने क्रियोंकी मूर्तियाँ बहुत पसंद कीं। अन्य कलाकार इस बातसे जल उठे।

'ये किसकी मूर्तियाँ हैं?' उनमेंसे एकका प्रश्न था। क्रियोंकी बहिनके अधर निस्पन्द थे।

सुकरात, फिडियस आदिके साथ पेरिक्लीज भी आ पहुँचे। पर उनके पूछनेपर भी वह दास-कन्या मौन रही। पेरिक्लीजने तत्काल उसे कारागारमें डाल देनेका आदेश दिया, पर क्रियों आ पहुँचा। उसके पैरोंमें धूलि लिपटी थी, लंबे-लंबे बाल पीठपर लटक रहे थे। चिन्ता और भूखसे मन उदास था।

'महाशय! मेरी बहिनका कोई अपराध नहीं है। दोष तो मेरा है जो गुलाम होकर भी मैंने कलापूर्ण मूर्तियाँ बनायीं।' क्रियों पेरिक्लीजके पैरोंपर गिर पड़ा।

'इसे कारागारमें डाल देना चाहिये।' अन्य कलाकारोंने माँग की।

'नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। यह कानून कठोर है। नवयुवकके लिये कारागार उपयुक्त नहीं है, वह तो मेरी बगलमें बैठनेका अधिकारी है। सच्ची कला सबकी वस्तु है। उसे वर्गविशेषकी अपेक्षा नहीं है।' पेरिक्लीजने क्रियोंको अपनी बगलमें बैठा लिया और एस्पीसियाने क्रियोंके सिरपर मुकुट रख दिया। सच्ची कलाकी उपासनाने उसके हृदयके सौन्दर्यसे एथेंस-निवासियोंका मन मुग्ध कर लिया।—रा० श्री०

* पेरिक्लीज़ एथेंसका सर्वश्रेष्ठ राज्याधिकारी था। एस्पीसिया उसकी पत्नीका नाम था।

मौनकी शक्ति

संतका मौन बहुत बड़ा और दिव्य भूषण है। वाणीके मौनसे संतोंने आश्चर्यजनक बड़े-बड़े कार्योंका सम्पादन किया है। ग्यारहवीं शताब्दीके दूसरे चरणकी बात है। सम्राट् हेनरी द्वितीय कुछ दिनोंके लिये इटली गये हुए थे। उन्होंने संत रोमाल्डको सम्मानपूर्वक अपनी राजसभामें पधारनेका निमन्त्रण दिया, पर उन्होंने जाना स्वीकार नहीं किया। सम्राट् अपने प्रयत्नमें संलग्न थे; कुछ शिष्यों और भक्तोंके विशेष आग्रह और प्रार्थनासे संतने सम्राट्की राजसभामें प्रवेश किया। सम्राट्सहित सारे सभासद् उनके सामने उठ खड़े हुए। उनके आसन ग्रहण करनेपर सारी राजसभामें दिव्यता और शान्ति छा गयी।

'मेरी सबसे बड़ी इच्छा यही है कि मेरी आत्मा आपकी ही तरह भगवान्के चरणदेशमें समर्पित रहे।' सम्राट् अपने सिंहासनसे उठ खड़े हुए, सादर अभिवादन किया। लोग समझते थे कि संत कुछ कहेंगे, पर उनको नितान्त मौन देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये। सम्राट्ने सोचा कि संत मौन रहकर मानो मेरी प्रार्थनाको स्वीकार कर रहे हैं। उस मौनमें ऐसी सहज पवित्रता थी कि सम्राट्के मनमें यह कल्पना भी नहीं आयी कि संतका यह आचरण अभिमानजनित है और यों मेरे प्रति उनके मनमें उपेक्षाका भाव है। बल्कि सम्राट्ने इस मौनके मूलमें संतकी विनम्रता और कृपा समझी। सम्राट्को संतके मौन-धारणसे बड़ी प्रसन्नता हुई।—रा० श्री०

दैन्यकी चरम सीमा

फ्रान्सके प्रसिद्ध संत इवोहिलारीका समस्त जीवन दैन्यका प्रतीक था। तेरहवीं शताब्दीके यूरोपके इतिहासमें उनका नाम अमर है। अपने निवासस्थान ब्रिटनी नगरमें वे परम दीन होकर रहनेका यत्न करते थे और अपने-आपको साधारण-से-साधारण मानवके रूपमें प्रकट करते थे। उनके पास कहनेके लिये इस संसारमें अपना कुछ भी नहीं था; फसल कटते ही सारा अन्न गरीबों और दीन-दुखियोंको देकर वे महती प्रसन्नताका अनुभव करते थे।

एक समय वे अपनी कुटीमें ही बैठकर किसी पादरीसे बात कर रहे थे। घरमें केवल एक रोटी बची थी। उस रोटीको उन्होंने गरीबोंमें बाँट देनेका आदेश दिया। पादरीकी इच्छा देखकर आधी रोटी उसे दे दी। वह आश्चर्यचकित हो गया।

'आप क्या भोजन करेंगे?' पादरीका प्रश्न था।

'भूख लगनेपर भगवान् जो कुछ भी भेज देंगे, उसीसे ही काम चल जायगा।' संतने शान्तिपूर्ण उत्तर दिया और उनके आदेशसे शेष आधी रोटी गरीबोंको दे दी गयी।

कितना उच्च था उनका दैन्य-वरण!—रा० श्री०

निष्कपट आश्वासन

संत डोमिनिकने तेरहवीं शताब्दीके स्पेनको अपनी स्थितिसे पवित्र किया था। वे बड़े उदार, दानी और परसेवाव्रती थे। दूसरोंकी सेवासे उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। वे अपना सब कुछ दीन-हीन और असहायोंको देकर रात-दिन भगवान्का भजन किया करते थे।

'बेटा! मेरे पुत्रको मूरके हाथसे बचा लो।' [illegible]

केवल कुछ रुपयोंके कारण दास बना लिया गया है।' एक बुढ़ियाने संतसे निवेदन किया। उसके नेत्रोंसे अश्रुकी धारा प्रवाहित थी, सिर हिल रहा था, कपड़े फटे और मैले थे; ऐसा लगता था मानो साक्षात् दरिद्रता ही संतके सेवाव्रतकी परीक्षा ले रही है।

'माँ! मेरे पास तो सोना-चाँदी कुछ भी नहीं है। इस समय इस शरीरपर मेरा पूरा-पूरा अधिकार है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इससे मैं आपकी सेवा कर सकूँगा। माँ! मैं इसे मूरके हाथोंमें निःसंकोच सौंपकर तुम्हारे पुत्रका उद्धार करूँगा।' संत डोमिनिकने आश्वासन दिया।

'बेटा! तुम भी तो मेरे ही बेटे हो। चिरंजीवी हो, भगवान् भला करें।' बुढ़ियाने आशीर्वाद दिया और चली गयी।—रा० श्री०

समयका मूल्य

मनुष्यके जीवनका प्रत्येक क्षण अमूल्य है। समय ऐसा धन है, जो चले जानेपर वापस नहीं आया करता। विवेकी पुरुष समय-बद्धताकी ओर सदा ध्यान रखते हैं।

जार्ज वाशिंगटन ठीक समयपर भोजन करते थे तथा ठीक (निश्चित) समयपर सोते थे। उनके जीवनका प्रत्येक कार्य निर्धारित समयपर पूरा होता रहता था।

वे चार बजेके लगभग भोजन किया करते थे। एक दिन उन्होंने अमेरिकी कांग्रेसके नये सदस्योंको भोजके लिये निमन्त्रित किया। सदस्योंके आनेमें कुछ देर हो गयी। राष्ट्रपति वाशिंगटन भोजन करने लगे। नये सदस्योंको बड़ा आश्चर्य हुआ।

'भाई! इसमें आश्चर्यकी क्या बात है! मेरा रसोइया कभी यह नहीं देखता कि सब-के-सब निमन्त्रित अतिथि आ गये हैं या नहीं; वह तो पूर्वनिश्चित समयपर भोजन सामने रख दिया करता है।' राष्ट्रपति वाशिंगटन भोजन करनेमें व्यस्त हो गये।—रा० श्री०

भद्रमहिलाका स्वच्छन्द घूमना उचित नहीं

चार सौ वर्ष पहलेकी बात है। यूनानमें सरेनस नामके एक धनी व्यक्ति रहते थे। वे एक विशाल राज्यके अधिपति थे। सदा सगे-सम्बन्धियों और मित्रोंसे घिरे रहते थे। विषय-भोगमें बड़े सुखसे जीवन बीतता था, पर एक समय सहसा उनके मनमें वैराग्य उमड़ आया। जगत्की वस्तुओं और सम्बन्धोंके प्रति उनकी रुचि घटने लगी। उन्होंने दूर देशमें जाकर एकान्त-सेवन करनेका निश्चय किया; एक तपस्वीकी तरह ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए परमात्माके निष्काम भजन और चिन्तनमें ही समयका सदुपयोग करना उन्हें अच्छा लगा। उनके वैराग्यपूर्ण जीवनमें सहज सरलताकी स्वच्छ-निर्मल निर्झरिणी प्रवाहित हो उठी।

सरेनसने हंगेरीमें आकर सरमियम नामके स्थानमें एक बगीचा खरीदा। अपने कड़े परिश्रमसे उन्होंने बगीचेको हरा-भरा कर दिया। बगीचेके फल आदिसे निर्वाह करके वे संसारसे पूर्ण तटस्थ होकर भगवान्के भजनानन्द-सागरमें निमग्न हो गये। उनका निवास-स्थान सात्त्विक नीरवता और पवित्र सादगीसे सम्पन्न हो उठा। लोक-प्रसिद्धि उस स्थानसे कोसों दूर थी।

एक दिन दोपहरको अपनी दो कन्याओंके साथ एक महिलाने बगीचेमें प्रवेश किया।

'तुम्हें यहाँ किसकी खोज है?' सरेनसने अपनी कुटीसे बाहर निकलकर प्रश्न किया।

'मुझे इस बगीचेमें घूमनेमें विशेष आनन्द मिलता है ।' महिलाके शब्द थे ।

'पर तुम्हारी-ऐसी उच्च कुल और शिष्ट घरानेकी महिलाका इस समय बाहर—बगीचेमें स्वच्छन्द घूमना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता; इस समय तो तुम्हें घरपर ही आराम करना चाहिये । ऐसा लगता है कि आनेका कारण कुछ और है । मेरी सम्मति है कि भविष्यमें तुम्हें अपने समय और चरित्रके प्रति विशेष सावधान रहना चाहिये ।' सरेनसने उसे घर लौट जानेका आदेश दिया । उनके शब्दोंने महिला-के कोमल हृदयपर बड़ी चोट पहुँचायी । उसे अपनी अवहेलनापर बड़ा दुःख हुआ । उसने बदला लेनेका निश्चय किया ।

उसका पति सम्राट् मैक्सीमियनका अङ्गरक्षक था । महिलाने पत्रद्वारा अपमानकी सूचना दी ।

'दूर देशमें हमलोग आपकी सेवामें नियुक्त हैं, घरपर हमारी पत्नियोंकी लोग थोड़ी-थोड़ी-सी बातमें अवज्ञा करते हैं ।' पतिने न्यायालयमें सम्राट्के सामने आवेदन उपस्थित किया ।

सम्राट्ने सरमियम प्रान्तके अध्यक्षके नामसे एक लिखित संदेश दिया, अङ्गरक्षक पत्र लेकर अध्यक्षकी सेवामें उपस्थित हुआ ।

'सम्राट्का पवित्र आदेश है कि मेरी (उनके अङ्गरक्षक-की) अनुपस्थितिमें मेरी स्त्रीके प्रति किये गये अपमानका पूरा-पूरा बदला लिया जाय ।' महिलाके पतिने आवेश-में कहा ।

'पर वह अशिष्ट है कौन, जिसने आप-जैसे सज्जन-की पत्नीका अपमान किया ?' अध्यक्षने विस्मित होकर कहा ।

'वह तो एक वज्र दिहाती है, सरेनस नामका एक मूर्ख माली है ।' अङ्गरक्षकने अपराधीका परिचय दिया ।

सरेनसको तत्काल न्यायालयमें उपस्थित होना पड़ा ।

'यह सरेनस है ।'

'तुम क्या करते हो ?' अध्यक्षका प्रश्न था ।

'मैं एक माली हूँ ।' सरेनसने उत्तर दिया ।

'तुमने सम्राट्के अङ्गरक्षककी पत्नीको अपमानित करनेका दुःसाहस क्यों किया ?' न्यायालयका दूसरा प्रश्न था ।

'मैं समझता हूँ कि मैंने जीवनमें आजतक किसी-की भी पत्नीका अपमान नहीं किया है ।' सरेनसके उत्तरमें निष्कपट सरलता थी ।

'सम्राट्के अङ्गरक्षककी पत्नीकी अवहेलना और अपमान करनेवालेको दण्ड देनेके पहले गवाहोंका न्यायालयमें उपस्थित होना आवश्यक है; यह प्रमाणित हो जायगा कि अपराधीने अपने बगीचेमें एक शिष्ट महिलाको किस प्रकार अपमानित किया था ।' अध्यक्षने आदेश दिया ।

सरेनसके मस्तिष्कमें बगीचेवाली घटना नाच उठी । सारा-का-सारा चित्र आँखोंके सामने घूमने लगा ।

'हाँ, मुझे स्मरण है, एक दिन कुसमयमें एक शिष्ट महिला अपनी दो कन्याओंके साथ मेरे बगीचेमें घूमने आयी थी । मैंने उससे निर्भयतापूर्वक कहा था कि तुम्हारा इस समय आना कदापि उचित नहीं है । तुम घर चली जाओ । मुझे उसकी नीयतमें कुछ संदेह हुआ, इसीलिये विवश होकर सावधान करना पड़ा ।' सरेनस-ने समाधान किया ।

इस सद्भावपूर्ण उद्गारसे महिलाका पति विस्मित हो उठा । मालीके साधारण वेषमें उसने महान् संतका दर्शन किया । उसका सिर लज्जासे नत हो गया ।

'मैं आपके उपकारका बदला नहीं चुका सकता ।' उसने संतका सविनय अभिवादन किया ।

संत सरेनसके नेत्रोंसे मृदुल सादगी टपक रही थी; अधरोंपर दिव्य मुसकान थी । सम्राट्का अङ्गरक्षक न्यायालयके बाहर चला गया । —रा० श्री०

कष्टमें भी क्रोध नहीं

इटलीके एक धर्मयाजक (पादरी) पर बड़े-बड़े कष्ट आये; परंतु उनके मनमें कभी ताव नहीं आया। लोग उन्हें गालियाँ बकते और वे हँसते रहते तथा उन्हें मीठा उत्तर देते। किसीने पूछा—'आपमें इतनी सहनशक्ति कहाँसे आ गयी?' धर्मयाजकने कहा—'मैं ऊपरकी तरफ देखकर सोचता हूँ कि मैं तो वहाँ जाना चाहता हूँ, फिर यहाँके किसी व्यवहारसे अपना मन क्यों बिगाड़ूँ? नीचे नजर करता हूँ तो देखता हूँ कि मुझे उठने-बैठने और सोनेके लिये जमीन ही कितनी चाहिये। आस-पास देखता हूँ तो मनमें आता है कितने लोग मुझसे भी अधिक कष्ट भोग रहे हैं। बस, इन्हीं विचारोंके कारण मेरा मस्तिष्क शीतल हो गया है और अब वह किसी भी दुःखसे गरम नहीं होता।'

'न मे भक्तः प्रणश्यति'

'मुझे शरण दीजिये, मैं दुर्भाग्यकी मारी एक दीन-हीन अबला हूँ।' एक स्त्रीने फिलस्तीनके महान् संत मरटिनियनसकी गुफाके सामने जोर-जोरसे चिल्लाना आरम्भ किया। आधी रात बीत चुकी थी। ऐसे समयमें नगरसे दूर निर्जन पहाड़ीपर एक स्त्रीकी आवाज बड़ी आश्चर्यमयी थी। आकाशमें तारे चमक रहे थे, पर पृथ्वीपर घना अन्धकार था। संत अपनी गुफामें जाग रहे थे; वे उसकी पुकार सुनकर बाहर आये और गुफाके बाहर उसे ठहरनेका स्थान बताकर भीतर चले गये। स्त्रीका नाम 'जो' था।

दूसरे दिन प्रातःकाल उन्होंने उस रमणीको देखा; वह बड़ी रूपवती थी, उसका शरीर सोनेके आभूषणोंसे सजा था। उसने अपने धन और रूपसे संतको गिराना चाहा और अत्यन्त शिष्ट तरीकेसे घृणित प्रस्ताव उपस्थित किया; संतके मनपर भी उसकी कुप्रवृत्तिका प्रभाव पड़ा। वे उसके जालमें गिरनेवाले ही थे कि अचानक गुफाके बाहर उन्हें कुछ लोगोंकी उपस्थितिका संकेत मिला; वे दर्शन करनेके लिये नगरसे पहाड़ीपर आये थे। संतने बाहर निकलकर उन्हें उपदेश दिया। स्त्री गुफाके बाहर आ गयी।

उपदेश समाप्तकर मरटिनियनसने गुफामें प्रवेश किया। थोड़ी देरमें कराहनेकी आवाज सुन पड़ी। रमणीने भीतर प्रवेश किया और संतके दोनों पैरोंको आगमें जलते देखकर वह चीख उठी। 'जो' के अङ्ग-प्रत्यङ्ग काँप उठे।

'बहिन! इसमें चीखनेकी बात ही क्या है। यदि मैं इस जगत्‌की साधारण आगकी ज्वाला नहीं सह सकता तो नरककी यातना किस प्रकार झेल सकता हूँ।' संतके वचनसे रमणीको अपने पाप-प्रस्तावपर पश्चात्ताप हुआ; वह उनके पैरोंपर गिर पड़ी।

'उठो, बहिन! भगवान्‌ने हम दोनोंको बचा लिया। वे अपने भक्तकी रक्षा करते हैं। स्त्री-पुरुषका एकान्तका मिलन ही अत्यन्त नाशक है। प्रभुने यात्रियोंको ठीक मौके-पर भेजकर बड़ा अनुग्रह किया। संसारमें मनुष्यका पतन धन, स्त्री और मानके कारण होता है। परमात्माने धन और स्त्रीके बन्धनसे मुक्त कर कितनी बड़ी कृपा की।' संत मरटिनियनस प्रसन्न थे। रमणीके मनमें पवित्र विचार जाग उठे। वह अपने निवास-स्थान सीज़रिया नगरमें लौट गयी।—रा० श्री०

व्यभिचारीका जीवन बदल गया

संत इगनाशियस लायलाके जीवनकी एक घटना है। उनकी कृपासे एक भयानक व्यभिचारी पुण्यात्मा हो गया।

रातका समय था। बड़े जोरका हिमपात हो रहा था। नदी और तालाब आदिका पानी शीतसे जमता जा रहा था। एक दुर्व्यसनी विलासी युवक किसी दुराचारिणी स्त्रीसे मिलनेके लिये अपने रास्तेपर चला जा रहा था; अचानक उसके पैर एक तालाबके किनारे रुक गये, वह चेष्टा करनेपर भी आगे नहीं बढ़ पाता था।

'कहाँ जा रहे हो! क्या तुम ईश्वरीय न्यायकी कड़कती बिजली नहीं सुन पा रहे हो? वह अभी तुम्हारे सिर-पर घहरानेवाली है।' एक आवाज उसके कानोंके परदे फाड़ने लगी।

'नहीं रुकोगे? तो जाओ। तुम्हारे पापोंका फल मैं भोग लूँगा। कहीं ऐसा न हो भगवान्‌का कोप तुम-पर घहरा पड़े। मैं परमात्माको मनाऊँगा।' दूसरी आवाजसे पापी नवयुवक अपने-आपको नहीं सम्हाल सका। उसके भाव बदल गये, उसने देखा कि संत इगनाशियस लायला गलेतक जमे तालाबमें खड़े उसके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे हैं।

वह संतके पैरोंपर गिर पड़ा, उसने क्षमा माँगी; संत लायलाकी कृपादृष्टिसे उसका जीवन परम पवित्र हो गया।—रा० श्री०
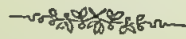
पवित्र अन्न

गुरु नानकदेवका अनुभव

गुरु नानकदेव अपनी यात्रामें घूमते हुए एक ग्राममें रुके थे। उस दिन उनके पास गाँवका एक लुहार मक्केकी दो मोटी रोटियाँ ले आया। उसी गाँवके जमींदार भी उसी दिन अपने यहाँसे उत्तम पकवान बनवाकर गुरु नानकके पास ले गये। गुरु नानकने जमींदारके पकवानकी ओर देखा ही नहीं। उन्होंने लुहारके लाये मक्केके टिक्कर प्रसन्नतापूर्वक खाकर जल पी लिया।

जमींदारको दुःख हुआ अपना लाया भोजन स्वीकार न होनेसे। उन्होंने इसका कारण पूछा। गुरु नानक-देवने लुहारकी रोटियोंका एक टुकड़ा छोड़ दिया था। एक हाथमें उन्होंने उस टुकड़ेको लिया और एक हाथमें जमींदारके लाये भोजनका थोड़ा भाग लेकर दोनों हाथोंके पदार्थोंको दबाकर निचोड़ा। लुहारकी रोटीके टुकड़ेसे दूधकी कुछ बूँदें टपकीं; परंतु जमींदारके अन्नसे रक्तके बिन्दु गिरे।

'यह क्या बात है?' जमींदारने पूछा।

गुरु नानकदेवने बताया—'लुहारने परिश्रम करके कमाया है। उसका अन्न उसके परिश्रमसे ईमानदारीके साथ आया है। इसलिये वह शुद्ध अन्न है। उसमें सात्त्विकता है। उसका भोजन करनेसे चित्तमें निर्मलता बढ़ेगी। तुम्हारा अन्न दूसरोंको सताकर, दूसरोंका उचित अधिकार (हक) मारकर लाया गया है। यह दूसरोंका रक्त चूसकर एकत्र होनेके समान है। इसलिये यह रक्तान्न है, अपवित्र है। इस भोजनसे चित्तमें पापवृत्तियाँ प्रबल होंगी।'

गुरु-भक्ति

औरंगजेबकी आज्ञासे गुरु तेगबहादुरकी दिल्लीमें नृशंसतापूर्वक हत्या कर दी गयी। बादशाहको इतनेसे संतोष नहीं हुआ। उसने आज्ञा दी—'इस मृत देहका किसी प्रकारका संस्कार नहीं हो सकेगा। नगरमें चौराहेपर जहाँ वध किया गया है, वहीं पड़ा-पड़ा वह देह सड़ा करेगा। कोई उसे उठाने या छूनेका प्रयत्न करेगा तो उसे भी प्राणदण्ड दिया जायगा।' कुछ सैनिक नियुक्त कर दिये गये वहाँ, जिससे कोई उस देहको उठा न ले जाय।

गुरु गोविन्दसिंहजी उस समय सोलह वर्षके बालक थे। 'पिताके शरीरका अन्त्येष्टि-संस्कार चाहे जैसे हो, करना ही है।' इस निश्चयसे वे पंजाबसे दिल्ली जा रहे थे; किंतु क्रूर औरंगजेब उनके साथ कैसा व्यवहार करेगा, इसका कोई ठीक ठिकाना नहीं था। सभी लोगोंमें बड़ी चिन्ता व्याप्त थी। उपाय भी कुछ नहीं था; क्योंकि गुरु गोविन्दसिंहजी पिताका अन्तिम-संस्कार छोड़ देनेको प्रस्तुत हों, यह कहा भी कैसे जाय।

'आप यहीं गुप्तरूपसे ठहरें! हम दोनों गुरुदेवका शरीर यहीं ले आयेंगे। दिल्ली नगरमें जाना आपके लिये किसी प्रकार निरापद नहीं है।' एक निर्धन गाड़ीवाले सिखने अपने पुत्रके साथ दिल्ली जानेका निश्चय कर लिया और उसने नगरसे कई मील दूर ही गुरु गोविन्दसिंहको रुकनेका आग्रह किया। उन पिता-पुत्रके आग्रहको गुरुने स्वीकार किया।

वे पिता-पुत्र दिल्ली आये। पूछ-ताछकर उन्होंने गुरु तेगबहादुरके शरीरका पता लगा लिया। अब उस शरीरसे तीव्र दुर्गन्ध आने लगी थी। वहाँ नियुक्त सैनिक पर्याप्त दूर हट गये थे और निश्चिन्त होकर आमोद-प्रमोदमें लगे रहते थे। लोगोंने वह मार्ग प्रायः छोड़ दिया था। कोई उधरसे आता भी था तो मुख दूसरी ओर करके, नाक दबाकर दूरसे ही चला जाता था।

दोनों पिता-पुत्र जब वहाँ पहुँचे, तब पिताने पुत्रसे कहा—'हम दोनोंमेंसे एकको प्राणत्याग करना चाहिये; क्योंकि यदि इस शवके स्थानपर दूसरा शव यहाँ ढककर नहीं रक्खा जायगा तो पहरेदार सैनिकोंकी दृष्टि पड़ते ही वे सावधान हो जायँगे। औरंगजेबके सैनिक सिखोंके एकमात्र आधार बालक दसवें गुरुको ढूँढ़ने निकल पड़ेंगे। तुम युवक हो। तुम्हारा शरीर सबल है। गुरुके इस शरीरको उठाकर तुम भलीप्रकार ले जा सकते हो। इसलिये मुझे मरने दो।'

पुत्र कुछ कहे, इससे पहले तो पिताने अपनी कटार अपनी छातीमें मार ली और वह गिर पड़ा। पुत्रने अपने पिताका शव वहाँ मार्गमें लिटाकर ढक दिया और गुरु तेगबहादुरका शरीर कंधेपर उठाकर चल पड़ा। वह निर्विघ्न नगरसे निकल गया; क्योंकि जहाँ इतना त्याग एवं श्रद्धा होती है, वहाँ सम्मुख आनेमें विघ्नोंके देवताके भी पैर काँपते हैं!

सत्य निष्ठा

गुरु रामसिंह

'सत्य ही एकमात्र धर्म है। सत्यको पकड़े रहनेसे सभी धर्मके अङ्ग स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। सत्य ही मुक्तिका साधन है।' यह प्रधान उपदेश था कूका सम्प्रदायके संस्थापक गुरु रामसिंहजीका।

एक बार अम्बालामें कसाइयों और हिंदुओंमें झगड़ा हो गया। कसाई एकत्र होकर बहुत-सी गायोंको

जुलूस बनाकर वधके लिये ले जा रहे थे। मार्गमें हिंदुओंके लिये यह दृश्य असह्य हो गया। उन्होंने कसाइयोंके हाथसे गायोंको बलपूर्वक छीन लेनेका प्रयत्न किया। बहुतसे लोग घायल हुए; किंतु कसाई संख्यामें अधिक थे। हिंदू सफल नहीं हो सके। परंतु उसी रात्रिको कुछ लोग कसाइयोंके घरमें छिपकर घुस गये और उन्होंने उनको मार डाला। फलतः सबेरेसे ही पुलिसने लोगोंकी धर-पकड़ प्रारम्भ की। ऐसे अवसरोंपर प्रायः जैसा होता है, उस समय भी हुआ। अधिकांश निरपराध लोग पकड़े गये। उनके विरुद्ध झूठी गवाहियाँ पुलिसने तैयार कीं।

गुरु रामसिंहको जब यह समाचार मिला, तब वे बहुत दुखी हुए। अपने शिष्योंके मध्यमें वे बोले—'हिंदुओंने बहुत कायरतापूर्ण कार्य किया है। उन्हें कसाइयोंको मारना ही था तो सामने ललकारकर लड़ते। अब तो वे और भी पाप कर रहे हैं कि स्वयं छिप गये हैं और निरपराध लोग दण्ड भोग रहे हैं।'

उस समय गुरु रामसिंहकी मंडलीमें एक ऐसा उनका शिष्य भी था, जो इस काण्डमें सम्मिलित था। उसने अपना अपराध गुरुके सम्मुख स्वीकार किया। गुरु रामसिंहने पूछा—'तुम्हारे साथ जो लोग थे, उनमें क्या और कोई भी मेरा शिष्य था?'

उसने कहा—'नहीं, उनमें और कोई कूका नहीं था।'

गुरु रामसिंह—'तब तुम्हें सरकारी अधिकारियोंके सम्मुख उपस्थित होकर अपना अपराध स्वीकार कर लेना चाहिये। तुम्हारे साथियोंमें कोई मेरा शिष्य होता तो उससे भी मैं यही करनेको कहता। परंतु तुम्हें किसी भी कष्टके भय या प्रलोभनमें पड़कर अपने साथियोंके साथ विश्वासघात नहीं करना चाहिये। उनका नाम बतलाना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है। यह उनका कर्तव्य है कि वे अपना अपराध स्वीकार करें।'

गुरुकी आज्ञा मानकर वह व्यक्ति सरकारी अधिकारियोंके सामने उपस्थित हुआ। उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। किंतु उससे किसी प्रकार उसके साथियोंका नाम नहीं पूछा जा सका। उसे अंग्रेजी न्यायने फाँसी दी; किंतु धर्मराजका न्याय उसे पुण्यात्माओंके लोक स्वर्गमें भेजेगा, यह भी क्या संदेह करनेकी बात है?

पंजाब-केसरीकी उदारता

पंजाब-केसरी महाराज रणजीतसिंह कहीं जा रहे थे। अकस्मात् एक ढेला आकर उनके लगा। महाराजको बड़ी तकलीफ हुई। साथी दौड़े और एक बुढ़ियाको लाकर उनके सामने उपस्थित किया।

बुढ़िया भयके मारे काँप रही थी। उसने हाथ जोड़कर कहा—'सरकार! मेरा बच्चा तीन दिनोंसे भूखा था, खानेको कुछ नहीं मिला। मैंने पके बेलको देखकर ढेला मारा था। ढेला लग जाता तो बेल टूट पड़ता और उसे खिलाकर मैं बच्चेके प्राण बचा सकती, पर मेरे अभाग्यसे आप बीचमें आ गये। ढेला आपको लग गया। मैं निर्दोष हूँ, सरकार! मैंने ढेला आपको नहीं मारा था। क्षमा कीजिये।'

बुढ़ियाकी बात सुनकर महाराज रणजीतसिंहजीने अपने आदमियोंसे कहा—'बुढ़ियाको एक हजार रुपये और खानेका सामान देकर आदरपूर्वक घर भेज दो।'

लोगोंने कहा—'सरकार! यह क्या करते हैं! इसने आपको ढेला मारा, इसे तो कठोर दण्ड मिलना चाहिये।'

रणजीतसिंह बोले—'भाई! जब बिना प्राणोंका तथा बिना बुद्धिका वृक्ष ढेला मारनेपर सुन्दर फल देता है, तब मैं प्राण तथा बुद्धिवाला होकर इसे दण्ड कैसे दे सकता हूँ।'

पवित्र अन्न

गुरु-भक्ति

सत्यनिष्ठा

उदारता
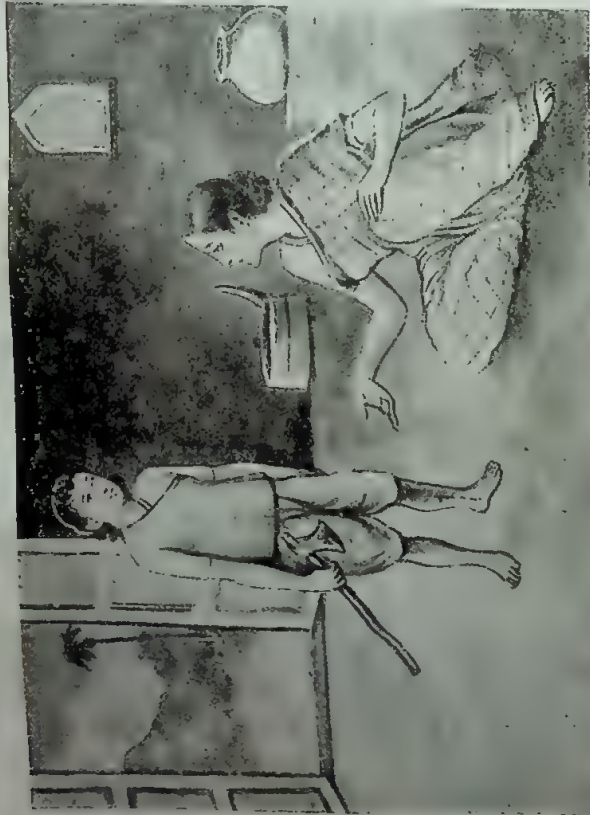
नामदेवकी समता-परीक्षा

एकनाथकी अक्रोध-परीक्षा
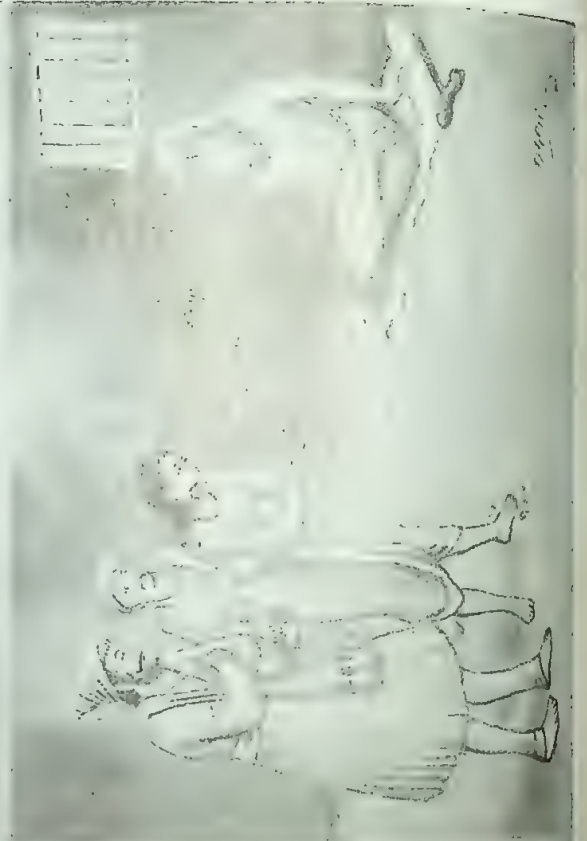
नामदेवकी समता-परीक्षा

'अरे नामू ! तेरी धोतीमें खून कैसे लग रहा है ?'

'यह तो माँ ! मैंने कुल्हाड़ीसे पगको छीलकर देखा था ।' माँने धोती उठाकर देखा—पैरमें एक जगहकी चमड़ी मांससहित छील दी गयी है । नामदेव तो ऐसे चल रहा था मानो उसको कुछ हुआ ही नहीं । नामदेवकी माँने फिर पूछा—

'नामू ! तू बड़ा मूर्ख है । कोई अपने पैरपर भी कुल्हाड़ी चलाया करता है ? पैर टूट जाय तो लँगड़ा होना पड़े । घाव पक जाय या सड़ जाय तो पैर कटवानेकी नौबत आवे ।'

'तब पेड़को भी कुल्हाड़ीसे चोट लगनी चाहिये । उस दिन तेरे कहनेसे मैं पलासके पेड़पर कुल्हाड़ी चलाकर उसकी छाल उतार लाया था । मेरे मनमें आयी कि अपने पैरकी छाल भी उतारकर देखूँ, मुझे कैसी लगती है । पलासके पेड़को कुछ हुआ होगा, यही जाननेके लिये मैंने ऐसा किया माँ !'

नामदेवकी माँको याद आया कि मैंने नामदेवको उस दिन काढ़ेके लिये पलासकी छाल लाने भेजा था । नामदेवकी माँ रो पड़ी, उसने कहा—'बेटा नामू ! मालूम होता है तू महान् साधु होगा । पेड़ोंमें और दूसरे जीव-जन्तुओंमें भी मनुष्यके ही जैसा जीव है । अपने चोट लगनेपर दुःख होता है, वैसा ही उनको भी होता है ।'

बड़ा होनेपर यही नामू प्रसिद्ध भक्त नामदेव हुए ।

एकनाथजीकी अक्रोध-परीक्षा

पैठणमें कुछ दुष्टोंने मिलकर घोषणा की कि 'जो कोई एकनाथ महाराजको क्रोध दिला देगा, उसे दो सौ रुपये इनाम दिया जायगा ।' एक ब्राह्मण युवकने बीड़ा उठाया । वह दूसरे दिन प्रातःकाल एकनाथजीके घर पहुँचा । उस समय एकनाथजी पूजा कर रहे थे । वह बिना हाथ-पैर धोये और बिना किसीसे पूछे-जाँचे सीधा पूजाघरमें जाकर उनकी गोदमें जा बैठा । उसने सोचा था—ऐसा करनेपर एकनाथजीको जरूर क्रोध होगा, परंतु उन्होंने हँसकर कहा—'भैया ! तुम्हें देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ । मिलते तो बहुत-से लोग हैं, परंतु तुम्हारा प्रेम तो विलक्षण है ।' वह देखता ही रह गया । उसने सोचा कि इनको क्रोध दिलाना तो बहुत कठिन है, पर उसे दो सौ रुपयेका लोभ था, इससे फिर दूसरी बार चेष्टा करनेका विचार किया । भोजनके समय उसका आसन एकनाथजीके पास ही लगाया गया । भोजन परोसा गया । घी परोसनेके लिये एकनाथजीकी पत्नी गिरिजाबाई आयीं । उन्होंने ज्यों ही झुककर ब्राह्मणकी दालमें घी परोसना चाहा, त्यों ही वह लपककर उनकी पीठपर चढ़ गया । एकनाथजीने पत्नीसे कहा—'देखना, ब्राह्मण कहीं गिर न पड़े ।' गिरिजाबाई भी एकनाथजीकी ही धर्मपत्नी थीं । उन्होंने मुसकराते हुए कहा—'कोई डरकी बात नहीं है, मुझे हरि (एकनाथजीके पुत्रका नाम था) को पीठपर लादे काम करनेका अभ्यास है । इस बच्चेको मैं कैसे गिरने दूँगी ?' यह देख-सुनकर तो ब्राह्मणकी सारी आशा टूट गयी । वह लुढ़ककर एकनाथजीके चरणोंमें गिर पड़ा और क्षमा माँगने लगा ।

तुकारामका विश्वास

तुकाराम मराठा-इतिहासमें एक स्मरणीय तथा अलौकिक पुरुष हो गये हैं। वे अत्यन्त चतुर तथा विनोदी थे। प्रपञ्चोंसे वे सदा दूर रहते थे। व्यक्ति-पूजा उनकी प्रकृतिके विरुद्ध बात थी। वे परम त्यागी तथा उच्चकोटिके भगवद्भक्त थे। १६२९-३० के भीषण अकालमें उनके स्त्री-पुत्र रोटी-रोटी करते कालकवलित हो गये, पर उनके अडिग भगवद्विश्वासमें तनिक भी अन्तर न आया।

इनका पशु-पक्षियोंपर भी अपार अनुराग था। एक बार एक किसानने उन्हें अपने खेतकी रखवालीपर नियुक्त किया। कुछ लुटेरे आये और खेतको पशुओं तथा अपने हाथोंसे उजाड़ दिया। ध्यानमग्न संत तुकाराम कुछ न बोले। किसान आया और उन्हें खेत उजाड़नेका अपराधी ठहराया। पर आश्चर्य! जब तुकारामने उस खेतपर दृष्टि डाली तो वह खेत पूर्ववत् लहलहा उठा। इससे प्रसन्न होकर किसान उन्हें कुछ अनाज देने लगा, पर तुकारामने अस्वीकार कर दिया।

सेवा-भाव

समर्थका पनबट्टा

समर्थ स्वामी रामदासजी वृद्ध हो गये थे। छत्रपति शिवाजीने उनकी सेवाकी व्यवस्था कर दी थी। अनेक सेवक नियुक्त कर दिये थे सेवामें। परंतु श्रीसमर्थ अपने विशेष कृपापात्रोंसे ही सेवा लेते थे। श्रीसमर्थको प्रसाद लेनेके पश्चात् पानकी आवश्यकता होती थी। बहुत समयसे ताम्बूल-सेवनका उन्हें अभ्यास था। दाँत न होनेसे ताम्बूल पनबट्टेमें कूटकर उन्हें दिया जाता था।

एक दिन पानमें कुछ चूना अधिक हो गया। श्रीसमर्थके मुखमें घाव हो गये उस पानको खानेसे। पान देनेकी सेवा जिसकी थी, उसे समर्थने तो कुछ कहा नहीं, किंतु वह स्वयं बहुत दुखी हो गया। 'ऐसा कष्ट फिर गुरुदेवको न हो, इसका उपाय कौन-सा है?' वह इस चिन्तामें पड़ गया। अन्तमें उसे एक उपाय सूझ गया। उसकी सेवा चलती रही। फिर समर्थके पानमें चूना कभी अधिक नहीं हुआ।

अचानक एक दिन उस सेवकका वह उपाय दूसरे सेवकने देख लिया। वह दूसरा सेवक तो ग्लानिसे सिहर उठा। उसी समय वह छत्रपतिकी सेवामें उपस्थित हुआ। छत्रपतिने उसकी बात सुनी और सुनते ही उनका चेहरा क्रोधके मारे तमतमा उठा। वे तुरंत श्रीसमर्थके आश्रमपर पहुँचे।

असमयमें छत्रपतिको आया देख समर्थने पूछा—'शिवा! इस समय कैसे आये?'

शिवाजीने मस्तक चरणोंपर रखकर प्रणाम किया। वे हाथ जोड़कर बोले—'सुना है, स्वयं ताम्बूल चबाकर सेवक वह उच्छिष्ट आपको देता है।'

जैसे कुछ जानते ही न हों, इस भोलेपनसे श्रीसमर्थ बोले—'ऐं! ऐसा करता है वह? कहाँ है! बुलाओ तो।'

सेवक आया। छत्रपतिने ही उससे पूछा—'गुरुदेवको तुम्हीं ताम्बूल देते हो? कूटकर ताम्बूल देते हो न? जिस पनबट्टेमें ताम्बूल कूटते हो, वह पनबट्टा ले तो आओ।'

सेवक चला गया। कुछ देरमें हाथमें एक थाल लिये वह लौटा। उसका शरीर रक्तसे लथपथ हो रहा था।

चाकूसे अपना पूरा जबड़ा काटकर उसने थालमें रख दिया था। थाल धर दिया उसने छत्रपतिके सम्मुख।

'यह पनवट्टा!' श्रीसमर्थने बड़े स्नेहसे देखा थालीमें रक्खे जबड़ेकी ओर और अपने चरणोंमें पड़े प्राण त्यागते सेवककी ओर। शिवाजीने मस्तक झुका दिया था। उनके नेत्रोंसे टपाटप अश्रु गिर रहे थे!

देशके लिये बलिदान

रूस और जापानका युद्ध चल रहा था। पिछले महासमरकी बात नहीं कही जा रही है। रूस था जारका साम्राज्यवादी रूस और जापान था एशियाकी विकासोन्मुख शक्ति। जारने कहा था—'रूसी टोपियाँ फेंक देंगे तो जापानी बौना पिस जायगा।'

युद्धके मैदानमें सभीको कभी आगे बढ़ने और कभी पीछे हटनेका अवसर आता है। एशियन फौजोंके दबावसे जापानी सैनिकोंको एक पर्वतीय टीला खाली करके पीछे हटना पड़ा। दूसरी सब सामग्री तो हटा ली गयी; किंतु एक विशाल तोप पीछे छूट गयी।

सारी सेना पीछे सुरक्षित हट गयी थी, निश्चिन्त थी; किंतु तोपचीको शान्ति नहीं थी। 'मेरी ही तोपसे कल शत्रु मेरे देशके सैनिकोंको भूनना प्रारम्भ करेगा।' तोपचीको यह चिन्ता खाये जा रही थी। रूसी सैनिकोंके पास बड़ी तोपें नहीं थीं। यह पहिली बड़ी तोप उन्हें मिलनेवाली थी। तोपचीसे रहा नहीं गया। वह रात्रिके अन्धकारमें शिविरसे निकल पड़ा। वृक्षोंकी आड़ लेता, पेटके बल खिसकता पहाड़ीपर जा पहुँचा।

तोपची तोपके पास पहुँच तो गया; किंतु करे क्या? इतनी भारी तोप उस अकेलेसे हिलतक नहीं सकती थी। वह उसका एक पुर्जा भी तोड़ने लगे तो शत्रु जाग जाय और उसे पकड़ ले। अन्तमें कुछ सोचकर वह तोपकी भारी नलीमें घुस गया। बाहर बर्फ पड़ रही थी, तोपकी नलीके भीतर तोपचीकी हड्डियाँ तक जैसे फटी जा रही थीं। वह दाँत-पर-दाँत दबाये पड़ा था। उसकी पीड़ा असह्य हो गयी थी।

सबेरा हुआ। एशियन सैनिक-सेनानायकोंने तोपको चारों ओरसे घूमकर देखा। उसकी परीक्षा करनेका निश्चय करके गोला-बारूद भरवाया उसमें। पलीता दिया गया और सामनेका वृक्ष रक्तसे लाल हो गया। नलीमें घुसे तोपचीके चिथड़े उड़ चुके थे।

अन्धविश्वासी जारके सैनिक चिल्लाये—'धूर्त जापानी तोपपर कोई जादू कर गये हैं। इसमें शैतान बैठा गये हैं जो नलीसे खून उगल रहा है। पहाड़ी छोड़कर भागो जल्दी।'

तोपको वहीं छोड़कर वे सब भाग खड़े हुए। जापानी सेना फिर लौटी वहाँ और उसके नायकने तोपचीके सम्मानमें वहाँ स्मारक बनाकर सलामी दी।—सु० सिं०

उदारता

इंगलैंडकी प्रसिद्ध संस्था 'रॉयल एकडेमी'की चित्र सजानेवाली समितिकी बैठक हो रही थी। एकडेमी हालमें सुसज्जित करनेके लिये देश-विदेशके चित्रकारोंने अपने श्रेष्ठतम चित्र भेजे थे। जितने चित्र सजाये जा सकते थे वे सजा दिये गये थे, अब एक चित्र भी लगानेको स्थान नहीं था। किंतु एक नवीन चित्रकारका चित्र सामने था और सुन्दर था। एक सदस्यने कहा—'चित्र तो उत्तम है; किंतु इसे अब लगाया कहाँ जाय?'

इंगलैंडके विख्यात चित्रकार टनर भी उस समितिके सदस्य थे, वे बोले—'माननीय सदस्योंको चित्र पसंद आयेगा तो उसे लगानेके स्थानका अभाव नहीं होगा ?'

'आप कहाँ लगायेंगे उसे ?' सदस्योंने पूछा। टर्नर उठे, उन्होंने स्वयं अपना एक चित्र उतारा और उस चित्रको वहाँ लगा दिया। टर्नरका चित्र उस चित्रसे बहुत उत्तम था; किंतु उन्होंने कहा—'नवीन कलाकारको प्रोत्साहन प्राप्त होना चाहिये।' —सु० सिं०

सार्वजनिक सेवाके लिये त्याग

बर्मामें श्वेबू गाँवके पास एक बड़ा बाँध बनाया गया था। आसपासके गाँवोंके किसानोंने उसे बनानेमें सहयोग किया था। वर्षा समाप्त हो जानेपर किसानोंके खेत बाँधके पानीसे सींचे जा सकेंगे, यही आशा थी। परंतु सभी आयोजनोंके साथ भय लगा रहता है। अचानक रातमें घोर वृष्टि हुई। नदीमें बाढ़ आ गयी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि नदीका जल किनारा तोड़कर बाँधमें प्रवेश कर जायगा और यदि बाँध टूट गया—यह सोचकर ही किसानोंके प्राण सूख गये—तो बाँसके टट्टरोंसे बने घर बाढ़के प्रवाहमें कितने क्षण टिकेंगे? मनुष्य और पशुओंका जो विनाश होगा, वह दृश्य सामने जान पड़ने लगा!

चौकीदारोंने लोगोंको सावधान करनेके लिये हवामें गोलियाँ छोड़ीं। गाँवके लोग बाँधकी देख-रेखमें जुट गये, मिट्टी, पत्थर, रेत बाँधके किनारे तेजीसे पड़ने लगा।

बाँध कहीं कमजोर तो नहीं है, यह देखनेका काम सौंपा गया माँग नामक व्यक्तिको। घूमते हुए माँगने देखा कि बाँधमें एक स्थानपर लंबा पतला छेद हो गया है और उसमेंसे नदीका जल भीतर आ रहा है। कुछ क्षणका भी समय मिला तो वह छेद इतना बड़ा हो जायगा कि उसे बंद करना शक्य नहीं होगा। दूसरा कोई उपाय तो था नहीं, माँग स्वयं उस छेदको अपने शरीरसे दबाकर खड़ा हो गया।

ऊपरसे वर्षा हो रही थी, शीतल वायु चल रही थी और जलमें जलके वेगको शरीरसे दबाकर माँग खड़ा था। उसका शरीर शीतसे अकड़ा जाता था, हड्डियोंमें भयंकर दर्द हो रहा था। अन्तमें वह वेदनासे मूर्छित हो गया। किंतु उस वीरका देह फिर भी जलके वेगको रोके बाँधसे चिपका रहा।

'माँग गया कहाँ ?' गाँवके दूसरे लोगोंने थोड़ी देरमें खोज की; क्योंकि बाँधके निरीक्षणके सम्बन्धमें उन्हें कोई सूचना माँगने दी नहीं थी। लोग स्वयं बाँध देखने निकले। बाँधसे चिपका माँगका चेतनाहीन शरीर उन्होंने देख लिया।

'माँग!' परंतु माँग तो मूर्छित था, उत्तर कौन देता। लोगोंने उसके देहको वहाँसे हटाया तो बाँधमें नदीका प्रवाह आने लगा। दूसरा मनुष्य उस छेदको दबाकर खड़ा हुआ। कुछ लोग मूर्छित माँगको गाँवमें उठा ले गये और दूसरे लोगोंने उस छेदको बंद किया।

माँगकी इस वीरता और त्यागकी कथा बर्मी माताएँ आज भी अपने बालकोंको सुनाया करती हैं।—सु० सिं०

सत्यकी शक्तिका अद्भुत चमत्कार

(लेखक—श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)

स्काटलैंडके लोगोंने इंगलैंडके राजाके विरुद्ध विद्रोह किया। विद्रोहके असफल हो जानेपर विद्रोहियोंको बड़ी निर्दयतापूर्वक दण्डित किया गया। लोग कतारमें खड़े किये और गोलीसे उड़ा दिये जाते थे। एक बार

एक पंद्रहवर्षीय लड़का गोलीसे उड़ाये जानेके लिये कतारमें खड़ा किया गया। सेनापतिको उस बालकपर दया आयी। उसने कहा 'बच्चे! यदि तुम क्षमा माँग लो तो तुम मृत्यु-दण्डसे बच सकते हो।' लड़केने क्षमा माँगनेसे इनकार कर दिया। इसपर सेनापतिने लड़केसे कहा—'मैं तुम्हें चौबीस घंटेकी छुट्टी देता हूँ। तुम्हारा कोई प्रिय जन हो तो जाकर उससे मिल आओ।' लड़का अपनी अकेली माँसे मिलने घर चला गया। जाकर देखा कि माँ बेहोश पड़ी है। माँको होशमें ले आनेपर कहा, 'माँ! मैं आ गया हूँ।' अपने एकलौते बेटेका मुँह देखकर और यह सोचकर कि पुत्रकी जान बच गयी है, माँको अपार हर्ष हुआ। उसने बालकको गोदमें बिठाकर उसे जी भरकर प्यार किया। समय समाप्त होता जानकर बालक जानेकी तैयारी करने लगा। माँने पूछा, 'बेटा! कहाँ जाते हो?' बालककी आँखोंमें आँसू आ गये। हृदयको सँभालकर उत्तर दिया, 'माँ! मुझे चौबीस घंटेकी छुट्टी मिली थी। मृत्युदण्ड पानेके लिये कैम्पको जाता हूँ। ईश्वर तुम्हारा रक्षक है।' माँको कुछ कहनेका अवसर दिये बिना ही बालक घरसे निकल गया और ठीक समयपर सेनापतिके पास पहुँच गया। सेनापतिको उस बालकके लौटनेकी आशा न थी। बालककी सचाईसे सेनापतिपर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने तत्काल उसकी मुक्तिकी आज्ञा जारी कर दी।

वस्तुतः सत्यसे चरित्रमें बल आता, मनुष्यका विश्वास बढ़ता और कठोर-से-कठोर हृदयमें भी कोमलता और दयाका संचार हो जाता है।

सत्यवादितासे उन्नति

पोप पाइस नवमको एक दिन विचित्र पत्र मिला जिसमें स्याहीके अनेक धब्बे थे। बहुत-सी भूलें थीं। कागज अत्यन्त मैला था। उसे रोमके अड़ोस-पड़ोसके एक गाँवमें रहनेवाले बालकने भेजा था और मृत्यु-शय्यापर पड़ी हुई माँकी सेवा-शुश्रूषा और दवाके लिये सहायता माँगी थी। बालकने अत्यन्त असहाय स्थितिमें पत्र लिखा था; उसके पास एक पैसा भी नहीं था; जो कुछ था सो पहले ही समाप्त हो चुका था, उसे विश्वास था कि धर्मगुरु और ईश्वरके परम भक्त होनेके नाते पोप अवश्य सहायता करेंगे।

× × × ×

'मैं पोपसे मिलना चाहता हूँ।' बालकने पोपके निवास-स्थानपर पहुँचकर द्वारपालको पत्रोत्तर दिखाया था, जिसमें पोपने दूसरे दिन सवेरे मिलनेकी इच्छा प्रकट की थी।

पोप बड़े उदार थे। उन्होंने बालकको एक स्वर्ण-मुद्रा दी। उसकी ओर बड़े स्नेहसे देखकर कहा कि 'शीघ्र ही घर जाकर माँका यथाविधि उपचार करो।'

'पर यह तो केवल बीस ही लाइर*का है। इतनेसे काम न चलेगा।' बालकके नयनोंमें करुण याचना थी।

'क्षमा करो, भाई! मुझे तुम्हारे पत्रका स्मरण ही नहीं रहा।' पोपने एक मुद्रा और दी।

'पर यह तो मेरी आवश्यकतासे अधिक है। मेरे पास फुटकर सिक्के भी नहीं हैं; कल सवेरे शेष पैसे अवश्य लौटा दूँगा।' बालकने पोपको धन्यवाद दिया और चला गया।

× × × ×

दूसरे दिन सवेरे-सवेरे वह पोपके सामने अपने वचनके अनुसार उपस्थित हुआ। शेष पैसे लौटाने ही जा रहा था कि पोपने उसकी सत्यवादिताकी बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने बालकके आनेके पहले ही अपना

* लाइर—मध्यकालीन इटलीका एक सिक्का।

विशेष सेवक भेजकर बालक और उसकी माँकी स्थितिका पता लगा लिया था। वे बालकको देखकर बहुत प्रसन्न हुए।

'मैंने तुम्हारी शिक्षा और माताकी सेवा-शुश्रूषाकी पूरी-पूरी व्यवस्था कर दी है।' पोप पाइसने बालकको आश्वासन दिया।

उनकी कृपासे बालकने आगे चलकर बड़ा नाम कमाया।—रा० श्री०

सच्ची मित्रता

सिसलीके सिराक्यूज नगरके राजा ड्योनिसियसने सामान्य अपराधमें डेमन नामके एक युवकको प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी। डेमनने प्रार्थना की—'मुझे एक वर्षका समय दिया जाय तो ग्रीस जाकर अपनी सम्पत्ति और परिवारका प्रबन्ध करके ठीक समयपर लौट आऊँगा।'

राजाने कहा—'तुम्हें केवल एक शर्तपर छोड़ा जा सकता है—कोई तुम्हारी जमानत ले और वचन दे कि तुम न लौटे तो तुम्हारे स्थानपर वह फाँसीपर चढ़ेगा।'

राजाके निर्णयको सुनकर डेमनका मित्र पीथियस आगे आया। उसने डेमनकी जमानत ली। पीथियस नजरबंद किया गया और डेमन छोड़ दिया गया। दिन बीतने लगे, वर्ष पूरा होनेको आया; किंतु डेमनके लौटनेका कोई समाचार नहीं मिला। पीथियसको फाँसीपर चढ़ानेका समय आ गया। लोगोंने कहा—'पीथियस कितना मूर्ख है। भला प्राणदण्ड पानेके लिये कोई स्वयं उपस्थित हो सकता है।'

उधर पीथियस प्रसन्न था। उसे विश्वास था कि उसका मित्र अवश्य समयपर लौटेगा। परंतु वह सोच रहा था—'कितना अच्छा हो कि समुद्रमें तूफान आवे, डेमनका जहाज मार्ग भटक जाय। डेमन समयपर न पहुँचे। मेरे मित्रके प्राण बच जायँ और उसके बदले राजा मुझे फाँसीपर चढ़ा दे।'

सचमुच डेमन निश्चित समयतक नहीं लौटा। पीथियसको प्राणदण्ड देनेकी आज्ञा हो गयी। उसे वध-स्थलपर पहुँचाया गया। परंतु उसी समय हाँफता-दौड़ता डेमन वधस्थलपर पहुँचा और दूरसे ही चिल्लाया—'मैं डेमन हूँ! मेरे मित्रको फाँसी मत दो! मैं आ गया!'

डेमन चला था समयसे ही; किंतु उसका जहाज समुद्री तूफानमें पड़ गया। किसी प्रकार किनारे पहुँच-कर डेमन, जो भी सवारी मिली उसीसे, दौड़ा। उसका अन्तिम घोड़ा दौड़नेके वेगके कारण गिरकर मर गया था। डेमन कई दिनोंसे भूखा था, उसके पैरोंमें दौड़नेसे छाले पड़ गये थे। उसके बाल बिखर रहे थे। उसे एक ही धुन थी कि समयपर पहुँचकर अपने मित्रके प्राण बचा ले।

राजा इन दोनों मित्रोंका यह परस्पर प्रेम देखकर चकित हो गया। उसने डेमनका प्राणदण्ड क्षमा कर दिया और प्रार्थना करके स्वयं भी उनका मित्र बन गया। दोसे तीन सच्चे मित्र हो गये।—सु० सिं०

दो मित्रोंका आदर्श प्रेम

एक देशमें दो आदमी दुर्भाग्यसे गुलाम बन गये थे। एकका नाम एन्टोनिओ था और दूसरेका नाम सेजर। दोनों एक ही जगह काम करते, खाते-पीते तथा उठते-बैठते थे। धीरे-धीरे उनमें परस्पर प्रेम हो गया। छुट्टीके समय दुःख-सुखकी बातें करनेसे उनको गुलामीका असह्य दुःख कुछ कम जान

पड़ता था ।

वे दोनों समुद्रके किनारे एक पर्वतके ऊपर रास्ता खोदनेका काम प्रतिदिन करते थे। एक दिन एन्टोनिओने एकदम काम छोड़ दिया और समुद्रकी ओर नजर करके एक लंबी साँस छोड़ी। वह अपने मित्रसे कहने लगा—'समुद्रके उस पार मेरी बहुत-सी प्यारी वस्तुएँ हैं। प्रतिक्षण मुझे ऐसा लगता है कि मानो मेरी स्त्री और लड़के समुद्रके किनारे आकर एक दृष्टिसे इस ओर देख रहे हैं और यह निश्चय करके कि मैं मर गया हूँ, रो रहे हैं। मेरी इच्छा होती है कि मैं तैरकर उनके पास पहुँच जाऊँ।' एन्टोनिओ जभी उस जगह काम करने जाता, तभी समुद्रकी ओर दृष्टि डालते ही उसके मनमें ये विचार उत्पन्न होते थे। बादको एक दिन एक जहाजको जाते देखकर उसने रोजरसे कहा—'मित्र! इतने दिनों बाद अब हमारे दुःखोंका अन्त आ गया है। देखो, वह एक जहाज लंगर डालकर खड़ा है। यहाँसे दो-तीन कोससे अधिक दूरीपर नहीं है। हम समुद्रमें कूद पड़ें तो तैरते-तैरते उस जहाज-तक पहुँच जा सकते हैं। यदि नहीं पहुँच सकेंगे और मर जायँगे तो इस दासत्वकी अपेक्षा वह मौत भी सौगुनी अच्छी होगी।'

यह सुनकर रोजरने कहा—'तुम इस तरह अपने-को बचा सको तो इससे मैं बड़ा सुखी होऊँगा। तुम देशमें पहुँच जाओगे तो मुझे भी अधिक दिन दुःख नहीं भोगना पड़ेगा। यदि तुम सही-सलामत इस दुःखसे छूटकर घर पहुँच जाओ तो मेरे घर जाकर मेरे माँ-बापकी खोज करना। बुढ़ापेके कारण तथा मेरे शोकसे शायद वे मर गये हों। पर देखना, यदि वे जीते हों तो उनसे कहना कि—' इतना कहते-कहते एन्टोनिओने उसे रोक दिया और वह बोला—'तुम ऐसा क्यों सोच रहे हो कि मैं तुमको इस अवस्थामें अकेला छोड़कर जाऊँगा? ऐसा कभी नहीं हो सकता, तुम और मैं जुदा नहीं। या तो हम दोनों छूटेंगे या दोनों ही मरेंगे।' एन्टोनिओकी बात सुनकर रोजर बोला—'तुम जो कहते हो वह ठीक है; पर मैं तैरना नहीं जानता, इसलिये तुम्हारे साथ कैसे जा सकता हूँ?' एन्टोनिओने कहा—'इसके लिये न घबराओ। तुम मेरी कमर पकड़ लेना। मैं तैरनेमें कुशल हूँ, इसलिये बिना किसी अड़चनके तुमको लेकर जहाजतक पहुँच जाऊँगा।' रोजरने कहा—'एन्टोनि! इसमें कोई आपत्ति नहीं, पर कदाचित् भयभीत होकर मैं तुम्हारी कमर छोड़ दूँ या खींचतान करके तुमको भी डुबा दूँ। इसलिये ऐसा करना जरूरी नहीं है। मेरे भाग्यमें जो होना होगा, वह होगा। तुम अपने बचावका उपाय करो और व्यर्थ समय न गँवाओ। आओ, हम अन्तिम भेंट कर लें।'

इतना कहकर रोजरने आँसूभरी आँखोंसे एन्टोनिओका आलिङ्गन किया। तब एन्टोनिओने कहा—'मित्र! यह रोनेका समय नहीं, बार-बार ऐसा अवसर न प्राप्त होगा।'

एन्टोनिओने इतना कहकर अपने मित्रका उत्तर सुननेकी बाट न जोहते उसको ढकेलकर समुद्रमें गिरा दिया और अपने भी उसके पीछे कूद पड़ा। रोजरने समुद्रमें गिरते ही घबराकर जीवनकी आशा छोड़ दी, पर एन्टोनिओने उसको हिम्मत दिलाकर बहुत मेहनतसे अपनी कमर पकड़ा दी और वह तैरते हुए जहाजकी ओर जाने लगा।

उस जहाजके आदमियोंने इन दोनोंको पहाड़परसे कूदते हुए देखा था, पर इतनेमें ऐसा मालूम हुआ कि गुलामोंकी सँभाल रखनेवाले आदमी उनको पकड़नेके लिये नौका लेकर आ रहे हैं। रोजर इससे घबराकर बोला—'मित्र एन्टोनि! तुम मुझे छोड़कर अकेले चले जाओ। वह नाववाला मुझे पकड़ने लगेगा, इतनेमें तुम बिना बाधा जहाजपर पहुँच जाओगे। इसलिये अब

तुम मेरी आशा छोड़कर अपना ही बचाव करो। नहीं तो वे हम दोनोंको पकड़कर वापस ले जायँगे।'

इतना कहकर रोजरने एन्टोनिओकी कमर छोड़ दी। पर उत्तम प्रेमका प्रभाव देखिये! एन्टोनिओने उसको कमर छोड़कर पानीमें डूबते हुए देखा और तुरंत ही उसको पानीसे बाहर निकालनेके लिये डुबकी मारी। थोड़ी देरतक वे दोनों पानीके ऊपर दीख न पड़े। इससे नौकावाले आदमी,—यह निश्चय न करके कि किधर जायँ—रुक गये। जहाजके आदमी डेकसे इस अद्भुत घटनाको देख रहे थे। उनमेंसे कुछ खलासी भी एक नावको समुद्रमें डालकर उनकी खोज करने लगे। उन्होंने थोड़ी देरतक चारों ओर बेकार प्रयत्न किया। फिर देखा कि एन्टोनिओ एक हाथसे रोजरको मजबूतीसे पकड़े हुए है और दूसरे हाथसे नौकाकी ओर जानेके लिये बहुत मेहनत कर रहा है। खलासियोंने यह देखकर दयासे गद्गद होकर अपनेमें जितना बल था, उतने डाँड़ मारना शुरू किया। देखते-देखते वे वहाँ पहुँच गये और उन दोनोंको पकड़कर उन्होंने नावमें चढ़ा लिया।

उस समय एन्टोनिओ इतना थक गया था कि मिनटभर और देर लगती तो वे दोनों पानीमें डूब जाते। 'तुम मेरे मित्रको बचाओ'—कहते-कहते वह अचेत हो गया। रोजर भी तबतक अचेत था, परंतु उसने कुछ ही क्षणोंमें आँखें खोलीं और एन्टोनिओको अचेत-अवस्थामें पड़ा देखकर वह बहुत ही व्याकुल हो गया। एन्टोनिओके अचेतन शरीरका आलिङ्गन करके वह आँसू बहाते हुए कहने लगा—'मित्र! मैंने ही तुम्हारा वध किया है। तुमने मेरी गुलामी छुड़ाने और मेरे प्राण बचानेके लिये इतनी मेहनत की, पर मेरी ओरसे उसका यही बदला मिला। मैं बहुत ही नीच हूँ। नहीं तो, तुम्हें मरा देखकर मैं क्यों जी रहा हूँ? तुमको खोकर अब मेरे जीनेसे क्या लाभ?'

इस प्रकार शोकातुर होकर वह एकदम खड़ा हो गया और यदि खलासी उसे बलपूर्वक रोक न लेते तो वह समुद्रमें कूद पड़ा होता। फिर वह बहुत ही विलाप और पश्चात्ताप करके कहने लगा—'क्यों तुमलोग मुझे रोकते हो? मेरे ही कारण इसके प्राण गये हैं।' इतना कहकर वह एन्टोनिओके शरीरके ऊपर पड़कर कहने लगा—'एन्टोनि! मैं जरूर तुम्हारा साथी बनूँगा। प्यारे खलासियो! तुम्हें परमेश्वरकी शपथ है। तुम अब मुझको न रोको। मुझे अपने मित्रका साथी बनने दो।' पर इतनेमें ही एन्टोनिओने एक लंबी साँस ली। रोजर उसे देखकर आनन्दसे अधीर हो उठा और उच्च स्वरसे बोला—'मेरा मित्र जीवित है। मेरा मित्र जीवित है। जगदीश्वरकी कृपासे अब तक इसके प्राण नहीं गये हैं।' खलासी उसको होशमें लानेके लिये बहुत प्रयत्न करने लगे। थोड़ी देरके बाद एन्टोनिओने आँखें खोलकर अपने मित्रकी ओर दृष्टि डालते हुए कहा—'रोजर! तुम्हारी प्राण-रक्षा हो गयी—इसके लिये जगदीश्वरको धन्यवाद दो।' उसके अमृत-जैसे वाक्य सुनकर रोजर इतना प्रसन्न हुआ कि उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी।

थोड़ी देरमें वह नाव जहाजपर पहुँच गयी। जहाजके सभी आदमी खलासियोंके मुँहसे सारी बातें सुनकर उनके ऊपर बहुत स्नेह दिखलाने लगे। वह जहाज माल्टाकी ओर जा रहा था। वहाँ पहुँचनेपर दोनों मित्रोंको किनारे उतार दिया गया और वहाँसे वे अपने-अपने घर गये और सुखसे रहने लगे।
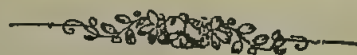
सद्भावना

ट्वायिन्सकी पोलैंडका बहुत बड़ा देशभक्त था; अपने आत्मचिन्तन और दार्शनिक विचारोंके लिये भी वह बहुत प्रसिद्ध था। लोग उसका बड़ा सम्मान करते थे।

एक दिन बड़ी भयानक जलवृष्टि हो रही थी। ट्वायिन्सकी अपने घरसे बाहर गया हुआ था। रास्तेमें उसकी एक मित्रसे भेंट हुई जो उसे देखकर आश्चर्य-चकित हो गया। बात यह थी कि ट्वायिन्सकी एक कुत्तेको बड़े प्यारसे थपथपा रहा था और कुत्ता कीचड़से लथपथ होकर उसके शरीरकी ओर उछल-उछलकर कपड़ोंको गंदा कर रहा था। ट्वायिन्सकी बहुत प्रसन्न दीखता था।

'भाई! आपका कुत्तेके प्रति यह बर्ताव मुझे अत्यन्त आश्चर्यचकित कर रहा है। यह आपके कीमती कपड़ोंको कीचड़से गंदा कर रहा है और इसको हटानेके बदले आप प्यार दे रहे हैं।' मित्रके इन शब्दोंको सुनकर ट्वायिन्सकी हँस पड़ा।

'कुत्ता मुझे पहले-पहल मिला है, मेरे प्रति उसने बड़ी आत्मीयता प्रकट की है; मेरे सामने उछल-कूदकर तथा मेरे पैरोंसे लिपट-लिपटकर वह मुझे मित्र समझ रहा है। इसकी भावनाएँ सराहनीय हैं। यदि मैं कीमती कपड़ोंके मोहसे इसे हटा दूँ तो इसकी आत्मीयताको कितना बड़ा धक्का लगेगा और बेचारेका प्रेमोत्साह समाप्त हो जायगा।' ट्वायिन्सकीने अपने मित्रका समाधान किया।

'कीमती कपड़ोंका इसके प्यारके सामने कोई मूल्य ही नहीं है। प्रत्येक प्राणीमें भगवान्‌का निवास है; उसके साथ आत्मवत् बर्ताव करना ही श्रेयस्कर है; इस शुभ कार्य और सद्भावनासे भगवान् प्रसन्न होते हैं। वास्तवमें यही भागवत जीवन है।' ट्वायिन्सकीने कुत्तेको प्रेमसे देखा और मित्रसे विदा ली।—रा० श्री०
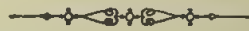
'स्वर्ग ही हाथसे निकल जायगा'

यूरोपके इतिहासमें मार्टिन लूथरका नाम स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित है। वे अपने समयके बहुत बड़े आध्यात्मिक नेता थे; उन्होंने मध्यकालीन यूरोपमें धार्मिक क्रान्ति की थी। यूरोपियन राजाओं और सामन्तोंकी दृष्टिमें वे बड़े सम्मानित व्यक्ति थे।

एक समयकी बात है। लूथर डाउगरकी रानीके साथ भोजन कर रहे थे। रानीने उनके कार्योंकी प्रशंसा की और कहा कि 'बड़ा अच्छा हो यदि आप आनेवाले चालीस वर्षोंतक जीवित रहें।'

'महोदया! मैं समझता हूँ कि यदि मैं चालीस सालतक और जीवित रहा तो इतने समयमें मेरे हाथसे स्वर्ग ही निकल जायगा।' लूथरके शब्द थे। रानी महात्मा लूथरके उद्गारसे स्तब्ध हो गयी।—रा० श्री०

प्रार्थनाका प्रभाव

लूसाने तंबाकू पीनेकी आदत छोड़नेका अमित प्रयत्न किया, पर वह सफल न हो सकी। चालीस सालकी अवस्थामें पहुँचनेपर उसका मन तंबाकू पीनेमें इतना आसक्त हो गया कि उसे अन्य कोई पदार्थ अच्छा ही नहीं लगता था। वह अनवरत बहुत समयतक भगवान्‌से प्रार्थना करती रही, पर इस निकृष्ट व्यसनसे अपना पीछा न छुड़ा सकी। उसके मनमें विश्वास था कि भगवान् नित्यप्रति मेरी प्रार्थना सुनते हैं और किसी-

न-किसी दिन वे मुझे अपनी कृपासे धन्य करेंगे ही। वह नित्य एकान्तमें बैठकर घंटों कहा करती थी—'हे भगवान्! मैं अपनी कमजोरियोंपर आजतक विजय नहीं प्राप्त कर सकी; मैं बहुत दुखी और चिन्तित हूँ।'

एक दिन लूसा आग ताप रही थी कि अचानक उसने आवाज सुनी—'तंबाकू पीना बंद करो।' 'क्या मेरे व्यसनका अन्त हो जायगा?' लूसाके मुखसे शब्द निकल पड़े। वह चौंक उठी।

'लूसा तंबाकू पीना बंद करो। हुक्का अलग रख दो।' आवाज उसके कानोंके अत्यन्त निकट आ गयी।

लूसा उठ पड़ी। उसने हुक्का अंगीठीके निकट ही काठकी एक आलमारीपर रख दिया। उसने सदाके लिये तंबाकू पीनेका त्याग कर दिया। तंबाकू पीने-वालोंको देखकर या उसकी गन्धसे भी वह कभी तंबाकूकी ओर आकृष्ट नहीं हो सकी।—रा० श्री०
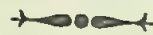
जीवन-व्रत

'आपको अवश्य जाना चाहिये; सिकन्दर उदार है; अभी कल ही उसने पोरस (पुरु) महाराजके साथ राजाका-सा बर्तावकर जो उदारता दिखायी है, उसके कारण भारतीय इतिहासमें वह अमर हो गया।' महात्मा मन्दनीसने कालानूस (कल्याण) को अपने दर्शनसे धन्य करनेकी प्रेरणा दी। दोनों उच्च कोटिके संत थे। तक्षशिलासे तीन मीलकी दूरीपर नदी-तटके एक नितान्त निर्जन वनमें एकान्त-सेवन करते थे। मृगचर्म और मिट्टीके करवा तथा भिक्षाद्वारा प्राप्त अन्न ही उनके जीवन-निर्वाहके साधन थे। उनका आचरण अत्यन्त तपोमय था। यूनानी शासक सिकन्दरकी बड़ी इच्छा थी उनके दर्शनकी।

'सिकन्दरका अलंकार महती सेना है; संतमण्डलीसे उसका क्या काम है? वह नदी, पहाड़ और पृथ्वीपर शासन करनेवाला है; हमारा मन और आत्मापर शासन है। यह कदापि उचित नहीं है कि मैं उसके साथ भारतसे बाहर जाऊँ।' कालानूस इस तरह निवेदन कर ही रहे थे कि सिकन्दरने घोड़ेसे उतरकर दोनों संतोंका अभिवादन किया। यूनानी विजेता कुशके आसनपर बैठ गया।

'मैं समझता हूँ कि मेरे साथ आपको वह शान्ति नहीं मिलेगी जो आप भरतखण्डके पवित्र पञ्चनद देशमें प्राप्त कर रहे हैं, पर आप ही बतायें कि सुकरात प्लेटो और अरिस्टाटिल (अरस्तू) तथा पीथागोरसका देश यूनान किस प्रकार भारतीय ज्ञानामृत-सागरमें स्नान कर सकेगा? आप मेरे लिये नहीं तो यूनानके असंख्य प्राणियोंको ज्ञान देनेके लिये अवश्य चलें। एक विदेशी जगद्गुरु भारतसे दूसरी भिक्षा ही क्या माँग सकता है?' सिकन्दरने संतकी कृपादृष्टिकी याचना की और मन्दनीसके संकेतपर कालानूसने सिकन्दर-के साथ जानेकी स्वीकृति दे दी।

× × × ×

'ज्वराक्रान्त होना हमारे जीवनकी पहली घटना है, सिकन्दर!' तिहत्तर सालकी अवस्थावाले संतने फारसके शिबिरमें अपनी बीमारीका विवरण दिया। जलवायु अनुकूल न होनेसे वे रुग्ण थे।

'पर आपका जीवन-व्रत तो अमित भयंकर है। यह तो आपके देशके महात्माओंका हठ मात्र है कि रुग्ण होनेपर शरीर-त्याग कर दिया जाय।' सिकन्दर बड़े आश्चर्यमें था।

'यह हठ नहीं, जीवनकी कठोर वास्तविकता है। हमारे सदाचार और ब्रह्मचर्य-पालनमें इतना बल है कि रुग्णता क्या—मृत्युको भी एक बार लौट जाना पड़ता है।' भारतीय महात्मा कालानूसने चिता प्रज्वलित करनेका संकेत किया।

'यह शरीर अपवित्र है, इसमें पवित्रतम चिन्मय तत्त्व—आत्मा (परमात्मा) का वास अब मेरे लिये सह्य नहीं है । रोग पापसे आते हैं । मैं अपने पाप-शरीरको सजीव नहीं रख सकता ।' कालानूस जलती चितामें बैठ गये । लाल-लाल लपटोंने गगनके अधर चूम लिये । —रा० श्री०

आप बड़े डाकू हैं

जिस समय सिकन्दर महान्‌की सेनाएँ दिग्विजय करती हुई सारे विश्वको मैसीदोनियाके राजसिंहासन-के आधिपत्यमें लानेका प्रयत्न कर रही थीं, ठीक उसी समय एक नाविकने सिकन्दरको अपनी निर्भीकतासे आश्चर्यचकित कर दिया था।

नाविकका नाम धौमेदस था। वह अपनी एक लंबी-सी नावपर बैठकर समुद्र-यात्रियोंके जहाजोंपर छापा मारकर उनके सामान आदि लूट लिया करता था। एक दिन अचानक वह पकड़ लिया गया और अपराधीके रूपमें सिकन्दरके सामने लाया गया ।

'तुम्हारा यह काम पापपूर्ण है। दूसरोंको चोरी-से लूट लेना अच्छा नहीं कहा जा सकता है। तुम किस तरह मेरे राज्यमें समुद्रकी शान्ति भङ्ग करनेका साहस करते हो । तुम्हें बड़ी-से-बड़ी सजा मिलनी चाहिये । तुम डाकू हो ।' सिकन्दरने क्रोध प्रकट किया ।

'आपको ऐसी बात कहते लज्जा नहीं आती है? मुझसे बड़े—कहीं बड़े—डाकू तो आप हैं । मैं तो एक छोटी-सी नावका अधिपति हूँ और कभी-कभी पेट पालनेके लिये लोगोंको लूट लेता हूँ। मुझसे कम हानि होती है । पर आप तो बड़े-बड़े जहाजी बेड़ोंके मालिक हैं; रात-दिन विशाल पृथ्वीपर असंख्य प्राणियोंको मृत्युके घाट उतारकर धन-जनका संहार करते रहते हैं । बड़े-बड़े देशोंको लूटा है आपने, कितनी महान् क्षति होती है आपके द्वारा । मुझमें और आपमें अन्तर केवल इतना ही है कि मैं छोटा डाकू हूँ तो आप बड़े डाकू हैं। यदि भाग्य मेरा साथ दे तो मैं आपसे भी बड़ा डाकू हो सकता हूँ।'

धौमेदसने यों सिकन्दरकी कड़ी-से-कड़ी आलोचना की। सिकन्दर महान् उसकी निर्भीकता और सत्य कथन-से बहुत प्रभावित हुआ । उसने डाकूको क्षमा कर दिया और एक बड़े राज्यका आधिपत्य सौंप दिया। डाकूने अपना डकैतीका पेशा छोड़ दिया ।—रा० श्री०

(जेस्टा रोमानोरम)

सिकन्दरकी मातृभक्ति

कहते हैं कि सिकन्दर अपने मित्रोंको अत्यन्त प्यार करता था। पर उसकी मातृभक्ति इतनी प्रबल थी कि वह उनसे हजारगुना माताकी प्रतिष्ठा करता था। एक बारकी बात है कि जब सिकन्दर बाहर था, तब अंटीपेटर नामक उसके एक मित्रने सिकन्दरको लिखा—'आपकी माताके हस्तक्षेपसे राजकार्यका परिचालन बड़ा कठिन हो गया है। उनका स्वभाव आप जानते ही हैं, वे स्त्री होनेपर भी सदा राजकार्यमें हस्तक्षेप करती रहती हैं।'

सिकन्दरने इस पत्रको पढ़ा और हँसकर लिख दिया—'मेरी माताका एक बूँद आँसू तुम्हारी हजारों चिट्ठियोंको पोंछ डाल सकता है । इसका सदा ध्यान रखना ।'

कलाकारकी शिष्टता

प्राचीन समयकी बात है। यूनान अपनी कला और दर्शनके लिये दूर-दूरके देशोंमें प्रसिद्ध था। यूनानके कारिन्थ प्रदेशमें पेरियंडर नामका एक राजा था जो बहुत संगीत-प्रेमी, साहित्य-मर्मज्ञ और कलाविद् था। उसकी राजसभामें एरियन नामक एक गायक रहता था जो वीणावादनमें बहुत ही कुशल था। वह समय-समयपर राजाका मन अपनी संगीत-माधुरीसे बहलाया करता था। अचानक उसने अन्य देशोंके भ्रमणकी बात सोची और वह सिसली चला गया। वहाँ थोड़े ही समयमें वह बहुत धनी हो गया और सम्मानित व्यक्तियों-की श्रेणीमें आ गया, पर इतनी समृद्धि और प्राकृतिक सौन्दर्यकी गोदमें निवास करनेपर भी उसका मन सिसली-में नहीं लगा। कारिन्थके सम्मान और सरस वातावरणमें उसे जो सुख मिला करता था, उसकी विदेशमें उसे गन्ध-तक नहीं मिली।

× × × ×

'यह तो असाधारण धनी है। देखो न, इसके पास सोनेके सिक्कों और आभूषणोंसे भरी कितनी पेटियाँ हैं।' जहाज चलानेवालोंने आश्चर्य प्रकट किया। जहाज अपनी प्रबल गतिसे अथाह सागरका वक्ष चीर-कर कारिन्थकी ओर बढ़ रहा था। समीरके मन्द-मन्द संचारसे प्रसन्न होकर अपनी वीणापर एरियन नये संगीतकी स्वरलिपि कर रहा था। अपने मित्र पेरियंडर-के मनोरञ्जनके लिये नयी ध्वनि निकाल रहा था तारों-से। मल्लाहोंने उसे घेर लिया और प्राण लेनेकी धमकी दी। उनकी आँखोंमें नाच रही थीं धनकी पेटियाँ।

'यदि तुम मेरे प्राण ही लेना चाहते हो तो मेरी एक प्रार्थना है। मैं समझता हूँ कि तुम्हें धन चाहिये। ये पेटियाँ तुम्हारी हैं। मुझे स्वतन्त्रतापूर्वक एक गीत गा लेने दो और इस समुद्रमें अपने ढंगसे प्राण-विसर्जन करने दो।' एरियनका निवेदन था। वह बहुत बढ़िया वस्त्र धारणकर अपने स्थानपर बैठ गया। वीणाके तारों-पर उसकी अँगुलियाँ मृत्यु-गीतकी प्रतिलिपि कर रही थीं। मल्लाहोंने उसे अनुमति दे दी। एरियन झूम-झूम-कर बड़ी मस्तीसे वीणा बजाने लगा—रवि-रश्मियोंकी अरुणिमासे सागरकी चंचल लहरोंमें नयी शक्ति आ गयी थी, उनकी प्रदीप्ति बढ़ गयी थी। एरियन वीणा-वादन समाप्त करते ही समुद्रमें कूद पड़ा। लहरोंने उसको अपनी गोदमें छिपा लिया और जहाज तेज गतिसे आगे बढ़ चला। धनलोलुप मल्लाह निश्चिन्त और प्रसन्न थे।

× × × ×

'तुमलोगोंको मेरे मित्र एरियनका पता अवश्य होगा। वह सिसलीमें तुमसे मिलने आता रहा होगा। उसके अभावमें मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है।' पेरियंडरने मल्लाहोंसे पूछा। कारिन्थ पहुँचनेपर राज-सभामें उपस्थित होनेका उन्हें आदेश दिया गया था।

'एरियन बहुत स्वस्थ और समृद्ध है। वह धन कमाकर ही कारिन्थ लौटेगा।' मल्लाहोंने उत्तर दिया। 'यहाँ देखो, यह कौन है।' राजाने मल्लाहोंको सहसा स्तब्ध कर दिया। राजमहलके एक कमरेसे बाहर निकल-कर एरियनने उनको विस्मयमें डाल दिया।

इस प्रकार तुमलोग धनके लोभसे दूसरोंके प्राण लिया करते हो। कारिन्थका राजन्याय तुम्हें क्षमा नहीं कर सकता। समुद्रकी लहरोंकी सहायतासे एरियन कारिन्थ आ पहुँचा। राजाने मल्लाहोंके लिये मृत्यु-दण्ड-की आज्ञा दी।

'ऐसा अपराध फिर कभी नहीं करेंगे हम। क्षमा कीजिये।' मल्लाहोंने एरियनकी ओर बड़ी करुण दृष्टि-से देखा।

'मैं इतना कठोर नहीं हूँ जितना तुम समझ रहे हो।

स्मरण रक्खो, कलाकारका हृदय कठोर नहीं होता है। तुमने जो कुछ मेरे प्रति किया, वह तुम्हारे दृष्टिकोणसे ठीक था, मैं उसमें दोष नहीं देखता, पर भगवान् मेरा दृष्टिकोण ऐसा कभी न होने दें।' एरियनका हृदय पिघल गया। उसकी शिष्टताने मल्लाहोंको क्षमा कर दिया। —रा० श्री०

सुलेमानका न्याय

इजरायलके इतिहासमें बादशाह सुलेमानका नाम अमर है। वह बड़ा न्यायी और उदार था। उसके राज्यमें प्रजा बहुत सुखी थी।

एक दिन सुलेमान अपने न्यायसिंहासनपर विराजमान था कि दो महिलाएँ आ पहुँचीं। उनमेंसे एक बहुत उदास थी और उसके नेत्रोंसे अश्रु झर रहे थे। दूसरी बड़ी निर्मम और दुराग्रही थी। उसकी गोदमें एक छोटा-सा नवजात शिशु रो रहा था। राजसभाके सदस्य उन दोनोंको देखकर विस्मित थे।

'मेरी बात सच है। इस महिलाने मेरा बच्चा छीन लिया है। कल रातमें इसने करवट ली और इसका नवजात शिशु दब जानेके कारण मर गया। इसने मृत शिशुको धोखेसे मेरे पलंगपर रख दिया और यह मेरा बच्चा उठा ले गयी।' पहली स्त्रीने बादशाहसे न्याय-याचना की।

'नहीं, यह झूठ कह रही है। यह मेरा बच्चा लेना चाहती है। मैं अपने प्राणप्यारे लालको नहीं दे सकती।' दूसरी स्त्रीने प्रतिवाद किया।

'तुम दोनों ही अपने-अपने भावके अनुसार ठीक कहती हो। मैं यह नहीं जानता कि तुम दोनोंमेंसे कौन इसकी माँ है; पर न्याय कोमल और कठोर दोनों होता है। इस बच्चेका अधिकार तुम दोनोंको है। ऐसी स्थितिमें इसके दो टुकड़े कर दिये जायँ और एक-एक तुम दोनोंको दे दिया जाय।' सुलेमानने न्यायकी घोषणा की। दूसरी महिला अपनी जगहपर कठोरता और निर्ममताकी सजीव मूर्ति-सी खड़ी थी।

'मैं ऐसा नहीं होने दूँगी। आप इस बच्चेके दो टुकड़े न करें। मेरा हृदय फटता जा रहा है। मुझे आपका न्याय नहीं चाहिये।' पहली महिलाकी ममता जाग उठी। वह न्यायालयसे बाहर जानेवाली ही थी कि बादशाह बोल उठा—'ठहरो।' और वह रुक गयी।

'तुम सच कहती हो। इस बालककी माता तुम्हीं हो। तुम्हारी ममताने न्यायकी आँख खोल दी।' सुलेमानने पहिली महिलाके प्रति आदर प्रकट किया। उसे बच्चा मिल गया और दूसरीके मुखपर कालिमा छा गयी।—रा० श्री०

चोरीका त्याग

लगभग सोलह सौ साल पहलेकी बात है। चीन देशके चांगनान राज्यमें इतिहासप्रसिद्ध फाहियानने जन्म लिया था; उसका बचपनका नाम कुंग था। उसके माता-पिताने उसको अपने ग्रामके बौद्ध-विहारकी देख-रेखमें रख दिया था; उनकी तीन संतानें मर चुकी थीं इसलिये उन्होंने सोचा कि विहारको सौंप देनेसे कुंग जीवित रहेगा।

विहारमें रहनेवाले धर्माचरणके साथ-ही-साथ जीविकाके लिये खेती भी करते थे। खेत विहारसे ही सम्बद्ध होते थे और वे अधिकांश विहारकी सीमामें ही थे। विहारमें रहनेवाले बालकोंके साथ दसवर्षीय कुंग भी कुछ-न-कुछ काम करता ही रहता था।

एक समय कुंग अपने समवयस्कोंके साथ धानका खेत काट रहा था। धान अच्छी तरह पक गये थे। देखनेमें बड़े सुन्दर लगते थे। खेतपर चोरोंकी कुदृष्टि

पहले ही पड़ चुकी थी; वे फसल काटकर ले जानेका अवसर खोज ही रहे थे कि विहारकी ओरसे खेत कटना आरम्भ हो गया ।

चोर बलपूर्वक खेतमें आ गये और बालकोंको खदेड़ दिया, पर कुंग नहीं गया । वह गंभीर होकर कुछ सोचने लगा । चोरोंने विचार किया कि यह अकेला क्या कर लेगा । उन्होंने फसल काटकर अनेक बोझे बनाये और सिरपर लादकर चलनेवाले ही थे कि कुंगके सम्बोधनसे ठहर गये ।

'भाइयो ! आपलोगोंकी अवस्था आधीसे भी अधिक समाप्त हो गयी । आप क्यों इस प्रकारके पाप-कर्म करते हैं ? सच्चाईसे पैसा कमाकर जीवनका निर्वाह करनेसे स्वर्ग मिलता है; अगले जन्ममें सुख मिलता है । पाप कमानेसे तो कहीं अच्छा भूखों मर जाना है ।' कुंगने चेतावनी दी ।

चोरोंने बोझे पटक दिये और वे बालककी ओर देखने लगे ।

'आपलोगोंने पहले जन्ममें अशुभ कर्म किये। दया, दान, पुण्य, परोपकार और सेवा आदिसे बहुत दूर रहे । अशुभ कर्मोंके परिणामस्वरूप इस जीवनमें आप दरिद्र पैदा हुए । मुझे आपलोगोंकी दशापर बड़ी दया आ रही है और साथ-ही-साथ यह सोचकर दुःख हो रहा है कि आप अपना अगला जन्म भी दुःखमय बना रहे हैं; इस जन्ममें शुभ कर्म करनेकी बात तो दूर रही; आप चोरी करने लगे और इस कुकर्मके बदले आपको अगले जन्ममें अनेक भीषण संकटोंका सामना करना पड़ेगा ।' कुंग इतना कहकर विहारकी ओर चला गया, पर उसका मन व्यथित था ।

चोरोंके आगे जमीन घूमने लगी । उनके नेत्रोंमें अँधेरा छा गया । वे कुंगके सत्य कथनसे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सदाके लिये चोरी छोड़ दी ।—रा० श्री०

सभ्यता

फ्रान्सका राजा हेनरी चतुर्थ एक दिन पेरिस नगरमें अपने अङ्गरक्षकों तथा उच्चाधिकारियोंके साथ कहीं जा रहा था । मार्गमें एक भिक्षुकने अपनी टोपी सिरसे उतारकर मस्तक झुकाकर उसे अभिवादन किया । हेनरीने भी अपनी टोपी उतारकर सिर झुकाकर भिक्षुकको अभिवादन किया । यह देखकर एक उच्चाधिकारीने कहा—'श्रीमान् ! एक भिक्षुकको आप इस प्रकार अभिवादन करें, यह क्या उचित है ?'

हेनरीने सरलतासे उत्तर दिया—'फ्रान्सका नरेश एक भिक्षुक-जितना भी सभ्य नहीं, यह मैं सिद्ध नहीं करना चाहता ।'—सु० सिं०

देशभक्ति

'इंगलैंड नैपोलियन बोनापार्टकी निरङ्कुशता नहीं सह सकता है । माना, फ्रेंच क्रान्तिकारियोंने समता, स्वतन्त्रता और बन्धुताका प्रकाश फैलाया, पर नैपोलियन-ने अपनी साम्राज्यवादी कुत्सित मनोवृत्तिसे उसे कलङ्कित कर दिया है ।' इंगलैंडके सामुद्रिक बेड़ेपर महावीर नेलशनने पैर रक्खे । नेलशनका प्रण था कि या तो इस सामुद्रिक युद्धमें नैपोलियन हारेगा या मैं मृत्युका वरण कर लूँगा । स्पेन और फ्रांसकी सेनाएँ दहल उठीं ।

समुद्रकी नीली-नीली उत्ताल तरङ्गोंके वक्ष चीरकर अंग्रेजी बेड़ा आगे बढ़ रहा था; 'इंगलैंड अपने प्रत्येक निवासीसे कर्तव्य-पालनकी आशा करता है ।'—यह उसकी पताकापर अङ्कित था ।

'हाय हार्डी ! शत्रुओंने मेरा काम तमाम कर

दिया ।' नेलशन शत्रुकी गोलीसे घायल होकर लुढ़क पड़ा । जहाजके कप्तान हार्डीने उसे निम्नकक्षमें रक्खा । 'धाँय-धाँय' चारों ओर गोलियाँ बरसने लगीं ।

'हमारे वीर क्या कर रहे हैं, हार्डी ? इंगलैंडका मुख सदा उज्ज्वल रहेगा, उनसे कहो ।' नेलशन अन्तिम श्वासें ले रहा था ।

'शत्रुके पंद्रह जहाजोंने झंडे झुका दिये ।' हार्डीने युद्धकी गति-विधिपर प्रकाश डाला ।

'बहुत अच्छा हुआ । भगवान्‌की कृपा है, हार्डी ! बीस जहाजोंका सौदा किया था मेरे प्राणोंने । इंगलैंड विजयी होगा ।' नेलशन अचेत हो रहा था ।

अचानक उसकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया । अङ्ग-अङ्गमें भयानक वेदना और पीड़ा थी ।

'मुझे विदा दो, हार्डी ! भगवान्‌की कृपासे मैंने अपना कर्तव्य पालन किया । मेरा काम पूरा हो गया ।' नेलशनके दो-तीन श्वास शेष थे । हार्डीने उसका हाथ चूमा और नयनोंसे अश्रुपात होने लगा ।

'ईश्वर ! धन्यवाद है !! मेरा काम पूरा हो गया ।' नेलशनके प्राण निकल गये ।—रा० श्री०

कर्तव्य-पालन

फ्रांसकी विशाल सेनाने स्पेनके जारगोजा नगरको घेर लिया । नागरिकोंने प्राणरक्षाका कोई उपाय न देखकर किलेमें एकत्र होना उचित समझा । आक्रमणकारियोंने किलेमें खाद्य पदार्थ जानेसे रोक दिया । लोग भूखों मरने लगे । अन्तमें उन्होंने सामूहिक मोर्चेकी व्यवस्था की । फ्रांसके सेनापति लफब्रोरके सैनिक बड़ी तत्परतासे गोली बरसा रहे थे । नागरिकोंका मुखिया था जोजडे पेलफाक्स मेलजी ।

यह नहीं कहा जा सकता था कि विजयी किस पक्षके लोग होंगे, पर फ्रांसके सैनिकोंमें विशेष उत्साह था । उन्हें आशा थी कि हमलोग विजयी होंगे ।

'मैं आ गयी, घबराओ नहीं, वीर ! सत्य हमारी ओर है ।' उसने सहसा बंदूक अपने हाथमें ली घायल सैनिकके हाथसे, जो शत्रुकी गोलीका निशाना बनकर अपना अन्तिम श्वास तोड़नेके लिये बंदूकपर गिर पड़ा था । फ्रांसकी सेनाको विश्वास हो गया था कि उसके प्राणान्तसे किलेपर अधिकार हो जायगा । वह द्वाररक्षक था

'यह कौन आ गयी । कितना भीषण युद्ध कर रही है । यह तो साक्षात् रणकी देवी ही है ।' फ्रांसका सेनापति बोल उठा ।

'मैं मृत्यु हूँ तुमलोगोंकी । तुम जारगोजाके किलेका मोह छोड़ दो । स्पेनका प्रत्येक व्यक्ति इसके सम्मानमें प्राण न्यौछावर कर देगा ।' मेरिया अगस्टीनके शब्द थे । वह शत्रुओंपर धूआँधार गोली बरसा रही थी किलेके प्रधान दरवाजेसे । कुमारीकी वीरता देखकर शत्रु आश्चर्यमें पड़ गये ।

× × × ×

'तुम जारगोजाकी देवी हो, अगस्टीन ! शत्रु किलेपर अधिकार कर लेते यदि तुमने अचानक अपना कर्तव्य-पालन न किया होता ।' जारगोजा मोर्चेके सेनापतिने मेरियाके प्रति कृतज्ञता प्रकट की ।

'यह तो मेरा सत्कर्तव्य था, सेनापते ! अपने देशके अन्नजलसे पले शरीरका इससे बढ़कर दूसरा उपयोग ही क्या होता कि वह स्वतन्त्रताके नामपर युद्धकी अग्नि-विभीषिकामें स्वाहा हो जाय ।' अल्पवयस्क नगर-कन्याकी बातसे लोग प्रसन्न हो उठे ।

'देवी अगस्टीनकी जय ।' नागरिकों और सैनिकोंने मेरियाका अभिनन्दन किया ।

स्पेनके मध्यकालीन इतिहासमें जारगोजाकी देवी मेरिया अगस्टीनका नाम अमर है ।—रा० श्री०

आनन्दघनकी खीझ

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ। मो सौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ ॥

श्रीनन्दरानी अपने प्राङ्गणमें कुछ गुनगुन गाती कन्हाईके कलेऊकी सामग्री एकत्र करने जा रही थीं। बड़ा चञ्चल है उनका श्याम। वह दो घड़ी भी घरमें नहीं रहता। बालकोंके साथ दिन-भर घूमता रहता है। परंतु उससे क्षुधा सही नहीं जाती। अभी दौड़ा आयेगा और दो क्षण भी माखन मिलनेमें देर हुई तो मचल पड़ेगा। एक बार कहीं मोहन रूठ गया तो फिर उसे मना लेना सरल नहीं होता।

'मैया! मैया!' सहसा पुकारता दौड़ा आया कन्हाई। मैया चौंक पड़ी; आज उसके लालके स्वरमें उल्लास क्यों नहीं? क्यों रोता-सा स्वर है मोहनका।

'तुझे किसने मारा है?' मैया चाहती थी कि श्याम उसकी गोदमें आ जाय। किंतु कन्हैया उसके सामने आकर खड़ा हो गया। लगभग ढाई वर्षका कृष्णचन्द्र, बिखरी अलकें, भालपर नन्हा-सा गोरोचन तिलक, नेत्रोंमें कज्जल, वक्षपर छोटे मोतियोंकी माला, कटिमें पतली-सी कछनी, धूलि-धूसरित अङ्ग। आज इसके बड़े-बड़े लोचन भरे-भरे-से हैं।

'दाऊ बहुत बुरा है। मैया! वह कहता है कि तू यशोदाका पुत्र नहीं है। नन्दरानीने तो तुझे मटकीभर दही देकर खरीदा है।' मोहनने द्वारकी ओर इस प्रकार देखा मानो दाऊ पीछे खड़ा हो द्वारके।

'मैया! वह मुझे बहुत चिढ़ाता है। कहता है कि व्रजराज और व्रजरानी तो गोरे हैं, तू साँवला क्यों है? बता तो कि तेरा पिता कौन है? तेरी माता ही कौन है?' नन्हा कन्हाई बहुत रुष्ट हो रहा है आज बड़े भाईपर।

'दाऊ अकेला ही चिढ़ाता तो कोई बात भी थी, उसने सब सखाओंको सिखा दिया है। सब ताली बजाकर मेरी हँसी उड़ाते हैं। मैं उनके साथ खेलने नहीं जाऊँगा।' परंतु मैया तो कुछ बोलती नहीं, इससे श्याम उसपर भी रुष्ट हुआ— 'तूने तो मुझे ही मारना सीखा है, दाऊको कभी डाँटती भी नहीं।'

'मेरे लाल!' मैयाने देखा कि अब उसका नन्हा कृष्ण मचलनेवाला है तो गोदमें खींच लिया उसे। 'बलराम तो जन्मसे ही धृष्ट है। वह व्यर्थ चुगली करता है। तू जानता है न कि व्रजकी देवता गायें हैं! उन गायोंकी शपथ! मैं तेरी माता हूँ और तू मेरा लाल है।'

आनन्दघनकी खीझ
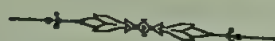
आज्ञापालन

'सीडलीट्ज़का पता चला ?' प्रशियाके सम्राट् फ्रेडरिक महान् वंशी-वादनमें मस्त थे। रातकी कालिमा अपने पूरे उत्कर्षपर थी। वे अपने शिबिरमें बैठकर सोच रहे थे युद्धकी गतिविधि।

'आज सेनापति किसी कठिन मोरचेपर उलझ गये हैं। उनका कहना है कि पोमेरनिया (यूरोपका एक जनपद) के युद्धमें विजय प्राप्त करके ही रहेंगे। वे इस समय नहीं उपस्थित हो सकेंगे, सम्राट् !' दूतने अभिवादन किया।

'हमें इस जार्नडार्फ ग्राममें शिबिरमें रहते बहुत दिन हो गये और हमारे रूसी शत्रु अभी रणभूमिमें डटे हैं; फिर भी सेनापतिने मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किस तरह किया ? मेरी आज्ञा न माननेका अर्थ है मृत्यु।' सम्राट्ने वंशी-वादन बंद कर दिया। रात बढ़ती जा रही थी; चारों ओर भयानक नीरवता थी।

'मुझे सीडलीट्ज़का सिर चाहिये।' सम्राट्का इतना कहना था कि चरके हाथसे मसाल नीचे गिर पड़ी; वह काँपने लगा। 'मेरी आज्ञाके उल्लङ्घनका मूल्य केवल सिर है।' फ्रेडरिककी आँखें लाल हो गयीं। चर शिबिरके बाहर हो गया। रात साँय-साँय कर रही थी।

× × × ×

युद्ध अपनी चरम सीमापर था। रूसी सैनिक प्रशाके (जर्मनी) सैनिकोंका डटकर सामना कर रहे थे। सेनापति सीडलीट्ज एक क्षणके लिये भी असावधान नहीं थे। दूत आ पहुँचा। सेनापति आश्चर्यचकित हो गये फ्रेडरिककी आज्ञासे।

'सम्राट्से कहो कि युद्धके समाप्त होनेपर मैं यह सिर उनकी नंगी तलवारकी प्यासी धारको भेंट कर दूँगा, पर इस समय युद्ध-भूमिमें प्रशाके सम्राट् और प्रजाकी सेवाके लिये मैं इसका उपयोग तो करूँगा ही। मुझे इस पवित्र कार्यसे कोई भी जागतिक शक्ति विमुख नहीं कर सकती।' सीडलीट्ज़का स्पष्ट उत्तर था और उन्होंने सेनाको आगे बढ़नेका आदेश दिया।

× × × ×

'इस विजयका श्रेय तुम्हें है, सीडलीट्ज !' सम्राट्ने शिविरसे बाहर आकर सेनापतिका अभिनन्दन किया।

'आपके चरणोंमें मेरा सिर उपस्थित है सम्राट् ! आपकी नंगी तलवार जिसकी प्रतीक्षा कर रही थी उसे स्वीकार कीजिये।' सेनापतिने गम्भीरता प्रकट की।

'इस सिरने असंख्य सिर उन्नत किये हैं; इसने मृत्युको अमरतामें बदल दिया है। इस सिरपर प्रशाकी जनता पुष्प-वृष्टि करेगी।' फ्रेडरिकने सेनापति सीडलीट्ज़को गले लगा लिया। दोनोंके रोम-रोम सिहर उठे।

'मैंने तुमको आज समझा है। तुम रत्न हो, रत्न। तुमने देशके हितके लिये, राष्ट्रके सम्मानरक्षणके लिये मेरी असामयिक आज्ञाके उल्लङ्घनसे जो यश कमाया है वह यूरोपके इतिहासकी एक पवित्र मौलिक घटना है। कर्तव्यपरायणता और आज्ञापालनका मर्म निगूढ़ है।' सम्राट् प्रसन्न होकर वंशी बजाने लगे। चारों ओर मूक संगीतका माधुर्य वातावरणमें परिव्याप्त हो उठा।—रा० श्री०

भ्रातृप्रेम

रूसो उस समय बालक था। रविवारके दिन पाठशालाकी छुट्टीमें उसे अपने चाचाके यहाँ गये बिना चैन नहीं पड़ती थी। उसके चाचाका एक कारखाना था। रूसो एक रविवारको अपने चचेरे भाई फेजीके साथ चाचाके कारखानेमें घूम रहा था। अचानक उसने एक मशीनके पहियेपर हाथ रख दिया। उस-

समय फेजीका इधर ध्यान नहीं था। उसने उसी मशीनका पहिया घुमा दिया। फल यह हुआ कि रूसोकी अँगुलियाँ पिस गयीं, नाखून फट गये, रक्तका फव्वारा छूट पड़ा। वह चीख उठा।

फेजी चौंका। उसने झटपट पहियेको उलटा घुमाया। रूसोकी अँगुलियाँ निकलीं मशीनसे। डरा और घबराया फेजी दौड़कर रूसोके पास आया और अत्यन्त कातरतापूर्वक बोला—'भैया! चिल्लाओ मत! मेरे पिता सुन लेंगे तो मुझे बहुत पीटेंगे। जो होना था, वह तो हो ही गया।'

रूसो बालक था। उसकी पीड़ा असह्य थी; किंतु उसने बलपूर्वक मुख बंद कर लिया। फेजीके कंधेपर उसने मस्तक रख दिया। केवल उसके नेत्रोंसे आँसूकी धारा चलती रही। दोनों बालक वहाँसे पानीके पास गये। बहुत देर धोनेपर रूसोकी अँगुलि से रक्त जाना बंद हुआ। एक कपड़ा फाड़कर फे अँगुलियोंपर मिट्टीकी पट्टी बाँध दी।

'भैया! तुम्हारे घरके लोग क्या कहेंगे?' फे अभीतक अत्यन्त चिन्तित था।

'तुम कोई चिन्ता मत करो।' रूसोने उसे आश्वा दिया।

'तुम्हारे हाथको क्या हुआ है?' स्वाभाविक था घरके लोग और दूसरे लोग भी हाथमें पट्टी बँधी देख रूसोसे पूछते।

'मेरी भूलसे चोट लग गयी, हाथ कुचल गया' रूसोने सबको गोलमोल उत्तर दिया। पूरे चालीस व तक किसीको इस घटनाका पता नहीं लगा।—सु० सि

उत्तम कुलाभिमान

इंगलैंड-नरेश जेम्स द्वितीयका पौत्र प्रिन्स चार्ल्स युद्धमें जार्ज प्रथमके सेनापतिसे पराजित हो गया था और प्राण बचानेके लिये भाग गया था। उसे पकड़ने या मारकर उसका मस्तक लानेवालेको बहुत बड़ा पुरस्कार देनेकी घोषणा हुई थी। उस समय शाही सेनाके एक कप्तानने एक हाईलेंडर बालकसे पूछा—'तुमने इस मार्गसे प्रिन्स चार्ल्सको जाते देखा है?'

उस बारह वर्षके बालकने कहा—'देखा तो है; किंतु बताऊँगा नहीं।'

कप्तानने तलवारकी म्यानसे बालकको पूरे जोरसे मारा और गरज उठा—'तुझे बतलाना पड़ेगा।'

बालक चीख उठा; किंतु बोला—'मारकी चोट मैं चीखा अवश्य हूँ; किंतु स्मरण रखिये कि मेरा जन्म 'मेक्फर्सन' वंशमें हुआ है। विश्वासघात करके विपत्ति में पड़े राजाके शत्रुको पकड़वा देनेका निन्दित कार्य मुझसे कदापि नहीं हो सकता।'

कप्तान बालककी तेजस्विता तथा निर्भयतासे इतना प्रसन्न हुआ कि उसने बालकको पुरस्कारस्वरूप एक चाँदीका क्रास दिया। इस क्रासको मेक्फर्सन वंश के लोग आज भी सम्मानपूर्वक सुरक्षित रखते हैं।

—सु० सि०

अपनी प्रशंसासे अरुचि

एक बार लियेन्स नगरके विद्वानोंने एक लेखके लिये पुरस्कारकी घोषणा की। उस समय नेपोलियन युवक थे। पुरस्कार-प्रतियोगितामें उन्होंने भी लेख भेजा और उनका लेख ही प्रथम पुरस्कारके योग्य माना गया।

सम्राट् होनेपर नेपोलियनको यह बात भूल चुकी थी; किंतु उनके मन्त्री टेलीरान्तने एक विशेष व्यक्ति भेजकर लियेन्ससे नेपोलियनके उस लेखकी मूल प्रति मँगायी। लेखको सम्राट्के आगे रखकर उसने हँसते

पूछा—'सम्राट् इस लेखके लेखकको जानते हैं ?'

टेलीरान्तको आशा थी कि उसके इस कार्यसे सम्राट् उसपर प्रसन्न होंगे और वह पुरस्कार पायेगा; किंतु नेपोलियनने लज्जित होकर सिर झुका लिया और लेखको उठाकर उसने जलती अँगीठीमें डाल दिया। मन्त्री महोदय तो अपने सम्राट्का मुख देखते रह गये। —सु० सिं०

संयम मनुष्यको महान् बनाता है

अपने अध्ययनके दिनोंमें नेपोलियनको एक बार अक्षोनी नामक स्थानमें एक नाईके घर रहना पड़ा था। नेपोलियन बहुत सुन्दर युवक थे और उनकी आकृति सुकुमार थी। नाईकी स्त्री उनपर मुग्ध हो गयी और उन्हें अपनी ओर आकर्षित करनेके प्रयत्न करने लगी। किंतु नेपोलियनको तो अपनी पुस्तकोंसे अवकाश ही नहीं था। वह स्त्री जब उनसे हँसने-बोलनेका प्रयत्न करती, तभी उन्हें किसी पुस्तकको पढ़नेमें निमग्न पाती।

वही नेपोलियन जब देशके प्रधान सेनापति चुने जा चुके, तब फिर उस स्थानमें एक बार गये। नाईकी स्त्री दूकानपर बैठी थी। वे उसके सामने जा खड़े हुए और बोले—'तुम्हारे यहाँ एक बोनापार्ट नामका युवक रहता था, कुछ स्मरण है तुम्हें उसका ?'

नाईकी स्त्री झुँझलाकर बोली—'रहने भी दीजिये महोदय ! ऐसे नीरस व्यक्तिकी चर्चा करना मैं नहीं चाहती। उसे न गाना आता था न नाचना। किसीसे मुँह भर मीठी बात करना तक उसने नहीं सीखा था। पुस्तक, पुस्तक और पुस्तक—वह तो बस, पुस्तकोंका कीड़ा था।'

नेपोलियन हँसे—'ठीक कहती हो देवि ! संयम ही मनुष्यको महान् बनाता है। बोनापार्ट तुम्हारी रसिकतामें उलझ गया होता तो देशका प्रधान सेनापति होकर आज तुम्हारे सामने खड़ा नहीं हो सकता था।'

—सु० सिं०

मानवता

एकमेलके युद्धके बाद नेपोलियन आस्ट्रियाकी राजधानी वियना नगरके पास पहुँचे। उन्होंने संधिका झंडा लेकर एक दूत नगरमें भेजा; किंतु नगरके लोगोंने उस दूतको मार डाला। इस समाचारसे नेपोलियन क्रुद्ध हो उठे। उनकी अपार सेनाने चारों ओरसे नगरको घेर लिया। फ्रांसीसी तोपें आग उगलने लगीं। नगरके भवन ध्वस्त होने लगे।

सहसा नगरका द्वार खुला और एक दूत संधिका झंडा लिये निकला। नेपोलियनने दूतका सम्मान किया। उस दूतने कहा—'आपकी तोपें नगरके केन्द्रमें जहाँ गोले गिरा रही हैं, वहाँ समीप ही राजमहलमें हमारे सम्राट्की प्यारी पुत्री बीमार पड़ी हैं। कुछ और गोला-बारी हुई तो सम्राट् अपनी बीमार पुत्रीको छोड़कर अन्यत्र चले जानेको विवश होंगे।'

नेपोलियनके सेनापतियोंने बताया—'हम शीघ्र विजयी होनेवाले हैं। नगरके केन्द्रमें तोपोंका गोला गिराना युद्धनीतिकी दृष्टिसे इस समय अत्यन्त आवश्यक है।'

नेपोलियन बोले—'युद्ध-नीतिकी बात तो ठीक है; किंतु मानवता कहती है कि एक रुग्णा राजकुमारीपर दया की जाय।'

अपनी आसन्न विजयको संदिग्ध बनानेकी आशङ्का लेकर भी नेपोलियनने नगरके केन्द्रमें गोला गिरानेवाली तोपोंको वहाँसे हटा लेनेकी आज्ञा दे दी। —सु० सिं०

सद्भाव

सम्राट् नेपोलियन युद्धमें पराजित हो गये थे। अंग्रेजोंने उन्हें बंदी बना लिया था। एक अंग्रेजी जहाजसे वे सेंट हेलेना द्वीप भेजे जा रहे थे। जहाजके छोटे कर्मचारी नाविक आदि फ्रान्सीसी भाषा बोल-समझ लेते थे। अनेक बार नेपोलियन उनसे दुभाषियेका काम लेते थे। एक बार एक नाविकसे उन्होंने कुछ देर बातें कीं और अन्तमें बोले—'कल तुम मेरे साथ भोजन करना।'

बेचारे नाविकके लिये यह अकल्पित बात थी। जहाजके ही कप्तान आदि उच्च कर्मचारी उसे भोजनके लिये अपनी मेजपर नहीं बैठने दे सकते थे, फिर फ्रान्सके सम्राट्के साथ भोजन करनेकी बात तो बहुत बड़ी उसने कहा—'आपकी उदारताके लिये धन्यवाद! जहाजके अधिकारी ऐसा होने नहीं देंगे।'

नेपोलियनने कहा—'मैं स्वयं पूछता हूँ।'

नेपोलियनके पूछनेपर जहाजके कप्तानने कहा-'जब आप स्वयं उसके साथ भोजन करना चाहते हैं, इसमें कोई बाधा नहीं होगी।'

उस नाविकको नेपोलियनने अपने साथ कराया, इससे उसे कितनी प्रसन्नता हुई होगी, समझा जा सकता है।—सु० सिं०

अद्भुत साहस

नेपोलियन एल्बा छोड़कर जब पारिस्लकी ओर जा रहे थे, तब उनके एक सेनापति मरचेराने छः हजार सेना लेकर उनका मार्ग रोका। वह नेपोलियनको समाप्त कर देना चाहता था। नेपोलियनके साथ भी सेना थी और वह इतनी कम नहीं थी कि सरलतासे पराजित की जा सके; किंतु नेपोलियनने कहा—'मैं अपने ही देशवासियोंका रक्त नहीं बहाना चाहता।'

अपनी सेना छोड़कर नेपोलियन घोड़ेपर चढ़कर अकेले शत्रुसेनाकी ओर चल पड़े। लोग हक्के-बक्के देखते रहे; किंतु नेपोलियनने तो शत्रुसेनासे सौ हाथ दूर आकर घोड़ा भी छोड़ दिया और वे पैदल ही आगे बढ़े। इस बार वे केवल दस हाथ दूर रह गये शत्रुसेनासे।

शत्रुसेनापतिने नेपोलियनको लक्ष्य करके अपनी सेनाको गोली चलानेकी आज्ञा दी। एक अंगुली हिलती और फ्रांसका भाग्य बदल जाता; किंतु कोई अंगुली नहीं हिली। सेनापतिके आदेशपर सैनि ध्यान ही नहीं दिया। अब तो नेपोलियनने गम्भीर कहा—'सैनिको! तुममेंसे कोई अपने सम्राट्की करना चाहे तो अपनी इच्छा पूरी कर ले। मैं खड़ा हूँ।'

कोई बोला नहीं! सैनिकोंने बंदूकें झुका दीं एक-एक करके उन्हें पृथ्वीपर गिराने लगे। सेना स्वयं निःशस्त्र हो गयी। सैनिक पुकार रहे थे 'सम्राट् नेपोलियनकी जय!'

नेपोलियनने एक बूढ़े सैनिककी दाढ़ी आदर हिलाकर कहा—'तुमने मुझे मारनेको बंदूक थी?' सैनिकके नेत्र भर आये। उसने अपनी दिखा दी। बंदूकमें गोली थी ही नहीं, पूरी बंदूकोंमें केवल शब्दमात्र करनेके लिये बारूद भर थी।—सु० सिं०

भारको सम्मान दो

नेपोलियन महान् सम्राट् होनेके अनन्तर एक महिलाके साथ पेरिसमें घूमने निकले थे। वे एक पतले रास्तेसे जा रहे थे। महिला आगे थीं कुछ पैंड। सामनेसे एक मजदूर भारी भार लिये आ रहा था। महिलाको अपने उच्च कुल, धन और पदका गर्व था और इस समय तो वे बादशाहके साथ थीं। एक मजदूरके लिये वे कैसे मार्ग छोड़ देतीं। बीच मार्गसे वे ऐसे चली जा रही थीं जैसे मजदूरको उन्होंने देखा ही न हो। सम्राट् नेपोलियन मार्गके एक ओर हट गये और हाथ पकड़कर उन्होंने महिलाको खींचा—'मैडम ! भारको सम्मान दो !'

जिनके सिरपर भार है चाहे वह भारी गट्ठर हो या हल्का। वे सम्माननीय हैं, यह बात नेपोलियनने एक वाक्यमें समझा दी।—सु० सिं०

न्यूटनकी निरभिमानता

लन्दनके वेस्ट मिनिस्टरके विशाल मन्दिरमें आइजक न्यूटनकी समाधि है। वहाँ बहुत-से स्त्री-पुरुष और बच्चे उसकी समाधिके पास जाकर कुछ क्षण रुक जाते हैं, कुछ चिन्तन करते हैं; क्योंकि उसे बड़ा भारी प्रतिभाशाली और चिन्तनशील व्यक्ति समझते हैं और वह था भी ऐसा ही।

न्यूटनका जन्म १६४२ के २५ वीं दिसम्बरको हुआ था। दुनिया भरकी विपत्तियोंके बावजूद भी उसने केवल बाईस वर्षकी अवस्थामें ही (Binomeal theorem) बीजगणितके द्विपद सिद्धान्तका आविष्कार किया था। उसने प्रकृतिका गम्भीर अध्ययन किया और 'गुरुत्वाकर्षण' (The force of gravitation) आदि सिद्धान्तोंका आविष्कार किया। सूर्यकी किरणोंमें सात रंग क्यों हैं। सूर्य-चन्द्रमाकी क्षीणता और पूर्णताके कारण समुद्रमें ज्वार-भाटा क्यों होता है; ये सभी गुरुत्वाकर्षणसिद्धान्तके अन्तर्गत समझे जाते हैं। न्यूटनकी विद्या-बुद्धिपर सारे इंगलैंडको गर्व था और है। इतनेपर भी न्यूटनको स्वयं अपनी विद्या-बुद्धिका कोई गर्व न था, लेशमात्र भी अहंकार न था।

न्यूटनको एक दिन एक महिला मिली, जिसने उसकी बड़ी भारी प्रशंसा की और उसकी विद्या-बुद्धिकी मुक्तकण्ठसे सराहना की।

न्यूटनने कहा—'अरे ! (तुम कहाँकी बातें कर रही हो)—मैं तो उस बच्चेके ही समान हूँ जो सत्यके विशाल समुद्रके किनारे बैठा हुआ केवल कंकड़ोंको ही चुनता रहा।' अर्थात् विद्याके अगाध वारिधिमें तो मैंने प्रवेश ही नहीं किया*। न्यूटनके मौखिक शब्द हैं—
"Alas ! I am only like a child picking up pebbles on the shore of the giant ocean of truth." 1. 9.

(F. J. Gould's Youth's Noble Path PP. 84)

—जा० श०

---

* अपने यहाँ महाराज भर्तृहरिकी उक्ति भी ऐसी ही है—

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

एक अन्य मुसलिम कविका भी कथन कुछ ऐसा ही है—

'जाना था कि इल्मसे कुछ जानेंगे ! जाना तो यही जाना कि कुछ भी न जाना।'

गरीबोंकी उपेक्षा पूरे समाजके लिये घातक है

स्काटलैंडके एक नगरमें विपत्तिकी मारी एक दरिद्र स्त्री आयी। उसके पास न रहनेको स्थान था और न भोजनको अन्न। वह बुढ़िया हो चुकी थी, इससे मजदूरी करनेमें भी असमर्थ थी। उसने घर-घर भटककर शरण चाही कि अस्तबलके ही एक कोनेमें उसे कोई आश्रय दे दे; किंतु किसीने उसकी दुर्दशा देखकर भी दया नहीं की। उसे नगरके बाहर एक खुले स्थानमें पड़े रहना पड़ा। भूख और सर्दीके मारे वह बीमार हो गयी। भला दरिद्रकी चिकित्सा कौन करता, बीमारी बढ़ती गयी और अन्तमें वह छूत फैलनेवाली बीमारीमें बदल गयी।

वह दरिद्र वृद्धा तो मर गयी, किंतु उसके शरीरमें रोगके जो कीटाणु उत्पन्न हुए थे, उन्होंने पूरे नगरमें वह रोग फैला दिया। ऐसा घर कोई कदाचित् ही बचा हो जिसमें उस रोगसे उस समय कोई मरा न हो। नगरमें हाहाकार मच गया।

अंग्रेज विद्वान् कार्लाइलने इस घटनाके सम्बन्धमें लिखा है—'इन धनवानोंने तो जीवनमें उस दरिद्र नारीको अपनी बहिन स्वीकार नहीं किया था; किंतु उसकी मृत्युके पश्चात् उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि सचमुच वह उनकी भगिनी थी; क्योंकि उसके सुख एवं स्वास्थ्यमें ही पूरे नगरका सुख और स्वास्थ्य संनिहित था।'—सु० सिं०

लोभका बुरा परिणाम

विचित्र बाँसुरीवाला

जर्मनीके बर्न्सवीक प्रदेशमें प्रमुख नगर है नोवर। इसके पास ही हैमेलिन नामका एक शहर है। इसकी एक ओर तो हैमेल नामकी छोटी नदी है, पर दक्षिणकी ओर बेसर नदी बहुत बड़ी है। पहले यह और भी गहरी तथा चौड़ी थी। यह नगर अपनी किलेबंदीके लिये प्रसिद्ध रहा है। आजसे प्रायः ६०० वर्ष पूर्व सन् १३७६ की २२ जुलाईको वहाँ एक बड़ी विचित्र घटना घटी थी। वहाँ चूहे इतने अधिक बढ़ गये थे कि लोग उनसे बेतरह तंग आ गये थे। बिल्ली और कुत्तेतक उनसे परेशान हो रहे थे और उनकी कोई चिकित्सा सफल नहीं हो रही थी।

अन्तमें वे लोग टाउनहालमें एकत्र हुए और एक स्वरसे बोले—'हमलोगोंका मेयर (प्रशासक) किसी कामका व्यक्ति नहीं है। हमारी विपत्तिका इसे कोई ध्यान नहीं है। अतएव इसे बंद करके कहीं भेज देना चाहिये अथवा नदीमें डुबो देना चाहिये।' उनके इस प्रस्तावको सुनकर प्रशासक तथा कारपोरेशन (सभा) का कलेजा काँप उठा। पर भगवत्कृपासे उसी क्षण एक विचित्र वेषधारी बाँसुरी बजानेवाला व्यक्ति वहाँ आया। उसे देखते ही प्रशासकने बड़ी व्याकुलतासे उसका स्वागत किया। बजानेवालेने कुशल-प्रश्नके द्वारा सब कुछ जानकर कहा—'मैं आपकी इस विपत्तिको तत्क्षण दूर करनेमें समर्थ हूँ; क्योंकि पृथ्वीपरके सारे जीवोंको मैं आकृष्ट कर सकता हूँ। अभी हालमें ही टाराटरीके राजाको मैंने मच्छरोंके कष्टसे मुक्त किया है। साथ ही एशियामें (भारत) निजामका चमगादड़ोंसे पिंड छुड़ाया है। पर पहले यह तो बतलाइये कि इसके बदले आपलोग मुझे देंगे क्या? क्या एक सहस्र (गिल्डर) मुद्राएँ आप मुझे दे सकते हैं?' इसपर मेयर तथा कारपोरेशनके लोग चिल्ला उठे—'एक सहस्र क्या हमलोग पचास सहस्र मुद्रा दे देंगे। आप चूहोंको भगाइये।'

बेचारे वंशीवालेने अपनी बाँसुरी उठायी । पहले तो वह तनिक मुसकराया, फिर अपनी बाँसुरीको उसने अपने ओठोंपर लगाया और धीरे-धीरे शहरकी गलियोंसे चलना आरम्भ किया । वह जैसे-जैसे बाँसुरी बजाते हुए चलता था, पीछेसे चूहोंकी पंक्तियाँ उसका अनुगमन करती थीं । अन्तमें धीरे-धीरे नगरके सारे चूहे उसके पीछे लग गये और वह बेसर नदीमें प्रवेश कर गया । सारे चूहे नदीमें डूबकर नष्ट हो गये, पर एक चूहा उनमें बड़ा हृष्ट-पुष्ट था, वह किसी प्रकार तैरकर पार कर गया । सभी लोग इस तमाशेको देख रहे थे । ज्यों ही यह विपत्ति किनारे लगी, प्रशासकने लोगोंसे चिल्लाकर कहा—'अरे दौड़ो, जाओ, चूहोंके सारे बिलोंको अब बंद कर दो और उनके रहनेके स्थानोंको तोड़-फोड़ दो ।' तबतक बाँसुरीवालेने वहाँ पहुँचकर पूर्व प्रतिश्रुत एक हजार मुद्राएँ माँगीं ।

'एक हजार गिल्डर ?' मेयरकी आँखें लाल हो उठीं । 'मित्र ! हमलोगोंको धोखा नहीं दिया जा सकता । चूहे तो हमारी आँखोंके सामने ही नदीमें लय हो गये । अब उनका पुनः आना असम्भव है । हजार गिल्डरकी बात तो हमारी मजाक मात्र था । आओ, पचास मुद्राएँ जलपानके लिये तुम्हें दे दें ।'

बाँसुरीवाला बोला—'देखो, खेल मत करो । मैं क्षण भर भी नहीं रुकूँगा; क्योंकि दोपहरके भोजनके समय मैंने खलीफासे बगदाद पहुँचनेकी प्रतिज्ञा की है । उस बेचारेको बिच्छुओंने परेशान कर रक्खा है और जो तुम यह सोच रहे हो कि मैं अब तुम्हारा बुरा ही क्या कर लूँगा तो मैं दूसरे प्रकारकी बाँसुरी भी बजाना जानता हूँ । याद रक्खो, इस लोभका बहुत बुरा परिणाम होगा । वचन देकर यों मुकर जाओगे तो तुम्हें बुरी तरह रोना पड़ेगा ।'

इसपर प्रशासक बड़ा लाल-पीला हुआ । उसने कहा—'देखो, तुम-जैसे अशिष्ट तथा तुच्छ व्यक्तिका तिरस्कार हम सहनेवाले नहीं । तुमसे जितना भी बने, अपनी बाँसुरी बजाकर हमारा अनिष्ट कर लो । तुम बाँसुरी बजाते मर भी जाओ तो भी हमारा अब कुछ नहीं बिगड़ता ।'

बाँसुरीवालेने फिर एक बार गलीमें पैर रक्खा और फिर बाँसुरी बजायी । इस बार नगरके सभी बालक-बालिकाएँ उसके पीछे हो लिये । मेयर चुपचाप यह सब देख रहा था । न तो उसमें बोलनेकी शक्ति थी, न हिलने-डुलनेकी । बाँसुरीवाला उनके आगे-आगे जा रहा था और सभी बालक उसके पीछे-पीछे । बेसर नदीके किनारेसे होकर वह कोपेलवर्ग पहाड़ीकी ओर मुड़ा । अब मेयर प्रसन्नतासे खिल उठा । लोगोंने समझा—चलो, यह उस पहाड़को अब किसी प्रकार लाँघ न सकेगा । पर आश्चर्य ! ज्यों ही वह पर्वतके समीप पहुँचा, उसमें एक दरवाजा खुल पड़ा और वह बाँसुरी-वाला उन बच्चोंके साथ उसमें प्रविष्ट हो गया । और सबके अंदर घुसते ही वह दरवाजा पूर्ववत् बंद हो गया । केवल एक लँगड़ा लड़का जो बहुत पीछे छूट गया था, उनके साथ न जा सका ।

हैमेलिनके लोगोंके पश्चात्तापका क्या कहना था । उन्होंने लाख मिन्नतें मानीं । पर वह कब लौटनेवाला था । यह कथा वहाँकी गुफाके एक पत्थरपर आज भी खुदी वर्तमान है । कहते हैं कि ट्रान्सिलवानियाँमें कुछ भिन्न स्वभावके परदेशी व्यक्तियोंकी एक जाति रहती है । उनका कहना है कि उनके पूर्वज एक भूगर्भस्थ कारागृहसे निकले थे, जो बर्न्सवीक प्रदेशके हैमेलिन नगरके निवासी थे । पर वे क्यों और कैसे निकले, ये वे नहीं जानते, तथापि उनकी बातोंसे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि वे पर्वतद्वारमें प्रविष्ट बालक ही इनके तथाकथित पूर्वज थे । वचन देकर लोभवश उसके पूरा न करनेका यह दुष्परिणाम है !

(The Pied Piper of Hamelin)

उसकी मानवता धन्य हो गयी

पिछली शताब्दीकी बात है। एक फ्रेंच व्यापारी जिसका नाम लबट था, दैवयोगसे बीमार पड़ गया और आडर नदीके तटपर एक रमणीय स्थानमें रहने लगा।

एक दिन सबेरे-सबेरे उसने देखा कि नदीके दूसरे किनारेपर एक सवार अपने घोड़ेसे उलझ रहा था। कभी वह लगाम ढीली करता था तो कभी कड़ी करते ही घोड़ा दोनों आगेवाले पैर उठाकर खड़ा होनेका यत्न करता था। सवारका जीवन खतरेमें था। अचानक वह घोड़ेद्वारा उछाल दिया गया और नदीकी मध्यधारामें डूबने लगा। बूढ़े व्यापारीसे यह दृश्य नहीं देखा गया। डूबते नवयुवककी प्राण-रक्षाके लिये वह नदीमें कूद पड़ा। यह मानवताकी पुकार थी। उसे अपने कीमती वस्त्रोंका कोई ध्यान नहीं था। यद्यपि वृद्ध व्यापारी अच्छा तैराक था तथापि डूबते हुए युवकको बचाना उस समय आसान काम नहीं था। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट और भारी था।

'ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि मेरे रहते एक असहाय मानवके प्राण चले जायँ।' बूढ़ेने फिर हाथ-पैर मारे और उसे किनारेतक लानेमें सफल हो गया।

'पवित्र मानवता! मैं तुम्हारा कितना ऋणी हूँ। मैंने तुम्हारे नामपर अपने पुत्रके ही प्राण बचा लिये।' वह आश्चर्यचकित हो उठा। उसका हृदय प्राणिमात्रके लिये करुणा और दयासे पिघल गया। वृद्ध लबटने अपने नौजवान बेटेको छातीसे लगा लिया।—रा० श्री०

प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरेका सेवक है

अफ्रीकामें कमेराका हब्शी राजा बहुत अभिमानी था, वह ऐश्वर्यके उन्मादमें सदा मग्न रहता था। लोग उससे बहुत डरते थे और उसकी छोटी-से-छोटी इच्छाकी भी पूर्ति करनेमें दत्तचित्त रहते थे।

एक दिन वह अपनी राजसभामें बैठकर डींग हाँक रहा था कि सब लोग मेरे सेवक हैं। उस समय एक वृद्ध हब्शीने, जो बड़ा बुद्धिमान् और कार्यकुशल था, उसके कथनका विरोध किया। उसका नाम बोकबार था।

'प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरेका सेवक है।' वृद्धके इस कथनसे राजा सिरसे पैरतक जल उठा।

'इसका आशय यह है कि मैं तुम्हारा सेवक हूँ। मुझे विवश कर दो अपनी सेवा करनेको। मैं तुम्हें सौ गायें पुरस्कारस्वरूप प्रदान करूँगा। यदि तुम शामतक मुझे अपना सेवक नहीं सिद्ध कर सकोगे तो मैं तुम्हें मार डालूँगा और लोगोंको समझा दूँगा कि मैं तुम्हारा मालिक हूँ।' कमेरानरेशने बोकबारको धमकी दी।

'बहुत ठीक' बोकबारने प्रणाम किया। वृद्ध होनेके नाते चलनेके लिये वह अपने पास एक छड़ी रखता था। ज्यों ही वह राज-सभासे बाहर निकल रहा था त्यों ही एक भिखारी आ पहुँचा।

'मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं इस भिखारीको कुछ खानेके लिये दूँ।' बोकबारने राजासे निवेदन किया।

दोनों हाथमें भोजनकी सामग्री लेकर वह बुढ़ापेके कारण राजाके निकट ही थर-थर काँपने लगा। बगलसे छड़ी जमीनपर गिर पड़ी और उसके कपड़ेमें उलझ गयी तथा वह बझकर गिरनेवाला ही था कि उसने राजासे छड़ी उठा देनेकी प्रार्थना की। राजाने बिना सोचे-समझे छड़ी उठा दी। बोकबार ठठाकर हँस पड़ा।

'आपने देखा कि सज्जन लोग एक दूसरेके सेवक होते हैं। मैंने भिखारीकी सेवा की और आप मेरी सेवा कर रहे हैं। मुझे गायोंकी आवश्यकता नहीं है। आप उन्हें इस दीन भिखारीको दे दीजिये।' बोकबारने अपने कथनकी सत्यता प्रमाणित की।

राजाने प्रसन्न होकर बोकबारको अपना मन्त्री बना लिया।—रा० श्री०

परिश्रम गौरवकी वस्तु है

अमेरिकामें स्वातन्त्र्य-संग्रामके समय एक किलेबन्दी हो रही थी। कुछ सैनिकोंके द्वारा एक नायक उस कामको करा रहा था। सैनिक किलेकी दीवारपर एक भारी लकड़ी चढ़ानेका प्रयत्न कर रहे थे; किंतु सफल नहीं हो रहे थे। नायक उन्हें आज्ञा तो दे रहा था और प्रोत्साहित भी कर रहा था; किंतु स्वयं लकड़ी उठानेमें हाथ नहीं लगाता था।

उधरसे घोड़ेपर बैठे एक सज्जन निकले। उन्होंने नायकसे कहा—'आप भी लकड़ी उठवानेमें लग जायँ तो लकड़ी ऊपर चढ़ जाय।'

नायकने उत्तर दिया—'मैं इस टुकड़ीका नायक हूँ।'

'आप मुझे क्षमा करें।' वे सज्जन घोड़परसे उतर पड़े। अपना कोट उन्होंने उतार दिया, टोपी अलग रख दी और कमीजकी बाहें ऊपर चढ़ाकर सैनिकोंके साथ जुट गये। उनके परिश्रम तथा सहयोगका परिणाम यह हुआ कि लकड़ी ऊपर चढ़ गयी।

'धन्यवाद महोदय!' नायकने उन सज्जनको लकड़ी चढ़ जानेपर कहा।

अपना कोट पहिनते हुए वे बोले—'इसमें धन्यवाद-की तो कोई बात नहीं। आपको जब कभी ऐसी आवश्यकता हो तो अपने प्रधान सेनापतिके पास संदेश भेज दिया करें, जिससे मैं आकर आपकी सहायता कर जाया करूँ; क्योंकि मुझे पता है कि परिश्रम करना हीनताकी नहीं, गौरवकी वस्तु है।'

'प्रधान सेनापति!' बेचारा नायक तो हक्का-बक्का रह गया। परंतु प्रधान सेनापति घोड़ेपर चढ़कर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे आगे निकल गये।—सु० सिं०

क्षमाशीलता

अब्राहम लिंकन अमेरिकाके राष्ट्रपति थे। उनके शासनकालमें अमेरिका बहुत समृद्ध और समुन्नत था! पर कमी केवल इस बातकी थी कि उन्हें किसीको मृत्यु-दण्ड देनेमें बड़ा संकोच होता था। वे कहा करते थे कि किसीको मृत्यु-दण्ड देना कितना कठिन है, लेखनीमें इतनी शक्ति है कि उसकी एक चाल अपराधीको प्राण दे सकती है।

अमेरिकन सेनाकी एक टुकड़ीमें एक नवयुवक काम करता था। उसका काम पहरा देनेका था। किसी समय सेनामें ही उसका एक मित्र बीमार पड़ा। नवयुवक-को उसकी देखभालके साथ-ही-साथ अपना काम भी पूरा करना पड़ता था। बीमार आदमीकी सेवा-शुश्रूषाके कारण वह थककर अपनी जगहपर सो गया। शत्रुका आक्रमण होनेवाला था; ऐसे समयमें उसका सो जाना कदापि उचित नहीं था। सेनापतिने उसे मृत्यु-दण्ड दिया। अब्राहम लिंकनको पूरा-पूरा अधिकार था कि उसे क्षमाकर प्राणदान दे दें। वे उससे स्वयं मिलने गये।

× × × ×

'भाई! तुम्हें गोलीसे दागा नहीं जायगा; मेरी बात मानो। तुम्हारे इस कथनमें मेरा विश्वास है कि तुम थकावट और दोहरे कामके कारण सो गये। मैं तुम्हें सेनामें फिर भेज रहा हूँ; पर इस समय मैं बड़े धर्म-संकटमें पड़ गया हूँ कि तुम देय धन (बिल) भर सकोगे या नहीं।' अमेरिकाके राष्ट्रपतिने युवकको आश्वासन दिया।

'यदि यह पाँच सौ डालरसे अधिक नहीं होगा तो मैं अपने मित्रोंकी सहायतासे इसे चुका दूँगा।' अपराधी-का निवेदन था।

'नहीं भाई ! यह तो बहुत अधिक है । इसे तुम, केवल तुम चुका सकते हो, मैं तुम्हें चाहता हूँ, विलियम स्काट !' राष्ट्रपति लिंकनने बात स्पष्ट की ।

लिंकनने कहा कि तुम सेनामें जाकर अपने कर्तव्यका पूर्णरूपसे पालन करो । जब मरने लगो, तब यह समझ सको कि मेरे वचनके अनुसार तुमने आजीवन आचरण कर अपनी शेष आयु सार्थक की । इस तरह देय धन (बिल) की भरपाई हो जायगी । राष्ट्रपतिने उसे क्षमा कर दिया ।

× × × ×

'आपने मुझे एक वीर सैनिककी तरह युद्धस्थलमें प्राण देनेका सुनहला अवसर दिया । आपकी क्षमाशीलता धन्य है ।' विलियम स्काटने मरते समय लिंकनको पत्र लिखा था । एक वीरकी तरह अपने देशके सम्मानके लिये लड़कर युद्धमें जीवन-लीला समाप्त की ।—रा० श्री०
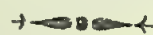
श्रमका फल

अब्राहम लिंकनका बचपन अत्यन्त दुःखमय था । उन्होंने अत्यन्त साधारण और गरीब परिवारमें जन्म लिया था । कभी नाव चलाकर तो कभी लकड़ी काटकर वे जीविका चलाते थे । उन्हें महापुरुषोंका जीवन-चरित पढ़नेमें बड़ा आनन्द आता था; पर अर्थाभावमें पुस्तक खरीदकर पढ़ना उनके लिये कठिन था ।

वे अमेरिकाके प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटनके जीवनसे बहुत प्रभावित थे । एक समय उन्हें पता चला कि एक पड़ोसीके पास जार्ज वाशिंगटनका जीवन-चरित है; वे प्रसन्नतासे नाच उठे, पर मनमें भय था कि पड़ोसी पुस्तक देगा या नहीं । पड़ोसीने पुस्तक दे दी । अब्राहमने शीघ्र ही लौटा देनेका वादा किया था ।

अब्राहम लिंकनने पुस्तक समाप्त नहीं की थी कि एक दिन अचानक बड़े जोरकी जलवृष्टि हुई । अब्राहम लिंकन झोंपड़ीमें रहते थे; पुस्तक वर्षासे भीगकर खराब हो गयी । अब्राहमके मनमें बड़ा दुःख हुआ, पर वे निराश नहीं हुए ।

× × × ×

'मुझसे एक बहुत बड़ा अपराध हो गया है ।' सोलह सालकी अवस्थावाले असहाय बालक अब्राहमकी बातसे पड़ोसी आश्चर्यचकित हो गया । वह बालककी सरलता और निष्कपटतासे बहुत प्रसन्न हुआ ।

अब्राहमने कहा कि मैं पुस्तक लौटा नहीं सकूँगा। यद्यपि वह जलवृष्टिसे भीगकर खराब हो गयी है तो भी मैं आपको नयी पुस्तक दूँगा ।

'तुम नयी किस तरह दे सकोगे ? घरपर एक पैसेका भी ठिकाना नहीं है और बात ऐसी करते हो!' पड़ोसीने झिड़की दी ।

'मुझे अपने श्रमपर विश्वास है । मैं आपके खेतमें मजदूरी कर पुस्तकके दूने दामका काम कर दूँगा ।' अब्राहम लिंकन आशान्वित थे । पड़ोसीको उनका प्रस्ताव ठीक लगा ।

अब्राहम लिंकनने मजदूरीके द्वारा पुस्तकके दामकी भरपाई कर दी और जार्ज वाशिंगटनकी जीवनी उन्हींकी सम्पत्ति हो गयी । अपने श्रमसे उन्होंने अपने पुस्तकालयकी पहली पुस्तक प्राप्त की । —रा० श्री०

अन्त भला तो सब भला

एथेन्समें सोलन नामका एक बड़ा भारी विद्वान् रहता था । उसे देशाटनका बड़ा शौक था । एक बार वह घूमता-घामता लीडिया देशके राजा कारूँके दरबारमें पहुँचा । कारूँ अत्यन्त धनी था । उसे अपनी अतुल सम्पत्तिका बड़ा गर्व था । उसने सोलनको अपनी अपरिमित अर्थराशि दिखलाकर यह कहलाना चाहा कि

'कारूँसे बढ़कर संसारमें और कोई सुखी नहीं है ।' पर ज्ञानी सोलनके चित्तपर उसके वैभवका कोई प्रभाव न पड़ा । उसने केवल यही उत्तर दिया कि 'संसारमें सुखी वही कहा जा सकता है, जिसका अन्त सुखमय हो।' इसपर कारूँने बिना किसी विशेष सत्कारके सोलनको अपने यहाँसे विदा कर दिया ।

कालान्तरमें कारूँने पारसके राजा साइरसपर आक्रमण किया । वहाँ वह हार गया और जीते पकड़ लिया गया । साइरसने उसे जीवित जलानेकी आज्ञा दी । इसी समय उसे सोलनकी याद आ गयी । उसने तीन बार 'हाय ! सोलन ! हाय सोलन' की पुकार की । जब साइरसने इसका तात्पर्य पूछा तो उसने सोलनकी सारी बातें सुना दीं । इसका साइरसपर अच्छा प्रभाव पड़ा और उसने कारूँको जीवन-दान तो दिया ही, साथ ही उसका आदर-सत्कार भी किया ।—जा० श०

उद्यमका जादू

इटलीके क्रेसिन नामक किसानने अपने उद्योगके बदौलत इतनी अच्छी पैदावार की कि लोगोंको अत्यन्त आश्चर्य होने लगा । उन्होंने सोचा—निश्चय ही यह कोई जादू करता होगा ।

उन्होंने न्यायालयमें इसकी अपील की । न्यायाधीशने वादीका बयान सुननेके बाद प्रतिवादी किसान क्रेसिनसे पूछा—'इसपर तुम्हारा क्या कहना है ?'

क्रेसिनने अपनी एक हृष्ट-पुष्ट लड़की, अपने खेतीके औजार, बैल आदिको अदालतके समक्ष खड़ाकर कहा—'मैं खेत जोत और खाद डाल उसे अच्छा तैयार करता हूँ । मेरी लड़की बीज बोती और पानी आदि देकर खेतकी अच्छी देख-रेख करती है । इसी तरह मेरे औजार भी टूटे-फूटे न होकर अच्छे काम लायक हैं । और मेरे बैल देखिये । कितनी लुभावनी जोड़ी है । मैं इन्हें खूब खिलाता-पिलाता, इनकी सेवा-शुश्रूषा करता हूँ । इसीलिये ये हमारे बैल प्रदेशभरमें ख्यातिप्राप्त और बेजोड़ हैं । मेरे खेतमें काफी पैदावार होनेमें ये जिस जादूका असर बताते हैं वह जादू इन्हींमें है । दावा करनेवाले चाहें तो इस जादूका उपयोग कर लें तब उन्हें मेरे इस कथनकी सत्यता प्रमाणित होगी ।'

ये बातें सुनकर न्यायाधीशने कहा—'आजतक अनेक अपराधी मेरे सामने आये, पर अपनेपर किये गये अभियोगोंके निवारणार्थ इतने सबल प्रमाण किसीने भी उपस्थित नहीं किये । इसलिये इनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है ।'

यह कहकर न्यायाधीशने क्रेसिनको निर्दोष विदाई दी।
(नीतिबोध)

न्यायका सम्मान

इंगलैंडका चतुर्थ हेनरीका ज्येष्ठपुत्र, जो आगे हेनरी पञ्चम नामसे प्रसिद्ध हुआ, बड़ा ही शूरवीर और राज-काजमें भी अत्यन्त दक्ष था । किंतु बचपनमें राज्यारूढ होनेके पूर्व वह बड़ा ही उजड्ड और मुँहफट था । वह उचक्कोंकी संगति कर नीच-मूर्खतापूर्ण काम भी करता था ।

एक बार उसके एक मित्रको किसी अपराधपर मुख्य न्यायाधीशने कैदकी सजा सुनायी । राजपुत्र अदालतमें उपस्थित था । सजा सुनते ही वह बिगड़ उठा और न्यायाधीशके साथ बेअदबी कर अपने मित्रको छोड़ देनेके लिये उन्हें हुक्म देने लगा । उसने कहा—'राजपुत्रके मित्रको कैदकी सजा देना अनुचित है और मैं प्रिंस आफ वेल्सके नाते आपको आदेश देता हूँ कि

यह मेरा मित्र है, इसलिये रास्तेके साधारण चोरकी तरह इसके साथ कभी बर्ताव न करें।'

न्यायाधीशने उत्तर दिया—'मैं यहाँ प्रिंस आफ वेल्सको बिलकुल नहीं पहचानता। 'न्यायके काममें पक्षपात नहीं करूँगा' यह मैंने शपथ ली है। इसलिये जो बात न्याय दीखेगी, उसे बिना किये न रहूँगा।'

राजपुत्र आगबबूला हो उठा। आपेसे बाहर हो वह अपने मित्र उस कैदीको छुड़ानेका यत्न करने लगा। न्यायाधीशने पुनः साफ चेतावनी दी—'इसमें हाथ डालनेका आपको अधिकार नहीं। व्यर्थ ही अदालतमें दंगा मत कीजिये।' राजपुत्रके तलवेकी आग ब्रह्माण्डमें पहुँच गयी और उसने भरी अदालतमें न्यायाधीशके गालपर थप्पड़ जमा दी।

न्यायाधीशने राजपुत्र और उसके मित्रको तत्काल जेलमें भेजनेका आदेश दिया। उन्होंने कहा—'इसने न्यायाधीशका अपमान किया है। इसलिये यह दण्ड है।' न्यायाधीशने राजपुत्रको सम्बोधन करके कहा—'आगे आपको ही राज्यारूढ़ होना है। यदि स्वयं आप अपने राज्यके कानूनोंकी इस तरह अवज्ञा करेंगे तो प्रजा आपका आदेश क्या मानेगी।'

राजपुत्रके हृदयमें तत्काल प्रकाश हुआ। वह बड़ा लज्जित हुआ। सिर नवाकर न्यायाधीशको मुजरा किया और जेलकी ओर चल पड़ा।

राजा हेनरी चतुर्थको पता चलनेपर उसने कहा—'सचमुच मैं धन्य हूँ; जिसके राज्यमें न्यायका निष्पक्ष स्थापन करनेवाला ऐसा न्यायाधीश है।'

स्वयं हेनरी पञ्चम बननेपर राजपुत्रने न्यायाधीशसे कहा—'आपके साथ मैंने जैसा बर्ताव किया, यदि मुझे ऐसा ही पुत्र हुआ तो उसकी आँखोंमें आँजन डालनेवाला आप-जैसा ही न्यायाधीश मुझे सौभाग्यसे मिले, यही मैं चाहता हूँ।' —गो० न० बै० (नीतिबोध)

स्वावलम्बनका फल

स्काटलैंडके एक सरदार सर राबर्ट इन्नेसपर एक समय बड़ा संकट आ गया और वह बड़ी विपत्तिमें पड़ गया। अन्य लोगोंकी तरह उसने न तो अपने इष्ट-मित्रोंपर बोझ डाला और न सरकारसे मदद माँगी। उसे कोई काम भी न आता था। पर अपने श्रमपर स्वावलम्बी रहनेकी उसे दृढ़ निष्ठा थी। फलतः उसने पलटनमें सिपाहीगिरीका काम स्वीकार कर लिया।

एक दिन वह छावनीपर निगरानी कर रहा था कि एक व्यक्ति, जो उसे जानता था, यों ही किसी कामके लिये पलटनके कर्नलके पास आया। कर्नल किसी अन्यसे बातें कर रहे थे, तबतक वह इस पहरेदारसे बातचीत करता खड़ा रहा। उसे स्पष्ट हो गया कि यह पहरेदार साधारण व्यक्ति नहीं, राबर्ट इन्नेस है।

कर्नलसे मिलनेपर उसने कहा—'सचमुच आप बड़भागी हैं। आपके यहाँ कितने ही राजा नौकरी करते होंगे। यही राबर्ट इन्नेसको देखिये न! कितना बड़ा सरदार है।'

कर्नलने दूसरे पहरेदारको भेजकर राबर्टको बुलाया और कहा—'क्या आप राबर्ट इन्नेस हैं। यदि हाँ तो, यह हलका काम क्यों करते हैं?'

'हाँ, यह सच है। मेरे पास एक पाई भी न बचनेके कारण मैंने सोचा कि दूसरेका मरा अन्न खानेकी अपेक्षा अपनी पदवी आदिको दो दिनके लिये भूलकर अपने श्रमपर निर्वाह करना श्रेष्ठ है। इसीलिये यह नौकरी स्वीकार की।'

कर्नलको विश्वास हो गया और वे उसके धैर्य तथा श्रमनिष्ठापर खिल उठे। उन्होंने राबर्टको उस दिन

छुट्टी दे दी और अपने यहाँ भोजनको बुलाया। एक साथ भोजन करनेके बाद वे अपनी पोशाकमें-से एक पोशाक उसे देने लगे।

राबर्टने कहा—'धन्यवाद ! पर मुझे इसकी जरूरत नहीं है। सिपाहीगिरी करनेसे पहलेके कुछ कपड़े अभी मेरे पास पड़े हैं।'

कर्नल उत्तरोत्तर उससे और भी प्रभावित हो चले और उसने राबर्टको एक बड़े सम्मानकी नौकरी दी तथा अन्तमें उसके साथ अपनी लड़की भी ब्याह दी।—गो० न० बै० (नीतिबोध)

निर्माता और विजेता

किसी ग्राममें एक विद्वान् स्त्री-पुरुष तथा उनके दो बच्चे रहते थे। बड़ा लड़का शान्त स्वभावका, पठन-शील और विचारप्रिय था। छोटा बालक केवल विनोदी, चञ्चल स्वभावका तथा खेल-कूदप्रिय था।

एक दिन संध्या-समय नित्यकी तरह बड़ा लड़का अपने माँ-बापके पास बैठा हुआ कोई इतिहासकी पुस्तक पढ़ रहा था। इधर छोटा बालक एक कार्डका मकान बनानेमें लगा था। वह उसके गिरनेके भयसे श्वास भी नहीं लेता था। इतनेमें ही बड़े लड़केने पुस्तक अलग रख दी और अपने पितासे पूछा—'पिताजी ! कुछ वीर तो साम्राज्य-विजेता कहे जाते हैं और कुछ साम्राज्य-संस्थापक कहे जाते हैं। क्या इन दोनों भिन्न शब्दोंके भाव भिन्न-भिन्न हैं ?'

पिता अभी कुछ उत्तर देनेकी बात सोच ही रहा था कि तबतक छोटे बालकने कार्डका दूसरा महल तैयार कर लिया और प्रसन्नतासे उछल पड़ा। वह बोल उठा—'मैंने यह तैयार कर लिया।'

बड़ा भाई उसके कोलाहलपर बिगड़ पड़ा और एक इशारेसे उसके सारे घरको जिसके निर्माण करनेमें उसे इतना श्रम और समयका व्यय हुआ था धराशायी कर डाला।

पिताने कहा—'मेरे पुत्र ! बस, तुम्हारा छोटा भाई 'निर्माता' और तुम 'विजेता' हुए।'—जा० श०

स्वावलम्बी विद्यार्थी

ग्रीसमें किलेन्थिस नामक एक युवक एथेंसके तत्त्व-वेत्ता जीनोकी पाठशालामें पढ़ता था। किलेन्थिस बहुत ही गरीब था। उसके बदनपर पूरा कपड़ा नहीं था। पर पाठशालामें प्रतिदिन जो फीस देनी पड़ती थी, उसे किलेन्थिस रोज नियमसे दे देता था। पढ़नेमें वह इतना तेज था कि दूसरे सब विद्यार्थी उससे ईर्षा करते। कुछ लोगोंने यह संदेह किया कि 'किलेन्थिस जो दैनिक फीसके पैसे देता है, सो जरूर कहींसे चुराकर लाता होगा; क्योंकि उसके पास तो फटे चिथड़ेके सिवा और कुछ है ही नहीं।' और उन्होंने आखिर उसे चोर बता-कर पकड़वा दिया। मामला अदालतमें गया। किलेन्थिसने निर्भयताके साथ हाकिमसे कहा कि 'मैं बिल्कुल निर्दोष हूँ, मुझपर चोरीका दोष सर्वथा मिथ्या लगाया गया है। मैं अपने इस बयानके समर्थनमें दो गवाहियाँ पेश करना चाहता हूँ।'

गवाह बुलाये गये। पहला गवाह था एक माली। उसने कहा कि 'यह युवक प्रतिदिन मेरे बगीचेमें आकर कुएँसे पानी खींचता है और इसके लिये इसे कुछ पैसे मजदूरी-के दिये जाते हैं।' दूसरी गवाहीमें एक बुढ़िया माईने कहा कि 'मैं बूढ़ी हूँ। मेरे घरमें कोई पीसनेवाला

नहीं है। यह युवक प्रतिदिन मेरे घरपर आटा पीस जाता है और बदलेमें अपनी मजदूरीके पैसे ले जाता है।'

इस प्रकार शारीरिक परिश्रम करके किलेन्थिस कुछ आने प्रतिदिन कमाता और उसीसे अपना निर्वाह करता तथा पाठशालाकी फीस भी भरता। किलेन्थिसकी इस नेक कमाईकी बात सुनकर हाकिम बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे इतनी सहायता देनी चाही कि जिससे उसको पढ़नेके लिये मजदूरी करनी न पड़े; परंतु उसने सहायता लेना स्वीकार नहीं किया और कहा कि 'मैं स्वयं परिश्रम करके ही पढ़ना चाहता हूँ। किन्हींसे दान लेनेकी मुझे आवश्यकता नहीं है।'

उसके गुरु जीनो महाशयने भी उस स्वावलम्बी युवककी बातका समर्थन किया और उसके सहायता न लेनेपर प्रसन्नता प्रकट की !

आदर्श दण्ड

फ्रेडरिककी सेनामें एक मनुष्य कभी लेफ्टेनेंट कर्नल-के पदपर रहा था। काम न होनेसे उसे अलग कर दिया गया। वह बार-बार फ्रेडरिकके पास आता और उसी पदके लिये उसपर दबाव डालता। फ्रेडरिकने बार-बार उसे समझाया—'भैया ! अभी कोई जगह खाली नहीं है।' परंतु उसने एक भी नहीं सुनी। आखिर फ्रेडरिकने हैरान होकर उसे बड़ी कड़ाईके साथ वहाँ आनेके लिये मने कर दिया। कुछ समय बाद किसीने फ्रेडरिकके सम्बन्ध-में एक बड़ी कड़ी कविता लिखी। शान्तस्वभाव होने-पर भी फ्रेडरिक इस अपमानको न सह सका। उसने मुनादी करवा दी कि इस कविताके लेखकको पकड़कर जो मेरे सामने हाजिर करेगा उसे पचास सोनेकी मोहरें इनाम दी जायँगी। दूसरे दिन फ्रेडरिकने देखा वही आदमी सामने हाजिर है। फ्रेडरिकने क्रोध और आश्चर्यमें भरकर पूछा, 'तू फिर यहाँ कैसे फूट निकला ?' उसने कहा—'सरकार ! आपके विरुद्ध जो कड़ी कविता लिखी गयी थी, उसके लेखकको पकड़ा देनेवालेको आपने पचास सोनेकी मोहरें देनेकी मुनादी करवायी है न ?'

'हाँ हाँ, तो इससे क्या ?' फ्रेडरिकने शान्तभावसे पूछा।

'तब तो सरकार ! वह इनाम मुझे दिये बिना आपका छुटकारा नहीं।' उसने कहा।

'क्यों ?' फ्रेडरिकने संकोचसे पूछा।

'इसलिये सरकार ! कि उस कविताका लिखनेवाला यही आपका सेवक है। आप सरकार ! मुझे भले ही दण्ड दें, परंतु क्या मेरे भूखों मरते हुए स्त्री-बच्चोंको अपनी घोषणाके अनुसार इनाम नहीं देंगे मेरे कृपालु स्वामी !'

फ्रेडरिक एकदम लाल-पीला हो उठा। तुरंत ही एक कागजके टुकड़ेपर कुछ लिखकर उसे देते हुए फ्रेडरिकने कहा—'ले इस परवानेको लेकर स्पाण्डो किलेके कमाण्डर-के पास चला जा। वहाँ दूसरोंके साथ कैद करनेका मैंने तुझको दण्ड दिया है।'

'जैसी मर्जी सरकारकी ! परंतु उस इनामको न भूलियेगा।'

'अच्छा सुन ! कमाण्डरको परवाना देकर उसे ताकीद कर देना कि भोजन करनेसे पहले परवाना पढ़े नहीं। यह मेरी आज्ञा है।' गरीब बेचारा क्या करता। फ्रेडरिककी आज्ञाके अनुसार उसने स्पाण्डोके किलेपर जाकर परवाना वहाँके कमाण्डरको दिया और कह दिया कि भोजनके बाद परवाना पढ़नेकी आज्ञा है।

दोनों खानेको बैठे। वह बेचारा क्या खाता। उसका तो कलेजा काँप रहा था कि जाने परवानेमें क्या लिखा है ! किसी तरह भोजन समाप्त हुआ, तब कमाण्डरने

परवाना पढ़ा और पढ़ते ही वह प्रसन्न होकर पत्रवाहकको बधाइयों-पर-बधाइयाँ देने लगा। उसमें लिखा था—

'इस पत्रवाहक पुरुषको आजसे मैं स्पाण्डोके किलेका कमाण्डर नियुक्त करता हूँ। अतएव इसको सब काम सम्हलाकर और सारे अधिकार सौंपकर तुम पोटर्सडमके किलेपर चले जाओ। तुम्हें वहाँका कमाण्डर बनाया जाता है, इससे तुमको भी विशेष लाभ होगा। उसी बीचमें इस नये कमाण्डरके बाल-बच्चे भी सोनेकी पचास मोहरें लेकर पहुँच रहे हैं।'

पत्रवाहक परवाना सुनकर आनन्दसे उछल पड़ा और पुराने कमाण्डरको भी अपनी इस तबदीलीसे बड़ी खुशी हुई!

अन्यायका पैसा

जाने क्यों, सम्राट्‌की नींद एकाएक उड़ गयी। पलंगपर पड़े रहनेके बदले बादशाह उठकर बाहर निकल आया। निस्तब्ध रात्रि थी। पहरेदारने अभी-अभी बारह-के घंटे बजाये थे।

पासके बैठकखानेमें तेज रोशनीकी एक बढ़िया चिराग जल रही थी। सम्राट्‌ने कौतूहलवश उस ओर पैर बढ़ाये।

बहीखातोंके ढेरके बीचमें, आयविभागका प्रधान मन्त्री (Revenue Minister) किसी गहरी चिन्तामें डूबा बैठा था। सम्राट्‌के पैरोंकी धीमी आहट सुननेतककी उसे सुध नहीं थी। साम्राज्यपर अचानक कोई भारी विपत्ति आ पड़ी हो और उसे दूर करनेका उपाय सोच रहा हो—वह इस प्रकार ध्यानमग्न था।

समाट् कुछ देरतक यह दृश्य देखता रहा; और मेरे राज्यके ऊँचे अधिकारियोंमें ऐसे परिश्रमी और लगनवाले पुरुष हैं, यह जानकर उसे अभिमान हुआ!

'क्यों बड़ी चिन्तामें डूब रहे हो, क्या बात है?' सम्राट्‌ने कहा।

मन्त्रीने उठकर सम्राट्‌का स्वागत किया। अपनी चिन्ताका कारण बतलाते हुए मन्त्रीने कहा—'गत वर्षकी अपेक्षा इस वर्ष लगानकी वसूलीके आँकड़े कुछ ज्यादा थे, इसलिये मैंने स्वयं ही इसकी जाँच करनेका निश्चय किया।'

'इस वर्ष लगान अधिक आया है, इसका तो मुझे भी पता है, परंतु ऐसा क्यों हुआ, यह मालूम नहीं।' सम्राट्‌ने यह कहकर आयमन्त्रीकी बातका समर्थन किया।

'उस कारणको खोज निकालनेके लिये ही मैं जागरण कर रहा हूँ सरकार! सारे बहीखाते उलट डाले, कहीं खास परिवर्तन नहीं मालूम हुआ। संवत् भी बहुत अच्छा नहीं था।' आयमन्त्रीने असल बात कहनी शुरू की।

'तो हिसाबमें भूल हुई होगी।'

'हिसाब भी जाँच लिया। जोड़-बाकी सब ठीक हैं।'

'तब तुम जानो और तुम्हारा काम जाने। लगान तो बढ़ा ही है न? इसमें चिन्ताकी कौन-सी बात है? रात बहुत चली गयी है, अब इस बखेड़ेको कलपर रक्खो।' सम्राट्‌ने उकताकर मुँह फेर लिया।

'आमदनी बढ़ी है यह ठीक है, परंतु यही तो साम्राज्यके लिये चिन्ताका कारण है। लगानकी कमी सही जा सकती है, परंतु अन्यायकी अगर एक कौड़ी भी खजानेमें आ जाती है तो वह सारे साम्राज्यके अङ्गोंसे फूट-फूटकर निकलती है।' आयमन्त्रीने अपने उद्वेगका इतिहास धीरे-धीरे कहना आरम्भ किया। 'सरकार! यहाँ भी ऐसा ही हुआ है। किसानोंके पैदायश नाममात्रकी है। गयी साल गरमी बहुत पड़ी थी, इससे गङ्गा-यमुना-जैसी भरी-पूरी नदियोंका जल भी सूख चला था। जल सूख जानेसे किनारेकी जमीन निकल

आयी थी। इस जमीनमें लोगोंने कुछ बाड़े बनाये और उन्हींके द्वारा सरकारी खजानेमें कुछ धन ज्यादा आया। आमदनी बढ़नेका यही गुप्त रहस्य है।'

'नदियाँ सूख गयीं, जल दूर चला गया और लगान बढ़ा।' मन्त्रीकी चिन्ताने सम्राट्के दिलपर भी चिन्ताका चेप लगा दिया। कुछ देरतक इन्हीं शब्दोंको वह रटता रहा।

'नदीका जल सूखना भी तो एक ईश्वरीय कोप है। इस कोपको सिर लेकर लगानकी मौज उड़ानेवाली बादशाही कबतक टिकी रह सकती है? यह अन्यायका पैसा है। मेरे खजानेमें ऐसी एक कौड़ी भी न आनी चाहिये।' सम्राट्ने अपनी आज्ञा सुना दी। मन्त्रीकी चिन्ता अकारण नहीं थी, सम्राट्को इस अनुभव हुआ।

'इन गरीब प्रजाका लगान लौटा दो और ओरसे उनसे कहला दो कि वे रात-दिन गङ्गा-यमुना भरी-पूरी रखनेके लिये ही भगवान्से प्रार्थना करें लगानकी बढ़ती नहीं, परंतु यह न्यायकी वृत्ति इस साम्राज्यकी मूल भित्ति है।' सम्राट्ने जाते-जाते यह कहा। धन्य!

ईश्वरके विधानपर विश्वास

एक अंग्रेज अफसर अपनी नवविवाहिता पत्नीके साथ जहाजमें सवार होकर समुद्र-यात्रा कर रहा था। रास्तेमें जोरसे तूफान आया। मुसाफिर घबरा उठे, पर वह अंग्रेज जरा भी नहीं घबराया। उसकी नयी पत्नी भी व्याकुल हो गयी थी। उसने पूछा—'आप निश्चिन्त कैसे बैठे हैं?' पत्नीकी बात सुनकर पतिने म्यानसे तलवार खींचकर धीरेसे पत्नीके सिरपर रख दी और हँसकर पूछा कि 'तुम डरती हो या नहीं?' पत्नीने कहा—'मेरी बातका जवाब न देकर यह क्या खेल कर रहे हैं? आपके हाथमें तलवार हो और मैं डरूँ, यह कैसी बात? आप क्या मेरे वैरी हैं, आप तो मुझको प्राणोंसे भी अधिक चाहते हैं।' इसपर अफसरने कहा—'साथी! जैसे मेरे हाथमें तलवार है वैसे ही भगवान्के हाथमें यह तूफान है। जैसे तुम मुझे अपना सुहृद् समझकर नहीं डरती, वैसे ही मैं भी भगवान्को अपना परम सुहृद् समझकर नहीं डरता। भगवान्का अपने जीवोंपर अगाध प्रेम है, वे वही करेंगे जो वास्तवमें हमारे लिये कल्याणकारी होगा। फिर डर किस बातका?'

दीपक जलाकर देखो तो

युद्धके समय एक सैनिकका अनुभव

युद्धके समय अपरिचित देशोंमें मैं एक अनाथ शिशुकी तरह अकेले रह रहा था। फिर भी मैं सदा सुखी और स्वस्थ रहा एवं मैंने नित्य अपनेको सुरक्षित पाया।

कुछ दिनों पूर्व, मानो मेरी श्रद्धाको कसौटीपर कसनेके लिये, ठीक मेरे मुँहपर अचानक एक फोड़ा निकल आया। अपने काममें मुझे सदा भरे समाजके सामने रहना पड़ता था। मैं डरा, घबराया और किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया। सबने सलाह दी कि डाक्टरको अवश्य दिखाना चाहिये। मेरा कोई परिचित डाक्टर नहीं था। एक डाक्टरने, जो हमारे पुस्तकालय और पुस्तकोंकी दूकानके संरक्षक भी थे, इस बढ़े हुए सूजनभरे फसादको देखा। उन्होंने दूसरे दिन तड़के ही इसे चीर देनेका निश्चय कर लिया।

मैंने अपने किंवाड़ बंद कर लिये, अपने रहनेके कमरेमें चला गया और प्रभुको पुकारा। मैंने सच्ची प्रार्थना की। उस प्रार्थनामें मेरे हृदय और आत्माका अभूतपूर्व संयोग था। अपने एकान्त घरमें, प्रभुके साथ निश्छल हृदयसे घंटों बातें करते-करते थककर मैं सो गया। या तो मैं स्वप्न देख रहा था, अथवा कोई मुझसे कह रहा था—'दीपक जलाकर दर्पणमें देखो तो।' सुननेके साथ ही मैंने अद्भुत शान्ति, चेतनता और सुखका अनुभव किया। एक स्वप्नके व्यापारकी तरह मैं जाग पड़ा। मेरा हाथ ठीक दीपकपर गया और मैंने उसे जला दिया। जब मैंने दर्पणमें देखा तो मेरा चेहरा पहलेकी तरह चिकना, स्वच्छ और बिल्कुल साफ दिखायी दिया। सारा दोष और रोग छूमंतर हो गया था।

फिर तो मैंने अपने प्रार्थना-विटपके इस फलको देखकर भगवान्‌को न जाने कितना धन्यवाद दिया। प्रातःकाल जब डाक्टर साहब आये, तब उनको अपनी आँखोंपर विश्वास ही नहीं होता था। मेरे दूसरे मित्रोंकी भी यही दशा थी।

दया

अमेरिका संयुक्तराज्यके एक प्रेसीडेंट एक बार राजसभामें जा रहे थे। रास्तेमें उन्होंने एक सूअरको कीचड़में धँसे देखा। सूअर कीचड़से निकलनेके लिये जीतोड़ प्रयत्न कर रहा था, पर वह जितना ही प्रयत्न करता उतना ही अधिक कीचड़में धँसा जाता। सूअरकी यह दयनीय दशा देखकर प्रेसीडेंट साहेबसे नहीं रहा गया। वे अपनी उसी पोशाकसहित कीचड़में कूद पड़े और सूअरको खींचकर बाहर निकाल लाये। समय हो गया था, इसलिये ये उन्हीं कीचड़भरे कपड़ोंको पहने राजसभामें गये। सभाके सदस्य उन्हें इस दशामें देखकर अचरजमें पड़ गये। लोगोंके पूछनेपर उन्होंने सारा हाल सुनाया। तब लोग उनकी दयालुताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। इसपर प्रेसीडेंट साहबने कहा—'आपलोग व्यर्थ ही मेरी तारीफ कर रहे हैं। मुझे सूअरपर कोई दया नहीं आयी थी, उसे बुरी तरह कीचड़में फँसे देखकर मुझे दुःख हो गया और मैंने अपने दुःखको मिटानेके लिये ही उसे बाहर निकाला। इसमें मैंने सूअरकी कोई भलाई नहीं की, अपनी ही भलाई की; क्योंकि उसे बाहर निकालते ही मेरा दुःख दूर हो गया।'

असलमें प्राणिमात्रके दुःखसे दुखी होकर उन्हें दुःखसे छुड़ानेकी चेष्टाका ही तो नाम 'दया' है।

अद्भुत त्याग

अठारहवीं शताब्दीके इटली देशके प्रसिद्ध संत अलफान्सस लिग्योरी अपने पूर्वाश्रममें वकीलका काम करते थे।

एक समयकी बात है। वे न्यायालयमें बहस कर रहे थे। उनकी बहसकी शैलीसे प्रभावित होकर न्यायालय अपना निर्णय उनके पक्षमें देना चाहता था। विरोध पक्षके वकीलने केवल इतना ही कहा कि अलफान्सस महोदयको अपनी बहसपर एक बार फिर विचार कर लेना चाहिये। अलफान्ससको अचानक स्मरण हो आया कि एक ऐसी नकारात्मक बातकी उन्होंने उपेक्षा कर दी है, जिससे विरोधी पक्षका लाभ हो सकता था, पर न्यायालयने उन्हें विश्वास दिलाया कि यह ऐसी बात नहीं है जिससे निर्णयमें कोई अन्तर आये और उपस्थित लोगोंने उनकी बहसकी बड़ी प्रशंसा की।

पर उन्हें तो अपनी भूल खटकती रही। वे न्यायालयके सामने सादर विनत हो गये।

'झूठकी दुनियाँ! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। मैं

तुम्हें समझ गया और तुमसे भर पाया।' कहते हुए अलफान्सस न्यायालयके बाहर हो गये। उन्होंने वकालत छोड़ दी; वे अभी नौजवान थे पर उन्होंने जीविकाके मिथ्या साधनको तिलाञ्जलि देकर आत्माकी खोज आरम्भ की परमात्माके प्रेम-राज्यमें प्रवेश करनेके लिये।

—रा० श्री०

दयालु बादशाह

जर्मनसम्राट् द्वितीय जोसेफ बहुत दयालु हृदयके पुरुष थे। वे अक्सर साधारण कपड़े पहनकर प्रजाकी हालत जाननेके लिये अकेले ही निकल पड़ते। एक बार वे इसी प्रकार गलियोंमें घूम रहे थे कि एक गरीब लड़का उनके सामने आया और बोला, 'महाशय! कृपा करके मुझे कुछ पैसे दीजिये।' लड़का सम्राट्को पहचानता नहीं था; परंतु सम्राट्के दयालु चेहरेको देखकर उसको साहस हो गया और उसने पैसोंकी याचना की। लड़केका करुणाभरा मुँह देखकर बादशाहको दया आ गयी। उन्होंने कहा—'बच्चे! तेरा चेहरा देखनेपर ऐसा लगता है कि तूने थोड़े ही दिनोंसे भीख माँगनी शुरू की है।'

बच्चेने कहा—'महाशय! मैंने कभी भीख नहीं माँगी। हमारी स्थिति जब बहुत बिगड़ गयी, तब आज मैं पहले पहल माँगने निकला हूँ। कुछ दिन हुए मेरे पिताजी मर गये। हम दो भाई हैं। हमारे पास कुछ भी नहीं है, जिससे हम अपना पेट भर सकें और न कोई मदद ही करनेवाला है। एक माँ है जो सख्त बीमार है और बेहाल खटियापर पड़ी है।' यों कहते-कहते लड़केका गला भर आया।

सम्राट्ने पूछा—तेरी माँकी दवा कौन करता है?

लड़केने कहा—सरकार! दवा कौन करता? हमारे पास दवाके लिये पैसा कहाँ है? इस दुःखसे ही तो मैं आज लाचार होकर भीख माँगने निकला हूँ।

लड़केकी बात सुनकर सम्राट् जोसेफका हृदय करुणासे भर गया। उन्होंने बालकसे घरका पता पूछकर उसके हाथमें कुछ रुपये देते हुए कहा—'जा, जल्दी डाक्टरको ले जाकर माँको दिखला! राहमें कहीं देर न करना भला।' बच्चा खुशी होकर डाक्टरको बुलाने दौड़ा।

इधर बादशाह ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसके घर पहुँचे; उन्हें मालूम हो गया कि उसकी माँकी हालत बहुत खराब है। उन्होंने देखा, वह खटियापर पड़ी है और उसका एक छोटा बच्चा पास बैठा रो रहा है। बादशाहने अपनेको डाक्टर बतलाकर उससे बीमारीका हाल और कारण पूछा। बादशाहके शब्दोंमें बड़ी मिठास थी और उनमें स्नेह भरा था। यह देखकर उस स्त्रीने कहा—'महाशय! मेरे रोगका कारण तो असलमें हमारी यह बुरी हालत है। कुछ दिन पहले मेरे पतिका देहान्त हो गया। जो कुछ पूँजी थी, सब महाजनोंमें डूब गयी। बच्चे अभी बहुत छोटे हैं, मेरे पास ऐसा कोई साधन नहीं, जिससे मैं उनका पेट भर सकूँ। मुझे अपने मरनेकी चिन्ता नहीं है, पर पीछे मेरे अनाथ बच्चोंका क्या होगा। इसी विचारसे मेरा जी जला करता है। मुझे बहुत दुखी देखकर बड़ा लड़का आज मेरी दवाके लिये कहीं पैसेका प्रबन्ध करने गया है।'

गरीब माँ-बेटोंकी दुर्दशा देखकर बादशाहने आँसू-भरी आँखोंसे कहा—'बहिन! घबराओ मत। भगवान्‌की कृपासे तुम जल्दी ही अच्छी हो जाओगी और तुम्हें पैसे भी मिलेंगे। मुझे एक कागजका टुकड़ा दो तो मैं तुम्हारे रोगकी दवा लिख दूँ।'

घरमें और कागज तो था नहीं, उसने लड़केकी पढ़नेकी पोथीका पिछला पन्ना फाड़ दिया।

बादशाहने उसपर कुछ लिखकर उसे रोगिणीको दे दिया और कहा—'मैंने इसमें दवा लिख दी है, इसीसे तुम्हारी सारी बीमारी मिट जायगी।' इतना कहकर वे वहाँसे चले गये।

कुछ देरके बाद लड़का डाक्टरको लेकर आया। लड़केने आते ही खुशीके साथ कहा—'माँ! तू घबरा मत, मुझे रुपये भी मिल गये हैं और मैं डाक्टरको भी ले आया हूँ।' लड़केको प्रसन्न देखकर माँको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसकी आँखोंसे हर्षके आँसू निकल पड़े। उसने बच्चेका मुँह चूमकर कहा—'बेटा! प्रभु तुझे लंबी जिंदगी दें। अभी एक डाक्टर आया था, वह कागजपर कोई दवा लिख गया है। डाक्टर बड़ा ही दयालु था बेटा!'

उसकी बात सुनकर लड़केके साथ आये हुए डाक्टरने कागज लेकर पढ़ा और उसमें स्वयं सम्राट् जोसेफके हस्ताक्षर देखकर आश्चर्यसे कहा—'अब तेरा सारा संकट गया ही समझ। मेरे पहले जो डाक्टर आया था, वह कोई मामूली डाक्टर नहीं था। वह जो दवा लिख गया है, वैसी दवा देनेकी मुझमें ताक़त नहीं है। उस दवासे तुझे बड़ा लाभ होगा। बहिन! वह स्वयं जर्मनीका बादशाह दूसरा जोसेफ था; और इस कागजपर वह हुक्म लिख गया है कि तुझे खजानेसे बहुत बड़ी संख्यामें रुपये दिये जायँ।'

यह सुनकर उस स्त्री और उसके बच्चोंका हृदय कृतज्ञतासे भर गया। वे हर्षसे सराबोर हो गये। कुछ भी बोल नहीं सके। जब जबान खुली तब वे गद्‌गद वाणीसे प्रभुसे जोसेफ बादशाहके अचल राज्य और दीर्घ जीवनके लिये प्रार्थना करने लगे। उनका रोम-रोम आशीर्वाद देने लगा।

डाक्टरने भी दवा दी और वह स्त्री जल्दी ही अच्छी हो गयी। सब सुखसे रहने लगे। बादशाहकी दयालुता और बच्चेका मातृ-स्नेह—जिसके कारण वह भीख माँगने निकला—जगत्‌के लिये आदर्श हो गया।

परोपकार और सचाईका फल

दोब्रीवेकी पढ़ाई समाप्त हो गयी। उसका जन्म-दिवस आया। जन्म-दिनके उपलक्ष्यमें उसके यहाँ बहुत क़ीमती सौगातका ढेर लग गया। उसके पिताने कहा—'बेटा! तुम्हारी पढ़ाई हो गयी, अब तुम्हें संसारमें जाकर धन कमाना चाहिये। अबतक तुम बहुत अच्छे साहसी, बुद्धिमान् और परिश्रमी विद्यार्थी रहे। इतना बड़ा धन तुम्हारे पास हो गया है। मुझे तुम्हारी योग्यतापर विश्वास है। जाओ और संसारमें फलो-फूलो।'

दोब्रीवे प्रसन्न हो उठा। वह अपने माता-पिताको प्रणाम करके अपने सुन्दर जहाजकी ओर चल दिया।

उसका जहाज समुद्रकी छातीपर लहरोंको चीरता हुआ चला जा रहा था। रास्तेमें एक तुर्की जहाज दिखलायी दिया। उसके समीप आनेपर लोगोंका कराहना और चिल्लाना सुनायी दिया। उसने चिल्लाकर तुर्की कप्तानसे पूछा—'भाई! तुम्हारे जहाजमें लोग रो क्यों रहे हैं? लोग भूखे हैं या बीमार?'

तुर्क कप्तानने जवाब दिया—'नहीं, ये कैदी हैं, इन्हें गुलाम बनाकर हम बेचनेके लिये ले जा रहे हैं।'

दोब्रीवेने कहा—'ठहरो, शायद हमलोग आपसमें सौदा कर सकें।'

तुर्क कप्तानने जाकर देखा कि दोब्रीवेका जहाज व्यापारिक सामानोंसे लदा है। वह अपना जहाज बदलनेके लिये तैयार हो गया। दोब्रीवे तुर्की जहाज लेकर चल पड़ा। उसने उसपर रहनेवाले सारे कैदियोंसे उनके पते पूछे और उनको वे जिन-जिन देशोंके थे, वहाँ-वहाँ पहुँचा दिया। परंतु एक सुन्दर लड़की और

उसके साथवाली एक बुढ़ियाका पता उसे न लग सका। उनका घर बहुत दूर था और रास्ता मालूम न था। लड़कीने बतलाया कि 'मैं रूसके जारकी पुत्री हूँ और बुढ़िया मेरी दासी है। मेरा घर लौटना कठिन है, इसलिये मैं विदेशमें ही रहकर अपनी रोटी कमाना चाहती हूँ।'

दोब्रीवे बोल उठा—'सुन्दरी! यदि तुम मुझसे ब्याह करो तो तुम्हें किसी बातकी चिन्ता न होगी।'

लड़की उसके स्वभाव और रूप-रंगसे उसपर मुग्ध थी, राजी हो गयी।

जब जहाज उसके घरके सामने बंदरगाहपर लगा तो दोब्रीवेका पिता उससे मिलने आया। उसके बेटेने कहा—'पिताजी! मैंने आपके धनका कितना अच्छा उपयोग किया। देखिये, इतने दुखी आदमियोंको मैंने सुखी बनाया और एक इतनी सुन्दर दुलहिन ले आया जिसके सामने सैकड़ों जहाजोंकी कीमत नहींके बराबर है!'

यह सुनते ही उसके बापका प्रसन्न चेहरा बदल गया। वह बिगड़कर अपने बेटेको बहुत बुरा-भला कहने लगा।

कुछ दिनोंके बाद यह समझकर कि लड़का अब कुछ होशियार हो गया, दोब्रीवेके पिताने दूसरा व्यापारी जहाज तैयार करके उसके साथ उसे विदा किया।

जहाज जैसे ही दूसरे बंदरगाहपर लगा, दोब्रीवे देखता क्या है कि कुछ सिपाही गरीब आदमियोंको कैद कर रहे हैं और उनके बाल-बच्चे उन्हें देखकर बिलख रहे हैं। पता लगानेपर मालूम हुआ कि उनपर राज्यकी ओरसे कोई टैक्स लगाया गया है जिसे वे अदा नहीं कर सकते, इसलिये कैद किये जा रहे हैं। दोब्रीवेने अपने सारे जहाजका सामान बेचकर टैक्स चुका दिया और उन गरीब आदमियोंको कैदसे छुड़ा दिया।

घर वापस लौटनेपर उसका बाप इतना बिगड़ा कि उसने दोब्रीवे, उसकी स्त्री और बुढ़ियाको अपने घरसे निकाल बाहर किया। परंतु अड़ोस-पड़ोसके लोगोंने उसे किसी प्रकार समझा-बुझाकर शान्त किया।

तीसरी बार उसके बापने दोब्रीवेसे कहा कि 'अपनी स्त्रीको देखो, अबकी बार तुमने यदि पहले-जैसी मूर्खता की तो याद रखना कि यह आखिरी मौका भी तुमने खो दिया और अब इसको भूखों मरना पड़ेगा।'

इस बार दोब्रीवे जहाजपर सवार हुआ। वह बहुत दूर देशमें एक बंदरगाहपर पहुँचा। वहाँ उतरते ही उसने देखा कि एक राजसी पोशाक पहने हुए कोई पुरुष सामने टहल रहा है और उसकी ओर बड़े ध्यानसे देख रहा है। पास जानेपर उस आदमीने कहा कि 'आपने जो अँगूठी पहनी है वह मेरी लड़कीकी अँगूठीसे मिलती-जुलती है, आपने इसे कहाँ पाया? यह अँगूठी रूसके जारकी लड़कीकी है। किनारे चलिये और अपनी कहानी सुनाइये।'

दोब्रीवेकी बातें सुनकर जार और उसके मन्त्रीको विश्वास हो गया कि जारकी खोयी गयी लड़की दोब्रीवेकी स्त्री है, जार प्रसन्न हो उठा, उसने दोब्रीवेसे कहा कि 'तुम्हें आधा राज्य दिया जायगा।' उसने उसे लड़कीको और दोब्रीवेके माता-पिताको लाने भेज दिया। साथमें भेंटके साथ अपने मन्त्रीको भी भेज दिया।

इस बार दोब्रीवेके बापने उससे कुछ न कहा। उसके घरके सब लोग प्रसन्नतापूर्वक जहाजपर सवार होकर रूसके लिये चल दिये।

जारका मन्त्री बड़ा डाही था। उसने रास्तेमें मौका पाकर दोब्रीवेको जहाजसे ढकेल दिया। जहाज तेज जा रहा था। दोब्रीवे समुद्रमें किनारे पहुँचनेके लिये जोरसे हाथ-पैर चलाने लगा। भाग्यसे एक पानीकी लहर आयी और उसने उसे समुद्रके किनारे जा लगाया।

परंतु वहाँ पहुँचनेपर उसने देखा कि वह एक बीरान चट्टान है। दो-तीन दिनोंतक उसने किसी तरह अपने प्राण बचाये। चौथे दिन एक मछुआ अपनी नौका लिये उस रास्तेसे आ निकला। दोब्रीवेने उससे अपनी सारी कथा कह सुनायी। वह मछुआ इस शर्त-पर उसे रूसके बंदरगाहपर पहुँचानेके लिये राजी हुआ कि 'दोब्रीवेको जो कुछ वहाँ मिलेगा उसका आधा हिस्सा वह उसको देगा।'

मछुएकी नौका उस पार समुद्रके किनारे लगी। दोब्रीवे राजमहलमें पहुँचा। जारके आनन्दका ठिकाना न रहा। दोब्रीवेने उससे प्रार्थना की कि 'मन्त्रीका अपराध क्षमा किया जाय।' दोब्रीवेकी उदारता देखकर जारने अपना सारा राज्य उसे दे दिया और अपना शेष जीवन शान्तिपूर्वक एकान्तमें भगवान्‌के भजनमें बिताया।

जिस दिन दोब्रीवेके सिरपर राजमुकुट रक्खा गया, उस दिन एक बूढ़ा मछुआ उसके सामने उपस्थित हुआ। उसने कहा—'सरकार! आपने अपना आधा धन मुझे देनेका वचन दिया है।'

दोब्रीवे चाहता तो सिपाहीको इशारा करके बूढ़ेको दरबारसे बाहर निकलवा देता। परंतु उसने उसका स्वागत किया और कहा—'हाँ, महाशय! पधारिये। राज्यका नक्शा देखकर हम आधा-आधा बाँट लें और उसके बाद चलकर खजाना भी बाँटें।'

अकस्मात् उस बूढ़ेके सफेद बाल सुनहरे हो गये और वह सफेद पोशाकमें बोल उठा—

'दोब्रीवे! जो दयालु है उसके ऊपर भगवान् दया करता है।' और अन्तर्धान हो गया।

देवदूतके इस वाक्यको सामने रखकर दोब्रीवेने बड़ी शान्तिके साथ अपने देशका शासन किया। उसके राज्यमें प्रजा सुख और चैनकी वंशी बजाती रही।

जीवन-दर्शन

एमरसन अमेरिकाके महान् दार्शनिक और विचारक थे। वे अपने समयके बहुत बड़े तत्त्वज्ञ थे। उनका सम्पूर्ण जीवन अन्तरात्मा—परमात्माके चरणोंपर समर्पित था। वे कहा करते थे कि परमात्मासे ही सम्बन्ध रखना चाहिये। उनके चिन्तनसे जीवन अमृत-मय हो उठता है। संसारकी वस्तुएँ नश्वर और क्षणभङ्गुर हैं। इनका विश्वास नहीं करना चाहिये।

एक दिन वे एकान्तमें बैठकर भगवान्‌का चिन्तन कर रहे थे कि अचानक एक मित्रने उनकी परीक्षा ली। मित्रने अपने-आपको विशेष चिन्तासे संतप्त प्रकट किया।

'कुछ कहोगे भी कि क्या बात है। तुम्हारी चिन्ता-का कारण मैं भी तो जानूँ।' एमरसन अपने मित्रकी ओर देखने लगे।

'भाई! कुछ मत पूछो। हमलोगोंके भाग्यमें ऐसा ही होना था। क्या आप जानते नहीं हैं कि आज रातको ही सम्पूर्ण संसार कालके गालमें समा जायेगा। प्रलय उपस्थित है।' मित्र विस्मित था।

एमरसनके मनमें आनन्द थिरक उठा। वे इस समाचारसे बहुत प्रसन्न दीख पड़े।

'मित्र! आपने बड़ी अच्छी बात बतायी। इससे बढ़कर शुभ समाचार दूसरा हो ही क्या सकता है! इस संसारके बिना भी मनुष्य बड़े आराम और सुखसे रह सकता है। ईश्वरीय राज्य आयेगा और मनुष्य अपने क्षणभङ्गुर जीवनमें सच्ची शान्ति और वास्तविक सत्य-का अनुभव करेगा।' एमरसनने धन्यवाद दिया, वे निश्चिन्त थे। मित्र अपना-सा मुँह लेकर नौ-दो ग्यारह हो गया। —रा० श्री०

मृत्युकी खोज

'टन्-टन्-टन्' गिर्जाघरकी घंटी बजते ही तीनों मित्रोंने अचानक आमोद-प्रमोदसे मन फेर लिया। फलैंडरस जनपदमें किसी व्यक्तिकी मृत्युकी सूचना दी घण्टी-नादने और वे राग-रंग भूलकर शरीरकी नश्वरतापर विचार करने लगे।

'भाई! हमलोगोंने आजतक रंगरेलियोंमें अपने अमूल्य जीवनका दुरुपयोग किया। समय बड़ी निर्ममतासे बीतता जा रहा है। हमलोगोंको भी किसी-न-किसी दिन इसी तरह मरना पड़ेगा। हमें मृत्युकी खोजमें लग जाना चाहिये। मनुष्यशरीर अत्यन्त दुर्लभ है।' एक मित्रका प्रस्ताव था और तीनों मृत्युकी खोजमें निकल पड़े। वे उस गाँवकी ओर चले जिसमें असंख्य प्राणी महामारी आदिसे काल-के गालमें समा रहे थे।

'हम मृत्युकी खोज कर रहे हैं। उसने हमारे अनेक बन्धु-बान्धवोंका नाश किया है। अनेक शिशुओं-को पितृहीन कर दिया है। असंख्य युवतियोंको वैधव्य प्रदान किया है।' उन्होंने एक बूढ़े व्यक्तिसे पूछा जो उन्हें गाँवमें प्रवेश करते ही दीख पड़ा। उसके शरीरपर झुरियाँ पड़ गयी थीं, कमर झुकी हुई थी और सिर हिल रहा था।

'मृत्युकी खोज बहुत ही कठिन है। तुम उसके पीछे पड़कर अपनी जान क्यों दे रहे हो। वह बड़ी स्वार्थी, कठोर और भयंकर है। यदि तुम उसे देखना ही चाहते हो तो मैंने उसको पेड़के नीचे छोड़ दिया है। सावधान! है वह बड़ी विकराल।' बूढ़ेने थोड़ी दूरपर स्थित एक जंगली पेड़की ओर संकेत किया। वे दौड़ पड़े।

'हमलोग कितने भाग्यवान् हैं। देखो न, बूढ़ेने हमें कितना धोखा दिया। इस पेड़के नीचे तो अपार स्वर्ण-राशि है जिससे हमलोग कई वर्षोंतक आमोद-प्रमोदसे जीवन बिता सकते हैं।' सबसे छोटे मित्रने प्रस्ताव किया कि रात होते ही इसे घर ले चलना चाहिये, दिनमें कोई देख लेगा तो प्राण चले जायँगे। तीनोंकी सम्मतिसे सबसे छोटेको ही भोजनकी सामग्री लाने के लिये बाजार जाना पड़ा।

× × × ×

'हम दोनों अकेले ही इस धनको आपसमें बाँट लें तो हमारा जीवन विशेषरूपसे सुखमय हो जायगा।' दोनोंने राय की और छोटेके आते ही उसे कटारसे मार डालनेका निश्चय किया।

इधर छोटे मित्रके मनमें भी धनका लोभ पैदा हुआ। उसने भोज्य और पेय पदार्थमें विष मिला दिया था उन दोनोंकी जीवन-लीला समाप्त कर देनेके लिये।

छोटे मित्रका बाजारसे लौटना था कि धनके लोभसे अंधे होकर दोनोंने उसका प्राणान्त कर डाला। पीछे कटार भोंककर और भोज्य और पेय पदार्थोंको ग्रहण कर आनन्दसे आमोद मनाने लगे। धीरे-धीरे विषका प्रभाव बढ़ता गया और थोड़ी देरमें उन दोनोंने भी सदाके लिये आँखें मूँद लीं। चले थे तीनों मृत्युका नाश करने और नष्ट हो गये स्वयं।

'मृत्युका दर्शन जंगली वृक्षके नीचे होगा।'—बूढ़ेकी यह बात वातावरणमें परिव्याप्त थी।—रा० श्री०

लड़का गाता रहा

ह्वाइटहेवनमें वेलिंगटन नामक एक कोयलेकी खान थी। उसके निकट ही दो-तीन झोंपड़ियाँ थीं। एक झोंपड़ीमें अपनी माँ और दो बहिनोंके साथ एक दशवर्षीय लड़का रहता था।

एक दिन अचानक बड़ी दीवार गिर पड़ी और उसके नीचे पूरा-का-पूरा परिवार दब गया। मजदूर और खानमें काम करनेवाले लोग घटना-स्थलपर पहुँच गये। गिरी दीवारके नीचे एक मधुर ध्वनि ऊपर उठती-सी सुनायी पड़ी।

'गाते रहो, राबर्ट कार्ल्टन! गाते रहो।' मजदूरोंने विनष्ट दीवार तथा अन्य सामानोंको हटाना आरम्भ किया और थोड़ी देरमें सारा-का-सारा कूड़ा साफ हो गया।

कार्ल्टनकी माँ और एक बहिन कालके मुखमें जा चुकी थी। दूसरी बहिनको थोड़ी चोट आयी थी और उसीको प्रसन्न रखने तथा मजदूरोंको प्रोत्साहित करनेके लिये ही मृत्युकी गोदमें पड़ा अल्पवयस्क कार्ल्टन बड़ी तन्मयतासे गाता रहा। उसकी सद्वृत्तिने बहिनके प्राणोंकी रक्षा की।—रा० श्री०

महल नहीं, धर्मशाला

महाराज जीमूतकेतुके ऐश्वर्यका पार नहीं था। उन्होंने देवराज इन्द्रकी उपासना करके कल्पवृक्ष प्राप्त किया था। उनका राजभवन इतना भव्य था कि देवता भी उसे देखकर मुग्ध हो उठते थे। एक धार्मिक नरेश सांसारिक वैभवमें ही आसक्त रहे और मनुष्य-जीवन व्यर्थ व्यतीत कर दे, यह योग्य कार्य नहीं है। धर्मका सच्चा फल तो भोगोंसे विरक्ति तथा मोक्षकी प्राप्ति ही है। भगवान् दत्तात्रेयको दया आ गयी राजा जीमूतकेतुपर। वे मलिन वस्त्र पहिने, केश बिखराये, धूलिधूसर अवधूत वेशमें आये और राजभवनमें राजाके पलंगपर ही जा विराजे।

राजसेवक डरे; किंतु आगत आगन्तुक जो कि एक पागल जान पड़ता था, उसके मुखका तेज कुछ ऐसा था कि कोई सेवक उसे रोकने या हटानेका साहस नहीं कर सका। अपनी शय्यापर एक उन्मत्त भिखारीको बैठे देखकर राजा जीमूतकेतु क्रोधसे लाल हो उठे। वे उसके पास आकर बोले—'तू कौन है? यहाँ राजभवनमें क्यों घुस आया? निकल यहाँसे।'

अवधूत दत्तात्रेय बड़ी निश्चिन्ततासे बोले—'भाई! अप्रसन्न क्यों होते हो? यह तो धर्मशाला है। तुम भी इसमें ठहरो, मैं भी ठहरता हूँ।'

'यह मेरा राजभवन है, धर्मशाला नहीं। समझे! चलो, बाहर जाओ!' राजाने डाँटा।

अवधूत—'तो इसमें सदासे—हजार दो हजार वर्षसे तुम्हीं हो?'

राजा—'कैसा पागल है, मुझे तो जन्म लिये अभी पचास वर्ष हुए।'

अवधूत—'उससे पहले इसमें कौन था?'

राजा—'मेरे पूज्य पिता।'

अवधूत—'वे कहाँ गये? कब लौटेंगे?'.

राजा—'उनका शरीरान्त हो गया। वे अब कभी नहीं लौटेंगे।'

अवधूतने इसी प्रकार कई बार पूछा और राजाने बताया कि पितासे पूर्व पितामह, उनसे पूर्व प्रपितामह उस भवनमें रहते थे। अवधूत हँसे और बोले—'भले आदमी! जहाँ मनुष्य आकर कुछ काल ठहरकर चला जाय, फिर न लौटे वह धर्मशाला नहीं, तो है क्या?'

दानका फल

गरमीके दिन थे, धूप तेज थी, पृथ्वी जल रही थी। महाराज भोजके राजकवि किसी आवश्यक कार्यको सम्पन्न करके नगरकी ओर लौट रहे थे। मार्गमें उन्होंने देखा कि एक दुर्बल मनुष्य नंगे पैर लड़खड़ाता हुआ चल रहा है। उसके पैरोंमें सम्भवतः छाले पड़ गये हैं। बार-बार दीर्घ श्वास लेता है, दौड़नेका प्रयत्न करता है;

किंतु अपनी दुर्बलताके कारण भाग नहीं पाता। कविके सुकुमार हृदयसे यह देखा नहीं गया। आज वे भी पैदल ही थे। परंतु उस पुरुषके पास जाकर उन्होंने अपने जूते उतार दिये और बोले—'भाई! तुम इन्हें पहिन लो।'

कभी नंगे पैर चलनेका अभ्यास नहीं, कोमल चरण और संतप्त भूमि—कविको तो लगा कि वे मार्गमें ही मूर्छित होकर गिर पड़ेंगे। उनके पैरोंमें शीघ्र ही छाले पड़ गये। परंतु वे प्रसन्न थे एक दुःखी प्राणीकी सेवा करके। इसी समय राजाके हाथीको महावत उधरसे ले आ रहा था। राजकविको पहिचानता तो वह था ही, उसने उन्हें हाथीकी पीठपर बैठा लिया। संयोग ऐसा हुआ कि राजा भोज नगरमें निकले थे उस दोपहरीमें ही। नगरमें प्रवेश करते ही कवि और नरेशकी भेंट हो गयी। नरेशने हँसीमें ही पूछा—'आपको यह हाथी कहाँ मिल गया?' कविने उत्तर दिया—

> उपानहं मया दत्तं जीर्णं कर्णविवर्जितम्।
> तत्पुण्येन गजारूढो न दत्तं वैहि तद्गतम्॥

'राजन्! मैंने अपना पुराना, कर्णरहित (फटा) जूता दान कर दिया, इस पुण्यसे इस समय हाथीपर बैठा हूँ। जिस द्रव्यका दान नहीं हुआ, वह तो व्यर्थ नष्ट हुआ।'

उदार नरेशने वह हाथी कविको ही दे दिया।

एकान्त कहीं नहीं

दक्षिण भारतके प्रतिष्ठित संत स्वामी वादिराजजीके अनेकों शिष्य थे; किंतु स्वामीजी अपने अन्त्यज शिष्य कनकदासपर अधिक स्नेह रखते थे। उच्चवर्णके शिष्योंको यह बात खटकती थी। 'कनकदास सच्चा भक्त है' यह गुरुदेवकी बात शिष्योंके हृदयमें बैठती नहीं थी।

स्वामी वादिराजजीने एक दिन अपने सभी शिष्योंको एक-एक केला देकर कहा—'आज एकादशी है। लोगोंके सामने फल खानेसे भी आदर्शके प्रति समाजमें अश्रद्धा बढ़ती है। इसलिये जहाँ कोई न देखे, ऐसे स्थानमें जाकर इसे खा लो।'

थोड़ी देरमें सब शिष्य केले खाकर गुरुके समीप आ गये। केवल कनकदासके हाथमें केला ज्यों-का-त्यों रक्खा था। गुरुने पूछा—'क्यों कनकदास! तुम्हें कहीं एकान्त नहीं मिला?'

कनकदासने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—'भगवन्! वासुदेव प्रभु तो सर्वत्र हैं, फिर एकान्त कहीं कैसे मिलेगा।'

उदार स्वामी

गुजरातके धोलनगरके नरेश वीरधवल एक दिन भोजन करके पलंगपर लेटे थे और उनका सेवक राजाके पैर दबा रहा था। राजाने नेत्र बंद कर लिये थे। उन्हें निद्रित समझकर सेवकने उनके पैरकी अँगुलीसे रत्नजटित अँगूठी निकालकर मुखमें छिपा ली।

नरेशने अँगूठीकी कोई चर्चा नहीं की। उन्होंने वैसी ही दूसरी अँगूठी पहिन ली। दूसरे दिन पैर दबाते समय सेवकने फिर अँगूठी निकाली तो राजा बोले—'अब यह अँगूठी तो रहने दो। कल जो अँगूठी तुमने ली है, वह तो मैं तुम्हें दे चुका।'

सेवक राजाके पैरोंपर गिर पड़ा। उदार नरेश बोले—'डरो मत! दोष मेरा ही है। थोड़े वेतनसे तुम्हारी आवश्यकता पूरी नहीं होती, इसलिये तुम चोरी करनेपर विवश हुए हो। मुझे तुम्हारी आवश्यकताको पहले समझ लेना चाहिये था। आजसे तुम्हारा वेतन दुगुना किया गया।'

महल नहीं, धर्मशाला
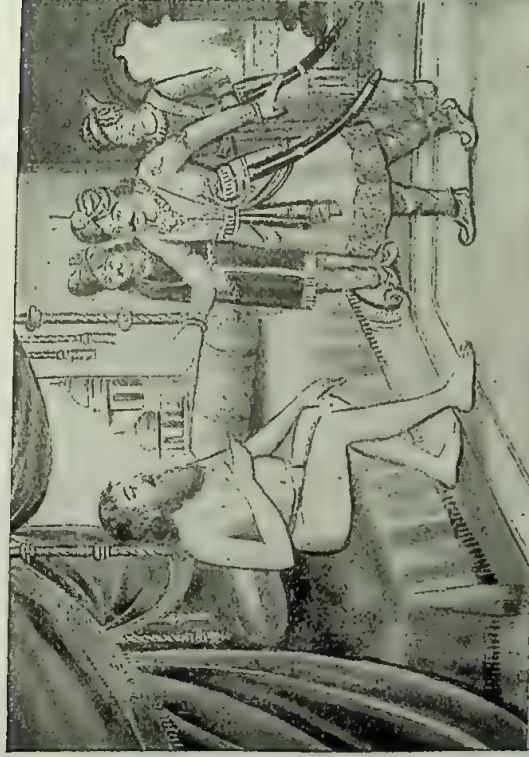
दानका फल
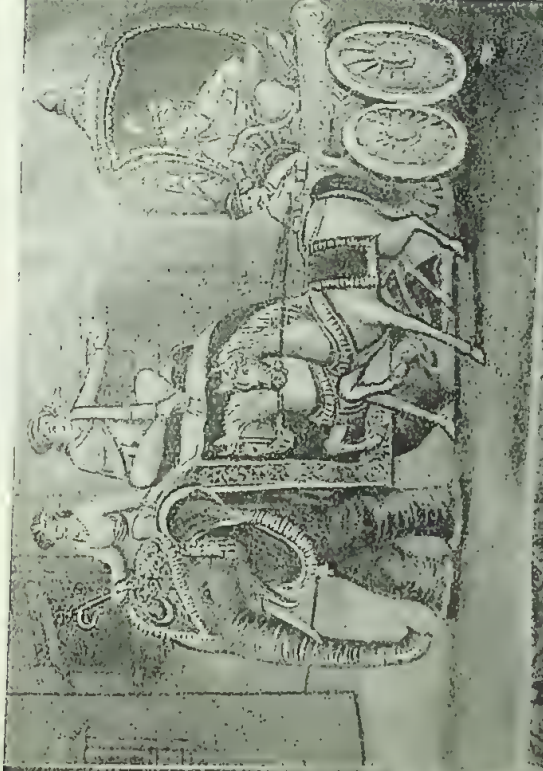
एकान्त कहीं नहीं

उदार स्वामी

विषयोंमें दुर्गन्ध

डाइन खा गयी

धनका परिणाम

रुपया मिला कि भजन छूटा
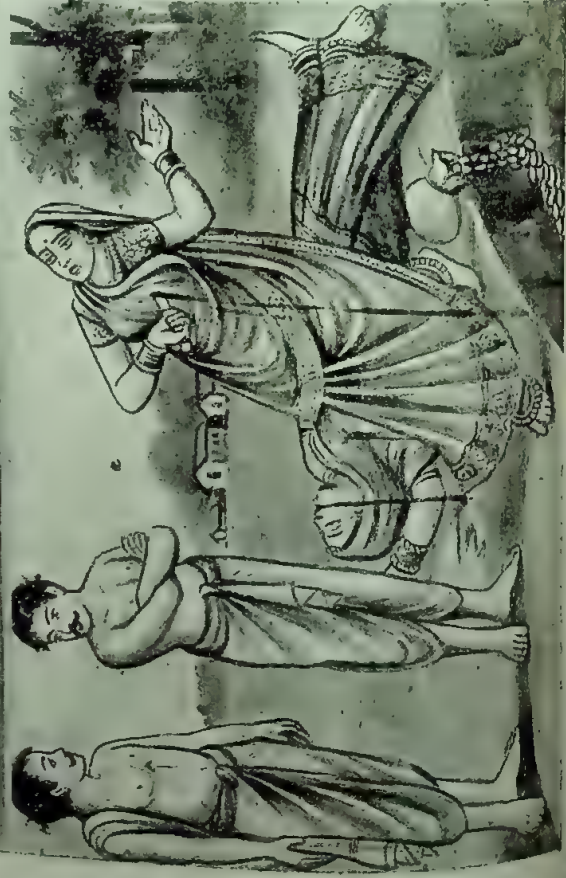
विषयोंमें दुर्गन्ध

कोई भक्त राजा एक महात्माकी पर्णकुटीपर जाया करते थे । उन्होंने एक बार महात्माको अपने महलोंमें पधारनेके लिये कहा, पर महात्माने यह कहकर टाल दिया कि 'मुझे तुम्हारे महलमें बड़ी दुर्गन्ध आती है, इसलिये मैं नहीं जाता ।' राजाको बड़ा अचरज हुआ । उन्होंने मन-ही-मन सोचा—'महलमें तो इत्र-फुलेल छिड़का रहता है, वहाँ दुर्गन्धका क्या काम । महात्माजी कैसे कहते हैं पता नहीं ।' राजाने संकोचसे फिर कुछ नहीं कहा । एक दिन महात्माजी राजाको साथ लेकर घूमने निकले । घूमते-घामते चमारोंकी बस्तीमें पहुँच गये और वहाँ एक पीपलकी छायामें खड़े हो गये। चमारोंके घरोंमें कहीं चमड़ा कमाया जा रहा था, कहीं सूख रहा था तो कहीं ताजा चमड़ा तैयार किया जा रहा था । हर घरमें चमड़ा था और उसमेंसे बड़ी दुर्गन्ध आ रही थी । हवा भी इधरकी ही थी । दुर्गन्धके मारे राजाकी नाक फटने लगी । उन्होंने महात्मासे कहा—'भगवन् ! दुर्गन्धके मारे खड़ा नहीं रहा जाता—जल्दी चलिये ।' महात्माजी बोले—'तुम्हींको दुर्गन्ध आती है ? देखो चमारोंके घरोंकी ओर—कितने पुरुष, स्त्रियाँ और बाल-बच्चे हैं । कोई काम कर रहे हैं, कोई खा-पी रहे हैं, सब हँस-खेल रहे हैं । किसीको तो दुर्गन्ध नहीं आती, फिर तुम्हींको क्यों आने लगी ?' राजाने कहा—'भगवन् ! चमड़ा कमाते-कमाते तथा चमड़ेमें रहते-रहते इनका अभ्यास हो गया है । इनकी नाक ही ऐसी हो गयी है कि इन्हें चमड़ेकी दुर्गन्ध नहीं आती । पर मैं तो इसका अभ्यासी नहीं हूँ । जल्दी चलिये—अब तो एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहरा जाता ।' महात्माने हँसकर कहा—'भाई ! यही हाल तुम्हारे राजमहलका भी है । विषय-भोगोंमें रहते-रहते तुम्हें उनमें दुर्गन्ध नहीं आती— तुम्हारा अभ्यास हो गया है । पर मुझको तो विषय देखते ही उल्टी-सी आती है । इसीसे मैं तुम्हारे घर नहीं जाता था ।'

राजाने रहस्य समझ लिया । महात्मा हँसकर राजाको साथ लिये वहाँसे चल दिये ।

रुपया मिला और भजन छूटा

एक धनवान् सेठकी कोठीके नीचे ही एक मोची बैठा करता था । वह जूते बनाता जाता था और भजन गाता जाता था । सेठ उदार थे, धर्मात्मा थे, भगवद्-भक्त थे । वैसे तो अपने कार्य-व्यापारमें व्यस्त होनेके कारण मोचीकी ओर उनका ध्यान काहेको जाता; किंतु वे एक बार बीमार पड़ गये । रोग-शय्यापर पड़े-पड़े मोचीके द्वारा गाये जाते भजन उन्हें बड़े प्रिय लगे । उन भजनोंको सुनकर मन भगवान्में लगा रहा । चित्त शरीरके रोगका चिन्तन न करके दूसरी ओर लगा रहे तो रोगके कष्टका बोध ही नहीं होता । सेठजीको भी मोचीके भजनोंके कारण कष्ट नहीं हुआ । इससे प्रसन्न होकर उन्होंने मोचीको बुलवाया और उसे पचास रुपये दिये ।

रुपये लेकर मोची गया और उसका भजन गाना बंद हो गया । दूसरे दिन सबेरे वह मोची स्वयं सेठजीके पास पहुँचा । सेठजीने पूछा—'तुमने भजन गाना क्यों बंद कर दिया ?'

मोची बोला—'इसीलिये तो मैं आपके पास आया हूँ । कृपा करके अपने ये रुपये ले लीजिये । रुपये मिले और भजन छूटा । मैं इन्हें सम्हालकर रखने तथा यह सोचनेमें व्यस्त हो गया कि इनका कैसे उपयोग करूँगा । रात्रिमें इनकी चिन्ताके मारे नींद भी ठीक नहीं आयी । मैं परिश्रम करके जो पाता हूँ, वही मेरे लिये बहुत है ।'

धनका परिणाम—हिंसा

दो सगे भाई थे, ब्राह्मण थे और दरिद्र थे । बहुत कम पढ़े-लिखे थे दोनों । कंगालीसे ऊबकर दोनों साथ ही घरसे निकले और समुद्र-किनारेकी एक बस्तीमें पहुँचे । वहाँ मछुओंके घर ही अधिक थे । बड़ी ऊँची पगड़ी, भव्य तिलक और पोथियोंकी बड़ी-बड़ी गठरी थी दोनों भाइयोंके पास । दोनोंने अपनेको ज्योतिषी प्रसिद्ध कर रक्खा था । मन्त्र-तन्त्र, झाड़-फूँक सभी करते थे वे । दोनोंने उन अपढ़-सीधे, श्रद्धालु मछुओंको भरपूर ठगा । कुछ दिनोंमें ही उनके पास पर्याप्त धन हो गया । दोनों जब घर लौटने लगे, तब उनके पास उनके कमाये धनके रूपमें सोनेकी मोहरोंसे भरी थैली थी ।

बड़ी विचित्र दशा थी । मोहरोंकी थैलीको बारी-बारीसे वे अपने पास रखते थे । परंतु जिसके पास थैली रहती थी, उसीके मनमें विचार आता था—'मैं यदि अपने भाईको मार डालूँ तो पूरा धन मेरा हो जाय ।'

दोनों सगे भाई थे । दोनोंमें प्रगाढ़ प्रेम था । इसलिये दोमेंसे किसीने अपने पापपूर्ण विचारको कार्यरूप नहीं दिया । उलटे घरके समीप पहुँचकर जिसके पास थैली नहीं थी, उसने दूसरेसे कहा—'भैया ! क्षमा करना । जब-जब यह थैली मेरे पास आयी, तब-तब मेरे मनमें तुम्हें मार देनेकी इच्छा हुई । इसलिये यह धन तुम्हीं रक्खो ।'

दूसरे भाईने कहा—'मेरी भी यही दशा है । थैली मेरे पास है, इसलिये इस समय भी मेरे मनमें यही विचार उठ रहे थे । हम दोनों ही भ्रातृत्वका नाश करनेवाले इस धनका त्याग कर दें, यही उत्तम होगा ।'

घरके समीप ही एक गड्ढा था, जिसमें घरका कूड़ा-कचरा डाला जाता था । दोनोंने वह थैली उसीमें फेंक दी । यह भी चिन्ता नहीं की कि उसे ढक दिया जाय । वे उसे फेंककर घर चले गये । परंतु उनकी बहिन थोड़ी देरमें ही फल तथा शाकके छिलके उस गड्ढेमें डालने आयी । थैली लुढ़की पड़ी थी । मोहरें कुछ बाहर गिरी दीख रही थीं । उस नारीने उस धनको उठाकर वस्त्रोंमें छिपाना प्रारम्भ किया, जिससे रात्रिमें अपने पतिके पास उसे भेज सके ।

'आप कूड़ेके गड्ढेमें क्या कर रही हैं ?' दो भाइयोंमेंसे एककी स्त्री किसी कामसे घरसे बाहर निकली और अपनी ननदको कूड़ेके गड्ढेमें कुछ करते देख उसके पास पहुँचकर पूछने लगी । ननदने समझा कि भाभीने मोहरें देख ली हैं । हाथमें फल काटनेकी छुरी थी ही, उसे उसने भाभीके पेटमें भोंक दिया ।

छुरी लगनेसे एक चीत्कार की घायल स्त्रीने । उस चीत्कारको सुनकर उसका पति दौड़ आया । बहिन घबराकर भागने लगी तो उसकी बगलमें दबी थैली नीचे गिर पड़ी । अब बहिनको और कुछ नहीं सूझा, उसने वह छुरी अपने पेटमें भी मार ली !

'भैया ! पापसे कमाये इस धनने फेंक देनेपर भी इतना अनर्थ किया ।' दूसरा भाई भी दौड़ आया था । जो पहले आया था, वह सिर पकड़कर बैठ गया था वहीं । —सु० सिं०

डाइन खा गयी

दो भाई राजपूत जवान ऊँटपर चढ़कर कमाईके लिये परदेश जा रहे थे । उन्हें दूरसे ही एक साधु दौड़ता सामने आता दिखायी दिया । पास आते-आते उसने कहा—'भाइयो ! आगे मत जाना, बड़ी भयानक डाइन बैठी है । पास जाओगे तो खा ही जायगी ।' राजपूत सवारोंने साधुसे ठहरनेको कहकर उससे इसका

स्पष्टीकरण कराना चाहा, पर वह तो दौड़ता ही चला गया। ठहरा नहीं।

उसके चले जानेपर राजपूत भाइयोंने विचार किया कि 'साधु निहत्था है, डर गया है। हमारी जवान उम्र है, शरीरमें काफी बल है, बंदूक-तलवार हमारे पास हैं। डाइन हमारा क्या कर लेगी। फिर, डरना तो कायरोंका काम है। हम तो बहादुर राजपूत हैं।' यों विचारकर वे आगे चल दिये। कुछ दूर जानेपर उन्हें एक जगह सोनेकी मोहरोंकी थैलियाँ पड़ी दिखायी दीं। वे ठहर गये, ऊँटसे उतरकर देखा तो सचमुच सोनेकी मोहरें हैं और गिननेपर पूरी दस हजार मोहरें हुईं। उन्होंने कहा—'बड़ा चालाक था वह साधु। वह जरूर कोई सवारी लाने गया है। हमलोगों-को डाइनका डर दिखाकर वह चाहता था कि ये उधर न जायँ तो सवारी लाकर मैं मोहरोंको ले जाऊँ। बड़ा अच्छा हुआ जो हमलोग उसके धोखेमें नहीं आये और निडर होकर यहाँतक पहुँच गये।' दोनों बहुत प्रसन्न थे। अब कहीं परदेश जानेकी आवश्यकता रही ही नहीं। बिना ही कुछ किये तकदीर खुल गयी। सोचा—दिनभरके भूखे हैं—कुछ खा-पी लें तो फिर घर लौटें। बड़े भाईने कहा—'गाँव ज्यादा दूर नहीं है, जाकर खानेके लिये हलवा-पूरी ले आओ तो खा लें।' छोटा भाई हलवा-पूरी लाने चला गया।

इधर दस हजार मोहरें देखकर बड़े भाईका मन ललचाया। विचार आया—'हाय! इनका आधा हिस्सा हो जायगा। दसकी जगह पाँच हजार ही मुझे मिलेंगी। क्या मुझे सब नहीं मिल सकतीं।' लोभ पापका बाप है। लोभने बुद्धि बिगाड़ दी। तत्काल निश्चय कर लिया। मिल क्यों नहीं सकतीं। अब तो अवश्य ये दसों हजार मोहरें मेरी ही होंगी। बंदूक भरकर रख लूँ। वह मिठाई लेकर लौटता ही होगा। बस, सामने आते ही गोली दाग दूँगा। वह मर ही जायगा। कौन देखता है यहाँ। यहीं कहीं गड्ढा खोदकर लाश गाड़ दूँगा। बस, फिर सारी मोहरें मेरी हो ही जायँगी। घर जाकर कह दिया जायगा—भाई हैजेसे मर गया। विचारके अनुसार ही काम हुआ। बंदूक तैयार कर ली गयी।

उधर छोटे भाईके मनमें भी लोभ जागा। उसने भी दस हजार मोहरें पूरी मिलनेकी बात सोची। उसकी भी बुद्धि बिगड़ी। उसने निश्चय करके संखिया खरीदा और उसका चूर्ण करके हलवेमें मिला दिया। सोचा—'मैं जाकर कहूँगा—भैया! तुम पहले खा लो। मैं अभी थका हूँ, पीछे खाऊँगा। वह खा ही लेगा और खाते ही काम तमाम हो जायगा। बस, यों सहज ही सारी मोहरें मेरी हो जायँगी; फिर उसकी लाशको गाड़कर घर चला जाऊँगा।'

इसने यही किया। हलवा-पूरी लेकर ज्यों ही पहुँचा कि दनादन दो-तीन गोलियाँ लगीं। धड़ामसे गिर पड़ा। प्राण-पखेरू तत्काल उड़ गये। अब तो बड़े भाईके आनन्दका पार नहीं रहा। मनुष्य जब पाप करके सफल होता है, तब वह उसका परिणाम भूलकर प्रमत्त हो जाता है। सफलताके आनन्दमें वह मस्त हो गया; मनमें आया कि 'पहले हलवा-पूरी खा लूँ, पीछे लाश गाड़नेका काम करूँगा।'

हलवा खाया। उसमें तीव्र विष था ही, खाते ही चक्कर आने लगे और वह कुछ ही क्षणोंमें वहीं ढेर होकर गिर पड़ा। भागवतमें ब्राह्मणने कहा है—'इस अर्थ नामधारी अनर्थसे दूर ही रहना चाहिये। इससे पंद्रह अनर्थ पैदा होते हैं—चोरी, हिंसा, असत्य, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब। बड़े प्यारे सम्बन्धी भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता आदिके मन भी एक-एक कौड़ीको लेकर फट जाते हैं और थोड़े-से धनके लिये वे क्षुब्ध और क्रोधित

होकर सारे सौहार्द—प्रेमको भूलकर एक दूसरेका प्राण लेनेपर उतारू हो जाते हैं।' यही यहाँ भी हुआ। राजपूत भाइयोंको धनरूपी डाइनने बात-की-बातमें खा लिया !

यह वत्सलता !

लंदनके साउथवार्कवाली गलियोंमें गरीबोंकी बस्ती थी। उसमें मजदूरों और श्रमिकोंके लिये छोटे-छोटे मकान बने हुए थे। दिनभर कारखानोंमें मजदूरी कर वे रातको इन्हीं गंदी गलियोंमें विश्राम करते थे।

एक दिन यह निश्चय किया गया कि छुट्टी मनाने तथा मनबहलावके लिये छोटे-छोटे बच्चोंको देहाती क्षेत्रमें भेजा जाय। इस निश्चयके अनुसार बच्चोंको गाड़ीमें बैठा दिया गया। बच्चोंके गरीब माता-पिता गाड़ी छूटनेके समय उन्हें देखने आये थे। प्लेटफार्मपर बड़ी भीड़ थी; गरीबोंकी भीड़ ऐसी लगती थी मानो दरिद्रताने चलता-फिरता रूप धारण कर लिया हो।

बच्चोंके लिये खाने-पीनेके सामान गाड़ीमें रक्खे जा रहे थे। बिस्तरे बिछाये जा रहे थे। माँ-बाप अपने-अपने बच्चोंको जलपान आदिके लिये पैसे दे रहे थे। सब-के-सब प्रसन्न थे। अचानक उन महिलाओंमेंसे किसी एककी दृष्टि छोटी-सी कोमल बच्चीपर पड़ी जो उदास थी, जिसके चेहरेपर दरिद्रताकी रेखाएँ अङ्कित थीं और आँखोंमें दुःखके काले-काले बादल थे। बच्ची देखनेमें बड़ी प्यारी लगती थी। वह महिला उस बच्चीके पास गयी जो गाड़ीमें एक किनारेपर दुबकी-सी बैठी हुई थी।

'बेटी ! तुम्हारे माँ-बाप कहाँ हैं? वे यहाँतक पहुँचाने क्यों न आ सके? तुम्हारे बहन-भाई आदि कहाँ हैं?' महिलाने अपने हृदयकी वत्सलता—ममता उँड़ेल दी। बच्चीकी आँखोंमें अश्रुकण थे, वह कुछ न बोल सकी। उसके पास जलपान आदिके लिये पैसे भी नहीं थे। पता लगानेपर महिलाको यह बात विदित हो सकी कि उसका पिता मर चुका है। परिवारमें केवल माँ है जो मजदूरी करके पेट पालती है; वह इसलिये उसे पहुँचाने नहीं आ सकी कि भय था कहीं मजदूरीके पैसे न कट जायँ। महिलाका हृदय भर आया। वह करुणाका वेग समेटकर लोगोंके देखते-देखते किसी ओर चली गयी।

थोड़ी देरमें गाड़ीने सीटी दी। वह खुलनेवाली ही थी कि महिला प्लेटफार्मपर आ पहुँची।

'जल्दी कीजिये।' गार्डने सावधान किया।

महिलाने बच्चीको मिठाईकी एक टिकिया दी और उसके हाथमें कुछ पैसे रखकर स्नेहभरी दृष्टिसे देखा। बच्चीका कुम्हलाया चेहरा खिल उठा; उसके लाल-लाल ओंठोंकी लालिमा बढ़ गयी।

कौन जानता था कि छोटी बच्चीकी मुसकराहटके लिये उस गरीब महिलाने, जिसके शरीरका अलंकार काली ओढ़नी और शालके सिवा और कुछ भी नहीं था, अपनी शाल बेच दी होगी।

गाड़ी चल पड़ी और महिला वत्सलताकी सजीव मूर्ति-सी प्लेटफार्मपर खड़ी होकर खिड़कीसे झाँकती बच्चीको ही देखती रही।—रा० श्री०

वह अपने प्राणपर खेल गयी

इडिथ कवेल एक अंग्रेज परिचारिका थी। वह प्रथम महायुद्धके समय घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिये बेलजियम गयी हुई थी। वह शत्रु-मित्र सबकी समान रूपसे सेवा करती थी। पट्टी बाँधते समय इस बातका उसे तनिक भी विचार नहीं रहता था कि वह शत्रु-सैनिकका उपचार कर रही है या अपने पक्षके वीरोंकी सेवा कर रही है।

उसे इस बातसे घृणा अवश्य थी कि जर्मन सैनिक बेलजियमके नागरिकोंको अपने देशके विरुद्ध काम करनेके लिये विवश करें। जर्मन विजेताओंद्वारा नागरिकोंको दास बनाया जाना उसके लिये सर्वथा असह्य था। ऐसी स्थितिमें वह संत्रस्त लोगोंको अपने शिविरमें शरण देती थी और उन्हें हालैंड या फ्रान्स भाग जानेके लिये प्रोत्साहन और सहायता देती थी।

एक दिन जर्मन सैनिकोंने उसको ऐसा करते देख लिया। वह बंदी बना ली गयी। दोनों ओरकी सेनाओंमें हाहाकार मच गया। उसके मृत्यु-दण्डकी घोषणा की गयी। अनेक देशोंके राजदूतोंने मानवता और अन्ताराष्ट्रिय नैतिकताके नामपर इस दण्डका विरोध किया; पर जर्मन-न्यायालयने उनके कथनकी उपेक्षा कर दी।

× × × ×

'मुझे तुमलोग कहाँ ले आये ?' कवेलने अँधेरी रातमें जर्मन सैनिकसे पूछा। वह निश्चिन्त और स्वस्थ थी।

'मृत्युके उपवनमें'—उत्तर था। कवेलने अपने-आपको एक रमणीय उपवनमें पाया।

'ईश्वर और सत्य साक्षी हैं कि केवल देशभक्ति ही मनुष्यके लिये पर्याप्त नहीं है। देशभक्तिका अर्थ यह नहीं है कि अपने देशकी सम्मान-वृद्धिके लिये दूसरे देशके नागरिकोंको सताया जाय। किसी भी प्राणीके प्रति मेरे मनमें घृणा और कटुताका भाव नहीं है।' परिचारिका कवेलका इतना कहना था कि शत्रुके पिस्तौलने उसके जीवनका अन्त कर दिया। इडिथ कवेलने पवित्र परिचारिका—सेवावृत्तिके परिणाम-स्वरूप स्वर्गकी यात्रा की।—रा० श्री०

मनुष्यका गर्व व्यर्थ है

इंगलैंडके इंजिनियरोंने वर्षों सरतोड़ परिश्रम किया था। सैकड़ों मजदूर लंबे समयतक काम करते रहे थे। प्रसिद्ध जलयान टिटैनिक जिस दिन जलमें उतारा गया, स्वयं इंगलैंडके बादशाह वहाँ उपस्थित थे। इतना विशाल, इतना भव्य और इतना सुदृढ जलयान कि विश्वमें किसीने कल्पना न की हो। एक पूरे नगर जितना विस्तृत था वह। उसमें विश्राम, भोजन आदिके स्थान तो थे ही, उद्यान थे, क्रीड़ामञ्च थे। फुटबॉलका मैदान था। ऐसी कोई सुविधा उसमें अप्राप्य नहीं थी जो इंगलैंडके नागरिकको पृथ्वीपर किसी नगरमें मिल सकती थी। निर्माताओंने बार-बार घोषणा की थी—'टिटैनिकको कोई तूफान तोड़ नहीं सकता। टिटैनिक अभेद्य है।'

विशेषज्ञोंने इस घोषणाका समर्थन किया था। समूचे इंगलैंडका मस्तक गर्वसे ऊँचा हो गया था। टिटैनिक जलमें उतरा और अमेरिकाकी यात्रापर निकला। इंगलैंडके प्रख्यात पुरुष उसमें थे। लार्ड किचनर भी उसीमें थे। बहुतसे पार्लियामैंटके सदस्य, लार्ड-सभाके सदस्य, विख्यात पत्रकार तथा दूसरे प्रसिद्ध पुरुषोंको उनके परिवारके साथ लेकर टिटैनिकने अपनी पहिली यात्रा प्रारम्भ की।

अनन्त समुद्रके वक्षःस्थलपर गर्वसे टिटैनिक चला

जा रहा था। आज विश्वने देखा कि मानव क्या कुछ कर सकता है। विशाल टिटैनिक—उसके यात्री अपने आमोद-प्रमोदमें निमग्न थे। बेतारके तारसे सूचना मिली—'सावधान रहना चाहिये।'

विख्यात पत्र 'रिव्यू आफ रिव्यू' के स्वामी मि० स्टेड भी उसी यानमें थे। सूचना पाकर वे जहाजके कप्तानके पास गये। कप्तान हँसा—'व्यर्थकी बात! आप निश्चिन्त रहें। हमारा टिटैनिक अजेय है। उसकी लौह-दीवारें अभेद्य हैं।'

परंतु पूरे दस मिनट भी नहीं बीते थे इस बा जब कि टिटैनिक फट गया था समुद्रमें बहते हुए विशाल हिमपर्वतसे टकराकर। उसमें समुद्रका वेगपूर्वक प्रवेश कर रहा था। यात्री जीवनकी छोड़ चुके थे और कप्तान बेतारके तारपर संदेश भेज रहा था—'टिटैनिक डूब रहा है। शीघ्र सहायता कीजिये।'

मनुष्यकी विद्या-बुद्धिके गर्वका प्रतीक टिटै अपने महामहिम यात्रियोंके साथ डूब गया सा अतल जलमें।—सु० सिं०

अच्छी फसल

जर्मनीकी सेनाके कोई उच्चाधिकारी किसी युद्धके समय अपने शिविरसे कुछ सैनिकोंके साथ घोड़ोंके लिये घास एकत्र करने निकले। समीपमें एक गाँवके किसानको उन्होंने पकड़ा—'चलकर बताओ कि इस गाँवमें किस खेतमें अच्छी फसल है।'

विवश होकर किसान उन सैनिकोंके साथ चल पड़ा। खेत लहलहा रहे थे। बहुत उत्तम फसल थी। सैनिक चाहते थे कि उन खेतोंकी फसल काट लें; किंतु किसान बार-बार कहता जाता था—'कुछ और आगे चलिये, बहुत उत्तम फसल आपको बताऊँगा।'

धीरे-धीरे सैनिकोंको किसान लगभग गाँवकी सीमाके खेतोंतक ले गया। वहाँ उसने एक खेत बतलाया। सैनिकोंने उस खेतसे फसल काटकर गट्ठे बाँधे घोड़ोंपर रख लिये। सैनिक अधिकारीने रुष्ट हो किसानको डाँटा—'व्यर्थ तू हमें इतनी दूर क्यों आया? इससे अच्छी फसल तो पासके खेतोंमें ही थी।'

किसानने कहा—'मैं जानता था कि आप खेतके स्वामीको फसलका मूल्य देनेवाले तो हैं नहीं। मैं किसी दूसरेका खेत आपलोगोंको बताकर उस हानि कैसे कराता। यह मेरा अपना खेत है यह तो आप भी मानेंगे ही कि मेरे लिये तो इस फसल सबसे अच्छी फसल है।'

सैनिक अधिकारी लज्जित हो गया। उसने किसान को फसलके मूल्यके साथ पुरस्कार देकर सम्मानि किया। —रा० श्री०

महान् वैज्ञानिककी विनम्रता

अलबर्ट आइंस्टीनने हमारे जगत्का चित्र ही बदल दिया। परमाणु युग, वह चाहे हमारे वृद्धि या विनाश जिस किसीका भी हेतु क्यों न हो, उसके पिता आइंस्टीन ही रहे। उन दिनों जब वे परमाणु-बम-सम्बन्धी अनुसंधानमें व्यस्त थे, प्रायः व्यंग करते हुए कहते—'यदि मेरी खोज, मेरा सिद्धान्त ठीक सिद्ध हुआ तब तो जर्मनी मुझे महान् जर्मनवासी कहकर अभिनन्दन करेगा औ फ्रांसवाले कहेंगे कि आइंस्टीन विश्वका महान् नागरि है। पर यदि यह मिथ्या सिद्ध हुआ तो ये ही फ्रांस मुझे जर्मनवासी कहने लगेंगे और जर्मनवाले मुझे यहू कहेंगे।'

१९५२ के नवंबरमें इसराइलके अध्यक्ष डा

चैम वेजमेनकी मृत्युपर इसराइल सरकारने आइंस्टीनसे अध्यक्षता स्वीकार करनेकी प्रार्थना की। पर उन्होंने यह कहकर उनके प्रस्तावको अस्वीकार कर दिया कि 'यद्यपि मैं आपके इस प्रस्तावका बड़ा आभारी हूँ, पर मैं इस पदके योग्य नहीं हूँ; क्योंकि जन-सेवा-कार्य तथा राजनीति क्षेत्रमें मैं अपनेको तनिक भी दक्ष अथवा कुशल नहीं मानता।'

इसपर इसराइलकी नवनिर्मित यहूदी सरकार आश्चर्यसे दंग रह गयी।

प्रेमका झरना

संत बोनीफेसके जीवनकी एक सरस कथा है। उनका पालन-पोषण देवनके पहाड़ी वातावरणमें हुआ था। बचपनसे ही वे एकान्तमें निवास कर भगवान्‌के प्रेमामृतका रसास्वादन किया करते थे। उनके पिताने बोनीफेसको पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी थी कि वे आजीवन भगवान्‌का भजन करते रहें तथा दीन-दुखियों और असहायोंकी सेवामें लगे रहें। उनका जीवन पूर्ण भागवत था।

एक समयकी बात है। वे भगवान्‌की मधुर भक्तिका प्रचार करनेके लिये जर्मनीके किसी देहाती क्षेत्रमें जा रहे थे। दैवयोगसे काले वन (ब्लैक फोरेस्ट) में पहुँच गये। वे थकावट और प्याससे परिश्रान्त थे। सारा शरीर शिथिल हो गया था। पानीके लिये व्याकुल थे, पर उस निर्जन वनमें पानी मिलना कठिन ही था।

'माँ! थोड़ा-सा दूध मुझे भी दे दो, नहीं तो प्राण निकल जायँगे।' संतने एक महिलासे निवेदन किया, जो थोड़ी दूरपर गाय दुह रही थी। बोनीफेसको देखकर उसके हृदयमें दयाके घन उमड़ आये। वह दूध देनेवाली ही थी कि उसका पति आ गया और उसे ऐसा करनेसे रोक दिया।

बोनीफेस धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे। वे गिरते-पड़ते कुछ दूर गये ही थे कि एक शिलाखण्डके निकट पहुँचते ही पृथ्वीसे एक सोता फूट निकला, जिसका जल अत्यन्त निर्मल और शीतल था। बोनीफेसने भगवान्‌की कृपाको धन्यवाद दिया और उस प्रेम निर्झरिणीके मनोरम तटपर बैठकर अपनी प्यास शान्त की।

वह महिला भी जलको देखकर प्रसन्नतासे नाच उठी और घड़ा लेकर पहुँच गयी।

'माँ! तुम्हारे हृदयमें दीन-दुखियोंके लिये अपार दया है। तुम इस प्रेमके झरनेका पानी ले सकती हो। पर स्मरण रक्खो कि द्वेषी, अक्षमाशील और दूसरोंसे घृणा करनेवाले व्यक्तिका कर-स्पर्श होते ही निर्झरिणीका जल सूख जायगा।'

उसका नाम बोनीफेस-निर्झरिणी है और उसके तटपर जाते ही लोगोंका मन प्राणिमात्रके प्रति प्रेम-भावसे सम्पन्न हो उठता है। —रा० श्री०

बुद्धिमानीका परिचय

चीनके एक बादशाहके शासन-कालमें प्रजाको अनेक प्रकारके कर देने पड़ते थे। बाहरसे आनेवाली वस्तुओंपर बड़ा शुल्क देना पड़ता था। बादशाहसे इस सम्बन्धमें शिकायत करनेका किसीने साहस नहीं किया।

एक दिन बादशाह अपने सभा-सदस्योंके साथ नगरके बाहर टहलने गया था। वह लौटनेवाला था कि आकाशमें काली-काली घटा घिर आयी। पानी बरसनेवाला ही था। बादशाहने प्रस्ताव किया कि

हमलोगोंको यथाशीघ्र लौट चलना चाहिये ।

'डरनेकी कोई बात नहीं है । बादल नगरमें प्रवेश ही नहीं कर सकते ।' एक बुद्धिमान् सभासदस्यने अवसरका सदुपयोग किया ।

बादशाहके कारण पूछनेपर उसने कहा कि 'उनपर अधिकाधिक कर लग जायगा और वे प्रवेश करनें असमर्थ हो जायँगे ।'

बादशाहने उसके कथनका मर्म समझ लिया औ उसकी बुद्धिमानीकी बड़ी प्रशंसा की । उसने प्र लगाया हुआ आधा कर छोड़ दिया । —रा० श्री०

प्रार्थनाका फल

जार्ज मूलरका प्रार्थनामें अटल विश्वास था । अपने जीवनमें उन्हें किसी भी दिन निराश नहीं होना पड़ा । एक समयकी बात है । वे जहाजसे कनाडा जा रहे थे । अचानक चारों ओर घना कोहरा छा गया । जहाज किसी तरह आगे ही नहीं बढ़ पाता था । कप्तान निराश हो गया । उसे जहाज रोक देना पड़ा । चौबीस घंटे बीत गये, पर आकाश साफ नहीं हो सका ।

'कप्तान ! मुझे शनिवारको तीसरे पहर क्यूबेक पहुँचना ही है ।' मूलरने अपना कार्यक्रम सूचित किया ।

'यह असम्भव है ।' कप्तानने विवशता प्रकट की ।

'ठीक है, यदि आपका जहाज मुझे नहीं पहुँचा सकता तो परमात्मा कोई दूसरा रास्ता निकालेंगे ही । मैंने पिछले सत्तावन सालोंमें किसी भी दिन अपना कार्यक्रम नहीं तोड़ा है । चलिये, हमलोग भगवान्से प्रार्थना करें ।' मूलरने निवेदन किया ।

कप्तान सोचने लगा कि न जाने किस पागलसे पाला पड़ गया है । पता नहीं है कि किस पागलखानेसे आ गया है !

'मूलर महोदय ! क्या आप देखते हैं कि कित घना कोहरा है ?' कप्तानने उनका प्रस्ताव टाल दि

'मेरा ध्यान कोहरेके घनत्वपर नहीं है; मैं चिन्मय परमात्माकी शक्तिमत्ताका चिन्तन कर रहा उनकी शक्ति और कृपासे मेरे जीवनकी प्रत्येक परिस्थि नियन्त्रित है ।' ऐसा कहकर मूलरने विनत हो भगवान्से प्रार्थना की; प्रार्थना समाप्त करनेपर उन्हों कप्तानको प्रार्थना करनेसे रोक दिया ।

'भाई ! आपको प्रार्थना करनेकी आवश्यक नहीं है और न तो आपका इसमें विश्वास ही है । कप्ता मैं अपने ईश्वरको अच्छी तरह जानता हूँ । मेरे जीव एक दिन भी ऐसा नहीं है जिस दिन उनकी कृपा मुझे साक्षात्कार न हुआ हो । उठो, दरवाजा खोलो कोहरा उड़ गया है ।' मूलरने विश्वास दिलाया ।

कोहरा निःसंदेह उड़ गया था । जार्ज मूलर ठी समयपर क्यूबेक पहुँच गये । उन्हें प्रार्थनाका पूर्ण फल मिल गया —रा० श्री०
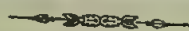
सच्चा साहसी

'तुमलोगोंको किला छोड़नेके पहले सारे नगरको जलाकर नष्ट कर देना चाहिये । तुम्हारी संख्या दो सौ है; तुम्हें किसी बातका भय नहीं होना चाहिये ।' बलगेरियाके सेनापतिने शेष सैनिकोंको आगे बढ़नेका आदेश दिया । कवलाके किलेमें केवल दो सौ सै रह गये । कवला एजियन सागरका एक बंदरगाह है

नागरिकोंने इस बातका समाचार पाते ही अ घरके दरवाजे बंद कर लिये । वे विवश और निरा

थे। पर बंदरगाहपर एक मछली पकड़नेवाला रहता था। उसने शत्रुओंसे नगरको सुरक्षित रखनेका उपाय सोचा।

कवलासे अठारह मीलकी दूरीपर थसोस नामका एक द्वीप था। अठारह मील जलीय मार्गको पार करना कठिन कार्य था। पर अपने सत्कर्तव्यसे अनुप्राणित होकर उसने उस पार पहुँचनेका निश्चय कर लिया। थसोस-में यूनानी जहाजी बेड़ा था; उन दिनों यूनान और बल-गेरियामें युद्ध चल रहा था; इसलिये तुर्की मछुवाहेने इस स्थितिका सदुपयोग अपनी जन्मभूमिकी रक्षाके लिये किया।

सूर्यकी किरणें महाप्रस्थानके पथपर थीं। चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार था। पीले-पीले तारे आकाश-में टिमटिमा रहे थे। शत्रुसेनाकी आँख बचाकर वह अपनी छोटी-सी नौकापर सवार होकर थसोसके लिये चल पड़ा।

सारी रात वह नौका खेता रहा। सबेरा होते-होते वह द्वीपपर आ गया। यूनानी बेड़ेके निकट ही वह जोर-जोरसे चिल्लाने लगा 'दौड़ो, बचाओ परमात्माके नामपर हमारी जन्मभूमिकी रक्षा करो, अन्यथा बलगेरियाकी सेना कवलाको जलाकर नष्ट कर देगी।'

दिन निकलते-निकलते एक सच्चे साहसीके सत्-कर्तव्यपालन और साहससे यूनानी सेनाने बलगेरियाकी सेनाको कवलासे निकाल बाहर किया। नागरिकोंने घरके दरवाजे खोल दिये; उन्होंने यूनानी नौ-सेनापति-का स्वागत किया। कवला शत्रुके हाथ नष्ट होनेसे बच गया।

कवलाके नाविकोंने यूनानी सेनापतिके स्वागतमें शोभायात्रा निकाली। शोभायात्राके पीछे-पीछे एक दुबला-पतला आदमी चल रहा था, जिसकी आँखोंमें प्रसन्नता-की ज्योति थी; मनमें संतोष था कि उसने अपने नगरको बचा लिया। —रा० श्री०

मृत्युकी घाटी

उन्नीसवीं शताब्दीके दूसरे चरणके कुछ साल बाद ही अंग्रेजी और तुर्की सेना तथा रूसी सेनामें काले्सागर-के तटपर युद्ध आरम्भ हो गया। उमर पाशा और अंग्रेजी सेनापति रेगलनकी सम्मिलित सेनाएँ बालकलावा स्थानपर एकत्र होकर सेबस्टपूल किलेका भाग्य-निर्णय कर रही थीं और रूसी सेनाध्यक्ष मेन्सीकाफके सैनिक रक्षात्मक कार्यमें संलग्न थे।

'कोई आ रहा है!' सैनिकोंने धीरेसे कारडी-जनके सामन्तसे कहा। वह बालकलावाकी एक खाई-में छः सौ सात सैनिकोंके साथ अस्त्र-शस्त्रसे सज्जित होकर आक्रमणकी प्रतीक्षा कर रहा था। सामन्त इस टुकड़ीका नायक था। वह सावधान हो गया।

'अभी इसी समय आक्रमण करना होगा।' नायक नोलनने सामन्तको लुसनका आदेश सुनाया। लुसन उसका उच्च अधिकारी था। सामन्तसे मन-ही-मनमें डाह करता था। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि रूसी तोपचि-योंके बारूदसे उसका प्राणान्त हो जाय।

'मोरचा कठिन है, सामन्त! सैनिक-दृष्टिसे इस आज्ञा-का पालन करना हमारा कर्तव्य है, पर हमारी संख्या बहुत कम है और अचानक आक्रमण करनेका अर्थ है पूरी-की-पूरी रूसी सेनासे भिड़ना।' सैनिकोंने अपने नायकको समझाया।

'मुझे तो यह आदेश धोखा लगता है। लुसन तुमसे बदला लेना चाहता है नायक!' कप्तान नोलनने आदेशकी निरर्थकताकी पुष्टि की।

'चाहे धोखा हो, चाहे असत्य हो या निरर्थक हो, इस समय हमारे लिये यह महान् सत्य है। हमारे उच्च

अधिकारीका आदेश है। हम रूसी बारूदमें अपने प्राण स्वाहाकर सेनानायकके आदेशका पालन करेंगे।' कारडीजनके सामन्तने अपनी टुकड़ीको आगे बढ़नेका आदेश दिया।

'बढ़े चलो! देशके स्वाभिमानकी रक्षाका प्रश्न है। पीछे पैर पड़ेंगे तो दुनियामें महारानी विक्टोरियाका नाम कलङ्कित हो उठेगा। यूरोप हमारी काली करनीपर थूकेगा और इंगलैंडके निवासी लज्जासे नतमस्तक हो जायँगे।' सामन्त आगे बढ़नेवाली टुकड़ीको प्रोत्साहित कर रहा था। रूसी सैनिक बड़ी निर्दयतासे गोली बरसा रहे थे। इंगलैंडके वीर सैनिक बालकलावाकी खाईमें—मृत्युकी घाटीमें आज्ञापालनकी पवित्र बलिवेदीपर आत्मयज्ञ कर रहे थे। लुसन यह सुनकर आश्चर्यचकित हो गया कि सामन्त बच गया।

'कारडीजनका सामन्त वीर आत्मा है।' लुसनके अधर उसकी प्रशंसामें स्पन्दित थे। उसकी आज्ञाके परिणामस्वरूप मृत्युकी घाटीमें पाँच सौ वीर सैनिकोंने प्राण निछावर कर दिये। —रा० श्री०

ईश्वर रक्षक है

एक आचार्य संत एक वृक्षके नीचे अकेले सो रहे थे। उनका एक विरोधी वहाँ पहुँचा और उसने ललकारा—'अरे, उठ और देख कि अब तेरी रक्षा करनेवाला यहाँ कौन है।'

आचार्य उठे। निर्भीक स्वरमें उन्होंने उत्तर दिया 'मेरा प्रभु मेरा रक्षक है' और झपटकर विरोधीके हाथकी तलवार उन्होंने छीन ली। अब उन्होंने पूछा—'अब तू बता कि तेरी रक्षा करनेवाला कौन है?'

विरोधी काँप गया। सूखे मुख वह बोला—'अब यहाँ मेरी रक्षा करनेवाला तो कोई नहीं है।'

आचार्यने तलवार फेंक दी और उससे कहा—'अपनी तलवार उठा ले और आजसे दया करनेकी मुझसे शिक्षा ले।'

वह लज्जित हो गया और आचार्यके चरणोंपर गिर पड़ा। वह उसी दिनसे उनका अनुयायी बन गया।

—सु० सिं०

दयालु स्वामीके दिये दुःखका भी स्वागत

हकीम लुकमान बचपनमें गुलाम थे। एक दिन उनके स्वामीने एक ककड़ी खानी चाही। मुँहमें लगाते ही जान पड़ा कि ककड़ी अत्यन्त कड़वी है। स्वामीने ककड़ी लुकमानकी ओर बढ़ा दी—'ले, इसे तू खा ले।' लुकमानने ककड़ी ले ली और बिना मुँह बिचकाये वे उसे खा गये।

लुकमानके स्वामीने समझा था कि इतनी कड़वी ककड़ी कोई खा नहीं सकता। लुकमान इसे फेंक देगा। परंतु जब लुकमानने पूरी ककड़ी खा ली तो वह आश्चर्यचकित होकर पूछने लगा—'तू इतनी कड़वी ककड़ी कैसे खा सका?'

लुकमान बोले—'मेरे उदार स्वामी! आप मुझे प्रतिदिन स्वादिष्ट पदार्थ प्रेमपूर्वक देते हैं। आपके द्वारा प्राप्त अनेक प्रकारके सुख मैं भोगता हूँ। ऐसी अवस्थामें एक दिन आपके हाथसे कड़वी ककड़ी मुझे मिली तो उसे मैं क्यों आनन्दपूर्वक नहीं खाऊँ?'

वह व्यक्ति समझदार था, दयालु था और धर्मात्मा था। उसने लुकमानका आदर किया। वह बोला—'तुमने मुझे उपदेश किया है कि जो परमात्मा हमें अनेक प्रकारके सुख देता है, उसीके हाथसे यदि कभी दुःख भी आवे तो उस दुःखको प्रसन्नतापूर्वक भोग लेना चाहिये। आजसे तुम गुलाम नहीं रहे।'

—सु० सिं०

ईश्वरके साथ

संत खैयास अपने शिष्यके साथ वनमें जा रहे थे। नमाजका समय हुआ और झरनेके पानीसे 'वजू' करके दोनोंने चद्दर बिछायी, नमाज पढ़ने खड़े हुए। इतनेमें पास ही कहींसे सिंहने गर्जना की। शिष्यके तो प्राण सूख गये। वह भागकर पासके वृक्षपर चढ़ गया और वहाँ भी थर-थर काँप रहा था।

सिंह आया और चला गया। खैयासकी ओर उसने देखातक नहीं और खैयासको ही कहाँ फुरसत थी कि सिंहकी ओर देखते। वे नमाज पढ़ रहे थे, चुपचाप नमाज पढ़ते रहे। सिंहके चले जानेपर शिष्य भी पेड़से उतरा और उसने भी नमाज पढ़ी।

नमाज पूरी हुई। दोनोंने चद्दर उठायी और रास्ता पकड़ा। अचानक एक मच्छरने खैयासकी नाकपर बैठकर काटा। खैयास चीख उठे। शिष्य बोला—'सिंह पाससे चला गया, तब तो आपने उसकी ओर देखा-तक नहीं और अब नन्हे-से मच्छरके काटनेसे चीख रहे हैं?'

खैयास बोले—'भाई! उस समय मैं खुदाके साथ था और इस समय मनुष्यके (तेरे) साथ हूँ।'

—सु० सिं०

भगवान् सब अच्छा ही करते हैं

टना मिश्रदेशकी है। वहाँके एक भगवद्भक्त गृहस्थ-की झोपड़ी वनके समीप थी। उसके घरमें उसकी पत्नी-के अतिरिक्त तीन प्राणी और थे। एक बैल था, जो बोझा ढोनेके काम आता था। वही उस परिवारकी आजीविका-का साधन था; क्योंकि उसीकी पीठपर लादकर सामग्री बेचने वह व्यक्ति जाता था। एक कुत्ता था जो उस जंगली प्रदेशमें रात्रिको चौकीदारी करके उस परिवारकी रक्षा करता था। एक तोता था और वह उस संतान-हीन पति-पत्नीको बहुत प्यारा था। वह तोता रात्रिके अन्तिम प्रहरमें उस गृहस्थको सदा जगा दिया करता था।—'उठो! भगवान्‌का भजन करो।'

एक रात्रि वनसे निकलकर सिंह आया और उसने गृहस्थके बैलको मार दिया। बेचारा कुत्ता सिंहके भयसे ही भागकर घरमें छिप गया था। गृहस्थ सबेरे उठा। मरे हुए बैलको उसने देखा और बोला—'अच्छा हुआ, भगवान् जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं। यह उनका विधान है, इसलिये अच्छा ही है।'

पतिकी बात सुनकर पत्नी झल्लायी, परंतु कुछ बोली नहीं। विपत्ति अकेली नहीं आया करती। उसी दिन किसी प्रकार तोता पिंजड़ेसे निकल गया और घरके कुत्तेने ही उसे मार दिया। पुरुषको समाचार मिला तो बोला—'अच्छा हुआ। प्रभु जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं।'

स्त्रीने इस बार सिर पीट लिया, वह इतनी दुखी थी कि कुछ बोलनेका उसमें साहस ही नहीं था। थोड़ी ही देरमें किसीने बताया कि पता नहीं क्या हुआ, उनका कुत्ता मार्गमें लोट-पोट होने लगा और अब मरा पड़ा है। पुरुष फिर बोला—'अच्छा हुआ, भगवान् जो करते हैं, वह हमारे हितके लिये ही करते हैं।'

इस बार स्त्री उबल पड़ी—'अब आजीविकाहीन रहकर घरमें पड़े रहो और खर्राटे लेकर सबेरेतक सोओ; क्योंकि भोजन देनेवाला बैल तथा जगानेवाला तोता तो चला गया। कुत्ता भी गया, इससे रातमें कोई चीता-भेड़िया हमें-तुम्हें भी पेटमें पहुँचा देगा।'

जो हो गया था, उसे बदलनेका उपाय नहीं था। पुरुष इसे भगवान्‌की कृपा मानकर संतुष्ट था और स्त्री

दुखी थी; किंतु दोनोंको जीवनक्रम तो चलाना ही था। दिन गया और रात्रि आयी। दोनों सो गये। सबेरे उठे तो देखते हैं कि पूरे गाँवमें लाशें-ही-लाशें बिछी हैं। रात्रिमें डाकुओंने आक्रमण किया था। एक व्यक्ति भी जीवित उन्होंने नहीं छोड़ा। झोपड़ियोंके फूटे बर्तन-तक वे उठा ले गये थे। इस झोपड़ीको सुन-सान समझकर वे छोड़ गये थे; क्योंकि जंगलके पासके गाँवमें जिस झोपड़ीमें कुत्ता न हो, उसमें किसीके रहनेकी सम्भावना नहीं की जा सकती'।

पुरुष अपनी पत्नीसे बोला—'साध्वी! यदि कुत्ता होता तो हम मारे जाते और बाहर बैल बँधा दीखता तो भी मारे जाते। तोता सबेरे हमें जगा देता तो भी डाकू आहट पाकर आ धमकते। तीनों जानवरोंकी मृत्यु का विधान दयामय प्रभुने किया था और हमारे मङ्गलके लिये किया था। आज हम इसीलिये जीवित बचे हैं कि वे जानवर हमारे यहाँ नहीं थे।'—सु० सिं०

सब अवस्थामें भगवत्कृपाका अनुभव

संत उसमान हैरी एक बार नगरकी गलीसे जा रहे थे। किसी भवनकी दासीने बिना नीचे देखे एक थाल चूल्हेकी राख फेंका। सब-की-सब राख हैरीपर पड़ी। संत हैरीने अपना सिर तथा कपड़े झाड़े और हाथ जोड़कर बोले—'दयामय प्रभु! तुझे धन्यवाद।'

एक व्यक्ति संतके साथ चल रहा था। उसने पूछा—'इसमें परमात्माको धन्यवाद देनेकी क्या बात हो गयी।'

हैरी बोले—'मैं तो अग्निमें जलाया जाने योग्य था; किंतु प्रभुने दया करके राखसे ही निर्वाह कर दिया, इसीसे मैं उस परमोदार स्वामीको धन्यवाद दे रहा हूँ।'

—शि० दु०
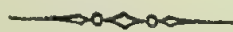
दो मार्ग

'उसके समान कोई मूर्ख नहीं, जो अत्यन्त दुर्बल होनेपर भी अमित बल-सम्पन्नसे विरोध करता है।' संतकी यह वाणी सुनकर मस्जिदसे अपने नौकरोंके साथ जाता हुआ राजकुमार समीप आ गया और संत जुन्नुनसे इस कथनका तात्पर्य पूछ बैठा। संतने बताया—'मनुष्य अत्यन्त दुर्बल ही नहीं, सर्वथा असहाय है, किंतु वह सर्वशक्तिसम्पन्न परमेश्वरका विरोधी बनता है। यह उसकी महान् मूर्खताके अतिरिक्त और क्या है?'

राजकुमार उदास हो गया, पर बिना कुछ बोले वहाँसे चला गया। कुछ दिन बाद वह पुनः संत जुन्नुनके पास आया और अत्यन्त कातर वाणीमें उसने पूछा—'महात्मन्! प्रभु-प्राप्तिका मार्ग क्या है?'

भगवान्‌को पानेके दो रास्ते हैं—संतने बताया। 'एक साधारण और दूसरा असाधारण। यदि तुम साधारण मार्गसे उसतक पहुँचना चाहते हो, तो संसारके समस्त पाप और इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियोंका त्याग करो और यदि असाधारण मार्गका अनुसरण करना चाहते हो तो अन्तःकरणको विषय-शून्य अत्यन्त निर्मल बनाकर उसे ईश्वरमें लगा दो। ईश्वरके अतिरिक्त और सब कुछ भूल जाओ।'

राजकुमारने असाधारण मार्गका अनुसरण किया। वह राजकुमारोंका वेश छोड़कर फकीर बन गया और पहुँचा हुआ प्रसिद्ध संत हुआ। —शि० दु०

अहंकार तथा दिखावटसे पुण्य नष्ट

एक मुसल्मान फकीर थे हाजी महम्मद । वे साठ बार मक्काशरीफकी हज कर आये थे और प्रतिदिन पाँचों वक्त नियमसे नमाज पढ़ते थे । एक दिन हाजी महम्मद साहेबने सपनेमें देखा—'स्वर्गीय दूत बेंत हाथमें लिये स्वर्ग और नरकके बीचमें खड़ा है । जो भी यात्री आता है, उसके भले-बुरे कर्मोंका परिचय जानकर वह किसीको स्वर्ग और किसीको नरकमें भेज रहा है । हाजी महम्मद इनके सामने आये, तब दूतने पूछा—'तुम किस सत्कार्यके फलस्वरूप स्वर्गमें जाना चाहते हो ?' उत्तरमें हाजी साहबने कहा—'मैंने साठ बार हज किया है ।' स्वर्गीय दूत बोला—'यह तो सत्य है; परंतु जब कोई तुमसे नाम पूछता तो तुम गर्वके साथ बोलते—'मैं हाजी महम्मद हूँ ।' इस गर्वके कारण तुम्हारा साठ बार हज करनेका पुण्य नष्ट हो गया । तुम्हारा और कोई पुण्य हो तो बताओ ?'

हाजी साहबका, जो अपनेको सहज ही स्वर्गका यात्री मानते थे, मुँह उतर गया । उन्होंने काँपते हुए स्वर्गीय दूतसे कहा—'मैंने साठ सालतक नित्य नियमित रूपसे प्रतिदिन पाँच बार नमाज पढ़ी है ।'

स्वर्गीय दूतने कहा—'तुम्हारी वह पुण्यकी ढेरी भी नष्ट हो गयी ।'

हाजी महम्मदने काँपते-काँपते पूछा—'सो कैसे ? मेरे किस अपराधसे यह तप नष्ट हो गया ?'

स्वर्गीय दूतने कहा—'एक दिन बाहरके बहुत-से धर्मजिज्ञासु तुम्हारे पास आये थे, उस दिन तुमने उनके सामने उन लोगोंको दिखानेके लिये दूसरे दिनोंकी अपेक्षा अधिक देरतक नमाज की थी । इस लोग-दिखाऊ भावके कारण तुम्हारी साठ वर्षकी तपस्या नष्ट हो गयी ।'

स्वर्गीय दूतकी बात सुनते ही बूढ़े हाजी चिल्लाकर रो पड़े । चिल्लानेकी आवाज कानोंमें पड़ते ही उनकी नींद टूट गयी । जागनेपर भी स्वप्नकी बातका स्मरण करके वे भयसे काँपते और कराहते रहे । उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और उस दिनसे उनका गर्व दूर हो गया, वे दीन बन गये । भगवान्‌ने स्वप्नमें सावधान करके उनपर बड़ी कृपा की ।

सेवककी इच्छा क्या

हजरत इब्राहीम जब बलखके बादशाह थे, उन्होंने एक गुलाम खरीदा । अपनी स्वाभाविक उदारताके कारण उन्होंने उस गुलामसे पूछा—'तेरा नाम क्या है ?'

गुलामने उत्तर दिया—'जिस नामसे आप मुझे पुकारें ।

बादशाह—'तू क्या खायेगा ?'

गुलाम—'जो आप खिलायें ।'

बादशाह—'तुझे कपड़े कैसे पसंद हैं ?'

गुलाम—'जो आप पहिननेको दें ।'

बादशाह—'तू काम क्या करेगा ?'

गुलाम—'जो आप करायें ।'

'आखिर तू चाहता क्या है ?' बादशाहने हैरान होकर पूछा ।

'हुजूर ! गुलामकी अपनी चाह क्या ।' गुलाम शान्तिपूर्वक खड़ा था ।

बादशाह गद्दीसे उठे और बोले—'तुम मेरे उस्ताद हो । तुमने मुझे सिखाया कि परमात्माके सेवकको कैसा होना चाहिये ।' —सु॰ सिं॰

सच्चा साधु

एक साधुसे हजरत इब्राहीमने पूछा—'सच्चे साधुका लक्षण क्या है ?' साधुने उत्तर दिया—'मिला तो खा लिया, न मिला तो संतोष कर लिया ।' हजरत इब्राहीम हँसे—'यह तो हर कुत्ता करता है ।'

साधुने पूछा—'कृपा करके आप ही साधुका ल बता दें ।' इब्राहीमने बताया—'मिला तो बाँटकर खा और न मिला तो प्रभुकी कृपा मानकर प्रसन्न हो कि दयामयने उसे तपस्याका सुअवसर प्रदान किया

— सु० सिं०

सच्चे भक्तका अनुभव

साधु मुहम्मद सैयद सच्चे भक्त संत थे । इनके पास कोई भी संग्रहकी वस्तु नहीं रहती थी । यहाँतक कि लंगोटी भी ये नहीं पहनते—नंगे रहते थे । शाहजहाँ इन्हें बहुत मानता था । दाराशिकोह तो इनका प्रधान भक्त ही था । ये प्रायः सदा एक गीत गाया करते थे, जिसका भाव है—'मैं सच्चे संत भक्त फुरकनका शिष्य हूँ । मैं यहूदी भी हूँ, हिंदू भी और मुसल्मान भी । काबाके मस्जिदमें और हिंदुओंके मन्दिरमें लोग एक ही परमात्माकी उपासना करते हैं । एक जगह यही प्रभु काले पत्थरका रूप धारण करते हैं, जिनकी काबामें पूजा होती है और दूसरी जगह (हिंदू-मन्दिरमें) मूर्तिका रूप धारण करते हैं ।'

औरंगजेब दाराका घोर शत्रु था । वह सैयद साह भी चिढ़ता था । उसने उन्हें पकड़ मँगवाया और उ धर्मद्रोही घोषितकर मुल्लाओंके हाथमें निर्णय सौंप निर्दय धर्मान्ध मुल्लाओंने धर्मके नामपर उन्हें शूली आज्ञा दे दी, पर सैयद साहबको इससे बड़ी प्रसन्न हुई । वे शूलीका नाम सुनकर आनन्दसे उछल पड़े शूलीके काठपर चढ़ते समय वे बोल उठे—'अहा आजका दिन मेरे लिये बड़े सौभाग्यका है । जो श आत्माके साथ प्रियतम परमात्माके मिलनेमें बाधक था आज इसी शूलीकी कृपासे वह छूट जायगा ।' वे गा लगे —'मेरे दोस्त ! आज तू शूलीके रूपमें आया । किसी भी रूपमें क्यों न आवे, मैं तुझे पहचानता हूँ ।

—जा० श०

फकीरी क्यों ?

इब्राहिमसे एक दिन किसीने पूछा—'आप तो राजा थे । जगत्के समस्त वैभव आपके चरणोंमें सिर झुकाते थे । फिर आपने सबको ठोकर मारकर फकीरी क्यों ले ली ?'

महात्मा इब्राहिमने बड़ी गम्भीरतासे उत्तर दिया—'भाई ! मुझे राज्यसुख अमित सुख दे रहा था, किंतु एक दिन मैंने शीशेमें देखा कि मेरे महलके स्थानमें श्मशानका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था । उक्त श्मशानमें केवल मैं था । माता-पिता, भाई-बहिन और पत्नी पुत्र कोई भी वहाँ नहीं थे । अत्यन्त विस्तृ एवं भयानक पथ था । वहाँ एक तेजस्वी न्यायाधी थे । उनके सामने मेरे निर्दोष होनेका युक्ति दिया हुआ प्रमाण सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध हो र था । मैं विवश, असहाय और निरुपाय था । इसी कारण सब कुछ छोड़कर मैंने फकी ले ली ।' —शि० दु०

अत्यधिक कल्याणकर

एक बारकी बात है। सुफियानने महात्मा फजलके साथ सारी रात धर्मचर्चामें बितायी। दूसरे दिन चलते समय उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ कहा—'आजकी रातको मैं अत्यन्त सुखदायिनी समझता हूँ कि धर्मचर्चा चलती रही। कितना आनन्दप्रद सत्सङ्ग होता रहा।'

'ना ना, आजकी रात तो व्यर्थ ही चली गयी।' फजलने जवाब दे दिया।

'वह कैसे?'—चिन्तित मन सुफियानने पूछा।

फजलने कहा—'सारी रात तुमने वाणी-विलाससे मुझे संतुष्ट करनेमें और मैंने तुम्हारे प्रश्नोंका अच्छे-से-अच्छा उत्तर देनेमें बिता दी। इस प्रयत्नमें हमलोग भगवान्‌को तो भूल ही गये थे। एक दूसरेको प्रसन्न करनेवाले सत्सङ्गकी अपेक्षा अत्यधिक कल्याणकर तो प्रभु-स्मरण है।' —शि० दु०

जीवन-क्षण

एक बार किसीने वृद्ध संत बायजीदसे पूछा—'आपकी आयु क्या है?'

आपने उत्तर दिया—'चार वर्ष।'

वह आदमी चुप हो गया। बायजीदने समझाया—'मेरे जीवनके सत्तर वर्ष सांसारिक प्रपञ्चोंमें बीते। अब केवल चार वर्षसे उस प्रभुकी ओर देख रहा हूँ। जीवनके जितने क्षण प्रभुके समीप बीते हैं, वास्तवमें वही जीवनका काल है।' —शि० दु०

चेतावनी

एक शराबीको नशेमें चूर लड़खड़ाते पैर चलते देखकर संत हुसेनने कहा—'भैया! पैर सँभाल-सँभालकर रक्खो, नहीं तो गिर जाओगे।' शराबीने उत्तर दिया—'महोदय! मुझे समझानेवाले आप कौन होते हैं? मैं तो प्रसिद्ध शराबी हूँ। सब जानते हैं कि मैं शराब पीता हूँ और उसके नशेमें बेसुध भी हो जाया करता हूँ। मैं गिर जाऊँगा तो स्नान करके साफ हो जाऊँगा, पर कहीं आपके पैर डगमगाये तो आप कहींके नहीं रहेंगे।' यह सुनते ही हुसेन लज्जित हो गये।

—शि० दु०

शिक्षा

एक बारकी बात है। एक सुन्दर युवती घूँघट बिना ही लज्जाशून्यकी तरह संत हुसेनसे अपने पतिकी प्रेम-शून्यता और निर्ममताकी निन्दा करने लगी। संतने कहा—'पहले अपने कपड़े सँभाल लो, मुँह तो ढक लो, फिर जो कहना हो कहो।' युवतीने असंतुष्ट होकर कहा—'अरे, मैं तो भगवन्निर्मित एक नश्वर प्राणीके प्रेममें इतनी उन्मत्त हो गयी हूँ कि अपने तन-मनकी सुधि मुझे नहीं रह गयी है, मैं उसे ढूँढ़नेके लिये बाजारमें निकल आयी हूँ, पर यह कितने आश्चर्यकी बात है कि आप प्रभुप्रेमी कहलाकर भी मेरे खुले मुँहकी सुधि रख सके।'

संत हुसेन इस उत्तरसे चकित हो गये। भगवान्‌की दी हुई शिक्षा समझकर वे अत्यधिक तन्मयतासे उनके भजनमें लग गये। —शि० दु०

अस्थिर दृष्टि

एक संतके यहाँ एक दासी तीस वर्षसे रहती थी, पर उन्होंने उसका मुँह कभी नहीं देखा था। एक दिन उन्होंने दासीसे कहा—'बहिन! भीतर जाकर उस दासीको बुला तो देना।' दासीने विनम्र वाणीमें कहा—'तीस वर्षसे मैं आपके समीप रह रही हूँ, तब भी आप मुझे न पहचानते। वह दासी तो मैं ही हूँ।' संतने उत्तर दि 'तीस वर्षसे भगवान्‌के अतिरिक्त मैंने स्थिरदृष्टिसे कि देखा ही नहीं, इसी कारण तुम्हें भी नहीं पहचानत

—शि० दु

निष्कपट स्वीकृति

संत हुसेनके साथी तपस्वी मलिक दिनार थे। वे अत्यन्त सरल एवं पवित्र हृदयके महात्मा थे। एक दिन एक स्त्रीने उनको 'कपटी' कहकर पुकारा। अत्यन्त आदरसे विनयपूर्वक तुरंत उन्होंने कहा—'बहिन! दिनोंमें मेरा सच्चा नाम लेकर पुकारनेवाली केवल तुम मिल सकी हो। तुमने मुझे ठीक पहचाना।'—शि० दु

सुरक्षार्थ

एक सौदागर था नेशापुरमें। उसके यहाँ एक दासी थी अत्यन्त सुन्दरी। उसका एक ऋणी गाँव छोड़कर चला गया। सौदागरको तकाजोंके लिये जाना था; किंतु लावण्यमयी युवती दासीको कहाँ रक्खे, यह प्रश्न था। गाँवमें उसकी दृष्टिमें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिसके यहाँ वह उसे रख जाता। अन्तमें उसे संत अबु उस्मान खैरीका स्मरण आया। वह उनके पास गया और दासीको अपने पास रख लेनेकी प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने अस्वीकार किया, किंतु बहुत प्रार्थना करनेपर मान गये। दासी उस्मानके यहाँ आकर रहने लगी। दैवयोगसे एक दिन उस्मानकी दृष्टि दासीपर पड़ी। उसका सौन्दर्य देखकर वे मुग्ध हो गये। उनका चित्त अस्थिर रहने लगा। प्रयत्न करनेपर भी उनका मन स्थिर नहीं होता, वे अशान्त रहने लगे। रह-रहकर उनका मन उस सौन्दर्यमयी पुत्तलिकाकी स्मृतिमें लग जाता। विवशतः वे धर्माचार्य अबु हाफिजके पास पहुँचे और अपनी सम्पूर्ण व्यथा-कथा उन्हें सुनायी। हाफिजने कहा—आप संत यूसुफके पास जायँ। तलाश करते हुए वे यूसुफके नगरमें पहुँचे। उन्हें देखकर लोगोंने कहा—'आप फकीर हैं, आपका चरित्र निर्मल है। आश्चर्य! आप सर्वथा चरित्रहीन और विधर्मी यूसुफके पास ज चाहते हैं। उसके पास जानेसे अपयशके अति और कुछ हाथ नहीं आ सकेगा।'

निराश होकर अबु उस्मान पुनः नेशापुर आये। अबु हाफिजने सारा समाचार सुनकर उ समझा-बुझाकर उन्हें महात्मा यूसुफके पास भेज अबकी बार उन्होंने यूसुफकी और अधिक निन्दा सुनी पर अबकी बार उन्होंने संतसे मिलनेका निश्चय क लिया था।

पूछते हुए वे यूसुफकी झोपड़ीके समीप पहुँचे उन्होंने देखा झोपड़ीके द्वारपर एक तेजस्वी पुरुष बैठा है और उसके पास बोतल और प पड़ा है। उस्मानने उन्हें सलाम किया और उ चरणोंमें बैठ गये। यूसुफने उन्हें बहुत अच्छे उप दिये। भगवान्‌की भक्ति, उनका प्रेम तथा जीवन उपयोग आदि अत्यन्त मूल्यवान् बातें बतलायीं। जि उस्मान बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने विनयपूर्व निवेदन किया—'आपकी विद्या-बुद्धि, ज्ञान-वैराग्य,

तेज आदि सभी अद्भुत हैं; किंतु आप अपने पास बोतल और प्याला लिये लोगोंपर बुरा प्रभाव क्यों डालते हैं ? इससे आपकी बड़ी निन्दा होती है।'

यूसुफने कहा—'मेरे पास पानीके लिये कोई बर्तन नहीं है। इसलिये बोतल साफ करके इसमें पानी भर लिया है। पानी पीनेके लिये यह प्याला रख लिया है।'

उस्मानने विनयपूर्वक निवेदन किया—'पर बदनामी तो इसीसे होती है। लोग व्यर्थ ही भाँति-भाँतिके आक्षेप करते हैं। आप इसे फेंक क्यों नहीं देते ?'

यूसुफने उत्तर दिया—'इसीलिये तो मैंने यह बोतल और प्याला रख छोड़ा है। चरित्रहीन एवं निन्दित प्रसिद्ध होनेके कारण ही तो मेरे पास कोई नहीं आता। मैं निश्चिन्त होकर भगवद्भजनमें लगा रहता हूँ। यदि मेरी ख्याति हो जाय तो मेरे पास भी कोई सौदागर अपनी सुन्दरी दासी नहीं रख दे। कितने लाभमें हूँ मैं, सोच लो।'

उस्मान समझ गये। वे महात्मा यूसुफके चरणोंपर गिर पड़े और बड़ी देरतक रोते रहे।—शि० दु०

विवशता

बात है तेरह सौ वर्षसे भी अधिककी। रत्नोंका व्यापार करनेवाला एक जौहरी था। व्यवसायकी दृष्टिसे वह प्रख्यात रोम नगरमें गया और वहाँके मन्त्रीसे मिला। मन्त्रीने उसका स्वागत किया। मन्त्रीके अनुरोधसे जौहरी घोड़ेपर सवार होकर भ्रमणार्थ नगरके बाहर गया। कुछ दूर जानेपर सघन वन मिला। वहाँ उसने देखा मणि-मुक्ताओं एवं मूल्यवान् रत्नोंसे सजा हुआ एक मण्डप है और मण्डपके आगे सुसज्जित सैनिकदल चारों ओर घूमकर प्रदक्षिणा कर रहा है। प्रदक्षिणाके बाद सैनिकदलने रोमन भाषामें कुछ कहा और वह एक ओर चला गया। इसके अनन्तर उज्ज्वल परिधान पहने वृद्धोंका समूह आया। उसने भी वैसा ही किया। इसके बाद चार सौ पण्डित आये। उन्होंने भी मण्डपकी प्रदक्षिणा की और कुछ बोलकर चले गये। इसके अनन्तर दो सौ रूपवती युवतियाँ मणि-मुक्ताओंसे भरे थाल लिये आयीं और वे भी प्रदक्षिणाकर कुछ बोलकर चली गयीं। इसके बाद मुख्य मन्त्रीके साथ सम्राट्ने प्रवेश किया और वे भी उसी प्रकार वापस चले गये।

जौहरी चकित था। वह कुछ भी नहीं समझ पा रहा था कि यह क्या हो रहा है। उसने अपने मित्र मन्त्रीसे पूछा। मन्त्रीने बताया—सम्राट्के धन-वैभवकी सीमा नहीं। किंतु उनके एक ही पुत्र था। भरी जवानीमें चल बसा। यहाँ उसकी कब्र है। प्रतिवर्ष सम्राट् अपने सैनिकों तथा पारिवारिक व्यक्तियोंके साथ बालकके मृत्यु-दिवसपर आते हैं और जो कुछ करते हैं, वह तुमने देखा ही है। सैनिकोंने कहा था—'हे राजकुमार! भूतलपर कोई भी अमित शक्ति होती तो उसका ध्वंसकर हम तुम्हें निश्चय ही अपने पास ले आते, पर मृत्युपर अपना कोई भी वश नहीं। हम सर्वथा विवश थे, इसी कारण तुम्हारी रक्षा नहीं कर सके।'

वृद्धसमुदायने कहा था—'वत्स! यदि हमारी आशीष्में इतनी शक्ति होती तो इस प्रकार धरतीमें तुम्हें सोते हम नहीं देख सकते, पर कराल कालके सम्मुख हमारी आशीष्की एक नहीं चल पाती।'

पण्डितोंने दुखी मनसे कहा—'राजकुमार! ज्ञान-विज्ञान अथवा पाण्डित्यसे तुम्हारा जीवन सुरक्षित रह पाता तो हम तुम्हें जाने नहीं देते, पर मृत्युपर हमारा कोई वश नहीं।'

सौन्दर्य-पुत्तलिकाओंने दुखी होकर कहा था—'अन्नदाता ! धन-सम्पत्ति अथवा रूप-लावण्य-यौवनसे हम तुम्हारी रक्षा कर सकतीं तो अपनी बलि दे देतीं, पर जीवन-मरणकी नियामिका शक्तिमें अपना कोई वश नहीं। वहाँ धन-सम्पत्ति, रूप-लावण्य-यौवनका कोई मूल्य नहीं।'

अन्तमें सम्राट्ने कहा था—'प्राणप्रिय पुत्र ! अमित बल-सम्पन्न सैनिक, तपोनिधि वयोवृद्ध-समुदाय, ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न विद्वत्-समुदाय और रूप-लावण्य-यौवन-सम्पन्न कोमलाङ्गियाँ—जगत्की सभी वस्तु तो मैं यहाँ ले आया, किंतु जो कुछ हो गया है, उसे मिटानेकी सामर्थ्य तेरे इस पितामें ही नहीं, विश्वकी सम्पूर्ण शक्ति भी नहीं है। वह शक्ति अद्भुत है।'

मन्त्रीकी इन बातोंको सुनकर जौहरीका हृदय अशान्त हो गया। संसार उन्हें जैसे काटने दौड़ रहा था। व्यवसाय आदिका सारा काम छोड़कर वे बसरा भागे और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि 'जबतक मेरे काम-क्रोधादि विकार सर्वथा नहीं मिट जायँगे, तबतक मैं जगत्के किसी कार्यमें सम्मिलित नहीं होऊँगा। न कभी हँसूँगा और न मौज-शौक कर सकूँगा।' उसी समयसे वे प्रभु-स्मरणमें लग गये। —शि० दु०

संत-स्वभाव

एक संत कपड़े सीकर अपना निर्वाह करते थे। एक ऐसा व्यक्ति उस नगरमें था जो बहुत कपड़े सिलवाता था और उनसे ही सिलवाता था; किंतु सदा सिलाईके रूपमें खोटे सिक्के ही देता था। संत चुपचाप उसके सिक्के ले लेते थे। एक बार वे संत कहीं बाहर गये थे। उनकी दूकानपर उनका सेवक था। वह व्यक्ति सिलाई देने आया। सेवकने सिक्का देखा और लौटा दिया—'यह खोटा है महोदय ! दूसरा दीजिये।'

संत लौटे तो सेवकने कहा—'अमुक व्यक्ति खोटे सिक्के देकर मुझे ठगने आया था।'

संत बोले—'तुमने सिक्का ले क्यों नहीं लिया। वह तो सदा मुझे खोटे सिक्के ही देता है और उन्हें लेकर मैं भूमिमें गाड़ देता हूँ। मैं नहीं लूँ तो कोई दूसरा व्यक्ति ठगा जायगा।' —सु०सिं०

सहनशीलता

'सहनशीलता किसे कहते हैं ?' किसीने हुसेन मंसूरसे प्रश्न किया।

उन्होंने उत्तर दिया—'हाथ-पैर काटकर शरीरको शूलीपर लटका दिया जाय, फिर भी जिसके मुँहसे उफ् तक नहीं निकले, उसे सहनशील समझना चाहिये।'

इतिहास साक्षी है, जीवनके अन्तिम कालमें इन्होंने इसी प्रकारकी सहनशीलताका परिचय दिया था। मंसूरकी शूली प्रसिद्ध है। —शि० दु०

सुहृद्

एक दिन संत इब्राहिमने रास्तेमें एक मूर्च्छित शराबीको देखा। उसका शरीर धूलमें सन गया था, मुँहमें धूल लिपटी हुई थी और उसपर मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं। उन्होंने बड़े प्यारसे उसे गोदमें उठाकर पानीसे उसका मुँह धोया और बोले—'भाई ! जिस मुँहसे भगवान्का पवित्र नाम लेना चाहिये, उसे तू इतना गंदा रखता है ?' होश आनेपर जब उस व्यक्तिको यह समाचार विदित हुआ, तब उसके मनमें बहुत पश्चात्ताप हुआ और उसने सदाके लिये शराब छोड़ दी। दो-एक दिन बाद संतने ईश्वरीय वाणी सुनी—'अरे

इब्राहिम ! तूने केवल एक दिन मूर्च्छित शराबीका मुँह धोया है और मैं तो प्रतिदिन, प्रतिक्षण तेरा मलिन अन्तःकरण धोया करता हूँ ?' इब्राहिम चिल्ला उठे–'प्रभो ! तुमसे बढ़कर सुहृद् और कौन है ?'—शि० दु०

मनुष्यका मांस

एक बारकी बात है । एक आदमी मस्जिदमें जाकर भीख माँग रहा था । उसे देखकर जुन्नेदने कहा—'तुम नीरोग और बलवान् हो, परिश्रम करने योग्य हो, फिर भीख किसलिये माँग रहे हो ?' उसी रातको उन्होंने स्वप्न देखा कि कपड़ेसे ढके हुए बर्तनसे आवाज आ रही है—'ले खा, ले खा ।' चकित होकर जुन्नेदने कपड़ा उठाया तो उसमें भिखारीका शव दिखायी दिया । घबराकर उन्होंने कहा—'मैं आदमीका मांस कैसे खाऊँ ?'

उस पात्रसे पुनः आवाज आयी—'आदमीका मांस तो तूने आज सबेरे मस्जिदमें खा ही लिया था ।'

जुन्नेद सच्चे उपासक थे । उन्हें समझते देर नहीं लगी कि आज मस्जिदमें भिक्षुकका अपमान करनेका यह परिणाम है । उन्हें मन-ही-मन पश्चात्ताप होने लगा । वे दो दिनतक भगवान्की उपासनामें लगे रहे । इसके बाद उस भिक्षुकको ढूँढ़नेके लिये निकले । उन्होंने देखा, वह भिक्षुक नदी-किनारे हरी-हरी घासोंको धोकर खा रहा है । जुन्नेदको देखते ही भिक्षुक बोल उठा—'मस्जिदमें तूने मुझे पीड़ित किया था, उसका प्रायश्चित्त कर लिया ?'

'हाँ,' जुन्नेदने कहा, 'मुझसे बड़ी भूल हुई थी । मैंने प्रायश्चित्त कर लिया है ।'

भिक्षुकने सजग करते हुए कहा—'तो ठीक है, अब लौट जा । मेरा प्रायश्चित्त तो वह ईश्वर स्वीकार करता है । सावधान रहना, कहीं फिर प्रायश्चित्त न करना पड़े ।' —शि० दु०

संतका व्यवहार

उमा संत कइ इहइ बड़ाई ।
मंद करत जो करइ भलाई ॥

—तुलसीदास

नीरव निशीथ । संत बायजीद कब्रिस्तान जा रहे थे । रास्तेमें उन्होंने देखा, एक स्वस्थ तरुण तँबूरा बजाकर विषय-सुख ले रहा था । प्रभो ! तू ही महान् और अमर है । उसके समीपसे यह कहते हुए वे निकल गये ।

बाधा पड़ी युवकके विलासमें । उसने तँबूरा बायजीदके सिरपर दे मारा । बायजीदका सिर तो फूटा ही, उसका तँबूरा भी टूट गया । पर संत नम्रभावसे आगे चले गये ।

दूसरे दिन उन्होंने अपने एक शिष्यको उस युवकके पास भेजा । उसके साथ कुछ रुपये और एक थाल मिठाइयाँ थीं । संतके आदेशानुसार शिष्यने युवकसे कहा—'बायजीदने अत्यन्त विनयपूर्वक निवेदन किया है कि आपका तँबूरा गत रात्रिमें टूट गया था, कृपया उसका मूल्य स्वीकार कर लीजिये और यह मिठाई खा लीजिये, जिससे आपका क्रोध शान्त हो जाय ।'

संतका यह व्यवहार देखकर विपथगामी युवकका हृदय द्रवित हो गया । दौड़ता हुआ आकर वह संत-चरणोंमें गिर पड़ा और रो-रोकर क्षमा-याचना करने लगा । उसका जीवन परिवर्तित हो गया । —शि०दु०

क्रोधहीनताका प्रमाण

एक बार एक पुण्यात्मा गृहस्थके घर एक अतिथि आये। उसके शरीरपर सारे कपड़े काले थे। गृहस्थने तनिक खिन्नतासे कहा—तुमने काले कपड़े क्यों पहन रक्खे हैं?

मेरे काम, क्रोधादि मित्रोंकी मृत्यु हो गयी है। उन्हींके शोकमें ये काले वस्त्र धारण कर लिये हैं। अतिथिने उत्तर दिया।

गृहस्थने उक्त अतिथिको घरसे बाहर निकाल देनेका आदेश दिया। नौकरने तत्काल आज्ञा-पालन की।

थोड़ी देर बाद उन्होंने उस अतिथिको वापस बुलाया और पास आते ही फिर निकाल देनेकी आज्ञा दी। इस प्रकार गृहस्थने उक्त अतिथिको सत्तर बार बुलाया और प्रत्येक बार उसे अपमानित करके नौकरसे बाहर निकलवा दिया। किंतु अतिथिकी आकृतिपर तनिक भी क्रोध या विषादके भाव परिलक्षित नहीं हुए।

अन्तमें गृहस्थने आगे बढ़कर अतिथिका माथा सूँघा और बड़े ही विनयसे कहा—सचमुच आप काले (काले वस्त्र) पहननेके अधिकारी हैं, क्योंकि सत्तर बार अपमानके साथ घरसे बाहर निकाल देनेपर भी आपके मनोभावमें परिवर्तन नहीं हुआ। आप सच्चे विनयी तथा क्षमाशील भक्त हैं, मैंने आपको क्रोध दिलानेके प्रयत्न करनेमें कोई कसर नहीं रक्खी, पर आखिर मैं ही हारा।

अतिथि बोले—बस करो, बस करो; अधिक प्रशंसा मत करो। मुझसे अधिक स्वभावसे ही क्षमाशील और धर्मात्मा तो बेचारे कुत्ते होते हैं जो हजारों बार बुलाने और दुत्कारते रहनेपर भी बराबर आते-जाते रहते हैं। यह तो कुत्तोंका धर्म है। इसमें प्रशंसाकी कौन-सी बात है।

यों कहकर अतिथि अपने प्रशंसकोंका मुँह पकड़ लिया। —शि० दु०

साधुता

संत जाफर सादिकका नाम प्रसिद्ध है। एक बार एक आदमीके रुपयोंकी थैली चोरी चली गयी। भ्रमवश उसने इन्हें पकड़ लिया।

आपने पूछा—'थैलीमें कुल कितने रुपये थे?'

'एक हजार' उसने बताया।

आपने अपनी ओरसे एक हजार रुपये उसे दे दिये। कुछ समय बाद असली चोर पकड़ा गया, रुपयेका स्वामी घबराया और एक हजार रुपये ले जाकर उनके चरणोंपर रखकर भ्रमके लिये उसने क्षमा-याचना की।

आपने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया—'दी हुई वस्तु मैं वापस नहीं लेता।'

आपके साधुतापूर्ण उज्ज्वल व्यक्तित्वपर वह मुग्ध हो गया और अपने पूर्वकृत्यपर पश्चात्ताप करने लगा। —शि० दु०

सहिष्णुता

अबु उस्मान हयरी नामक एक संत हो गये हैं। एक दिनकी बात है। रास्तेमें एक आदमीने कोयलेकी टोकरी इनके ऊपर उँड़ेल दी। आपके परिचित सज्जन क्रोधित हो उसे डाँटने लगे। आपने उन लोगोंको रोकते हुए कहा—'बन्धुओ! यह तो धन्यवादका पात्र है। मेरे-जैसे प्राणीपर तो प्रज्वलित अङ्गारोंकी वृष्टि होनी

चाहिये, यह बेचारा तो ठंडा कोयला ही फेंक रहा है । इसने तो मुझपर उपकार ही किया है ।' कोयला फेंकनेवाला लज्जित होकर मन-ही-मन पश्चात्तापकी ज्वालामें जलने लगा ।—शि० दु०

संतका सद्व्यवहार

हजरत अलीका एक सेवक उनसे झगड़कर भाग गया था । एक दिन जब कुफा शहरमें अली सबेरेकी नमाज पढ़ रहे थे, वह छिपकर मस्जिदमें घुस आया । सभी लोग नमाज पढ़नेमें तल्लीन थे । अवसर पाकर उस नौकरने तलवारका एक भरपूर प्रहार अलीपर किया और भाग खड़ा हुआ ।

लोगोंने शीघ्रतापूर्वक नमाज पूरी की । हजरत अलीको भारी चोट लगी थी । कुछ लोग उनकी सेवामें लग गये और कुछ उस हत्यारेको पकड़ने दौड़े । घावमें-से अधिक रक्त निकल जानेके कारण अलीको प्यास लगी । उनके लिये लोगोंने शरबत बनवाया । इतनी देरमें दूसरे लोग दौड़कर उस अपराधीको पकड़ चुके थे । वे उसे अली साहबके सामने ले आये ।

हजरत अलीने कहा—'यह शरबत पहिले मेरे मारनेवालेको दो । वह दौड़ते-दौड़ते थक गया है, हाँफ रहा है और पसीनेसे लथपथ है । अवश्य वह प्यासा होगा ।'

लोगोंने उसे शरबत पिलाया और अलीने उसे क्षमा कर दिया ।—सु० सिं०

क्रोध असुर है

एक संत एक बार अपने एक अनुयायीके समीप बैठे थे । अचानक एक दुष्ट मनुष्य वहाँ आया और वह उस व्यक्तिको दुर्वचन कहने लगा, जिसके समीप वे संत साहब बैठे थे । उस सत्पुरुषने कुछ देर तो उसके कठोर वचन सहे; किंतु अन्तमें उसे भी क्रोध आ गया और वह भी उत्तर देने लगा । यह देखकर संत उठ खड़े हुए ।

वह व्यक्ति बोला—'जबतक यह दुष्ट मुझे गालियाँ दे रहा था, तबतक तो आप बैठे रहे और जब मैं उत्तर दे रहा हूँ तो आप उठकर क्यों जा रहे हैं ?'

संत बोले—'जबतक तुम मौन थे, तबतक तो देवता तुम्हारी ओरसे उत्तर देते थे; किंतु जब तुम बोलने लगे तो तुम्हारे भीतर देवताओंके बदले क्रोध आ बैठा । क्रोध तो असुर है और असुरोंका साथ छोड़ ही देना चाहिये, इसलिये मैं जा रहा हूँ ।'

क्या यह तुझे शोभा देगा ?

प्रसिद्ध बादशाह हारून-अल-रशीदके एक लड़केने एक दिन आकर अपने पितासे कहा कि 'अमुक सेनापतिके लड़केने मुझको माँकी गाली दी है ।' हारूनने अपने मन्त्रियोंसे पूछा कि 'इस मामलेमें क्या करना उचित है ?' किसीने कहा 'उसे तुरंत मार डालना चाहिये ।' किसीने कहा 'उस बदमाशकी जीभ निकलवा लेनी चाहिये ।' किसीने कहा 'उसे दण्ड देकर देशनिकाला दे देना चाहिये ।' इसपर हारूनने अपने पुत्रसे कहा—'बेटा ! तू यदि अपराधीको क्षमा कर सके तब तो सबसे अच्छी बात है । क्रोधका कारण उपस्थित रहनेपर भी

जो पुरुष शान्त रहकर बातचीत कर सकता है, वही सच्चा वीर है। परंतु यदि तुझमें ऐसी शक्ति न हो तो तू भी उसे वही गाली दे सकता है; परंतु यह क्या तुझे शोभा देगा ?'

दायें हाथका दिया बायाँ हाथ भी न जान पाये

स्वर्गके देवदूतोंने भगवान्‌से एक दिन प्रश्न किया—'प्रभो ! क्या संसारमें ऐसी भी कोई वस्तु है जो चट्टानोंसे अधिक कठोर हो ?'

भगवान्‌ने उत्तर दिया कि 'हाँ, लोहा चट्टानोंसे अधिक कठोर है, क्योंकि यह उन्हें तोड़ डालता है।'

'और क्या ऐसी भी कोई वस्तु है जो लोहेसे भी कठोर और मजबूत हो ?' देवदूतोंने पुनः पूछा।

'हाँ, अग्नि ! क्योंकि यह उसे पिघला देता है।' भगवान्‌ने उत्तर दिया।

'और अग्निसे कठोर क्या है ?' देवदूतोंका पुनः प्रश्न हुआ।

'पानी, जो अग्निको बुझा डालता है।' उत्तर रहा प्रभुका।

'और पानीको भी मात करनेवाली चीज क्या है ?' देवदूतोंका प्रश्न बढ़ता ही गया।

'हवा जो जलके प्रवाहको तरङ्गके रूपमें परिणत कर डालता है, उसके उत्पत्तिस्थान मेघोंको भी जब चाहे एकत्र या तितर-बितर कर सकता है।'

'और क्या प्रभो ! अब भी कोई चीज ऐसी है जो इनकी अपेक्षा भी अधिक बलवान् हो।'

'हाँ, हाँ, वह दयालु हृदय, जो इतनी गुप्त रीतिसे दान देता है, इतना छिपाकर देता है कि जिसका बायाँ हाथ भी नहीं जान पाता कि दाहिना हाथ क्या कर रहा है ?' (फिर दूसरे तो जान ही क्या पायेंगे?—) (Yes, the kind heart that gives alms is secret, not letting the left hand know what the right hand is doing.) वह इस वायुकी अपेक्षा भी बलवत्तर है। सबसे बलवान् है, सबसे महान् है।—जा० श०

अच्छा पैसा ही अच्छे काममें लगता है

एक ईश्वरविश्वासी, त्यागी महात्मा थे; वे किसीसे भीख नहीं माँगते, टोपी सीकर अपना गुजारा करते। एक टोपीकी कीमत सिर्फ दो पैसे लेते। इनमेंसे जो याचक पहले मिलता, उसे एक पैसा दे देते। बचे हुए एक पैसेसे पेट भरते। इस प्रकार जबतक दोनों पैसे बरत नहीं जाते, तबतक नयी टोपी नहीं सीते। भजन ही करते रहते।

इनके एक धनी शिष्य था, उसके पास धर्मादेकी निकाली हुई कुछ रकम थी। उसने एक दिन पूछा, 'भगवन् ! मैं किसको दान करूँ ?' महात्माने कहा, 'जिसे सुपात्र समझो, उसीको दान करो।' शिष्यने रास्तेमें एक गरीब अंधेको देखा और उसे सुपात्र समझकर एक सोनेकी मोहर दे दी। दूसरे दिन उसी रास्तेसे शिष्य फिर निकला। पहले दिनवाला अंधा एक दूसरे अंधेसे कह रहा था कि 'कल एक आदमीने मुझको एक सोनेकी मोहर दी थी, मैंने उससे खूब शराब पी और रातको अमुक वेश्याके यहाँ जाकर आनन्द लूटा।'

शिष्यको यह सुनकर बड़ा खेद हुआ। उसने महात्माके पास आकर सारा हाल कहा। महात्मा उसके हाथमें एक पैसा देकर बोले—'जा, जो सबसे पहले मिले उसीको पैसा दे देना।' यह पैसा टोपी सीकर कमाया हुआ था।

शिष्य पैसा लेकर निकला, उसे एक मनुष्य मिला; उसने उसको पैसा दे दिया और उसके पीछे-पीछे चलना शुरू किया। वह मनुष्य एक निर्जन स्थानमें गया और उसने अपने कपड़ोंमें छिपाये हुए एक मरे पक्षीको निकालकर फेंक दिया। शिष्यने उससे पूछा कि 'तुमने मरे पक्षीको कपड़ोंमें क्यों छिपाया था और अब क्यों निकालकर फेंक दिया?' उसने कहा—'आज सात दिनसे मेरे कुटुम्बको दाना-पानी नहीं मिला। भीख माँगना मुझे पसंद नहीं, आज इस जगह मरे पक्षीको पड़ा देख मैंने लाचार होकर अपनी और परिवारकी भूख मिटानेके लिये उठा लिया था और इसे लेकर मैं घर जा रहा था। आपने मुझे बिना ही माँगे पैसा दे दिया, इसलिये अब मुझे इस मरे पक्षीकी जरूरत नहीं रही। अतएव जहाँसे उठाया था, वहीं लाकर डाल दिया।'

शिष्यको उसकी बात सुनकर बड़ा अचरज हुआ। उसने महात्माके पास जाकर सब वृत्तान्त कहा। महात्मा बोले—'यह स्पष्ट है कि तुमने दुराचारियोंके साथ मिलकर अन्यायपूर्वक धन कमाया होगा; इसीसे उस धनका दान दुराचारी अंधेको दिया गया और उसने उससे सुरापान और वेश्या-गमन किया। मेरे न्यायपूर्वक कमाये हुए एक पैसेने एक कुटुम्बको निषिद्ध आहारसे बचा लिया। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। अच्छा पैसा ही अच्छे काममें लगता है।'

धनके दुरुपयोगका परिणाम

बहुत दिनोंकी बात है। बगदादमें हसन नामका एक व्यक्ति रहता था। वह खलीफाके यहाँ नौकर था। उसने नौकरीसे बहुत धन कमाया और सोने-चाँदीकी प्यास बढ़ती देखकर वह बड़ी दीनता और सादगीसे जीवन बिताने लगा। धीरे-धीरे उसकी लालच बढ़ने लगी। उसने अपनी सारी कमाई जमीनमें गाड़ दी।

'फातिमा! तुम बाजारमें लोगोंसे कह दो कि खलीफाने मुझे कारागारमें डाल दिया है। यह सुनकर लोग तुम्हारे प्रति सहानुभूति प्रकट करेंगे और भोजन तथा जीवन-निर्वाहके लिये रुपये-पैसे देंगे। रही मेरी बात सो मैं रातमें घर आया करूँगा।' हसनने अपनी पत्नीको समझाया। इस प्रकार धन कमानेका एक और उपाय उसे सूझ पड़ा। लोभ तो सदा बढ़ता ही जाता है। हसनको इस उपायसे भी संतोष न हुआ। उसने अपने सम्बन्धियोंको भी धोखा देना आरम्भ किया। ज्यों-ज्यों धन बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसकी कृपणताके पंख निकलने लगे और बात यहाँतक आ पहुँची कि खलीफाके महलसे वह नित्यप्रति एक-एक रत्न लाने लगा।

'इन रत्नोंको स्वर्ण-मुद्राओंसे बदलकर हमलोग बगदादसे दूर भाग चलेंगे। सुखपूर्वक जीवन बितायेंगे।' हसनने फातिमासे कहा।

× × ×

'बाजारमें तुम्हारी पत्नीने राजमहलसे चोरी गया एक रत्न बेचना चाहा। यह बात साफ है कि तुम चोर हो। तुम्हारे पास खाने-पीनेके लिये काफी धन था, पर तुमने उसका दुरुपयोग तो किया ही, साथ-ही-साथ बाजारवालों, सम्बन्धियों और मुझको धोखा दिया। इतने बड़े अपराधका दण्ड यह है कि बाजारवालोंको तुम धन दो, सम्बन्धियोंको ठगनेके अपराधमें तुम्हें सिरसे पैरतक पीटा जाय और राजमहलमें चोरी करनेके लिये तुम दोनोंको शूलीपर चढ़ा दिया जाय।' खलीफाने न्यायालयका निर्णय सुनाया। पर दोनोंके बहुत चिल्लाने-घिघियानेपर उन्होंने आदेश दिया कि बेईमानी और धोखेसे कमाये धनको अपने गलेमें बाँधकर घर जाओ। सारे बाजारमें

उनकी ओरसे घोषणा कर दी गयी कि 'कोई व्यक्ति हसन और उसकी पत्नीको सोनेके सिक्कोंके बदले खाने-पीने और पहनने-ओढ़नेका कोई सामान न दे।'

घर आनेपर हसनदम्पति बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने सिक्कोंको गिनना आरम्भ किया। दो-एक दिनके बाद वे भूखों मरने लगे। उनकी समझमें धनके दुरुपयोगका परिणाम आ गया। खलीफाके न्यायालयमें उपस्थित होकर दोनोंने सारी सम्पत्ति रख दी। खलीफाने बाजारवालों तथा सम्बन्धियोंमें उसका समवितरण कर दिया।

हसन-दम्पति अपनी कमाईपर निर्भर होकर सरलता, निष्कपटता और सचाईसे जीवन बिताने लगे। उन्हें इस बातका ज्ञान हो गया कि धन एकत्र करनेमें नहीं, उसके सदुपयोगमें महान् लाभ है। —रा० श्री०

दरिद्र कौन है ?

एक बारकी बात है। एक संतके पास एक धनवान्‌ने रुपयोंकी थैली खोलकर उसे स्वीकार करनेकी प्रार्थना की। संतने उत्तर दिया—

'अत्यन्त निर्धन और दरिद्रका धन मैं स्वीकार नहीं करता।'

'पर मैं तो धनवान् हूँ। लाखों रुपये मेरे पास हैं।' मुदितमन धनवान्‌ने उत्तर दिया।

'धनकी और कामना तुम्हें है या नहीं?' संतने प्रश्न किया।

'अवश्य है।' धनवान्‌ने संतके सम्मुख मिथ्या-भाषण नहीं किया।

'जिन्हें धनकी कामना है, उन्हें रात-दिन धन-संचयकी चिन्ता रहती है। धनके लिये नाना प्रकारके अपकर्म करने पड़ते हैं। उनके-जैसा कोई दरिद्र नहीं।'

धनवान् धनसहित वापस लौट गया। —शि० दु०

स्वावलम्बीका बल

प्राचीन अरबनिवासियोंमें हातिम-ताईका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। वह अपनी अमित दातृत्व-शक्ति किंवा सतत दानशीलताके लिये बड़ा विख्यात था।

एक दिन उसके मित्रोंने उससे पूछा, 'हातिम! क्या तुम किसी ऐसे व्यक्तिको भी जानते हो जो तुम्हारी अपेक्षा भी अतिशय श्रेष्ठ रहा हो?'

'हाँ' हातिमने उत्तर दिया।

'वह कौन था?' मित्रोंने पूछा।

हातिमने कहा—'एक दिन मैंने बहुत बड़ा भोज दिया था और उसमें हजारों आदमियोंको निमन्त्रित किया। उसी दिन कुछ समय बाद कुछ अरब मुरकोंके साथ मैं वहाँकी मरुस्थलीमें वनस्थलीकी ओर घूमने निकल गया। वहाँ मैंने एक लकड़हारेको देखा जिसने एक बोझा काँट काट रक्खा था। मैंने उससे पूछा—'भाई! तुम हातिमके भोजमें आज क्यों नहीं सम्मिलित होने चले गये, जो यहाँ इतना श्रम कर रहे हो?' उसने उत्तर दिया 'जो अपने जीविकोपार्जनमें स्वयं समर्थ हैं, उन्हें हातिमकी दानशीलता या भोजकी कोई अपेक्षा नहीं है।' हातिमने बतलाया, 'मित्रो! मैं उस लकड़हारेको अपनी अपेक्षा सर्वथा श्रेष्ठ मानता हूँ; क्योंकि मेरी दृष्टिमें उन दानियोंकी अपेक्षा जो दूसरोंका धन लेकर दान देते हैं या उन व्यक्तियोंकी अपेक्षा जो दूसरोंके भोजके लिये सदा मुँह ताकते रहते हैं, स्वयं परिश्रम कर उससे अपना पोषण करनेवाला व्यक्ति अतिशय श्रेष्ठ है।'

हातिमके मित्र इसे सुनकर लज्जित हो गये। —जा० श०
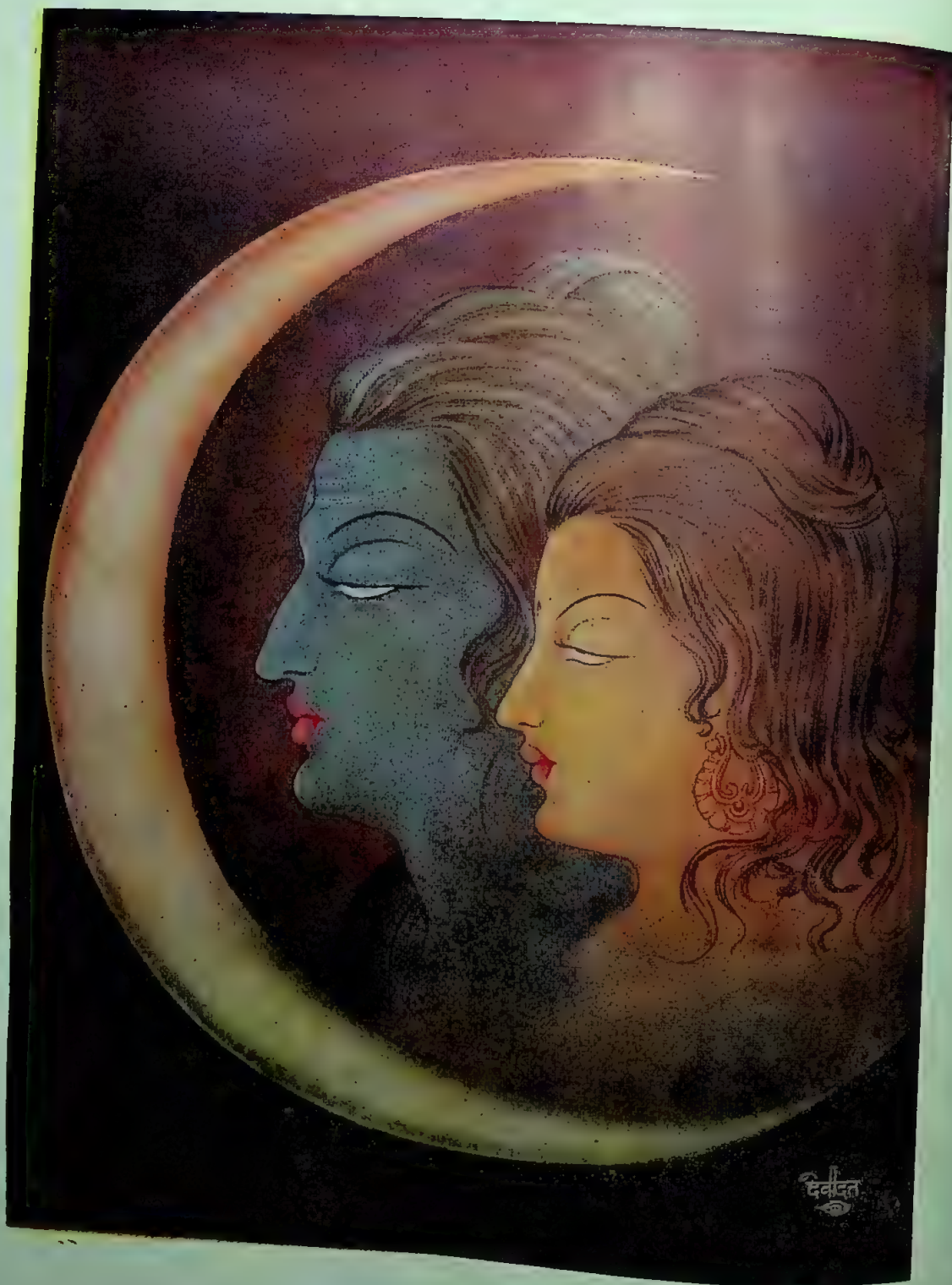
नित्य अभिन्न—उमा-महेश्वर

नित्य अभिन्न

(उमा-महेश्वर)

सदा शिवानां परिभूषणायै सदा शिवानां परिभूषणाय।
शिवान्वितायै च शिवान्विताय नमः शिवायै च नमः शिवाय॥

यह भी एक कथा ही है; किंतु ऐसी कथा नहीं, जो हुई और समाप्त हो गयी। घटना नहीं—सत्य है यह और सत्य शाश्वत होता है।

सृष्टि थी नहीं। प्रलय था—ऐसा भी नहीं कह सकते। प्रलय तो सृष्टिकी अपेक्षासे होता है। एक अनिर्वचनीय स्थिति थी। एक सच्चिदानन्दघन सत्ता और वह सत्ता सत्‌के साथ चित् है तथा आनन्दरूप भी है तो यह स्वतःसिद्ध है कि शक्ति-शक्तिमान् समन्वित हैं। शक्ति-शक्तिमान् जहाँ नित्य अभिन्न हैं। जहाँ आनन्द अनुभूति-स्वरूप है।

हमारी यह सृष्टि व्यक्त हुई। सृष्टिका संकल्प और संचालन एक अनिर्वचनीय शक्तिने प्रारम्भ किया। वही शक्ति-शक्तिमान्, वही नित्य अभिन्न सच्चिदानन्दघन। परंतु जगत्‌के जीव कहते हैं—'वे हमारे पिता-माता हैं।' इस स्वीकृतिमें जीवोंकी सार्थकता है।

सृष्टि चल रही है। सृष्टिका साक्षित्व और पालन दोनों चल रहा है। चल रहा है उसी नित्य अभिन्न परम तत्त्व एवं पराशक्तिके द्वारा। हम जगत्‌के प्राणी कहते हैं—'वे हमारे त्राता हैं, आश्रय हैं।' इस स्वीकृतिमें हमारा मङ्गल है।

समय आता है—ब्रह्माण्डका यह खिलौना किसी अचिन्त्यके उद्दाम नृत्यमें चूर-चूर हो उठता है। किसीकी नेत्रज्वाला इस पिण्डको भस्मराशि बना देती है। प्रलयाब्धिमें यह बुलबुला विलीन हो जाता है। अपने-आपमें स्थित हो जाता है वह महाकाल और उससे नित्य अभिन्न हैं उनकी क्रियाशक्ति महाकाली। मानव कहते हैं कि 'वे मुक्तिप्रदाता हैं।' इस स्वीकृतिमें मानवकी मुक्ति निहित है। वह मृत्युसे परित्राण पा लेता है उन परम तत्त्वके स्मरणसे।

जगत्‌की यह नित्य-कथा जिनमें निहित है, जगत्‌के उन आदिकारण उमा-महेश्वरके चरणोंमें बार-बार प्रणिपात।

'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥'

मित्र चोर निकला

एशियाके दमश्क नगरमें मुश्तफा नामका एक धनी और बुद्धिमान् व्यापारी रहता था। वह अपने पुत्र सैयदको दूरदर्शी और विचक्षण बनाना चाहता था। सैयद अपने मित्रमें, जो एक आरमनी (अरमीनिया-निवासी) था, बड़ा विश्वास करता था। कई बार उस मित्रने रुपये-पैसेके सम्बन्धमें उसे धोखा भी दिया, पर सैयदकी मित्रतामें कोई कमी नहीं आयी।

एक समय मुश्तफा और सैयद दोनोंको व्यापारके सम्बन्धमें बगदाद जाना था।

'मैं अपनी अपार सम्पत्ति किसके भरोसे छोड़कर बगदाद चलूँ !' मुश्तफाने सैयदसे पूछा।

'पिताजी ! मेरे मित्रसे बढ़कर दूसरा ईमानदार आदमी ही कौन मिल सकता है ?' सैयदने उसी आरमनीको सम्पत्ति सौंपनेकी सम्मति दी।

'तो फिर इस बक्सको अपने मित्रके यहाँ पहुँचा दो।' मुश्तफाका आदेश पाते ही बक्स आरमनीके यहाँ सैयदने पहुँचा दिया।

× × ×

दो महीने बाद दोनों अपार धन कमाकर बगदादसे दमश्क लौट आये। मुश्तफाने—बक्स लानेके लिये सैयदको मित्रके घर भेजा।

'आपने मेरे मित्रका अविश्वास किया; यह अपमान असह्य है। आपने बक्समें कंकड़-पत्थर भरकर उसको मेरे मित्रके पास भेजा था।' सैयद कुछ ही क्षणोंमें अपने मित्रके घरसे लौट आया; वह क्रोधोन्मत्त था पर मुश्तफाका चित्त शान्त और स्वस्थ था।

'तुम्हारे ईमानदार मित्रको कंकड़-पत्थरका पता चला किस तरह ? निस्संदेह उसने तीनों ताले तोड़कर बक्स खोल लिया था। तुम्हारी समझमें अब यह बात आ गयी होगी कि यह अच्छा ही हुआ कि मैंने अशर्फी और मोहरोंके स्थानपर कंकड़-पत्थर ही रख दिये थे।' मुश्तफाने सैयदकी ओर देखा।

'पिताजी ! मुझे क्षमा कीजिये। यह मेरी बहुत बड़ी भूल थी कि मैं आपके वचनकी उपेक्षा कर उसका विश्वास किया करता था। आपकी कृपा और दूरदर्शितासे मुझे पता लग गया कि बाहर-बाहर मित्र दीखनेवाले किस तरह गला काट लिया करते हैं। वास्तवमें वह चोर निकला।' सैयदका मस्तक लज्जासे नत था मुश्तफाके सामने। —रा० श्री०

आप सुलतान कैसे हुए ?

बादशाह होनेके पश्चात् एक बार किसीने हसनसे पूछा—'आपके पास न तो पर्याप्त धन था और न सेना थी, फिर आप सुलतान कैसे हो गये ?'

हसनने उत्तर दिया—'मित्रोंके प्रति मेरा सच्चा प्रेम, शत्रुके प्रति भी मेरी उदारता और प्रत्येक मनुष्यके प्रति मेरा सद्भाव—इतनी सामग्री क्या सुलतान होनेके लिये पर्याप्त नहीं है ?'

उन्नतिकी कामना रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके लिये हसनका यह सूत्र स्वर्णसूत्र ही है। —सु० सिं०

सद्भावना-रक्षा

अद्भुत डाकू था वह। फकीरोंके वेशमें रहता, हाथमें उसके तसबीह रहती। वह डाका डालता, पर अधिकांश धन गरीबोंमें बाँट देता। इतना ही नहीं, प्रत्येक शुक्रवारको वह नमाज पढ़ता था। उसके दलके प्रत्येक सदस्यको शुक्रवारकी नमाज आवश्यक थी। आज्ञोल्लङ्घन करनेवाला दलसे पृथक् कर दिया जाता था।

एक बार व्यापारियोंका समुदाय उसी पथसे जा रहा था, जिधर डाकुओंका यह दल रहता था। डाकुओंने लूटना शुरू कर दिया। एक व्यापारी अपने धनको लेकर छिपानेके लिये भागता हुआ, उस तंबूमें जा पहुँचा, जहाँ डाकुओंका सरदार फकीरके वेशमें तसबीह लिये बैठा था। व्यापारीने कहा—'मैं बड़ी विपत्तिमें पड़ गया हूँ। सारा धन डाकू लूट रहे हैं। कृपापूर्वक आप इसे अपने पास रख लें। बादमें मैं इसे ले जाऊँगा।' सरदारने कहा—'उस कोनेमें रख दो।' धनकी थैली रखकर व्यापारी चला गया।

कुछ देर बाद जब डाकू समस्त व्यापारियोंको लूटकर चले गये, तब वह व्यापारी अपना धन लेनेके लिये उस तंबूमें आया। किंतु तंबूके भीतर उसने जो कुछ देखा, उससे उसका शरीर काँपने लगा। आकृति-पर स्वेद-कण झलकने लगे। वहाँ डाकू लूटके धनको बाँट रहे थे। व्यापारी डाकूके ही पास धन रखनेकी अपनी भूलपर मन-ही-मन पछता रहा था। वह धीरेसे वहाँसे जाने लगा। सरदारने पुकारा—'यहाँ कैसे आया था?'

व्यापारीने काँपते हुए कहा—'मैं अपनी धरोहर वापस लेने आया था, पर मुझसे भूल हो गयी, मैं अभी यहाँसे जा रहा हूँ।'

'रुको।' सरदारने उत्तरमें कहा—'अपनी धरोहर लेते जाओ। वह उसी जगह पड़ी है।'

व्यापारीको विश्वास नहीं हो रहा था। उसने तिरछे नेत्रोंसे देखा, सचमुच उसकी थैली जहाँ-की-तहाँ रक्खी हुई थी। उसने थैली उठा ली और प्रसन्नतापूर्वक चला गया।

'यह क्या किया आपने?' डाकुओंने सरदारसे पूछा—'इस प्रकार हाथका माल वापस करना कहाँ तक उचित है?'

'तुमलोग ठीक कहते हो।' सरदारने हँसते हुए शान्त-स्वरमें उत्तर दिया। 'किंतु वह आदमी मुझे ईश्वरका भक्त, फकीर, सच्चा और ईमानदार समझ-कर धन मेरे पास रख गया था। ईश्वरको प्रसन्न करनेवाले इस वेशके प्रति जो सद्भावना है, उसकी रक्षा करना मेरा परम कर्तव्य है। ईश्वर करे मेरा यह स्वभाव आजीवन बना रहे।'

डाकुओंका यही सरदार आगे चलकर फजल अयाज नामक प्रसिद्ध महात्मा हुआ।—शि० दु०

तल्लीनता

नशापुरमें एक व्यापारी था। वह धन कमानेमें निरन्तर लगा रहता था। अच्छे और बुरे कर्मसे उसे कुछ लेना-देना नहीं था। उसे तो केवल धन चाहिये और वह चाहे किसी भी मार्गसे आये। एक बारकी बात है। उसे रुपया गिनते-गिनते बहुत देर हो गयी। भोजनका समय नहीं मिला, पर रुपयोंका ढेर गिननेके लिये पड़ा ही था। उसने दासीको वहीं भोजन ले आनेकी आज्ञा दी। सेविका भोजनका थाल लाकर उसके समीप बहुत देरतक खड़ी रही, पर धनवान्‌का ध्यान उधर नहीं जा सका। दासी भोजन वापस ले

गयी। कुछ देर बाद उसने पुनः दासीको भोजन ले आनेकी आज्ञा दी। दासी फिर भोजनका थाल लिये आयी और उसके समीप खड़ी हो प्रतीक्षा करने लगी, किंतु उसका ध्यान उधर नहीं जा सका। वह रुपये गिननेमें तल्लीन था। इसी प्रकार कई बार उसने दासीको भोजन लानेकी आज्ञा दी, दासी भोजन लाती और खड़ी-खड़ी प्रतीक्षा करती, पुनः निराश होकर लौट जाती। अन्ततः भोजन मँगानेपर दासी भोजनका थाल ले आयी और थोड़ा-सा भोज्य-पदार्थ उसके ओठोंसे लगा दिया। धनीको भोज्य-पदार्थका स्वाद मिला, तो उसने समझा कि मैंने भोजन कर लिया है। उसने तुरंत हाथ-मुँह धोया और फिर रुपये गिननेमें लग गया। ऐसा ध्यान भगवान्‌में लगे तब जीवन सार्थक हो।

—शि० दु०

माताकी सेवा

'प्रभो! मेरे दुखी पुत्रपर सुख-शान्तिकी वर्षा करना। संत उसपर प्रसन्न रहें तथा उसका जीवन पवित्र तथा प्रभु-प्रेममय रहे।'

संत बायजीद देहरीसे अपने लिये माताकी यह प्रार्थना सुन रहे थे। वर्षों बाहर रहकर उन्होंने कठोर-तम साधना की थी और उससे लाभान्वित होकर माता-के दर्शन करनेका निश्चय किया था। कितने दिनों बाद वे अपने घरके द्वारपर पहुँच सके थे।

'माँ! तेरा दुखी पुत्र आ गया है।' बायजीदका हृदय मातृस्नेहसे भर आया था। विह्वल होकर उन्होंने आवाज दी।

पुत्रकी आवाज पहचानकर माताने तुरंत दरवाजा खोला और बायजीदको हृदयसे लगा लिया। वृद्धा-की आँखोंसे अश्रुसरिता प्रवाहित हो रही थी। मस्तकपर हाथ फेरते हुए माँने कहा—'बेटा! बहुत दिनों बाद तूने मेरी सुधि ली। तेरी यादमें रोते-रोते मैं मौतके दरवाजेपर आ गयी हूँ।'

'माँ!' रोते हुए तपस्वी संतने कहा—'मैं बहुत मूर्ख हूँ। जिस कार्यको गौण समझकर मैं यहाँसे चला गया था, उसका महत्त्व अब समझमें आया है। कठोर तप करके मैंने जो लाभ उठाया है, यदि तुम्हारी सेवा करता रहता, तो वह लाभ अबतक कभीका सरलतासे मिल गया होता। अब मैं तुम्हारी सेवाके अतिरिक्त और कुछ नहीं करूँगा।'

बायजीद माताकी सेवाका निरन्तर ध्यान रखते। एक रात माताने पानी माँगा। बायजीदने देखा, घरके किसी बर्तनमें पानी नहीं था, वे नदीसे पानी लेने गये। पानी लेकर लौटे तो देखा माँको नींद आ गयी है। वे चुपचाप बर्तन लिये खड़े रहे। सर्दीसे अंगुलियाँ ठिठुर रही थीं, पर वे बर्तन इसलिये नहीं रख रहे थे कि इसके रखनेकी आवाजसे माँकी नींद खुल जायगी। जल-भरा बर्तन लिये वे खड़े रहे। माँकी नींद खुली, तब उन्हें पानी पिलाकर आशीष् प्राप्त किया।

—शि० दु०

करुणाका आदर्श

एक कारवाँ एक मरुभूमिको पार कर रहा था। रास्तेमें पानीका सर्वथा अभाव हो गया। अन्तमें थोड़ा-सा जल उनके पास बच रहा। अब यात्री उसे मापसे परस्पर बाँटने लग गये। उस मापका प्रकार यह था कि एक प्यालेमें एक छोटा कंकड़ डाल दिया गया था। जब जल कंकड़के ऊपर आ जाय तब वह एक व्यक्तिका

उचित भाग मान लिया जाता था। वह जल भी केवल उसके प्रधान लोगोंके हिस्से पड़ता था।

जब पहले दिन जल बाँटा जाने लगा, तब प्रथम माप काब-इब्न-मम्माहको दिया जाने लगा। वह उसे लेना ही चाहता था कि उसकी दृष्टि नामीर जातिके एक आदमीपर पड़ी जो बड़ा ध्यान लगाये उसकी ओर सतृष्ण दृष्टिसे देख रहा था। उसने जल बाँटनेवालेको कहा, 'भइया! मेरा हिस्सा कृपया इस व्यक्तिको दे दो।' उस व्यक्तिने जल पी लिया और काब-इब्न-मम्माहको बिना जलके ही रह जाना पड़ा।

दूसरे दिन पुनः जलका विभाजन आरम्भ हुआ और उस नामीर जातिका वह पुरुष पुनः बड़े ध्यानसे उधर देखने लगा। 'काब' ने पुनः अपना भाग उस व्यक्तिके लिये दिला दिया।

पर अब जब कारवाँ चलने लगा, तब काबको इतनी भी शक्ति न रह गयी थी कि वह किसी प्रकार ऊँटपर बैठ सके। वह मरुस्थलमें ही लेट गया। सबोंने देखा कि अब कोई यहाँ ठहरता है तो सभी नष्ट होंगे, अतएव किसीने उसकी सहायताका साहस नहीं किया और मांसलोभी हिंस्र जन्तुओंके भयसे उसके ऊपर कुछ वस्त्र डालकर चलते बने।

वस्तुतः काब करुणाका आदर्श था, जिसने अपनी जान दे दी। पर दया-कातरताका तिरस्कार करनेका साहस वह न कर सका।—जा० श०

अतिथिकी योग्यता नहीं देखनी चाहिये

महात्मा इब्राहीमका नियम था कि किसी अतिथिको भोजन कराये बिना भोजन नहीं करते थे। एक दिन उनके यहाँ कोई अतिथि नहीं आया। इसलिये वे स्वयं किसी निर्धन मनुष्यको ढूँढ़ने निकले। मार्गमें उन्हें एक अत्यन्त वृद्ध तथा दुर्बल मनुष्य मिला। उसे भोजनका निमन्त्रण देकर बड़े आदरपूर्वक वे घर ले आये। हाथ-पैर धुलवाकर भोजन करने बैठाया।

अतिथिने भोजन सम्मुख आते ही ग्रास उठाया। उसने न तो भोजन मिलनेके लिये ईश्वरको धन्यवाद दिया, न ईश्वरकी बन्दगी की। इब्राहीमको इस व्यवहारसे क्षोभ हुआ। उन्होंने अतिथिसे इसका कारण पूछा। अतिथिने कहा—'मैं तुम्हारे धर्मको माननेवाला नहीं हूँ। मैं अग्निपूजक (पारसी) हूँ। अग्निको मैंने अभिवादन कर लिया है।'

'काफिर कहींका! चल निकल मेरे यहाँसे!' इब्राहीमको इतना क्रोध आया कि उन्होंने वृद्धको धक्का देकर उसी समय घरसे निकाल दिया।

'इब्राहीम! जिसे इतनी उम्रतक मैं प्रतिदिन खूराक देता रहा हूँ, उसे तुम एक समय भी नहीं खिला सके! उलटे तुमने निमन्त्रण देकर, घर बुलाकर उसका तिरस्कार किया!' इस आकाशवाणीको, जो उसी समय हुई, इब्राहीमने सुना। अपने गर्व तथा व्यवहारपर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ।—सु० सिं०

उचित न्याय

बाबरका पिता उमरशेख समरकंदका राजा था। वह अपनी न्यायप्रियताके लिये बड़ा प्रसिद्ध था। एक बार चीनी यात्रियोंका एक समुदाय पूर्वसे पश्चिमकी ओर यात्रा कर रहा था। बीचमें ही प्रचण्ड हिममय झंझावातमें पड़ जानेके कारण वह दल-का-दल पहाड़ियोंमें ही नष्ट हो गया। उनके पास बहुत बड़ी अर्थराशि थी,

जो उमरशेखशासनकी सीमाके अन्तर्गत पड़ रही थी। उमरशेखकी उन दिनों आर्थिक दशा बड़ी चिन्तनीय हो रही थी, वह चाहता तो बिना किसी टंटे और श्रमके अपने यहाँ मँगवा लेता। पर उसने ऐसा नहीं किया। उसने वहाँ कठिन शासन लगाकर कड़ा पहरा बैठा दिया, ताकि उनकी असुरक्षित सम्पत्तिमेंसे कोई कुछ ले न ले। उसने उनके घरवालोंको सूचना दी और पूरे एक वर्षतक, जबतक वे लोग आकर अपनी-अपनी सम्पत्ति ले नहीं गये, तबतक उसने वहाँका पहरा नहीं हटाया।

—जा० श०

उपासनामें तन्मयता चाहिये

बादशाह अकबर राजधानीसे बाहर निकले थे। अनेक बार एक-दो विद्वानोंको साथ लेकर बिना किसी धूम-धड़ाके और आडम्बरके प्रजाकी दशाका स्वयं निरीक्षण करने वे निकलते थे। उस दिन नमाजका समय होनेपर बादशाहने मार्गमें ही 'जायेनमाज' बिछवा दिया; क्योंकि मार्गको छोड़कर इधर-उधर स्वच्छ भूमि थी नहीं।

बादशाह नमाज पढ़ रहे थे। साथके जो एक-दो व्यक्ति थे, वे पासके वृक्षोंकी ओर चले गये। इतनेमें एक स्त्री आयी और बादशाहके 'जायेनमाज'पर पैर रखती आगे चली गयी। बादशाहको क्रोध तो बहुत आया; किंतु वे नमाज पढ़ रहे थे, इसलिये बोले नहीं।

थोड़ी ही देरमें वह स्त्री उधरसे ही लौटी। बादशाह नमाज पूरी कर चुके थे। उन्होंने उस नारीसे पूछा—'तू इधर कहाँ गयी थी?'

स्त्रीने कहा—'मेरे स्वामी परदेश गये हैं। समाचार मिला था कि वे आ रहे हैं। मैं उन्हें देखने गयी थी; किंतु समाचार ठीक नहीं निकला।'

बादशाहने उसे डाँटा—'मूर्ख स्त्री! तुझे जाते समय दीखा नहीं कि मैं नमाज पढ़ रहा हूँ। तू मेरे 'जाये-नमाज' (नमाज पढ़ते समय नीचे बिछी चद्दर)को कुच-लती चली गयी।'

उस स्त्रीने उत्तर दिया—'जहाँपनाह! मेरा चित्त तो एक सांसारिक पुरुषमें लगा था, इसलिये मैं आपको और आपके 'जायेनमाज'को देख नहीं सकी; किंतु आप तो उस समय विश्वके स्वामीकी प्रार्थनामें चित्त लगाये हुए थे, आपने मुझे इधरसे जाते देख कैसे लिया?'

बादशाहने सिर नीचा करके उस स्त्रीको क्षमा कर दिया।

—सु० सिं०

उत्तमताका कारण

बादशाह अकबर बहुत उत्सुक था अपने सङ्गीताचार्य तानसेनके गुरु स्वामी श्रीहरिदासजीका सङ्गीत सुननेके लिये। परंतु वे परम वीतराग व्रजभूमि छोड़कर दिल्ली पधारेंगे, इसकी सम्भावना तो थी ही नहीं। यह भी सम्भावना नहीं थी कि वृन्दावनमें भी बादशाहके सम्मुख वे गायेंगे। तानसेनने एक मार्ग निकाला। बादशाह साधारण वेशमें वृन्दावन पहुँचे और स्वामी हरिदासजीकी कुटियाके बाहर छिपकर बैठ गये। तानसेन कुटियामें गये और प्रणाम करके गुरुदेवको अपना सङ्गीत सुनाने लगे, जान-बूझकर तानसेनने स्वरमें भूल कर दी। शिष्यकी भूल सुधारनेके लिये गुरुने उससे वीणा ले ली और स्वयं गाकर बताने लगे। बादशाहकी इच्छा इस प्रकार पूर्ण हुई।

दिल्ली लौटकर बादशाहने तानसेनसे फिर वही राग सुनना चाहा और तानसेनने सुनाया भी; किंतु उसे

सुनकर बादशाह बोले—'तानसेन ! तुम उतना उत्तम क्यों नहीं गा सकते ? स्वामी हरिदासजीके स्वरका तो सौन्दर्य ही कुछ और था ।'

नम्रतापूर्वक तानसेनने कहा—'जहाँपनाह ठीक फरमा रहे हैं, लेकिन मेरे पास कोई उपाय नहीं है । मेरे गुरुदेवके स्वरकी उत्तमताका कारण है । मैं केवल हिंदुस्तानके बादशाहके लिये गाता हूँ और वे गाते हैं सारी दुनियाके मालिक सर्वेश्वरके लिये ।'—सु० सिं०

आजसे मैं ही तुम्हारा पुत्र और तुम मेरी माँ

कहते हैं कि बादशाह अकबरके खजांचीकी स्त्रीका रूप बड़ा ही अपूर्व था । एक बार कहीं उसे देखकर बादशाह महामोहमें पड़ गया और लाखों रुपये व्यय करके भी उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करने लगा । पर 'विचित्रं विधिचेष्टितम्' । भर्तृहरिने बड़ा ही सुन्दर कहा था—मैं जिसकी चिन्तामें सतत व्याकुल हूँ वह मुझे बिल्कुल नहीं चाहती । पर यह बात नहीं कि वह सर्वथा संसारसे उपरत है अथवा वह किसीको चाहती ही न हो । नहीं-नहीं; वह तो बुरी तरहसे एक ऐसे आदमीपर आसक्त है, जो उसे न चाहकर किसी दूसरी नायिकाको चाहता है और वह नायिका भी उसे न चाहकर किसी कारणविशेषसे मुझपर प्रसन्न है ।[1] ओह ! मुझको, इस विडम्बनाके मूल कामदेवको तथा तत्तत् स्त्री-पुरुषोंको बार-बार धिक्कार है ।

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥

(नीतिशतक २)

हाँ तो, भर्तृहरिके शब्दोंमें कामदेवने खजांचीकी स्त्रीको भी यही बेढब रास्ता दिखलाया । वह बादशाहसे तो घृणासे नाक-भौं सिकोड़ने लगी, पर अब्दुर् रहीम खानखानापर आसक्त हुई । खानखानाजी श्रीकृष्णभक्त थे । वह इनसे सीधे प्रस्ताव तो कैसे रखती, पर एक दिन मौका पाकर उनसे निवेदन किया—'खानखानाजी ! मैं आप ही जैसा सुन्दर एक पुत्ररत्न चाहती हूँ ।' खानखानाजीको फिर वह एकान्त स्थानमें ले गयी । भक्तवर रहीमने भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया और एकान्त पाते ही उससे बोले—'देवि ! कौन जाने हमारे-जैसा पुत्र तुम्हें हो-न-हो, इसलिये लो आजसे मैं ही तुम्हारा पुत्र और तुम मेरी सच्ची माँ' और यों कहकर उसके स्तनोंको पीने लग गये । भगवान्की कृपासे उसमें भी वात्सल्य आ गया और उसके स्तनोंसे दूध झरने लगा । तबसे रहीमने उसे सदा ही अपनी माता माना । कहते हैं जहाँ कहीं भी अपने ग्रन्थोंमें खानखानाजीने अपनी माताका स्मरण किया है, वहाँ उसी महिलाका स्मरण तथा उल्लेख दिया है, अपनी असल माँका नहीं । तबसे उस स्त्रीका भी चित्त सर्वथा पवित्र हो गया और इधर बादशाह भी इसे जानकर सन्मार्गस्थ हो गया ।—जा० श०

---

१. कहा जाता है कि भर्तृहरिको किसी महात्माने एक अमर फल दिया । भर्तृहरिने सोचा कि जीवनके अन्ततक मेरी रानी बनी रहे तभी मेरा जीना सार्थक होगा । अतएव उसने वह फल रानीको दे दिया । (रानी अपने दारोगापर आसक्त थी) रानीने देखा कि 'यदि मेरे जीते यह दारोगा मर गया तो इससे भयानक क्लेश क्या होगा ?' अतएव उसने उसे दारोगाको ही दे दिया । इधर दारोगा एक वेश्यापर अनुरक्त था, उसने वह फल वेश्याको दे दिया । वेश्याने देखा कि मैं अधिक जीती हूँ तो केवल पाप ही संचय करूँगी, सो जगत्के कल्याणके लिये इसे परम धर्मात्मा राजा भर्तृहरिको देना चाहिये । उसने लाकर वही फल राजाको दे दिया । राजा उस फलको देखकर तथा उसके इतिहासको जानकर सर्वथा चकित रह गया । निर्विण्ण होकर उसने यह श्लोक गाया तथा राज-पाटको तुरंत छोड़कर साधु हो गया । इसके बाद महाराज विक्रमादित्यने, जो उसका छोटा भाई था, राज-पाट सँभाला ।

ऐसा कोई नहीं जिससे कोई अपराध न बना हो

एक दिन बादशाह अकबरके दरबारमें बड़े जोरोंका कोलाहल सुनायी पड़ा। सभी लोग बीरबलके विरुद्ध नारे लगा रहे थे। आवाज आ रही थी 'बीरबल बड़ा नीच है, भारी बदमाश है, बड़ा घातक है।'

बादशाहको क्रोध आ गया। आज्ञा हो गयी—'बस, बीरबलको तुरंत शूलीपर चढ़ा दिया जाय।'

दिन निश्चित हुआ। शूली तैयार हुई। बीरबलने बादशाहसे अन्तिम बात कर लेनेका अवसर माँगा। बातचीतमें उसने कहा—'मैंने सारी चीजें तो आपको बतला दीं, पर मोती बोनेकी कला आपको न सिखा सका।'

अकबरने कहा—'सच! क्या तुम इसे जानते हो? तो ठीक जबतक मैं यह सीख न लूँ, तबतक तुम्हें जीनेका अवसर दिया जाता है।'

बीरबलने कतिपय विशिष्ट महलोंकी ओर संकेत करते हुए कहा—'इन मकानोंको ढहवा दिया जाय; क्योंकि इसी जमीनमें उत्तम मोती पैदा हो सकते हैं।' मकान ढहवा दिये गये। ये महल उन्हीं दरबारियोंके थे, जिन्होंने बीरबलके विरुद्ध झूठी शिकायत की थी—वहाँ बीरबलने जौ बुनवा दिये। एक निश्चित दिनपर उसने सब लोगोंको पौधोंको दिखलानेके लिये बुलाया और कहा कि 'कल प्रातःकाल ये पौधे मुक्ता उत्पन्न करेंगे और कल ही इन्हें काटा जायगा।'

सभी लोग पधारे। ओसकी बूँदें जौके पौधों और पत्तोंपर मोतीकी तरह चमक रही थीं। बीरबलने कहा—'अब आपलोगोंमेंसे जो सर्वथा निरपराधी—दूधका धोया हो, इन मोतियोंको काट ले। सावधान! यदि किसीने कभी एक भी अपराध किया होगा तो ये मोती पानी होकर गिर पड़ेंगे।'

सभी शान्त थे। बीरबलने अकबरको हाथ बढ़ानेके लिये कहा। पर बादशाह समझ गया—सभीसे अपराध होते हैं। बीरबलका कोई दोष था भी नहीं, यह तो दरबारियोंका एक षड्यन्त्र मात्र था। बीरबलको अभियोगसे मुक्त कर दिया गया।—जा० श०

तू भिखारी मुझे क्या देगा

बादशाह अकबर विद्वानों, साधुओं और फकीरोंका सम्मान करते थे। उनके यहाँ प्रायः देशके विभिन्न भागोंसे विद्वान् आया करते थे। किसी त्यागी साधु या फकीरको उनके पास पहुँचनेमें कठिनाई नहीं होती थी। एक बार एक फकीर बादशाहके पास पहुँचे। बादशाहने उन्हें सम्मानपूर्वक बैठाया। परंतु नमाजका समय हो गया था, इसलिये फकीरसे अनुमति लेकर बादशाह वहीं पासमें नमाज पढ़ने लगे।

नमाज पूरी हो जानेपर बादशाह प्रार्थना करने लगे—'पाक परवरदिगार! मुझपर रहम कर। मेरी फौजको कामयाबी दे। मेरा खजाना तेरी मेहरबानीसे बढ़ता रहे। मेरे शरीरको तन्दुरुस्त रख!'

फकीरने बादशाहकी प्रार्थना सुनी और उठकर चलते हुए। बादशाह नमाज तो पढ़ ही चुके थे, शीघ्रतासे फकीरके पास आये और बोले—'आप क्यों चले जा रहे हैं? मेरे लायक कोई खिदमत फरमावें।'

फकीरने कहा—'मैं तुझसे कुछ माँगने आया था; किंतु देखता हूँ कि तू तो खुद कंगाल है। तू भी किसीसे माँगता ही है। जिससे तू माँगता है, उसीसे मैं भी माँग लूँगा। तू भिखारी मुझे क्या देगा।'

न्यायकी मर्यादा

दिल्लीका बादशाह गयासुद्दीन बाणसे निशाना मारनेका अभ्यास कर रहा था। अचानक एक बाण लक्ष्यसे भटक गया और एक बालकको लगा। बेचारा बालक बाण लगनेसे वहीं ढेर हो गया। बालककी माता दिल्लीके प्रधान काजी सिराजुद्दीनके पास रोती हुई गयी। काजीने उसे दूसरे दिन न्यायालयमें उपस्थित होनेको कह दिया।

न्यायनिष्ठ काजीने बादशाहके पास संदेश भेज दिया कि उनके विरुद्ध हत्याका अभियोग है, अतः वे न्यायालयमें उपस्थित रहें। सुल्तान गयासुद्दीन साधारण वेशमें अदालतमें उपस्थित हुए। काजीने उनका कोई सम्मान नहीं किया। उलटे उन्हें साधारण अपराधीकी भाँति खड़े रहनेको कहा गया। सुल्तान शान्त खड़े रहे। उन्होंने अपना अपराध स्वीकार किया। बालककी मातासे माफी माँगी और उसे बहुत-सा धन देनेका वचन दिया। बालककी मातासे राजीनामा लिखवाकर सुल्तानने काजीको दिया।

यह सब हो जानेपर काजी न्यायासनसे उठे और आगे आकर उन्होंने झुककर सुलतानको सलाम किया। बादशाहने अपने वस्त्रमें छिपी एक छोटी तलवार निकालकर दिखाते हुए कहा—'काजी साहब! आपकी आज्ञासे न्यायका सम्मान करने मैं अदालतमें आया था। अच्छा हुआ कि आपने न्यायालयकी मर्यादा रक्खी। यदि मैं देखता कि आप न्यायसे तनिक भी विचलित हो रहे हैं तो यह तलवार आपका गर्दन उड़ा देती।'

काजी सिराजुद्दीनने अब पीछे घूमकर अपने न्यायासनके पास रक्खा बेंत उठाया। वे बोले—'जहाँपनाह! अच्छा हुआ कि आपने न्यायालयका ठीक सम्मान किया और अपराध स्वीकार कर लिया। आप तनिक भी हीला-हवाला करते तो यह बेंत आज आपकी चमड़ी उधेड़ देता।'

सुलतान इससे संतुष्ट हुए। वे कह रहे थे—'मेरे राज्यमें ऐसे न्यायाधीश हैं जो इस बातको समझते हैं कि न्याय सबके लिये समान है, न्यायके नियमोंसे अधिक कोई श्रेष्ठ नहीं, इसके लिये मैं परमात्माका आभार मानता हूँ।' —सु० सिं०

शरणागत-रक्षा

बादशाह अलाउद्दीनके दरबारमें एक मंगोल-सरदार था। बादशाह उसकी शूरता तथा ईमानदारीसे बहुत संतुष्ट थे; किंतु निरङ्कुश लोगोंकी समीपता प्रायः भयप्रद होती है। वह सरदार बादशाहका मुँहलगा हो गया था। एक दिन उससे कोई साधारण भूल हो गयी; किंतु बादशाह इतने अप्रसन्न हो गये कि उन्होंने उस सरदारको प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी। सरदार किसी प्रकार दिल्लीसे बचकर निकल भागा। परंतु बादशाहके अपराधीको शरण देकर विपत्ति कौन मोल ले! अनेक स्थानोंपर भटकनेपर भी किसीने उसे अपने यहाँ रहने नहीं दिया। विपत्तिका मारा सरदार रणथम्भौर पहुँचा। वहाँ उस समय सिंहासनपर थे राणा हमीर। उन्होंने उस यवन-सरदारका स्वागत किया और कहा—'शरणागतकी रक्षा राजपूतका प्रथम कर्तव्य है। अतः आप यहाँ सुखपूर्वक नित्रास करें।'

उधर दिल्ली समाचार पहुँचा तो अलाउद्दीन क्रोधसे तिलमिला उठा। उसने संदेश भेजा—'राज्यके अपराधीको शरण देना, तख्तकी तौहीन करना है।

हमारा कैदी हमें दे दो, नहीं तो ईंट-से-ईंट बजा दी जायगी।'

राणा हमीरने उस दूतको यह उत्तर देकर लौटा दिया—'एक आर्त मनुष्य प्राणरक्षाकी पुकार करता राजपूतके पास आयेगा तो राजपूत उसे शरण नहीं देगा, ऐसा हो नहीं सकता। हमने अपने धर्मका पालन किया है। राज्यके विनाश या प्राणके भयसे हम शरणागतका त्याग नहीं करेंगे।'

कुछ सरदारोंने राणाको समझाया भी—'बादशाहसे शत्रुता मोल लेना उचित नहीं। यह मंगोल-सरदार भी मुसल्मान ही है। यह अन्तमें अपने लोगोंमें मिल जायगा। आप जान-बूझकर विनाशको क्यों आमन्त्रित करते हैं।'

परंतु राणा हमीरका निश्चय अटल था। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'शरणागत कौन है, किस धर्म या जातिका है, उसने क्या किया है आदि देखना मेरा काम नहीं है। मैं लोभ या भयसे अपने कर्तव्यका त्याग नहीं करूँगा।'

राणाका उत्तर दिल्ली पहुँचते ही बादशाहने रणथम्भौरपर चढ़ाई करनेके लिये सेना भेज दी; किंतु रणथम्भौरका दुर्ग कोई खिलौना नहीं था, जिसे खेल-खेलमें ढहा दिया जाता। शाही सेनाके छक्के छूट गये। बार-बारके आक्रमणोंमें सदा उसे मुँहकी खानी पड़ी। अन्तमें दुर्गपर घेरा डालकर शाही सेना जम गयी। पूरे पाँच वर्षतक शाही सेना रणथम्भौरको घेरे पड़ी रही।

इस पाँच वर्षके दीर्घकालमें दोनों पक्षोंकी भारी क्षति हुई। सैकड़ों सैनिक मारे गये; किंतु शाही सेनाको बराबर सहायता मिलती गयी। उधर रणथम्भौरके दुर्गमें सैनिक घटते गये, भोजन समाप्त हो गया। उपवास करके कबतक युद्ध चलता। उस मंगोल-सरदारने राणासे प्रार्थना की—'महाराज! आपने मेरे लिये जो कष्ट उठाया, जो हानि सही, उसे मैं कभी भूल नहीं सकता। लेकिन मेरे लिये पूरे राज्यका विनाश अब मुझसे देखा नहीं जाता। मैं अपने आप अलाउद्दीनके पास चला जाता हूँ।'

राणा हमीरने कहा—'आप ऐसी बात मुखसे फिर न निकालें। एक राजपूतने आपको शरण दी है। जबतक मैं जीवित हूँ, अलाउद्दीनके पास आपको नहीं जाने दूँगा।'

दुर्गमें अन्न समाप्त हो जानेपर जब दूसरा कोई उपाय नहीं रहा तो एक भारी चिता बनायी गयी। सब नारियाँ प्रसन्नतापूर्वक चिताकी लपटोंमें कूदकर सती हो गयीं। सब पुरुषोंने केसरिया वस्त्र पहिने और दुर्गका द्वार खोलकर वे निकल पड़े। युद्ध करते हुए वे शूर मारे गये। राणा हमीरने मृत्युके अन्तिम क्षणतक उस सरदारकी रक्षा की। वह सरदार भी राणाके पक्षमें युद्ध करते हुए पकड़ा गया। अलाउद्दीनके सामने जब वही बंदी बनाकर उपस्थित किया गया, तब बादशाहने उससे पूछा—'तुम्हें छोड़ दिया जाय तो क्या करोगे?'

सरदारने निर्भीकतापूर्वक कहा—'हमीरकी संतानको दिल्लीके तख्तपर बैठानेके लिये जिंदगीभर तुमसे लड़ता रहूँगा।' इतना उदार नहीं था अलाउद्दीन कि उस शूरको क्षमा कर दे। उसने उसे मरवा डाला।

—सु० सिं०

सच्ची न्याय-निष्ठा

बादशाह जहाँगीरमें चाहे जितनी दुर्बलताएँ रही हों; किंतु वह प्रजावत्सल एवं न्यायप्रिय शासक था, इस बातको उसके शत्रु भी अस्वीकार नहीं कर सके। उसके राजमहलमें घंटा बँधा था, जिसकी रस्सी महलसे बाहर लटकती रहती थी। कोई भी, कभी भी उस रस्सीको खींच सकता था, यदि उसे बादशाहसे किसी विषयमें

न्याय पाना हो। रस्सी खींचते ही महलमें बँधा घंटा बजने लगता था।

एक समय शामको ही एक स्त्रीने घंटाकी रस्सी खींची। बादशाह उसी समय झरोखेपर आये। वह एक निर्धन नारी थी और बुरी तरह रो रही थी। पूछनेपर उसने बताया कि वह राजमहलके पास ही एक बगीचेके मालीकी स्त्री है। किसीने राजमहलसे बाण चलाया, जो उसके पतिकी छातीमें लगा। उसका पति तुरंत बाण लगनेसे मर गया।

बादशाहने उसे सबेरे दरबारमें आनेका हुक्म दिया। राजमहलमें पूछनेपर पता लग गया कि बादशाहकी प्राणप्रिया बेगम मुमताज-महल चमगादड़ोंपर निशाना लगा रही थीं। उनका ही एक बाण भटककर दूर गया था। बादशाह गम्भीर हो गये। उस रात उन्हें तनिक भी नींद नहीं आयी।

दूसरे दिन दरबारमें बड़ी गड़बड़ी मची। एक ओरसे सभी सरदार और अमीर विरोध करने लगे—'कुछ भी हो, शाही बेगम एक मुल्जिमके समान दरबारमें नहीं बुलायी जा सकतीं।'

बादशाह बहुत गम्भीर हो रहे थे। उन्होंने अन्तमें कहा—'मालिन! तुम देखती हो कि मैं भी तुम्हारे मुल्जिमको यहाँ बुला नहीं सकता हूँ। लेकिन जहाँगीर अन्याय नहीं होने देगा। बेगमने तुम्हें विधवा बनाया है, तुम उसे विधवा बना दो!'

अपनी कटार नंगी करके बादशाहने उस मालिनको पकड़ा दी और तख्तसे उतरकर उसके सामने उन्होंने अपना सीना कर दिया। कटार मालिनके हाथसे गिर पड़ी। वह अपने उदार बादशाहको प्रणाम करने झुक गयी थी।—सु० सिं०

अपरिग्रह

संत अफ़रायतका जीवन अत्यन्त सरल था, वे बड़ी पवित्रतासे रहते थे। अपनी जन्म-भूमि फारसका परित्याग कर वे सीरिया चले आये थे। नगरके बाहर सदा एक छोटी-सी गुफामें निवास कर वे भगवान्‌का चिन्तन किया करते थे। वे सूर्यास्तके बाद केवल एक छोटी-सी रोटी खा लेते थे और चटाईपर सोते थे। उनका पहनावा केवल एक मोटा-सा कपड़ा था।

एक दिन वे अपनी गुफाके बाहर बैठे हुए थे कि अन्थेमियस उनसे मिलने आया। वह कुछ दिनोंतक फारसमें राजदूत था। संतको भेंट देनेके लिये अपने साथ फारससे एक सुन्दर वस्त्र लाया था।

'यह आपके देशकी बनी हुई वस्तु है। इसे सहर्ष ग्रहण कीजिये।' अन्थेमियसने निवेदन किया।

'क्या आप इसे ठीक समझते हैं कि एक पुराने स्वामिभक्त नौकर—सेवकको इसलिये निकाल दिया जाय कि दूसरा नया आदमी अपने देशसे आ गया है?' संतने अपने प्रश्नसे अन्थेमियसको आश्चर्यचकित कर दिया।

'नहीं, ऐसा करना कदापि उचित नहीं है।' राजदूतने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया।

'तो फिर अपना वस्त्र वापस लीजिये। मैंने जिस वस्त्रको सोलह सालोंसे अनवरत धारण किया है उसके रहते दूसरा नहीं रख सकता। मेरी आवश्यकता इसीसे पूरी हो जायगी।' संतकी पवित्र अपरिग्रह-वृत्ति मुखरित हो उठी। वे अपनी गुफाके भीतर चले गये। —रा० श्री०

दानी राजा

फारसके राजा साइरसने राजा क्रोसियसको बंदी बना लिया। साइरस बड़े दानी और उदार थे। उनके राज्यमें गरीबी और विवशताका नाम लेना पाप समझा जाता था। प्रजा स्वस्थ, सुखी और समृद्ध थी।

'यदि इस तरह आप दान देनेमें ही नित्यप्रति अपना खजाना खाली करते रहेंगे तो आप कुछ ही दिनोंके बाद कंगाल हो जायँगे। यदि आप अपना धन बचाते रहेंगे तो निस्संदेह अपार सम्पत्तिके स्वामी कहलायेंगे।' बंदी क्रोसियसने राजा साइरसको शिष्ट सम्मति दी। वे बहुत धनी थे।

'यदि मैंने राजसिंहासनपर बैठनेके समयसे आज तक किसीको कुछ भी दान न दिया हो तो मेरे पास कितनी सम्पत्ति होनेका आप अनुमान लगा सकते हैं?' साइरसने प्रश्न किया।

'अपार सम्पत्ति' क्रोसियसके शब्द थे और वे सोचने लगे।

'तो मैं अभी अपनी प्रजा और हितैषियों तथा मित्रोंके पास सूचना भेजता हूँ कि मुझे अपार सम्पत्तिकी आवश्यकता है एक बहुत बड़े कामके लिये और आप देखेंगे इसका परिणाम।' साइरसने क्रोसियसके मनमें अद्भुत उत्सुकता पैदा कर दी।

× × ×

साइरसकी सूचनाके परिणामस्वरूप राजमहलके सामने सोनेके ढेर लग गये। प्रजाने बड़ी प्रसन्नता और उमङ्गसे राजाकी आज्ञाके अनुरूप आचरण किया।

'मैंने तो इससे कम सम्पत्तिका ही अनुमान लगाया था।' क्रोसियस आश्चर्य-चकित हो गये।

'यदि मैंने अपना धन जमीनमें छिपाकर रख दिया होता और दान तथा प्रजाके हितमें उसका उपयोग न किया होता तो प्रजा मुझसे घृणा करती और शत्रु द्वेष करते; मेरी प्रजा मुझे प्यार करती है और क्षण-मात्रमें मैं इतना सोना एकत्र कर सकता हूँ जितना मेरे स्वप्नमें भी नहीं दीख सकता।' साइरसके उत्तरसे धनी क्रोसियसकी आँख खुल गयी और हृदय खोलकर उनकी दानशीलताकी प्रशंसा की उन्होंने।—रा० श्री०

स्वागतका तरीका

कहा जाता है कि किसी नगरका एक नागरिक अतिथियों तथा अभ्यागतोंको अधिक परेशान करनेके लिये विख्यात हो गया था। कहते हैं कि वह अभ्यागतोंको स्वागत-सत्कारकी पूछताछ और आवभगतमें ही पूरा तंग कर देता था।

इसपर एक दिन एक दूसरे व्यक्तिने, जो अपनी धुनका बड़ा पक्का था, उस मनुष्यको स्वयं अपनी आँखों देखना चाहा और चलकर उसकी परीक्षा लेनेकी ठानी। उसके मनमें यह बात जमती ही न थी कि 'कोई पुरुष स्वागत और आवभगतमें किसीको परेशान कैसे कर सकेगा?'

इन सब बातोंको सोचकर वह पुरुष पूर्वोक्त अब सज्जनके दरवाजेपर उपस्थित हुआ और उसे नमस्कार किया। गृहपतिने भी उससे पधारनेकी प्रार्थना की। वह भीतर गया।

अब जब गृहपतिने उसे स्वागतमन्दिरमें ले जाकर सर्वोत्तम पलंगपर विराजनेकी प्रार्थना की तो यह अभ्यागत बिना किंचिदपि ननु-नच किये उसपर चुपचाप बैठ गया। अब थोड़ी देरमें वह एक बड़ा मुलायम मसनद उस आगन्तुकके लिये लाया और यह नवागत व्यक्ति भी

पूर्ववत् बिना किसी आनाकानीके उसके सहारे बैठ रहा। थोड़ी देरमें गृहपतिने अतिथिको चौपड़ खेलनेके लिये निमन्त्रित किया और वह तुरंत उस खेलमें शामिल हो गया। अब उसने आगन्तुकके पास भोजन लाकर रख दिया। इस भले आदमीने भी तुरंत उसे खा ही लिया। अब उसने उसके हाथ-पैर धोते ही फुलवाड़ीमें टहलनेका अनुरोध किया और वह भी सीधे वहाँ जाकर टहलने लगा।

अब अभ्यागतने उस गृहपतिसे कहा—'मैं आपसे एक बात कहना चाहता हूँ।' 'वह क्या' गृहपतिने पूछा।

'मुझे यह पता चला है कि आप अतिथियोंको इस लिये अधिक परेशान कर देते हैं कि वे जो नहीं चाहते उसे आप उनके सामने उपस्थित कर देते हैं और वे जो चाहते हैं उसे आप ध्यानमें भी नहीं लाते।'

'हाँ, हाँ, मैं आपकी बात समझ गया। मेरे घर जब कोई आता है तो जब मैं उसे उत्तम शय्या, उत्तम आसन देने लगता हूँ तो प्रायः वह सबको अस्वीकार करता है। जब मैं भोजन लाता हूँ तो वह कहता है 'नहीं; नहीं; धन्यवाद।' जब मैं उन्हें शतरंज खेलनेके लिये आमन्त्रित करता हूँ तो वह उसे भी स्वीकार नहीं करता। ऐसी दशामें ठीक विरुद्ध बुद्धिके लोगोंको हम कैसे प्रसन्न करें। मनुष्यको यह चाहिये कि वह जब मित्रोंके साथ मिले तो उसके विचारोंका भी ध्यान रक्खे' गृहपति बोल गया एक ही स्वरमें।

'और यही बात आपको भी चाहिये। एक दूसरेके ध्यानसे ही निर्वाह सम्भव है। जो अपनेको बुरा प्रतीत हो वह दूसरेके साथ न करे, जो अपनेको रुचे वह दूसरोंको भी मिले, यह बड़ा व्यापक नियम है तथापि रुचि-वैचित्र्यको जानकर भिन्न रुचिवाले व्यक्तिके मनोनुकूल व्यवहार-स्वागत-मिलन ही स्वागतकी विशेषता है।'[1] आगन्तुकने कहा।—जा० श०

कर्तव्यके प्रति सावधानी

बगदादके एक खलीफाने अपना वेतन भी निश्चित कर रक्खा था। राजकार्य तथा प्रजाकी सेवाके बदले वे राज्यके कोषसे प्रतिदिन संध्यासमय तीन दिरम ले लिया करते थे। यद्यपि राज्यके अन्य कर्मचारियोंका वेतन इससे पर्याप्त अधिक था; किंतु खलीफा अपने लिये इतना ही पर्याप्त मानते थे।

एक बार खलीफाकी बेगमने उनसे प्रार्थना की—'आप मुझे तीन दिनका वेतन अग्रिम दे दें तो मैं बच्चोंके लिये ईदपर नये कपड़े सीकर बना दूँ।'

खलीफा बोले—'यदि मैं तीन दिन जीता न रहूँ तो यह कर्ज कौन चुकायेगा? तुम खुदासे मेरी जिन्दगीके तीन दिनका पट्टा ला दो तो मैं तीन दिनका अग्रिम वेतन खजानेसे उठाऊँ।'

बेचारी बेगम क्या कहती। अपने कर्तव्यनिष्ठ स्वामीकी सावधानी उसे भी बहुत सच्ची और उचित जान पड़ी।—सु० सिं०

---

१. श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत् कथमन्यान् स घातयेत्। यद् यदात्मनि कांक्षेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥
न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः। एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

कर्तव्यनिष्ठा

ईरानके शाह अब्बासको उनके एक पदाधिकारीने अपने यहाँ निमन्त्रण दिया था। निमन्त्रणमें पहुँचकर शाह तथा उनके परिकरोंने इतना मद्यपान किया कि वे उन्मत्त हो उठे। नशेमें ही शाह उठे और झूमते हुए उस पदाधिकारीके अन्त:पुरके द्वारपर पहुँच गये। परंतु उस अधिकारीका द्वारपाल इस प्रकार मार्ग रोककर खड़ा था कि उसे धक्का देकर हटाये बिना भीतर जाना सम्भव नहीं था। शाहने तलवार खींच ली और उसे डाँटा 'हट सामनेसे! नहीं तो, अभी तेरा सिर उड़ाये देता हूँ।'

द्वारपालने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक कहा—'मैं अपना कर्तव्य पालन कर रहा हूँ। आप मेरे देशके स्वामी हैं, आपपर मैं हाथ नहीं उठा सकता; किंतु जबतक मैं जीवित हूँ, आप भीतर नहीं जा सकते। मेरा वध करके आप मेरी लाशपर पैर रखकर भीतर जा सकते हैं। लेकिन श्रीमान्! मैं अपने स्वामीकी मर्यादाकी रक्षाके साथ आपकी भी रक्षाके लिये खड़ा हूँ। आप मुझे मारकर भीतर चले गये तो मेरे स्वामीकी बेगमें हथियार उठा लेंगी। एक पर-पुरुष उनका अनादर करे तो वे यह नहीं देखेंगी कि वह शाह खुद हैं या और कोई।'

शाह अब्बासका नशा अपने प्राण-भयकी बात सुनते ही ठंढा पड़ गया। वे लौट गये। दूसरे दिन दरबारमें उस पदाधिकारीने प्रार्थना की—'मेरे द्वारपालने जो बेअदबी की, उसे माफ करें। मैंने उसे आजसे अपने यहाँसे निकाल दिया है।'

शाह प्रसन्न होकर बोले—'चलो अच्छा हुआ, अब मुझे तुमसे उस कर्तव्यनिष्ठ सेवकको माँगना नहीं पड़ेगा। मैं उसे अपने अङ्गरक्षक सैनिकोंका सरदार बना रहा हूँ। उसे बुलाओ।'—सु० सिं०

नीति

ईरानके न्यायनिष्ठ बादशाह नौशेरवाँ एक बार कहीं शिकारमें निकले थे। भोजन बनने लगा तो पता लगा कि नमक नहीं है। एक सेवक पासके मकानसे नमक ले आया। बादशाहने इसे देख लिया। सेवकको बुलाकर उन्होंने पूछा—'नमकका मूल्य दे आये हो?'

सेवकने कहा—'इतनेसे नमकका मूल्य देनेकी क्या आवश्यकता है।'

बादशाहने उसे झिड़कते हुए कहा—'ऐसी भूल फिर कभी मत करना। पहिले नमकका मूल्य देकर आओ। बादशाह यदि प्रजाके किसी बागसे बिना मूल्य दिये एक फल ले ले तो उसके कर्मचारी बागको उजाड़ ही कर देंगे। वे शायद बागके पेड़ कटवाकर लकड़ियाँ भी जला डालें।'

सभी समय, सब देशोंके उच्चाधिकारियोंके लिये यह प्रशस्त आदर्श है। —सु० सिं०

अपूर्व स्वामि-भक्ति

स्वतन्त्र भारतके अन्तिम नरेश पृथ्वीराज युद्धभूमिमें पड़े थे। उन्हें इतने घाव लगे थे कि अपने स्थानसे वे न खिसक सकते थे, न हाथ उठा सकते थे। सच तो यह था कि वे मूर्छित थे। उन्हें अपने शरीरका पता ही नहीं था। उनके सैनिक पीछे हट गये थे। युद्ध-भूमिमें केवल आहत सैनिकोंका क्रन्दन बच रहा था। सैकड़ों, सहस्रों गीध उतर आये थे युद्ध-भूमिमें। वे मृत या मृतप्राय सैनिकोंको नोच-नोचकर अपना पेट भरनेमें लगे थे।

गीधोंका एक समुदाय पृथ्वीराजकी ओर बढ़ा आ रहा था। पृथ्वीराजसे थोड़ी ही दूरपर उनके अङ्गरक्षक

सामन्त संयमराय पड़े थे । संयमराय मूर्छित नहीं थे; किंतु इतने घायल थे कि उठना तो दूर, खिसकना भी उनके लिये असम्भव था । पृथ्वीराजकी ओर उन्होंने गीधोंको बढ़ते देखा । उस वीरने सोचा—'जिसकी रक्षाका भार मुझपर था, मेरे देखते हुए गीध उसे नोचें तो मुझे धिक्कार है ।' संयमरायने बगलमें पड़ी तलवार उठा ली और अपने शरीरका मांस टुकड़े-टुकड़े काटकर गीधोंकी ओर फेंकने लगे । गीध इन मांसके टुकड़ोंको खानेमें लग गये ।

पृथ्वीराजके सैनिक-सेवक उनकी शोधमें निकले । वे जबतक पहुँचे, तबतक वीर संयमराय मृत्युके निकट पहुँच चुके थे । उनके पार्थिव शरीरकी रक्षा नहीं हो सकी; किंतु काल भी उनकी उज्ज्वल कीर्तिको नष्ट करनेमें असमर्थ हो गया ।

अतिथिके लिये उत्सर्ग

मेवाड़के गौरव हिंदूकुल-सूर्य महाराणा प्रताप अरावलीके वनोंमें उन दिनों भटक रहे थे । उनको अकेले ही वन-वन भटकना पड़ता तो भी एक बात थी; किंतु साथ थीं महारानी, अबोध राजकुमार और छोटी-सी राजकुमारी । अकबर-जैसे प्रतापी शत्रुकी सेना पीछे पड़ी थी । कभी गुफामें, कभी वनमें, कभी किसी नालेमें रात्रि काटनी पड़ती थी । वनके कन्द-फल भी अलभ्य थे । घासके बीजोंकी रोटी भी कई-कई दिनपर मिल पाती थी । बच्चे सूखकर कंकाल हो रहे थे ।

विपत्तिके इन्हीं दिनोंमें एक बार महाराणाको परिवार-के साथ लगातार कई दिनोंतक उपवास करना पड़ा । बड़ी कठिनाईसे एक दिन घासकी रोटी बनी और वह भी केवल एक । महाराणा तथा रानीको तो जल पीकर समय बिता देना था; किंतु बच्चे कैसे रहें ? राजकुमार सर्वथा अबोध था । उसे तो कुछ-न-कुछ भोजन देना ही चाहिये । राजकुमारी भी अभी बालिका थी । आधी-आधी रोटी दोनों बच्चोंको उनकी माताने दे दी । राजकुमारने अपना भाग तत्काल खा लिया । परंतु राजकुमारी छोटी बच्ची होनेपर भी परिस्थिति समझती थी । छोटा भाई कुछ घंटे बाद भूखसे रोयेगा तो उसे क्या दिया जायगा, इसकी चिन्ता उस बालिकाको भी थी । उसने अपनी आधी रोटी पत्थरके नीचे दबाकर सुरक्षित रख दी, यद्यपि स्वयं उसे कई दिनोंसे कुछ मिला नहीं था ।

संयोगवश वहाँ वनमें भी एक अतिथि महाराणाके पास आ पहुँचे । राणाने उन्हें पत्ते बिछाकर बैठाया । पैर धोनेको जल दिया । इतना करके वे इधर-उधर देखने लगे । आज मेवाड़के अधीश्वरके पास अतिथिको जल पीनेको देनेके लिये चनेके चार दाने भी नहीं । किंतु उनकी पुत्रीने पिताका भाव समझ लिया । वह अपने भागकी रोटीका टुकड़ा पत्तेपर रखकर ले आयी । अतिथिके सम्मुख उसे रखकर बोली—'देव ! आप इसे ग्रहण करें । हमारे पास आपका सत्कार करने योग्य आज कुछ नहीं है ।'

अतिथिने रोटी खायी, जल पिया और विदा हो गया; किंतु वह बालिका मूर्छित होकर गिर पड़ी । भूखसे वह दुर्बल हो चुकी थी । यह मूर्छा उसकी अन्तिम मूर्छा बन गयी । अतिथिके सत्कारमें उसने अपनी आधी रोटी ही नहीं दी थी, अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था ।

शौर्यका सम्मान

दक्षिण भारतका बहुत छोटा सा राज्य था बल्लारी । उसका शासक कोई वीर पुरुष नहीं था, एक विधवा नारी थी । परंतु वह नारी—शौर्यकी प्रतिमा थी वह । उनका नाम था मलबाई देसाई । छत्रपति महाराज

शिवाजीकी सेनाने बल्लारीपर चढ़ाई की। जिन महाराष्ट्रोंकी दक्षताने दिल्लीके बादशाह औरंगजेबको 'तोबा' बुलवा रक्खा था, उनकी विशाल सेनाका सामना बल्लारीके मुट्ठीभर सैनिक कैसे करते। किंतु बल्लारीके सैनिक लड़े और खूब लड़े। छत्रपतिने बल्लारीके शूरोंके शौर्यको देखा और 'वाह !' बोल उठे।

बल्लारीके सैनिकोंका एक बड़ा भाग खेत रहा। शेष बंदी किये गये। पराजय तो पहिलेसे निश्चित थी; किंतु मलबाई बंदिनी होकर भी सम्मानपूर्वक ही छत्रपतिके सम्मुख उपस्थित की गयीं, यद्यपि अपने सम्मानसे मलबाई प्रसन्न नहीं थीं। उन्होंने शिवाजीसे कहा—'एक नारी होनेके कारण मेरा यह परिहास क्यों किया जा रहा है ? छत्रपति ! तुम महाराज हो, तुम्हारा राज्य बड़ा है और बल्लारी छोटा राज्य है। तुम स्वतन्त्र हो, थोड़ी देर पहिले मैं भी स्वतन्त्र थी, मैंने स्वतन्त्रताके लिये पूरी शक्तिसे संग्राम किया है, क्या हुआ जो तुमसे शक्ति कम होनेके कारण मैं पराजित हुई। परंतु तुम्हें मेरा अपमान तो नहीं करना चाहिये। तुम्हारे लोगोंका यह आदरदानका अभिनय अपमान नहीं तो और है क्या ? मैं शत्रु हूँ तुम्हारी, तुम मुझे मृत्युदण्ड दो।'

छत्रपति सिंहासनसे उठे, उन्होंने हाथ जोड़े—'आप परतन्त्र नहीं हैं। बल्लारी स्वतन्त्र था, स्वतन्त्र है। मैं आपका शत्रु नहीं हूँ, पुत्र हूँ। अपनी तेजस्विनी माता जीजाबाईकी मृत्युके बाद मैं मातृहीन हो गया हूँ। मुझे आपमें अपनी माताकी वही तेजोमयी मूर्तिके दर्शन होते हैं। आप यदि शिवाके अपराध क्षमा कर सकें तो उसे अपना पुत्र स्वीकार कर लें।'

मलबाईके नेत्र भर आये। वे गद्गद कण्ठसे बोलीं—'छत्रपति ! सचमुच तुम छत्रपति हो। हिंदूधर्मके तुम रक्षक हो और भारतके गौरव हो। बल्लारीकी शक्ति तुम्हारी सदा सहायक रहेगी।'

महाराष्ट्र और बल्लारीके सैनिक भी जब आवेशमें छत्रपति शिवाजी महराजकी जय बोल रहे थे, स्वयं छत्रपतिने उद्घोष किया—'माता मलबाईकी जय !'

मैं आपका पुत्र हूँ

महाराज छत्रसाल स्वयं नगरमें घूमते थे और प्रजाजनोंसे उनका कष्ट पूछते थे। 'जिस राजाके राज्यमें प्रजाके लोग दुःख पाते हैं, वह नरेश नरकगामी होता है।' छत्रसालने इसे आदर्श बना लिया था।

सुगठित उच्च शरीर, भव्य भाल, विशाल लोचन, आजानुबाहु महाराजको देखकर एक नारी उनपर मुग्ध हो गयी। 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' अतः वह नारी महाराजके समीप आयी, उसने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'मैं अत्यन्त दुःखिनी हूँ।

'आपको क्या क्लेश है देवि !' महाराजने पूछा।

नारीने छलपूर्वक उत्तर दिया—'श्रीमान् मेरा कष्ट दूर करनेका वचन दें तो प्रार्थना करूँ।'

सरल हृदय महाराजने कह दिया—'मुझसे सम्भव होगा तो आपका कष्ट अवश्य दूर करूँगा।'

नारीने अब विचित्र भंगीसे कहा—'मैं संतानहीन हूँ। मुझे आप-जैसा पुत्र चाहिये।'

छत्रसाल दो क्षणको स्तब्ध हो गये; किंतु शीघ्र ही उन्होंने उस नारीके चरणोंमें मस्तक झुकाते हुए कहा—'आपको मेरे समान पुत्र चाहिये, अतः माता ! यह छत्रसाल ही आपका पुत्र है।' छत्रसालने उसे राजमाताकी भाँति स्वीकार किया।

स्वामिभक्तिका आदर्श

अतिथि-सत्कार

शौर्यका सम्मान

मातृ-दर्शन
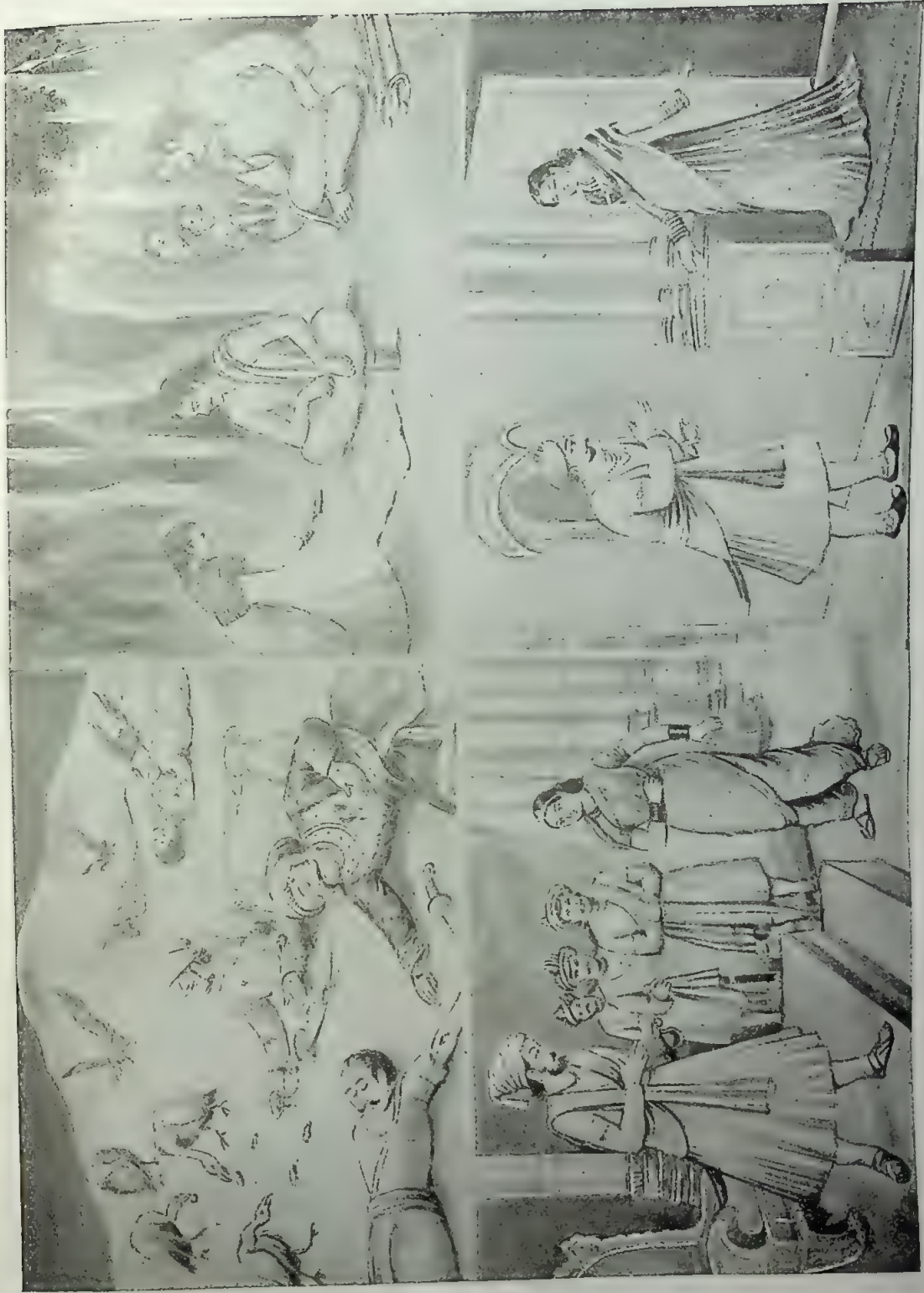
चन्द्राकी मरण-चन्द्रिका

लाजवंतीका सतीत्व-लालित्य

चन्द्राकी मरणचन्द्रिका

अरुणोदयका समय था। चन्द्रावती अपनी हवेलीसे बाहर निकली, उसके कटिदेशमें मिट्टीका नवीन कलश ऐसा लगता था मानो भगवान् मोहिनीने अमृत-कुम्भ रख लिया हो। उसका समस्त शरीर ईंगुरके रंगके समान था, उसने लाल रंगका घाघरा पहना था और झीनी-झीनी ओढ़नी भी लाल ही थी; ऐसा लगता था मानो साक्षात् ऊषा सूर्यको अर्घ्य देनेके लिये निकल पड़ी हो। पवन मन्द-मन्द गतिशील था।

'बाई सौभाग्यवती हों', पहरेपर बैठे दरवानने अभिवादन किया।

'देखो, निकल आयी हमारी चन्द्रारानी' सातों सखियोंने दरवाजेपर ही स्वागत किया। उनके हाथमें कलश थे, चन्द्रावती उन्हें प्राणोंसे भी अधिक चाहती थी, वे नित्य सबेरे और शामको उसके साथ बावलीसे पानी लाने जाया करती थीं।

बावली हवेलीसे पाव कोस दूर थी। राजस्थानमें पानी आसानीसे नहीं मिलता है। चन्द्रावतीके पिता एक साधारण भूमिपति थे। हवेलीसे थोड़ी दूरपर एक छोटी-सी बस्ती थी। उसमें उनके सैनिक तथा परिचारक आदि रहते थे। वे एक छोटी-सी सेनाके अधिपति थे। उनके आश्रितोंकी कन्याएँ सदा चन्द्रावतीका मन बहलाया करती थीं। बावलीसे पानी लाना उनका नित्यका काम था।

× × ×

इधर चन्द्रावती सखियोंके साथ बावलीकी ओर बढ़ रही थी, उधर धूप चढ़ती जा रही थी। उसने देखा—बावलीके उस पार बहुत-से तंबू और खेमे लगे हुए थे। उनके आस-पास अगणित हाथी-घोड़े और ऊँट बँधे हुए थे। खेमोंपर हरे झंडे लहरा रहे थे, जिनमें चाँद अङ्कित था। चन्द्राने देखा नाटे और ठिंगने तथा पीले रंगके सैनिकोंको; उनकी काली दाढ़ीसे वह सिहर उठी!

'धूतू-धूतू' बड़े जोरसे सिंहा बज उठा।

'राजस्थानपर दिल्लीके मुगल चढ़ आये हैं चन्द्रा! उनकी सेनाकी यह एक छोटी-सी टुकड़ी है।' किसी सखीने उसकी उत्सुकता कम की।

'पर हमारी वीरप्रसविनी भूमिको अपवित्र करनेका इन्होंने साहस किस तरह किया? क्या इन्हें महाराणा हम्मीर और राणा साँगाकी तलवारकी धारका विस्मरण हो गया? क्या इन्हें पता नहीं है कि चित्तौड़के किलेमें जौहरयज्ञ करनेवाली पद्मिनीकी चिताकी राख क्षणमात्रमें इन्हें भस्म कर सकती है?' चन्द्रावतीके नेत्र लाल हो गये।

'राजस्थानका बच्चा-बच्चा राणा साँगा है, चन्द्रा! और हमारे रक्षक हाडा राव और उनके नौजवान लाड़लेके रहते किसी म्लेच्छका साहस नहीं है कि हमारी धरतीकी ओर आँख उठाये, काले नागकी तरह उसका सिर कुचल दिया जायेगा, हम राजपूतकी संतान हैं।' सखीने चन्द्रावतीकी अँगुली पकड़ ली। वे जलभरे कलश लेकर हवेलीकी ओर चल पड़ीं; हवेली तनकर खड़ी थी, उसकी श्वेतता उसकी निष्कलंकताकी प्रतीक थी और चन्द्रावती बार-बार उसीकी ओर देखा करती थी मानो वह उससे कह रही थी कि प्राण रहते तुम्हारी दीवारोंपर म्लेच्छ कालिख नहीं पोत सकेंगे और वह उमंगसे चली जा रही थी सखियोंको अपनी आनन्दमयी मुसकानसे नहलाते।

'ठहरो!' एक सैनिक घोड़ेसे उतर पड़ा, वह चन्द्रावतीके सामने खड़ा हो गया। उसकी अवस्था पचीस सालकी रही होगी, रंग गेहुँआ था, पर चेहरेपर पीलापन था, आँखें छोटी-छोटी और भीतरकी ओर धँसी हुई थीं। मूँछें छोटी थीं, दाढ़ी आ रही थी।

'सावधान, यदि हमारी सखीका स्पर्श करोगे तो

दिल्ली लौटना कठिन होगा; हाडा राव तुम्हारी बोटी-बोटी काटकर अपने शिकारी कुत्तोंके सामने डाल देंगे।' एक सहेलीने बुगल पठानको ललकारा।

'हम दिल्ली लौटनेके लिये नहीं, राजस्थानपर शासन करने आये हैं, हमारे रक्तमें चंगेज और तैमूर तथा बाबरका ऐश्वर्य रात-दिन प्रवाहित होता रहता है।' बुगल पठानने चन्द्राका हाथ पकड़ लिया।

'पापी, नीच, कायर! चंगेज, तैमूर और बाबरका नाम लेते तुझे लज्जा नहीं आती है। चंगेज भारतकी ओर आँख उठाकर देख तक नहीं सका; तैमूर नौ दो ग्यारह हो गया और बाप्पा रावलके वंशज राणा साँगाके सामने जिस बाबरकी एक भी न चली, उसकी वीरताकी डींग हाँकता है।' चन्द्रावतीके अङ्ग-अङ्गसे रोषकी ज्वाला निकल पड़ी, वह ऐसी लगती थी मानो रावणको धिक्कारनेवाली सीता हो या दुर्योधनको कुपित दृष्टिसे निहारनेवाली पाञ्चाली द्रौपदी हो।

असहाय राजकन्याने आकाशकी ओर देखा मानो वह देवोंसे स्वरक्षाकी प्रार्थना कर रही हो।

'मुझे दुराचारी राक्षस हरकर ले जाना चाहता है। हे पक्षी! तुम्हें मेरे पिताकी नंगी तलवारकी शपथ है, उनसे कहो कि चन्द्रा हवेलीमें फिर कभी नहीं पैर रख सकेगी।' उसने आकाशमें उड़ते काँवली चिड़ियाकी ओर संकेत किया और उसकी आँखोंसे टप-टप अश्रु-कण गिर पड़े, मानो जन्मभूमिका परित्याग उसके लिये असह्य था।

'मुझे गीदड़ अपनी भुजाओंसे कलंकित करना चाहता है। काँवली! तुम्हें मेरे भैयाकी राखीकी शपथ है, उनसे कहना कि मेरे हाथोंकी मेंहदीसे राखीके रेशमी डोरे अरुण न हो सकेंगे।' चन्द्रावतीने बुगल पठानको देखा मानो सिंहिनी गजराजको भयभीत कर रही हो।

'मुझे मृत्यु अपने अङ्कमें भरकर यमराजको प्रसन्न करना चाहती है। काँवली! तुम्हें मेरे पातिव्रतकी शपथ है, मेरे प्रियतम प्राणेश्वरसे कहना कि चन्द्रा स्वर्गमें ही मिल सकेगी।' चन्द्राके ये अन्तिम शब्द थे और काँवली हवेलीकी ओर उड़ चली।

बावलीका जल शान्त था। वातावरण गम्भीर था। चन्द्रावती विवश थी।

× × ×

'पिताजी! हम ऐसा कभी न होने देंगे। बुगल पठानको दिल्ली जीवित भेजनेसे हमारे पूर्वजोंकी तलवारें आत्मग्लानिमें डूब जायँगी। चन्द्रावतीका स्पर्श करनेवाला जीता रहे, यह असम्भव है।' चन्द्रावतीके भाईने घोड़ेको एड़ लगायी और वह हाडा रावके हाथीकी बगलमें आ गया; नौजवान राजपूतके कटिदेशमें लटकती तलवार रणकी चुनौती दे रही थी। उसने घूमकर पीछे देखा; अगणित घोड़े और ऊँट बढ़ते चले आ रहे थे; उनके सवारोंको देखकर राजपूतका सीना फूल गया!

'बेटा! गिनतीमें हमारे ये ऊँट, घोड़े, हाथी और सवार तथा अस्त्र-शस्त्र मुगलोंके सामने कुछ भी नहीं हैं, रणमें हम आधी घड़ी भी उनका सामना नहीं कर सकते हैं। इस समय दण्ड नहीं, दाम-नीतिकी आवश्यकता है।' वृद्धने पुत्रको बड़े प्रेमसे देखा और नेत्रोंसे विवशता टपक पड़ी।

'पर म्लेच्छको उत्कोच देकर चन्द्राको लौटाना हमारे लिये लज्जा और अपमानकी बात है। चन्द्रा जलकर राख हो जायगी, पर हवेलीमें पैर नहीं रक्खेगी।' राजपूतने वृद्ध पिताको सावधान किया तथा चन्द्रावतीके पतिको देखा, मानो जानना चाहता था कि वह ठीक ही कह रहा है।

'मुगलोंका भाग्य-सूर्य इस समय मध्याह्नमें है। कान्धारसे बंगालतककी भूमि उनके अधीन है।' वृद्धने गम्भीर साँस ली।

'और आप चाहते हैं कि राजस्थान भी कलंकित हो जाय। ऐसा नहीं होगा पिताजी।' युवकने घोड़ेकी चाल बढ़ायी।

'मेरा सामूहिक रणमें विश्वास है, यदि हम छुट-फुट लड़ते रहेंगे तो कहींके न रहेंगे कुमार! हमारी साम-दाम-नीतिसे राजस्थान कलंकित नहीं, विजयी होगा। जिसे तुम उत्कोच समझते हो वह रणकी चुनौती है।' वृद्धने अपनी सफेद मूँछोंपर अँगुली फेरी। राजपूतोंने मुगल-खेमोंको देखा। वे बावली-तटपर थे। तीसरे पहरका सूर्य ढल रहा था और जाड़ेकी बालुकामयी हवा वेगवती हो उठी।

× × ×

'मुझे धन नहीं चाहिये, मैं पृथ्वी और विशाल सेनाका भोग नहीं चाहता, चन्द्रावती मेरी है और सदा मेरी रहेगी।' बुगल पठानने वृद्ध राजपूतके कथनकी उपेक्षा की, हाडा रावके नेत्र लाल हो गये, वे हाथ मलने लगे।

'पिताजी! आप निश्चिन्त रहें, चन्द्रावती भूखों मर जायगी, पर मुगलके घरकी रोटी नहीं तोड़ेगी।' चन्द्रावतीने हाडा रावके चरणकी धूलि मस्तकपर चढ़ायी।

'मैं चन्द्रावतीके लिये राजस्थानका कण-कण राजपूतों और मुगलोंके खूनसे लाल कर दूँगा।' बुगल पठानके इस कथनसे राजपूत युवककी त्योरी चढ़ गयी; चन्द्रावतीके भाईने म्यानसे तलवार खींच ली।

'भैया! आप विश्वास रक्खें, मैंने जिन हाथोंसे राखी बाँधी है उनसे पठानके घर पानी नहीं भरूँगी। प्राण दे दूँगी, पर म्लेच्छके घरका जल नहीं पीऊँगी।' चन्द्रावतीने ओजस्विताका आश्रय लिया। वह रणचण्डी-सी गरज उठी।

'मैं चन्द्रावतीके लिये राजपूतनियोंका सिंदूर धूलिमें मिला दूँगा। राजस्थान जनशून्य हो जायगा।' बुगल पठानने चन्द्रावतीके पतिको ताना मारा।

'प्राणेश्वर! आप मेरी आत्मा हैं, मैं अपने सिंदूरकी शपथ लेती हूँ, मेरा शव मुगलकी सेजतक नहीं जा सकेगा, मैं उसे सत्यकी ज्वालासे राख कर दूँगी।' चन्द्रावतीने अपने पतिसे प्रतिज्ञा की।

× × ×

'अब तो प्राण जा रहे हैं। आह, पानी! पानी!! पानी चाहिये।' चन्द्राके वचन-बाणसे कामान्ध बुगलका हृदय घायल हो गया। वह वासनाका पुतला जलपात्र लेकर बावलीकी ओर जा ही रहा था कि पलभरमें सारे तंबू और खेमे आगकी ज्वालामें धायँ-धायँ जलने लगे। बुगलकी आशा स्वाहा हो गयी। सत्य क्रुद्ध हो उठा।

हवेलीकी ओर जाते हुए हाडा राव, चन्द्राके भाई और पतिने बावलीकी ओर देखा तो लाल-लाल लपटोंसे उनका आत्मसम्मान उन्नत हो उठा। पश्चिम आकाशकी लालिमामें चन्द्राके प्राण समा गये। उसके जीवनका सूर्य अस्त हो गया। राजस्थानकी लोक-वाणीमें चन्द्रा चिरसुहागिन हो उठी!—रा० श्री०

लाजवंतीका सतीत्व-लालित्य

युद्ध समाप्त हुआ। एक-एक करके सभी राजपूत कट मरे! परंतु किसीने दीनतायुक्त पराधीनता स्वीकार न की। दूसरी ओर किलेमें धुएँका पहाड़ उठ रहा था! एक तड़ाकेके शब्दके साथ आग भड़क उठी और आसमानसे बातें करने लगी। राजपूत-ललनाओंने पवित्र जौहर-व्रत पूर्ण किया! अकबरके हाथ क्या आया? जला हुआ शहर। टूटे हुए मकान। जली हुई हड्डियाँ! मांसके लोथड़ोंकी ढेरी! यह देखकर क्रूर अकबरकी आँखोंमें आँसू भर आये। वह कहने लगा—'ओहो! राज्य बढ़ानेकी उमंगमें कितनी हत्याएँ होती हैं।'

अकबर अपनी क्रूरतापर पछता रहा था। इतनेमें कई मुसल्मान सिपाहियोंने एक शस्त्रास्त्रधारी तेजस्वी तरुणको अकबरके सामने पेश किया। उसकी मुश्कें कसी हुई थीं! चेहरेपर बाँकेपनके चिह्न थे! बड़ा अल्हड़ जवान था। आँखें रक्तके समान लाल हो रही थीं। इतना होनेपर भी मुखाकृतिमें बड़ी सुकुमारता थी उसके। अकबरने कहा—'तू कौन है? ऐसी बीभत्स स्थितिमें क्यों यहाँ आया है?'

युवक—'मैं पुरुष नहीं हूँ! स्त्री हूँ! अपने स्वामीके शवकी खोजमें यहाँ आयी हूँ!'

'तेरा नाम क्या है?'

'मेरा नाम लाजवंती है!'

'तू कहाँ रहती है?'

'मेरा घर डूँगरपुर है।'

'चित्तौड़ और डूँगरपुरके बीच कितना फासला है? तू यहाँ क्यों और कैसे आयी?'

'फासला बहुत है। मैंने सुना कि चितौड़में जौहर होनेवाला है! राजपूत वीर और वीराङ्गनाएँ दोनों धर्मकी वेदीपर बलिदान होनेकी तैयारियाँ कर रहे हैं! इस शुभ समाचारको सुनकर मेरा स्वामी तो पहले ही चला आया था। मुझे पीछेसे पता चला। मेरी तीव्र इच्छा थी कि भाग्यवती राजपूतनियोंके समान मुझे भी सतीत्वकी चितापर जलनेका सौभाग्य प्राप्त हो! किंतु मेरे आनेसे पहले ही यहाँ सब कुछ समाप्त हो चुका। अतएव मैं स्वामीके शवको खोजनेके लिये रणभूमिमें चली आयी और तेरे क्रूर सिपाहियोंने मुझे पकड़ लिया!'

अकबर विस्मययुक्त हो मनमें कहने लगा, 'ओहो! मुझे सब जहाँपनाह और खुदाबंद कहते हैं, पर यह लड़की कितनी निडर है, जो कहती है तेरे क्रूर सिपाहियोंने मुझे पकड़ लिया! सचमुच राजपूत-रमणी बड़ी निडर होती है! शाबाश।'

'तूने कैसे समझ लिया कि तेरा स्वामी युद्धमें काम आ गया! सम्भव है वह भाग गया हो।'

(हँसती हुई) 'अकबर! तू राजपूतोंके धर्मको नहीं जानता। राजपूत रणभूमिसे कभी भागते नहीं। यह तेरी भूल है! मैं जानती हूँ मेरा स्वामी धर्मसे कभी डिग नहीं सकता!'

'तेरी उसके साथ कब शादी हुई थी?'

'शादी नहीं! अभी सगाई हुई थी! विवाह होनेही वाला था कि तूने चित्तौड़पर चढ़ाई कर दी।'

अकबरने विशेष विस्मययुक्त होकर कहा—'नेकबख्त! जब शादी नहीं हुई तब वह तेरा शौहर (स्वामी) कैसे हो गया? तू घर लौट जा! किसी औरके साथ तेरी शादी हो जायगी?'

वह क्रोधसे आँखें लाल करके बोली—'अकबर! क्या तुझे ईश्वरने इसीलिये सामर्थ्य दी है कि किसी सती रमणीके विषयमें ऐसे अपमानजनक वाक्य अपने मुँहसे निकालनेका दुःसाहस करे?'

बादशाह उसके तेजसे डर गया, उसने कहा—'नहीं बेटी! मैं तेरी बेइज्जती करना नहीं चाहता! इतनी लाशोंमें तेरे मँगतेरेकी लाशका मिलना मुश्किल है! अगर तुझमें हिम्मत है तो जा ढूँढ़ ले और तेरे जीमें आवे सो कर!'

अकबरकी आज्ञा पाकर लाजवंतीने अपने स्वामीका शव ढूँढ़ निकाला और डेरेमेंसे लकड़ियाँ लाकर एकत्र की तथा शवको उसपर लिटा दिया! पाँच बार परिक्रमा करके चकमकसे आग जलायी। जब आग जलने लगी, तब देवीके समान स्वामीको गोदमें बैठा लिया और चुपचाप शान्तभावसे सबके देखते-देखते जलकर भस्म हो गयी। सिपाही आश्चर्यचकित हो अपनी भाषामें अनेक प्रकारके गीत गाकर राजपूत सतीके सहज पति-प्रेमकी प्रशंसा करने लगे!

अभिमानकी चिकित्सा

(मन्दाकिनीका मोह-भङ्ग)

राजकुमारी मन्दाकिनी प्रथम तो पिताकी एकमात्र संतान अत्यन्त दुलारी और दूसरे विख्यात सुन्दरी। उसमें सौन्दर्यके साथ सदाचार-प्रतिभा आदि और सद्गुण थे। परंतु इन सब सद्गुणों तथा पिताके स्नेहने उसे अभिमानिनी बना दिया था। उसका अहंकार इतना बढ़ गया था कि किसी दूसरेको वह अपने सामने कुछ समझती ही नहीं थी। अनेक राजकुमारोंने उससे विवाह करना चाहा, किंतु किसीको वह अपने योग्य माने तब तो।

प्रत्येक बातकी एक सीमा होती है। कन्याकी अवस्था बढ़ती जा रही थी। महाराजको लोक-निन्दाका भय था। लोग कानाफूसी करने भी लगे थे; किंतु राजकन्या थी अपने अहंकारमें। वह किसी राजकुमारको वरण करनेको प्रस्तुत ही नहीं होती थी। अन्तमें महाराजने पड़ोसके युवक राजा रंगमोहनसे कुछ मन्त्रणा करके घोषणा कर दी—'राजकुमारीके आगामी जन्म-दिन प्रातःकाल जो पुरुष नगरद्वारमें पहिले प्रवेश करेगा, उसके साथ राजकुमारीका विवाह कर दिया जायगा, फिर वह कोई भी हो।'

राजकुमारीका जन्मदिन आया। प्रातःकाल नगर-द्वारमें सबसे पहिले प्रविष्ट होनेवाले पुरुषको राजसेवक पकड़ लाये। वह था फटे-चिथड़े लपेटे एक भिक्षुक। परंतु वह युवक था, सुन्दर था और पूरा अलमस्त था। उसके मुखपर सदा प्रसन्नता खेलती रहती थी। महाराजने राजपुरोहितको बुलवाया और बिना किसी धूम-धामके उन्होंने उसी दिन उस भिक्षुकके साथ राजकन्याका विवाह कर दिया। राजकुमारी चिल्लायी, मचली और रोते-रोते उसने अपने सुन्दर नेत्र लाल बना लिये; किंतु आज उसके पिता निष्ठुर बन गये थे। उन्होंने पुत्रीके रोने-चिल्लानेपर ध्यान ही नहीं दिया। भिक्षुकको केवल पाँच स्वर्णमुद्रा देकर उन्होंने कहा—'तू अपनी पत्नीको लेकर मेरे राज्यसे शीघ्र निकल जा। स्मरण रख कि यदि फिर तू या तेरी पत्नी मेरे राज्यमें आयी तो प्राणदण्ड दिया जायगा।'

'चलो मन्दाकिनी!' भिक्षुकने राजकन्याका हाथ पकड़ा और चल पड़ा। रोती-बिलखती राजकुमारी उसके साथ जानेको विवश थी। परंतु भिखारी ज्यों-का-त्यों प्रसन्न था। वह पत्नीके रोनेपर ध्यान दिये बिना गीत गाता जाता था।

राजकन्याको पैदल ही पिताके राज्यसे बाहर जाना पड़ा। भिखारी उससे मधुर भाषामें बोलता था, उसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न करता था। पर्याप्त दूर जानेपर जंगलमें नदी-किनारे एक फूसकी झोपड़ीमें दोनों पहुँचे। भिखारीने कहा—'अब यही तुम्हारा घर है। तुम्हें स्वयं अब जंगलके पत्ते और लकड़ियाँ लानी पड़ेंगी। कन्द-मूल जो कुछ मिलेगा, उसे उबालकर खाना पड़ेगा। पासके गाँवमें लकड़ियाँ बेचने जाना होगा। मैं भी जितना बन सकेगा, तुम्हारी सहायता करूँगा।'

राजकन्याके लिये यह जीवन कितना दुःखद था, यह आप अनुमान कर सकते हैं; किंतु विवशता सब करा लेती है। एक ही सुख उसे था कि भिखारी उसके साथ बहुत प्रेमपूर्ण व्यवहार करता था। कुछ दिनों बाद भिखारीने वह झोपड़ी छोड़ दी। मन्दाकिनीको लेकर वह एक गाँवमें आया। वहाँ वे दोनों एक खंडहर-प्राय घरमें रहने लगे। भिखारी कहींसे कुछ पैसे ले आया और उससे उसने मिट्टीके बर्तन खरीदे। पत्नीसे उसने कहा—'इन बर्तनोंको बाजारमें ले जाकर बेच आओ।'

किसी समय जो राजकन्या थी, उसके लिये सिरपर बर्तन उठाकर बाजारमें जाना बड़ा कठिन जान पड़ा; किंतु जाना पड़ा उसे। भिखारीने उसे स्पष्ट कह दिया कि यदि उसकी आज्ञाका पालन न करना हो तो वह मन्दाकिनीको छोड़कर चला जायगा। बेचारी मन्दाकिनी बर्तन सिरपर उठाकर बाजार गयी। उसे बर्तन बेचना तो आता नहीं था, दूसरोंसे नम्र व्यवहार करना भी नहीं आता था। बाजारमें बर्तन रखकर वह उनके पास खड़ी रही। भूमिमें बैठना उसे बहुत बुरा लगा।

एक युवक घुड़सवार बाजारमें आया। उसने मन्दाकिनीसे बर्तनोंके दाम पूछे। मन्दाकिनीने रूखे स्वरमें दाम बताये तो घुड़सवार लौट पड़ा। मोड़ते समय उसका घोड़ा भड़क उठा। फलतः घोड़ेके पैरोंकी ठोकरसे सब बर्तन फूट गये। घुड़सवारने इधर ध्यान ही नहीं दिया। वह चला गया। मन्दाकिनी रोती हुई घर लौटी। भिखारी क्रुद्ध होगा, इस भयसे उसके प्राण काँप रहे थे।

भिखारी आया। रोते-रोते मन्दाकिनीके नेत्र फूल उठे थे। भिखारी कुछ बोला नहीं। परंतु दूसरे दिन उसने कहा—'मन्दाकिनी! तुझे कोई काम आता नहीं। मिट्टीके बर्तन फूट गये। अब हम दोनोंका कैसे निर्वाह होगा? एक उपाय है—नगरमें चलें। राजा रंगमोहनकी पाकशालामें तुम्हें कोई नौकरी दिलवानेका प्रयत्न करें। तुम्हें काम मिल जाय तो तुम्हारी ओरसे निश्चिन्त होकर मैं भी कहीं काम ढूँढ़ूँ। कुछ धन एकत्र हो जानेपर कोई व्यापार कर लूँगा और तब तुम्हें भी अपने पास बुला लूँगा।'

राजा रंगमोहनका नाम सुनकर मन्दाकिनीने दीर्घ श्वास ली। एक समय इस नरेशने उससे विवाह करनेका प्रस्ताव किया था। आज वह राजरानी होती; किंतु हाय रे गर्व! उसी राजभवनमें दासी बनने वह जा रही है। जानेके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं। मन्दाकिनी नगरमें गयी और राजाकी पाकशालामें उसे नौकरी मिल गयी। भिखारी उससे विदा होकर कहीं चला गया।

मन्दाकिनीका गर्व नष्ट हो गया था। उसका स्वभाव बदल गया था। अब वह अत्यन्त विनम्र, परिश्रमी और सावधान सेविका बन गयी थी। रसोई-घरकी अध्यक्षा रम्भाकुमारी उसके कार्यसे अत्यन्त संतुष्ट थीं।

वसन्त पञ्चमी आयी। राजा रंगमोहनका यह जन्म-दिन था। सभी सेवकोंको इस दिन नरेश अपने हाथसे पुरस्कृत करते थे। दूसरी सेविकाओंके साथ मन्दाकिनीको भी राजसभामें जाना पड़ा। जब सब सेवक पुरस्कृत हो चुके और सब सेविकाएँ भी पुरस्कार पा चुकीं, तब उसे पुकारा गया। वह हाथ जोड़े, मस्तक झुकाये राजसिंहासनके सामने खड़ी हो गयी। नरेशने कहा—'मन्दाकिनी! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। तुम्हें तो मैं अपनी रानी बनाना चाहता हूँ।'

मन्दाकिनी चौंक पड़ी; वह बोली—'महाराज! आपको ऐसी अधर्मपूर्ण बात नहीं करनी चाहिये। मैं परस्त्री हूँ। क्या हुआ जो मेरा पति भिक्षुक है। मेरा तो वही सर्वस्व है। उसे छोड़कर मैं दूसरे पुरुषकी कामना नहीं करती। वही मेरा स्वामी है। आपकी मुझपर बहुत कृपा है तो इतना अनुग्रह करें कि मेरे पतिका पता लगवाकर उसे बुला दें। मैं पाकशालामें सेवा करके प्रसन्न हूँ।'

महाराज रंगमोहन भीतर चले गये और थोड़ी देरमें वह भिखारी राजमहलसे निकला। मन्दाकिनी उसे देखते ही दौड़कर उसके पैरोंपर गिर पड़ी। भिखारी मुसकराया—'मन्दाकिनी! मुझे ध्यानसे देखो तो। तुम्हें मुझमें और रंगमोहनमें कुछ सादृश्य नहीं मिलता?'

भेद खुल गया था। भिखारीके वेशमें उसका पाणि-ग्रहण करनेवाले स्वयं राजा रंगमोहन थे और वह थी उनकी महारानी। राजाने कहा—'मन्दाकिनी! क्षमा करना, तुम्हारे अभिमानकी दूसरी कोई औषध मुझे मिलती ही नहीं थी।'—सु० सिं०

सच्ची पतिव्रता

जयदेव-पत्नी

परम भक्त श्रीजयदेवजीकी पतिव्रता पत्नीका राजभवनमें बड़ा सम्मान था। राजभवनकी महिलाएँ उनके घर आकर उनके सत्सङ्गका लाभ उठाया करती थीं। एक दिन बातों-बातोंमें ही रानीसे पद्मावतीने कहा—'जो स्त्री पतिके मर जानेपर उसकी देहके साथ सती होती हैं, वे नीची श्रेणीकी सती हैं। सच्ची पतिव्रता तो पतिकी मृत्युका संवाद पाते ही प्राण त्याग देती है। पतिकी मृत्युका समाचार पाकर उसके प्राण क्षणभर भी शरीरमें टिक नहीं सकते।'

रानीको यह बात ठीक नहीं लगी। उनके मनमें ईर्ष्या जाग उठी। पद्मावतीजीकी परीक्षा करनेका उन्होंने निश्चय कर लिया। एक समय नरेश आखेटमें गये थे। जयदेवजीको भी वे साथ ले गये थे। अवसरका लाभ उठाकर रानीने मुख उदास बनाकर पद्मावतीजीके पास जाकर कहा—'पण्डितजीको वनमें सिंह खा गया।'

रानीसे यह बात सुनते ही पद्मावती 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' कहकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ीं और उनका शरीर निष्प्राण हो गया। रानीके तो होश उड़ गये। उनके दुःखका पार नहीं था। महाराजके साथ जयदेवजी नगरमें लौटे। उन्हें समाचार दिया गया। जयदेवजीको पत्नीकी मृत्युका दुःख नहीं था, दुःख उन्हें हुआ रानीके शोककी बात सुनकर। उन्होंने कहलाया—'रानी माँसे कहो, वे घबरायें नहीं। मेरी मृत्युके संवादसे पद्मावतीके प्राण निकले हैं तो अब मेरे जीवित लौटनेपर उसके प्राणोंको लौटना भी पड़ेगा।'

जयदेवजीने भगवान्‌से प्रार्थना की और पद्मावतीकी देहके पास कीर्तन प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे पद्मावतीके शरीरमें चेतना लौटी और वे उठ बैठीं। —सु० सिं०

अच्छे पुरुष साधारण व्यक्तिकी बातोंका भी ध्यान करके कर्त्तव्यपालन करते हैं

गजनीसे ईरानको एक सड़क जाती है। इस रास्तेपर पहले लुटेरोंका भयंकर अड्डा था और इस मार्गसे कोई भी व्यापारी निरापद नहीं निकल पाता था। एक बार इन लुटेरोंने एक कारवाँ लूटा और खुरासानके एक युवकको मार डाला। अब उसकी माता रोती-पीटती सुलतान महमूदके दरबारमें पहुँची। बादशाहने सारी बातें सुनकर कहा—'वह स्थान यहाँसे बहुत दूर है और वहाँकी बातोंको देखना मेरे लिये बड़ा कठिन है।'

बुढ़ियाने कहा—'ऐसा देश, जहाँ तुम शान्ति नहीं रख सकते, अपने पास क्यों रखते हो?' महमूद इससे बड़ा प्रभावित हुआ और वह लुटेरोंके दमन करनेके लिये तुरंत तैयार हो गया तथा यात्रियोंकी रक्षाके लिये उसने उस सड़कपर उचित व्यवस्था कर दी।

नावेरकी सीख

नावेर नामक एक अरब सज्जनके पास एक बढ़िया घोड़ा था। दाहर नामक एक मनुष्यने कई ऊँट देकर बदलेमें घोड़ा लेना चाहा, परंतु नावेरको वह घोड़ा बहुत प्यारा था, इससे उसने देनेसे इनकार कर दिया। दाहरके मन घोड़ा बहुत चढ़ गया था, इससे उसने घोड़ा हथियानेकी दूसरी तरकीब सोची। एक दिन नावेर

उसी घोड़ेपर सवार होकर कहीं बाहर जानेको था। इस बातका पता पाकर दाहरने चालाकीसे अपना चेहरा बदला और फटे-चिथड़े पहनकर वह उसी रास्तेमें एक ओर बैठकर बुरी तरह खाँसने लगा। नावेर उधरसे निकला तो उसे खाँसते हुए गरीबको देखकर दया आ गयी। उसने अगले गाँवतक पहुँचा देनेके लिये उसे घोड़ेपर चढ़ा लिया और स्वयं उतरकर पैदल चलने लगा। घोड़ेपर सवार होते ही दाहरने चाबुक मारकर घोड़ेको जोरसे भगा दिया और कहा कि 'तुमने मुझको सीधे हाथ घोड़ा नहीं दिया तो मैंने चतुराईसे ले लिया।' नावेरने पुकारकर उससे कहा—'भगवान्‌की इच्छासे तुमने मेरा प्यारा घोड़ा ले लिया है तो जाओ, इसकी खूब सार-सँभाल रखना, पर खबरदार! अपनी इस धोखेबाजीकी बात किसीसे मत कह देना। नहीं तो दीन-दुखी और गरीब-अपाहिजोंपर दया करते लोग हिचकने लगेंगे और इससे बहुत-से गरीबोंको सहायतासे वञ्चित होना पड़ेगा।'

नावेरकी इस बातसे वह बहुत शरमाया और उसने उसी क्षण लौटकर घोड़ा वापस कर दिया और उससे सदाके लिये मित्रता कर ली।

प्रेमकी शिक्षा

(प्रेषक—सेठ श्रीहरकिशनजी)

शम्स तबरेज जब हिन्दुस्तान आये, तब हिन्दूकुशके पास उनको एक महात्मा मिले। महात्माने उनको आत्म-स्वरूपका उपदेश किया। तदनन्तर शम्स पंजाब गये और उस समयके प्रख्यात मौलाना रूमके यहाँ ठहरे। मौलानाके पास बड़े-बड़े लोग आते थे। उन्हें वे सुनहरी स्याहीसे लिखी हुई कुरान पढ़कर उपदेश किया करते थे। शम्सको यह अच्छा नहीं लगा। उनको लगा कि मौलाना अपने कीमती समयको वृथा खो रहे हैं। एक दिन उपदेश करनेके बाद मौलानाने कुरानकी पुस्तकको रेशमी कपड़ेमें बाँधकर चौकीपर रक्खा था कि शम्सने उसे उठाकर पासके हौजमें डाल दिया। इतनी कीमती पुस्तकके यों फेंके जानेसे मौलाना साहेब शम्स-पर बहुत क्रुद्ध हुए और उन्हें डाँटने-फटकारने लगे। तब शम्सने कुण्डमें हाथ डालकर पुस्तकको निकाल दिया। मौलानाने देखा कि पुस्तकका कपड़ा पानीमें पड़नेपर भी भीगा नहीं था। वह जैसा-का-तैसा सूखा ही था। मौलानाको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे शम्सके पैरों पड़े और पूछने लगे कि 'यह शक्ति आपको कैसे प्राप्त हुई? आपने कहाँसे यह सीखी? आजसे आप मेरे गुरु और मैं आपका शिष्य। मुझे बतलाइये कि मैं क्या करूँ और कैसे आगे बढ़ूँ?' शम्सने कहा कि 'प्रथम तुम जितना जानते हो और जितना तुमने पढ़ा है, वह सब भूल जाओ। फिर प्रेम कैसे करना चाहिये यह सीखो।' मौलानासे तो यह सब हुआ नहीं। पर उस समयके लाहौरके नवाबका लड़का बदरुद्दीन (जो पीछेसे नाना या शाहकलंदरके नामसे प्रख्यात हुआ) शम्सकी आज्ञा लेकर प्रेम सीखनेके लिये निकल पड़ा।

वह घूमते-फिरते आगरा पहुँचा। वहाँ जब राजमहलके नीचेसे जा रहा था, तब उसने शाहजादीको खिड़कीमें खड़ी देखा। उसको देखकर वह वहीं खड़ा रह गया। तीन दिन बीत गये पर वह भूखा-प्यासा खिड़कीके सामने खड़ा ही रहा। शेख सादी उसी राहसे जा रहे थे। उन्होंने उसको देखकर पूछा तो पता चला कि वह शाहजादीके साथ शादी करना चाहता है। बादशाहके कानोंतक बात पहुँची। उन्होंने प्रधानोंसे सलाह करके यह तय किया कि यदि उसका शाहजादीपर सच्चा प्रेम

है तो वह किलेकी छतपरसे नीचे कूदकर दिखा दे, फिर उसके साथ शादी कर दी जायगी। बदरुद्दीनको तो प्रेम सीखना था। वह तुरंत मान गया और किलेके ऊपर जाकर नीचे कूद पड़ा। शेख सादीने पहलेसे ही नीचे उसको बचानेके लिये नरम झोली डलवा रक्खी थी। वह झोलीपर गिरा और बच गया। बादशाह उसकी हिम्मत देखकर खुश हो गया और अपनी लड़कीकी शादी उसके साथ करनेको तैयार हो गया; परंतु बदरुद्दीनको शादी तो करनी नहीं थी, उसको तो प्रेम करना—प्रेमके लिये त्याग करना—सीखना था। उसको लगा कि अब वह उत्तीर्ण हो गया। उसको प्रेम करना आ गया और वह चल पड़ा। वह शम्सके पास गया। शम्सने देखा कि इसको प्रेम करना आ गया है। तब इन्होंने कहा कि 'जैसे उस लड़कीमें मन लगाया था, वैसे ही मनको अन्तर्मुखी करके परमात्मामें लगा दे तो तेरा कल्याण हो जायगा।'

निन्दाकी प्रशंसा

बहुत पहले काशीमें एक प्रजावत्सल, धर्मात्मा राजा रहता था। एक दिन एक देवदूतने राजासे आकर निवेदन किया—'महाराज! आपके लिये स्वर्गमें स्वर्णिम प्रासाद बने तैयार हैं। उनमें आप बड़े सुखपूर्वक निवास कर सकेंगे।' राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। साथ ही परलोककी ओरसे वह सर्वथा निश्चिन्त-सा हो गया। अपनी धार्मिकताका उसे स्वाभाविक गर्व तो हुआ ही।

थोड़े ही दिनोंके बाद वहाँ उपवनमें एक तपस्वी महात्मा आये। राजाके मनमें भी उनके दर्शनकी लालसा हुई। वह बड़े प्रेमसे उन महात्माके पास गया और कुछ फल-फूल उनके सामने रक्खा। पर तपस्वी उस समय ध्यानमग्न थे। उन्हें राजाके आने-जानेका कोई पता न चला। अतएव कोई बात-चीत अथवा आदर-मानका उपक्रम नहीं किया। राजाको इससे कुछ अपमानका अनुभव हुआ। दुर्दैववशात् उसे क्रोध आ गया और समीप ही पड़ी हुई घोड़ेके लीदको तपस्वीके सिरपर रखकर वह चलता बना।

कुछ दिन यों ही बीत गये। एक रात देवदूत राजाके पास पुनः आया और बोला, 'राजन्! तुम्हारे स्वर्णके प्रासादमें केवल लीद-ही-लीद भरा पड़ा है। उसमें तिल रखनेको भी अब स्थान नहीं रहा है।'—अब राजा बड़ी चिन्तामें पड़ा। वह समझ गया कि यह साधुके सिरपर लीद रखनेका ही दुष्परिणाम उपस्थित हुआ है। मन्त्रियोंने सलाह दी 'यदि आपकी सर्वत्र किसी प्रकार घोर मिथ्या निन्दा हो सके तो वे प्रासाद लीदसे खाली हो जायँ।'

दूसरे दिन राजाने अपने गुप्तचरोंसे अपनी मिथ्या दुष्क्रियाओंका प्रचार कराया। बस क्या था, उसकी सर्वत्र निन्दा होने लगी। उसकी सभीने निन्दा कर डाली पर एक लोहार ऐसा बच रहा जिसने इन बातोंपर तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

कुछ दिनों बाद देवदूत फिर आया और कहने लगा—'महाराज! वह लीद तो बिल्कुल खाली हो गयी, बस एक कोनेमें थोड़ी-सी बच रही है। आपकी निन्दा करनेवालोंने सारी लीद खा डाली। अब अमुक लोहार यदि आपकी निन्दा कर डाले तो वह रही-सही भी समाप्त हो जाय।' इतना कहकर देवदूत तो चला गया और राजा इसका उपाय ढूँढ़ने लगा। अन्तमें वह स्वयं वेष बदलकर लोहारके पास पहुँचा और अपनी निन्दा करने-करानेकी चेष्टामें लगा। लोहार थोड़ी देर-तक तो राजाकी बातें सुनता रहा। फिर उसने बड़ी नम्रतासे कहा—'महाराज! मुझे क्यों बहका रहे हैं,

वह लीद तो आपको ही खानी होगी। मैं तो आपकी निन्दा कर उसे खानेसे बाज आया।'

परनिन्दा करनेवाला जिसकी निन्दा करता है उसके पापोंको ले लेता है।—जा० श०

धर्मो रक्षति रक्षितः

किसी शहरमें एक बड़ा धर्मात्मा राजा राज्य करता था। उसके दानधर्मका प्रवाह कभी बंद नहीं होता था। एक दिन उसके यहाँ एक साधु आया। उसने राजासे कहा, 'राजन्! मुझे कुछ दो।' राजा बोला—'कहिये, क्या दूँ?' साधुने कहा—'या तो बारह वर्षके लिये अपना राजपाट दे दो या अपना धर्म दे दो।' साधुकी बात सुनकर राजा पहले तो कुछ चिन्तामें पड़ गया, फिर सोच-विचारकर उसने कहा—'महाराज! मैंने राजपाट सब आपको दिया। आप सम्हाल लीजिये।' इतना कहकर वह वहाँसे अकेले चल पड़ा।

चलते-चलते मार्गमें एक बगीचा आया। वहीं एक कुआँ और प्याऊ भी था। बड़ा रम्य स्थान था। राजा वहीं विश्राम करनेके विचारसे ठहर गया! अगल-बगल देखनेपर उसे एक जीन कसा हुआ सुन्दर घोड़ा दीखा। वहाँ एक सुन्दरी स्त्री बैठी हुई रो रही थी। राजाको स्वभावतः दया आयी। उसने उस स्त्रीसे रोनेका कारण पूछा। स्त्री बोली—'महाराज! मैं एक राजकुमारी हूँ। मेरे पिता, भ्राता सबको शत्रुओंने मार डाला है। मैं किसी प्रकार जान बचाकर यहाँ भाग आयी हूँ। अब आप ही दैवके द्वारा भेजे मेरे आश्रयदाता हैं। अतः मुझे शरण दें।' राजाने कहा—'ठीक है, घोड़ेपर चढ़कर चलो।' वह बोली—'नहीं महाराज! तुम्हीं घोड़ेपर चलो, तुम्हारे सामने मेरा घोड़ेपर चलना ठीक नहीं है।' चलते-चलते दोनों एक दूसरे राजाके नगरमें पहुँचे। स्त्रीने कहा—'तुम शहरमें जाकर कोई बढ़िया मकान भाड़ेपर ठीक करो। तबतक मैं यहीं बैठती हूँ।' राजाने कहा—'भाई! मेरे पास अधेला भी नहीं है, फिर मकानकी बात किस मुँहसे करूँगा।' स्त्रीने कहा—'महाराज! रुपयों-पैसोंकी आवश्यकता हो तो मेरे पाससे ले जाओ।' और उसने निकालकर दस मोहरें राजाको थमा दीं। राजा भी मकान ठीक कर आया और राजकुमारीको लेकर उसी मकानमें रहने लगा। राजा बाहरसे घोड़े और उस स्त्री आदिके लिये भोजन-सामग्री ले आया। राजकुमारीने भोजन तैयार किया और राजासे भोजन करनेको कहा। राजाने कहा, 'अरे! आप भोजन करो!' उसने कहा, 'नहीं महाराज! पहले आप भोजन कर लें तो पीछे मैं करूँगी।' राजाने भोजन किया। स्त्रीने भी किया।

दूसरे दिन उस स्त्रीने कहा—'राजन्! आपको कष्ट अधिक होता है, एक नौकर रख लो।' राजा बोला—'भाई! मेरे पास एक अधेला भी नहीं है और तुम तो राजाओंकी-सी बात कर रही हो।' स्त्रीने कहा—'राजन्! आप असमंजसमें न पड़िये, मैं स्त्री न हुई होती तो स्वयं इन कामोंको कर लाती, आपको कहने भी न जाती। रुपये-पैसोंकी आपको जब भी आवश्यकता पड़े आप हमसे निस्सङ्कोच माँग लिया कीजिये।' राजा गया और एक नौकर ले आया।

कुछ दिनोंके बाद उस स्त्रीने कहा—'राजन्! मन बहलानेके लिये कभी-कभी यहाँके राजाकी कचहरीमें चले जाया करो और वहाँकी कुछ बातें सुन लिया करो।' अब राजा रोज कचहरी जाने लगा। राजा यह समझकर कि यह मेरे मन्त्रियोंमेंसे किसीका सम्बन्धी होगा, उससे कुछ न पूछता। इधर मन्त्रीलोग उसकी आकृति राजाके समान देखकर राज-सम्बन्धी जानकर कुछ न बोलते। कुछ दिन यों ही बीत गये। एक दिन राजा और मन्त्रीवर्गने

आपसमें आखिर उस राजाके सम्बन्धमें बात-चीत की । वह किसीका कोई होता तो था ही नहीं । लोगोंको बड़ा कौतूहल हुआ । दूसरे दिन राजाने उससे परिचय माँगा । उसने अपनी सारी बात बता दी । उसकी धर्मप्रियता देख राजाने उसका बड़ा स्वागत किया और अपना मुकुट उसके सिरपर रख उसकी पगड़ी अपने सिरपर रख ली, अपने सिंहासनपर बैठाया और मैत्रीकी प्रतिज्ञा की । दूसरे दिन उसे निमन्त्रण दिया । राजाने सारी घटना उस स्त्रीसे कहा । उसने कहा—'ठीक है, आप इसके बदले राजाको सारे परिकर, परिषद् तथा नगरको भी न्यौता दे आइये ।' वह पहले तो हिचकिचाया पर उसके प्रभाव तथा आग्रहको देखकर राजासे जाकर बोला—'भाई साहब ! आपको और आपकी सारी फौज-पल्टनको और तमाम शहरको मेरे यहाँ कल निमन्त्रण है ।' राजा बोला—'कहीं भाँग पी ली है क्या ? खैर बोले जाओ मनमानी, मित्र ही तो हो ।' शामको उसने एक सिपाही भेजकर पता चलाया तो वहाँ कुछ नहीं था । राजाने कहा, 'भाई ! उसने कहीं भाँग-फाँग पी ली होगी ।' इधर इसको भी चैन न थी । उस स्त्रीसे कहने लगा—'भाई ! तूने मेरी अच्छी फजीहत की । प्रातः राजा न जाने मुझे क्या कहेगा ?' स्त्रीने कहा—'महाराज ! चिन्ता न करें, यदि आपको धैर्य न हो तो उस बगीचेमें देख आयें, जहाँसे मुझे लिवा लाये थे ।' राजाने घोड़ेपर चढ़कर जा देखा तो वहाँ सम्पूर्ण देववर्ग ही कार्यमें तत्पर था । अनन्त दिव्य ऐश्वर्य भरा था । वह तो आश्चर्यमें डूब गया । प्रातःकाल राजासहित सम्पूर्ण नगरको उसने भोजन कराया । इस आश्चर्यको देखकर सभी लोग आश्चर्यमें डूब गये । भोजनोपरान्त सारा देववर्ग अन्तर्धान हो गया ।

अब उस स्त्रीने कहा—'राजन् ! तुमने उस साधुको कितने दिनोंके लिये राज्य दिया था । जरा कागज तो देखो ।' राजाने देखा, समय पूरा हो चुका था । स्त्री बोली तो तुम अब अपने घरको जाओ । राजाने कहा—'देवि ! तुम्हें छोड़कर तो मैं एक डग भी न जाऊँगा ।' स्त्री बोली—'राजन् ! तुम मुझे क्या समझ रहे हो ? मैं कोई तुम्हारी स्त्री नहीं हूँ । मैं तो तुम्हारा धर्म हूँ । जब तुमने मुझे नहीं छोड़ा तो मैंने भी तुम्हें नहीं छोड़ना चाहा और तुम्हारी स्त्री बनकर तुम्हारे साथ रहकर किसी प्रकारका तुम्हें क्लेश नहीं होने दिया । पर अब तुम्हारी जैसी इच्छा ।' —जा० श०

उचित गौरव

एक भंगिन शौचालय स्वच्छ करके जब चलने लगी तब किसी भले आदमीने कुतूहलवश पूछा—'तुम्हें यह काम करनेमें घृणा नहीं लगती ? तुम इतनी दुर्गन्ध सह कैसे लेती हो ?'

भंगिनने धीरेसे उत्तर दिया—'हमारे बड़े लोगोंने बताया है कि सृष्टिकर्ताने हमें मनुष्यमात्रकी माताका पद दिया है । अपनी संतानका मल स्वच्छ करनेमें माताको कभी घृणा लगी है या दुर्गन्ध आयी है ?' —सु० सिं०

है और नहीं

किसी नरेशने मन्त्रीसे चार वस्तुएँ माँगीं—१–है और है, २–है और नहीं है, ३–नहीं है पर है, ४–नहीं है, नहीं है ।

मन्त्री बुद्धिमान् थे । उन्होंने दूसरे दिन राजाके सामने चार व्यक्ति उपस्थित किये—१–धर्मात्मा सेठ, २–वेश्या, ३–साधु और ४–बहेलिया ।

राजाने पूछा कि 'ये लोग क्यों लाये गये हैं ?'

मन्त्री—'आपने चार वस्तुएँ मँगायी थीं, वे सामने हैं। उनमें पहिली वस्तु 'है और है' ये सेठजी। इनके पास यहाँ सम्पत्ति है, सुख है और ये धर्मात्मा हैं, पुण्य-कर्म करते हैं इससे परलोकमें भी इन्हें अपने पुण्यके फलसे सुख मिलेगा। दूसरी वस्तु 'है और नहीं है' यह वेश्या। इसके पास भी धन है, सुख है; किंतु वह सब पापसे उपार्जित होनेके कारण परलोकमें इसे कष्ट-ही-कष्ट भोगना है। तीसरी वस्तु 'नहीं है पर है' ये साधु महाराज। यहाँ तो इनके पास कुछ है नहीं, यहाँ इनका जीवन व्रत-उपवासादिमें ही बीतता है; किंतु इनके पास पुण्यकी अपार सम्पत्ति है जो परलोकमें इन्हें असीम सुख देगी। चौथी वस्तु 'नहीं है, नहीं है' यह व्याध। यहाँ यह कंगाल है और प्राणियोंको मारकर पेट भरता है तथा इस पापसे परलोकमें इसकी और अधोगति होनी है।'

राजा तथा सभी सभासद् मन्त्रीकी इस व्याख्यासे संतुष्ट हो गये।—सु० सिं०

वस्तुका मूल्य उसके उपयोगमें है

एक साधुने एक नरेशका कोषागार देखनेकी इच्छा प्रकट की। श्रद्धालु नरेश साधुको लेकर कोषागारमें पहुँचे। हीरे, मोती, नीलम, पन्ने आदिका पर्याप्त बड़ा संग्रह देखकर साधुने पूछा—'इन पत्थरोंसे आपको कितनी आय होती है ?'

नरेश बोले—'इनसे आय नहीं होती। उलटे इनको सुरक्षित रखनेके लिये बराबर व्यय करते रहना पड़ता है। पहरेदार रखने पड़ते हैं; क्योंकि ये बहुमूल्य रत्न हैं।'

साधुने कहा—'आप मेरे साथ चलें। इनसे बहुत भारी और अत्यन्त बहुमूल्य पत्थर मैं आपको दिखलाता हूँ।'

साधु नरेशको ले गये एक झोंपड़ीमें। उसमें एक विधवा रहती थी। उसके घरमें एक आटेकी पत्थरोंकी चक्की थी। दूसरोंके अन्न पीसकर वह अपना पेट पालती थी। साधुने चक्कीके पत्थरोंकी ओर संकेत करके कहा—'राजन्! तुम्हारे उन उपयोगहीन पत्थरोंसे ये पत्थर अत्यन्त बहुमूल्य हैं; क्योंकि इस विधवाके लिये ये जीविकाके आधार हैं। ये उपयोगी हैं।'

राजाने मस्तक झुका लिया। वस्तुका मूल्य उसके सौन्दर्य एवं संग्रहमें नहीं, उसकी उपयोगितामें है, यह बात उसने समझ ली या नहीं, कहा नहीं जा सकता।

—सु० सिं०

अमरफल

पिताने अपने नन्हे-से पुत्रको कुछ पैसे देकर बाजार भेजा फल लानेके लिये। बच्चेने रास्तेमें देखा, कुछ लोग, जिनके बदनपर चिथड़े भी पूरे नहीं हैं, भूखके मारे छटपटा रहे हैं। उसने पैसे उनको दे दिये। उन्होंने उन पैसोंसे उसी समय उदरपूर्तिके लिये सामान खरीद लिया। बालकको इससे बड़ी खुशी हुई। वह मन-ही-मन फूलता हुआ खाली हाथ घर लौट आया। पिताने पूछा—'बेटा! फल नहीं लाये ?' बालकने उत्तर दिया—'आपके लिये अमरफल लाया हूँ पिताजी!' पिताने पूछा—'वह कौन-सा ?' उसने कहा—'पिताजी! मैंने देखा—कुछ अपनेही-जैसे आदमियोंको भूखों मरते हुए, मुझसे रहा नहीं गया। मैंने वे सब पैसे उनको दे दिये। उनकी आजभरकी भूख मिट गयी! हमलोग फल खाते, दो-चार क्षणोंके लिये हमारे मुँह मीठे हो जाते; परंतु इसका फल तो अमर है न पिताजी!' पिता भी बड़े धार्मिक थे। पुत्रकी बात सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई!

यही बालक आगे चलकर संत रंगदास हुए!

आँख और कानमें भेद

एक संतके पास तीन मनुष्य शिष्य बननेके लिये गये। संतने उनसे पूछा—'बताओ, आँख और कानमें कितना अन्तर है?' इसपर पहलेने कहा—'महाराज! पाँच अंगुलका अन्तर है।' दूसरेने कहा—'महाराज! जगत्‌में आँखका देखा हुआ कानके सुने हुएसे अधिक प्रमाणित माना जाता है। यही आँख और कानका भेद है।' तीसरा बोला—'महाराज! आँख और कानमें और भी भेद है। आँखसे कानकी विशेषता है। आँख लौकिक पदार्थोंको ही दिखलाती है; परंतु कान परमार्थ-तत्त्वको भी जतानेवाला है। यह विशेष अन्तर है।' संतने पहलेको शिष्यरूपसे स्वीकार नहीं किया। दूसरेको उपासनाका और तीसरेको ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया।

तैरना जानते हो या नहीं ?

एक नवशिक्षित शहरी बाबू नदीमें नावपर जा रहे थे। उन्होंने आकाशकी ओर ताककर केवटसे कहा—'भैया! तुम नक्षत्रविद्या जानते हो?' केवट बोला—'बाबूजी! मैं तो नाम भी नहीं जानता।' इसपर बाबूने हँसकर कहा—'तब तो तुम्हारा चौथाई जीवन व्यर्थ ही गया।' कुछ देर बाद बाबूने फिर पूछा—'भाई! तुम गणित पढ़े हो?' केवटने कहा—'बाबू! मैं तो नहीं पढ़ा!' बाबू बोले—'तब तो तुम्हारा आधा जीवन मुफ्तमें गया।' केवट बेचारा चुप रहा। थोड़ी देर बाद नदीके दोनों ओर पेड़ोंकी पंक्तियोंको देखकर बाबू बोले—'तो भैया! तुम वृक्ष-विज्ञान-शास्त्र तो जानते ही होगे?' केवट बोला—'बाबूजी! मैं तो कोई शासतर-वासतर नहीं जानता—नाव खेकर किसी तरह पेट भरता हूँ।' बाबूजी हँसकर बोले—'तब तो भैया तुम्हारे जीवनका तीन चौथाई हिस्सा बेकाम ही बीता।' यों बातचीत चल रही थी कि अकस्मात् जोरोंकी आँधी आ गयी। नाव डगमगाने लगी। देखते-ही-देखते नावमें पानी भर गया। केवटने नदीमें कूदकर तैरते हुए पूछा—'बाबूजी! आप तैरना जानते हैं या नहीं?' बाबूने कहा—'तैरना जानता तो मैं भी कूद न पड़ता। भैया! बता! अब क्या होगा।' केवट बोला—'बाबूजी! अब तो सिवा डूबनेके और कोई उपाय नहीं है। आपने सारी विद्याएँ पढ़ीं, पर तैरना नहीं जाना तब सभी कुछ व्यर्थ है। अब तो भगवान्‌को याद कीजिये!' भवसागरसे तरनेकी भजनरूपी विद्या ही सच्ची विद्या है। इसे न पढ़कर जो केवल लौकिक विद्याओंके पण्डित बनकर अभिमान करते हैं, उन्हें तो डूबना ही पड़ता है।

बुढ़ियाकी झोंपड़ी

किसी राजाने एक जगह अपना महल बनवाया। उसके बगलमें एक गरीब बुढ़ियाकी झोंपड़ी थी। झोंपड़ीका धुआँ महलमें जाता था, इसलिये राजाने बुढ़ियाको अपनी झोंपड़ी वहाँसे हटा लेनेकी आज्ञा दी। राजाके सिपाहियोंने बुढ़ियासे झोंपड़ी हटा लेनेको कहा, पर उसने कोई उत्तर नहीं दिया। तब वे लोग उसे डाँट-डपटकर राजाके पास ले गये। राजाने पूछा—'बुढ़िया! तू झोंपड़ी हटा क्यों नहीं लेती? मेरा हुक्म क्यों अमान्य करती है?' बुढ़ियाने कहा—'महाराज! आपका हुक्म तो सिर माथेपर; पर आप क्षमा करें, मैं एक बात आपसे पूछती हूँ। महाराज! मैं तो आपका इतना बड़ा महल

और बाग-बगीचा सब देख सकती हूँ, पर आपकी आँखोंमें मेरी यह टूटी झोंपड़ी क्यों खटकती है ? आप समर्थ हैं; गरीबकी झोंपड़ी उजड़वा सकते हैं; पर ऐसा करनेपर क्या आपके न्यायमें कलङ्क नहीं लगेगा ?'

बुढ़ियाकी बात सुनकर राजा लज्जित हो गये और बुढ़ियाको धन देकर उसे आदरपूर्वक लौटा दिया।

नियम टूटने मत दो

एक विद्वान् पुरुष ग्रन्थरचना करनेमें लगे थे। एक निर्धन विद्यार्थीकी सहायता करनेकी इच्छासे उन्होंने उसे अपना लेखक बना रक्खा था। विद्यार्थी दूर रहता था। प्रतिदिन पैदल चलकर आता था। वे दो घंटे बोलते जाते थे और वह विद्यार्थी लिखता जाता था। एक दिन उन्होंने उस विद्यार्थीसे कहा—'कल कुछ रात रहते ही आ जाना। ग्रन्थ लिखवाकर मुझे बाहर जाना है।'

बेचारे विद्यार्थीको पर्याप्त रात रहते उठना पड़ा। अँधेरेमें ही चलकर वह उनके पास आया। परंतु केवल एक पंक्ति लिखवाकर वे बोले—'आजका काम हो गया। अब जा सकते हो।'

विद्यार्थी झुँझलाया। वह कुछ बोला नहीं; किंतु उसके मुखका भाव देखकर वे बोले—'असंतुष्ट मत हो। आज तुमको ऐसी शिक्षा मिली है, जिसपर यदि चलोगे तो जीवनमें सफलता प्राप्त करोगे। वह शिक्षा यह है कि जो नियम बनाओ, उसे टूटने मत दो। चाहे जैसी स्थिति आवे, नियमका नित्य निर्वाह करो।'

—सु० सिं०

नियम-पालनका लाभ

एक गाँवमें एक साधु आये। उन्हें पता लगा कि गाँवमें एक ऐसा व्यक्ति है जो किसी प्रकारके आचार-विचार, व्रत-नियमको मानता ही नहीं। साधुने उसे बुलवाया और समझाया—'जीवनमें कोई एक नियम अवश्य होना चाहिये। तुम कोई एक नियम बना लो—ऐसा नियम जो तुम्हें सबसे सुगम जान पड़े।'

वह व्यक्ति बोला—'मुझसे कोई नियम-पालन नहीं हो सकता; किंतु आप कहते ही हैं तो यह नियम बना लेता हूँ कि अपने घरके पास रहनेवाले कुम्हारका मुख देखकर ही भोजन करूँगा।'

साधुने स्वीकार कर लिया। साधु तो चले गये और उसका नियम भी चलता रहा; किंतु एक दिन उसे किसी कामसे कुछ रात्रि रहते ही घरसे दूर जाना पड़ा। जब वह लौटा तो दो पहर बीत चुका था। कुम्हार गाँवसे दूर मिट्टी खोदने चला गया था बर्तन बनानेके लिये। परंतु उसे अपना नियम-पालन करना था। वह कुम्हारकी खोजमें चल पड़ा; क्योंकि उसे भूख लगी थी और उस कुम्हारका मुख देखे बिना उसे भोजन करना नहीं था।

उस दिन मिट्टी खोदते समय कुम्हारको अशर्फियोंसे भरा घड़ा मिला। उस घड़ेकी अशर्फियोंको वह गधेकी बोरीमें भर रहा था, रात्रिमें ले जानेके लिये, इतनेमें यह व्यक्ति पहुँचा। कुछ दूरसे ही कुम्हारका मुख देखकर यह लौटने लगा। कुम्हारको लगा कि इसने उसे अशर्फी भरते देख लिया है। दूसरोंसे यह न बता दे, इस भयसे कुम्हारने उसे पुकारा और घड़ेका आधा धन उसे दे दिया।

एक साधारण नियमके पालनसे इतना लाभ हुआ, यह देखकर उसी दिनसे वह व्रतादि सभी धार्मिक नियमोंका पालन करने लगा।—सु० सिं०

सफलताके लिये श्रद्धाके साथ श्रम भी चाहिये

एक ग्रामीण बैलगाड़ी लिये कहीं जा रहा था। एक नालेके कीचड़में उसकी गाड़ीके पहिये धँस गये। ग्रामीण बैलगाड़ीसे उतर पड़ा और पासकी भूमिपर बैठकर हनुमानचालीसाका पाठ करने लगा। वह एक पाठ करता और फिर प्रार्थना करता—'हनुमान्‌जी! मेरी गाड़ी कीचड़से निकाल दीजिये!' फिर पाठ करता और फिर प्रार्थना करता।

ग्रामीणकी श्रद्धा सच्ची थी। उसका पाठ-प्रार्थनाका क्रम पर्याप्त समय तक चलता रहा। अन्तमें हनुमान्‌जीने दर्शन दिया उसे। वे बोले—'भले आदमी! देवता आलसी और निरुद्योगीकी सहायता नहीं किया करते। मैं इस प्रकार लोगोंके छकड़े निकाला करूँ तो संसारके लोग उद्योगहीन हो जायँ। दैवी-सहायता पानेके लिये श्रद्धाके साथ श्रम भी चाहिये। तू बैलोंको ललकार और कीचड़में उतरकर पूरी शक्तिसे पहियोंको ठेल। तब मेरा बल तुझमें प्रवेश करके तेरी सहायता करेगा।'

—सु० सिं०

धनका गर्व उचित नहीं

कोई धनवान् पुरुष अपने मित्रके साथ कहीं जा रहे थे। मार्गमें एक विपत्तिमें पड़े कंगालको देखकर मित्रका हाथ दबाकर वे व्यंगपूर्वक हँस पड़े। समीपसे ही कोई विद्वान् पुरुष जा रहे थे। धनीका यह व्यवहार उन्हें अनुचित प्रतीत हुआ। वे बोले—

आपद्गतं हससि किं द्रविणान्धमूढ
लक्ष्मीः स्थिरा न भवतीह किमत्र चित्रम्।
किं त्वं न पश्यसि घटाञ्जलयन्त्रचक्रे
रिक्ता भवन्ति भरिता भरिताश्च रिक्ताः॥

'अरे! धनके मदसे अंधे बने मूर्ख! आपत्तिमें पड़े व्यक्तिको देखकर हँसता है, किंतु लक्ष्मी कहीं स्थिर नहीं रहती, अतः इसमें (किसीके कंगाल होनेमें) विचित्र बात क्या है। क्या तू रहँटकी ओर नहीं देखता कि उसमें लगी भरी डोलियाँ खाली होती जाती हैं और खाली हुई फिर भरती हैं।'

यह बात सुनकर वह धनवान् लज्जित हो गया।

—सु० सिं०

फलनेका मौका देना चाहिये

किसी वस्तुको रखने या हटा देनेके सम्बन्धमें बहुत सोच-समझकर निर्णय करनेसे बड़े-से-बड़ा लाभ होते देखा गया है।

बहुत पहलेकी बात है। एक व्यक्तिने अपने अंगूरके बगीचेमें एक अंजीरका पेड़ लगा रक्खा था। बहुत दिनोंसे उसमें फल नहीं लगे थे।

× × × ×

'यह पेड़ निरर्थक सिद्ध हुआ। इसने इतनी जमीन व्यर्थ घेर रक्खी है। तीन साल हो गये, पर इस ठूँठमें एक फल भी नहीं लगा। इसे काट डालो।' बगीचेके मालिकने मालीको आदेश दिया।

'मालिक! एक सालका और मौका दीजिये। मैं इसके चारों ओर थाला बनाऊँगा। पानी और खाद दूँगा। हो सकता है कि हमारी एक सालकी प्रतीक्षा फलवती हो जाय और इस ठूँठमें नये प्राण लहरा उठें।' मालीने मालिकसे प्रार्थना की। उसे विश्वास दिलाया कि यदि इसमें फल नहीं लगेंगे तो काट डालूँगा।

'तुम ठीक कहते हो, माली! प्रतीक्षासे भी सफलता मिलती है।' मालिकने आदेश बदल दिया। उसे फलकी आशा थी और सचमुच अगली साल फल लग गये।

—रा० श्री०

नित्य-दम्पति

(श्रीराधा-कृष्ण-परिणय)

नित्य आनन्दघन, नित्यनिकुञ्जविहारी श्रीनन्दनन्दन धरापर आविर्भूत हुए और उनके साथ ही पधारीं व्रजधरापर उनकी महाभावरूपा आनन्दशक्ति श्रीराधा। भगवान्‌के आनन्दस्वरूपका नाम आह्लादिनी शक्ति है, इसका सार नित्य प्रेम है, प्रेमका सारसर्वस्व महाभाव है और महाभावरूपा हैं श्रीराधाजी। ये भगवान् श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्न परंतु नित्य लीलाविहारकी दिव्य मूर्ति हैं। माता कीर्तिकी वे प्राणप्रिय पुत्री, बाबा वृषभानुकी कुमारी, बृहत्सानु (बरसाने) की श्रीव्रजधरापर आयी थीं जगत्‌को विशुद्ध प्रेमका आदर्श देने। उनके हृदयधन श्रीयशोदानन्दन चाहे जितने रूप लें, चाहे जितने कार्य करें; किंतु वे प्रेमसारसर्वस्व महाभावस्वरूपा—वे तो केवल भावमयी हैं। प्रेम कहते किसे हैं—बाह्य रूपसे जगत्‌को उन्हें यही सिखलाना था।

नित्यकौमार्य—श्रीराधाने व्रजधरापर नित्यकौमार्य रूप स्वीकार किया। वे चिरकुमारिका रहीं लोकदृष्टिमें। श्रीनन्दनन्दन केवल ग्यारह वर्ष कुछ मासकी वयमें व्रजसे चले गये और गये सो गये। व्रज लौटनेका अवसर ही कहाँ मिला उन्हें। चिरविरहिणी, श्रीकृष्णप्राणा श्रीराधा—उन नित्य आह्लादमयीने यह वियोगिनी मूर्ति न स्वीकार की होती—महाभावकी परम भूमि, प्रेमकी चरम-मूर्ति विश्वमानसमें अदृश्य ही रह जाती।

समाजकी दृष्टिमें श्रीराधा नित्यकुमारी रहीं; किंतु श्रुतियोंके संरक्षककी मर्यादाकी रक्षा तो करनी ही थी। श्यामसुन्दरकी वे अभिन्न सहचरी, वे शास्त्रदृष्टिसे धरापर उनसे अभिन्न न हों, यह कैसे हो सकता था। नन्द-नन्दनने उनका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया और उस पाणिग्रहणके पुरोहित, साक्षी थे स्वयं जगत्स्रष्टा लोकपितामह।

श्रीराधा लोकदृष्टिसे नन्दनन्दनसे कुछ बड़ी थीं। वनमें व्रजेश्वर नन्दरायजी अपने कुमारके साथ गये थे, सम्भवतः गायोंका निरीक्षण करना था उन्हें। श्रीवृषभानुजी भी पहुँचे थे इसी कार्यसे और वन तथा गौओंके अव-लोकनका कुतूहल लिये उनकी लाड़िली भी उनके साथ आयी थीं। सघन मेघोंसे सहसा आकाश आच्छादित हो गया, लगता था कि शीघ्र ही वर्षा होगी। श्री-व्रजेश्वरको लगा कि बच्चोंको घर चले जाना चाहिये। उन्होंने कीर्तिकुमारीको पुचकारा—'बेटी ! तू घर चली जा। देख, वर्षा आनेवाली है। कन्हाईको अपने साथ ले जा। मैं तेरे बाबाके साथ थोड़ी देरमें लौटता हूँ।'

व्रजेश्वरका अनुरोध संकोचमयी वृषभानुनन्दिनीने स्वीकार कर लिया। मोहनको साथ लेकर लौटीं; किंतु एकान्तमें उन दोनोंका नित्यस्वरूप छिपा कैसे रह सकता है। नन्दनन्दनका बालरूप अदृश्य हो गया और वे नित्य-किशोर-रूपमें प्रकट हो गये। कीर्ति-कुमारीकी मूर्ति भी अब किशोरी-मूर्ति हो चुकी थी। इसी समय गगनसे अपने उज्ज्वल हंसपर बैठे ब्रह्माजी उतरे। उन्होंने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'श्रुतिकी मर्यादा आज सौभाग्यभूषित हो जाय और इस सेवकको भी सुअवसर प्राप्त हो। व्रजधरापर आप दोनोंका सविधि परिणय करानेकी अनुमति मिले मुझे।'

मन्दस्मितसे दोनोंने एक-दूसरेकी ओर देखा। पुष्पित लताएँ झुक उठीं। जिनका संकल्प कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करता है, उनके लिये—उनके विवाहके लिये योगमायाको सामग्री प्रस्तुत करनेमें कितने क्षण लगते थे। अग्नि प्रज्वलित करके ब्रह्माजीने मन्त्रपाठ किया। अग्निकी सात प्रदक्षिणा करायीं। पाणिग्रहण, सिंदूरदान आदि संस्कार सविधि सम्पन्न हुए। नित्य-दम्पति एक आसनपर आसीन हुए। धन्य हो गये सृष्टिकर्ताके आठों लोचन। वे हाथ जोड़े अपलक देख रहे थे इस अनुपम सौन्दर्य-राशिको। वर-वधू-वेशमें यह युगलमूर्ति·····।

नित्य दम्पति—श्रीराधा-कृष्ण-विवाह

सच्चा अध्ययन

एक विद्वान् ब्राह्मण एक धर्मात्मा नरेशके यहाँ पहुँचे। उनका सत्कार हुआ। ब्राह्मणने कहा—'राजन्! आपकी इच्छा हो तो मैं आपको श्रीमद्भागवत श्रवण कराऊँ।'

नरेशने उनकी ओर देखा और बोले—'आप कुछ दिन और श्रीमद्भागवतका अध्ययन करके आवें।'

बहुत बुरा लगा ब्राह्मणको। वे उठकर चले आये। परंतु उन्होंने श्रीमद्भागवतका अध्ययन छोड़ा नहीं। पूरा ग्रन्थ कण्ठस्थ करके वे फिर नरेशके पास गये। किंतु उन्हें फिर वही उत्तर मिला—'आप कुछ दिन और श्रीमद्भागवतका अध्ययन करें।'

एक बार, दो बार, तीन बार—ब्राह्मणको यही उत्तर राजा देते रहे, जब भी वे उनके यहाँ गये। अन्तमें वे निराश हो गये। अचानक श्रीमद्भागवत-का पाठ करते समय वैराग्यबोधक श्लोकोंपर उनका ध्यान गया। उनके चित्तने कहा—'छिः! मैं एक तुच्छ नरेशके यहाँ बार-बार लोभवश जाता हूँ और साक्षात् श्रीकृष्ण-स्वरूप अनन्त दयामय श्रीमद्भागवत मेरे सामने हैं, उनकी शरण मैं नहीं लेता।' ब्राह्मण तो अब श्रीमद्भागवतके पाठमें ही तन्मय हो गये।

बहुत दिन बीत गये और ब्राह्मण नहीं आये तब राजाने उन्हें बुलानेको दूत भेजा; किंतु अब निःस्पृह ब्राह्मण उनके यहाँ क्यों जाने लगे थे। अन्तमें राजा स्वयं उनकी झोंपड़ीमें पधारे। उन्होंने कहा—'ब्रह्मन्! आप मुझे क्षमा करें। श्रीमद्भागवतका ठीक अध्ययन आपने अब किया है। वैराग्य और भगवद्भक्ति न आयी तो भागवत पढ़नेसे लाभ क्या। आप पाठ करें, अब यहीं आपके चरणोंमें बैठकर मैं आपके श्रीमुखसे श्रीमद्भागवत श्रवण करूँगा।' —सु० सिं०

कर्मफल

मार्गमें एक घायल सर्प तड़फड़ा रहा था। सहस्रों चींटियाँ उससे चिपटी थीं। पाससे एक सत्पुरुष शिष्यके साथ जा रहे थे। सर्पकी दयनीय दशा देखकर शिष्यने कहा—'कितना दुखी है यह प्राणी।'

गुरु बोले—'कर्मफल तो सबको भोगना ही पड़ता है।'

शिष्य—'इस सर्पने ऐसा क्या पाप किया कि सर्प-योनिमें भी उसे यह कष्ट।'

गुरु—'तुम्हें स्मरण नहीं कि कुछ वर्ष पूर्व इस सरोवरके किनारेसे हमलोग जा रहे थे तो तुमने एक मछुएको मछली मारनेसे रोका था।'

शिष्य—'वह दुष्ट मेरे रोकनेपर मेरा ही उपहास करने लगा था।'

गुरु—'आज वही सर्प है और उसने जिन मछलियों-को मारा था, उन्हें अपना बदला लेनेका अवसर मिला है। वे चींटियाँ होकर उत्पन्न हुई हैं।'

लक्ष्मीका वास कहाँ है ?

एक सेठ रात्रिमें सो रहे थे। स्वप्नमें उन्होंने देखा कि लक्ष्मीजी कह रही हैं—'सेठ! अब तेरा पुण्य समाप्त हो गया है, इसलिये तेरे घरसे मैं थोड़े दिनोंमें चली जाऊँगी। तुझे मुझसे जो माँगना हो, वह माँग ले।'

सेठने कहा—'कल सबेरे अपने कुटुम्बके लोगोंसे सलाह करके जो माँगना होगा, माँग लूँगा।'

सबेरा हुआ। सेठने स्वप्नकी बात कही। परिवारके लोगोंमेंसे किसीने हीरा-मोती आदि माँगनेको कहा, किसीने स्वर्णराशि माँगनेकी सलाह दी, कोई अन्न माँगनेके पक्षमें था और कोई वाहन या भवन। सबसे अन्तमें सेठकी छोटी बहू बोली—'पिताजी! जब लक्ष्मीजीको जाना ही है तो ये वस्तुएँ मिलनेपर भी टिकेंगी कैसे। आप इन्हें माँगेंगे, तो भी ये मिलेंगी नहीं। आप तो माँगिये कि कुटुम्बमें प्रेम बना रहे। कुटुम्बमें सब लोगोंमें परस्पर प्रीति रहेगी तो विपत्तिके दिन भी सरलतासे कट जायँगे।'

सेठको छोटी बहूकी बात पसंद आयी। दूसरी रात्रिमें स्वप्नमें उन्हें फिर लक्ष्मीजीके दर्शन हुए। सेठने प्रार्थना की—'देवि! आप जाना ही चाहती हैं तो प्रसन्नतासे जायँ; किंतु यह वरदान दें कि हमारे कुटुम्बियोंमें परस्पर प्रेम बना रहे।'

लक्ष्मीजी बोलीं—'सेठ! ऐसा वरदान तुमने माँगा कि मुझे बाँध ही लिया। जिस परिवारके सदस्योंमें परस्पर प्रीति है, वहाँसे मैं जा कैसे सकती हूँ।'

गुरवो यत्र पूज्यन्ते यत्राह्वानं सुसंस्कृतम्।
अदन्तकलहो यत्र तत्र शक्र वसाम्यहम्॥

देवी लक्ष्मीने इन्द्रसे कहा है—'इन्द्र! जिस घरमें गुरुजनोंका सत्कार होता है, दूसरोंके साथ जहाँ सभ्यतापूर्वक बात की जाती है और जहाँ मुखसे बोलकर कोई कलह नहीं करता (दूसरेके प्रति मनमें क्रोध आनेपर भी जहाँ लोग चुप ही रह जाते हैं) मैं वहीं रहती हूँ।'

—सु० सिं०

ऋण चुकाना ही पड़ता है

एक व्यापारीको व्यापारमें घाटा लगा। इतना बड़ा घाटा लगा था कि उसकी सब सम्पत्ति लेनदारोंका रुपया चुकानेमें समाप्त हो गयी। अब आजीविकाके लिये फिर व्यापार करनेको उसे ऋण लेना आवश्यक हो गया; किंतु कोई ऋण देनेको उद्यत नहीं था, विवश होकर वह राजा भोजके पास गया और उसने एक बड़ी रकम ऋणके रूपमें माँगी।

राजाने पूछा—'तुम यह ऋण चुका कैसे सकोगे?'

व्यापारीने उत्तर दिया—'जितना इस जीवनमें चुका सकूँगा, चुका दूँगा; जो शेष रहेगा उसे जन्मान्तरमें चुकाऊँगा।'

राजाने दो क्षण सोचकर व्यापारीको ऋण देनेकी आज्ञा दे दी। कोषाध्यक्षने व्यापारीसे ऋणपत्र लिखवाकर धन दे दिया। व्यापारी वहाँसे धन लेकर चला। मार्गमें सायंकाल हो जानेके कारण वह एक तेलीके घर रात्रि व्यतीत करने रुक गया। पासमें धन होनेसे उसकी रक्षाकी चिन्तामें उसे रातमें नींद नहीं आयी। पशु-भाषा समझनेवाले उस व्यापारीने रात्रिमें तेलीके बैलोंको परस्पर बातें करते सुना। एक बैल कह रहा था—'भाई! इस तेलीसे पहिले जन्ममें मैंने जो ऋण लिया था। वह अब लगभग समाप्त हो चुका है। कल घानीमें दो-तीन चक्कर कर देनेसे मैं ऋणमुक्त हो जाऊँगा और इससे इस पशु-योनिसे छूट जाऊँगा।'

दूसरा बैल बोला—'भाई! तुम्हारे लिये तो सचमुच यह प्रसन्नताकी बात है; किंतु मुझपर तो अभी इसका एक सहस्र रुपया ऋण है। एक मार्ग मेरे लिये है। यदि यह तेली राजा भोजके बैलसे मेरे दौड़नेकी प्रतियोगिता ठहरावे और एक सहस्रकी शर्त रक्खे तो मैं जीत जाऊँगा। इसे एक सहस्र मिल जायँगे और मैं पशु-योनिसे छूट जाऊँगा।'

व्यापारीने प्रातःकाल प्रस्थान करनेमें कुछ देर कर

दी। सचमुच तेलीकी घानीके दो-तीन चक्कर करके पहिला बैल अचानक गिर पड़ा और मर गया। अब व्यापारीने तेलीसे रातकी सब बात बता दी और उसे राजा भोजके पास जानेको कहा। तेलीके बैलसे अपने बैलकी दौड़-प्रतियोगिता राजाने सहस्र रुपयेकी शर्तपर स्वीकार कर ली। दौड़में तेलीका बैल जीत गया; किंतु तेलीको जैसे ही एक सहस्र रुपये मिले, उसका वह बैल भी मर गया।

अब व्यापारी राजाके कोषाध्यक्षके पास पहुँचा। उसने ऋणमें जो धन लिया था, उसे लौटाकर ऋणपत्र फाड़ देनेको कहा। पूछनेपर उसने बताया—'इस जीवनमें मैं पूरा ऋण चुका सकूँगा, ऐसी आशा मुझे नहीं और दूसरे जीवनमें ऋण चुकानेका भय मैं लेना नहीं चाहता। इससे तो अच्छा है कि मैं मजदूरी करके अपना निर्वाह कर लूँगा।' —सु० सिं०

अपनी करनी अपने सिर

दो यात्री कहीं जा रहे थे। मार्गमें ही सूर्यास्त हो गया। रात्रि-विश्रामके लिये वे पासके गाँवमें पहुँचे। वहाँके पटेलके द्वारपर जाकर उन्होंने आश्रय माँगा। उन्हें आश्रय मिल गया। दोनों व्यापारी थे, अपना माल बेचकर लौट रहे थे। उनके पास रुपयोंकी थैली थी और इसीसे रात्रिमें यात्रा करना ठीक न समझकर वे पटेलके यहाँ ठहर गये थे। पटेलने उनकी थैलीको देख लिया था। उसकी नीयत बिगड़ चुकी थी। यात्रियोंका उसने स्वागत-सत्कार किया और उन्हें शयन करनेके लिये पलंग देकर वह अपने मकानके भीतर सोने चला गया।

पटेलने मकानके भीतर दो गुंडोंको बुलाकर उनसे चुपचाप बात की—'मेरे द्वारपर दो आदमी सो रहे हैं, उन्हें रात्रिमें मार दो।' पुरस्कारके लोभमें गुंडोंने पटेलकी बात स्वीकार कर ली।

पटेलके दो पुत्र रात्रिमें खेतपर सोनेके लिये गये थे। परंतु कुछ रात्रि बीतनेपर वहाँ पटेलके नौकर पहुँच गये, इसलिये वे दोनों घर लौट आये। देर अधिक हो चुकी थी। घरके भीतर जानेकी अपेक्षा उन दोनोंने द्वार-पर ही सो रहना ठीक समझा। पलंगपर अपरिचित लोगोंको पड़े देखकर उन दोनोंने डाँटकर उन्हें उठ जानेको कहा। बेचारे यात्री चुपचाप उठे और पशुशालामें जाकर सो गये। पलंगपर पटेलके दोनों पुत्रोंने लंबी तानी।

रात्रिमें गुंडे आये। उन्होंने पलंगपर सोये दो व्यक्तियों-को देखा और तलवारके एक-एक झटकेसे उनके सिर धड़से अलग कर दिये और वहाँसे चलते बने।

पशुशालामें सोये दोनों यात्रियोंने सबेरे प्रस्थान करने-की तैयारी की तो उन्हें पटेलके बरामदेमें रक्त दिखायी पड़ा। उनके पुकारनेपर पटेल साहब घरसे निकले। अब क्या हो सकता था। उनका पाप उन्हींके सिर पड़ा था। दो पुत्रोंकी हत्या उनके पापसे हो चुकी थी और अब उनका भी जेल गये बिना छुटकारा कहाँ था।

—सु० सिं०

अद्भुत पराक्रम

'गाड़ी आनेमें केवल आधा घंटा रह गया है। लकड़ीके पुलपर गाड़ी गिर पड़ेगी और अगणित प्राणियोंके प्राण चले जायँगे बेटी!' बुढ़ियाने लड़कीसे कहा। वह अभी-अभी धड़ाकेकी आवाज सुनकर पुल देखने गयी थी जो भयंकर हिमपातसे टूट गया था। गाड़ीको दूर ही रोकनेका उपाय सोचने लगी। वह पश्चिमी वरजीनियाकी एक निर्जन घाटीमें झोंपड़ी बनाकर रहती थी। दूर-दूर-तक चारों ओर उजाड़ था। बस्ती उस स्थानसे कोसों

दूर थी। बूढ़ी स्त्रीने साहससे काम लिया। आधी रातकी भयावनी नीरवतामें भी वह चारपाईसे उठ बैठी। रेलगाड़ी आनेका समय निकट देखकर उसका हृदय काँप रहा था।

उसने सोचा कि प्रकाशके द्वारा ड्राइवरको सूचना दी जा सकती है। जोर-जोरसे चिल्लानेपर चलती गाड़ीमें ड्राइवर कुछ भी नहीं सुन सकेगा, पर प्रकाश देखकर गाड़ी रोक सकता है। बुढ़ियाने मोमबत्तीकी ओर देखा; वह आधीसे अधिक जल चुकी थी; उसके प्रकाशका भयंकर आँधी और जलवृष्टिके समय कुछ भरोसा भी नहीं किया जा सकता था। घरमें शीतनिवारणके लिये जलायी गयी आग ठंडी हो गयी थी और लकड़ियाँ जल चुकी थीं। घरमें गरीबीके कारण कोई दूसरा सामान नहीं रह गया था जिसे जलाकर वह प्रकाश करे और ड्राइवरको सावधान करे।

अचानक बुढ़ियाकी दृष्टि चारपाईकी सिरहानी और गोड़ोंपर गयी; उसने शीघ्र ही अपनी लड़कीकी सहायतासे उनको चीर डाला और रेलकी लाइनपर रख दिया। दियासलाईसे उसने आग जलायी; रेलगाड़ी सीटी देती आ पहुँची। थोड़ी दूरपर प्रकाशपुञ्ज देखकर ड्राइवरने भयकी आशङ्कासे चाल धीमी कर दी। गाड़ी घटनास्थलपर आ पहुँची; ड्राइवरने टूटा पुल देखा और उसके निकट ही उस बुढ़ियाको देखा जिसने एक लकड़ीके टुकड़ेमें अपनी लाल ओढ़नीका एक टुकड़ा फाड़कर लटका रक्खा था सूचना देनेके लिये और उसकी छोटी लड़की बगलमें खड़ी होकर जलती लकड़ी हाथमें लेकर प्रकाश दिखा रही थी।

गाड़ी रुक गयी और बुढ़ियाके अद्भुत पराक्रम और सत्कर्मसे सैकड़ों प्राणियोंके प्राण बच गये। —रा० श्री०

गांधीजीके तनपर एक लंगोटी ही क्यों ?

सन् १९१६ की बात है। लखनऊमें कांग्रेसका महाधिवेशन था। गांधीजी उसमें सम्मिलित होने आये थे। वहाँ राजकुमार शुक्लद्वारा किसानोंकी कष्ट-कहानी सुनकर उन्हें देखने वे चम्पारन पहुँचे। साथमें कस्तूरबा भी थीं। एक दिनकी बात है कस्तूरबा भीतिहरवा गाँवमें गयीं। वहाँ किसान औरतोंके कपड़े बहुत गंदे थे। कस्तूरबाने गाँवकी औरतोंकी एक सभा की और उन्हें समझाया कि 'गंदगीसे तरह-तरहकी बीमारियाँ होती हैं और कपड़ा धोनेमें कोई ज्यादा खर्च भी नहीं पड़ता, अतः उन्हें साफ रहना चाहिये।'

इसपर एक गरीब किसानकी औरत, जिसके कपड़े बहुत गंदे थे, कस्तूरबाको अपनी झोंपड़ीमें ले गयी और अपनी झोंपड़ीको दिखलाकर बोली—'माताजी ! देखो, मेरे घरमें कुछ नहीं है। बस, मेरी देहपर यह एक ही धोती है; आप ही बतलाइये, मैं क्या पहनकर धोती साफ करूँ ? आप गांधीजीसे कहकर मुझे एक धोती दिलवा दें तो फिर मैं रोज स्नान करूँ और कपड़े साफ रक्खूँ।'

कस्तूरबाने गांधीजीको उसकी स्थिति बतलायी। गांधीजीपर इसका विचित्र प्रभाव पड़ा। उन्होंने सोचा, 'इसकी तरह तो देशमें लाखों बहनें होंगी। जब इन सभीको तन ढकनेके कपड़े नहीं हैं, तो फिर मैं क्यों कुर्ता, धोती और चादर पहनने लगा ? जब मेरी लाखों बहनोंको गरीबीके कारण तन ढकनेको कपड़े नहीं मिलते तो मुझे इतने कपड़े पहननेका क्या हक है ?'

बस, उसी दिनसे उन्होंने केवल लंगोटी पहनकर तन ढकनेकी प्रतिज्ञा कर ली। —जा० श०

(बापूकी कहानियाँ, भाग २)

काल करे सो आज कर

कोई स्त्री अपने पिताके घरसे लौटी थी । अपने पतिसे वह कह रही थी—'मेरा भाई विरक्त हो गया है । वह अगली दीवालीपर दीक्षा लेकर साधु होनेवाला है । अभीसे उसने तैयारी प्रारम्भ कर दी है । वह अपनी सम्पत्तिकी उचित व्यवस्था करनेमें लगा है ।'

पत्नीकी बात सुनकर पुरुष मुसकराया । स्त्रीने पूछा—'तुम हँसे क्यों ? हँसनेकी क्या बात थी ?'

पुरुष बोला—'और तो सब ठीक है; किंतु तुम्हारे भाईका वैराग्य मुझे अद्भुत लगा । वैराग्य हो गया और दीक्षा लेनेकी अभी तिथि निश्चित हुई है ? और वह सम्पत्तिकी उचित व्यवस्थामें भी लगा है । भौतिक सम्पत्तिमें सम्पत्ति-बुद्धि और इस उत्तम काममें भी दूरकी योजना । इस प्रकार तैयारी करके त्याग नहीं हुआ करता, त्याग तो सहज होता है ।'

स्त्रीको बुरा लगा । वह बोली—'ऐसे ज्ञानी हो तो तुम्हीं क्यों कुछ कर नहीं दिखाते ।'

'मैं तो तुम्हारी अनुमतिकी ही प्रतीक्षामें था ।' पुरुषने वस्त्र उतार दिये और एक धोती मात्र पहिने घरसे निकल पड़ा । स्त्रीने समझा कि यह परिहास है, थोड़ी देरमें उसका पति लौट आयेगा; परंतु वह तो लौटनेके लिये गया ही नहीं था । —सु० सिं०

ग्रीजेलने अपने पिताको फाँसीसे कैसे बचाया ?

ब्रिटेनमें तब जेम्स द्वितीयका शासन था । वह अपने अत्याचार एवं अन्यायके लिये काफी बदनाम रहा है । उसके समयमें जिसे फाँसीकी सजा सुनायी जाती थी, उससे उसके परिवारके किसी व्यक्तिको नहीं मिलने दिया जाता था । कौंकरेलको फाँसीकी सजा सुनायी गयी थी । ग्रीजेल उसीकी लड़की थी । उसने लड़केका रूप धारणकर जेल-अधिकारियोंकी आँखोंमें धूल झोंक अपने पितासे मुलाकात की और उससे पता लगाया कि उसके बचनेका एकमात्र उपाय जेम्सका क्षमा-दान है ।

पर जबतक कोई लंदन जाकर महाराज जेम्ससे मिलकर क्षमा-पत्र ले आये तबतक तो कौंकरेलको फाँसी ही हो जाती । फिर भी ग्रीजेलने धैर्य नहीं छोड़ा, उसने अपने भाईको प्रार्थना-पत्र देकर लंदन विदा किया । उन दिनों फोन-तार तो क्या, रेलगाड़ियाँ भी न थीं । उधर उसका भाई लौटा भी नहीं, इधर फाँसीका दिन एकदम निकट आ गया । अब उसके पिताकी फाँसी रोकी कैसे जाय । ग्रीजेलने निश्चय किया कि डाकियेके हाथसे फाँसीका फरमान लेकर फाड़ दिया जाय ।

नियत दिन आ पहुँचा । ग्रीजेलने अपना वेष पुरुषका बनाया और वह डाकियेके मार्गमें खड़ी हो गयी । वह घोड़ेपर सवार थी और हाथमें एक भरी पिस्तौल भी लिये थी । डाकिया आया । ग्रीजेलने डपटकर उसे रोका और सारी डाक माँगी । डाकियेके हाथमें भी पिस्तौल थी । उसने उसे ग्रीजेलपर चला दिया । एक-एक कर उसने धायँ-धायँ कई गोलियाँ दाग दीं । ग्रीजेल सामने खड़ी हँस रही थी । गोलीसे उसको कुछ न हुआ ।*

अब डाकिया डर गया । ग्रीजेलने उसके हाथसे डाकका थैला छीन लिया । थोड़ी दूर जाकर उसने

* डाकिया रातको जहाँ सरायमें विश्राम करता था, ग्रीजेल पहले वहीं पहुँची और थैलेसे फरमान निकालनेके प्रयत्नमें लगी थी । डाकियाका थैला वहीं रक्खा था, पर उसके अगल-बगलमें कई और व्यक्ति सोये थे । उसने जब देखा कि वहाँ उसका प्रयास सफल न होगा तो उसने बगलमें पड़ी डाकियेकी पिस्तौलमेंसे सारी गोलियाँ निकालकर उसके स्थानपर झूठी गोलियाँ भर दीं और वैसे ही रखकर दूसरे दिन रास्तेमें फरमान लेनेको खड़ी हो गयी थी । डाकियेको इसका कोई पता तो था नहीं । इसलिये झूठी गोलियाँ दागकर वह मुँह ताकता रह गया ।

थैला खोला और पिताकी फाँसीका फरमान निकालकर थैलेको वहीं फेंक दिया। डाकिया यह सब देख रहा था। उसने ग्रीजेलके चले जानेपर थैला उठा लिया और चलता बना।

फरमान न मिलनेसे काँकरेलको फाँसी न हो सकी और अवधि आगे बढ़ गयी। इधर जेम्स उसके भाईकी करुण प्रार्थनापर पिघल गये और वह उनसे क्षमादानका पत्र लेकर पहुँच गया। इस प्रकार ग्रीजेलने अपार धैर्य, बुद्धिकौशल तथा साहसके सहारे अपने पिताकी जान बचा ली। —जा० श०

उदारता और परदुःखकातरता

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड़ श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित सनातन वैदिक धर्मके परम अनुयायी थे। कई ऐसे अवसर आये, जिनमें धार्मिक मर्यादाकी किंचित् अवहेलना करनेसे उन्हें प्रचुर मान-धन मिल सकता था; परंतु उन्होंने उसे ठुकरा दिया।

इनके पास बहुतसे लोगोंके मकान वर्षोंसे रेहन और बन्धक पड़े थे। जब इनकी मृत्युका समय आया, तब मकानदारोंने आपके शरणागत होकर ऋण चुकानेमें अपनी असमर्थता प्रकट की। इन्होंने उनके दुःखसे कातर होकर बिना कुछ भी कहे यह कह दिया कि आपकी जो इच्छा हो सो दे जाइये। इस प्रकार कुछ ले-देकर उनको चिन्तामुक्त कर दिया।

आप कहा करते थे, 'इस शरीरसे यदि किसीकी भलाई नहीं की जा सकी, तो बुराई क्यों की जाय।'

श्रमकी महत्ता

'मेरे बच्चो! मेरे पास जो कुछ भी तुम्हें देनेके लिये है उसे मैं तुम दोनोंको बराबर-बराबर देता हूँ। मेरी सारी सम्पत्ति इन खेतोंमें ही है, इनमें पर्याप्त अन्न पैदाकर तुमलोग अपने परिवारका पालन-पोषण कर सकते हो। साथ-ही-साथ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इन्हीं खेतोंमें मैंने अपनी पूँजी भी छिपाकर रख दी है। आवश्यकता पड़नेपर उसका उपयोग कर सकते हो।' किसानने मृत्यु-शय्यापर अन्तिम साँस ली।

पिताके मरते ही दोनों लड़कोंने खेतोंमें छिपाकर गाड़ी गयी पूँजीपर विचार किया। उन्होंने खेत खोद डाले। एक इंच भी जमीन खोदनेसे कहीं खाली नहीं रह गयी। उन्हें बड़ा विस्मय हुआ कि पिताजीने जीवनमें कभी भूलकर भी असत्य भाषण नहीं किया और मरते समय तो किसी भी स्थितिमें झूठ बोल ही नहीं सकते थे। खेतमें गड़ा धन न मिलनेपर उन्हें कुछ भी क्षोभ नहीं हुआ; उन्होंने संतोषपूर्वक बीज बो दिये और फसल पकनेपर खेतमें अकूत अन्न हुआ। उतना अन्न गाँवमें किसी व्यक्तिके खेतमें नहीं पैदा हुआ था।

'हमलोगोंने पिताजीके कहनेका आशय ही नहीं समझा था। उन्होंने चलते समय खेतको अच्छी तरह कमानेकी सत्-शिक्षा दी थी और उन्हींके आशीर्वादसे हमलोगोंने इतना अन्न प्राप्त किया।' दोनों लड़कोंने स्वर्गीय आत्माके प्रति श्रद्धाञ्जलि प्रकट की।

'समुन्नतिका मार्ग श्रम है' किसानके लड़कोंने इसे अपने जीवनमें चरितार्थ किया। —रा० श्री०

कर्तव्यपालनका महत्त्व

मद्रास-प्रान्तमें एक रेलका पायंटमैन था। एक दिन वह पायंट पकड़े खड़ा था। दोनों ओरसे दो गाड़ियाँ पूरी तेजीके साथ आ रही थीं। इसी समय भयानक काला सर्प आकर उसके पैरमें लिपट गया। सर्पको देखकर पायंटमैन डरा। उसने सोचा—'मैं साँपके हटानेके लिये पायंट छोड़ देता हूँ तो गाड़ियाँ लड़ जाती हैं और हजारों नर-नारियोंके प्राण जाते हैं। नहीं छोड़ता तो साँपके काटनेसे मेरे प्राण जाते हैं।' भगवान्‌ने उसे सद्‌बुद्धि दी। क्षणभरमें ही उसने निश्चय कर लिया कि सर्प चाहे मुझे डँस ले, पर मैं पायंट छोड़कर हजारों नर-नारियोंकी मृत्युका कारण नहीं बनूँगा। वह अपने कर्तव्यपर दृढ़ रहा और वहाँसे जरा भी नहीं हिला। जिन भगवान्‌ने उसे सद्‌बुद्धि दी, उन्होंने ही उसे बचाया। गाड़ियोंकी भारी आवाजसे डरकर साँप उसका पैर छोड़कर भाग गया। पायंटमैनकी कर्तव्य-निष्ठासे हजारों मनुष्योंके प्राण बच गये। जब अधिकारियोंको यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने पायंटमैनको पुरस्कार देकर सम्मानित किया।

नेक कमाईकी बरकत

प्राचीन कालमें किसी शहरमें एक राजा रहता था। वहीं पासके ही वनमें एक ब्राह्मण भी रहता था। उस ब्राह्मणकी एक कन्या थी, जो विवाहके योग्य हो गयी थी। स्त्रीकी सलाहसे ब्राह्मण उस कन्याके विवाहके लिये उसी राजाके पास धन माँगने पहुँचा। राजाने उसे दस हजार रुपये दिये। ब्राह्मणने कहा—'महाराज! यह तो बहुत थोड़ा है।' राजाने दस हजार पुनः दिलवाये। ब्राह्मण इसपर भी कहता रहा—'महाराज! यह तो बहुत ही कम है।' अन्तमें राजा अपना समूचा राज्य ही ब्राह्मणको देने लगा। पर ब्राह्मण पूर्ववत् यही कहता रहा कि 'महाराज! यह तो बहुत कम है।'

लाचार होकर राजाने पूछा—'तो मुझे आप क्या देनेको कह रहे हैं।' ब्राह्मणने कहा—'आपने अपने परिश्रमद्वारा जो शुद्ध धन उपार्जित किया हो, वह चाहे बहुत थोड़ा ही हो, वही बहुत है—मुझे वही दीजिये।'

राजा थोड़ी देरतक सोच-विचार करता रहा। फिर उसने कहा—'मैं प्रातःकाल ऐसा धन आपको दे सकूँगा।' तदनन्तर दस बजे रातको वह अपना वेश-भूषा बदलकर शहरमें घूमने लगा। उसने देखा कि सब लोग तो चैनकी नींद सो रहे हैं, पर एक लोहार अपना काम अभीतक करता जा रहा है। राजा उसके पास गया और बोला—'भाई! मैं बड़ा गरीब आदमी हूँ, यदि तुम्हारे पास कोई काम हो तो देनेकी दया करो।' लोहारने कहा—'मेरे पास यही इतना काम है। यदि तुम इसे प्रातःकालतक कर डालो तो मैं तुम्हें चार पैसे दूँ।' राजाने उस कामको तथा उसके एक आध और कामको कर डाला। लोहारने उसे चार पैसे दिये और उनको उसने राजधानीमें आकर ब्राह्मणको दे दिया। ब्राह्मण भी उसका सारा राज-पाट छोड़ केवल चार पैसे ही लेकर घर चला गया। जब स्त्रीने पूछा कि राजाके पास क्या मिला तो उसने चार पैसे दिखलाये। ब्राह्मणी झुँझला गयी और उसके चारों पैसे छीनकर जमीनमें फेंक दिये।

दूसरे दिन उस आँगनमें चार वृक्ष उग आये, जिनमें केवल रत्नके ही फल लगे थे। उन्हींसे उसने कन्याका विवाह किया और वह संसारका सबसे बड़ा धनी भी

---

१. अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम्।
अनुल्लङ्घ्य सतां मार्गं यत् स्वल्पमपि तद्बहु॥
(महा॰ उद्योग॰ विदुरप्रजागर ३४)

हो गया। यह समाचार सुनकर सारा नगर दंग रह गया। राजा भी सुनकर देखने आया। ब्राह्मणने उस वृक्षको उखाड़कर राजाको वे चार पैसे दिखला दिये और बतलाया कि इसीसे मैंने तुम्हारे राज-पाटको छोड़कर तुम्हारी यह ईमानदारी तथा श्रमकी कमाई माँगी थी। नेकीकी कमाई पहले भले ही थोड़ी दीखे पर पीछे वह मनुष्यको सभी प्रकारसे सुखी और सम्पन्न बना देती है।—जा० श०

सच्ची नीयत

एक रातकी बात है। एक चोर किसी घरमें सेंध लगा रहा था। घरके मालिकने एक कुत्ता पाल रक्खा था। चोरको देखते ही वह जोर-जोरसे भूँकने लगा। चोरने उसको चुप करनेके लिये एक रोटीका टुकड़ा फेंक दिया।

'मुझे तुम इस घूससे चुप नहीं कर सकते। यदि मैं भूँकना बंद करूँगा तो अपने मालिकके प्रति अकृतज्ञ सिद्ध होऊँगा और दूसरी बात यह है कि यदि इस समय भूँककर अपने मालिकको नहीं जगा देता हूँ तो तुम सारी वस्तुएँ ढो ले जाओगे, मेरा मालिक किस प्रकार मेरा भरण-पोषण कर सकेगा।' कुत्ता भूँकता रहा। चोरकी दाल नहीं गल सकी और कुत्तेकी ईमानदारीने मालिकके धनकी रक्षा की। —रा० श्री०

पारमार्थिक प्रेम बेचनेकी वस्तु नहीं

एक गृहस्थ त्यागी, महात्मा थे। एक बार एक सज्जन दो हजार सोनेकी मोहरें लेकर उनके पास आये और कहने लगे—'मेरे पिताजी आपके मित्र थे, उन्होंने धर्मपूर्वक अर्थोपार्जन किया था। मैं उसीमेंसे कुछ मोहरोंकी थैली लेकर आपकी सेवामें आया हूँ, इन्हें स्वीकार कर लीजिये।' इतना कहकर वे थैली छोड़कर चले गये। महात्मा उस समय मौन थे, कुछ बोले नहीं। पीछेसे महात्माने अपने पुत्रको बुलाकर कहा—'बेटा! मोहरोंकी थैली अमुक सज्जनको वापस दे आओ। उनसे कहना—तुम्हारे पिताके साथ मेरा पारमार्थिक–ईश्वरको लेकर प्रेमका सम्बन्ध था, सांसारिक विषयको लेकर नहीं।' पुत्रने कहा—'पिताजी! आपका हृदय क्या पत्थरका बना है? आप जानते हैं, अपना कुटुम्ब बड़ा है और घरमें कोई धन गड़ा नहीं है। बिना माँगे इस भले आदमीने मोहरें दी हैं तो इन्हें अपने कुटुम्बियोंपर दया करके ही आपको स्वीकार कर लेना चाहिये।'

महात्मा बोले—'बेटा! क्या तेरी ऐसी इच्छा है कि मेरे कुटुम्बके लोग धन लेकर मौज करें और मैं अपने ईश्वरीय प्रेमको बेचकर बदलेमें सोनेकी मोहरें खरीदकर दयालु ईश्वरका अपराध करूँ?'

सहायता लेनेमें संकोच

एक घुड़सवार कहीं जा रहा था। उसके हाथसे चाबुक गिर पड़ा। उसके साथ उस समय बहुत-से मुसाफिर पैदल चल रहे थे; परंतु उसने किसीसे चाबुक उठाकर दे देनेके लिये नहीं कहा। खुद घोड़ेसे उतरा और चाबुक उठाकर फिर सवार हो गया। यह देखकर साथ चलनेवाले मुसाफिरोंने कहा—'भाई साहब!

आपने इतनी तकलीफ क्यों की ? चाबुक हमीं लोग उठाकर दे देते, इतने-से कामके लिये आप क्यों उतरे ?'

घुड़सवारने कहा—'भाइयो! आपका कहना तो बहुत ही सज्जनताका है, परंतु मैं आपसे ऐसी मदद क्योंकर ले सकता हूँ ! प्रभुकी यही आज्ञा है कि जिससे उपकार प्राप्त हो, बदलेमें जहाँतक हो सके, उसका उपकार करना चाहिये। उपकारके बदलेमें प्रत्युपकार करनेकी स्थिति हो, तभी उपकारका भार सिर उठाना चाहिये। मैं आपको पहचानता नहीं, न तो आप ही मुझको जानते हैं। राहमें अचानक हमलोगोंका साथ हो गया है, फिर कब मिलना होगा, इसका कुछ भी पता नहीं है। ऐसी हालतमें मैं उपकारका भार कैसे उठाऊँ ?'

यह सुनकर मुसाफिरोंने कहा—'अरे भाई साहब ! इसमें उपकार क्या है ? आप-जैसे भले आदमीके हाथसे चाबुक गिर पड़ा, उसे उठाकर हमने दे दिया। हमें इसमें मेहनत ही क्या हुई ?'

घुड़सवारने कहा—'चाहे छोटी-सी बात या छोटा-सा ही काम क्यों न हो, मैं लेता तो आपकी मदद ही न ? छोटे-छोटे कामोंमें मदद लेते-लेते ही बड़े कामोंमें भी मदद लेनेकी आदत पड़ जाती है और आगे चलकर मनुष्य अपने स्वावलम्बी स्वभावको खोकर पराधीन बन जाता है। आत्मामें एक तरहकी सुस्ती आ जाती है और फिर छोटी-छोटी बातोंमें दूसरोंका मुँह ताकनेकी बान पड़ जाती है। यही मनमें रहता है, मेरा यह काम कोई दूसरा कर दे, मुझे हाथ-पैर कुछ भी न हिलाने पड़ें। इसलिये जबतक कोई विपत्ति न आवे या आत्माकी उन्नतिके लिये आवश्यक न हो, तबतक केवल आरामके लिये किसीसे किसी तरहकी भी मदद नहीं लेनी चाहिये। जिनको मददकी जरूरत न हो, वे जब मदद लेने लगते हैं, तब जिनको जरूरत होती है, उन्हें मदद मिलनी मुश्किल हो जाती है।'

ग्रामीणकी ईमानदारी

एक धनी व्यापारी मुसाफिरीमें रात बितानेके लिये किसी छोटे गाँवमें एक गरीबकी झोंपड़ीमें ठहरा। वहाँसे जाते समय वह अपनी सोनेकी मोहरोंकी थैली वहीं भूल गया। तीन महीने बाद वही व्यापारी फिर उसी रास्ते जा रहा था। दैवसंयोगसे उसी गाँवमें रात हुई और वह उसी गरीबके घर जाकर ठहरा। मोहरोंकी थैली रास्तेमें कहाँ गिरी थी, इसका उसे कुछ भी पता नहीं था। इसलिये उसने उस थैलीकी तो आशा ही छोड़ दी थी। झोंपड़ीमें आकर ठहरते ही झोंपड़ीके स्वामीने अपने-आप ही आकर कहा—'सेठजी ! आपकी एक मोहरोंकी थैली यहाँ रह गयी थी, उसे लीजिये। आपका नाम-पता न जाननेके कारण मैं अबतक थैली नहीं भेज सका। मैंने उसे अबतक धरोहरके रूपमें रख छोड़ा था।' बूढ़े-दरिद्र ग्रामीणकी ईमानदारीपर व्यापारी मुग्ध हो गया और वह इतना कृतज्ञ हुआ कि उसका गुण गाते-गाते थका ही नहीं तथा अन्तमें बहुत आग्रह करके उसके लड़केको अपने साथ लेता गया।

लोभका फल

एक किसानके बगीचेमें अंगूरका पेड़ था। उसमें प्रत्येक वर्ष बड़े मीठे-मीठे अंगूर फलते थे। किसान बड़ा परिश्रमी, संतोषी और सत्यवादी था। उसने सोचा कि बगीचा तो मेरे श्रमकी देन है, पर भूमि मेरे जमींदारकी है; इन फलोंमें उसे भी कुछ-न-कुछ भाग मिलना चाहिये; नहीं तो, मैं ईश्वरके सामने मुख

दिखाने योग्य नहीं रहूँगा। ऐसा सोचकर उसने प्रतिवर्ष भूमिपतिके घर कुछ मीठे-मीठे अंगूर भेजना आरम्भ किया।

जमींदारने सोचा कि अंगूरका पेड़ मेरी जमीनमें है इसलिये उसपर मेरा पूरा-पूरा अधिकार है। मैं उसे अपने बगीचेमें लगा सकता हूँ। लोभके अन्धकारमें उसे सत्कर्तव्यका ज्ञान नहीं रह गया। उसने अपने नौकरोंको आदेश दिया कि पेड़ उखाड़कर मेरे बगीचेमें लगा दो।

नौकरोंने मालिककी आज्ञाका पालन किया। बेचारा किसान असहाय था, वह सिवा पछतानेके और कर ही क्या सकता था! पेड़ जमींदारके बगीचेमें लगा दिया गया, पर फल देनेकी बात तो दूर रही, कुछ ही दिनोंमें वह सूखकर ठूँठ हो गया और लोभके कीड़ेने उसकी उपादेयताको जड़से उखाड़ दिया।—रा० श्री०

(ईशपकी कथा)

श्रीचैतन्यका महान् त्याग

श्रीचैतन्य महाप्रभु उन दिनों नवद्वीपमें निमाईके नामसे ही जाने जाते थे। उनकी अवस्था केवल सोलह वर्षकी थी। व्याकरणकी शिक्षा समाप्त करके उन्होंने न्यायशास्त्रका महान् अध्ययन किया और उसपर एक ग्रन्थ भी लिख रहे थे। उनके सहपाठी पं० श्रीरघुनाथजी उन्हीं दिनों न्यायपर अपना 'दीधिति' नामक ग्रन्थ लिख रहे थे, जो इस विषयका प्रख्यात ग्रन्थ माना जाता है।

पं० श्रीरघुनाथजीको पता लगा कि निमाई भी न्यायपर कोई ग्रन्थ लिख रहे हैं। उन्होंने उस ग्रन्थको देखनेकी इच्छा प्रकट की। दूसरे दिन निमाई अपना ग्रन्थ साथ ले आये और पाठशालाके मार्गमें जब दोनों साथी नौकापर बैठे तब वहीं निमाई अपना ग्रन्थ सुनाने लगे। उस ग्रन्थको सुननेसे रघुनाथ पण्डितको बड़ा दुःख हुआ। उनके नेत्रोंसे आँसूकी बूँदें टपकने लगीं।

पढ़ते-पढ़ते निमाईने बीचमें सिर उठाया और रघुनाथको रोते देखा तो आश्चर्यसे बोले—'भैया! तुम रो क्यों रहे हो?'

रघुनाथने सरल भावसे कहा—'मैं इस अभिलाषासे एक ग्रन्थ लिख रहा था कि वह न्यायशास्त्रका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाय; किंतु मेरी आशा नष्ट हो गयी। तुम्हारे इस ग्रन्थके सम्मुख मेरे ग्रन्थको पूछेगा कौन?'

'बस, इतनी-सी बातके लिये आप इतने संतप्त हो रहे हैं!' निमाई तो बालकोंके समान खुलकर हँस पड़े। 'बहुत बुरी है यह पुस्तक, जिसने मेरे मित्रको इतना कष्ट दिया!' रघुनाथ कुछ समझें, इससे पूर्व तो निमाईने अपने ग्रन्थको उठाकर गङ्गाजीमें बहा दिया। उसके पन्ने भगवती भागीरथीकी लहरोंपर बिखरकर तैरने लगे।

रघुनाथके मुखसे दो क्षण तो एक शब्द भी नहीं निकला और फिर वे निमाईके पैरोंपर गिरनेको झुक पड़े; किंतु निमाईकी विशाल भुजाओंने उन्हें रोककर हृदयसे लगा लिया था।

साधुके लिये स्त्री-दर्शन ही सबसे बड़ा पाप

श्रीचैतन्य महाप्रभु संन्यास लेकर जब श्रीजगन्नाथपुरीमें रहने लगे थे, तब वहाँ महाप्रभुके अनेक भक्त भी बंगालसे आकर रहते थे। महाप्रभुके उन भक्तोंमें बहुतसे अत्यन्त विरक्त भक्त थे। उन गृहत्यागी साधु भक्तोंमें ही एक थे छोटे हरिदासजी। ये सङ्गीतज्ञ थे और अपने मधुर कीर्तनसे महाप्रभुको प्रसन्न करते थे;

इसलिये इनको कीर्तनिया हरिदास भी लोग कहते थे।

पुरीमें महाप्रभुके अनेक गृहस्थ भक्त भी थे। श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें हिसाब-किताब लिखनेका काम करनेवाले श्रीशिखि माहिती, उनके छोटे भाई मुरारि और उनकी विधवा बहिन माधवी—ये तीनों ही परम भक्त थे। महाप्रभुके चरणोंमें इनका अनुराग था। इनमें भी शिखि माहिती और माधवी देवीको तो महाप्रभु भगवत्कृपा-प्राप्त भागवतोंमें गिनते थे।

महाप्रभुको पुरीके भक्तगण कभी-कभी अपने यहाँ भिक्षाके लिये आमन्त्रित करते थे। एक दिन जब भगवानाचार्यके यहाँ महाप्रभु भिक्षाके लिये पधारे, तब भिक्षामें सुगन्धित सुन्दर चावल बने देखकर उन्होंने पूछा—'आपने ये उत्तम चावल कहाँसे मँगाये हैं?'

भगवानाचार्यने कहा—'प्रभो! माधवी देवीके यहाँसे ये आये हैं?'

महाप्रभु—'माधवीके यहाँ चावल लेने कौन गया था?'

भगवानाचार्य—'छोटे हरिदास।'

यह सुनकर महाप्रभु चुप हो गये। भिक्षा ग्रहण करनेका जैसे उनमें उत्साह रहा ही नहीं। भगवत्प्रसाद समझकर कुछ ग्रास मुखमें डालकर महाप्रभु उठ गये। अपने स्थानपर आकर उन्होंने आदेश दिया—'आजसे छोटा हरिदास मेरे यहाँ कभी नहीं आ पावेगा। उसने कभी यहाँ भूलसे भी पैर रक्खा तो मैं बहुत असंतुष्ट होऊँगा।'

महाप्रभुके सेवक तो स्तब्ध रह गये। समाचार पाकर छोटे हरिदास बहुत दुखी हुए; किंतु महाप्रभुने किसी प्रकार उन्हें अपने पास आनेकी अनुमति नहीं दी। सभी भक्तोंने प्रार्थना की, श्रीपरमानन्दपुरीजीने भी महाप्रभुसे कहा—'हरिदासको क्षमा कर दीजिये!' परंतु महाप्रभुने बहुत रुक्ष-भंगी बना ली थी। वे पुरी छोड़कर अलालनाथ जाकर रहनेको प्रस्तुत हो गये। छोटे हरिदासने अन्न-जल त्याग दिया; परंतु उनके अनशनका भी महाप्रभुपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

अन्तमें दुखी होकर छोटे हरिदास पुरीसे पैदल चलकर प्रयाग आये और वहाँ उन्होंने गङ्गा-यमुनाके संगममें देहत्याग कर दिया। यह समाचार जब महाप्रभुको मिला तब उन्होंने कहा—'साधु होकर स्त्रियोंसे बातचीत करे, उनको चरण छूने दे, यह तो महापाप है। हरिदासने अपने पापके उपयुक्त ही प्रायश्चित्त किया है।' महाप्रभुने ही एक बार सार्वभौम भट्टाचार्यसे कहा है—

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।
संदर्शनं विषयिणामथ योषितां च
हा हन्त! हन्त! विषभक्षणतोऽप्यसाधुः॥

सच्चा गीता-पाठ

श्रीचैतन्य महाप्रभु जगन्नाथपुरीसे दक्षिण भारतकी यात्रा करने निकले थे। उन्होंने एक स्थानपर देखा कि सरोवरके किनारे एक ब्राह्मण स्नान करके बैठा है और गीताका पाठ कर रहा है। वह पाठ करनेमें इतना तल्लीन है कि उसे सम्भवत: अपने शरीरका भी पता नहीं है। उसका कण्ठ गद्गद हो रहा है, शरीर रोमाञ्चित हो रहा है और नेत्रोंसे आँसूकी धारा बह रही है।

महाप्रभु चुपचाप जाकर उस ब्राह्मणके पीछे खड़े हो गये और जबतक पाठ समाप्त हुआ, शान्त खड़े रहे। पाठ समाप्त करके जब ब्राह्मणने पुस्तक बंद की, महाप्रभुने सम्मुख आकर पूछा—'ब्राह्मणदेवता! लगता है कि आप संस्कृत नहीं जानते; क्योंकि श्लोकोंका उच्चारण शुद्ध नहीं हो रहा था। परंतु गीताका ऐसा कौन-सा अर्थ आप समझते हैं कि जिसके आनन्दमें आप इतने विभोर हो रहे थे?'

अपने सम्मुख एक तेजोमय भव्य महापुरुषको देखकर ब्राह्मणने भूमिमें लेटकर दण्डवत् प्रणाम किया। वह दोनों हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक बोला—'भगवन्! मैं संस्कृत क्या जानूँ और गीताजीके अर्थका मुझे क्या पता। मुझे पाठ करना आता नहीं। मैं तो जब इस ग्रन्थको पढ़ने बैठता हूँ, तब मुझे लगता है कि कुरुक्षेत्रके मैदानमें दोनों ओर बड़ी भारी सेना सजी खड़ी है। दोनों सेनाओंके बीचमें एक रथ खड़ा है चार घोड़ोंवाला। रथके भीतर अर्जुन दोनों हाथ जोड़े बैठा है और रथके आगे घोड़ोंकी रास पकड़े भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं। भगवान् मुख पीछे घुमाकर अर्जुनसे कुछ कह रहे हैं, मुझे यह स्पष्ट दीखता है। भगवान् और अर्जुनकी ओर देख-देखकर मुझे प्रेमसे रुलाई आ रही है।'

'भैया! तुम्हींने गीताका सच्चा अर्थ जाना है और गीताका ठीक पाठ करना तुम्हें ही आता है।' यह कहकर महाप्रभुने उस ब्राह्मणको अपने हाथोंसे उठाकर हृदयसे लगा लिया।

नामनिष्ठा और क्षमा

भक्त हरिदास हरिनामके मतवाले थे। ये जन्मसे मुसल्मान थे, पर इनको भगवान्‌का नाम लिये बिना चैन नहीं पड़ता था। फुलिया गाँवमें गोराई काजी नामक एक कट्टर मुसल्मान था। उसने हरिदासकी शिकायत मुलुकपतिसे की और कहा—'इस काफिरको ऐसी सजा देनी चाहिये जिससे सब डर जायँ और आगेसे कोई भी ऐसा नापाक काम करनेकी हिम्मत न करे। इसे सीधी चालसे नहीं मारना चाहिये। इसकी पीठपर बेंत मारते हुए इसे बाईस बाजारोंमें घुमाया जाय और बेंत मारते-मारते इसको इतनी पीड़ा हो कि उसीसे यह तड़प-तड़पकर मर जाय।' मुलुकपतिने आदेश दे दिया।

बेंत मारनेवाले जल्लादोंने भक्त हरिदासजीको बाँध लिया और उनकी पीठपर बेंत मारते-मारते उन्हें बाजारोंमें घुमाने लगे। पर हरिदासजीके मुँहसे हरिनामकी ध्वनि बंद नहीं हुई। जल्लाद कहते—'हरिनाम बंद करो।' हरिदासजी कहते—'भैया! मुझे एक बेंत मारो, पर तुम हरिनाम लेते रहो; इसी बहाने तुम्हारे मुँहसे हरिका नाम तो निकलेगा।' बेंतोंकी मारसे हरिदासकी चमड़ी उधड़ गयी। खूनकी धारा बहने लगी। पर निर्दयी जल्लादोंके हाथ बंद नहीं हुए। इधर हरिदासकी नाम-धुन भी बंद नहीं हुई।

अन्तमें हरिदासजी बेहोश होकर जमीनपर गिर पड़े। जल्लादोंने उन्हें मरा समझकर गङ्गाजीमें बहा दिया। गङ्गाजीके शीतल जल-स्पर्शसे उन्हें चेतना प्राप्त हो गयी और वे बहते-बहते फुलिया गाँवके समीप घाटपर आ पहुँचे। लोगोंने बड़ा हर्ष प्रकट किया। मुलुकपतिको भी अपने कृत्यपर पश्चात्ताप हुआ। पर लोगोंमें मुलुकपतिके विरुद्ध बड़ा जोश आ गया। इसपर हरिदासजीने कहा—'इसमें इनका क्या अपराध था। मनुष्य अपने कर्मोंका ही फल भोगता है। दूसरे तो उसमें निमित्त बनते हैं। फिर यहाँ तो इनको निमित्त बनाकर मेरे भगवान्‌ने मेरी परीक्षा ली है। नाममें मेरी रुचि है या मैं ढोंग ही करता हूँ, यह जानना चाहा है। मैं तो कुछ था नहीं, उन्हींकी कृपाशक्तिने मुझे अपनी चेतनाके अन्तिम श्वासतक नामकीर्तनमें दृढ़ रक्खा। इनका कोई अपराध हो तो भगवान् इनको क्षमा करें।'

संतकी वाणी सुनकर सभी गद्गद होकर धन्य-धन्य पुकार उठे। मुलुकपति तथा गोराई काजीपर भी बड़ा प्रभाव पड़ा और वे भी नामकीर्तनके प्रेमी बन गये तथा हरिनाम लेने लगे।

श्रीचैतन्यका त्याग

नामनिष्ठा और क्षमा

सच्चा गीता-पाठ

साधुके लिये स्त्री-दर्शन ही बड़ा पाप

कैयटकी निःस्पृहता

पति-पत्नी दोनों निःस्पृह

दूसरोंकी तृप्तिमें तृप्ति

सच्ची शोभा
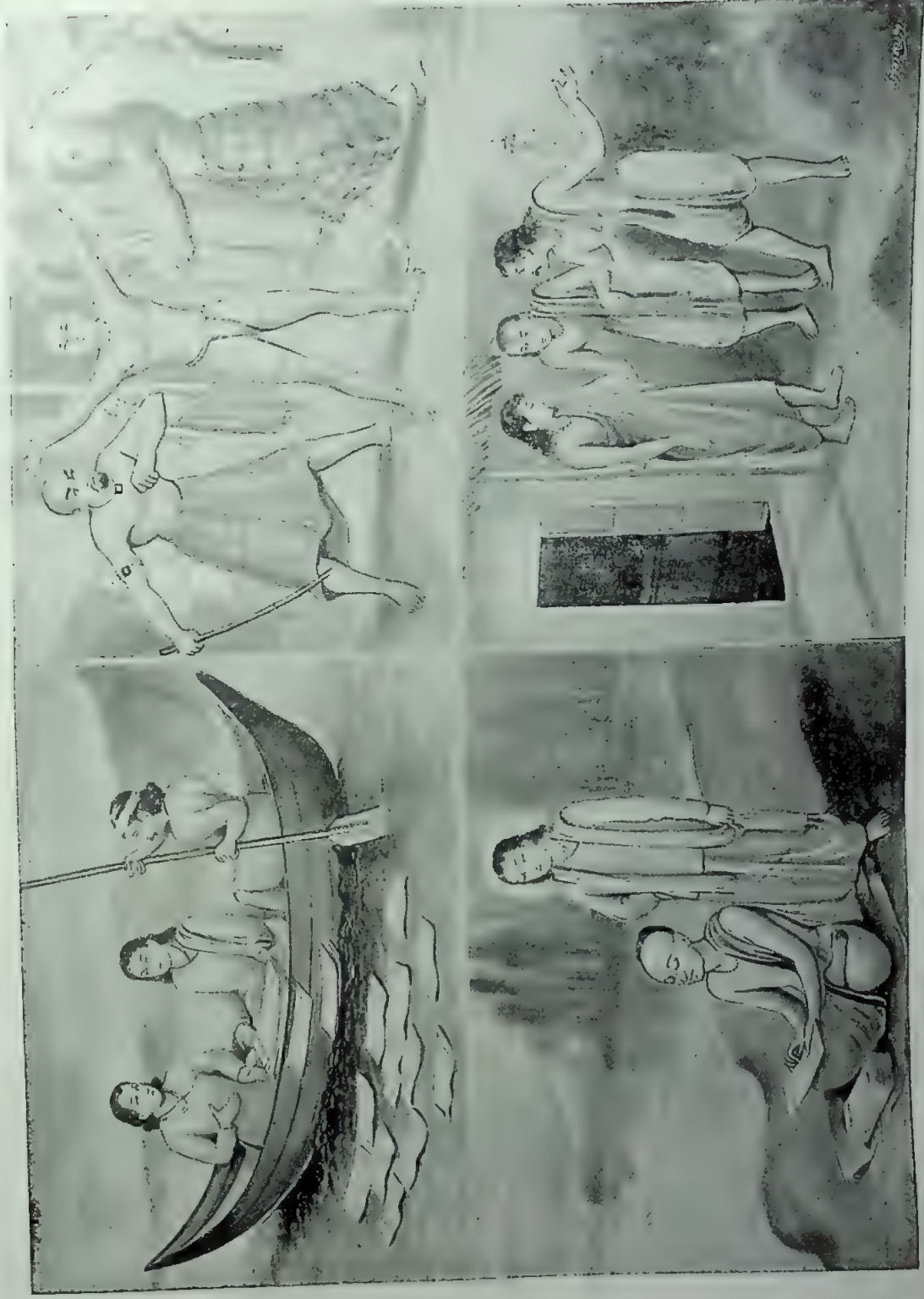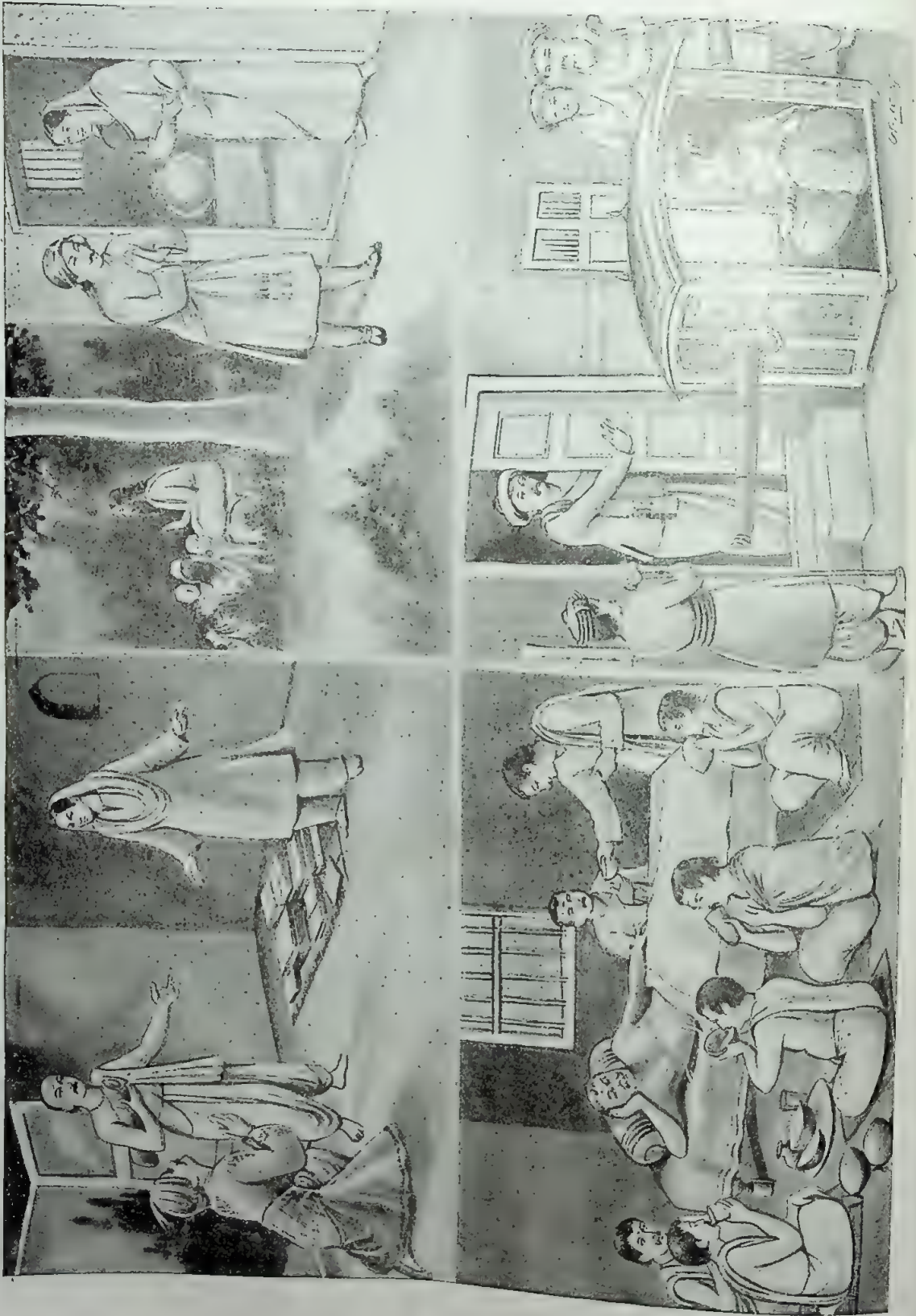
कैयटकी निःस्पृहता

महाभाष्यतिलकके कर्ता संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान् कैयटजी नगरसे दूर एक झोंपड़ीमें निवास करते थे। उनके घरमें सम्पत्तिके नामपर एक चटाई और एक कमण्डलु मात्र थे। उन्हें तो अपने संध्या, पूजन, अध्ययन और ग्रन्थ-लेखनसे इतना भी अवकाश नहीं था कि पत्नीसे पूछ सकें कि घरमें कुछ है भी या नहीं। बेचारी ब्राह्मणी वनसे मूँज काट लाती, उनकी रस्सियाँ बनाकर बेचती और उससे जो कुछ मिलता उससे घरका काम चलाती। उसके पतिदेवने उसे मना कर दिया था कि किसीका कुछ भी दान वह न ले। पतिकी सेवा, उनके और अपने भोजनकी व्यवस्था तथा घरके सारे काम उसे करने थे और वह यह सब करके भी परम संतुष्ट थी।

काश्मीरके नरेशको लोगोंने यह समाचार दिया। काशीसे आये हुए कुछ ब्राह्मणोंने कहा—'एक महान् विद्वान् आपके राज्यमें इतना कष्ट पाते हैं, आप कुछ तो ध्यान दें।'

नरेश स्वयं कैयटजीकी कुटियापर पधारे। उन्होंने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'भगवन्! आप विद्वान् हैं और जानते हैं कि जिस राजाके राज्यमें विद्वान् ब्राह्मण कष्ट पाते हैं, वह पापका भागी होता है, अतः मुझपर कृपा करें।'

कैयटजीने कमण्डलु उठाया और चटाई समेटकर बगलमें दबायी। पत्नीसे वे बोले—'अपने रहनेसे महाराजको पाप लगता है तो चलो और कहीं चलें। तुम मेरी पुस्तकें उठा तो लो।'

नरेश चरणोंपर गिर पड़े और हाथ जोड़कर बोले—'मेरा अपराध क्षमा किया जाय। मैं तो यह चाहता था कि मुझे कुछ सेवा करनेकी आज्ञा प्राप्त हो।'

कैयटजीने कमण्डलु-चटाई रख दिया। राजासे वे बोले—'तुम सेवा करना चाहते हो तो यही सेवा करो कि फिर यहाँ मत आओ और न अपने किसी कर्मचारीको यहाँ भेजो। न मुझे कभी किसी चीज—धन, जमीन आदिका प्रलोभन ही दो। मेरे अध्ययनमें विघ्न न पड़े, यही मेरी सबसे बड़ी सेवा है।'

पति-पत्नी दोनों निःस्पृह

बात अठारहवीं शताब्दीकी है। पण्डित श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तने अध्ययन समाप्त करके बंगालके विद्यावेन्द्र नवद्वीप नगरके बाहर अपनी कुटिया बना ली थी और पत्नीके साथ त्यागमय ऋषि-जीवन स्वीकार किया था। उनके यहाँ अध्ययनके लिये छात्रोंका एक समुदाय सदा टिका रहता था। पण्डितजीने वहाँके अन्य विद्वानोंके समान राजासे कोई वृत्ति ली नहीं थी और वे किसीसे कुछ माँगते भी नहीं थे। एक दिन जब वे विद्यार्थियोंको पढ़ाने जा रहे थे, उनकी पत्नीने कहा—'घरमें एक मुट्ठी चावलमात्र है, भोजन क्या बनेगा?' पण्डितजीने केवल पत्नीकी ओर देख लिया, कोई उत्तर दिये बिना ही कुटियासे बाहर वे अपने छात्रोंके बीच ग्रन्थ लेकर बैठ गये।

भोजनके समय जब वे भीतर आये, तब उनके सामने थोड़े-से चावल तथा उबाली हुई कुछ पत्तियाँ आयीं। उन्होंने पत्नीसे पूछा—'भद्रे! यह स्वादिष्ट शाक किस वस्तुका है?'

पत्नीने कहा—'मेरे पूछनेपर आपकी दृष्टि इमलीके वृक्षकी ओर गयी थी। मैंने उसीके पत्तोंका शाक बनाया है।'

पण्डितजीने निश्चिन्ततासे कहा—'इमलीके पत्तोंका

शाक इतना स्वादिष्ट होता है, तब तो हमलोगोंको भोजनके विषयमें कोई चिन्ता ही नहीं रही।'

इस समय कृष्णनगरके राजा थे महाराज शिवचन्द्र। उन्होंने पण्डित श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तकी विद्वत्ताकी प्रशंसा सुनी और उनकी आर्थिक स्थितिकी बात भी सुनी। महाराजने बहुत प्रयत्न किया कि पण्डितजी उनके नगरमें आकर रहें; किंतु निःस्पृह ब्राह्मणने इसे स्वीकार नहीं किया। इससे स्वयं महाराज एक दिन उनकी पाठशालामें पहुँचे। उन्होंने प्रणाम करके पूछा—'पण्डितजी! आपको किसी विषयमें अनुपपत्ति तो नहीं?'

तर्कसिद्धान्तजी बोले—'महाराज! मैंने चारु-चिन्तामणि ग्रन्थकी रचना की है। मुझे तो उसमें कोई अनुपपत्ति जान नहीं पड़ी। आपको कहीं कोई अनुपपत्ति या असङ्गति मिली है?'

महाराजने हँसकर कहा—'मैं आपसे तर्कशास्त्रकी बात नहीं पूछ रहा हूँ। मैं पूछता हूँ कि घरका निर्वाह करनेमें आपको किसी बातका अभाव तो नहीं?'

पण्डितजीने सीधा उत्तर दिया—'घरकी बात तो घरवाली जाने।'

पण्डितजीकी आज्ञा लेकर महाराज कुटियामें गये। उन्होंने ब्राह्मणीको प्रणाम करके अपना परिचय दिया और पूछा—'माताजी! आपके घरमें कोई अभाव हो तो आज्ञा करें, मैं उसकी पूर्तिकी व्यवस्था कर दूँ।'

ब्राह्मणी भी तो त्यागी निःस्पृह तर्कसिद्धान्तकी पत्नी थीं। वे बोलीं—'राजन्! मेरी कुटियामें कोई अभाव नहीं है। मेरे पहननेका वस्त्र अभी इतना नहीं फटा कि जो उपयोगमें न आ सके, जलका मटका अभी तनिक भी फूटा नहीं है और फिर मेरे हाथमें चूड़ियाँ बनी हैं, तबतक मुझे अभाव क्या।'

राजा शिवचन्द्रने उस देवीको भूमिमें मस्तक रखकर प्रणाम किया।

दूसरोंकी तृप्तिमें तृप्ति

कलकत्तेके सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीविश्वनाथ तर्कभूषण बीमार पड़े थे। चिकित्सकने उनकी परिचर्या करनेवालोंको आदेश दिया—'रोगीको एक बूँद भी जल नहीं देना चाहिये। पानी देते ही उसकी दशा चिन्ताजनक हो जायगी।'

श्रीतर्कभूषणजीको बहुत तीव्र प्यास लगी थी। उन्होंने घरके लोगोंसे कहा—'अबतक मैंने ग्रन्थोंमें पढ़ा है तथा स्वयं दूसरोंको उपदेश किया है कि समस्त प्राणियोंमें एक ही आत्मा है, आज मुझे इसका अपरोक्षानुभव करना है। ब्राह्मणोंको निमन्त्रण देकर यहाँ बुलाओ और उन्हें मेरे सामने शरबत, तरबूजका रस तथा हरे नारियलका पानी पिलाओ।'

घरके लोगोंने यह व्यवस्था कर दी। ब्राह्मण शरबत या नारियलका पानी पी रहे थे और तर्कभूषणजी अनुभव कर रहे थे—'मैं पी रहा हूँ।' सचमुच उनकी रोगजन्य तृषा इस अनुभवसे शान्त हो गयी।

सच्ची शोभा

श्रीराम शास्त्री अपनी न्यायप्रियताके लिये महाराष्ट्र-इतिहासमें अमर हो गये हैं। वे पेशवा माधवरावजीके गुरु थे, मन्त्री थे और राज्यके प्रधान न्यायाधीश भी थे। इतना सब होकर भी अपनी रहन-सहनमें वे केवल एक ब्राह्मण थे। एक साधारण घरमें रहते थे, जिसमें नहीं थी कोई तड़क-भड़क, और नहीं था कोई वैभव।

किसी पर्वके समय श्रीराम शास्त्रीजीकी पत्नी राजभवनमें पधारीं। रानी तो अपने गुरुकी पत्नीको देखते ही चकित हो गयीं। राजगुरुकी पत्नी और उनके शरीरपर सोना तो दूर, कोई चाँदीतकका आभूषण नहीं। पहननेकी साड़ी भी बहुत साधारण। रानीको लगा कि इसमें तो राजकुलकी निन्दा है। जिस गुरुके घर पेशवा प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रणाम करने जायँ, उस गुरुकी पत्नी इस प्रकार दरिद्र-वेशमें रहें तो लोग पेशवाको ही कृपण बतलायेंगे।

रानीने गुरुपत्नीको बहुमूल्य वस्त्र पहिनाये, रत्नजटित सोनेके आभूषणोंसे अलंकृत किया। जब उनके विदा होनेका समय आया, तब पालकीमें बैठाकर उन्हें विदा किया। पालकी राम शास्त्रीके द्वारपर पहुँची। कहारोंने द्वार खटखटाया। द्वार खुला और झट बंद हो गया। अपनी स्त्रीको इस वेशमें राम शास्त्रीजीने देख लिया था। कहारोंने फिर पुकारा—'शास्त्रीजी! आपकी धर्मपत्नी आयी हैं, द्वार खोलें।'

शास्त्रीजीने कहा—'बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंमें सजी ये कोई और देवी हैं। मेरी ब्राह्मणी ऐसे वस्त्र और गहने नहीं पहन सकतीं। तुमलोग भूलसे इस द्वारपर आये हो।'

शास्त्रीजीकी पत्नी अपने पतिदेवके स्वभावको जानती थीं। उन्होंने कहारोंको लौट चलनेको कहा। राजभवन जाकर उन्होंने वे वस्त्र और आभूषण उतार दिये। अपनी साड़ी पहन ली। रानीको उन्होंने बता दिया—'इन वस्त्र और आभूषणोंने तो मेरे लिये मेरे घरका ही द्वार बंद करा दिया है।'

पैदल ही घर लौटीं वे देवी। द्वार खुला हुआ था। शास्त्रीजीने घरमें आ जानेपर उनसे कहा—'बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण या तो राजपुरुषोंको शोभा देते हैं या मूर्ख उनके द्वारा अपनी अज्ञता छिपानेका प्रयत्न करते हैं। सत्पुरुषोंका आभूषण तो सादगी ही है।' वही सच्ची शोभा है।

जुए या सट्टेमें मनुष्य विवेकहीन हो जाता है

एक सुन्दर स्वच्छ जलपूर्ण सरोवर था; किंतु दुष्ट प्रकृतिके लोगोंने उसके समीप अपने अड्डे बना लिये थे। सरोवरके एक कोनेपर वेश्याओंने डेरा बनाया था। दूसरे कोनेपर मदिरा बेची जा रही थी। तीसरे कोनेपर मांस पकाकर मांस बेचनेकी दूकान थी और चौथे कोनेपर जुआरियोंका जमघट पासे लिये बैठा था।

उन दुष्ट लोगोंके दूत सीधे, सम्पन्न मनुष्योंको अपनी बातोंमें उलझाकर घूमनेके बहाने उस सरोवरके किनारे ले आया करते थे। एक दिन इसी प्रकार एक धनी, सदाचारी व्यक्तिको एक दुष्ट वहाँ ले आया। उसने अपनी लच्छेदार बातोंका प्रभाव उस धनी व्यक्तिपर जमा लिया था।

सरोवरके किनारे वेश्याओंका निवास देखकर धनी व्यक्तिने कहा—'यह बहुत निन्दित स्थान है। अच्छे व्यक्तिको यहाँ नहीं ठहरना चाहिये।'

दुष्ट पुरुष मुसकराया और बोला—'हमलोग दूसरी ओर चलें।'

दूसरी ओर मदिराकी दूकानके पास पहुँचते ही धनी व्यक्तिने नाकमें कपड़ा लगा लिया और वे शीघ्रतासे आगे बढ़ गये। यही बात मांसकी दूकानपर पहुँचनेपर भी हुई; किंतु जब वे जुएके अड्डेके पास पहुँचे, तब उस दुष्ट पुरुषने कहा—'हमलोग थक गये हैं। यहाँ थोड़ी देर बैठें। बैठकर खेल देखनेमें तो कोई दोष है नहीं।'

संकोचवश वे सज्जन पुरुष वहाँ बैठ गये। बैठनेपर सबने आग्रह प्रारम्भ कर दिया उनसे एक-दो बार खेलनेका। पासे बलात् उन्हें पकड़ा दिये। जुआ खेलना प्रारम्भ किया उन्होंने और शीघ्र ही हारने लगे। उस दुष्ट पुरुषने धीरेसे कहा—'आप जीतना चाहते हैं तो मस्तिष्कमें स्फूर्ति आवश्यक है। आज्ञा दें तो मैं

फलोंके रससे बनी सुराका एक प्याला यहीं ला दूँ।'

एक-दो बार उसने आग्रह किया और अनुमति मिल गयी। कथाका विस्तार अनावश्यक है—सुराके साथ अनिवार्य होनेके कारण मांस भी मँगाना पड़ा और जब मदिराने अपना प्रभाव जमाया, वेश्याओंके निवासकी ओर जानेके लिये दूसरेके द्वारा प्रेरणा मिले यह आवश्यक नहीं रह गया। द्यूतने वे सब पाप करा लिये, जिनसे अत्यधिक घृणा थी। जब धन नष्ट हो गया इस दुर्व्यसनमें पड़कर, चोरी करने लगा वही व्यक्ति जो कभी सज्जन था। निर्लज्ज हो गया वह। अपने मान-सम्मानकी बात ही भूल गया।

यह दृष्टान्त है जिसे एक सत्पुरुषके प्रवचनमें मैंने सुना है। घटना सत्य है या नहीं, मुझे पता नहीं; किंतु द्यूतके व्यसनमें पड़कर धर्मराज युधिष्ठिरने अपना सर्वस्व खो दिया, महारानी द्रौपदीतकको दावपर लगाकर हार गये, यह तो सर्वविदित है। राजा नल भी जुएके नशेमें सर्वस्व हार गये थे। वह घटना दे देना अच्छा है।

× × ×

निषध नरेश नलने दमयन्तीसे विवाह कर लिया था। दमयन्तीसे विवाह तो इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम भी करना चाहते थे; किंतु जब उन्हें निश्चय हो गया कि दमयन्तीका नलके प्रति दृढ़ अनुराग है, तब उन्होंने इस विवाहकी अनुमति दे दी और नलको बहुतसे वरदान भी दिये; किंतु कलियुगको इस घटनामें देवताओंका अपमान प्रतीत हुआ। उसने राजा नलसे बदला लेनेका निश्चय किया। वह नलके पास पहुँचा और अवसर पाकर उनके शरीरमें प्रविष्ट हो गया।

धर्मात्मा राजा नलकी जुआ खेलनेमें प्रवृत्ति ही कलियुगके प्रवेशसे हुई। उनके छोटे भाई पुष्करने उनसे जुआ खेलनेको कहा और वे प्रस्तुत हो गये। दोनों भाई दमयन्तीके सामने ही पासे फेंकने लगे। नलने रत्नोंके ढेर, स्वर्णराशि, घोड़े-हाथी आदि जो कुछ दावपर लगाये, उसे पुष्करने जीत लिया। आसपास जो नलके शुभचिन्तक मित्र थे, उन्होंने राजा नलको रोकनेका बहुत प्रयत्न किया; किंतु जुआरी तो जुएके नशेमें विचारहीन हो जाता है। नलने किसीकी बातपर कोई ध्यान नहीं दिया।

'राजा नल बराबर हारते जा रहे हैं, यह समाचार नगरमें फैल गया। प्रतिष्ठित नागरिक एवं मन्त्रीगण एकत्र होकर वहाँ आये। समाचार पाकर रानी दमयन्तीने प्रार्थना की—'महाराज! मन्त्रीगण एवं प्रजाजन आपका दर्शन करना चाहते हैं। कृपा करके उनकी बात तो सुन लीजिये।' परंतु शोकसे व्याकुल, रोती हुई रानीकी प्रार्थनापर भी नलने ध्यान नहीं दिया। बार-बार रानीने प्रार्थना की; किंतु उसे कोई उत्तर नहीं मिला।

जुआरी तथा सटोरियेकी दुराशा बड़ी घातक होती है—'अबकी बार अवश्य जीतूँगा! केवल एक दाव और' किंतु यह 'एक दाव और' तब जाकर समाप्त होता है जब शरीरके वस्त्र भी हारे जा चुके होते हैं। यही बात नलके साथ हुई। जुआ तब समाप्त हुआ जब नल अपना समस्त राज्य और शरीरपरके वस्त्र तथा आभूषण भी हार चुके। केवल एक धोती पहिनकर रानी दमयन्तीके साथ उन्हें राजभवनसे उसी समय निकल जाना पड़ा! —सु० सिं०

विवेकहीनता

प्राचीन समयकी बात है। एक धनी व्यक्तिने एक हब्शीको नौकर रक्खा। उसने अपने जीवनमें हब्शी कभी पहले नहीं देखा था। नौकरके शरीरका रंग नितान्त काला था। धनी व्यक्तिने सोचा कि यह कभी स्नान नहीं करता है; शरीरपर मैल जम जानेसे इसका रंग काला हो गया है।

उसने बिना सोचे-समझे अपने दूसरे नौकरोंको आदेश दिया कि इसे अच्छी तरह रगड़-रगड़कर साबुनसे नहलाना चाहिये और तबतक रगड़ते रहना चाहिये जबतक इसका शरीर स्वच्छ और श्वेत न हो जाय ।

नौकरोंने मालिककी आज्ञाका पालन किया । विलम्ब-तक साबुन रगड़ते रहनेपर भी उसके शरीरका रंग नहीं बदल सका । इस नहलानेका दुष्परिणाम यह हुआ कि हब्शीको सर्दी हो गयी और थोड़े ही समयके बाद अपने मालिककी विवेकहीनताका शिकार हो गया ।

मनुष्यके जीवनमें सत्-असत्के निर्णयका बड़ा महत्त्व है । यदि मालिकने सद्विवेकसे काम लिया होता तो हब्शीकी जान नहीं जाती ।—रा० श्री०

मनका पाप

एक संत थे । विचित्र जीवन था उनका । वे हरेकसे अपनेको अधम समझते और हरेकको अपनेसे उत्तम । घूमते-फिरते एक दिन वे नदीके तीरपर जा पहुँचे । सुनसान एकान्त स्थान था परम रमणीय । उन्होंने दूरसे देखा—नदीके तटपर स्वच्छ सुकोमल बालूपर एक प्रौढ़ उम्रका मनुष्य बैठा है, बहुत उल्लासमें है वह । पास ही पंद्रह-सोलह सालकी एक सुन्दरी युवती बैठी है । उसके हाथमें काँचका एक गिलास है । गिलासमें जल-जैसा कोई द्रव पदार्थ है । दोनों हँस-हँसकर बातें कर रहे हैं—बेधड़क । इस दृश्यको देखकर संत मन-ही-मन सोचने लगे—'इस प्रकार निर्जन स्थानमें परस्पर हँसी-मजाक करनेवाले ये स्त्री-पुरुष जरूर कोई पाप-चर्चा ही करते होंगे और गिलासमें जरूर शराब होगी । व्यभिचार और शराबका तो चोलीदामनका सम्बन्ध है । तो क्या मैं इनसे भी अधम हूँ ? मैं तो कभी किसी स्त्रीसे एकान्तमें मिलतातक नहीं । न मैंने कभी शराब ही पी है ।'

संत इस तरह विचार कर ही रहे थे कि उन्हें नदीकी भीषण तरङ्गोंके थपेड़ोंसे घायल एक छोटी-सी नाव डूबती दिखलायी दी । नाव उलट चुकी थी । यात्री पानीमें इधर-उधर हाथ मार रहे थे । सबकी जान खतरेमें थी । संत हाय ! हाय ! पुकार उठे । इसी बीचमें बिजलीकी तरह वह मनुष्य दौड़कर नदीमें कूद पड़ा और बड़ी बहादुरीके साथ बात-की-बातमें नौ मनुष्योंको बचाकर निकाल लाया ! इतनेमें संत भी उसके पास जा पहुँचे । इस तरह—अपने प्राणोंकी परवा न कर दूसरोंके प्राण बचानेके लिये मौतके मुँहमें कूद पड़ना और सफलताके साथ बाहर निकल आना—देखकर संत-का मन बहुत कुछ बदल गया था । वे दुविधामें पड़े उसके मुखकी ओर चकित-से होकर ताक रहे थे । उसने मुसकराकर कहा—'महात्माजी ! भगवान्ने इस नगण्यको निमित्त बनाकर नौ प्राणियोंको तो बचा लिया है, एक अभी रह गया है, उसे आप बचाइये ।' संत तैरना नहीं जानते थे, उनकी कूदनेकी हिम्मत नहीं हुई । कोई जवाब भी नहीं बन आया ।

तब उसने कहा—'महात्माजी ! अपनेको नीचा और दूसरोंको ऊँचा माननेका आपका भाव तो बहुत ही सुन्दर है, परंतु असलमें अभीतक दूसरोंको ऊँचा देखनेका यथार्थ भाव आपमें पैदा नहीं हो पाया है । नीचा समझकर ऊँचा मानना—अपनेमें यह अभिमान उत्पन्न करता है कि मैं अपनेसे नीचोंको भी ऊँचा मानता हूँ । जिस दिन आप दूसरोंको वस्तुतः ऊँचा देख पायेंगे, उसी दिन आप यथार्थमें ऊँचा मान भी सकेंगे । भगवान् यदि मूर्खके रूपमें आपके सामने आयें और आप उन्हें पहचान लें तो फिर मूर्खका-सा बर्ताव देखकर भी क्या आप उनको मूर्ख ही मानेंगे ? जो साधक सबमें श्रीभगवान्को पहचानता है, वह किसीको अपनेसे नीचा नहीं मान सकता । दूसरी एक बात यह है कि अभीतक

आपके मनसे पूर्वके अनुभव किये हुए पाप-संस्कारोंका पूर्णतया नाश नहीं हुआ है । अपने ही मनके दोष दूसरोंपर आरोपित होते हैं । व्यभिचारीको सारा जगत् व्यभिचारी और चोरको सब चोर दीखते हैं । आपने अपनी भावनासे ही हमलोगोंपर दोषकी कल्पना कर ली । देखिये—यह जो लड़की बैठी है मेरी बेटी है । इसके हाथमें जो गिलास है, वह इसी नदीके निर्मल जलसे भरा है । यह बहुत दिनों बाद आज ही ससुरालसे लौटकर आयी है । इसका मन देखकर हमलोग नदी-किनारे आ गये थे । बहुत दिनों बाद मिलनेके कारण दोनोंके मनमें बड़ा आनन्द था, इसीसे हमलोग हँसते हुए बातें कर रहे थे । फिर बाप-बेटीमें संकोच भी कैसा ? असलमें मैं तो भगवान्‌की प्रेरणासे आपके भावकी परीक्षाके लिये ही यहाँ आया था ।'

उसकी ये बातें सुनकर संतका बचा-खुचा अभिमान और पापके सारे संस्कार नष्ट हो गये । संतने समझा—'मेरे प्रभुने ही दया करके इनके द्वारा मुझको यह उपदेश दिलवाया है ।' संत उसके चरणोंपर गिर पड़े । इतनेमें वह डूबा हुआ एक आदमी भी भगवान्‌की कृपा-शक्तिसे नदीमेंसे निकल आया ।

तबसे संतको किसीमें भी दोष नहीं दीखते थे । वे किसीको भी अपनेसे नीचा नहीं मानते और किसीसे भी अपनेको ऊँचा नहीं देखते थे ।

अन्नदोष

एक महात्मा राजगुरु थे । वे प्रायः राजमहलमें राजाको उपदेश करने जाया करते । एक दिन वे राजमहलमें गये । वहीं भोजन किया । दोपहरके समय अकेले लेटे हुए थे । पास ही राजाका एक मूल्यवान् मोतियोंका हार खूँटीपर टँगा था । हारकी तरफ महात्माकी नजर गयी और मनमें लोभ आ गया । महात्माजीने हार उतारकर झोलीमें डाल लिया । वे समयपर अपनी कुटियापर लौट आये । इधर हार न मिलनेपर खोज शुरू हुई । नौकरोंसे पूछ-ताछ होने लगी । महात्माजीपर तो संदेहका कोई कारण ही नहीं था । पर नौकरोंसे हारका पता भी कैसे लगता ! वे बेचारे तो बिल्कुल अनजान थे । पूरे चौबीस घंटे बीत गये । तब महात्माजीका मनोविकार दूर हुआ । उन्हें अपने कृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ । वे तुरंत राजदरबारमें पहुँचे और राजाके सामने हार रखकर बोले—'कल इस हारको मैं चुराकर ले गया था, मेरी बुद्धि मारी गयी, मनमें लोभ आ गया । आज जब अपनी भूल माल्रम हुई तो दौड़ा आया हूँ । मुझे सबसे अधिक दुःख इस बातका है कि चोर तो मैं था और यहाँ बेचारे निर्दोष नौकरोंपर बुरी तरह बीती होगी ।'

राजाने हँसकर कहा—'महाराजजी ! आप हार ले जायँ यह तो असम्भव बात है । माल्रम होता है जिसने हार लिया, वह आपके पास पहुँचा होगा और आप सहज ही दयालु हैं, अतः उसे बचानेके लिये आप इस अपराधको अपने ऊपर ले रहे हैं ।'

महात्माजीने बहुत समझाकर कहा—'राजन् ! मैं झूठ नहीं बोलता । सचमुच हार मैं ही ले गया था । पर मेरी निःस्पृह—निर्लोभ वृत्तिमें यह पाप कैसे आया, मैं कुछ निर्णय नहीं कर सका । आज सबेरेसे मुझे दस्त हो रहे हैं । अभी पाँचवीं बार होकर आया हूँ । मेरा ऐसा अनुमान है कि कल मैंने तुम्हारे यहाँ भोजन किया था, उससे मेरे निर्मल मनपर बुरा असर पड़ा है और आज जब दस्त होनेसे उस अन्नका अधिकांश भाग मेरे अंदरसे निकल गया है, तब मेरा मनोविकार मिटा है । तुम पता लगाकर बताओ—वह अन्न कैसा था और कहाँसे आया था ?'

राजाने पता लगाया । भण्डारीने बतलाया कि 'एक

चोरने बढ़िया चावलोंकी चोरी की थी। चोरको अदालतसे सजा हो गयी; परंतु फरियादी अपना माल लेनेके लिये हाजिर नहीं हुआ। इसलिये वह माल राजमें जप्त हो गया और वहाँसे राजमहलमें लाया गया। चावल बहुत ही बढ़िया थे। अतएव महात्माजीके लिये कल उन्हीं चावलोंकी खीर बनायी गयी थी।'

महात्माजीने कहा—'इसीलिये शास्त्रने राज्यान्नका निषेध किया है। जैसे शारीरिक रोगोंके सूक्ष्म परमाणु फैलकर रोगका विस्तार करते हैं, इसी प्रकार सूक्ष्म मानसिक परमाणु भी अपना प्रभाव फैलाते हैं। चोरीके परमाणु चावलोंमें थे। उसीसे मेरा मन चञ्चल हुआ और भगवान्‌की कृपासे अतिसार हो जानेके कारण आज जब उनका अधिकांश भाग मलद्वारसे निकल गया, तब मेरी बुद्धि शुद्ध हुई। आहारशुद्धिकी इसीलिये आवश्यकता है!'

विजयोन्मादके क्षणोंमें

मध्यकालीन यूरोपकी कथा है। अपने सेनापतिकी वीरतासे एक राजाने युद्धमें विजय प्राप्त की। उसने राजधानीमें सेनापतिका धूमधामसे स्वागत करनेका विचार किया।

'सेनापतिके राजधानीमें प्रवेश करते ही उसका जय-जयकार किया जाय। चार श्वेत घोड़ोंसे जुते रथपर बैठकर वह युद्धस्थलसे राजमहलतक आये और उसके रथके पीछे-पीछे युद्ध-बंदी दौड़ते रहें तथा उनके हाथमें हथकड़ी और पैरोंमें बेड़ी हों।' राजाने स्वागतकी योजनापर प्रकाश डाला!

सेनापति बहुत प्रसन्न हुआ इस स्वागत-समाचारसे। राजाकी स्वागत-योजनाके अनुसार सेनापतिने चार सफेद घोड़ोंके रथपर आसीन होकर नगरमें प्रवेश किया। उसकी जयध्वनिसे धरती और आकाश पूर्ण थे।

सेनापतिने प्रत्यक्ष-सा देखा कि एक सुन्दर सजे-सजाये रथमें एक दास बैठा हुआ था और उसके रथने सेनापतिके रथके समानान्तर ही राजधानीमें प्रवेश किया। इससे उसे यह संकेत मिला कि छोटे-से-छोटा साधारण दास भी उसके समान गौरवपूर्ण पद पा सकता है। इसलिये नश्वर संसारके थोड़ेसे भागपर विजय करके प्रमत्त नहीं होना चाहिये। यह क्षणभङ्गुर है; इसमें आसक्त नहीं रहना चाहिये।

जिस समय लोग उसका जयकार कर रहे थे, उस समय सेनापतिको लगा कि एक दास उसे घूँसा मार रहा है। सेनापति दासके इस व्यवहारसे बड़ा क्षुब्ध था; उसका विजय-मद उतर गया। उसका अभिमान नष्ट हो गया। दासका यह कार्य संकेत कर रहा था कि मिथ्या अभिमान वास्तविक उन्नतिमें बाधक है।

सबसे आश्चर्यकी बात तो यह थी कि जिस समय धूम-धामसे उसका स्वागत होना चाहिये था उस समय लोग जोर-जोरसे उसकी निन्दा कर रहे थे। अनेक प्रकारकी गाली दे रहे थे। इससे उसे अपने दोषोंका ज्ञान होने लगा और अपनी सच्ची स्थितिका पता चल गया।

उसे ज्ञान हो गया कि मनुष्यको विजय पाकर उन्मत्त नहीं होना चाहिये। सब प्राणी गौरव प्राप्त करनेके अधिकारी हैं तथा अपने दोष ही सबसे बड़े शत्रु हैं; उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इससे जीवनमें सत्यका प्रकाश उतरता है। —रा० श्री०

कृतज्ञताका मूल्य

एक राजाके पास दो शिकारी कुत्ते थे। वे एक दूसरेसे थोड़ी दूरपर रक्खे गये। उनमें प्रायः लड़ाई हुआ करती थी। राजाने अपने सम्मतिदातासे पूछा कि क्या उपाय है जिससे दोनों मित्रकी तरह एक साथ रहने लगें। उसने कहा कि आप इन्हें जंगलमें ले जाइये। जब कोई भेड़िया दीख पड़े तो इनमेंसे एकको उसपर छोड़ दीजिये। जब एक कुत्ता लड़ते-लड़ते थकने लगे तब उसकी सहायताके लिये दूसरेको छोड़ दीजियेगा; दोनों मिलकर भेड़ियेको समाप्त कर देंगे और एक दूसरेके कृतज्ञ हो जायँगे।

बादशाहने ऐसा ही किया। भेड़िया आया, पर दोनों कुत्तोंने उसे समाप्त कर दिया। पहले कुत्तेने दूसरे कुत्तेका बड़ा आभार माना; क्योंकि उसकी कृपासे प्राण-रक्षा हुई थी। दोनों कुत्ते साथ-साथ रहने लगे और एक दूसरेके मित्र हो गये।—जा० श०

संसर्गसे गुण-दोष

एक राजा घोड़ेपर चढ़ा वनमें अकेले जा रहा था। जब वह डाकू-भीलोंकी झोंपड़ीके पाससे निकला, तब एक भीलके द्वारपर पिंजड़ेमें बंद तोता पुकार उठा—'दौड़ो! पकड़ो! मार डालो इसे! इसका घोड़ा छीन लो! इसके गहने छीन लो!'

राजाने समझ लिया कि वह डाकुओंकी बस्तीमें आ गया है। उसने घोड़ेको पूरे वेगसे दौड़ा दिया। डाकू दौड़े सही; किंतु राजाका उत्तम घोड़ा दूर निकल गया कुछ ही क्षणमें। हताश होकर उन्होंने पीछा करना छोड़ दिया।

आगे राजाको मुनियोंका आश्रम मिला। एक कुटीके सामने पिंजड़ेमें बैठा तोता उन्हें देखते ही बोला—'आइये राजन्! आपका स्वागत है! अरे! अतिथि पधारे हैं! अर्घ्य लाओ! आसन लाओ!'

कुटीमेंसे मुनि बाहर आ गये। उन्होंने राजाका स्वागत किया। राजाने पूछा—'एक ही जातिके पक्षियोंमें स्वभावमें इतना अन्तर क्यों?'

मुनिके बदले तोता ही बोला—'राजन्! हम दोनों एक ही माता-पिताकी संतान हैं; किंतु उसे डाकू ले गये और मुझे ये मुनि ले आये। वह हिंसक भीलोंकी बातें सुनता है और मैं मुनियोंके वचन सुनता हूँ। आपने स्वयं देख ही लिया कि किस प्रकार सङ्गके कारण प्राणियोंमें गुण या दोष आ जाते हैं।'—सु० सिं०

दुर्जन-सङ्गका फल

कोइ राजा वनमें आखेटके लिये गया था। थककर वह एक वृक्षके नीचे रुक गया। वृक्षकी डालपर एक कौआ बैठा था। संयोगवश एक हंस भी उड़ता आया और उसी डालपर बैठ गया। कौएने स्वभाववश बीट कर दी जो राजाके सिरपर गिरी। इससे क्रोधमें आकर राजाने धनुषपर बाण चढ़ाया और कौएको लक्ष्य करके बाण छोड़ दिया। धूर्त कौआ तो उड़ गया; किंतु बाण हंसको लगा और वह लड़खड़ाकर नीचे गिर पड़ा।

राजाने आश्चर्यसे कहा—'अरे! इस वनमें क्या सफेद कौए होते हैं?'

मरते हंसने उत्तर दिया—'राजन्! मैं कौआ नहीं हूँ। मैं तो मान-सरोवरवासी हंस हूँ; किंतु कुछ क्षण कौएके समीप बैठनेका यह दारुण फल मुझे प्राप्त हुआ है।'—सु० सिं०

सच्चे आदमीकी खोज

एक बादशाह (सुल्तान) को सच्चे आदमीकी बड़ी खोज थी। अन्य कर्मचारी राज्य-कर वसूल करके खा जाया करते थे। बादशाहका मन्त्री बड़ा योग्य व्यक्ति था।

'आप सारे राज्यमें ढिंढोरा पिटवा दीजिये कि आपको राज्य-कर वसूल करनेवाले एक योग्य अधिकारीकी आवश्यकता है। जब भेंटके लिये लोग आयें, तब उनसे आप नाचनेके लिये कहियेगा।' बुद्धिमान् मन्त्री (सम्मतिदाता) ने बादशाहसे निवेदन किया।

× × × ×

सारे राज्यमें यह बात बिजलीकी तरह फैल गयी कि बादशाहको योग्य कर्मचारीकी आवश्यकता है। आवेदक निश्चित समयपर राजमहलके सामने एकत्र हो गये। बादशाह जिस कमरेमें भेंटके लिये बैठा हुआ था उसमें जानेका रास्ता एक गलियारेसे था, जिसमें इतना अँधेरा था कि हाथ पसारे भी नहीं सूझता था। लोग राज-सिंहासनके सामने एकत्र हो गये।

बादशाहने उनमेंसे प्रत्येकको बारी-बारी नाचनेके लिये कहा। लोग झेंप गये और बिना नाचे ही, वे सब, एक व्यक्तिको छोड़कर बाहर चले आये। जो आदमी सिंहासनके सामने खड़ा था वह नाचने लगा।

'यह व्यक्ति सच्चा है।' मन्त्रीने बादशाहको बताया। मन्त्रीने कहा कि 'मैंने अन्धकारपूर्ण गलियारेमें सोनेके बहुत-से सिक्के बोरेमें भरकर रखवा दिये थे। जो बेईमान थे उन्होंने अपनी जेबें मोहरोंसे भर ली थीं। यदि वे नाचते तो उनकी चोरीका रहस्य प्रकट हो जाता।'

बादशाहको सच्चा आदमी मिल गया। —रा० श्री०

परिवर्तनशीलके लिये सुख-दुःख क्या मानना

एक सम्पन्न घरके लड़केको डाकुओंने पकड़ लिया और अरबके एक निर्दय व्यक्तिके हाथ बेच दिया। निष्ठुर अरब उस लड़केसे बहुत अधिक परिश्रम लेता था और फिर भी उसे झिड़कता और पीटता रहता था। पेट भर भोजन भी उस लड़केको नहीं मिलता था। एक व्यापारी घूमता हुआ उस नगरमें पहुँचा। वह लड़केको पहिचानता था। उसने लड़केसे पूछा—'आजकल तुम्हें बहुत क्लेश है?'

लड़का बोला—'जो पहले नहीं थी और आगे भी नहीं रहेगी, उस परिवर्तनशील अवस्थाके लिये क्लेश क्या मानना।'

वर्ष बीतते गये। अरब वृद्ध हुआ, मर गया। अरबकी स्त्री और अबोध बालक निराधार हो गये। उनका वह गुलाम अब युवक हो गया था। मरते समय अरबने उसे अपने दासत्वसे मुक्त कर दिया था। वही अब स्वयं उपार्जन करके अरबकी पत्नी और पुत्रका भी भरण-पोषण करता था। वह व्यापारी फिर उस नगरमें आया और युवकसे उसने पूछा—'अब क्या दशा है?'

युवक बोला—'जो पहले नहीं थी और आगे भी नहीं रहेगी। उस परिवर्तनशील अवस्थाके लिये सुख क्या मानना और दुःख भी क्यों मानना।'

युवक उन्नति करता गया। वह अपने कबीलेका सरदार हुआ और धीरे-धीरे उस प्रदेशका राजा हो गया। व्यापारी फिर उस नगरमें आया तो राजासे मिले बिना जा नहीं सका। मिलनेपर उसने कहा—'श्रीमान्! आपके इस वैभवके लिये धन्यवाद।'

राजाने शान्त स्थिर भावसे कहा—'भाई! जो पहले नहीं थी और आगे भी नहीं रहेगी, उस परिवर्तन-शील अवस्थाके लिये उल्लास क्या और खेद भी क्यों।'

—सु० सिं०

टूनलालको कौन मार सकता है

एक महात्मा एक स्कूलके आगे रहा करते थे। एक दिन स्कूलके लड़कोंने उनको तंग करनेकी सोची। बस, एक लड़का आकर उनको गुदगुदाने लगा। महात्मा कभी 'ही ही ही ही' करते, कभी 'ऊँ हूँ ऊँ हूँ' करते और कुछ गुनगुनाने लगते। एक दिन एक आदमी एक हँडिया रसगुल्ला लेकर उनके पास आया और उसने कहा—'मेरा भतीजा बीमार है। बाबा! आप उसे ठीक कर दीजिये।' पहले तो वह जिस तरफ हँडिया करता उस ओरसे वे मुँह फेर लेते। बादमें उन्होंने हँडियामेंसे एक रसगुल्ला लेकर हँडिया फोड़ दी और कहने लगे—'मेरे टूनलालको कौन मार सकता है?' घर आकर उस आदमीने देखा कि लड़का बिल्कुल स्वस्थ होनेकी ओर बढ़ रहा है। उस बीमार लड़केका नाम टूनलाल था। उसे महात्माजी बिल्कुल नहीं जानते थे।

कुत्ता श्रेष्ठ है या मनुष्य

कोई महात्मा बैठे थे। उनके पास एक कुत्ता आकर बैठ गया। तब किसी असभ्य मनुष्यने महात्मासे पूछा—'तुम दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है?' महात्माने कहा, 'यदि मैं प्रभुकी सेवाके लिये सत्कर्म करता हूँ तब तो मैं श्रेष्ठ हूँ और यदि मैं भोग-विलासमें जीवन बिताता हूँ तो मेरे-जैसे सैकड़ों मनुष्योंसे यह कुत्ता श्रेष्ठ है।'

संतकी विचित्र असहिष्णुता

एक संत नौकामें बैठकर नदी पार कर रहे थे। संध्याका समय था। आखिरी नाव थी, इससे उसमें बहुत भीड़ थी। संत एक किनारे अपनी मस्तीमें बैठे थे। दो-तीन मनचले आदमियोंने संतका मजाक उड़ाना शुरू किया। संत अपनी मौजमें थे, उनका इधर ध्यान ही नहीं था। उन लोगोंने संतका ध्यान खींचनेके लिये उनके समीप जाकर पहले तो शोर मचाना और गालियाँ बकना आरम्भ किया। जब इसपर भी संतकी दृष्टि नासिकाके अग्रभागसे न हटी, तब वे संतको धीरे-धीरे ढकेलने लगे। पास ही कुछ भले आदमी बैठे थे। उन्होंने उन बदमाशोंको डाँटा और संतसे कहा—'महाराज! इतनी सहनशीलता अच्छी नहीं है, आपके शरीरमें काफी बल है, आप इन बदमाशोंको जरा-सा डाँट देंगे तो ये अभी सीधे हो जायँगे।' अब संतकी दृष्टि उधर गयी। उन्होंने कहा—'भैया! सहनशीलता कहाँ है, मैं तो असहिष्णु हूँ, सहनेकी शक्ति तो अभी मुझमें आयी ही नहीं है। हाँ, मैं इसका प्रतीकार अपने ढंगसे कर रहा था। मैं भगवान्‌से प्रार्थना करता था कि 'वे कृपा कर इनकी बुद्धिको सुधार दें, जिससे इनका हृदय निर्मल हो जाय।' संतकी और उन भले आदमियोंकी बात सुनकर बदमाशोंके क्रोधका पारा बहुत ऊपर चढ़ गया। वे संतको उठाकर नदीमें फेंकनेको तैयार हो गये। इतनेमें ही आकाशवाणी हुई—'हे संतशिरोमणि! ये बदमाश तुम्हें नदीके अथाह जलमें डालकर डुबो देना चाहते हैं, तुम कहो तो इनको अभी भस्म कर दिया जाय।' आकाशवाणी सुनकर बदमाशोंके होश हवा हो गये और संत रोने लगे। संतको रोते हुए देखकर बदमाशोंने निश्चित समझ लिया कि अब यह हमलोगोंको भस्म करनेके लिये कहनेवाले हैं। वे काँपने लगे। इसी बीचमें संतने

कहा—'ऐसा न करें स्वामी ! मुझ तुच्छ जीवके लिये इन कई जीवोंके प्राण न लिये जायँ। प्रभो ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और यदि मेरे मनमें इनके विनाशकी नहीं, परंतु इनके सुधारकी सच्ची आकाङ्क्षा है तो आप इनको भस्म न करके इनके मनमें बसे हुए कुविचारों और कुभावनाओंको, इनके दोषों और दुर्गुणोंको तथा इनके पापों और तापोंको भस्म करके इन्हें निर्मलहृदय और सुखी बना दीजिये।' आकाशवाणीने कहा—'संतशिरोमणि ! ऐसा ही होगा। तुम्हारा भाव बहुत ऊँचा है। तुम हमको अत्यन्त प्यारे हो। तुम्हें धन्य है।'

बस, बदमाश परम साधु बन गये और संतके चरणोंपर गिर पड़े।

गरीब चोरसे सहानुभूति

एक भक्त थे, कोई उनका कपड़ा चुरा ले गया। कुछ दिनों बाद उन्होंने उसको बाजारमें बेचते देखा। दूकानदार कह रहा था कि 'कपड़ा तुम्हारा है या चोरी-का, इसका क्या पता। हाँ, कोई सज्जन पहचानकर बता दें कि तुम्हारा ही है तो मैं खरीद लूँगा।' भक्त पास ही खड़े थे और उनसे दूकानदारका परिचय भी था। उन्होंने कहा—'मैं जानता हूँ, तुम दाम दे दो।' दूकानदारने कपड़ा खरीदकर कीमत चुका दी। इसपर भक्तके एक साथीने उनसे पूछा कि 'आपने ऐसा क्यों किया ?' इसपर भक्त बोले कि 'वह बेचारा बहुत गरीब है, गरीबीसे तंग आकर उसे ऐसा करना पड़ा है। गरीबको तो हर तरहसे सहायता ही करनी चाहिये। इस अवस्थामें उसको चोर बतलाकर फँसाना और भी पाप है।' इस बातका चोरपर बड़ा प्रभाव पड़ा और वह भक्तकी कुटियापर जाकर रोने लगा। उस दिनसे वह भी भक्त बन गया।

संत-स्वभाव

श्रीविश्वनाथपुरी वाराणसीमें एक साधु गङ्गास्नान कर रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि प्रवाहमें बहते एक बिच्छूपर पड़ी। साधुने दया करके उसे हाथपर उठा लिया। बिच्छू तो बिच्छू ही ठहरा, उसकी पीठपरसे पानी नीचे गिरा और उसने अपना भयंकर डंक चला दिया। हाथमें डंक लगनेसे हाथ काँप उठा और बिच्छू फिर पानीमें गिर पड़ा।

साधुके हाथमें भयानक पीड़ा प्रारम्भ हो गयी थी; किंतु उन्होंने आगे झुककर फिर उस बिच्छूको हाथपर उठा लिया और जलसे बाहर आने लगे। बिच्छूने फिर डंक मारा, हाथ फिर काँपा और बिच्छू फिर हाथसे जलमें गिर पड़ा। साधु उसे उठाने फिर जलमें आगे बढ़े।

आस-पास और भी लोग स्नान कर रहे थे। साधु बार-बार बिच्छूको उठाते थे और बार-बार वह उनके हाथमें डंक मारता था। लोग इस दृश्यकी ओर आकर्षित हो गये। किसीने कहा—'यह दुष्ट प्राणी तो वैसे भी मार देने योग्य है। अपनी दुष्टतासे ही यह मर रहा है तो आप इसे बचानेका निरर्थक प्रयत्न क्यों करते हैं ? मरने दीजिये इसे।'

साधुने बिच्छूको हाथपर उठाते हुए कहा—'यह क्षुद्र प्राणी अपना डंक मारनेका स्वभाव नहीं छोड़ता है तो मनुष्य होकर मैं अपना दया करनेका स्वभाव कैसे छोड़ दूँ। पशुतासे यदि मानवता श्रेष्ठ है तो मेरी मानवता अवश्य इसकी पशुतापर विजय पायेगी।'

पशुतासे मानवता, क्रूरतासे दया, तमोगुणसे सत्त्व-

गुण श्रेष्ठ है, बलवान् है, यह तो संदेहसे परे है। साधुकी दयाको विजय पाना ही था। बिच्छूने इस बार अपना डंक सीधा कर दिया। वह ऐसा शान्त हो गया जैसे डंक चलाना उसे आता ही न हो।—सु० सिं०

दूसरोंके दोष मत देखो

वे नागा साधु थे। एक नागा साधुके समान ही उनमें तितिक्षा थी, तपस्या थी, त्याग था और था अक्खड़पना। साधु तो रमते-राम ठहरे, जहाँ मन लगा; वहीं धूनी भी लग गयी। वे नागा महात्मा घूमते हुए श्रावस्ती नगरीमें पहुँचे। एक नीमका छायादार सघन वृक्ष उन्हें अच्छा लगा। वृक्षके चारों ओर चबूतरा था। साधुने वहीं धूनी लगा ली।

जहाँ साधुकी धूनी लगी थी, उसके सम्मुख ही नगरकी एक वेश्याकी अट्टालिका थी। उसके भवनमें पुरुष तो आते-जाते ही रहते थे। साधुको पता नहीं क्या सूझी, जब वेश्याके घरमें कोई पुरुष जाता, तब वे एक कंकड़ अपनी धूनीके एक ओर रख देते। उनके कंकड़ोंकी ढेरी पहले ही दिन भूमिसे ऊँची दीखने लगी। कुछ दिनोंमें तो वह अच्छी बड़ी राशि हो गयी।

एक दिन जब वह वेश्या अपने भवनसे बाहर निकली तब साधुने उसे समीप बुलाकर कहा—'पापिनी! देख अपने कुकृत्यका यह पहाड़! अरी दुष्टे! तूने इतने पुरुषोंको भ्रष्ट किया है, जितने इस ढेरमें कंकड़ हैं। अनन्त-अनन्त वर्षोंतक तू नरकमें सड़ेगी।'

वेश्या भयसे काँपने लगी। उसके नेत्रोंसे आँसूकी धारा चलने लगी। साधुके सामने पृथ्वीपर सिर रखकर गिड़गिड़ाती हुई बोली—'मुझ पापिनीके उद्धारका उपाय बतावें प्रभु!'

साधु क्रोधपूर्वक बोले—'तेरा उद्धार तो हो ही नहीं सकता। यहाँसे अभी चली जा। तेरा मुख देखनेके कारण मुझे आज उपवास करके प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।'

वेश्या भयके मारे वहाँसे चुपचाप अपने भवनमें चली गयी। पश्चात्तापकी अग्निमें उसका हृदय जल रहा था। अपने पलंगपर मुखके बल पड़ी वह हिचकियाँ ले रही थी—'भगवान्! परमात्मा! मुझ अधम नारीको तो तेरा नाम भी लेनेका अधिकार नहीं। तू पतितपावन है, मुझपर दया कर!'

उस पश्चात्तापकी घड़ीमें ही उसके प्राण प्रयाण कर गये और जो पापहारी श्रीहरिका स्मरण करते हुए देह-त्याग करेगा, उसको भगवद्धाम प्राप्त होगा, यह तो कहनेकी बात ही नहीं है।

उधर वे साधु घृणापूर्वक सोच रहे थे—'कितनी पापिनी है यह नारी। आयी थी उद्धारका उपाय पूछने, भला ऐसोंका भी कहीं उद्धार हुआ करता है।'

उसी समय साधुकी आयु भी पूरी हो रही थी। उन्होंने देखा कि हाथमें पाश लिये, दण्ड उठाये बड़े-बड़े दाँतोंवाले भयंकर यमदूत उनके पास आ खड़े हुए हैं। साधुने डाँटकर पूछा—'तुम सब क्यों आये हो! कौन हो तुम?'

यमदूतोंने कहा—'हम तो धर्मराजके दूत हैं। आपको लेने आये हैं। अब यमपुरी पधारिये।'

साधुने कहा—'तुमसे भूल हुई दीखती है। किसी औरको लेने तुम्हें भेजा गया है। मैं तो बचपनसे साधु हो गया और अबतक मैंने तपस्या ही की है। मुझे लेने धर्मराज तुम्हें कैसे भेज सकते हैं। हो सकता है कि तुम इस मकानमें रहनेवाली वेश्याको लेने भेजे गये हो।'

यमदूत बोले—'हमलोग भूल नहीं किया करते। वह वेश्या तो वैकुण्ठ पहुँच चुकी। आपको अब यम

पुरी चलना है । आपने बहुत तपस्या की है; किंतु बहुत पाप भी किया है । वेश्याके पापकी गणना करते हुए आप निरन्तर पाप-चिन्तन ही तो किया करते थे और इस मृत्युकालमें भी तो आप पाप-चिन्तन ही कर रहे थे । अब आपके पाप-पुण्यके भोगोंका क्रम-निर्णय धर्मराज करेंगे ।'

साधुके वशकी बात अब नहीं थी। यमदूतोंके पाशमें बँधा प्राणी यमपुरी जानेको विवश होता ही है। —सु० सिं०

सबसे बड़ा दान अभयदान

किसी राजाके चार रानियाँ थीं । एक दिन प्रसन्न होकर राजाने उन्हें एक-एक वरदान माँगनेको कहा । रानियोंने कह दिया—'दूसरे किसी समय वे वरदान माँग लेंगी ।'

रानियाँ धर्मज्ञा थीं । कुछ काल बाद राजाके यहाँ कोई अपराधी पकड़ा गया और उसे प्राणदण्डकी आज्ञा हुई । बड़ी रानीने सोचा कि 'इस मरणासन्न मनुष्यको एक दिनका जीवनदान देकर उसे उत्तम भोगोंसे संतुष्ट करना चाहिये ।' उन्होंने राजासे प्रार्थना की—'मेरे वरदानमें आप इस अपराधीको एक दिनका जीवन-दान दें और उसका एक दिनका आतिथ्य मुझे करने दें ।'

रानीकी प्रार्थना स्वीकार हो गयी । अपराधीको वे राजभवन ले गयीं और उसे बहुत उत्तम भोजन उन्होंने दिया । परंतु दूसरे दिन मृत्यु निश्चित है, इस भयके कारण उस मनुष्यको भोजन प्रिय कैसे लगता ? दूसरे दिन दूसरी रानीने यही प्रार्थना की और उन्होंने उस अपराधीको उत्तम भोजनके साथ उत्तम वस्त्र भी दिये । तीसरे दिन तीसरी रानीने भी वही प्रार्थना की और भोजन-वस्त्रके साथ अपराधीके मनोरञ्जनके लिये उन्होंने नृत्य-संगीतकी भी व्यवस्था कर दी। पर उस मनुष्यको यह कुछ भी अच्छा नहीं लगा । उसने कुछ खाया-पीया नहीं।

चौथे दिन छोटी रानीने प्रार्थना की—'मैं वरदानमें चाहती हूँ कि इस अपराधीको क्षमा कर दिया जाय ।' उनकी प्रार्थना स्वीकार हो गयी तो उन्होंने अपराधीको केवल रूखी मोटी रोटियाँ और दाल खिलाकर बिदा कर दिया । उसने आज वे रूखी रोटी बड़े चाव तथा आनन्दसे पेटभर खायी ।

रानियोंमें विवाद उठा कि सबसे अधिक सेवा उस मनुष्यकी किसने की । परस्पर जब निर्णय नहीं हो सका, तब बात राजाके यहाँ पहुँची । राजाने अपराधीको बुलाकर पूछा तो वह बोला—'राजन् ! जबतक मुझे मृत्यु सामने दीखती थी, तबतक भोजन, वस्त्र या नृत्य-समारोहमें मुझे क्या सुख मिलना था । मुझे तो सबसे स्वादिष्ट लगीं छोटी रानीमाताकी रूखी रोटियाँ; क्योंकि तब मुझे मृत्युसे अभय मिल चुका था ।' इसीलिये कहा गया है—

न गोप्रदानं न महीप्रदानं
न चान्नदानं न सुवर्णदानम् ।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं
सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम् ॥

बुद्धिमान्‌लोग समस्त दानोंमें अभयदानको जितना प्रधान (महत्त्वपूर्ण) बतलाते हैं, उतना महत्त्वपूर्ण गोदान, पृथ्वीदान, अन्नदान या स्वर्णदानको नहीं बतलाते । —सु० सिं०

अपने प्रति अन्याय

एक साधुकी गाय किसीने चुरा ली। जब लोग गाय ढूँढ़ने लगे, तब साधु बोले—'गाय ले जाते समय मैंने चोरको देखा; किंतु उस समय मैं जप कर रहा था, बोल नहीं सकता था ।'

'कितना दुष्ट है वह ।' लोग चोरकी निन्दा करने लगे।

साधुने उन्हें रोका—'मैंने उसे क्षमा कर दिया है।

आप सब भी क्षमा कर दें।'

'ऐसा दुष्ट भी क्या क्षमा करनेयोग्य होता है। उसे तो दण्ड मिलना चाहिये।' दूसरे लोग बहुत उत्तेजित थे।

साधु बोले—'उसने मेरे प्रति तो कोई अन्याय किया नहीं, मैं क्यों क्रोध करूँ और दण्ड दिलाऊँ। गाय मेरे प्रारब्धमें अब नहीं होगी, इसलिये चली गयी। उसने तो अपने प्रति ही अन्याय किया है; क्योंकि उसने चोरीका पाप किया, जिसका दण्ड उसे अब या जन्मान्तरमें अवश्य भोगना पड़ेगा।'

सबसे अपवित्र है क्रोध

कहा जाता है कि भगवान् विश्वनाथकी पुरी काशीकी बात है। गङ्गा-स्नान करके एक संन्यासी घाटसे ऊपर जा रहे थे। भीड़ तो काशीमें रहती ही है, बचनेका प्रयत्न करते हुए भी एक चाण्डाल बच नहीं सका, उसका वस्त्र उन संन्यासीजीसे छू गया। अब तो संन्यासीको क्रोध आया। उन्होंने एक छोटा पत्थर उठाकर मारा चाण्डालको और डाँटा—'अंधा हो गया है, देखकर नहीं चलता; अब मुझे फिर स्नान करना पड़ेगा।'

चाण्डालने हाथ जोड़कर कहा—'अपराध हो गया, क्षमा करें। रही स्नान करनेकी बात सो आप स्नान करें या न करें, मुझे तो अवश्य स्नान करना पड़ेगा।'

संन्यासीने आश्चर्यसे पूछा—'तुझे क्यों स्नान करना पड़ेगा?'

चाण्डाल बोला—'सबसे अपवित्र महाचाण्डाल तो क्रोध है और उसने आपमें प्रवेश करके मुझे छू दिया है। मुझे पवित्र होना है उसके स्पर्शसे।' संन्यासीजीने लज्जासे सिर नीचा कर लिया।

निष्पाप हो वह पत्थर मारे

महात्मा ईसामसीहके सम्मुख एक नारी पकड़कर ले आयी गयी थी। नगरके लोगोंकी भीड़ उसे घेरे हुए थी। लोग अत्यन्त उत्तेजित थे। वे चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि उसे मार देना चाहिये। उस नारीपर दुराचरणका आरोप था और अपना अपराध वह अस्वीकार कर दे, ऐसी परिस्थिति नहीं थी। उसके हाथ पीछेकी ओर बँधे थे। उसने अपना मुख झुका रक्खा था।

ईसाने एक बार उस नारीकी ओर देखा और एक बार उत्तेजित भीड़की ओर। उन्होंने ठंडे स्वरमें कहा—'इसने पाप किया है, यह बात जब यह स्वयं अस्वीकार नहीं करती है तो अविश्वास करनेका कोई कारण ही नहीं। यह पापिनी तो है।'

'इसे दण्ड मिलना चाहिये—प्राणदण्ड!' भीड़से लोग चिल्लाये।

'अच्छी बात! आपलोग जैसा चाहते हैं, वैसा ही करें। इसे सब लोग पाँच-पाँच पत्थर मारें।' ईसाने उसी शान्त कण्ठसे निर्णय दे दिया।

बेचारी नारी काँप उठी। उसे दयालु कहे जानेवाले इस साधुसे ही एक आशा थी और उसका यह निर्णय! उधर भीड़के लोगोंने पत्थर उठा लिये। परंतु इसी समय ईसाका उच्चस्वर गूँजा—'सावधान मित्रो! पहला पत्थर इसे वह मारे जो सर्वथा निष्पाप हो। स्वयं पापी होकर जो पत्थर मारेगा, उसे भी यही दण्ड भोगना होगा।'

उत्तेजित भीड़में उठे हाथ नीचे झुक गये। लोगोंका चिल्लाना बंद हो गया। नारीने अश्रुपूर्ण नेत्र उठाकर ईसाकी ओर देखा; किंतु ईसा भीड़को सम्बोधित कर रहे थे—'मारो! बन्धुओ, पत्थर मारो! यह पापिनी

नारी तुम्हारे सामने है, निष्पाप पुरुष इसे पहला पत्थर मारे !'

भीड़के लोग धीरे-धीरे खिसकने लगे। थोड़ी देरमें तो वहाँ ईसा अकेले बच रहे थे। उन्होंने आगे बढ़कर उस नारीके बँधे हाथ खोल दिये और बोले—'देवि ! तुम चाहे जहाँ जानेको अब स्वतन्त्र हो। परमात्मा दयासागर है। बच्चोंका ऐसा कोई अपराध नहीं हो सकता, जिनको उनका पिता क्षमा माँगनेपर क्षमा न कर दे। उस परम पितासे तुम क्षमा माँगो।'

भीड़की उत्तेजना उस नारीको मार सकती थी; किंतु ईसाकी दयाने उसकी पापप्रवृत्तिका वध कर दिया। वह नारी पश्चात्तापकी ज्वालामें शुद्ध हो चुकी थी।

ऋण लेकर भूलना नहीं चाहिये

नेपोलियन बोनापार्ट बचपनमें बहुत निर्धन थे; किंतु अपने साहस और उद्योगसे वे फ्रांसके सम्राट् हुए। सम्राट् होनेके पश्चात् वे एक दिन घूमते हुए उस ओर पहुँचे जहाँ बचपनमें उन्होंने शिक्षा पायी थी। सहसा उन्हें कुछ स्मरण आया और अकेले ही एक छोटे घरके आगे वे जा खड़े हुए। उस घरकी एक बुढ़ियाको उन्होंने बुलाकर कहा—'बूढ़ी माँ ! बहुत पहले इस स्कूलमें एक बोनापार्ट नामका लड़का पढ़ता था, तुम्हें उसका कुछ स्मरण है ?'

बुढ़िया बोली—'हाँ, हाँ, मुझे स्मरण है। बड़ा अच्छा लड़का था वह।'

नेपोलियन—'वह तुमसे फल, मेवा, रोटी आदि खाने-पीनेकी चीजें लिया करता था। उसने तुम्हारा सब दाम दे दिया या कुछ उधार उसपर रह गया ?'

बुढ़िया—'वह उधार रखनेवाला लड़का नहीं था। वह तो अपने साथियोंमें किसीके पास पैसा न हो तो अपने पाससे उनके पैसे भी चुका देता था।'

नेपोलियन—'तुम बहुत बूढ़ी हो गयी हो, इससे सब बातें तुम्हें स्मरण नहीं। अपने पैसे देकर तुम भूल जाओ, यह तो ठीक है; किंतु ऋण लेकर भूलना तो ठीक नहीं। उस लड़केपर तुम्हारे कुछ पैसे अभीतक उधार हैं। वह आज अपना ऋण चुकाने आया है। यह थैली लो और बहुत दिनोंका अपना ऋण इसके रुपयोंसे चुका लो।'

सच्चा वीर

उस समय फ्रांस और ऑस्ट्रियामें युद्ध चल रहा था। लॉटूर आवर्न फ्रांसकी ग्रेनेडियर सेनाका सैनिक था। वह छुट्टी लेकर अपने घर गया था। छुट्टी समाप्त होनेपर जब वह लौटने लगा, तब मार्गमें पता लगा कि ऑस्ट्रियाकी एक सैनिक टुकड़ी पहाड़ी मार्गसे शीघ्रतापूर्वक फ्रांसके एक छोटेसे पर्वतीय दुर्गकी ओर बढ़ी आ रही है। उस सैनिकने निश्चय किया—'मैं शत्रुसे पहले पहुँचकर दुर्ग-रक्षकोंको सावधान कर दूँगा और वहाँसे एक सैनिक भेज दूँगा संदेश लेकर, जिससे समयपर सहायताके लिये सेना आ जाय।'

वह दौड़ता हुआ किसी प्रकार उस पहाड़ी किलेमें पहुँचा; किंतु वहाँ पहुँचकर उसने जो कुछ देखा, उससे बहुत दुःख हुआ। दुर्गका द्वार खुला हुआ था। उसके रक्षक शत्रुके आक्रमणका समाचार पाकर भाग गये थे। वे इतनी उतावलीमें भागे थे कि अपनी बंदूकें भी साथ नहीं ले गये थे। आवर्नने झटपट अपना कर्तव्य निश्चित किया। उसने दुर्गका द्वार बंद कर दिया। कुछ भोजन करके उसने सब बंदूकें एकत्र कीं। आजके समान कारतूससे चलनेवाली बंदूकें उस समय नहीं थीं। आवर्नने सब बंदूकें भरीं और उन्हें स्थान-स्थानपर जमाकर लगा दिया। प्रत्येक बंदूकके पास उसने बारूद और गोलियाँ रक्खीं। यह सब करके वह शत्रुकी प्रतीक्षा करने लगा।

ऑस्ट्रियन सैनिक दुर्गपर अचानक आक्रमण करना चाहते थे। रात्रिके अन्धकारमें वे जैसे ही आगे बढ़े, किलेके ऊपरसे एक बंदूकका धड़ाका हुआ और उनका एक सैनिक लुढ़क गया। उस समय वे पीछे हट गये। सबेरा होनेपर उनके सेनानायकने व्यूह बनाकर किलेपर आक्रमण किया; किंतु किलेसे आती गोलियोंने उस सेनाके अनेक सैनिकोंको सुला दिया। गोलियाँ कभी एक ओरसे, कभी दूसरी ओरसे, इस प्रकार किलेकी बहुत-सी खिड़कियोंसे आ रही थीं। किला ऊँचाईपर था। उसपर सीधे चढ़ जाना अत्यन्त कठिन था। दिनभर संग्राम चलता रहा; किंतु ऑस्ट्रियन सैनिक आगे नहीं बढ़ सके। उनके बहुतसे सैनिक मरे तथा घायल हुए।

उधर आवर्न दिनभरमें थककर चूर हो गया था। वह समझता था कि कल वह इसी प्रकार किलेको नहीं बचा सकेगा। भागे हुए सैनिकोंने फ्रांसीसी सेनाको सावधान कर दिया होगा, यह भी वह अनुमान करता था। उसने संध्या-समय पुकारकर ऑस्ट्रियन सेनाके नायकसे कहा—'यदि दुर्गवासियोंको फ्रांसके झंडे तथा हथियारोंको लेकर निकल जानेका वचन दो तो मैं कल सबेरे किला तुम्हें सौंप दूँगा।'

सेनानायकने आवर्नकी माँग स्वीकार कर ली। प्रातःकाल ऑस्ट्रियन सैनिक दो पंक्तियोंमें इस प्रकार खड़े हो गये कि उनके मध्यसे एक-एक करके दुर्गके सैनिक जा सकें। किलेका द्वार खुला। हाथमें फ्रांसका झंडा लिये कंधोंपर ढेरों बंदूकें लादे आवर्न निकला। ऑस्ट्रियन सेनानायकने पूछा—'दूसरे सैनिक तुम्हारे पीछे आ रहे हैं?'

आवर्न हँसकर बोला—'मैं ही सैनिक हूँ, मैं ही दुर्गपाल हूँ और मैं ही पूरी सेना हूँ।' उसके इस शौर्यसे ऑस्ट्रियन सेनानायक इतना प्रभावित हुआ कि उसने बंदूकें ले जानेको उसे अपना एक मजदूर दिया तथा एक प्रशंसापत्र लिखकर उसे दिया। इस घटनाका समाचार जब नेपोलियनको मिला तो उसने आवर्नको फ्रांसके महान् ग्रेनेडियरकी उपाधि दी। आवर्नकी मृत्यु होनेपर भी उसका नाम सैनिक-सूचीसे पृथक् न किया जाय, यह आदेश दिया गया। उसकी मृत्युके पश्चात् भी सैनिकोंकी उपस्थिति लेते समय सैनिक अधिकारी पहले उसका नाम लेकर पुकारता था और एक सैनिक नियमितरूपसे उठकर उत्तर देता था—'वे युद्धभूमिमें अनन्त यशकी शय्यापर सो रहे हैं।'

सम्मान पदमें है या मनुष्यतामें

सिकन्दरने किसी कारणसे अपनी सेनाके एक सेनापतिसे रुष्ट होकर उसे पदच्युत करके सूबेदार बना दिया। कुछ समय बीतनेपर उस सूबेदारको सिकन्दरके सम्मुख उपस्थित होना पड़ा। सिकन्दरने पूछा—'मैं तुमको पहलेके समान प्रसन्न देखता हूँ, बात क्या है?'

सूबेदार बोला—'श्रीमान्! मैं तो पहलेकी अपेक्षा भी सुखी हूँ। पहले तो सैनिक और सेनाके छोटे अधिकारी मुझसे डरते थे, मुझसे मिलनेमें संकोच करते थे; किंतु अब वे मुझसे स्नेह करते हैं। वे मेरा भरपूर सम्मान करते हैं। प्रत्येक बातमें मुझसे सम्मति लेते हैं। उनकी सेवा करनेका अवसर तो मुझे अब मिला है।'

सिकन्दरने फिर पूछा—'पदच्युत होनेमें तुम्हें अपमान नहीं प्रतीत होता?'

सूबेदारने कहा—'सम्मान पदमें है या मानवतामें! उच्च पद पाकर कोई प्रमाद करे, दूसरोंको सतावे, घूस आदि ले और गर्वमें चूर बने तो वह निन्दाके योग्य ही है। वह तो बहुत तुच्छ है। सम्मान तो है दूसरोंकी सेवा करनेमें, कर्तव्यनिष्ठ रहकर सबसे नम्र व्यवहार करनेमें और ईमानदारीमें। भले वह व्यक्ति सैनिक हो या उससे भी छोटा गाँवका चौकीदार।'

सिकन्दरने कहा—'मेरी भूलपर ध्यान मत देना। तुम फिर सेनापति बनाये गये।'

निष्पाप हो, वह पत्थर मारे

ऋण लेकर भूलना नहीं

सच्चा वीर

सम्मान पदमें है या मनुष्यतामें

कुसङ्गका परिणाम

सहनशीलता
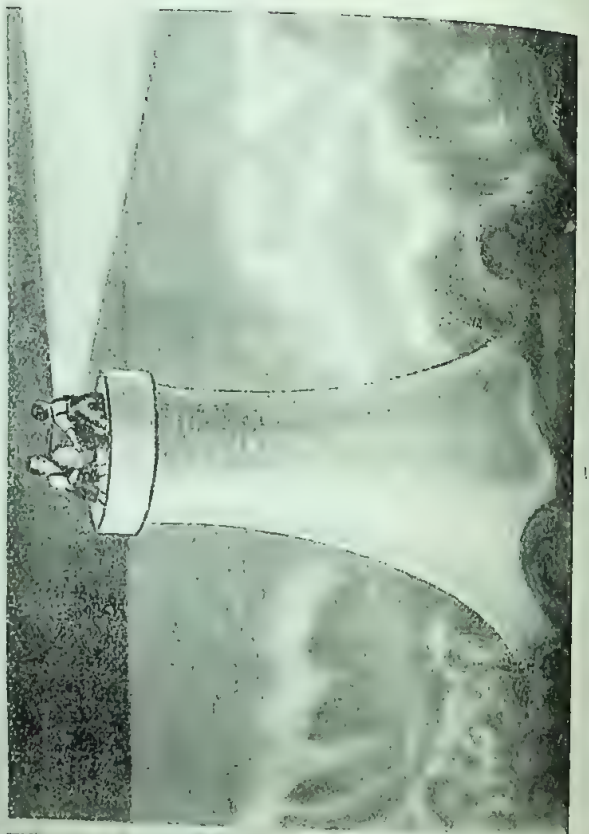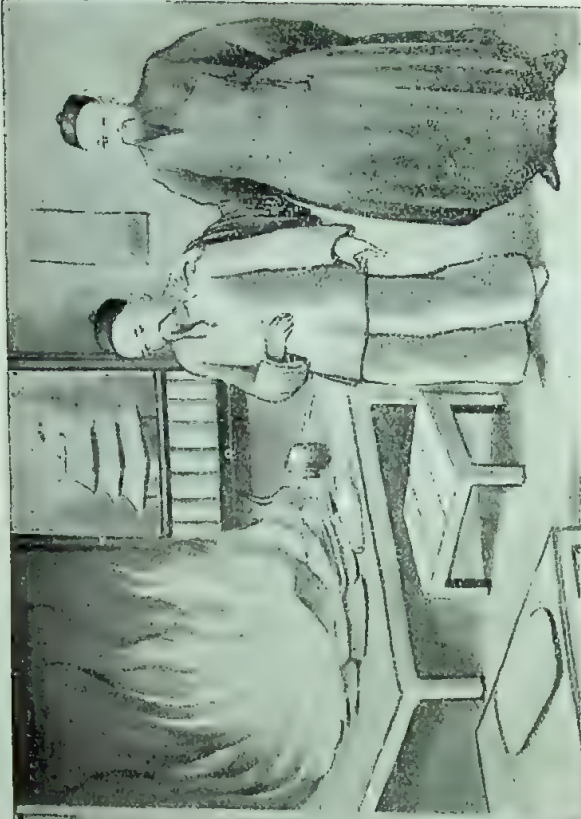
क्षमा

पवित्र बलिदान

कुसङ्गका दुष्परिणाम

रोमका एक चित्रकार ऐसे व्यक्तिका चित्र बनाना चाहता था, जिसके मुखसे भोलेपन, सरलता और दीनताके भाव स्पष्ट प्रकट होते हों। वर्षोंके परिश्रमके पश्चात् उसे एक ऐसा बालक मिला। चित्रकारने बालकको बैठाकर उसका चित्र बनाया। उस चित्रकी इतनी प्रतियाँ बिकीं कि चित्रकार मालामाल हो गया।

दस-पंद्रह वर्ष पीछे चित्रकारके मनमें एक दुष्टताके भाव प्रकट करनेवाले चित्रको बनानेकी इच्छा हुई। वह ऐसे व्यक्तिका चित्र बनाना चाहता था जिसके मुखसे धूर्तता, क्रूरता और स्वार्थलिप्सा फूटी पड़ती हो। स्पष्ट था कि ऐसे व्यक्ति उसे कारागारमें ही मिल सकते थे। वह कारागारमें पहुँचा और उसे एक कैदी मिल भी गया।

'मैं तुम्हारा चित्र बनाना चाहता हूँ।' चित्रकारने बताया।

'मेरा चित्र! क्यों?' कैदी कुछ डर गया।

चित्रकारने अपना पहला चित्र दिखलाया और उसने अपना विचार सूचित किया। पहले चित्रको देखकर कैदी फूट-फूटकर रोने लगा। उसने बताया— 'यह चित्र मेरा ही है।'

'तुम इस दशामें कैसे पहुँच गये?' आश्चर्यसे चित्रकारने पूछा।

'कुसङ्गमें पड़कर।' कैदीके पश्चात्तापके अश्रु रुकते ही नहीं थे।

सहनशीलता

चीनके बादशाहका मन्त्री शाहचांग बहुत थक गया था। उस दिन उसे सबेरे ही बादशाहके सम्मुख एक रिपोर्ट रखनी थी। आधी राततक जागते हुए वह अपने सहायकसे रिपोर्ट लिखवाता रहा। रिपोर्ट पूरी करके वह उठा और अपने शयनकक्षकी ओर जाने लगा। इसी समय उसका सहायक भी उठा, किंतु सहायककी असावधानीसे लैम्पको धक्का लग गया। लैम्प गिर पड़ा। सब कागज तेलमें भीग गये और उनमें आग लग गयी। सहायकका तो मुख ही सूख गया 'काटो तो खून नहीं।'

मन्त्री महोदय लौट पड़े। उन्होंने धीरेसे कहा— 'यह संयोगकी बात है, तुम्हारा कोई अपराध तो है नहीं। बैठो, हम दोनों फिरसे उस रिपोर्टको तैयार कर लेंगे।' अपने आसनपर वे बैठ गये और कागजोंको सम्हालकर रिपोर्ट लिखवाना आरम्भ कर दिया।

क्षमा

एक दिन एक घमंडी युवकने इंगलैंडकी महारानी एलिजाबेथके आदरभाजन तथा प्रख्यात शूर सर वॉल्टर रैलेको द्वन्द्वयुद्धकी चुनौती दी। उस समय यूरोपमें द्वन्द्व-युद्धकी चुनौतीको अस्वीकार करना अत्यन्त कायरताका चिह्न माना जाता था। सर रैले तलवार चलानेमें अत्यन्त निपुण थे; किंतु उन्होंने उस युवककी चुनौती अस्वीकार कर दी। इससे उस असभ्य युवकने घृणापूर्वक सर रैलेके मुखपर थूक दिया।

बिना किसी उत्तेजनाके रैले बोले—'जितनी सरलता-से अपने मुखपर पड़े इस थूकको मैं रूमाल निकालकर पोंछ सकता हूँ, यदि उतनी ही सरलतासे मानवहत्याका-पाप भी पोंछा जा सकता तो अवश्य मैं तलवार निकालकर तुम्हारे साथ भिड़ पड़ता।'

पवित्र बलिदान

फ्रांसके करडोनिस बेल आइलके प्रकाश-गृहकी घटना है। प्रकाश-गृहमें लालटेन जलानेवाला अचानक बीमार पड़ गया। बड़ी अँधेरी रात थी। उसकी पत्नीने लालटेनको जला दिया। लालटेन जलाकर वह लौटी ही थी कि उसने देखा कि पति मरणासन्न है। वह बड़ी चिन्तित हो गयी। इतनेमें उसके सात सालके लड़के और दस सालकी लड़कीने सूचना दी कि लालटेन घूम नहीं रही है। प्रकाश-गृहकी लालटेन रातभर घूमकर समुद्रकी उत्ताल तरङ्गोंपर चारों ओर अपना प्रकाश फैलाती थी। यदि वह एक ही दिशाको प्रकाशित करती तो जहाजोंके टकराने और डूबनेकी आशंका हो जाती थी।

पत्नीने पतिको मरणशय्यापर छोड़ दिया और बच्चोंको साथ लेकर वह लालटेन ठीक करने चली गयी। लालटेन ठीक नहीं हो सकी।

'बच्चो ! तुमलोग रातभर इस लालटेनको घुमाते रहो। समुद्रमें चारों ओर घना अन्धकार छाया हुआ है; बड़े जोरका तूफान आ रहा है।' यह आदेश देकर वह पतिके पास चली आयी।

दोनों बच्चे नौ बजे रातसे सात बजे सबेरेतक लालटेन घुमाते रहे। इस प्रकार उन्होंने अनेक जहाजोंको प्रकाश दिया और असंख्य प्राणोंकी रक्षा की, पर उनके पिताके प्राण तो चले ही गये। माँ मृत पतिके पास रो रही थी, पर इस पवित्र बलिदानके लिये उसके मनमें निराशाकी एक रेखा भी न थी। अपने बच्चोंके सत्कर्तव्य-पालनसे वह बड़ी प्रसन्न थी।—रा० श्री०

वैष्णवकी नम्रता

एक वैष्णव वृन्दावन जा रहा था। रास्तेमें एक जगह संध्या हो गयी। उसने गाँवमें ठहरना चाहा, पर वह सिवा वैष्णवके और किसीके घर ठहरना नहीं चाहता था। उसे पता लगा—बगलके गाँवमें सभी वैष्णव रहते हैं। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने गाँवमें जाकर एक गृहस्थीसे पूछा—'भाई ! मैं वैष्णव हूँ। सुना है इस गाँवमें सभी वैष्णव हैं। मैं रातभर ठहरना चाहता हूँ।' गृहस्थने कहा—'महाराज ! मैं तो नराधम हूँ, मेरे सिवा इस गाँवमें और सभी वैष्णव हैं। हाँ, आप कृपा करके मुझे आतिथ्य करनेका सुअवसर दें तो मैं अपनेको धन्य समझूँगा।' उसने सोचा, मुझे तो वैष्णवके घर ठहरना है। इसलिये वह आगे बढ़ गया। दूसरे दरवाजेपर जाकर पूछा, तो उसने भी अपने यहाँ ठहरनेके लिये तो बहुत नम्रताके साथ प्रार्थना की; पर कहा यही कि 'महाराज ! मैं तो अत्यन्त नीच हूँ। मुझे छोड़कर यहाँ अन्य सभी वैष्णव हैं।' वह गाँवभरमें भटका; परंतु किसीने भी अपनेको वैष्णव नहीं बताया, वरं सभीने नम्रतापूर्वक अपनेको अत्यन्त दीन-हीन बतलाया। गाँवभरकी ऐसी विनय देखकर उसकी भ्रान्ति दूर हुई। उसने समझा 'वैष्णवताका अभिमान करनेसे ही कोई वैष्णव नहीं होता। वैष्णव तो वही है जो भगवान् विष्णुकी भाँति अत्यन्त विनम्र है।' उसकी अन्तर्दृष्टि खुल गयी और उसने अपनेको सबसे नीचा समझकर एक वैष्णवके घरमें निवास किया।

संतकी सहनशीलता

एक महात्मा जंगलमें कुटिया बनाकर एकान्तमें रहते थे। उनके अक्रोध, क्षमा, शान्ति, निर्मोहिता आदि गुणोंकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। मनुष्य पर-गुण-असहिष्णु होता है। उनकी शान्ति भंग करके क्रोध दिलाया जाय—इसकी होड़ लगी। दो मनुष्योंने इसका बीड़ा लिया। वे महात्माकी कुटियापर गये। एकने कहा—'महाराज! जरा गाँजेकी चिलम तो लाइये।' महात्मा बोले—'भाई! मैं गाँजा नहीं पीता।' उसने फिर कहा—'अच्छा तो तमाखू लाओ।' महात्माने कहा—'मैंने कभी तमाखूका व्यवहार नहीं किया।' उसने कहा—'तब बाबा बनकर जंगलमें क्यों बैठा है? धूर्त कहींका।' इतनेमें पूर्व योजनाके अनुसार बहुत-से लोग वहाँ जमा हो गये। उस आदमीने सबको सुनाकर फिर कहा—'पूरा ठग है, चार बार तो जेलकी हवा खा चुका है।' उसके दूसरे साथीने कहा—'अरे भाई! मैं खूब जानता हूँ, मैं साथ ही तो था। जेलमें इसने मुझको डंडोंसे मारा था, ये देखो उसके निशान। रातको रामजनियोंके साथ रहता है, दिनमें बड़ा संत बन जाता है।' यों वे दोनों एक-से-एक बढ़कर—झूठे आरोप लगाने लगे, कैसे ही महात्माको क्रोध आ जाय, अन्तमें महात्माके माता-पिताको, उनके साधनको तथा वेशको भी गाली बकने लगे। बकते-बकते सारा भण्डार खाली हो गया। वे चुप हो गये। तब महात्माने हँसकर कहा—'एक भक्तने शक्करकी पुड़िया दी है, इसे जरा पानीमें डालकर पी लो। (शक्करकी पुड़िया आगे रखकर कहा) भैया! थक गये होओगे।'

वह मनुष्य महात्माके चरणोंपर पड़ गया और बोला—'मुझे क्षमा कीजिये महाराज! मैंने आपका बड़ा अपराध किया है। हमलोगोंके इतना करनेपर भी महाराज! आपको क्रोध कैसे नहीं आया?'

महात्मा बोले—भैया! जिसके पास जो माल होता है, वह उसीको दिखाता है। यह तो ग्राहककी इच्छा है कि उसे ले या न ले। तुम्हारे पास जो माल था, तुमने वही दिखाया, इसमें तुम्हारा क्या दोष है। परंतु मुझे तुम्हारा यह माल पसंद नहीं है।

दोनों लज्जित हो गये। तब महात्माने फिर कहा—'दूसरा आदमी गलती करे और हम अपने अंदर आग जला दें, यह तो उचित नहीं है। मेरे गुरुजीने मुझे यह सिखाया है कि क्रोध करना और अपने वदनपर छुरी मारना बराबर है। ईर्ष्या करना और जहर पीना बराबर है। दूसरोंकी दी हुई गालियाँ और दुष्ट व्यवहार हमारा कोई नुकसान नहीं कर सकते।'

यह सुनकर सब लोग बहुत प्रभावित हुए और महात्माको प्रणाम करके चले गये।

'बोलै नहीं तो गुस्सा मरै'

एक घरमें स्त्री-पुरुष दो ही आदमी थे और दोनों आपसमें नित्य ही लड़ा करते थे। एक दिन उस स्त्रीने अपनी पड़ोसिनके पास जाकर कहा—'बहिन! मेरे स्वामीका मिजाज बहुत चिड़चिड़ा है, वे जब-तब मुझसे लड़ते ही रहते हैं और इस तरह हमारी बनी रसोई बेकार चली जाती है।' पड़ोसिनने कहा—'अरे! इसमें कौन-सी बात है? मेरे पास एक ऐसी अचूक दवा है कि जब तुम्हारे पति तुमसे लड़ें, तब तुम दवाको अपने मुँहमें भर रक्खा करो; बस, वे तुरंत चुप हो जायँगे।' पड़ोसिनने शीशी भरकर दवा दे दी। उस स्त्रीने दवाकी दो-तीन बार पतिके क्रोधके समय परीक्षा की और उसे बड़ी सफलता मिली। तब तो उसने खुशी-खुशी जाकर पड़ोसिनसे कहा—'बहिन! तुम्हारी दवा तो बड़ी कीमिया है! उसमें क्या-क्या चीजें पड़ती हैं, बता

दो तो, मैं भी बना रक्खूँ ।' पड़ोसिनने हँसकर कहा—'बहिन ! शीशीमें साफ जलके सिवा और कुछ भी नहीं था । काम तो तुम्हारे मौनने किया । मुँहमें पानी भरा रहनेसे तुम बदलेमें बोल नहीं सकीं और तुम्हें शान्त पाकर उनका क्रोध भी जाता रहा । बस, 'एक मौन सब दुख हरै, बोलै नहीं तो गुस्सा मरै ।'

क्रोधमें मनुष्य हितैषीको भी मार डालता है

किसी नरेशको पक्षी पालनेका शौक था । अपने पाले पक्षियोंमें एक चकोर उन्हें इतना प्रिय था कि उसे वे अपने हाथपर बैठाये रहते और कहीं जाते तो साथ ही ले जाते थे ।

एक बार राजा वनमें आखेट करने गये थे । उनका घोड़ा दूसरे साथियोंसे आगे निकल गया । राजा वनमें भटक गये । उन्हें बहुत प्यास लगी थी । घूमते हुए उन्होंने देखा कि एक चट्टानकी संधिसे बूँद-बूँद करके पानी टपक रहा है । राजाने वहाँ एक प्याला जेबसे निकालकर रख दिया । कुछ देरमें प्याला भर गया । राजाने पानी पीनेको उठाया । इसी समय उनके कंधेपर बैठा चकोर उड़ा और उसने पंख मारकर प्याला लुढ़का दिया । राजाको बहुत क्रोध आया; किंतु उन्होंने प्याला फिर रख दिया भरनेके लिये । बड़ी देरमें प्याला फिर भरा, पर जब वे पीने चले तब चकोरने फिर पंख मारकर उसे गिरा दिया । क्रोधके मारे राजाने चकोरको पकड़ लिया और गर्दन मरोड़कर मार डाला उसे ।

अब चकोरको नीचे फेंककर उन्होंने सिर उठाया तो सहसा उनकी दृष्टि चट्टानकी संधिपर पड़ी । वहाँ एक मरा सर्प दबा था और उसके शरीरमेंसे वह जल टपक रहा था । राजा काँप उठे—'हाय ! जल पीकर मैं मर न जाऊँ इसलिये इस पक्षीने दो बार जल गिराया और मैंने क्रोधमें उसीको मार दिया ।' इसीसे कहा गया है—

क्रोधोत्पत्तौ हि क्रोधस्य फलं गृह्णाति मूढधीः ।
स शोचति तु किं पश्चात् पक्षीघातकभूपवत् ॥

'जो मूर्ख मनुष्य क्रोधके उत्पन्न होनेपर उसे दबा नहीं पाता, वह उस क्रोधका फल भोगता है । पक्षीको मारनेवाले राजाके समान पीछे पश्चात्ताप करनेसे क्या लाभ ?'—सु० सिं०

अक्रोध

एक सज्जन पुरुषके सम्बन्धमें प्रख्यात था कि उन्हें क्रोध आता ही नहीं है । कुछ लोगोंको किसी संयमीको संयम-च्युत करनेमें आनन्द आता है । ऐसे ही कुछ लोगोंने उनके सेवकसे कहा—'तुम यदि अपने स्वामीको उत्तेजित कर सको तो तुम्हें पुरस्कार दिया जायगा ।'

सेवक जानता था कि उसके स्वामीको अपने पलंगका बिछौना सिकुड़ा हुआ तनिक भी अच्छा नहीं लगता । उसने रातमें उनका बिछौना सम्हाला ही नहीं । प्रातःकाल उन्होंने सेवकसे कहा—'कल बिछौना ठीक नहीं बिछा था ।' सेवकने बहाना कर दिया—'मैं उसे ठीक करना भूल गया ।'

कोई भूल हो तो सुधरे; किंतु जब जानबूझकर कोई भूल करना चाहे तो भूल सुधरे कैसे । बिछौना दूसरे दिन भी ठीक नहीं बिछा और तीसरे दिन भी ठीक नहीं बिछा । उस दिन सबेरे उठनेपर वे सेवकसे बोले—'लगता है कि तुम बिछौना ठीक करनेके कामसे ऊब गये हो और चाहते हो कि मेरा यह स्वभाव छूट जाय । कोई बात नहीं, मुझे अब सिकुड़े बिछौनेपर ही सो रहनेकी आदत पड़ती जा रही है ।'

ब्रह्मज्ञानका अधिकारी

एक साधकने किसी महात्माके पास जाकर उनसे प्रार्थना की कि 'मुझे आत्मसाक्षात्कारका उपाय बताइये।' महात्माने एक मन्त्र बताकर कहा कि 'एकान्तमें रहकर एक सालतक इस मन्त्रका जाप करो; जिस दिन वर्ष पूरा हो, उस दिन नहाकर मेरे पास आना।' साधकने वैसा ही किया। वर्ष पूरा होनेके दिन महात्माजीने वहाँ झाड़ू देनेवाली भंगिनसे कह दिया कि 'जब वह नहा-धोकर मेरे पास आने लगे, तब उसके पास जाकर झाड़ूसे गर्दा उड़ा देना।' भंगिनने वैसा ही किया। साधकको क्रोध आ गया और वह भंगिनको मारने दौड़ा। भंगिन भाग गयी। वह फिरसे नहाकर महात्माजीके पास आया। महात्माजीने कहा—'भैया! अभी तो तुम साँपकी तरह काटने दौड़ते हो। सालभर और बैठकर मन्त्र-जप करो, तब आना!' साधकको बात कुछ बुरी तो लगी, पर वह गुरुकी आज्ञा समझकर चला गया और मन्त्रजप करने लगा।

दूसरा वर्ष जिस दिन पूरा होता था, उस दिन महात्माजीने उसी भंगिनसे कहा कि 'आज जब वह आने लगे, तब उसके पैरसे जरा झाड़ू छुआ देना।' उसने कहा, 'मुझे मारेगा तो?' महात्माजी बोले, 'आज मारेगा नहीं, बककर ही रह जायगा।' भंगिनने जाकर झाड़ू छुआ दिया। साधकने झल्लाकर दस-पाँच कठोर शब्द सुनाये और फिर नहाकर वह महात्माजीके पास आया। महात्माजीने कहा—'भाई! काटते तो नहीं, पर अभी साँपकी तरह फुफकार तो मारते ही हो। ऐसी अवस्थामें आत्मसाक्षात्कार कैसे होगा। जाओ, एक वर्ष और जप करो। इस बार साधकको अपनी भूल दिखायी दी और मनमें बड़ी लज्जा हुई। उसने इसको महात्माजीकी कृपा समझा और वह मन-ही-मन उनकी प्रशंसा करता हुआ अपने स्थानपर आ गया।

उसने सालभर फिर मन्त्र-जप किया। तीसरा वर्ष पूरा होनेके दिन महात्माजीने भंगिनसे कहा कि 'आज वह आने लगे तब कूड़ेकी टोकरी उसपर उँड़ेल देना। अब वह खीझेगा भी नहीं।' भंगिनने वैसा ही किया। साधकका चित्त निर्मल हो चुका था। उसे क्रोध तो आया ही नहीं। उसके मनमें उलटे भंगिनके प्रति कृतज्ञताकी भावना जाग्रत् हो गयी। उसने हाथ जोड़कर भंगिनसे कहा—'माता! तुम्हारा मुझपर बड़ा ही उपकार है, जो तुम मेरे अंदरके एक बड़े भारी दोषको दूर करनेके लिये तीन सालसे बराबर प्रयत्न कर रही हो। तुम्हारी कृपासे आज मेरे मनमें जरा भी दुर्भाव नहीं आया। इससे मुझे ऐसी आशा है कि मेरे गुरु महाराज आज मुझको अवश्य उपदेश करेंगे।' इतना कहकर वह स्नान करके महात्माजीके पास जाकर उनके चरणोंपर गिर पड़ा। महात्माजीने उठाकर उसको हृदयसे लगा लिया। मस्तकपर हाथ फिराया और ब्रह्मके स्वरूपका उपदेश किया। शुद्ध अन्तःकरणमें तुरंत ही उपदेशके अनुसार धारणा हो गयी। अज्ञान मिट गया। ज्ञान तो था ही, आवरण दूर होनेसे उसकी अनुभूति हो गयी और साधक निहाल हो गया।

सोनेका दान

एक धनी सेठने सोनेसे तुलादान किया। गरीबोंको खूब सोना बाँटा गया। उसी गाँवमें एक संत रहते थे। सेठने उनको भी बुलाया। वे बार-बार आग्रह करनेपर आ गये। सेठने कहा—'आज मैंने सोना बाँटा है, आप भी कुछ ले लें तो मेरा कल्याण हो।' संतने कहा—'भाई! तुमने बहुत अच्छा काम

किया, परंतु मुझको सोनेकी आवश्यकता नहीं है ।' धनीने फिर भी हठ किया । संतने समझा कि इसके मनमें धनका अहंकार है । संतने तुलसीके पत्तेपर राम-नाम लिखकर कहा—'भाई ! मैं कभी किसीसे दान नहीं लेता । मेरा स्वामी मुझे इतना खाने-पहननेको देता है कि मुझे और किसीसे लेनेकी जरूरत ही नहीं होती । परंतु तुम इतना आग्रह करते हो तो इस पत्तेके बराबर सोना तौल दो ।' सेठने इसको व्यंग समझा और कहा—'आप दिल्लगी क्यों कर रहे हैं, आपकी कृपासे मेरे घरमें सोनेका खजाना भरा है, मैं तो आपको गरीब जानकर ही देना चाहता हूँ ।' संतने कहा—'भाई ! देना हो तो तुलसीके पत्तेके बराबर सोना तौल दो ।' सेठने झुँझलाकर तराजू मँगवाया और उसके एक पलड़ेपर पत्ता रखकर वह दूसरेपर सोना रखने लगा । कई मन सोना चढ़ गया; परंतु तुलसीके पत्तेवाला पलड़ा तो नीचे ही रहा । सेठ आश्चर्यमें डूब गया । उसने संतके चरण पकड़ लिये और कहा—'महाराज ! मेरे अहंकारका नाश करके आपने बड़ी ही कृपा की । सच्चे धनी तो आप ही हैं ।' संतने कहा—'भाई ! इसमें मेरा क्या है । यह तो नामकी महिमा है । नामकी तुलना जगत्में किसी भी वस्तुसे नहीं हो सकती । भगवान्ने ही दया करके तुम्हें अपने नामका महत्त्व दिखलाया है । अब तुम भगवान्का नाम जपा करो; तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा ।'

किसी भी हालतमें निर्दोष नहीं

पहले समयकी बात है । किसी देशके एक छोटे-से गाँवमें एक व्यक्ति रहता था । उसके पास एक गधा था । वह उसे बेचना चाहता था । अपने लड़केको साथ लेकर वह निकटस्थ बाजारमें गधा बेचनेके लिये चल पड़ा । पिता गधेके पीठपर था और लड़का पैदल चल रहा था ।

वे कुछ दूर गये थे कि तीन व्यक्ति मिले । उनमेंसे एकने कहा कि 'यह कैसा बाप है, अपने तो सवार है गधेकी पीठपर और लड़का पैदल चल रहा है कँकरीले रास्तेपर ।' पिता गधेपरसे उतर पड़ा और लड़का बैठ गया ।

कुछ दूर गये थे कि दो महिलाएँ मिलीं । 'कैसा पुत्र है । बूढ़े बापको पैदल ले जा रहा है और स्वयं सवारीपर विराजमान है ।' उनमेंसे एकने व्यंग किया ।

पिताने पुत्रसे कहा कि 'सबको समान रूपसे प्रसन्न रखना बहुत कठिन है । चलो, हम दोनों ही पैदल चलें ।' दोनों पैदल चल पड़े ।

आगे बढ़नेपर कुछ लोगोंने कहा कि 'कितने मूर्ख हैं दोनों । साथमें हृष्ट-पुष्ट सवारी होनेपर भी दोनों पैदल जा रहे हैं ।' पिता-पुत्र दोनों गधेपर सवार हो गये । पर दो-चार कदम आगे बढ़नेपर किसीने कहा कि 'कितने निर्दय हैं दोनों; इतने भारी संडे-मुसंडे बेचारे दुबले-पतले गधेपर लदे जा रहे हैं ।' दोनों तत्काल उतर पड़े और सोचा कि गधेको कंधेपर रखकर ले चलना चाहिये । बाजार थोड़ी ही दूर रह गया था । उन्होंने पेड़की एक डाली तोड़ी और उसके सहारे गधेको रस्सीसे बाँधकर कंधेपर लटका लिया ।

बाजारमें प्रवेश करते ही लोग कहकहा मारकर हँस पड़े ।

'देखो न, कितने मूर्ख हैं दोनों; कहाँ तो इन्हें गधे-की पीठपर सवार होकर आना चाहिये और कहाँ ये उसे स्वयं अपने कंधेपर ढो रहे हैं !' लोगोंने मजाक उड़ाया ।

बूढ़े व्यक्तिकी समझमें सारी बात आ गयी ।

हमलोगोंने सबको प्रसन्न करना चाहा, इसलिये किसीको भी प्रसन्न न कर सके। सबसे अच्छी बात यह है कि जगत्के लोगोंकी आलोचनापर ध्यान न दे; क्योंकि जगत् तो एक-न-एक दोष निकालेगा ही। जगत्की दृष्टिमें कोई किसी भी हालतमें निर्दोष नहीं है। अतः सुने सबकी, पर करे वही जो मनको ठीक लगे। जिस कार्यके लिये आत्मा सत्प्रेरणा प्रदान करे वही हमारा कर्तव्य है। पिताने पुत्रको सीख दी।*

सभी परमात्माकी संतान हैं

एक बार एक फकीर अपने एक युवक सेवकके साथ कहीं जा रहे थे। रास्तेमें सेवकने एक चिड़िया देखी। उस पक्षीके साथ एक बच्चा भी था। वह सेवकको बहुत सुन्दर लगा। उसने उसे पकड़ लिया। दोनों माँ-बेटे छटपटाने लगे। इसे देख फकीर तुरंत सेवकके पास गये और बोले—'खबरदार! इस पक्षीके बच्चेको तुरंत इसकी माँको सौंप दो। ईश्वर समस्त जीवोंका—प्राणिमात्रका पिता है। वह प्रेममय—वात्सल्यमय है। सभी प्राणी परमात्माके बालक हैं। इसलिये उसकी संतानको कष्ट देना तो उसके साथ बगावत करना है। भला पुत्रवत्सल पिता अपने पुत्रके कष्टको कैसे क्षमा करेगा? अतएव भगवान्के प्रिय बननेवालों अथवा प्रिय चाहनेवालोंको तन-मनसे उनकी संतानको भी प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।'

मांस सस्ता या महँगा ?

एक नरेशने अपने दरबारमें सामन्तोंसे पूछा—'मांस सस्ता है या महँगा?'

सामन्तोंने उत्तर दिया—'सस्ता है।'

सामन्तोंकी बात सुनकर राजकुमारने कहा—'पिताजी! मांस महँगा है।'

नरेशने पुत्रसे कहा—'तुम अभी बालक हो, अनुभवहीन हो। सामन्तगण अनुभवी हैं। बात उनकी ही ठीक है।'

राजकुमार बोला—'यदि आप कुछ दिन राजसभामें न आयें तो मैं इस बातको सिद्ध कर दूँगा कि किसकी बात ठीक है।'

राजकुमारकी बात राजाने मान ली। दो-एक दिन बाद राजकुमार एक सामन्तके घर पहुँचे और बोले—'पिताजी बीमार हैं। राजवैद्य कहते हैं कि किसी शूर सामन्तके हृदयका मांस चाहिये। कृपा करके आप अपने हृदयका दो तोला मांस दे दें। जो भी मूल्य चाहें, आपको दिया जायगा।'

सामन्तने राजकुमारको एक बड़ी रकम भेंट की और कहा—'आप मुझपर दया करें। किसी दूसरे सामन्तके पास पधारें।'

राजकुमार क्रमशः सभी सामन्तोंके पास गये। सबने उन्हें भारी भेंट देकर दूसरेके यहाँ जानेको कहा। राजकुमारने भेंटमें प्राप्त वह विशाल धन-राशि लाकर पिताके सम्मुख रख दी। सब बातें बता दीं पिताको। दूसरे दिन राजसभामें राजा आये। सामन्तोंसे उन्होंने फिर पूछा—'मांस सस्ता है या महँगा?'

सामन्तोंने तथ्य समझ लिया। उन्होंने मस्तक झुका लिया। राजकुमार बोले—

* ऐसी ही एक कथा शिव-पार्वती और नन्दी बैलके सम्बन्धमें सुनी जाती है

स्वमांसं दुर्लभं लोके लक्षेनापि न लभ्यते ।
अल्पमूल्येन लभ्येत पलं परशरीरजम् ॥

'पिताजी ! अपना मांस संसारमें दुर्लभ है । कोई लाख रुपयेमें भी अपने शरीरका मांस देना नहीं चाहता । परंतु दूसरेके शरीरका मांस तो थोड़े मूल्यमें ही मिलता है ।'

अपने शरीरके समान ही दूसरोंको भी उनका शरीर प्रिय है और उनके लिये उनका मांस वैसा ही बहुमूल्य है जैसे अपने लिये अपना मांस। इससे किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये, यह राजकुमारका तात्पर्य अब सामन्तोंकी समझमें आया ।

—सु० सिं०

अभी बहुत दिन हैं

एक श्रेष्ठ नारी थी । माता-पिता भगवद्भक्त थे, उन्होंने पुत्रीको उत्तम शिक्षा दी थी । विवाह हो जानेपर पतिगृह आकर उसने सोचा—'स्त्रीको पतिकी सेवा करनी चाहिये और सच्ची सेवा तो है जीवको मृत्युके मुखमेंसे बचा देना । भगवान्‌के भजनमें लगकर ही प्राणी मृत्युके फंदेसे छूट सकता है ।' यह विचार करके वह पतिको समय-समयपर भजन करनेको कहा करती थी ।

पतिदेव थे सांसारिक व्यापार-निपुण । वे पत्नीकी बात सुनकर कह देते थे—'अभी क्या शीघ्रता है । अभी तो बहुत दिन हैं । भजन-पूजनका भी समय होता है । संसारके अमुक कार्य पूरे कर लेने दो, फिर तो भजन-ही-भज़न करना है ।'

एक बार पति महोदय बीमार पड़े । वैद्यजी आये, नाड़ी देखी और दवा दे गये । पत्नीने दवा लेकर रख दी । जब दवा लेनेका समय हो गया तब पतिने पत्नीसे दवा माँगी । स्त्रीने कहा—'अभी क्या शीघ्रता है ? अभी तो बहुत दिन पड़े हैं । दवा फिर ले लीजियेगा ।'

पतिदेव झल्लाये—'तब दवा क्या मरनेके बाद खानेको है ?'

पत्नीने दवा देते हुए कहा—'दवा तो अभी खानेकी है; किंतु आपने सम्भवतः भगवान्‌का भजन मरनेके पश्चात् करनेकी वस्तु माना है; क्योंकि मृत्यु कब आयेगी, यह तो किसीको पता नहीं ।'

पुरुषको अपनी भूलका पता लगा और भूल जब समझमें आ जाय तो वह दूर होकर रहती है, यदि पुरुष सत्पुरुष है ।—सु० सिं०

अपने अनुभवके बिना दूसरेके कष्टका ज्ञान नहीं होता

एक राजकुमारकी शिक्षा पूरी हो चुकी थी । महाराज स्वयं आये थे मन्त्रियोंके साथ गुरुगृहसे अपने कुमारको ले जाने । समावर्तन संस्कार समाप्त हुआ और राजकुमारने आचार्यके चरणोंमें प्रणाम किया । आचार्य बोले—'ठहरो ! मेरी छड़ी तो लाओ ।'

राजकुमारने छड़ी लाकर दी । आचार्यने उस सुकुमार राजकुमारको दो छड़ी कसकर जमा दी । उसकी पीठपर छड़ीके चिह्न उभड़ आये । रक्त छलछला उठा । अब आचार्यने आशीर्वाद दिया—'वत्स ! तुम्हारा मङ्गल हो । अब पिताके साथ जाओ ।'

विनम्र राजकुमार कुछ नहीं बोला; किंतु राजासे रहा नहीं गया । वे बोले—'अपराध क्षमा करें ! निरपराधको ताड़ना देनेका कारण जाननेकी इच्छा है ।'

आचार्यने शान्तिसे कहा—'इसकी शिक्षामें इतना अभाव रह गया था, दण्डकी तो कोई बात ही नहीं ।

यह इतना नम्र और सावधान है कि इसे ताड़ना देनेका अवसर ही नहीं आया। परंतु इसे शासक बनना है, दूसरोंको दण्ड देना है। उस समय इसे अनुभव होना चाहिये कि दण्डकी वेदना कैसी होती है।'—सु० सिं०

अन्यायका कुफल

एक व्यापारीके दो पुत्र थे। एकका नाम था—धर्मबुद्धि, दूसरेका दुष्टबुद्धि। वे दोनों एक बार व्यापार करने विदेश गये और वहाँसे दो हजार अशर्फियाँ कमा लाये। अपने नगरमें आकर सुरक्षाके लिये उन्हें किसी वृक्षके नीचे गाड़ दिया और केवल सौ अशर्फियोंको बाँटकर काम चलाने लगे।

एक बार दुष्टबुद्धि चुपके उस वृक्षके नीचेसे सारी अशर्फियाँ निकाल लाया और बुरे कामोंमें उसने उनको खर्च कर डाला। एक महीना बीत जानेपर वह धर्मबुद्धिके पास गया और बोला—'आर्य! चलो, अशर्फियोंको हम लोग बाँट लें; क्योंकि मेरे यहाँ खर्च अधिक है।' उसकी बात मानकर जब धर्मबुद्धि उस स्थानपर गया और जमीन खोदी तो वहाँ कुछ भी न मिला। जब उस गड्ढेमें कुछ न दीखा, तब दुष्टबुद्धिने धर्मबुद्धिसे कहा—'मालूम होता है तुम्हीं सब अशर्फियाँ निकालकर ले गये हो, अतः मेरे हिस्सेकी आधी अशर्फियाँ अब तुम्हें देनी पड़ेंगी।' उसने कहा—'नहीं भाई! मैं तो नहीं ले गया; तुम्हीं ले गये होगे।' इस प्रकार दोनोंमें झगड़ा होने लगा। इसी बीच दुष्टबुद्धि अपना सिर फोड़कर राजाके यहाँ पहुँचा और उन दोनोंने अपना-अपना पक्ष राजाको सुनाया। उन दोनोंकी बातें सुनकर राजा किसी निर्णयपर नहीं पहुँच सका।

राजपुरुषोंने दिनभर उन्हें वहीं रक्खा। अन्तमें दुष्टबुद्धिने कहा कि 'वह वृक्ष ही इसका साक्षी है और कहता है कि यह धर्मबुद्धि सारी अशर्फियाँ ले गया है।' इसपर अधिकारी बड़े विस्मित हुए और बोले कि 'प्रातः-काल हमलोग चलकर वृक्षसे पूछेंगे।' इसके बाद जमानत देकर दोनों भाई भी घर गये।

इधर दुष्टबुद्धिने अपनी सारी स्थिति अपने पिताको समझायी और उसे पर्याप्त धन देकर अपनी ओर मिला लिया और कहा कि तुम 'वृक्षके कोटरमें छिपकर बोलना।' वह रातमें ही जाकर उस वृक्षके कोटरमें बैठ गया। प्रातःकाल दोनों भाई व्यवहाराधिपतियोंके साथ उस स्थानपर गये। वहाँ उन्होंने पूछा कि 'अशर्फियोंको कौन ले गया है?' कोटरस्थ पिताने कहा—'धर्मबुद्धि'। इस असम्भव आश्चर्यकर घटनाको देख-सुनकर चतुर अधिकारियोंने सोचा कि अवश्य ही दुष्टबुद्धिने यहाँ किसीको छिपा रक्खा है। उन लोगोंने कोटरमें आग लगा दी। जब उसमेंसे निकलकर उसका पिता कूदने लगा, तब पृथ्वीपर गिरकर वह मर गया। इसे देखकर राजपुरुषोंने सारा रहस्य जान लिया और धर्मबुद्धिको पाँच सौ अशर्फियाँ दिला दीं। धर्मबुद्धिका सत्कार भी किया और दुष्टबुद्धिके हाथ-पैर काटकर उसको निर्वासित कर दिया।—जा० श० (कथासरित्सागर)

आसक्तिका अन्तर

एक नरेशकी श्रद्धा हो गयी एक महात्मापर। नरेशने संतकी सेवाका महत्त्व सुना था। वे राजा थे, अतः अपने ढंगसे वे सेवा करनेमें लग गये। अपने राजभवनके समान भवन उन्होंने महात्माके लिये बनवा दिया। अपने उद्यान-जैसा उद्यान लगवा दिया। अपनी सवारियों-जैसी सवारियाँ, हाथी, घोड़े आदि रख दिये उनकी

सेवामें । एक रानी तो वे महात्माके लिये नहीं दिलवा सके, परंतु सेवक, शय्या, वस्त्र एवं दूसरी सब सुख-सामग्री उन्होंने महात्माके लिये भी वैसी ही जुटा दी जैसी उनके पास थी ।

एक दिन नरेश महात्माके साथ घूमने निकले । उन्होंने पूछ लिया—'भगवन् ! अब आपमें और मुझमें अन्तर क्या रहा है ?'

संतने समझ लिया कि राजा बाहरी त्यागको महत्ता देकर यह प्रश्न कर रहा है; किंतु प्रश्नका उत्तर न देकर बोले—'तनिक आगे चलो, फिर बताऊँगा ।'

'भगवन् ! कितनी दूर चलेंगे ! अब लौटना चाहिये । हमलोग नगरसे दूर निकल आये हैं ।' राजाने प्रार्थना की; क्योंकि महात्मा तो चले ही जा रहे थे । वे रुकनेका नाम ही नहीं लेते थे और राजा थक चुके थे । उन्हें स्मरण आ रहा था आजका राज्यकार्य, जिसमें विलम्ब करना हानिकर लगता था ।

संतने कहा—'अब लौटकर ही क्या करना है ! मेरी इच्छा तो लौटनेकी है नहीं । चलो, वनमें चलें । वहाँ भगवान्‌का भजन करेंगे । सुख तो बहुत दिन भोग चुके ।'

राजाने घबराकर हाथ जोड़े—'भगवन् ! मेरे स्त्री है, पुत्र हैं और राज्यकी भी मैंने कोई व्यवस्था नहीं की है । वनमें रहने-जैसा साहस भी अभी मुझमें नहीं है । मैं इस प्रकार कैसे चल सकता हूँ !'

संत हँसे—'राजन् ! मुझमें और तुममें यही अन्तर है । बाहरसे एक-जैसा व्यवहार रहते हुए भी हृदयका अन्तर ही मुख्य अन्तर होता है । भोगोंमें जो आसक्त है, वह वनमें रहकर भी संसारी है और जो उनमें आसक्त नहीं, वह घरमें रहकर भी विरक्त ही है । अच्छा, अब तुम राजधानी पधारो !'—सु० सिं०

अशर्फियोंसे घृणा

एक दिन एक सिंधी सज्जन किसी कामनासे संत मथुरादासजीको खोजता हुआ उनके पास आया और अशर्फियोंकी थैली सामने रखकर अपनी कामना-पूर्तिके लिये प्रार्थना करने लगा । संतने उसे समझाया, पर वह जब नहीं माना, तब संतजीने पूछा—'अच्छा, एक बातका उत्तर दो कि यदि तुम्हारी लड़कीकी शादी हो, बारात दरवाजेपर पहुँचनेवाली हो, उस समय यदि कोई तुम्हारी रसोईमें, जिसको तुमने लिपवा-पुतवाकर साफ रक्खा हो, अंदर चूल्हेमें जाकर टट्टी कर दे तो तुम क्या करोगे ?'

सिंधीने कहा—'महाराज ! डंडे मार-मारकर हड्डी-पसली तोड़ दूँगा ।'

संत बोले—'भैया ! इसी प्रकार हम अपने हृदयको साफ करके भगवान्‌की बाट देख रहे हैं, वे मिलनेवाले हैं । इसीसे हम सब कुछ छोड़कर निर्जन गङ्गातटपर एकान्तमें उनकी पूजाके लिये चौका लगाकर बैठे हैं । तू यह अशर्फियोंकी थैलीरूप उसमें टट्टी करना चाहता है, बता तेरे साथ क्या बर्ताव करना चाहिये । तुझे शर्म नहीं आती ।'

सिंधी समझ गया और प्रणाम करके वहाँसे चुपचाप चलता बना ।

त्याग या बुद्धिमानी

एक वीतराग संतका दर्शन करने वहाँके नरेश पधारे । साधु कौपीन लगाये भूमिमें ही अलमस्त पड़े थे । नरेशने पृथ्वीपर मस्तक रखकर साधुके चरणोंमें प्रणाम किया और दोनों हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक खड़े हो गये । साधु बोले—'राजन् ! आप मेरे-जैसे कंगालका इतना सम्मान क्यों करते हैं ?'

राजाने उत्तर दिया—'भगवन् ! आप त्यागी हैं और त्यागी पुरुष ही समाजमें सबसे अधिक आदरके योग्य हैं ।'

साधु तो झटपट खड़े हो गये, हाथ जोड़कर उन्होंने

राजाको प्रणाम किया और बोले—'राजन् ! क्षमा करें । त्यागीका ही सम्मान योग्य है तो मुझे आपका सम्मान करना चाहिये था । सबसे बड़े त्यागी तो आप ही हैं ।'

राजाने पूछा—'भगवन् ! मैं कैसे त्यागी हो गया ?'

साधु बोले—'जो थोड़े लाभका त्याग बड़े लाभके लिये करे वह त्यागी है या जो बड़े लाभका त्याग करके छोटी वस्तुमें संतोष कर ले वह त्यागी कहा जायगा ?'

राजा—'भगवन् ! जो बड़े लाभके लिये छोटे लाभका त्याग करे वह बुद्धिमान् है; किंतु त्यागी नहीं है । जो बड़े लाभका त्याग करके अल्पमें संतुष्ट रहे वही त्यागी है ।'

'तो राजन् ! मैं केवल बुद्धिमान् हूँ और तुम त्यागी हो ।' साधुने समझाया—'क्योंकि मैंने तो अल्प कालतक रहनेवाले, दुःखसे भरे सांसारिक भोगोंका त्याग शाश्वत, अनन्त आनन्दकी प्राप्तिके लिये किया है; किंतु तुम उस अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्माको त्यागकर जगत्के घृणास्पद, क्लेशपूर्ण तुच्छ भोगोंको ही अपनाकर संतुष्ट हो ।' —सु० सिं०

गर्व किसपर ?

बादशाह संतके पास उपदेश लेने पहुँचे थे । संतने पूछा—'तू रेगिस्तानमें भटक जाय, प्यासके मारे मर रहा हो और उस वक्त सड़े नालेका एक प्याला पानी लेकर कोई तेरे पास आकर कहे—'इस प्यालेभर पानीका मूल्य तेरा आधा राज्य है ।'

'मैं तुरंत वह पानी ले लूँगा ।' बादशाहने झटसे उत्तर दिया । साधुने फिर पूछा—'वह सड़ा पानी पेटमें पहुँचकर रोग उत्पन्न कर दे । तू पीड़ासे छटपटाने लगे । मरणासन्न हो जाय और तब एक हकीम पहुँचकर कहे—'अपना बाकी आधा राज्य दे दो तो तुम्हें ठीक कर सकता हूँ ।'

बादशाह बोले—'इसमें पूछनेकी कोई बात ही नहीं। मैं उसे बाकी आधा राज्य दे दूँगा । जीवन ही नहीं रहेगा तो राज्य किस काम आयेगा ।'

संतने समझाया—'तब तू बादशाहतका घमंड किस-पर करता है ? एक प्याले सड़े पानी और उससे उत्पन्न विकारको दूर करनेके मूल्यमें जो दिया जा सके, उस राज्यपर तेरा गर्व है ?' —सु० सिं०

अनधिकारी राजा

एक भिक्षुक अचानक राजा हो गया था । उस देशके संतानहीन नरेशने घोषणा की थी कि उनकी मृत्युके पश्चात् जो पहिला व्यक्ति नगरद्वारमें प्रवेश करे, उसे सिंहासन दे दिया जाय । भाग्यवश नगरद्वारमें प्रवेश करनेवाला पहिला व्यक्ति वह भिखारी था । मन्त्रियोंने उसे राजतिलक कर दिया ।

भिक्षुक क्या जाने राजप्रबन्ध । राजसेवक स्वच्छन्द व्यवहार करने लगे । अधीनस्थ सामन्तोंने कर देना बंद कर दिया । प्रजा उत्पीड़ित होने लगी राजसेवकोंद्वारा । मन्त्री मनमानी करने लगे । नरेश कुछ करता भी तो अनुभवहीन होनेके कारण परिणाम उलटा निकलता । उसके विरुद्ध राज्यमें असंतोष बढ़ता जाता था । स्वयं वह अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था ।

घूमते हुए उसका एक पुराना मित्र उस नगरमें आया । राजासे उसने मिलनेकी इच्छा प्रकट की । एकान्तमें राजा उससे मिला । मित्रने कहा—'आपके सौभाग्यपर मैं बधाई देने आया हूँ ।'

राजाने कहा—'मेरे दुर्भाग्यपर रोओ और भगवान्से प्रार्थना करो कि मैं इस विपत्तिसे शीघ्र छूट जाऊँ । जब मैं भिक्षुक था तो भिक्षामें जो भी रूखी-सूखी रोटी मिलती थी उसे खाकर निश्चिन्त रहता था । परंतु आजकल तो अनेक चिन्ताओंके कारण मैं सदा दुखी रहता हूँ । मुझे ठीक निद्रातक नहीं आती ।'—सु० सिं०

सुकुमार वीर

महाभारतके युद्धका नवम दिन था। आज भीष्मपितामह पूरी उत्तेजनामें थे। उनका धनुष आज प्रलयकी वर्षा कर रहा था। पाण्डवदलमें क्षण-क्षणपर रथ, अश्व, गज और योधा कट-कटकर गिर रहे थे। हाहाकार मच गया था पाण्डवदलमें। बड़े-बड़े विख्यात महारथी भी भाग रहे थे। व्यूह छिन्न-भिन्न हो चुका था। सैनिकोंको भागनेको स्थान नहीं मिल रहा था। श्रीकृष्णचन्द्रने यह अवस्था देखकर अर्जुनको उत्साहित किया। पितामहपर बाण-वर्षा करनेकी इच्छा अर्जुनमें नहीं थी; किंतु अपने परम सखा श्रीकृष्णकी प्रेरणासे वे युद्धके लिये उद्यत हुए। वासुदेवने उनका रथ पितामहके सम्मुख पहुँचाया। पाण्डव-सेनाने देखा कि अर्जुन अब पितामहसे युद्ध करेंगे तो उसे कुछ आश्वासन मिला।

अपने सम्मुख अर्जुनके नन्दिघोष रथको देखकर भीष्मका उत्साह और द्विगुणित हो उठा। उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाका घोष बढ़ गया और बढ़ गयी उनकी बाण-वृष्टि! अर्जुनने दो बार उनका धनुष काट दिया; किंतु इससे पितामहका उत्साह शिथिल नहीं हुआ। उनके पैने बाण कवच फोड़कर अर्जुन और श्रीकृष्णके शरीरको विद्ध करते जा रहे थे। दोनोंके शरीरोंसे रक्तके झरने बह रहे थे।

श्रीकृष्णचन्द्रने देखा कि उनका सखा अर्जुन मन लगाकर युद्ध नहीं कर रहा है। उन जनार्दनको अपने जनोंमें प्रमाद सह्य नहीं है। आज अर्जुन पितामहके प्रति पूज्य भाव होनेके कारण युद्धभूमिमें क्षत्रियके उपयुक्त कर्तव्यके प्रति जागरूकताका परिचय नहीं दे रहे थे। वे शिथिल हो रहे थे कर्तव्यके प्रति! मधुसूदन यह सह नहीं सके। उन्होंने घोड़ोंकी रश्मि छोड़ दी और चाबुक ही लिये दौड़ पड़े भीष्मकी ओर।

रक्त और लोथोंसे पटी युद्धभूमि, स्थान-स्थानपर पड़े बाण, खड्ग, खण्डित धनुष और उसमें दौड़ते जा रहे थे कमललोचन वासुदेव! उनके चरण रक्तसे सन गये थे। उनके शरीरसे रक्त प्रवाहित हो रहा था। उनके नेत्र अरुण हो उठे थे। उनके अधर फड़क रहे थे। उनके उठे हाथमें चाबुककी रस्सी घूम रही थी। दौड़े जा रहे थे वे भीष्मकी ओर।

युद्धके प्रारम्भमें ही दुर्योधनने आचार्य द्रोण तथा अपने सभी महारथियोंको आदेश दिया था—'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि' 'आप सब लोग केवल भीष्मकी सावधानीसे रक्षा करें।'

वहाँ द्रोणाचार्य थे, अश्वत्थामा थे, शल्य थे, दुःशासनके साथ दुर्योधन था अपने सभी भाइयोंके सङ्ग और उसके पक्षके सभी महारथी थे; किंतु सब हाथ उठाकर स्त्रियोंकी भाँति चिल्ला रहे थे—'भीष्म मारे गये। भीष्म अब मारे गये।'

श्रीकृष्ण—सौकुमार्यकी मूर्ति श्रीकृष्ण और उनके पास कोई शस्त्र नहीं। वे चक्र नहीं, केवल चाबुक लेकर दौड़ रहे थे। परंतु जिसका संकल्प कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंको पलमें ध्वस्त कर देता है, उसके हाथमें चक्र हो या चाबुक, कौरव-पक्षमें ऐसा मूर्ख कोई नहीं था जो आशा करे कि रोषमें भरे मधुसूदनके सम्मुख वह आधे पल रुक सकेगा। कराल काल भी जहाँ काँप उठे, वहाँ मरने कौन कूदे। धरी रही राजाज्ञा, भूल गया शौर्य, पूरा कौरवदल हाथ उठाये पुकार रहा था—'भीष्म मारे गये! अब मारे गये भीष्म!'

भीष्म तो अपने रथमें बैठे स्तुति कर रहे थे—'पधारो मधुसूदन! अपने हाथों मारकर भीष्मको आज कृतार्थ कर दो माधव!' परंतु अर्जुन कूद पड़े अपने रथसे। दौड़कर पीछेसे उन्होंने अपने सखाके चरण पकड़ लिये और कहा—'मुझे क्षमा करो वासुदेव! मैं अब प्रमाद नहीं करूँगा। तुम अपनी प्रतिज्ञा मत तोड़ो।'
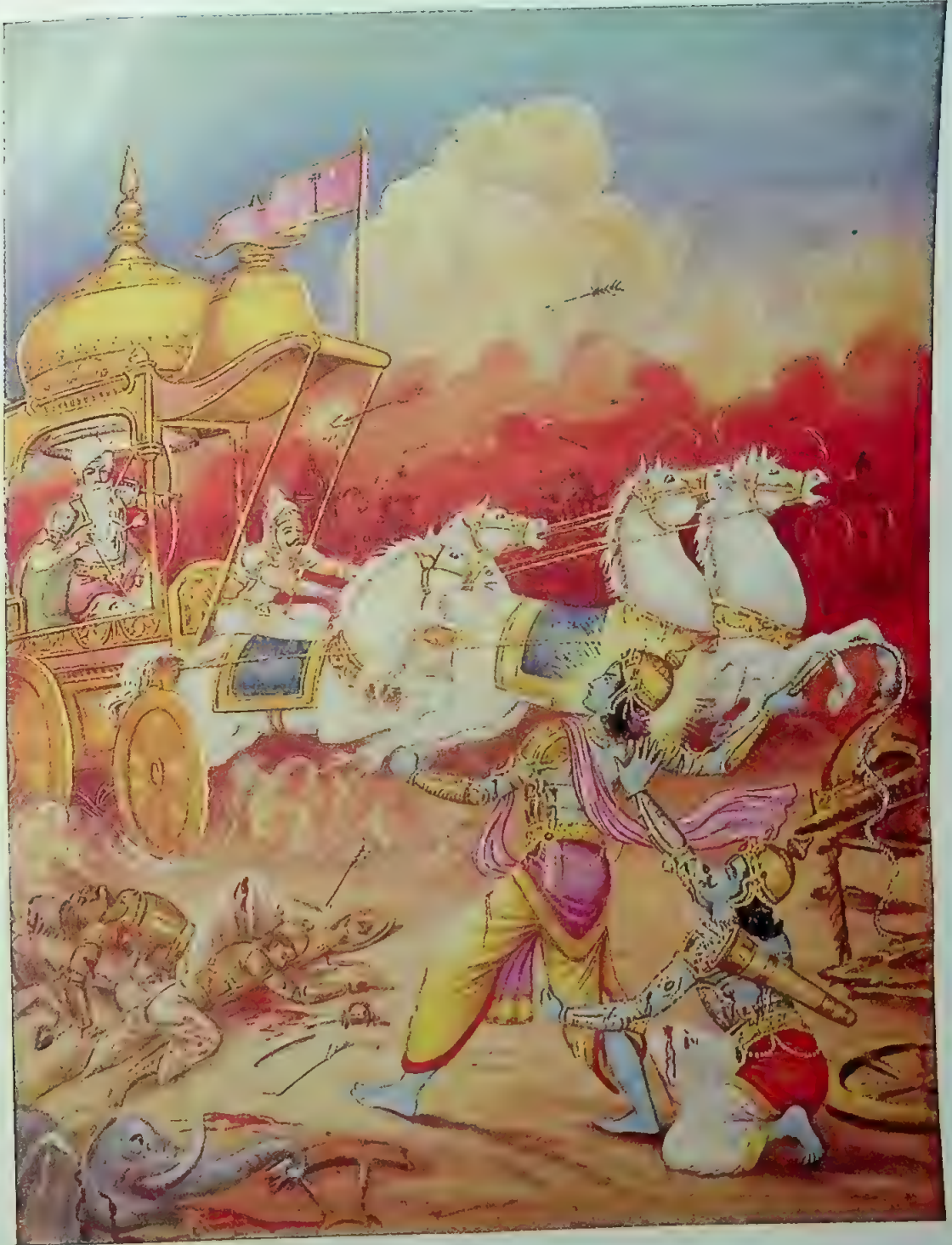
सुकुमार वीर—भीष्मके प्रति श्रीकृष्ण चाबुक लेकर दौड़े

किससे माँगूँ ?

बादशाहकी सवारी निकली थी। मार्गके समीप वृक्षके नीचे एक अलमस्त फकीर लेटे थे अपनी मस्तीमें। बादशाह धार्मिक थे, श्रद्धालु थे, फकीरपर दृष्टि गयी, सवारी छोड़कर उतर पड़े और पैदल अकेले फकीरके पास पहुँचे। प्रणाम करके बोले—'आपको कुछ आवश्यकता हो तो माँग लीजिये।'

फकीरने कहा—'तू अच्छा आया। ये मक्खियाँ मुझे तंग कर रही हैं। इन्हें भगा दे यहाँसे।'

बादशाह बोले—'मक्खियाँ तो मेरे वशमें नहीं हैं; किंतु आप चलें तो ऐसा स्थान दिया जा सकता है जहाँ मक्खियाँ ····।'

बीचमें ही फकीर बोले—'बस, बस! तू जा अपना काम कर! मैं किससे माँगूँ, तुच्छ मक्खियोंपर भी जिसका अधिकार नहीं, उससे?'

सच्चा त्याग और क्षमा

उत्तर प्रदेशमें राजघाटके पास किसी गाँवमें एक विद्वान् पण्डितजी रहते थे। घरमें उनकी विदुषी पत्नी थी। पण्डितजी एक बार बीमार पड़े। एक दिन वे मरणासन्न हो गये। उनको घोर संनिपात था, चेतना नहीं थी। बोली बंद थी। विदुषी पत्नीने चाहा कि 'मरणके पहले इनको संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। ब्राह्मणके लिये यही शास्त्रविधान है।' भाग्यसे एक वृद्ध संन्यासी रास्तेसे चले जा रहे थे। ब्राह्मणीने उनको बुलाया और सारी परिस्थिति समझाकर पतिको उनसे संन्यासकी दीक्षा दिलवा दी। विरक्त संन्यासी चले गये।

प्रारब्धकी बात, पण्डितजी अच्छे हो गये। ब्राह्मणी उनकी सब सेवा करती पर उनका स्पर्श नहीं करती। पण्डितजीको यह नयी बात मालूम हुई। उन्होंने एक दिन स्पर्श न करनेका कारण पूछा। उसने कहा—'महाराज! आप संन्यासी हो गये।' और फिर उसने वे सारी बातें सुना दीं कि कैसे संन्यासी हुए थे। पण्डितजी बोले—'फिर, संन्यासीको घरमें नहीं रहना चाहिये।' धर्मशीला विदुषी पत्नीने कहा—'महाराज! उचित तो यही है।' उसी क्षण पण्डितजी काषाय वस्त्र धारणकर घरसे निकल गये।

× × ×

वर्षों बाद हरद्वारमें कुम्भका मेला था। पण्डितजीके गाँवसे भी लोग कुम्भस्नानके लिये गये थे। उनमें पण्डित-जीकी पत्नी भी थी। पण्डितजी संन्यास लेकर ऋषिकेशमें रहने लगे थे। सच्चे त्यागी थे। विद्वान् तो थे ही। संन्या-सियोंमें उनके त्याग और पाण्डित्यकी प्रख्याति हो गयी। बड़े-बड़े संन्यासी उनसे पढ़ने लगे। हरद्वार-ऋषिकेशके यात्री उनके दर्शन बिना लौटनेमें यात्राको निष्फल समझने लगे। गाँवके लोगोंके साथ पण्डितजीकी पत्नी भी उनके दर्शनार्थ गयी। उसे पता नहीं था, ये मेरे पूर्वाश्रमके पति हैं। वह वहाँ जाकर बैठी। स्वामीजीकी दृष्टि उसकी ओर गयी। उन्होंने पहचान लिया और कहा—'तू कब आ गयी?' विदुषी ब्राह्मणीने कहा—'स्वामीजी! अब भी आपको मेरा स्मरण है?' स्वामीजीको मानो सावधानीका कोड़ा लगा। पर उन्हें इससे बड़ी प्रसन्नता हुई; क्योंकि वे अपनी भूलको पकड़ सके। उन्होंने उसी क्षणसे किसीको आँख उठाकर न देखनेका तथा सदा मौन रहनेका प्रण कर लिया और जीवनभर उसे निभाया।

× × ×

एक समय वे किसी गाँवके समीप गङ्गातटपर ध्यान कर रहे थे। गाँवके कुछ शरारती मुसल्मान छोकरोंने यह देखनेके लिये कि देखें इनका ध्यान टूटता है या

नहीं, उनके पीठपर कुल्हाड़ीसे घाव कर दिये । महात्माजी ज्यों-के-त्यों पाषाण-प्रतिमाकी तरह बैठे रहे । पीठसे खून बहने लगा । दूसरे कुछ लड़कोंने यह देखा और वे गाँवके जमींदारको खबर देने गये । वह जमींदार स्वामीजीका बड़ा भक्त था । मुसल्मान छोकरे भाग गये । जमींदार आये, उन्होंने उन छोकरोंको पकड़वाकर बुलाया । उसने कहा—'इन्हें खूब मार मारो ।' यह सुनते ही महात्माजी खड़े हो गये और हाथ ऊपर उठाकर मारनेसे मने कर दिया । जमींदार चुप हो रहे। लड़कोंको इशारेसे विदा कर दिया । तबसे जीवनभर उनका वह हाथ उठा ही रहा ।

साधुवेष बनाकर धोखा देना बड़ा पाप है

एक राजाको कोढ़की बीमारी हो गयी थी । वैद्योंने बताया कि मानसरोवरसे हंस पकड़वाकर मँगाये जायँ और उनके पित्तसे दवा बने तो निश्चय ही राजाका रोग नष्ट हो जाय । राजाके आदेशसे व्याध भेजे गये । व्याधोंको देखते ही हंस उड़ गये । तब व्याधोंने एक कौशल रचा । उन्होंने गेरुआ वस्त्र पहन लिये, नकली जटा लगा ली, कमण्डलु ले लिये, भस्मके त्रिपुण्ड्र लगा लिये, गलेमें माला पहन ली । उनके इस संन्यासी वेषको देखकर हंस नहीं उड़े । व्याध हंसोंको पकड़कर राजाके पास ले आये । राजाने जब व्याधोंके द्वारा हंसोंके पकड़े जानेका तरीका सुना, तब उसके मनमें विचार आया कि हंसोंने संन्यासी वेषका विश्वास करके व्याधोंका भय नहीं किया । वे बड़े सरल हैं । इस प्रकार धोखा देकर उन्हें पकड़ना और मारना सर्वथा अनुचित है । बड़ा पाप है । यह सोचकर राजाने उनको छोड़ दिया । इस पुण्यके कारण राजा एक दूसरे वैद्यकी निर्दोष दवासे रोगमुक्त हो गया । व्याधोंने भी सोचा कि जब कपटी साधुके वेषसे वनके पशु-पक्षीतक विश्वास कर लेते हैं, तब असली साधु होनेपर तो सभी विश्वास करेंगे । इससे वे भी पक्षीवधका नृशंस काम छोड़कर असली त्यागी बन गये।

दयासे बादशाही

एक व्यक्ति शिकारके लिये जंगलमें गया । वहाँ उसने एक हरिनीको देखा । उसके साथ छोटा बच्चा था । शिकारी दौड़ा, हरिनी तो डरकर जंगलमें छिप गयी । बच्चा पकड़ा गया । शिकारी बच्चेको लेकर चला, तब हरिनी भी निकल आयी और बच्चेके स्नेहवश वह भी पीछे-पीछे चलने लगी । शिकारीने कुछ दूर आनेके बाद पीछेकी ओर मुड़कर देखा । हरिनीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी और वह पीछे-पीछे चली आ रही थी। शिकारी अपने गाँवके समीप आ गया । तब भी हरिनी उसी प्रकार रोती चली आ रही थी । उसको दया आ गयी । उसने बच्चेको छोड़ दिया । बच्चा छूटते ही छलाँग मारकर माँके पास पहुँचा । हरिनी मूक आशीर्वाद देती हुई बच्चेको लेकर लौट गयी । रातको शिकारीने स्वप्नमें देखा—कोई कह रहा है, 'इस दयाके फलस्वरूप तुम्हें बादशाही मिलेगी ।' वही आगे चलकर गजनीका बादशाह हुआ ।

प्राणी-सेवासे ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति

एक महात्मा बड़ी सुन्दर वेदान्तकी कथा कहा करते। बहुत नर-नारी सुनने जाते । उनमें एक गरीब राजपूत भी था, जो आश्रमके समीप एक कुएँके पास खोमचा लगाकर उबाले हुए चने-मटर बेचा करता था । वह बड़े

ध्यानसे कथा सुनता । उसने एक दिन महात्माजीसे कहा—'महाराज ! मैं इतने दिनोंसे मन लगाकर कथा सुनता हूँ; मैंने अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा आत्माके स्वरूप-को भी समझ लिया है । परंतु मुझे जो आत्मानन्द प्राप्त होना चाहिये, वह नहीं हो रहा है । इसका क्या कारण है ।' महात्माने कहा—'कोई प्रतिबन्ध होगा, उसके हटनेपर आत्मानन्दकी प्राप्ति होगी ।' खोमचेवाला चुप हो गया ।

एक दिन वह कुएँके पास छायामें खोमचा लगाये बैठा था । गरमीके दिन थे । कड़ाकेकी धूप थी । गरम लू चल रही थी । दोपहरका समय था । इतनेमें एक चमार लकड़ियोंका बोझा उठाये वहाँ आया । वह पसीनेसे तर था । उसकी आँखें लाल हो रही थीं । बहुत थका था । कुएँके पास आते ही वह व्याकुल होकर गिर पड़ा और बेहोश हो गया । खोमचेवाले राजपूतने तुरंत उठकर उसको उठाकर छायामें सुलाया । कुछ देर अपनी चद्दरसे हवा की, फिर शरबत बनाकर थोड़ा-थोड़ा उसके मुँहमें डालना शुरू किया । यों करते-करते एक घंटा बीत गया । तब उसने आँखें खोलीं । खोमचेवालेने बड़े प्यारसे उसे दो मुट्ठी चने खिलाये और फिर ठंडा पानी पिलाया । वह बिल्कुल अच्छा हो गया । उसके रोम-रोमसे आशीष् निकल रही थी । उसने कृतज्ञताभरी आँखोंसे राजपूतकी ओर देखा और अपना रास्ता पकड़ा ।

इसी समय राजपूतको आत्मानन्दकी प्राप्ति हो गयी । मानो उसका हृदय ब्रह्मानन्दमय हो गया । उसने महात्माके पास जाकर अपनी स्थितिका वर्णन किया । महात्माने कहा—'तुमने निष्कामभावसे एक प्राणीकी सेवा की, इससे तुम्हारा प्रतिबन्ध कट गया । साधक-मात्रको सर्वभूतहितैषी होना चाहिये ।'

मेहनतकी कमाई और उचित वितरणसे प्रसन्नता

एक राजा जंगलके रास्ते कहीं जा रहा था । उसने देखा एक खेतमें एक जवान आदमी हल जोत रहा है और मस्तीमें झूमता हुआ ऊँचे स्वरसे कुछ गा रहा है । वह बड़ा ही प्रसन्न था । राजा वहाँ खड़ा होकर उसका गाना सुनने लगा । फिर राजाने उससे पूछा कि 'भाई ! तुम बहुत प्रसन्न मालूम होते हो । बताओ—तुम औसत प्रतिदिन कितना कमाते हो ?' उसने हँसते हुए कहा—'मैं खुद मेहनत करके आठ आने रोज कमाता हूँ और उनको चार हिस्सोंमें बाँट देता हूँ । मैं न इससे अधिक कमाना चाहता हूँ और न खर्च करना । मुझे चिन्ता क्यों होती ।' राजाने पूछा—'चार हिस्सोंमें कैसे बाँटते हो ?' किसानने कहा—'माँ-बापने मुझको पाला था, उनका ऋण मेरे सिरपर है, अतः दो आना उनको देकर ऋण उतारता हूँ । बच्चे बड़े होनेपर मेरी सेवा करेंगे, इसके लिये दो आने रोज उनके पालनमें लगाता हूँ, यह मानो कर्ज देता हूँ । मैं किसान हूँ, जानता हूँ कि आदमी जो बोता है, वही फसल पकनेपर पाता है । दूसरोंको पहले देनेपर ही किसीको कुछ मिला करता है, यह सोचकर चौथे हिस्सेके दो आने मैं रोज दान करता हूँ और शेष बचे हुए दो आनेमें अपना पेट भरता हूँ ।'

कहानीके द्वारा वैराग्य

एक दासी नित्यप्रति महारानीकी सेज बिछाया करती । एक दिन उसने खूब ही सजाकर सेज बिछायी । गरमीके दिन थे । नदी-किनारेके महलमें ठंडी हवा आ रही थी । दासी थकी हुई थी, वह जरा

सेजपर लेट गयी । लेटते ही बेचारीको नींद आ गयी । कुछ देरमें महारानी आयी;उसने आते ही जो दासीको अपनी सेजपर सोये देखा तो क्रोधसे आगबबूला हो गयी और दासीको जगाया । दासी बेचारी डरके मारे काँपने लगी । महारानीने उसे कोड़े लगाने शुरू किये । दो-चार कोड़े लगे तबतक तो वह उदास रही और रोती रही । पीछे उसका मुख प्रसन्न हो गया और वह हँसने लगी । महारानीको बड़ा आश्चर्य हुआ; उसने प्रसन्नताका और हँसनेका कारण पूछा । तब दासीने कहा—'महारानीजी ! कसूर माफ हो, मुझे इस बातपर हँसी आ गयी कि मैं एक दिन थोड़ी-सी देरके लिये इस पलंगपर सो गयी, जिससे मुझपर इतने बेभाव कोड़े पड़ रहे हैं। ये महारानी रोज इसपर सोती हैं, इनपर पता नहीं कितने कोड़े पड़ेंगे । तब भी ये समझ नहीं रही हैं और अपने भविष्यपर ध्यान न देकर मुझे मार रही हैं। आपकी इस बेसमझीपर मुझे हँसी आयी ।'

एक नाईने किसी राजा साहबके तेल मलते-मलते यह कहानी कही और इसीसे उनको वैराग्य हो गया और वे राज छोड़कर घरसे निकल पड़े ।

महत्त्व किसमें ?

किसी नरेशके मनमें तीन प्रश्न आये—१. प्रत्येक कार्यके करनेका महत्त्वपूर्ण समय कौन-सा ? २. महत्त्वका काम कौन-सा ? ३. सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति कौन ?

नरेशने अपने मन्त्रियोंसे पूछा, राजसभाके विद्वानोंसे पूछा; किंतु उन्हें किसीके उत्तरसे संतोष नहीं हुआ । वे अन्तमें नगरके बाहर वनमें कुटिया बनाकर रहनेवाले एक संतके समीप गये । संत उस समय फावड़ा लेकर फूलोंकी क्यारीकी मिट्टी खोद रहे थे । राजाने साधुको प्रणाम करके अपने प्रश्न उन्हें सुनाये; परंतु साधुने कोई उत्तर नहीं दिया । वे चुपचाप अपने काममें लगे रहे ।

राजाने सोचा कि साधु वृद्ध हैं, थक गये हैं, वे स्वस्थ चित्तसे बैठें तो मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे सकेंगे । यह विचार करके उन्होंने साधुके हाथसे फावड़ा ले लिया और स्वयं मिट्टी खोदने लगे । जब साधु फावड़ा देकर अलग बैठ गये, तब नरेशने उनसे अपने प्रश्नोंका उत्तर देनेकी प्रार्थना की । साधु बोले—'वहीं कोई व्यक्ति दौड़ता आ रहा है । पहले हमलोग देखें कि वह क्या चाहता है ।'

सचमुच एक मनुष्य दौड़ता आ रहा था । वह अत्यन्त भयभीत लगता था । उसके शरीरपर शस्त्रोंके घाव थे और उनसे रक्त बह रहा था । समीप पहुँचनेसे पहले ही वह भूमिपर गिर पड़ा और मूर्छित हो गया । साधुके साथ राजा भी दौड़कर उसके पास गये । जल लाकर उन्होंने उसके घाव धोये । अपनी पगड़ी फाड़कर उसके घावोंपर पट्टी बाँधी । इतनेमें उस व्यक्तिकी मूर्छा दूर हुई, राजाको अपनी शुश्रूषामें लगे देखकर उसने उनके पैर पकड़ लिये और रोकर बोला—'मेरा अपराध क्षमा करें ।'

नरेशने आश्चर्यपूर्वक कहा—'भाई ! मैं तो तुम्हें पहचानता तक नहीं ।'

उस व्यक्तिने बताया—'आपने मुझे कभी देखा नहीं है; किंतु एक युद्धमें मेरा भाई आपके हाथों मारा गया है। मैं तभीसे आपको मारकर भाईका बदला लेनेका अवसर ढूँढ़ रहा था । आज आपको वनकी ओर आते देखकर मैं छिपकर आपको मार डालने आया था । परंतु आपके सैनिकोंने मुझे देख लिया । वे मुझपर एक साथ टूट पड़े। उनसे किसी प्रकार प्राण बचाकर मैं यहाँ आया । महाराज! आज मुझे पता लगा कि आप कितने दयालु हैं । आपने अपनी पगड़ी फाड़कर मुझ-जैसे शत्रुके घाव बाँधे और मेरी सेवा की । आप मेरे अपराध क्षमा करें । अब मैं आजीवन आपका सेवक बना रहूँगा ।'

उस व्यक्तिको नगरमें भेजनेका प्रबन्ध करके राजाने साधुसे अपने प्रश्नोंका उत्तर पूछा तो साधु बोले—'राजन् ! आपको उत्तर तो मिल गया। सबसे महत्त्वपूर्ण समय वह था, जब आप मेरी फूलोंकी क्यारी खोद रहे थे; क्योंकि यदि आप उस समय क्यारी न खोदकर लौट जाते तो यह व्यक्ति आपपर आक्रमण कर देता। सबसे महत्त्वपूर्ण काम था इस व्यक्तिकी सेवा करना; क्योंकि यदि सेवा करके आप इसका जीवन न बचा लेते तो यह शत्रुता चित्तमें लेकर मरता और पता नहीं इसकी तया आपकी शत्रुता कितने जन्मोंतक चलती रहती। और सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मैं हूँ, जिसके द्वारा शान्ति पाकर तुम लौटोगे।'

नरेशने मस्तक झुकाया। साधु बोले—'ठीक न समझे हो तो फिर समझ लो कि सबसे महत्त्वपूर्ण समय 'वर्तमान समय' है, उसका उत्तमसे उत्तम उपयोग करो। सबसे महत्त्वपूर्ण वह काम है जो वर्तमानमें तुम्हारे सामने है। उसे पूरी सावधानीसे सम्पन्न करो। सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति वह है जो वर्तमानमें तुम्हारे सम्मुख है। उसके साथ सम्यक् रीतिसे व्यवहार करो।—सु० सिं०

संसारका स्वरूप

एक युवक बचपनसे एक महात्माके पास आया-जाया करता था। सत्संगके प्रभावसे भजनमें भी उसका चित्त लगता था। महात्माने देखा कि वह अधिकारी है, केवल मोहवश परिवारमें आसक्त हो रहा है। उन्होंने उसे समझाया—'बेटा ! माता-पिताकी सेवा और पत्नीका पालन-पोषण तो कर्तव्य है। उसे धर्म समझकर करना चाहिये। परंतु मोहवश उनमें आसक्त होना उचित नहीं। भगवान् ही अपने हैं। संसारमें दूसरा कोई किसीका नहीं है।'

युवकने कहा—'भगवन् ! आपकी यह बात मेरी समझमें नहीं आती। मेरे माता-पिता मुझे इतना स्नेह करते हैं कि एक दिन घर न जाऊँ तो उनकी भूख-प्यास तथा नींद सब बंद हो जाती है। मेरी पतिव्रता पत्नीकी तो मैं क्या कहूँ। मेरे बिना तीनमेंसे कोई जीवित नहीं रह सकता।'

महात्माने उसे परीक्षा करके देखनेको कहा और युक्ति बतलायी। उस दिन घर जाकर वह सीधा पलंगपर लेट गया। किसीकी बातका कुछ उत्तर नहीं दिया उसने। थोड़ी देरमें हाथ-पैर कड़े करके प्राणवायु मस्तकमें चढ़ाकर वह निश्चेष्ट हो गया। घरमें रोना-पीटना मच गया उसे मृत समझकर। पास-पड़ोसके लोग एकत्र हो गये।

इसी समय महात्माजी पधारे। उन्होंने कहा—'मैं इसे जीवित कर सकता हूँ। एक कटोरी पानी चाहिये।'

घरके लोग तो साधुके चरणोंमें लोटने लगे। कटोरीका पानी लेकर महात्माजीने कुछ मन्त्र पढ़े और युवकके चारों ओर घुमाया। अब वे बोले—'इस जलको कोई पी जाय। जल पीनेवाला मर जायगा और युवक जीवित हो जायगा।'

मरे कौन ! सब एक दूसरेका मुख देखने लगे। पड़ोसी, मित्र आदि धीरे-धीरे खिसक गये। साधुने युवकके पिताकी ओर देखा तो वे बोले— 'मैं प्रसन्नतासे जल पी लेता; किंतु अभी कुछ आवश्यक कार्य रह गये हैं। उन्हें निबटा न दूँ तो इसे बहुत क्लेश होगा। मेरी स्त्री········।'

परंतु बुढ़िया बीचमें ही आँख निकालकर बोली—'बूढ़े ! तू मेरे बिना रह सकेगा ? और देखता नहीं कि बहू कितनी बची है। वह अभी घर सम्हाल सकती है ?'

'देवि ! तुम तो पतिव्रता हो। पतिके बिना वैसे भी

तुम जीवित रहना नहीं चाहोगी।' साधुने युवककी पत्नी-की ओर देखा।

उस नारीने उत्तर दिया—'भगवन्! मैं न रही तो जीवित होकर भी ये बहुत दुखी होंगे और मेरे माता-पिता तो मेरी मृत्युका समाचार पाते ही मर जायँगे। उनके और कोई संतान नहीं है। विपत्तिके दिन मैं उनके पास रहकर काटूँगी तो उनको कुछ तो धैर्य रहेगा।'

'तब मैं पी लूँ यह पानी?' साधुने पूछा।

अब तो सभी एक साथ बोल उठे—'आप धन्य हैं। महात्माओंका तो जीवन ही परोपकारके लिये होता है। आप कृपा करें। आप तो मुक्तात्मा हैं। आपके लिये तो जीवन-मरण एक-से हैं।'

युवकको अब और कुछ देखना-सुनना नहीं था। उसने प्राणायाम समाप्त कर दिया। और बोल उठा—'भगवन्! आप पानी पियें, यह आवश्यक नहीं है। मुझे आपने सचमुच आज जीवन दे दिया है—प्रबुद्ध जीवन।' —सु० सिं०

अभीसे अभ्यास होना अच्छा

एक सेठजीने अन्नसत्र खोल रक्खा था। दानकी भावना तो कम थी, मुख्य भावना तो थी कि समाज उन्हें दानवीर समझे, उनकी प्रशंसा करे। उनके प्रशंसक लोग कम थे भी नहीं। सेठजी गल्लेका थोक व्यापार करते थे। अन्नके कोठारोंमें वर्षके अन्तमें जो घुना-सड़ा अन्न बिकनेसे बच रहता था, वह अन्नसत्रके लिये दे दिया जाता था। प्रायः सड़ी ज्वारकी रोटी ही सेठजीके अन्न-क्षेत्रमें भूखोंको प्राप्त होती थी।

सेठजीके पुत्रका विवाह हुआ। पुत्रवधू घर आयी। वह सुशीला, धर्मज्ञ और विचारशीला थी। अपने श्वशुर-का व्यवहार देखकर उसे दुःख हुआ। भोजन बनानेका भार उसने स्वयं उठाया। पहिले ही दिन अन्न-क्षेत्रसे सड़ी ज्वारका आटा मँगवाकर उसने एक रोटी बनायी। सेठजी भोजन करने बैठे थे। दूसरे भोजनके साथ उनकी थालीमें वह रोटी भी पुत्रवधूने परोस दी। काली, मोटी रोटी देखकर सेठजीने कुतूहलवश पहिला ग्रास उसीका मुखमें डाला और थू-थू करके थूकते हुए बोले-'बेटी! घरमें आटा तो बहुत है। तूने रोटी बनानेके लिये यह सड़ी ज्वारका आटा कहाँसे मँगाया? क्या सूझी तुझे?'

पुत्रवधू बोली—'पिताजी! आपके अन्न-क्षेत्रमें इसी आटेकी रोटी भूखोंको दी जाती है। परलोकमें तो वहीं मिलता है जो यहाँ दिया जाता है। वहाँ केवल इसी आटेकी रोटीपर आपको रहना है। इसलिये मैंने सोचा कि अभीसे इसे खानेका अभ्यास आपको हो जाय धीरे-धीरे तो वहाँ कष्ट कम होगा।'

कहना नहीं होगा कि अन्न-क्षेत्रका सड़ा आटा उसी दिन फेंकवा दिया गया और वहाँ अच्छे आटेका प्रबन्ध हुआ।—सु० सिं०

स्वयं पालन करनेवाला ही उपदेश देनेका अधिकारी है

एक ब्राह्मणने अपने आठ वर्षके पुत्रको एक महात्माके पास ले जाकर उनसे कहा—'महाराजजी! यह लड़का रोज चार पैसेका गुड़ खा जाता है और न दें तो लड़ाई-झगड़ा करता है। कृपया आप कोई उपाय बताइये।'

महात्माने कहा—'एक पखवाड़ेके बाद इसको मेरे पास लाना, तब उपाय बताऊँगा।' ब्राह्मण पंद्रह दिनोंके बाद बालकको लेकर फिर महात्माके पास पहुँचा। महात्माने बच्चेका हाथ पकड़कर बड़े मीठे शब्दोंमें कहा—'बेटा!

देख, अब कभी गुड़ न खाना भला, और लड़ना भी मत !' इसके बाद उसकी पीठपर थपकी देकर तथा बड़े प्यारसे उसके साथ बातचीत करके महात्माने उनको विदा किया । उसी दिनसे बालकने गुड़ खाना और लड़ना बिल्कुल छोड़ दिया ।

कुछ दिनोंके बाद ब्राह्मणने महात्माके पास जाकर इसकी सूचना दी और बड़े आग्रहसे पूछा—'महाराजजी ! आपके एक बारके उपदेशने इतना जादूका काम किया कि कुछ कहा नहीं जाता; फिर आपने उसी दिन उपदेश न देकर पंद्रह दिनोंके बाद क्यों बुलाया ? महाराजजी ! आप उचित समझें तो इसका रहस्य बतानेकी कृपा करें ।' महात्माने हँसकर कहा—'भाई ! जो मनुष्य स्वयं संयम-नियमका पालन नहीं करता, वह दूसरोंको संयम-नियमके उपदेश देनेका अधिकार नहीं रखता । उसके उपदेशमें बल ही नहीं रहता । मैं इस बच्चेकी तरह गुड़के लिये रोता और लड़ता तो नहीं था, परंतु मैं भोजनके साथ प्रतिदिन गुड़ खाया करता था । इस आदतके छोड़ देनेपर मनमें कितनी इच्छा होती है, इस बातकी मैंने स्वयं एक पखवाड़ेतक परीक्षा की और जब मेरा गुड़ न खानेका अभ्यास दृढ़ हो गया, तब मैंने यह समझा कि अब मैं पूरे मनोबलके साथ दृढ़तापूर्वक तुम्हारे लड़केको गुड़ न खानेके लिये कहनेका अधिकारी हो गया हूँ ।'

महात्माकी बात सुनकर ब्राह्मण लज्जित हो गया और उसने भी उस दिनसे गुड़ खाना छोड़ दिया । दृढ़ता, त्याग, संयम और तदनुकूल आचरण—ये चारों जहाँ एकत्र होते हैं, वहीं सफलता होती है ।

पुरुष या स्त्री ?

एक साधु नगरसे बाहर कुटियामें रहते थे । परंतु भिक्षा माँगने तो उन्हें नगरमें आना ही पड़ता था । मार्गमें एक वेश्याका घर पड़ता था । वेश्या उन्हें अपनी ओर आकर्षित करनेका प्रयत्न करके हार चुकी थी । इससे प्रायः वह प्रतिदिन उनसे पूछती—'तुम पुरुष हो या स्त्री ?'

साधु उत्तर दे देते—'एक दिन इसका उत्तर दूँगा ।'

वेश्याने इसका कुछ और अर्थ समझ लिया था । वह प्रतिदिन उनके नगरमें आनेका मार्ग देखती रहती थी । सदा उसे यही उत्तर मिलता था । सहसा एक दिन एक व्यक्तिने आकर समाचार दिया वेश्याको—'महात्माजी तुम्हें कुटियापर बुला रहे हैं ।'

वेश्या वहाँ पहुँची । साधु बीमार थे, भूमिपर पड़े थे और अब उनके जीवनके कुछ क्षण ही शेष थे । उन्होंने वेश्यासे कहा—'मैंने तुम्हें तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देनेका वचन दिया था, वह उत्तर आज दे रहा हूँ—मैं पुरुष हूँ ।'

वेश्या बोली—'यह उत्तर तो आप कभी दे सकते थे ।'

साधुने कहा—'केवल पुरुषका शरीर मिलनेसे कोई पुरुष नहीं हो जाता । जो संसारके भोगोंमें आसक्त है, वह मायाके परतन्त्र है । परतन्त्र जीव मायाकी कठपुतली है तो स्त्री ही है । पुरुष एक ही है—मायाका स्वामी । उससे एकात्मता प्राप्त करनेपर ही पुरुषत्व प्राप्त होता है । जीवन जबतक है, कोई नहीं कह सकता कि कब माया उसे नचा लेगी । परंतु अब मैं जा रहा हूँ । अब मैं कह सकता हूँ कि माया मेरा कुछ नहीं कर सकी । अब मैं समझता हूँ कि मैं पुरुष हूँ ।'—सु० सिं०

मेरा भी अनुकरण करनेवाले हैं

एक बहिरा मनुष्य नियमपूर्वक कथा सुनने जाया करता था। जब कथावाचकजीको पता लगा कि वह बहिरा है और कथाका एक शब्द नहीं सुन पाता, तब उन्होंने उसके कानके पास मुख ले जाकर पुकारकर पूछा—'आपको तो कथा सुनायी पड़ती नहीं, फिर आप प्रतिदिन यहाँ क्यों आते हैं ?'

बहिरा मनुष्य बोला—'यहाँ भगवान्‌की कथा होती है। मैं उसे सुन पाऊँ या नहीं, अन्यत्र बैठनेसे यहाँके पवित्र वातावरणमें बैठनेका लाभ तो मुझे होता ही है। परंतु मुख्य बात तो यह है कि मेरा भी अनुकरण करनेवाले कुछ लोग हैं। मेरे बच्चे और सेवक, मेरे घरके दूसरे सदस्य मेरे आचरणसे ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं। मैं कथामें इसीलिये नियमपूर्वक आता हूँ कि इससे उनके चित्तमें भगवत्कथाके प्रति रुचि, श्रद्धा, महत्त्वबुद्धि तथा उत्कण्ठा हो। तथा मैं आकर बैठता हूँ, इससे कथाके शब्दोंसे मेरे अङ्गोंका स्पर्श तो होता ही है।'—सु० सिं०

ईश्वर श्रद्धासे जाना जाता है

एक ब्राह्मणके दो पुत्र थे। दोनोंके विधिपूर्वक यज्ञोपवीतादि सभी संस्कार हुए थे। उनमें ब्राह्मणका बड़ा पुत्र तो यज्ञोपवीत संस्कारके पश्चात् गायत्रीजपमें लग गया। उसने अध्ययन बहुत कम किया; क्योंकि पिताकी मृत्युके पश्चात् घरका भार उसीपर आ पड़ा। परंतु ब्राह्मणका छोटा पुत्र प्रतिभाशाली था। वह अध्ययनके लिये काशी गया और वहाँ उसने कई वर्षतक अध्ययन किया। वेदोंका वेदाङ्गके साथ अध्ययन करके वह एक प्रतिष्ठित विद्वान् बन गया।

काशीमें एक बाहरके विद्वान् पधारे। काशीनरेशके समक्ष काशीके विद्वानोंसे उनका शास्त्रार्थ हुआ। वह ब्राह्मणकुमार भी उस शास्त्रार्थमें था। बाहरसे आया विद्वान् नाना तर्कोंसे प्रमाणित कर रहा था—'ईश्वर नामकी कोई सत्ता नहीं है।' काशीके विद्वानोंको उसका खण्डन करके ईश्वरकी सत्ता सिद्ध करना था। उस बाहरके विद्वान्‌से सर्वप्रथम शास्त्रार्थ ब्राह्मणकुमारको ही करना पड़ा, जिसमें ब्राह्मणकुमार हार गया। दुखी होकर तथा पराजयके अपमानसे लज्जित होकर वह उस सभासे तुरंत उठ गया और काशी छोड़कर घर लौट आया।

बड़े भाईने छोटे भाईको उदास देखकर पूछा—'तुम इतने दुखी क्यों हो ?'

छोटे भाईने अपने पराजयकी बात बतलायी। बड़े भाई बोले—'इसमें दुखी होनेकी क्या बात है। जिसमें प्रतिभा अधिक है, वह कम प्रतिभावालेको अपने तर्कसे पराजित कर ही सकता है। परंतु जैसे कोई किसीको अखाड़ेमें पटक दे, इसीलिये पटकनेवालेकी बात सत्य नहीं मानी जाती, वैसे ही तर्कके द्वारा सत्यका निर्णय नहीं होता।'

छोटा भाई रोकर बोला—'भैया ! मुझे पराजयका इतना दुःख नहीं है। मुझे दुःख तो इस बातका है कि स्वयं मुझे ईश्वरकी सत्तामें संदेह हो गया है। मैंने वेद, शास्त्र, पुराण आदि सब पढ़े हैं; किंतु मेरे मनका संतोष नहीं हो रहा है।'

बड़े भाईने छोटे भाईको झिड़क दिया—'सब शास्त्र-पुराण पढ़कर भी तू मूर्ख ही रहा। जो सत्य है, वह न तर्कसे जाना जाता और न पोथे पढ़नेसे। वह तो सत्य है, इसलिये उसे प्रत्यक्ष उपलब्ध किया जा सकता है। उसपर तथा उसे पानेके साधनपर श्रद्धा करके लग जानेसे

वह उपलब्ध हो जाता है। यज्ञोपवीत संस्कारके समय आचार्यने गायत्रीके सम्बन्धमें जो कुछ कहा था, उसे तू भूल गया? गायत्रीका जप क्यों नहीं करता?'

छोटे भाईने बड़े भाईके चरण पकड़ लिये—'मेरे गुरु आप ही हैं। मैं अब जप ही करूँगा।'

श्रद्धाके साथ संयमपूर्वक साधन चलने लगा और जहाँ ये दोनों हैं, साध्य अनुपलब्ध कैसे रह सकता है?

—सु० सिं०

वेषसे साधु साधु नहीं, गुणोंसे साधु साधु है

एक साधु प्रातःकाल शौचादिसे निवृत्त होकर नदी-किनारे एक धोबीके कपड़े धोनेके पत्थरपर खड़े-खड़े ध्यान करने लगे। इतनेमें धोबी गधेपर कपड़े लादे वहाँ आया। उसने कपड़े उतारे और प्रतीक्षा करने लगा कि उसके पत्थरसे साधु हटें तो वह अपना काम प्रारम्भ करे। कुछ देर प्रतीक्षा करनेपर भी जब साधु हटे नहीं तब उसने प्रार्थना की—'महात्माजी! आप पत्थरसे उतरकर किनारे खड़े हों तो मैं अपने काममें लगूँ। मुझे देर हो रही है।'

साधुने धोबीकी बातपर कोई ध्यान नहीं दिया। धोबी कुछ देर और रुका रहा, उसने फिर प्रार्थना की और अन्तमें उकताहटके कारण उसने धीरेसे साधुका हाथ पकड़कर उन्हें पत्थरसे उतारनेकी चेष्टा की। एक धोबीके हाथ पकड़नेसे साधुको अपना अपमान जान पड़ा। उन्होंने उसे धक्का दे दिया।

धोबीकी श्रद्धा साधुका क्रोध देखकर समाप्त हो गयी। उसने भी साधुको धक्का देकर पत्थरसे हटा दिया। अब तो साधु महाराज भिड़ गये धोबीसे। दोनोंमें गुत्थमगुत्थ होने लगी। धोबी था बलवान्। उसने साधुको उठाकर पटक दिया और उनके ऊपर चढ़ बैठा।

नीचे दबे साधु प्रार्थना करने लगे—'मेरे आराध्य-देव! मैं इतनी श्रद्धा-भक्तिसे आपकी पूजा-आराधना तथा ध्यान करता हूँ, फिर भी आप मुझे इस धोबीसे छुड़ाते क्यों नहीं?'

साधुने उसी समय आकाशवाणी सुनी—'तुम्हारी बात ठीक है, हम छुड़ाना भी चाहते हैं; किंतु यही समझमें नहीं आता कि तुम दोनोंमें साधु कौन है और धोबी कौन है।'

इस आकाशवाणीको सुनकर साधुका गर्व नष्ट हो गया। धोबीसे उन्होंने क्षमा माँगी और उसी दिनसे सत्य, क्षमा, दया आदि साधुताके गुणोंको अपनाकर वे सच्चे साधु बन गये। —सु० सिं०

मैं किसीका कल्याण करूँ और उसे जान भी न पाऊँ

एक साधु थे। उनका जीवन इतना पवित्र तथा सदाचारपूर्ण था कि दिव्य आत्माएँ तथा देवदूत उनके दर्शनके लिये प्रायः आते रहते थे। साधु मुँहसे तो अधिक मोहक शब्दोंका प्रयोग नहीं करते थे, किंतु उनके कर्तव्य और उनकी सारी चेष्टाएँ पर-कल्याणके लिये ही होती थीं।

एक दिन एक देवदूतने उनके सम्बन्धमें भगवान्से प्रार्थना की, 'प्रभो! इसे कोई चमत्कारपूर्ण सिद्धि दी जाय।' भगवान्ने कहा, 'ठीक तो है, तुम जैसा कहते हो वैसा ही होगा। पूछो, इसे मैं कौन-सी चमत्कारकी शक्ति प्रदान करूँ?'

देवदूतने साधुसे कहा—'क्या तुम्हें रोगियोंको रोगमुक्त करनेकी शक्ति दे दी जाय?'

साधुने इसे अस्वीकार कर दिया और इसी प्रकार वे देवदूतके सभी अन्य प्रस्तावोंको भी अस्वीकार करते गये।

'पर हमलोगोंकी यह बलवती इच्छा है कि तुम्हें कोई परमाश्चर्यपूर्ण चमत्कारमयी सिद्धि दी ही जाय।' देवदूतने कहा।

'तब ऐसा करो कि मैं जिसके बगलसे गुजरूँ, इसका, उसको बिना पता लगे ही उसका परम श्रेय—कल्याण हो जाय, साथ ही मैं भी इसे न जान पाऊँ कि मुझसे किसका क्या कल्याण हुआ।'

देवदूतने उसकी छायामें ही यह अद्भुत शक्ति दिला दी। वह जिस दुखी या रोगग्रस्त चर, अचर प्राणियोंपर पड़ जाती, उसके सारे त्रयताप नष्ट हो जाते और वह परम सुखी हो जाता। पर न तो कोई उसे धन्यवाद दे पाता और न समझ ही पाता कि उसका यह कल्याण कैसे हो गया, यह श्रेय उसे कैसे मिला!

—जा० श०

अनन्य निष्ठा

एक भगवद्भक्त कहीं यात्रा करने निकले थे। पर्वतकी एक गुफाके सम्मुख उन्होंने बहुत बड़ी भीड़ देखी। पता लगा कि गुफामें ऐसे संत रहते हैं जो वर्षमें केवल एक दिन बाहर निकलते हैं। वे जिसे स्पर्श कर देते हैं, उसके सब रोग दूर हो जाते हैं। आज उनके बाहर निकलनेका दिन है। रोगियोंकी भीड़ वहाँ रोगमुक्त होनेकी आशामें एकत्र है।

भगवद्भक्त वहीं रुक गये। निश्चित समयपर संत गुफामेंसे निकले। सचमुच उन्होंने जिसका स्पर्श किया, वह तत्काल रोगमुक्त हो गया। जब सब रोगी लौट रहे थे स्वस्थ होकर तब भक्तने संतकी चद्दरका कोना पकड़ लिया और बोले—'आपने औरोंके शारीरिक रोगोंको दूर किया है, मेरे मनके रोगोंको भी दूर कीजिये।'

संत जैसे हड़बड़ा उठे और कहने लगे—'छोड़ जल्दी मुझे। परमात्मा देख रहा है कि तूने उसका पल्ला छोड़कर दूसरेका पल्ला पकड़ा है।'

अपनी चद्दर छुड़ाकर वे शीघ्रतासे गुफामें चले गये।

सच्चा साधु—भिखारी

एक साधुने ईश्वरप्राप्तिकी साधनाके लिये कठिन तप करते हुए छः वर्ष एकान्त गुफामें बिताये और प्रभुसे प्रार्थना की कि 'प्रभो! मुझे अपने आदर्शके समान ही ऐसा कोई उत्तम महापुरुष बतलाइये, जिसका अनुकरण करके मैं अपने साधनपथमें आगे बढ़ सकूँ।'

साधुने जिस दिन ऐसा चिन्तन किया, उसी दिन रात्रिको एक देवदूतने आकर उससे कहा— 'यदि तेरी इच्छा सद्गुणी और पवित्रतामें सबका मुकुटमणि बननेकी हो तो उस मस्त भिखारीका अनुकरण कर जो कविता गाता हुआ इधर-उधर भटकता और भीख माँगता फिरता है।' देवदूतकी बात सुनकर तपस्वी साधु मनमें जल उठा, परंतु देवदूतका वचन समझकर क्रोधके आवेशमें ही उस भिखारीकी खोजमें चल दिया और उसे खोजकर बोला कि 'भाई! तूने ऐसे कौन-से सत्कर्म किये हैं, जिनके कारण ईश्वर तुझपर इतने अधिक प्रसन्न हैं?'

उसने तपस्वी साधुको नमस्कार करके कहा—'पवित्र महात्मा! मुझसे दिल्लगी न कीजिये। मैंने न तो कोई सत्कर्म किया, न कोई तपस्या की और न कभी प्रार्थना ही की! मैं तो कविता गा-गाकर लोगोंका मनोरञ्जन करता हूँ और ऐसा करते जो रूखा-सूखा टुकड़ा मिल जाता है, उसीको खाकर संतोष मानता हूँ।' तपस्वी साधुने फिर आग्रहपूर्वक कहा—'नहीं, नहीं, तूने कोई सत्कार्य अवश्य किया है।' भिखारीने नम्रतासे कहा, 'महाराज! मैंने कोई सत्कार्य किया हो, ऐसा मेरी जानमें तो नहीं है।'

इसपर साधुने उससे फिर पूछा, 'अच्छा बता, तू भिखारी कैसे बना ? क्या तूने फिजूलखर्चीमें पैसे उड़ा दिये, अथवा किसी दुर्व्यसनके कारण तेरी ऐसी हालत हो गयी ।'

भिखारी कहने लगा——'महाराज ! न मैंने फिजूल-खर्चीमें पैसे उड़ाये और न किसी व्यसनके कारण ही मैं भिखारी बना । एक दिनकी बात है, मैंने देखा एक गरीब स्त्री घबरायी हुई-सी इधर-उधर दौड़ रही है, उसका चेहरा उतरा हुआ है । पता लगानेपर मालूम हुआ कि उसके पति और पुत्र कर्जके बदलेमें गुलाम बनाकर बेच दिये गये हैं । बहुत खूबसूरत होनेके कारण कुछ लोग उसपर भी अपना कब्जा करना चाहते हैं । यह जानकर मैं उसे ढाढ़स देकर अपने घर ले आया और उसकी उनके अत्याचारसे रक्षा की । फिर मैंने अपनी सारी सम्पत्ति साहूकारोंको देकर उसके पति-पुत्रोंको गुलामीसे छुड़ाया और उनको उससे मिला दिया । इस प्रकार मेरी सारी सम्पत्ति चली जानेसे मैं दरिद्र हो गया और आजीविकाका कोई साधन न रहनेसे मैं अब कविता गा-गाकर लोगोंको रिझाता हूँ और इसीसे जो टुकड़ा मिल जाता है उसीको लेकर आनन्द मानता हूँ । पर इससे क्या हुआ ? ऐसा काम क्या और लोग नहीं करते ?'

भिखारीकी कथा सुनते ही तपस्वी साधुकी आँखोंसे मोती-जैसे आँसू झरने लगे और वह उस भिखारीको हृदयसे लगाकर कहने लगा—'मैंने अपनी जिंदगीमें तेरे-जैसा कोई काम नहीं किया । तू सचमुच आदर्श साधु है ।'

भगवान्‌पर मनुष्य-जितना भी विश्वास नहीं ?

एक भजनानन्दी साधु घूमते हुए आये और एक मन्दिरमें ठहर गये । मन्दिरके पुजारीने उनसे कहा—'आप यहाँ जितने भी दिन रुकना चाहें, प्रसन्नतापूर्वक रहें; किंतु यहाँ भोजनकी कोई व्यवस्था नहीं है । भोजनकी कोई व्यवस्था आप कर लें ।'

साधु बोले—'तुम्हारे पड़ोसीने कहा है कि मुझे दो रोटियाँ प्रतिदिन वह दे दिया करेगा ।'

पुजारी—'तब ठीक है । तब तो आप निश्चिन्त रहें, वह सच्चा आदमी है ।'

साधुने यह सुनकर आसन उठाया—'भाई ! यह स्थान मेरे रहनेयोग्य नहीं है और न तुम देव-सेवा करने-योग्य हो । भगवान् विश्वम्भर हैं, अपने जनोंके भरण-पोषणकी उन्होंने प्रतिज्ञा कर रक्खी है; किंतु उन सर्व-समर्थ भगवान्‌पर तो तुम्हें मनुष्य-जितना भी विश्वास नहीं ।'

—सु० सिं०

सच्ची श्रद्धा

नगरका नाम और ठीक समय स्मरण नहीं है । वर्षा-ऋतु बीती जा रही थी; किंतु वर्षा नहीं हुई थी । किसानोंके खेत सूखे पड़े थे । चारेके अभावमें पशु मरणासन्न हो रहे थे । जब कोई मानव-प्रयत्न सफल नहीं होता, तब मनुष्य उस त्रिभुवनके स्वामीकी ओर देखता है । गाँवके सब लोग गिरजाघरमें एकत्र हुए वर्षाके लिये प्रार्थना करने । एक छोटा बालक भी आया था; किंतु वह आया था अपना छोटा-सा छत्ता लेकर । किसीने उससे पूछा——'तुझे क्या इतनी धूप लगती है कि छत्ता लाया है ?'

बालक बोला——'वर्षा होगी तो घर भीगते जाना पड़ेगा, इससे मैं छत्ता लाया हूँ कि भीगना न पड़े ।'

प्रार्थना की जायगी और वर्षा नहीं होगी, यह संदेह ही उस शुद्धचित्त बालकके मनमें नहीं उठा । जहाँ इतना सरल विश्वास है, वहाँ प्रार्थनाके पूर्ण होनेमें संदेह

कहाँ । प्रार्थना पूर्ण होते-होते तो आकाश बादलोंसे ढक चुका था और झड़ी प्रारम्भ हो गयी थी । बालक अपना छत्ता लगाये प्रसन्नतापूर्वक घर गया । यह वर्षा इतनी भीड़के प्रार्थना करनेसे होती या नहीं, कौन कह सकता है; किंतु वह हुई, क्योंकि प्रार्थना करनेवालोंमें यह सच्चा श्रद्धालु बालक भी था ।

हककी रोटी

एक राजाके यहाँ एक संत आये । प्रसङ्गवश बात चल पड़ी हककी रोटीकी । राजाने पूछा—'महाराज ! हककी रोटी कैसी होती है ?' महात्माने बतलाया कि 'आपके नगरमें अमुक जगह अमुक बुढ़िया रहती है, उसके पास जाकर पूछना चाहिये और उससे हककी रोटी माँगनी चाहिये ।'

राजा पता लगाकर उस बुढ़ियाके पास पहुँचे और बोले—'माता ! मुझे हककी रोटी चाहिये ।'

बुढ़ियाने कहा—'राजन् ! मेरे पास एक रोटी है, पर उसमें आधी हककी है और आधी बेहककी ।'

राजाने पूछा—'आधी बेहककी कैसे ?'

बुढ़ियाने बताया—'एक दिन मैं चरखा कात रही थी । शामका वक्त था । अँधेरा हो चला था । इतनेमें उधरसे एक जुलूस निकला । उसमें मशालें जल रही थीं । मैं अलग अपनी चिराग न जलाकर उन मशालोंकी रोशनीमें कातती रही और मैंने आधी पूनी कात ली । आधी पूनी पहलेकी कती थी । उस पूनीसे आटा लाकर रोटी बनायी । इसलिये आधी रोटी तो हककी है और आधी बेहककी । इस आधीपर उस जुलूसवालेका हक है ।'

राजाने सुनकर बुढ़ियाको सिर नवाया ।

संतकी क्षमा

एक संत कहीं जा रहे थे । एक दुष्ट व्यक्ति उन्हें गालियाँ देता हुआ उनके पीछे-पीछे चल रहा था । संतने उससे कुछ कहा नहीं, वे चुपचाप चलते रहे; किंतु जब कुछ घर दिखायी पड़ने लगे, तब वे खड़े हो गये । उन्होंने उस व्यक्तिसे कहा—'भाई ! तुम्हें जो कुछ कहना हो, यहीं कह लो । मैं खड़ा हूँ । आगे उन घरोंमें मुझसे सहानुभूति रखनेवाले लोग रहते हैं । वे तुम्हारी बातें सुनेंगे तो तुम्हें तंग कर सकते हैं ।'

दुष्ट व्यक्ति लज्जित होकर क्षमा माँगने लगा ।

नीचा सिर क्यों ?

एक सज्जन बड़े ही दानी थे, उनका हाथ सदा ही ऊँचा रहता था; परंतु वे किसीकी ओर नजर उठाकर देखते नहीं थे । एक दिन किसीने उनसे कहा—'आप इतना देते हैं पर आँखें नीची क्यों रखते हैं ? चेहरा न देखनेसे आप किसीको पहचान नहीं पाते; इसलिये कुछ लोग आपसे दुबारा भी ले जाते हैं ।' इसपर उन्होंने कहा—'भाई !

> देनहार कोउ और है देत रहत दिन रैन ।
> लोग भरम हम पर धरैं याते नीचे नैन ॥

देनेवाला तो कोई दूसरा (भगवान्) ही है । मैं तो निमित्तमात्र हूँ । लोग मुझे दाता कहते हैं । इसलिये शर्मके मारे मैं आँखें ऊँची नहीं कर सकता ।'

सच्ची श्रद्धा

हककी रोटी

संतकी क्षमा

नीचा सिर क्यों

आतिथ्य-धर्म

अस्तेय

कामना कष्टदायिनी

सच्चा भाव
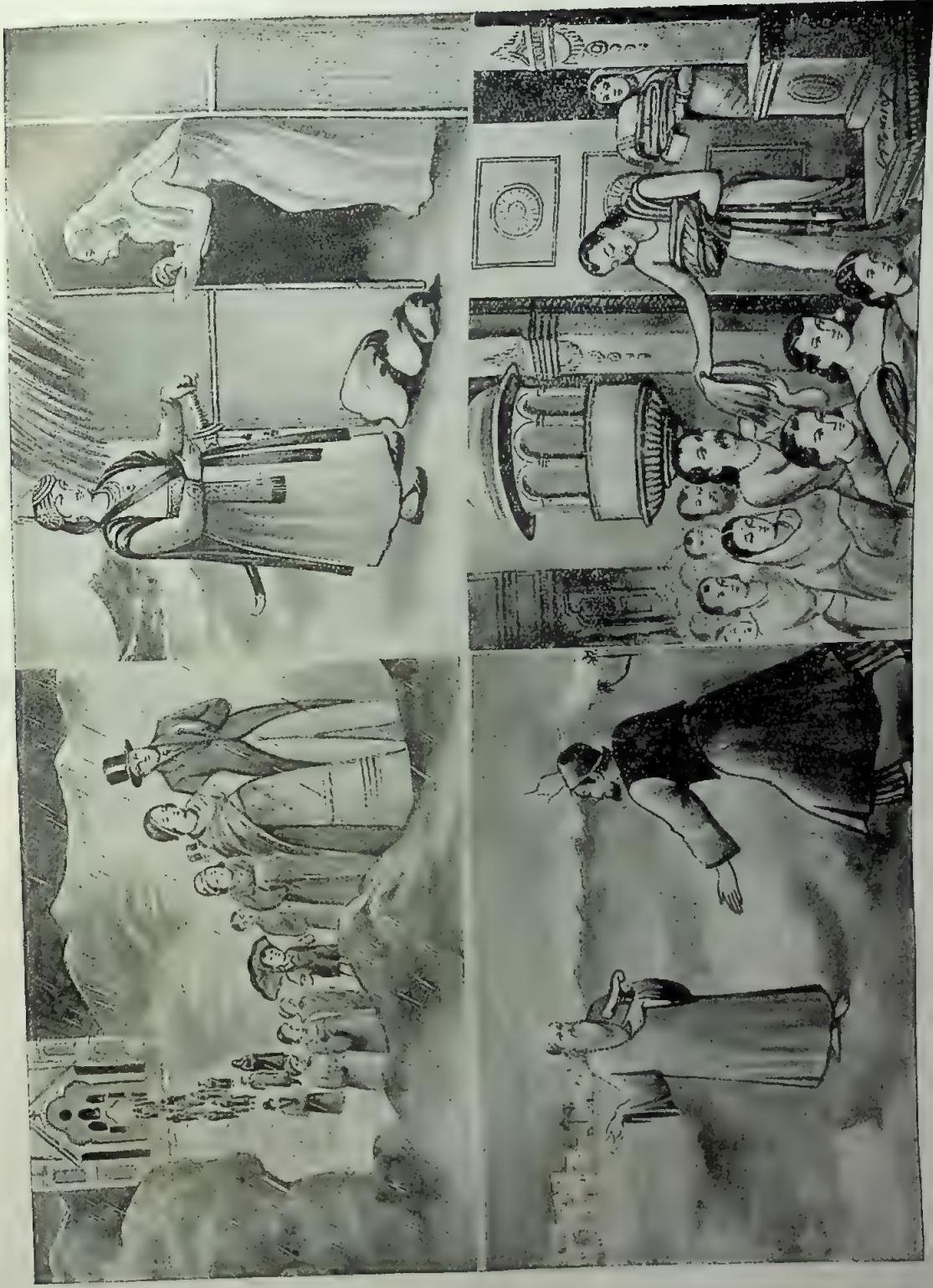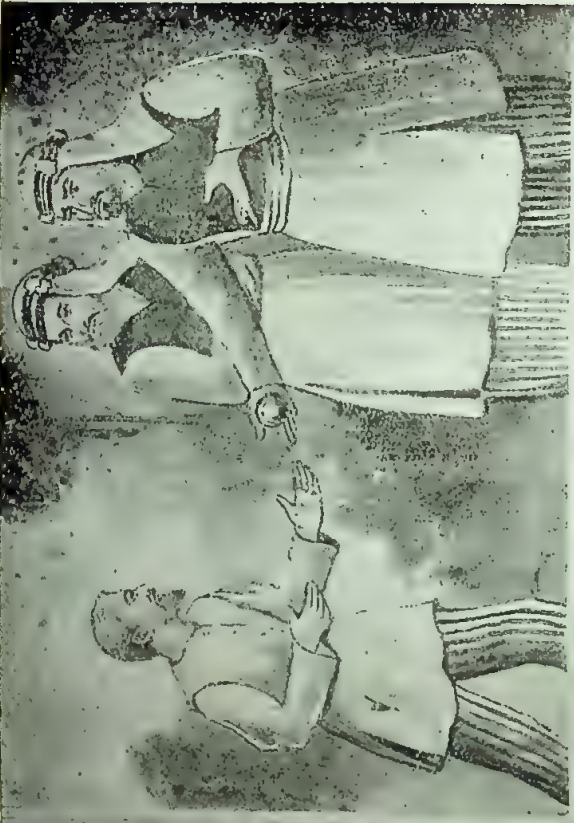
आतिथ्यधर्म

भारतवासियोंके समान ही अरब भी अतिथिका सम्मान करनेमें अपना गौरव मानते हैं। अतिथिका स्वागत-सत्कार वहाँ कर्तव्य समझा जाता है।

अरबलोगोंकी शूरता प्रसिद्ध है और अपने शत्रुको तो वे क्षमा करना जानते ही नहीं। एक व्यक्तिने एक अरबके पुत्रको मार दिया था। वह अरब अपने पुत्र-घातीके खूनका प्यासा हो रहा था और सदा उसकी खोजमें रहता था। संयोग ऐसा बना कि वही व्यक्ति किसी यात्रामें निकला। मार्गमें ही उसे लू लग गयी। ज्वरकी पीड़ासे व्याकुल किसी प्रकार गिरता-पड़ता वह जो सबसे पास तम्बू मिला, वहाँतक पहुँचा। तम्बूके दरवाजेतक पहुँचते-पहुँचते तो वह गिर पड़ा और बेहोश हो गया।

तम्बूके मालिकने अपने दरवाजेपर गिरे बेहोश अतिथिको उठाकर भीतर लिटा दिया। वह उसकी सेवा-में लग गया। रात-दिन जागकर भली प्रकार उसने बीमारकी सेवा की। रोगीकी मूर्छा दूर हुई; किंतु उसे स्वस्थ होनेमें कई दिन लगे। उस तम्बूके स्वामी अरबने उसकी सेवा-सत्कारमें कहीं कोई कमी नहीं होने दी।

रोगी जब स्वस्थ हो गया, सबल हो गया और इस योग्य हो गया कि लम्बी यात्रा कर सके, तब उस अरबने कहा—'तुम मेरा सबसे बलवान् ऊँट ले लो और जितनी शीघ्रतासे जा सको, यहाँसे दूर चले जाओ। मेरा आतिथ्य-सत्कार पूरा हो गया। मैंने अपना एक कर्तव्य ठीक पूरा किया है। परंतु तुमने मेरे पुत्रकी हत्या की है, तुमसे पुत्रका बदला लेना मेरा दूसरा कर्तव्य है। मैं ठीक दो घंटे बाद अपने दूसरे कर्तव्यके पालनके लिये तुम्हारा पीछा करनेवाला हूँ।'

अस्तेय

साधु इब्राहीम आदम घूमते-घामते किसी धनवान्‌के बगीचेमें जा पहुँचे। उस धनी व्यक्तिने उन्हें कोई साधारण मजदूर समझकर कहा—'तुझे यदि कुछ काम चाहिये तो बगीचेके मालीका काम कर। मुझे एक माली-की आवश्यकता है।'

इब्राहीमको एकान्त बगीचा भजनके उपयुक्त जान पड़ा। उन्होंने उस व्यक्तिकी बात स्वीकार कर ली। बगीचेका काम करते हुए उन्हें कुछ दिन बीत गये। एक दिन बगीचेका स्वामी कुछ मित्रोंके साथ अपने बगीचेमें आया। उसने इब्राहीमको कुछ आम लानेकी आज्ञा दी। इब्राहीम कुछ पके आम तोड़कर ले आये; किंतु वे सभी खट्टे निकले। बगीचेके स्वामीने असंतुष्ट होकर कहा—'तुझे इतने दिन यहाँ रहते हो गये और यह भी पता नहीं कि किस वृक्षके फल खट्टे हैं तथा किसके मीठे?'

साधु इब्राहीमने तनिक हँसकर कहा—'आपने मुझे बगीचेकी रक्षाके लिये नियुक्त किया है। फल खानेका अधिकार तो दिया नहीं है। आपकी आज्ञाके बिना मैं आपके बगीचेका फल कैसे खा सकता था और खाये बिना खट्टे-मीठेका पता कैसे लगता।'

वह व्यक्ति तो आश्चर्यसे साधुका मुख देखता रह गया।

कामना कष्टदायिनी

संत इब्राहीम खवास किसी पर्वतपर जा रहे थे। पर्वतपर अनारके वृक्ष थे और उनमें फल लगे थे। इब्राहीमकी इच्छा अनार खानेकी हुई। उन्होंने एक फल तोड़ा; किंतु वह खट्टा निकला, अतः उसे फेंककर वे आगे बढ़े। कुछ आगे जानेपर एक मनुष्य मार्गके पास लेटा हुआ मिला। उसे बहुत-सी मक्खियाँ काट रही थीं; किंतु वह उन्हें भगाता नहीं था। इब्राहीमने उसे नमस्कार किया तो वह बोला—'इब्राहीम अच्छे आये।'

एक अपरिचितको अपना नाम लेते देख इब्राहीमको आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—'आप मुझे कैसे पहचानते हैं?'

पुरुष—'एक भगवत्प्राप्त व्यक्तिसे कुछ छिपा नहीं रहता।'

इब्राहीम—'आपको भगवत्प्राप्ति हुई है तो भगवान्‌से प्रार्थना क्यों नहीं करते कि इन मक्खियोंको आपसे दूर कर दें।'

पुरुष—'इब्राहीम! तुम्हें भी तो भगवत्प्राप्ति हुई है। तुम क्यों प्रार्थना नहीं करते कि तुम्हारे मनमें अनार खानेकी कामना न हो। मक्खियाँ तो शरीरको ही कष्ट देती हैं; किंतु कामनाएँ तो हृदयको पीड़ित करती हैं।'

सच्चा भाव

एक गँवार गड़रिया पर्वतकी चोटीपर बैठा प्रार्थना कर रहा था—'ओ खुदा! यदि तू इधर पधारे, यदि तू मेरे पास आनेकी कृपा करे तो मैं तेरी सेवा करूँगा। मैं तेरी दाढ़ीमें कंघी करूँगा, तेरे सिरके केशोंसे जुएँ निकालूँगा, तेरे शरीरमें तेलकी मालिश करके तुझे स्नान कराऊँगा। मैं अपने आपको तुझपर न्योछावर कर दूँगा। तेरे पैर मैं अपनी दाढ़ीसे पोंछूँगा। तू सोना चाहेगा तो तेरे लिये बिछौना बिछाऊँगा। तू बीमार पड़ेगा तो तेरी सेवामें रात-दिन खड़ा रहूँगा। मेरे पास आ, मेरे अच्छे खुदा! मैं तेरा गुलाम बनकर रहूँगा।'

हजरत मूसा उधरसे कहीं जा रहे थे। उन्होंने उस गड़रियेसे पूछा—'अरे मूर्ख! तू किससे बातें कर रहा है? किस बीमारकी सेवा करना चाहता है?'

गड़रियेने कहा—'मैं खुदासे बातें कर रहा था और उन्हींकी सेवा करना चाहता हूँ।'

मूसाने उसे डाँटा—'अरे बेवकूफ! तू तो गुनाह कर रहा है। खुदाके कहीं बाल हैं और वह सर्वशक्तिमान् कहीं बीमार पड़ता है। वह तो अशरीरी, अजन्मा, सर्वव्यापक है। उसे मनुष्योंके समान सेवा-चाकरीकी क्या आवश्यकता? ऐसी बेवकूफी फिर मत करना।'

बेचारा गड़रिया चुप हो गया। मूसा-जैसे तेजस्वी फकीरसे वह क्षमा माँगनेके अतिरिक्त कर क्या सकता था। परंतु उस दिन मूसा स्वयं जब प्रार्थना करने लगे, आकाशवाणी हुई—'मूसा! मैंने तुम्हें मनुष्योंका चित्त मुझमें लगानेको भेजा है या उन्हें मुझसे दूर करनेको! उस गड़रियेका चित्त मुझमें लगा था, तुमने उसे मना करके अपराध किया है। तुम्हें इतना भी पता नहीं कि सच्चा भाव ही सच्ची उपासना है।'

भगवान्‌की कृपापर विश्वास

एक अकिंचन भगवद्भक्तने एक बार व्रत किया। पूरे दस दिनतक वे केवल जल पीकर रहे। उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया। व्रत समाप्त होनेपर वे उठे और अपनी कुटियासे बाहर आये। वहाँ पृथ्वीपर एक

सूखा फल पड़ा था। एक बार इच्छा हुई कि उसे उठाकर व्रतका पारण करें; किंतु फिर मनने कहा—'यह फल सूखा है, इस समय शरीरके लिये हानिकर है, ऐसा कैसे हो सकता है कि दयामय प्रभुने दस दिनके दीर्घ उपवासके पश्चात् इस फलसे व्रत-पारणका विधान किया हो।' फलको वहीं छोड़कर वे कुटियाके सामने एक वृक्षके नीचे बैठ गये।

कुछ ही देरमें वहाँ एक व्यापारी आये। बहुत-से फल और मेवा वे ले आये थे। उन्होंने बताया—'मेरा जहाज समुद्रमें तूफानमें पड़ गया था। उस समय मैंने संकल्प किया था कि सकुशल किनारे पहुँचनेपर भगवान्‌को भोग लगाऊँगा और जो पहिला अतिथि मिलेगा उसे वह प्रसाद अर्पित करूँगा। मेरा जहाज किनारे खड़ा है। तटपर मैं देरतक प्रतीक्षा करता रहा; किंतु कोई व्यक्ति उधर नहीं आया। प्रसाद लेकर मैं वहाँसे चला तो आप ही सर्वप्रथम मुझे दिखायी पड़े। कृपा करके यह प्रसाद स्वीकार करें।'

साधुने अपनी आवश्यकता-जितना प्रसाद ले लिया। उनके नेत्र भर आये थे और वे मन-ही-मन कह रहे थे—'मेरे दयामय स्वामी मेरे लिये पहिलेसे ही व्यवस्था करनेमें व्यस्त थे।' —सु० सिं०

कौड़ियोंसे भी कम कीमत

एक जिज्ञासुने किसी संतसे पूछा—'महाराज! राम-नाममें कैसे प्रेम हो तथा कैसे भजन बने?'

संत बोले—'भाई! रामनामका मूल्य, उसका महत्त्व समझनेसे प्रेम होता है और तभी भजन होता है।'

'महाराज! मूल्य और महत्त्व तो कुछ-कुछ समझमें आता है परंतु भजन नहीं होता।'

'क्या धूल समझमें आता है! समझमें आया होता तो क्या यह प्रश्न शेष रह जाता। फिर तो भजन ही होता। अभीतक तो तुम राम-नामको कौड़ियोंसे भी कम कीमती समझते हो!'

'महाराज! यह कैसे? कौड़ियोंके साथ राम-नामकी तुलना कैसी?'

'अच्छा तो बतलाओ, तुम्हारी वार्षिक आय अधिकसे अधिक क्या है?'

'अनुमान पैंतालीस—पचास हजार रुपये।'

'अच्छा तो अब विचार करो। व्यापारी हो, हिसाब लगाओ। वार्षिक पैंतालीस-पचास हजारके मानी हुए मासिक लगभग चार हजार रुपये और दैनिक लगभग एक सौ चालीस रुपये। दिन-रातके चौबीस घंटेकी तुम्हारी आमदनी एक सौ चालीस रुपये हैं, इस हिसाबसे एक घंटेमें लगभग पौने छः रुपये और एक मिनटमें डेढ़ आना आमदनी होती है। अब जरा सोचो, उसी एक मिनटमें तुम कम-से-कम डेढ़ सौ राम-नामका बड़े आरामसे उच्चारण कर सकते हो। अर्थात् जितनी देरमें छः पैसे पैदा होते हैं, उतनी देरमें डेढ़ सौ राम-नाम आते हैं। अभिप्राय यह कि एक पैसेमें पचीस राम-नाम हुए। इतनेपर भी पैसेके लिये तो खूब चेष्टा करते हो और राम-नामके लिये नहीं। अब बताओ तुमने राम-नामका महत्त्व और मूल्य कौड़ियोंके बराबर भी कहाँ समझा? यह हिसाब तो पैंतालीस-पचास हजारकी वार्षिक आयवालेका है। साधारण आयवाले लोग हिसाब लगाकर देखें और समझें कि राम-नामकी वे कितनी कम कीमत आँकते हैं।'

'महाराज! बात तो ऐसी ही है।'

'इसीसे कहता हूँ—सोचो, विचारो, हिसाबकी भूलको सुधारो और समयका सदुपयोग करो। सदुपयोग यही है कि समयको निरन्तर नाम-जपमें लगाओ।'

एक पैसेकी भी सिद्धि नहीं

एक साधक था। उसने घोर तपस्या की और जलके ऊपर चलनेमें समर्थ हो गया। अब वह प्रसन्नतासे खिल उठा और दौड़ा हुआ अपने गुरुके पास गया। गुरुजीने पूछा 'क्यों आज बड़े प्रसन्न दीखते हो? क्या बात है?' साधक बोला, 'महाराज! मुझे जलपर चलनेकी सिद्धि प्राप्त हो गयी।' गुरुने कहा—'चौदह वर्षोंतक क्या तुम इसीके लिये मरते रहे? यह तो तुम्हारी एक पैसेकी भी सिद्धि नहीं हुई; क्योंकि यह काम तो तुम मल्लाहको एक पैसा देकर भी कर सकते थे। तपस्या तो भगवत्प्राप्तिके लिये होती है। ऐश्वर्यादिकी प्राप्तिके लिये तपस्या करनेसे तो अच्छा है कि वह कोई व्यापार ही कर ले।' शिष्य लजा गया।

हम मूर्ख क्यों बनें

एक विचारशीला भगवद्भक्ता नारीका एकमात्र पुत्र मर गया। पति घरसे बाहर गये थे। उस नारीने पुत्रका शव ढक दिया और पतिके लिये भोजन बनाया। परिश्रमसे हारे-थके पतिदेव घर लौटे। आते ही उन्होंने पूछा—'अपने बीमार पुत्रकी क्या दशा है?'

स्त्री बोली—'आज वह पूरा विश्राम कर रहा है। आप भोजन करें।'

पुरुषने हाथ-पैर धोया और भोजन करने बैठा। नारी उसे पंखेसे वायु करने लगी। पंखा झलते हुए वह बोली—'मेरी पड़ोसिनने मुझसे एक बर्तन माँगा था। मैंने उसे बर्तन दे दिया। अब मैं उससे अपना बर्तन माँगती हूँ तो वह बर्तन देना नहीं चाहती, उलटे रोने-चिल्लाने लगती है।'

पुरुष हँसा—'बड़ी मूर्खा है वह! दूसरेकी वस्तु लौटानेमें रोनेका क्या काम!'

पुरुष भोजन समाप्त कर चुका था। उसे हाथ धुलाते हुए स्त्री बोली—'स्वामी! अपना लड़का भी तो अपने पास भगवान्‌की धरोहर ही था। प्रभुने अब अपनी वस्तु ले ली है; किंतु इसमें रो-चिल्लाकर हम मूर्ख क्यों बनें।'

'तुम ठीक कहती हो देवि!' पुरुषने गम्भीरतापूर्वक पत्नीकी ओर देखा।—सु० सिं०

वास्तविक उदारता

एक सम्पन्न व्यक्ति बहुत ही उदार थे। अपने पास आये किसी भी दीन-दुखीको वे निराश नहीं लौटाते थे; परंतु उन्हें अपनी इस उदारतापर गर्व था। वे समझते थे कि उनके समान उदार व्यक्ति दूसरा नहीं होगा। एक बार वे घूमते हुए एक खजूरके बागमें पहुँचे। उसी समय उस बागके रखवालेके लिये उसके घरसे एक लड़का रोटियाँ लेकर आया। लड़का रोटियाँ देकर चला गया। रखवालेने हाथ धोये और रोटियाँ खोलीं, इतनेमें वहाँ एक कुत्ता आ गया। रखवालेने एक रोटी कुत्तेको दे दी। किंतु कुत्ता भूखा था, एक रोटी वह झटपट खा गया और फिर पूँछ हिलाता रखवालेकी ओर देखने लगा। रखवालेने उसे दूसरी रोटी भी दे दी।

वे धनी सज्जन यह सब देख रहे थे। पास आकर उन्होंने रखवालेसे पूछा—'तुम्हारे लिये कितनी रोटियाँ आती हैं?'

रखवाला बोला—'केवल दो।'

धनी व्यक्ति—'तब तुमने दोनों रोटियाँ कुत्तेको क्यों दे दीं ?'

रखवाला—'महोदय ! तुम बड़े विचित्र आदमी हो । यहाँ कोई कुत्ता पहिलेसे नहीं था । यह कुत्ता यहाँ पहिले कभी आया नहीं है । यह भूखा कुत्ता यहाँ ठीक उस समय आया, जब रोटियाँ आयीं । मुझे ऐसा लगा कि आज ये रोटियाँ इसीके प्रारब्धसे आयी हैं । जिसकी वस्तु थी, उसे मैंने दे दिया । इसमें मैंने क्या विचित्रता की ? एक दिन भूखे रहनेसे मेरी कोई हानि नहीं होगी ।'

उस धनी मनुष्यका मस्तक झुक गया । उनमें जो अपनी उदारताका अभिमान था, वह तत्काल नष्ट हो गया । —सु० सिं०

भगवान्‌का भरोसा

पहले समयकी बात है । एक धनी नवयुवक राजपथपर टहल रहा था । उसने रोने और सिसकनेकी आवाज सुनी और वह एक घरके सामने ठहर गया।

'पिताजी ! हमलोगोंको कबतक इस तरह भूखों मरना होगा । चलिये न, बाजारमें भीख माँगकर हमलोग जीवनका निर्वाह करें ।' लड़कीने सिसकी भरकर कहा ।

'बेटी ! यह सच है कि हमलोगोंका सारा धन चला गया । हमारे पास एक पैसा भी नहीं रह गया है । दरिद्रताके रूपमें हमारे घरपर भगवान्‌की कृपाका अवतरण हुआ है । भगवान्‌पर भरोसा रखना चाहिये; वे हमारी आवश्यकताएँ पूरी करेंगे ।' पिताने अपनी तीनों लड़कियोंको समझाया ।

बाहर खिड़कीके पास खड़ा होकर धनी नवयुवक उनकी बातें सुन रहा था । वह घर गया । उसके खजानेमें सोनेके तीन बड़े-बड़े छड़ थे । रातको उसने एक छड़ खिड़कीके रास्तेसे गरीब आदमीके घरमें छोड़ दिया । पिता और लड़कियोंने भगवान्‌को धन्यवाद दिया कि उनकी प्रार्थनाएँ सुन ली गयीं । दूसरे दिन रातको उसने दूसरा छड़ छोड़ दिया । तीसरी रातको तीसरा छड़ फेंकनेवाला ही था कि उस असहाय और गरीब व्यक्तिने देख लिया । वह नवयुवकके चरणपर गिर पड़ा इस अयाचित सहायताके लिये ।

'भाई ! तुम यह क्या कर रहे हो ? तुम्हें तीन छड़ भगवान्‌की कृपासे ही मिले हैं । भगवान्‌को ही धन्यवाद देना चाहिये । यदि मुझे तुम्हारे घरतक उन्होंने परसों रातको न भेजा होता तो मैं इन्हें किस तरह प्रदान करता ।' (संत) निकोलसने गरीब आदमीका प्रेमालिङ्गन किया । निकोलसके श्रेष्ठ दानसे भगवान्‌में उनका विश्वास उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया ।—रा० श्री०

विश्वासका फल

एक सच्चा भक्त था, पर था बहुत ही सीधा । उसे छल-कपटका पता नहीं था । वह हृदयसे चाहता था कि मुझे शीघ्र भगवान्‌के दर्शन हों । दर्शनके लिये वह दिन-रात छटपटाता रहता और जो मिलता, उसीसे उपाय पूछता । एक ठगको उसकी इस स्थितिका पता लग गया । वह साधुका वेष बनाकर आया और उससे बोला—'मैं तुम्हें आज ही भगवान्‌के दर्शन करा दूँगा । तुम अपना सारा सामान बेचकर मेरे साथ जंगलमें चलो ।' भक्त निष्कपट, सरल हृदयका था और दर्शनकी चाहसे व्याकुल था । उसको बड़ी खुशी हुई और उसने उसी समय जो कुछ भी दाममें मिले, उसीपर अपना सारा सामान बेच दिया और रुपये साथ लेकर वह ठगके

साथ चल दिया । रास्तेमें एक कुआँ मिला । ठगने कहा, 'बस, इस कुएँमें भगवान्के दर्शन होंगे, तुम इन मायिक रुपयोंको रख दो और कुएँमें झाँको ।' सरल विश्वासी भक्तने ऐसा ही किया । वह जब कुएँमें झाँकने लगा, तब ठगने एक धक्का दे दिया, जिससे वह तुरंत कुएँमें गिर पड़ा । भगवत्कृपासे उसको जरा भी चोट नहीं लगी और वहीं साक्षात् भगवान्के दर्शन हो गये । वह कृतार्थ हो गया ।

ठग रुपये लेकर चंपत हो गया था । भगवान्ने सिपाहीका वेष धरकर उसे पकड़ लिया और उसी कुएँपर लाकर अंदर पड़े हुए भक्तसे सारा हाल कहा और भक्तको कुएँसे निकालना चाहा । भक्त उस समय भगवान्की रूपमाधुरीके सरस रसपानमें मत्त था; उसने कहा—'आप मुझको इस समय न छेड़िये । ये ठग हैं या कोई, मेरे तो गुरु हैं । सचमुच ही इन्होंने मेरी मायिक पूँजीको हरकर मुझको श्रीहरिके दर्शन कराये हैं । अतएव आप इन्हें छोड़ दीजिये ।' भक्तकी इस बातको सुनकर और सरल विश्वासका ऐसा चमत्कार देखकर ठगके मनमें आया कि सचमुच इसको ठगकर मैं ही ठगा गया हूँ । उसे अपने कृत्यपर बड़ी ग्लानि हुई और उसका हृदय पलट गया । भक्त और भगवान्के सङ्गका प्रभाव भी था ही । वह भी उसी दिनसे अपना दुष्कृत्य छोड़कर भगवान्का सच्चा भक्त बन गया ।

विचित्र बहुरूपिया

पुरानी बात है—अयोध्यामें एक संत रहते थे, वे कहीं जा रहे थे । किसी बदमाशने उनके सिरपर लाठी मारकर उन्हें घायल कर दिया । लोगोंने उन्हें बेहोश पड़े देखकर दवाखानेमें पहुँचाया । वहाँ मरहमपट्टी की गयी । कुछ देरमें उनको होश आ गया । इसके बाद दवाखानेका एक कर्मचारी दूध लेकर आया और उनसे बोला—'महाराज ! यह दूध पी लीजिये ।' संतजी उसकी बात सुनकर हँसे और बोले—'वाह भाई ! तुम भी बड़े विचित्र हो ! पहले तो सिरमें लाठी मारकर घायल कर दिया और अब बिछौनेपर सुलाकर दूध पिलाने आ गये ।' बेचारा कर्मचारी संतकी बातको नहीं समझ सका और उसने कहा—'महाराज ! मैंने लाठी नहीं मारी थी । वह तो कोई और था । मैं तो इस दवाखानेका सेवक हूँ ।' संतजी बोले—'हाँ-हाँ, मैं जानता हूँ । तुम बड़े बहुरूपिये हो । कभी लाठी मारनेवाले बदमाश—डाकू बन जाते हो, तो कभी सेवक बनकर दूध पिलाने चले आते हो । जो न पहचानता हो, उसके सामने फरेब-जाल करो, मैं तो तुम्हारी सारी माया जानता हूँ, मुझसे नहीं छिप सकते ।' अब उसकी समझमें आया कि संतजी सभीमें अपने प्रभुको देख रहे हैं ।

नींद कैसे आवे ?

एक महात्मा रातों जगकर प्रभुका स्मरण किया करते थे । एक बार उनके एक मित्रने उनसे पूछा—'आप यदि बीच-बीचमें सो लिया करें तो क्या कोई हानि है ?'

महात्माने उत्तर दिया—'जिस मनुष्यके नीचे नरकाग्नि जल रही हो और जिसे ऊपरका दिव्य राज्य बुला रहा हो, उसे नींद कैसे आ सकती है ?'

नीच गुरु

एक सुन्दरी बालविधवाके घरपर उसका गुरु आया। विधवा देवीने श्रद्धा-भक्तिके साथ गुरुको भोजनादि कराया। तदनन्तर वह उसके सामने धर्मोपदेश पानेके लिये बैठ गयी। गुरुके मनमें उसके रूप-यौवनको देखकर पाप आ गया और उसने उसको अपने कपटजालमें फँसानेके लिये भाँति-भाँतिकी युक्तियोंसे आत्मनिवेदनका महत्त्व बतलाकर यह समझाना चाहा कि जब वह उसकी शिष्या है तो आत्मनिवेदन करके अपनी देहके द्वारा उसे गुरुकी सेवा करनी चाहिये। गुरु खूब पढ़ा-लिखा था, इससे उसने बहुत-से तर्कोंके द्वारा शास्त्रोंके प्रमाण दे-देकर यह सिद्ध किया कि यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो गुरु-कृपा नहीं होगी और गुरु-कृपा न होनेसे नरकोंकी प्राप्ति होगी।

विधवा देवी बड़ी बुद्धिमती, विचारशीला और अपने सतीधर्मकी रक्षामें तत्पर थी। वह गुरुके नीच अभिप्रायको समझ गयी। उसने बड़ी नम्रताके साथ कहा—'गुरुजी! आपकी कृपासे मैं इतना तो जान गयी हूँ कि गुरुकी सेवा करना शिष्याका परम धर्म है, परंतु भाग्यहीनताके कारण मुझे सेवाका कोई अनुभव नहीं है। इसीसे मैं यथासाध्य गुरुके चरणकमलोंको हृदयमें विराजित करके अपने चक्षु-कर्णादि इन्द्रियोंसे उनकी सेवा करती हूँ। आँखोंसे उनके स्वरूपके दर्शन, कानोंसे उनके उपदेशामृतका पान आदि करती हूँ। सिर्फ दो नीच इन्द्रियोंको, जिनसे मल-मूत्र बहा करता है, मैंने सेवामें नहीं लगाया; क्योंकि गुरुकी सेवामें उन्हीं चीजोंको लगाना चाहिये जो पवित्र हों। मल-मूत्रके गड्ढेमें मैं गुरुको कैसे बिठाऊँ। इसीसे उन गंदे अङ्गोंको कपड़ोंसे ढके रखती हूँ कि कहीं पवित्र गुरु-सेवामें बाधा न आ जाय। इतनेपर भी यदि गुरु-कृपा न हो तो क्या उपाय है। पर सच्चे गुरु ऐसा क्यों करने लगे? जो गुरु मल-मूत्रकी चाह करते हैं, जो गुरु भक्तिरूपी सुधा पाकर भी मूत्राशयकी ओर ललचायी आँखोंसे देखते हैं, जो गुरु शिष्याके चेहरेकी ओर दयादृष्टिसे न देखकर नरकके मुख्यद्वार—नरक बहानेवाली दुर्गन्धयुक्त नालियोंकी ओर ताकते हैं, ऐसे गुरुके प्रति आत्मनिवेदन न करके उसके मुँहपर तो कालिख ही पोतनी चाहिये और झाडुओंसे उसका सत्कार करना चाहिये।' गुरुजी चुपचाप चल दिये।

रूप नादमें देख लो

किसी गाँवमें एक गरीब विधवा ब्राह्मणी रहती थी। तरुणी थी। सुन्दर रूप था। घरमें और कोई न था। गाँवका जमींदार दुराचारी था। उसने ब्राह्मणीके रूपकी तारीफ सुनी। वह उसके घर आया। ब्राह्मणी तो उसे देखते ही काँप गयी। उसी समय भगवान्‌की कृपासे उसे एक युक्ति सूझी। उसने दूर हटते हुए हँसकर कहा—'सरकार! मुझे छूना नहीं। मैं मासिक धर्मसे हूँ। चार दिन बाद आप पधारियेगा।' जमींदार संतुष्ट होकर लौट गया।

ब्राह्मणीने जमालगोटा मँगवाया और उसे खा लिया। उसे दस्त होने लगे दिन-रातमें सैकड़ों बार। उसने मकानके चौकमें एक मिट्टीका नाद रखवा ली और वह उसीमें टट्टी फिरने लगी। सैकड़ों दस्त होनेसे उसका शरीर घुल गया। आँखें धँस गयीं। मुखपर झुर्रियाँ पड़ गयीं। बदन काला पड़ गया। शरीर काँपने लगा, उठने-बैठनेकी ताकत नहीं रही, देह सूख गयी। उसका सर्वथा रूपान्तर हो गया और वह भयानक प्रतीत होने लगी।

चार दिन बाद जमींदार आया। तरुणी सुन्दरी ब्राह्मणीका पता पूछा। चारपाईपर पड़े कंकालसे क्षीण

आवाज आयी। 'मैं ही वह ब्राह्मणी हूँ।' जमींदारने मुँह फिरा लिया और पूछा—'तेरा यह क्या हाल हो गया। वह रूप कहाँ चला गया?' क्षीण उत्तर मिला—'जाकर उस नादमें देख लो। सारा रूप उसीमें भरा है।' मूर्ख जमींदार नादके पास गया, दुर्गन्धके मारे उसकी नाक फटने लगी। वह तुरंत लौट गया।

मांस, मेद, मज्जाकी सुन्दरता कसाईखानेमें बहुत है

किसी राज्यमें वहाँका राजकुमार बड़ा लाड़ला था। वह एक दिन रास्तेमें एक लावण्यवती युवतीको देखकर मोहित हो गया। युवती एक सद्‌गृहस्थ ब्राह्मणकी कन्या थी। पूर्वसंस्कारवश उसको योगका अभ्यास था। इसीसे उसने विवाह नहीं किया था! उसका नाम था योगशीला। राजकुमारने अपनी इच्छा अपने पिताको जनायी! पुत्रमोह-ग्रस्त राजाने योगशीलाके पितासे कहलवाया कि 'तुम अपनी पुत्री योगशीलाका विवाह राजकुमारसे कर दो।' ब्राह्मणने राजाकी सेवामें उपस्थित होकर अनेकों तरहसे उसे समझाया कि 'प्रथम तो प्रजाकी प्रत्येक कन्या आपकी कन्याके समान है। इस नाते राजकुमारकी वह बहिन होती है। दूसरे वह ब्राह्मण-कन्या है, क्षत्रियके साथ उसका विवाह शास्त्रनिषिद्ध है।' पर राजाने उसकी एक भी न सुनी। ब्राह्मणको बड़ी चिन्ता हो गयी। वह सोचके मारे सूखने लगा। खाना-पीना भी उसका छूट गया। योगशीला बड़ी बुद्धिमती थी, उसने पितासे सारी बातें जानकर कहा कि 'पिताजी! आप चिन्ता न करें, राजासे कहकर पंद्रह दिनोंका समय माँग लें। मैं अपने धर्मकी रक्षा कर लूँगी।'

ब्राह्मणने राजसभामें जाकर राजासे समय माँग लिया। राजकुमारने कहा, 'सोलहवें दिन तुम कन्याको यहाँ भेज देना! तब विवाह हो जायगा।' ब्राह्मणने स्वीकार किया। पंद्रह दिन बीत गये। इस बीचमें योगशीलाने योगकी क्रियाओंसे अपने शरीरको गला डाला। केवल हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया। सारा लावण्य नष्ट हो गया। सोलहवें दिन योगशीला राजमहलमें पूर्वनिर्दिष्ट राजकुमारके एकान्त कमरेमें पहुँची। राजकुमार तो उसको देखते ही चीख पड़ा और उसने तत्क्षण उसपरसे दृष्टि हटाकर कहा—'तुम कौन हो?' योगशीला बोली—'राजकुमार! मैं वही ब्राह्मणकन्या हूँ, जिसपर तुमने मोहित हो विवाहका प्रस्ताव किया था। मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार तुमसे विवाह करने आयी हूँ। अब देर क्यों करते हो! मनोकामना पूरी करो।'

राजकुमारने कहा—'उस दिन तो तुम बड़ी रूपवती थी। तुम्हारे सौन्दर्यकी चाँदनीने मेरा मन मोह लिया था। तुम्हारी वह सुन्दरता कहाँ चली गयी। आज तो तुम चुड़ैल-जैसी मालूम होती हो, दूसरी कोई होओगी। मेरे सामनेसे हट जाओ।'

योगशीलाने कहा—'राजकुमार! मैं वही हूँ, जिसके लिये तुम्हारे पिताने मोहवश अपना राजधर्म त्यागकर तुम्हारे साथ विवाह कर देनेको कहा था। मुझमें जो कुछ उस दिन था, वही आज भी है; परंतु मालूम होता है, तुम बड़े ही भोले हो। सोचो, उस दिनमें और आजमें मुझमें क्या अन्तर है। केवल मांस, मेद, मज्जा और रक्तमें कुछ कमी हुई है। इसी कारण तुम मुझे सुन्दर नहीं देख पा रहे हो! यदि तुम्हें मांस, मेद, मज्जा तथा रक्तमें ही सुन्दरता दिखायी देती है तो सीधे चले जाओ—कसाईखाने। वहाँ ये चीजें तुम्हें खूब मिलेंगी। तुम्हें लज्जा नहीं आती, जो तुम इन घिनौनी चीजोंपर इतना मोह करते हो?'

राजकुमार हताश होकर बाहर चला गया। ब्राह्मण-कन्या सकुशल अपने घर लौट आयी।

सतीत्वकी रक्षा

(लेखक—श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु')

गत महासमरमें बर्मापर जापानका अधिकार हो चुका था और ब्रिटिश-सेना फिरसे उसपर आधिपत्य जमा रही थी। सेनाके सिपाही बहुधा मदान्ध होते हैं, ऐसा ही एक गढ़वाली सैनिक (जिसने स्वयं मुझे यह घटना नितान्त श्रद्धापूर्वक अपने मुँहसे सुनायी थी एवं जिसका नाम मैं यहाँ प्रकट करना अनुचित समझता हूँ) एक अन्धकारमयी रजनीमें एक अन्य, बूढ़े सिपाहीको साथ लेकर विजित प्रान्तान्तर्गत समीपके एक ग्राममें अपनी कामलिप्सा शान्त करने घुसा।

दोनों सैनिक राइफलोंसे लैस थे। गाँवमें घुसकर उन्होंने देखा कि एक छोटा-सा मकान है, जिसके आगे एक वृद्ध बैठा हुआ है, मकानकी देहलीपर एक नवयुवती सुन्दर महिला बैठी है, जो कि सिगार पी रही थी, मदान्ध सैनिकने इसी बहिनके साथ अपना मुँह काला करनेका निश्चय किया।

दोनों सैनिक मकानके द्वारपर जा पहुँचे और ज्यों ही नवयुवक सिपाही कमरेमें प्रविष्ट होना ही चाहता था कि वह बहिन वीरतापूर्वक उठी और लोहेका एक हथियार, जिसे 'दाव' बोलते हैं तथा जिससे ऊँटवाले वृक्ष काटा करते हैं,उठाकर कामान्ध सैनिकपर आक्रमण करनेके लिये उद्यत हो गयी। सिपाहीको ऐसा प्रतीत हुआ कि ज्यों ही वह मकानके द्वारकी देहलीपर पैर रक्खेगा, त्यों ही उसका सिर धड़से अलग होकर भूमिपर नाचनेके लिये अवश्य बाधित होगा ! अतएव वह ठिठक गया और एक कदम पीछे हट गया।

उसने दस रुपयेका एक नोट अपनी जेबसे निकाला और उस बहिनको दिखलाया; किंतु उत्तरमें वही शस्त्र फिर उसकी ओर दोनों हाथोंसे दृढ़तापूर्वक पकड़ा हुआ घूरता हुआ दृष्टिगत हुआ ! सैनिकका बल नष्ट हो गया।

पीछे खड़ा हुआ दूसरा बूढ़ा सिपाही उसका नाम लेता हुआ कड़ककर बोला, '............। देखता क्या है ? राइफल तो तेरे पास है।' कामान्ध सैनिकने फिर साहस किया और सती महिलाके मुँहके सामने बंदूक तानकर उसे भयभीत करना चाहा ! किंतु प्रत्युत्तरमें वही शस्त्र फिर ज्यों-का-त्यों तना हुआ मिला। सैनिक चाहता है, गोली मारूँ। महिला उद्यत है कि उसका सिर धड़से पृथक् कर दूँ। पर्याप्त समयतक यही दृश्य रहा और आखिर सतीत्वके शुद्ध संकल्पके सम्मुख निर्लज्ज कामको पराजित होना पड़ा। दोनों सिपाही अपना-सा मुँह लेकर अपने स्थानपर लौट गये।

यह एक अक्षरशः सच्ची घटना है, आज सात-आठ वर्ष हुए, जब मैंने इसे सुना था। मुझे इस कथासे सदैव प्रेरणा मिलती रहती है और मैं इसे कभी भी भूल जाना नहीं चाहता, बहिनें इससे अवश्य ही शिक्षा ग्रहण करें।

जिस हृदयमें सतीत्व-रक्षाका दृढ़ संकल्प विद्यमान है, उसे बंदूकका भय और पैसेका लालच कदापि विचलित नहीं कर सकते। रावण-सीता-संवादकी पुनरावृत्ति होती ही रहेगी।

मैं मन-ही-मन बहुधा बर्माकी उस सती वीर भगिनीके चरणोंमें नमस्कार किया करता हूँ।

'सतीत्वकी जय'

शास्त्रीजीपर कृपा

एक शास्त्रीजी थे। भक्त थे। वे नावपर गोकुलसे मथुराको चले। साथ कुछ बच्चे और स्त्रियाँ भी थीं। नौका उलटे प्रवाहकी ओर खींची जा रही थी। इतनेमें ही आकाशमें काली घटा उठी, बादल गरजने लगे और यमुनाजीके तटोंपर मोर शोर मचाने लगे। देखते-ही-देखते जोरसे हवा चलने लगी और घनघोर वर्षा होने लगी। नाव ठहरा दी गयी। मल्लाहोंने कहा—'तुमलोग सामने बरसानेके पुराने श्रीराधाजीके मन्दिरमें धीरे-धीरे पैदल चले आओ। हम नाव लेकर वहीं तैयार रहेंगे।' शास्त्रीजीकी कमरमें चार सौके नोट थे, कुछ रुपये और पैसे थे। उन्होंने रक्षाकी दृष्टिसे कसकर कमर बाँध ली और नावसे उतरकर चलने लगे। मन्दिर वहाँसे एक मीलकी दूरीपर था। नोट भींग न जाय, इसलिये वे मन्दिरकी ओर तेजीसे चलने लगे।

किनारेका रास्ता बीहड़ था। चारों ओर जल भर जानेसे पगडंडियाँ दिखायी नहीं देती थीं। इसलिये बिना ही मार्गके वे पानीमें छप्-छप् करते आगे बढ़े जा रहे थे। मनमें रह-रहकर श्रीकृष्णकी बाललीलाओंकी स्मृति होने लगी। धीरे-धीरे मन तल्लीन हो गया। वे मार्ग भूलकर कहीं-के-कहीं निकल गये। मन्दिरकी बात याद नहीं रही।

सामने एक बड़ा टीला था, वे सहज ही उसपर चढ़ गये। थकान जाती रही। इतनेमें बादलोंकी गड़गड़ाहटके साथ जोरसे बिजली चमकी, उनकी आँखें बंद हो गयीं। वे वहीं रुक गये। कुछ क्षणोंके बाद आँखें खुलनेपर उन्होंने देखा—वर्षा कम हो गयी है और नीचे मैदानमें अत्यन्त सुन्दर तथा हृष्ट-पुष्ट गौएँ हरी घास चर रही हैं। उनके मनमें आया—'इन्हीं गौओंको हमारे प्यारे गोपाल चराया करते थे, वे अब भी यहीं कहीं होंगे।' वे इन्हीं विचारोंमें थे कि हठात् उनके मनमें नीचे उतरनेकी आयी, मानो कोई अज्ञात शक्ति उन्हें प्रेरित कर रही हो।

नीचे उतरते ही उन्होंने देखा—सामने थोड़ी ही दूरपर सात या आठ वर्षका, केवल लंगोटी पहने, हाथमें छोटी-सी लकुटी लिये, वर्षाके जलमें स्नान किया हुआ, श्याम-वर्ण, मन्द-मन्द मुसकराता हुआ गोपबालक उनकी ओर देखता हुआ अंगुलीके इशारेसे उन्हें अपनी ओर बुला रहा है। शास्त्रीजीने समझा—कोई गरीब ग्वालेका लड़का है, इसे दो-चार पैसे दे देने चाहिये। परंतु पैसा निकालनेमें बड़ी अड़चन थी; क्योंकि पैसे नोट और रुपयोंके साथ ही कमरमें बँधे थे तथा यहाँ एकान्त था। वे कुछ दूर तो बालककी ओर आगे बढ़े, फिर सहसा उनके पैर रुक गये।

वह बालक मुसकराता हुआ बोला—'पण्डितजी! देखो, तुम्हारी रुपयेकी गाँठ पूरी तो है? दो चार पैसे लेनेवाले व्रजमें बहुत मिलेंगे, उन्हें दे देना। मैं तो इन गौओंके दूधसे ही प्रसन्न रहता हूँ!'

बालककी अमृतभरी वाणीसे शास्त्रीजी विमुग्ध हो गये। वे निर्निमेष नेत्रोंसे बालककी ओर देखने लगे। साथ ही उन्हें आश्चर्य हुआ कि बालकको मेरी कमरमें बँधे रुपयोंका तथा मेरे मनकी बातका पता कैसे लग गया। फिर वह बालक बोला—'देखो! वह सामने मन्दिर दिखायी पड़ रहा है, तुम्हारी नाव वहाँ पहुँच गयी है। तुम इधर कहाँ जा रहे हो। मथुराजीकी सड़क यहाँसे दूर है और यह जगह भयानक है। तुम तुरंत यहाँसे चले जाओ।'

शास्त्रीजी तो बेसुध-से थे। इतनेमें वह बालक हँसता हुआ मुड़कर जाने लगा। शास्त्रीजी मन्त्र-मुग्धकी तरह उसके पीछे-पीछे चले। पीछे-आगे देख बालकने कहा—'जाओ, जाओ, इधर तुम्हारा क्या काम है! जाओ, अभी घूमो।' इतना कहकर बालक उन गौओंके साथ अन्तर्धान हो गया। शास्त्रीजी होशमें आये। उन्होंने बहुत खोजा, पर बालक और गौओंका पता नहीं लगा। वे हताश होकर मन्दिरपर पहुँचे। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ—मानो किसीने उनका सर्वस्व हरण कर लिया हो।

पुलिस कप्तान साहबकी गणेश-भक्ति

एक पुलिसके सीनियर सुपरिंटेंडेंट अंग्रेज सज्जन थे। एक बार उनपर कोई संकट आया। एक ब्राह्मण चपरासीने उनसे कहा—'सरकार! गणेशजी सिद्धि-दाता और सब संकटोंका नाश करनेवाले हैं। आप गणेशजीकी मूर्ति मँगवाकर उसकी पूजा कीजिये और जब किसी नये कामका आरम्भ करना हो या कहीं जाना हो तो गणेशजीका ध्यान कर लिया कीजिये।' साहबने ऐसा ही किया। उनका संकट टल गया। फिर तो वे गणेशजीकी एक सुन्दर हाथीदाँतकी मूर्तिको जेबमें ही रखने लगे। जब कहीं जाते या नया काम करते मूर्ति निकालकर हाथ जोड़कर प्रार्थना कर लेते।

उन्होंने बताया था कि गणेशजीकी कृपासे वे कभी असफल नहीं हुए।

बाँधकी रक्षा

एक अंग्रेज अफसर एक जगह बाँध बँधवाने आया। जिस दिन बाँधके पूरा होनेमें एक दिन बच रहा था, उसी दिन रातको बड़े जोरसे वर्षा आयी। अफसरने देखा कि बाँध टूट जायगा। अधीर होकर उसने अपने एक हिंदू नौकरसे उपाय पूछा।

नौकरने कहा—'सरकार! एक उपाय तो है।'

अफसरने आतुरतासे पूछा—'बताओ फिर जल्दी!

नौकर—'सरकार! आप सच्चे मनसे सामनेवाले मन्दिरमें जाकर प्रार्थना कीजिये; बाँधकी रक्षा हो जायगी।' अफसरने वैसे ही किया।

आधी राततक वर्षा होती रही। अफसरका धैर्य छूटने लगा। वह उसी समय बाँधको देखने चला गया। वहाँ जाकर उसने देखा—'बाँधपर एक विचित्र प्रकाश फैला हुआ है। दो अत्यन्त सुन्दर तरुण—एक गौर और एक श्याम रंगका पुरुष तथा एक बड़ी ही मनोहर स्त्री, तीन व्यक्ति वहाँ खड़े हैं, जहाँ बाँध टूटनेका भय है—इस प्रकार मानो बाँधकी रक्षा कर रहे हों। और आश्चर्य है कि इतनी वर्षा होनेपर भी पानी बाँधसे दो अंगुल कम ही है।'

अफसरने आदर एवं उल्लासमें भरकर घुटने टेक दिये। वह मन्दिर सीता-राम-लक्ष्मणका था; जीर्ण हो चला था। अफसरने अपने वेतनके पैसेसे उसका जीर्णोद्धार किया।

धर्मके नामपर हिंसा

एक राजा एक बार यज्ञ करने जा रहे थे। यज्ञमें बलि देनेके लिये एक बकरा उन्होंने मँगवाया। बकरा पकड़कर लाया गया तो वह चिल्ला रहा था। यह देखकर राजाने अपनी सभाके एक विद्वान्से पूछा—'यह बकरा क्या कहता है?'

पण्डित—'यह आपसे कुछ प्रार्थना कर रहा है।'

राजा—'कैसी प्रार्थना?'

पण्डित—'यह कहता है कि स्वर्गके उत्तम भोगोंकी मुझे तृष्णा नहीं है। स्वर्गका उत्तम भोग दिलानेके लिये मैंने आपसे कोई प्रार्थना भी नहीं की। मैं तो घास चरकर ही संतुष्ट हूँ। इसलिये मुझे बलि देनेके लिये आपने पकड़ मँगाया, यह उचित नहीं किया। यदि यज्ञमें बलि देनेसे प्राणी स्वर्ग जाता है तो आप अपने माता, पिता, पुत्र तथा कुटुम्बियोंकी बलि देकर यज्ञ क्यों नहीं करते?'

पण्डितकी बात सुनकर राजाको प्रतीत हो गया कि पशु-बलि अनुचित है। उन्होंने बकरेको छोड़ दिया।

—सु० सिं०

आर्यकन्याकी आराध्या

सृष्टिकी सम्पूर्ण पवित्रताकी साकार प्रतिमा निर्दिष्ट करना हो तो कोई भी बिना संकोचके किसी आर्यकुमारीका नाम ले सकता है। मृदुता, सरलता और पवित्रताका वह एकीभाव और उसकी भी आदर्शभूता श्रीजनकनन्दिनी। मर्यादा-पुरुषोत्तमने अवतार धारण किया था धर्मकी मर्यादा स्थापित करनेके लिये। मानव-कर्तव्यके महान् आदर्शोंकी स्थापना करनी थी उन्हें। उनकी पराशक्ति, उनसे नित्य अभिन्न श्रीमैथिली उनके इस महान् कार्यकी पूरिका बनीं। उन्होंने नारीके दिव्य आदर्शको मूर्त किया जगत्में।

आर्यकन्या किसकी आराधना करे ? स्त्रीका उपास्य तो पति है या पति जिसकी आराधनाकी अनुमति दे वह; किंतु कुमारी यदि आराधना करनी चाहे, यदि उसे आराधनाकी आवश्यकता हो और आवश्यकता तो है ही; क्योंकि आराधना-हीन जीवन तो शास्त्रकी दृष्टिमें जीवन ही नहीं, फिर आकाङ्क्षा न हो ऐसा हृदय गिने-चुने ज्ञानियोंका ही तो हो सकता है, किसी बालिकाके मनमें आकाङ्क्षा हो तो वह किस देवताकी शरण ले ? इसका उत्तर सोचना नहीं पड़ता। आर्यकन्याकी आराध्या हैं भगवती उमा। हिंदू-बालिका उन गौरीकी ही उपासना करती है।

श्रीजनकनन्दिनी तो आयी ही थीं धरापर नारियोंका पथ-प्रदर्शन करने। बालिकाओंको मार्ग दिखाया उन्होंने। उनका गौरी-पूजन; किंतु गौरी-पूजन करने चली थीं वे कोई विशेष संकल्प लेकर नहीं। माताने आदेश दिया था पूजनका और सखियोंके साथ आकर उन्होंने पूजन किया।

'निज अनुरूप सुभग बर माँगा।'

परंतु पूजनका फल तत्काल प्रत्यक्ष हो गया। पुष्प-वाटिकामें ही श्रीकौसल्यानन्दवर्धन रघुनाथजीके दर्शन हो गये। अपनी निधिको नेत्रोंने देखते ही पहचान लिया और आकाङ्क्षा उद्दीप्त हो उठी। आकाङ्क्षाकी पूर्तिके लिये भी शास्त्रीय मार्ग आराधना ही है और आर्यकन्या तो आराधना भी करेगी तो सतियोंकी आराध्या भगवती पार्वतीकी ही। अतः श्रीजनकनन्दिनी पुनः भगवतीके मन्दिरमें पधारीं। उन्होंने गणेश और स्वामिकार्तिककी जननी उन शम्भुप्रियासे प्रार्थना की। वे प्रार्थना करेंगी और देवी प्रसन्न नहीं होंगी—

बिनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥

आर्यकन्याकी आराध्या—सीताजीका गौरीपूजन

आर्यकन्याकी आराध्या

सृष्टिकी सम्पूर्ण पवित्रताकी साकार प्रतिमा निर्दिष्ट करना हो तो कोई भी बिना संकोचके किसी आर्यकुमारीका नाम ले सकता है। मृदुता, सरलता और पवित्रताका वह एकीभाव और उसकी भी आदर्शभूता श्रीजनकनन्दिनी। मर्यादा-पुरुषोत्तमने अवतार धारण किया था धर्मकी मर्यादा स्थापित करनेके लिये। मानव-कर्तव्यके महान् आदर्शोंकी स्थापना करनी थी उन्हें। उनकी पराशक्ति, उनसे नित्य अभिन्न श्रीमैथिली उनके इस महान् कार्यकी पूरिका बनीं। उन्होंने नारीके दिव्य आदर्शको मूर्त किया जगत्‌में।

आर्यकन्या किसकी आराधना करे? उसका उपास्य तो पति है या पति जिसकी आराधनाकी अनुमति दे वह; किंतु कुमारी यदि आराधना करनी चाहे, यदि उसे आराधनाकी आवश्यकता हो और आवश्यकता तो है ही; क्योंकि आराधना-हीन जीवन तो शास्त्रकी दृष्टिमें जीवन ही नहीं, फिर आकाङ्क्षा न हो ऐसा हृदय गिने-चुने ज्ञानियोंका ही तो हो सकता है, किसी बालिकाके मनमें आकाङ्क्षा हो तो वह किस देवताकी शरण ले? इसका उत्तर सोचना नहीं पड़ता। आर्य-कन्याकी आराध्या हैं भगवती उमा। हिंदू-बालिका उन गौरीकी ही उपासना करती है।

श्रीजनकनन्दिनी [illegible] आयी ही थीं [illegible] नारियोंको [illegible] करने। बालिकाओंको [illegible] दिखाना [illegible] गौरी-पूजन; किंतु [illegible] पूजन [illegible] कोई विशेष संकल्प [illegible] नहीं! [illegible] आदेश दिया था पूजनका [illegible] सखियोंके साथ आकर उन्होंने पूजन किया।

'निज अनुरूप सुभग बर माँगा।'

परंतु पूजनका फल तत्काल प्रत्यक्ष हो गया। पुष्प-वाटिकामें ही श्रीकौसल्यानन्दवर्धन रघुनाथजीके दर्शन हो गये। अपनी निधिको नेत्रोंने देखते ही पहचान लिया और आकाङ्क्षा उद्दीप्त हो उठी। आकाङ्क्षाकी पूर्तिके लिये भी शास्त्रीय मार्ग आराधना ही है और आर्यकन्या तो आराधना भी करेगी तो सतियोंकी आराध्या भगवती पार्वतीकी ही। अतः श्रीजनकनन्दिनी पुनः भगवतीके मन्दिरमें पधारीं। उन्होंने गणेश और स्वामिकार्तिककी जननी उन शम्भुप्रियासे प्रार्थना की। वे प्रार्थना करेंगी और देवी प्रसन्न नहीं होंगी—

विनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥

आर्यकन्याकी आराध्या—सीताजीका गौरीपूजन

ब्राह्मणीके द्वारा जीवरक्षा

(लेखक—श्रीकृपाशङ्कर जयराम)

भावनगर राज्यके खेडियार माताके मन्दिरमें चण्डी-पाठका अनुष्ठान चल रहा था। इसी बीचमें एक दिन चैत्र कृष्ण पञ्चमीको महाराज श्रीभावसिंहजी महाराजका जन्मदिन था। अतएव खेडियार माताकी विशेष पूजाके लिये महाराजके हजूरी खेडियार मन्दिरमें आये। पूजाकी सामग्री, भोग तथा बलिदानके लिये एक बकरा वे साथ लाये थे। उनके साथ प्रबन्धके लिये थानेदार तथा कुछ सिपाही भी थे।

अनुष्ठानके आचार्य भट्ट जयराम पुरुषोत्तमकी धर्म-पत्नी श्रीमती कस्तूरीबाई वहाँ थीं। उन्होंने जब सुना कि माताजीके भोगके लिये बकरेकी बलि दी जायगी, तब उनको बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने सोचा—'क्या माताजी बकरेकी हिंसाके भोगसे प्रसन्न होंगी? नहीं नहीं, ऐसा नहीं होगा। मैं ब्राह्मणकी बाला यहाँ बैठी हूँ। मेरा मस्तक चाहे उतर जाय, मैं बकरेकी बलि नहीं होने दूँगी।' यह दृढ़ विचार करके कस्तूरीबाई माताजीके द्वारके पास जाकर बैठ गयीं।

हजूरीजी पूजन-सामग्रीके साथ पधारे। बकरेको स्नान करवाकर देवीजीके सामने खड़ा किया गया। थानेदार साथ थे। ब्राह्मणीके पूछनेपर हजूरीने बताया कि 'महाराज साहबके जन्मदिनके अवसरपर देवीजीकी पूजाके लिये बकरेकी बलि दी जायगी।' ब्राह्मणीने कहा—'जबतक मैं यहाँ बैठी हूँ बकरेका बलिदान नहीं हो सकता। किसी जीवके मांससे ही देवीजी प्रसन्न होती हों तो बकरेके बदले इस ब्राह्मणपुत्रीका बलिदान कर दीजिये।' उन्होंने बड़ी दृढ़तासे अपना निश्चय बतलाया।

हजूरी तथा थानेदारने ब्राह्मणीको बहुत समझाया। महाराज साहबके नाराज होनेका डर भी दिखलाया। हमलोग वहाँ जाकर क्या उत्तर देंगे—यों अपनी मजबूरी भी व्यक्त की; परंतु ब्राह्मणी अपने निश्चयसे जरा भी नहीं हिलीं। वे बोलीं—"आप जाकर महाराज बहादुरसे कह दीजिये कि 'एक ब्राह्मणकी लड़कीने हमें बलिदान नहीं करने दिया।' फिर महाराज बहादुर जो कुछ दण्ड देंगे सो मुझे स्वीकार होगा।"

ब्राह्मणीके प्रभावसे हजूरीने अपना आग्रह छोड़ दिया। बकरेके कानके पाससे जरा-सा खून लेकर उससे देवीजीके तिलक कर दिया। बकरा छोड़ दिया गया।

हजूरीने देवीजीका पूजन करके कंसार-लपसीका भोग लगाया और उसी भोगको लेकर वे महाराजाके पास गये। बकरेका बलिदान न करनेकी सारी घटना उन्होंने सुनायी। गुणग्राही महाराज सुनकर प्रसन्न हुए और उसी दिनसे जन्म-दिनपर होनेवाला जीवोंका बलिदान बंद कर दिया गया।

गोपाल पुत्ररूपमें

बंगालमें किसी गाँवमें एक सोलह वर्षकी युवती रहती थी। जिस साल उसका विवाह हुआ उसी साल उसके पतिका देहान्त हो गया। वह इस आकस्मिक विपत्तिके कारण अत्यन्त दुखी हो गयी।

एक दिन वह अकेली बैठी रो रही थी। इसी समय उसको ऐसा लगा मानो कोई कह रहा है कि तुम पासमें रहनेवाले महात्माके पास जाओ। इस अन्तः-प्रेरणासे वह महात्माके पास जाकर फूट-फूटकर रोने लगी। तब महात्माने पूछा—'बेटी! तुम रो क्यों रही हो?'

युवतीने उत्तर दिया—'महाराज! मेरे कोई नहीं है।'

महात्मा—'बेटी! तुम इतनी झूठ क्यों बोल रही हो? तुम्हारे-जैसी झूठी तो मैंने आजतक कभी देखी ही नहीं।'

यह सुनते ही बेचारी युवती सकपका गयी। तब महात्माने कहा—'बेटी! तुमने यह कैसे कहा कि मेरे कोई नहीं है। क्या भगवान् भी मर गये हैं। वे तो सबके अपने हैं। सबके परम आत्मीय हैं। जिसके कोई नहीं होता वे तो उसके होते ही हैं। तुम उनका चाहे जिस रूपमें भजन कर सकती हो। भजन करोगी तो सदा उनको अपने पास पाओगी। तुम चाहो तो उन्हें अपना बेटा बना लो।'

युवतीने बहुत सोचकर भगवान्‌को अपना पुत्र बना लिया।

अब वह प्रतिदिन भगवान्‌के लिये भोजन बनाती और थालमें परसकर अपने गोपालको बुलाती। उसे अनुभव होता मानो गोपाल रोज आकर मैयाका दिया भोजन बड़े चावसे खाता है। इस प्रकार तीस साल बीत गये। अब वह युवती बूढ़ी हो गयी।

एक बार वह रामकृष्ण परमहंसके दर्शन करने गयी। गोपाल देर होनेसे भूखा न रह जाय, इसलिये उसने अपने गोपालके लिये थोड़ी-सी दाल और चावल साथ ले लिये। सोचा, खिचड़ी बनाकर खिला दूँगी गोपालको।

जब वह परमहंसजीके यहाँ पहुँची, तब उसने देखा कि बहुत बड़े-बड़े आदमी उनके चारों ओर बैठे हैं। यह देखकर वह वापस जाने लगी। इसी समय स्वयं परमहंसजी अपने आसनसे उछले और उसको बुला लाये तथा कहने लगे कि 'माता! तुम मेरे लिये खिचड़ी बनाओ। मुझे बड़ी भूख लगी है।' बेचारी वृद्धा कृतार्थ हो गयी। परमहंसजी उसे चौकेमें ले गये और कहने लगे—'माता! जल्दी बनाओ।'

खिचड़ी तैयार हो गयी तो उसने एक पत्तलमें उसे परसा; किंतु परमहंसजीको बुलानेमें उसे संकोच होने लगा। परमहंसजी वृद्धाके मनकी बात जान गये और स्वयं ही आकर खिचड़ी खाने लगे। थोड़ी देर बाद वृद्धाने देखा कि परमहंसके स्थानपर उसका गोपाल प्यारा बैठा है। वह ज्यों ही पकड़ने दौड़ी कि वह भाग गया।

तबसे वह पागल-सी रहने लगी। कभी कहती 'उसने खाकर हाथ नहीं धोये, कभी कहती कि वह इत्र की शीशी चुरा लाया।' ऐसी दशा होनेके बादकी एक चमत्कारपूर्ण घटना यह है—

लोगोंमें बात फैल गयी थी कि बुढ़ियाको भगवान्‌के दर्शन होते हैं। अतः एक बार कुछ लोगोंने उससे भगवान्‌के दर्शन करानेके लिये प्रार्थना की। उसने भगवान्‌से कहा। किंतु उन्होंने ऐसा भाव प्रकट किया मानो वे दर्शन देना नहीं चाहते तथापि वृद्धाकी बातका आदर करनेके लिये वे एक क्षणके लिये वृद्धाके सामनेसे अदृश्य हो गये और कहींसे एक इत्रकी शीशी ले आये। वृद्धा यह देखकर बोली कि 'यह इत्र तू कहाँसे चुरा लाया?' यह सुनते ही गोपालने शीशी फोड़ दी। लोगोंको दर्शन तो नहीं हुए; किंतु सभीको शीशी फूटनेका शब्द सुनायी पड़ा तथा इत्रकी सुगन्ध चारों ओर फैल गयी।

उस वृद्धाकी दशा—जबतक वह जीवित रही—ऐसी ही रही।

भगवान्‌के दर्शन

एक महात्मा थे। एक बार एक आदमी उनके पीछे पड़ गया कि 'मुझे भगवान्‌के दर्शन करा दो।' उन्होंने कहा—'मुझे ही नहीं हुए तो मैं तुम्हें कहाँसे करा दूँ।' अन्तमें उन्होंने कहा कि 'जाड़ेके दिनोंमें, पासके जंगलमें केवल एक वस्त्र पहनकर किसी पेड़के नीचे बैठ जाना।' उसने स्वीकार कर लिया।

उसने उनके कथनानुसार काम किया। रातके तीन पहर बीत गये। किंतु कुछ नहीं हुआ, यह देखकर उसे बड़ा क्रोध आया।

थोड़ी देर बाद श्रीकृष्ण एक छोटे-से बच्चेका रूप बनाकर आये और उससे बातें करने लगे।

श्रीकृष्ण—'तुम यहाँ क्यों बैठे हो?'

सज्जन—'एक ब्राह्मणके चक्करमें पड़कर बैठा हूँ।'

श्रीकृष्ण—'तुम्हारे पास कोई कम्बल नहीं है?'

सज्जन—'तुमसे क्या मतलब। तुम मुझे यह सब पूछकर क्यों तंग करते हो?'

श्रीकृष्ण—'मैं तो यों ही जंगलमें आया करता हूँ। गाय चराता हूँ। आया और पूछ लिया। तुम किस ब्राह्मणके चक्करमें पड़ गये।'

सज्जन—'तुम मुझे तंग मत करो भैया।'

श्रीकृष्ण—'तुम चोर तो नहीं हो।'

सज्जन—'कह दिया न, तुमसे क्या मतलब। चले जाओ यहाँसे।'

श्रीकृष्ण—'अच्छा मैं जाता हूँ।' यह कहकर वे जाने लगे। इतनेमें कुछ सुन्दर-सुन्दर गायें आ गयीं और श्रीकृष्ण चले गये।

थोड़ी देर बाद उसके मनमें आया कि यह कौन है। इतनेमें उसे मुरलीकी आवाज सुनायी दी। वह उस तरफ दौड़ा; किंतु फिर उन्हें न पा सका।

सेवा-कुञ्जमें दर्शन

वृन्दावनमें सेवाकुञ्ज नामक एक स्थान है। यह प्रचलित है कि रातको वहाँ दिव्य रास होता है। इसीलिये रातको वहाँ कोई नहीं रहता।

एक बार एक पंजाबी महात्माके मनमें आया कि 'चाहे कुछ भी हो मैं तो रास देखकर ही रहूँगा।' बस रातको वे वहाँ दीवालपर चढ़कर देखने लगे, किंतु उन्हें कुछ दिखायी न दिया। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। अन्तमें तीसरे दिन उन्होंने निश्चय किया कि यदि आज दर्शन न होंगे तो मैं यहीं प्राण त्याग दूँगा। उस दिन भी तीन पहर रात बीत गयी।

इसी समय उनको ऐसा मालूम पड़ा कि मानो करोड़ों चन्द्रमा एक ही साथ उदय होकर अपनी शीतल सुधामयी चाँदनी छिटका रहे हों। उसके कुछ देर पश्चात् यह दीखा कि 'सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ आ रही हैं। सबके पीछे श्रीराधाकृष्ण गलबहियाँ देकर आ रहे हैं। राधाजीने कहा—'आज तो मुझे यहाँ मनुष्यकी-सी गन्ध आ रही है।'

श्रीकृष्णने कहा—'नहीं, वह तो अपना ही आदमी है, कहो तो बुलाऊँ।'

राधाजीने कहा—'बुलाइये।' वे महात्मा तो सुन ही रहे थे। ज्यों ही श्रीकृष्णने इशारा किया कि कूदकर अंदर चले गये।

श्रीराधाकृष्णने उनको अपना रास दिखा दिया और फिर कभी आनेको मना कर दिया।

उस दिनसे जबतक वे जीये, पागलकी तरह ही रहे। मरते समय यह बात उन्होंने अपने शिष्यको बतायी थी।

प्रभुकी वस्तु

एक भक्तके एक ही पुत्र था और वह बड़ा ही सुन्दर, सुशील, धर्मात्मा तथा उसे अत्यन्त प्रिय था। एक दिन अकस्मात् वह मर गया। इसपर वह प्रसन्न हुआ और उसने भगवान्का उपकार माना। लोगोंने उसके इस विचित्र व्यवहारपर आश्चर्य प्रकट करते हुए उससे पूछा—'पागल ! तुम्हारा एकलौता बेटा मर गया है और तुम हँस रहे हो। इसका क्या कारण है?' उसने कहा—'मालिकके बगीचेमें फूला हुआ बहुत सुन्दर पुष्प माली अपने मालिकको देकर प्रसन्न होता है या रोता है? मेरा तो कुछ है ही नहीं, सब कुछ प्रभुका ही है। कुछ समयके लिये उनकी एक चीज मेरी सँभालमें थी, इससे मेरा कर्तव्य था—मैं उसकी जी-जानसे देख-रेख करूँ, अब समय पूरा होनेपर प्रभुने उसे वापस ले लिया, इससे मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है और मैं उसका उपकार इसलिये मानता हूँ कि मैंने उनकी वस्तुको न मालूम कितनी बार अपनी मान लिया था—न जाने कितनी बार मेरे मनमें बेईमानी आयी थी। उसकी देख-रेखमें भी मुझसे बहुत-सी त्रुटियाँ हुई थीं, परंतु प्रभुने मेरी इन भूलोंकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर मुझे कोई उलाहना नहीं दिया। इतनी बड़ी कृपाके लिये मैं उनका उपकार मानता हूँ तो इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है?'

देवीजीके दर्शन

एक महात्मा थे। वे एकान्तमें देवीजीकी पूजा करते थे। एक दिन जब वे पूजा कर रहे थे उनके मनमें आया कि माता मुझे दर्शन दें। उसी समय उनको दिखायी पड़ा कि एक बिल्ली साड़ी पहनकर पिछले दो पैरोंसे चल रही है। एक बार तो उनको डर लगा फिर उन्होंने मातासे प्रार्थना की कि 'माँ ! अपने पुत्रको इस प्रकार मत डराओ।' उसी समय बिल्ली देवीके रूपमें प्रकट हो गयी और उनका चढ़ाया हुआ नैवेद्य देवीजीने ग्रहण कर लिया।

भक्तकी रक्षा

एक भक्त ब्राह्मणदम्पति थे। उनके मनमें सदा यह इच्छा बनी रहती थी कि 'हम कहाँ जायँ जिससे हमें भगवान्के दर्शन हो जायँ।'

अन्तमें उन्होंने वृन्दावन जानेका निश्चय किया और वे चल पड़े। गोवर्द्धनके पास रात हो गयी। वे वहाँ ठहरनेका विचार करके पासकी एक बस्तीमें चले गये।

उसी समय स्त्रीको दिखायी पड़ा कि गोवर्द्धन पर्वत-पर श्रीकृष्ण और श्रीराधा बैठे हैं और यहाँ ठहरनेको मने कर रहे हैं। स्त्री अपने पतिके साथ वहाँसे चली गयी।

वास्तवमें वह डोमोंकी बस्ती थी। डोमोंने यह सोचा था कि 'इनको मारकर इनका धन ले लेंगे।'

वहाँसे जानेपर उनको स्वप्न हुआ कि 'वह डोमोंकी बस्ती थी। उनका विचार तुमलोगोंको मारनेका था। इसलिये हमने तुमको मना किया था।'

भगवान् सबकी रक्षा करते ही हैं।

अंधा हो गया

एक महात्मा थे। वे एक बार किसी किलेके सामने बैठे थे। उस समय मुगलराज्य था। एक सिपाहीने उनको भगा दिया, पर वे फिर आकर बैठ गये। इस तरह तीन बार हुआ। तब अफसरने उनको तोपके मुँह उड़ा देनेकी आज्ञा दी। दो बार तोप छोड़ी गयी, पर वे महात्मा बैठे हँसते रहे। तब अफसरने एक बार अपने सामने तोप छोड़नेकी आज्ञा दी। कहते हैं कि वह अफसर तभी अंधा हो गया और महात्मा उठकर कहीं चले गये!

वात्सल्य

एक महिला थी। उसका नाम था कान्हबाई। वह श्रीकृष्णके बाल-रूपकी भक्ति करती थी। कहा जाता है कि जब वह श्रीकृष्णको पालनेमें झुलाती, तब वे स्वयं मूर्तिमान् हो जाते और वह उनको जिस प्रकार एक छोटे बालकको झुलाया जाता है वैसे ही झुलाने लगती। होते-होते श्रीकृष्ण उसको बिल्कुल माताकी तरह आनन्द देने लगे। वे अब हर समय उसके सामने प्रकट रहते। वे कभी उसको खानेके लिये कुछ बनानेके लिये कहते, कभी और कुछ काम करनेके लिये कहते रहते तथा वह भक्तिमती महिला सदा उनकी इच्छाके अनुरूप कार्य करती रहती।

एक बार वह भगवान्‌को शयन कराके किसी उत्सवमें चली गयी। किसी कारणवश रात्रिको न लौट सकी। अधिक रात्रि बीतनेपर कान्हबाई तथा वहाँ उपस्थित अन्यान्य सज्जनोंमेंसे भी पाँच-सातको ऐसा सुनायी पड़ने लगा—मानो कोई बालक रोता हुआ कह रहा है—'मैया! मुझे डर लग रहा है।' यह सुनते ही कान्हबाईने कहा कि 'मेरा बच्चा रो रहा है।' और उसी समय वह घबरायी हुई-सी वहाँसे उठकर घर चली गयी। और जाकर भगवान्‌को थपथपाकर—फुसलाकर शयन कराया।

जब उसका अन्तकाल समीप आया, तब श्रीकृष्णने कहा—'मैया! अब तू यहाँसे चल।' यह कहकर भगवान् उसकी आत्माके साथ चले गये तथा उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

इस तरह अपने भावके कारण उसने भगवान्‌को भी अपने वशमें कर लिया।

वात्सल्यवती वृद्धा

एक भक्तिमती वृद्धा श्रीराधाके बालरूपका ध्यान कर रही थी। ध्यानमें श्रीराधाने काजल न लगवानेका हठ पकड़ लिया। वह भाँति-भाँतिसे उसको फुसला रही थी। वह कह रही थी कि 'तू काजल लगाये बिना कन्हैयासे खेलने जायगी तो वह तेरी हँसी उड़ायेगा।' यह कहकर वह काजल लगानेकी कोशिश करने लगी। इससे काजल फैल गया और श्रीराधाकी आँखोंमें जल भर आया। यह देखकर वृद्धाने अपने आँचलसे उनको पोंछ दिया। जब उसकी आँखें खुलीं, तब उसने देखा कि उसके आँचलमें श्रीराधाके दिव्य अश्रुओंसे सिञ्चित काजल लगा है। वह यह देखकर गद्‌गद हो गयी और अपने प्रति श्रीराधाकी कृपा देखकर आत्म-विस्मृत हो गयी। उसके नयनोंसे अविरल प्रेमाश्रु बहने लगे। कहते हैं कि वह दिव्य कज्जल वृद्धाके आँचलमें दस-बारह घंटेतक रहा। तदनन्तर वह स्वयमेव अन्तर्हित हो गया।

कुष्ठीके रूपमें भगवान्

पटना शहरमें कोई ब्राह्मण रहते थे । उनका नियम था—प्रतिदिन एक ब्राह्मणको भोजन कराके तब स्वयं भोजन करते ।

एक दिन इसी तरह वे किसी ब्राह्मणकी खोजमें थे कि एक व्यक्तिने, जिसके हाथ-पैरोंमें गलित कुष्ठ हो रहा था, कहा कि 'मैं ब्राह्मण हूँ ।' उसके ऐसा कहनेपर उन्होंने उसको अपने घर चलनेके लिये आग्रह किया और उनको लाकर उसी आसनपर आदरपूर्वक बैठाया, जिसपर वे प्रतिदिन ब्राह्मण-अतिथिको बैठाया करते थे तथा उनके चरणको उसी परातमें धोया । पर गलित कुष्ठ होनेके कारण उस परातका जल पीब तथा खूनके रूपमें बदल गया । उनका यह नियम था कि वे प्रतिदिन ब्राह्मणका चरणोदक पान किया करते थे । इसी नियमके अनुसार उन्हें आज भी पान करना था । वे आँखें बंद करके चरणोदकको हाथमें लेकर भगवान्‌का स्मरण करते हुए पी गये ।

कहते हैं कि उसके पान करते ही वे समाधिस्थ हो गये । वे गृहस्थ लगातार सोलह दिनोंतक इसी दशामें रहे । सतरहवें दिन उनका शरीर शान्त हो गया ।

उस ब्राह्मणीने लोगोंको यह बताया—'वे ब्राह्मण, जो भोजन करने आये थे, स्वयं भगवान् थे । मैं उनके दर्शनकी अधिकारिणी नहीं थी, पर सदा पतिदेवके अतिथि-सेवा-कार्यमें सहयोग देती थी, इसीलिये भगवान्ने मुझे भी दर्शन दे दिये ।'

शिव-पार्वतीकी कृपा

एक अयाची-वृत्तिके महात्मा काशी गये । सुबहसे शाम हो गयी, पर न तो उन्होंने किसीसे कुछ माँगा और न कुछ खाया । संध्याको एक वृद्ध उनके पास आये और उनको कुछ खानेको दिया, तब उन्होंने खाया । इस तरह वे वृद्ध रोज आकर उनको खिला देते । एक दिन एक वृद्धा भी वृद्धको ढूँढ़ती हुई वहाँ आयी । अब उसने आकर वृद्धके साथ भोजन बनाकर उनको दिया । उसी दिन रातको उनको स्वप्न आया कि तुम्हारे मनमें यह दृढ़ विश्वास था कि 'काशीमें भगवान् शिव-पार्वतीके दर्शन हो ही जायँगे । इसीलिये हम-लोग वृद्ध-वृद्धा बनकर आये थे ।' यह स्वप्न देखकर महात्मा भाव-विह्वल होकर फूट-फूटकर रोने लगे ।

अन्त मति सो गति

सौराष्ट्रमें थानगढ़ नामक छोटेसे गाँवमें बेचर भक्त नामक एक सरल हृदय परम भक्त रहते थे । इनके घर एक बार एक साधु आये । उन्हें द्वारकाजी जाना था । जाते समय वे कपड़ेमें लपेटी हुई एक छोटी-सी पुस्तक बेचरजीको यह कहकर दे गये कि, 'तुम इसको अपने पास रक्खो, मैं द्वारकासे लौटकर ले लूँगा ।'

बहुत दिन हो गये; महात्माजी लौटे नहीं, तब बेचर भक्तने विचार किया कि महात्माजी आये नहीं, देखें इसमें क्या है । भक्तजीने कपड़ा खोलकर पुस्तक देखी तो उसमें एक छोटा-सा साँपका बच्चा दिखलायी दिया । उन्होंने उसे सँडासीसे पकड़कर दूर फेंक दिया पर थोड़ी ही देरमें वह फिर आकर पुस्तकपर बैठ गया । इसपर भक्तजीके मनमें आया कि इसमें कोई रहस्य अवश्य होना चाहिये । उन्होंने पुस्तकका जिल्द तोड़कर देखा तो उसमें पाँच रुपये थे । भक्तजीने रुपये निकालकर पुस्तकसे अलग रख दिये, तो क्या देखते हैं कि

सर्पका बच्चा तुरंत पुस्तकसे हटकर रुपयोंपर आ बैठा। इससे बेचर भक्तके मनमें यह संदेह हुआ कि कदाचित् उन साधुजीका देहान्त हो गया हो और रुपयोंमें वासना रहनेके कारण अन्तकालमें रुपयोंमें मन रहा हो तथा इसीसे वे सर्प हो गये हों। तब भक्तजीने हाथमें जल लेकर संकल्प किया कि 'महाराजजी! आपकी यदि इन रुपयोंमें वासना रही हो तो इन पाँच रुपयोंमें सवा रुपया अपनी ओरसे और मिलाकर मैं साधुओंको भोजन करा दूँगा।' यों कहकर उन्होंने जल नीचे छोड़ दिया। सर्पका बच्चा जल छोड़ते ही तुरंत वहीं मर गया।

विवाहमें भी त्याग

श्रीगोंदवलेकर महाराजकी पहली पत्नीका देहान्त हो चुका था। दो-चार माहके बाद उनकी माँने उन्हें दूसरी शादी करनेपर मजबूर किया। मातृभक्तिके कारण महाराज ना नहीं कह सके; परंतु उन्होंने माँसे एक शर्त मंजूर करा ली कि वे स्वयं अपनी दूसरी पत्नीको पसंद करेंगे। शर्तपर ही क्यों न हो, किंतु महाराज विवाह करनेको राजी तो हो गये। घरके सब लोग इससे प्रसन्न थे।

घरमें विवाहकी बातचीत चलने लगी। गाँवके और दूसरे गाँवोंके लोग अपनी-अपनी विवाहयोग्य कन्याओंको लेकर महाराजके पसंदके लिये गोंदावले आने लगे; परंतु महाराजने सभीपर अस्वीकृतिकी मुहर लगाना शुरू कर दिया। लोगोंको चिन्ता हुई कि महाराज शादी करेंगे या नहीं।

महाराजकी चिन्ता तो अलग ही थी। वे पूरे अन्तर्ज्ञानी थे। आटपाडी गाँवके निवासी श्रीसखाराम पंत देशपांडे नामक गरीब ब्राह्मण अपनी नेत्रहीन कन्याके विवाहकी चिन्तामें रात-दिन डूबा रहता है, यह जानकर महाराज दयार्द्र हो गये। वे आटपाडी गये और ब्राह्मणसे मिलकर उन्होंने कहा कि 'मैं एक गोसावी हूँ, आप चाहें तो अपनी कन्याका विवाह मेरे साथ कर सकते हैं।' रोटीके एक टुकड़ेको तरसनेवाला मानो बढ़िया पकान्न पा गया। ब्राह्मणने अपनी कन्याका विवाह महाराजसे कर दिया।

भगवन्नामसे रोगनाश

(१)

कुछ वर्ष पूर्वकी घटना है। एक सेठजी गाँजा पीनेकी आदतसे लाचार थे। वे एक बार एक संन्यासीके पास गये और भगवत्-मार्गमें लगनेकी तदबीर पूछने लगे। जब स्वामीजीको गाँजाकी बात मालूम हुई, तब उन्होंने सेठजीसे बाततक भी न की और उन्हें बिदा कर दिया। दूसरे दिन सेठजी आकर रोने लगे। स्वामीजीने कहा—'तुम रातको सोनेके पूर्व दस हजार भगवन्नाम ले लिया करो।'

आश्चर्य! थोड़े ही दिनोंमें उनकी यह बुरी आदत बिल्कुल छूट गयी।

(२)

डाक्टरोंने एक विद्वान् सज्जनके खंखारकी परीक्षा कर यक्ष्मा घोषित कर दिया। अब तो वे बेचारे क्षयरोगके आतङ्कसे लगे गलने और लगे जगह-जगहकी खाक छानने। सभी प्रमुख डाक्टर-वैद्योंकी शरणमें गये और उन सबकी चिकित्सा करायी, पर वह सब निष्फल गयी।

एक दिन निराश होकर वे घरसे भाग निकले। थोड़ी ही दूर गये थे कि थक गये और हारकर गिर पड़े। उसी रास्तेसे कुछ वैष्णव साधु जा रहे थे जो चिमटे

बजा-बजाकर जोर-जोरसे 'सीताराम सीताराम' गा रहे थे। इन सज्जनने भी पूरी शक्ति लगाकर 'सीताराम सीताराम' कहना शुरू किया। अब वे 'सीताराम' मन्त्र-जपकी शरण हो गये। पता लगनेपर घरवाले उन्हें उठाकर घर लाये, पर उन्होंने 'सीताराम' कहना नहीं छोड़ा।

कुछ ही दिनों बाद उनकी हालत सुधरने लगी और वे बिल्कुल ठीक हो गये। तदनन्तर उन्होंने इस सीतारामके अतिरिक्त किसी भी डाक्टर-वैद्यकी औषधको—जिसे वे जहर कहते थे, कभी न लेनेकी ही शपथ कर ली।

(३)

एक आदमीके सिरमें भयानक पीड़ा थी। वह दर्दके मारे कराह रहा था। उसको एक दूसरे मित्रने राम-राम कहकर कराहनेकी सम्मति दी। पता नहीं उसने क्या किया? पर एक दूसरे सज्जनने उसे ध्यानमें रख लिया, क्योंकि उन्हें भी सिर-दर्द होता था। अब जब उन्हें सिर-दर्द होता, तब वे रामनामका प्रयोग आरम्भ कर देते। उन्हें तत्काल लाभ होने लगा। अन्तमें इस रोगने उनका पिण्ड ही छोड़ दिया।—जा० श०

रामनामसे शराबकी आदत भी छूटी

एक मुंशीजी थे। वे थे तो बड़े अच्छे ओहदेपर, पर थे पुराने पियक्कड़। शराबसे जो हानि होती है वह तो विख्यात है। सारा धन और माल साफ होने लगा। एक दिन काशीके प्रसिद्ध योगी महात्मा श्रीश्यामाचरण लाहिड़ीसे इनकी मुलाकात हुई। उन्होंने बतलाया, 'भाई! रामनाम कहा करो, और कोई रास्ता नहीं है।' मुंशीजीने वैसा ही किया। फिर क्या था, सदाके लिये बोतलसे छुट्टी मिल गयी।

भगवत्प्राप्तिके लिये कैसी व्याकुलता अपेक्षित

एक शिष्यने अपने गुरुसे पूछा—'भगवन्! भगवत्प्राप्तिके लिये किस प्रकारकी व्याकुलता होनी चाहिये?' गुरु मौन रहे। शिष्य भी उनका रुख देखकर शान्त रह गया। दूसरे दिन स्नानके समय गुरु-शिष्यने एक ही साथ नदीमें गोता लगाया। गुरुने शिष्यको पकड़कर एकाएक जोरसे पानीमें दबाया। वह बड़े जोरसे छटपटाया और किसी प्रकार तड़प-कूद मचा बाहर निकल आया। स्वस्थ होनेपर गुरुने पूछा—'पानीसे निकलनेके लिये कितनी आतुरता थी तुम्हारे मनमें।'

शिष्य बोला—'बस, एक क्षण और पानीमें रह जाता तो मर ही गया था।'

गुरुने कहा—'बस, जिस क्षण संसाररूपी जलसे बाहर निकलकर अपने परम प्रियतम प्रभुसे मिलनेके लिये यों ही व्याकुल हो उठोगे, उसी क्षण तुम्हारी व्याकुलता उचित रूपमें व्यक्त होगी और वह प्रभुको प्राप्त करा सकेगी।'

लक्ष्य और साधना

एक मुमुक्षुने अपने गुरुदेवसे पूछा—'प्रभो! मैं कौन-सी साधना करूँ?'

'तुम बड़े जोरसे दौड़ो। दौड़नेके पहले यह निश्चित कर लो कि मैं भगवान्‌के लिये दौड़ रहा हूँ। बस, यही तुम्हारे लिये साधना है।' गुरुने बतलाया।

'तो क्या बैठकर करनेकी कोई साधना नहीं है।' शिष्यने पुनः पूछा।

'है क्यों नहीं। बैठो और निश्चय रक्खो कि तुम

भगवान्‌के लिये बैठे हो।' गुरुने उत्तर दिया।

'भगवन्! कुछ जप नहीं करें?' शिष्यने पुनः प्रश्न किया।

'किसी भी नामका जप करो, सोचो मैं भगवान्‌के लिये कर रहा हूँ।' गुरुने समझाया।

'तब क्या क्रियाका कोई महत्त्व नहीं? केवल भाव ही साधना है।' शिष्यने फिर पूछा।

गुरुने कहा—'भैया! क्रियाकी भी महत्ता है। क्रियासे भाव और भावसे ही क्रिया होती है। इसलिये दृष्टि लक्ष्यपर रहनी चाहिये। फिर तुम जो कुछ करोगे, वही साधना होगी। भगवान्‌पर यदि लक्ष्य रहे तो वे सबको सर्वत्र सर्वदा मिल सकते हैं। ऐसा है ही कौन जिसे भगवान् नहीं मिले हुए हैं। लक्ष्य यदि ठीक रक्खा जाय तो साधना स्वयमेव ठीक हो जायगी।'

भगवान् सदा साथ हैं

एक महात्मा थे। उन्होंने स्वयं ही यह घटना अपने एक मित्रको सुनायी थी। वे बोले—'मेरी आदत है कि मैं तीन बजे उठकर ही शौच-स्नान कर लेता हूँ और भजन करने बैठ जाता हूँ। एक बार मैं वृन्दावनके समीप ठहरा हुआ था। वर्षाके दिन थे, यमुनाजी बहुत बढ़ी हुई थीं। मैं तीन बजे उठा; शौचके लिये चल पड़ा। घोर अंधकार था और मूसलधार वृष्टि हो रही थी। आगे जानेपर मुझे भय लगने लगा। मैंने भगवान्‌को स्मरण किया। तुरंत ही मुझे ऐसा लगा कि मानो मेरे भीतर ही कोई अत्यन्त मधुर स्वरमें बिलकुल स्पष्ट मुझे कह रहा हो—'डरते क्यों हो भाई! मैं तो सदा ही तुम्हारे साथ रहता हूँ; जो मेरा आश्रय पकड़ लेता है, उसके साथ ही मैं निरन्तर रहता हूँ।' बस, यह सुनते ही मेरा भय सदाके लिये भाग गया। अब मैं कहीं भी रहूँ—मुझे ऐसा लगता है कि भगवान् मेरे साथ हैं। हाँ, उनके प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होते।'

उन महात्माको एक बड़ा विचित्र अनुभव बचपनमें भी हुआ था।

× × ×

एक महात्मा थे। सर्वत्र घूमा करते थे। कहीं एक जगह टिककर नहीं रहते थे। हाँ, उनके मनमें एक इच्छा सदा बनी रहती थी—'कहाँ जाऊँ कि मुझे भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हो जायँ।' इस प्रकार पंद्रह-बीस वर्ष बीत गये पर भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए। एक दिन उनके मनमें आया—'चलो, गिरिराजके पास, वहाँ तो दर्शन हो ही जायँगे।' इसी विचारसे वे जाकर गिरिराजकी परिक्रमा करने लगे। एक दिन वे थककर बैठे थे; एक पेड़की छायामें विश्राम कर रहे थे। इतनेमें दीखा—'श्रीराधाकृष्ण एक झाड़ीकी ओटसे निकलकर चले जा रहे हैं।' देखते ही महात्माकी विचित्र दशा हो गयी। किंतु इतनेमें ही न जाने कहाँसे दो बंदर लड़ते हुए महात्माजीके बिल्कुल पासमें ही कूद पड़े। महात्माजीका ध्यान आधे क्षणके लिये—न जाने कैसे—उधरसे हटकर बंदरकी ओर चला गया। इतनेमें तो प्रिया-प्रियतम अन्तर्हित हो चुके थे। फिर तो महात्माजी फूट-फूटकर रोने लगे।—कु० रा०

सरयूजीसे रास्ता

श्रीअवधमें सरयूके किनारे एक महात्मा थे। वे एक ऊँचे मचानपर रहते थे। वे किसीसे बोलते नहीं थे। जब उनको भगवान्‌के दर्शन करनेकी मनमें आती तब वे सरयूजीसे कहते 'बहिनी! तनि रस्तवा द हो'—यह कहकर सरयूमेंसे जाकर कनकभवनमें भगवान्‌का दर्शन करके फिर इसी तरह कहकर वापस मचानपर आ जाते थे।—कु० रा०

बिहारीजी गवाह

वृन्दावनके पास एक ब्राह्मण रहता था । एक समय ऐसा आया कि उसके सभी घरवालोंकी मृत्यु हो गयी । केवल वही अकेला बच रहा ।

उसने उन सबका श्राद्ध आदि करना चाहा और इसके लिये अपना मकान गिरवीं रखकर एक सेठसे पाँच सौ रुपये उधार लिये ।

ब्राह्मण धीरे-धीरे रुपये सेठको लौटाता रहा, पर सेठके मनमें बेईमानी आ गयी । ब्राह्मणने धीरे-धीरे प्रायः सब रुपये लौटा दिये । दस-बीस रुपये बच रहे । सेठने उन रुपयोंको उसके खातेमें जमा नहीं किया । बहीके दूसरे पन्नेपर लिख रक्खा और पूरे रुपयोंकी ब्राह्मणपर नालिश कर दी ।

ब्राह्मण एक दिन मन्दिरमें बैठा था कि उसी समय कोर्टका चपरासी नोटिस लेकर आया । नोटिस देखकर ब्राह्मण रोने लगा । उसने कहा कि 'मैंने सेठके करीब-करीब सारे रुपये चुका दिये । फिर मुझपर नालिश क्यों की गयी ।'

चपरासीने पूछा—'तुम्हारा कोई गवाह भी है ?'

उसने कहा—'और कौन गवाह होता, हाँ, मेरे बिहारीजी सब जानते हैं, वे जरूर गवाह हैं !'

चपरासीने कहा—'रोओ मत, मैं कोशिश करूँगा ।'

चपरासीने जाकर जज साहबसे सारी बातें कहीं । जज साहबने समझा—'कोई बिहारी नामक मनुष्य होगा ।' उन्होंने बिहारीके नामसे गवाही देनेके लिये एक नोटिस जारी कर दिया और चपरासीको दे आनेके लिये कहा ।

चपरासीने आकर ब्राह्मणसे कहा—'मैं गवाहको नोटिस दे दूँ, बताओ वह कहाँ रहता है ?'

ब्राह्मणने कहा—'भैया ! तुम मन्दिरकी दीवालपर साट दो ।' चपरासी नोटिस साटकर चला गया ।

जिस दिन मुकदमेकी तारीख थी उस दिनकी पहली रात्रिको ब्राह्मण रातभर मन्दिरमें बैठा रोता रहा । सूर्योदयके समय उसको कुछ नींद-सी आ गयी । तब उसको ऐसा मालूम पड़ा मानो श्रीबिहारीजी कह रहे हैं—'घबरा मत, मैं तेरी गवाही दूँगा ।' अब तो वह निश्चिन्त हो गया ।

वह अदालतमें गया । वहाँ जब जजने बिहारी गवाहको बुलानेकी आज्ञा दी, तब तीसरी आवाजपर—'हाजिर है !' कहकर एक सुन्दर युवक कटघरेके पास आकर खड़ा हो गया और जजकी तरफ देखने लगा । जजने ज्यों ही उसको देखा, उनके हाथसे कलम गिर गयी और वे पंद्रह मिनटतक वैसे ही बैठे रहे । उनकी पलक नहीं पड़ी । न शरीर ही हिला । कुछ बोल भी नहीं पाये । पंद्रह मिनट बाद जब होश आया, तब उन्होंने बिहारी गवाहसे सारी बातें पूछीं । बिहारी गवाहका केवल मुँह खुला था, बाकी अपने सारे शरीरको वह एक कम्बलसे ढके हुए था । उसने कहा—'मैंने देखा है—इस ब्राह्मणने सारे रुपये चुका दिये हैं । थोड़ेसे रुपये बाकी होंगे । मैं सदा इसके साथ जाया करता था ।' यह कहकर उसने एक-एक करके सारी बातें बतानी शुरू कर दीं । उसने कहा—'रुपये सेठने इसके खातेमें जमा नहीं किये हैं । बहीके दूसरे पन्नेमें एक दूसरे नामसे जमा है । मैं बहीका वह पन्ना बता सकता हूँ ।' तब जज उसको साथ लेकर सेठकी दूकानपर पहुँचे । वहाँ जानेपर बिहारी गवाहने सब बताना शुरू किया । वह जो-जो बोलता गया, जज वही देखते गये और अन्तमें जिस पन्नेमें जिस नामसे रुपये जमा थे, वह पन्ना मिल गया । जजने सारी रकम बिहारीके बतानेके अनुसार जमा पायी । इसके बाद ज्यों ही जजने आँख उठाकर देखा तो वहाँ कोई नहीं था । कचहरीमें जाकर जजने कड़ा फैसला लिखा और वहीं बैठे-बैठे स्तीफा लिखकर संन्यास ग्रहण कर लिया । —कु० रा०

पहले ललिताजीके दर्शन कीजिये

एक महात्मा वृन्दावनके पास वनमें बैठे थे। उनके मनमें आया कि सारी उम्र ऐसे ही बीत गयी, न भगवान्‌के दर्शन हुए, न उनके किसी सखाके ही हुए।

इसी समय काली घटा छा गयी और बड़े जोरसे पानी बरसने लगा। किंतु वे महात्मा वहाँसे उठे नहीं। दो घंटेतक लगातार मूसलधार पानी बरसता रहा, अब उनको ठंड लगने लगी।

इसी समय उनको दिखायी दिया कि साड़ी पहने एक छोटी-सी सुकुमार लड़की पानीपर छप-छप करती आ रही है।

लड़की—'महाराज! आप यहाँ क्यों बैठे हैं।'

महात्मा—'ऐसे ही।'

लड़की—'क्या आपको अभी किसीके दर्शन नहीं हुए।'

महात्माको उसकी बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह लड़की कौन है और कैसे मेरे मनकी बात जान गयी। वे उसकी ओर देखने लगे, कुछ बोले नहीं, तब लड़कीने कहा—'अच्छा, अब आप पहले ललिताजीके दर्शन करिये।' इतना कहकर वह तुरंत अदृश्य हो गयी। महात्माजी बड़े प्रसन्न हुए।

एक बार उनके चेचक निकल आयी। उस समय वे वृन्दावनसे दो सौ मील दूर थे। उनके बहुत प्रार्थना करनेपर एक सज्जन टैक्सी करके उनको वृन्दावन ले आये।

ज्यों ही उनसे कहा गया कि वृन्दावन आ गया, उनको भगवान्‌के दर्शन हो गये और वे इस शरीरको छोड़कर चले गये।—कु० रा०

मेरे तो बहिन-बहनोई दोनों हैं

जनकपुरमें एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी। उसके एक छोटा लड़का था।

एक बार वह कुछ लोगोंके साथ चित्रकूट जा रही थी। रास्तेमें विधवाका लड़का अकेला एक जंगलमें चला गया। वह मिल नहीं रहा था; किंतु विधवाके मनमें यह दृढ़ विश्वास था कि 'रामजी अपने सालेको कहीं खोने नहीं देंगे।' (जनकपुरकी होनेके कारण वह अपनेको श्रीरामललाजीकी सास मानती थी।)

इधर लड़का जंगलमें घूम रहा था कि उसको एक तेजस्विनी स्त्री मिली। उसने बड़े प्यारसे उससे पूछा—'भैया! तुम मेरे साथ चलोगे?'

लड़केने कहा—'तू कौन है?'

स्त्री—'मैं तेरी बहिन हूँ।'

इसी समय एक सुन्दर तरुण पुरुष वहाँ आ पहुँचा और उसने कहा—'यह अपने घर नहीं जायगा, मैं इसको अभी इसकी माँके पास पहुँचा आता हूँ।'

उधर विधवा और उसके साथवाले लोग भी रास्ता भूल गये थे। चलते-चलते उनको घास काटती हुई एक स्त्री मिली। उसने उनको ठीक रास्ता बता दिया। आगे फिर एक पुरुष मिला। उससे भी रास्ता पूछकर वे लोग आगे बढ़े। वहाँ जानेपर विधवाको उसका लड़का मिल गया। वह बहुत ही प्रसन्न था। जब उससे पूछा गया तब उसने बताया कि 'माँ! तू तो कहती थी कि तेरे कोई नहीं है। मेरे तो बहिन-बहनोई दोनों हैं।' उसने सारा प्रसङ्ग सुनाया, जिसे सुनकर विधवा गद्गद हो गयी।—कु० रा०

विश्वास करके लड़की यमुनाजीमें पार हो गयी

एक लड़की थी। एक दिन उसने एक पण्डितजीको कथा कहते हुए सुना कि 'भगवान्‌का एक नाम लेनेसे मनुष्य दुस्तर भवसागरसे पार हो जाते हैं।' उसे इन वचनोंपर दृढ़ विश्वास हो गया।

एक दिन वह यमुनाके उस पार दही बेचने गयी। वहाँसे लौटते समय देर हो गयी। इसलिये माझीने उसे पार नहीं उतारा।

इसी समय लड़कीके मनमें आया कि जब एक नामसे दुस्तर भवसागरसे पार हुआ जाता है, तब यमुनाको पार करना क्या मुश्किल है। बस, वह विश्वासके साथ 'राधेकृष्ण-राधेकृष्ण' करती हुई यमुनाजीमें उतर गयी। उसने देखा कि उसकी साड़ी भी नहीं भीग रही है और वह चली जा रही है। तब तो और स्त्रियाँ भी उसीके साथ 'राधेकृष्ण-राधेकृष्ण' कहकर पार आ गयीं।

जब कथावाचक पण्डितजीको इस बातका पता लगा तब वे लड़कीके पास आये और कहने लगे 'क्या तुम मुझको भी इसी तरह पार कर सकती हो।' 'हाँ' लड़कीने कहा।

वे उसके साथ आये। यमुनामें उतरे, पर भीगनेके डरसे कपड़े सिकोड़ने लगे तथा डूबनेके भयसे आगे बढ़नेसे रुकने लगे। लड़कीने यह देखकर कहा—'महाराज! कपड़े सिकोड़ोगे या पार जाओगे?' पण्डितजीको विश्वास नहीं हुआ। इससे वे पार तो नहीं जा सके, पर उनको झलक-सी पड़ी कि दो सुन्दर हाथ आगे-आगे जा रहे हैं और वह उनके पीछे-पीछे चली जा रही है।

हिंसाका कुफल

(लेखक—श्रीलीलाधरजी पाण्डेय)

कुछ समय पूर्व बलरामपुरमें झारखंडी नामक शिव-मन्दिरके निकट बाबा जानकीदासजी रहते थे। वैराग्य एवं सदाचारमय जीवन ही उनका आदर्श था।

शिवमन्दिरके निकट पश्चिमकी ओर एक बृहत् सरोवर अब भी वर्तमान है। उसमें 'सुखी मीन जहँ नीर अगाधा' की भाँति स्वच्छन्द रूपसे असंख्य मछलियाँ निवास करती थीं। मछलियोंके ऊपर बाबाकी करुणाकी छत्रछाया थी। फलस्वरूप किसीको भी तालाबकी मछलियोंको मारनेका साहस नहीं होता था, यद्यपि तालाबके किनारे मांसा-हारियोंकी ही बस्ती थी। बाबाके अहिंसा-व्रतके फलस्वरूप मछलियोंको न मारनेकी घोषणा नगरभरमें व्याप्त थी।

एक बारकी बात है कि उस नगरमें एक मुसल्मान दारोगा स्थानापन्न होकर आया। बाबाकी घोषणा उसके कानोंमें भी पड़ गयी। कट्टर यवन बाबाकी इस घोषणासे जल उठा और उसने तालाबमें मछली मारनेका पक्का निश्चय कर लिया। क्रोधसे जलता हुआ वह बाबाकी हस्ती देखनेपर उतारू हो गया। फलतः उसने अपने सालेको मछली मारनेके लिये तालाबपर भेजा। किंतु 'जाको राखे साइयाँ मारि सके ना कोय' मध्याह्न-तक खोज करते रहनेपर भी एक मछली भी उसके हाथ न आ सकी। बाबाजीने सुना कि दारोगाजीका साला तालाबमें मछलियोंका शिकार कर रहा है, तो वे अविलम्ब उसके पास जाकर बोले—'बेटा! मैं किसीको भी इस तालाबकी मछलियोंको नहीं मारने देता हूँ। अपनी बंसी निकालकर चले जाओ। बेचारी गरीब मछलियोंको न मारो।'

बाबाकी बात सुनकर वह सरोष चला गया और घर पहुँचकर सारा समाचार दारोगासे कहा।

उसके कथनपर दारोगा क्रोधसे तिलमिला उठा। दूसरे ही दिन अन्य साधनों और कर्मचारियोंके सहित मछलियोंका शिकार करनेके लिये उसने अपने सालेको यह कहकर भेजा कि 'तुम चलो, काम शुरू करो, हम अभी आते हैं।' उसने पहुँचते ही मछलियोंको मारना शुरू किया। बाबाजी यह सुनते ही वहाँ पहुँचकर कुछ रोषभरे शब्दोंमें उसे फटकारने लगे—'मैंने तुमको कल ही रोक दिया था; किंतु तुमने मुझे शक्तिहीन समझकर नहीं माना। जानते नहीं हो, इस तालाबकी मछलियोंके रक्षक श्रीहनुमान्जी हैं!' तबतक दारोगा भी आ पहुँचा था। वह हनुमान्जीका नाम सुनते ही आगबबूला हो उठा और बाबाको मारनेके लिये अपने सालेको ललकारा। वह बाबापर झपटा ही था कि एक अज्ञात और अदृश्य शक्तिने उस नराधमको तालाबकी अथाह जलराशिमें विलीन कर दिया। सब लोग भयभीत हो गये और चारों ओर हाहाकार मच गया।

काठसे मारे हुए दारोगाजी किसी भाँति शवको निकलवाकर चुपचाप चले गये!

साधु-महात्माको कुछ देकर आना चाहिये

(लेखक—डा० श्रीयतीशचन्द्र राय)

स्वामीजी श्रीभोलानन्दगिरिजी महाराज कटकमें बाबू देवेन्द्रनाथ मुखर्जीके घर ठहरे थे। कालेजके चार छात्र स्वामीजीके दर्शनार्थ वहाँ गये। छात्रोंने जाकर चरणोंमें प्रणाम किया। स्वामीजीने बड़े मधुर स्वरमें कहा—'बच्चो! साधु या देवताके दर्शनार्थ जाना हो तब उन्हें देनेके लिये कुछ भेंट ले जानी चाहिये। नहीं तो, बड़ा अपराध होता है। तुमलोग यहाँ साधु-दर्शनके लिये आये हो तो मुझे कुछ दे जाना चाहिये।'

छात्रोंने सोचा कि 'स्वामीजी कुछ रुपये चाहते हैं। वे मनमें सोचने लगे, हम गरीब छात्र रुपया-पैसा कहाँसे लायें।' इतनेमें ही स्वामीजी हँसकर बोले—'देखो बच्चो! रुपये-पैसेकी बात मत सोचो। मुझे तो तुम यह वचन दे जाओ कि मेरी कही हुई चार बातें याद रक्खोगे और इनका पालन करोगे। कभी भूल हो जाय तो कुछ पैसे दण्डस्वरूप देवपूजन या गरीब-सेवामें लगा दोगे। वे चार बातें ये हैं—

(१) कभी मिथ्या न बोलना।

(२) परचर्चा नहीं करना।

(३) शपथ नहीं करना और

(४) चरित्रनाश कभी न होने देना।

बस, हमारी यही शिक्षा है।' छात्रोंने आदेश स्वीकार किया। स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए। उन छात्रोंमें एक मैं भी था। लंबा काल बीत गया, पर स्वामीजीकी अमर-वाणी मेरे हृदयमें बैठी हुई है।

बाबा! शेर बनकर गीदड़ क्यों बनते हो?

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

प्रसिद्ध संत श्रीतपसीबाबाजी महाराज बड़े घोर तपस्वी संत थे। जो भी रूखा-सूखा मिल जाता, उसीसे पेट भर लेते और निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहते। सब कुछ त्याग होनेपर भी आपने देखा कि मुझसे और सब तो छूट गया, पर दूध पीनेकी इच्छा बनी रहती है, दूध पिये बिना चैन नहीं पड़ती और इससे भजनमें बड़ा विघ्न पड़ता है।' अतः आपने एक दिन अपने मनको कड़ी लताड़ देते हुए कहा—'मैं आज प्रतिज्ञा करता हूँ, जीवनभर कभी दूध नहीं पीऊँगा।' इसीके साथ अन्न-फल-

फूल आदि खाना भी छोड़ दिया और सारे शरीरके वस्त्र भी उतारकर फेंक दिये। वस्त्रोंकी जगह आप मूँजकी लंगोटी बाँधा करते थे और शरीरपर भस्म लगाया करते थे। भोजनमें वृक्षोंके पत्ते धूनीमें उबालकर उनका गोला बनाकर खा लिया करते थे। इस प्रकारके कड़े नियमोंका लगातार पैंतालीस वर्षों-तक पालन होता रहा। हजारों दर्शनार्थी आते रहते, पर आप न तो किसीसे कुछ लेते और न किसीसे बातें करते। हर समय तपस्यामें संलग्न रहते। पैंतालीस वर्ष पश्चात् एक दिन आपका मन दूधकी ओर चला और दर्शन करने आयी हुई एक माईसे आपने कहा—'आज रात्रिको हम दूध पीयेंगे।' वह माई धनी घरानेकी थी और बड़ी ही बुद्धिमती भी थी। उसे यह पता लग चुका था कि महाराजकी जीवनभर दूध न पीनेकी प्रतिज्ञा की हुई है।

माईने कहा कि 'अच्छा महाराज! रात्रिको दूध आ जायगा।' उसने पंद्रह-बीस घड़े भरकर दूध मँगवाया और उनमें मीठा मिलाकर बाबाकी कुटियाके बाहर लाकर रखवा दिया। जब बाबा कुटियामेंसे तपस्या करके बाहर निकले, तब माईने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! मैं लोभी नहीं हूँ। आपके लिये दूधके घड़ेपर घड़े भरकर लायी हूँ। चाहे जितना दूध आप पीयें। दूधकी कमी नहीं है। पर प्रभो! एक बात याद रखिये। आज आप शेरसे गीदड़ बनने क्यों जा रहे हैं? पैंतालीस वर्षतक जिस प्रतिज्ञाको आपने निभाया, अब अन्तिम समय उसे भंग करके कायरताका परिचय क्यों दे रहे हैं?' बाबाकी आँखें खुल गयीं। अरे, मन कितना धोखेबाज है, कितना चालाक है। मैं समझ गया। बाबा माईके चरणोंमें झुक गये। 'देवी! तुमने इस पापी मनके जालसे मुझे बचा लिया। नहीं तो, मैं आज मारा जाता। इस मनीरामका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। यह न जाने कब धोखा दे दे।'

भगवतीने कन्यारूपसे टटिया बाँधी

(लेखक—श्रीहरिश्चन्द्रदासजी बी०ए०)

भक्तशिरोमणि कविवर रामप्रसाद सेनने अपने जीवन-कालमें ही देवी उमाका साक्षात्कार किया था। इतनी थी उनकी प्रगाढ भक्ति एवं भगवतीके चरणोंकी लवलीनता। कहा जाता है कि एक बार आपने अपनी कुटियाके लिये कुछ बाँसके डंठल, घास-फूस एवं डोरी लेकर टटिया (बेड़ा) बाँधनेका उपक्रम किया। समय था अपराह्ण काल। भक्तप्रवरने सोचा कि क्यों नहीं माँ उमा (उनकी लड़कीका नाम) से ही सहायता लेकर बेड़ा बाँध लिया जाय। उन्होंने 'माँ उमा, माँ उमा' कह-कर पुकारा। माँ उमा (उनकी लड़की) उस समय अपनी सखियोंके घर खेलने गयी थी। उनको इसका क्या पता था। वे तो दो-चार बार माँ उमाको पुकारकर अपने कार्यमें लग गये। सङ्गीत उनके हृदयसे निःसृत हो रहा था, जिसमें उनकी तपी-तपायी भक्तिका भाव-स्रोत फूट रहा था और वे थे भावमें तल्लीन। इस पारसे डोरीको उन्होंने दिया, परंतु उस ओरसे डोरी तो आनी ही चाहिये। नहीं तो, बेड़ा बँधता किस तरह! भगवती उमाने अपने बेटेके कष्ट एवं निश्छलताको देखा और माँ दौड़ पड़ी संतानकी मददके लिये। फिर तो क्या था। दोनों ओरसे डोरी आ-जा रही थी और इस तरह वह बेड़ा बँधकर सङ्गीत-लहरीके शेष होते-होते तैयार हो गया। माँकी कैसी विडम्बना? संतानकी पुकारपर क्षणभरमें दौड़ पड़ना और फिर आँखोंसे ओझल!

ठीक उसी समय आती है उनकी कन्या माँ उमा। उमाने आते ही आश्चर्यसे पूछा कि 'बाबा! क्या ही बढ़ियाँ बेड़ा बाँधा है आपने, क्योंकर आपसे अकेले ऐसा सम्भव हो

पाया। पिताने स्मित हँसी हँसकर कहा कि 'बेटी! बिना तेरी मददके यह क्योंकर सम्भव हो पाता, तूने ही तो उस ओरसे डोरी दे-देकर मेरी सहायता की और तभी तो यह सुन्दर बेड़ा बँधकर सामने है।' कन्याके आश्चर्यका कोई ठिकाना नहीं रहा, जब उसने अपनी मददकी बातें सुनीं तब बतलाया कि वह तो अपनी सहेलियोंके साथ खेल रही थी। वह तो अभी-अभी बेड़ाके बँध जानेपर आयी है। पहले तो रामप्रसादजीने सहसा विश्वास ही नहीं किया। परंतु कन्याके बार-बार कहनेपर उनको बड़ा ही आश्चर्य हुआ और तब भक्तने समझा कि भगवती उमाने ही आकर उनकी सहायता की थी और भक्तप्रवर फूट-फूटकर रोने लगे एवं सङ्गीतलहरी फिर पूर्वकी तरह प्रवाहित हो चली। यह उनके जीवनकी एक सच्ची किंतु अलौकिक घटना है, जिसका उनके एक तत्सम्बन्धी सङ्गीतसे भी पता चलता है—

मन केन मार चरण छाड़ा॥
ओ मन भाव शक्ति, पाबे मुक्ति, बाँधो दिया भक्ति दड़ा
समय थाकते ना देखले मन, केमन तोमार कपाल पोड़ा
मा भक्ते छलिते, तनया रूपेते बाँधेन आसि घरेर बेड़ा
जेई ध्याबे एक मने, सेई पाबे कालिका तारा
ताई देखो कन्यारूपे, रामप्रसादेर बाँधछे बेड़ा॥१॥

अर्थ यों है—

रे मन! तुमने माँके चरणको क्यों छोड़ दिया? ओ मन! शक्तिरूपिणी माँका चिन्तन करो, तुम्हें मुक्ति प्राप्त होगी। भक्तिरूपी रस्सीसे उसे बाँध लो। रे मन! तुमने समय रहते माँको नहीं देख पाया, तुम्हारा कैसा जला हुआ कपाल था। भक्तको छलनेके लिये माँने कन्या रूपमें आकर घरका बेड़ा बाँध दिया। जो एक मनसे माँका ध्यान करेगा, वही माँ कालिका ताराको पायेगा। तभी तो माँ उमाने कन्या-रूपसे रामप्रसादका बेड़ा बाँधा।

अद्भुत उदारता

बंगालके सुप्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी सत्पुरुष अघोरनाथजीके पिता श्रीयादवचन्द्र राय फारसी तथा संस्कृत भाषाके उच्च-कोटिके विद्वान् थे, ईश्वरभक्त थे और अत्यन्त दयालु थे। वे बहुत ही त्यागी तथा परिग्रहरहित व्यक्ति थे। एक रात्रि उनके घरमें चोर घुसे। चोरोंने घरका एक-एक कोना छान मारा; किंतु ले जाने योग्य कोई वस्तु उन्हें मिली नहीं। श्रीयादवचन्द्रजी जाग रहे थे। चोरोंकी गति-विधि देख रहे थे। वे धीरेसे उठे और चिलममें तम्बाकू भरकर हुक्का लिये चोरोंके सामने आ खड़े हुए। नम्रतापूर्वक बोले—'भाइयो! आपलोगोंने परिश्रम बहुत किया; किंतु लाभ कुछ नहीं हुआ। अब कृपा करके तम्बाकू तो पीते जाइये।' बेचारे चोर तो लज्जा और ग्लानिके मारे श्रीयादवचन्द्रजीके पैरोंपर ही गिर पड़े।

सेवाका अवसर ही सौभाग्य है

श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर अपने मित्र श्रीगिरीशचन्द्र विद्यारत्नके साथ बंगालके कालना नामक गाँव जा रहे थे। मार्गमें उनकी दृष्टि एक लेटे हुए मजदूरपर पड़ी। उसे हैजा हो गया था। मजदूरकी भारी गठरी एक ओर लुढ़की पड़ी थी। उसके मैले कपड़ोंसे दुर्गन्ध आ रही थी। लोग उसकी ओरसे मुख फेरकर वहाँसे शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे। बेचारा मजदूर उठनेमें भी असमर्थ था।

'आज हमारा सौभाग्य है।' विद्यासागर बोले।

'कैसा सौभाग्य?' विद्यारत्नने पूछा।

विद्यासागरने कहा—'किसी दीन-दुखीकी सेवाका अवसर प्राप्त हो, इससे बढ़कर सौभाग्य क्या होगा। यह बेचारा यहाँ मार्गमें पड़ा है। इसका कोई स्वजन समीप होता तो क्या इसको इसी प्रकार पड़े रहने देता। हम दोनों इस समय इसके स्वजन बन सकते हैं।'

एक दरिद्र, मैले-कुचैले दीन मजदूरका उस समय स्वजन बनना, जब कि हैजे-जैसे रोगमें स्वजन भी दूर भागते हैं—परंतु विद्यासागर तो थे ही दयासागर और उनके मित्र विद्यारत्न भी उनसे पीछे कैसे रहते। विद्यासागरने उस मजदूरको पीठपर लादा और विद्यारत्नने उसकी भारी गठरी सिरपर उठायी।

दोनों कालना पहुँचे। मजदूरको रहनेकी सुव्यवस्था की, एक वैद्यजीको चिकित्साके लिये बुलाया और जब मजदूर दो-एक दिनमें उठने-बैठने योग्य हो गया, तब उसे कुछ पैसे देकर वहाँसे लौटे।

नौकरके साथ उदार व्यवहार

श्रीताराकान्त राय बंगालके कृष्णनगर राज्यके उच्च पदपर नियुक्त थे। नरेश उन्हें अपने मित्रकी भाँति मानते थे। बहुत समयतक तो वे राजभवनके ही एक भागमें निवास करते थे। उस समय जाड़ेकी ऋतुमें एक दिन वे बहुत अधिक रात बीतनेपर अपने शयन-कक्षमें पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि उनका एक पुराना सेवक उनकी शय्यापर पैतानेकी ओर सो रहा है। श्रीरायने एक चटाई उठायी और उसे बिछाकर चुपचाप भूमिपर ही सो गये।

कृष्णनगरके नरेशको सबेरे-सबेरे कोई उत्तम समाचार मिला। प्रसन्नताके मारे नरेश स्वयं श्रीरायको वह समाचार सुनाने उनके शयन-कक्षकी ओर चले आये। नरेशने उनका नाम लेकर पुकारा, इससे रायमहोदय हड़बड़ाकर उठ बैठे। शय्यापर सोया नौकर भी जाग गया और डरता हुआ दूर खड़ा हो गया।

राजाने समाचार सुनानेसे पहले पूछा—'राय महाशय! यह क्या बात है? आप भूमिपर सोते हैं और सेवक शय्यापर।'

श्रीरायने कहा—'मैं रातमें लौटा तो यह शय्याके पैताने सो गया था। मुझे लगा कि इसका स्वास्थ्य ठीक नहीं होगा अथवा यह बहुत अधिक थक गया होगा काम करते-करते। शय्यापर तनिक लेटते ही नींद आ गयी होगी। जगा देनेसे इसे कष्ट होता और चटाईपर सो जानेमें मुझे कोई असुविधा थी नहीं।'

भगवान्का विधान

एक समयकी घटना है। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी अध्यात्मका प्रचार कर रहे थे; दैवयोगसे वे लाहौर जा पहुँचे। एक धर्मशालामें ठहरे हुए थे। आधी रातको अचानक नींदका परित्याग कर उठ बैठे। वे चिन्तामग्न थे।

'मेरा जीवन पाप-चिन्ताके अधीन है। कहनेके लिये तो मैं हूँ उपदेशक, पर मनमें पापका ही राज्य है। भगवान्की भक्ति नहीं मिल सकी मुझे।' उनका रोम-रोम काँप उठा। वे पश्चात्तापसे क्षुब्ध थे। वे आधी रातमें अपने कमरेका दरवाजा खोलकर राजपथपर गये और थोड़ी देरमें भगवती राबीके तटपर आ पहुँचे।

नदीका वेग शान्त था। जल स्थिर था। निर्जन तटकी विकरालता बड़ी भयावनी थी। विजयकृष्ण गोस्वामी महोदयने जलमें दाहिना पैर डाला ही था कि वे सहसा चौंक उठे एक अपरिचित आवाजसे।

'क्या करते हो? लौट जाओ। आत्महत्या पाप है।' किसीने दूरसे ही सावधान किया।

'मैं नहीं लौट सकता। इस शरीरको राबीकी मध्य-धारामें प्रवाहित करके ही रहूँगा। इसने आजतक पाप-ही-पाप कमाये हैं। दुनियाको सत्य-पालनका उपदेश देकर स्वयं असत्यका आचरण किया है इसने।' महात्मा विजयकृष्ण अपने निश्चयपर दृढ़ थे।

'वत्स! शरीर-नाशसे पापका नाश नहीं होता है। यदि तुम ऐसा समझते हो तो यह तुम्हारी भूल है। तुम्हारे शरीर-नाशका समय अभी नहीं आया है। तुम्हें भगवान्की कृपासे अभी बड़े आवश्यक कार्य करने हैं। भगवान्का विधान पहलेसे निश्चित रहता है। उसमें हेर-फेर असम्भव है। तुम्हारा काम केवल इतना ही है कि विश्वेश्वर परमात्माकी लीलाके दर्शन करो।' एक महात्माने तत्काल प्रकट होकर उनको आत्महत्यासे रोका।

महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीकी निराशाका अन्त हो गया अपरिचित महात्माके उद्बोधनसे और वे धर्मशालामें लौट आये।

अद्भुत उदारता

सेवाका अवसर

नौकरसे उदार व्यवहार

भगवान्‌का विधान

सबमें भगवद्दर्शन

ठीकरी-पैसा बराबर

शरीरका सदुपयोग

आत्म-सम्बन्ध
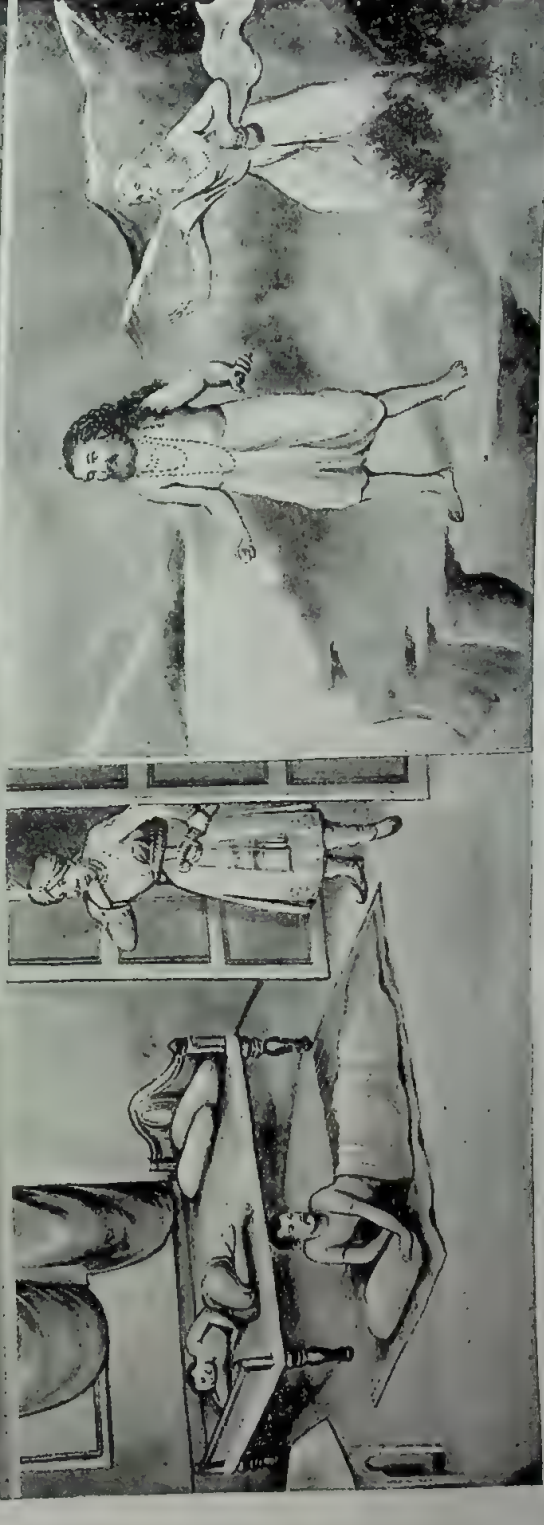
सबमें भगवद्दर्शन

नाग महाशयकी झोंपड़ी पुरानी हो चुकी थी। उसकी मरम्मत आवश्यक थी। मजदूर बुलाया गया। परंतु जब वह इनके घर पहुँचा तो नाग महाशयने उसे हाथ पकड़कर चटाईपर बैठाया। आप तम्बाकू भर लाये चिलममें उसको पीनेके लिये। वह छप्परपर चढ़ने लगा तो रोने लग गये—'इतनी धूपमें भगवान् मेरे लिये श्रम करेंगे!'

बहुत प्रयत्न करनेपर भी मजदूर रुका नहीं, छप्परपर चढ़ गया तो आप छत्ता लेकर उसके पीछे जा खड़े हुए। उसके मस्तकपर पसीना आते ही हाथ जोड़ने लगे—'आप थक गये हैं। अब कृपा करके नीचे चलिये। कम-से-कम तम्बाकू तो पी लीजिये।'

इसका परिणाम यह हुआ था कि जब ये घरसे कहीं चले जाते थे, तब मजदूर इनके घरकी मरम्मतका काम करते थे।

× × ×

'आप बैठिये! बैठिये भगवन्! आपका यह सेवक है न! आपकी सेवा करनेके लिये।' नौकापर बैठते तो नाग महाशय मल्लाहके हाथसे डाँड़ ले लेते थे। मल्लाहोंको बड़ा संकोच होता था कि वे बैठे रहें और एक परोपकारी सत्पुरुष परिश्रम करता रहे। परंतु नाग महाशयसे यह कैसे सहा जाय कि उनकी सेवाके लिये भगवान् श्रम करें और सभी रूपोंमें भगवान् ही हैं, यह उनका विचार-विश्वास नहीं, दृढ़ निश्चय था।

ठीकरी पैसा बराबर

परमहंस रामकृष्णदेव गङ्गा-किनारे बैठ जाते थे एक ओर रुपये-पैसोंका ढेर लगाकर और एक ओर कंकड़ोंकी ढेरी रखकर। एक मुट्ठीमें पैसे और एकमें कंकड़ लेकर वे कहते—'यह कंकड़, यह पैसा' और फेंक देते दोनों मुट्ठी गङ्गामें।

'ये कंकड़' वे पैसोंकी मुट्ठीको देखकर कहते और फिर कंकड़ोंकी मुट्ठीको देखकर कहते—'ये पैसे!' दोनों मुट्ठी फिर गङ्गाजीमें विसर्जित हो जातीं।

परमहंसदेवके इस अभ्यासके फलस्वरूप ऐसी स्थिति हो गयी कि उनके शरीरसे कोई धातु भूलसे छू जाती तो वह अङ्ग सूना पड़ जाता। बहुत देरमें उस अङ्गकी चेतना लौटती।

शरीरका सदुपयोग

एक समय स्वामी विवेकानन्दको इस बातका बड़ा दुःख हुआ कि उन्होंने अभीतक ईश्वरका दर्शन नहीं किया, भगवान्की अनुभूति नहीं प्राप्त की। उस समय वे परिव्राजक जीवनमें थे। उन्होंने अपने-आपको धिक्कारा कि मैं कितना अभागा हूँ कि मनुष्य-शरीर पाकर भी ईश्वरका साक्षात्कार नहीं कर सका। उन्हें बड़ी आत्म-ग्लानि हुई।

उन्होंने वनमें प्रवेश किया। सूर्य अस्ताचलको जा चुके थे। समस्त वन अन्धकारसे परिपूर्ण था। स्वामीजी भूखसे विह्वल थे। थोड़े ही समयके बाद उन्हें एक शेर दीख पड़ा। स्वामीजी प्रसन्नतासे नाच उठे।

'भगवान्ने ठीक समयपर इस शेरको भेजा है। बेचारा भूखा है। मैं भी भूखा हूँ। पर मैं अपने शरीरको इससे बचाऊँ क्यों? इस शरीरके द्वारा मैं ईश्वरका साक्षात्कार नहीं कर सका, इसलिये इसको रखनेका कोई उद्देश्य ही नहीं है।'

स्वामीजीने ऐसा सोचकर अपने-आपको सौंप देनेका निश्चय किया। वे सिंहके सामने खड़े हो गये उसके खाद्यरूपमें, पर शेरकी हिंसात्मक वृत्ति उनके दर्शनसे बदल गयी और वह दूसरे रास्तेपर चला गया।

आत्मसम्बन्ध

स्वामी रामतीर्थ जापानसे अमेरिका जा रहे थे। प्रशान्त महासागरका वक्ष विदीर्ण करता हुआ उनका जहाज सान फ्रांसिसकोके एक बंदरगाहपर आ लगा। सब यात्री उतर गये। जहाजके डेकपर स्वामी रामतीर्थ टहल रहे थे। ऐसा लगता था कि वे जहाजसे उतरना ही नहीं चाहते हों। एक अमेरिकन सज्जन उनकी गति-विधिका निरीक्षण कर रहे थे।

'आपका सामान कहाँ है ? आप उतरते क्यों नहीं हैं ?' अमेरिकन सज्जनका प्रश्न था।

'जो कुछ मेरे शरीरपर है उसके सिवा मेरे पास दूसरा कोई सामान नहीं है।' भारतीय संन्यासीके उत्तरसे जागतिक ऐश्वर्यमें मग्न रहनेवाले अमेरिकनका आश्चर्य बढ़ गया। स्वामीजीका गेरुआ वस्त्र उनके गौर-वर्ण, तप्तस्वर्ण शरीरपर आन्दोलित था मानो पाताल देशकी राजसिकतापर विजय पानेके लिये सत्यका अरुण केतन फहरा रहा हो। वे मन्द-मन्द मुसकरा रहे थे, ऐसा लगता था मानो उनके हृदयकी करुणा नये विश्वका उद्धार करनेके लिये विकल हो गयी हो।

'आपके रुपये-पैसे कहाँ हैं।' सज्जनका दूसरा प्रश्न था।

'मैं अपने पास कुछ नहीं रखता। समस्त जड-चेतनमें मेरी आत्माका रमण है। मैं अपने (आत्म) सम्बन्धियोंके प्रेमामृतसे जीवित रहता हूँ। भूख लगनेपर कोई रोटीका टुकड़ा दे देता है तो प्यास लगनेपर [illegible] पिला देता है। समस्त विश्व मेरा है। इस विश्वमें [illegible] करनेवाला सत्य ही मेरा प्राण-देवता है। कभी पेड़ [illegible] नीचे रात कटती है तो कभी आसमानके तारे गिन[illegible] गिनते आँखें लग जाती हैं।' त्याग-मूर्ति रामने वेदान्त तत्त्वका प्रतिपादन किया।

'पर यहाँ अमेरिकामें आपका परिचित कौन है ?' स्वामीजीसे अमेरिकन महानुभावका यह तीसरा प्रश्न [illegible]

'(मुसकराते हुए बोले)—आप। भाई ! अमेरिका[illegible] तो केवल मैं एक ही व्यक्तिको जानता हूँ। चाहे [illegible] परिचित कह लें या मित्र अथवा साथीके नामसे पुका[illegible] लें और वह व्यक्ति आप हैं। महात्मा रामतीर्थने उन[illegible] कंधेपर हाथ रख दिया। वे संन्यासीके स्पर्शसे धन्य [illegible] गये। स्वामीजी उनके साथ जहाजसे उतर पड़े। न[illegible] दुनियाकी धरतीने उनकी चरण-धूलिका स्पर्श कि[illegible] वह धन्य हो गयी।

'स्वामी रामतीर्थ हिमालयकी कन्दराओंसे उदय हो[illegible] वाले सूर्यके समान हैं। न अग्नि उनको जला सकती है, न अस्त्र-शस्त्र उनका अस्तित्व नष्ट कर सकते हैं। आनन्दाश्रु उनके नेत्रोंसे सदा छलकते रहते हैं। उनकी उपस्थितिमात्रसे हमें नवजीवन मिलता है।' अमेरिकन सज्जनके ये उद्गार थे भारतीय आत्ममान[illegible] के प्रति।

मेहतरके लिये पगड़ी

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

दिल्लीमें अनेकों प्रसिद्ध लाला हुए; परंतु जो लालाई लाला महेशदासको नसीब हुई, उसका शतांश भी और किसीके हिस्सेमें नहीं आया। दिल्लीके बच्चे-बच्चेकी जबानपर उनका नाम था और दिलपर उनकी छाप। वे प्रतिष्ठित घरानेके थे, धन-वैभवसे सुसम्पन्न थे; दूर-दूरतक उनकी पहुँच थी;—यह सब ठीक, परंतु उनकी ख्याति इनमेंसे एकपर भी आश्रित न थी। उसका रहस्य तो था उनकी परदुःख-कातरतामें,

प्रत्येकके लिये सदैव सर्वत्र सहज सुलभ असीम आत्मीयतामें। जन-जन उनके घरको अपना घर और उनके तन-मन-धनको अपना तन-मन-धन समझता था; उनके साथ एकान्त आत्मीयताका अनुभव करता था।

ठीक-ठीक कैसे थे लाला महेशदास ?—इसका कुछ अनुमान निम्नलिखित उनकी एक जीवन-झाँकीसे हो सकेगा—

एक दिनकी बात है। सुबहके समय जब लाला महेशदासके यहाँकी मेहतरानी उनके यहाँ मैला कमाने आयी, तब वह एकदम उदास थी। उसका मुँह बिल्कुल उतरा हुआ था। आँखें मुर्झायी-मुर्झायी, सूखी-सूखी और वीरबहूटी-सी लाल थीं। ऐसा लगता था जैसे घंटों उसे लगातार रोते रहना पड़ा हो और अभी भी बादल छाये हुए हों। लाला महेशदासकी धर्मपत्नी लालाइनने उसे देखा तो तुरंत समझ गयीं कि कोई बात है। सहानुभूतिभरे स्वरमें पूछा—'क्यों, क्या बात है ?—ऐसी क्यों हो रही है ?'

घिरे बादल सहानुभूतिका स्पर्श पाते ही पुनः बरस पड़े, रोते-रोते मेहतरानी बोली—

'कुछ न पूछो बहूजी ! हम तो मर लिये। जिसकी आबरू गयी, उसका रहा क्या !'

'कुछ बता भी तो बात क्या है ?'

लालाइनके स्वरमें अपनायत और प्रखर हुई।

मेहतरानीने डूबते-उतराते ठंडी साँस भरते कहा—

'क्या बताऊँ बहूजी! मौत है मौत ! आज तुम्हारे मेहतरको जात-बाहर कर देंगे। पंचायत है तीसरे पहर मैदानमें।'

'जात-बाहर कर देंगे ! आखिर उसका अपराध ?'

'अपराध तो है ही बहूजी ! बिना अपराध सजा थोड़े ही मिलती है—पंच-परमेसरके दरबारसे !'

'फिर भी ऐसा किया क्या उसने ?'

'उनका किया मेरे मुँहपर कैसे आये बहूजी ! आप भी औरत हैं। मर्द लाख बुरा हो, पर औरतके मुँहपर उसकी बुराई कैसे आये ! फिर भी इतना मुझे भरोसा है कि यदि अबकी बार माफी मिल जाय तो वे आगे सदा नेक चलनसे चलेंगे। और नहीं तो, बहूजी ! हम दीनके रहेंगे, न दुनियाके। बाल-बच्चे बीरान हो जायेंगे। तुम्हारा ही भरोसा है। लालाजीसे कह देखो तनिक।'

इतना कह मेहतरानी फूट-फूटकर रोने लगी। रह-रहकर उसकी सुबकियोंका स्वर आता था और लालाइनका कलेजा चीरा जाता था। लालाइनने कुछ क्षण सोचा; फिर बोलीं—

'भरोसा तो रखना चाहिये भगवान्‌का ! हमारी बिसात क्या ? पर तू चिन्ता न कर। भगवान् सब भली करेंगे।'

मेहतरानीके कमा कर चले जानेके पश्चात् लालाइन लालाजीके पास आयीं और उन्हें उसकी सारी व्यथा कह सुनायीं। कुछ-कुछ भनक तो बैठकमें बैठे लालाजीके कानोंमें पहिले ही पड़ गयी थी; अब सारी बात खुलासा समझ धीरेसे दुःखभरे स्वरमें बोले—

'दिल तो मेरा भी बहुत भरा आ रहा है; पर मामला बेढब है। पार पड़ती दिखायी नहीं देती।'

'यह सब मैं नहीं जानती। इसे तो किसी भी कीमतपर पार पड़ना ही होगा। मेरे हलकमें तो ग्रास तब ही चलेगा, जब यह मामला निबट जायगा। मरनेसे बदतर हो रही है बेचारी मेहतरानी। जबतक वह जी न जाय, मेरा जी भी आता-जाता ही रहेगा।'

लालाइनने रुआसी-सी आवाजमें, पर साथ ही अपने चिर-परदुःख-कातर पतिपर गर्व भी अनुभव करते हुए कहा।

लाला महेशदास सुनकर चुप हो रहे। उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। पर उनके माथेपर पड़े बलों

और उनकी गम्भीर मुखाकृतिसे स्पष्ट झलक रहा था कि वे गहरे सोचमें पड़ गये हैं ।

सोचते-सोचते जाने क्या सूझा कि लालाजी खिल पड़े । शायद वही चीज़ हाथ लग गयी जिसकी उन्हें तलाश थी । सोचके चंगुलसे छूट अब वे खिले-खिले अपने नित्यप्रतिके कामोंमें लग गये, पर कभी-कभी उनके चेहरेपर एक विवश-व्यथा-सी झलक मार जाती थी ।

तीसरे पहर बग्घी जुतवाकर लालाजी उसी मैदानमें पहुँचे, जहाँ पेड़तले मेहतरोंकी पंचायत हो रही थी । पैरोंमें सलेमशाही जोड़ा, चूड़ीदार पाजामा, बारीक मलमलका कुरता, उसपर तंजेबका अँगरखा और सिरपर झकाझक सफेद पगड़ी पहिने अपनी उत्तमोत्तम वेषभूषामें थे वे उस समय । गाड़ीसे उतरकर ज्यों ही वे मेहतरोंकी पंचायतमें पहुँचे, उन्हें देखते ही पंचोंसहित सब मेहतर उठ खड़े हुए । 'लाला महेशदास आये' 'लाला महेशदास आये' का शोर मच गया, 'लालाजी ! क्या हुक्म है ? लालाजी ! क्या आज्ञा है ?' की आवाजें चारों ओरसे आने लगीं ।

लालाजीने सबसे राम-राम किया और फिर सबसे बैठनेकी प्रार्थना कर आप भी अपने घरके मेहतरकी बगलमें, जो बेचारा एक कोनेमें आँख झुकाये, सिर लटकाये बैठा था, जा बैठे । 'हैं ! हैं ! लालाजी' यह आप क्या करते हैं ?' 'हमें काँटोंमें क्यों घसीट रहे हैं' आदि लोगोंके लाख कहनेपर भी लालाजीने किसी-की एक नहीं मानी । यह कहते हुए कि 'भाइयो ! आज तो मेरी जगह यहीं इसके बराबर ही है' अपने घरके मेहतरकी बगलमें ही बैठे रहे ।

आखिर समस्त पंचायतके भावोंको मूर्तरूप देता हुआ सरपंच लालाजीसे बोला—

'कहिये लालाजी ! कैसे दया की ? क्या हुक्म है ?'

लालाजीने यह सुनकर उत्तरमें अपनी पगड़ी सिरसे उतारकर पंचोंके पैरोंमें रख दी और भरे गले गिड़गिड़ाते हुए कहा—

'भाइयो ! आपका अपराधी (घरके मेहतरकी ओर संकेत करते हुए) यह नहीं, मैं हूँ । अब यह पगड़ी आपके चरणोंमें है । चाहे मारिये, चाहे जिलाइये बख़शिये, चाहे सजा दीजिये । बेउज्र हूँ । आपके तावे हूँ ।'

लालाजीकी बातसे पंचायतमें सन्नाटा छा गया पंच भी बड़े चक्करमें पड़े । लालाजीके मेहतरको जात बाहर करनेका लालाजीके आनेसे पहिले ही लगभग अन्तिम निश्चय हो चुका था । पर अब बात आ पड़ी थी बीचमें कुछ और, लालाजीकी पगड़ी मौन पड़ी हुई भी एक-एक दिलमें हलचल मचा रही थी । कुछ क्षणोंके लिये पंचोंने परस्पर विचार-विनिमय किया और फिर सरपंच गम्भीर आवाजमें बोला—

'कसूर तो इसका (लालाजीके मेहतरका) ऐसा था कि किसी मदपर भी माफ नहीं किया जा सकता था । पर यह पगड़ी आड़े आयेगी, इसका हमें सपनेमें भी गुमान नहीं था । लाला महेशदासका हुक्म सिरमाथेपर । वे किरपा करके अपनी पगड़ी अपने सिरपर रक्खें, उसे यूँ पड़ी देख हम लरज रहे हैं, लज्जासे कट रहे हैं, उनके मेहतरको माफ किया जाता है ।'

सरपंचके फैसला सुनाते ही लालाजीने पंचोंको धन्यवाद देते हुए अपनी पगड़ी उठाकर पहिन ली । लालाजीके घरके मेहतरकी खुशीका तो कोई ठिकाना ही न था ! लालाजीके इस मान-मर्यादा-त्यागके बलपर अनायास छुटकारा पा वह कृतज्ञतासे गद्गद होकर लालाजीके चरणोंमें लोट गया । लालाजी सात्त्विक संकोचमें पड़कर बोले—

'मेरे पैरों नहीं भाई ! पंचोंके पैरों पड़, जिन्होंने मुझे माफ किया । मेरी माने तो अब सदा आदमी

बने रहियो और पंचोंको कभी कोई शिकायतका अवसर न दीजियो ।'

अपने गुणगानकी बौछारमें 'अच्छा भाइयो ! अब आज्ञा ? राम-राम !' कह काम बनानेके लिये प्रभुको लाख-लाख धन्यवाद देते हुए, बग्घीमें बैठ, लालाजी घर लौटे । घरपर लालाइन लालाजीकी मेहकी-सी बाट जोह रही थीं । देखते ही बोलीं—

'कहिये, क्या रहा ?'

'सब ठीक हो गया । उसे माफ़ कर दिया गया । अब जाकर प्रसाद पाओ रानी ! तुम्हारी प्रेरणा व्यर्थ थोड़े ही जाती ।'

'पर किस कीमतपर ?' लालाइन फिर बोलीं ।

'इस कीमतपर ।'

सिरसे पगड़ी उतार खूँटीपर टाँगते हुए पगड़ीकी ओर संकेत करते हुए लाला महेशदास बोले । ऐसा करते एक रेखा क्षीण-सी उनके मुखपर आयी और क्षणार्धमें ही विलुप्त हो गयी ।

'ओह मेरे देवता, धन्य हो तुम !'

चीखती हुई-सी लालाइन····पागल बनी····लालाजीके चरणोंमें लिपट गयी । आन्तरिक उल्लाससे ओत-प्रोत होकर लालाइनको लालाजीने बलपूर्वक उठाया और गम्भीर स्नेह-स्निग्ध एवं कृतज्ञतामिश्रित स्वरमें धीरे-धीरे बोले—

'धन्य मैं नहीं, तुम हो, देवि ! जिसकी सत्-प्रेरणासे मैं·······एक तुच्छ बनिया—मान-मर्यादाका मोह त्याग कर्तव्य-पालन कर सका ।''

तो ऐसे थे लाला महेशदास !

आत्मप्रचारसे विमुखता

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

सुप्रसिद्ध विद्वान् सर रमेशचन्द्र दत्त इतिहास-मर्मज्ञ पुरुष थे । उन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की थी । एक बार वे श्रीअरविन्दके पास गये और उनसे उनकी कुछ रचनाओंकी पांडुलिपियाँ पढ़नेको माँगीं ।

ये रचनाएँ रामायण तथा महाभारतका अंग्रेजी अनुवाद था । इसके पहले दत्त महाशयने भी महाभारत, रामायणका अंग्रेजी अनुवाद किया था और उस अनुवादको लंदनके एक प्रकाशकने प्रकाशित करनेके लिये ले लिया था । अब श्रीअरविन्दके इस अनुवादको पढ़कर दत्तके विस्मयकी सीमा नहीं रही । अरविन्द कई दिनोंसे आत्म-प्रचारसे विमुख थे और आत्म-परिचयकी स्पृहा भी उन्हें नहीं थी । यह तो सब था ही, पर अपनी रचनाके सम्बन्धमें भी वे उदासीन थे । इतना जानते हुए भी गुणग्राही और उदार-हृदय दत्त महाशयने मुक्तकण्ठसे उनसे कहा—'ऋषिवर ! मैंने भी यह अनुवाद किया है और लंदनकी 'एवरमिन्स लाइब्रेरी' को प्रकाशनार्थ भेजा है । बहुत दिन हो गये, शायद वह छप भी गया होगा; परंतु आपका यह अनुवाद इतना सुन्दर हुआ है कि मेरे उस अनुवादको प्रकाशित करानेमें मैं अब लज्जाका अनुभव कर रहा हूँ ।'

सर रमेशचन्द्रके मुखसे यह बात सुनकर यदि अन्य कोई होता तो फूला न समाता । परंतु श्रीअरविन्द तनिक भी उल्लसित नहीं हुए, बल्कि शीलभावसे बोले—'यह सब मैंने छपानेके हेतु नहीं लिखा है और न मेरे जीवन-कालमें यह छप सकेगा ।'

फिर भी दत्त महाशय अपने लोभका संवरण नहीं कर सके । वे बार-बार मुक्त कण्ठसे कहते रहे—'इस अमूल्य सामग्रीका प्रकाशन तो हो ही जाना चाहिये ।' परंतु श्रीअरविन्द किसी प्रकार भी राजी नहीं हुए ।

कहना नहीं होगा कि श्रीअरविन्दने अपने जीवनमें न जाने कितनी अमूल्य सामग्रीका निर्माण किया होगा। वह सब यदि प्रकाशमें आ जाती तो आ साहित्यकी कितनी अभिवृद्धि हुई होती।

मुझे अशर्फियोंके थाल नहीं, मुट्ठी भर आटा चाहिये

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

पण्डित श्रीरामजी महाराज संस्कृतके महान् धुरन्धर विद्वान् थे। संस्कृत आपकी मातृभाषा थी। आपका सारा परिवार संस्कृतमें ही बातचीत करता था। आपके यहाँ सैकड़ों पीढ़ियोंसे इसी प्रकार संस्कृतमें ही बातचीत करनेकी परम्परा चली आयी थी। आपके पूर्वजोंकी यह प्रतिज्ञा थी कि हम न तो संस्कृतको छोड़कर एक शब्द दूसरी भाषाका बोलेंगे और न सनातनधर्मको छोड़कर किसी भी मत-मतान्तरके चक्करमें फँसेंगे। मुट्ठी-मुट्ठी आटा माँगकर पेट भरना पड़े तो भी चिन्ता नहीं, भिखारी बनकर भी देववाणी संस्कृतकी, वेद-शास्त्रोंकी और सनातन धर्मकी रक्षा करेंगे। इस प्रतिज्ञाका पालन करते हुए पं० श्रीरामजी महाराज अपनी धर्मपत्नी तथा बाल-बच्चोंको लेकर श्रीगङ्गाजीके किनारे-किनारे विचरा करते थे। पाँच-सात मील चलकर सारा परिवार गाँवसे बाहर किसी देवमन्दिरमें या वृक्षके नीचे ठहर जाता। ये गाँवमें जाकर आटा माँग लेते और रूखा-सूखा जैसा होता, अपने हाथोंसे बनाकर भोजन पा लेते। अगले दिन फिर श्रीगङ्गाकिनारे आगे बढ़ जाते। अवकाशके समय बच्चोंको संस्कृतके ग्रन्थ पढ़ाते जाते तथा स्तोत्र कण्ठ कराते।

एक बार श्रीरामजी महाराज घूमते-घामते एक राजाकी रियासतमें पहुँच गये और गाँवसे बाहर एक वृक्षके नीचे ठहर गये। दोपहरको शहरमें गये और मुट्ठी-मुट्ठी आटा घरोंसे माँग लाये। उसीसे भोजन बनने लगा। आपकी धर्मपत्नी भी पतिव्रता थीं और बच्चे भी ऋषि-पुत्र थे। अकस्मात् राजपुरोहित उधर आ निकले। उन्होंने देखा कि एक ब्राह्मणपरिवार वृक्षके नीचे ठहरा हुआ है। माथेपर तिलक, गलेमें यज्ञोपवीत, सिरपर लम्बी चोटी, ऋषि-मण्डली-सी प्रतीत हो रही है। पास आकर देखा तो रोटी बनायी जा रही है। छोटे बच्चे तथा ब्राह्मणी सभी संस्कृतमें बोल रहे हैं। हिंदीका एक अक्षर न तो समझते हैं न बोलते हैं। राजपुरोहितको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। राजपुरोहितजीने पं० श्रीरामजी महाराजसे संस्कृतमें बातें कीं। उनको यह जानकर और भी आश्चर्य हुआ कि आजसे नहीं, सैकड़ों वर्षोंसे इनके पूर्वज संस्कृतमें बोलते चले आ रहे हैं और संस्कृतकी, धर्मकी तथा वेद-शास्त्रोंकी रक्षाके लिये ही भिखारी बने मारे-मारे डोल रहे हैं। राजपुरोहितने आकर सारा वृत्तान्त राजा साहबको सुनाया तो राजा साहब भी सुनकर चकित हो गये। उन्होंने पुरोहितसे कहा कि 'ऐसे ऋषि-परिवारको महलोंमें बुलाया जाय और मुझे परिवारसहित उनके दर्शन-पूजन करनेका सौभाग्य प्राप्त कराया जाय।'

राजा साहबको साथ लेकर राजपुरोहित उनके पास आये और उन्होंने राजमहलमें पधारनेके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना की। पण्डितजीने कहा कि 'हमें राजाओंके महलोंमें जाकर क्या करना है। हम तो श्रीगङ्गा-किनारे विचरनेवाले भिक्षुक ब्राह्मण हैं।' राजा साहबके बहुत प्रार्थना करनेपर आपने अगले दिन सपरिवार राजमहलमें जाना स्वीकार कर लिया। इससे राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने स्वागतकी खूब तैयारी की। अगले दिन जब यह ऋषि-परिवार आपके यहाँ पहुँचा, तब वहाँ हजारों स्त्री-पुरुषोंका जमघट हो गया। बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ श्रीरामजी महाराज, आपकी धर्मपत्नी और बच्चोंको लाया गया और सुवर्णके सिंहासनोंपर बैठाया गया। राजा साहबने स्वयं अपनी रानीसहित सोनेके

पात्रोंमें ब्राह्मणदेवता, ब्राह्मणी तथा बच्चोंके चरण धोकर पूजन किया, आरती उतारी और चाँदीके थालोंमें सोनेकी अशर्फियाँ और हजारों रुपयोंके बढ़िया-बढ़िया दुशाले लाकर सामने रख दिये। सबने यह देखा कि उस ब्राह्मण-परिवारने उन अशर्फियों और दुशालोंकी ओर ताका तक नहीं। जब स्वयं राजा साहबने भेंट स्वीकार करनेके लिये करबद्ध प्रार्थना की, तब पण्डितजीने धर्मपत्नीकी ओर देखकर पूछा कि 'क्या आजके लिये आटा है?' ब्राह्मणीने कहा—'नहीं तो।' आपने राजा साहबसे कहा कि 'बस आजके लिये आटा चाहिये। ये अशर्फियोंके थाल और दुशाले मुझे नहीं चाहिये।'

राजा साहब—महाराज! मैं क्षत्रिय हूँ, दे चुका, स्वीकार कीजिये।

पण्डितजी—मैं ले चुका, आप वापस ले जाइये।

राजा साहब—क्या दिया दान वापस लेना उचित है?

पण्डितजी—त्यागी हुई वस्तुका क्या फिर संग्रह करना उचित है?

राजा साहब—महाराज! मैं अब क्या करूँ?

पण्डितजी—मैं भी लाचार हूँ।

राजा साहब—यह आप ले ही लीजिये।

पण्डितजी—राजा साहब! हम ब्राह्मणोंका धन तो तप है। इसीमें हमारी शोभा है, वह हमारे पास है। आप क्षत्रिय हैं, हमारे तपकी रक्षा कीजिये।

राजा साहब—क्या यह उचित होगा कि एक क्षत्रिय दिया हुआ दान वापस ले ले। क्या इससे सनातन धर्मको क्षति नहीं पहुँचेगी?

पण्डितजी—अच्छा इसे हमने ले लिया, अब इसे हमारी ओरसे अपने राजपुरोहितको दे दीजिये। हमारे और आपके दोनोंके धर्मकी रक्षा हो गयी।

सबने देखा कि ब्राह्मण-परिवार एक सेर आटा लेकर और अब सोनेकी अशर्फियोंसे भरे चाँदीके थाल, दुशालोंको ठुकराकर जंगलमें चले जा रहे हैं और फिर वेदपाठ करनेमें संलग्न हैं।

व्रजवासियोंके टुकड़ोंमें जो आनन्द है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

श्रीवृन्दावनधामके बाबा श्रीश्रीरामकृष्णदासजी महाराज बड़े ही उच्चकोटिके महापुरुष थे। आप गौड़ीय सम्प्रदायके महान् विद्वान्, घोर त्यागी, तपस्वी संत थे। आप प्रातःकाल चार बजे श्रीयमुनाजीका स्नान करके अपनी गुफामें बैठा करते थे और भजन-ध्यान करके संध्याके समय बाहर निकलते थे। आप स्वयं व्रजवासियोंके घर जाकर सूखे टूक माँग लाते और श्रीयमुनाजलमें भिगोकर उन्हें पा लेते। फिर भजन-ध्यानमें लग जाते। बड़े-बड़े राजा-महाराजा करोड़पति सेठ आपके दर्शनार्थ आते, पर आप लाख प्रार्थना करनेपर भी न तो व्रजसे कहीं बाहर जाते और न किसीसे एक पाई लेते तथा न किसीका कुछ खाते। मिट्टीका करवा, कौपीन और व्रजके टूक—यही आपकी सारी सम्पत्ति थी। एक दिन मोटर-कारमें राजस्थानके एक राजा साहब आये। उनके साथ फलोंसे भरे कई टोकरे थे। टोकरोंको नौकरोंसे उठवाकर राजा साहब बाबाके पास पहुँचे और साष्टाङ्ग प्रणाम करके उन्होंने टोकरे सामने रखवा दिये। बाबाने पूछा—'कहाँ रहते हो?'

राजा साहब—जयपुर-जोधपुरकी तरफ एक छोटी-सी रियासत है।

बाबा—क्यों आये?

राजा साहब—दर्शन करनेके लिये।

बाबा—इन टोकरोंमें क्या है?

राजा साहब–इनमें सेब, संतरे, अनार, अंगूर आदि फल हैं ।

बाबा–इन्हें क्यों लाये ?

राजा साहब–महाराज ! आपके लिये ।

बाबा–हम इनका क्या करेंगे ?

राजा साहब–महाराज ! इन्हें पाइये ।

बाबा–भाई ! हमें इन फलोंसे क्या मतलब । हम तो व्रज-चौरासीको छोड़कर इन्द्र बुलाये तो भी न तो कहीं जायँगे और न व्रजवासियोंके घरोंसे माँगे टूक छोड़कर छप्पन प्रकारके भोजन मिलें तो उनकी ओर आँख उठाकर देखेंगे। हम तो अपने लालाके घरमें हैं और उसीके घरके व्रजवासियोंसे माँगकर खाते हैं तथा लालाका स्मरण करते हैं। हमें तुम्हारे यह फल आदि नहीं चाहिये। इन्हें ले जाकर और किसीको दे दो । भैया ! कन्हैयाके इन व्रजवासियोंके सूखे टुकड़ोंमें जो आनन्द है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है ।

राजा साहब यह सुनकर चकित हो गये।

आदर्श बी०ए० बहू

(लेखक—पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)

बात न पुरानी है, न सुनी हुई कहानी है । कानसे ज्यादा आँखें जानती हैं । कहानीके सभी पात्र जीवित हैं; अतएव नाम बदलकर ही कहना होगा ।

एक रिटायर्ड जज हैं । कहा जाता है कि उन्होंने कभी रिश्वत नहीं ली थी । धार्मिक विचारोंके सद्-गृहस्थ हैं । दावतोंमें, पार्टियोंमें, मित्रोंके यहाँ खान-पानमें वे चाहे जितने स्वतन्त्र रहे हों, पर घर-के अंदर रसोई-घरकी रूढ़ियोंके पालनमें न असावधानी करते थे, न होने देते थे ।

गृहिणी शिक्षिता हैं; सभा-सोसाइटियोंमें, दावतोंमें पतिके साथ खुलकर भाग लेती रही हैं; पर घरके अंदर चूल्हेकी मर्यादाका वे पतिसे भी अधिक ध्यान रखती हैं। तुलसीको प्रत्येक दिन सवेरे स्नान कराके जल चढ़ाना और संध्या समय उसे धूप-दीप देना और उसके चबूतरेके पास बैठकर कुछ देर रामचरितमानसका पाठ करना—यह उनका नियमित काम है, जो माता-पितासे विरासतकी तरह मिला है और कभी छूट नहीं सकता ।

जज साहबके कोई पुत्र नहीं; एक कन्या है। जिसका नाम लक्ष्मी है । माता-पिताकी एक ही संतान होनेके कारण उसे उनका पूर्ण स्नेह प्राप्त था। लक्ष्मीको भगवान्‌ने सुन्दर रूप दिया है ।

लक्ष्मीको खर्च-बर्चकी कमी नहीं थी । युनिवर्सिटीमें पढ़नेवाली साथिनोंमें वह सबसे अधिक कीमती और आकर्षक वेष-भूषामें रहा करती थी। वह स्वभावकी कोमल थी, सुशील थी, घमंडी नहीं थी । घरमें आती तो माँके साथ मेमनेकी तरह पीछे-पीछे फिरा करती थी । माँकी इच्छासे वह तुलसीके चबूतरेके पास बैठकर तुलसीकी पूजामें भी भाग लेती और माँसे अधिक देरतक बैठकर मानसका पाठ भी किया करती थी । भारतीय संस्कृति और युनिवर्सिटीकी रहन-सहनका यह अद्भुत मिश्रण था ।

जज साहबकी इच्छा थी कि लक्ष्मी बी० ए० पास कर ले, तब उसका विवाह करें । वे कई वर्षोंसे सुयोग्य वरकी खोजमें दौड़-धूप कर रहे थे। बी० ए० कन्याके लिये एम्० ए० वर तो होना

ही चाहिये; पर कहीं एम्० ए० वर मिलता तो कुरूप मिलता; कहीं भयंकर खर्चीली जिंदगीवाला पूरा साहब मिलता; कहीं दहेज इतना माँगा जाता कि रिश्वत न लेनेवाला जज दे नहीं सकता। कन्याके पिताको जज, डिप्टी कमिश्नर, डिप्टी कलक्टर आदि शब्द कितने महँगे पड़ते हैं; यह वे ही जान सकते हैं ।

लक्ष्मीने बी० ए० पास कर लिया और अच्छी श्रेणीमें पास किया । अब वह पिताके पास परायी थातीकी तरह हो गयी। अब उसे किसी नये घरमें बसा देना अनिवार्य हो गया । जज साहब वर खोजते-खोजते थक चुके थे और निराश होकर पूजा-पाठमें अधिक समय लगाने लगे थे ।

मनुष्यके जीवनमें कभी-कभी विचित्र घटनाएँ घट जाती हैं। क्या-से-क्या हो जाता है; कुछ पता नहीं चलता । एक दिन शहरकी एक बड़ी सड़कपर जज साहब अपनी कारमें बैठे थे । एंजिनमें कुछ खराबी आ गयी थी, इससे वह चलता नहीं था । ड्राइवर बार-बार नीचे उतरता, एंजिनके पुरजे खोलता-कसता; तार मिलाता, पर कामयाब न होता। उसने कई साधारण श्रेणीके राह-चलतोंको कहा कि वे कारको ढकेल दें, पर किसीने नहीं सुना। सूट-बूट-वालोंको कहनेका उसे साहस ही नहीं हुआ । एक नवयुवक, जो बगलसे ही जा रहा था और जिसे बुलानेकी ड्राइवरको हिम्मत भी न होती, अपने-आप कारकी तरफ मुड़ पड़ा और उसने ड्राइवरको कहा—'मैं ढकेलता हूँ, तुम स्टेयरिंग पकड़ो।'

ड्राइवरने कहा—'गाड़ी भारी है, एकके मानकी नहीं।'

युवकने मुसकराकर कहा—देखो तो सही।

ड्राइवर अपनी सीटपर बैठ गया। युवकने अकेले ही गाड़ीको दूरतक ढकेल दिया। एंजिन चलने लगा।

जज साहबने युवकको बुलाया, धन्यवाद दिया। युवकका चेहरा तप्त काञ्चनकी तरह चमक रहा था। चेहरेकी बनावट भी सुन्दर थी। जवानी अङ्ग-अङ्गसे छलकी पड़ती थी । फिर भी पोशाक बहुत सादी थी—धोती, कुरता और चप्पल । चप्पल बहुत घिसी-घिसाई थी और धोती तथा कुरतेके कपड़े भी सस्ते किस्मके थे। फिर भी आँखोंकी ज्योति और चेहरेपर गम्भीर भावोंकी झलक देखकर जज साहब उससे कुछ बात किये बिना रह नहीं सके ।

एंजिन चल रहा था, ड्राइवर आज्ञाकी प्रतीक्षामें था । जज साहबने युवकसे कहा—शायद आप भी इसी तरफ चल रहे हैं आइये, बैठ लीजिये । रास्तेमें जहाँ चाहियेगा, उतर जाइयेगा ।

युवक जज साहबकी बगलमें आकर बैठ गया। जज साहबने पूछ-ताछ की तो युवकने बताया कि वह युनिवर्सिटीका छात्र है। अमुक जिलेके एक गरीब कुटुम्बका लड़का है। मैट्रिकसे लेकर एम्० ए० तक बराबर प्रथम आते रहनेसे उसे छात्रवृत्ति मिलती रही; उससे और कुछ अँगरेजी कहानियोंके अनुवादसे पारि-श्रमिक पाकर उसने एम्० ए० प्रथम श्रेणीमें पास कर लिया और अब उसे विदेशमें जाकर शिक्षा ग्रहण करनेके लिये सरकारी छात्रवृत्ति मिलेगी। वह दो महीनेके अंदर विदेश चला जायगा।

जज साहबका हाल तो—'पैरत थके थाह जनु पाई' जैसा हो गया। बात करते-करते वे अपनी कोठी-पर आ गये। स्वयं उतरे, युवकको भी उतारा; और कहा—आपने रास्तेमें मेरी बड़ी सहायता की। अब कुछ जल-पान करके तब जाने पाइयेगा।

युवकको बैठकमें बैठाकर जज साहब अंदर गये और लक्ष्मी और उसकी माताको भी साथ लेकर आये और उनसे युवकका परिचय कराया। इसके बाद नौकर जल-पान-का सामान लेकर आया और युवकको जज साहबने बड़े

प्रेमपूर्वक जल-पान कराया । इसके बाद युवकको जज साहब अक्सर बुलाया करते थे और वह आता-जाता रहा ।

गरीब युवकके जीवनमें यह पहला ही अवसर था, जब किसी रईसने इतने आदरसे उसे बैठाया और खिलाया-पिलाया हो ।

अन्तमें यह हुआ कि जज साहबने लक्ष्मीका विवाह युवकसे कर दिया ।

युवकके विदेश जानेके दिन निकट चले आ रहे थे । जज साहबने सोचा कि लक्ष्मी कुछ दिन अपने पतिके साथ उसके गाँव हो आये तो अच्छा; ताकि दोनोंमें प्रेमका बन्धन और दृढ़ हो जाय और युवक विदेशमें किसी अन्य स्त्रीपर आसक्त न हो ।

जज साहबका प्रस्ताव सुनकर युवकने कहा—मैं गाँव जाकर घरको ठीक-ठाक करा आऊँ, तब बहूको ले जाऊँ ।

युवक गाँव आया । गाँव दूसरे जिलेमें शहरसे बहुत दूर था और पूरा देहात था । उसका घर भी एक टूटा-फूटा खँडहर ही था । उसपर एक सड़ा-गला छप्पर रक्खा था । उसके नीचे उसका बुड्ढा बाप दिन-भर बैठे-बैठे हुक्का पिया करता था ।

युवकके चचा धनी थे और उनकी बखरी बहुत बड़ी और बेटों-पोतों और बहुओंसे भरी हुई थी । युवकने चचासे प्रार्थना की कि उसे वह अपने ही घरका बतायें और पंद्रह दिनोंके लिये उसकी बहूको अपने घरमें रहने दें । चचाने स्वीकार कर लिया ।

घरके बाहरी बरामदेमें एक कोठरी थी । युवकने उसीको साफ कराके उसमें जरूरी सामान रखवा दिये; एक कुरसी और मेज भी रखवा दिये । बहू चचाके घरमें खाना खा लिया करेगी और उसी कोठरीमें रहेगी । एक लड़केको नौकर रख लिया गया ।

युवक वापस जाकर बहूको ले आया । पाँच-सात दिन बहूके साथ गाँवमें रहकर युवक अपनी विदेश-यात्राकी तैयारी करनेके लिये शहरको वापस गया और बहू चचाके घरमें अकेली रहने लगी । दोनों वक्त घरके अंदर जाकर खाना खा आती और नौकरकी सहायतासे दोनों वक्त कोठरीके अंदर चाय बनाकर पी लिया करती । चायका सामान वह साथ लायी थी ।

दो ही चार दिनोंमें बहूका परिचय गाँवकी प्रायः सब छोटी-बड़ी स्त्रियों और बच्चोंसे हो गया । बहूका स्वभाव मिलनसार था । माता-पिताकी धार्मिक शिक्षाओंसे और रामचरितमानसके नियमित पाठसे उसके हृदयमें कोमलता और सहिष्णुता आ गयी थी । सबसे वह हँसकर प्रेमपूर्वक मिलती, बच्चोंको प्यार करती, बिस्कुट देती और सबको आदरसे बैठाती । रेशमी साड़ीके अंदर लुभावने गुण देखकर मैली-कुचैली और फटी धोतियोंवाली ग्रामीण स्त्रियोंकी झिझक जाती रही और वे खुलकर बातें करने लगीं ।

बहूको सीना-पिरोना अच्छा आता था, हारमोनियम बजाना और गाना भी आता था । कण्ठ सुरीला था, नम्रता और विनयका प्रदर्शन करना वह जानती थी, उसका तो दरबार लगने लगा । कोठरीमें दिनभर चहल-पहल रहती । गाँवके नरकमें मानो स्वर्ग उतर आया था ।

गाँवकी स्त्रियोंका मुख्य विषय प्रायः परनिन्दा हुआ करता है । कुछ स्त्रियाँ तो ऐसी होती हैं कि ताने मारना, व्यङ्ग बोलना, झगड़े लगाना उनका पेशा-सा हो जाता है और वे घरोंमें चक्कर लगाया ही करती हैं । एक दिन ऐसी ही एक स्त्री लक्ष्मीके पास आयी और उसने बिना संकोचके कहा—तुम्हारा बाप अंधा था क्या, जो उसने बिना घर देखे विवाह कर दिया ?

लक्ष्मीने चकित होकर पूछा—क्या यह मेरा घर नहीं है ?

स्त्री उसका हाथ पकड़कर बरामदेमें ले गयी और उँगलीके इशारेसे युवकके खँडहरकी ओर दिखाकर कहा—'वह देखो, तुम्हारा घर है और वह तुम्हारे ससुरजी हैं, जो छप्परके नीचे बैठकर हुक्का पी रहे हैं। यह घर तो तुम्हारे पतिके चचाका है, जो अलग रहते हैं।'

लक्ष्मीने उस स्त्रीको विदा किया और कोठरीमें आकर उसने गृहस्थीके जरूरी सामान—बरतन, आटा, दाल, चावल, मिर्च-मसालेकी एक सूची बनायी और नौकरको बुलाकर अपना सामान बँधवाकर वह उसे उसी खँडहरमें भेजवाने लगी।

चचा सुन पाये। वे दौड़े आये। आँसू भरकर कहने लगे—बहू! यह क्या कर रही हो? मेरी बड़ी बदनामी होगी।

घरकी स्त्रियाँ भी बाहर निकल आयीं। वे भी समझाने लगीं। लक्ष्मीने सबको एक उत्तर दिया—दोनों घर अपने ही हैं। मैं इसमें भी रहूँगी और उसमें भी रहूँगी। फिर उसने चचाके हाथमें कुछ रुपये और सामानकी सूची देकर कहा—यह सामान बाजारसे अभी मँगा दीजिये।

चचा लाचार होकर बहुत उदास मनसे बाजारकी ओर गये, जो एक मील दूर था। बहू खँडहरमें आयी। आते ही उसने आँचलका छोर पकड़कर तीन बार ससुरका पैर छुआ। फिर खँडहरमें गयी। एक कोठरी और उसके सामने छोटा-सा ओसारा, घरकी सीमा इतनी ही थी। नौकरने सामान लाकर बाहर रख दिया। बहूने उससे गोबर मँगाया; एक बाल्टी पानी मँगाया। कोठरी और ओसारेको झाड़ू लगाकर साफ किया। फिर रेशमी साड़ीकी कछाँड़ मारकर वह घर लीपने बैठ गयी।

यह खबर बात-की-बातमें गाँवभरमें और उसके आस-पासके गाँवोंमें भी पहुँच गयी। झुंड-के-झुंड स्त्री-पुरुष देखने आये। भीड़ लग गयी। कई स्त्रियाँ लीपनेके लिये आगे बढ़ीं; पर बहूने किसीको हाथ लगाने नहीं दिया। वृद्धा स्त्रियाँ आँसू पोंछने लगीं। ऐसी बहू तो उन्होंने कभी देखी ही नहीं थी। पुरुष लोग उसे देवीका अवतार मानकर श्रद्धासे देखने लगे।

इतनेमें बाजारसे बरतन आ गये। बहूने पानी मँगवाकर कोठरीमें स्नान किया। फिर वह रसोई बनाने बैठ गयी। शीघ्र ही भोजन तैयार करके उसने ससुरजीसे कहा कि वे स्नान कर लें।

ससुरजी आँखोंमें आँसू भरे मोह-मुग्ध बैठे थे। किसीसे कुछ बोलते न थे। बहूकी प्रार्थना सुनकर उठे, कुएँपर जाकर नहाया और आकर भोजन किया। बरतन सब नये थे। खँडहरमें एक ही झिलँगा खाट थी। बहूने उसपर दरी बिछा दी। ससुरको उसपर बैठाकर, चिलम चढ़ाकर हुक्का उनके हाथमें थमा दिया। फिर उसने स्वयं भोजन किया।

बहूने चचासे कहा—दो नयी खाटें और एक चौकी आज ही चाहिये। बाधके लिये उसने चचाको पैसे भी दे दिये। चचा तो बाध खरीदने बाजार चले गये।

लोहार और बढ़ई वहीं मौजूद थे। सभी तो आनन्द-विभोर हो रहे थे। हर-एकके मनमें यही लालसा जाग उठी थी कि वह बहूकी कोई सेवा करे। लोहारने कहा—मैं पाटीके लिये अभी बाँस काटकर लाता हूँ और पाये गढ़कर खाटें बना देता हूँ।

बढ़ईने कहा—मैं चौकी बना दूँगा।

बाध भी आ गया। खाट बिननेवाला अपनी सेवा प्रस्तुत करनेके लिये मुँह देख रहा था। उसने दो खाटें बिन दीं। ससुरकी झिलँगा खाट भी बहूने आये-गयेके लिये बिनवाकर अलग रख ली। बढ़ईने चौकी बना दी। शामतक यह सब कुछ हो गया।

रातमें बहूने अपने माता-पिताको एक पत्र लिखा, जिसमें दिनभरमें जो कुछ हुआ, सब एक-एक करके

लिखा, पर पिताको यह नहीं लिखा कि तुमने भूल की और मुझे कहाँ-से-कहाँ लाकर डाल दिया। बल्कि बड़े उल्लासके साथ यह लिखा कि मुझे आपकी और माताजीकी सम्पूर्ण शिक्षाके उपयोग करनेका मौका मिल गया है।

बहूके झोंपड़ेपर तो मेला लगने लगा। सब उसको देवी करके मानने लगे थे। बराबर उम्रकी बहुएँ दूसरे गाँवोंसे आतीं तो आँचलके छोरको हाथोंमें लेकर उसका पैर छूनेको झुकतीं। बहू लज्जाके मारे अपने पैर साड़ीमें छिपा लेती। उनको पास बैठाती, सबसे परिचय करती और अपने काढ़े हुए बेल-बूटे दिखाती।

गाँवोंके विवाहित और अविवाहित युवक भी बहूको देखने आते। बहू तो परदा करती नहीं थी, पर युवकोंकी दृष्टिमें कामुकता नहीं थी। बल्कि जलकी रेखाएँ होती थीं। ऐसा कठोर तप तो उन्होंने कभी देखा ही नहीं था।

रातमें बहूके झोंपड़ेके सामने गाँवकी वृद्धा स्त्रियाँ जमा हो जातीं। देव-कन्या-जैसी बहू बीचमें आकर बैठ जाती। 'आरी-आरी कुस-काँसि, बीचमें सोनेकी रासि।' बहू वृद्धाओंको आँचलसे चरण छूकर प्रणाम करती; मीठी-मीठी हँसी-ठठोली भी करती। वृद्धाएँ बहूके स्वभावपर मुग्ध होकर सोहर गाने लगतीं। लोग हँसते तो वे कहतीं—बहूके बेटा होगा, भगवान् औतार लेंगे, हम अभीसे सोहर गाती हैं। बहू बेचारी सुनकर लज्जाके मारे जमीनमें गड़-सी जाती थी।

चौथे रोज जज साहबकी भेजी हुई एक लारी आयी, जिसमें सीमेंटके बोरे, दरवाजों और खिड़कियोंके चौकठे और पल्ले, पलँग, मेज-कुर्सियाँ और जरूरी लोहा-लक्कड़ भरे थे और एक गुमाश्ता और दो राजगीर साथ थे।

गुमाश्ता जज साहबका एक लिफाफा भी लाया था; जिसमें एक कागज था और उसपर एक ही पंक्ति लिखी थी—

पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ।

नीचे पिता और माता दोनोंके हस्ताक्षर थे। लक्ष्मी उस कागजको छातीसे चिपकाकर देरतक रोती रही।

जज साहबने गुमाश्तेको सब काम समझा दिया था। मकानका एक नक्शा भी उसे दिया था। गुमाश्तेने गाँवके पास ही एक खुली जगह पसंद की। जमींदार उस जगहको बहूके नामपर मुफ्त ही देना चाहता था, पर गुमाश्तेने कहा कि जज साहबकी आज्ञा है कि कोई चीज मुफ्त न ली जाय। अतएव जमींदारने मामूली-सा दाम लेकर जज साहबके वचनकी रक्षा की।

पड़ोसके एक दूसरे गाँवके एक जमींदारने पक्का मकान बनवानेके लिये ईंटोंका पजावा लगवा रक्खा था। ईंटोंकी जरूरत सुनकर वह स्वयं आया और बहूके नामपर ईंटें मुफ्त ले लिये जानेका आग्रह करने लगा, पर गुमाश्तेने स्वीकार नहीं किया। अन्तमें पजावेमें जो लागत लगी थी, उतना रुपया देकर ईंटें ले ली गयीं।

मजदूर बिना मजदूरी लिये काम करना चाहते थे, पर बहूने रोक दिया और कहा कि सबको मजदूरी लेनी होगी।

दो राजगीर और भी रख लिये गये। पास-पड़ोसके गाड़ीवाले अपनी गाड़ियाँ लेकर दौड़ पड़े। पजावेकी कुल ईंटें ढोकर आ गयीं। मजदूरोंकी कमी थी ही नहीं। एक लंबे-चौड़े अहातेके बीचमें एक छोटा-सा सीमेंटके पलस्तरका पक्का मकान, जिसमें दो कमरे नीचे और दो ऊपर तथा रसोई-घर, स्नानागार और पाखाना थे, दो-तीन हफ्तोंके बीचमें बनकर तैयार हो गया। अहातेमें फूलों और फलोंके पेड़-पौधे भी लगा दिये गये। एक पक्की कुइयाँ भी तैयार करा दी गयी।

युवकको अभीतक किसी बातका पता नहीं था।

लक्ष्मीने भी कुछ लिखना उचित नहीं समझा; क्योंकि भेद खुल जानेसे पतिको लज्जा आती। और जज साहबने भी लक्ष्मीको दूसरे पत्रमें लिख भेजा था कि वहाँका कोई समाचार वह अपने पतिको न लिखे।

गुमाश्तेका पत्र पाकर जज साहबने गृह-प्रवेशकी साइत पूछी और गुमाश्तेको लिखा कि साइतके दिन मैं, लक्ष्मीकी माँ और उसके पति भी आ जायँगे। एक हजार व्यक्तियोंको भोजन करानेकी पूरी तैयारी कर रक्खो।

लक्ष्मीने ससुरके लिये नेवारका एक सुन्दर-सा पलँग, उसपर बिछानेकी दरी, गद्दा और चादर, तकिये और मसहरी गाँवहीमें मँगा लिया था। चाँदीका एक फर्शी हुक्का, चाँदीकी चिलम, चाँदीका पीकदान साथ लेते आनेके लिये उसने पिताको पत्र लिखा था। सब चीजें आ गयी थीं।

ठीक समयपर बड़ी धूम-धामसे गृह-प्रवेश हुआ। सबसे पहले युवकके पिता सुन्दर वस्त्र पहने हुए मकानके अंदर गये। बढ़िया चादर बिछी हुई नेवारकी पलँगपर बैठाये गये, पास ही लक्ष्मीने स्वयं चिलम चढ़ाकर फर्शी हुक्का रख दिया। लक्ष्मीने ससुरके लिये एक सुन्दर-सा देहाती जूता भी बनवाया था; वही पहनकर ससुरने गृहमें प्रवेश किया था, वह पलँगके नीचे बड़ी शोभा दे रहा था। पलँगके नीचे चाँदीका पीकदान भी रक्खा था। ससुरको पलँगपर बैठाकर और हुक्केकी सुनहली निगाली उसके मुँहमें देकर बहूने आँचलका छोर पकड़कर तीन बार उसके चरण छुए। ससुरके मुँहसे तो बात ही नहीं निकलती थी। उसका तो गला फूल-फूलकर रह जाता था। हाँ, उसकी आँखें दिन-भर अश्रु-धारा गिराती रहीं।

> **प्रेम छिपाये ना छिपै, जा घट परगट होय।**
> **जो पै मुख बोलै नहीं, नयन देत हैं रोय॥**

गृह-प्रवेश कराके लक्ष्मीके माता-पिता एक कमरेमें जा बैठे थे। ससुरको पलँगपर बैठाकर और पतिको उसके पास छोड़कर बहू अपने माता-पिताके कमरेमें गयी। पहले वह पिताकी गोदमें जा पड़ी। पिता उसे देरतक चिपटाये रहे और आँसू गिराते रहे। फिर वह माताके गलेसे लिपट गयी। दोनों बाहें गलेमें लपेटकर वह मूर्छित-सी हो गयी। माँ-बेटी देरतक रोती रहीं।

माता-पितासे मिलकर बहू निमन्त्रितोंके लिये भोजनकी व्यवस्थामें लगी। उसने छोटी-से-छोटी कमीको भी खोज निकाला और उसे पूरा कराया। गृह-प्रवेशके दिन बड़ी भीड़ थी। आस-पासके गाँवोंकी स्त्रियाँ, जिनमें वृद्धा, युवती, बालिका सब उम्रोंकी थीं, बहूका दर्शन करने आयी थीं। गरीब और नीची जातिकी स्त्रियोंका एक झुंड अलग खड़ा था। उनके कपड़े गंदे और फटे-पुराने थे। भले घरोंकी स्त्रियोंके बीचमें आने और बैठनेका उनको साहस नहीं होता था। बहू स्वयं उनके पास गयी और एक-एकका हाथ पकड़कर ले आयी और बिछी हुई दरीपर एक तरफ उन्हें बैठा दिया और उनके गंदे कपड़ोंका विचार किये बिना उनके बीचमें बैठ गयी। सबका परिचय पूछा और स्वागत-सत्कारमें जो पान-इलायची अन्य स्त्रियोंको दिया गया, वही उनको भी दिया। चारों ओरसे बहूपर आशीर्वादोंकी वृष्टि होने लगी।

संध्याको निमन्त्रितोंको भोजन कराया गया। लोग प्रत्येक कौरके साथ बहूको आशीर्वाद देते थे। जबतक वे भोजन करते रहे, बहूके ही गुणोंका बखान करते रहे, ऐसी शोभा बनी कि कुछ कहते नहीं बनता।

युवक तो यह सब दृश्य देखकर अवाक् हो गया था। पत्नीके गुणोंपर वह ऐसा मुग्ध हो गया था कि दोनों आमने-सामने होते तो उसके मुँहसे बात भी नहीं निकलती थी। दिनभर उसकी आँखें भरी रहीं।

दो दिन उसी मकानमें रहकर लक्ष्मीके ससुरके लिये वर्षभर खानेका सामान घरमें रखवाकर लक्ष्मीके

नौकरको उन्हींके पास छोड़कर और युवककी एक चाचीको, जो बहुत गरीब और अकेली थी, लक्ष्मीके ससुरके लिये खाना बनानेके लिये नियुक्त करके जज साहब अपनी पुत्री, उसकी माता और युवकको साथ लेकर अपने घर लौट गये। जानेके दिन आसपासके दस-पाँच मीलोंके हजारों पुरुष-स्त्री बहूको विदा करने आये थे। वह दृश्य तो अद्‌भुत था। आज भी लोग आँखोंमें हर्षके आँसू भरकर बहूको याद करते हैं।

वह पक्का मकान, जो सड़कसे थोड़ी दूरपर है, आज भी बहूके कीर्तिस्तम्भकी तरह खड़ा है।

युवक विदेशसे सम्मानपूर्ण डिग्री लेकर वापस आ है और कहीं किसी बड़े पदपर है। बहू उसीके साथ है।

एक बी० ए० बहूकी इस प्रकारकी कथा शायद यह सबसे पहली है और समस्त बी०ए० बहुओंके लिये गर्वकी वस्तु है। हम ऐसी कथाएँ और सुनना चाहते हैं।

यह रामचरितमानसका चमत्कार है जिसने चुपचाप लक्ष्मीके जीवनमें ऐसा प्रकाश-पुञ्ज भर दिया।

श्रद्धा और मनोबलका चमत्कार

(लेखक—कविविनोद वैद्यभूषण पं० श्रीठाकुरदत्तजी शर्मा 'वैद्य')

वे एक ग्राममें रहते थे और कुछ दवा-दारू करते थे। परंतु जिसकी चिकित्सा करते, उससे लेते कुछ नहीं थे। एक छोटी-सी दूकान और कुछ भूमि थी; उसीसे जीवन-निर्वाह होता था। कई वर्षोंसे उनकी प्रबल इच्छा काशी जानेकी थी और वे यह भी कहा करते थे कि काशीजीमें ही शरीरपात होनेसे कल्याण होगा। वे अपने मन्तव्यानुसार पूजा-पाठमें बहुत तल्लीन रहते थे।

अन्तमें, एक दिन आ ही पहुँचा जब कि काशीजी जानेकी सब सामग्री जुट गयी और अपनी धर्मपत्नी तथा पुत्रको साथ लेकर वे काशीधाम पहुँच गये। वहाँ पंचक्रोशीकी परिक्रमा समाप्त करके दशाश्वमेध घाट-पर सायङ्काल जा बैठे। गङ्गामें पाँव डालकर इस प्रकार प्रार्थना करने लगे—

'हे गङ्गा मैया ! मेरी मनोऽभिलाषा तूने पूर्ण कर दी है। अब मैं वापस जाना नहीं चाहता। कल बारह बजेतक अपनी पावन गोदमें बिठलाकर मातृ-सुख प्रदान कर दे, अन्यथा मुझे ही प्रवाह लेना होगा।'

अपने निवासस्थानपर आकर सो रहे। भोर होते ही उठ बैठे और अपनी धर्मपत्नीको भोजन बना लेनेका आदेश किया। भोजन बन चुका तो पत्नी और पुत्रको भोजन करनेकी आज्ञा देकर कहने लगे—'मुझे तो भोजन नहीं करना है।' जब दोनों भोजन कर चुके तब उन्हें इस प्रकार समझाना आरम्भ कर दिया—

'देखना, यह शरीर तो अब काशीजीकी भेंट हो चुका है; अब प्राण भी यहीं विसर्जित होनेवाले हैं इसलिये मेरे लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा। देखना ! रोना-धोना नहीं।'

और भी ऐसी ही बातें समझाने लगे। सुनकर पत्नी और पुत्र दोनों हँसने लगे। समझे कि पण्डित-जी हँसी कर रहे हैं। फिर भी गम्भीर होकर बोल उठे—'हम ऐसी अवाञ्छनीय बातें सुनना नहीं चाहते।' परंतु वे कहते ही रहे। ग्यारह बजेके लगभग भूमिको शुद्ध करके आसन लगाया और ध्यानावस्थित होकर बैठ गये। ठीक बारह बजे बिना किसी कष्टके और बिना कोई चिह्न प्रकट हुए ग्रीवा एक ओर झुक गयी। देखा तो उनका स्वर्गवास हो चुका था!

इस समाचारका जिन-जिनको पता लगा, सब एकत्र होकर उनकी स्तुति करने लगे और सबने मिलकर बड़ी भक्तिसे समारोहपूर्वक अन्तिम संस्कार किया।

एक ग्राम-वासी साधारण व्यक्तिकी श्रद्धा-शक्ति और मनोबलका ऐसा परिचय पाकर सचमुच बड़ा आश्चर्य होता है !

चोरके साथ चोर

ग्वारिया बाबा वृन्दावनके एक प्रसिद्ध परम भक्त थे। वे पागलकी तरह रहते थे। एक दिन वे अपनी मस्तीमें कहीं पड़े थे। इसी समय दो चोर वहाँ आये और ग्वारिया बाबासे उन्होंने पूछा—'आप कौन हैं?'

ग्वारिया बाबा—तुम कौन हो?

चोर—हम चोर हैं।

ग्वारिया बाबा—मैं भी चोर हूँ।

चोरोंने कहा—तब तो हमारे साथ तुम भी चोरी करने चलो।

ग्वारिया बाबाने कहा—अच्छा चलो।

इतना कहकर वे उनके साथ चोरी करने चल पड़े। चोरोंने एक घरमें सेंध लगायी और वे उसके अंदर घुस गये। वहाँ उन्होंने सामान बाँधना शुरू कर दिया। ग्वारिया बाबा चुपचाप एक ओर बैठे रहे। जब चोरोंने उनको सामान बाँधनेके लिये कहा, तब—'तुम्हीं बाँधो' कहकर चुप हो रहे। इतनेमें उन्होंने देखा कि वहाँ एक ढोलक पड़ी है। मौज ही तो थी। उसे उठाकर लगे जोरोंसे बजाने। ढोलककी आवाज सुनकर सब घरवाले जग गये। चोर-चोरका हल्ला मचा। हल्ला मचते ही चोर तो भाग गये। लोगोंने विना समझे-बूझे ग्वारिया बाबा-पर मारकी बौछार शुरू कर दी। बाबाजीने न तो उनको मना किया और न ढोलक बजानी ही बंद की। कुछ देर बाद उनका सिर फट गया और वे लहू-लुहान होकर बेहोश हो गये। फिर कुछ होश आनेपर लोगोंने उनको पहचाना कि—'अरे, ये तो ग्वारिया बाबा हैं!' तब उन्होंने बाबासे पूछा कि 'वे यहाँ कैसे आ गये?' ग्वारिया बाबाने कहा—'आया कैसे! श्यामसुन्दरने कहा चलो चोरी करने; श्याम-सुन्दरके साथ चोरी करने आ गया। उन्होंने तो उधर सामान बाँधना शुरू कर दिया, इधर ढोलक देख-कर मेरी उसे बजानेकी इच्छा हो गयी। मैं उसे बजाने लगा।' यों कहकर वे हँस पड़े। तब लोगोंने उनकी मरहम-पट्टी की और अपनी असावधानीके लिये उनसे क्षमा माँगी।

अपनी मृत्युके छः महीने पहले उन्होंने अपने हाथोंमें बेड़ियाँ पहन लीं और वे सबसे कहते कि 'सखा श्यामसुन्दरने बाँध दिया है और कहता है कि अब तुझे चलना होगा।'

जब उनकी मृत्युके पाँच दिन शेष रहे, तब उन्होंने एक दिन अपनी भक्तमण्डलीको बुलाया और पूछा कि 'मैं मर जाऊँगा तब तुम कैसे रोओगे।' वे प्रत्येकके पास जाते और उससे रोकर दिखानेको कहते। इस प्रकार उस दिन उन्होंने अपनी भक्तमण्डलीसे खूब खेल किया।

अपनी मृत्युके दिन उन्होंने भक्तमण्डलीमेंसे करीब सोलह-सतरह लोगोंको कह दिया कि 'मैं आज तुम्हारी भिक्षा लूँगा।' सब बना-बनाकर ले आये। उन्होंने उस सारी भिक्षामेंसे करीब तीन हिस्सा भिक्षा खा ली। इसके बाद खूब पानी पिया। करीब दो घंटे बाद उनको दस्त लगने शुरू हुए और वे अचेत होकर पड़ गये। कुछ देर बाद उनकी नाड़ी भी धीमी पड़ने लगी। इसके थोड़ी ही देर बाद वे जोरसे हँसे और बोले—'सखा आ गया' यह कहते-कहते उनका शरीर चेतनाशून्य होकर गिर पड़ा। इधर तो करीब तीन बजे यह घटना हुई। उधर अन्तरङ्ग भक्तों-मेंसे एकको, जो उस समय वहाँसे चार मील दूर था ऐसा लगा मानो बाबा उसके पास आये और उससे बोले कि 'चल मेरे साथ आज ग्वारिया बाबाके बड़ा भारी उत्सव हो रहा है।' वह उनके साथ चल पड़ा। थोड़ी-सी दूर आनेपर वे तो गायब हो गये और उसने बाबाके यहाँ जाकर देखा कि उनका शव उठानेकी तैयारी की जा रही है।

महाशक्ति ही पालिका हैं

सत्ययुगका काल था। स्वभावसे मानव कामना-हीन था। मनुष्यका अन्तःकरण कामना-कलुषित नहीं हुआ था और न रजोगुण तथा तमोगुणके संघर्ष ही उसे क्षुब्ध कर सकते थे। निसर्गपवित्र मानव—एकाक्षर प्रणव ही पर्याप्त था उसके लिये। त्रयीका कर्म-विस्तार न आवश्यक था और न शक्य; क्योंकि मनुष्यने यज्ञके लिये भी संग्रह करना तबतक सीखा नहीं था। वह तो सहज अपरिग्रही था।

'मनुष्य जब यजन नहीं करता, हमें यज्ञभाग नहीं देता तो हमीं वृष्टिकी व्यवस्थाका श्रम क्यों करें?' देवराजके मनमें ईर्षा जाग्रत् हुई—'सृष्टिके विधायकने तो नियम बनाया है कि मनुष्य यज्ञ करके हमें यज्ञभाग-द्वारा पोषित करें और हम सुवृष्टिद्वारा अन्नोत्पादन करके मनुष्योंको भोजन दें। परस्पर सहायताका यह नियम मानवने प्रारम्भमें ही भङ्ग कर दिया। मनुकी संतान जब हमें कुछ गिनती ही नहीं, तब हमारा भी उससे कोई सम्बन्ध नहीं।'

देवराज असंतुष्ट हुए और मेघ आकाशसे लुप्त हो गये। धराके प्राण जब गगन सिञ्चित नहीं करेगा, तब अङ्कुरोंका उदय और वीरुधोंका पोषण होगा कहाँसे? तृण सूख गये, लताएँ सूखी लकड़ियोंमें बदल गयीं, वृक्ष मुरझा गये। घोर दुष्काल पड़ा। अन्न, फल, शाक, तृण—प्राणधारियोंके लिये कोई साधन नहीं रह गया धरापर।

मनुकी निष्पाप संतान—मानवमें चिन्ता और कामना कहाँ आयी थी उस समयतक। ध्यान और तप उसे प्रिय लगते थे। निष्पत्र, शुष्कप्राय वनोंमें मानवने जहाँ सुविधा मिली, आसन लगाया। उसे न चिन्ता थी और न था क्लेश। उसने बड़े आनन्दसे कहा—'परमात्माने तपस्याका सुयोग दिया है। धराका पु[illegible] हुआ है।'

जहाँ-तहाँ मानवने आसन लगाकर नेत्र बंद [illegible] लिये थे। सत्ययुगकी दीर्घायु, सत्ययुगकी सात्त्वि[illegible] और सत्ययुगका सहज सत्त्व—मानव समाधिमें [illegible] हो जायगा तो देवराजका युगों व्यापी अकाल क्या [illegible] लेगा उसका? परंतु मानव, यह क्यों करे। [illegible] अधर्म किया नहीं, कोई अपराध किया नहीं, तब [illegible] भूखा क्यों रहे? उसे बलात् तप क्यों करना पड़े!

इन्द्र प्रमत्त हो गया कर्तव्यपालनमें; किंतु [illegible] पुत्रोंके पालनमें विश्वकी संचालिका, नियन्तृका महा[illegible] जगज्जननी तो प्रमत्त नहीं होती। दिशाएँ आलोकसे [illegible] हो गयीं। मानव अपने आसनसे आतुरतापूर्वक [illegible] और उसने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाये। [illegible] सिंहस्थिता, रक्तवर्णा, शूल, पाश, कपाल, चाप, [illegible] बाण, अङ्कुश, मुसल, शङ्ख, चक्र, गदा, सर्प, [illegible] अभय, खट्वाङ्ग एवं दण्डहस्ता, दशभुजा महामाया [illegible] शक्ति शाकम्भरी प्रकट हो गयी थीं।

धरित्रीपर वर्षा हो रही थी—मेघोंसे जलकी [illegible] नहीं, महाशक्तिके श्रीअङ्गसे अन्न, फल, शाककी वर्षा। पृथ्वीके प्राणीकी क्षुधा कितनी? महामाया देने लगीं तो [illegible] प्राणी कितना क्या लेगा? दिन दो दिन नहीं, [illegible] यह वर्षा चलती रही। देवराज घबराये। यदि महामाया इसी प्रकार अन्न-शाकादिकी वर्षा करती रहें तो उनका इन्द्रत्व समाप्त हो चुका। पृथ्वीको उनके मेघोंकी क्या आवश्यकता? कभी भी मानव यज्ञभाग देगा देवताओंको, इसकी सम्भावना ही क्या? यही दशा रहे तो अब देवलोकमें भुखमरी प्रारम्भ होनेमें कितने दिन लगेंगे? देवराजने क्षमा माँगी जगद्धात्रीसे और आकाश बादलोंसे ढक गया।

महामाया महाशक्ति शाकम्भरी देवी

पाँच सेर भजन !

लगभग तीस वर्ष पहलेकी बात है । एक गाँवमें एक बूढ़ा रहता था । उसकी पत्नी भी बूढ़ी हो गयी थी । दोनोंका स्वभाव बड़ा सरल था । पढ़े-लिखे वे बिल्कुल नहीं थे । उन्हें गिनती केवल बीस या तीसतक ही आती थी । वे दोनों जब भजन करने बैठते, तब एक-एक सेर गेहूँ या चना तौलकर अपने-अपने सामने रख लेते । 'कृष्ण-कृष्ण' कहते जाते तथा एक-एक दानाको अलग करते जाते । जब सम्पूर्ण दानोंको अलग कर लेते, तब समझते कि एक सेर भजन हुआ । इसी प्रकार कभी दो सेर, कभी तीन सेर भजन करते । इस प्रकार उनके भजनकी गिनती विचित्र ही थी ।

एक बार जाड़ेकी रात थी । वे बड़े जोरसे रोने लगे—'अरे ! मेरे कन्हैयाको जाड़ा लग रहा है रे !' फिर अपनी रजाई उठायी और जाकर गाँवके बाहर फेंक आये । लोगोंने तो समझा कि बूढ़ा पागल हो गया है । पर उन्हें तो सचमुच दर्शन हुआ था और भगवान्‌ने कहा था—'दादा ! मुझे जाड़ा लग रहा है ।' अपनी जानमें उन्हें यह दीख रहा था कि 'यह बात कहकर कन्हैया गाँवके बाहर चला जा रहा है, उसे गाय चराने जाना है; वे उसके पीछे गये हैं और जाकर अपनी रजाई ओढ़ा दी है ।'

उन्हींके सम्बन्धमें दूसरी घटना एक और है—उसी गाँवमें एक बड़ा भयङ्कर भैंसा रहता था । उससे प्रायः सभी लोग डरते थे । जिधर जाता, बच्चे तो भाग ही जाते, जवानोंके प्राण भी सूख जाते । एक दिन वे बूढ़े बाबा कहींसे आ रहे थे । भैंसा उस ओर ही लपका । लोगोंने समझा कि आज बूढ़ेका प्राण गया । भाला लेकर लोग दौड़े अवश्य; पर उससे पहले ही भैंसा बूढ़ेके पास आ चुका था । इतनेमें दीखा—'न जाने कैसे भैंसा दूसरी ओर मुड़कर भागा ।' लोग चकित हो गये । लोगोंने बूढ़ेसे पूछा । बूढ़ेने बताया—'तुमलोगोंको दीखा नहीं ! अरे कृष्ण कहो ! मेरा कन्हैया बड़ा खिलाड़ी है । वह आया, बोला—'दादा ! मैं आ गया हूँ' और यह कहकर उसने भैंसेकी पूँछ मरोड़ दी । फिर तो भैंसा भागा ।' लोगोंने यह तो स्पष्ट देखा था कि उसकी पूँछ ऐसी टेढ़ी हो गयी थी कि जैसे किसीने सचमुच मरोड़ दी हो, पर उसके अतिरिक्त और कुछ किसीको नहीं दीखा ।

दोनों ही स्त्री-पुरुष निरन्तर भजन करते थे । कभी सेर, कभी दो सेर, कभी पाँच सेरतक ।

विपत्तिका मित्र

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

छः-सात वर्षकी बात है । दिल्लीमें एक टाँगेपर बैठा जा रहा था । टाँगा चलानेवाला अपने कार्यमें विशेष दक्ष प्रतीत नहीं होता था । बातचीत चल पड़ी । मैंने पूछा कि 'आप कबसे यह काम करते हैं ।' उसने कहा—'अभी तीन-चार महीनेसे ।' इसी प्रसङ्गमें बात-चीत बढ़ती गयी और मेरी जिज्ञासा भी । उसने अपने जीवनका जो वृत्तान्त सुनाया, वह संक्षेपतः इस प्रकार है—

मैं पेशावरके पास होतीमर्दानका रहनेवाला हूँ । वहाँ मेरी आढ़तकी बड़ी दूकान थी । कपूरथलाके एक व्यापारी मेरे नगरमें माल लेने और बेचने प्रायः आते रहते थे । वे जब आते, मुझे अपने नगरमें बसनेका निमन्त्रण दे जाते । मैं भी कह देता, अच्छा कोशिश करूँगा । मेरी दूकानपर वे जितने दिन ठहरते, मैं उनकी

यथाशक्ति पूरी सेवा करता, इतनेमें पाकिस्तान बन गया। सबके साथ मुझे भी वहाँसे निकलना पड़ा ।

वहाँसे बहुत कष्टोंके बाद किसी प्रकार अमृतसर पहुँचा । अब कहीं रहने और काम-काज प्रारम्भ करनेका प्रश्न सामने आया । परिवारमें सब मिलाकर दस व्यक्ति थे । इसी समय मुझे कपूरथलेवाले मित्रका ध्यान आया । मैंने उनको पत्र लिखा । उसका तत्काल उत्तर आ गया, जिसमें मुझे परिवारसहित शीघ्र वहाँ पहुँचनेके लिये आग्रह किया गया था । मेरे मित्रने इस बातपर रोष भी प्रकट किया था कि 'मैंने अपने भारत पहुँचनेकी सूचना इतनी देरसे क्यों दी !' कुछ कारणोंसे मैं अमृतसरसे रवाना न हो सका । वे सज्जन तीन-चार दिन बाद स्वयं वहीं आ गये और मुझे साथ चलनेके लिये उन्होंने बाध्य किया ।

मैं परिवारसहित कपूरथला उन व्यापारी मित्रके पास पहुँच गया । उन्होंने मेरे वहाँ पहुँचते ही कह दिया 'कम-से-कम छः मास आप मेरे पास सर्वथा निश्चिन्त होकर रहें, आपके सब व्ययका दायित्व मुझपर है । अपने और बच्चोंके स्वास्थ्यका ध्यान करें । इसके बाद आपके भावी कार्यक्रमके सम्बन्धमें विचार किया जायगा ।' मैं किसी भी प्रकार उनपर आश्रित होकर नहीं रहना चाहता था । पर वे भी मुझे काम न करने देनेके लिये दृढ़निश्चयी थे । किसी प्रकार छः मास कटे । मैंने कहा—'आपने मुझपर इतना उपकार किया है, इसका मैं कैसे बदला चुका सकता हूँ । आपकी आज्ञाका पालन हो गया । इसलिये अब आप मुझे छुट्टी दीजिये ।' इस प्रकार आज-कल करते उन्होंने एक महीना और निकाल दिया ।

अन्तमें मैंने भी बहुत हठ किया । तब मेरे उन उपकारी मित्रने पूछा—'आप कहाँ जाना चाहते हैं ? यहीं कपूरथलामें रहें । मैं आपको दूकान खुलवा देता हूँ ।' पर मैं अब, किसी प्रकार भी कपूरथलामें रहनेके लिये तैयार न था । बहुत खींचतानके बाद मैं दिल्ली जानेके लिये उनसे छुट्टी ले सका । उन्होंने चलते समय मेरे हाथमें तीन हजार रुपये नकद रख दिये और कहा—'दिल्ली जाते ही आपको मकान नहीं मिलेगा, रोजगार ढूँढ़ना होगा, तबतक कैसे गुजारा करेंगे ? ये रुपये काम आयेंगे । यदि फिर जरूरत हो तो निःसंकोच दिल्लीसे लिख देना, मैं और भेज दूँगा ।' मैं यह राशि लेनेको किसी प्रकार भी उद्यत नहीं था । फिर खींचतान हुई । मैंने कड़ा विरोध किया पर सब व्यर्थ ।

मैं दिल्ली पहुँचा । किसी प्रकार पगड़ी देनेपर एक छोटा-सा कमरा मिला, जिसमें हम दस प्राणी रहते हैं, पर दूकान नहीं मिल सकी । इसलिये, मैंने तीन-चार माससे, टाँगा चलानेका काम शुरू कर दिया । आजतक यह काम कभी नहीं किया था । पर मेहनत तो करनी ही है । इस समय उसकी आँखोंमें आँसू थे । उसने कहा—'बाबूजी ! मैंने तो कपूरथलाके व्यापारी मित्रकी कुछ भी सेवा नहीं की थी, पर उसने मुझपर इतने उपकार किये हैं कि जिनका बदला मैं कई जन्मोंमें भी नहीं चुका सकूँगा ।'

मैंने कहा—भाई ! थोड़ा-सा किया गया उपकार भी कभी व्यर्थ नहीं जाता है । आपने स्वयं इसका अनुभव कर लिया । आप भी अपने जीवनमें सेवा और पर-कल्याणका व्रत लें ।

जाति-विरोधसे अनर्थ

एक व्याधने पक्षियोंको फँसानेके लिये अपना जाल बिछाया। उसके जालमें दो पक्षी फँसे; किंतु उन पक्षियोंने झटपट परस्पर सलाह की और जालको लेकर उड़ने लगे। व्याधको यह देखकर बड़ा दुःख हुआ। वह उन पक्षियोंके पीछे भूमिपर दौड़ने लगा।

कोई ऋषि अपने आश्रममें बैठे यह दृश्य देख रहे थे। उन्होंने व्याधको समीप बुलाकर पूछा—'तुम व्यर्थ क्यों दौड़ रहे हो? पक्षी तो जाल लेकर आकाशमें उड़ रहे हैं।'

व्याध बोला—'भगवन्! अभी इन पक्षियोंमें मित्रता है। वे परस्पर मेल करके एक दिशामें उड़ रहे हैं। इसीसे वे मेरा जाल लिये जा रहे हैं। परंतु कुछ देरमें इनमें झगड़ा हो सकता है। मैं उसी समयकी प्रतीक्षामें इनके पीछे दौड़ रहा हूँ। परस्पर झगड़कर जब ये गिर पड़ेंगे, तब मैं इन्हें पकड़ लूँगा।'

व्याधकी बात ठीक थी। थोड़ी देर उड़ते-उड़ते जब पक्षी थकने लगे, तब उनमें इस बातको लेकर विरोध हो गया कि उन्हें कहाँ ठहरना चाहिये। विरोध होते ही उनके उड़नेकी दिशा और पंखोंकी गति समान नहीं रह गयी। इसका फल यह हुआ कि वे उस जालको सम्हाले नहीं रख सके। जालके भारसे लड़खड़ाकर स्वयं भी गिरने लगे और एक बार गिरना प्रारम्भ होते ही जालमें उलझ गये। अब उनके पंख भी फँस चुके थे। जालके साथ वे भूमिपर गिर पड़े। व्याधने उन्हें सरलतापूर्वक पकड़ लिया।—सु० सिं०

(महाभारत, उद्योग० ६४)

सुख-दुःखका साथी

व्याधने जहरसे बुझाया हुआ बाण हरिनोंपर चलाया। निशाना चूककर बाण एक बड़े वृक्षमें धँस गया। जहर सारे वृक्षमें फैल गया। पत्ते झड़ गये और वृक्ष सूखने लगा। उस पेड़के खोखलेमें बहुत दिनोंसे एक तोता रहता था। उसका पेड़में बड़ा प्रेम था। अतः पेड़ सूखनेपर भी वह उसे छोड़कर नहीं गया था। उसने बाहर निकलना छोड़ दिया और चुगा-पानी न मिलनेसे वह भी सूखकर काँटा हो गया। वह धर्मात्मा तोता अपने साथी वृक्षके साथ ही अपने प्राण देनेको तैयार हो गया। उसकी इस उदारता, धीरज, सुख-दुःखमें समता और त्यागवृत्तिका वातावरणपर बड़ा असर हुआ। देवराज इन्द्रका उसके प्रति आकर्षण हुआ। इन्द्र आये। तोतेने इन्द्रको पहचान लिया। तब इन्द्रने कहा—'प्यारे शुक! इस पेड़पर न पत्ते हैं, न कोई फल। अब कोई पक्षी भी इसपर नहीं रहता। इतना बड़ा जंगल पड़ा है, जिसमें हजारों सुन्दर फल-फूलोंसे लदे हरे-भरे वृक्ष हैं और उनमें पत्तोंसे ढके हुए रहनेके लायक बहुत खोखले भी हैं। यह वृक्ष तो अब मरनेवाला ही है। इसके बचनेकी कोई आशा नहीं है। यह अब फल-फूल नहीं सकता। इन बातोंपर विचार करके तुम इस ठूँठे पेड़को छोड़कर किसी हरे-भरे वृक्षपर क्यों नहीं चले जाते?'

धर्मात्मा तोतेने सहानुभूतिकी लंबी साँस छोड़ते हुए दीन वचन कहे—'देवराज! मैं इसीपर जन्मा था, इसीपर पला और इसीपर अच्छे-अच्छे गुण भी सीखे। इसने सदा बच्चेके समान मेरी देख-रेख की, मुझे

मीठे फल दिये और वैरियोंके आक्रमणसे बचाया। आज इसकी बुरी अवस्थामें मैं इसे छोड़कर अपने सुखके लिये कहाँ चला जाऊँ? जिसके साथ सुख भोगे, उसीके साथ दुःख भी भोगूँगा। मुझे इसमें बड़ा आनन्द है। आप देवताओंके राजा होकर मुझे यह बुरी सलाह क्यों दे रहे हैं? जब इसमें शक्ति थी, यह सम्पन्न था, तब तो मैंने इसका आश्रय लेकर जीवन धारण किया; आज जब यह शक्तिहीन और दीन हो गया, तब मैं इसे छोड़कर चल दूँ? यह कैसे हो सकता है।'

तोतेकी मधुर मनोहर प्रेमभरी वाणी सुनकर इन्द्रको बड़ा सुख मिला। उन्हें दया आ गयी। वे बोले—'शुक! तुम मुझसे कोई वर माँगो।' तोतेने कहा—'आप वर देते हैं तो यही दीजिये कि यह मेरा प्यारा पेड़ पूर्ववत् हरा-भरा हो जाय।' इन्द्रने अमृत बरसाकर पेड़को सींच दिया। उसमें फिरसे नयी-नयी शाखाएँ, पत्ते और फल लग गये। वह पूर्ववत् श्रीसम्पन्न हो गया और वह तोता भी अपने इस आदर्श व्यवहारके कारण आयु पूरी होनेपर देवलोकको प्राप्त हुआ। (महाभारत)

आदर्श मित्र

हिष्मक राष्ट्रमें सुकुल नामका एक धर्मात्मा राजा राज्य करता था। नगरके पास ही एक व्याध पक्षियोंको फँसाकर उन्हें बेचकर अपनी जीविका चलाता था। वहींपर एक बड़ा लंबा-चौड़ा 'मानस' नामका सरोवर था। व्याध वहीं जाल फैलाया करता था। वहाँ अनेकों प्रकारके पक्षी दल-के-दल आया करते थे। उस समय हंसोंका राजा चित्रकूट पर्वतकी गुफामें रहा करता था। एक बार हंसोंने आकर उससे अपना समाचार कहा तथा उस सरोवरकी बड़ी प्रशंसा की, साथ ही वहाँ चलनेकी प्रार्थना भी की। हंसराजने कहा—'यद्यपि वहाँ चलना ठीक नहीं है तथापि तुम लोगोंका आग्रह ही है तो चलो एक बार देख आयें।' ऐसा कहकर वह भी अपने परिवारके साथ चल पड़ा। सरोवरके पास पहुँचकर हंसराज अभी उतर ही रहा था कि जालमें फँस गया, तथापि उसने धीरजसे काम लिया और घबराया नहीं; क्योंकि वह जानता था कि यदि घबराकर होहल्ला मचाऊँगा तो ये सभी हंस भूखे ही भाग जायँगे।

शामको जब चलनेकी बारी आयी और सबने हंससे चलनेको कहा, तब उसने अपनी स्थिति बतला दी। अब क्या था, सभी हंस भाग चले। बस, केवल उसका मन्त्री सुमुख रह गया। हंसराजने उससे भी भाग जानेको कहा और व्यर्थ प्राण देनेमें कोई लाभ न होनेकी बात बतलायी। पर सुमुखने कहा—'मैं आज यहाँसे भाग भी जाऊँ तो भी अमर तो होऊँगा नहीं। हाँ, मेरा धर्म चला जायगा। इसलिये मैं प्राण देकर भी अपने धर्मकी रक्षा करूँगा और तुम्हें बचाऊँगा।' ऐसा कहकर वह वहीं रह गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल व्याध आया। उसने देखा कि एक स्वतन्त्र हंस भी यों ही डटा है तो उसके पास जाकर कारण पूछा। उसने अपनी सारी बात बतलायी। व्याधने कहा—'तू चला जा, मैं तुझे जीवन-दान देता हूँ।' सुमुखने कहा—'नहीं, तू मुझे खा ले या बेच डाल, पर मेरे राजाको छोड़ दे।' इसपर व्याधका हृदय द्रवित हो गया और उसने यह कहकर हंसराजको छोड़ दिया कि 'सुमुख-जैसे मित्र किसी बिरलेके ही भाग्यमें होंगे।'

—जा० श०

एक अनुभव

(लेखक—श्रीरामरुद्रप्रसादसिंहजी, आई० ए० एस्०)

गत वर्ष मैं पटनेमें मकान बना रहा था। बरसातके कुछ पहले एक वैगन चूना आ गया। चारों तरफ ईंट खड़ाकर और ऊपर करोगेटेड टीनके चादर रखकर उस चूनेको भीतर रख दिया गया। उन टीनके चादरोंको रोकनेके लिये उन चादरोंको कुछ ईंटोंसे दबा दिया गया। थोड़े दिन बाद अर्द्ध रात्रिके समय बड़े ही जोरका अंधड़-पानी आया, इतने जोरका कि शहरकी बिजली बुझ गयी, अनेकों पेड़ और कुछ मकानोंके छप्पर गिर गये। उस घोर रात्रिमें मैंने सोचा कि मेरे चूनेके घरके टीनके चादर, जो थोड़े ईंटोंसे दबाकर रक्खे गये थे, जरूर ही उड़ जायँगे और समूचा चूना विनष्ट हो जायगा। मैं तत्क्षण बैठकर प्रभुसे रक्षार्थ प्रार्थना करने लगा। मैंने अशरण-शरणकी पुकार की। मैंने सोचा इस घोर परिस्थितिमें उनके बिना और कोई सहारा नहीं है। मैंने स्मरण किया—

'कोटि बिघ्न संकट बिकट, कोटि सत्रु जो साथ।
तुलसी बल नहिं करि सकैं जो सुदिष्ट रघुनाथ।'
'गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई।
गरुड सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही।'
'चाहे तो छार कौं मेरु करै, अरु मेरु कौं चाहे तो छार बनावै।
चाहे तो रंक कौं राव करै, अरु राव को द्वार ही द्वार फिरावै।'
'निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम् ॥
'क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरन्ति ॥
'दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या,
सर्वोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता ॥
'निराश्रयं मां जगदीश रक्ष।'

दूसरे दिन सबेरे मुझे आश्चर्य हुआ, यह देखकर कि मेरे चूनेके घरके ऊपरके टीनके चादर अपनी जगहपर मौजूद थे। मैंने देखा कि मेरे एक मित्रके घरके ऊपरके असबेस्टसके चादर जो तारसे बँधे थे टूटकर गिर पड़े थे। प्रभुकी कृपासे मैं गद्गद हो गया।

कपोतकी अतिथि-सेवा

गोदावरीके समीप ब्रह्मगिरिपर एक बड़ा भयंकर व्याध रहता था। वह नित्य ही ब्राह्मणों, साधुओं, यतियों, गौओं और मृग-पक्षियोंका दारुण संहार किया करता था। उस महापापी व्याधके हृदयमें दयाका लेश भी न था और वह बड़ा ही क्रूर, क्रोधी तथा असत्यवादी था। उसकी स्त्री और पुत्र भी उसीके स्वभावके थे।

एक दिन अपनी पत्नीकी प्रेरणासे वह घने जंगलमें घुस गया। वहाँ उसने अनेकों पशु-पक्षियोंका वध किया। कितनोंको ही जीवित पकड़कर पिंजड़ेमें डाल दिया। इस प्रकार पूरा आखेटकर वह तीसरे पहर घरको लौटा आ रहा था, एक ही क्षणमें आकाशमें मेघोंकी घनघोर घटा घिर आयी और बिजली कौंधने लगी। हवा चली और पानीके साथ प्रचण्ड उपल (ओला) वृष्टि हुई। मूसलधार वर्षा होनेके कारण बड़ी भयंकर दशा हो गयी। व्याध राह चलते-चलते थक गया। जलकी अधिकताके कारण जल, थल और गड्ढे एक-से हो रहे

थे। अब वह पापी सोचने लगा—'कहाँ जाऊँ, कहाँ ठहरूँ, क्या करूँ ?'

इस प्रकार चिन्ता करते हुए उसने थोड़ी ही दूर-पर एक उत्तम वृक्ष देखा। वह वहीं आकर बैठ गया। उसके सब वस्त्र भींग गये थे। वह जाड़ेसे ठिठुर रहा था तथा नाना प्रकारकी बातोंको सोच ही रहा था कि सूर्यास्त हो गया। अब उसने वहीं रहनेकी ठानी। उसी वृक्षपर एक कबूतर भी रहता था। उसकी स्त्री कपोती बड़ी पतिव्रता थी। उस दिन वह चारा चुगकर नहीं लौट सकी थी। अब कपोत चिन्तित हुआ। वह कहने लगा—'कपोती न जाने क्यों अबतक नहीं आयी। आज बड़ी आँधी-वर्षा थी, पता नहीं वह कुशलसे है या नहीं ? उसके बिना आज यह घोंसला उजाड़-सा जान पड़ता है। वास्तवमें (गृह) घरको (गृह) घर नहीं कहते—गृहिणीको ही (गृह) घर कहा जाता है। जिस गृहमें गृहिणी नहीं वह तो जंगल है। यदि आज मेरी प्रिया न लौटी तो मैं इस जीवनको रखकर क्या करूँगा ?'

इधर उसकी कपोती भी इस व्याधके ही पिंजड़ेमें पड़ी थी। जब उसने कबूतरको इस प्रकार विलाप करते सुना तो बोली—'महामते! आज मैं धन्य हूँ, जो आप मेरी ऐसी प्रशंसा कर रहे हैं। पर आज आप मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कीजिये। देखिये, यह व्याध आपका आज अतिथि बना है। यह सर्दीसे निश्चेष्ट हो रहा है, अतएव कहींसे तृण तथा अग्नि लाकर इसे स्वस्थ कीजिये।'

कबूतर यह देखकर कि उसकी स्त्री वहीं है, होशमें आया तथा उसकी बात सुनकर उसने धर्ममें मन लगाया। वह एक स्थानसे थोड़ा तृण तथा अग्निको चोंचसे उठा लाया और उसने अग्नि प्रज्वलित कर व्याधको तपाया। अब कपोतीने कहा, 'महाभाग! मुझे आगमें डालकर इस व्याधका भोजन-सत्कार अब कर दीजिये; क्योंकि यह क्षुधा-दावानलमें जल रहा है।'

कपोत बोला—'शुभे! मेरे जीते-जी तुम्हारा यह धर्म नहीं। मुझे आज्ञा दो, मैं ही इसका आतिथ्य करूँ।' ऐसा कहकर उसने तीन बार अग्निकी परिक्रमा की और वह भक्तवत्सल चतुर्भुज महाविष्णुका स्मरण करते हुए अग्निमें प्रवेश कर गया। अब व्याध होशमें था, उसने जब कबूतरको ऐसा करते देखा तो सहसा बोल उठा—'हाय! मैंने यह क्या कर डाला ? मैं बड़ा ही नीच, क्रूर और मूर्ख हूँ। अहा! इस महात्मा कबूतरने मुझ दुष्टके लिये प्राण दे दिया। मुझ नीचको बार-बार धिक्कार है।' ऐसा कहकर उसने लाठी, शलाका, जाल और पिंजड़ेको फेंककर उस कबूतरीको भी छोड़ दिया और महाप्रस्थानका निश्चयकर वहाँसे तप करनेके लिये चल दिया।'

अब कबूतरीने भी तीन बार कपोत एवं अग्निकी प्रदक्षिणा की और बोली—'स्वामीके साथ चितामें प्रवेश करना स्त्रीके लिये बहुत बड़ा धर्म है। वेदमें इसका विधान है और लोकमें भी इसकी बड़ी प्रशंसा है।' यों कहकर वह भी आगमें कूद गयी। इसी समय आकाशमें जय-जयकी ध्वनि गूँज उठी। तत्काल ही दोनों दम्पति दिव्य विमानपर चढ़कर स्वर्ग चले। व्याधने उन्हें इस प्रकार जाते देख हाथ जोड़कर अपने उद्धारका उपाय पूछा।

कपोत-दम्पतिने कहा—'व्याध! तुम्हारा कल्याण हो। तुम गोदावरीके तटपर जाओ। वहाँ पंद्रह दिनोंतक स्नान करनेसे तुम सब पापोंसे मुक्त हो जाओगे। पाप-मुक्त हो जानेपर जब तुम पुनः गौतमी (गोदावरी) गङ्गामें स्नान करोगे तो तुम्हें अश्वमेध यज्ञका पुण्य प्राप्त होगा।'

उनकी बात सुनकर व्याधने वैसा ही किया। फिर तो वह भी दिव्य रूप धारणकर एक श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ होकर स्वर्ग गया। इस तरह कपोत, कपोती और व्याध तीनों ही स्वर्ग गये। गोदावरी-तटपर जहाँ यह घटना घटी थी, वह कपोत-तीर्थके नामसे विख्यात हो गया। वह आज भी उस महात्मा कपोतका स्मरण दिलाता हुआ हृदयको पवित्र करता है तथा स्नान, दान, तप, यज्ञ, पितृ-पूजन करनेवालोंको अक्षय फल करता है। —जा० श०

(महाभारत, शान्तिपर्व, आपद्धर्म अध्याय १४३-; ब्रह्मपुराण अ० ८०; पञ्चतन्त्र काकोलूकीय कथा ८; पुराण, ब्रह्मखण्ड)

खूब विचारकर कार्य करनेसे ही शोभा है

किसी वनमें खरनखर नामक एक सिंह रहता था। एक दिन उसे बड़ी भूख लगी। वह शिकारकी खोजमें दिनभर इधर-उधर दौड़ता रहा, पर दुर्भाग्यवशात् उस दिन उसे कुछ नहीं मिला। अन्तमें सूर्यास्तके समय उसे एक बड़ी भारी गुहा दिखायी दी। उसमें घुसा तो वहाँ भी कुछ न मिला। तब वह सोचने लगा, अवश्य ही यह किसी जीवकी माँद है। वह रातमें यहाँ आयेगा ही, सो यहाँ छिपकर बैठता हूँ। उसके आनेपर मेरा आहारका कार्य हो जायगा।

इसी समय उस माँदमें रहनेवाला दधिपुच्छ नामका सियार वहाँ आया। उसने जब दृष्टि डाली तो उसे पता लगा कि सिंहका चरण-चिह्न उस माँदकी ओर जाता हुआ तो दीखता है, पर उसके लौटनेके पद-चिह्न नहीं हैं। वह सोचने लगा, 'अरे राम! अब तो मैं मारा गया; क्योंकि इसके भीतर सिंह है। अब मैं क्या करूँ, इस बातका सुनिश्चित पता भी कैसे लगाऊँ?'

आखिर कुछ देरतक सोचनेपर उसे एक उपाय सूझा। उसने बिलको पुकारना आरम्भ किया। वह कहने लगा—'ऐ बिल! ऐ बिल!' फिर थोड़ी देर रुककर बोला—'बिल! अरे, क्या तुम्हें स्मरण नहीं है, हमलोगोंमें तय हुआ है कि मैं जब यहाँ आऊँ तब तुम्हें मुझे स्वागतपूर्वक बुलाना चाहिये। पर अब यदि तुम नहीं बुलाते तो मैं दूसरे बिलमें जा रहा हूँ।' इसे सुन सिंह सोचने लगा—'मालूम होता है यह गुफा सियारको बुलाया करती थी, पर आज मेरे डरसे इसकी बोली नहीं निकल रही है। इसलिये मैं इस सियारको प्रेमपूर्वक बुला लूँ और जब यह आ जाय तब चट कर जाऊँ।'

ऐसा सोचकर सिंहने उसे जोरसे पुकारा। क्या था उसके भीषण शब्दसे वह गुफा गूँज उठी; वनके सभी जीव डर गये। चतुर सियार भी इस श्लोकको पढ़ता भाग चला—

अनागतं यः कुरुते स शोभते
स शोच्यते यो न करोत्यनागतम्।
वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा
बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता॥

अर्थात् 'जो सावधान होकर विचारपूर्वक कार्य करता है, वह तो शोभता है और जो बिना विचारे कर डालता है, वह पीछे पश्चात्ताप करता है। मैं इस वनमें ही रहते-रहते बूढ़ा हो गया, पर आजतक कहीं बिलको बोलते नहीं सुना। (अवश्य ही दालमें कुछ काला है) अर्थात् माँदमें सिंह बैठा हुआ है।'

(पञ्चतन्त्र)

मिथ्या गर्वका परिणाम

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

समुद्रतटके किसी नगरमें एक धनवान् वैश्यके पुत्रोंने एक कौआ पाल रक्खा था । वे उस कौएको बराबर अपने भोजनसे बचा अन्न देते थे । उनकी जूँठन खानेवाला वह कौआ स्वादिष्ट तथा पुष्टिकर भोजन खाकर खूब मोटा हो गया था । इससे उसका अहंकार बहुत बढ़ गया । वह अपनेसे श्रेष्ठ पक्षियोंको भी तुच्छ समझने और उनका अपमान करने लगा ।

एक दिन समुद्रतटपर कहींसे उड़ते हुए आकर कुछ हंस उतरे । वैश्यके पुत्र उन हंसोंकी प्रशंसा कर रहे थे, यह बात कौएसे सही नहीं गयी । वह उन हंसोंके पास गया और उसे उनमें जो सर्वश्रेष्ठ हंस प्रतीत हुआ, उससे बोला—'मैं तुम्हारे साथ प्रतियोगिता करके उड़ना चाहता हूँ ।'

हंसोंने उसे समझाया—'भैया ! हम तो दूर-दूर उड़नेवाले हैं । हमारा निवास मानसरोवर यहाँसे बहुत दूर है । हमारे साथ प्रतियोगिता करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा । तुम हंसोंके साथ कैसे उड़ सकते हो ?'

कौएने गर्वमें आकर कहा—'मैं उड़नेकी सौ गतियाँ जानता हूँ और प्रत्येकसे सौ योजनतक उड़ सकता हूँ ।' उड्डीन, अवडीन, प्रडीन, डीन आदि अनेकों गतियोंके नाम गिनाकर वह बकवादी कौआ बोला—'बतलाओ, इनमेंसे तुम किस गतिसे उड़ना चाहते हो ?'

तब श्रेष्ठ हंसने कहा—'काक ! तुम तो बड़े निपुण हो । परंतु मैं तो एक ही गति जानता हूँ, जिसे सब पक्षी जानते हैं । मैं उसी गतिसे उडूँगा ।'

गर्वित कौएका गर्व और बढ़ गया । वह बोला—'अच्छी बात, तुम जो गति जानते हो उसीसे उड़ो ।'

उस समय कुछ पक्षी वहाँ और आ गये थे । उनके सामने ही हंस और कौआ दोनों समुद्रकी ओर उड़े । समुद्रके ऊपर आकाशमें वह कौआ नाना प्रकारकी कलाबाजियाँ दिखाता पूरी शक्तिसे उड़ा और हंससे कुछ आगे निकल गया । हंस अपनी स्वाभाविक मन्द गतिसे उड़ रहा था । यह देखकर दूसरे कौए प्रसन्नता प्रकट करने लगे ।

थोड़ी देरमें ही कौएके पंख थकने लगे । वह विश्राम-के लिये इधर-उधर वृक्षयुक्त द्वीपोंकी खोज करने लगा । परंतु उसे उस अनन्त सागरके अतिरिक्त कुछ दीख नहीं पड़ता था । इतने समयमें हंस उड़ता हुआ उससे आगे निकल गया था । कौएकी गति मन्द हो गयी । वह अत्यन्त थक गया और ऊँची तरंगोंवाले भयंकर जीवोंसे भरे समुद्रकी लहरोंके पास गिरनेकी दशामें पहुँच गया ।

हंसने देखा कि कौआ बहुत पीछे रह गया है तो रुक गया । उसने कौएके समीप आकर पूछा—'काक ! तुम्हारी चोंच और पंख बार-बार पानीमें डूब रही हैं । यह तुम्हारी कौन-सी गति है ?'

हंसकी व्यंगभरी बात सुनकर कौआ बड़ी दीनतासे बोला—'हंस ! हम कौए केवल काँव-काँव करना जानते हैं । हमें भला दूरतक उड़ना क्या आये । मुझे अपनी मूर्खताका दण्ड मिल गया । कृपा करके अब मेरे प्राण बचा लो ।'

जलसे भीगे, अचेत और अधमरे कौएपर हंसको दया आ गयी । पैरोंसे उसे उठाकर हंसने पीठपर रख लिया और उसे लादे हुए उड़कर वहाँ आया जहाँसे दोनों उड़े थे । हंसने कौएको उसके स्थानपर छोड़ दिया ।

(महाभारत, कर्ण० ४१)

संकटमें बुद्धिमानी

एक वनमें वटवृक्षकी जड़में सौ दरवाजोंका बिल बनाकर पलित नामका एक बुद्धिमान् चूहा रहता था। उसी वृक्षकी शाखापर लोमश नामका एक बिलाव भी रहता था। एक बार एक चाण्डालने आकर उस वनमें डेरा डाल दिया। सूर्यास्त होनेपर वह अपना जाल फैला देता था और उसकी ताँतकी डोरियोंको यथास्थान लगाकर मौजसे अपने झोंपड़ेमें सो जाता था। रातमें अनेकों जीव उसके जालमें फँस जाते थे, जिन्हें वह सवेरे पकड़ लेता था। बिलाव यद्यपि बहुत सावधान रहता था तो भी एक दिन उसके जालमें फँस ही गया। यह देखकर पलित चूहा निर्भय होकर वनमें आहार खोजने लगा। इतनेहीमें उसकी दृष्टि चाण्डालके डाले हुए (फँसानेके लिये) मांस-खण्डोंपर पड़ी। वह जालपर चढ़कर उन्हें खाने लगा। इतनेमें ही उसने देखा कि हरिण नामका न्यौला चूहेको पकड़नेके लिये जीभ लपलपा रहा था। अब चूहेने जो ऊपरकी ओर वृक्षपर भागनेकी सोची तो उसने वटकी शाखापर रहनेवाले अपने घोर शत्रु चन्द्रक नामक उल्लूको देखा। इस प्रकार इन शत्रुओंके बीचमें पड़कर वह डर गया और चिन्तामें डूब गया।

इसी समय उसे एक विचार सूझ गया। उसने देखा कि बिलाव संकटमें पड़ा है, इसलिये वह इसकी रक्षा कर सकेगा। अतः उसने उसकी शरणमें जानेकी सोची। उसने बिलावसे कहा—'भैया! अभी जीवित हो न? देखो! डरो मत। यदि तुम मुझे मारना न चाहो तो मैं तुम्हारा उद्धार कर सकता हूँ। मैंने खूब विचारकर अपने और तुम्हारे उद्धारके लिये उपाय सोचा है। उससे हम दोनोंका हित हो सकता है। देखो ये न्यौला और उल्लू मेरी घातमें बैठे हुए हैं। इन्होंने अभीतक मुझपर आक्रमण नहीं किया है, इसीलिये बचा हुआ हूँ। अब तुम मेरी रक्षा करो और तुम जिस जालको काटनेमें असमर्थ हो उसे काटकर मैं तुम्हारी रक्षा कर दूँगा।'

बिलाव भी बुद्धिमान् था। उसने कहा—'सौम्य! तुम्हारी बातोंसे बड़ी प्रसन्नता हुई है। इस समय मेरे प्राण संकटमें हैं। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। तुम जैसा कहोगे मैं वैसा ही करूँगा।'

चूहा बोला—'तो मैं तुम्हारी गोदमें नीचे छिप जाना चाहता हूँ, क्योंकि नेवलेसे मुझे बड़ा भय हो रहा है। तुम मेरी रक्षा करना। इसके बाद मैं तुम्हारा जाल काट दूँगा। यह बात मैं सत्यकी शपथ करके कहता हूँ।'

लोमश बोला—'तुम तुरंत आ जाओ। भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें। तुम तो मेरे प्राणोंके समान सखा हो। इस संकटसे छूट जानेपर मैं अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ तुम्हारा प्रिय तथा हितकारी कार्य करता रहूँगा।'

अब चूहा आनन्दसे उसकी गोदमें जा बैठा। बिलावने भी उसे ऐसा निःशङ्क बना दिया कि वह माता-पिताकी गोदके समान उसकी छातीसे लगकर सो गया। जब न्यौले और उल्लूने उनकी ऐसी गहरी मित्रता देखी तो वे निराश हो गये और अपने-अपने स्थानको चले गये। चूहा देशकालकी गतिको पहचानता था, इसलिये चाण्डालकी प्रतीक्षा करते हुए धीरे-धीरे जाल काटने लगा। बिलाव बन्धनके खेदसे ऊब गया था। उसने उससे जल्दी-जल्दी जाल काटनेकी प्रार्थना की।

पलितने कहा, 'भैया! घबराओ मत। मैं कभी नहीं चुकूँगा। असमयमें काम करनेसे कर्ताको हानि ही होती है। यदि मैंने पहले ही तुम्हें छुड़ा दिया तो मुझे तुमसे भय हो सकता है। इसलिये जिस समय मैं देखूँगा कि चाण्डाल हथियार लिये हुए इधर आ रहा है, उसी समय मैं तुम्हारे बन्धन काट डालूँगा। उस समय तुम्हें

वृक्षपर चढ़ना ही सूझेगा और मैं तुरंत अपने बिलमें घुस जाऊँगा ।'

बिलावने कहा—'भाई ! पहलेके मेरे अपराधोंको भूल जाओ । तुम अब फुर्तीके साथ मेरा बन्धन काट दो । देखो, मैंने आपत्तिमें देखकर तुम्हें तुरंत बचा लिया । अब तुम अपना मनोमालिन्य दूर कर दो ।'

चूहेने कहा—'मित्र ! जिस मित्रसे भयकी सम्भावना हो उसका काम इस प्रकार करना चाहिये, जैसे बाजीगर सर्पके साथ उसके मुँहसे हाथ बचाकर खेलता है । जो व्यक्ति बलवान्‌के साथ सन्धि करके अपनी रक्षाका ध्यान नहीं रखता, उसका वह मेल अपथ्य भोजनके समान कैसे हितकर होगा ? मैंने बहुत-से तन्तुओंको काट डाला है, अब मुख्यतः एक ही डोरी काटनी है । जब चाण्डाल आ जायगा, तब भयके कारण तुम्हें भागनेकी ही सूझेगी, उसी समय मैं तुरंत उसे काट डालूँगा । तुम बिल्कुल न घबराओ ।'

इसी तरह बातें करते वह रात बीत गयी । लोमशका भय बराबर बढ़ता गया । प्रातःकाल परिघ नामक चाण्डाल हाथमें शस्त्र लिये आता दीखा । वह साक्षात् यमदूतके समान जान पड़ता था । अब तो बिलाव भयसे व्याकुल हो गया । अब चूहेने तुरंत जाल काट दिया । बिलाव झट पेड़पर चढ़ गया और चूहा भी बिलमें घुस गया । चाण्डाल भी जालको कटा देख निराश होकर वापस चला गया ।

अब लोमशने चूहेसे कहा—'भैया ! तुम मुझसे कोई बात किये बिना ही बिलमें क्यों घुस गये । अब तो मैं तुम्हारा मित्र हो गया हूँ और अपने जीवनकी शपथ करके कहता हूँ, अब मेरे बन्धु-बान्धव भी तुम्हारी इस प्रकार सेवा करेंगे, जैसे शिष्य लोग गुरुकी सेवा करते हैं । तुम मेरे शरीर, मेरे घर और मेरी सारी सम्पत्तिके स्वामी हो । आजसे तुम मेरा मन्त्रित्व स्वीकार करो और पिताकी तरह मुझे शिक्षा दो । बुद्धिमें तो तुम साक्षात् शुक्राचार्य ही हो । अपने मन्त्रबलसे जीवन-दान देकर तुमने मुझे निःशुल्क खरीद लिया है । अब मैं सर्वथा तुम्हारे अधीन हूँ ।'

बिलावकी चिकनी-चुपड़ी बातें सुनकर परम नीतिज्ञ चूहा बोला—'भाई साहब ! मित्रता तभीतक निभती है, जबतक स्वार्थसे विरोध नहीं आता । मित्र वही बन सकता है, जिससे कुछ स्वार्थ सिद्ध हो तथा जिसके मरनेसे कुछ हानि हो, तभीतक मित्रता चलती है । न मित्रता कोई स्थायी वस्तु है और न शत्रुता ही । स्वार्थकी अनुकूलता-प्रतिकूलतासे ही मित्र तथा शत्रु बनते रहते हैं । समयके फेरसे कभी मित्र ही शत्रु तथा कभी शत्रु ही मित्र बन जाता है । हमारी प्रीति भी एक विशेष कारणसे ही हुई थी । अब जब वह कारण नष्ट हो गया तो प्रीति भी न रही । अब तो मुझे खा जानेके सिवा मुझसे तुम्हारा कोई दूसरा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं । मैं दुर्बल तुम बलवान्, मैं भक्ष्य तथा तुम भक्षक ठहरे । अतएव तुम मुझसे भूख बुझाना चाहते हो । भला, जब तुम्हारे प्रिय पुत्र और स्त्री मुझे तुम्हारे पास बैठा देखेंगे तो मुझे झट चट करनेमें वे क्यों चूकेंगे ? इसलिये मैं तुम्हारे साथ नहीं रह सकता । अतएव भैया ! तुम्हारा कल्याण हो ! मैं तो चला । यदि मेरे किये हुए उपकारका तुम्हें ध्यान हो तो कभी मैं चूक जाऊँ तो मुझे चट न कर जाना ।'

पलितने जब इस प्रकार खरी-खरी सुनायी तो बिलावने लज्जित होकर कहा—'भाई ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, तुम मेरे परमप्रिय हो और मैं तुमसे द्रोह नहीं कर सकता । अधिक क्या तुम्हारे कहनेसे मैं अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ प्राणतक त्याग सकता हूँ ।'

इस प्रकार बिलावने जब चूहेकी और भी बहुत प्रशंसा की, तब चूहेने कहा—'आप वास्तवमें बड़े साधु हैं। आपपर मैं पूर्ण प्रसन्न हूँ, तथापि मैं आपमें विश्वास नहीं कर सकता। इस सम्बन्धमें शुक्राचार्यकी दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) जब दो शत्रुओंपर एक-सी विपत्ति आ पड़े तब परस्पर मिलकर बड़ी सावधानीसे काम लेना चाहिये और जब काम हो जाय तब बली शत्रुका विश्वास नहीं करना चाहिये। (२) जो अविश्वासका पात्र हो, उसका कभी भी विश्वास न करे और जो विश्वासपात्र हो, उसका भी अत्यधिक विश्वास न करे। नीतिशास्त्रका यही सार है कि किसीका विश्वास न करना ही अच्छा है। इसलिये लोमशजी! मुझे आपसे सदा सावधान रहना चाहिये और आपको भी जन्मके चाण्डालसे बचना चाहिये।'

चाण्डालका नाम सुनकर बिलाव भाग गया और चूहा भी बिलमें चला गया। इस तरह दुर्बल और अकेला होनेपर भी बुद्धिबलसे पलित कई शत्रुओंसे बच गया।　　—जा० श०

(महा० शान्ति० आपद्धर्म० अध्याय १३८)

बहुमतका सत्य

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

किसी वृक्षपर एक उल्लू बैठा हुआ था। अचानक एक हंस उड़ता हुआ उस वृक्षपर आ बैठा। हंस स्वाभाविक रूपमें बोला—'उफ्! कितनी गरमी है। सूर्य आज बहुत प्रचण्ड रूपमें चमक रहे हैं।'

उल्लू बोला—'सूर्य? सूर्य कहाँ है? इस समय गरमी है यह तो ठीक; किंतु यह गरमी तो अन्धकार बढ़ जानेसे हुआ करती है।'

हंसने समझानेका प्रयत्न किया—'सूर्य आकाशमें रहते हैं। उनका प्रकाश संसारमें फैलता है, तब गरमी बढ़ती है। सूर्यका प्रकाश ही गरमी है।'

उल्लू हँसा—'तुमने प्रकाश नामक एक और नयी वस्तु बतायी। तुम चन्द्रमाकी बात करते तो वह मैं समझ सकता था। देखो, तुम्हें किसीने बहका दिया है। सूर्य या प्रकाश नामकी वस्तुओंकी संसारमें कोई सत्ता ही नहीं है।'

हंसने उल्लूको समझानेका जितना प्रयत्न किया, उल्लूका हठ उतना बढ़ता गया। अन्तमें उल्लूने कहा—'यद्यपि इस समय उड़नेमें मुझे बहुत कष्ट होगा, फिर भी मैं तुम्हारे साथ चलूँगा। चलो, वनके भीतर सघन वृक्षोंके बीच जो भारी वटवृक्ष है, उसपर मेरे सैकड़ों बुद्धिमान् जाति-भाई हैं। उनसे निर्णय करा लो।'

हंसने उल्लूकी बात स्वीकार कर ली। वे दोनों उल्लुओंके समुदायमें पहुँचे। उस उल्लूने कहा—'यह हंस कहता है कि आकाशमें इस समय सूर्य चमक रहा है। उसका प्रकाश संसारमें फैलता है। वह प्रकाश उष्ण होता है।'

सारे उल्लू हँस पड़े, फिर चिल्लाकर बोले—'क्या वाहियात बात है, न सूर्यकी कोई सत्ता है, न प्रकाशकी। इस मूर्ख हंसके साथ तुम तो मूर्ख मत बनो।'

सब उल्लू उस हंसको मारने झपटे। कुशल इतनी थी कि उस समय दिन था। उल्लुओंको वृक्षोंके अन्धकारसे बाहर कुछ दीख नहीं सकता था। हंसको उड़कर अपनी रक्षा करनेमें कठिनाई नहीं हुई। उसने उड़ते उड़ते अपने-आप कहा—'बहुमत सत्यको असत्य तो

मिथ्या गर्वका परिणाम

संकटमें बुद्धिमानी
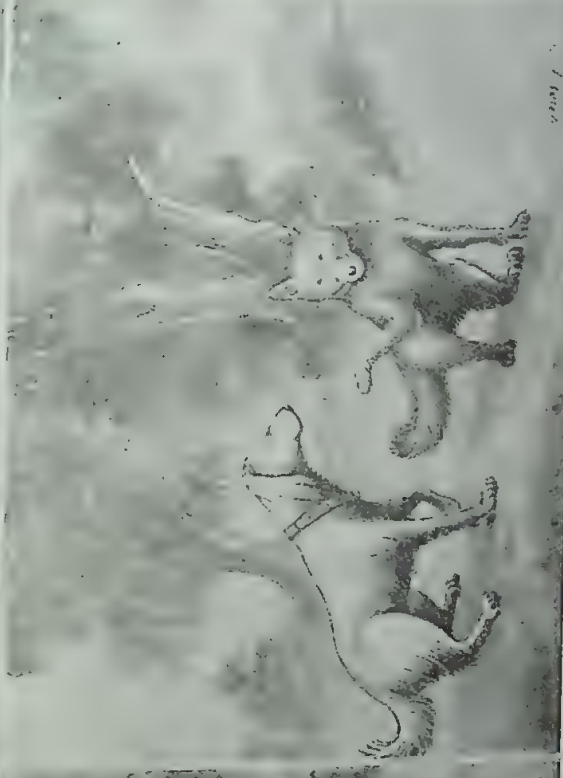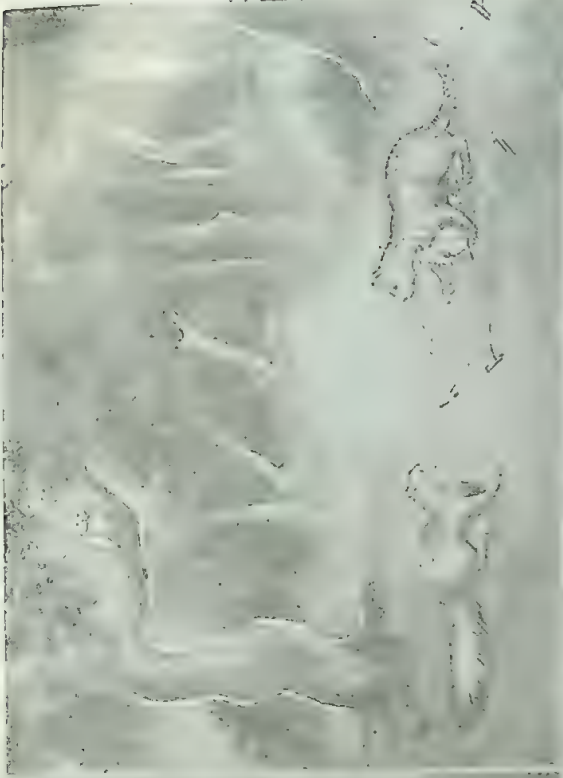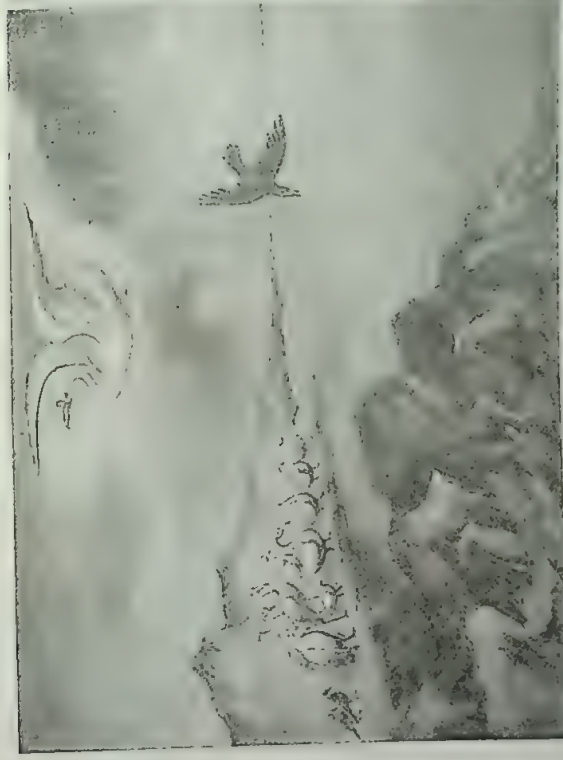
बहुमतका सत्य

स्वतन्त्रताका मूल्य

बुरी योनिसे उद्धार

संसारके सुखोंकी अनित्यता
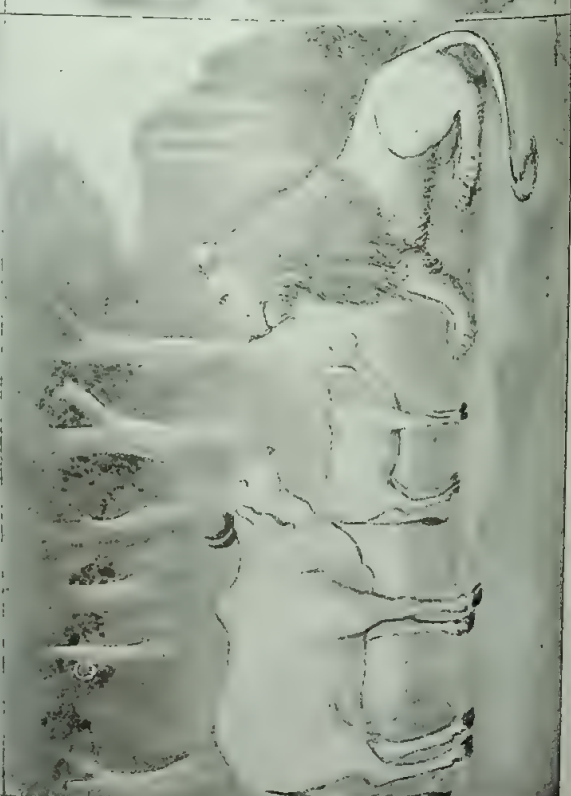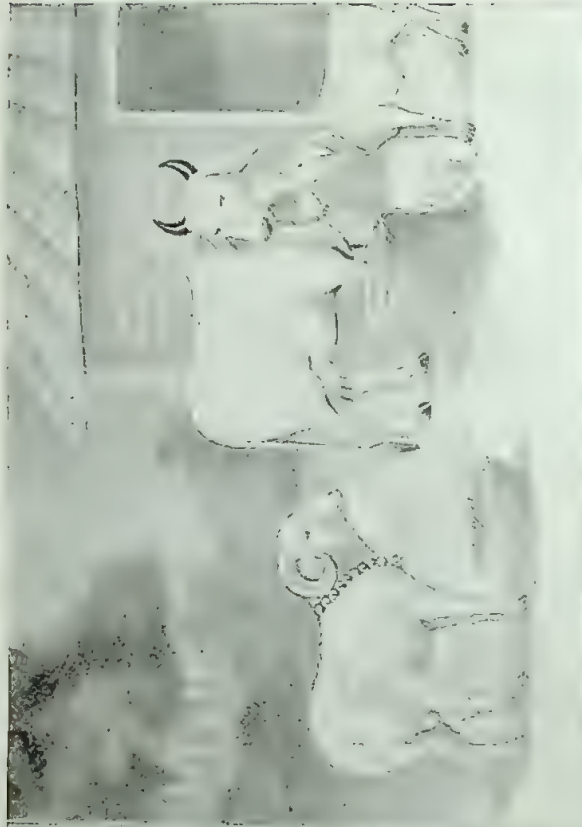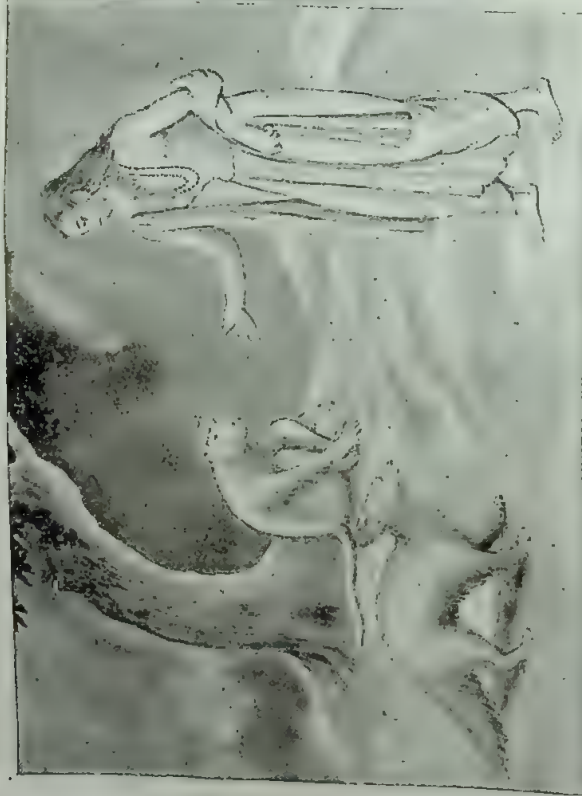
कर नहीं सकता, किंतु उल्लुओंका जहाँ बहुमत हो, वहाँ किसी समझदारको सत्यका प्रतिपादन करनेमें सफलता मिलनी कठिन ही है। चाहे वह सत्यका साक्षात्कार कर चुका हो।

स्वतन्त्रताका मूल्य

एक चाँदनी रातमें दैवयोगसे एक भेड़ियेको एक अत्यन्त मोटे-ताजे कुत्तेसे भेंट हो गयी। प्राथमिक शिष्टाचारके बाद भेड़ियेने कहा—'मित्र! यह कैसी बात है कि तुम स्वयं तो खा-पीकर इतने मोटे-ताजे हो गये हो और इधर मैं रात-दिन भोजनके अभावमें मर रहा हूँ, बड़ी कठिनाईसे इस दुर्बल शरीरमें मेरे प्राणमात्र अब शेष रह गये हैं।'

कुत्तेने कहा—'ठीक तो है, तुम भी हमारे-जैसे मोटे-ताजे बन सकते हो, बस, आवश्यकता इस बातकी है कि तुम भी मेरा अनुकरण करो।'

भेड़ियेने कहा—'वह क्या?'

'बस, केवल मेरे मालिकके घरकी रखवाली करना और रातमें चोरोंको समीप न आने देना।' कुत्ता बोला।

'सब प्रकारसे सोलहों आने जी लगाकर करूँगा। आजकल मेरे दिन बड़े दुःखसे बीत रहे हैं। एक तो जंगलका वातावरण, दूसरे असह्य हिमपात, घोर वर्षा—जीवन-धारण कठिन हो रहा है सो सिरपर गरम छत और भर-पेट भोजन, मैं समझता हूँ, यह परिवर्तन कोई बुरा तो नहीं दीखता।' भेड़िया बोला।

'बिलकुल ठीक। बस, तो अब आपको कुछ करना नहीं है। आप चुपचाप मेरे पीछे-पीछे चलते आइये।' कुत्ता बोला।

इस प्रकार जब दोनों धीरे-धीरे चले जा रहे थे, तबतक भेड़ियेका ध्यान कुत्तेकी गर्दनपर पड़े हुए एक दागकी तरफ गया। इस विचित्र चिह्नको देखकर उसे इतना कुतूहल हुआ कि वह किसी प्रकार अपनेको रोक न सका और पूछ बैठा कि वह उसका कैसा चिह्न है?

कुत्तेने कहा—'यह कुछ नहीं है।'

भेड़ियेने कहा—'तो भी कृपाकर बतलाओ तो सही।'

कुत्ता बोला—'मालूम होता है तुम बन्धनकी पट्टीकी बात कर रहे हो, जिसमें मेरी सिकड़ी लगी रहती है।'

'तो इसका अर्थ है कि तुम्हें यथेच्छ घूमने-फिरनेकी स्वतन्त्रता नहीं है।' भेड़िया चकित होकर चिल्ला पड़ा।

'प्रायः नहीं; क्योंकि मैं देखनेमें भयानक हूँ ही। इसलिये दिनमें तो लोग मुझे बाँध रखते हैं और रातमें खुला छोड़ देते हैं। पर मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, मेरा मालिक मुझे अपने जैसा ही भोजन देता है। वह मुझे बड़ा प्यार करता है। परंतु भाई यह क्या! तुम चले कहाँ?'

'बस! नमस्कार! तुम्हारा यह भोजन तुम्हें ही मुबारक हो। मेरी आजादीके सामने यह जंगलका सूखा छिलका एक परवश सम्राट्के उपभोगोंसे भी कहीं बढ़ा-चढ़ा है। मैं तो इस लोह-शृङ्खलाको उस मूल्यपर भी न स्वीकार करूँगा।'—A dry crust with liberty against a king's luxury with a chain.

—जा॰ श॰

बुरी योनिसे उद्धार

प्राचीन कालमें एक सियार और एक वानर मित्र-भावसे एक ही स्थानपर रहते थे। दोनोंको अपने पूर्व-जन्मका स्मरण था। एक समय वानरने सियारको श्मशानमें घृणित शवको खाते देखकर पूछा, 'मित्र! तुमने पूर्वजन्ममें क्या किया था जिससे तुम्हें इतना निषिद्ध तथा घृणित भोजन करना पड़ता है।' सियारने कहा, 'मित्र! मैं पूर्वजन्ममें वेदोंका पारङ्गत विद्वान् और समस्त कर्मकलापोंका ज्ञाता वेदशर्मा नामका ब्राह्मण था। उस जन्ममें मैंने एक ब्राह्मणको धन देनेका संकल्प किया था पर उसको दिया नहीं, उसीसे इस बुरी योनि तथा बुरे आहारको प्राप्त हुआ हूँ। प्रतिज्ञा करके यदि ब्राह्मणको वह वस्तु नहीं दी जाती तो उसका दस जन्मोंका पुण्य तत्काल नष्ट हो जाता है; अब तुम बताओ, तुम किस कर्मविपाकसे वानर हुए।'

वानर बोला—'मैं भी पूर्व-जन्ममें ब्राह्मण ही था। मेरा नाम वेदनाथ था और मित्र! पूर्वजन्ममें भी हमारी-तुम्हारी घनिष्ठ मित्रता थी। यद्यपि तुम्हें यह स्मरण नहीं, तथापि पुण्यके गौरवसे मुझे उसकी पूर्णतया स्मृति है। उस जन्ममें मैंने एक ब्राह्मणका शाक चुराया था, इसलिये मैं वानर हुआ हूँ। ब्राह्मणका धन लेनेसे नरक तो होता ही है, नरक भोगनेके बाद वानरकी ही योनि मिलती है। ब्राह्मणका धन अपहरण करनेसे बढ़कर दूसरा कोई भयंकर पाप नहीं। विष तो केवल खानेवालेको ही मारता है, किंतु ब्राह्मणका धन तो समूचे कुलका नाश कर डालता है। बालक, दरिद्र, कृपण तथा वेद-शास्त्र आदिके ज्ञानसे शून्य ब्राह्मणोंका भी अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्रोधमें आनेपर वे अग्निके समान भस्म कर देते हैं।'

सियार और वानर इस प्रकार बातचीत कर ही रहे थे कि दैवयोगसे किंवा उनके किसी पूर्व-पुण्यसे सिन्धुद्वीप नामक ऋषि स्वेच्छासे घूमते हुए वहाँ पहुँच गये। उन दोनों मित्रोंने मुनिको प्रणाम किया और अपनी कथा सुनाकर उद्धारका रास्ता पूछा। ऋषिने बड़ी देरतक मन-ही-मन विचारकर कहा—'तुम दोनों श्रीरामचन्द्रजीके धनुष्कोटि तीर्थमें जाकर स्नान करो। ऐसा करनेसे पापसे छूट जाओगे।'

तदनुसार सियार और वानर तत्काल ही धनुष्कोटि गये और वहाँके जलसे स्नानकर सब पापोंसे मुक्त होकर श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ होकर देवलोकमें चले गये।

(स्कन्दपुराण, ब्राह्मखण्ड, सेतुमाहात्म्य अध्याय ३९)

—जा० श०

सबसे भयंकर शत्रु—आलस्य

पुरानी बात है। एक पूर्वजन्मका स्मरण करने-वाला—जातिस्मर ऊँट था। वह वनमें रहकर कठोर नियमोंका पालन करता हुआ तप कर रहा था। उसकी तपस्या पूरी होनेपर ब्रह्माजीने उसे वर माँगनेको कहा। वह ऊँट स्वभावसे बड़ा आलसी था। उसने वर माँगा—'भगवन्! मेरी गर्दन सौ योजनकी हो जाय जिसमें मैं उतनी दूरतककी घास एक जगहसे बैठे-बैठे ही चर सकूँ।' ब्रह्माजी भी 'तथास्तु' कहकर चल दिये। अब क्या था, वह आलसी ऊँट कहीं चरने नहीं जाता और एक ही जगह बैठा रहकर भोजन कर लेता था।

एक बार वह अपनी सौ योजन लंबी गर्दन फैलाये कहीं निश्चिन्त घूम रहा था। इतनेमें बड़े जोरोंकी आँधी आयी और घोर वृष्टि भी शुरू हो गयी। अब उस मूर्ख पशुने अपने सिर और गर्दनको एक कन्दरामें घुसेड़

दिया। उसी समय उस आँधी और जलवृष्टिसे आक्रान्त एक गीदड़ अपनी गीदड़ीके साथ उस गुफामें शरण लेने आया। वह मांसाहारी शृगाल सर्दी, भूख और थकानसे पीड़ित था। वहाँ उसने ऊँटकी गर्दन देखी और झट उसीको खाना आरम्भ कर दिया। जब उस आलसी, बुद्धिहीन ऊँटको इसका पता चला, तब दुःखसे अपने सिरको इधर-उधर हिलाने लगा। उसने अपनी गर्दन निकालनेका प्रयत्न किया पर वह सफल न हो सका। गीदड़-गीदड़ीने भर-पेट उसका मांस खाया और परिणामस्वरूप ऊँटकी मृत्यु हो गयी।—जा० श०

(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ११२)

सत्यनिष्ठाका प्रभाव

चन्द्रमाके समान उज्ज्वल, सुपुष्ट, सुन्दर सींगोंवाली नन्दा नामकी गाय एक बार हरी घास चरती हुई वनमें अपने समूहकी दूसरी गायोंसे पृथक् हो गयी। दोपहर होनेपर उसे प्यास लगी और जल पीनेके लिये वह सरोवरकी ओर चल पड़ी; किंतु सरोवर जब समीप ही था, मार्ग रोककर खड़ा एक भयंकर सिंह उसे मिला। सिंहको देखते ही नन्दाके पैर रुक गये। वह थर-थर काँपने लगी। उसके नेत्रोंसे आँसू बह चले।

भूखे सिंहने उस गायके सामने खड़े होकर कहा—'अरी! तू रोती क्यों है? क्या तू समझती है कि सदा जीवित रहेगी? तू रो या हँस, अब जीवित नहीं रह सकती। मैं तुझे मारकर अपनी भूख मिटाऊँगा।'

गाय काँपते स्वरमें बोली—'वनराज! मैं अपनी मृत्युके भयसे नहीं रोती हूँ। जो जन्म लेता है, उसे मरना पड़ता ही है। परंतु मैं आपको प्रणाम करती हूँ। जैसे आपने मुझसे बातचीत करनेकी कृपा की, वैसे ही मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कर लें।'

सिंहने कहा—'अपनी बात तू शीघ्र कह डाल। मुझे बहुत भूख लगी है।'

गौ—'मुझे पहिली बार ही एक बछड़ा हुआ है। मेरा वह बछड़ा अभी घास मुखमें भी लेना नहीं जानता। अपने उस एकमात्र बछड़ेके स्नेहसे ही मैं व्याकुल हो रही हूँ। आप मुझे थोड़ा-सा समय देनेकी कृपा करें, जिससे मैं जाकर अपने बछड़ेको अन्तिम बार दूध पिला दूँ, उसका सिर चाट लूँ और उसे अपनी सखियों तथा माताको सौंप दूँ। यह करके मैं आपके पास आ जाऊँगी।'

सिंह—'तू तो बहुत चतुर जान पड़ती है, परंतु यह समझ ले कि मुझे तू ठग नहीं सकती। अपने पंजेमें पड़े आहारको मैं छोड़नेवाला नहीं हूँ।'

गौ—'आप मुझपर विश्वास करें। मैं सत्यकी शपथ करके कहती हूँ कि बछड़ेको दूध पिलाकर मैं आपके पास शीघ्र आ जाऊँगी।'

सिंहने गौकी बहुत-सी शपथें सुनीं, उसके मनमें आया कि 'मैं एक दिन भोजन न करूँ तो भी मुझे विशेष कष्ट नहीं होगा। आज इस गायकी बात मानकर ही देख लूँ।' उसने गायको अनुमति दे दी—'अच्छा, तू जा; किंतु किसीके बहकावेमें आकर रुक मत जाना।'

नन्दा गौ सिंहकी अनुमति पाकर वहाँसे अपने आवासपर लौटी। बछड़ेके पास आकर उसकी आँखोंसे आँसूकी धारा चल पड़ी। वह शीघ्रतासे बछड़ेको चाटने लगी। बछड़ेने माताके रोनेका कारण पूछा। जब नन्दाने बताया कि वह सिंहको लौटनेका वचन दे आयी है, तब बछड़ेने कहा—'माता! मैं भी तुम्हारे साथ ही चलूँगा।'

नन्दाकी बात सुनकर दूसरी गायोंने उसे सिंहके पास फिर जानेसे रोकना चाहा। उन्होंने अनेक युक्तियोंसे नन्दाको समझाया। परंतु नन्दा अपने

निश्चयपर दृढ़ रही। उसने सत्यकी रक्षाको ही अपना धर्म माना। बछड़ेको उसने पुचकारकर दूसरे गायोंको सौंप दिया; किंतु जब वह सिंहके पास पहुँची, तब पूँछ उठाये 'बाँ-बाँ' करता उसका बछड़ा भी दौड़ा आया और अपनी माता तथा सिंहके बीचमें खड़ा हो गया। नन्दाने यह देखकर सिंहसे कहा—'मृगेन्द्र! मैं लौट आयी हूँ। आप मेरे इस अबोध बछड़ेपर दया करें। मुझे खाकर अब आप अपनी क्षुधा शान्त कर लें।'

सिंह गायकी सत्यनिष्ठासे प्रसन्न होकर बोला—'कल्याणी! जो सत्यपर स्थिर है उसका अमङ्गल नहीं हो सकता। अपने बछड़ेके साथ तुम जहाँ जाना चाहो, प्रसन्नतापूर्वक चली जाओ।'

उसी समय वहाँ जीवोंके कर्म-नियन्ता धर्मराज प्रकट हुए। उन्होंने कहा—'नन्दा! अपने सत्यके कारण बछड़ेके साथ तुम अब स्वर्गकी अधिकारिणी हो गयी हो और तुम्हारे संसर्गसे सिंह भी पापमुक्त हो गया है।'—सु० सिं०

संसारके सुखोंकी अनित्यता

किसी नगरमें एक गृहस्थके घर एक गाय पली थी। एक दिन उस गायका बछड़ा बहुत उदास हो रहा था। वह समयपर माताके स्तनोंमें मुख लगाकर दूध पीनेमें भी उस दिन उत्साह नहीं दिखला रहा था। गायने अपने बच्चेकी यह दशा देखकर पूछा—'बेटा! आज तुम इतने उदास क्यों हो? उत्साहपूर्वक दूध क्यों नहीं पीते हो?'

बछड़ा बोला—'माँ! तुम उस भेंड़ेकी ओर तो देखो। वह काला-कलूटा है, मुझसे छोटा है और सुस्त भी है; किंतु अपने स्वामीका पुत्र उसे कितना प्यार करता है। उसे वह रोटी खिलाता है, हरी-हरी घास देता है, मटरकी फलियाँ अपने हाथों खिलाता है और उसे पुचकारता है। उस भेंड़ेको स्वामीके पुत्रने घंटियाँ पहिनायी हैं और उसके सींगोंमें प्रतिदिन तेल लगाता है। दूसरी ओर मुझ अभागेकी कोई पूछ ही नहीं। मुझे पेटभर सूखी घास भी नहीं दी जाती। समयपर कोई मुझे पानीतक नहीं पिलाता। मुझमें ऐसा क्या दोष है? मैंने कौन-सा अपराध किया है?'

गाय बोली—'बेटा! व्यर्थ दुःख मत करो। यह संसार ऐसा है कि यहाँ बहुत सुख और बहुत सम्मान मिलना बड़े भयकी बात है। संसारके सुख और सम्मानके पीछे रोग, शोक, मृत्यु तथा पतन छिपे हैं। तुम लोभ मत करो और दूसरेका सुख-सम्मान देखकर दुखी भी मत हो। वह तो दयाका पात्र है। जैसे मरणासन्न रोगी जो कुछ चाहता है, उसे दिया जाता है; वैसे ही यह भेड़ा भी मरणासन्न है। इसे मारनेके लिये पुष्ट किया जा रहा है। हमारे सूखे तृण ही हमारे लिये शुभ हैं।'

कुछ दिन बीत गये। एक संध्याको गौ जब वनसे चरकर लौटी, तब उसने देखा कि उसका बछड़ा भयसे काँप रहा है। वह न दौड़ता है, न बोलता है। दीवारसे सटा दुबका खड़ा है। पास जानेपर भी उसने दूध पीनेका कोई प्रयत्न नहीं किया। गायने उसे चाटते हुए पूछा—'बेटा! आज तुझे क्या हो गया है।'

बछड़ा बोला—'माँ! मैंने देखा है कि उस भेड़ेको पहले तो खूब सजाया गया, फूल-माला पहिनायी गयी; किंतु पीछे एक मनुष्यने उसका मस्तक काट दिया। केवल एक बार चीत्कार कर सका बेचारा! उसने थोड़ी ही देर पैर पछाड़े। उसके शरीरके भी हत्यारोंने टुकड़े-टुकड़े कर दिये। अब भी वहाँ आँगनमें भेड़ेका रक्त पड़ा है। मैं तो यह सब देखकर बहुत डर गया हूँ।'

गायने बछड़ेको पुचकारा और वह बोली—'मैंने तो तुमसे पहिले ही कहा था कि संसारके सुख और सम्मानसे सावधान रहना चाहिये। इनके पीछे ही रोग, शोक, पतन और विनाश दबे पैर आते हैं।'—सु० सिं०

श्रीमत्स्यावतार-कथा

(१)

संतोंका कहना है कि जब संसारके लोग विषयोंके मोहमें पड़कर भगवान्‌को भूल जाते हैं और उनकी स्वाभाविक विषमताके कारण पाप-तापसे झुलसने लगते हैं, तब उन्हें दुःखसे बचानेके लिये, अनन्त शान्ति देनेके लिये और उनका महान् अज्ञान मिटाकर अपने स्वरूपका बोध कराने एवं अपनेमें मिला लेनेके लिये स्वयं भगवान् आते हैं और अपने आचरणों, उपदेशों तथा अपने दर्शन, स्पर्श आदिसे जगत्‌के लोगोंको मुक्तहस्तसे कल्याणका दान करते हैं। यदि वे स्वयं आकर जीवोंकी रक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था नहीं करते, जीवोंको अपनी बुद्धिके बलपर सत्य-असत्यका निर्णय करना होता और अपने निश्चयके बलपर चलकर उद्धार करना होता तो ये करोड़ों कल्पोंमें भी अपना उद्धार कर सकते या नहीं, इसमें संदेह है। परंतु भगवान् अपने इन नन्हे-नन्हे शिशुओंको कभी ऐसी अवस्थामें नहीं छोड़ते, जब वे भटककर गड्ढेमें गिर जायँ। जब कभी ये अपने हाथमें कुछ जिम्मेदारीका काम लेना चाहते हैं और इसके लिये उनसे प्रार्थना करते हैं तब बहुत समझा-बुझाकर सृष्टिका रहस्य स्पष्ट करके उन्हें अपने सामने कुछ काम दे देते हैं।

महर्षि कश्यपके पौत्र एवं सूर्य भगवान्‌के पुत्र महाराज वैवस्वत मनु ऐसे ही पुरुष हो गये हैं। सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलपर उनका शासन था। वे प्रजापर पुत्रवत् स्नेह करके धर्मपूर्वक राज्य करते थे। उन्हें किसी बातकी कमी नहीं थी और संसारमें जितने प्रकारके सुख-साधन हैं, सब उनके पास विद्यमान थे। राज्य करते-करते बहुत दिन हो गये, उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि अब प्रलयका समय निकट है। इस संसारका यही नियम है। जो जन्मता है, उसे मरना ही पड़ता है। जिसकी सृष्टि हुई, उसका प्रलय अवश्य होगा। इसका उदाहरण तो संसारमें प्रायः प्रतिदिन ही देखनेको मिलता है।

संसारका अर्थ है सरकनेवाला; जो प्रतिपल बदल रहा है अथवा जो पल बदलनेसे पहले ही लापता हो जाता है। सृष्टिके बड़े-बड़े देवता, ऋषि-महर्षि, राजा-रंक, विद्वान्-मूर्ख सबकी यही गति है। यों कहें कि जितने पदार्थ हमारे अनुभवमें आते हैं, नहीं आते हैं, सब-के-सब मृत्यु एवं प्रलयकी ओर बड़े वेगसे बढ़ते जा रहे हैं। ऐसी स्थितिमें किसके साथ सटें, किससे हटें, किसको सदाके लिये अपने पास रखनेकी चेष्टा करें; अथवा किसके साथ रहनेकी चेष्टा करें; यही सोचकर बुद्धिमान्‌लोग जगत्‌के पदार्थोंसे अलग रहकर अपने स्वरूपमें अथवा भगवान्‌के चरणोंमें स्थित रहते हैं। जगत्‌की सारी जिम्मेवारी भगवान्‌पर छोड़कर उनके भजनमें ही मस्त रहते हैं।

महाराज वैवस्वत मनु इन बातोंसे अपरिचित नहीं थे। स्वयं उनके पिता सूर्य भगवान्‌ने उन्हें भगवान्‌से प्राप्त गुह्यतम ज्ञानकी शिक्षा दी थी, जिसका वर्णन गीताके चतुर्थ अध्यायमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने किया है। वे पूर्ण ज्ञानी थे, भगवान्‌में स्थित थे और दैवी सम्पत्तियोंके मूर्तिमान् आदर्श थे। परंतु प्रलयकी कल्पना करके एक बार उनके मनमें भी क्षोभ हो ही गया। वे चाहते थे कि ये जीव तमोगुणकी प्रगाढ़ निद्रामें सोकर बहुत दिनोंके लिये अपनी उन्नतिसे वञ्चित न हो जायँ। महात्माओंका यह सहज स्वभाव होता है कि अपनेको बड़ी-से-बड़ी आपत्तिमें डालकर दूसरोंकी छोटी-से-छोटी आपत्ति भी दूर करें। उन्होंने सोचा ऐसी तपस्या करें, जिससे प्रलयके समय भी जीव भगवान्‌से दूर न हों, ओषधि-वनस्पतियोंका बीज नष्ट न हो और उनकी रक्षाका श्रेय भगवान्‌के प्रेम तथा उपासनाको प्राप्त हो।

बस, सोचने भरकी देर थी। राज्य-सिंहासनपर अपने ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकुको बैठा दिया और वे स्वयं तपस्या करनेके लिये जंगलमें चले गये। जिस सिंहासनपर बैठकर उन्होंने अनेक वर्षोंतक राज्य किया था, जिस प्रजाके साथ उनका अनन्त प्रेम था, उसे छोड़नेमें एक क्षणका भी विलम्ब न हुआ। महात्माओंकी यही विशेषता है, वे साथ रहकर भी अलग रहते हैं और अलग रहकर भी साथ रहते हैं। न उन्हें किसी वस्तुसे राग होता और न द्वेष। जब जैसा आ गया, वैसा ही कर डालते हैं।

यहाँ प्रसङ्गवश महाराज मनुके पुत्र इक्ष्वाकुकी भी थोड़ी चर्चा कर दी जाती है। इन्होंने बचपनमें ही सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया था। केवल अध्ययन ही नहीं, इनके सम्पूर्ण आचरण शास्त्रोंके अनुसार ही होते थे। इनका जीवन दैवी सम्पत्तियोंके रंगमें पूर्णतः रँग गया था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि सम्पूर्ण ज्ञान एवं आचरणोंका सार भगवद्भक्ति इन्हें प्राप्त थी। ये शरीरसे जगत्‌का काम करते,

वाणीसे भगवान्के मधुर नामोंका जप करते और हृदयमें भगवान्का स्मरण करके विह्वल होते रहते। उठते-बैठते, सोते-जागते एक क्षणके लिये भी भगवान्को नहीं भूलते। अपने घरमें भगवान्का चित्रपट रखते, नित्य-नियमसे तीनों समय भगवान्की पूजा अवश्य करते, स्वप्नमें भी इन्हें भगवान् श्यामसुन्दरके ही दर्शन होते। वर्षाकालमें साँवले-साँवले बादलोंको देखकर इन्हें भगवान्की याद हो आती और उन्हें घंटों एकटक देखते रहते। कृष्णसार मृगको देखकर या उसका नाम सुनकर इन्हें श्रीकृष्णकी याद हो आती और ये भगवत्प्रेममें उन्मत्त हो जाते। राज-काजका सारा भार भगवान्पर ही रहता; परंतु ये कभी अपने कर्तव्यसे च्युत नहीं होते। ऐसे लोगोंका काम भगवान्की इच्छाशक्ति प्रकृति माता स्वयं ही करती हैं और सर्वदा करेंगी। जिसने अपना सर्वस्व भगवान्को सौंप दिया, भगवान्ने अपने-आपको उसे सौंप दिया और जिसके भगवान् हो गये, उसके लिये भय, हानि आदिकी सम्भावना ही नहीं है।

ऐसे योग्य पुत्रको राज्य सौंपकर जाते समय वैवस्वत मनुको प्रसन्नता ही हुई। वे मार्गमें भगवान्की इस लीलामयी सृष्टिको देखते हुए चले जा रहे थे। उनका चित्त भगवान्की महिमा देख-देखकर मस्त हो रहा था। कहीं बड़े-बड़े पहाड़ पड़ते, कहीं बड़ी-बड़ी नदियाँ पड़तीं, कहीं मरुस्थल पड़ता तो कहीं शस्य-श्यामला भूमि पड़ती। वे इन सबको भगवान्के ही विविध रूप समझते और जहाँ चित्त लग जाता, वहीं घंटों बैठकर भगवान्का ध्यान करते। एक दिन वे चीरिणी अथवा कृतमाला नदीके पावन तटपर पहुँच गये।

कृतमाला बड़ी सुन्दर नदी है। सब ऋतुओंमें एक-सी आरोग्यप्रद है। अनेकों प्रकारके पशु-पक्षी इसके तटपर रहते हैं, बड़े-बड़े ऋषियों-तपस्वियोंके पर्णकुटीर स्थान-स्थानपर बने हुए हैं और नदीकी धवल धारा भी एक प्रेम-योगिनीकी भाँति अपने कृश शरीरसे भगवान्के मङ्गलमय नामोंका गायन करती हुई मानो भगवान्के पास ही जा रही है। उस नदीके तटपर पहुँचकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। चारों ओर बड़ा घना जंगल था। उसमें फल-मूल सुलभतासे प्राप्त हो सकते थे। जंगली पशुओंकी अधिकता होनेपर भी हिंसक जन्तुओं-की कमी थी और जो थे भी वे किसीको कष्ट नहीं पहुँचाते थे। बाहरी लोगोंका आना-जाना कम था, तपस्यामें विघ्न पड़नेकी कोई सम्भावना नहीं थी।

वैवस्वत मनुने वहाँ पहुँचकर नदी-देवताको नमस्कार किया और शौचादि क्रियासे निवृत्त होकर विधिपूर्वक स्नान किया। कृतमालाके शीतल जलमें स्नान करनेसे उन्हें शान्ति मिली। संध्या-वन्दन किया, सूर्यको अर्घ्य दिया और गायत्री-जप करने लगे। जपके समय सूर्य-मण्डलमें स्थित परम पुरुष परमात्माके ध्यानमें वे इस प्रकार तन्मय हो गये कि घंटोंतक उनका बाह्यज्ञान लुप्त रहा। जब होश आया, तब उन्होंने अपनी तपस्याका नियम बनाया। कितने समयतक जप, कितने समयतक ध्यान, कितने समयतक प्रार्थना और कितने समयतक स्वाध्याय किया जाय, इसके लिये समय निश्चित किया।

समयका नियम बड़े महत्त्वका है। जो लोग निरन्तर भगवान्के स्मरणमें लगे रहते हैं या जिनकी वृत्ति सर्वदा ब्रह्माकार रहती है, उनकी बात अलग है, परंतु जो साधक हैं, जिनका समय प्रमाद या आलस्यमें भी बीत सकता है अथवा व्यर्थ कामोंमें अधिक समय लग जानेकी सम्भावना है, उन्हें तो अपना समय नियमित रखना ही चाहिये। समयसे उठना, समयसे सोना और समयसे ही स्नान-ध्यान आदि करना बड़ा ही उपयोगी है। वर्तमान क्षण बड़ा ही मूल्यवान् है। जिसने भूत और भविष्यकी चिन्तामें इसे खो दिया, उसने भगवान्को ही खो दिया। समय भगवान् है। वर्तमान क्षणको ठीक कर लो, बस, सारी साधना पूरी हो गयी, भगवान् मिल गये। इसीसे आजतकके सभी महात्माओंने समयके सदुपयोगपर बड़ा जोर दिया है।

वैवस्वत मनुका स्वभावसे ही सारा समय भजन-पूजनमें ही बीतता। परंतु सर्वसाधारणके लाभ और आदर्शकी दृष्टिसे उन्होंने उसे नियमित कर रक्खा था। वे बहुत कम सोते थे। कहते हैं कि जिसे किसी वस्तुकी लगन होती है, वह उसके चिन्तनमें इतना तल्लीन रहता है कि नींद उसके पास फटक ही नहीं सकती। जिन्हें साधनाके समय नींद आती है, उन्हें अपनेमें लगनकी कमीका अनुभव करना चाहिये। वे ब्रह्मवेलामें ही उठ जाते, नित्यकृत्य करके भगवान्के ध्यानमें लग जाते। उन्हें दूसरा कोई काम ही नहीं था।

वे मनसे तो भगवान्का चिन्तन करते ही, शरीरको भी घोर तपस्यामें लगाये रखते। वर्षामें बिना छायाके मैदानमें खड़े रहते, जाड़ोंमें पानीमें पड़े रहते और गरमीके दिनोंमें पञ्चाग्नि तापते। कभी एक पैरसे खड़े रहते, कभी सिरके बल खड़े रहते और कभी बहुत दिनोंतक खड़े ही रहते। अनेकों दिनके उपवास करते, पानीतक नहीं पीते। श्वास

बंद करके बहुत समयतक निश्चेष्ट पड़े रहते, वायुतक ग्रहण नहीं करते।

ध्यान या चिन्तनमें शरीरकी आसक्ति बहुत ही बाधक है। संसारमें जो नाना प्रकारके दुःख और चिन्ताएँ हैं, यदि उनके मूलका पता लगाया जाय तो अधिकांश उनका कारण शरीरकी आसक्ति ही मिलेगी। शरीर या शरीरके सम्बन्धियोंकी चिन्तासे ही लोग व्याकुल रहते हैं। जिसने इस आसक्तिका परित्याग कर दिया, वह सबसे बड़ा तपस्वी और सुखी है। साधकोंको इस बातसे बहुत सावधान रहना चाहिये कि कहीं शरीरकी आसक्तिके कारण वे साधन-भजनसे विमुख तो नहीं हो रहे हैं!

महाराज मनुकी तपस्या निर्विघ्न चलती रही।

(२)

यह निश्चय है कि जिन्होंने अपने मनोरञ्जन अथवा जीवोंके कल्याणके लिये अपने संकल्पसे इस सृष्टिकी रचना की है, जिनकी दया-दृष्टिसे जीवित होकर यह स्थित है और जिनके संकेतसे यह उन्हींमें समा जायगी; वही भगवान् इसके स्वामी हैं और वे एक-एक अणु, एक-एक परमाणु तथा एक-एक घटनाको उसके तहमें रहकर देखा करते हैं। वे भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं, परंतु साथ ही ध्यान रखते हैं कि इस अभिलाषाको पूर्ण करनेसे कहीं उनका कुछ अनिष्ट तो नहीं हो जायगा!

महाराज मनुकी तपस्या इसलिये चल रही है कि 'प्रलयके समय सृष्टिकी रक्षाका भार मुझपर हो। मैं सारी ओषधियोंको बचाऊँ।' यह इच्छा बड़ी अच्छी है। इसके मूलमें दया है, सम्पूर्ण प्राणियोंकी कल्याणकामना है, परंतु यही इच्छा यदि किसी साधारण प्राणीके हृदयमें हो और उसके पूर्ण हो जानेपर उसके मनमें घमंड हो जाय कि 'मैंने इनकी रक्षा की है, मैंने इन्हें बचाया है' तो वह भगवान्से विमुख होकर पतनकी ओर जा सकता है। यद्यपि यह बात मनुपर लागू नहीं है, फिर भी जगत्के लोगोंपर इसका प्रकट हो जाना आवश्यक है। मानो इसी भावसे भगवान्ने एक अद्भुत लीला रची।

एक दिन वैवस्वत मनु कृतमाला नदीमें स्नान करके तर्पण कर रहे थे। एकाएक उनकी अञ्जलिमें एक नन्ही-सी मछली आ गयी। महाराजने उसे फिर नदीमें छोड़ दिया। परंतु एक ही क्षणमें वे आश्चर्यचकित हो गये, जब वह मछली मनुष्य-भाषामें कहने लगी कि 'राजन्! मैं बहुत ही निर्बल और गरीब हूँ। दुनियामें मेरा कोई सहायक नहीं है। मेरे पास बल नहीं है और आप जानते ही हैं कि हमारी जातिमें बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा जाती हैं। आप बड़े दयालु हैं। आपकी करुणाशीलता प्रसिद्ध है। क्या आप मेरी रक्षा कर सकते हैं? क्या आप इस छोटी-सी गरीब और निर्बल मछलीकी रक्षा कर सकते हैं?' यह बात सुनकर मनुका कोमल हृदय दयासे भर गया और उन्होंने शीघ्रतासे उठाकर मछलीको अपने कमण्डलुमें रख लिया। नित्यकृत्य करनेके पश्चात् उसे लेकर अपने स्थानपर आये और पूर्ववत् तपस्यामें लग गये।

दूसरे दिन प्रातःकाल देखते हैं तो वह मछली बढ़कर इतनी बड़ी हो गयी है कि कमण्डलुमें नहीं अँटती। वैवस्वत मनुको देखते ही मछलीने गिड़गिड़ाकर कहा—'महाराज! मैं बड़े कष्टमें हूँ। मेरा शरीर इसमें नहीं अँटता। कमण्डलुकी संकीर्णतासे मेरा शरीर छिल रहा है। मुझे पानीकी बड़ी आवश्यकता है। कहीं ऐसे स्थानमें रखिये, जहाँ मेरी रक्षा हो सके। आपने मेरी रक्षाका भार लिया है। आप बड़े उपकारी हैं। अवश्य मेरी रक्षा करेंगे।'

मछलीकी बात सुनकर महाराज मनुने उसे एक छोटे-से तालाबमें रख दिया और अपने दूसरे कामोंमें लग गये। कुछ ही समय बाद वह मछली इतनी बड़ी हो गयी कि उसे रहनेके लिये तालाबमें भी जगह न रही। बाहरसे चील-कौए मँडराने लगे और उसका शरीर धूपसे जलने लगा। मनु महाराजके सामने आते ही मछलीने बड़े करुण स्वरसे फिर निवेदन किया—'भगवन्! मैं जलवासी जन्तु हूँ। परंतु इस तालाबमें मैं सुखी नहीं हूँ। आप देखते ही हैं, धूप और पशु-पक्षियोंके आक्रमणके भयसे मैं जमीनमें गड़ी जा रही हूँ। मेरा शरीर सिकुड़ा हुआ है। आपके रक्षाकालमें मुझे इतना कष्ट तो नहीं होना चाहिये। मुझे कहीं इससे बड़े जलाशयमें रखिये।'

मनु महाराजने मछलीकी यह बात भी बड़े ध्यानसे सुनी और उसे एक बहुत बड़े जलाशयमें रख दिया। किंतु वहाँ भी मछलीकी यही गति हुई। अन्तमें जब उसे ले जाकर समुद्रमें छोड़ने लगे तब उसने कहा—'समुद्रमें बड़े भयंकर जीव रहते हैं। आप यहाँ मुझे छोड़कर चले जायँगे तो बहुत सम्भव है कि वे हमें कष्ट पहुँचायें और मार डालें।' उस मछलीकी बातोंमें बड़ी मधुरता थी। मनु महाराजके मनमें अभिलाषा होती कि इसकी बात सुनता ही रहूँ। जब

वे साम्राज्यका त्याग करके जंगलमें रहनेवाले विरक्त एवं ज्ञानवान् महात्मा उस मछलीकी सुन्दरताको देखते, तब उनकी आँखें एकटक लगी ही रह जातीं। उनके हाथ उस दिव्य मछलीका स्पर्श करनेके लिये लालायित रहते थे। जबसे उन्हें यह मछली मिली थी, दूसरे कामोंमें उनका मन नहीं लगता था। नियम-निष्ठाके कारण तपस्या करने बैठते, परंतु उनका मन मछलीके पास ही रहता। वास्तवमें भगवान्‌की सुन्दरता ऐसी ही है। संसारमें जो वस्तु सुन्दर-से-सुन्दर एवं मधुर-से-मधुर है, उसे भगवान्‌की मधुरता एवं सुन्दरताका लेशमात्र भी नहीं कहा जा सकता।

आज मछलीकी यह बात सुनकर मनु महाराज विचलित हो गये। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! आप कौन हैं? आप कोई देवता हैं, ऋषि हैं या और कोई हैं? मछलीके वेशमें मुझसे क्यों खेल रहे हैं। आपकी सुन्दरता और मधुरता देखकर एक ओर तो मैं मोहित हो रहा हूँ, दूसरी ओर आपका यह विनोदभरा खेल मुझे चकित कर रहा है। प्रभो! अब अधिक न छकाइये। आप स्वयं भगवान् हैं। मैं आपको पहचान गया! आप गो-ब्राह्मण, देवता-साधु और सम्पूर्ण संसारकी रक्षाके लिये अनेकों प्रकारके शरीर धारण किया करते हैं; इस बार आपने एक जलचर मत्स्यका शरीर धारण किया है। मत्स्यरूपधारी प्रभो! हम साधारण जीव मायाके चक्करमें पड़े हुए हैं। हमारी दृष्टि विषयोंतक ही सीमित है। हम आपको कैसे पहचान सकते हैं। आप शरणागतोंके रक्षक हैं, संसार-सागरसे पार जानेवालोंके लिये नौका-स्वरूप हैं। आपके सभी अवतार प्राणियोंके कल्याणके लिये ही होते हैं। अवश्य यह मत्स्यलीला भी इसीलिये रची होगी। भगवन्! इस लीलाका क्या रहस्य है? मेरे मनमें इस बातकी बड़ी जिज्ञासा हो रही है। प्रभो! आप ही मेरे माँ-बाप हैं। आप ही गुरु हैं, आप ही सखा हैं, आप ही मेरे आत्मा हैं और आप ही सब कुछ हैं। आपके चरणोंमें आ जानेके पश्चात् कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता, सब कुछ प्राप्त हो जाता है। आज आपने अपने परम दयालु स्वभावके कारण स्वयं ही आकर मुझे अपनाया है। आपकी कृपा धन्य है, आपका कृपापात्र मैं धन्य हूँ। आपके चरणोंमें मैं शतशः प्रणाम करता हूँ।' इतना कहते-कहते महाराज मनु भगवान्‌के चरणोंमें लोट गये।

इसके पहले मनु महाराज एक साधारण मछली समझते थे और उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर लिये हुए थे। जब उसकी सुन्दरता एवं मधुरतासे इनका चित्त बरबस खिंच जाता, तब ये तपस्यामें कुछ विघ्न-सा अनुभव करते। बारम्बार चेष्टा करके उसकी स्मृतिको भुलाना चाहते, परंतु सफल नहीं होते। इस बातकी उन्हें कुछ-कुछ चिन्ता भी थी। अब उन्हें साक्षात् भगवान् जान लेनेपर चिन्ता तो मिट गयी, इन्हें बड़ा आनन्द हुआ। 'स्वयं भगवान् मत्स्यरूपमें मेरे पास आये और मैंने उनके दर्शन, स्पर्श आदि प्राप्त किये, इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य क्या होगा?' यह सब सोचते-सोचते महाराज मनु गद्‌गद हो गये। उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानो वे भगवत्कृपाके अनन्त समुद्रमें डूब-उतरा रहे हों! नीचे-ऊपर, अगल-बगल और अपने शरीरके रग-रग, रोम-रोममें उन्होंने भगवत्कृपाकी धारा प्रवाहित होते देखी। उनके शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि एवं आत्मा—सब कुछ भगवत्कृपामें सराबोर थे। बहुत समयतक ऐसी ही स्थिति रही। ऐसे अवसरपर समय लापता हो जाता है।

कुछ देर बाद उन्हें स्मरण आया कि 'जिन भगवान्‌के संकल्पसे सारे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय होते हैं, जो सारे जगत्‌के आधार हैं, जो निरन्तर समस्त जगत्‌के कल्याणमें लगे रहते हैं, उनकी रक्षाकी जिम्मेवारी मैंने ली, यह मेरे अभिमानका फल है! मैं कितना क्षुद्र हूँ कि भगवान्‌की रक्षापर विश्वास न करके अपने बलसे जीवों एवं ओषधियोंके बीजकी रक्षा करनी चाही, किंतु यह मेरी भूल थी! अब मैं समझ गया कि मुझमें रक्षा करनेकी शक्ति नहीं है। रक्षा तो केवल भगवान् ही कर सकते हैं। वे ही सबके प्रेरक हैं, वे ही सबके हृदयके संचालक हैं। जो कुछ होता है, उनकी प्रेरणासे ही होता है। ऐसी स्थितिमें वे जो कुछ कराना चाहें, करायें; एक यन्त्रकी भाँति अभिमान और कामना छोड़कर करना चाहिये। जहाँ अपना व्यक्तित्व आया, वहाँ पतन हुआ। मैं अपनी मूढ़तासे, अभिमानसे पतनकी ओर बढ़ रहा था, परंतु भगवान्‌ने मुझे बचा लिया। हमारे प्रभु कितने दयालु हैं!'

यही सब सोचते-सोचते मनु महाराज तल्लीन हो रहे थे कि इतनेमें मेघ-गम्भीर ध्वनिसे हँसते हुए मत्स्य भगवान्‌ने उनकी तल्लीनता भंग की। भगवान्‌ने कहा—'राजन्! आपका अन्तःकरण शुद्ध है, जीवोंपर दया करनेके कारण आपके चित्तके मल धुल गये हैं। जिसके हृदयमें दुखी

प्राणियोंके प्रति दया नहीं है, उसका कभी उद्धार नहीं हो सकता। वह मुझे कभी पहचान नहीं सकता। या यों कहिये कि उसके सामने मैं कभी प्रकट नहीं हो सकता। आप मुझे पहचान गये, मैं अनन्त हूँ। मेरे अवतारका कोई कारण नहीं हुआ करता। मैं भक्तोंकी भलाईके लिये अपनी इच्छासे समय-समयपर स्वयं ही अवतीर्ण हुआ करता हूँ। सारा संसार मेरे अंदर है, यह प्रकृति मेरा एक अंश है; परंतु मुझ अनन्तमें अंशकी कल्पना भी नहीं हो सकती। यह सब मेरी लीला है। यह सब मैं ही हूँ। इसीसे चाहे किसी भी शरीरमें मैं प्रकट हो सकता हूँ। किसी समय, किसी स्थानपर और किसी भी वस्तुके रूपमें मुझे पहचाना जा सकता है और वास्तवमें मैं वहीं रहता हूँ; परंतु जब लोग मुझे नहीं पहचान पाते, तब मैं अपने आपको स्वयं प्रकट करता हूँ और किसी भी रूपमें प्रकट करता हूँ। मेरे लिये मनुष्य और मछलीके शरीरमें भेद नहीं है। मैं ही सब हूँ। जिसने सब रूपोंमें मुझे पहचान लिया, उसने मेरी लीलाका रहस्य समझ लिया। कहींसे मुझे हटाया नहीं जा सकता, चाहे जिस रूपमें मेरे अस्तित्वका विश्वास किया जा सकता है। अब प्रलयका समय निकट है। मैंने आपको रक्षाका भार सौंपा। मैं स्वयं आपके साथ रहूँगा। प्रलयके समय जब तीनों लोक जलमग्न होने लगेंगे, तब सप्तर्षियोंके साथ एक नौकापर बैठ जाना। मैं स्वयं मत्स्यरूपसे आऊँगा, तब उस नौकाको मेरी सींगसे बाँधकर जीवों और सारी ओषधियोंके बीजोंकी रक्षा करना।' भगवान् मत्स्य अन्तर्धान हो गये !

(३)

शास्त्रोंमें चार प्रकारके प्रलयोंका वर्णन आता है। जैसे आत्यन्तिक, प्राकृतिक, नैमित्तिक और नित्य। इनमें आत्यन्तिक प्रलय तो केवल ज्ञानके द्वारा ही होता है। जब जीव और ईश्वरकी उपाधिका बाध कर देनेपर केवल एकमात्र चित् सत्ता अवशिष्ट रह जाती है, फिर संसार, पुनर्जन्म, बन्ध, मोक्ष आदि द्वन्द्वोंका अभाव अनुभव हो जाता है। यह आत्म-कृपा, गुरुकृपा, शास्त्रकृपा तथा ईश्वरकृपाके अधीन है। बिना इनके ज्ञान नहीं होता और ज्ञानके बिना यह अनुभूति नहीं होती। कर्मके द्वारा मलनाश, उपासनाके द्वारा विक्षेप-नाश और ज्ञानके द्वारा आवरण-भंग होनेपर यह स्वयंप्रकाश वस्तुस्थिति प्राप्त होती है। इसे ही 'आत्यन्तिक प्रलय' कहा गया है।

'प्राकृतिक प्रलय' उसे कहते हैं, जिसमें दो अपरार्ध काल बीत जानेपर ब्रह्माकी आयु पूरी हो जाती है। पृथ्वी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश अहंकारमें, त्रिविध अहंकार महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है। प्रकृति अपनी शक्तियोंको समेटकर अपने स्वरूपमें सो जाती है, किसी प्रकारका क्षोभ नहीं होता। सत्त्व, रज, तम तीनों गुण साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। शिव और विष्णु अपनी लीलाओं-को बंद करके अपने निर्गुण स्वरूपमें छिप जाते हैं। हिरण्य-गर्भके साथ देवयान मार्गसे गये हुए उपासक मुक्त हो जाते हैं। इसे कहीं-कहीं 'महाप्रलय' भी कहा गया है।

नैमित्तिक प्रलयके पूर्व संक्षेपमें नित्य प्रलय समझ लेना चाहिये। सम्पूर्ण प्राकृतिक वस्तुएँ क्षण-क्षणमें बदल रही हैं। एकका नाश, दूसरेकी उत्पत्ति; यही इस जगत्की प्रक्रिया है। एक अक्षरका प्रलय हो जानेपर दूसरे अक्षरका उच्चारण होता है, एक वृत्तिका प्रलय हो जानेपर दूसरी वृत्तिका जन्म होता है; अर्थात् संसारमें नित्य प्रलय हो रहा है। सब कुछ प्रलयरूप ही है।

बहुत-से लोग ऐसा मानते हैं कि इस संसारका अनुभव तभी होता है, जब मनोवृत्तियाँ रहती हैं। बिना मनो-वृत्तियोंके संसारका अनुभव नहीं हो सकता। मूर्छामें, सुषुप्तिमें जब मनोवृत्तियाँ नहीं रहतीं, हमें संसारका बोध नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि यह जगत् मनोवृत्तिमूलक है। इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मनोवृत्तियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयपर निर्भर है। इसीसे नित्य जब सुषुप्तिमें वृत्तियोंका प्रलय हो जाता है, तब जगत्का प्रलय भी हो जाता है। इसे 'नित्य प्रलय' कहते हैं।

जैसे जीवकी सुषुप्तिको नित्य प्रलय कहते हैं वैसे ही ब्रह्माकी सुषुप्तिको 'नैमित्तिक प्रलय' कहते हैं। मनुष्योंके तीन सौ साठ दिनकी अर्थात् एक वर्षकी देवताओंकी एक दिन-रात होती है। इस प्रकारके तीन सौ साठ दिन-रातका देवताओंका एक वर्ष होता है। ऐसे एक हजार वर्षोंके मनुष्योंके चार युग होते हैं और एक हजार चतुर्युगका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात होती है। इसी रातमें ब्रह्मा सोते हैं और उनकी मनोवृत्तिके साथ उनकी सृष्टि भी विलीन हो जाती है।

इसी नैमित्तिक प्रलयका अवसर उपस्थित था। मत्स्य भगवान्के अन्तर्धान हो जानेके पश्चात् महाराज मनु भगवान्-की रूपमाधुरीका मन-ही-मन आस्वादन करते हुए अपने

आश्रमपर चले आये और निरन्तर भगवान्के आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे।

तीनों लोकका प्रलय सामने था। मनोवृत्ति स्वयं ही इनकी ओर नहीं जाती थी। जब सब क्षणभङ्गुर हैं, सब मृत्युके मुँहमें पड़कर पिसे जा रहे हैं। किसीका कोई ठिकाना नहीं, न जाने कब नष्ट हो जायँ। पानीके बुलबुलेकी तरह न जाने कब बिला जायँ। मृत्यु-दुःखके भयानक चक्करमें निरन्तर पिस ही रहे हैं, न जाने कब इनका अस्तित्व उठ जाय। इनके चिन्तनमें, इनकी प्रतीक्षामें अपना अमूल्य समय क्यों खोया जाय ? यह सोचकर इनकी ओरसे मन हटाकर वे परमात्मामें मन लगाये हुए थे या यों कहना चाहिये कि परमात्माके अनन्त आनन्दस्वरूपकी दिव्य सुधा-धारामें उनका मन स्वयं ही गोते लगा रहा था। जिसने एक बार उन्हें देख लिया, आँखोंकी बात तो दूर रही; केवल बुद्धिके द्वारा उनके अनन्त दिव्य गुण, सौन्दर्य, माधुर्यकी कल्पना कर ली, वह एक क्षणके लिये भी उन्हें छोड़कर विषयोंका चिन्तन नहीं कर सकता। हाँ, महाराज मनु भगवान्के चिन्तनमें तन्मय हो गये, उन्हें मालूम ही नहीं हुआ कि जगत्में क्या हो रहा है !

इधर संसारमें बहुत वर्षोंतक एक बूँद भी वर्षा नहीं हुई। सूर्य अनेकों रूप धारण करके मानो आग बरसाने लगे और उनकी तेज किरणोंसे अनेकानेक मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष जलकर खाक होने लगे। थोड़े ही दिनोंमें यह सूखी पृथ्वी जीव-जन्तु, घर और वृक्षोंसे रहित होकर जलते हुए तवेके समान तपने लगी। रुद्र भगवान्की साँससे ऐसी प्रखर लपटें निकलीं जिनसे पाताल भस्म हो गया और क्रमशः पृथ्वी तथा स्वर्ग भी राखके ढेर हो गये। बहुत-से लोगोंने भागकर जनलोकमें शरण ली, पर वहाँ भी इतनी आँच पहुँच रही थी कि वे लोग निरापद नहीं रह सके। अन्तमें महर्लोकमें जाना पड़ा। उस अग्नि-काण्डके प्रतिक्रियास्वरूप संवर्तक नामके मेघ अपने दल-बादलके साथ प्रकट हुए और पातालसे लेकर स्वर्गतक जलसे भर गया।

महाराज मनु जिस सुधासागरमें डूबे हुए थे, वहाँतक पहुँचनेकी शक्ति उस प्रलयकी आगमें नहीं थी। जिसे भगवान्ने अपना लिया है, जो भगवान्का हो गया है, स्वयं मृत्यु भी उसका बाल बाँका नहीं कर सकती। महाराज मनु अपने संकल्पसे सम्पूर्ण जीवों और ओषधियोंके बीज एकत्रित करके भगवान्के ध्यानमें मग्न थे। परंतु जब चारों ओर जल-ही-जल हो गया और वे अगले क्षणमें ही अपनेको डूबा हुआ समझते थे कि एक बड़ी विशाल नाव आती हुई दीख पड़ी।

इस प्रलयकालके जलको देखकर उनके मनमें तनिक भी चिन्ता या घबराहट हुई हो, ऐसी बात नहीं। जगत्की परिस्थितियोंसे केवल वही लोग घबराते हैं, जिन्हें भगवान्का विश्वास नहीं है। जिन्हें भगवान्का विश्वास प्राप्त हो गया है, जिन्होंने अपने-आपको उनके हाथों सौंप दिया है, वे मृत्युके मुँहमें भी उनके मधुर स्पर्शका अनुभव करते हैं। साँपको जब कि वह लपलपाती हुई जीभसे काटने दौड़ता है, अपने प्रियतमका दूत समझते हैं और बड़े प्रेमसे उसका स्वागत करते हैं और उस बाघको, जिसके नखाघातसे शरीर क्षत-विक्षत हो गया है, जिसकी बड़ी-बड़ी दाढ़ें क्रूरताके साथ खून पीनेमें लगी हैं; अपने प्रियतमके पास शीघ्रातिशीघ्र पहुँचानेवाला अपना हितैषी समझते हैं।

प्रलयके जलको देखकर मनु महाराजके मनमें भी ऐसी ही भावना हुई थी। वे जलकी निकटताके साथ ही भगवान्की निकटताका भी अनुभव कर रहे थे। आखिर नाव आ ही गयी। सप्तर्षियोंका स्थान डूब चुका था और वे भी उसी नावपर सवार थे। उन्होंने ओषधियोंके बीजके साथ मनु महाराजको नावपर बैठा लिया और उनकी नाव प्रलयकी अगाध जलराशिकी उत्ताल तरंगोंपर नाचने लगी। पानीकी एक लहरसे वह नाव सैकड़ों योजन दूर चली जाती और फिर क्षणभरमें ही उससे भी दूर दीखती। कभी लहरोंके कारण जल हट जानेसे वह पातालमें पहुँच जाती और कभी उनके उछलनेके साथ स्वर्गमें चली जाती। वे भगवान्पर विश्वास रखनेवाले महर्षि और राजर्षि ही ऐसे थे, जो ऐसे अवसरपर भी शान्तिके साथ भगवान्की लीला देख रहे थे। यदि कोई नास्तिक होता, अविश्वासी होता तो उसकी मनोवृत्तियाँ चाहे जितनी भी दृढ़ रहतीं, अपने अन्तःकरणपर उसका चाहे जितना भी संयम होता; अन्तमें वह घबराकर अवश्य मर जाता या विवश होकर उसे अपनेको भगवान्के भरोसे छोड़ देना पड़ता। ऐसे अवसरोंपर बड़े-बड़े नास्तिकोंको आस्तिक होते देखा गया है।

उन लोगोंके मनमें कोई बात थी तो केवल यही कि अब-तक भगवान् नहीं आये। कहीं कोई चीज चमक जाती, कहीं कोई लहर उठती तो ऐसा मालूम होता कि भगवान् आ गये। उस अनन्त जलराशिकी प्रतिपल होनेवाली घोर

गर्जनामें वे भगवान्‌के आगमनकी आहटका अनुभव करते। कभी-कभी ऐसा भाव उठता कि सम्भव है भगवान् हमारे आस-पास ही कहीं छिपे हों और हमारी प्रत्येक गतिविधिका निरीक्षण कर रहे हों! भगवान् हमारे पास ही हैं, यह ध्यान आते ही उन लोगोंका मन विह्वल हो गया। उनके हृदयकी विलक्षण दशा हो गयी। आँखें आँसुओंसे भर गयीं, सारा शरीर पुलकित हो गया। अञ्जलि बाँधकर एक स्वरसे वे प्रार्थना करने लगे—

'भगवन्! हम सब न जाने कबसे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हमारा हृदय तुम्हारे लिये तड़प रहा है। हमारी आँखें तुम्हारे दर्शनके लिये ललक रही हैं। हमारे हाथ तुम्हारा स्पर्श प्राप्त करनेके लिये और हमारा चित्त अपने सिरपर तुम्हारे करकमलोंकी छत्रछाया प्राप्त करनेके लिये न जाने कबसे मचल रहा है। तुम आते क्यों नहीं? क्या हमारे हृदयकी दशा तुमसे छिपी है? नाथ! आओ, शीघ्र आओ!! हम प्रलयसे भयभीत नहीं होते। अनन्तकालतक मृत्युका आलिङ्गन किये रह सकते हैं। हमें उसकी याद भी नहीं पड़ेगी, परंतु तुम आओ!

'क्या हमारा हृदय कलुषित है? क्या तुम कहीं यहीं हो? हम तुम्हें पहचाननेमें असमर्थ हैं? अवश्य यही बात है। पर हम तुम्हें पहचानने योग्य कब हो सकते हैं? तुम्हीं कृपा करके अपनी पहचान करा दो, तभी सम्भव है; अन्यथा हम तुम्हें नहीं पहचान सकते! परंतु तुम छिपे क्यों हो? यह आँख-मिचौनी क्यों खेल रहे हो? हम चाहे जैसे हैं, तुम्हारे तो हैं न? यह अपने लोगोंसे पर्दा कैसा? आओ, अब एक क्षणका विलम्ब भी असह्य है।'

प्रार्थना करते-करते वे लोग इतने व्याकुल हो गये कि उन्हें एक क्षण कल्पके समान मालूम पड़ने लगा। व्याकुलताकी हद हो गयी! वे केवल रो रहे थे। ठीक इसी समय मत्स्य भगवान् प्रकट हुए।

(४)

भगवान्‌की लीलाका रहस्य कठिन-से-कठिन और सरल-से-सरल है। कठिन इसलिये कि सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, पुराण उनका वर्णन करते-करते हार गये, उन्हें ढूढ़ते-ढूँढ़ते थक गये, अन्तमें 'नेति-नेति' कहकर चुप हो गये। भगवान्‌का रहस्य उतना ही दुर्बोध बना रहा, जितना कि उनके वर्णन करनेके पहले था। स्वयं भगवान्‌ने अपनी लीलाका सहस्र-सहस्र मुखसे वर्णन करनेके लिये शेषनागका रूप धारण किया। न जाने वे कबसे वर्णन कर रहे हैं और न जाने कबतक करते रहेंगे? परंतु न लीलाके रहस्यका पार पा सके हैं और न तो पानेकी सम्भावना ही है। कारण, 'भगवान् अनन्त हैं, उनकी लीला अनन्त है, उनका रहस्य अनन्त है। जब अन्त है ही नहीं, तब वे स्वयं अन्त कैसे पा सकते हैं? सरल इसलिये कि वे इतने कृपालु हैं कि उन्हें कभी ग्वाल-बालोंके साथ नाचना पड़ता है, ग्वालिनोंके घर माखन-चोरीकी लीला करनी पड़ती है और रस्सीसे बँधकर रोना पड़ता है। छोटे-छोटे राक्षसोंको मारनेके लिये उन अजन्मा भगवान्‌को जन्म लेना पड़ता है, जिनके संकल्पमात्रसे सारी सृष्टिका संहार हो सकता है। यह दयाकी बात इतनी सरल है कि कोई भी सहृदय व्यक्ति उनकी दयाका स्मरण करके रोये बिना नहीं रह सकता।

प्रलयकी अपार जल-राशिमें एक छोटी-सी नौकापर सप्तर्षि और आदिराज मनु सम्पूर्ण ओषधियोंका तथा समस्त जीवोंका बीज-तत्त्व लेकर बैठे हुए हैं। कौन कह सकता है कि यदि भगवान् इनके रक्षक न होते तो ये लोग उन कठोर तरंगाघातोंसे टकराकर चूर-चूर न हो गये होते! परंतु आड़में छिपकर भगवान् इनकी व्याकुलता देख रहे थे और अन्तमें इनके प्रगाढ़ प्रेमके कारण वे प्रकट हो गये। आज परम दयालु भगवान् मत्स्यके रूपमें प्रकट हुए हैं। उनके लिये शरीरोंका भेद कोई भेद नहीं। सब समान हैं, सबके आत्मा वही हैं; परंतु हमारे लिये हमारी दृष्टिसे वे मछली बनकर आते हैं और हमारी रक्षा करते हैं, यह कम कृतज्ञताकी बात नहीं है। उनकी इस लीलाका रहस्य हमारे लिये इतना सरल होना चाहिये कि इसकी निरन्तर स्मृति बनी रहे कि उन्होंने ही हमें बचा रक्खा है।

उनके सामने एक दस हजार योजनके बड़े भारी मत्स्यके रूपमें भगवान् प्रकट हुए और उनका बड़ा लम्बा सींग ऊपर निकल आया। तुरंत वासुकि नाग भी प्रकट हुए और वह नौका उन्हींके द्वारा भगवान्‌के सींगमें बाँध दी गयी। भगवान्‌ने, जिनका शरीर सोनेकी भाँति चमक रहा था, मुसकराते हुए कहा—'ऋषियो! मैं आ गया हूँ। नाव भी मेरे सींगमें बाँध दी गयी है। अब नावपर तरंगोंका उतना असर नहीं पड़ेगा। अब शान्तिसे प्रलयका समय बिता दिया जाय।' उन लोगोंने कहा—'भगवन्! ये शरीर चाहे स्वर्गमें हों या नरकमें; शान्त आश्रममें हों या प्रलयके उत्ताल तरंगोंपर; हमें इसकी जरा भी चिन्ता नहीं। केवल आप हमारे साथ हों। आप आ गये, हमारा कल्याण हो गया।'

मनु महाराजने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! आपकी मधुर वाणी सुननेकी बड़ी अभिलाषा हो रही है। जबतक हमलोग आपकी सन्निधिमें हैं तबतक आप हमें धर्म-कर्मके रहस्य समझावें। आपके बिना आपके स्वरूप, लीला आदिका रहस्य कौन समझा सकता है?' मनुकी इस जिज्ञासाभरी प्रार्थनाको सुनकर भगवान्ने उन्हें अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों प्रकारके पुरुषार्थोंके लक्षण, स्वरूप और साधन बतलाये। उन्हीं उपदेशोंका संग्रह मत्स्य-महापुराणके नामसे प्रसिद्ध है। स्वाध्याय-प्रेमियोंको उसका अध्ययन करना चाहिये। संक्षेपमें उसका सार-संग्रह इस प्रकार किया जा सकता है—

भगवान्ने कहा—अच्छा, मैं तुम्हें धर्मका सार सुनाता हूँ। सावधानीसे श्रवण करो। यहाँ मैं उस ज्ञानकी चर्चा नहीं करता, जो एक अनन्त आनन्दस्वरूप त्रिविध भेद-शून्य है; क्योंकि उसमें बन्ध-मोक्ष, जीव-ईश्वर आदिके भेद हैं नहीं, वह केवल पारमार्थिक सत्य है और अनुभवगम्य तथा अनिर्वचनीय है। यहाँ तो केवल व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करना है, जहाँ धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष आदिके भेद-विभेद हैं, इस दृष्टिसे यह जो जगत् चल रहा है, यह अनादिकालसे ऐसा ही चलता आया है और अपरिमित कालतक चलता रहेगा। सृष्टिके बाद प्रलय, प्रलयके बाद सृष्टि यही इसका क्रम है, जब प्रलय हो जाता है, सारे जीव तमोगुणकी घोर निद्राके अधीन हो जाते हैं, तब मैं प्रकृतिको क्षुब्ध करता हूँ, जीवोंको जगाता हूँ और इसलिये जगाता हूँ कि वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कल्याणका मार्ग निश्चय करें तथा आगे बढ़ें। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिवके रूपमें तथा अन्यान्य विभूतियों, संत-महात्माओं और अवतारोंके रूपमें प्रकट होकर उन्हें सन्मार्ग बताता हूँ। जो लोग पूर्व-संस्कारके अनुसार पशु-पक्षी अथवा कीट-पतंग अथवा और किन्हीं जन्तुओंके रूपमें पैदा होते हैं, उन्हें क्रमशः आगे बढ़ाता हूँ और जो मनुष्ययोनिमें होते हैं उन्हें तमोगुणसे रजोगुण तथा रजोगुणसे सत्त्वगुणमें ले जाकर भगवत्प्रेम अथवा मोक्षका अधिकारी बना देता हूँ।

जिन लोगोंके जीवनमें प्रमाद, आलस्य और निद्राकी अधिकता है, उन्हें अर्थ, धर्म आदि किसी भी पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि वे संसारकी सम्पत्ति, शरीर, पुत्र एवं यश आदिके लोभसे भी किसी काममें लग जायँ और रजोगुणकी प्रवृत्ति उनके जीवनमें आ जाय तो बहुत सम्भव है कि वे सत्त्वगुणमें भी पहुँच जायँ। परंतु आश्चर्य है कि कई लोग पशुओंसे भी गयी-बीती हालतमें पड़े रहते हैं और अपने अमूल्य जीवनको नष्ट करते रहते हैं। शास्त्रोंमें उनके लिये अर्थशास्त्रका विधान है। वे भौतिक उन्नतिमें लगकर अपना कल्याण कर सकते हैं।

जिनकी प्रवृत्ति रजोगुणी है, जो लोभ, प्रवृत्ति, बड़े-बड़े कारबार, अशान्ति, ईर्ष्या और स्पर्धामें पड़े हुए हैं, उन्हें वहीं नहीं पड़े रहना चाहिये। उन्हें धर्मशास्त्रके अनुसार अपनी प्रवृत्तियोंको सात्त्विक बनाना चाहिये। रजोगुण अच्छा है, परंतु सत्त्वगुण उससे भी अच्छा है। धर्म-बुद्धिरहित कर्मके पचड़ोंमें पड़कर लोग स्वार्थी हो जाते हैं और अपने जीवनका लक्ष्य ही भुला देते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिये। प्रत्येक काम धैर्यके साथ करना चाहिये और करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि इससे अधिक-से-अधिक लोगोंकी सच्ची भलाई हो रही है या नहीं? जहाँतक हो सके, पूरी शक्ति लगाकर काम, क्रोध, लोभसे बचें और अपने शरीर तथा सम्पत्तिका उपयोग विश्व-भगवान्की सेवामें करें।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनकी दृष्टि इस दृश्यमान जगत्में इतने जोरसे लग जाती है और संकुचित होने लगती है कि वे सारे संसारकी भलाईकी उपेक्षा करके केवल अपने शरीरके ही पालन-पोषण और ऐशो-आराममें भूल जाते हैं। उनके सामने परलोककी बात रक्खी जाती है। जीवन बहुत विशाल है, जीवन-मरणके चक्करमें कई बार स्वर्ग और नरकोंमें भी जाना पड़ता है। यदि उनकी ओरसे दृष्टि हटा ली जाय तो इस जीवनके कुछ दिन सम्भव है, सुखसे बीत जायँ; परंतु आगे चलकर पछताना ही पड़ेगा। अतः संचयशील प्राणी परलोकके लिये भी पुण्यसंचय करते हैं। पुरुषार्थोंमें जिसे 'काम' कहा गया है उसका अर्थ स्त्री-पुरुषोंका संयोग नहीं है। उसका अर्थ है 'पारलौकिक सुखकी प्राप्ति'। जब पारलौकिक सुखकी दृष्टिसे यज्ञ, दान, तप, उपासना आदि किये जाते हैं, तब उन्हें 'काम' नामक पुरुषार्थका साधन कहा जाता है। धर्म लौकिक और पारलौकिक दोनों सुखोंका मूल है और धर्मके बिना अर्थ या काम कोई भी नहीं मिलते।

चाहे लौकिक दृष्टिसे हो या पारलौकिक दृष्टिसे, धर्म होना चाहिये। धर्म स्वयं पुरुषार्थ है, इससे सब कुछ मिल सकता है। निष्काम भावसे किया जाय तो अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और ज्ञान या भक्ति प्राप्त हो जाती है। यदि धर्म धर्मके लिये ही न हो तो लौकिक सुखकी अपेक्षा पारलौकिक सुखकी दृष्टि अधिक उत्तम है। कारण, लौकिक सुख इसी स्थूल देहपर अवलम्बित है और हाड़-चाम-मांस-मल-मूत्रका पुलिंदा

है। यह दो-चार दिनकी चीज है और इतना घृणित है कि इसके लिये ही कर्म करना अथवा इसीको सुख पहुँचाना कभी जीवनका उद्देश्य हो नहीं सकता। पारलौकिक सुखकी दृष्टि सर्वोत्तम न होते हुए भी इसकी अपेक्षा उत्तम है; क्योंकि वह सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध रखती है, जो कि आत्मा या जीवसे अधिक निकट है। पारलौकिक दृष्टि जीवके स्वरूपकी जिज्ञासा पैदा करती है, अनेक लोकोंके सम्बन्धमें कुतूहल उत्पन्न करती है और उनके बनानेवाले, उनके स्वामी और फल देनेवालेपर विश्वास करानेवाली होती है।

परंतु जीवके कल्याणकी दृष्टिसे इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसमें जो आनन्दकी एक अतृप्त लालसा है, सर्वदा जीवित रहनेकी भावना है और सबका ज्ञान प्राप्त कर लेनेकी जिज्ञासा है, वह इतनेसे ही पूर्ण नहीं होती। उसके लिये तो अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान और अनन्त सत्यकी आवश्यकता है और वह केवल मैं ही हूँ। जबतक जीव मेरे पास नहीं आता तबतक उसे सच्चा सुख, सच्ची शान्ति, सच्चा ज्ञान और सच्ची अमरता नहीं प्राप्त हो सकती; क्योंकि इनका आधार मैं ही हूँ। स्वयं परब्रह्म मेरा एक अंश है।

सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह है कि ये जीव मेरे अंदर ही हैं। मैं भी उनके अंदर व्याप्त हूँ, परंतु उन्हें मेरा पता नहीं है। जैसे एक प्यासा आदमी अमृतके समुद्रमें डूब-उतरा रहा हो, पर उसे पता न हो कि मैं अमृतके समुद्रमें हूँ। वह समझ रहा हो कि मैं एक घोर मरुस्थलमें इधर-उधर भटक रहा हूँ। तब जैसी परिस्थिति होती है, वैसी ही परिस्थिति इन जीवोंकी है। ये इन विषयोंके मोहमें इस प्रकार फँस गये हैं कि मेरी ओर दृष्टि ही नहीं डालते। इसीका नाम है 'भ्रान्ति'। इसीको कहते हैं भूल। जीवोंके दुःखका मूल यह भूल ही है। इस भूलको मिटानेके लिये जिस शास्त्रका वर्णन किया गया है, उसे 'मोक्षशास्त्र' कहते हैं और इस भूलका मिट जाना ही 'मोक्ष' है।

(५)

सप्तर्षि और राजर्षि मनु बड़ी एकाग्रता और प्रेमसे भगवान्‌की मधुर वाणी सुन रहे थे। प्रलयके कारण मनकी चञ्चलताके लिये और कोई स्थान तो था ही नहीं, उनकी वृत्तियोंके एकमात्र आश्रय थे भगवान् या भगवान्‌की वाणी। वास्तवमें जब कोई आधार नहीं रहता, किसीका भरोसा नहीं रहता, तब भगवान्‌का विश्वास और भगवान्‌का चिन्तन सच्चाईके साथ होता है।

जब भगवान् चुप हो गये, तब सप्तर्षियोंने बारी-बारीसे भगवान्‌की प्रार्थना की। मरीचिने कहा—'भगवन्! जिसने तुम्हारे चरणकमलोंके मकरन्द-रसका आस्वादन नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ ही बीत गया। उसके सारे मनोरथ निष्फल हुए और जीवनका पवित्र लक्ष्य उसे प्राप्त नहीं हुआ। मुझपर आपने बड़ी कृपा की, मेरा ऋषि-जीवन सफल हुआ। मैं आपके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ।'

अत्रिने रुँधे कण्ठसे, गद्‌गद वाणीसे, सिर झुकाकर, अञ्जलि बाँधकर प्रार्थना की—'प्रभो! बिना तुम्हारी कृपाके तुम्हारी प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवमें इतनी शक्ति कहाँ है कि अपने बल-पौरुषसे तुम्हें प्राप्त कर सके। उसमें इतना ज्ञान कहाँ है कि वह तुम्हारे बारेमें कुछ सोच-समझ सके। परंतु तुम इतने दयालु हो कि अपने-आपको जरा भी नहीं छिपाते, जीवकी जरा-सी पुकार सुनकर उसके पास दौड़ आते हो और उसे अपने गलेसे लगाकर कृतकृत्य करते हो। मुझपर तुमने अपार कृपा की है। मैं तुम्हारा तो हूँ ही। पुनः-पुनः तुम्हारे चरणोंमें अपने-आपको समर्पित करता हूँ।'

अङ्गिराने कहा—'प्रभो! यह सारी सृष्टि आपकी है। मैं आपका हूँ। सारी सृष्टिके स्वामी आप जिसके अपने हो गये हैं, उसे कमी किस बातकी है? मैं तो इसी भावसे फूला नहीं समाता कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। बस और मुझे क्या चाहिये? आपकी पावन स्मृति निरन्तर बनी रहे।'

पुलस्त्यने कहा—'भगवन्! आप ही शिव हैं, आप ही ब्रह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं। चाहे जो नाम रक्खा जाय, चाहे जो भी रूप हो, सब आप ही हैं। आपका यह सर्वभाव मेरे मानस-पटलपर अङ्कित रहे और मैं आपके गुण और नामोंका गायन करके मस्त रहूँ, आपकी कृपाका अनुभव करता रहूँ। मैं आपके चरणोंमें बार-बार साष्टाङ्ग दण्डवत् करता हूँ।'

पुलहने कहा—'भगवन्! जिसे लोग प्रकृति और पुरुषसे परे परब्रह्मका आश्रय पुरुषोत्तम कहते हैं, वह आप ही हैं। आप हमारे आत्माके भी आत्मा हैं। मैं निरन्तर आपके भजन-में लगा रहूँ, यही एकमात्र अभिलाषा है। मैं आपके शरणागत हूँ। आपके कर-कमलोंकी छत्रछायाका इच्छुक हूँ। दया करो! दया करो!!'

क्रतुने कहा—'भगवन्! इस संसारमें जितने कर्म हो रहे हैं, वे सब यज्ञ हैं। संसार आपका एक यज्ञचक्र है। जिन्होंने इसके रहस्यको जान लिया है, वे यज्ञरूप हो गये हैं; क्योंकि विश्वके अङ्ग यज्ञके अङ्ग हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं, ऐसा कोई

कर्म नहीं, जो आपसे सम्बद्ध न हो। इस बातको न जानकर लोग भटकते हैं, दुःख उठाते हैं। मैं आपकी इच्छाका यन्त्र हूँ। आपके संकेतपर नाचनेवाली कठपुतली हूँ। आप इसी तरह अपनाये रक्खें। मैं आपके चरणोंमें नतमस्तक हूँ।'

वशिष्ठने कहा—'भगवन्! आप जगत्के अन्तरात्मा हैं। ज्ञानस्वरूप हैं। अपने अत्यन्त आत्मीय हैं और आत्मा ही हैं। आप सब कुछ जानते हैं। आपसे क्या कहना और क्या सुनना है? कहा-सुना तो दूसरोंसे जाता है। अपने-आपसे ही क्या कहें और क्या सुनें? मैं अपने आत्मस्वरूप भगवान्को अभेदभावसे प्रणाम करता हूँ।'

मनु महाराजने बड़े प्रेमसे हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! आपकी कृपासे सम्पूर्ण जीवोंकी, ओषधि-वनस्पतियोंके बीजोंकी रक्षा हुई। अब शीघ्र ही इस प्रलयका अन्त कीजिये और इन जीवोंको इनकी उन्नतिकी ओर अग्रसर कीजिये। आपने मुझपर अपार कृपा की, मेरे लिये अवतार धारण किया और ज्ञानपूर्ण उपदेश सुनाकर सारे जीवोंको कृतार्थ किया। यद्यपि इस समय इनकी वृत्तियाँ विलीन हैं, ये सुन नहीं सकते, फिर भी आपकी वाणीका प्रभाव इनपर पड़ेगा ही और जगत्में जानेपर भी कभी-न-कभी इनके हृदयमें इन उपदेशोंकी स्मृति होगी तथा ये अपना कल्याण कर सकेंगे। आपके साथ रहने और आपके उपदेश सुननेके कारण प्रलयका इतना लंबा समय क्षणभरकी भाँति व्यतीत हो गया। अब थोड़ा ही समय है। आपकी मधुर वाणी सुनते-सुनते और आपकी अनूप रूप-राशि, मोहिनी छवि देखते-देखते ही यह समय बीते और निरन्तर ही इसकी स्मृति बनी रहे ऐसी कृपा कीजिये।'

इन सबकी बातोंको सुनकर भगवान्ने कहा—'मेरे प्रति आपलोगोंका अहैतुक प्रेम सर्वथा प्रशंसनीय है। मैं तो अपना काम ही करता रहता हूँ। दुनियाभरकी झंझट अपने सिरपर ले रक्खी है। आपलोगोंके प्रेमकी जितनी परवा करनी चाहिये, नहीं कर पाता। मैं निश्चिन्त होनेपर भी इस बातके लिये चिन्तित रहता हूँ कि कहीं मेरे प्रेमियोंको कोई कष्ट न पहुँच जाय। आपलोगोंके बलपर ही मैं भगवान् बना हुआ हूँ। आपलोग मेरे हृदय हैं। मैं आपलोगोंका हृदय हूँ। आप मेरे अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुका चिन्तन नहीं करते परंतु मुझसे ऐसा नहीं हो पाता, इसके लिये मैं आपलोगोंका ऋणी हूँ और यह ऋण वहन करनेमें मुझे बड़ा आनन्द आता है। मैं उऋण हो ही कब सकता हूँ? इसी नाते आपलोग मेरा स्मरण किया करें, आपलोगोंके पवित्र हृदयोंमें स्थान पाकर मैं कृतकृत्य हो जाता हूँ।

'यद्यपि लोग मुझे समदर्शी कहते हैं और मैं हूँ भी वैसा ही, परंतु जो अपने धन, जन, शरीर, प्राण और सर्वस्वकी चिन्ता छोड़कर केवल मेरे ही भरोसे मेरे चिन्तनमें लगे रहते हैं, उन्हें मैं कदापि नहीं छोड़ सकता। अग्निके पास जो जाते हैं, उन्हींकी ठंडक दूर होती है। जो कल्पवृक्षकी छायामें जाते हैं, उन्हींकी अभिलाषा पूर्ण होती है। जो अपने-आपको मेरे प्रति समर्पित कर देते हैं, मैं भी अपने-आपको उनके प्रति समर्पित कर देता हूँ। जो मुझे जिस भावसे भजता है, मैं भी उसी भावसे उसे भजता हूँ।'

इतना कहते-कहते भगवान् मानो आवेशमें आ गये। यद्यपि भगवान्को कभी आवेश नहीं होता, न हो सकता है; परंतु भक्तोंके कल्याणके लिये उन्हें आवेशकी भी लीला करनी पड़ती है। उन्होंने कहा—'मैं आपसे सत्य कहता हूँ; शपथपूर्वक कहता हूँ कि मैं आपलोगोंके बिना जीवित नहीं रह सकता। मेरा जीवन आपलोगोंके अधीन है। मेरी सत्ता आपलोगोंके हाथमें है। आपलोग मेरे आत्मा हैं। मुझ भगवान्के भगवान् हैं। मैं आपलोगोंके पीछे-पीछे इसलिये भटकता फिरता हूँ कि कहीं-कहीं आपलोगोंके चरणोंकी धूलि मिल जाय! और उसे सिरपर लगाकर मैं पवित्र हो जाऊँ। आपके ही बलपर मुझमें संसारको धारण करनेकी शक्ति है। मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि एक दिन सारे संसारका उद्धार होगा। सम्पूर्ण जीवोंको मेरे पास आना होगा। मुझसे एक होना होगा।

'आना होगा, निश्चय आना होगा। मेरे पास आये बिना उनकी यात्रा समाप्त नहीं हो सकती। आखिर वे अपने घर आये बिना मार्गमें कबतक भटकते रहेंगे। मैंने इसलिये उन्हें स्वतन्त्र किया कि अपनी विद्या-बुद्धिसे अपना हित सोच-कर वे उसे पावें, परंतु उन्होंने उस विद्या-बुद्धिका दुरुपयोग किया। विषयोंके लिये गँवाया। उन्हें कदापि शान्ति नहीं मिल सकती। परंतु इतनेपर भी उन्हें मैं छोड़ नहीं सकता। वे मेरे अपने हैं। कहीं अपने लोगोंको भी छोड़ा जा सकता है? रोगी दवा न लेना चाहे तो क्या उसे दवा नहीं दी जायगी? मैं इन्हें बलात् अपने पास खींचूँगा। यदि वे मुझे छोड़कर धनसे प्रेम करेंगे तो उनका धन नष्ट हो जायगा। यदि मुझे भुलाकर स्त्री, पुत्र, शरीरके चिन्तनमें लग जायँगे तो उन्हें अशान्ति और उद्वेगका शिकार होना पड़ेगा। यदि वे मेरी उपेक्षा करके संसारकी किसी वस्तुको चाहेंगे तो प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों ही हालतोंमें वह जलायेगी। पानेपर सफलता-

का गर्व होगा, और पानेकी कामना होगी; न पानेपर अड़चन डालनेवालेके प्रति क्रोध होगा, जलेंगे, मरेंगे, नष्ट होंगे।

'मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मेरे पास रहनेमें, मेरी उपासना करनेमें और मेरी संनिधिका अनुभव करनेमें ही जीवोंका कल्याण है। क्या नन्हा-सा बच्चा अपनी माँको छोड़कर कभी सुखी हो सकता है? जीवो! आओ! आओ! आओ! दौड़ आओ! मैं तुम्हें अपने हृदयसे लगानेके लिये कबसे पुकार रहा हूँ। क्षण-क्षण तुम्हारी बाट देख रहा हूँ। मेरे प्यारे बच्चो! आओ, मेरी गोदमें बैठ जाओ! मैं तुम्हारे सिरपर अपना हाथ फेरूँ! तुम्हें चूम लूँ! और फिर कभी एक क्षणके लिये भी न छोड़ूँ। किसीकी परवा मत करो। संसारके धर्म-कर्म छोड़कर मेरे पास दौड़ आओ। मैं तुम्हारा अपना हूँ, मैं तुम्हारा अपना हूँ!'

मत्स्य भगवान् और बहुत-सी बातें कहते रहे। मानो प्रकृतिस्थ होकर अब उन्होंने कहा—'अब प्रलयका समय बीतनेपर आया। हयग्रीव दैत्यने वेद चुरा लिये हैं। उनका उद्धार करनेके लिये मैं उसके पास जाता हूँ। बिना वेदके सृष्टि कैसे हो सकेगी? ब्रह्माके लिये पहले उन्हींकी आवश्यकता है।'

मत्स्य भगवान्‌ने प्रस्थान किया!

(६)

किसी-किसी पुराणमें यह कथा भिन्न प्रकारसे आती है। कल्पभेदसे दोनों ही कथाएँ ठीक हो सकती हैं। उनमें लिखा है कि कृतमाला नदीके तटपर राजर्षि सत्यव्रत नामके एक महान् तपस्वी रहते थे। वे फल-मूलादि भी भोजनके लिये नहीं लेते थे। केवल पानी पीकर ही अपने शरीरका निर्वाह कर लेते थे। समयपर स्नान, तर्पण, संध्या आदि नित्य-नियम बड़े प्रेमसे करते और भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनका नाम ले-लेकर मुग्ध हुआ करते। उनके मनमें कोई कामना नहीं थी। वे कुछ पाना नहीं चाहते थे। अपने जीवनका परम लाभ समझकर भगवच्चिन्तनमें मस्त रहते थे।

उनमें तीनों प्रकारके तप पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित थे। नित्य अपने आराध्यदेव भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा करते, अतिथियों, विद्वानोंका यथाशक्ति सत्कार करते। ऋषियों, गुरुजनोंकी वन्दना करते। त्रिकाल स्नान करते। मन्त्र, भस्म और न्यास आदि करके अपने शरीरको पवित्र करते। उनमें इतनी सरलता, इतनी नम्रता थी कि वनके वनस्पतियों, वृक्षों और पशु-पक्षियोंके साथ वे बहुत झुककर सम्मानके साथ व्यवहार करते। उनके ब्रह्मचर्यके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है! अष्टविध मैथुनकी चर्चा भी उनके पास नहीं फटकने पाती थी। उनमें अहिंसाका भाव इतना ऊँचा था कि आश्रमके आस-पासके हिंसक जन्तु भी अहिंसा-प्रेमी हो गये थे। अपना स्वाभाविक वैर छोड़कर बाघ-बकरी एक ही साथ चरते-विचरते, एक ही घाटपर पानी पीते थे।

वे जन-समाजसे तो प्रायः दूर ही रहते थे, किसीसे मिलते-जुलते न थे, बातचीत अधिक नहीं करते थे; परंतु कभी किसीसे बोलना ही पड़ता तो बहुत सम्हालकर खूब तौलकर प्रिय, सत्य एवं हितकर बात ही कहते थे। भगवान्‌के नामोंके उच्चारण एवं सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायके अतिरिक्त दूसरे कामोंमें वाणीका बहुत कम उपयोग करते थे।

उनके अन्तःकरणकी अवस्था विलक्षण ही थी। खिन्नता, विषाद, उद्वेग उनके पासतक नहीं फटकते थे। सदा उनका मन प्रसन्न रहता। जगत्‌की अनित्यता, भगवान्‌की सत्यता और आनन्द एवं शान्तिके भाव निरन्तर उठा करते। मनमें व्यर्थके विचार कभी नहीं आते। वह एक प्रकारसे मौन ही थे। अन्तःकरणपर उनका पूरा संयम था और चाहे जिस क्षण जिस परिस्थितिमें उसे रख सकते थे। जहाँ वे रहते थे उसके आस-पास पवित्रताके परमाणु फैलते रहते थे।

वे नित्य-नियमसे अपनी तपस्यामें लगे हुए थे कि अकस्मात् एक छोटी-सी मछली उनकी अञ्जलिमें आ गयी। जब उन्होंने उसे फिर पानीमें डाल दिया, तब जैसे वैवस्वत मनुसे उस मछलीकी बात हुई थी, वैसे ही इनसे भी हुई और इन्होंने भी रक्षा करते-करते क्रमशः उस मछलीको समुद्रमें पहुँचा दिया।

भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं। जब अपने भक्तको निष्काम भावसे भजनमें लगा हुआ देखते हैं और देखते हैं अपने कर्तव्यमें उसकी तन्मयता, तब अवश्य-अवश्य उसपर कृपा करते हैं और दर्शन देकर उसे ज्ञान-विज्ञान, प्रेम, अधिकार और सब कुछ देते हैं तथा उसके योग्य काम देकर उसे अपना सहकारी बना लेते हैं। भगवान्‌की यह बान है कि धर्ममें लगे हुएका कल्याण करते ही हैं। कोई धर्मके मार्गमें चले, तपस्या करे, साधना करे और भगवान् उसे न मिलें, ऐसा हो ही नहीं सकता। हमारे एक-एक भाव, एक-एक संकल्प और एक-एक विचार हमारे जीवनके साथ जोड़े जाते हैं और एक-न-एक दिन उनका फल मिलता ही है। भगवान्‌के राज्यका यही विधान है।

आज राजर्षि सत्यव्रतके सामने भगवान् मत्स्यरूपसे प्रकट हैं। यद्यपि भगवान्के लिये सभी रूप समान हैं, परंतु भक्तोंके सामने वे कभी-कभी ऐसे रूपमें भी प्रकट होते हैं, जिससे उन्हें सर्वत्र देखनेमें सहायता मिल सके। इसीलिये वे पशु-पक्षी, जलचर, थलचर और शूकर तथा मत्स्यके रूपमें भी प्रकट होते हैं। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि हमारे सामने जितनी वस्तुएँ आती हैं, उनका आकार-प्रकार चाहे जो हो, उनके रूपमें स्वयं भगवान् आ सकते हैं और आते हैं। यदि हम प्रमादमें हुए, आलस्यमें हुए अथवा विषयोंके चिन्तनमें पागल हुए तो वे सामनेसे आकर निकल जाते हैं, हम उन्हें पहचान नहीं पाते। जो सर्वदा उनकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, सब वस्तुओंमें उन्हें पहचाननेकी चेष्टा किया करते हैं, उनके सामने एक-न-एक दिन भगवान् आते हैं और वे उन्हें पहचानकर निहाल हो जाते हैं।

राजर्षि सत्यव्रतने मत्स्यके रूपमें भगवान्को पहचान लिया। असलमें भगवान् अपने पहचाननेके लिये ही आये हुए थे। सत्यव्रतके दण्डवत्-प्रणाम और प्रार्थनाके बाद भगवान्ने कहा—'सत्यव्रत! मैं तुम्हारी तपस्यासे, साधनासे और अहैतुक प्रेमसे प्रसन्न हूँ। मैं जानता हूँ, तुम निष्काम हो। तुम्हारे हृदयमें किसी प्रकारकी वासना नहीं है। वास्तवमें ऐसे ही भक्तोंकी मुझे आवश्यकता है और उन्हें मैं ढूँढ़ा करता हूँ। तुम मेरे सृष्टि-कार्यमें हाथ बँटाओ! मेरी आज्ञाका पालन करनेमें तुम्हें आनन्द ही होगा। आजके सातवें दिन सारी पृथ्वीको समुद्र डुबा देगा। स्वर्ग और पाताल भी डूबनेसे नहीं बच सकेंगे। यह 'नैमित्तिक प्रलय' का समय है। इस समय जीवों और ओषधियोंके बीज बचानेकी आवश्यकता है। मैंने यह काम तुम्हें सौंपा। जब सारी सृष्टि जलमें डूबने लगेगी, तब एक बड़ी-सी नौका तुम्हारे पास आयेगी। सप्तर्षियोंके साथ जीव और बीजोंको लेकर उसमें बैठ जाना। उस समय प्रलयके अगाध जलमें जब नौका डावाँडोल होने लगेगी, तब मैं मत्स्यरूपसे आऊगा। मेरे सींगमें नाव बाँधकर तुमलोग अपनी रक्षा करना।'

राजर्षि सत्यव्रतने बड़ी प्रसन्नतासे भगवान्की आज्ञा शिरोधार्य की! भगवान् अन्तर्धान हो गये। यह जीवन क्षणभङ्गुर है। आज है, पता नहीं कल रहेगा या नहीं? कलकी तो बात ही क्या, अगले क्षणमें भी इसके रहनेका कोई पक्का विश्वास नहीं। ऐसे जीवनसे यदि भगवान्की आज्ञाका पालन हो जाय तो इससे बढ़कर अच्छी बात और क्या होगी? हम न जाने कितनोंकी आज्ञा मानते हैं, किसीकी स्वार्थसे मानते हैं, किसीकी दबावसे मानते हैं और किसीकी विनोदसे मानते हैं; परंतु क्या भगवान्की आज्ञा इतना मूल्य भी नहीं रखती! स्वार्थ और भयकी दृष्टिसे भी भगवान्की आज्ञाका उल्लङ्घन उचित नहीं है, विचार तो यही स्वीकार करता है परंतु हमारी हालत बड़ी विचित्र है। वेद, शास्त्र, गीता आदिके रूपमें भगवान्की आज्ञा प्राप्त होनेपर भी हम उसका पालन नहीं करते।

यह मूढ़ताके सिवा और कुछ नहीं है। यदि प्रेमीको अपने प्रियतमकी आज्ञा मिल जाय तो पूछना ही क्या है! उसके लिये तो हानि-लाभका प्रश्न ही नहीं है। बस, आज्ञा-ही-आज्ञा है। यह सोचकर कि इस जीवनमें भगवान्के आज्ञापालनका सुअवसर प्राप्त हुआ, राजर्षि सत्यव्रतको बड़ी प्रसन्नता मिली। वे कृतमालाके पूर्व किनारेपर कुशासन बिछाकर बैठ गये और मत्स्य भगवान्के चरणकमलोंका चिन्तन करने लगे। आजके सातवें दिन प्रभु प्रकट होंगे और बहुत समयतक उनके संसर्ग और आलापका आनन्द मिलेगा, इस भावसे उनका हृदय द्रवित हो गया। वे भगवान्की दयालुताका स्मरण करके रोने लगे। उन्हें ये सात दिन सात कल्पसे भी बड़े जान पड़े। इन सात दिनोंमें ही जगत्की न जाने क्या हालत हो गयी, परंतु उन्हें कुछ पता न चला। भगवान्की इच्छा और उनकी संकल्प-शक्तिसे सभी वस्तुएँ अपने बीजरूपसे उनके पास उपस्थित हुईं। इन बातोंका पता सत्यव्रतको तब लगा, जब समुद्रकी घोर गर्जनासे उनकी एकाग्रता भंग हुई।

उन्होंने देखा, अब समुद्र मुझे डुबाना ही चाहता है कि इतनेमें नाव आ गयी और सप्तर्षि आदिके साथ वे उसपर सवार हो गये। समुद्रकी भीषणता देखकर उन लोगोंके मनमें तनिक भी आशंका नहीं हुई। उन्होंने बड़ी शान्तिसे भगवान्का ध्यान किया। ध्यान करते ही मत्स्य भगवान् प्रकट हुए और वासुकिके द्वारा वह नाव उनके सींगमें बाँध दी गयी।

अब राजर्षि सत्यव्रतने गद्गद स्वरसे प्रार्थना की। वे बोले—'भगवन्! हम सब जीव अनादिकालसे अविद्याके कारण आत्मस्वरूपको भूलकर संसारमें भटक रहे हैं। आपकी शरण ग्रहण करनेसे ही इसका नाश हो सकता है। यदि हम अज्ञानी जीव अपने हाथों इस अज्ञान और कर्मके बन्धनको काटना चाहें तो असम्भव ही है। इसे केवल आप काट सकते हैं। जैसे अंधेका नेता अंधा नहीं हो सकता, वैसे ही अज्ञानी जीवका गुरु कोई अज्ञानी गुरु नहीं हो सकता। गुरु तो केवल आप ही हैं और आपके ही उपदेशसे हमारी दुर्बुद्धि मिट सकती है। कामनाओंके कारण हमारी बुद्धि नष्ट हो गयी है।

अपने ज्योतिर्मय प्रकाशसे इसका मोह दूर कर दीजिये और सर्वदाके लिये हमें अपना लीजिये । भगवन् ! हमने समस्त गुरुओंके परमरूप आपको ही गुरुके रूपमें वरण किया है । मैं आपके चरणोंमें शत-शत, सहस्र-सहस्र नमस्कार करता हूँ ।'

सत्यव्रतकी भक्तिपूर्ण इस प्रार्थनाको सुनकर भगवान्ने सांख्ययोग आदिकी शिक्षा दी । सारा मत्स्यपुराण सुनाया और अन्तमें आत्मतत्त्वका गुह्यतम ज्ञान और अपनी भक्तिका उपदेश किया । तत्पश्चात् सत्यव्रतको सम्बोधित करके भगवान्ने कहा—'अब प्रलयका समय बीत गया । तुमलोग संसारमें जाओ । मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । मैंने तुम्हें स्वीकार किया । मैं सर्वदा तुम्हारे साथ रहूँगा । एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ूँगा । अब अगले कल्पमें तुम विवस्वान्के पुत्र बनोगे और तुम्हारा नाम वैवस्वत मनु होगा । एक मन्वन्तरके तुम्हीं अधिपति होओगे । मेरी कृपासे तुम्हें कभी मेरी विस्मृति नहीं होगी ।'

सबने श्रद्धा-भक्तिसे भगवान्को प्रणाम किया और वे हयग्रीवके वधके लिये उपस्थित हुए ।

(७)

वेदका अर्थ है अनन्त ज्ञान । यह भगवत्स्वरूप है । भगवान्का निःश्वास अर्थात् प्राण है । इसका भगवान्के साथ अटूट सम्बन्ध है । वेद रहें और भगवान् न रहें या भगवान् रहें, वेद न रहें; ऐसी स्थिति न कभी हुई है और न हो सकती है । पहले-पहल अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान् ही ब्रह्माके हृदयमें वेदोंका संचार करते हैं । उन्हें ऐसा ज्ञान देते हैं, जिससे वे पूर्व कल्पके तत्त्वोंको पहचानते हैं और उनकी ठीक-ठीक व्यवस्था करते हैं । जबतक वे इस ज्ञानको सावधानीके साथ सुरक्षित रखते हैं, इसका स्मरण बनाये रखते हैं, तबतक वे सृष्टिकी व्यवस्था करते रहते हैं; क्योंकि यह ज्ञान भगवत्स्वरूप ही है । इसके आश्रयसे की जानेवाली सृष्टि भगवत्-सम्बन्धसे युक्त ही रहती है ।

बल्कि वेदसे ही सृष्टि हुई है । ॐकारके द्वारा प्रकृतिमें क्षोभ, गायत्रीके द्वारा ज्ञानका संचार और ब्रह्माके चारों मुखोंसे निकले हुए मन्त्रोंद्वारा ही सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि हुई है । जबतक ब्रह्माके मुखोंसे वेद-मन्त्र निकलते रहते हैं, तबतक प्रलय नहीं होता और जब वे असावधान हो जाते हैं, तमोगुण उनकी राजसिक और सात्त्विक प्रवृत्तियोंको दबा लेता है, तब उनका वेद-ज्ञान भूल जाता है और वे निद्रित हो जाते हैं । यह निद्राकाल ही नैमित्तिक प्रलयकाल है ।

कहते हैं कि जब ब्रह्माका रात्रिकाल निकट आता है, संध्या हो जाती है, तब वे कुछ तन्द्राग्रस्त हो जाते हैं । उसी समय हयग्रीव नामका दैत्य, जिसे हम तमोगुण भी कह सकते हैं, उनके वेद चुरा ले जाता है । वे तो निद्राके कारण सो जाते हैं, परंतु भगवान् इस बातकी उपेक्षा कब कर सकते हैं ? वे मत्स्यावतार धारण करके इस अगाध जलराशिमेंसे उसे ढूँढ़ निकालते हैं और प्रलयका अन्त होते-होते ब्रह्माके हृदयमें पुनः वही ज्ञान प्रकाशित कर देते हैं ।

यद्यपि ब्रह्माके वेद कागजपर लिखे हुए कुछ गिने-चुने मन्त्रोंके रूपमें नहीं हैं, जिन्हें कोई चुरा सके । वे तो अनन्त हैं । तथापि असावधानी और तमोगुणके द्वारा अनन्त ज्ञान-राशि भी लुप्त हो सकती है, इस बातका पता देनेके लिये भगवान् ही ऐसी लीला करते हैं ।

वेदोंका रक्षक कौन है ? धर्मका रक्षक कौन है ? वेद और धर्मके व्यावहारिक रूप वर्णाश्रमका रक्षक कौन है ? इन प्रश्नोंका एकमात्र उत्तर है—'भगवान् !' वास्तवमें इनके रक्षक भगवान् ही हैं ।

जब हयग्रीव वेदोंको चुराकर अगाध जल-राशिमें छिप गया और उसने सोचा कि मेरे पासतक कोई नहीं आ सकेगा, मुझे अब कोई न देख सकेगा, तब भगवान्ने मत्स्यरूप धारण किया और वे उसके पास पहुँच गये । भला भगवान्से छिपकर कोई कहाँ जा सकता है ? वे घट-घटकी जानते हैं, बल्कि घट-घटमें जितने विचार पैदा होते हैं, सब उन्हींके आश्रयसे, उन्हींकी शक्तिसे होते हैं । यही नहीं; बल्कि वे स्वयं ही घट-घटमें रहते हैं । ऐसी स्थितिमें हम उनसे क्या छिपा सकते हैं ?

हम छिपा नहीं सकते, परंतु छिपाते हैं । इसका कारण क्या है ? क्या हम भगवान्पर विश्वास नहीं करते ? क्या हम अपनेको आस्तिक कहते हुए भी अंदरसे नास्तिक हैं ? अवश्य, हम एक साधारण आदमीके सामने जिन चोरी आदि कुकर्मोंको नहीं कर सकते, उन्हें भगवान्के सामने करते हुए लज्जित नहीं होते । भगवान्पर आस्था रखनेवालेके द्वारा यह कभी सम्भव नहीं है !

परंतु इतनी बात अवश्य है कि हमारे अंदर बहुत-सी कमजोरियाँ हैं । हम कभी तमोगुणके अधीन हो जाते हैं, कभी रजोगुणके अधीन हो जाते हैं । यदि इनके अधीन होनेके समय भी भगवान्की याद बनी रहे, उनका भरोसा रहे तो हम समस्त आपत्तियोंसे छूट सकते हैं ।

ब्रह्मा असावधान हो गये थे; परंतु भगवान्‌का भरोसा नहीं छूटा था। यही कारण है कि भगवान्‌ने उनकी रक्षा की और हयग्रीवने भी चोरी तो की; परंतु उसे भगवान्‌का भय था। भयसे ही सही, भगवान्‌पर आस्था थी इसलिये भगवान्‌ने स्वयं उसके पास जाकर उसे सद्‌गति प्रदान की।

साधारण वध और भगवान्‌के द्वारा किये गये हुए वधमें बड़ा अन्तर होता है; क्योंकि भगवान् अपने हाथों जिसका वध करते हैं, उसका उद्धार हो जाता है। हाँ, तो हयग्रीवका उद्धार करके उन्होंने वेद ब्रह्माको दे दिये और ब्रह्माने फिरसे पहले कल्पकी भाँति सृष्टि की। इस प्रकार मत्स्यरूपसे भगवान्‌ने वेदोंकी रक्षा की। धर्मका, ज्ञानका उपदेश किया और अपनी महान् भक्तवत्सलता प्रकट की। इस अवतारके द्वारा भगवान्‌ने ऐसी सुन्दर लीला की, जिसे गा-गाकर लोग भवसागरसे तरेंगे और उनके प्रेममें मस्त रहेंगे।

प्रत्येक अवतारकी अलग-अलग उपासना-पद्धति है। उनमें उनके मन्त्र, ध्यान आदिका विस्तारसे वर्णन हुआ है। मत्स्य भगवान्‌के सम्बन्धमें भी मन्त्र और ध्यानका वर्णन मिलता है। वासुदेव द्वादशाक्षर मन्त्रकी भाँति इनका भी द्वादशाक्षर मन्त्र है। 'ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय।' इस मन्त्रका जप करनेसे साधकको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है।

इनके ध्यानके सम्बन्धमें मेरुतन्त्रमें लिखा है—

नाभ्यधोरोहितसम आकण्ठं च नराकृतिः।
घनश्यामश्चतुर्बाहुः शङ्खचक्रगदाधरः॥
शृङ्गिमत्स्यनिभो मूर्द्धा लक्ष्मीवक्षोविराजितः।
पद्मचिह्नितसर्वाङ्गः सुन्दरश्चारुलोचनः॥
(मेरुतन्त्र ३६ अ०)

भगवान् मत्स्यका विग्रह नाभिसे निचले भागमें रोहित मछलीकी भाँति है। गलेतक मनुष्यके आकार-सा है और सिर शृङ्गी मछलीकी भाँति है। वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल वर्ण और तीन हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा धारण किये हुए हैं। आँखोंसे दयाकी वर्षा हो रही है और वक्षःस्थल पर लक्ष्मी विराज रही हैं। मत्स्य भगवान्‌का यही स्वरूप है। इसके ध्यानसे साधकोंका परम कल्याण-साधन होता है। विस्तार मूल ग्रन्थमें ही देखना चाहिये।

अन्तमें हम श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान् मत्स्यको प्रणाम करें और उनके चरणोंमें भक्तिकी प्रार्थना करें।

बोलो भक्त और भगवान्‌की जय!

श्रीकच्छपावतार-कथा

(१)

सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंकी विषमताका नाम ही सृष्टि है। जब ये तीनों बराबर रहते हैं, तब प्रलय रहता है। सृष्टिकी दशामें ये तीनों बराबर रहें अथवा तीनोंमेंसे किसी एककी प्रधानता न रहे, ऐसा सम्भव नहीं और जब ये तीनों विषम अवस्थामें रहते हैं, तब एक दूसरेको अपने अधीन कर लेना चाहते हैं, अपनी ही प्रधानता स्थापित करना चाहते हैं। इसलिये सृष्टिकी दशामें इन तीनोंका संग्राम निरन्तर चलता रहता है। यदि रजोगुणकी प्रधानता हुई तो वह तमोगुणकी ओर ले जाता है और सत्त्वगुणकी प्रधानता हुई तो वह भगवान्‌की ओर ले जाता है। रजोगुणकी प्रधानता भी यदि भगवान्‌के आश्रयसे हो तो थोड़े ही दिनोंमें वह सत्त्वगुणका रूप धारण कर लेती है। इस सृष्टिमें और जीवनमें सर्वदा यह युद्ध चला करता है।

इसी कारण अनादि कालसे देवासुर-संग्राम होता चला आया है। देवता भगवान्‌के बलपर लड़ते हैं, उनका अपना बल कुछ नहीं है, इसलिये उन्हें अच्छा कहा गया है और दैत्य अपने बलपर, अहंकार-अभिमानके बलपर लड़ते हैं, इसलिये उन्हें बुरा बतलाया गया है। जब देवता भी भगवान्‌का आश्रय छोड़कर अपने बलपर युद्ध करते हैं, तब वे हार जाते हैं और दुःख भोगते हैं; परंतु सत्त्वमूर्ति भगवान्‌को सत्त्वगुण अधिक प्रिय है। वे तमोगुणका साम्राज्य नहीं देखना चाहते, इसीसे सत्त्वगुणी देवताओंकी सहायता किया करते हैं और अपनी ओर न आनेवाले दानवोंकी सहायता नहीं करते।

यहाँ यदि देवताका अर्थ दैवी सम्पत्तियोंका प्रेमी कर लिया जाय और दैत्यका अर्थ आसुरी सम्पत्तियोंका प्रेमी कर लिया जाय तो भी बात ठीक बैठ जाती है; परंतु यह केवल रूपक ही नहीं है, इसके साथ एक महान् ऐतिहासिक सत्य जुड़ा हुआ है। देवता और दैत्योंका संग्राम होता है, बार-बार होता है, उनके लोक हैं, उनमें राजा-प्रजा आदिके व्यवहार यथावत् चलते हैं और आज भी चलते हैं। जैसे

स्थूल जगत्में हमलोग व्यवहार करते हैं, आध्यात्मिक जगत्में मन-बुद्धि आदिका व्यवहार होता है, वैसे ही आधिदैविक जगत्में देवता और दैत्योंका व्यवहार होता है—उन्हें हम देख सकते हैं, उनके यहाँ जा सकते हैं और उनसे सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। इसके लिये एक विशेष मार्ग है, एक विशेष प्रकारकी उपासना-पद्धति है। अस्तु।

आये दिन देवता और दैत्योंमें युद्ध छिड़ा ही रहता था। उन दिनों अर्थात् छठे चाक्षुष मन्वन्तरमें देवता और दानवोंका पारस्परिक वैमनस्य चरम सीमातक पहुँच गया था। ऐसा कोई दिन नहीं बीतता, जब छिट-फुट आक्रमण न हों। देवता जर्जरित हो गये थे। सारे स्वर्गमें त्राहि-त्राहि मची हुई थी। उन्हीं दिनों एक और घटना ऐसी घट गयी, जिसके कारण सभी देवता भयभीत हो गये।

बात यह हुई कि देवराज इन्द्र अपने ऐरावत हाथीपर सवार होकर कहीं बाहर जा रहे थे। रास्तेमें दुर्वासाजी महाराज स्वर्गकी ही ओर आते हुए मिल गये। इन्द्रने उन्हें सादर प्रणाम किया और महर्षि दुर्वासाने प्रसन्न होकर अपने हाथमें पहलेसे ही ले रक्खी हुई माला उन्हें पहना दी। वह माला बहुत सुन्दर थी। उसके दिव्य पुष्प कभी कुम्हलाने-वाले नहीं थे। उसको पहननेवाले कभी दुखी नहीं होते थे, परंतु उस समय इन्द्र असावधान थे। दुर्वासाके स्वभावका ध्यान न रहनेके कारण उनसे कुछ प्रमाद बन गया। उन्होंने वह माला अपने गलेसे निकालकर हाथीको पहना दी और हाथीने अपने सूँड़से खींचकर उसे तोड़ डाला और पैरों तले डालकर मसल दिया। यह सब एक ही क्षणमें दुर्वासाके देखते-देखते हो गया। रुद्रावतार दुर्वासाके क्रोधकी सीमा न रही। उनका चेहरा तमतमा उठा। शरीर काँपने लगा और उनके मुँहसे निकल पड़ा—'इन्द्र! तुझे अपने राज्यका इतना घमंड है! तू इतना मदमत्त हो गया है! जिस मालाको जीवनभर अपने गलेमें धारण करना चाहिये, उसका इतना अपमान! जा, अपने कियेका फल भोग! तेरी यह श्री न रहेगी। तू और तेरा राज्य श्रीहीन हो जायगा।' इन्द्रने उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा की, परंतु सफल न हुए।

एक ओर दैत्योंके आक्रमण-पर-आक्रमण और दूसरी ओर दुर्वासाका यह भीषण शाप! देवतालोग घबरा गये। उनकी सभा हुई। सबने अपने-अपने दुःख कह सुनाये। अन्तमें सर्वसम्मतिसे यह निश्चय हुआ कि 'ब्रह्माके पास चलें। वे हमारे पितामह हैं, वृद्ध हैं, अनुभवी हैं। उनके मुँहसे स्वभावतः ही वेदवाणी निकलती रहती है। उनके पास गये बिना हमारे सुख एवं शान्तिका उपाय नहीं मालूम हो सकता।' वास्तवमें वृद्धोंकी वाणी वेदवाणी ही होती है।

सब मिलकर ब्रह्माकी सभामें गये। ब्रह्माकी सभा दिव्य स्वर्णमय सुमेरु पर्वतके ऊँचे शिखरपर बनी हुई है। संसार-की उत्तम-से-उत्तम वस्तुएँ वहीं रहती हैं। उससे बढ़कर सुन्दरता संसारमें और कहीं नहीं है। सृष्टिका वह सर्वश्रेष्ठ नमूना है। वहाँ शान्तनु, गय, भीष्म आदि राजर्षि और वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ब्रह्मर्षि तथा नारदादि देवर्षि एवं सनकादि परमर्षि सभासद्के रूपमें उपस्थित रहते हैं। सबकी सम्मतिसे सारे काम होते हैं और ब्रह्मा अपने चारों मुखोंसे वेदवाणीके बहाने निरन्तर भगवान्के गुणोंका दिव्य संगीत गाया करते हैं।

देवताओंने जाकर लोकपितामह ब्रह्माको आदर और श्रद्धाके साथ प्रणाम किया तथा उनकी आज्ञासे वे यथास्थान बैठ गये। ब्रह्माके पूछनेपर देवताओंने अपने समाचार कह सुनाये और ब्रह्माने स्वयं देखा भी कि देवताओंके शरीरपर कान्ति नहीं है, वे शक्तिहीन हो गये हैं। इनके हृदयमें शान्ति नहीं है। अतः उन्होंने निश्चय किया कि इनकी सहायता करनी चाहिये। सोचते-सोचते वे तल्लीन हो गये। थोड़ी देर बाद भगवान्का स्मरण करते हुए प्रसन्नमुखसे उन्होंने कहा—'देवताओ! स्वयं मैं, देवाधिदेव शंकर और तुमलोग; इतना ही नहीं, बल्कि मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और परमाणु-परमाणु जिनकी शक्तिसे, जिनके संकल्पमात्रसे उत्पन्न हुए हैं, हैं और रहेंगे, उन भगवान्के चरणोंकी शरण ग्रहण करनेके अतिरिक्त सुख-शान्तिका और कोई दूसरा साधन नहीं है। यद्यपि उनके लिये कोई अनिवार्य कर्तव्य नहीं है, उन्हें किसी कामके लिये बाध्य नहीं किया जा सकता, वे सबके स्वामी हैं, ईश्वर हैं, उनका न कोई शत्रु है न मित्र, न वे किसीकी उपेक्षा करते हैं और न अपेक्षा। फिर भी लोगोंकी रक्षा, मर्यादा एवं नियन्त्रणके लिये वे समय-समयपर रजोगुण, तमोगुण एवं सत्त्वगुणको स्वीकार करके अवतार ग्रहण करते हैं और अपने लोगोंका कल्याण करते हैं। यह समय संसारकी रक्षाका है। इसका पालन करनेके लिये इस समय वे सत्त्वगुणको स्वीकार किये हुए हैं। हमलोग उन्हीं जगद्गुरुकी शरणमें चलें। वे ही हम सबका हित करेंगे।' इतना कहकर ब्रह्मा चुप हो गये।

सारी सभा उठकर अज्ञानसे, अन्धकारसे और लोका-

लोक पर्वतसे परे भगवान्के प्रकाशमय नित्यधामके पास पहुँची। ब्रह्मा, शंकर, इन्द्रादि देवता तथा समस्त ऋषि-महर्षि वहाँ जाकर दिव्य वाणीसे भगवान्की स्तुति करने लगे। लोगोंने अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे प्रार्थना की—'प्रभो! हम आपके शरणागत हैं। न हमें अपना बल है न और किसीका सहारा है। हम आपके हैं, आपके भरोसेपर हैं और आपकी ही शरणमें आये हुए हैं। हम अपनी आँखोंसे आपका दर्शन करनेमें भी असमर्थ हैं; क्योंकि इनमें इतनी शक्ति ही नहीं कि अपने अंदर-बाहर और इनसे भी परे रहनेवाले परम पिताका दर्शन कर सकें। आप अनन्त हैं, निर्विकार हैं, निराकार हैं और विज्ञानानन्दघन हैं। हम सब मायाके चक्करमें फँसे हुए हैं और हमारे हृदय, इन्द्रिय और शरीर मायाके ही कामोंमें लगे हुए हैं।

'परंतु हम सब मायामें तो हैं न! हमारे अंदर इतनी शक्ति नहीं है कि इस मायाके पर्देको फाड़ डालें। इसके परे पहुँच जायँ। यह तो आपकी कृपासे ही हो सकता है और होता है। हम आपकी इच्छाके अनुसार चलनेमें ही अपना कल्याण समझते हैं और चलते हैं। यह देवताओंकी पराजय, दैत्योंकी वृद्धि, संसारमें दैवी शक्तियोंकी कमी और आसुरी शक्तियोंकी अभिवृद्धि आपकी इच्छासे ही हो रही होगी, परंतु हमें संतोष कहाँ? हमारा हृदय अशान्तिसे भर गया है। हम उद्विग्न हो गये हैं। अब आपके अतिरिक्त इस दुःखसे बचानेवाला और कोई नहीं दीखता। नाथ! आप आइये। दर्शन दीजिये, हमारे नेत्रोंको सफल कीजिये।

'यद्यपि आप निराकार हैं तथापि आप भक्तोंके लिये साकार हो जाते हैं। आप साकार होते हुए भी निराकार हैं। निराकार होते हुए भी साकार हैं। आप कुछ न चाहते हुए भी सब कुछ चाहते हैं और सब कुछ चाहते हुए भी कुछ नहीं चाहते। यही तो आपकी भगवत्ता है। प्रभो! आपने कहा है कि 'भक्तोंकी इच्छा ही मेरी इच्छा है।' आज हम सब आपके दर्शनके इच्छुक हैं, कृपा करके हमें दर्शन दीजिये। आप अवश्य दर्शन देंगे। आप दर्शन दिये बिना रह नहीं सकते।'

प्रार्थना करते-करते सब-के-सब बाह्य-विस्मृत हो गये और साष्टाङ्ग जमीनपर गिर पड़े। उनकी व्याकुलता, आतुरता एवं दर्शनकी उत्सुकता देखकर भगवान्ने अपने आपको प्रकट किया। वे तो सर्वत्र रहते ही हैं और प्रकट भी रहते हैं। जहाँ उनके दर्शनकी सच्ची इच्छा हुई, बस, दर्शन हो गये। उनके प्रकट और अप्रकट होनेकी बात तो केवल व्यावहारिक दृष्टिसे है।

भगवान्की उस अनुपम रूपराशिको देखकर देवताओंकी आँखें चौंधिया गयीं। वे उन्हें देख न सके। कुछ क्षणोंमें सम्हलकर उन्होंने देखा कि अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यकी राशि उनके सामने मूर्तिमान् होकर खड़ी है और उसकी मन्द-मन्द मुसकान सबके चित्तको चुरा रही है।

कैसी अद्भुत रूप-माधुरी है! स्वच्छ मरकत मणिके समान श्यामवर्णका शरीर है, कमलकी कोमल पँखुड़ियोंके सदृश गुलाबी आँखें हैं। तपाये हुए सोनेके समान विशुद्ध पीताम्बर धारण किये हुए हैं। मुखसे आनन्द और प्रसन्नता की धारा बह रही है। सुन्दर-सुन्दर टेढ़ी-टेढ़ी भौंहोंसे अनुग्रहकी वर्षा हो रही है। चारु चितवनसे मानो सं संसारको प्रेमके समुद्रमें डुबानेके लिये संकेत कर रहे हैं। गलेमें वनमाला, वक्षःस्थलपर कौस्तुभ मणि और लक्ष्मी तथा अन्यान्य सुकुमार अङ्गोंमें दिव्य आभूषण धारण किये हुए हैं और उनके अस्त्र मूर्तिमान् होकर उपासना कर रहे हैं। सभी दिव्य हैं, अलौकिक हैं, भगवत्स्वरूप हैं।

सबने सिर टेककर साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

(२)

शिव-सनकादि भगवान्की रूप-माधुरीका अपलक दृगोंसे पान कर रहे थे। बाहर-भीतरका कुछ ज्ञान नहीं था। जितना ही पीते, उतनी ही अधिक अतृप्ति बढ़ती जाती। यही तो भगवान्के रूप-रसकी विशेषता है। वह नित्य-नूतन है। पीजिये और पीते ही जाइये। न कभी समाप्ति होगी, न कभी तृप्ति होगी। देवतालोग एकटक देख रहे थे। उन्हें बोलनेका साहस ही नहीं होता था। अन्तमें ब्रह्माने अपना मौन भङ्ग किया। उन्होंने कहा—'भगवन्! आप अन्तर्यामी हैं। आपसे कोई बात छिपी नहीं है। आपसे क्या कहें और क्या न कहें? आपकी दयालुता देखकर हमसे कुछ कहा नहीं जाता। आपके दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हैं। बड़े-बड़े यज्ञ-यागादि साधन करनेपर भी क्षणमात्रके लिये आपकी झाँकी मिलनी कठिन है। कहाँ हम संसारमें भूले हुए और संसारमें लगे हुए विषयासक्त प्राणी और कहाँ आपका परम विरक्त ज्ञानि-जनोंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ दर्शन! परंतु आपने कृपा करके हमें दर्शन दिया है, अतः आपकी यह कृपा ही हमें कुछ निवेदन करनेकी ढिठाई करनेके लिये उत्साहित करती है।

'अन्तर्यामिन् ! आप जानते ही हैं कि इस समय सृष्टिकी स्थितिका अवसर है। यदि इस समय दैवी-सम्पत्ति और देवताओंकी रक्षा और अभिवृद्धि न हुई तो सारी सृष्टि तमोगुणी हो जायगी। फिर तो सृष्टिका यह उद्देश्य कि लोग स्वतन्त्रतासे अपने कल्याणका साधन करें और भगवान्‌को प्राप्त करें, केवल उद्देश्यमात्र ही रह जायगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह, प्रमाद, आलस्य आदिके कारण सभी जीव पाप-तापकी महान् ज्वालामें जलने लगेंगे। क्या आपकी यही इच्छा है? नहीं, नाथ! आपकी ऐसी इच्छा कदापि नहीं है। आप तो सब जीवोंको अपने पास बुलाना चाहते हैं और इसीके लिये आपने यह सृष्टिका प्रपञ्च रचा है। ये सभी देवता और हमलोग आपकी शरणमें आये हैं। आपके चरणोंमें नमस्कार करते हैं। जैसे जगत्‌का कल्याण हो, वैसा कीजिये।'

भगवान्‌ने दयादृष्टिसे निहारते हुए प्रेमभरी वाणीसे कहा—'ब्रह्मा, शिव तथा देवताओ! आपलोगोंकी विपत्ति मुझसे छिपी नहीं है। मैं सभी बातें जानता हूँ। आपके साथ मेरी हार्दिक सहानुभूति है। परंतु किया क्या जाय, इस सृष्टिका एक नियम है। इसकी एक व्यवस्था है। इसमें पुरुषार्थ करनेवाला विजयी होता है। मैं सदाचारियोंका सहायक हूँ। मैं सात्त्विक पुरुषोंका मित्र हूँ; परंतु सदाचार और सात्त्विकता-का यह अर्थ तो नहीं है न कि मेरे भरोसे हाथ-पर-हाथ रखकर बैठा जाय? तुम्हारे पास जितनी शक्ति है, जितना बल है, तुम जो कुछ और जितना कर सकते हो, सचाई और साहसके साथ उतना करो। जब इतनेपर भी तुम्हारा काम होता न दीखे तो मुझे पुकारो। मैं तुम्हारे साथ हूँ। मैं सचाईसे पुकारनेवाली चींटीकी भी आवाज सुनता हूँ; क्योंकि सचाईका निवासस्थान मेरे अत्यन्त निकट है।

'सारा संसार मेरा है। देवता और दैत्य दोनों ही मेरे हैं। मैं किसीके प्रति पक्षपातका भाव नहीं रखता। जो सच्चे हृदयसे मुझे पुकारता है, मैं उसकी सहायता करता हूँ। परंतु सचाईके साथ मुझे पुकारनेवालेके हृदयमें आसुर भाव रह ही नहीं सकते। वह देवता हो जाता है। देवता और असुरोंका यही मुख्य भेद है कि देवता मुझे पुकारते हैं और असुर नहीं पुकारते। पुकारनेवालेके पास जाना और न पुकारनेवालेके पास रहकर भी प्रकट न होना, यह समदर्शिताको भंग नहीं करता। मैं समदर्शी ही नहीं, स्वयं सम हूँ।

'अब तुमलोगोंको मुझे याद रखते हुए पुरुषार्थ करना होगा। पुरुषार्थ भी केवल अकेले नहीं, सबको मिलकर करना होगा। तुमलोग बलिके पास जाओ। वह तुम्हारा शत्रु है तो क्या। जब तुमलोग शस्त्रास्त्रका त्याग करके नम्रताके साथ उसके पास जाओगे, तब वह बड़े सम्मानके साथ तुम्हारी मित्रता स्वीकार करेगा।

'शत्रुको नम्र देखकर बड़े-से-बड़ा शत्रु भी नम्र हो जाता है और लाभके अवसरपर शत्रुको मित्र बनानेसे हिचकना हानिकर है। इस समय तुमलोग बलिको श्रेष्ठ स्वीकार कर लो और उन्हें ही अपना नेता बनाओ। उनसे सलाह करके समुद्र मथनेकी तैयारी करो। पृथ्वीकी समस्त ओषधि-वनस्पतियोंको समुद्रमें डालकर मन्दराचलकी मथानी बनाकर वासुकि नागकी रस्सीसे मथो। समुद्रसे बड़े सुन्दर-सुन्दर रत्न निकलेंगे। लोभ नहीं करना। संतोष रखना। बलिकी इच्छा पूर्ण होने देना। अन्तमें अमृत निकलेगा, जिसको पान करनेके बाद तुमलोग अमर हो जाओगे। तुम्हारे सामने जब कोई अड़चन आवे, मुझे याद करना। मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगा। आलस्य मत करो। उठो, जागो और अपने कर्तव्यमें लग जाओ। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो सच्ची लगन और सत्साहससे प्राप्त नहीं हो सकती। आगमें कूद पड़ो। जो अपने जीवनमें जोखिम नहीं उठाता, वह किसी महत्त्वपूर्ण लाभकी आशा नहीं कर सकता।'

देवताओंको इस प्रकारकी आज्ञा देकर उनके देखते-देखते भगवान् अन्तर्धान हो गये। ब्रह्मा और शंकरने भी भगवान्‌को साष्टांग प्रणाम करके उनके दिव्य गुणोंका स्मरण-चिन्तन करते हुए अपने-अपने दिव्य धामकी यात्रा की और देवताओंने बिना शस्त्रास्त्रके, बिना कवचके बड़ी नम्रताके साथ बलिके पास प्रस्थान किया।

दैत्योंने देखा कि आज देवतालोग यों ही चले आ रहे हैं। कइयोंके मनमें यह इच्छा हुई कि आज बड़ा अच्छा अवसर मिला है, इन लोगोंको छकाया जाय। बहुतोंने अपने हथियार सम्हाले कि आज युग-युगका बदला ले लिया जायगा। कइयोंके मनमें उन्हें कैद कर लेनेकी बात आयी। कुछ समझदारोंने कहा कि 'देवतालोग इस प्रकार आ नहीं सकते। इसमें कोई-न-कोई चाल होगी। इन्द्र सबका रुख देखते हुए भी कुछ बोले नहीं। बड़ी नम्रतासे बलिके पास पहुँचे। बलि अपनी सभामें अपने सभासदोंके साथ बैठकर नीति-शास्त्रका विचार कर रहे थे। कोई कह रहा

था, इस प्रकारका उपाय करनेसे देवतालोग सदाके लिये वशमें हो सकते हैं और कोई कह रहा था कि ऐसा करनेसे हमलोगोंका राज्य अचल हो जायगा। इतनेमें ही इन्द्रने सूचना देकर बलिके सभा-भवनमें प्रवेश किया।

शत्रुओंको इस प्रकार आया हुआ देखकर बलिने बड़ा स्वागत-सत्कार किया और कुरुख रखनेवाले असभ्य दैत्योंको डाँटकर देवताओंसे उनके आनेका कारण पूछा। इन्द्रने बड़े विस्तारसे समझाया कि समुद्रमें अनेकों रत्न हैं और यदि हमलोग एक साथ होकर समुद्र मथें तो वे हमें मिल सकते हैं। उन्हें पाकर वास्तवमें हम संसारकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु पा लेंगे। मन्दरकी मथानी, वासुकिकी रस्सी और भगवान्‌के सहायक होनेकी बात भी उन्होंने कही। बलि और उसके सभासदोंने हृदयसे इन्द्रकी बातोंका अनुमोदन किया और दोनों दल मिलकर समुद्र-मथन करें, यह बात निश्चित हो गयी।

मित्रता हो गयी। समुद्र-मन्थनकी बात पक्की हो गयी। अब केवल मन्दराचलके लानेकी देर रही। तुरंत सब देव-दानव मिलकर मन्दराचलके पास गये और उन्होंने बड़े वेगसे उसे उखाड़ डाला। विशाल बाहुओंवाले बलशाली दैत्य और देवताओंने उसे उखाड़कर बड़े जोरकी आवाज करते हुए उसको लेकर समुद्रकी ओर यात्रा की। परंतु वहाँसे समुद्र निकट नहीं था, बहुत दूर था। चलते-चलते उनकी शक्ति क्षीण हो गयी और विवश होकर बलि तथा इन्द्रने उसे छोड़ दिया। उस बड़े भारी पहाड़के गिरनेके कारण अनेकों दैत्य और देवताओंके शरीर चूर-चूर हो गये। कइयोंके हाथ टूट गये, कइयोंके पैर टूट गये और बहुतोंकी कमर सरक गयी। दोनों दलोंमें तहलका मच गया। उनका उत्साह ठंढा पड़ गया।

इसी समय देवताओंने भगवान्‌की याद की। भगवान् कहीं दूर थोड़े ही थे। उन्हें तो केवल पुकारने भरकी देर थी। जबतक इन लोगोंको अपने बलका भरोसा था, घमंड था, तबतक भगवान् अपने आप क्यों आने लगे? जब घमंड चूर-चूर हो गया, तब पुकारते ही वे प्रकट हो गये। अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टिसे मरे हुए देव-दानवोंको उन्होंने जीवित किया, जिनके अङ्ग-भङ्ग हो गये थे, उनके शरीर पूर्ववत् ठीक किये। सबके अन्तःकरणमें बल और साहसका संचार कर दिया। अपने बायें हाथसे मुसकराते-मुसकराते मन्दराचलको उठाया और देखते-देखते क्षणभरमें उसे गरुड़पर रखकर समुद्रतटपर पहुँचा दिया। भगवान्‌ने अब गरुडको विदा कर दिया और स्वयं वहीं रह गये।

तत्पश्चात् देवता और दानवोंने वासुकि नागसे प्रार्थना की कि 'तुम समुद्र मथनेमें हमारी सहायता करो। हम तुम्हें फलमें अपने बराबर ही हिस्सा देंगे।' वासुकिने स्वीकार कर लिया और उन्होंने वासुकि नागसे लपेटकर मन्दराचलको समुद्रमें डाल दिया। वासुकि नागके मुखकी ओर देवताओंके साथ भगवान्‌ने पकड़ा और पूँछकी तरफ दैत्योंको पकड़नेके लिये कहा। परंतु दैत्योंने यह बात स्वीकार नहीं की। उन्होंने कहा कि 'हम देवताओंके बड़े भाई हैं, बली हैं और किसी प्रकार कम नहीं हैं। ऐसी हालतमें हमलोग पूँछ कभी नहीं पकड़ सकते। हम तो मुँहकी ओर रहेंगे।' भगवान्‌ने दैत्योंकी यह बात मान ली और उन्हें मुँहकी ओर पकड़ाकर स्वयं देवताओंके साथ पूँछकी ओर चले आये। कभी-कभी आत्माभिमानके कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। दैत्यलोग मुँहकी ओर क्या गये मुँहकी खा गये! आगे उन्हें इसका फल मालूम होगा।

अब दोनों दल दही मथनेकी भाँति मन्दराचलसे समुद्र मथने लगे। परंतु सबसे पहला विघ्न यह उपस्थित हुआ कि मन्दराचल स्थिररूपसे रहता ही नहीं था। वह समुद्रमें डूबने लगा। देव-दानवोंने अपनी ओरसे बहुत चेष्टा की, परंतु उनकी एक न चली। निराश होकर उन्होंने भगवान्‌का सहारा लिया। भगवान् तो सब जानते ही थे। उन्होंने हँसकर कहा—'सब कार्योंके प्रारम्भमें गणेशकी पूजा करनी चाहिये। सो तो हमलोगोंने बिल्कुल भुला दिया। बिना उनकी पूजाके कार्य सिद्ध होता नहीं दीखता। अब उन्हींकी पूजा करनी चाहिये।'

गणेशकी विधिपूर्वक पूजा की गयी।

(३)

भगवान् बड़े लीलाप्रिय हैं। वे समुद्र मथनेके लिये स्वयं ही मन्दराचल उठा ले आये। एक ओर लगकर स्वयं मथने जा रहे हैं, विघ्न-बाधाकी कोई सम्भावना ही नहीं है। जिनके नाम-स्मरणसे, लीला-गायनसे और स्मरणमात्रसे अनेकों विघ्न-बाधाओंके पहाड़ टल जाते हैं, जिनका नाम लेनेमात्रसे समुद्रमें बड़े-बड़े पहाड़ तैरने लगते हैं, उनकी उपस्थितिमें और उनके ही द्वारा होनेवाले काममें कोई विघ्न पड़े, यह उनकी लीलाके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। परंतु उनकी लीला केवल लीला ही नहीं होती। उसके द्वारा हमें मार्गपर चलनेका उपदेश भी प्राप्त होता है। विघ्नेश्वर गणेशकी पूजाका भी

यही रहस्य था। वृद्धोंद्वारा सम्मानित मर्यादाका, परम्परागत शिष्टाचारका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये। उनका पालन क्यों किया जाय इस दृष्टिसे नहीं; उनका पालन क्यों न किया जाय, इस दृष्टिसे विचार करना चाहिये। यदि हम अपनी बुद्धिमानीके घमंडसे, शारीरिक बलके मदसे अथवा आलस्य-प्रमादसे वैसा नहीं करते तो अपराध करते हैं; क्योंकि ये सब स्वयं अपराध हैं और यदि यह बात नहीं है तो न करनेका कोई कारण नहीं है। वे तो पहलेसे ही हमारे सामने कर्तव्यरूपसे उपस्थित हैं। उन्हें करनेमें कर्तव्य-अकर्तव्यका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान्‌की इस लीलाका एक यह भी भाव था।

उधर गणेशजीकी पूजा हो रही थी, इधर भगवान्‌ने कच्छपरूप धारण किया। सबके देखते-देखते मन्दराचल ऊपर उठ आया और मथनेके योग्य हो गया। भगवान् सत्यसंकल्प हैं। उन्होंने अपना वही रूप जो नित्य शाश्वत और आधार शक्तिके रूपमें पृथ्वी और पृथ्वीको भी धारण करनेवाले शेषनागको धारण करता है, प्रकट किया। उनकी हजारों योजन लम्बी-चौड़ी एवं कठोर पीठपर मन्दराचल एक तिनकेकी भाँति प्रतीत हो रहा था। जब देवता और दानवोंने मन्थन प्रारम्भ किया, तब जिस मन्दराचलको खींचनेमें देवता और दानवोंकी सम्पूर्ण शक्ति लग रही थी, उसका घूमना कच्छप भगवान्‌को ऐसा मालूम होता, मानो कोई उनकी पीठ खुजला रहा है। मन्दराचलके निरन्तर भ्रमणसे सारा समुद्र खलबला उठा, बड़ी ऊँची-ऊँची तरंगें उठने लगीं, जीव-जन्तु घबराकर प्रलयका अनुमान करने लगे, पर्वत और समुद्रके आघातसे उठनेवाला शब्द सारे ब्रह्माण्डमें फैल गया। बड़े वेगसे समुद्र-मन्थन जारी रहा।

भगवान् कच्छपरूपसे मन्दराचलको धारण किये हुए थे, विष्णुरूपसे देवताओंके साथ मथ रहे थे। एक तीसरा रूप भी धारण करके मन्दराचलको अपने हाथोंसे दबाये हुए थे कि कहीं उलछ न जाय। जब मथते-मथते सब लोग थक गये तब भगवान्‌ने देखा कि अब तो इनका उत्साह ठंढा पड़ने लगा, इस प्रकार कामं नहीं चलेगा। इन लोगोंके अंदर शक्ति-संचार करना चाहिये। बस फिर क्या था। सोचने भरकी तो देर थी, सभी सौ गुने, हजार-गुने उत्साहसे अपने काममें लग गये।

यद्यपि सबके अंदर भगवान्‌की ही शक्ति काम कर रही थी, फिर भी उस समय दैत्योंकी बुरी हालत थी। एक ओर समुद्रका घनघोर गर्जन कान फाड़े डालता था, दूसरी ओर सारी शक्ति लगाकर मन्दराचलको खींचना पड़ता था और तीसरी ओर वासुकि नागके हजारों मुखों, हजारों आँखों और हजारों नाकोंसे उनकी जीभकी ही तरह लपलपाती हुई विषकी लपटें निकल रही थीं और उनकी तीव्र ज्वालासे दैत्योंका शरीर जल-भुन रहा था। मानो भगवान्‌की आज्ञा न मानने और अपने बड़प्पनके घमंडका प्रत्यक्ष फल मिल रहा था।

दूसरी ओर देवताओंमें प्रतिक्षण नवीन स्फूर्ति, नवीन बल और नवीन उत्साह बढ़ता जाता था। कारण उनके साथ स्वयं भगवान् मथ रहे थे। वे क्षण-क्षणपर भगवान्‌के दिव्य सौन्दर्यामृतका पान करके निहाल हो रहे थे और उन्हें देख-देखकर मस्त हो रहे थे। यदि कुछ थकावट होती भी तो भगवान्‌की प्रेमभरी दृष्टिके पड़ते ही मिट जाती थी। उधर वासुकि नागके श्वासकी गरमीसे बादल बन-बनकर देवताओंकी ओर चले आते, उनपर छाया करके, उनपर छोटी-छोटी बूँदें बरसाकर उन्हें सुखी कर रहे थे। वास्तवमें बात यह है कि काम करते समय यदि भगवान्‌की स्मृति बनी रहे, उनकी समीपताका अनुभव होता रहे और आँखें उन्हींकी परम मनोहर श्यामसुन्दर छविको देख-देखकर अपना जीवन सफल करती रहें तो अशान्ति और दुःख पास आ ही नहीं सकते। आज देवताओंके परम सौभाग्यका दिन है। न केवल देवताओंके साथ, प्रत्येक काम करने और न करनेवालेके साथ भगवान् रहते हैं। उसके कष्टमें कष्ट उठाते हैं और परिश्रम करते हैं। जो लोग उस समय उन्हें देखते रहते हैं, उनका जीवन धन्य है और वास्तवमें वे ही जीवनका लाभ ले रहे हैं।

मथते-मथते बहुत देर हो गयी, परंतु अमृत न निकला। अब भगवान्‌ने सहस्रबाहु होकर स्वयं ही दोनों ओरसे मथना शुरू किया। उस समय भगवान्‌की बड़ी विलक्षण शोभा थी। वर्षाकालीन मेघके समान साँवला रंग, मुख-मण्डलसे सहस्रों सूर्योंके समान किंतु सहस्रों चन्द्रमाके समान शीतल प्रकाश-की धारा, कानोंमें बिजलीके समान चमकते हुए शरीर हिलनेके कारण चञ्चल कुण्डल, सिरपर बिखरे बाल, गलेकी वनमाला अस्त-व्यस्त, आँखें लाल-लाल और अपने विजयी हाथोंसे वासुकि नागको पकड़कर समुद्र मथ रहे हैं! कैसी अपूर्व शोभा है! कितना अद्भुत रूप है! भक्तोंके लिये भगवान्‌की दयालुताका कितना सुन्दर निदर्शन है! ब्रह्मा, शिव, सनकादि आकाश-मण्डलसे पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं।

उन लोगोंकी ध्वनिमें ध्वनि मिलाकर समुद्र भी भगवान्का जय-जयकार कर रहा है !

इसी समय हालाहल विष प्रकट हुआ। जबतक समुद्रमें विष भरा हुआ था, तबतक अमृत कहाँसे निकलता ? आखिर भगवान्ने अपने हाथों विष निकाल ही दिया ! अब यह विष कहाँ जाय। सारे संसारमें कोलाहल मच गया ! पशु, पक्षी, मनुष्य व्याकुल हो गये। समुद्रके जीव-जन्तु मछली, मगर आदि बेहोश होने लगे। प्रजापतियोंने अपनी प्रजापर आपत्ति देखकर सदाशिव भगवान्की शरण ली।

इधर देवता और दानवोंकी व्याकुलताका ठिकाना नहीं था। चले थे अमृतके लिये और मिला विष ! भगवान्पर विश्वास न रखनेवाले दानवोंके मनमें बड़ी निराशा हुई। वे विषादग्रस्त होकर गिर पड़े। उन्हें तो पहले अच्छी लगनेवाली वस्तु चाहिये। पीछेसे चाहे वह जितनी बुरी हो जाय। पहलेके दुःखसे पीछे होनेवाले सुखका उन्हें पता नहीं था। वे घबरा गये। देवतालोगोंको यह विश्वास तो था कि 'भगवान्की आज्ञासे ही हम यह काम कर रहे हैं और वे साथ ही रहकर हमारी सहायता भी कर रहे हैं, अन्तमें हमारा भला ही होगा।' परंतु विषकी गरमीसे वे भी व्याकुल हो गये। जब उनकी बुद्धिने जवाब दे दिया, तब उन्होंने भगवान्की शरण ली।

भगवान्ने कहा—'भाई ! यह विषका मामला तो बड़ा टेढ़ा है। पहले इससे बचनेका उपाय अवश्य होना चाहिये। यहाँ तो कोई दूसरा उपाय दीखता नहीं। सब लोग मिलकर देवाधिदेव महादेवकी प्रार्थना करें तो वे अवश्य इसका निवारण कर सकते हैं। वे औढरदानी हैं, आशुतोष हैं। उनके सामने दीन होकर प्रार्थना की जाय तो चाहे जितना कठिन काम हो, वे उसे कर ही डालते हैं। अतः सब लोग मिलकर उन्हींकी प्रार्थना करें, उन्हींकी शरणमें जायँ तो काम बन सकता है।'

प्रजापति, देवता आदि सब मिलकर भगवान् शंकरकी प्रार्थना करने लगे। उन्होंने कहा—'देवाधिदेव महादेव ! हम सब आपको नमस्कार करते हैं, आपकी शरण हैं। भगवन् ! आपकी महिमा अनन्त है। आपकी दयालुता प्रसिद्ध है। सारे जगत्के आप ही स्वामी हैं। सारे संसारको मोक्ष देनेवाले ज्ञानका उपदेश करनेवाले आप ही जगद्गुरु हैं। आपके दरबारसे कोई निराश नहीं लौटा। अबतकके समस्त ज्ञानियोंने आपकी पूजा-अर्चा की है और आगे भी करते रहेंगे। भगवन् ! आप ब्रह्म हैं, निर्गुण हैं, निराकार हैं। अपनी त्रिगुणमयी शक्तिसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये आप ही ब्रह्मा, विष्णु और रूद्रका रूप धारण करते हैं। इन रूपोंमें होनेपर भी आप आत्मामें स्थित रहते हैं। आपमें कोई विकार नहीं होता। आप स्वयं आत्मा हैं। स्वयं प्रकाश हैं। संसारमें जो कुछ दीख रहा है या संसारका जो कुछ स्वरूप है, वह आपकी मायाका परिणाम है। आपका खिलवाड़ है। वह माया भी आपसे भिन्न नहीं, आपका ही स्वरूप है। आप मायासे परे हैं। परंतु माया आपके अंदर है। मायाकी दृष्टिसे आप भिन्न हैं और आपकी दृष्टिसे माया अभिन्न है। प्रभो ! ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो आपसे अलग हो। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, भला-बुरा, महात्मा-दुरात्मा और आत्मा-अनात्मा सब कुछ आप ही हैं। आपके लिये अपना-पराया कुछ नहीं है।

'सर्वज्ञ ! क्या आपसे यह बात छिपी है कि आज हालाहल विषके कारण सारे संसारमें त्राहि-त्राहि मची हुई है। पशु-पक्षी, मनुष्य-देवता सभी महान् संकटमें पड़े हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उस भयंकर विषकी आगसे अकालमें ही त्रिलोकीका प्रलय होनेवाला है। आपके सिवा ऐसा और कोई नहीं दीखता, जो इससे जगत्की रक्षा करे। हम आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार करते हैं।' इतना कहकर प्रजापति और देवता भगवान् शंकरके चरणोंमें साष्टांग लोट गये।

भगवान् शंकर अबतक भगवान्के चिन्तनमें अथवा स्वरूप-समाधिमें लीन थे। जब उन्होंने सुना कि जगत्पर महान् संकट आया हुआ है, तब अपनी समाधि तोड़ दी। विश्वके हितके लिये समाधितक छोड़कर लग जाना उनकी दयालुताके अनुरूप ही है। वे विष पीने जा ही रहे थे कि सामने जगदम्बा भगवती पार्वतीके दर्शन हुए। उन्हें देखकर भगवान् शंकरने उनसे सलाह ले लेना उचित समझा। वे तो भगवान्की अर्द्धाङ्गिनी ही हैं। भगवान् शंकरकी इच्छा ही उनकी इच्छा है। अथवा यों कहें कि शंकरकी इच्छा ही भगवती पार्वतीका स्वरूप है। वे कब अस्वीकार कर सकती थीं ! जगत्पर संकट हो, अपने बच्चोंपर आपत्ति आयी हो, पिता उसे नष्ट करनेके लिये उद्यत हो और माँ—दयामयी माँ सम्मति न दे, यह असम्भव है। परंतु कौटुम्बिक दृष्टिसे सम्मति लेना उचित है, यह बात शंकरने सिद्ध कर दी। वे पार्वतीसे कहने लगे।

(४)

अनन्त ज्ञान हो, अपार शक्ति हो परंतु दया न हो तो हमलोगोंके लिये उसका क्या उपयोग है ? हम दयाहीन ईश्वरकी कल्पना भी नहीं कर सकते। हम संसारके पाप-ताप-ग्रस्त जीव यह तो कभी सोच ही नहीं सकते कि हम अपने बलपर दुःखोंसे छुटकारा और सुखकी प्राप्ति कर सकेंगे। हमारी मनोवृत्ति न जाने कबसे दूसरोंका आश्रय ढूँढ़ रही है, ढूँढ़ती ही रहती है। रुपयेका आश्रय, मनुष्यका आश्रय, पशु-पक्षियोंका आश्रय जहाँ देखें, वहाँ आश्रय-ही-आश्रय दीखता है। बिना आश्रयके हमारा एक क्षण भी नहीं बीतता और न तो बीत ही सकता है। निराश्रय तो केवल भगवान् हैं। परंतु इन आश्रयोंको चुननेमें हमसे बड़ी गलती होती है। ये संसारके पदार्थ, संसारके जीव स्वयं दूसरोंके आश्रित हैं, हमें आश्रय क्या दे सकेंगे ? इसीसे जब हम बुद्धिपूर्वक सोच-विचारकर संतोंकी सम्मतिसे अपना आश्रय चुनते हैं, तब भगवान्‌को ही चुनते हैं कि वे परम दयालु हैं। हमें दुःखमें छटपटाते देखकर वे द्रवित हो जायँगे। अधिकारी न होनेपर भी वे हमें परम सुख देंगे। वास्तवमें हमारी ईश्वर-भावना अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्तिपर नहीं, बहुत कुछ दयालुतापर ही अवलम्बित है।

भगवान् शंकर परम दयालु हैं। वे दयाकी साक्षात् मूर्ति हैं। वे हमें कष्टमें नहीं देख सकते। जब त्रिलोकीको संकटमें देखा तब उनसे न रहा गया। उन्होंने भगवतीसे कहा—'देवि ! देखो, आज हमारी प्रजापर, हमारे नन्हे-नन्हे शिशुओंपर कितना संकट है ! क्षीरसागरके मन्थनसे निकले हुए कालकूटकी ज्वालासे दिशाओंमें प्रचण्ड अग्नि धधक रही है। आज वायुकी प्राणशक्ति नष्ट-सी हो गयी है, जलकी जीवनी-शक्ति लापता हो गयी है, ओषधि-वनस्पतियाँ झुलस गयी हैं और जीवोंके प्राण-पखेरू निकलना ही चाहते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि मैं इनकी रक्षा न करूँ, इन्हें इस आपत्तिसे न बचाऊँ तो मेरी शक्तिका, मेरे ऐश्वर्यका और मेरे महादेव होनेका और क्या उपयोग हो सकता है ? उसी शक्तिमान्‌की शक्ति, शक्ति है जिसकी शक्ति दीनोंकी, दुखियोंकी रक्षामें, पालन-पोषणमें लगती है। अबतकके महात्माओंने, साधु-पुरुषोंने अपने इन क्षणभंगुर प्राणों और जीवनका यही सदुपयोग किया है। इसीमें जीवनकी सफलता बतलायी है कि विश्व भगवान्‌की सेवामें इसे समर्पित कर दिया जाय। बड़ा भारी ब्रह्मज्ञानी हो, बड़ा भारी भक्त हो और बड़ा भारी कर्मयोगी हो परंतु यदि वह दीनोंकी उपेक्षा करता है, उनकी रक्षा नहीं करता तो उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है, उसकी भक्ति विफल हो जाती है और कर्मयोग अपूर्ण रह जाता है।

'भगवान् सर्वात्मा हैं। इस जगत्‌के एक-एक अणु, एक-एक जीव उनके ही स्वरूप हैं, उनके ही अंश हैं। इनकी सेवा भगवान्‌की सेवा है और ऐसा करनेसे वे बहुत प्रसन्न होते हैं। उनकी प्रसन्नता और मेरी प्रसन्नता दो वस्तु नहीं हैं; क्योंकि हम दोनों दो नहीं, एक ही हैं। उनकी प्रसन्नतामें मेरी प्रसन्नता है और मेरी प्रसन्नतामें उनकी प्रसन्नता है। देवि ! तुम मेरा अनुमोदन करो। तुम गृहस्वामिनी हो। मुझे आज्ञा दो। मैं इस विषको पीकर सारी प्रजाका कल्याण करूँ।'

देवीने कहा—'स्वामिन् ! आपकी इच्छा ही मेरी इच्छा है। जब अपनी ही संतान इतने संकटमें है, तब विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है। विष आपसे पृथक् थोड़े ही है। स्वयं विष भी आपका ही एक स्वरूप है। आप ही उसे पचा सकते हैं। विलम्ब मत कीजिये। अपने बच्चोंका दुःख छुड़ाइये।'

भगवान् शंकरने अपने हाथ फैलाकर संकल्पमात्रसे उस व्यापक विषको एकत्रित कर लिया और पी गये ! भगवान् शंकरके लिये, जो कि प्रलयके समय अपने तीसरे नेत्रकी अग्निसे सारे संसारको जला डालते हैं, संसारके एक तुच्छ अंश उस विषको समेट लेना क्या बड़ी बात थी ! परंतु भगवान्‌की ऐसी ही लीला थी। उस विषके प्रभावसे शंकरका कण्ठ नीला पड़ गया ! मानो जगत्‌के कल्याणके लिये किये गये इस महान् कर्मकी साक्षिता देनेके लिये वह उनके गलेमें बैठ गया। लोग कहते हैं कि भगवान् शंकर परम पुरुष परमात्माका हृदयमें निरन्तर ध्यान किया करते हैं, यह भयंकर कालकूट विष कहीं उनके सुकोमल, सुकुमार श्यामल शरीरपर न पहुँच जाय, इसलिये जान-बूझकर उन्होंने स्वयं ही उसे अपने गलेमें रख लिया।

महापुरुषोंकी यही बान है, सहज स्वभाव है कि अपने लिये कोई कर्तव्य शेष न रहनेपर भी, कोई कष्ट, ताप, संताप न रहनेपर भी लोगोंके लिये वे कर्मोंमें लगे रहते हैं और कष्ट सहन किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌की यह सबसे बड़ी आराधना है, इससे भगवान् परम प्रसन्न होते हैं, और भक्तके लिये भगवान्‌की प्रसन्नतासे बढ़कर और कोई बात

है ही नहीं । आज शंकर अपने प्रियतम भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये नीलकण्ठ हो गये और यह लोकोपकारके लिये स्वीकार की हुई कालिमा ही अनन्त कालतक उनकी कीर्तिका गायन करती रहेगी । पीते समय जो कुछ विषके कण छिटक गये थे, वे ही बिच्छू, साँप आदिको मिले और बच्छ-नाग, संखिया आदिके रूपमें हुए ।

विष पी लेनेके पश्चात् देवता, दानव तथा समस्त जीवोंको बड़ी प्रसन्नता मिली । देवता-दानव अधिकाधिक उत्साहसे समुद्र-मन्थन करने लगे । भगवान् उनके सहायक थे, मन्दराचलके घूमनेसे उठी हुई हर-हर ध्वनि महादेवके विषपानका महान् संदेश गा-गाकर त्रिलोकीको सुना रही थी । समुद्रकी तरंगें उछल-उछलकर आकाशको चूम आती थीं । भगवान्‌के हाथोंका स्पर्श प्राप्त होते रहनेसे वासुकि नागको और सुख ही प्राप्त हो रहा था । मन्थन जारी रहा ।

थोड़ी ही देरमें कामधेनु प्रकट हुई । समुद्रके इस महान् रत्नको देखकर सभीको बड़ा आनन्द हुआ । कामधेनुका अर्थ है उनसे जो कामना की जाय, उसे वे तुरंत पूरी कर दें । उनसे जो चाहें, दुह लें । समुद्रका प्रथम रत्न विष तो जगद्गुरु भगवान् शंकरके हिस्से पड़ा । दूसरा रत्न जंगलमें रहकर नित्य यज्ञ-यागादि करनेवाले ब्राह्मणोंको मिलना चाहिये, यह बात सर्वसम्मतिसे निश्चित हुई । ऋषियोंने उसे स्वीकार किया । उन्हें अग्निहोत्रके लिये पवित्र हविष्यकी आवश्यकता थी और आज कामधेनुके द्वारा वह पूरी हो गयी ।

इसके बाद पुनः मन्थन प्रारम्भ हुआ । भगवान् कच्छप शान्तिसे बैठे हुए अपने पीठपर मन्दराचलके घूमनेसे कुछ-कुछ खुजलानेका सुख अनुभव कर रहे थे । अबकी बार उच्चैःश्रवा नामका अत्यन्त सुन्दर और बलिष्ठ घोड़ा प्रकट हुआ । दैत्योंने कहा—'अब हमारी बारी है, क्योंकि हम देवताओंसे श्रेष्ठ हैं इसलिये हमें पहले मिलना चाहिये ।' देवताओंको तो भगवान्‌ने पहले ही सिखा दिया था कि लोभ मत करना, घबराना मत, संतोष रखना, सब भला होगा । अतः वे कुछ न बोले, उन्होंने एक प्रकारसे उनकी बात मान ली । वह घोड़ा दैत्योंको मिला ।

इस बार और भी उत्साहसे समुद्र मथा गया । थोड़ी ही देरमें ऐरावत नामका एक महान् हाथी निकला । उसे देखकर दैत्योंको लोभ तो हुआ पर वे बोल नहीं सकते थे । उन्हें अपनी उतावलीपर मन-ही-मन क्रोध भी हुआ, परंतु अब वे क्या करते । बात हाथसे निकल चुकी थी । ये ऐरावत हाथी देवताओंके राजा इन्द्रको मिला । चार दाँत और बर्फके पहाड़की भाँति उसका श्वेत शरीर देखकर देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे फूले न समाते थे । उन्हें संतोषका फल प्रत्यक्ष हो गया ।

समुद्र-मन्थन चलता ही रहा । इस बार पद्मरागके समान दिव्य, अत्यन्त मनोहर, चिन्मय कौस्तुभमणि प्रकट हुई । उसको देखते ही किसीका मन काबूमें न रहा । सभी चाह रहे थे कि यह हमको मिले । सम्भव था कि इसके लिये युद्ध हो जाता, परंतु भगवान्‌को अभी युद्ध होना अभीष्ट नहीं था । उन्होंने उसे अपने हाथों उठाकर अपने गलेमें पहन लिया । देवताओंकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा । दैत्योंके मनमें तो कुछ-कुछ झुँझलाहट हुई, परंतु इस समय वे भी भगवान्‌को अप्रसन्न करना नहीं चाहते थे ।

अबकी बार सौगुने उत्साहसे मन्थनका काम चलने लगा । जितना ही अधिक समुद्र-मन्थन होता, उतनी ही अधिक अमृत निकलनेकी आशा बढ़ती जाती । इस बार कल्पवृक्ष प्रकट हुआ । कल्पवृक्षमें यह विशेषता है कि उसके नीचे जाकर चाहे जो कामना की जाय, पूरी हो जाती है । वह दैत्योंके पास रह ही नहीं सकता था, बिना किसीकी अपेक्षा किये स्वर्गमें चला गया और वहाँका आभूषण हुआ । उसकी स्वतन्त्रतामें बाधा डालना ठीक नहीं समझा गया । यही कल्पवृक्ष एक बार सत्यभामाके आग्रहसे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा द्वारकामें लाया गया था । यह बड़ा ही पवित्र वृक्ष है ।

कल्पवृक्षके बाद अप्सराएँ निकलीं । वे भी स्वभावतः किसीके बन्धनमें नहीं रहना चाहती थीं । वे सुन्दर वस्त्र और नाना प्रकारके आभूषण धारण करके नाना प्रकारके हाव-भावसे स्वर्गमें रहनेवालों और सुखियोंका मन मोहित करने लगीं, चाहे वह कोई भी हों ।

तत्पश्चात् समुद्र-मन्थन करते-करते देवता और दैत्योंने देखा कि महान् प्रकाश हो गया । मानो एक स्थिर बिजली उनके सामने आ गयी हो और उनकी आँखें चौंधिया गयी हों !

सम्हलनेके बाद मालूम हुआ कि यह तो साक्षात् भगवती लक्ष्मी हैं ।

(५)

दुर्वासाके शापसे सभी देवता-दानव और त्रिलोकी श्रीहीन हो गयी थी। जब इतनी साधना और परिश्रमके बाद श्रीदेवी प्रकट हुईं, तब भला किसे प्रसन्नता न होती? चारों ओर कोलाहल मच गया—'श्रीदेवी प्रकट हुईं! श्रीदेवी प्रकट हुईं!' सभीके हृदयोंमें पहलेकी सूखी हुई आशा-लता पुनः लहलहा उठी। देव-दानव, ऋषि-मुनि सभी सतृष्ण नेत्रोंसे उन्हें देखने लगे। इन्द्रने स्वयं बड़ा सुन्दर आसन ले आकर बैठनेको दिया। नदियाँ मूर्तिमान् होकर सोनेके कलशोंमें जल ले आयीं। पृथ्वीने अभिषेकके योग्य ओषधियाँ एकत्र कर लीं। गौएँ पञ्चगव्य लायीं और ऋषियोंने विधिपूर्वक अभिषेक किया। वसन्तने अपनी ऋतु प्रकट कर दी। गन्धर्व भगवती लक्ष्मीके संगीत गाने लगे। अप्सराएँ नाचने-गाने लगीं। आकाश-मण्डलमें मृदङ्ग, वेणु, वीणा आदि बाजे बजने लगे। दिग्गजोंने कलशमें जल भर-भरकर अभिषेक किये और ब्राह्मणोंने वेदोंके मन्त्र पढ़े।

समुद्र मूर्तिमान् होकर पवित्र पीताम्बर पहननेके लिये ले आया। वरुणने वैजयन्तीमाला दी। उसके चारों ओर मत्त भँवरे गुंजार करते हुए मँडरा रहे थे। विश्वकर्माने अनेकों प्रकारके दिव्य आभूषण दिये। सरस्वतीने हार पहनाया। ब्रह्माने कमल दिया और नागराजोंने कुण्डल उपस्थित किये। हाथमें कमल लेकर जब लक्ष्मीदेवीने लोगोंकी ओर देखा, तब उनके मनोहर रूप, उदारता, शरीरकी छबि, गौर वर्ण और अनुपम महिमासे सभी लोग आकर्षित हो गये। भला कौन चाहता है कि हमें लक्ष्मी न मिलें! सभी सतृष्ण नेत्रोंसे उनकी ओर देख रहे थे।

परंतु लक्ष्मी सबको थोड़े ही मिलती हैं! अभी होनेवाले समुद्र-मन्थनमें जिनका प्रधान हाथ है, जो उपदेश करनेवाले, मन्दराचल लानेवाले, उसे धारण करनेवाले और दबानेवाले, देवता एवं दैत्योंमें शक्ति-संचार करनेवाले तथा स्वयं मथनेवाले हैं; उन परम पुरुषार्थस्वरूप भगवान्‌को छोड़कर लक्ष्मी और किसीको कब वरण करने लगी? इतना ही नहीं, लक्ष्मी उनकी नित्य संगिनी हैं, उन्हें छोड़कर और कहीं वे जा ही नहीं सकतीं। जब जन्म-जन्मान्तरमें या इस जन्ममें महान् पुण्य करके भगवान्‌को प्रसन्न किया जाता है, तब वे प्रसन्न होकर कुछ क्षणके लिये लक्ष्मीको कृपा कर देनेके लिये प्रेरित कर देते हैं। बिना उनकी कृपाके लक्ष्मीका पाना असम्भव है और वह चाहे जैसे हो, कुछ क्षणोंके लिये ही होता है और बहुत कम होता है। यद्यपि भगवान्‌की कृपाका यही लक्षण नहीं है, तथापि लोगोंकी वाञ्छाके अनुसार की हुई भगवान्‌की कृपाका नमूना अवश्य है। भगवान्‌के अतिरिक्त सम्पूर्ण लक्ष्मी न और किसीके पास रहती है, न रह सकती है। परंतु कामनाओंका क्या अन्त! एक बार सभीको उनके चक्करमें आना पड़ता है।

भगवती लक्ष्मीने एक लीला रची। मानो वे स्वयं किसीको वरण करना चाहती हों। हाथमें कमलकी दिव्य माला ली और एक-एकको देखने लगीं। वहाँ उस समय देव-दानव, ऋषि-मुनि, शंकर-ब्रह्मा सभी उपस्थित थे। वे सबको देखती हुई जा रही थीं। सबको देख चुकनेपर उन्होंने कहा—'मैंने सबको देख लिया। एक-एकको अलग-अलग पहचान लिया। कोई-कोई सज्जन बड़े तपस्वी हैं, मैं उनकी तपस्याकी प्रशंसा करती हूँ। वे हमारे पूजनीय हैं परंतु इतनेसे ही उन्हें सर्वगुणसम्पन्न नहीं कहा जा सकता। बड़े-बड़े तपस्वियोंमें क्रोधकी पर्याप्त मात्रा पायी जाती है और वे ज्ञानसे भी वञ्चित ही हैं। किसी-किसीमें अपार ज्ञान है, वे सारे वेद-वेदाङ्गोंको कण्ठस्थ किये हुए हैं; परंतु वे सङ्गदोष अथवा आसक्तिके पंजेसे मुक्त नहीं हैं। जिन्हें ज्ञान है, सङ्गपर विजय प्राप्त है, वे भी कामसे हारे हुए हैं; और जो किसीके अधीन है, वह भी किसीका स्वामी हो सकता है? कहीं-कहीं धर्मकी स्थिति भी अच्छी देखी जाती है, परंतु वे भी समस्त प्राणियोंके प्रति दयाका भाव नहीं रखते। कहीं-कहीं बड़ा विकट त्याग है परंतु वास्तव ज्ञानसे दूर ही है।'

कुछ रुककर लक्ष्मीने और कहा—'कहीं-कहीं बड़े दीर्घजीवियोंके दर्शन हुए हैं, परंतु उनका शील-स्वभाव मङ्गलमय नहीं है। जहाँ शील-स्वभाव अच्छा है, वहाँ आयुका कुछ ठिकाना ही नहीं है। जहाँ आयु और शील-स्वभाव दोनों ही अच्छे हैं, वहाँ भी सूक्ष्म-दृष्टिसे देखनेपर कुछ-न-कुछ त्रुटि निकल ही जाती है। मैं खूब गौरसे देख चुकी, सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त कोई मिला नहीं।'

इतनेमें उनकी दृष्टि विष्णु भगवान्‌पर पड़ी। वे एक ओर उदासीनकी भाँति बैठे हुए थे। मानो लक्ष्मीके प्रकट होनेसे न उन्हें कोई कुतूहल हुआ है और न वे इन्हें चाहते हैं! लक्ष्मीने कुछ लजाते हुए मुँह नीचे करके कहा—'और जिनमें सारे गुण हैं, जिन्हें मैं चाहती हूँ, वे मुझसे उदासीन हैं, मुझे चाहते ही नहीं। परंतु इससे क्या हुआ? मैं इन्हें ही वरण करूँगी!' उन्होंने धीरेसे अपने हाथकी वरमाला जिसके चारों ओर सुगन्धसे मस्त भौंरोंकी मण्डली मँडरा रही थी, उनके गलेमें पहना दी। भगवान्‌के वक्षःस्थलपर अपने

रहनेके स्थानको देखकर उनके मुँहपर मुसकराहट आ गयी। आँखें कुछ नीची हो गयीं और वे सकुचा गयीं।

तीनों लोकोंकी जननी माँ लक्ष्मीने जगत्पिता परमात्माको जब वरण कर लिया, तब ब्रह्मा, शंकर आदि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने वेद-मन्त्रोंसे भगवान्‌की अभ्यर्थना की। देवताओंने बधाई दी और भगवती लक्ष्मीने भगवान्‌के वक्षः-स्थलपर निवास किया। उस समय दैत्य-दानव श्रीहीन हो रहे थे।

कहते हैं कि उस समय नारदजी महाराज अपनी मण्डलीके साथ कच्छप भगवान्‌के पास जा पहुँचे। उन्होंने स्तुति, प्रशंसा आदि करनेके बाद भगवान्‌से पूछा कि 'यह लक्ष्मी कौन हैं? इनका आपसे क्या सम्बन्ध है? ये सबको छोड़कर आपको ही क्यों चाहती हैं?' भगवान्‌ने कहा—'नारद! तुम जान-बूझकर पूछते हो। लक्ष्मी मेरी अपनी ही शक्ति हैं। वे मेरी अर्द्धाङ्गिनी हैं, सर्वदा मेरे साथ ही रहती हैं। यह स्वयंवरकी लीला तो इसलिये की है कि लोग यह समझ जायँ कि आश्रय लेनेयोग्य और भजन करनेयोग्य एकमात्र भगवान् ही हैं। वे म्रदिमाकी अधिष्ठात्री देवी हैं। अर्थात् संसारमें जितनी कोमलता, सुकुमारता, मधुरता, सुन्दरता आदि सद्‌गुण हैं, वे उन्हींके झरे-परे अंश हैं। वे सबकी केन्द्र हैं और मेरी सेवा किया करती हैं। जो मोक्ष चाहते हैं, भगवत्प्रेम चाहते हैं अथवा मेरा दर्शन चाहते हैं, उन्हें तो मेरा भजन करना ही चाहिये। परंतु जो सांसारिक धन, मान, कीर्ति, ऐश्वर्य, सौन्दर्य आदि चाहते हैं, उन्हें भी मेरी ही आराधना करनी चाहिये। मैं ही सबका आधार हूँ। मैं ही सबका भजनीय हूँ।' अन्तमें भगवान् कच्छपने नारदादिको यह कहकर विदा किया कि 'समुद्रमन्थन समाप्त होनेपर जब मैं रसातलमें चलूँगा और सबकी आधार-शक्ति होकर पृथ्वी तथा शेषनागादिका धारण करूँगा, तब तुमलोग आना। मैं इन बातोंका रहस्य समझाऊँगा।' नारदादि विदा हो गये।

इधर अमृतमन्थन पुनः प्रारम्भ हुआ। इस बार वारुणी-देवी प्रकट हुईं। यह पातालमें रहनेवाले जलाधिपतिकी पुत्री हैं। इनमें लोगोंको मत्त कर देनेकी शक्ति है। इनके सेवनसे जीव कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान भूल जाता है। इसीसे दैवी-सम्पत्तिके प्रेमी अथवा देवतालोग इनकी अभिलाषा नहीं करते। दैत्य इधर कई बारसे कुछ नहीं पा रहे थे। उन्होंने बड़े चावसे वारुणीदेवीको अपनाया। वे वास्तवमें उन्हींके योग्य थीं। वारुणीको पाकर लक्ष्मी न पानेकी चिन्ता मिटती हुई-सी मालूम पड़ी। दैत्य प्रसन्न हो गये और फिर समुद्र मथना चालू हुआ।

इस बार एक बड़ा ही विशाल धनुष प्रकट हुआ। उस धनुषकी उत्तमताकी सराहना तो सभीने की, परंतु उसे उठानेकी शक्ति किसीमें नहीं थी। बहुतोंने साहस करके अपनी शक्तिकी परीक्षा करनी चाही पर स्पर्श करते ही उन्हें ऐसा झटका लगा कि वे दूर हट गये। दैत्य तो उस धनुषके पासतक भी नहीं जा सकते थे। भगवान् विष्णुने जाकर स्वयं उस धनुषको उठा लिया। इस धनुषके टंकारमें इतनी शक्ति है कि पापी, दुराचारी उसे सुनते ही घबरा जाते हैं और भक्त तथा पुण्यात्मा जीव उसे सुनकर आनन्द और प्रसन्नतासे भर जाते हैं।

जैसे-जैसे वस्तुएँ निकलती जाती थीं, वैसे-ही-वैसे लोगोंकी आशा बढ़ती जाती थी। उनका अनुमान था कि अब शीघ्र ही अमृत प्रकट होनेवाला है। इतनेमें परिपूर्ण चन्द्रमा प्रकट हुए। इन सागरके पुत्र चन्द्रमाको देखकर सबकी आँखें शीतल हो गयीं। सबका मन आह्लादित हो गया। चन्द्रमा किसी एककी वस्तु होकर तो रह नहीं सकते थे। अतः उन्हें आकाशका बड़ा विस्तृत मैदान दिया गया कि वे वहाँ रहते हुए देवता-दानव दोनोंको समानरूपसे सुखी करें। ताराओंसे उनका विवाह हुआ और दक्षके शापसे घटने-बढ़नेवाले हो गये। ओषधि, वनस्पति एवं ब्राह्मणोंके राजा बनाये गये और ग्रहोंमें इन्हें स्थान मिला। ये अमृत-वर्षा करके जीवोंमें तथा ओषधि-वनस्पतियोंमें जीवन-शक्ति और आह्लादका संचार किया करते तथा इनकी अमृत-शक्तिके बिना मनमें विचार करनेकी शक्ति रह ही नहीं सकती। ये मनके उसी प्रकार अधिष्ठातृ देवता हैं, जैसे आँखोंके सूर्य।

उधर देवता और दैत्य पूरी शक्ति लगाकर समुद्र-मन्थन कर रहे थे। एक दिव्य शङ्ख प्रकट हुआ। उसे भगवान्‌ने स्वीकार किया और वे स्वयं भी इस बार बड़े मनोयोगसे समुद्र मथने लगे। भगवान्‌के लिये मनोयोग तो क्या कहा जाय, उनके संकल्पमात्रसे ही अमृत पैदा हो सकता था; परंतु वे बड़े कौतुकी हैं, कुछ-न-कुछ खेल खेलते ही रहते हैं।

इतने वेगसे समुद्र-मन्थन हुआ कि उसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। जहाँ मथनेका बर्तन विशाल समुद्र, मथानी मन्दराचल, रस्सी वासुकि नाग और दूधके स्थानपर सम्पूर्ण क्षीर-सागर हो और मथनेवाले हों समस्त देव-दानव तथा स्वयं भगवान्; ऐसी स्थितिमें कैसा मक्खन निकलेगा,

इसकी क्या कल्पना की जा सकती है ? इस प्रकार दैवी शक्ति और आसुरी शक्ति दोनोंको भगवान्‌के आश्रित करके सत्त्वका समुद्र मथें तो वास्तवमें अमृतत्वकी प्राप्ति होगी।

इस बार एक विलक्षण पुरुष प्रकट हुए। उनका शरीर बड़ा ही सुन्दर था। पीताम्बर पहने हुए थे। श्यामवर्ण, युवावस्था, वनमाला पहने हुए, दिव्य आभूषणोंको धारण किये हुए धन्वन्तरि भगवान्‌को देखकर सब-के-सब चकित हो गये। उनके काले-काले लम्बे और घुँघराले चिकने केशोंकी छवि अनोखी ही थी। चौड़ी छाती और हाथोंका अमृत-कलश बरबस लोगोंको अपनी ओर खींच रहा था। सब-के-सब अमृत-कलश देखकर आनन्दनिमग्न हो गये।

(६)

भगवान्‌की कृपासे हमें जब कोई अभिलषित पदार्थ प्राप्त होता है, तब हम बहुधा प्रसन्नतासे फूल उठते हैं और कई बार तो उतावली भी कर बैठते हैं। ऐसे अवसरोंपर जो अपनेको काबूमें रख लेता है, अपनेको सम्हाल सकता है, अपने बल-पौरुषकी डींग नहीं हाँकता, वास्तवमें वह महापुरुष है।

परंतु दैत्योंकी तो बात ही दूसरी है। उन्हें अपने मथनेका अभिमान होता, वे अपने बल-पौरुषकी डींग हाँकते अथवा अमृत पीनेकी उतावली करते तो हम उन्हें उतना दोषी नहीं कहते। उनके मनमें बेईमानी आ गयी, उनकी नीयत बिगड़ गयी। उन्होंने बुद्धिपूर्वक सोचा कि अब तो अमृत निकल ही गया। भगवान्‌से अपना कोई मतलब नहीं। देवताओंमें इतनी शक्ति है नहीं कि हमसे लड़कर वे जीत सकें। इसलिये अमृत छीन लिया जाय। हुआ भी ऐसा ही। दैत्योंने धन्वन्तरिके हाथोंसे अमृतका घड़ा छीन लिया। देवताओंका चेहरा कुछ फीका पड़ गया। उन्हें भगवान्‌का विश्वास था, इसीसे विचलित नहीं हुए।

प्रायः देखा गया है कि बेईमानोंकी गुटबंदी बहुत समयतक नहीं चलती। दैत्योंमें जो बली थे, उन्होंने निर्बलोंसे छीन लिया और फिर जो उनसे बली थे, उन्होंने उनपर दो धौंस जमायी और अमृतका घड़ा ले लिया। जब अपने काम न आते देखा, समझ लिया कि अब तो हमसे अमृतका घड़ा छिन गया, तब निर्बलोंने यह आवाज उठायी कि 'भाई ! ऐसा अन्याय नहीं होना चाहिये। देवताओंने भी हमारे साथ ही बराबर परिश्रम किया है। उन्हें भी अमृतका हिस्सा मिलना चाहिये। कई बार विवशताके कारण भी लोग न्यायका आश्रय लेते हैं। जबतक अपनी चलती है, तबतक तो अन्याय करनेमें कोर-कसर नहीं करते। जब हार जाते हैं तब न्यायकी दुहाई देने लगते हैं !

सर्वदासे स्वार्थियोंकी यही गति होती आयी है। जो लोग अन्याय-अत्याचारके बलपर दूसरोंके न्यायोचित स्वार्थमें बाधा डालते हैं, उनका अपना स्वार्थ भी नहीं सधता। भगवान्‌की ऐसी ही कुछ लीला थी। दैत्योंमें छीना-झपटी होने लगी। वैर-विरोध बढ़ गया और अमृत पीनेमें बाधा पड़ गयी। वे आपसमें झगड़ने लगे। इसी समय भगवान्‌ने एक दूसरी लीला रची।

दैत्योंने देखा, एक परम सुन्दरी त्रिभुवन-मनोमोहिनी स्त्री सामनेसे आ रही है। उसके सौन्दर्य, हाव-भाव और मस्तीको देखकर सब-के-सब दैत्य मोहित हो गये। सबकी आँखें उस मोहिनीको एकटक देखने लगीं। उनका झगड़ा शान्त हो गया। सब-के-सब अमृतको गौण समझने लगे। उनका मुख्य विषय हो गया मोहिनीको प्रसन्न करके अपने अनुकूल करना। कभी-कभी बड़ी वस्तुकी लालचसे लोग सामान्य वस्तुकी उपेक्षा कर देते हैं और उसके लिये आपसके रगड़े-झगड़े भूलकर उसीकी प्राप्तिकी चेष्टा करने लगते हैं।

उस स्त्रीके रूपमें कोई दूसरा नहीं, स्वयं भगवान् थे। उनकी छविमें ऐसा आकर्षण ही है कि अमृत उसके सामने फीका पड़ जाता है। दैत्योंने कहा—'सुन्दरि ! हम हृदयसे तुम्हारा स्वागत करते हैं। बड़े शुभ अवसरपर तुम्हारा आगमन हुआ है। इस समय हमलोग आपसमें लड़-झगड़कर कट मरते। अब तुम्हीं यह झगड़ा निपटा दो। यह अमृतका कलश है, इसे तुम चाहे जिसे पिलाओ, मत पिलाओ, हम तुम्हारी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न हैं।'

बहुत-से लोग लोभके कारण अपनी आत्मातक बेच डालते हैं। इस अनजान स्त्रीके हाथों अमृत समर्पण करनेका यह अर्थ नहीं है कि वे न्याय चाहते हैं या इस स्त्रीकी न्यायशीलतापर विश्वास करते हैं। बल्कि इसका यह कारण है कि वे मोहिनीका सौन्दर्य देखकर मोहित हो गये हैं और कामवश होनेके कारण इतने परिश्रमसे प्राप्त किये हुए अमृतका निर्णायक चुनकर अपनेको उसकी प्रसन्नताका पात्र बनाना चाहते हैं।

मोहिनीने अपनी भौंहें कुछ टेढ़ी करके उनकी ओर देखते-देखते एवं मन्द-मन्द मुसकराते-मुसकराते कहा—'आप लोग तो महर्षि कश्यपकी पवित्र संतान हैं। इतना परिश्रम करके यह अमूल्य अमृत प्राप्त किया है। आपके बल-पौरुषकी कीर्ति सारे संसारमें फैली हुई है। आपलोग मेरे-जैसी अनजान स्त्रीपर इतना विश्वास कैसे कर रहे हैं ? वीरो ! पण्डितलोग

स्त्रियोंका विश्वास नहीं करते । क्या पता, ये क्या कर डालें !'

दैत्योंने मोहिनीकी इस बातको विनोद समझा और आग्रह करके उसके हाथमें अमृतका कलश दे दिया । अमृतका घड़ा अपने हाथमें आ जानेपर मोहिनीने अपनी मधुर चितवनसे उनका मन हरण करते हुए कहा—'जब आपलोग मुझपर विश्वास ही करते हैं, तब मैं चाहे ठीक करूँ या बेठीक; आपको मानना ही पड़ेगा । देव-दानव सब-के-सब एक पंक्तिमें बैठ जायँ, मैं क्रमशः अमृत पिला दूँगी ।'

आज्ञाकी ही देर थी । सब स्नानादि करके पवित्रतासे बैठ गये । मोहिनी दैत्योंकी ओर तो तिरछी आँखोंसे देखने लगी और देवताओंको अमृत पिलाने लगी । कई दैत्योंके मनमें शङ्का हुई, उन्होंने आपत्ति भी करनी चाही; परंतु मोहिनी-के सौन्दर्यने उनकी जीभपर ताला लगा दिया । वे कुछ न बोल सके । देवताओंकी पंक्ति समाप्त होते-होते सूर्य और चन्द्रमाके बीचमें एक राहु नामका दैत्य वेश बदलकर आ बैठा था । उसे अमृत पिलाया ही जा रहा था कि चन्द्रमा और सूर्यने बतला दिया और तुरंत भगवान्के चक्रने उसका सिर धड़से अलग कर दिया । परंतु कुछ अमृत उसे मिल चुका था ! अतः सिर कट जानेपर भी वह मरा नहीं । इसलिये उसे ग्रहोंमें स्थान दिया गया । उसकी धड़ आज भी पुच्छल तारा अथवा केतुके नामसे प्रसिद्ध है । राहु अब भी सूर्य-चन्द्रमासे बदला लेनेके लिये उनके पर्व अमावस्या और पूर्णिमापर आक्रमण करता है, जिसे 'ग्रहण' कहते हैं । इस राहुको कहीं-कहीं छायापुत्र भी कहा गया है ।

इस प्रकार देवताओंका अमृतपान समाप्त होते ही मोहिनीने अपना वास्तविक रूप धारण किया । यह तो भगवान्की ही एक लीला थी । उन्होंने ही मोहिनीरूप धारण किया था । सबके देखते-देखते अब वे अन्तर्धान हो गये ।

एक ही उद्देश्यसे एक ही साथ और एक ही प्रकारसे देवता और दानवोंने प्रयत्न किया था । किसीने भी अपनी ओरसे काम करनेमें कुछ कोर-कसर नहीं रक्खी थी । परंतु फलमें महान् अन्तर पड़ गया ! इसका कारण क्या है ? अवश्य कुछ कारण है और वह इतना स्पष्ट है कि विचार करनेवालेसे छिपा नहीं रह सकता । देवता और दानवोंमें इतना ही अन्तर है कि देवता तो भगवान्के आश्रित हैं और दानव अभिमानके आश्रित हैं । अभिमानका आश्रय लेकर, सम्भव है, हम बहुत बड़ा काम कर डालें, परंतु सच्चे सुख, सच्ची शान्ति और अमृत या अमृतत्वकी प्राप्ति नहीं कर सकते । परंतु वही काम यदि भगवान्का आश्रय लेकर किया जाय तो काम तो हो ही जाता है और फल मिलनेमें कोई शङ्का रहती ही नहीं, बल्कि काम करनेके समय ही भगवान्के सांनिध्यका अनुभव अथवा पवित्र स्मरण होते रहनेके कारण महान् आनन्दकी प्राप्ति होती है । यही कारण है कि देवता आरम्भसे अन्ततक सुखी रहे, शान्त रहे और अमृतके भागी बने तथा दैत्योंको केवल कष्ट ही हाथ लगा ।

भगवान्के अन्तर्धान होते ही दैत्योंके अङ्ग-अङ्गसे आगकी चिनगारियाँ छिटकने लगीं । इतना परिश्रम करनेपर भी फलके समय इस प्रकार वञ्चित रह जानेसे उनके क्रोधकी सीमा न रही । उन्हें अपनी मूर्खतापर बड़ी झुँझलाहट हुई और एकमत होकर सबने शस्त्र उठा लिये । उनके मनमें यह बात बैठ गयी कि देवताओंने अमृत पी लिया तो क्या हुआ, उनके शरीरमें बल तो उतना ही है न ! स्वर्गसे मारकर खदेड़ देंगे । ये अपने अमर होनेकी दुर्दशा भोगते रहेंगे । आत्महत्या भी नहीं कर सकेंगे । हम इन्हें चिढ़ा-चिढ़ाकर स्वर्ग भोगेंगे ! मनुष्य घोर विफलताकी अवस्थामें भी कल्पित आशा बाँधकर पहलेकी अपेक्षा भी अधिक उत्साहसे पुनः प्रयत्न करने लगता है, यह तो हम संसारमें प्रतिदिन ही देखते हैं । एक आशा टूटती है और दूसरी बाँधकर हम जीवन-संग्राममें पुनः अग्रसर होते हैं । हमारा यह प्रवृत्तिमय जीवन आशाओंका ही घनीभाव है और संसारसे निराश होते ही निवृत्तिमय जीवनका प्रारम्भ होता है । उसमें भी पारमार्थिक आशा है, परंतु वह आशा-निराशा दोनोंसे ही ऊपर उठानेवाली है ।

देवताओंने तो अमृत पी ही लिया था, भगवान्का आश्रय था ही, दैत्योंकी तैयारी देखकर उन्होंने भी शस्त्र उठाये । बड़ा घमासान युद्ध हुआ । अपने-अपने वाहनोंपर सवार होकर नमुचि, शम्बर, बाण आदिने देवताओंपर अनेकों प्रकारके शस्त्रोंका प्रहार करना प्रारम्भ किया और बलिने भी मय दानवके बनाये हुए युद्ध-सामग्रीसे सुसज्जित विमानपर सवार होकर युद्ध-भूमिके लिये प्रस्थान किया । बलिके प्रहारोंसे जब इन्द्र जर्जरित हो गये, तब उन्होंने भगवान्का स्मरण किया और स्मरण करते ही वे प्रकट हो गये । उनके आते ही देवताओंका बल बढ़ गया । बलिसे इन्द्र, तारकासुरसे स्वामिकार्तिक, हेतिसे वरुण, कालनाभसे यमराज, मयसे विश्वकर्मा आदि लड़ने लगे ।

बलिसे इन्द्रने कहा—'मूढ़ ! तू अपनेको बड़ा बलिष्ठ लगाता है। एक क्षणभर मेरे सामने और ठहर जा ! तू मायाके बलपर अबतक हमलोगोंको छकाता आया है। आज उसका मजा चख ! अभी-अभी मैं वज्रसे तेरा सिर काट लेता हूँ।' बलिने कहा—'देवेन्द्र ! काल और कर्मकी प्रेरणाके अनुसार हम सभी संग्राम-भूमिमें उतरे हुए हैं। जय-पराजय, कीर्ति-अकीर्ति और जीना-मरना जो कुछ जैसा होनेवाला होगा, वह होकर ही रहेगा। विद्वान्‌लोग सारे जगत्‌को कालके गालमें देखते हैं। न कभी प्रसन्न होते और न कभी शोक करते हैं। तुम इस बातको नहीं जानते। मूर्ख हो। इसलिये तुम्हारी इन कड़ी बातोंसे मैं दुखी नहीं होता।' यह कहते-कहते बलिने बाणोंसे इन्द्रका शरीर छेद डाला। वे व्याकुल हो गये।

सम्हलकर इन्द्रने बलिपर वज्र-प्रहार किया।

(७)

जैसे सूर्य भगवान् समानरूपसे सारे जगत्‌को प्रकाश और उष्णताका दान करते हैं। उनकी शक्तिसे, उनके प्रकाशसे लाभ उठाकर कुछ लोग संध्या-पूजा, यज्ञ-दान आदि करते हैं और कुछ लोग बुरे विषयोंका दर्शन, घातक शस्त्रोंका निर्माण आदि करते हैं, परंतु सूर्य इन दोनोंसे अलग रहता है, न वह किसीका पक्षपात करता और न किसीसे द्वेष करता है। जो लोग लाभ उठाना चाहें उठावें, न उठाना चाहें न उठावें। ठीक भगवान्‌की भी ऐसी ही बात है; वे सबपर कृपा करनेको तैयार हैं, कृपा किये हुए हैं। जो लोग उसका अनुभव करते हैं, वे लाभ उठाते हैं और जो नहीं अनुभव करते वे उससे वञ्चित रह जाते हैं।

देवता उनकी कृपाका अनुभव करते हैं और उससे लाभ उठाते हैं। आज भी जब उन्होंने भगवान्‌का स्मरण किया, तब वे आ गये और देवताओंका बल बढ़ गया। जब उनकी जीत होने लगी, तब भगवान् अन्तर्धान हो गये; परंतु युद्ध अब भी चल ही रहा था। देवराज इन्द्रके वज्र-प्रहारसे बलिके घायल होते ही दैत्य उन्हें दूसरी ओर उठा ले गये और जम्भासुर अपनी विकराल गदा लेकर इन्द्रपर टूट पड़ा। गदाकी चोटसे व्याकुल होकर ऐरावत घुटनोंके बल बैठ गया और उस समय युद्धके योग्य न रहा। मातलिने इन्द्रके सामने उनके हजार घोड़ोंवाला रथ उपस्थित किया और इन्द्र झटपट उसपर सवार होकर मैदानमें फिर उतर पड़े।

इन्द्रके वज्र-प्रहारसे जम्भासुरकी मृत्यु हो गयी। यह समाचार सुनते ही नमुचि, बल और पाकासुर—ये तीनों उपस्थित हुए। इन लोगोंका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। अन्तमें इन्द्रने अपने शतधार वज्रसे बल और पाकासुरके सिर भी काट लिये; परंतु नमुचिपर उनका वज्र असर न कर सका। इन्द्र बड़ी चिन्तामें पड़ गये। उन्होंने सोचा कि दधीचिकी हड्डियोंसे बना हुआ यह तपस्याओंका सारस्वरूप वज्र कभी विफल नहीं हुआ था। जिससे पहले मैंने अनेकों पर्वतोंकी पाँखें काट डालीं। वृत्रासुरको मार डाला और न जाने कितने बड़े-बड़े दैत्य-दानवोंको मृत्युके घाट उतार दिया; वही वज्र आज इस छोटे-से दैत्यपर व्यर्थ हो गया ! यहाँतक कि उसके चमड़ेपर भी चोट न कर सका, अतः अब इसे लेकर मैं क्या करूँगा ?'

इन्द्रकी चिन्ताओंका अन्त नहीं था। इतनेमें ही आकाश-वाणी हुई कि 'इन्द्र ! यह शोक करनेका अवसर नहीं है। इसने पहले घोर तपस्या करके यह वरदान प्राप्त किया है कि मैं सूखी या गीली चीजसे न मरूँ। इसीसे तुम्हारा वज्र इस-पर कारगर नहीं हो सका। अपने वज्रमें समुद्रका फेन लगाकर इसपर प्रहार करो। इसकी मृत्यु हो जायगी।' इन्द्रने वैसा ही किया। क्षणभरमें नमुचिका सिर धड़से अलग हो गया।

अब दैत्योंके पैर उखड़ गये। जो बचे थे, वे भग गये, परंतु देवताओंने उनका पीछा न छोड़ा। वे उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर मारने लगे। तब ब्रह्माकी प्रेरणासे देवर्षि नारद अपनी वीणापर भगवान्‌के मधुर नामोंका सुन्दर स्वरसे गायन करते हुए देवताओंके पास आये और उन्होंने समझाया। नारदने कहा—'देवताओ ! तुमपर भगवान्‌की कृपा है। तुम भगवान्‌के आश्रित हो। तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो गयी। तुमने अमृत पी लिया। अब इन बेचारोंको खदेड़-खदेड़कर मारनेसे क्या लाभ है ? यदि तुम्हें इसी प्रकार कोई मारता तो तुम्हें कितना दुःख होता ? जो बात अपनेको बुरी लगे, वह दूसरेके लिये भी नहीं करनी चाहिये। हिंसा स्वयं नरक है। इस नरकमें जानेके रास्ते काम, क्रोध और लोभ हैं। परंतु मुझे तो तुम्हारे अंदर अकारण क्रोधकी ही मात्रा अधिक दीखती है।

'तुमलोग जानते ही हो कि आग जिस स्थानमें जलती है, पहले उसी स्थानको जलाती है। क्रोध आग ही है। यह जहाँ पैदा होता है, पहले उसीको जलाता है। अपराध करनेवालेपर भी क्रोध नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्रोध स्वयं अपराध है। यदि एकके क्रोध करनेके अपराधपर दूसरा

कोई क्रोध करे और दूसरेपर तीसरा करे तो सारा संसार ही क्रोधमय हो जाय । इसलिये क्रोधका बदला क्रोधसे नहीं, क्षमासे ही देना चाहिये । हिंसाका बदला हिंसासे नहीं, अहिंसासे देना चाहिये ।

'तुमलोग दैवी सम्पत्तिके प्रेमी हो। इस समय तुम विजयी हो। तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हुई है। इस ऊँचे पदपर बैठकर यदि तुम द्वेष करनेवालोंसे प्रेम करो, घृणा करनेवालोंका सम्मान करो और मारनेवालोंकी जीवन-रक्षा करो तो तुम्हारी बड़ाई है । और वास्तवमें तभी तुम्हारा कर्तव्य पूरा होता है ।'

नारदकी बात सुनकर देवताओंने मार-काट बंद कर दी और वे स्वर्गमें जाकर आनन्दोपभोग करने लगे । इधर बचे-खुचे दैत्य कटे-मरे दैत्योंको उठाकर शुक्राचार्यके पास ले गये और उन्होंने अपनी मृत-संजीविनी विद्यासे उन सबको जीवित कर दिया ।

अब देवर्षि नारदको कच्छप भगवान्की बात याद आयी । उन्होंने कहा था कि समुद्र-मन्थन समाप्त होनेपर रसातलमें फिर बातें होंगी । देवर्षि नारद अपनी मण्डलीके साथ वहाँ पहुँच गये । उन्होंने देखा कि कच्छप भगवान् सबको धारण किये हुए आधारशक्तिके रूपमें बैठे हैं। इन लोगोंने जाकर श्रद्धा-भक्तिसे प्रणाम किया, उनकी स्तुति-प्रार्थना की और अनेकों प्रकारके प्रश्न पूछे तथा कच्छप भगवान्ने प्रत्येक प्रश्नका विस्तारपूर्वक उत्तर दिया । वे ही प्रश्नोत्तर 'कूर्मपुराण'के नामसे प्रसिद्ध हैं । आध्यात्मिक जिज्ञासुओंको उनका अध्ययन करना चाहिये । उन सबकी चर्चा करना तो यहाँ सम्भव नहीं है, परंतु संक्षेपसे कुछ बातें लिखी जाती हैं ।

कच्छप भगवान्ने कहा—'ऋषियो ! बहुत विस्तार न करके संक्षेपमें ही मैं तुम्हें सार-सार बता देता हूँ । इस सृष्टिमें चौरासी लाख योनियाँ हैं । उनमें मनुष्य-योनि-को छोड़कर सभी भोग-प्रधान हैं । मनुष्य-योनि कर्म-प्रधान है और इसमें आकर अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जिस योनिमें जा सकते हैं या इन योनियोंसे मुक्त हो सकते हैं । इन योनियोंके भ्रमणमें महान् कष्ट उठाना पड़ता है । जन्म, मृत्यु और जीवनकालमें इतने दुःखोंका सामना करना पड़ता है कि व्यथाका अनुभव करते-करते अनेकों बार मूर्छित होना पड़ता है । शरीरके क्लेश, मनके क्लेश और लोक-लोकान्तरोंके क्लेश भोगते-भोगते जीव घबरा जाता है । वह सुखकी खोजमें भटकता फिरता है, परंतु सुखके बदले दुःख ही अधिक पाता है । दूसरे मा[illegible] होगा कि 'वहाँ जाऊँगा, वह विषय पा लूँगा और [illegible] समय आ जायगा तो मैं सुखी हो जाऊँगा ।' परंतु उसके आनेपर सुखके दर्शन नहीं होते बल्कि दुःखमें पड़ जाता है और तब फिर मालूम होता है कि अमुक स्थान, अमुक वस्तु और अमुक विषयसे सुख प्राप्त हो सकता है, किंतु यह कोरा भ्रम है । विषयोंसे सुख मिल ही नहीं सकता; क्योंकि उनमें सुख है ही नहीं ।

'मायाका बन्धन बड़ा भयंकर है । एक जगह निराश होनेपर भी दूसरी जगह आशा हो जाती है । वहाँ टूटनेपर फिर तीसरी जगह । इसका ताँता टूटता ही नहीं । जैसे मारवाड़के बालूमें हरिन एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पानीके लिये भटकते रहते हैं और उनकी आशा बनी रहती है तथा उन्हें दीखता रहता है कि 'यहाँ न सही, वहाँ तो मिल ही जायगा !'

'जीवोंका यह भटकना तबतक बंद नहीं हो सकता जबतक वे मनुष्य-योनिमें आकर विवेक-बुद्धिसे सोच-विचार कर अपने धर्मकी शरण नहीं लेते । मनुष्योंमें [illegible] अधिकांश तो भोगप्रधान ही होते हैं । वे अपने पिछले जीवनों अर्थात् पशु-पक्षियोंके समान ही आचरण करते हैं और निद्रा, भोजन, विषयभोग आदिमें ही लगे रहते हैं । उन्हें पुनः भोगयोनियोंमें ही लौट जाना पड़ता है परंतु जो लोग भारतवर्षमें पैदा हुए हैं और अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुसार रहकर मेरे भजनमें लगे हुए हैं, वे इस चौरासीके चक्करसे छुटकारा पा जाते हैं । बड़े-बड़े देवतालोग भोगोंसे ऊबकर भारतवर्षमें जन्म ग्रहण करना चाहते हैं। वहाँका वायुमण्डल आध्यात्मिकता-प्रधान है । वहाँ बड़े-बड़े ऋषि, तपस्वी आदि वर्तमान हैं । उनके उच्चारण किये हुए मन्त्र, उपदेश आदि वहाँके कण-कणमें फैले हुए हैं। भारतवर्षमें पैदा होकर जिस मनुष्यने अपना कल्याण-साधन नहीं किया, उसने अपने हाथमें आयी हुई एक अमूल्य वस्तुको खो दिया ।

'चार वर्ण हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये वर्ण हैं । इनमें ब्राह्मण मेरे मुखसे पैदा हुए हैं । समाजके शिरो-भाग होनेके कारण इनके कार्य भी शीर्षस्थानीय ही हैं । ये अपनी बुद्धिसे दिन-रात सबका हित सोचते रहते हैं । वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ, दान इनके मुख्य कर्म हैं । ये जीविकाकी चिन्ता न करके निरन्तर इन्द्रियोंके निग्रह, मनकी एकाग्रता

आर परम शान्तिके साथ मेरे स्मरणमें लगे रहें, यही इनका कर्तव्य है। यदि जीविकाकी आवश्यकता जान पड़े तो अध्यापन करना, यज्ञ कराना और दान लेना—इनके लिये उत्तम है। परंतु अध्यापनकी अपेक्षा याजन कनिष्ठ है और याजनकी अपेक्षा दान लेना कनिष्ठ है। यद्यपि औरोंका कल्याण तो इसीमें है कि वे ब्राह्मणोंको दान दें, परंतु ब्राह्मणोंके लिये यह वृत्ति अत्यन्त निन्दित है।

'मेरी बाहुओंसे क्षत्रियोंकी उत्पत्ति हुई है। उनका मुख्य कार्य भी बाहुस्थानीय है। वे सबकी रक्षा-दीक्षामें तत्पर रहें, यही उनका मुख्य कर्तव्य है। वेदोंका अध्ययन, यज्ञ, दान, आस्तिकता, वीरता—ये सब उनके लिये उपादेय हैं। एक वीर क्षत्रियमें इन बातोंका रहना अनिवार्य है। वह सब कुछ करता हुआ भी मेरा स्मरण रखता है और किसीके कष्टकी बात सुनकर अपने कष्ट-जैसा ही उसका अनुभव करता है। इसकी वृत्तिके लिये प्रजा-पालन आदि हैं। इसे दान लेने आदिका अधिकार नहीं है।

'वैश्य मेरी जाँघोंसे पैदा हुए हैं। इनका काम सारे शरीरका वहन करना है। सबको समयपर भोजन मिल जाय, इसकी जिम्मेवारी वैश्योंपर ही है। कोई आपत्ति आनेपर क्षत्रिय उसे दूर करते हैं। इन्हें अध्ययन, यज्ञ और दान अवश्य करने चाहिये। जीविकाके लिये कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य इन्हें करने चाहिये। ये यदि न्याय, सत्य और भगवदर्पण-बुद्धिके साथ अपने कर्तव्यका पालन करें तो बड़ी ही सुगमतासे इनका उद्धार हो सकता है।

'शूद्र मेरे चरणोंसे उत्पन्न हुए हैं। इनका कर्तव्य है, इन तीनों वर्णोंकी सेवा। इसीसे इनका पारमार्थिक कल्याण सधता है और लौकिक जीविकाके लिये भी यही है। जो गति ब्राह्मणादिकोंको बड़ी-बड़ी तपस्या, यज्ञ, अध्ययन आदिके द्वारा प्राप्त होती है, वही शूद्रोंको केवल सेवाके द्वारा प्राप्त होती है।

'इन चारों वर्णोंमें नीच-ऊँचका भेद नहीं है। सभी मेरे अङ्ग हैं, सभी मेरे अपने हैं। ये सब अपने-अपने कामोंद्वारा मेरी ही आराधना करते हैं। समाजमें सबका ही यथोचित स्थान है। इन वर्णोंकी सृष्टि गुण और कर्मके भेदसे स्वयं मैंने ही की है। जो मेरी आज्ञाके अनुसार अपने वर्णधर्मका पालन करता है, उसपर मैं प्रसन्न होता हूँ और उसकी अभिलाषा पूर्ण करता हूँ। यदि वर्णधर्मके द्वारा चाहे तो सभी प्रकारके लौकिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त हो सकते हैं। यदि कुछ पाना न चाहे तो अल्पकालमें ही अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और मेरे अखण्ड ज्ञान तथा अविचल प्रेमकी प्राप्ति होती है।

'मेरे स्वरूपका ज्ञान अथवा मेरे प्रति भक्ति इस मायाके प्रपञ्चसे पार करनेवाली है। अपने-अपने वर्णोंके अनुसार आचरण किये बिना इनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः कल्याणका सीधा मार्ग यह है कि अपने धर्मका आचरण करके इन्हें प्राप्त किया जाय। मैं जीवोंको अपने पास बुलानेके लिये उत्सुक रहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि वे विषयोंके चक्करमें न पड़ें, परम सुख तथा परम शान्तिका अनुभव करें। इसीलिये मैं समय-समयपर अवतार भी ग्रहण किया करता हूँ। मैं घोषणा करता हूँ कि धर्मात्मा और मेरे भक्तका कभी नाश नहीं हो सकता। आ जाओ, सब-के-सब मेरी शरणमें आ जाओ! तुम्हारी जिम्मेवारी मुझपर है। मैं तुम्हें सब पाप-तापोंसे मुक्त करके अपनेमें मिला लूँगा। अपने हृदयसे लगा लूँगा।'

भगवान् कच्छप अब भी हैं और आधार-शक्तिके रूपमें हम सबको धारण किये हुए हैं। यदि उनके उपदेशके अनुसार हमारा जीवन बन जाय तो हमारा कल्याण हो जाय। अन्य अवतारोंके मन्त्रोंकी भाँति कच्छप भगवान्की उपासनाके भी बहुत-से मन्त्र हैं। उन सबकी चर्चा तो यहाँ प्रासङ्गिक नहीं होगी, केवल एक मन्त्र और उनके ध्यानका स्वरूप लिखा जाता है। भगवान् कच्छपका मन्त्र है—'ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधरधुरन्धराय नमः।' इस मन्त्रके कश्यप ऋषि हैं, प्रकृति छन्द है और स्वयं कच्छप भगवान् देवता हैं। 'धराधरधुरन्धर' शक्ति है और 'कुं' बीज है तथा अपने सम्पूर्ण अभीष्टोंकी सिद्धिमें इसका विनियोग होता है। इनका ध्यान इस प्रकार बतलाया गया है—

..................शङ्खचक्रगदाधरम्॥
पीताम्बरं कूर्मपृष्ठं लसल्लाङ्गूलशोभितम्।
दीर्घग्रीवं महाग्राहं गिरन्तं रक्तलोचनम्॥
(मेरुतन्त्रम् २६)

भगवान् कच्छप अपने चारों हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं। पीताम्बर पहने हुए हैं। पीठ कछुएकी पीठके समान है। बड़ी ही सुन्दर पूँछ पीछेकी ओर शोभायमान है। गला बड़ा लंबा है। संसाररूपी महाग्राहको नष्ट कर रहे हैं और उनकी आँखें लाल-लाल हैं। कच्छप भगवान्का ध्यान करता हुआ जो साधक उपर्युक्त मन्त्रका विधिपूर्वक जप करता है, उसकी अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं। उसपर भगवान्की कृपा प्रकट होती है।

बोलो भगवान् कच्छपकी जय!

श्रीवाराहावतार-कथा

(१)

भगवान्‌की महिमा अनन्त है, उनका स्वरूप अनिर्वचनीय है। निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार सब उन्हींका स्वरूप है। फिर भी वे इतनेके ही अंदर बँधे नहीं हैं। बुद्धि जितना सोच सकती है, जितना आकलन कर सकती है और जितना बड़ा काल्पनिक मान-चित्र बना सकती है, उसके भी परे, बहुत परे भगवान् विराजमान हैं। मन वहाँ पहुँच नहीं सकता, वाणी उनका वर्णन नहीं कर सकती। सारांश यह कि हमारे पास देखने और जाननेके जितने साधन हैं, केवल उनके ही बलपर हम अनन्त कालमें भी भगवान्‌को नहीं प्राप्त कर सकते। वे कृपा करके जिसपर अपनेको प्रकट कर दें, जिसे अपने दर्शन और अनुभवका अधिकारी चुन लें, वही उनके पास पहुँच सकता है। वेद-शास्त्र और संतोंने प्रायः यही कहकर भगवान्‌का वर्णन किया है।

परंतु परम दयालु भगवान् और उनके भक्त संत कोई-न-कोई ऐसी लीला किया ही करते हैं, जिनके कारण अधिक-से-अधिक लोग भगवान्‌को जानें और उन्हें प्राप्त करें। इसके लिये स्वयं भगवान् भी कई बार अवतार ग्रहण करते हैं और संत तो निरन्तर इसी प्रयत्नमें रहते ही हैं। उनके लिये भगवान्‌के ज्ञान, चिन्तन, स्मरण और दर्शन आदिके अतिरिक्त और कोई काम रहता ही नहीं। वे स्वयं भगवान्‌का स्मरण करते रहते हैं और उनकी प्रत्येक चेष्टा ऐसी होती है, जिससे लोग आनन्दस्वरूप भगवान्‌के स्मरण-चिन्तन आदिमें लग-कर इस दुःखमय संसारसे मुक्त हो जायँ।

ब्रह्माके मानसपुत्र सनक, सनन्दन, सनत्कुमार आदि चारों भाई भी इसी श्रेणीके संत हैं। जब ब्रह्माकी मोह-महामोह आदि पाँच पर्वोंवाली अविद्या दूर हो गयी, तब उन्होंने निर्मल अन्तःकरणसे इनकी सृष्टि की थी। ये जन्मसे ही परम विरक्त, भगवान्‌के स्मरणमें मत्त और परम ज्ञाननिष्ठ हैं। इनकी अवस्था सर्वदा पाँच वर्षकी ही रहती है। ब्राह्मी शक्ति अर्थात् सरस्वतीने इन्हें स्वयं सम्पूर्ण विद्या, उपासना-पद्धति एवं तत्त्वज्ञानका उपदेश किया है। इन सबके अध्ययन, तपस्या, शीलस्वभाव एक-से ही हैं। इनमें शत्रु-मित्र तथा उदासीनोंके लिये भेद-भावका स्थान नहीं। संसारके सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि इनका स्पर्श नहीं कर पाते। इनके मुखसे निरन्तर भगवन्नामका और इनके श्वास-श्वासमें 'हरिः शरणम्' मन्त्रका उच्चारण होता रहता है। इनके संकल्पसे, इनकी संनिधिसे और इनकी उपस्थितिसे जगत्‌में सुख-शान्ति एवं आनन्दका संचार होता रहता है।

इन लोगोंकी लीला भी भगवान्‌की ही लीलाकी भाँति जगत्‌के हितके लिये ही होती है, या यों कह सकते हैं कि भगवान्‌से अभिन्न होनेके कारण इनकी लीला भी भगवान्‌की ही लीला है। एक दिन इन्होंने सोचा कि 'आज वैकुण्ठमें चलें और वहाँ भगवान्‌का दर्शन करें! यही तो इस जीवनका फल है कि अन्तःकरणमें भगवान्‌के अनन्त स्वरूप और अनन्त कृपाका अनुभव करके विह्वल होते रहें, वाणीसे उनके मधुरातिमधुर मङ्गलमय नामोंका गायन होता रहे और आँखें उनकी अनूप रूप-माधुरीको पी-पीकर मदमाती रहें।' बस, सोचने भरकी तो देर थी, संकल्प करते ही वे वैकुण्ठमें पहुँच गये। उनके शरीर साधारण मनुष्य-शरीर तो थे नहीं, दिव्य शरीर थे, सिद्ध शरीर थे; उन्हें कहीं पहुँचनेमें रुकावट नहीं थी।

भगवान्‌का लोक परम दिव्य है। भक्तोंका कहना है कि वह प्रकृतिसे परे, अप्राकृत सामग्रियोंसे बना हुआ है। त्रिगुणमयी मायाके दोष-गुण वहाँ पहुँच नहीं सकते। वहाँके वृक्ष, लता, भवन, कुएँ आदि भी यहाँकी अपेक्षा चिन्मय हैं। वहाँ अमृतकी नदियाँ बहती हैं। प्रेमके बादल अमृतकी बूँदें बरसाते हैं। वहाँके निःश्रेयस वनमें आनन्दके ही फल-फूल लगते हैं। सत्य, दया, क्षमा आदि मूर्तिमान् होकर वहाँके निवासियोंकी सेवा करते हैं। वहाँके सभी निवासी श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, चतुर्बाहु और शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण करनेवाले होते हैं। वहाँ भूख, प्यास, ईर्ष्या, द्वेष जा नहीं सकते। जन्म और मृत्युका प्रवेश नहीं। उसके कभी प्रलय, महाप्रलय होते नहीं, वह भगवान्‌का नित्य धाम है, भगवान्‌का लीलालोक है। वहाँ एक ही स्थानमें सब स्थान, एक ही कालमें सब काल और एक ही वस्तुमें सब वस्तुएँ विद्यमान रहती हैं। किसी वस्तुके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसे लानेके लिये कहीं जाना नहीं पड़ता। संकल्प करते ही वह उपस्थित हो जाती है। ज्ञानका लोप कभी नहीं होता। सभी वस्तुओंमें वहाँ भगवान्‌के दर्शन होते रहते हैं। वहाँ भगवान् व्यापक होनेपर भी एक स्थानमें रहते हैं और एक स्थानमें रहनेपर भी व्यापक रहते हैं।

जिन्होंने निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक भगवान्‌की आराधना की है, उन्हीं लोगोंका वहाँ प्रवेश हो सकता है। वहाँके

लोग अपनी धर्मपत्नियोंके साथ दिव्य विमानोंपर विचरण करते हुए भगवान्‌की मधुर लीलाओंका गायन करते रहते हैं। कभी सुन्दर-सुन्दर उपवनोंमें, हरी-भरी लताओंके मण्डपोंमें और अमृतसे भरी हुई बावलियोंमें विहार करते हुए भगवान्‌के पवित्र स्मरणके आनन्दोल्लासमें समय व्यतीत करते हैं। परंतु वहाँ समय बीतने-न-बीतनेका प्रश्न ही नहीं होता; क्योंकि समय बीतनेकी समस्या वहीं है, जहाँ मृत्यु है। सारस, चकोर, हंस, शुक, मयूर आदि सुन्दर-सुन्दर पक्षी तालाबोंमें विहार करते-करते जब भौंरेको भगवान्‌की लीलाओं-का गायन करते देखते हैं, तब आँख बंद करके कान लगाकर बड़ी एकाग्रतासे उसे सुननेमें तल्लीन हो जाते हैं। मन्दार, कुन्द, कमल, चम्पा, नागकेसर, मौलसिरी आदि दिव्य पुष्पों-के गन्ध-सौन्दर्यसे भरे रहते हैं। वहाँकी भूमि मणिमय है, परंतु कठोर नहीं, कोमल है। वहाँकी भीतें स्फटिक मणिकी बनी हुई हैं। वहाँके लोगोंकी परछाईं उनमें पड़ती है तो यह पहचानना कठिन हो जाता है कि कौन-सा पुरुष है और कौन-सी परछाईं है!

भगवान्‌के प्रासादकी सात कक्षाएँ हैं। सभी एक-से-एक सुन्दर और सुसज्जित हैं। उनमें वे लोग नहीं जा सकते, जिन्होंने कभी भगवान्‌की लीला नहीं सुनी है, नहीं देखी है। जो मनुष्य-जीवनमें अपने धर्म-कर्मका पालन करते हुए बिना किसी वासनाके भगवान्‌की प्रेमाभक्ति करते हैं, वे ही उस लोकके अधिकारी होते हैं।

हाँ, तो सनक-सनन्दनादि भगवान्‌के उस लोकमें पहुँच गये। छः कक्षा पार करके वे सातवीं कक्षामें पहुँचे ही थे कि सातवीं कक्षाके द्वारपालोंने उन्हें साधारण बालक समझकर रोक दिया। भगवान्‌के लोकमें उनके खास द्वारपाल यह अज्ञानपूर्ण व्यवहार करें, इसे भगवान्‌की लीलाके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। भगवान् कुछ ऐसी लीला रचनेवाले थे कि वे अपने इन भक्तोंको सम्मिलित किये बिना अपनी उस लीलाको अपूर्ण समझ रहे थे। उन्हें संसारमें आना था, सबके लिये अपनेको सुलभ कर देना था तो यह काम भक्तोंको निमित्त बनाकर ही करना चाहिये। भगवान्‌की इच्छा भी भक्तोंकी इच्छाके अधीन है।

इधर तो जय-विजय नामक द्वारपालोंके मनमें भेद-बुद्धि हुई, बिना आज्ञाके जानेकी चेष्टा करनेके कारण सनकादिकोंके द्वारा उन्हें अपने अपमानका अनुभव हुआ और उन दोनोंने ही डाँटकर कहा—'भगवान्‌के धाममें ऐसी धाँधली कर रहे हो? हमसे पूछकर जाना चाहिये था। हमारी इच्छा होती तो हम तुम्हारे-जैसे नंगे बालकोंको जानेकी आज्ञा देते या नहीं देते।' उन्होंने उन्हें केवल डाँटा ही नहीं, बेंत लेकर रोक भी दिया।

दूसरी ओर उन परमर्षियोंके चित्तमें, जिसमें सारे संसार-का प्रलय हो जानेपर भी क्षोभ या विकार नहीं होता और न तो होनेकी सम्भावना है, द्वारपालोंके इस व्यवहारसे क्षोभ हो गया। कहा नहीं जा सकता कि यह अपने प्रकट होनेके लिये लीला-प्रिय भगवान्‌की ही एक लीला थी अथवा भगवान्‌को प्रकट करानेके उन लोकोपकारी संतोंकी लीला थी। परंतु इतनी बात निस्संदेह कही जा सकती है कि यह एक लीला थी और वह चाहे जिसकी रही हो, संत और भगवन्तमें भेद न होनेके कारण एक ही बात थी।

ऋषियोंने द्वारपालोंको फटकारते हुए कहा—'अरे, तुमलोग कौन हो? भगवान्‌की आराधनासे इतने ऊँचे स्थानपर आ गये हो; फिर भी तुम्हारे स्वभावकी विषमता नहीं मिटी, तुम्हारी भेद-बुद्धि बनी हुई है। जहाँ परम शान्त, भेदरहित, सम भगवान्‌का निवास-स्थान है, वहाँ भी तुम्हारे मनमें कपट-बुद्धि पैदा हो गयी! जैसे आकाशके द्वारा ही आकाशमें भेद नहीं हो सकता, वैसे ही सबको अपने अंदर रखनेवाले आत्मस्वरूप भगवान्‌में भेद नहीं हो सकता। तुम्हारा शरीर भगवान्‌के शरीर-जैसा है। तुमने अपनी वेश-भूषा उनके-जैसी बना रक्खी है और पेटके कारण होनेवाले छल-कपटको अपने अंदर छिपा रक्खा है, ऐसे दम्भियोंको धिक्कार है! तुम भगवान्‌के इस पवित्र धाममें रहनेयोग्य नहीं हो। जाओ, यहाँसे जाओ। तीन जन्मोंतक पाप-योनिमें रहकर इन छल-कपट, भेद, क्रोध आदिसे प्रेम करो। उनसे तुम्हारा बहुत प्रेम है न, तो उन्हींसे प्रेम करो। तुम भगवान्‌से प्रेम करने-के अधिकारी नहीं हो।'

ऋषियोंकी यह बात सुनते-सुनते जय-विजयकी बुद्धि ठिकाने आ गयी थी। उन्होंने समझ लिया था कि यह ब्राह्मणोंकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं हो सकती। अब इसका फल हमें भोगना ही पड़ेगा। वे अपने अपराधपर लज्जित भी थे। उन ऋषियोंके चरणोंपर अत्यन्त कातर होकर वे गिर पड़े और कम्पित स्वरसे प्रार्थना करने लगे। उन्होंने कहा—'भगवन्! हमसे महान् अपराध हुआ। प्रमादवश हमने महात्माओंका अपमान किया। इसका फल भी हमें मिलना ही चाहिये। आपलोगोंने हमें समुचित दण्ड दिया है।

आपलोगोंका अपमान करके हमने केवल आपका ही अपराध नहीं किया है, सम्पूर्ण देवलोक और भगवान्‌का अपराध किया है। हम दण्ड भोगनेके लिये तैयार हैं। परंतु एक बातकी प्रार्थना है। ऐसी कृपा करें कि हमें भगवान्‌का विस्मरण न हो; यदि हमें भगवान्‌की स्मृति बनी रहेगी तो नीच-से-नीच योनिमें जाकर भी हम प्रसन्न रहेंगे।'

वे बोल ही रहे थे कि भगवान्‌के चरणोंकी ध्वनि कानोंमें पड़ी।

(२)

भजन-पूजनके समय तो भगवान्‌की याद आती ही है; परंतु उससे भी अधिक याद तब आती है जब अपराध करनेपर हमें पश्चात्ताप होता है। सच्चे पश्चात्तापके समय अभिमान नहीं रहता, दीनता रहती है और यह अभिमानका न रहना, दीनताका होना भगवान्‌के प्रकट होनेका शुभ समय है। हम खूब पुण्य करें, दान करें, करना अच्छा ही है; परंतु यदि उनके कर्तृत्वका भार अपने सिरपर लाद लें, अभिमानसे फूल उठें तो हम भगवान्‌से पृथक् हो जायँगे। भगवान्‌का ही राज्य रहना चाहिये, अभिमानका नहीं। अभिमान और अभिमानके अभावका अभिमान नष्ट होते ही भगवान् प्रकट होते हैं।

अपराध होनेके कारण जय-विजय दीन हो गये हैं और क्रोध आ जानेके कारण सनकादि भी शिथिल पड़ गये हैं। ठीक यही अवसर है भगवान्‌के प्रकट होनेका। आखिर, भगवान् आ ही गये! उनके सौन्दर्यामृतका पान करके सबकी आँखें छक गयीं। उन लोगोंने निर्निमेष नयनोंसे देखा कि कमलनयन भगवान् श्यामसुन्दर श्रीलक्ष्मीजीके साथ स्वयं आ रहे हैं। उनके कंधोंपर पीताम्बर फहरा रहा है, काले-काले घुँघराले बाल कपोलोंतक लटके हुए हैं, मकराकृत कुण्डलकी छटा न्यारी ही है, मुकुटसे सूर्यके समान हजारों किरणें निकल रही हैं, ऊँचे ललाटपर गोरोचनका तिलक है, टेढ़ी-टेढ़ी भौंहें अनुग्रहकी वर्षा कर रही हैं, प्रेमभरी चितवन और तोतेके समान ऊँची नाक है, मरकतमणिके समान स्वच्छ चमकते हुए कपोल हैं, लाल-लाल ओठोंमेंसे दाँतोंकी धवलता मुसकानके बहाने सुधाकी वर्षा कर रही है, शङ्ख-जैसे कण्ठमें वैजयन्ती माला शोभा पा रही है और वक्षःस्थलपर कौस्तुभ मणिकी चमक तो निराली ही है। पहने हुए पीताम्बरके नीचेसे शरीरकी श्यामता निकल-निकलकर उसकी प्रतिभाको दबाना चाहती है। चरणोंके नख-मण्डलसे लालिमामिश्रित ज्योति निकलकर प्राणोंमें एक नवीन चेतनताका संचार कर रही है। तीन हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा हैं और चौथे हाथसे वे मानो अभय दान कर रहे हैं। मानो सबको वे अपनी दयाके समुद्रमें अवगाहन करानेके लिये ही बड़े वेगसे चले आ रहे हैं।

भगवान्‌को इस रूपमें आते देखकर सनकादि विह्वल हो गये और आनन्दमग्न होकर अतृप्त आँखोंसे भगवान्‌को निहारने लगे। इनकी आँखें मुखमण्डलपर ही अटक गयीं; चरण-स्पर्श अथवा प्रणाम आदि करनेका ध्यान ही न रहा। भगवान् तो बड़े लीलाप्रिय हैं। वे सनकादिके पास आकर भी न आये, कुछ दूरपर खड़े-खड़े मुसकराते रहे।

इधर सनकादिका शरीर भी जडवत् हो रहा था। वे भगवान्‌का आलिङ्गन करना चाहते थे, पर न उनके पैर उठते थे न हाथ! वे आँखोंद्वारा भगवान्‌की रूपमाधुरीको पी जाना चाहते थे, पर आँखोंने कोरा जवाब दे दिया। वे भूले हुएकी भाँति, छके हुएकी भाँति जहाँ थे, वहीं खड़े रहे, अपना शरीर हिला न सके। उस समय उनकी तन्मयता दर्शनीय थी और स्वयं भगवान् भी उसे देख-देखकर आनन्दित हो रहे थे। पता नहीं, कितनी देरतक वे लोग इसी अवस्थामें रहे। यदि वैकुण्ठमें कालकी गति होती, समयका माप होता तो बतलाया जा सकता कि कितनी देरतक उनकी यह विलक्षण समाधि लगी रही होगी।

जब ध्यान आया कि भगवान् सामने खड़े हैं, तब वे साष्टाङ्ग उनके चरणोंपर गिर पड़े। वे सब कुछ भूलकर भगवान्‌की चरणधूलिमें लोटने लगे। वहाँकी मणिमय भूमिपर पड़े हुए भगवान्‌के चरणोंके पद्म-पराग उनके शरीरमें लग-लगकर उनके स्वर्ण-वर्ण शरीरकी आभाको और भी चमकाने लगे। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। शरीर पुलकित था और चेतना लुप्त थी। भगवान्‌ने अपने हाथों उठाकर सत्कार किया, मानो कोई अपने गुरुजनोंका सम्मान कर रहा हो। भगवान्‌का प्रेम देखकर सब-के-सब मुग्ध हो गये। कुछ क्षणोंमें सम्हलकर सिर झुकाकर अञ्जलि बाँधे हुए रुँधे कण्ठसे वे भगवान्‌की स्तुति करने लगे। उन्होंने कहा—'प्रभो! आपकी यह नयनाभिराम मूर्ति सभीके हृदयोंमें रहती है। बड़े-बड़े योगीश्वर बहुत समयतक ध्यान-समाधि लगाकर इसके दर्शनकी अभिलाषा किया करते हैं। जिनके हृदयमें छल, कपट, राग-द्वेष आदि हैं, उन्हें तो कभी इसके दर्शन होते ही नहीं। परंतु आपने कृपा करके अपनी वही अनूप रूप-राशि हमारी आँखोंके सामने कर दी है। हम अपने सौभाग्यकी कितनी प्रशंसा करें। परंतु प्रभो! यह हमारे सौभाग्यकी महिमा नहीं है, यह तो आपकी अहैतुकी कृपाका फल है।

'अबतक हम केवल कानसे सुना करते थे, हमारे पिता ब्रह्मा प्रायः आपके स्वरूप, लीला और गुणोंका वर्णन करके हमें आपकी ओर प्रवृत्त किया करते थे; परंतु हम अपने ज्ञानके घमंडमें उनकी बातोंको इतना अधिक महत्त्व नहीं देते थे। आज उनकी बातोंका अर्थ समझमें आया। हमें अपनी भूल स्वीकार है। दीनबन्धो! हमें सर्वदा आपकी कृपाका अनुभव होता रहे।

'जगत्के झमेलेमें ठोकर खाते-खाते जब संत-सद्गुरुकी कृपा होती है और अपने जीवन एवं समयके व्यर्थ बितानेका पश्चात्ताप होता है, संसारके किसी विषयका भरोसा नहीं रहता, तब कहीं जाकर आपके चरणोंका आश्रय मिलता है और आपके प्रेमका कुछ-कुछ उदय होता है। जिसे संसारमें भटकनेके समय आनन्द मालूम होता है, हृदयमें वैराग्यकी प्रखर ज्वाला नहीं जल उठती, वह आपकी भक्ति और ज्ञानका लेशमात्र भी नहीं पा सकता और जिसने आपके चरणोंकी शरण ग्रहण कर रक्खी है, उसे किसीका भय नहीं, वह तो सर्वदा निर्भय रहता है।

'प्रभो! हमारे अपराधोंके कारण चाहे हमारे सैकड़ों जन्म हों, बार-बार नरकमें जाना पड़े और वहीं रहना पड़े, इसकी हमें तनिक भी चिन्ता नहीं है। हम केवल इतना ही चाहते हैं कि हमारा चित्त भौंरोंके समान सदा आपके चरणकमलोंमें रमा करे। वाणी तुलसीकी भाँति आपके चरणकमलोंसे लिपटी रहे और कान आपके ही दिव्य अनन्त गुणगणोंसे भरते रहें और सर्वदा अनभरे ही बने रहें।

'भगवन्! आपके दर्शनसे हमें परम आनन्द प्राप्त हुआ है। हम आपके चरणोंमें शतशः, सहस्रशः और कोटिशः प्रणाम करते हैं।'

भगवान्ने कहा—'ऋषियो! आपकी महिमा अनन्त है। आप मेरे पूजनीय देवता हैं। मुझे आपलोगोंसे ही कीर्ति प्राप्त हुई है। मेरी सत्ता आपकी ही सत्तापर अवलम्बित है। जिस लक्ष्मीके लिये बड़े-बड़े लोग तपस्या करते हैं, वह विरक्त होनेपर भी मेरी चरण-सेवा इसलिये करती है कि मुझपर ब्राह्मणोंकी, कृपालु महात्माओंकी बड़ी कृपा है। मैं धनिकोंके द्वारा किये हुए यज्ञोंमें, जिनमें अग्निमें खूब घी आदि हविष्योंकी आहुतियाँ दी जाती हैं, उतनी प्रसन्नतासे स्वीकार नहीं करता, जितनी प्रसन्नतासे ब्राह्मणोंको खिलाये हुए पदार्थोंको स्वीकार करता हूँ। जिन ब्राह्मणोंकी पूजा मैं करता हूँ, किसमें ऐसी सामर्थ्य है, जो उनका तिरस्कार कर सके! जो तिरस्कार करनेपर, गाली देनेपर भी ब्राह्मणोंका तिरस्कार नहीं करते बल्कि प्रसन्नताके साथ प्रेमभरी वाणीसे उनका सम्मान करते हैं और उन्हें मेरा स्वरूप समझते हैं, वे मानो मेरी ही पूजा करते हैं।

'ब्राह्मणो! ये जय और विजय यों तो मेरे पार्षद हैं; परंतु इन्होंने मेरे शासन और आज्ञाका उल्लङ्घन करके आपका अपमान किया है। सेवकका अपराध स्वामीका ही है। मैं अपने इस अपराधके लिये स्वयं लज्जित हूँ। आपलोगोंने जो इन्हें दण्ड दिया है, वह भी मुझे मालूम है। आपलोगोंकी इच्छा मेरी इच्छा है और वही हुआ है, जो मैं चाहता था। इन दोनोंने मेरे अभिप्रायको न समझकर जो यह दुर्व्यवहार किया है, उसके फलस्वरूप ये तीन जन्मोंतक असुरयोनिमें जायँ और शीघ्र ही पुनः अपने स्थानपर लौट आवें। यह मैं इनपर कृपा कर रहा हूँ। ये मेरे प्यारे सेवक हैं, बहुत दिनोंतक मुझसे ये अलग रहें, यह मुझे अभीष्ट नहीं है।'

भगवान्की बात सुनकर ऋषियोंकी बुद्धि चकरा गयी। मानो उन्होंने समझा ही नहीं कि 'भगवान् क्या कह रहे हैं!' वे गद्गद वाणीसे भगवान्से कहने लगे। वे बोले—भगवन्! आपकी बात हमारी समझमें नहीं आ रही है। आप त्रिलोकीनाथ होकर हमें अपना आराध्यदेव बतला रहे हैं, यह आपकी कृपा है। आप ब्राह्मणोंके आत्मा हैं, स्वामी हैं, सनातनधर्मके परम रहस्य हैं। आप यदि ब्राह्मणोंका इतना सम्मान न करेंगे तो और कौन करेगा? परंतु प्रभो! यहाँ सत्त्वके साम्राज्यमें आकर हमलोगोंने बड़ा अनुचित कार्य किया है। इसके लिये आप हमें दण्ड दें और इन्हें शापसे मुक्त कर दें। ये निरपराध हैं।'

भगवान्ने कहा—इसके लिये आपलोगोंको चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। ये असुरयोनिमें जाकर वैरभावसे मेरा चिन्तन करेंगे और फिर मैं स्वयं जाकर इनका उद्धार करूँगा। यह शाप मेरी इच्छासे ही इन्हें मिला है, ऐसा आपलोग समझें।'

इसके बाद बड़े प्रेमसे वैकुण्ठकी शोभा देखकर और भगवान्की परिक्रमा, प्रणिपात आदि करके उनकी सम्मति लेकर सनकादि वहाँसे विदा हुए। वे मार्गमें भगवान् और उनके वैकुण्ठकी प्रशंसा करते हुए यथेच्छ चले गये।

अब भगवान्ने जय-विजयपर दृष्टि डाली।

(२)

जब अपनेसे अपराध बन जाता है, किसीकी सहानुभूतिका भरोसा नहीं रहता, चारों ओर निराशा-ही-निराशा नजर आती है, उस समय यदि कोई थोड़ा-सा भी सद्व्यवहार कर

देता है तो बड़ा आश्वासन मिलता है और लोग उसके कृतज्ञ हो जाते हैं। यदि ऐसे अवसरपर किसी बड़े आदमीका सहारा मिल जाय तब तो प्रसन्नताका ठिकाना ही नहीं रहता!

ऐसे ही अवसरपर भगवान्‌की सहायता प्राप्त होती है। वे डूबते हुएको उबार लेते हैं, मरते हुएको जिला देते हैं, विष पीनेकी इच्छा करनेवालेको अमृतसे सराबोर कर देते हैं। इसीसे उन्हें परम दयालु कहा जाता है और इसीमें उनकी दीन-बन्धुता है। जब जय-विजय सर्वथा निराश हो गये, ब्राह्मणोंका अपराध, भगवान्‌का अपराध और बहुत दिनोंतक भगवान्‌से वियोग होनेका घोरतम शाप देख-सुनकर वे घबरा गये, तब भगवान्‌ने उनपर अपनी कृपादृष्टि डाली। वे एक कोनेमें मुँह छिपाये खड़े थे। उन्हें साहस नहीं होता था कि वे भगवान्‌के सामने आवें और उनसे क्षमा माँगें। यद्यपि भगवान्‌का करुणामय स्वभाव उनसे छिपा न था, वे जानते थे कि 'भगवान् हमारे दोषोंपर दृष्टि न डालेंगे; क्योंकि यदि वे दोषोंपर दृष्टि डालने लगें तो करोड़ों कल्पोंमें भी उद्धार सम्भव नहीं, परंतु वे परम दयालु हैं, हमें क्षमा कर देंगे, हमें अपना लेंगे, तथापि आज न जाने क्या बात थी कि वे भगवान्‌के सामने जानेमें हिचकते थे।

जब उन्होंने देखा कि भगवान् स्वयं ही प्रेमभरी दृष्टिसे हमारी ओर देख रहे हैं, तब वे दौड़कर उनके चरणोंपर गिर पड़े, उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली, रोते-रोते हिचकी बँध गयी, वे कुछ बोल न सके। भगवान्‌ने अपने हाथोंसे उन्हें उठाते हुए कहा—'जय-विजय! तुमलोग इतना घबराते क्यों हो? क्या तुम्हें मेरी लीलाका रहस्य मालूम नहीं? मेरी इच्छाके विपरीत जगत्‌में कोई काम हो ही नहीं सकता, स्वयं जगत् भी नहीं हो सकता। तब भला इस वैकुण्ठमें मेरी इच्छाके विपरीत कोई बात कैसे हो सकती है? बात यह है कि मैं संसारमें अवतार ग्रहण करके कुछ लीला करना चाहता हूँ। उस लीलामें तुमलोगोंको प्रधान पात्र बनाना आवश्यक है। हमलोगोंकी जो सम्मिलित लीला होगी, उसे गाकर तथा स्मरण करके संसारके लोग सुगमतासे मेरे पास आ सकेंगे। केवल लोगोंके उद्धारके लिये ही यह लीला करनी है। और कोई ऐसा काम हो नहीं सकता, जिसके लिये मुझे जाना पड़े।

'इस लीलामें तुमलोगोंको बड़ा कठोर काम करना होगा। परंतु तुम्हारा अधिकार देखकर ही यह काम तुम लोगोंको सौंपा गया है। तुम्हें मुझसे वैरभाव रखना होगा। और मैं तुमलोगोंको अपने हाथोंसे मारूँगा। उस समय तुमलोगोंको याद नहीं रहेगा कि ये हमारे स्वामी हैं, हमारे सेव्य हैं। लक्ष्मीने भी तुम्हें शाप दे दिया है, इन ब्राह्मणोंका भी शाप हो चुका है, अब इसका सदुपयोग करना चाहिये। मेरे प्यारे पार्षदो! मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता। मेरी शरणमें आकर किसीका पतन नहीं हो सकता। यदि तुम्हें तीन बार संसारमें जन्म लेना पड़ेगा तो मैं तुम्हारे लिये चार बार आऊँगा। तुम मेरे हो। मैं तुम्हारा हूँ। मेरे लिये इतना कष्ट उठानेमें तुम्हें आपत्ति नहीं होनी चाहिये।'

भगवान् तो उन्हें समझाकर अपने धाममें चले गये, परंतु विजयको संतोष नहीं हुआ। वह दुखी होकर अपने भाई जयसे कहने लगा—'भैया! मैं बड़ा दुखी हूँ। मैं यह सोचकर दुखी नहीं हूँ कि मुझे असुरयोनिमें जाना पड़ेगा। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। यदि अपने किये हुएका दण्ड भोगनेके लिये मुझे नरकमें जाना पड़े और उसमें करोड़ों वर्षोंतक रहना पड़े तो भी मुझको दुःख नहीं होगा। मैं भगवान्‌का स्मरण करते-करते बात-की-बातमें उन वर्षोंको बिता दूँगा। परंतु अपने स्वामीसे, भगवान्‌से पृथक् होकर मैं उनका प्रेमसे स्मरण भी नहीं कर सकूँगा, इतना ही नहीं, उनसे वैरभाव रखूँगा, यह सोचकर मैं चिन्ताके मारे मरा जा रहा हूँ। भैया! मुझे बचाओ!' इतना कहकर वह जोर-जोरसे रोने लगा।

विजयको समझाते हुए जयने बड़ी गम्भीरतासे कहा—'मेरे प्राणप्रिय भाई! तुम इतना घबराते क्यों हो? तुम तो भगवान्‌से प्रेम रखते हो, तुम तो उनके सच्चे सेवक हो, मुझे तो इसमें जरा भी संदेह नहीं है। भाई! प्रेमधर्म, सेवाधर्मका पालन करना बड़ा ही कठिन है। इसमें अपनी मनोवृत्तियोंकी परवा छोड़ देनी पड़ती है, अपने सुख-दुःखकी उपेक्षा कर देनी पड़ती है। जिससे अपने प्रियतमको प्रसन्नता हो, अपने स्वामी सुखी हों, वही करना पड़ता है। भगवान् जहाँ भेजें, जिस रूपमें भेजें और जैसे रक्खें, हमें उसी प्रकार जाना होगा, रहना होगा। हम उनके हैं, उनकी कठपुतली हैं, वे जो नाच नचायेंगे, हम प्रसन्नतासे नाचेंगे, उनकी प्रसन्नता ही हमारी प्रसन्नता है।

'क्या तुम उनसे इसलिये प्रेम करते हो, इस भावसे सेवा करते हो कि वे हमारी इच्छाके अनुसार काम करें? हमें जिसमें सुख प्रतीत हो वही करें? हमारी इच्छाके अनुसार न होनेपर हम दुखी हों। दुःखका मूल मन है। मनमें जब कोई कामना होती है कि हम इस प्रकार रहें, इस प्रकार रक्खे

जायँ और वैसा नहीं होता तब हमारी कामनापर ठेस लगती है, तभी हम दुखी होते हैं। बिना कामनाके कोई दुखी हो ही नहीं सकता। भगवान् जो कुछ करते हैं, हमारे भलेके लिये करते हैं और उनकी इच्छापर आनन्दमग्न होकर नाचते रहना ही हमारा धर्म है। उठो, चलो, विषाद छोड़ो। भगवान्की इस आज्ञाका अविलम्ब पालन किया जाय!'

जयकी बात सुनकर विजयको बड़ा संतोष हुआ। दोनोंने श्रद्धाभक्ति-पूर्वक भगवान्को प्रणाम किया। इतनेमें ही उनके वैकुण्ठसे गिरनेका समय आ पहुँचा। उनके गिरनेके समय हाहाकार मच गया। ब्रह्मा उस समय अपनी सभामें बैठे हुए थे। उन्होंने जब देखा कि भगवान्के प्रिय पार्षद वैकुण्ठसे गिरकर असुरयोनिमें जा रहे हैं और अभी इसी समय इन्हें भगवान्की स्मृति नहीं है, तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके मनमें ऐसे भाव आने लगे कि जो अबतक कभी नहीं हुआ था, वह इस समय कैसे हो रहा है! अबतक केवल मेरे लोकतक ही पुनर्जन्मकी गति थी, आज वैकुण्ठसे भी पुनर्जन्म होनेकी बात देखी गयी। क्या भगवान्के लोकमें भी कालकी पहुँच हो गयी! परंतु ऐसा कैसे हो सकता है! काल तो भगवान्के लोकका स्पर्श भी नहीं कर सकता, परंतु ये गिर तो रहे हैं! अवश्य इसमें कुछ-न-कुछ भगवान्की लीला होगी।। भगवान् भी कैसी-कैसी लीलाएँ करते हैं!

भगवान्की लीलाका स्मरण करते-करते ब्रह्मा तन्मय हो गये। थोड़ी देरके बाद जब उनकी तन्मयता भंग हुई, तब उन्हें स्मरण हो आया कि यह तो कोई नयी बात नहीं है। प्रत्येक वाराह-कल्पमें ऐसा ही होता आया है। अब भगवान् जगत्का कल्याण करनेके लिये प्रकट होनेवाले हैं। अहा! भगवान् कितने दयालु हैं। जगत्के प्रपञ्चोंमें फँसे हुए जीवोंका उद्धार करनेके लिये वे स्वयं जगत्में आते हैं। अनेकों प्रकारकी लीलाएँ करते हैं, बहुतोंको तार देते हैं और ऐसी लीला कर जाते हैं कि उसका स्मरण-चिन्तन करके लोग भव-सागरसे पार उतरते रहें। धन्य हैं भगवान् और धन्य है उनकी लीला!

ब्रह्मा पुनः समाधिस्थ हो गये। वे भगवान्के चिन्तनमें इतने तल्लीन हो गये कि उनकी समाधि तब खुली, जब जय-विजय ऊपरके लोकोंसे बहुत ही नीचे आ चुके थे। ब्रह्माने सोचा अब इन्हें कहीं स्थान देना चाहिये। इन्हें गर्भमें धारण करनेकी शक्ति भला किसमें है! हाँ, दिति इन्हें अपने गर्भमें धारण कर सकती है। अच्छा, तब यही ठीक है। ब्रह्माने उन्हें दितिके गर्भमें जानेकी व्यवस्था कर दी।

(४)

प्रकृति शान्त थी। सायंकालीन सूर्यकी लाल-लाल किरणें समुद्रके नीले जलके साथ खेल रही थीं। तरंगें बहुत कम उठती थीं। वायु मन्द हो गया था। दिन और रातकी सन्धिका समय होनेके कारण चारों ओर शान्ति-ही-शान्ति विराज रही थी। चारा चुग लेनेके बाद पक्षी अपने-अपने नीड़ोंपर बैठकर भगवान्के मधुर नामोंका संगीत गा रहे थे। यह वही समय है, जब भगवान् श्रीकृष्ण जंगलसे गौओंको चराकर लौटते थे और उनके गोधूलि-धूसरित मुख-मण्डलको देखनेके लिये व्रजके सभी प्राणी उत्सुक रहते थे। दिनभर काम करनेवाले इसी समय अपने घर आते हैं। यह प्रतीक्षाका समय है। इस समय हृदयमें एक मधुर लालसा जाग्रत् होती है। प्रकृतिके शान्त होनेके कारण इस समय मन अधिक पवित्रता और वेगके साथ परमात्माकी ओर बढ़ता है। हाँ, तो उस दिन प्रकृति शान्त थी और महर्षि कश्यप अपने आश्रमके पास ही बैठकर संध्या कर रहे थे।

प्रातःकालकी संध्या सूर्योदयके पूर्व हो जानी चाहिये और सायंकालकी संध्या सूर्यास्तसे पूर्व हो जानी चाहिये। यह द्विजातियोंका नित्य कर्तव्य है। इसके उल्लङ्घनसे पाप लगता है। वर्णाश्रमके अंदर रहकर संध्याकी अवहेलना नहीं की जा सकती। महर्षि कश्यप नित्य संध्या करते थे और आज भी समयपर वे संध्या करने बैठे थे। विधिपूर्वक ध्यान करते हुए उन्होंने प्राणायाम किया; आचमन, मार्जन, अघमर्षण आदि करके अभी जप करने जा ही रहे थे कि दिति वहाँ आ पहुँची।

दितिको असमय आयी हुई देखकर महर्षि कश्यपको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा, यह नयी बात कैसे हो गयी। यद्यपि दिति मेरी धर्मपत्नी है, मेरी बड़ी सेवा करती है; तथापि आजतक संध्याके समय यह कभी नहीं आयी थी। उन्होंने, जपमें विघ्न न हो, इसलिये यह सोचा कि इसे पूरा हो जानेके बाद बात कर लूँगा। वे फिर पूर्ववत् एकाग्र होकर सविता देवताका ध्यान करने लगे।

दितिका मन उस समय वशमें नहीं था। वह संतान-प्राप्तिके लिये अत्यन्त उत्सुक थी। उसने कश्यपके पास जाकर बड़े दीनभावसे कहा—'आर्यपुत्र! मैं आपकी दासी हूँ। इस समय मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। आप मेरी

रक्षा कीजिये । यह देखिये कामदेव अपना धनुष-बाण चढ़ाकर प्रबल वेगसे मुझपर आक्रमण कर रहा है। जैसे मदमत्त हाथी अपनी सूँड़से केलेके वृक्षको धुन डालता है, वैसे ही मेरा अन्तःकरण मेरे वशमें नहीं है। मेरा शरीर टूट रहा है। आप कृपा करके मुझे बचाइये । इसे शान्त कीजिये। भगवन् ! मेरी कई सौतें हैं। उनकी संतान और सम्पत्तिको देखकर मेरे कलेजेमें जलन होती है। आपके द्वारा जो संतान मुझे प्राप्त होगी, वह आप-जैसी ही होगी और उससे सारे संसारमें हमारा यश छा जायगा।

'नाथ ! जब मेरे पिता दक्षने बड़े प्यारसे मुझसे पूछा कि तुम किसे पतिके रूपमें वरण करना चाहती हो, तब यद्यपि लज्जाके मारे मैंने मुँहसे कुछ नहीं कहा, फिर भी वे मेरा भाव समझ गये और आपके साथ उन्होंने मेरा विवाह कर दिया। इस समय कामकी यन्त्रणासे व्याकुल होकर मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। आपके सिवा और कौन मेरी रक्षा कर सकता है। आप महान् पुरुष हैं। जो कोई आपकी शरणमें आता है, उसकी आप रक्षा करते हैं। आपकी शरण अमोघ है। मेरा दुःख मिटाइये।'

कश्यपने देखा कि आज दिति बहुत बोल रही है। एक तो कामके बाणोंसे व्यथित है, दूसरे सौतोंकी सम्पत्ति भी इसे सता रही है। इसकी कामना तो अनुचित नहीं है। उन्होंने बड़े प्रेमसे समझाया—'देवि ! तुम मेरी अर्धाङ्गिनी हो। तुम्हारे सहारे मेरे अर्थ, धर्म, काम तीनों ही सधते हैं। गृहस्थजीवनमें वास्तवमें तुम्हारे-जैसी धर्मपत्नीकी बड़ी आवश्यकता है। जीवनका समस्त भार तुम्हें सौंपकर मैं निश्चिन्त धर्मपालनमें समर्थ होता हूँ। तुम्हारी सङ्गति और आश्रयसे ही मैं अपने शत्रु इन्द्रियोंको वशमें रखता हूँ। मानो नारी एक ऐसा किला है, जिसके आश्रयसे शत्रुओंकी ओरसे निर्भय होकर रहा जा सकता है।

'मैं तुम्हारी सेवाका ऋणी हूँ। यदि जीवनभर तुम्हारी सेवा करनी पड़े तो भी मैं उऋण नहीं हो सकता। मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करूँगा। परंतु प्रिये ! तुम दो घड़ी और ठहर जाओ। यह संध्याका समय है। देवाधिदेव महादेवके अनुचर इस समय संसारमें घूमा करते हैं। स्वयं भगवान् शङ्कर श्मशानकी राख शरीरमें लपेटे जटाओंको खोले हुए यह देखते फिरते हैं कि कौन इस समय अपने कर्तव्य संध्या आदिमें न लगकर प्रमाद एवं पापकर्ममें लगा हुआ है। यद्यपि उनका कोई शत्रु-मित्र अथवा निन्दनीय-प्रशंसनीय नहीं है; फिर भी पापियोंपर उनकी तीसरी आँख पड़ ही जाती है। उनका चरित्र बड़ा निर्मल है। संसार-सागरसे पार होनेवाले उनके चरित्रका गायन करते रहते हैं। फिर भी वे उन्मत्तकी भाँति विचरण करते रहते हैं। इस समय गर्भाधान गर्हित बतलाया गया है, इसलिये थोड़ी देर धैर्य धारण करो। नहीं तो, उनके क्रोधकी सम्भावना है।'

कश्यपके इतना समझानेपर भी दितिको संतोष नहीं हुआ। उसने निर्लज्ज होकर कश्यप ऋषिका वस्त्र पकड़ लिया। महर्षि कश्यपने सोचा कि मेरे इस शान्त आश्रममें, जहाँ निरन्तर भगवान्‌का ही स्मरण, चिन्तन, वर्णन होता रहता है, इस प्रकारकी मनोवृत्तिका होना बड़ा आश्चर्यजनक है। यहाँ हिंसक जन्तु अहिंसक हो जाते हैं, कामी, क्रोधी यहाँ आते ही शान्त हो जाते हैं। मेरी अर्धाङ्गिनी ही आज इस प्रकार कामपीड़ित और निर्लज्ज हो जाय, इसका कारण समझमें नहीं आता। मेरे अग्निहोत्रके समीप असमयमें ऐसी भावनाका उदय होना विधि-विधानका ही द्योतक है। अस्तु, भगवान्‌की इच्छा पूर्ण हो।

गर्भाधान होनेके पश्चात् दितिका आवेश शान्त हुआ। वह सोचने लगी कि यह मैंने क्या किया ? पतिदेव, स्वयं भगवान् शङ्कर और शास्त्रोंकी आज्ञाके विपरीत मैं ऐसा काम कर बैठी, जिससे निन्दनीय और कुछ हो ही नहीं सकता। उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह तुरंत महर्षि कश्यपकी शरणमें गयी। अबतक महर्षि कश्यप स्नान करके प्राणायाम-पूर्वक ध्यान करते हुए भगवान्‌के नामका जप करने लगे थे। दितिने जाकर लज्जावश अपना मुँह नीचे करके कहा—'भगवन् ! मुझसे बड़ा अपराध हुआ। भगवान् रुद्र क्रुद्ध होकर कहीं मेरे गर्भका अनिष्ट न कर दें। मैं उनकी शरणमें हूँ। आप उनसे प्रार्थना कीजिये। मैं देवाधिदेव महादेवको नमस्कार करती हूँ। वे आशुतोष हैं, सम हैं और मेरे सगे-सम्बन्धी हैं। आपके नाते मेरे देवर हैं और पिताके नाते मेरे बहनोई हैं। मेरी बहिन सती उनकी धर्मपत्नी है। मेरा बच्चा उन्हींका बच्चा है। वे मेरे बच्चेका अनिष्ट कदापि नहीं करेंगे। भगवन् ! आप दया करके मेरी रक्षा कीजिये।'

इस प्रकार दितिको अपने कृत्यपर लज्जित एवं संतानके कल्याणके लिये उत्सुक देखकर नियम पूरा हो जानेके बाद महर्षि कश्यपने कहा—'तुम्हारे इस पश्चात्ताप और

शङ्करकी प्रार्थनाको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भगवान् रुद्र तुम्हारे बालकोंका अनिष्ट नहीं करेंगे। परंतु असमयमें ही गर्भाधान करनेके कारण मेरी आज्ञाका न पालन करने तथा अपनी सौतके पुत्र देवताओंके प्रति द्रोह-भाव रखनेके कारण तुम्हारे गर्भसे होनेवाले पुत्र देव-द्रोही एवं अमङ्गलरूप होंगे। गर्भाधानके समयकी तुम्हारी ईर्ष्या उनके हृदयमें ऐसे भाव भर देगी कि वे तीनों लोकोंको कम्पित कर देंगे। उस समय मेरे मनमें भगवान् शङ्करका ध्यान था, अतः तुम्हारे दोनों पुत्र शङ्करके भक्त होंगे। जब उनके द्वारा निरपराध दीन प्राणियोंकी हिंसा होगी, स्त्रियाँ दुःख पायेंगी, उनपर महात्मालोग क्रोधित हो जायँगे तब स्वयं भगवान् अवतार लेकर उनका वध करेंगे। तुम्हारे मनमें पश्चात्ताप हुआ है, तुम्हें अपने कृत्यपर खेद हुआ है, इसलिये तुम्हारा पौत्र हिरण्यकशिपुका एक लड़का बड़ा ही भक्त होगा। उसकी भक्तिसे तुम्हारे वंशका उद्धार हो जायगा।'

मेरे पुत्रोंका वध स्वयं भगवान् करेंगे, यह सुनकर दितिको बड़ी प्रसन्नता हुई; क्योंकि उसका विश्वास था कि वधके नाते ही सही, हमारे पुत्रोंका भगवान्से सम्बन्ध तो होगा ! चाहे जिस भावसे, जिस नातेसे उनसे सम्बन्ध हो जाय, केवल सम्बन्ध होना चाहिये। बस, कल्याण-ही-कल्याण है। दिति बड़ी सावधानीके साथ अपने गर्भकी रक्षा करने लगी।

जब दितिके गर्भमें पहलेके भगवान्के द्वारपाल किंतु अब असुर आ गये, तब तीनों लोकोंकी दशा ही बदल गयी। सूर्यका तेज कम हो गया, अग्नि निर्धूम होकर प्रसन्नतासे हविष्य नहीं ग्रहण करती, दिशाओंमें कुहरा छाया रहता है, वायुका स्पर्श बड़ा ही तीखा मालूम होता है, कहीं प्रसन्नता नहीं, कहीं मङ्गल नहीं, सब-के-सब देवता घबरा गये। वे आपसमें सलाह करके ब्रह्माके पास गये। सबने ब्रह्मासे सम्मिलित प्रार्थना की कि 'पितामह ! आज संसारमें यह क्या अनर्थ हो रहा है ? चारों ओर भय छाया हुआ है। सबके हृदयोंमें एक उद्वेग समाया हुआ है। बाहर-भीतर सर्वत्र अशान्ति है। इसका कारण क्या है ? दितिका गर्भ बहुत वर्षोंसे बढ़ रहा है। यह क्या है ? क्या इसीके कारण जगत्की यह दशा है ? भगवन् ! हमें कोई उपाय बतलाइये, इस संकटसे उबारिये। हम सब आपकी शरणमें हैं। आपके चरणोंमें बारम्बार नमस्कार करते हैं।'

ब्रह्माने मधुर वाणीसे सान्त्वना देते हुए जय-विजयके शापसे लेकर उनके गर्भमें आने तककी बात कह सुनायी और अन्तमें कहा कि 'वे ही दोनों दितिके गर्भमें आये हुए हैं। उनके ही भीषण तेजसे त्रिलोकी त्रस्त है। भगवान् इसके सम्बन्धमें स्वयं विधान करनेवाले हैं। देवताओ ! उन्हींके संकल्पसे सृष्टि होती है, उन्हींकी शक्तिसे स्थिति है और उन्हींके भ्रूभंगसे इसका प्रलय हो जाता है। बड़े-बड़े ऋषीश्वर, योगीश्वर उनकी योगमायाका रहस्य नहीं समझ पाते। वे कब किस प्रकार किसका कल्याण करना चाहते हैं, यह भगवान् और भगवान्के भक्तोंके अतिरिक्त और कोई नहीं जान सकता। परंतु इतना निश्चित है कि उनके प्रत्येक विधानमें जीवोंका हित ही निहित रहता है। वे ही हमारे स्वामी हैं, वे ही हमारे सहायक हैं, उन्हींका हमें भरोसा है, वे ही हमारा कल्याण करेंगे। हम अपनी तुच्छ बुद्धिसे क्या सोच-विचार सकते हैं ? हम उनकी शरणमें हैं। उनके कर-कमलोंकी सुकोमल छत्रछायामें हैं। बस, यही भाव निरन्तर बना रहना चाहिये।'

ब्रह्माकी यह विश्वास और प्रेमसे परिपूर्ण वाणी सुनकर देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे संतुष्ट होकर भगवान्का स्मरण करते हुए अपने-अपने धामको चले गये और वहाँ शान्तिके साथ भगवान्की प्रतीक्षा करने लगे।

इधर दितिके प्रसवका अवसर आया। साधारण प्रसवके समयकी अपेक्षा बहुत अधिक समय बीत जानेके पश्चात् संतान होनेका समय उपस्थित हुआ। उस समय संसारमें बड़े-बड़े उत्पात होने लगे। साँपकी भाँति फुफकारता हुआ वायु चलने लगा। उल्का और वज्र गिर-गिरकर लोकोंको भयभीत करने लगे। आकाशमें पुच्छल तारे उग आये। नक्षत्रोंकी प्रभा नष्ट हो गयी। भीषण बादलोंके दलने प्रकाश आनेका मार्ग बंद करके अन्धकारका राज्य स्थापित कर दिया। समुद्र उदासीके साथ चिल्लाने लगा। मानो सारी प्रकृति क्षुब्ध होकर कहने लगी हमें तुम्हारे-जैसे लोगोंकी आवश्यकता नहीं, ब्रह्मा और ब्रह्माके कुछ पुत्रोंको छोड़कर सारी प्रजाको ऐसा अनुभव हुआ कि असमयमें ही प्रलय होने जा रहा है। अथवा यह एक महान् विश्व-विप्लवका सूत्रपात है।

पैदा होनेके थोड़ी ही देर बाद दोनों असुरोंमें महान् बलका संचार हो गया। उनका शरीर फौलादकी तरह कठोर और पर्वतके समान बड़ा था। कश्यपने दोनोंका

नामकरण किया । गर्भाधानके हिसाबसे जो बड़ा था, किंतु उत्पत्ति-क्रमसे छोटा था, उसका नाम हिरण्यकशिपु रक्खा । और जो गर्भाधानके क्रमसे छोटा किंतु उत्पत्ति-क्रमसे बड़ा था, उसका नाम हिरण्याक्ष रक्खा । हिरण्यकशिपुने घोर तपस्या करके ब्रह्मासे वर प्राप्त किया और त्रिलोकीपर शासन किया । उसकी कथा श्रीनृसिंहावतार-कथामें देखनी चाहिये । उसका छोटा भाई हिरण्याक्ष बड़ा ही वीर था । वह हिरण्यकशिपुको बहुत मानता था तथा वह भी इसपर बड़ा प्रेम करता था ।

हिरण्याक्ष हाथमें गदा लेकर अपनेसे लड़नेवालेको ढूँढ़नेके लिये स्वर्गमें गया । उसके असह्य वेग, महान् गदा, उत्साह, शक्ति और वरसे प्राप्त पौरुषको देखकर सभी देवता भयभीत हो गये । जब उसने देखा कि इन्द्र आदि सभी देवता मेरे सामनेसे भग गये, तब वह उन्हें नपुंसक समझने लगा । इसके बाद अपने बाँहोंकी खुमारी मिटानेके लिये वह समुद्रमें कूद पड़ा और भयंकर गर्जना करते हुए अपार एवं अगाध समुद्रमें मत्त होकर विहार करने लगा । उसके समुद्रमें प्रवेश करते ही प्रहार न करनेपर भी उसके प्रभावसे भयभीत होकर वरुणके सैनिक भाग गये । वह वर्षोंतक समुद्रमें क्रीडा करता रहा । वह अपनी गदासे समुद्रके जलको पीट-पीटकर इतना उछालता था कि जलके छींटोंसे ऊपरके लोकमें रहनेवाले घबरा जाते थे ।

अब वह वरुणकी राजधानीमें गया । वहाँ वरुणसे नीचकी भाँति उसने प्रार्थना की कि आप लोकपाल हैं, जलके अधिपति हैं, आपकी कीर्ति सारे संसारमें फैली हुई है, आपने बड़े-बड़े वीरोंका घमंड चूर कर दिया है, समस्त दैत्य-दानवोंको जीतकर आपने राजसूय यज्ञ किया है, मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करके एक भीख माँगता हूँ । आशा है, आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे । मैं आपसे यही भीख माँगता हूँ कि आप मुझसे युद्ध करें ।'

वरुणने देखा कि इस समय इसका बल बढ़ा हुआ है । इससे लड़ाई करना अपनेको संकटमें डालना है । अतः क्रोधको अपनी बुद्धिसे दबाकर उन्होंने बड़ी नम्रतासे कहा—'भैया ! हम तो अब बुड्ढे हो गये हैं । अब युद्ध करनेकी ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं है और वास्तवमें भगवान् विष्णुके अतिरिक्त तुमसे युद्ध करनेवाला कोई दीखता भी नहीं । तुम्हारे-जैसे वीर पुरुषोंको उन्हींसे युद्ध करना चाहिये । जाओ, तुम उनके पास जाओ । तुम्हारा घमंड चूर होगा और कुछ क्षणोंमें ही कुत्ते तुम्हारे शरीरको नोचकर खा जायँगे ।'

हिरण्याक्ष तो अपने जोड़का योद्धा ढूँढ़ ही रहा था, वह भगवान् विष्णुको ढूँढ़नेके लिये चल पड़ा ।

(५)

सृष्टिके आदिकालकी बात है । ब्रह्मा भगवत्प्रेरणासे सृ[illegible] कर रहे थे; परंतु उनकी इच्छाके अनुरूप सृष्टि नहीं हो [illegible] थी । उनकी अभिलाषा थी कि सृष्टि सुन्दर-से-सुन्दर हो, [illegible] और प्रवृत्ति-धर्मका पालन करे । परंतु उनकी यह अभिल[illegible] दरिद्रोंके मनोरथकी भाँति पूरी नहीं होती थी । कुछ अ[illegible] हुए, कुछ भोगी हुए, कुछ क्रोधी हुए और कुछ निवृत्तिपरा[illegible] हो गये । उनके शोककी सीमा न रही । वास्तवमें जब कु[illegible] करनेकी इच्छा की जाती है और वह पूरी नहीं होती, तब शो[illegible] होता ही है । ब्रह्मा भी शोकग्रस्त हो गये ।

परंतु भगवान्की लीलाको कौन जानता है । इस शोक[illegible] अवसरपर ही उनमें रजोगुण और तमोगुणका वा[illegible] मिश्रण हो गया और एक सुन्दर दम्पति उनके सामने प्र[illegible] हो गये । यही दम्पति मनु और शतरूपा थे । इन्हें देख[illegible] ब्रह्माको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि [illegible] अब मेरी अभिलाषा पूर्ण हो गयी । मैं जैसी चाहता था, वै[illegible] सृष्टि हो गयी । मनु और शतरूपाने हाथ जोड़कर पूछा—'भगवन् ! हमें क्या आज्ञा है ? हम आपकी आज्ञाकारी संता[illegible] हैं । जो आज्ञा हो, वही करें ।' ब्रह्माने बड़ी प्रसन्नता[illegible] समझाया—

'हम सब परम पिता परमात्माके यन्त्र हैं । हमारा एक मात्र धर्म है उनकी आज्ञाका पालन करना । वे हमारे स्वामी हैं, हमारे सखा हैं और हमारे आत्मा हैं । वे कर्ता अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता सब कुछ हैं और सबसे परे हैं । यह सृष्टिका समय है । हमें यह आज्ञा है कि तमोगुणमें सोते हुए जीवोंको उठाकर ऐसी स्थितिमें लावें कि वे अपने पुरुषार्थद्वारा इस दुःखमय संसारसे मुक्त हो जायँ । भगवान्के पास पहुँच जायँ । यह काम तुमसे होगा ।'

परंतु इसके लिये तपकी आवश्यकता है । तुम दोनों तपस्या करके शक्ति प्राप्त करो । आदिशक्तिकी आराधना करो और उनसे निर्विघ्न सृष्टि-सम्पादनकी योग्यता लाभ करो । मनुने ब्रह्माकी बात शिरोधार्य की और दोनों तपस्याके लिये चल पड़े ।

इस सृष्टिके अंदर और बाहर एक शक्ति है । ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें कोई-न-कोई शक्ति न हो । शक्तिहीनका

अस्तित्व ही नहीं है। सत्ता स्वयं एक शक्ति है। हम जो उपासना करते हैं, हमारी उपासनाका जहाँतक सम्बन्ध है, वहाँतक शक्ति-ही-शक्ति है। स्वयं ईश्वर शक्तिरूप है। ऐश्वर्य-शक्तिके बिना ईश्वरका ईश्वरत्व ही सिद्ध नहीं होता। इसलिये शक्तिकी आराधना ही आराधना है और हम सभी शक्तिकी आराधना करते हैं।

मनु और शतरूपा दोनों ही प्रेमसे शक्तिकी आराधना करने लगे। उन्होंने मन-ही-मन भगवती आदिशक्तिकी प्रार्थना की कि 'देवि! जगत्‌के समस्त कारणोंकी कारणभूता महाशक्ति! हम तुम्हें शतशः प्रणाम करते हैं। वेदोंके रूपमें तुम्हीं प्रकट हो। सम्पूर्ण मङ्गलोंकी तुम्हीं मूल हो। ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी तुम्हारे शिशु हैं। तुम्हारे ही बलपर जगत् टिका हुआ है। पालन, पोषण, सर्जन, विसर्जन सब तुम्हारी ही शक्तिसे होता है। तुम्हारी शक्तिके बिना कोई कार्य हो ही नहीं सकता।

'हमें अपने पिताकी आज्ञा प्राप्त हुई है और उसमें भगवत्प्रेरणा भी है कि हमलोग सृष्टि करें। परंतु हममें क्या शक्ति है कि उनकी आज्ञाका पालन कर सकें। हम तुम्हारी कृपाके भिखारी हैं। तुम्हारे ही शिशु हैं। तुम्हारे दरवाजेपर पड़े हैं। माँ! प्यारी माँ! आकर हमें गोदमें उठा लो। हमें दुलारो, पुचकारो। हमपर वात्सल्य स्नेह प्रकट करो।'

मनु और शतरूपा एक ही साथ एक ही प्रकारकी प्रार्थना कर रहे थे। पति-पत्नीका हृदय एक ही भावमें विभोर था। वह एक ही हो गया था। उनकी सच्ची प्रार्थना और दर्शनकी परम लालसा देखकर दयामयी माँ प्रकट हुई। उन्हें देखते ही उनके चरणोंपर गिरकर दोनोंने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। माँकी करुणासे उनका हृदय विह्वल हो गया। शरीर पुलकित और आँखोंमें आँसू। दोनों ही अञ्जलि बाँधे खड़े थे।

माँने पुचकारते हुए कहा—'बेटा! तुम तो मेरे अपने हो। तुम इसीलिये प्रकट हुए हो कि परमार्थ-साधन करने-योग्य मानवी सृष्टि हो। मेरी प्रसन्नताके लिये तपस्या करनेकी क्या आवश्यकता है। मैं अपने बच्चेको कष्ट उठाते नहीं देखना चाहती। जब मैं देखती हूँ कि मेरा कोई शिशु सचमुच मेरे लिये रो रहा है, तब दौड़कर उसे अपने आँचल-में छिपा लेती हूँ। मेरा हृदय उसके पीनेके लिये दूध बनकर बाहर निकल आता है। मैं एक क्षणके लिये भी उसे नहीं छोड़ना चाहती।

'जो मुझे न चाहकर कोई और वस्तु चाहते हैं, उन्हें यदि उस वस्तुसे उनकी हानि होनेकी सम्भावना नहीं रहती तो वह वस्तु भी दे देती हूँ और आड़में खड़ी रहकर अपने बच्चेका खेलना देखकर प्रसन्न होती हूँ। यदि अनिष्ट होनेकी सम्भावना देखती हूँ तो झपटकर वह वस्तु छीन लेती हूँ और उसे उससे भी उत्तम वस्तु देती हूँ अथवा उसे अपनी गोदमें ले लेती हूँ।

'प्यारे मनु और शतरूपा! मुझे और कोई काम नहीं है। मैं दूसरा कोई काम करती ही नहीं। निरन्तर अपने नन्हे-नन्हे शिशुओंकी देखभाल किया करती हूँ। छोड़नेकी कल्पना भी उठ जाय तो मुझे कितना कष्ट होगा, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। मैं कभी छोड़ ही नहीं सकती।

'तुम पिताकी आज्ञासे सृष्टि-कार्य करना चाहते हो, यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। मैं तुम्हारी सहायता करूँगी। स्वयं भगवान् विष्णु वाराहावतार धारण करके तुम्हारे सृष्टि-कार्यमें सहयोग देंगे और आगे चलकर वे तुम्हारी संतानके रूपमें अवतार ग्रहण करेंगे। बेटा! जाओ। सावधानीसे अपना काम करो। तुम्हारा कल्याण होगा।'

माँ अन्तर्धान हो गयीं और मनु लोकपितामह ब्रह्माके पास आये।

मनु और शतरूपाको प्रसन्नताके साथ आते देखकर ब्रह्माने अनुमान कर लिया कि इनका कार्य सिद्ध हो गया है। प्रणाम करते ही उन्होंने उठाकर हृदयसे लगा लिया और आनन्दातिरेकसे उनका सिर सूँघने लगे। माँकी कृपा और वरदानकी बात सुनकर ब्रह्माको बड़ा हर्ष हुआ। सब-के-सब माँकी दयालुताका स्मरण करके मुग्ध हो गये। उन्हें ऐसा मालूम होने लगा कि हम उनकी गोदमें ही बैठे हुए हैं।

तन्मयता भंग होनेपर मनुने प्रार्थना की कि 'पिताजी! सृष्टि करनेके लिये विशाल भूमिकी आवश्यकता है। पृथ्वीके बिना सृष्टि कहाँ की जाय? सारा संसार जलमग्न हो रहा है। इसके सम्बन्धमें कोई-न-कोई उपाय अवश्य करना चाहिये।'

उसी समय ब्रह्माके दूसरे पुत्र मरीचि आदि भी उपस्थित हो गये। ब्रह्माने चिन्ता करते हुए कहा कि इस बातके लिये तो मुझे स्वयं बड़ी चिन्ता हो रही है। प्रलयके समय दैत्योंने पृथ्वीको चुराकर रसातलमें रख दिया, अब उसके उद्धारका कोई उपाय नहीं दीखता। भगवान्‌की कृपाके बिना यह कार्य असम्भव है। आओ, हम सब उन्हींकी प्रार्थना करें। वे ही हमलोगोंका कल्याण-विधान करेंगे।

अभी प्रार्थना शुरू भी नहीं हुई थी कि ब्रह्माकी नाकसे एक अंगुलका एक अद्भुत शूकर-सावक निकल पड़ा। उसे देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे, यह क्या वस्तु है ? देखते-ही-देखते क्षणभरमें वह बढ़कर हाथीके बराबर हो गया। सनक, सनन्दन, मनु, मरीचि सब-के-सब आश्चर्यचकित हो गये। तर्कना करने लगे कि यह क्या है ? अभी-अभी नाकसे यह निकला है और इतना बड़ा हो गया ! इतनेमें ही शूकर भगवान्‌ने घोर गर्जना की। उनकी गर्जना सुनकर इन लोगोंके मनमें भय नहीं हुआ, आनन्द ही हुआ। ब्रह्माकी समझमें बात आ गयी। उन्होंने कहा कि 'अवश्यमेव पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये भगवान् ही शूकर-रूपसे अवतीर्ण हुए हैं।'

(६)

जिस वस्तुके लिये चिन्तित हों, जिसकी प्रतीक्षामें दूसरा काम अच्छा न लगता हो, जिसके बिना हमारे कर्तव्यमें ही बाधा पड़ जाती हो, यदि वही वस्तु सहसा बिना किसी प्रयत्नके सामने आ जाय, हमारी अभिलाषा पूर्ण कर दे तो इससे बढ़कर प्रसन्नताकी बात और क्या होगी ? ऐसे अवसरों-पर ही हम अपने जीवनको धन्य मानते हैं।

यहाँ तो कोई दूसरी वस्तु नहीं, स्वयं भक्तवाञ्छा-कल्पतरु भगवान् ही यज्ञवाराह-रूप धारण करके प्रकट हुए हैं। उनके सुकोमल दन्तद्वयविराजित श्याम शरीरकी सुन्दरता और फरफराती हुई रोमावली देखकर ब्रह्मा आदिके आनन्दकी सीमा न रही। सब-के-सब उठ खड़े हुए और उनके पास जाकर षोडशोपचारसे पूजा की। अन्तमें सबने बड़े प्रेमसे प्रार्थना की कि 'भगवन् ! आप ही इस सृष्टिके आधार हैं। आप ही इसके अधिष्ठान हैं। आपकी ही सत्तासे यह सृष्टि और हम सब सत्तावान् बने हुए हैं। आपकी ही कृपासे, आपकी ही प्रेरणासे सब कुछ हो रहा है और जब आवश्यकता होती है तब इसकी रक्षा-दीक्षाके लिये आप प्रकट होते हैं। आप सर्वज्ञ हैं, आप ज्ञानस्वरूप हैं, आपका श्रीविग्रह आनन्दमय है, एकमात्र आप ही सत्य हैं। आपके ही पावन नामोंका उच्चारण करके आपकी ही पावन स्मृतिमें तल्लीन होकर हमारा जीवन व्यतीत होता रहे, सर्वदा हम आपके ही ध्यानमें मग्न रहें, एक क्षणके लिये भी आपको न भूलें, ऐसी कृपा कीजिये।

'प्रभो ! पृथ्वी आपकी सेविका है। आपने उसे अपनी स्वीकार किया है। प्रलयके समय असुरोंके द्वारा वह हरण कर ली गयी है। आपकी अपनी होनेके पक्ष वह असुरोंके हाथमें गयी, यह आश्चर्यकी बात अवश्य है परंतु आपकी लीला आप ही जान सकते हैं। और कोई क्या जाने ? भगवन् ! अब उसका उद्धार कीजिये। हमलोग आप की प्रेरणासे सृष्टिके कार्यमें लगे हैं, बिना पृथ्वीके हम सृ कहाँ करें ? पृथ्वी भी घबरायी हुई है, वह आपके दर्शन और स्पर्शके लिये बहुत ही उत्सुक है। उसे आश्वासन दीजिये, अपनाइये।'

ब्रह्मादिकी प्रार्थना सुनकर भगवान् बड़े जोरसे हँसे और गरजते हुए समुद्रमें कूद पड़े। उनके कूदनेसे समुद्रका जल उछल-उछलकर जनलोक, महर्लोकसे बातें करने लगा, मानो 'भगवान् मेरे जलमें क्रीड़ा कर रहे हैं। आज मेरी इतने दिनोंकी तपस्या सफल हुई। मैं भगवान्‌का दिव्य स्पर्श प्राप्त कर रहा हूँ।' अपनी गम्भीर ध्वनिके द्वारा इस बातकी डंकेकी चोट घोषणा करता हुआ समुद्र तीनों लोकों-को अपने आनन्दका संदेश सुना रहा था।

भगवान् मंथरगतिसे रसातलकी ओर जा रहे थे। जो भगवान् अपने भक्तोंकी पुकार सुनकर गरुडको भी छोड़कर पाँव-पयादे दौड़ते हैं, वही भगवान् आज मंथरगतिसे क्यों चल रहे हैं ! अवश्य सर्वदा क्षीरसागरमें उनके रहनेके कारण नीर-सागरको बड़ी स्पर्धा रही होगी कि क्षीर-सागर कितना भाग्यवान् है ! काश, एक दिन भगवान् मेरे अंदर भी आ जाते ! वह बड़ा उत्सुक था। इतने दिनोंसे गम्भीर एवं शान्तचित्तसे जिसकी उपासना करता था, वही भगवान् उसके पास आये हैं और धीरे-धीरे उसे स्पर्श-सुखका अनुभव कराते हुए रसातलकी ओर जा रहे हैं।

भगवान् धीरे-धीरे बढ़ते हुए रसातलमें पहुँच गये। भगवान्‌को देखकर पृथ्वी प्रसन्नताके मारे खिल उठी। उसने भगवान्‌का चरणामृत लिया। सुन्दर आसनपर बैठाकर भगवान्‌की पूजा की। उसे ऐसा मालूम हुआ कि आज मेरे सौभाग्यका सूर्य चमक उठा। अबतक भगवान् लक्ष्मीके पास रहते थे, आज मेरे घर आ गये। मेरा असुरोंके हाथमें पड़ना अच्छा ही हुआ, क्योंकि इसीलिये भगवान् मेरे घर आये हैं। पृथ्वी देवी षोडशोपचार पूजा करनेके पश्चात् आरती लेकर भगवान्‌के सामने नाचने लगी। उस समय उसके प्रेम और आनन्दका क्या कहना ! स्वयं प्रेम और आनन्दस्व-रूप भगवान् उसके सामने विराजमान थे।

पूजा समाप्त होनेपर पृथ्वीको जब बाह्यज्ञान हुआ, तब वह अञ्जलि बाँधकर भक्ति-गद्गद चित्तसे प्रार्थना करने

लगी । उसने कहा—'कमलनयन ! शङ्ख-चक्र-गदाधारी ! श्यामसुन्दर ! तुम्हीं हमारा उद्धार करनेवाले हो। तुम्हीं हमारे स्वामी हो, तुम्हीं हमारे पतिदेव हो । प्रभो ! तुम्हीं क्षर-अक्षरसे परे पुरुषोत्तम हो। तुम्हीं पञ्चभूतोंका उद्धार करते हो। केवल उद्धार करनेवाले ही नहीं, तुम्हीं सबके जन्मदाता भी हो । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तुम्हारे ही स्वरूप हैं। बड़े-बड़े योगीश्वर तुम्हारा ही ध्यान करते हैं। बड़े-बड़े उपासक तुम्हारी ही उपासना करते हैं। तुम्हीं यज्ञभोक्ता यज्ञपुरुष हो । भगवन् ! तुम्हारे वास्तविक स्वरूपको कोई नहीं जानता । दैवी प्रकृतिके लोग तुम्हारे अवतारोंकी ही उपासना करते हैं । तुम्हारी आराधनाके बिना आत्म-साक्षात्कार, ब्रह्मकी अनुभूति अथवा मुक्ति नहीं हो सकती । जो कुछ मनसे सोचा जा सकता है, नेत्र-वाणी आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ देखा जा सकता है और बुद्धिके द्वारा जितने पदार्थोंका बोध किया जा सकता है वह सब तुम्हीं हो । जो कुछ मैंने कहा है, वह तुम हो । जो कुछ नहीं कहा है, वह भी तुम्हीं हो । आत्मा-अनात्मा सब तुम्हारे ही रूप हैं । भगवन् ! अब मुझे एक क्षणके लिये भी मत छोड़िये । मुझे अपने साथ ले चलिये ।'

प्रार्थना करते-करते पृथ्वी उनके चरणोंपर गिर पड़ी और प्रेमगद्गद होकर रोने लगी। भगवान् वराहने बड़े प्रेमसे उसे अपने बायें दाँतपर उठा लिया । उस समय बाष्कलि आदि दैत्योंने बाधा डालनी चाही, पर भगवान्के गदाप्रहारसे भयभीत होकर उनमेंसे कई भग गये और शेष दैत्योंने भगवान्के हाथों मृत्यु प्राप्त करके दुर्लभ गति प्राप्त की । जब भगवान् अपने दाँतोंपर पृथ्वीको लेकर वेगसे चलने लगे, तब समुद्रका पानी उछल-उछलकर फिर महर्लोकतक जाने लगा। उनके श्वासके वेगसे जो जलधाराएँ उठती थीं, उनसे जनलोकके निवासी तो सराबोर हो गये। उस समय सनक-सनन्दनादि वहाँ उपस्थित थे । उन्होंने बड़े प्रेमसे भगवान्की स्तुति की । महावाराह भगवान् जब अपने वेदमय शरीरको बड़ी स्फूर्तिके साथ कँपाते हुए चलने लगे, तब उनके रोमकूपोंमें स्थित ऋषिगण बड़े प्रेमसे उनकी स्तुति करने लगे । उन्होंने यज्ञरूप वराह भगवान्का वर्णन करते हुए कहा—'भगवन् ! आप सबके कारण हैं। सबके मूल स्वरूप हैं और आप ही यज्ञपुरुष हैं । आपके चरणोंमें चारों वेद हैं। मुखमें श्येन चित आदि चितियाँ हैं, यज्ञकी अग्नि आपकी जीभ है, रात-दिन आपके नेत्र हैं । आपका थूथन स्रुवा है, आपकी धीर-गम्भीर ध्वनि सामस्वर है, आपके अवयवोंमें सम्पूर्ण यज्ञकी सामग्री है । आपकी डाढ़ोंपर रक्खी हुई पृथ्वी ऐसी मालूम होती है, मानो विशाल गजेन्द्रके बड़े दाँतपर कमलकी एक नन्ही-सी पंखुड़ी रक्खी हो । आप ही एक परमार्थ सत्य हैं । आपके अतिरिक्त और कोई नहीं है । आपके अनन्त ज्ञानस्वरूपमें जड-जगत्को देखनेवाले भ्रान्त हैं। वास्तवमें सब कुछ ज्ञान ही है, सब कुछ आनन्द ही है, सब कुछ आत्मा ही है और सब कुछ आपका स्वरूप ही है । भगवन् ! आप पृथ्वीका उद्धार करके जीवोंका महान् कल्याण कर रहे हैं। प्रभो ! आपकी जय हो ! आपकी जय हो ! हम आपके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करते हैं !'

एक ओर तो सारे ऋषीश्वर, योगीश्वर भगवान्की स्तुति कर रहे थे, दूसरी ओर नारदजी और ही धुनमें थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि भगवान् पृथ्वीका उद्धार करके लौट रहे हैं, तब वे हिरण्याक्षके पास पहुँचे । हिरण्याक्ष तो पहलेसे ही भगवान्को ढूँढ़ रहा था । जब देवर्षि नारदने बतलाया कि भगवान् पृथ्वीको रसातलसे लिये आ रहे हैं, तब वह उसी ओर चल पड़ा ।

नारद भगवान्के अत्यन्त प्रिय हैं । पुराणोंमें, इतिहासोंमें ऐसा उदाहरण बड़ी कठिनतासे मिलेगा कि किसीको नारदजी मिल गये हों और उसे भगवान् न मिले हों । नारदका यही काम है । वे सबको भगवान्की ओर बढ़ाते हैं । जो प्रेमका अधिकारी होता है, उसे प्रेमसे; और जो द्वेषका अधिकारी होता है, उसे द्वेषसे । वे भगवान्का स्वभाव जानते हैं कि उनके पास द्वेषसे भी जानेपर कल्याण ही होता है । केवल उनके पास जाना चाहिये । वे भगवान्के अन्तरङ्ग प्रेमी हैं, वे भगवत्प्रेमियोंकी अभिवृद्धि करनेमें ही लगे रहते हैं । यदि वे हिरण्याक्षके पास अभी नहीं आते तो सम्भव है, उसके उद्धारमें विलम्ब हो जाता । उन्हें यह बात असह्य थी, आखिर उसे उन्होंने भेज ही दिया ।

हिरण्याक्षने थोड़ी ही दूर चलनेके बाद देखा कि समुद्रमें उथल-पुथल मचाते हुए वराह भगवान् आ रहे हैं। उनकी आँखोंसे एक ऐसी ज्योति निकल रही है, जिससे दाँतपर रक्खी हुई पृथ्वी पुष्ट हो रही है । उसने डाँटते हुए कहा—'रे शूकर ! तू अपनेको बड़ा चतुर समझता है ? यह पृथ्वी हमारी है, हम रसातलवासियोंकी सम्पत्ति है । मेरे देखते-देखते तू इसे ले जाना चाहता है, यह नहीं हो

सकता। हमारे शत्रुओंने तुझपर यह भार सौंपा है; परंतु न तुझमें बल है, शक्ति। तू यों ही टट्टीकी ओट शिकार किया करता है। तुझे केवल अपनी मायाका बल है। अभी तुझे समाप्त करके मैं अपने मित्रोंको सुखी करता हूँ। जब मेरी गदासे तेरा सिर फट जायगा और तू मर जायगा तब तेरे बलपर जीनेवाले ऋषि और देवता स्वयं ही मर जायँगे। आ, मैदानमें उतर आ। अभी मैं तुझें इसका मजा चखाता हूँ।

भगवान्‌ने देखा कि पृथ्वी भयभीत हो रही है। उसकी बात सुनकर भी उन्होंने उसपर ध्यान नहीं दिया। वे मस्तीके साथ चलते रहे। हिरण्याक्ष उनके पीछे-पीछे चलता हुआ कह रहा था कि जो निर्लज्ज हैं, असज्जन हैं, उनके लिये निन्दनीय क्या है? ललकारते हुए शत्रुको छोड़कर इस प्रकार भागना कायरता है।' परंतु भगवान्‌ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने जलके ऊपर आकर पृथ्वीको रक्खा और उसमें अपनी शक्ति स्थापित करके उसे स्थिर कर दिया। हिरण्याक्षके देखते-देखते देवताओंने भगवान्‌पर पुष्पवर्षा की। ब्रह्माने स्तुति की। सर्वत्र आनन्दोत्सव मनाया जाने लगा।

अब भगवान्‌ने हिरण्याक्षपर अपनी कठोर दृष्टि डाली।

(७)

भगवान्‌की दृष्टि कभी कठोर नहीं होती। अपने नन्हे-नन्हे शिशुओंपर परमदयालु भगवान् कभी कठोर दृष्टि डाल ही नहीं सकते। वैसी दृष्टि तो शत्रुओंपर, स्पर्धा करनेवालोंपर डाली जाती है। परंतु भगवान्‌से स्पर्धा करनेवाला, शत्रुता करनेवाला कोई है ही नहीं। लोग अपने अज्ञानके कारण भगवान्‌पर शत्रुताका आरोप करते हैं, परंतु उनपर भी भगवान्‌का भाव कोमल ही रहता है। बल्कि औरोंकी अपेक्षा अधिक कोमल रहता है। वे अधिक दयाके पात्र हैं। उन्हें अति शीघ्र वे अपने पास बुला लेना चाहते हैं।

भगवान्‌ने हिरण्याक्षकी ओर देखकर कहा—'नीच दैत्य! सचमुच मैं शूकर हूँ और तुम्हारे-जैसे ग्रामसिंहों (कुत्तों) को ढूँढ़ाकरता हूँ। वीर! अब तुम मृत्युके पंजेमें आ गये हो, तुम्हारा यह बहकना शोभा नहीं देता। मान लो मैं तुम्हारी सम्पत्ति पृथ्वी चुराकर लाया हूँ और तुम्हारी गदाके भयसे भागता भी हूँ; परंतु अब तो किसी प्रकार तुम्हारे सामने खड़ा हूँ न! तुम्हारे-जैसे बलवान्‌से वैर पैदा करके जा ही कहाँ सकता हूँ? आओ, दो हाथ देख लो। तुम्हारी जितनी शक्ति हो, मेरा अनिष्ट करनेके लिये उसे लगा दो। मुझे मारकर अपने मित्रोंके आँसू पोंछो। तुमने प्रतिज्ञा की है न, उसे पूरी करो। जो अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं करता, वह सभ्य पुरुषोंकी गिनतीमें नहीं आ सकता।'

भगवान्‌की यह आक्षेपभरी बात सुनकर तथा अपने सामने ही देवताओंद्वारा उनका सम्मान देखकर और अपनी इच्छाके विपरीत जलपर पृथ्वीको स्थित देखकर क्रोधके मारे हिरण्याक्ष जलने लगा। उसका सारा शरीर काँपने लगा। लँबी साँसें चलने लगीं। अपनी गदा उठाकर बड़े वेगसे भगवान्‌के वक्षःस्थलपर उसने प्रहार किया। परंतु भगवान्‌ने अपना शरीर टेढ़ा कर दिया और उसका आक्रमण व्यर्थ हो गया। अपनी गदा उठाकर वह जोरसे घुमाने लगा। भगवान् भी अपने दाँतोंसे ओठ दबाकर क्रोधका अभिनय करते हुए हाथमें गदा लेकर दौड़े और हिरण्याक्षकी भौंहोंमें एक गदा लगायी।

अब दोनोंमें गदायुद्ध होने लगा। जैसे दो मदमत्त साँड़ आपसमें लड़ते हैं, वैसे ही वे दोनों एक दूसरेपर प्रहार करने लगे। युद्ध देखनेके लिये ब्रह्मा आदि देवता तथा ऋषिगण अपने-अपने विमानपर चढ़कर वहाँ आ गये थे। जब उन्होंने देखा कि बड़ी देरसे युद्ध चल रहा है और अभी हिरण्याक्ष थका नहीं, तब उनके मनमें कुछ-कुछ चिन्ता हो गयी। ब्रह्माने कहा—'भगवन्! आप इससे ऐसा खेल क्यों खेल रहे हैं। प्रभो! जो लोग आपके चरणोंकी शरण ग्रहण किये हुए हैं या करना चाहते हैं, उन देवताओं, ब्राह्मणों, गौओं और सम्पूर्ण प्राणियोंका यह शत्रु है। यह निरपराधोंका अपराधी है, सज्जनोंको भयभीत करनेवाला है, इसका जीवन पापमय है। हमारे ही वरसे इसे ऐसी शक्ति प्राप्त हो गयी है। यह अपनी जोड़ीका योद्धा ढूँढ़ता हुआ त्रिलोकीमें विचरण किया करता है और लोगोंको बड़ा कष्ट देता है। यह किसीकी बात नहीं मानता। बड़ा कपटी है, दुष्ट है। प्रभो! इसके साथ बालकोंकी भाँति खिलवाड़ न करें। यह साँप है, साँप! इसका कोई विश्वास नहीं। अभी-अभी संध्याकाल होनेवाला है, निशाचरी बेला होनेपर इसका बल बढ़ जायगा। वह समय आनेके पहले ही इसका संहार कर दीजिये। यह समय इसकी मृत्युके लिये बड़ा ही अच्छा है। हमलोगोंका कल्याण कीजिये, हमारा कष्ट मिटाइये। भगवन्! आपकी जय हो!! आपकी जय हो!!!'

ब्रह्माके निष्कपट और प्रेमभरे वचन सुनकर भगवान्ने कनखियोंसे स्वीकार किया। भगवान्ने बड़े जोरसे एक गदा चलायी; परंतु लगनेके पहले ही हिरण्याक्षने उनकी गदापर अपनी गदासे ऐसा आक्रमण किया कि भगवान्की गदा उनके हाथोंसे छूटकर गिर पड़ी। तीनों लोकोंमें हाहाकार मच गया। जिनके संकल्पमात्रसे सारी सृष्टिका संहार हो सकता है, उन्हीं भगवान्के हाथोंसे छूटकर गदा गिर जाय, यह बड़ी अद्‌भुत बात है। परंतु कभी-कभी भगवान् अपने भक्तोंका बल दिखानेके लिये ऐसी परिस्थिति भी पैदा कर दिया करते हैं। हिरण्याक्ष उनका भक्त था न! हिरण्याक्षका बल भगवान्का ही बल है।

यद्यपि इस समय हिरण्याक्षको अवसर मिल गया था। चाहता तो भगवान्पर दुबारा आक्रमण कर देता; परंतु युद्धके धर्मकी दृष्टिसे और भगवान्को क्रोधित करनेकी इच्छासे उसने ऐसा नहीं किया। भगवान्ने मन-ही-मन उसकी प्रशंसा की और चक्रका स्मरण किया। उनके हाथमें चक्र चक्कर लगा रहा था और आकाशमें देवतालोग उसको देख-देखकर प्रसन्न होते हुए भगवान्से प्रार्थना कर रहे थे कि शीघ्र-से-शीघ्र इसका अन्त कर दें। हाथमें चक्र घुमाते देखकर अपने दाँत पीसकर हिरण्याक्ष दौड़ा और 'अब मर गये' यह कहता हुआ उसने भगवान्पर आक्रमण किया। भगवान्ने बायें पैरसे ऐसी ठोकर लगायी कि उसकी गदा गिर पड़ी। भगवान् अपने हाथोंसे उसकी गदा उठाकर देने लगे; परंतु उसने लिया नहीं।

अब उसने त्रिशूल उठाया; परंतु आक्रमण करनेके पहले ही भगवान्ने अपने चक्रसे उसको खण्ड-खण्ड कर दिया। इसके बाद हिरण्याक्ष अन्तर्धान होकर माया-युद्ध करने लगा। सारे संसारमें तहलका मच गया। प्रजाको ऐसा मालूम हुआ कि अभी प्रलय हो जायगा। जोरसे आँधी चलने लगी। धूलसे दिशाएँ भर गयीं, पत्थरोंकी वर्षा होने लगी, आकाशमें भयंकर गर्जना होने लगी और खूनकी, पीबकी, हड्डियोंकी वर्षा होने लगी। बड़े-बड़े पहाड़ उड़ते हुए शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए दीखने लगे। डाकिनी-शाकिनी आदि बाल खोलकर नंगे सिर हाथोंमें खप्पर लिये घूमने लगीं। सभी भयभीत हो गये।

भगवान्ने सुदर्शन चक्रका प्रयोग किया। क्षणभरमें ही सारी माया नष्ट हो गयी। वह भगवान्के सामने आकर बलपूर्वक लिपट जाना चाहता था कि भगवान्ने उसके कानमें एक ऐसा घूँसा जमाया कि उसका सिर फट गया, मुँहसे खून गिरने लगा और वह धड़ामसे जमीनपर गिर पड़ा। उस समय दितिकी छाती काँप रही थी। उसके स्तनोंसे खून बहने लगा था।

हिरण्याक्षकी मृत्यु हो जानेके पश्चात् सारे संसारमें आनन्द-मङ्गल छा गया। ऋषि, मुनि, देवता आ-आकर भगवान्की पूजा करने लगे। सुर-सुन्दरियोंने पुष्पवर्षा की, अप्सराएँ नाचने लगीं, सबने भगवान्की स्तुति की। भगवान्ने सम्मान-पूर्वक सबको विदा किया।

विभिन्न पुराणोंमें हिरण्याक्षकी कथा विभिन्न प्रकारसे आती है। वह सब कल्पभेदसे अथवा एक ही कल्पमें यथा-सम्भव घट सकती है। किसी-किसी पुराणमें लिखा है कि किसी समय पर्वतोंके अत्याचारसे ऊबकर देवराज इन्द्रने उनके पाँख काटना शुरू कर दिया। कई पर्वत भयभीत होकर पातालमें चले गये। इन दिनों पाताल ही असुरोंकी बस्ती थी। पर्वतोंने असुरोंसे कहा कि 'देवतालोग छोटे होनेपर भी तुमपर राज्य करते हैं और तुमलोग बड़े होकर भी उनके शासनमें रहते हो। यह बात तुम्हारे लिये गौरवजनक नहीं है।' पर्वतोंकी बात सुनकर असुरोंको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने हिरण्याक्षको अपना अधिपति बनाकर देवताओंपर आक्रमण कर दिया। देवतालोग पराजित हो गये और स्वर्ग छोड़कर भग गये। इसके बाद सब देवताओंने मिलकर प्रतीकार करनेके लिये विष्णुभगवान्की शरण ली, उस समय चक्रधारी भगवान् विष्णुने यज्ञवाराह-मूर्ति धारण करके हिरण्याक्षके पास आगमन किया और युद्धमें हिरण्याक्षको मारकर देवताओंको अभयदान दिया।

किसी-किसी पुराणमें दैत्यपति हिरण्याक्षके सम्बन्धमें दूसरे प्रकारका वर्णन आता है। वहाँ लिखा है कि पुत्रकी कामनासे इसने महादेवकी दीर्घकालतक उपासना की थी। जब इसकी तपस्या और आराधनासे प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् शङ्करने इसे अपना दर्शन दिया और वर माँगनेको कहा, तब हिरण्याक्षने उनसे एक पुत्रकी प्रार्थना की। भगवान् शङ्करने उसे अन्धक नामका एक पुत्र दिया। हिरण्याक्षने अन्धकको पुत्ररूपमें पाकर उसके साथ देवताओंसे युद्ध किया और उन्हें पराजित करके अपने पुत्रके साथ पृथ्वीको भी पातालमें ले गया। उस समय देवताओंकी प्रार्थनासे भगवान्ने वाराहावतार धारण किया और पातालमें जाकर हिरण्याक्षका वध करके पृथ्वीका उद्धार किया। अस्तु,

इस प्रकार पुराणोंमें विभिन्न प्रकारसे इसका वर्णन हुआ है। कहीं-कहीं चार-चार, पाँच-पाँच पुत्रोंके नाम मिलते हैं और कहीं-कहीं बिना पुत्रके ही युवावस्थामें इसके वधकी बात मिलती है; परंतु सर्वत्र इसका वध भगवान् वाराहके द्वारा ही हुआ है। हिरण्याक्षके साथ भगवान्‌की दयालुताकी कथा जुड़ी हुई है।

स्तुति-प्रार्थना आदि होनेके पश्चात् भगवान्‌ने सबको सम्मानपूर्वक विदा कर दिया और वे स्वयं पृथ्वीके प्रेम और प्रार्थनासे विवश होकर उसीके पास रहने लगे।

(८)

भगवान् दयापरवश हैं। उनका स्वभाव इतना दयालु है कि जिसको उन्होंने अपने लिये छटपटाते देखा, उसीके हो गये। वे अपने लिये किसीको दुखी देख ही नहीं सकते। संसारके जीव पुत्रके लिये, धनके लिये जितना व्याकुल होते हैं, यदि उसका शतांश भी भगवान्‌के लिये व्याकुल हों तो भगवान् मिले बिना न रहें। एक दिन समयपर पुत्रके न खानेपर जितनी बेचैनी होती है, दस-पाँच दिन पतिका समाचार न मिलनेपर जितना कष्ट होता है और अपनी पूजी खो जानेपर जितना शोक होता है, यदि भगवान्‌के लिये भी उतना ही हो तो वे अवश्य मिल जायँ। उनकी नीति ही है कि जो जितने प्रेमसे उनका भजन करता है, वे भी उतने ही प्रेमसे उसका भजन करते हैं। हम बाहर-बाहर चाहे जितना चिल्लायें, चाहे जितने आँसू गिरायें, वे तो हृदय ही देखते हैं और सच्ची उत्सुकता होते ही रीझ जाते हैं।

आज वे पृथ्वीके हैं। पृथ्वीके स्वामी हैं, पृथ्वीके जीवन-सखा हैं, पृथ्वीके प्राण हैं और पृथ्वीके सर्वस्व हैं। पृथ्वी उनके बिना जीवित नहीं रह सकती। पृथ्वी उन्हें देखे बिना एक क्षणको कल्प समझती है। प्रेमसे, सचाईसे उनकी सेवा करती है, उनके चरणोंकी दासी है। पृथ्वीको छोड़कर भगवान् भला और कहीं कैसे रह सकते हैं! नित्य नयी-नयी लीला होती है, नयी-नयी बातें होती हैं। प्रेमचर्चामें ही बड़े-बड़े आध्यात्मिक रहस्य समझा दिये जाते हैं। भगवान्‌की एक-एक क्रिया अपने प्रेमीको प्रसन्न करनेवाली होनेके साथ ही जगत्‌के हितकी भी होती है। प्रतिदिन ऐसी ही बातें होती रहीं और बहुत दिनोंतक होती रहीं, वे सब अवर्णनीय हैं।

एक दिन पृथ्वीने भगवान्‌के चरण पकड़कर प्रार्थना की कि 'भगवन्! आप इसी प्रकार अनेकों बार मेरा उद्धार करते हैं। मुझे अपनाते हैं और समय-समयपर जब मैं पापियोंके, दुराचारियोंके भारसे दबने लगती हूँ तब आप अवतार धारण करके मेरी रक्षा करते हैं। राम, कृष्ण, मत्स्य, कूर्म आदि अवतार आपने मेरे ही लिये धारण किये हैं। मुझपर आपकी अनन्त कृपा है। मैं आपकी कृपासे दबी हुई हूँ। आप त्रिलोकीनाथ होकर भी मेरे साथ प्रियजनोंकी भाँति व्यवहार करते हैं। यह आपकी कृपा नहीं तो और क्या है! परंतु प्रभो! आपकी इतनी कृपा होनेपर भी मैं आपके स्वरूपसे अनभिज्ञ ही हूँ। आपका वास्तविक स्वरूप क्या है, मुझे यह जाननेकी बड़ी इच्छा है।'

पृथ्वीकी बात सुनकर भगवान् बड़े जोरसे हँसे, उनके हँसते ही पृथ्वीने देखा कि उनके अंदर ही ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि देवता, लोकपाल, दिक्पाल, ग्रह, नक्षत्र तारा, पञ्चभूत, ऋषि, मुनि, मनुष्य आदि सभी स्थावर-जङ्गम स्थित हैं। चतुर्दश भुवन, तीनों लोक, अष्टधा और एकधा प्रकृतिको उनके अंदर ही देखकर पृथ्वी आश्चर्यचकित हो गयी। उसका सारा शरीर काँपने लगा। आँखें बंद हो गयीं।

आँखें खुलनेपर पृथ्वीने देखा कि भगवान्‌का वह आश्चर्यमय रूप अब नहीं है। वे क्षीरसागरमें शेष-शय्यापर शयन कर रहे हैं। लक्ष्मी उनकी सेवा कर रही हैं, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये हुए हैं, शीतल-मन्द-सुगन्ध दिव्य वायु धीरे-धीरे पंखा झल रहा है, जिससे पीताम्बर हिल रहा है। उस क्षीरसागरमें, धवलताके समुद्रमें भगवान्‌का श्यामसुन्दर श्रीविग्रह अद्भुत शोभा पा रहा है। वास्तवमें श्याम वस्तुका दर्शन अन्धकारमें नहीं होता, प्रकाशमें ही होता है। उनके इस रूपको देखकर और मन्द मुसकान तथा प्रेमभरी चितवनको देखकर पृथ्वी विह्वल हो गयी। वह प्रेमपूर्वक भगवान्‌की स्तुति करने लगी।

अभी स्तुति पूरी भी नहीं हो पायी थी कि भगवान् पुनः वाराहरूपमें हो गये और भगवान्‌की यह लीला देखकर पृथ्वी चकित-सी हो रही थी। भगवान्‌ने कहा—'पृथ्वी! तुम मेरा वास्तविक स्वरूप जानना चाहती हो, यह बड़ी अच्छी बात है। मेरे स्वरूपका ज्ञान बड़ा ही दुर्लभ है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, जिसने मेरी भक्ति नहीं की है, वह मेरे स्वरूप-ज्ञानका अधिकारी नहीं। परंतु तुम तो मेरी प्रिय भक्त हो, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध है, तुम्हें मैं संक्षेपमें ही बताता हूँ।' भगवान्‌ने कहा—

'देवि! मेरा वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय है। तुम उसे कैसे जानना चाहती हो। कानोंसे सुनकर उसका एक काल्पनिक चित्र बनाना चाहती हो! यह असम्भव है। न मैं स्वयं वाणीसे उसका वर्णन कर सकता हूँ, न तो तुम अपनी

बुद्धिसे उसे सोच ही सकती हो। जहाँतक सोचनेका सम्बन्ध है, संसार ही है। मैं विषय नहीं हूँ कि मुझे देखा जा सके। सारे विषयोंको सोच डालो। उनका निषेध कर दो तो निषेध करनेवालेके मूलमें मेरा पता चल सकता है। यह भी एक संकेतमात्र है। वास्तवमें मेरा पता मैं ही हूँ।

'जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; स्थूल, सूक्ष्म, कारण; विश्व, तैजस, प्राज्ञ; विराट्, सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ; अकार, उकार, मकार आदि-आदि जितने भी प्रकृति और प्रकृतिके कार्य हैं, उनके परे बहुत परे मैं अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दके रूपमें स्थित हूँ। यह भी तुम्हें समझानेके लिये कह रहा हूँ, मेरा यह वास्तविक वर्णन नहीं है। इस रूपमें तुम और मैं भिन्न-भिन्न नहीं, केवल मैं ही मैं हूँ। यह जगत् भी मुझसे भिन्न नहीं और इसके संचालक भी मुझसे भिन्न नहीं।

'यह जो विराट् रूप तुमने देखा है, मेरा स्थूल रूप है। मैं विश्वके रूपमें प्रकट हूँ। आकाश मेरे शरीरका अवकाश है। वायु मेरी प्राणवायु है, चन्द्रमा-सूर्य मेरी आँखें हैं, अग्नि मेरी जाठराग्नि है, जल मेरे शरीरके रस हैं, नदियाँ नसें हैं, वृक्ष रोम हैं, पर्वत हड्डियाँ हैं और ये प्राणी मेरे शरीरके कीटाणु हैं। स्थावर, जंगम सम्पूर्ण पदार्थ मेरे शरीरके अंदर हैं। जैसे जीवका एक छोटा-सा शरीर होता है, वैसे ही यह विश्व-ब्रह्माण्ड मेरा शरीर है। जैसे जीवके शरीरमें मन, बुद्धि आदि होते हैं, वैसे ही मेरे शरीरमें ब्रह्मा, विष्णु आदि हैं। मैं सबका संचालक हूँ। वे मेरे एकरूप हैं।

'मैं इस जगत्से परे हूँ, इसका यह अर्थ है कि जो लोग इस स्थूल जगत्में ही लगे हैं, जो मुझे नहीं जानते, मुझे भूले हुए हैं, उन्हें इस जगत्से परे रहनेवाले मुझतक पहुँचनेकी अभिलाषा हो। वे स्थूलमें ही न बँधे रहें। सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और उससे भी परे पहुँच सकें। मैं विषयोंसे और जगत्से परे हूँ, किंतु विषय और जगत् मुझसे परे नहीं हैं। मैं उनके भीतर ही नहीं हूँ, बाहर भी हूँ; परंतु वे मेरे बाहर नहीं हैं। मैं उनसे पृथक् हूँ, परंतु वे मुझसे पृथक् नहीं हैं। विषयोंकी दृष्टिसे द्वैत है, परंतु मेरी दृष्टिसे द्वैत नहीं है। वास्तवमें तो यह सब मेरा स्वरूप समझनेके लिये संकेतमात्र है। मैं अनिर्वचनीय हूँ। मैं अनिर्वचनीय हूँ।'

भगवान्ने बहुत-से उपदेश दिये। जैसे-जैसे पृथ्वी माता प्रश्न करती जाती थीं, वैसे-वैसे भगवान् उत्तर देते जाते थे। वे प्रश्नोत्तर ही वाराह-महापुराणके नामसे प्रसिद्ध हैं।

जब बहुत दिन बीत गये, तब शंकर आदिने भगवान्से लीला-संवरणके लिये प्रार्थना की। भगवान्ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके विलक्षण ढंगसे अपना शरीर परित्याग किया, जिसके अवयवोंसे सम्पूर्ण यज्ञोंकी सृष्टि हुई है। आज भी वाराह भगवान् यज्ञोंके रूपमें पृथ्वीपर ही स्थित हैं।

विभिन्न अवतारोंकी उपासना-पद्धतिकी भाँति भगवान् वाराहकी भी एक उपासना-पद्धति है। इनके मन्त्रका जप, इनकी मूर्तिका ध्यान करके साधक अपना अभीष्ट लाभ करता है। इनके बहुत-से मन्त्र हैं, जिनमें यहाँ केवल एक मन्त्रकी चर्चा की जाती है। वह है—'ॐ भूः वराहाय नमः।' इस षडक्षर मन्त्रके ऋषि ब्रह्मा हैं, छन्द जगती है और वराह देवता हैं। अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये इसका विनियोग किया जाता है। इनके ध्यानका वर्णन इस प्रकार आता है—

कृष्णाङ्गं नीलवस्त्रं च मलिनं पद्मसंस्थितम्।
पृथ्वीशक्तियुतं ध्यायेच्छङ्खचक्राम्बुजं गदाम्॥

'भगवान् वाराहका शरीर श्यामवर्णका है, वे नीले रंगका वस्त्र धारण किये हुए हैं, उनके शरीरमें कीचड़ लग रहा है, पृथ्वी देवतासे युक्त हैं, चारों हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म हैं और वे अपार जलराशिमें एक पद्मपर खड़े हैं।' जो साधक भगवान् वाराहका इस प्रकार ध्यान करके विधिपूर्वक मन्त्रोंका जप करता है, उसकी सारी अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं।

बोलो श्रीवाराह भगवान्की जय!

श्रीनृसिंहावतार-कथा

(१)

जहाँ भगवान्की संनिधि है, सभी वस्तुएँ भगवान्की हैं और हम स्वयं भगवान्के हैं, वहाँ सुख-ही-सुख है। वहाँ दुःखकी पहुँच हो ही नहीं सकती। परंतु जहाँ अभिमान है, यह मैं हूँ, यह मेरा है—इस प्रकारकी मोह-ममताका साम्राज्य है, वहाँ दुःख-ही-दुःख है। दुःखका कारण अत्यन्त स्थूल है। स्थूल जगत्से सम्बन्ध होनेके कारण ही यह सूक्ष्म जगत्तक पहुँचता है। शरीर और शरीरके सम्बन्धी व्यक्तियों अथवा पदार्थोंसे अहंता-ममताका भाव ही दुःखजनक है। यदि इनसे सम्बन्ध छोड़ दिया जाय, इनके रहते हुए तथा इनके साथ व्यवहार करते हुए भी अहंता-ममताका सम्बन्ध भगवान्के साथ ही रक्खा जाय तो दुःख नहीं हो सकता और इनसे व्यवहार न करके भी, इनसे अलग रहकर भी तथा इनके नष्ट हो जानेपर भी यदि इनके साथ सम्बन्धका

भाव बना रहा तो ये महान् कष्ट देनेवाले बन जाते हैं ।

शरीरके साथ सम्बन्ध ही अर्थात् यह मैं हूँ, यह मेरा है--इस प्रकारका भाव ही साधारण जीवोंकी प्रधान दुर्बलता है । इसीसे जब कभी शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंका विच्छेद होता है, तब उन्हें बड़ा कष्ट होता है ।

यह बात उस समयकी है, जब वाराह भगवान्ने हिरण्याक्षका वध कर डाला था । उसकी माता दिति, उसकी पत्नी भानुमती, उसके भाई हिरण्यकशिपु और समस्त परिवार बड़ा दुःखी था । चारों ओर कुहराम मचा हुआ था । कोई शोकसे पागल होकर रो-पीट रहा था, किसीकी घिग्घी बँधी हुई थी । उसकी पत्नी भानुमती तो सती होनेके लिये चिताके पास जानेको उद्यत थी । दिति किंकर्तव्यविमूढ़ थी । एक ओर माताका वात्सल्यपूर्ण हृदय पुत्र-शोकमें व्याकुल हो रहा था, दूसरी ओर अधिक व्याकुलता प्रकट करनेसे बहूके सती हो जानेका भय था, उसको समझानेमें अड़चन पड़ती थी ।

हिरण्यकशिपुके हृदयमें द्वेष और क्रोधकी आग धधक उठी थी । उसने सबको रोक दिया । उसने कहा--'मेरे वीर भाईकी अन्त्येष्टि क्रिया साधारण लोगोंकी भाँति नहीं होगी । सम्पूर्ण देवताओंको स्वर्गसे मार भगानेके पश्चात् वीर पुरुषोंको जैसा कर्म करना चाहिये, वैसा ही किया जायगा ।' उसने दैत्योंको सम्बोधन करके कहा--'वीर दैत्यो ! शत्रुओंने अवसर पाकर विष्णुकी सहायतासे हमें नीचा दिखाया है, हमारे भाईको मार डाला है । देर मत करो । अभी धावा बोल दो । मैं अपने भाईके हत्यारेको मारकर शत्रुके खूनसे उसका तर्पण करूँगा । यदि मेरे भाईका हत्यारा मार डाला जाय तो सभी देवताओंको मरा हुआ ही समझो, परंतु वह तो छिपा रहता है । उसका मिलना कठिन है; किंतु उसको मारनेका एक उपाय है । तुमलोग पृथ्वीमें जाकर द्विजातियोंकी तपस्या, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत और दानको नष्ट कर दो । जहाँ-जहाँ ब्राह्मण, गौ, वेद, वर्णाश्रम आदि हों, वहाँ-वहाँ आग लगा दो, उन देशोंको नष्ट-भ्रष्ट कर दो; क्योंकि इन्हींके आधारपर देवताओं और मेरे उस मायावी शत्रुका जीवन है । इनके नष्ट हो जानेपर वे स्वयं नष्ट हो जायँगे ।'

अपने स्वामी हिरण्यकशिपुकी आज्ञा पाकर झुंड-के-झुंड दैत्य पृथ्वीपर आकर उत्पात मचाने लगे, देवताओंने स्वर्ग छोड़ दिया, सर्वत्र असुर-भावका बोलबाला हो गया, हिरण्यकशिपुने अपने भाईकी अन्त्येष्टि क्रिया की । अबतक माताने समझा-बुझाकर इस बातपर भानुमतीको तैयार कर लिया था कि वह अपने शत्रुओं और उनके अनुयायियोंकी दुर्दशा देखनेके लिये जीवित रहे, परंतु अभी दिति और भानुमती दोनोंका ही शोक मिटा नहीं था । वे दोनों विषादमें ही अपना समय व्यतीत करती थीं ।

हिरण्यकशिपुने उन्हें समझाया और खूब समझाया । आसुरभावके लोग ऐसे ही अवसरोंपर वेदान्तका उपयोग किया करते हैं । उनका अपना जीवन तो घोर भौतिकतासे सना हुआ होता है, परंतु दूसरोंके लिये वे अपनी विद्या-बुद्धिका बहुत अधिक उपयोग करते हैं । हिरण्यकशिपुने कहा--'माँ और बहू ! मेरे वीर भाईके लिये इतना शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है । बड़े-बड़े वीर जैसी अवस्थामें मरनेकी कामना किया करते हैं, वैसी ही मृत्यु उन्हें प्राप्त हुई है । यह शरीर अनित्य है, किसीका कोई साथी नहीं है । जैसे चौराहेके पौंसरेपर चारों ओरसे लोग आकर इकट्ठे हो जाते हैं, घड़ी-दो-घड़ी बात-चीतकर ली, फिर अपना रास्ता ले लेते हैं, वैसे ही अपने कर्मोंके अनुसार लोग कुछ दिनों-तक पिता-पुत्र-पति आदिके रूपमें रह लेते हैं और समय आनेपर चले जाते हैं । जैसे पानीकी चञ्चलतासे उसमें पड़ी हुई वृक्षकी छाया भी चञ्चल मालूम होती है, जैसे आँखोंकी चञ्चलतासे सारी दुनिया चञ्चल दीखती है; वैसे ही शरीरकी चञ्चलतासे आत्मा भी चञ्चल-सी जान पड़ती है । मनके सुख-दुःख व्यर्थ ही आत्मापर डाल दिये जाते हैं और इसीसे लोगोंको शोक-मोहके पंजेमें आना पड़ता है । वास्तवमें आत्मा शुद्ध है, जन्म-मरणसे रहित है ।

हिरण्यकशिपुने समझानेके सिलसिलेमें एक दृष्टान्त देते हुए कहा--''माँ ! थोड़े दिनोंकी बात है, उशीनर देशमें सुयज्ञ नामका एक बड़ा यशस्वी राजा था, युद्धमें शत्रुओंके हाथों उसकी मौत हो गयी, उसके भाई-बन्धु उसे घेरकर खड़े हो गये, कलका राजा आज जमीनमें पड़ा हुआ है, उसका शरीर खूनसे लथपथ है, बाल बिखरे हुए हैं, आँखें उलट गयी हैं, दाँतोंसे ओंठ दबा हुआ है, हाथ कट गये हैं, उसकी स्त्रियाँ, उसकी माताएँ छाती पीट-पीटकर 'हा नाथ !', 'हा बेटा !' कहती हुई रो रही हैं । उनके विलाप और विषादकी सीमा नहीं है । वे कह रही थीं--'ब्रह्मा तुम बड़े निठुर हो । हमारे प्राणप्रिय स्वामीको इस हालतमें पहुँचा दिया । हमारा बेटा आज जमीनपर पड़ा हुआ है । राजन् ! तुम तो हमसे बड़ा प्रेम करते थे, आज एकाएक छोड़कर कहाँ चले गये ? आओ,

हमसे बोलो, अपने हाथोंसे हमारे आँसू पोंछो।'

"सूर्यास्त हो गया, परंतु वे सब सुयज्ञके शवके पास छाती पीट-पीटकर रोते ही रहे। अब यमराजसे नहीं देखा गया, वे एक पाँच वर्षके बालकका वेष धारण करके उनके पास आये। उन्होंने कहा—'अरे! तुमलोगोंकी अवस्था तो बहुत बड़ी है, परंतु तुम्हारी बुद्धि मुझ बालक-जितनी भी नहीं है। रोज-रोज देखते हो, सभी तो मर रहे हैं, अमर कौन है! फिर इतना रोने-धोनेकी क्या जरूरत है? देखो, मैं नन्हा-सा बालक हूँ, मेरे माँ-बापने इस घोर जंगलमें मुझे छोड़ दिया है। शेर, भेड़िया आदि मेरी ओर देखतक नहीं सकते, क्योंकि जो गर्भमें रक्षा करता है, वह इस समय भी रक्षा करनेके लिये मौजूद है! भाई! तुमलोग क्यों इतना रोते हो! हम सब तो किसीके खिलौने हैं। जब मौज होती है, बना देता है और चाहे जब बिगाड़कर सब बराबर कर देता है। अपने कर्मके अनुसार सभी चक्कर काट रहे हैं, इन्हें कोई रोक नहीं सकता। जो होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। देखो, अभी कलकी बात है, मैंने अपनी आँखों देखा था, चिड़ियोंकी एक जोड़ी बड़े सुन्दर पेड़पर घोंसला बनाकर रहती थी। उनमें आपसमें बड़ा प्रेम था। मस्तीके साथ चरते-चुगते थे। एक बहेलिया आया। उसने अपना जाल फैला दिया। उस समय पति था नहीं, पत्नी लालचमें पड़कर जालमें फँस गयी। जब पति आया और अपनी पत्नी-को जालमें पड़ी देखा तो शोकाकुल होकर रोने लगा। तब-तक बहेलियेने उसे भी अपने काबूमें कर लिया।'

"उस बालकने अपनी ओर उन रोनेवालोंको आकर्षित करते हुए कहा—'हम सब कालके जालमें फँसे ही हुए हैं। न जाने कब हमें चबा जायगा। अपनी-अपनी चिन्ता करें। हम मरनेके पहिले सावधान हो जायँ। चलो, क्रिया-कर्म करो। अब शोक करनेका समय नहीं है।'"

हिरण्यकशिपुने अपनी माँ दिति और बहू भानुमतीको सम्बोधित करते हुए कहा—'उस बालककी बात सुनकर सब लोगोंने शोक छोड़ दिया और वे क्रिया-कर्ममें लग गये। इस जगत्की यही गति है। जो हो गया, सो हो गया। अब शोक करनेसे मेरा भाई लौट नहीं सकता।'

हिरण्यकशिपुकी बात सुनकर उन्हें कुछ ढाढ़स हुआ। वे घरके काम-काजमें कुछ-कुछ योग देने लगीं। कहते हैं कि भानुमतीने किसी वैष्णवका कटा हुआ सिर देखे बिना भोजन नहीं करती थी और क्रूर दैत्य हिरण्यकशिपुने इसका प्रबन्ध कर रक्खा था। राज्य तो उसका हो ही गया था, सब दैत्य उसकी आज्ञा भी मानते थे, उसके सामने कोई पड़ता भी न था; परंतु हिरण्यकशिपुके अन्तःकरणमें एक प्रकारका भय सर्वदा ही बना रहता था। वह सोचता कि मेरा भाई तो मुझसे भी बलवान् था, जब विष्णुके हाथोंसे वह भी नहीं बच सका तो मेरा क्या ठिकाना? पता नहीं, वह कब आक्रमण कर दे! उसका चेहरा उदास रहता।

एक दिन हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधूने बड़ा हठ किया, तब कहीं उसने अपने मनकी बात बतायी। दोनोंमें सलाह हुई कि तपस्या करनी चाहिये। तपस्या करके ऐसी शक्ति प्राप्त की जाय कि त्रिलोकीका राज्य निष्कण्टक हो जाय और हम अमर हो जायँ। निश्चय होनेके बाद हिरण्यकशिपु तपस्या करनेके लिये चला गया। उन दिनों कयाधू गर्भवती थी।

किसी-किसी पुराणमें ऐसी कथा आती है कि जब हिरण्यकशिपु तपस्या करने लगा, तब इन्द्रकी प्रेरणासे दो ऋषि पक्षीका वेश धारण करके उसके पास आये और 'नमो नारायणाय'का उच्चारण करने लगे। दो-तीन बारतक सहन करनेके पश्चात् उसे क्रोध आ गया और वह धनुष-बाण उठाकर उन्हें मारने दौड़ा। वे तो मिले नहीं, परंतु तपस्यामें विघ्न पड़ गया। हिरण्यकशिपु लौटकर घर आया और अपनी पत्नीसे वह समाचार कह रहा था कि इतनेमें ही 'नारायण' मन्त्रका उच्चारण करते समय कयाधूको गर्भ रह गया। इसी मन्त्रके प्रभावसे प्रह्लाद-जैसे भक्त उसके गर्भमें आये।

पत्नीकी प्रेरणासे हिरण्यकशिपु पुनः तप करने चला गया।

(२)

ऐसा देखा जाता है कि इस मायाके झपेटेमें आकर बड़े-बड़े लोग भी चक्कर खाने लगते हैं। पहले चाहे जितने धैर्यशाली बनते रहे हों, विपत्तिकी चोट उन्हें विचलित कर देती है। सम्मान पाते-पाते आदत इतनी बिगड़ जाती है कि अपमान होते ही, वे अपनेको काबूमें नहीं रख पाते। शत्रुताका चिन्तन करते-करते वे उसके प्रवाहमें इतने बह जाते हैं कि अपनेको सम्हाल नहीं पाते। उनके धैर्यका बाँध टूट जाता है। उनके काम पशुओं-जैसे होने लगते हैं। यह दैवी सम्पत्तिका लक्षण नहीं है। दैवी सम्पत्तिका अर्थ है, अखण्ड धैर्य! परंतु भगवान् अपने जनोंकी रक्षा करते आये हैं, करते हैं और करेंगे।

हिरण्यकशिपुके तपस्या करनेके लिये चले जानेपर

देवताओंको अवसर मिला। प्रतिहिंसाके भावसे उनकी दैवी सम्पत्तिपर पर्दा पड़ गया था। उन्होंने दैत्योंसे कम नोंच-खसोट नहीं की। जहाँ कामना है, वहाँ यही होता है। प्रसिद्ध है कि 'काम क्रोधका पिता है और क्रोध जीवको अन्धा बना देता है।' देवताओंमें स्वर्गके सुखोंके भोगकी कामना है, उसमें अड़चन पड़नेपर उन्हें क्रोध आना ही चाहिये और क्रोध आनेपर वे कोई कुकृत्य कर डालें तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है! इसीसे सकाम पुरुषमें दैवी सम्पत्तिकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं होती, वह तो उसीमें होती है, जो निष्काम भावसे भगवद्भजन करता है।

क्रोधके आवेशमें आकर देवताओंने एक-एक दैत्यकी खबर ली। माथेपर कोई था नहीं, वे लड़ते भी तो किसके भरोसे? बिना गड़रियेकी भेड़ोंकी तरह वे सब तितर-बितर हो गये। दैत्योंके भग जानेपर उन्होंने स्त्रियोंपर आक्रमण किया। हिरण्यकशिपुकी स्त्री कयाधू भी उनकी दृष्टिसे नहीं बच सकी। वह उस समय गर्भवती थी। देवताओंके मनमें यह बात बैठी हुई थी कि अब दैत्योंको निर्बीज कर दिया जाय। अतएव बालक होनेपर उसे मार डालनेके लिये वे कयाधूको स्वर्गकी ओर ले चले। कयाधूके रोने-गिड़गिड़ानेपर उन लोगोंने तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

भगवान्‌के भक्त बड़े दयालु होते हैं। चाहे कोई भी हो, कैसा भी हो, वे किसीको दुखी देख ही नहीं सकते। उनका हृदय पिघलकर पानी हो जाता है। वे उसकी रक्षाके लिये दौड़ पड़ते हैं। कयाधूके हरणकी बात देवर्षि नारदको मालूम हो गयी। यद्यपि वे उस समय अपनी वीणा बजाते हुए भगवान्‌के सुमधुर नामोंके संकीर्तनमें मस्त थे, तथापि एक दुखी जीवको संकटसे मुक्त करनेके लिये वे दौड़ पड़े। भजन और दुखियोंकी उपेक्षा ये दोनों बातें इकट्ठी नहीं रह सकतीं। जो संकटमें पड़कर कराहते हुए दुखियोंको टुकुर-टुकुर देखता रहता है, वह कभी भक्त हो ही नहीं सकता। नारद दौड़ पड़े। उनकी वीणा आश्रममें ही लुढ़कती रह गयी। उन्होंने डाँटते हुए देवताओंसे कहा—'देवताओ! आज तुम्हारी बुद्धिमें क्या हो गया है? तुम्हारा देवत्व कहाँ हवा खाने चला गया है? तुम्हारी दैवी सम्पत्ति क्या लुप्त हो गयी है? वे दैत्य थे, उन्होंने जो कुछ किया, अपने स्वभावके अनुसार किया। परंतु तुमलोग वैसा क्यों कर रहे हो? क्या तुमलोग भी दैत्य बन गये? यह तुम्हें शोभा नहीं देता। कोई चोरी करे तो क्या साहूकारको भी उसके घरमें चोरी करके बदला लेना चाहिये? यह सर्वथा अनुचित है। माना कि उन्होंने तुम्हारे साथ क्रूरता की, परंतु तुम्हें तो वैसा नहीं करना चाहिये। तुम कामसे, क्रोधसे अंधे क्यों हो रहे हो?'

नारदकी फटकार सुनकर देवताओंका होश कुछ ठिकाने आया। वे देवर्षिके प्रभावसे अनभिज्ञ नहीं थे और वास्तवमें तो देवर्षिके दर्शन, वार्तालाप और सांनिध्यसे ही देवताओंके मनमें परिवर्तन हो गया था। सत्सङ्गका प्रभाव ऐसा होता ही है। जब देवताओंने आँखें नीची कर लीं, उनसे कुछ बोला न गया, नये अपराधीकी यह दशा होती ही है; तब नारदने पुनः कहा—'अच्छा, जो हो गया, अच्छा ही हुआ। भगवान्‌की ऐसी ही इच्छा थी। इसके लिये अब विषाद करनेकी जरूरत नहीं है। इस कयाधूको तुमलोग छोड़ दो। तुम्हें पता नहीं, इसके गर्भमें परम भागवत भक्तरत्न प्रह्लाद हैं। यदि कयाधूको किसी प्रकारका कष्ट हुआ तो अनर्थ हो जायगा। भगवान् सब कुछ सह लेते हैं, परंतु अपने भक्तका अपमान नहीं सह सकते। इससे तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम्हारा कल्याण होगा।'

नारदकी बात सुनकर देवताओंने प्रसन्नताके साथ कयाधूको छोड़ दिया। वे भगवान्‌का परम अनुग्रह मानते हुए स्वर्गमें चले गये। उन्होंने सोचा कि आज भगवान्‌ने कितनी कृपा की है कि नारदको भेजकर हमारे अंदर बढ़ते हुए आसुर भावको दबा दिया है! यदि वे ऐसा न करते तो आज एक भक्तका अपमान हो जाता और हम फिर भगवान्‌के सामने जाने लायक नहीं रहते! आज हमारी मनोवृत्तियाँ कैसी हो गयी थीं! दैत्योंकी शत्रुताका चिन्तन करते-करते हमलोग भी दैत्यभावसे पूर्ण हो गये थे। भगवान्‌ने कृपा करके हमें बचा लिया। वे भगवान्‌की कृपाका स्मरण करके तन्मय हो गये। आखिर देवता ही थे न!

उधर देवर्षि नारदने कयाधूको ले जाकर एक सुन्दर आश्रममें ठहरा दिया। वह वहाँके पवित्र वायुमण्डलमें रहकर अपना समय प्रसन्नतापूर्वक बिताने लगी। जंगलके हरे-भरे वृक्ष, उनके सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंको देखनेमें उसका मन खूब लगता था। नदीके किनारे बैठकर उसकी हर-हर ध्वनि सुननेमें और तरंगोंको गिननेमें वह तन्मय हो जाती थी। पवित्र वायु, पवित्र जल, पवित्र आश्रम और पवित्र व्यक्तियोंके संसर्गसे उसके मनमें भी पवित्रताका संचार हो गया। वह सत्सङ्गके अवसरपर मुनियोंकी बात बड़े ध्यानसे सुनती

थी। देवर्षि नारद प्रायः आ-आकर उसे उपदेश दे जाया करते थे।

एक दिन देवर्षि नारदने कहा—'बेटी ! तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध है। तुम्हारे हृदयमें भगवद्भक्त है। भगवान्की लीला सुननेमें तुम्हारा मन लगता है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। तुम अपने गर्भस्थ बालककी चिन्ता मत करो। वह भगवान्का अपना पार्षद है। उसे कोई कष्ट नहीं हो सकता। जब तुम चाहोगी तभी उसका जन्म होगा। भगवान्की कृपासे तुम्हें इच्छाप्रसवकी शक्ति होगी।

'बेटी ! संसारमें चिन्ता करनेकी तो कोई बात ही नहीं। हम सब परम पिता परमात्मासे सम्बद्ध हैं। उनके अंश हैं और इतना ही नहीं, वास्तवमें हम उनके स्वरूप हैं। जन्म-मरण, संयोग-वियोग आदि शरीरके ही होते हैं, जिनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। सारे दुःख-शोक इस शरीरसे सम्बन्ध मान लेनेके कारण ही हैं। अपने वास्तविक स्वरूपका विचार करके इन झूठे सम्बन्धोंको छोड़ देना चाहिये। ये सम्बन्ध ही झूठे हों, केवल इतनी ही बात नहीं है, बल्कि जिन पदार्थोंसे सम्बन्ध है, वे भी झूठे हैं। ज्ञानदृष्टिसे इस बातको जानकर इनके हानि-लाभ, सत्यता-असत्यता आदिका विचार न करके परमात्माके ही चिन्तनमें मग्न रहना चाहिये।

'यों तो भगवान्को प्राप्त करनेके बहुत-से उपाय हैं और सब अच्छे हैं परंतु यह उपाय स्वयं भगवान्ने बनाया है। कि 'जिन साधनोंसे मुझ आत्म-स्वरूप भगवान्में प्रेम हो, वही सर्वोत्तम उपाय है।' गुरुजनोंकी सेवा, दुखी प्राणियोंपर दया, जो कुछ अपने पास हो उसका भगवान्के चरणोंमें समर्पण, सत्सङ्गति, भगवद्विग्रहकी पूजा, उनकी कथामें श्रद्धा, उनके गुण-कर्मोंका कीर्तन, उनके चरणकमलोंका ध्यान और उनकी स्मृति दिलानेवाले तीर्थ-स्थान, मन्दिर आदिके दर्शनसे उनके चरणोंमें अनन्य प्रेम प्राप्त होता है।'

नारदने कयाधूको सम्बोधन करते हुए फिर कहा—'बेटी ! इस जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्रेम प्राप्त करना है। जब उनकी मधुर लीला, दिव्य नाम और अनिर्वचनीय स्वरूपके वर्णनको सुनकर इतना आनन्द होता है कि शरीरकी सुधि नहीं रहती, रोमाञ्च हो आता है, आँखोंसे आँसू बहने लगते हैं और सुननेवाला मस्त होकर जोर-जोरसे रोने, गाने, चिल्लाने तथा नाचने लगता है। मानो उसे किसी भूतने ही पकड़ लिया हो ! वह कभी हँसता है, कभी चिल्लाता है, कभी ध्यान करने लगता है तो कभी लोगोंको दण्डवत् नमस्कार करने लगता है। बारम्बार श्वास-श्वासपर नारायण, गोविन्द, माधव, मुकुन्द कहकर मस्त हो जाता है, उसे किसीकी लज्जा-शर्म नहीं रहती। जैसे पिघला हुआ लाह जैसे साँचेमें डाल दिया जाय, वैसा ही हो जाता है। वैसे ही पिघला हुआ हृदय भी भगवान्के पास जाकर भगवान्-सा ही बन जाता है। जन्म-जन्मके उसके संस्कार नष्ट हो जाते हैं, बन्धन कट जाता है, आवागमनकी समाप्ति हो जाती है, मोक्ष प्राप्त हो जाता है और भगवान् मिल जाते हैं। इसलिये एकमात्र उन्हींका भजन करना हमारा कर्तव्य है।

'बेटी ! भगवान्की आराधनामें कोई कष्ट भी तो नहीं उठाना पड़ता ! उन्हें ढूँढ़नेके लिये कहीं जाना भी तो नहीं पड़ता। वे हमारे हृदयमें ही आकाशकी भाँति आत्माके रूपमें विराज रहे हैं। ये लौकिक और पारलौकिक वस्तुएँ उनके सामने कुछ नहीं हैं, तुच्छ हैं। आज हैं, कल नहीं रहेंगी। इनकी चिन्ता छोड़कर उन्हींका भजन करना चाहिये। वे कितने दयालु हैं, वे नीची-ऊँची जात-पाँत नहीं देखते, ब्राह्मण, ऋषि, दैत्योंमें भेदभाव नहीं रखते, पण्डित, मूर्ख दोनों ही उनके लिये समान हैं। दान, तपस्या, यज्ञ, पवित्रता और व्रतोंकी उनके लिये अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, पशु, पक्षी सभी उनका भजन करके उन्हें प्राप्त कर चुके हैं, इसलिये तुम उन्हींका भजन करो, उन्हींकी शरणमें जाओ। यही स्वार्थ और यही परमार्थ है।'

नारदकी बातें सुनकर कयाधूके हृदयमें भक्तिभाव जाग्रत् हो गया और वह उन्हीं बातोंका स्मरण-चिन्तन करती हुई तदनुसार आचरण करने लगी।

(३)

महात्माओंके और उनके बतलाये हुए मार्गपर चलनेवालोंके अतिरिक्त सभी साधारण जीव कामनाके चलाये हुए चल रहे हैं। उनका स्वामी काम है, वे कामकी पूर्तिके लिये ही सारी चेष्टा करते हैं और यहाँ तक कि उनका जीवन, उनकी आत्मा काममय हो जाती है। वे कल्पना भी नहीं कर सकते कि कामरहित जीवन भी होता होगा; परंतु यह काम भी ऐसा है कि कभी पूरा नहीं होता। आगमें जितना घी डालिये, वह बढ़ती ही जायगी।

दैत्यराज हिरण्यकशिपुको किस बातकी कमी थी ! बल-पौरुष था, आज्ञाकारिणी सेना थी, पत्नी-पुत्र थे और था त्रिलोकीपर एकच्छत्र शासन ! परंतु इतनेसे उसकी कामना

तृप्त न हुई। उसने सोचा कि विष्णु भगवान्‌की सहायतासे इन्द्र आक्रमण कर दे तो सम्भव है अपने भाईकी भाँति मुझे भी मौतका शिकार होना पड़े! बस, अब क्या था, मौतसे बचनेकी कामना हुई और वह घोर तपस्यामें लग गया। उसकी कामनाका रूप था कि 'मुझे कोई जीत न सके, मैं अजर-अमर हो जाऊँ, मेरा कोई शत्रु न हो और एकमात्र मेरा ही राज्य हो।'

मन्दराचलकी गहन गुफामें पैरकी एक अंगुलीपर खड़ा होकर, दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर, अपलक नयनोंसे ऊपर-की ओर देखता हुआ, हिरण्यकशिपु अत्यन्त दारुण तपस्या करने लगा। उसके सिरपर बड़ी-बड़ी जटाएँ हो गयीं। इसी हालतमें न जाने कितना समय व्यतीत हो गया। दाना-पानी-की तो बात ही क्या, वह शरीरतक नहीं हिलाता था। उसकी तपस्या अग्निका रूप धारण करके उसके सिरसे निकलने लगी और उसके धूएँ तथा तापसे तीनों लोक व्यथित होने लगे। समुद्र क्षुब्ध हो गया, नदियाँ करार तोड़कर गाँवोंको डुबाने लगीं, पृथ्वी काँपने लगी, ग्रह-ताराएँ टूट-टूटकर आकाशसे गिरने लगीं, दसों दिशाएँ जल उठीं और देवता भयभीत हो गये।

देवताओंने सर्वसम्मतिसे निश्चय किया कि 'अब ब्रह्माके पास चलना चाहिये।' तदनुसार ब्रह्माके पास जाकर सबने निवेदन किया—'लोकपितामह! हिरण्यकशिपुकी तपस्याकी ज्वालासे स्वर्ग झुलस रहा है। हमलोगोंमें इतनी शक्ति नहीं है कि वहाँ शान्तिसे रह सकें। जब तक उसकी तपस्याकी अग्निसे तीनों लोक जलकर भस्म नहीं हो जाते, तभी तक भगवन्! उसकी शान्तिका उपाय हो जाना चाहिये। आप तो जानते ही हैं कि उसका संकल्प बड़ा भयंकर है। उसने संकल्प किया है कि तपस्याके बलसे ही तो ब्रह्मा ब्रह्मा बने हुए हैं! मैं भी तपस्याके बलपर अपनेको वैसा ही बनाऊँगा। नहीं तो, एक ऐसी सृष्टिका निर्माण करूँगा, जैसी कभी नहीं हुई थी। वह वैकुण्ठसे भी उत्तम लोक निर्माण करनेकी चेष्टा-में है। आप लोगोंके कल्याणके लिये शीघ्र ही कुछ-न-कुछ उपाय कीजिये।'

देवताओंकी प्रार्थना सुनकर ब्रह्माने कहा—'तुमलोग घबराओ मत! जो होगा, अच्छा ही होगा। प्रत्येक विधानमें भगवान्‌का मङ्गलमय हाथ रहता ही है।'

ब्रह्माका आश्वासन सुनकर देवताओंको कुछ संतोष हुआ और वे अपने-अपने धामको चले गये। इधर ब्रह्मा भी भृगु, दक्ष आदिके साथ हिरण्यकशिपुके पास पधारे। उन्होंने देखा कि हिरण्यकशिपुका शरीर लापता है। खर-पात, दीमककी मिट्टी और बाँसके झुरमुटोंसे वह छिप गया है। शरीरमें चींटियाँ लग रही हैं। जैसे बादलसे ढके हुए सूर्यकी किरणें चमकती हैं, वैसे ही उसके शरीरसे अद्भुत ज्योति निकल रही है। उसकी यह दशा देखकर ब्रह्माने हँसते हुए कहा—'कश्यप-नन्दन! उठो, उठो! तुम्हारी तपस्या पूर्ण हो गयी। बेटा! देखो, आँखें खोलो, मैं तुम्हें वर देनेके लिये तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो मुझसे माँग लो। मैंने तुम्हारे हृदयका बल देखा। तुम्हारी शक्तिकी परीक्षा कर ली। कितनी आश्चर्यजनक बात है कि तुम्हारा शरीर डँस-मस खा गये और तुम्हारे प्राण हड्डियोंमें रह रहे हैं। ऐसी तपस्या पहले किसीने नहीं की थी और न तो आगे करनेकी सम्भावना है। भला, किसमें इतना साहस और शक्ति है कि दिव्य सहस्र वर्षतक बिना जलके प्राणोंको धारण कर सके! तुम्हारे इस निश्चयसे, इस घोर तपस्यासे मैं तुम्हारे अधीन हो गया हूँ। मैं तुम्हारी सब अभिलाषाओंको पूर्ण करूँगा। मेरे दर्शन व्यर्थ नहीं जाते।'

ब्रह्माकी बात समाप्त हो जानेपर भी हिरण्यकशिपु न तो उठा और न बोला। उसमें शक्ति ही नहीं थी। ब्रह्माने मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके अपने कमण्डलुका जल उसपर छिड़का। देखते-ही-देखते उसका शरीर सर्वाङ्गसुन्दर एवं वज्रकी भाँति कठोर हो गया। वह अपूर्व शक्तिसम्पन्न होकर उठ खड़ा हुआ। अपने सामने ही ब्रह्माको देखकर उसके शरीरमें रोमाञ्च हो आया, हृदय आनन्दसे भर गया। चरणोंमें साष्टांग दण्डवत् करनेके बाद उसने प्रार्थना की—'भगवन्! आप ही इस सृष्टिको बनानेवाले हैं। आप ही इस सृष्टिके धाता-विधाता हैं। सारे व्यवहार आपकी ही कृपासे चलते हैं। आपने ही अव्यक्तको व्यक्त किया है। सम्पूर्ण सृष्टिके प्रभु आप ही हैं। आपसे परे और कुछ नहीं है। यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो कृपया पहले मुझे अमर बना दें।'

ब्रह्माने कहा—'बेटा! मैं अमर बनानेकी शक्ति नहीं रखता। इस जगत्‌का यह नियम है कि जो जनमता है, उसे मरना पड़ता है। सारे देवता और कहनेके लिये मैं भी अमर हूँ। परंतु यह केवल कहनेकी बात है। हम केवल सौ वर्ष-तक जीते हैं। हमारा माप बड़ा होनेके कारण दूसरे लोग हमें अमर कहा करते हैं। परंतु मृत्यु तो हमारी भी होती ही है। इसलिये कोई दूसरा वर माँगो।'

हिरण्यकशिपुने कहा—'अच्छा, यदि आप अमर नहीं कर सकते तो मुझे यही वर दीजिये कि आपकी बनायी हुई सृष्टिका कोई व्यक्ति मुझे मार न सके। बाहर या भीतर, दिन या रातमें मेरी मौत न हो। आकाश या भूमिमें, मनुष्य, पशु, देवता, दैत्य, सर्प, प्राणी, अप्राणी अथवा किसी शस्त्रसे मेरी मृत्यु न हो। युद्धमें मेरे सामने कोई ठहर न सके। सम्पूर्ण सृष्टिपर मेरा एकाधिपत्य हो और मेरा महत्त्व किसीसे कम न हो।'

ब्रह्मा उसकी तपस्यासे प्रसन्न थे और यह बात भी थी कि उसे वर देनेके सिवा और कोई चारा भी न था। उसकी तपस्यासे तीनों लोक जल रहे थे, वर न देते तो उनकी क्या दशा होती, इसका कुछ-कुछ अनुमान किया जा सकता है। अन्ततः भगवान्‌के विधानकी मङ्गलमयतापर विश्वास रखते हुए ब्रह्माने कहा—'दितिनन्दन! यद्यपि तुम्हारे माँगे हुए वर दुर्लभ हैं, तथापि तुम्हारी घोर तपस्यासे प्रसन्न होकर मैं उन्हें दिये देता हूँ। तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो।'

हिरण्यकशिपुने विधिपूर्वक ब्रह्माकी पूजा की और स्तुति की। ब्रह्मा अपने मानस पुत्रोंके साथ ब्रह्मलोकको गये। हिरण्यकशिपुने अपनी राजधानी हिरण्यपुरीकी यात्रा की। उसे देवताओंने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। केवल कुछ खँडहर बचे हुए थे। उसके आनेपर समस्त दैत्य-दानव, उसके मन्त्री, पुत्र आदि सब इकट्ठे हुए। राजधानीका पुनः निर्माण हुआ। शस्त्रास्त्र एकत्रित हुए। देवताओंके अत्याचार देख-सुनकर हिरण्यकशिपु जल-भुन गया। उसकी आँखें लाल-लाल हो गयीं, चेहरा तमतमा उठा। उनसे बदला लेनेके भावसे उसने स्वर्गपर चढ़ाई कर दी। देवताओंको स्वर्गसे मार भगाया, लोकपाल-दिक्पालोंको अपने वशमें कर लिया, त्रिलोकी उसके वशमें हो गयी। ऐसा कोई नहीं था, जो उसके सामने युद्धमें ठहर सके। उसने अपनी राजधानी स्वर्गमें बनायी। वह इन्द्रके महलमें रहता, नन्दनवनका उपभोग करता और देवतालोगोंसे अपनी सेवा कराता। गन्धर्व, विद्याधर उसकी स्तुति करते, अप्सराएँ नाचकर उसे रिझातीं, विश्वावसु, तुम्बुरु आदि उसे गाना सुनाते और संसारमें जो यज्ञ होते, उनका भाग वह स्वयं लेता। पृथ्वी डरकर बिना जोते-बोये अन्न पैदा कर देती, समुद्र रत्न दे देते, छहों ऋतुएँ एक ही साथ उसे प्रसन्न करती रहतीं। सभी लताएँ, वृक्ष आदि बारहों मास फलते-फूलते। कहनेका तात्पर्य यह कि चर-अचर सम्पूर्ण जगत्‌पर उसका एकाधिपत्य था।

उसके इच्छानुसार न जलनेपर अग्निको दण्ड भोगना पड़ता, उसके आज्ञानुसार न तपनेपर सूर्यको बंदी होना पड़ता और उसके प्रसन्नतानुसार पंखा न झलनेपर वायु देवतापर फटकार पड़ती। पद्मरागके आसन, दूधके फेनकी भाँति शय्या, स्फटिककी भीत, वैदूर्यके खम्भे और सर्वाश्चर्यमय वितान तने थे। वह संसारके सर्वोत्कृष्ट भोगोंको भोगता था। उसकी इच्छा पूर्ण होनेमें कोई रुकावट नहीं थी।

उसे चिन्ता थी तो केवल एक यही कि कहीं विष्णु मिल जाय तो उसका कचूमर निकाल डालें। रात-दिन सोचा करता कि अब देखें वह कौन-सा कुचक्र रचता है! वेदोंका पाठ बंद कर दिया गया, ढूँढ़-ढूँढ़कर वैष्णवोंके सिर काटे जाने लगे। श्राद्ध, मूर्तिपूजा, अवतार आदिको माननेवाले फाँसीपर लटकाये जाने लगे। किसीके मुँहसे धोखेसे भी भगवान्‌का नाम निकल जाय तो उसकी जीभ निकलवायी जाने लगी। यदि कोई देवता कहीं चीं-चपड़ करते तो उन्हें कुत्तोंसे नुचवा लिया जाता। स्वतन्त्र विचारवालोंके ओठ सी दिये गये। सारे संसारमें हाहाकार मच गया!

देवताओंने विष्णु भगवान्‌की शरण ली। उन्हें उत्तर मिला कि 'अभी समयकी प्रतीक्षा करें। यह अभिमानमें फूला हुआ है। इसका लड़का ही इसकी बोलती बंद कर देगा। यह सबपर शासन करता है पर अपने लड़केका ही शासन न कर सकेगा। इसकी स्त्रीके गर्भमें मेरा परम भक्त प्रह्लाद है। उसकी पुकारपर मैं प्रकट होऊँगा और इसकी खबर लूँगा। तुमलोग घबराओ मत। मेरी लीला देखो, मेरी प्रतीक्षा करो।'

अबतक देवर्षि नारद कयाधूको हिरण्यकशिपुके पास पहुँचा गये थे।

(४)

संसार द्वन्द्वमय है। सुख-दुःख, राग-द्वेष, हानि-लाभ, जीवन-मरण, जय-पराजय, यश-अपयश यही सब इसके स्वरूप हैं। इसमें ऐसी एक भी वस्तु नहीं, जो आकर्षण-विकर्षणसे शून्य हो। इसका कुछ दूसरा अर्थ नहीं है। मेरी समझमें इसका सीधा अर्थ है—खींचा-तानी। एक ही वस्तु दो ओर खिंची जा रही है, कभी इधर चली जाती है, कभी उधर। वह स्थिर नहीं रह सकती। यह अस्थिरता ही संसारका स्वरूप है। रागके अंदर विराग, भोगके अंदर त्याग अथवा विरागके अंदर राग और त्यागके अंदर भोग दार्शनिक सत्य हैं। ऐसा होता आया है और ऐसा ही होता रहेगा।

एक ओर तो हिरण्यकशिपुके प्रबल प्रताप और शासनसे

भगवद्भक्तोंकी साँसत हो रही है, दूसरी ओर उसीकी राजधानीमें, उसीके महलमें और उसीकी अर्धाङ्गिनी कयाधूकी कोखमें एक परम भगवद्भक्त पनप रहा है। आज हिरण्यकशिपुके अत्याचारके सामने भगवद्भक्ति दबी हुई है तो एक दिन इसी गर्भस्थ बालकके प्रतापसे हिरण्यकशिपु और उसके अत्याचार भगवद्भक्तिके सामने दब जायँगे। अब वह समय दूर नहीं है।

उस दिन प्रकृतिने अपनेको सजाया था। भक्तोंके हृदय प्रसन्न थे, देवताओंके दाहिने अङ्ग फड़क रहे थे। पशु-पक्षी भी जान-बूझकर शुभ शकुनकी सूचना दे रहे थे। दैत्योंकी राजधानी हिरण्यपुरी कलश-तोरण आदिसे सजी हुई थी। घर-घर मङ्गल-बधावे बज रहे थे। स्त्रियाँ मङ्गलाचार कर रही थीं। सोहरकी ध्वनिसे राजमहल भी गूँज उठा था। देव-दानव, साधु-असाधु सभी प्रसन्न थे। ऐसा क्यों था, भक्तराज प्रह्लादने दैत्यराज हिरण्यकशिपुके घर जन्म ग्रहण किया है। वे सम हैं, उनके जन्मकी प्रसन्नता भी सम है।

कितना सुन्दर बालक था, लोग उसे देखते-देखते ही रह जाते थे। क्यों न हो, जो गर्भमें ही श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करता रहा हो, उसका इतना आकर्षक होना स्वाभाविक ही है। वह शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति बढ़ने लगा, उसका पुष्ट और कोमल शरीर, सुन्दर मुखाकृति, घुँघराले बाल और जन्मसे ही ओठोंको हिला-हिलाकर हँसते रहना, सबको बरबस विवश कर लेता था। वह कभी रोया नहीं, सबसे हँसता, सबकी गोदमें जाता और सबसे खेलता। धीरे-धीरे वह बैठने लगा, घुटनों चलने लगा और थोड़े ही दिनोंमें अपनी माँकी अंगुली पकड़कर टहलने लगा। जब पहले-पहल उसका मुँह खुला, तब भगवान्का नाम ही निकला। माता आश्चर्यचकित हो गयी। अब उसकी समझमें आया कि न बोलनेपर भी इसके ओठ क्यों हिला करते थे!

उस दिन नन्हेसे प्रह्लाद महलकी ही छोटी-सी बगीचीमें खेल रहे थे। खेल क्या रहे थे, अपनी तोतली आवाजसे भगवान्से कुछ कह रहे थे। वहाँ कोई न था, केवल कयाधू एक लताकुञ्जकी आड़से सब कुछ देख रही थी। प्रह्लाद कभी गम्भीर हो जाता, कभी हँसने लगता, कभी आँखोंसे आँसू निकलने लगते। कभी हाथ जोड़कर वह प्रार्थना करता, कभी जोर-जोरसे भगवान्के नाम लेने लगता, कभी कुछ बातचीत करता और कभी ध्यानमग्न हो जाता। घंटों बीत गये, न खाने-पीनेकी सुध, न माँकी याद और न सूनेपनकी चिंता!

माँका वात्सल्य स्नेह उमड़ पड़ा। दौड़कर उसने गोदमें उठा लिया और छातीसे सटाकर प्यार करने लगी। कयाधूने कहा—'बेटा! तुम क्या करते हो? तुम अपने पिताके शत्रुसे प्यार करते हो। तुम्हारे पिता सुनेंगे तो अप्रसन्न होंगे। बेटा! ऐसा मत किया करो।' प्रह्लादने कहा—'माँ! तू क्या कहती है! भला भगवान्से भी कोई शत्रुता कर सकता है? वे तो सबके हृदयमें रहते हैं। सबके अपने हैं। मेरे पिताजीको किसीने भुलवा दिया होगा। उन्होंने उन्हें देखा नहीं होगा। इसीसे नाराज होंगे। नहीं तो, भगवान् तो प्यार करनेकी वस्तु हैं, उनसे भला कोई शत्रुता काहेको करेगा?' माताने कहा—'बेटा! उन्होंने तुम्हारे चाचाको मार डाला है, इसीसे तुम्हारे पिता उनपर नाराज हैं। उन्हें मारनेके लिये ढूँढ़ते रहते हैं, उनके भक्तोंको सताते हैं और उनके सिर कटवा लेते हैं। बच्चा! तुम उनका नाम न लिया करो।' प्रह्लादने कहा—'नहीं अम्बा! वे बिना अपराधके किसीको दण्ड नहीं देते। दण्ड तो देते ही नहीं। मेरे चाचाजीको अपने पास ले गये होंगे, प्रेमसे रखते होंगे। वे बड़े प्रेमी हैं। मेरे पिताजी उन्हें मारनेके लिये ढूँढ़ा करते हैं। यह कैसी बात है? वे तो उनके हृदयमें भी रहते हैं। जब वे उन्हें मारनेके लिये ढूँढ़ते समय छटपटाते होंगे, तब मेरे प्यारे भगवान् उनके हृदयमें बैठे-बैठे ताली बजाकर हँसते होंगे। परंतु माताजी! अब तो मैं भक्तोंको नहीं सताने दूँगा, हठ करूँगा, पिताजीसे रोऊँगा, मचल पड़ूँगा। वे मेरे रहते-रहते भक्तोंको वैसे सतायेंगे?'

माँने देखा कि इस समय मना करनेसे बच्चेकी जिद बढ़ जायगी। वह पुचकारती हुई कुछ खिलानेके लिये ले चली। वह कह रही थी कि 'तू बड़ा पगला है, इतना दिन आ गया, अभी कुछ खाया-पीया नहीं। अभी तो खाने-पीनेकी उम्र है। खूब खा-पी, खेल-कूद।' प्रह्लाद माँके प्यारमें भगवान्का ही प्यार देखते और उनका स्मरण करते हुए प्रसाद समझकर कुछ खा-पी लेते।

मन्त्रियोंके, मुसाहिबोंके दूसरे बच्चे खेलनेके लिये बुलाने आते तो प्रह्लाद किसी तरह टरका देते। बहुत आग्रह करनेपर चलते भी तो हँसकर ऐसा मुँह बनाते कि वे इन्हें छोड़कर चले जाते। उनके स्वभावसे इनका स्वभाव भिन्न था। वे भी केवल इनके सौन्दर्य और महत्त्वकी दृष्टिसे ही इनके पास आते, नहीं तो अलग ही खेलते रहते, क्योंकि उन दैत्य-बालकोंको चींटी मारनेमें, पशु-पक्षियोंको सतानेमें, गरीबोंको पीस देनेमें आनन्द आता था और प्रह्लादके रहनेपर यह सब वे कर नहीं पाते थे। ऐसे अवसरोंपर उनकी जिद कोई टाल नहीं सकता था।

हिरण्यकशिपु भी प्रह्लादपर बड़ा स्नेह रखता था। यों तो प्रह्लादसे बड़े-बड़े पुत्र थे परंतु जब ये गर्भमें थे तब कयाधूको बड़ा कष्ट भोगना पड़ा था, इसलिये उसको प्रसन्न करनेकी दृष्टिसे तथा प्रह्लादके सौन्दर्यसे आकर्षित होनेके कारण वह इन्हें बहुत मानता था। कभी-कभी किसी देवता-को, साधुको दण्ड देते समय यदि प्रह्लाद आ जाते तो फिर उन्हें छोड़ देना पड़ता अथवा उस समय उस बातको टाल देना पड़ता। कभी-कभी तो उन्हें बचानेके लिये प्रह्लाद उपवास तक कर बैठते थे। जब हिरण्यकशिपु पूछता कि 'बेटा! तुम इनके लिये उपवास क्यों करते हो? क्या मुझपर दबाव डालकर अभीसे मुझे अपने वशमें करना चाहते हो? जब मैं बुड्ढा हो जाऊँगा, तब तुम राजा होना और जैसी इच्छा हो, करना।' प्रह्लाद कहते कि 'पिताजी! मैं आपपर कभी दबाव डालना नहीं चाहता। उन्हें दण्ड भोगते देखकर मुझे बड़ा कष्ट होता है। कभी-कभी तो मेरे मनमें आता है कि इनके स्थानपर मुझे ही दण्ड दिया जाता तो बड़ा अच्छा होता। पिताजी! मैं आपके सामने रोता हूँ, गिड़गिड़ाता हूँ; यदि मेरे पूर्वजन्मके पुण्य जगे रहते हैं, मेरा अन्तःकरण शुद्ध रहता है, मैं सचाईके साथ आपसे प्रार्थना करता हूँ तो आप छोड़ देते हैं। यदि मेरे पुण्य जगे नहीं हुए, मेरा अन्तःकरण शुद्ध नहीं रहा और मैं सचाईसे प्रार्थना नहीं कर सका तो आप नहीं छोड़ते। मैं इसलिये उपवास नहीं करता कि आपपर कोई दबाव पड़े, मैं शासन करूँ। उपवास इसलिये करता हूँ कि मेरे पाप नष्ट हो जायँ, मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो। मैं गरीबोंके लिये सचाईसे प्रार्थना कर सकूँ। सच्ची प्रार्थना अवश्य सफल होती है।'

इस नन्हे-से बालककी ऐसी बात सुनकर हिरण्यकशिपु चकित हो जाता! वह सोचने लगता कि यह दैत्यवंशके विपरीत क्यों बोल रहा है? इसने ये बातें कहाँसे सीखीं? क्या कोई इसे सिखा जाता है?

परंतु फिर उसके मनमें यह बात आती कि 'अभी तो यह बच्चा है, इसे कोई क्या सिखा सकता है? अब इसको ऐसे मार्गपर लगाया जाय कि इधरसे इसका मन ही हट जाय।' वह उस समय प्रह्लादकी बात मान लेता। इस कोमल शिशुके संसर्गसे उस क्रूर हिरण्यकशिपुमें भी कुछ कोमलता आ गयी। उसकी कठोरता बहुत कुछ शिथिल पड़ गयी। परंतु अपने बच्चेको सुधारनेकी चिन्ता बढ़ती ही गयी।

एक दिन हिरण्यकशिपुने कयाधूसे कहा—'प्राणप्रिये! मैं त्रिलोकीका राजा हूँ, सभी मेरी आज्ञा मानते हैं, मेरे पास असीम ऐश्वर्य है, तुम्हारे समान अर्द्धाङ्गिनी है, किसी वस्तुकी मुझे कमी नहीं, कोई अभाव नहीं। जो कुछ चाहिये, जो कुछ मिल सकता है, सब मुझे मिल चुका है; फिर भी मैं चिन्तित हूँ। मुझे दो बातोंकी चिन्ता है—एक तो अपने भाईको मारनेवाले विष्णुसे बदला नहीं ले सका, दूसरे, प्रह्लादका रुख भी मुझे उलटा ही जान पड़ता है। तुम प्रह्लादकी चिन्ता करो, किसी तरह उसे मार्गपर लाओ, मैं विष्णुकी खोज करता हूँ।'

कयाधूने कहा—'प्राणनाथ! आप कहते तो ठीक हैं, परंतु इन्हीं दोनों बातोंका भय मुझे भी जान पड़ता है। प्रह्लाद तो अब उपनयन करने योग्य हुआ। उसका संस्कार करवा-कर गुरुकुलमें भेज दें, वहाँ दैत्यबालकोंके साथ मिल-जुलकर तथा अपने कुलके अनुरूप शिक्षा पाकर वह बदल जायगा। मैं तो अपनी ओरसे चेष्टा करते-करते हार चुकी हूँ। आगे जैसी आपकी आज्ञा!'

कयाधूकी बात हिरण्यकशिपुको जँच गयी। उन दिनों उसके कुलपुरोहित शुक्राचार्य तीर्थयात्रा कर रहे थे। उनके दोनों पुत्र षण्ड और अमर्क ही गुरुकुलके अध्यक्ष थे। उन्हें बुलवाया गया, विधिपूर्वक यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और प्रह्लाद उनके साथ गुरुकुलमें भेज दिये गये।

(५)

संसारके सभी काम नियमसे होते हैं। रात-दिन, पक्ष-महीना, ऋतु-वर्ष सब-के-सब नियमित गतिसे चल रहे हैं। सबके जीवनमें एक नियम काम कर रहा है। जो लोग अपनी वासनाओंके कारण नियमकी अवहेलना कर देते हैं, वे प्रकृतिके निदारुण प्रहारसे विताड़ित होकर चूर-चूर हो जाते हैं। सभी समाजके, चाहे वह दैत्यके हों या देवता-के—एक प्रकारके अपने नियम होते हैं और उनपर चलना ही पड़ता है। चलनेमें ही हित भी है।

उस दिन नियमके अनुसार राजराजेश्वर हिरण्यकशिपुके प्रिय पुत्रको एक लँगोटी पहनकर भीख माँगनी पड़ी और पहली भीख उसकी माता कयाधूको ही देनी पड़ी। उसने अपने हृदयके टुकड़े प्रह्लादको भिक्षुक ब्रह्मचारीके वेशमें देखा और उसे अपनी आँखोंसे ओझल गुरुकुलमें बहुत दिनोंके लिये भेज दिया। कहा जा सकता है कि यदि नियमकी पाबंदी न होती, अपने बच्चेके हितका ध्यान न होता तो वह माता, जो अपने लड़केको देखे बिना दो घड़ी भी सुखसे नहीं रह सकती थी, इस प्रकार इतने

दिनोंके लिये कभी न भेजती । अस्तु, प्रह्लाद चले गये ।

यह बात देखी गयी है कि जो भगवान्का स्मरण करते हैं, संध्या-वन्दन, गायत्री-जप और नाम-जप आदि करते हैं, उनकी बुद्धि शुद्ध रहती है, स्मृति-शक्ति प्रबल रहती है, वे किसी बातको और विद्यार्थियोंकी अपेक्षा शीघ्र समझ लेते हैं, बिना विशेष रटे ही उन्हें पुस्तकें याद हो जाया करती हैं । प्रह्लादपर तो भगवान्की कृपा थी । वे निरन्तर भगवान्के स्मरणमें तल्लीन रहते । गुरुजीसे पाठ सुनते ही उन्हें सब हृदयङ्गम हो जाता था । अतिरिक्त समयमें वे भगवान्का ध्यान करते रहते । उनकी प्रतिभासे गुरुजी भी प्रसन्न रहते और प्रह्लाद उनकी सेवा भी खूब करते। उनके सहपाठी उनकी विद्या, बुद्धि, प्रतिभा, सरल स्वभाव देखकर मुग्ध रहते थे । 'मैं राजकुमार हूँ'—इस बातका अभिमान तो उन्हें छू भी नहीं गया था । वे बड़ोंके सामने सेवकोंकी भाँति रहते, गरीबोंपर पिताकी भाँति स्नेह करते, बराबरीवालोंसे सगे भाईकी तरह व्यवहार करते और गुरुजनोंको तो ईश्वर ही समझते थे । माता सरस्वतीकी उनपर अपार अनुकम्पा थी । थोड़े ही दिनोंमें उन्होंने वेद-वेदाङ्गोंका अध्ययन समाप्त कर लिया । जब गुरुपुत्रोंने देखा कि प्रह्लादका सम्पूर्ण विद्याओंमें पूर्णतः प्रवेश हो गया, तब उन्होंने अपनी कुशलता प्रकट करनेके लिये उसको राजसभामें ले जानेका विचार किया ।

एक दिन राजसभाके विशाल मण्डपमें सभी सभासद् अपने-अपने स्थानपर बड़ी नम्रताके साथ बैठे हुए थे । राज-काजसम्बन्धी अनेकों बातें हो रही थीं, तबतक दोनों पुरोहित प्रह्लादको साथ लिये हुए वहाँ पहुँच गये । हिरण्यकशिपुने यथायोग्य पुरोहितोंका सम्मान किया और अपने चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए प्रह्लादको उठाकर हृदयसे लगा लिया । सिर सूँघकर गोदमें बैठा लिया । वह प्रेमभरी दृष्टिसे एकटक प्रह्लादको देखने लगा । यों तो वह पाठशाला दूर न थी । प्रह्लाद कई बार वहाँ अपने पुरोहितोंके साथ आते भी थे; परंतु आजकी बात कुछ दूसरी ही थी । उनके अध्यापक प्रह्लादको सुयोग्य विद्वान् बताकर समावर्तन कराना चाहते थे । इतने थोड़े दिनोंमें राजकुमारको महान् विद्वान् बना दिया । यह वाहवाही भी लूटनी थी । हिरण्यकशिपु भी अपने पुत्रको योग्यतम देखकर प्रसन्न हो रहा था ।

हिरण्यकशिपुने दुलार करते हुए प्रह्लादसे पूछा—'बेटा ! तुमने विद्या पढ़ ली । अब समावर्तनका समय आया । भला बताओ तो सबके साररूपसे तुमने कौन-सी बात ग्रहण की ?' प्रह्लादने कहा—'पिताजी ! यह संसार असार है । इसमें कोई वस्तु ग्रहण करने योग्य नहीं है । इनकी ओरसे उदासीन होकर भगवान्का भजन करना ही सार है । यही सम्पूर्ण विद्याओंका सार है, संसारका सार है और जीवनका सार है ।' प्रह्लादकी यह बात सुनकर हिरण्यकशिपु चौंक गया । उसने उनको अपनी गोदसे नीचे उतार दिया, बड़े जोरसे डाँटा—'अरे कुलाङ्गार ! तुम्हें ऐसी भोंडी बात किसने सिखायी है ? मैं त्रिलोकीका स्वामी हूँ । मेरे अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं है । क्या इन अध्यापकोंने तुम्हें यही पढ़ाया है ? मैं इन्हें अभी दण्ड देता हूँ ।' दोनों पुरोहित थर-थर काँप रहे थे । प्रह्लादने कहा—'पिताजी ! मेरे ईश्वर, आपके ईश्वर और सारे संसारके ईश्वर एकमात्र भगवान् विष्णु हैं । वे सर्वत्र रहते हैं, सबकी रक्षा करते हैं । यह बात मैं किसीके सिखानेसे नहीं कह रहा हूँ, मेरे अध्यापकोंने यह बात मुझे कभी नहीं सिखायी, सबको सिखानेवाले तो वही भगवान् विष्णु हैं ।'

हिरण्यकशिपु क्रोधके मारे जल-भुन रहा था । तबतक पुरोहितोंने निवेदन किया—'राजेन्द्र ! वास्तवमें हमारी असावधानीसे ही ऐसा हुआ है । यदि हम ध्यान रखते तो हमारी पाठशालामें ऐसा नहीं हो सकता था । अतः इस बार प्रह्लादको क्षमा किया जाय, हम फिर इन्हें ले जाते हैं । ये बहुत पढ़ गये तो क्या, आखिर तो अभी बालक ही हैं । इन्हें राजनीतिका अध्ययन कराया जायगा ।'

हिरण्यकशिपुने और सावधानी रखनेकी आज्ञा देकर उन्हें विदा किया । प्रह्लाद अपने अध्यापकोंके साथ गुरुकुलमें आये । कई विद्यार्थी बड़े प्रेमसे मिले, किसीने कहा—'भैया ! तुम मुझे बड़े प्रिय लगते हो । तुम्हारे साथ रहे बिना मेरा जी नहीं लगता । सुना है, तुमने राजसभामें कुछ ऐसी बात कह दी कि दैत्यराज नाराज हो गये । भैया ! जो कुछ करना हो, उनसे छिपकर ही किया करो, नहीं तो क्या पता, वे न जाने क्या कर बैठें ?' प्रह्लादने कहा—'मेरे भगवान् बड़े दयालु हैं, बड़े शक्तिमान् हैं । वे सबकी रक्षा करते हैं और अपने भक्तकी तो विशेषरूपसे रक्षा करते हैं । मुझे किसीका क्या डर है ? मैं तो प्रेमसे भजन करूँगा ।' एक बालकने कहा—'भैया ! तुम्हें देखकर भजन करनेकी हमारी इच्छा भी होती है, फिर

सोचते हैं कि अभी तो सारा जीवन पड़ा हुआ है, कुछ खेल-खा लें, तब भजन करेंगे।' प्रह्लादने कहा—'ऐसा सोचना ठीक नहीं । पता नहीं, मृत्यु कब आ जाय। फिर ऐसी बुद्धि रहे, न रहे; समय किसीके अधीन थोड़े ही है। बचपनमें ही भजन करना चाहिये।'

जब-जब गुरुजी वहाँसे टल जाते, तब-तब सब विद्यार्थी इकट्ठे होकर भगवद्भक्तिकी चर्चा करते। धीरे-धीरे प्रह्लादके अनुयायियोंकी संख्या बढ़ने लगी । गुप्तरूपसे सभी भजन करने लगे। एक-दो लड़कोंने जाकर गुरुजीसे सारा हाल कह सुनाया। उन्हें क्रोध तो बहुत आया; परंतु प्रत्यक्षरूपसे उन्होंने प्रह्लादकी भर्त्सना नहीं की। उन्हें एकान्तमें बुलाकर कहा—'प्रह्लाद ! क्या तुम सचमुच यह अनर्थ कर रहे हो ? तुम्हें गुरुजनोंकी आज्ञा माननी चाहिये, पिताको प्रसन्न रखना चाहिये, कुल-धर्मकी रीति-रिवाजको निभाना चाहिये, यह सब क्या कर रहे हो ? क्या हमने जो तुम्हारी शिकायत सुनी है, वह झूठ तो नहीं है?'

प्रह्लादने कहा – 'गुरुदेव ! आपने जो कुछ कहा, सब मेरे हितके लिये कहा और वह सब ठीक है। आपने जो कुछ सुना है, वह झूठ नहीं है। जिसने आपसे कहा है, वह मेरा बड़ा हितैषी है; क्योंकि आपकी पाठशालामें, आपके विचारके विरुद्ध कोई बात कहकर मैं अपराध ही कर रहा था और उसने आपसे कहकर मुझे निरपराध कर दिया। कुलधर्म भी ठीक है, पिताकी आज्ञा भी ठीक है और गुरुजनोंके उपदेश भी हमारे भलेके लिये ही हैं, परंतु गुरुदेव ! मेरा मन मेरे हाथमें नहीं है। मैं दूसरी कोई बात सोचना चाहता हूँ तो मेरे सामने एक साँवरा-सलोना सुन्दर-सा बालक आकर बाँसुरी बजाने लगता है, नाच-नाचकर प्रेमभरी चितवनसे मेरी ओर देखता है, इशारेसे मुझे अपने पास बुलाता है, मैं उसकी मन्द मुसकान देखकर सब कुछ भूल जाता हूँ—विचलित हो जाता हूँ। गुरुदेव ! दूसरी बात मुझे सुहाती ही नहीं।'

कहते-कहते प्रह्लाद बेसुध हो गये। उनका शरीर पुलकित हो गया, शरीरसे आनन्दकी ज्योति छिटकने लगी। दोनों पुरोहित अवाक् हो गये। उन्होंने सोचा कि अब डाँट-डपटसे काम नहीं चल सकता। इसे किसी ऐसे पचड़ेमें लगाया जाय कि इसका ध्यान ही उधर न जाय। प्रह्लादके होशमें आनेपर राजनीतिका अध्यापन प्रारम्भ हुआ। सारी शुक्रनीति विस्तारके साथ पढ़ायी गयी, शत्रु-मित्र आदिके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस बातकी शिक्षा दी गयी। प्रह्लादने बड़े ध्यानसे सुना, विचार किया, समझ लिया और वे गुरुपुत्रोंकी परीक्षामें पास हो गये।

इस बार जब प्रह्लादको गुरुपुत्र राजसभामें लेकर गये तब वे बहुत प्रसन्न थे। उनकी प्रसन्नता देखकर हिरण्यकशिपु-को भी बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने प्रेमसे प्रह्लादको अपने पास बैठाया और उनके प्रणामका अभिनन्दन करके पूछा—'बेटा ! तुम इस बार राजनीतिकी शिक्षा प्राप्त करके आये हो। मुझे उसका सार सुनाओ।' प्रह्लादने कहा - 'पिताजी ! गुरु-जनोंने बड़े प्रेमसे मुझे राजनीतिकी शिक्षा दी और मैंने एक विद्यार्थीकी भाँति ईमानदारीके साथ उसका अध्ययन भी किया, परंतु मुझे उनकी बात जँची नहीं। शत्रुके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये, मित्रके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये, ये बातें तभी ठीक उतरती हैं, जब कोई शत्रु-मित्र हो। ये भेद अज्ञानकल्पित हैं। भगवान्‌को भूल जानेके कारण हैं। जब सब रूपोंमें हमारे प्यारे भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं तब शत्रु-मित्रका भेद कैसा ? उनके साथ विभिन्न व्यवहार कैसे ? इसलिये पिताजी ! केवल राजनीति ही नहीं, सब नीतियोंका सार यह है कि भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये।'

हिरण्यकशिपु आग-बबूला हो रहा था। उसने आज्ञा की कि 'अब तो अनर्थ हो गया । ऐसे लड़केसे तो बिना लड़केका रहना ही अच्छा है। मैं तुम्हें अभी मार डालता; परंतु अपने लड़के हो, सम्भव है दया आ जाय इसलिये तुम्हें बेमौत मरवा डालता हूँ। देखो, विष्णुभक्तिका मजा !'

उसने प्रह्लादको मारनेके लिये दैत्योंको आज्ञा दे दी।

(६)

द्वेष अन्तःकरणको कलुषित कर देता है। क्रोध आँख-वालोंको अंधा बना देता है। लोग दूसरे शत्रुओंसे बदला लेनेके लिये, उनपर शासन करनेके लिये द्वेष और क्रोधसे काम लेते हैं, परंतु उन्हें यही मालूम नहीं होता कि मैं द्वेष और क्रोधरूपी महान् शत्रुके अधीन हो रहा हूँ । आज हिरण्यकशिपु विष्णुकी अधीनता न स्वीकार करके क्रोधकी अधीनता स्वीकार कर रहा है। यह क्रोधान्धता नहीं तो और क्या है ?

प्रह्लादको मारनेकी आज्ञा सुनकर कुछ लोगोंको, जो उस सभामें उपस्थित थे, दुःख अवश्य हुआ होगा, परंतु किसीके मुँहसे हिरण्यकशिपुके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं

निकल सका। असुरका राज्य, असुरोंका मन्त्रित्व और असुर ही सभासद्! वहाँ तो वैष्णवोंके सिर नित्य ही कटते थे, प्रह्लादको मारनेकी आज्ञासे लोगोंको अधिक आश्चर्य नहीं हुआ। यदि किसीको आश्चर्य हुआ भी तो उसे मन मसोसकर रह जाना पड़ा। क्या करता, मालूम हो जानेपर उसे भी मौतके मुँहमें जाना पड़ता।

बहुतसे दैत्य प्रह्लादको पकड़कर ले गये। प्रह्लाद निर्विकार भावसे, मानो कुछ हो ही नहीं रहा है, उनके साथ चले गये। जब उन्होंने अपने शस्त्रोंसे प्रहार किया और प्रह्लादके शरीर कटनेकी जगह उनके शस्त्र ही टुकड़े-टुकड़े हो गये, तब उनके आश्चर्यकी सीमा न रही! प्रह्लादका शरीर एक दिव्य प्रभासे दमकने लगा। दैत्य प्रह्लादको लेकर हिरण्यकशिपुके पास आये! उसने डाँटा—'तुमलोग झूठ बोलते हो। मेरे सामने मारो तो!' उन सबोंने आक्रमण किया, परंतु सब विफल। उनकी एक न चली! प्रह्लादने कहा—'पिताजी! सम्पूर्ण भयोंको भयभीत करनेवाले और भयोंका भय छुड़ानेवाले भगवान् मेरे हृदयमें स्थित हैं, शस्त्रोंमें हैं, आक्रमण करनेवालोंमें हैं। इसी सत्यके बलपर ये हथियार मुझपर आक्रमण नहीं कर सकते।'

अब तो हिरण्यकशिपु और भी भयभीत हो गया। उसने सोचा—'अब कौन-सा उपाय किया जाय!' साँपोंको आज्ञा हुई कि 'इसे नष्ट कर दो।' उन्होंने अपने सम्पूर्ण विषका प्रयोग किया; परंतु उनकी दाढ़ें टूट गयीं, मणियाँ चटख गयीं, फणोंमें पीड़ा होने लगी, कलेजा काँपने लगा, किंतु प्रह्लादका बाल भी बाँका नहीं हुआ। वे सब हिरण्यकशिपुसे आज्ञा लेकर भग गये।

हिरण्यकशिपुने बड़े-बड़े हाथियोंको आज्ञा दी कि 'इसे पीस डालो!' हाथियोंने अपना सम्पूर्ण बल लगा दिया, उनके दाँत टूट गये, शक्ति शिथिल पड़ गयी, किंतु प्रह्लाद जैसा-का-तैसा मस्त! वह भगवान्के स्मरणमें तन्मय था।

ढुण्ढा राक्षसी गोदमें लेकर बैठी, दैत्योंने चिता बनाकर आग लगा दी। ढुण्ढा समझती थी कि 'मैं बच जाऊँगी, प्रह्लाद जल जायगा।' परंतु हुआ उलटा, वह जल गयी और प्रह्लाद मस्त होकर भगवन्नामका जप कर रहा था।

अब षण्ड और अमर्क दोनों दैत्यराजको चिन्तित देखकर बोले—'महाराज! इस बालकको तो हमलोग ही ठीक कर सकते हैं। हमें एक बार और अवसर दीजिये। यदि यह नहीं मानेगा तो हम कृत्याको उत्पन्न करके इसे नष्ट कर डालेंगे।' हिरण्यकशिपुने स्वीकृति दे दी, वे दोनों प्रह्लादको लेकर पाठशालापर आये।

इस बार प्रह्लादका प्रभाव बढ़ गया था। भजन करनेवाले प्रह्लादको महाराज हिरण्यकशिपु भी नहीं मार सके, यह बात विद्यार्थियोंतक पहुँच चुकी थी। सबने बड़े आदरसे प्रह्लादका स्वागत किया और गुरुजीके चले जानेपर भगवत्प्रेमकी बात करने लगे। प्रह्लादने कहा—'भाइयो! मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ। अपना हृदय तुम्हारे सामने रख रहा हूँ। मैं लोभसे, मोहसे, किसी कामनासे ऐसा नहीं कह रहा हूँ। इसे प्रेमके साथ सुनो, जँचे तो अपनाओ। हम लोग बाहर-बाहर तो बहुत सोचते-विचारते हैं, परंतु अपने जीवनपर दृष्टि नहीं डालते। बचपन खेल-कूदमें गँवा दिया, जवानी विषयोंके सेवनमें और बुढ़ापा व्यर्थकी चिन्ताओंमें—रोने-धोनेमें। क्या यही जीवन है? क्या इसीके लिये हमारा जन्म हुआ है। सोचो, विचार करो, इस शरीरमें क्या है? यह अपवित्र वस्तुओंकी एक पुड़िया है। यह जीवन क्या है? वासनाओंकी उधेड़-बुन है। इसमें कहीं सुख नहीं, केवल दुःख-ही-दुःख है। छोड़ दो इसका मोह, तोड़ दो संसारका बन्धन और मोड़ दो अपना मन भगवान्की ओर! भगवान् बड़े सुन्दर हैं! बड़े दयालु हैं, उनके भजनमें कोई कष्ट नहीं है। वे अपने हृदयमें हैं, अपने सगे-सम्बन्धी हैं और अपने आत्मा ही हैं। उनका भजन करो, केवल उनका भजन करो।

'मित्रो! वे ही सब रूपोंमें प्रकट हैं। किसीसे द्वेष मत करो। किसीसे बुरा मत मानो, सबके प्रति समान प्रेम रक्खो। यह समता ही उनकी आराधना है। वे तुम्हारी रक्षा करेंगे, वे तुम्हारा कल्याण करेंगे। डरो मत! किसीसे मत डरो! उनके कर-कमलोंकी छत्रछाया तुम्हारे सिरपर है। जानते ही हो, मेरी क्या साँसत नहीं की गयी, साँपोंसे डँसवाया गया, आगमें जलाया गया, मारा-पीटा गया, परंतु मुझे जरा भी कष्ट नहीं हुआ। मेरे रक्षक भगवान् थे। मारनेवालोंके प्रति मेरे मनमें जरा भी द्वेष नहीं है। मेरे प्यारे मित्रो! उन्हींकी शरणमें जाओ, उन्हींका भजन करो, वे तुम्हारा कल्याण करेंगे।'

प्रह्लादकी बात सुनकर सभी छात्र जोर-जोरसे भगवन्नामकीर्तन करने लगे। हिरण्यपुरीमें भक्ति-भागीरथीकी धारा बह गयी। गुरुपुत्रोंने बहुत समझाया, उनकी एक न चली। आखिर वे हिरण्यकशिपुके पास ले गये। उसने

रसोइयोंको विष देनेकी आज्ञा दी। प्रह्लादको बड़ा भयंकर हालाहल विष दिया गया। भगवान्‌के नामका उच्चारण करके प्रह्लादने विषके साथ सारा अन्न खा लिया और बिना किसी विघ्न-बाधाके वह सब पच भी गया। हिरण्यकशिपुने आज्ञा दी—'पुरोहितो! अब इसकी मृत्युमें विलम्ब नहीं होना चाहिये। इसको मारनेके लिये कृत्या उत्पन्न करो।' दैत्यराजकी यह आज्ञा पाकर दोनों पुरोहित प्रह्लादके पास गये। उन्होंने प्रह्लादकी प्रशंसा करते हुए कहा—'आयुष्मन्! तुम ब्रह्माके वंशमें दैत्यराज हिरण्यकशिपुके पुत्र हो। तुम्हें विष्णुकी क्या आवश्यकता है। जैसे तुम्हारे पिता त्रिलोकीके राजा हैं, वैसे तुम भी होनेवाले हो। छोड़ दो यह बखेड़ा। शत्रुकी स्तुति नहीं करनी चाहिये।' प्रह्लादने बड़ी नम्रताके साथ कहा—'भगवन्! आपकी बात अधिकांश सत्य है। मेरा वंश उत्तम है, मेरे पिता त्रिलोकीके अधिपति हैं, मैं उनका उत्तराधिकारी हूँ, यह सब ठीक है। उनकी बात मुझे माननी भी चाहिये, परंतु मुझे भगवान्‌की क्या आवश्यकता है, आपकी यह बात मेरी समझमें नहीं आती।

'चाहे किसी भी दृष्टिसे देखें, भगवान्‌के बिना यह जीवन असार है। उनके बिना इसका उद्देश्य ही पूरा नहीं होता। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंके मूल भगवान्‌के चरणोंकी आराधना है।' कहनेके लिये तो प्रह्लाद बहुत कुछ कह गये; परंतु अन्तमें गुरुजनोंके सामने इतना अधिक बोलनेके लिये क्षमा माँगकर वे चुप हो गये।

पुरोहितोंने कहा—'बालक! तुम बहुत बढ़-बढ़कर बात करते हो, हमने तुम्हें आगमें जलनेसे बचाया और अनेक आपत्तियोंसे तुम्हारी रक्षा की। हम समझते थे कि तुम हमारी बात मानोगे। परंतु तुम एक भी नहीं सुनते। अब तुम्हारी मृत्युके लिये हम कृत्या उत्पन्न करते हैं।' प्रह्लादने कहा—'भगवन्! कौन किसे मारता है? कौन किसे जिलाता है? सब अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहे हैं। न कोई किसीको मार सकता है और न जिला सकता है।' पुरोहितोंको अब क्रोध आ गया। उन्होंने अपने मन्त्रबलसे कृत्या उत्पन्न की। वह भयंकर राक्षसी अपने पैरोंसे जमीनको रौंदती हुई, आगकी लपटके समान चमकती हुई, त्रिशूल लेकर प्रह्लादपर टूट पड़ी। बड़े जोरसे उसने त्रिशूल चलाया। परंतु प्रह्लादकी छातीपर लगते ही वह त्रिशूल खण्ड-खण्ड होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। भला, जिस हृदयमें निरन्तर भगवान् निवास करते हैं, वहाँ लगकर वज्र तो कुछ कर ही नहीं सकता, त्रिशूल क्या कर सकता है? कृत्याकी यह रीति है कि जिसपर उसका प्रयोग किया जाता है, यदि उसे न मार सके तो प्रयोग करनेवालेको ही वह मार डालती है। उसने लौटकर पुरोहितोंपर आक्रमण किया और वे दोनों मर गये।

उन्हें कृत्याकी आगमें जलते देखकर 'कृष्ण! कृष्ण! त्राहि! त्राहि!' कहते हुए प्रह्लाद दौड़ पड़े। प्रह्लादने कहा—'भगवन्! आप सर्वव्यापक हैं, सर्वरूप हैं, इस मन्त्रकी आगसे जलते हुए इन ब्राह्मणोंकी रक्षा कीजिये। भगवान्‌को, आपको सर्वस्वरूप जानकर जैसे मैं शत्रुओंमें भी भगवद्भावना करता हूँ, उन्हें भी भगवद्रूप ही देखता हूँ, उसी प्रकार इनको भी देखता हूँ तो, ये पुरोहित भी कृत्याकी ज्वालासे बच जायँ। जिन्होंने मुझे विष दिया, मुझपर आक्रमण किया, आगमें जलाया, साँपोंसे डँसाया, हाथियोंसे कुचलवाया, उनके प्रति भी यदि हमारे हृदयमें भगवद्भाव एवं समान प्रेम रहा हो, यदि उनके प्रति मेरे मनमें कभी पाप-बुद्धि न हुई हो तो ये मेरे पुरोहित जी उठें।'

यों कहकर प्रह्लादके स्पर्श करते ही दोनों पुरोहित भले-चंगे होकर उठ खड़े हुए और विनयी प्रह्लादको आशीर्वाद देने लगे। 'बेटा! तू दीर्घायु हो, ऐश्वर्यशाली हो। तेरा मङ्गल-ही-मङ्गल हो।'

तत्पश्चात् हिरण्यकशिपुके पास जाकर पुरोहितोंने सारी बात कह सुनायी।

(७)

जीवका यह सहज दोष है, दोष नहीं स्वभाव है कि वह स्वयं जैसा होता है, दूसरेको भी वैसा ही देखता है। पापीको सब पापी दीखते हैं, पुण्यात्माको सब पुण्यात्मा दीखते हैं। जिस ढंगसे वह अपना काम-काज चलाता है, चाहता है कि दूसरे भी उसी ढंगसे चलावें, नहीं चलाते हैं तो चलावें, सब मेरे अनुयायी हों और वास्तवमें सब मेरी ही भाँति काम करते भी हैं। यदि स्वीकार कर लें तो मैं उनका नेता बन जाऊँ। इसे यदि असुर-भाव न कहें तो भी इसमें अभिमानका भाव तो है ही।

हिरण्यकशिपु स्वयं बड़ा शक्तिशाली था। वह स्वयं माया जानता था और बड़े-बड़े मायावी उसके हाथमें थे। वह किसीमें कोई अद्भुत शक्ति देखता तो उसके मनमें यह बात आ जाती कि इसने भी तपस्याद्वारा यह शक्ति प्राप्त

की होगी। मन्त्र, यन्त्र, माया आदिके अतिरिक्त भगवत्कृपासे भी ऐसा सम्भव है, यह बात उसके मनमें नहीं बैठती थी। जब उसे मालूम हुआ कि प्रह्लादपर कृत्याकी भी एक न चली, तब वह सोचने लगा कि अवश्य इसने कोई मन्त्र सिद्ध कर लिया है। प्रह्लादको बुलाकर उसने पूछा—'बेटा ! तुम्हारे इस प्रभावका, चमत्कारका कारण क्या है ? क्या तुमने कोई मन्त्र सिद्ध कर लिया है? अथवा यह तुम्हारी स्वाभाविक शक्ति है ?'

प्रह्लादने पिताके चरणोंमें नमस्कार करके बड़ी नम्रताके साथ कहा—'पिताजी ! न तो यह मन्त्रसिद्धिका प्रभाव है और न यह मेरे लिये स्वाभाविक बात है। वास्तवमें बात यह है कि जिसके हृदयमें भगवान् विराजमान रहते हैं, उसके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जैसे अपना अनिष्ट लोग नहीं करना चाहते, वैसे ही जो दूसरोंका भी अनिष्ट नहीं चाहता, उसके अनिष्ट होनेका कोई कारण ही नहीं है। जो कर्मसे, मनसे, वाणीसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाता है, कष्ट पहुँचानेके फलस्वरूप उसे दुःख भोगना पड़ता है। मैं न किसीका अनिष्ट करता, न चाहता और न कहता हूँ। मेरी दृष्टिमें सम्पूर्ण प्राणियोंके अंदर और बाहर भी भगवान्-ही-भगवान् हैं। मैं भी उनसे पृथक् नहीं हूँ। जब मेरा चित्त सर्वदा सर्वत्र आनन्दस्वरूप परमात्माके ही चिन्तनमें संलग्न रहता है, तब मुझे शारीरिक, मानसिक, दैविक अथवा भौतिक दुःख स्पर्श ही कैसे कर सकते हैं ! पिताजी ! मैं आपसे सत्य कहता हूँ। आपके चरणोंका स्पर्श करके सच्चे हृदयसे प्रार्थना करता हूँ कि बुद्धिमानोंके लिये यही उचित और परम कर्तव्य है कि वे सर्वत्र भगवान्का ही दर्शन करते हुए निरन्तर उनके ही प्रेममें छके रहें।'

प्रह्लादकी बात सुनते-सुनते हिरण्यकशिपु क्रोधान्ध हो रहा था। उसने आज्ञा की कि 'दैत्यो ! अभी-अभी इस सौ योजन ऊँची छतपरसे इस दुष्टको जमीनपर पटक दो। पत्थरकी चट्टानपर गिरकर इसकी हड्डी चूर-चूर हो जाय, तब यह मानेगा।' हुआ भी ऐसा ही। उस आकाश-चुम्बी राजमहलकी छतसे एक चट्टानपर प्रह्लाद पटक दिया गया। उस समय प्रह्लादको ऐसा मालूम हो रहा था कि 'पटकनेवाले भगवान् हैं, जिस चट्टानपर मैं गिरूँगा, वह भगवान् है, जिस आकाशमेंसे होकर मैं गुजरूँगा, वह भगवान् है, सर्वत्र भगवान्-ही-भगवान् है, भगवान्से पृथक् किसी वस्तुका अनुभव करनेवाला मैं ही कहाँ हूँ ?' प्रह्लाद उस समय भगवत्स्वरूपमें स्थित थे। लोगोंकी दृष्टिसे प्रह्लादका शरीर चट्टानपर गिरा, परंतु उन्हें जरा भी चोट नहीं आयी। चोट लगती कैसे ? भगवान्ने दौड़कर ऊपर-ही-ऊपर उन्हें गोदमें उठा लिया था। उनका प्यारा भक्त चट्टानपर कैसे गिर सकता था ?

हिरण्यकशिपु घबरा गया ! उसने शम्बरासुरको आज्ञा दी कि 'अपनी मायासे इसे नष्ट कर डालो।' शम्बरासुरने पूरी शक्तिसे अपनी मायाका प्रयोग किया। प्रह्लाद भगवत्स्मरणमें मस्त थे। उसने ऐसी हवा पैदा की, जिससे प्रह्लादका शरीर सूख जाय। ऐसी ठंढक पैदा की, जिससे प्रह्लाद ठिठुरकर मर जायँ। ऐसी गरमी पैदा की, जिससे वह जलकर राख हो जायँ। बारी-बारीसे उसने सबका प्रयोग किया, परंतु उसकी एक न चली। भगवान्का चक्र सुदर्शन उसकी मायाका नाश कर रहा था। स्वयं मायापति भगवान् प्रह्लादके हृदयमें बैठे हुए हँस-हँसकर उनसे बातें कर रहे थे। तब भला शम्बरासुरकी माया कैसे चलती ! उसकी हजारों चालें नष्ट हो गयीं। वह अपना-सा मुँह लेकर चला गया।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न उपायोंसे प्रह्लादको मारनेकी चेष्टा की गयी, परंतु किसीमें सफलता नहीं मिली। अन्तमें हिरण्यकशिपुने आज्ञा दी कि 'दैत्यो ! इस दुष्ट बालकको नागपाशमें बाँधकर समुद्रमें डाल दो और उसपर हजार-हजार पहाड़ चुन दो। यदि यह जीता भी रहेगा तो कोई आपत्तिकी बात न होगी।' दैत्योंने वैसा ही किया। क्षार समुद्रके भयंकर तरंगोंके बीचमें प्रह्लाद डाल दिये गये और उनपर अनेकों पर्वत चुन दिये गये। वे नाग-पाशमें बँधे हुए हाथ-पैर न हिला सकनेपर भी भगवान्के चिन्तनमें लगे हुए थे। भगवच्चिन्तनके लिये हाथ-पैरकी आवश्यकता भी क्या है ? प्रह्लादको बड़ी प्रसन्नता हुई। जगत्के जंजालसे छूटकर निरन्तर भगवच्चिन्तनका अवसर तो मिलेगा !

परंतु समुद्र प्रह्लादको अपने अंदर नहीं रख सका। वह अपना किनारा छोड़कर सारी धरतीको अपने अंदर डुबा लेनेकी चेष्टा करने लगा। उसके क्षोभसे हिरण्यकशिपुका आसन डगमगा उठा। उसने आज्ञा की कि 'दैत्यो ! पर्वतोंको ला-लाकर ऐसा बाँध बनाओ कि समुद्र जहाँ-का-तहाँ रह जाय। आग, साँप, शस्त्र, विष और माया आदिसे तो उस दुरात्माकी मृत्यु होती नहीं, उसको हजारों वर्षोंतक

समुद्रमें ही रखना पड़ेगा। दूसरा कोई उपाय नहीं है।' दैत्योंने आज्ञापालन किया।

समय होनेपर प्रह्लाद भगवान्‌की स्तुति करने लगे—'कमलनयन! पुरुषोत्तम! तुम्हारे चरणोंमें कोटि-कोटि नमस्कार है। तुम संसारके हितके लिये बार-बार अवतार लेते हो। तुम्हीं ब्रह्मा हो, तुम्हीं विष्णु हो, तुम्हीं शिव हो। देव, दैत्य, यक्ष, राक्षस, चींटी, मनुष्य, पशु, पञ्चभूत और पञ्चतन्मात्रा आदि-आदि सब कुछ तुम्हीं हो। तुम्हारे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। तुममें ही यह संसार ओतप्रोत है। तुम्हीं सबके आधार हो, तुम्हीं सब हो। जब तुम्हीं सब हो, तब मैं भी तुम्हारा स्वरूप ही हूँ। मुझसे ही सब है, मैं ही सब हूँ और मुझमें ही सब है। मैं अविनाशी हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, मैं ही मैं हूँ। मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'

इस प्रकार अभेद-भावनासे भगवान्‌का चिन्तन करते-करते प्रह्लादकी समाधि लग गयी और वे सब कुछ भूल गये। अपने आपमें स्थित हो गये। ऐसी स्थितिमें नागपाश स्वयं टूट गया, पहाड़ हट गये और समुद्रने उन्हें ऊपर उठा दिया। उनकी आँखें खुलीं और भगवान् उनके सामने प्रकट हुए। उन्होंने श्रद्धा-भक्तिसे प्रणाम किया, स्तुति की और उनकी अनन्त कृपाका अनुभव करते हुए उनकी ओर एकटक देखते रहे। भगवान्‌ने कहा—'प्रह्लाद! मैं तुम्हारी अनन्य भक्तिसे प्रसन्न हूँ। जो चाहो, माँग लो।' प्रह्लादने कहा—'भगवन्! भले ही मुझे हजारों योनियोंमें जाना पड़े परंतु तुम्हारे चरणोंकी भक्ति न छूटे, वह अविचल बनी रहे। प्रभो! संसारासक्त मूर्खलोग विषयोंसे जितना प्रेम करते हैं, उतना ही प्रेम, वैसा ही अनन्य प्रेम आपके चरणोंमें बना रहे।' भगवान्‌ने कहा—'प्रह्लाद! तुम्हारे हृदयमें तो हमारी भक्ति है ही और रहेगी भी। कोई दूसरा वर माँगो।'

प्रह्लादने कहा—'नाथ! एक वर और माँगना है। तुमसे प्रेम करनेके कारण पिताजी मुझपर रुष्ट रहते हैं। उन्होंने अपनी ओरसे मुझे कष्ट पहुँचानेकी चेष्टा भी की है। यदि उनके इस कृत्यसे उन्हें पाप हुआ हो तो वह नष्ट हो जाय। मेरे पिता मुक्त हो जायँ।' भगवान्‌ने कहा—'यह सब ठीक है, तुम्हारे पिताका कल्याण होगा। तुम और माँगो।' प्रह्लादने कहा—'भगवन्! जिसे तुम्हारी भक्ति प्राप्त हो गयी, उसे और क्या चाहिये? उसे धर्म, अर्थ, कामका प्रयोजन नहीं, मोक्ष उसकी मुट्ठीमें है और वह भक्ति मुझे प्राप्त हो गयी है और मुझे कुछ नहीं चाहिये।' प्रह्लादकी यह निःस्पृहता देखकर भगवान्‌ने उन्हें परम निर्वाणका वरदान दिया और अन्तर्धान हो गये। प्रह्लाद बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने पिताके पास लौट आये।

इस बार प्रह्लादमें कुछ ऐसा आकर्षण आ गया था कि हिरण्यकशिपु उनका विरोध करनेमें हिचकता था। दूसरी ओर प्रह्लादकी माता कयाधूका भी बड़ा आग्रह था कि अब बहुत हो गया, जाने दो, आखिर अपना ही लड़का है न! जैसे रहे, वैसे रहने दो! कयाधूका वह ज्ञान, जो नारदजीसे प्राप्त हुआ था, भूल गया था। असुरोंकी सङ्गतिमें आकर उसका हृदय बहुत कुछ क्रूर हो गया था। फिर भी माताका ही हृदय था न! वह अपत्यस्नेहके कारण व्यथित रहती थी। उसने प्रह्लादको भी कई बार समझाया, पिताके अनुकूल होकर रहनेकी सलाह दी, परंतु प्रह्लाद अपनी धुनके पक्के थे, वे भजनके विपरीत किसीकी सलाह नहीं सुनते थे। आखिर हारकर कयाधूने हिरण्यकशिपुको समझाया कि जाने दो, उपेक्षा कर दो, उसकी जैसी मौज हो, वैसे रहे। हिरण्यकशिपुने भी मान लिया। स्त्रीका हठ था, कुछ-कुछ विवशता भी थी। और करता ही क्या? प्रह्लादसे शिष्टतापूर्ण व्यवहार करने लगा।

उधर प्रह्लादका अपना काम जारी था। उनकी महिमा बढ़ गयी थी। ऐसी आपत्तियोंसे वे बेदाग लौट आये थे। सब लोग उनकी बात मानने लगे थे। उनके सहपाठी छात्र जो कि अब घर आ गये थे, उनकी बातोंपर बड़ी श्रद्धा करते थे। प्रह्लादके प्रभावसे हिरण्यपुरीमें भक्तिका खूब प्रचार हुआ। पहले लोग मन-मनमें भगवान्‌का ध्यान करते, एक-एक करके मूर्तिपूजा शुरू हुई और धीरे-धीरे सामूहिक संकीर्तनका नंबर आया। प्रह्लादके हमजोली शहरमें घूम-घूमकर कीर्तन करने लगे। राजकुमार प्रह्लादके अदबसे पहले तो लोग हिरण्यकशिपुसे कहते नहीं थे, परंतु यह बात कितने दिनोंतक छिपती, एक दिन हिरण्यकशिपुको मालूम हो ही गयी।

(८)

भगवान्‌की लीला भी क्या अद्भुत है! वे कब, कैसे, क्या करना चाहते हैं, इसे वही समझ सकते हैं। दूसरा कोई समझ नहीं सकता। मङ्गलमें अमङ्गल और अमङ्गलमें मङ्गल पैदा कर देना तो उनका मनोरञ्जन है, नित्यका खिलवाड़ है। जहाँ विष्णुभक्तिका नाम नहीं था, यहाँतक कि

भगवान्‌का नाम लेना अपराध था, वहीं आज नाम-संकीर्तन-की धूम मची हुई है।

उस दिन हिरण्यकशिपुने बड़ा भयंकर स्वप्न देखा था। शुक्राचार्यने तीर्थयात्रासे लौटकर हिरण्यकशिपुको अनिष्टकी सूचना दी थी। उसका मन चिन्तित था। वह कभी भयभीत होकर आकाशकी ओर देखने लगता तो कभी अपने बल-पौरुषकी याद करके घमंडसे फूल उठता। कभी अपने आप ही बड़बड़ाने लगता कि 'कौन करेगा मेरा अनिष्ट! मैं उसे देखूँगा! इन्द्र! इन्द्र तो मेरा बंदी है! विष्णु! वह तो भागा फिरता है! मेरे डरसे छिपा हुआ है! वह मेरे सामने आ ही नहीं सकता। आ जाय तो उसे मैं मजा चखाऊँ!' यही सब न जाने क्या-क्या वह बक रहा था।

इतनेमें ही किसीने आकर घर-घर संकीर्तन और मूर्तिपूजाकी बात सुनायी। एक तो वह पहलेसे ही भयभीत था, उत्तेजित था, दूसरे यह बात भी आज ही उसके कानमें पड़ी। वह आगबबूला हो गया। उसकी आँखोंसे आगकी चिनगारियाँ छिटकने लगीं। उसने कहा—'प्रह्लादको बुलाओ। देखूँ, उसका विष्णु कहाँ है? आज उसकी कैसे रक्षा करता है? अबतक मुझसे पाला नहीं पड़ा था, आज मैं अपने हाथों ही उसकी खबर लूँगा।'

प्रह्लाद उपस्थित किये गये। प्रणाम करके अञ्जलि बाँधे हुए वे सिर नीचा करके खड़े हो गये। हिरण्यकशिपुने तिरछी नजरसे देखा। पैरसे मारे हुए साँपकी भाँति वह खलबला उठा। लंबी साँस चलने लगी। उसने डाँटते हुए कहा—'ढीठ! नीच! कुलकलंक! मैंने समझा था, अब तू विष न बोयेगा। मेरे राज्यमें रहकर मेरी आज्ञाकी अवहेलना! मूर्ख! तुझे पता नहीं, मेरे क्रोध करनेपर तीनों लोक मुझसे थर-थर काँपने लगते हैं। इन्द्र मेरे पैरोंपर गिरते हैं और विष्णु तो डरके मारे छिपे ही हुए हैं। बता, तू किसके बलपर मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है?'

प्रह्लादने बड़ी नम्रतासे कहा—'पिताजी! केवल मैं ही नहीं, जिसके बलपर ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, रुद्र संहार करते हैं, आप बोलते हैं, सब-के-सब चराचर जिनकी शक्तिके भरोसे जीवित हैं, वही भगवान् विष्णु मेरे स्वामी हैं। वे पिताओंके भी पिता हैं। मैं उन्हींका भजन करता हूँ। और मुझे कुछ पता नहीं।' हिरण्यकशिपुने कहा—'बस, अब तू मरना चाहता है। मेरे सामने इतना बहक रहा है? ठीक है, मौत पास आ जानेपर लोगोंकी बुद्धि मारी जाती है। जिसे तूने मेरे अतिरिक्त ईश्वर बतलाया है, वह कहाँ रहता है? यदि वह सर्वत्र है तो इस खंभेमें क्यों नहीं दीखता। तू इतना बक रहा है, अभी इस खड्गसे मैं तेरा सिर काटता हूँ। देखूँ, वह कैसे तेरी रक्षा करता है?'

प्रह्लादने कहा—'बाबूजी! मेरे, आपके और इस खड्गके भीतर, जिससे आप मुझे मारने आ रहे हैं तथा इस खंभेमें भी वे हैं। देखिये, आँखें खोलकर देखिये, वे इसीमेंसे प्रकट होंगे।' हिरण्यकशिपु कुछ भयभीत हो गया! एक ही समय दोनोंके हृदय खंभेमें परमात्माको देखना चाहते हैं, परंतु एक शत्रुभावसे, एक मित्रभावसे! हिरण्यकशिपुने साहस करके एक बड़े जोरका घूँसा खंभेपर लगाया, वह तड़तड़ाकर टूट गया, बड़ी भयंकर आवाज हुई और एक भीषण मूर्ति वहाँ प्रकट हो गयी।

कितना विकराल रूप था! मुँह सिंहका और शेष शरीर मनुष्यका! बिखरे हुए बाल आकाशमें लहरा रहे थे, तपाये हुए सोनेकी भाँति आँखोंसे किरणें निकल रही थीं, बड़े-बड़े दाँत बाहर निकले हुए थे, तलवारकी तरह जीभ घूम रही थी, भौंहें बड़ी भीषण थीं, लंबे-लंबे कान ऊपरको उठे हुए थे। मुँह, नाक, कन्दराके समान जान पड़ते थे, शरीर आकाशसे बात कर रहा था। ऊँची छाती, मोटा गला और पतली कमर! हाथोंमें बड़े भीषण नख! उनके इस अद्भुत रूपको देखकर सभी दैत्य-दानव डर गये, स्वयं हिरण्यकशिपुकी आँखें बंद हो गयीं। उनके भीषण हुंकारसे त्रिलोकी काँप उठी!

अपने भक्तकी वाणी सत्य करनेके लिये, अपनेको सर्वत्र व्यापक प्रकट करनेके लिये भगवान् नृसिंहरूपमें खंभेसे प्रकट हुए। उनके अद्भुत रूपको देखकर हिरण्यकशिपु डरके मारे आँखें बंद करके सोचने लगा—'अरे, मेरी मृत्यु आ गयी क्या? यह न मनुष्य है, न पशु! विलक्षण जीव है। इस समय न दिन है न रात! संध्या है। मैं न बाहर हूँ, न भीतर, दरवाजेपर हूँ! यह ब्रह्माका बनाया हुआ नहीं जान पड़ता। इसके नख इतने कठोर हैं कि वे शस्त्रका काम दे सकते हैं। तब क्या यह मुझे मार डालेगा?' हिरण्यकशिपुको मालूम हुआ कि मेरी मृत्यु आ गयी।

उसने सोचा 'अच्छा! मृत्यु ही सही। जब मरना है तो वीरताके साथ मरें!' उसने बड़े वेगसे अपनी गदा चलायी। नृसिंह भगवान्‌ने हँसकर उसे छीन लिया। पुनः

खड्ग लेकर उसने प्रहार किया। भगवान्‌ने धीरेसे उसे पकड़कर उठा लिया और चौकठपर बैठकर उसे अपनी जाँघोंपर सुलाकर अपने नखोंसे उसका कलेजा चीर डाला। सारा शरीर खूनसे लथपथ हो गया। उन्होंने अँतड़ियाँ निकालकर माला पहन लीं। क्षणभरमें उस भयंकर असुरको मारकर सिंहासनपर जा विराजे।

बात-की-बातमें सारा समाचार तीनों लोकोंमें फैल गया। देवतालोग पुष्पोंकी वर्षा करने लगे, गन्धर्व गाने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं। ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी आदि वहाँ उपस्थित हुए। भगवान्‌के तेजसे त्रिलोकी जल रही थी। उनके बालोंसे बादल गिर रहे थे, श्वाससे समुद्र क्षुब्ध हो रहा था, घरघराहटसे डरकर दिग्गज चिल्ला रहे थे। सारे संसारमें हाहाकार मचा हुआ था। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, पितर, ऋषि, सिद्ध, विद्याधर आदिने आ-आकर पृथक्-पृथक् स्तुति की; परंतु किसीकी हिम्मत न पड़ी कि उनके पास जाय। आज भगवान्‌का भयानक रूप देखकर सब-के-सब भयभीत हो रहे थे।

सबने सलाह करके लक्ष्मीको भेजा कि ये जाकर भगवान्‌को शान्त कर सकती हैं; परंतु भगवान्‌के इस रूपको देखकर वे भी भयभीत हो गयीं। भगवान्‌के पास जानेकी उनकी हिम्मत नहीं हुई।

देवाधिदेव महादेवने कहा—'नृसिंह भगवान् प्रह्लादके लिये प्रकट हुए हैं। आज बिना उनके वे प्रसन्न होते नहीं दीखते।' सबके मनमें यह बात बैठ गयी। ब्रह्माने कहा—'प्रह्लाद! जाओ। तुम्हारे स्वामी तुम्हारे पिताके कारण क्रुद्ध हुए हैं। वे तुमसे ही शान्त होंगे।' प्रह्लाद तो न जाने कबसे लालायित थे। उनके प्रभु चाहे जितने भयंकर वेशमें आवें, वे उन्हें पहचानते हैं। वे प्रेमगद्गद होकर उनके पास चले गये और अञ्जलि बाँधकर चरणोंमें लोट गये।

अपने चरणोंमें लोट-पोट हुए प्रह्लादको देखकर नृसिंह भगवान्‌ने झपटकर उठा लिया और उनके सिरपर हाथ फेरकर प्रेमभरी दृष्टिसे देखने लगे। उन्होंने कहा—'बेटा प्रह्लाद! मुझसे बड़ा अपराध हुआ। मैंने तुम्हारे पास आनेमें बड़ा विलम्ब कर दिया। कहाँ तो तुम्हारा यह सुकुमार शरीर और कहाँ इस क्रूरकी दारुण यन्त्रणाएँ! कहाँ यह नन्हा-सा सुकोमल शरीर और कहाँ साँपोंसे डँसाना, आगमें जलाना। मुझसे बड़ा अपराध हुआ। बेटा! तुम मुझे क्षमा कर दो। इस बातको भूल जाओ।'

नृसिंह भगवान्‌की यह बात सुनकर तथा उनके कर-कमलोंका स्पर्श पाकर प्रह्लादकी दशा ही बदल गयी। वे परमानन्दमें मग्न हो गये। शरीर पुलकित हो गया, आँखोंमें आँसू भर आये, हृदय द्रवित हो गया। थोड़ी देरमें सँभलकर वे एकाग्र मनसे हृदय और आँखोंको नृसिंह भगवान्‌के दर्शनमें लगाकर प्रेमभरी वाणीसे स्तुति करने लगे। प्रह्लादने कहा—'प्रभो! ब्रह्मादि देवगण, ऋषि, मुनि, सिद्ध, जिनके अन्तःकरणमें सर्वदा सत्त्वगुण ही रहता है, वे भी अपनी विशुद्ध वाणीके द्वारा आपकी स्तुति नहीं कर सके तो मेरे-जैसा दैत्यबालक आपकी क्या स्तुति कर सकता है! परंतु धन, जन, जप, तप, पाठ, पूजा, बल, पौरुष आदिके द्वारा आप प्रसन्न नहीं होते, आप केवल भक्तिसे प्रसन्न होते हैं। आप प्रेमके भूखे हैं, आप गजेन्द्रकी पुकारपर दौड़े गये थे। भजन न करनेवाले ब्राह्मणकी अपेक्षा भजन करनेवाला चाण्डाल उत्तम है। मैं नीच हूँ, मायामें भटक रहा हूँ, फिर भी आपकी स्तुति करता हूँ। यह इसलिये नहीं कि आपकी स्तुति होगी। बल्कि इसलिये कि उससे मेरी वाणी पवित्र होगी।

'प्रभो! बहुत-से लोग आपके इस भीषण रूपको देखकर भयभीत हो गये हैं; परंतु मैं तो आपको देख-देखकर प्रसन्न हो रहा हूँ। आप तो हमारे परम प्रेमास्पद हैं, भयास्पद नहीं। मैं डरता हूँ तो केवल इस संसारसे। यह अपने चक्करमें डालकर मुझे न जाने कहाँ ले जाना चाहता है। प्रभो! मैं आपके चरणोंकी शरण लेता हूँ। आप मुझे अपना दास स्वीकार कीजिये। मुझे और किसीका भरोसा नहीं है। आप ही मेरे पिता हैं, आप ही मेरी माता हैं। मैं आपकी लीला गा-गाकर अपने जीवनको बिताऊँ, यह आशीर्वाद दीजिये।

'स्वर्गमें क्या रक्खा हुआ है। मैंने तो अपनी आँखोंसे देखा है कि मेरे पिता हँसी-हँसीमें क्रोधित होकर जब भौंहें टेढ़ी कर देते थे, तब देवता लोग भाग-भागकर जंगलोंमें शरण लेते थे। ऐसे क्षणिक और भयपूर्ण स्थानके लिये तो इच्छा ही क्यों होनी चाहिये? प्रभो! जगत्‌के जीव संसारके अँधेरे कुएँमें पड़कर सड़ रहे हैं। मैं इनकी ही भाँति सड़ना नहीं चाहता। मैं तो आपके भक्तोंकी सङ्गति चाहता हूँ। आप अनन्त हैं, आप ज्ञानस्वरूप हैं, आपके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। मैं आपकी शरण हूँ।

'भगवन्! इस मनको आपकी कथा सुनकर जितना

प्रफुल्ल होना चाहिये, नहीं होता। अनेकों प्रकारकी कामनाएँ हर्ष-शोकके भाव इसे व्यथित किया करते हैं। ऐसे मनसे आपको कैसे ढूँढ़ूँ, कैसे पाऊँ? एक ओर जीभ खींचती है, एक ओर स्पर्श-सुखका प्रलोभन खींचता है, एक ओर जननेन्द्रिय विवश करती है, कहाँतक कहूँ, सभी इन्द्रियाँ मुझे परेशान किया करती हैं। यह केवल मेरी ही बात नहीं, साधारण जीवमात्रकी बात है। जैसे बहुत-सी सौतें एक पतिको चारों ओरसे नोचती-खसोटती रहती हैं, वैसे ही जीव इन इन्द्रियोंके पंजेमें पड़कर परेशान हो रहे हैं। अनेकों ऋषि, महर्षि इन्हें छोड़कर तपस्या करते हैं, वे केवल अपनी मुक्ति चाहते हैं। उनका ऐसा चाहना भी ठीक है, परंतु प्रभो! मुझसे ऐसा नहीं होता। ऐसी कृपा कीजिये कि सबका उद्धार हो जाय।

'प्रभो! अब इतने उग्र तेजकी कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। आपके भयंकर रूपको देखकर लोग डर रहे हैं, अब उन्हें भयभीत करनेसे क्या लाभ? ऐसी कृपा कीजिये कि उनका भय मिट जाय। मेरा मन आपका स्मरण करे, मेरी वाणी आपका गुणगान करे, मेरा शरीर आपकी सेवामें लग जाय।'

प्रार्थना करते-करते प्रह्लाद तन्मय हो गये और बहुत सुन्दर प्रार्थना, जिसका वर्णन भागवतके सप्तम स्कन्धमें है, उन्होंने की। अपने भक्तकी मधुर वाणी सुनकर भगवान् प्रसन्न हो रहे थे। उन्होंने कहा—'बेटा! तुम्हारा कल्याण हो। तुमपर मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो माँग लो। मेरे दर्शनके पश्चात् किसी बातका ताप-संताप नहीं रह जाता।' भगवान्‌की यह प्रलोभन-वाणी सुनकर प्रह्लादका मन तनिक भी विचलित नहीं हुआ। उन्होंने मुसकराते हुए कहा—'भगवन्! मैं तो जन्मसे ही सांसारिक विषयोंमें फँसा हुआ हूँ। वरदानके बहाने आप मुझे उनमें ही और अधिक न फँसावें। मैं उनसे डरकर, दुखी होकर उनसे मुक्त होनेके लिये आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो! आप मेरा हृदय टटोलनेके लिये ही ऐसी बात कहते होंगे। नहीं तो, आप करुणा-सागर हैं, सबको कल्याणके मार्गपर चलानेवाले हैं। ऐसी बात आप कैसे कह सकते हैं। जो आपसे किसी वस्तुको पाना चाहता है, वह सेवक नहीं, व्यापारी है। सकाम पुरुष कभी सच्चा सेवक नहीं हो सकता। मैं आपसे कुछ नहीं चाहता। आपकी सेवा करना चाहता हूँ। राजा और नौकरकी भाँति हमारा लेन-देनका कुछ सम्बन्ध नहीं। यदि आप मुझे वरदान देना ही चाहते हैं तो कृपा करके यही वरदान दीजिये कि कभी किसी वस्तुका वरदान माँगनेकी कामना ही न हो, कामना ही आपसे अलग किये हुए है। कामना नष्ट होते ही पुरुष आपके पास पहुँच जाता है। भगवन्! मैं आपके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ।'

प्रह्लादके वचन सुनकर नृसिंह भगवान्‌ने कहा—'प्रह्लाद! वास्तवमें जो तुम्हारे-जैसे मेरे सच्चे भक्त हैं, वे कभी लौकिक या पारलौकिक वस्तु मुझसे नहीं चाहते। फिर भी एक मन्वन्तरके लिये मैं तुम्हें दैत्योंका राजा बनाये देता हूँ। डरो मत। मेरी कथा सुनते रहना। सर्वत्र मुझे देखते रहना और मेरी आराधनासे प्रारब्ध कर्मको नष्ट करते रहना। पुण्योंका भोग कर लो। ज्ञानसे पापोंको नष्ट कर दो। सारे संसारमें मेरी भक्तिका विस्तार करो। समय आनेपर शरीर छोड़कर मेरे लोकमें आ जाना।'

प्रह्लादने कहा—'प्रभो! मुझे एक बातकी चिन्ता है। मेरे पिताजीकी सद्गति हुई या नहीं? आपसे वे द्वेष करते थे, मुझपर उनकी क्रोधदृष्टि थी, उन्हें इसके फलस्वरूप दुर्गति तो नहीं भोगनी पड़ेगी?'

नृसिंह भगवान्‌ने कहा—'प्रह्लाद! जिस वंशमें तुम्हारे-जैसे भगवद्भक्तका जन्म होता है, उसकी इक्कीस पीढ़ियाँ तर जाती हैं, तुम्हारा पिता तो तुम्हारा पिता ही है। उसके सम्बन्धमें क्या कहना है! जिस देशमें मेरे भक्त रहते हैं, वह मगध होनेपर भी दूसरोंको पवित्र करनेवाला हो जाता है। अब तुम जाकर अपने पिताकी अन्त्येष्टि क्रिया करो।' भगवान्‌की आज्ञा पाकर प्रह्लाद पिताकी अन्त्येष्टि क्रिया करने चले गये।

ब्रह्माने देवताओंके साथ आकर नृसिंह भगवान्‌की स्तुति की। भगवान्‌ने ब्रह्माको सावधान किया कि अब आगेसे दैत्योंको ऐसा वर मत देना। ब्रह्माने आज्ञा शिरोधार्य की। तदनन्तर शुक्राचार्य आदिके साथ भगवान् नृसिंहने प्रह्लादका राज्याभिषेक किया। कुछ समयतक उन्हें समझा-बुझाकर वे अन्तर्धान हो गये।

भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर उनके आज्ञानुसार प्रह्लाद राज-काज करने लगे। उनके राजत्वकालमें भूमण्डलपर चारों ओर भक्त-ही-भक्त दिखायी देते थे। वे संत-महात्माओंको ढूँढ़-ढूँढ़कर उनका सत्सङ्ग करते, प्रजाकी एक-एक इच्छा पूर्ण करते। उनके राज्यमें सभी लोग सुखी थे, कभी

किसीको किसी प्रकारका कष्ट हुआ ही नहीं । वे निरन्तर इसी चेष्टामें रहते थे कि सभी लोगोंका कल्याण हो, सब आनन्दसे रहें, सब भगवान्‌को प्राप्त करें । वे भगवान् नृसिंहका स्मरण करते हुए प्रतिदिन इस मन्त्रका जप किया करते थे—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

नृसिंह भगवान्‌के बहुत-से मन्त्र हैं और बहुत-सी मूर्तियाँ हैं । उनमें कुछ तो इतने भयंकर हैं कि उनका प्रयोग गृहस्थोंके लिये उचित नहीं है । यहाँ केवल एक लक्ष्मी-नृसिंहमन्त्रका वर्णन किया जाता है, जो यह है—'ॐ श्रीं ह्रीं श्रीं जय लक्ष्मीप्रियाय नित्यप्रमुदितचेतसे लक्ष्मीश्रितार्धदेहाय श्रीं ह्रीं श्रीं नमः ।' इसके ऋषि प्रजापति हैं, अनुष्टुछन्द है और लक्ष्मीनृसिंह देवता हैं । श्रीबीजसे षडङ्गन्यास करना चाहिये । इनका ध्यान इस प्रकार बतलाया गया है—

सर्पेन्द्रभोगशयनः सर्पेन्द्राभोगछत्रवान् ।
आलिङ्गितश्च रमया दीप्तभासेन्दुसंनिभः ।
पद्मचक्रवराभीतिभृत्त्र्यक्षेन्दुशेखरः ॥

—भगवान् नृसिंह शेषशय्यापर शयन कर रहे हैं, शेष अपने फणोंसे छाया किये हुए हैं, भगवती लक्ष्मी उनकी सेवा कर रही हैं और उनके शरीरसे शीतल प्रकाश फैल रहा है । एक हाथमें कमल है, दूसरेमें चक्र । एक हाथसे वर-दान कर रहे हैं और दूसरे हाथसे निर्भय कर रहे हैं । आँखें तीन हैं और ललाटपर चन्द्रमा है । इस प्रकार ध्यान करते हुए विधिपूर्वक उपर्युक्त मन्त्रका जप करनेसे अभीष्टसिद्धि होती है ।

बोलो श्रीनृसिंह भगवान्‌की जय !

श्रीवामनावतार-कथा

(१)

श्रीभगवान्‌की लीला बड़ी रसमयी है । अपनी लीलाके रूपमें वे स्वयं अपनेको ही प्रकट करते हैं । भगवान् और भगवान्‌की लीला ये दोनों भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं । एक प्रकारसे यह सम्पूर्ण संसार भगवान्‌की लीला ही है । ये सब नाम-रूप उन्हींके हैं, वे ही हैं, परंतु वे इतने ही नहीं, इनसे परे भी हैं । उनकी सत्ता, उनका स्वरूप और उनकी लीला अनिर्वचनीय है ।

जब जीव प्रमादवश भगवान्‌के स्वरूप और लीलाको भूलकर उनसे भिन्न प्राकृत पदार्थोंसे सुख पानेकी आशा एवं अभिलाषा करता है और बहिर्मुख होकर उन्हींके पीछे भटकने लगता है, तब वह उद्वेग, अशान्ति एवं दुःखसे घिर जाता है । भगवान् वैसी स्थितिमें भी उसे बार-बार चेतावनी देते रहते हैं और प्रतीक्षा किया करते हैं कि वह अभिमान तथा भौतिक पदार्थोंका भरोसा छोड़कर सच्चे हृदयसे मुझे पुकारे तो मैं अभी चलकर उसे गलेसे लगा लूँ, उसपर अपना अनन्त प्रेम प्रकट करूँ तथा सर्वदाके लिये सुख-शान्तिके साम्राज्यमें वास दे दूँ । वे स्वयं उसके लिये कई बार मौका देते हैं, हृदयमें प्रेरणा करते हैं, संतोंको भेजते हैं और स्वयं आते हैं ।

परंतु जीवकी यह मोहनिद्रा टूटे तब तो यह आयोजन सफल हो । भगवान्‌की दयाका तो क्या वर्णन किया जाय । उन्होंने तो समस्त जीवोंको दयाके अनन्त समुद्रमें ही रख छोड़ा है । उनके अनन्त उपकार, अपार कृपा और अपरिमित प्रेमसे सब-के-सब दबे हुए हैं ।

जब अभिमान, कामना और भयके थपेड़ोंसे व्याकुल होकर, रजोगुणके नाना व्यापारोंसे ऊबकर नरक, स्वर्ग आदिमें चक्कर खाते-खाते परेशान होकर भी लोग सात्त्विकता, दैवी सम्पत्ति एवं भगवान्‌की शरण नहीं ग्रहण करते, उलटे तमोगुणकी प्रगाढ़ निद्रामें सो जाते हैं, चराचरका प्रलय हो जाता है, तब यदि भगवान् प्रकृतिको क्षुब्ध करके इन्हें जगाते नहीं तो उस मोहनिद्रासे कैसे छुटकारा मिलता । सोतेसे जगाया, ज्ञानका संचार किया । तमसे रजमें लाकर सत्त्वकी ओर अग्रसर किया । अब क्या जीवन-दान करनेवाले प्रभुकी शरण लेना भी हमारा कर्तव्य नहीं है ? क्या हम इतना भी नहीं कर सकते ?

केवल कृतज्ञताकी दृष्टिसे ही नहीं । उनका आश्रय लिये बिना हमारा काम भी तो नहीं चल सकता । हम चाहे जितना प्रयत्न करें, जितना हाथ-पैर पीटें, बिना उनके हमारे सुख-शान्ति आदि स्थायी भी तो नहीं रह सकते । दो-चार दिनके लिये कुछ गुणोंकी छाया भले ही आ जाय, भगवान्‌के बिना उनका टिकाऊ होना असम्भव है । यह

आजकी बात नहीं—सर्वदासे ऐसा ही होता आया है।

भगवान्‌की कृपासे देवताओंका राज्य हुआ। स्वर्गके सिंहासनपर इन्द्रका राज्याभिषेक हुआ। वहाँ भोगोंकी तो कोई कमी थी ही नहीं। परंतु कामनाओंका अभाव कब होता है? यह तो भगवान्‌की बड़ी कृपाका फल है। देवसभामें सर्वसम्मतिसे निश्चय हुआ कि हमलोगोंके पास भोगकी प्रचुर सामग्री रहनेपर भी मृत्युके भयसे उसका पूर्णतः भोग नहीं हो पाता। यह डर लगा ही रहता है कि न जाने कब मृत्यु हमें इनसे अलग कर देगी। कोई ऐसा उपाय किया जाय जिससे हमलोग अमर हो जायँ।

देवता तो थे ही। इनका यही लक्षण है कि ये भगवान्‌की शरण नहीं छोड़ते। सबने एक स्वरसे भगवान्‌से प्रार्थना की और भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्‌ने इनकी अभिलाषा पूर्ण की। केवल अमृतमन्थनके लिये भगवान्‌ने अपनेको अनेक रूपोंमें प्रकट किया।

मन्दराचलको लाना, उसे कच्छप बनकर पीठपर धारण करना, बाहर देवताओंके साथ मथना, धन्वन्तरिके रूपमें अमृत लाना, मोहिनीके रूपमें पिलाना और अन्तमें बलि आदि दैत्योंको युद्धमें पराजित कर देना, सब काम स्वयं भगवान्‌ने ही तो किया था। परंतु अब देवताओंकी अभिलाषा पूर्ण हो गयी थी। उनके पास भोगोंकी कमी थी ही नहीं, मृत्युका भय छूट ही गया था। अब भगवान्‌को भला कौन याद करे? होना तो यह चाहिये कि कामनाओंकी पूर्ति और भय-निवृत्ति हो जानेपर भगवान्‌का अधिकाधिक स्मरण हो। परंतु इससे उलटा ही होता देखा गया है।

अपनी विजयके गर्वमें देवतालोग भगवान्‌को भूल गये, विषयपरायण हो गये। उनमें देवत्वके स्थानपर असुरत्व घुस आया। परंतु यह भी निश्चित है कि भगवान्‌के बिना चाहे दैवी सम्पत्ति हो या लौकिक सम्पत्ति, टिक नहीं सकती। हुआ भी ऐसा ही।

उधर हारे हुए दैत्य बड़ी सावधानीके साथ पूरे प्रयत्नसे अपना बल बढ़ाने लगे। अपने कुलगुरु शुक्राचार्यकी सम्मतिसे बड़े भारी यज्ञका आयोजन हुआ। विधिपूर्वक अनुष्ठान होने लगे। यहाँ असुरभावके स्थानपर देवभावकी जागृति होने लगी। हारनेवाला जीत गया और जीतनेवाला हार गया। स्वयं अग्निदेवने प्रकट होकर रथ, घोड़े आदि एवं आशीर्वाद दिया। बलिका अभिषेक हुआ। बड़ोंकी वन्दना करके उन्होंने विजययात्रा की।

देवतालोग अपनी अमरताके घमंडमें चूर थे। विषयोंकी मदिरा पीकर पागल थे। लक्ष्मी उनसे अप्रसन्न थीं; क्योंकि वहाँ न उनके पतिकी पूजा थी, न उनकी ही। बात-की-बातमें दैत्योंने उन्हें स्वर्गसे खदेड़ दिया। जिनके पास भगवान्‌का बल नहीं है, भला वे किस बलपर—कितनी देरतक किसी आपत्ति, विपत्ति या द्वन्द्वका सामना कर सकते हैं। मर सकते नहीं थे, विषयभोग छिन गये, साधारण जीवोंकी अपेक्षा भी अधिक दुर्दशा भोगनी पड़ी। किसीने वन-बीहड़की शरण ली और किसीने नदीतटपर अड्डा जमाया। स्वर्गपर बलिका अधिकार हो गया। वे ही अब इन्द्र हुए।

देवेन्द्रके दुःखका पारावार नहीं था। कलका इन्द्र आज भिखारी है। कलका त्रिलोकाधिपति एकच्छत्र शासक आज दुत्कारा जा रहा है। अमृत पीनेवालेको पानी नहीं मिलता। खानेको अन्न नहीं, पहननेको वस्त्र नहीं। इस अवस्थाके दुःखका अनुमानमात्र किया जा सकता है। कोई क्षत्रिय राजा होता तो लड़कर सामने युद्धमें प्राण त्याग देता; परंतु इसमें तो इनकी वही अमरता, जिसके बलपर ये फूले नहीं समाते थे, बाधक हो रही थी। इसीको कहते हैं—समयका फेर।

जब वे सर्वथा निराश हो गये, तब अपनी माँकी याद आयी। वे सोचने लगे—अब माताकी शरणमें जानेसे ही कल्याण हो सकता है। जिसके हृदयके खूनसे इस जीवनकी रचना एवं रक्षा हुई है, जिसने अपने गर्भमें महीनों इसका वहन किया है; जब चलना नहीं आता था, तब चलना सिखाया, बोलना नहीं आता था बोलना सिखाया, पहनना नहीं आता था पहनना सिखाया, जिसकी शिक्षा-दीक्षा एवं कृपासे इतने उच्च पदपर आसीन हुए और वास्तवमें जिसका यह शरीर और जीवन है, उसी माँके पास चलना चाहिये।

उनकी माताका नाम अदिति था। ये दक्ष प्रजापतिकी पुत्री तथा महर्षि कश्यपकी धर्मपत्नी थीं। ये महर्षि कश्यपकी विभिन्न पत्नियोंमें एक थीं और इन्हें ही देवजननी होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कश्यप महर्षि तो अलग एक एकान्त कुटीरमें भगवच्चिन्तनमें लगे रहते थे। अब पितामहकी आज्ञाका पालन कर चुके थे, विभिन्न पत्नियोंसे असंख्य संतानोंकी सृष्टि कर चुके थे। उनका एकमात्र काम था—भगवच्चिन्तन। दूसरी स्त्रियाँ अपने प्रतापशाली पुत्रोंके साथ

रहती थीं। केवल अदिति ही—उनकी कुटीरसे थोड़ी दूरपर एक आश्रममें रहकर अपने पतिकी सेवामें लगी रहती थी। वह अपने पतिदेवको ही साक्षात् भगवान् समझती थी और उन्हींकी सेवा-पूजामें लगी रहती थी। उसके सामने बड़े-बड़े प्रलोभन आये, अपना ही पुत्र देवेन्द्र हुआ, विषय-भोगोंकी क्या कमी थी, परंतु पतिसेवाके सामने वह उन्हें तुच्छ समझती थी। अपना लड़का सुखी है, संतुष्ट है और अपना काम कर रहा है, इतना जान लेनेके बाद फिर उसे कभी उनका स्मरण भी नहीं हुआ। वह निरन्तर मन, कर्म और वाणीसे पतिसेवामें ही लगी रही।

इन्द्रने सोचा कि पिताजी तो समदर्शी हैं, देवता-दैत्य दोनों ही उनके पुत्र हैं। वे भला क्यों हमारे लिये यत्नशील होने लगे। वे सीधे अपनी माताके आश्रमपर पहुँचे। वह अपने पतिदेवके लिये फलाहारकी सामग्री कर रही थीं। एकाएक देवेन्द्र आकर उनके चरणोंपर गिर पड़े। उनकी आँखोंके आँसूसे माताके चरण भीग गये। अपने पुत्रको इस अवस्थामें देखकर माता अदितिकी क्या दशा हुई, इसकी कल्पना कोई मातृहृदय ही कर सकता है। अदितिने झट देवेन्द्रको अपने दोनों हाथोंसे उठाकर छातीसे लगा लिया। उनकी स्थितिकी कल्पनासे माताका हृदय बह पड़ा और आँसुओंकी धारासे देवेन्द्रका मस्तक सिक्त हो गया।

थोड़ी देर बाद सम्हलकर अदितिने देवेन्द्रको ढाढ़स बँधाया और समझाया कि 'बेटा! इतना निराश, उदास क्यों होते हो? क्या भगवान्पर तुम्हारा विश्वास नहीं है? वे सर्वदा सर्वथा भला ही करते हैं। उनके दरबारमें अन्यायके लिये स्थान नहीं है। वे दयामूर्ति हैं। जब कहीं पतनकारी दोष देखते हैं, तब क्षणभरके लिये आड़में खड़े हो जाते हैं और उन अभिमानादि दोषोंका नाश करनेके लिये मानो उसपर दुःखका पहाड़ डाल देते हैं। उनपर विश्वास रखनेवाले इस स्थितिमें बड़ा आनन्द लेते हैं। इस आँखमिचौनी-की भूलभुलैयामें पड़कर वे उन्हें कोसने नहीं लगते। बल्कि कहते हैं कि तुम्हारी लीला बड़ी रसमयी है।'

(२)

सुमेरु पर्वतके एक ऊँचे शिखरपर महर्षि कश्यपका आश्रम था। चारों ओर हरे-भरे वृक्ष, लताओंके सुन्दर कुञ्ज, खिले-अधखिले रंग-बिरंगे अनेकों प्रकारके सुगन्धित पुष्प और उनपर मँडराते हुए भौंरोंके गुञ्जार तथा नाना प्रकारके पक्षियोंके कलरवसे वह शोभायमान था। सामने ही वेगसे बहते हुए झरनेकी धवल धारा हर-हर-हर-हरकी आकाशभेदी ध्वनिसे प्रकृतिके अणु-अणुमें भगवत्प्रेमका संचार कर रही थी। सर्वत्र शान्ति थी।

अपने शान्तिमय कुटीरमें पवित्र आसनपर स्वाभाविक सिद्धासनसे बैठकर महर्षि कश्यप भगवच्चिन्तनमें तल्लीन थे। न उनके सामने जगत्की विभिन्नताएँ थीं, न जगत् था। एकमात्र रसमय आनन्दमय ज्ञानस्वरूप सर्वत्र और सर्वत्रके परे विराजमान अनुभवरूप भगवान् श्यामसुन्दर ही उनके हृदय-मन्दिरमें विहार कर रहे थे और महर्षि कश्यप सब कुछ भूलकर उनके स्वरूप और लीलाकी अभेदानुभूतिमें ही मग्न थे।

न जाने कितना समय बीत गया। ऐसी स्थितिमें युग-के-युग एक क्षणकी भाँति बीत जाते हैं। मध्याह्न-संध्याके अवसर-पर प्रतिदिनकी भाँति ध्यान टूटा। धीरे-धीरे शरीर और जगत्का स्मरण आया। पर्वत, वृक्ष, नदी, आश्रम और अदिति एक-एक करके सभी सामने आये। परंतु सबकी स्मृति आनेपर भी वे भगवान्को नहीं भूले। बल्कि वे सबको भगवान्की लीला समझ रहे थे। यह जगत् तभीतक भगवान्को भुलानेमें समर्थ होता है, जबतक इसके भगवत्सम्बन्धका बोध नहीं होता। जब यह बात समझमें आ जाती है कि यह सब भगवान्का है या सब भगवान् है, तब इस जगत्की सभी चीजें भगवान्की याद दिलाती हैं। महर्षि कश्यप सभी वस्तुओंको देख-देखकर मुग्ध हो रहे थे।

आज एकाएक भगवत्प्रेरणा हुई कि अदितिके आश्रमपर चलें। भगवान्की इस लीलाका रस लेनेके लिये वे तुरंत चल पड़े। मार्गमें उछलते हुए हिरन, कूजते हुए मयूर, चहकते हुए पक्षी और गरजते हुए साँवले बादलोंको देख-देखकर भगवत्प्रेममें मस्त होते जाते थे। अदितिका आश्रम इतना जल्दी आ गया कि वे देखकर आश्चर्यचकित हो गये।

अदितिने बड़ी तत्परतासे अगवानी की। चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् करनेके पश्चात् पवित्र आसनपर बैठाकर उनके चरण पखारे। चरणामृत लेकर उससे अपने आश्रमका अभिषेक किया। फिर विधिपूर्वक षोडशोपचार पूजा करके हाथ जोड़कर सामने बैठ गयी। मानो किसी आज्ञाकी प्रतीक्षामें हो।

कश्यपने देखा—सब व्यवहार पूर्ववत् सप्रेम और

सविधि होनेपर भी आज अदिति कुछ उदास है । इसके मनमें कोई चिन्ता अवश्य आ गयी है । सोचने लगे—क्या यह किसी अतिथि-अभ्यागतका सत्कार नहीं कर सकी है अथवा किसी याचकको कुछ देनेकी प्रतिज्ञा करके नहीं दे सकी है, परंतु यह तो इसके लिये असम्भव है । किसीका तिरस्कार तो इससे हो ही नहीं सकता । तब इसकी चिन्ताका क्या कारण है ? महर्षि कश्यप स्वयं चिन्तित हो गये ।

थोड़ी ही देरमें मानो उनके हृदयमें किसीने कहा—माता केवल पुत्रके कष्टसे ही चिन्तित होती है । उन्होंने योगबलसे जान लिया कि इन्द्रादि देवता किस प्रकार स्वर्गसे वञ्चित हो गये हैं । क्रमशः अदितिके पास इन्द्रका आना और अदितिके आश्वासनकी बात भी जान ली । अदितिके हृदयमें भगवान्‌का अगाध विश्वास देखकर महर्षि कश्यप पुलकित हो गये । उन्होंने सोचा—अदिति तो कुछ कहेगी नहीं, अब इसकी चिन्ता-निवृत्तिका कुछ उपाय होना चाहिये ।

कहीं-कहीं और विशेष करके महात्माओंके पास कुछ कहनेकी अपेक्षा न कहनेका प्रभाव अधिक पड़ता है । परंतु इसमें बड़े धैर्यकी आवश्यकता होती है । इस परीक्षामें अदिति पास हो गयी । इसी समय इन्द्रने आकर प्रणाम किया । उन्हें चरणोंमेंसे उठाकर कश्यपने हृदयसे लगाया और अनेकों प्रकारसे समझाया ।

उन्होंने बताया कि इस सृष्टिका उद्देश्य तभी पूरा होता है जब भगवान्‌का भजन किया जाय । यदि तुम स्वर्गके स्वामी होकर भगवान्‌को ही भूल गये; अभिमान, काम, क्रोध और विषयोंके सेवक बन गये तो यह आवश्यक था कि तुम्हें उस स्थानसे च्युत करके चेतावनी दी जाय । अब सम्हल जाओ और पूर्णरूपसे भगवान्‌की शरण ग्रहण करो । उनकी सेवामें ही अपनी सारी शक्ति लगा दो ।

इसके बाद सभी देवता और इन्द्र इकट्ठे हुए और सब आग्रह करके कश्यप तथा अदितिको ब्रह्मलोक—ब्रह्माकी सभामें ले गये । वहाँ उस समय देवाधिदेव महादेव, सम्पूर्ण अधिष्ठातृ देवता एवं मुख्य-मुख्य महर्षि उपस्थित थे एवं भगवान्‌की लीला तथा संसारकी रक्षा-दीक्षाकी चर्चा चल रही थी ।

इन लोगोंका यथायोग्य सत्कार हुआ । सब यथास्थान बैठ गये । जगत्‌की वर्तमान अवस्थापर विचार होने लगा । देवताओंने अपनी विपद्-गाथा कह सुनायी । बलिके राज्यके कारण दैत्योंकी मनमानी बढ़ गयी है । स्वभावसे ही आसुरी सम्पत्तियुक्त होनेके कारण वे महान् उपद्रव कर रहे हैं, इत्यादि बातें होनेके पश्चात् सर्वसम्मतिसे क्षीरसागरके तटपर जानेका निश्चय हुआ ।

ब्रह्मा, शङ्कर, कश्यप, अदिति, इन्द्र एवं सम्पूर्ण महर्षि, देवता आदि क्षीरसागरके तटपर जाकर एक स्वरसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे । पुरुषसूक्तकी मधुर एवं गम्भीर ध्वनिसे सारा वायुमण्डल मुखरित हो उठा । सबके मन, वाणी, प्राण, शरीर, बुद्धि एवं आत्मा भगवान्‌की प्रार्थनामें लग गये ।

प्रार्थना कभी विफल नहीं जाती, किंतु उसे पूर्ण शक्तिसे होना चाहिये । अपने तमोगुण, रजोगुणकी समस्त वृत्तियोंकी प्रवृत्ति सत्त्वाभिमुख करके भगवान्‌की प्रार्थनामें लग जाना चाहिये । जितनी गम्भीरतासे प्रार्थनाके भाव या शब्द निकलेंगे उतनी ही जल्दी प्रार्थनाकी पहुँच होती है ।

आज तमोगुण और रजोगुणके अधिष्ठातृ देवता शङ्कर एवं ब्रह्मा सत्त्वगुणके उज्ज्वल प्रतीक क्षीरसागरके तटपर एकत्रित हुए हैं । उनके साथ समस्त देवता, महर्षि आदि जिन्हें विश्वके इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं आत्मा कह सकते हैं, सब-के-सब एक स्वरसे भगवान्‌को पुकार रहे हैं । सर्वत्र होनेपर भी भगवान् क्षीरसागरमें अर्थात् सत्त्वके साम्राज्यमें ही निवास करते हैं एवं प्रकट होते हैं ।

ज्यों ही एकाग्रता हुई और सबकी सम्पूर्ण शक्ति प्रार्थनामें लगी कि भगवान् प्रकट हो गये । वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल शरीर, पीताम्बर धारण किये हुए, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान्‌को गरुडपर आते हुए देखकर सब-के-सब आनन्दसे भर गये । तन-बदनकी सुध भूल गयी । नेत्रोंमें आँसुओंकी धारा, शरीरमें रोमाञ्च और वाणीमें बोलनेकी शक्ति नहीं, यही सबकी दशा थी । सब निश्चेष्ट थे ।

भगवान्‌ने अपनी कृपामयी दृष्टिसे सबमें शक्तिसंचार किया । लोग उठकर खड़े हुए । सिर झुके थे, अञ्जलियाँ बँधी थीं । ब्रह्माने सबका प्रतिनिधित्व किया—'प्रभो ! आप तो सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और परम दयालु हैं । क्या इस समय आपकी यही इच्छा है कि आसुरी सम्पत्तिकी वृद्धि हो । इन्द्रके राजत्वकालमें बलिका राज्य हो । असुरोंके उपद्रवसे त्रिलोकी त्रस्त है, भगवन् ! दया करो ! दया करो !!'

भगवान्‌ने मुसकराते हुए कहा—'आपलोग घबरायें नहीं । मैंने सब व्यवस्था कर रक्खी है । मैं शीघ्र ही कश्यपके द्वारा

अदितिके गर्भसे अवतार ग्रहण करूँगा। संतोष करो, शान्त हो, सुखी हो।'

भगवान्‌की अभय-वाणी सुनते ही सभी प्रसन्नतासे खिल उठे। कश्यप-अदितिके आनन्दकी तो सीमा ही नहीं थी। भगवान्‌के अन्तर्धान होनेपर सभी अपने-अपने लोकमें चले गये। कश्यप-अदिति भी अपने आश्रमपर आये।

अदितिकी प्रसन्नताका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे चिन्ता थी तो केवल यही कि जिन प्रभुके संकल्पमें समस्त विश्व ब्रह्माण्ड रहते हैं, उनको मैं अपने गर्भमें कैसे वहन कर सकूँगी। फिर सोचती मानो भगवान् कह रहे हैं 'अरी पगली! तू मुझे मेरे गर्भमें रहनेकी चिन्ता क्यों कर रही है, मैं तुम्हें भी धारण करूँगा और सारे जगत्‌को भी।' कभी-कभी उसके मनमें यह बात आती कि—मैं तो स्वार्थकी पुतली हूँ। मैंने अपने पुत्रोंके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की। फिर मनमें आता कि इसीमें तो जगत्‌का हित भी है न। उनकी इच्छा भी ऐसी ही है। यह बात सोचते ही वह गद्गद हो जाती कि भगवान् हमारे पुत्र होंगे। वह भगवान्‌की दया और करुणाकी बात सोचकर आनन्दके समुद्रमें डूब जाती।

महर्षि कश्यपसे आज्ञा लेकर उसने अनेकों व्रत-अनुष्ठान आदि किये। वह सोचती कि मेरे कलुषित हृदयमें भगवान् कैसे रहेंगे? महर्षि कश्यप कहते—'तू तो बावली हो गयी है, भगवान् जहाँ आते हैं वहाँ सब स्वयं शुद्ध हो जाता है। बस, तू उनका नाम रट।' अदितिका समय आत्म-शुद्धिके नियमोंमें और भगवान्‌की मधुर प्रतीक्षामें ही बीतता। आखिर एक दिन भगवान् उसके गर्भमें आ ही गये।

(३)

किसी-किसी पुराणमें ऐसी कथा आती है कि स्वर्गपर दैत्योंके आधिपत्य और देवताओंकी पराजयका समाचार सुनकर अदितिके मातृ-हृदयको बड़ा कष्ट पहुँचा। वह उदास रहने लगी। आश्रमके कामकाज भी ठिकानेसे न होते। एक दिन जब महर्षि कश्यप उसके आश्रमपर आये, तब वहाँकी दशा देखकर आश्चर्यमें पड़ गये। अदितिने विधि-पूर्वक उनकी पूजा की। इस उदासीका कारण पूछनेपर अदितिने सारी बात कह सुनायी और इस आपत्तिके निवारण-का उपाय पूछा।

महर्षि कश्यपने पहले तो समझानेकी चेष्टा की। उन्होंने कहा—'प्रिये! हमलोग आश्रमवासी हैं। हमारा बस, यही काम है कि सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌का ही भजन करें। यह सारा संसार भगवान्‌का है। इसके बनानेवाले, रक्षा करनेवाले एवं प्रलय करनेवाले वही हैं। वे जो कुछ करते हैं अच्छा ही करते हैं। उनके दरबारमें अन्यायके लिये स्थान नहीं। अपनी संतानपर भी भला कोई अत्याचार कर सकता है? हम सब देव, दानवादि उन्हींकी संतान हैं। हमने झूठ-मूठ यह सम्बन्ध जोड़ रखा है कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा भाई है। यह सब मोहके कारण है। इसे छोड़कर भगवान् जो कुछ करते हैं उसीमें प्रसन्न रहकर प्रेमपूर्वक भजन करो।'

महर्षि कश्यपके इस उपदेशका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसका मातृ-हृदय अपने पुत्रोंके कल्याणके लिये अकुला उठा। वह उनका चरण पकड़कर रोने लगी। भगवान्‌की ऐसी ही प्रेरणा समझकर उन्होंने पयोव्रत नामके अनुष्ठानकी विधि बतायी और उसीके द्वारा भगवान्‌की आराधना करनेकी सलाह दी। अदिति बड़ी तत्परताके साथ प्रेमसे उसमें जुट गयी।

यद्यपि सकामकी अपेक्षा भगवान्‌की निष्काम आराधना ही उत्तम है तथापि जिनके मनमें सांसारिक कामनाएँ हैं वे निष्काम आराधना नहीं कर सकते। उन्हें यदि निष्काम भावका उपदेश किया जाय तो उसमें उनका मन नहीं लगेगा और यदि अपनी आशा पूरी न होनेकी सम्भावनासे आराधना ही छोड़ दी तब तो सर्वनाश हो गया। ऐसी स्थितिमें दो ही उपाय हैं, यदि कामना-नाशकी श्रेष्ठता साधककी समझमें आ जाय तब तो वह आराधना करके भगवान्‌से उसके नाशकी प्रार्थना करे, नहीं तो, अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये ही भगवान्‌की आराधना करे। उसका कल्याण अवश्य होगा। सर्वसाधारण प्रायः इसीके अधिकारी हैं।

अदितिके हृदयमें विश्वास था, श्रद्धा थी, पूरी तत्परता थी और था इन्द्रियोंका महान् संयम। किसी भी साधनाके लिये इनकी अनिवार्य आवश्यकता है। वह लग गयी, पूर्णतः लग गयी।

वह फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीयुक्त अमावस्याके प्रातःकाल उठी, नित्यकृत्यसे निवृत्त होकर वाराह भगवान्‌की वन्दना करके अपने शरीरमें मिट्टी लगायी और झरनेमें विधिपूर्वक स्नान किया। संध्या-वन्दनादि करके भगवान्‌की पूजामें लग गयी। आवाहन, स्वागत, अर्घ्य, पाद्य आदि षोडशोपचार पूजा की। अलग-अलग सबके मन्त्रोंका तथा द्वादशाक्षर मन्त्रका उच्चारण किया। खीर आदि दूधके बने पदार्थोंका

भोग लगाकर भक्तोंको प्रसाद बाँटकर स्वयं बड़े प्रेमसे प्रसाद ग्रहण किया। एक सौ आठ मन्त्रोंका जप करके श्रद्धा-भक्तिसे स्तुति करने लगी।

'प्रभो! आप ही सारे जगत्के रक्षक हैं, आप ही सबके आधार हैं। भक्तवत्सल भगवन्! दया करो। दया करो।'

स्तुति करते-करते गद्गद होकर साष्टाङ्ग जमीनपर लोट गयी। प्रदक्षिणा की, पुष्पाञ्जलि की और विसर्जन करके दो ब्राह्मणोंको भोजन कराया। उनके खीर आदि खा लेनेके पश्चात् आज्ञा लेकर स्वयं भोजन किया। फिर रातमें भूमि-शयन आदिका व्रत ग्रहण किया।

फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदसे लेकर द्वादशी पर्यन्त पयोव्रत होता है। इसमें दूधकी ही मुख्यता रहती है। दूधमें भगवान्‌का स्नान, दूधसे बनी वस्तुओंका नैवेद्य, उसीसे ब्राह्मण-भोजन और उसीका प्रसाद पाना होता है। प्रतिदिन विधिपूर्वक भगवान्‌की पूजा, हवन, ब्राह्मणभोजन, त्रिकाल स्नान, तर्पण आदि किया जाता है। अदितिने बड़े मनोयोगसे बारह दिनतक सब नियमोंका पालन किया। वह कुसङ्गसे दूर रहकर सम्पूर्ण प्राणियोंसे प्रेम करती और सम्पूर्ण विषयभोगों एवं आरामकी सामग्रियोंसे विरक्त रहकर भगवान्‌के चिन्तन, स्तवन एवं भजनमें लगी रहती।

त्रयोदशीके दिन तो महान् उत्सव हुआ। अपनी शक्तिके अनुसार भगवान्‌की पूजा हुई। बड़ा भारी हवन हुआ। ऋत्विजों एवं गुरुओंको बहुत बड़ी दक्षिणा दी। ब्राह्मणोंसे लेकर चाण्डालोंतकको यथायोग्य भोजन कराया। भजन, कीर्तन, नृत्य, गान हुए। भगवान्‌के स्वरूप, जन्म-कर्मकी कथाएँ हुईं। इन दिनों निरन्तर सावधान रहकर बड़ी एकाग्रतासे भगवान् वासुदेवका चिन्तन करती हुई ही अदितिने अपना सारा समय पूरा किया। इस प्रकार तेरहवें दिन यह 'पयो*व्रत' पूरा हुआ।

पूर्णाहुतिके दिन अदितिकी श्रद्धा-भक्ति एवं नियम-निष्ठासे प्रसन्न होकर शङ्ख, चक्र, गदा धारण किये हुए, पीताम्बरधारी, वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल, मुसकराते हुए भगवान् अदितिके सामने एकाएक प्रकट हो गये। करोड़ों सूर्यके समान प्रकाशमान तथा करोड़ों चन्द्रमाके सदृश शीतल भगवान्‌के ज्योतिर्मय रूपको देखकर अदिति आदरके साथ उठकर खड़ी हो गयी और फिर श्रद्धासे सिर झुकाकर उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग गिर गयी। बेसुध हो गयी।

थोड़ी देर बाद जब चेतना आयी, तब अञ्जलि बाँधकर उठ खड़ी हुई। उस समय अदितिकी विलक्षण दशा थी। आँखें आँसुओंसे भरी थीं। सारा शरीर पुलकित था। आनन्दसे गद्गद होकर वह काँप रही थी। स्तुति करना चाहती थी, परंतु कर नहीं सकती थी, गला रुँधा हुआ था। उसकी आँखें एकटक भगवान्‌के मुख-कमलपर लगी थीं, उसके रस-पानमें वह मस्त थी। ओठ फुरफुरा रहे थे, परंतु स्पष्ट बोला नहीं जाता था।

धीरे-धीरे बोलनेकी शक्ति आयी। वह हाथ जोड़कर प्रेम-गद्गद वाणीसे कहने लगी—

'भक्तवत्सल! दयालो! आपका स्वरूप अनिर्वचनीय है, आपकी महिमा अनन्त है और आपकी लीला दयामयी है। आपने मुझपर कृपा करके दर्शन दिया है। आपकी प्रसन्नतासे, आपकी कृपासे मोक्ष भी मिल जाता है फिर सांसारिक सम्पत्तियोंकी तो बात ही क्या है? भगवन्! प्रसन्न हों, प्रसन्न हों।'

अदितिकी प्रेमभरी प्रार्थना सुनकर मुसकराते हुए भगवान्‌ने कहा—

'देवि! तुम्हारी अभिलाषा मैं जानता हूँ। तुम चाहती हो कि तुम्हारे पुत्र ही स्वर्गके राजा हों, दैत्योंको पराजित कर दें और सुखी रहें; परंतु यह समय दैत्योंके अनुकूल है। वे ब्राह्मणोंके गुरुओंके भक्त हैं। सदाचारके मार्गपर चलते हैं। देवताओंमें इतनी शक्ति नहीं कि दैत्योंको इस समय पराजित कर दें। परंतु जब तुमने इसीलिये मेरी आराधना की है, तब मुझे यह काम करना ही पड़ेगा। मैं भक्तोंके अधीन हूँ। जब वे कोई हठ करते हैं, तब मुझे पूरा करना ही पड़ता है। मैं उनसे हारा हुआ हूँ। देवि! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करनेके लिये मैं तुम्हारे गर्भसे जन्म लूँगा। इन्द्रका छोटा भाई बनूँगा। उसे स्वर्गका राज दूँगा, सुखी करूँगा। देवि! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ।'

इतना कहकर भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर अदितिको बड़ी प्रसन्नता हुई। भगवान् हमारे पुत्र होंगे—यह सोचकर वह आनन्दमग्न हो गयी। बड़े प्रेमसे, बड़े उत्साहसे अपने पतिदेवकी सेवामें लग गयी। यह सब उसे अपने पतिदेव महर्षि कश्यपकी कृपाका फल ही मालूम पड़ता था। कभी-

* श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धके सोलहवें अध्यायमें इस व्रतका पूरा वर्णन है। यहाँ तो दिग्दर्शन भर करा दिया है।

कभी उसे अपने स्वार्थपर क्षोभ भी होता, परंतु भगवान्के पुत्र होनेकी स्मृतिसे वह सब कुछ भूल जाती। अब प्रायः देवताओंके राज्यकी भी उसे याद नहीं पड़ती। भगवान्के चिन्तनमें ही लगी रहती। उनकी कृपा सोचकर वह आत्म-विस्मृत हो जाती।

महर्षि कश्यप सब जानते थे। भगवान्की लीलाके औचित्यपर उन्हें पूर्ण विश्वास था। वे सोचते थे भगवान् यदि इन्द्रको स्वर्गराज्य देंगे तो बलिकी भी कोई-न-कोई व्यवस्था करेंगे ही। सम्भव है इन्द्रसे भी अच्छा पद उन्हें दे दें। भगवान्की लीलाका रहस्य भला कोई क्या जान सकता है। वे जो कुछ करें, उसे देख-देखकर आनन्दित होते रहना चाहिये—यह सोचकर वे भगवान्के ध्यानमें मस्त हो जाते थे।

अदिति उनकी सेवामें लगी रही। थोड़े ही दिनोंके बाद भगवान्ने उसके गर्भमें प्रवेश किया।

(४)

बहुत बड़ी सम्पत्ति हो, अपार सेना हो, बड़े-बड़े लोग आज्ञापालनके लिये हाथ जोड़कर सामने खड़े रहते हों, बड़ी-बड़ी गुत्थियोंको सुलझा डालनेवाली विशाल बुद्धि हो, कल्पोंतक रहनेवाली कीर्त्ति हो, विषय-भोगोंकी राशि अपने हाथमें हो, सुन्दर-स्वस्थ युवा शरीर हो, गुणज्ञ आज्ञाकारी बलिष्ठ पुत्र हों, मनचाही पत्नी हो और हो तीनों लोकोंपर एकच्छत्र शासन; परंतु इनसे—केवल इनसे शान्ति और सच्चे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

आज बलिके पास क्या नहीं है? संसारमें जो कुछ हो सकता है वह सभी तो हो चुका है। परंतु वे शान्त नहीं हैं, उनके मनमें उद्वेग है। सब उनके शासनकी प्रशंसा करते हैं, उनकी बहादुरीके गीत गाते हैं, उनके पुरुषार्थ, प्रयत्न और तत्परताके आभारी हैं। परंतु समझ नहीं पाते कि चित्तमें यह अभावकी आग कहाँसे क्यों धधक रही है।

मन्त्रियोंने विचार किया, गुरु-पुरोहितोंने ग्रन्थोंके पन्ने-पन्ने उलट डाले, जो कुछ समझ सके, वैसा ही उन्होंने किया, परंतु किसी उपायसे स्थायी लाभ नहीं हुआ। कुछ साधन करते। दान, यज्ञ आदिका विधिपूर्वक अनुष्ठान होता। थोड़े समयके लिये संतोष हो जाता। दो-चार दिन शान्तिका अनुभव हो जाता, फिर वही पुरानी हालत हो जाती।

अन्तमें सबने सलाह की, स्वयं बलिने इस बातपर बड़ा जोर दिया कि हमारे दादा प्रह्लादजीके पास चलकर यह बात पूछी जाय। वे एकान्तमें रहते हैं, फल-मूल खाते हैं, उनके पास संसारके विषय-भोग हैं नहीं, फिर भी वे हमारी अपेक्षा अधिक शान्त, अधिक सुखी हैं। वे अवश्य हमारी अशान्तिका कारण जानते होंगे। वे शान्तिका उपाय भी बतायेंगे।

दो-चार मुख्य-मुख्य दैत्योंको लेकर बलि प्रह्लादके कुटीरपर पहुँचे। वे उस समय भगवान्के चिन्तनमें लगे हुए थे। उनकी आँखें बंद थीं। मुखमण्डलसे एक दिव्य ज्योति छिटक रही थी। शरीर निश्चेष्ट था और आसन दृढ़। इससे सिद्ध होता है कि वे बहुत देरसे उसी दशामें थे।

उनके ध्यानमें बाधा न पड़े, इस दृष्टिसे बलिने दूरसे ही प्रणाम किया और सबके साथ वहीं बैठ गये। प्रह्लादके शरीरसे शान्ति, प्रेम एवं आनन्दकी धारा प्रवाहित हो रही थी, जिसके कारण बलि आदिका मन बहुत कुछ शान्त हो गया। वे प्रह्लादकी ओर एकटक देख रहे थे और उनके प्रसन्न मुखमण्डलको देख-देखकर विस्मित हो रहे थे। कितना समय बीत गया इसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया।

जब प्रह्लादका ध्यान टूटा और उन्होंने भगवन्नामका उच्चारण करते हुए अपनी आँखें खोलीं, तब इन्हें पता चला कि अब बहुत देर हो गयी है और इन लोगोंने जाकर चरण-स्पर्श किये। प्रह्लादने बड़े प्रेमसे हृदयसे लगाया और कुशल-समाचार पूछे बड़ी नम्र वाणीसे; किंतु अभिमानके साथ बलि-ने अपनी विजय-कथा कह सुनायी और देवतालोग इनके सामने एक क्षण नहीं ठहर सके, अब उनकी क्या दशा हो रही है यह सब भी कहे बिना बलिसे नहीं रहा गया। अन्तमें बलिने कहा—'आप गुरुजनोंके आशीर्वादसे मैं अब त्रिलोकीका राजा हूँ। मेरे पास किसी भी सामग्रीकी कमी नहीं। मैं किसीको दुखी भी नहीं रहने देना चाहता। नित्य दान किया करता हूँ। पहलेसे ही सतर्क रहकर आपत्तियोंका निवारण करता रहता हूँ। परंतु दादाजी! यह सब होनेपर भी न मेरे अंदर शान्ति है, न तो मेरी प्रजा ही शान्त है। मैं आपसे यही पूछने आया हूँ कि इस अशान्तिका कारण क्या है? आप बताइये—मैं उसे उखाड़कर फेंक दूँ।'

प्रह्लादने कहा—'बेटा! संसारकी सारी सम्पत्तियोंमें यह शक्ति नहीं है कि वे किसीको सुख-शान्ति दे सकें। उसे देनेकी शक्ति तो केवल भगवान्में ही है। जो उनका भजन, सेवन करता है, उनकी आज्ञापर चलता है, उनसे प्रेम करता है और उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर देता है, उसे ही

सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है । यह सारा उद्वेग, यह सम्पूर्ण अशान्ति केवल उनका भजन न करनेसे है ।'

प्रह्लाद यह कहते-कहते भगवान्‌की स्मृतिमें डूबते-से जा रहे थे । वे मानो दूसरे लोकमें चले गये । वाणी बंद हो गयी । शरीर निश्चेष्ट हो गया । वे दूसरे रूपमें भगवान्‌को ढूँढ़ने लगे । वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक, स्वर्ग एवं मर्त्यलोकमें भगवान्‌को ढूँढ़ डाला; परंतु कहीं भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए । फिर अलग-अलग सब वस्तुओंको देखना शुरू किया । अन्ततः देखा तो अदितिके गर्भमें भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं । नमस्कार किया । आशीर्वादके लिये वामन भगवान्‌के दाहिने हाथको उठा देखकर प्रह्लादको इतना आनन्द हुआ कि उन्हें और सब बातें भूल गयीं । बड़ी देरतक एकटक देखते रहे । फिर भगवान्‌ने स्वयं ही उन्हें इस शरीरमें भेज दिया ।

यहाँ बलि बैठे-बैठे प्रह्लादके अन्तिम वाक्यपर विचार कर रहे थे कि 'यह सारा उद्वेग, यह सम्पूर्ण अशान्ति भगवान्‌का भजन न करनेसे है ।' उनका हृदय क्षुब्ध हो उठा । वे अपने आप ही उत्तेजित हो उठे । उनका चेहरा लाल हो गया, आँखें चढ़ गयीं । वे सोचने लगे कि भगवान् कौन है ? अपना भजन न करनेसे वह हमें दुःख क्यों देता है ? क्या वह हमसे अधिक बलवान् है, सुनते हैं वह देवताओंका हिमायती है ? क्या इसीसे हमें अशान्त करता है ? अस्तु, दादाजी इस बार कोई पतेकी बात कहेंगे । इतनेमें ही प्रह्लादकी आँखें खुलीं ।

क्षणभर बाद प्रह्लादने कहा—'बेटा ! अब भगवान्‌के भजन बिना कल्याण नहीं । वे देवताओंकी प्रार्थनासे अदितिके गर्भमें आ चुके हैं । वे देवताओंका कल्याण करेंगे । तुम-लोग भी उनका भजन करो, वे तुम्हारा भला करेंगे ।'

बलि पहलेसे ही उत्तेजित थे । प्रह्लादकी बातोंसे उनकी उत्तेजना बढ़ गयी । उनका अभिमान बोल उठा—'मैं समझ गया । यह सब उन्हींकी करतूत है । वे हमारे पुराने शत्रु हैं । अमृत मथनेके समय बराबर परिश्रम करनेपर भी हमें ठग लिया । युद्धमें देवताओंकी सहायता की । इस बार जब हमारी शक्ति बढ़ी तब सामने नहीं आये । अब लुक-छिपकर अशान्ति फैलाते हैं । देवताओंकी सहायता करनेके लिये अदितिके गर्भमें आये हैं । इस बार देखा जायगा । मेरे एक-एक मित्र शम्बर, मय, बल आदि उन्हें मार सकते हैं । उनमें रक्खा ही क्या है ?'

आवेशमें आकर बलि बहुत बोल गये । पीछेसे गुरुजनोंके सामने इतना बोल जानेका पश्चात्ताप भी हुआ । परंतु अब तो तीर निकल चुका था । अब कर ही क्या सकते थे । भगवान्‌पर आक्षेप प्रह्लादसे नहीं सुना गया । वे काँप उठे । उनके रोम-रोमसे चिनगारियाँ निकलने लगीं । कहीं-कहीं ममता भी क्रोधकी जननी हो जाती है । सम्भव है दूसरा कोई ऐसी बात कहता तो प्रह्लादको क्षोभ न होता; परंतु अपना ही पौत्र इस प्रकार कहे यह उन्हें असह्य था । वे बोल उठे—

'बलि ! तू मेरे कुलका कलंक है। मेरा पौत्र, विरोचनका पुत्र होकर तू ऐसी बात कहता है ? तुझे गर्भमें ही मर जाना चाहिये था । तू इस सेनाके बलपर, इस शरीरके बलपर इतना घमंड कर रहा है, इतना इतरा रहा है । तुझे धनका उन्माद हो गया है । इसीसे तू त्रिलोकीको संकल्पमात्रसे धारण करने-वाले भगवान्‌का निरादर करता है । जा, अब तेरा धन न रहेगा, तेरी सेना काम न आयेगी और तू पद-भ्रष्ट हो जायगा, तब तेरी हेकड़ी छूटेगी, तू भगवान्‌की महिमा जानेगा ।'

बलि तो सन्न रह गये । काटो तो खून नहीं । वे चाहे जितने अभिमानी रहे हों, परंतु उनके हृदयमें प्रह्लादकी भक्ति थी, गुरुजनोंका आदर था । वे आवेशमें जो कुछ कह गये थे, उसके लिये स्वयं उन्हें दुःख था । जब प्रह्लादकी बात सुनी, तब तो वे सर्वथा निराश हो गये । उनका विश्वास था कि चाहे जो हो जाय दादाजीकी बात मिथ्या नहीं हो सकती । वे तुरंत उनके चरणोंपर गिर पड़े । उनकी आँखोंसे आँसूकी धारा बहने लगी ।

क्षणभर बाद ही प्रह्लाद शान्त हो गये, बलिको उठाकर छातीसे लगाया । समझाया—'बेटा ! मैं तुम्हारी बात सुनकर आवेशमें आ गया । तभी तो ऐसी बात मुँहसे निकल गयी । नहीं तो, इस भगवान्‌की लीलामें क्रोधके लिये स्थान कहाँ है ? ऐसी ही उनकी इच्छा थी । अब चलकर उनका भजन-स्मरण करो । वे किसीका पक्षपात नहीं करते । सबको समानरूपसे देखते हैं । यदि वे इन्द्रको स्वर्गका राज्य देंगे तो तुम्हें उससे भी अच्छा पद दे सकते हैं । उनके विधानपर विश्वास रक्खो । वे जो कुछ करते हैं अच्छेके लिये ही करते हैं । जिस सम्पत्ति, पद, सेना, बल आदिको अपना समझकर तुम अभिमानवश भगवान्‌को भूलकर अशान्त होते जा रहे थे—यदि भगवान् उन्हें छीनकर तुम्हें अपना लें, अपनी सारी वस्तुएँ तुम्हें दे दें, वे स्वयं तुम्हारे हो जायँ तो इससे बढ़कर क्या बात होगी ?

'अब जाओ, अपने धनका सदुपयोग करो । सबका

सम्मान करो। सबकी इच्छा पूर्ण होने दो। वे न जाने किस रूपमें आ जायँ। सबके रूपमें उन्हें देखो। आजसे यज्ञ प्रारम्भ कर दो। तुम्हारा कल्याण होगा। भगवान् तुम्हारा कल्याण करेंगे।'

बलि जाकर यज्ञ-कार्यमें लग गये।

(५)

प्रकृति माता अनादि कालसे एक ही काम करती आयी हैं और अपने जीवनभर वही करती रहती हैं। उनके लिये दूसरा कोई काम ही नहीं है। वह काम है—परम पुरुष परमात्माको रिझाना। उनकी आज्ञाके अनुसार चलती हैं, उनके इशारेसे नाचती हैं, गाती हैं, सो जाती हैं और जागती हैं। यह इसीलिये बनी हैं और हैं कि भगवान् अपने एकाकीपनमें—सूनेपनमें इनके साथ रमण करें, खेलें, मनोरञ्जन करें। हाँ, तो प्रकृति माता सर्वदा अपने इस काममें सावधान रहती हैं, एक क्षण भी प्रमाद नहीं करतीं। यह सामान्य बात है।

परंतु जिस दिन भगवान् निराकारसे साकार, अव्यक्तसे व्यक्त और निर्गुणसे लीलाधारी होते हैं उस दिन तो इनकी प्रसन्नताका ठिकाना ही नहीं रहता, इनका आनन्द फूट पड़ता है। आज भाद्रपद शुक्ल द्वादशी है। प्रकृति माताने दूसरे ही रूपमें अपनेको सजा रक्खा है। दिशाएँ प्रसन्न हैं, ऋतु अनुकूल है, शीतल सुगन्ध वायुके मन्द-मन्द झकोरे लोगोंके हृदय गुदगुदा जाते हैं। आकाश निर्मल है, नदियाँ शान्तिसे भगवन्नामका संगीत गा रही हैं, अन्तरिक्ष उन्हींके शब्दोंमें अपना शब्द मिलाकर अनाहत नादको प्रकट कर रहा है, अग्नि धूमरहित होकर आहुति ग्रहण कर रही है, सारी पृथ्वीमें मङ्गल-ही-मङ्गल है, ब्राह्मण वेदोंके गायनमें मस्त हैं, गौओंके स्तनोंसे स्वयं दूध निकल रहा है, पशु, पक्षी, अणु, परमाणु सब कुछ शान्त, प्रसन्न, आनन्दित हैं।

और तो क्या, आज स्वयं ब्रह्मा, शिव एवं समस्त देवमण्डल अदितिके सूतिकागृहमें उपस्थित होकर गर्भमें स्थित अनन्त, अजन्मा, निर्विकार, ज्ञानस्वरूप प्रभुकी स्तुति कर रहा है—

'प्रभो, अनन्त, अच्युत ! तुम्हीं सारे विश्व ब्रह्माण्डोंके अधिपति हो, आश्रय हो। तुम्हारे ही संकल्पसे सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय होते हैं। संसारमें दैवी सम्पत्तिकी स्थापना करके तुम्हीं विश्वको मोक्षकी ओर बढ़ाते हो और स्वयं अपनी ओर खींचते हो। भगवन् ! इच्छामात्रसे ही संसारका कल्याण, हमारा उद्धार, आसुरी सम्पत्तियोंका निवारण कर सकनेपर भी तुम भक्तोंके लिये अवतार ग्रहण करते हो कि वे भर-आँख तुम्हें निहार-निहारकर देखें और निहाल हों तथा पीछेसे तुम्हारी लीला गा-गाकर लोग तुम्हारा स्मरण करें और संसार-सागरसे पार उतर जायँ। प्रभो ! हम तुम्हारे चरणोंमें कोटि-कोटि नमस्कार करते हैं।'

देवतालोग स्तुति करके अपने-अपने धाम गये ही थे कि भगवान्‌के अवतारका शुभ समय आ पहुँचा। उस समय विजया द्वादशीका अभिजित् मुहूर्त था। सूर्यभगवान् बीचोबीच आकाशमें ठहरकर भगवान्‌के अवतारकी प्रतीक्षा कर रहे थे। एकाएक अदितिका आश्रम प्रकाशसे भर गया। चारों ओर दिव्य शीतल किरणें फैल गयीं। सहसा अदितिके सामने पीताम्बरधारी, चतुर्भुज, शङ्ख, चक्र, गदा, कमल लिये हुए, मन्द-मन्द मुसकराते हुए श्यामसुन्दर भगवान् प्रकट हो गये। उनकी चितवनसे प्रेमकी वर्षा हो रही थी। लाल-लाल ओठोंपर दाँतोंकी सुधा-धवल किरणें छिटक रही थीं। वनमालापर गुंजार करते हुए भौंरें मँडरा रहे थे। नाना प्रकारके चिन्मय आभूषण अपनेको सुशोभित कर रहे थे।

अभी अदिति सम्हली भी नहीं थी कि आकाशमें शङ्ख, भेरी, मृदङ्ग, वीणा आदिके शब्द होने लगे। गन्धर्व गाने लगे, विद्याधरी, अप्सराएँ नाचने लगीं, सिद्ध-चारण स्तुति करने लगे और देवताओंने दिव्य पुष्पोंकी वर्षासे अदितिका आश्रम भर दिया—

अब अदितिने देखा कि स्वयं भगवान् उसके पुत्ररूपसे सामने खड़े हैं। वह विस्मय, आनन्द एवं भगवान्‌की कृपाका अनुभव करके प्रेमविह्वल वाणीसे स्तुति करने लगी—

'भक्तवत्सल, परम दयालो, प्रभो ! मैं अबोध नारी तुम्हारी क्या स्तुति कर सकती हूँ। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि, देव-सिद्ध, गन्धर्व एवं वेद भी तुम्हारी वास्तविक महिमाका गान करनेमें असमर्थ हैं। नेति-नेति करके अन्तमें सभी मौन धारण कर लेते हैं। अबतक तुम्हारी पूरी महिमाका गायन न हो सका, न हो सकेगा। वह अनन्त है, अपार है, अचिन्त्य है। जब तुम्हारी वास्तविक महिमाका वर्णन ही नहीं किया जा सकता तब स्तुति या प्रशंसा तो कोई क्या कर सकता है। मुझपर तुमने महान् कृपा की है। मैं जन्म-जन्मकी अपराधिनी हूँ। व्रत किया, जप किया, साधना की और उनसे तो क्या—तुम्हारी कृपाके बलपर तुम्हें प्रसन्न कर पाया। परंतु नाथ ! मेरा अन्तःकरण इतना कलुषित, इतना

मलिन था कि तुम्हें पाकर भी पुत्रादि सम्बन्धियोंके बन्धनमें पड़ी रही। जिनसे मोक्ष मिल सकता था, प्रेम प्राप्त हो सकता था और जो स्वयं प्राप्त हो सकते थे, उनसे केवल पुत्रोंके राज्यकी प्रार्थना की। परंतु भगवन्! तुम कितने दयालु हो, मेरे पापोंकी परवा न करके स्वयं मेरे गर्भसे प्रकट हुए और मेरे लिये दैत्योंको पराजित करने जा रहे हो।'

इतना कहते-कहते अदिति संकोच एवं लज्जासे गड़-सी गयी। भगवान्ने बड़े प्रेमसे उसे आश्वासन देते हुए कहा—'देवि! संकोच करनेका कोई कारण नहीं है। मेरी इच्छाके बिना कोई काम नहीं होता। यदि जीवमें स्वार्थ, लोभ, भय और अज्ञान न रहें, तो वह संसारमें भटके ही क्यों? वह तो सीधे मेरे पास आ जाय, मेरा स्वरूप हो जाय। परंतु उनका अस्तित्व जिनके अंदर है, वे यदि स्वार्थसिद्धि, लोभपूर्त्ति, भय-निवारण एवं अज्ञान-निवृत्तिके लिये दर-दर न भटकें, संसारमें विषयोंके पीछे मारे-मारे न फिरें, सीधे मुझसे माँगें, मुझसे प्रार्थना करें तो मैं उनकी प्रत्येक उचित इच्छाको पूर्ण करता हूँ, अनुचित इच्छाओंका नाश कर देता हूँ और इच्छाके पूर्ण या नष्ट होनेपर उन्हें अपने पास बुला लेता हूँ।

'मेरे द्वारा इच्छा पूर्ण होनेपर उसमें किसीपर अन्याय तो हो ही नहीं सकता। सबकी भलाई ही होगी। देखो, मैं तुम्हारी प्रार्थनासे अभी प्रकट हुआ हूँ, इन्द्रको स्वर्गका राज्य मिल जायगा; क्योंकि इस समय उन्हींको इन्द्र होना चाहिये। परंतु बलिकी भी कोई हानि नहीं हो सकती। उन्हें स्वर्गके समान ही स्थान मिलेगा। संसारमें उनकी कीर्त्ति होगी। उनकी छिपी हुई महिमा प्रकट हो जायगी। अगले मन्वन्तरमें वे इन्द्र होंगे। ऐसी स्थितिमें तुम अपने स्वार्थकी बात सोचकर दुःख मत करो। इसके पहले तुम्हारे हृदयमें स्वार्थ था, परंतु अब वह दूर हो गया। उपासना, सत्सङ्ग और मेरे संसर्ग एवं आलापसे तुम्हारा हृदय शुद्ध हो गया है। अब चिन्ता मत करो। प्रसन्नतासे मेरी लीला देखो और आनन्दित हो।'

भगवान् बोल ही रहे थे कि उनके आयुध, वस्त्र, आभूषण आदि लुप्त होने लगे और वे वामनके रूपमें प्रकट हो गये। तुरंत ब्रह्मा आदि देवतागण एवं ऋषि-महर्षि वहाँ उपस्थित हुए, विधिपूर्वक कर्मकाण्ड कराने लगे। भगवान्के काम आकर सभी अपनेको धन्य मान रहे थे।

ब्रह्मचर्यदीक्षा सम्पन्न हुई। कश्यपने मेखला, बृहस्पतिने यज्ञोपवीत और सूर्यने गायत्रीकी दीक्षा दी। पृथ्वीने कृष्णमृगचर्म, ओषधियोंके स्वामी चन्द्रमाने दण्ड, माताने कौपीन एवं ओढ़नी, आकाशने छत्र, ब्रह्माने कमण्डलु, सप्तर्षियोंने कुश और सरस्वतीने रुद्राक्षकी माला दी। कुबेरने भिक्षा-पात्र एवं साक्षात् जगन्माता अन्नपूर्णाने भिक्षा दी। उनके ब्रह्मचर्यकी दीक्षा पूर्ण हुई। वे सबके साथ हवन करने लगे। उस समय उनके मुखमण्डलसे निकलती हुई ज्योतिका नेत्रोंद्वारा पान करके लोग आनन्द-मग्न हो रहे थे।

हवन समाप्त होनेपर जब मालूम हुआ कि बलिके यहाँ यज्ञ हो रहा है, तब उन्होंने सबसे कहकर यज्ञशालाकी ओर प्रस्थान किया।

जिन भगवान्की इच्छासे ही यह जगत् टिका हुआ है और जिनके भ्रू-भङ्गमात्रसे इसका प्रलय हो जाता है, वही भगवान् इस जगत्के एक प्राणीसे भिक्षा माँगनेके लिये भिक्षुक ब्रह्मचारीके वेशमें पावँ-पयादे पधार रहे हैं। न संकल्पमात्रसे उसे नष्ट कर सकते और न युद्धमें उसका संहार ही कर सकते। आज तो उसके यहाँ भिक्षा माँगनी होगी और ये उसी वेशमें सजे जा रहे हैं। हम इसे क्या कहें? ऐश्वर्य या माधुर्य?

(६)

यों तो लोभ और भय जीवकी दुर्बलता है और वह भगवत्स्वरूपके अज्ञान एवं उनके प्रेमके अभावमें ही पनपती और फलती-फूलती है। परंतु यदि इसका सदुपयोग किया जाय तो इसी दुर्बलताके द्वारा जीव अपना परम कल्याण साधन कर सकता है। पापोंसे भय, नरकका भय, मृत्युका भय, भगवान्का भय, स्वर्गका लोभ, वैकुण्ठका लोभ, परमानन्दका लोभ, मोक्षका लोभ एवं भगवत्प्रेमका लोभ—ये सब-के-सब साधनामें लगाकर जीवको परम गति, परम कल्याणकी ओर ले जाते हैं। इसीसे शास्त्रोंमें भी इनके लिये पर्याप्त स्थान है और बहुत-सी बातें रोचक एवं भयानक ढंगसे कही गयी हैं। परंतु इनसे जीव-जगत्का महान् लाभ है, अतः इन्हें यथार्थके रूपमें मानना ही सर्वोत्तम है।

अब बलिके अन्तःकरणकी दूसरी ही दशा है। सम्पत्ति, पद, बल, मान, मर्यादा आदिके नाशकी आशङ्का तथा विश्वाससे उनके अभिमान, मद नष्ट हो गये हैं। यह सब मेरा है, मैं इनका स्वामी हूँ, इस प्रकारकी ममता तथा अज्ञान लापता हो गये हैं। यह सब भगवान्का है, सारे जगत्का है,

न जाने कब किस रूपमें वे आ जायँ, कहीं प्रमादवश उनका अपमान न हो जाय, इस प्रकारके भाव उनके हृदयमें उठा करते हैं। बड़े-बड़े यज्ञ, दान आदि भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही करते, करते ही रहते हैं। कहीं भगवान् प्रसन्न हो जायँ, आ जायँ, तब तो क्या पूछना है। इस प्रकारके भाव उनके हृदयमें उठा करते हैं।

बलिमें जो एकाएक इतना परिवर्तन हो गया, इसका कारण उनकी अपने दादाजी भक्तराज प्रह्लादपर श्रद्धा ही थी। कुछ न हो, केवल पूर्वपुरुषोंपर श्रद्धा हो, संतोंका विश्वास हो तो सब कुछ हो सकता है। बलिमें यह बात थी और पूर्णरूपसे थी। अतः वे बलि, जिनके अभिमानकी सीमा न थी, जो भगवान्को भी अपने सैनिकोंसे निर्बल बताते थे, आज इस प्रकार पानी-पानी हो गये हैं।

नर्मदाके पवित्र तटपर एक भृगुकच्छ नामका स्थान है। आज वहीं अपने पुरोहित भृगुवंशी शुक्राचार्यके निरीक्षणमें बलिने एक महान् यज्ञका आयोजन किया है। होता, ऋत्विज, ब्रह्मा आदि यज्ञके अपने-अपने काममें लगे हैं। बलि अपनी धर्मपत्नी विन्ध्यावलीके साथ ब्राह्मणोंके आदेशानुसार काम कर रहे हैं। सम्पूर्ण यज्ञशाला चरु, पुरोडाश आदि यज्ञीय सामग्रियोंसे भरी हुई है। कहीं दरिद्रोंको अन्न बाँटा जा रहा है, कहीं भोजन कराया जा रहा है, कहीं बहुमूल्य वस्त्र दिये जा रहे हैं। बड़ा कोलाहल है, बड़ा उत्साह है, बड़ी स्फूर्ति है।

कई दैत्योंके मनमें बड़ी आशङ्का है कि दैत्यराज बलि यह सब क्या कर रहे हैं। इतने खुले हाथसे यह सारी सम्पत्ति क्यों लुटा रहे हैं? त्रिलोकीके स्वामी तो हैं ही, अब और क्या चाहते हैं? जिनके मनमें भगवान्की प्रसन्नता या निष्कामभावकी कल्पना तक नहीं हो सकती, ऐसे लोग भी संसारमें बहुत-से रहते हैं।

ब्राह्मणोंकी वेदध्वनि, लोगोंकी जय-जय ध्वनिके बीच बलिको सूचना मिली कि एक बड़े तेजस्वी वामन ब्रह्मचारी आ रहे हैं। उनके तेज और प्रभावकी बात सुनकर बलिने सोचा कि सम्भव है भगवान् ही आते हों। परंतु वे तो इन्द्रके सहायक हैं न? तो क्या वे मुझे मारकर इन्द्रको राज्य देंगे। हाँ, भगवान् यदि अपने हाथों मारें भी तो हमारा कल्याण ही होगा। उनके हाथों किसीकी हानि तो हो ही नहीं सकती। दादाजीने ऐसा ही कहा था। पर यह क्या निश्चय है कि वही हैं। वे न हों, तो भी हमें सावधान रहना चाहिये। न जाने वे किस वेशमें आ जायँ।

दूरसे ही उनके ज्योतिर्मय मुखमण्डलको देखकर यज्ञके सब सदस्य प्रभावित हो गये। सबने आगे जाकर उनका स्वागत किया और यज्ञशालामें ले आकर उन्हें सर्वोच्च आसनपर बैठाया। बलि और विन्ध्यावलीने अपने हाथों उनके चरण धोकर चरणामृत लिया एवं विधिपूर्वक उनकी पूजा की। उस समय वामनभगवान्की छबि बड़ी भली लगती थी।

प्रकाशमान मुखमण्डल, सिरपर बिखरी हुई जटाएँ, कंधेपर पीला वस्त्र, गलेमें यज्ञोपवीत, बगलमें मृगचर्म, कमरमें मूँजकी मेखला और पास ही रक्खे हुए छत्र एवं सजल कमण्डलु शोभा पा रहे थे। पूजा हो जानेके पश्चात् बलिने प्रार्थना की—'द्विजराज, ब्रह्मचारिन्! आपके शुभागमनसे हमारी यज्ञभूमि पवित्र हो गयी। आज मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है, मानो ब्रह्मर्षियोंकी तपस्या ही मूर्त्तिमान् होकर आयी है। आपके तेज, आपके प्रभावसे मेरे पितर तृप्त हो गये, मेरा कुल पवित्र हो गया। आपके शुभागमनसे, आपकी चरणधूलिसे मेरा गृह पवित्र हो गया। आपके चरणामृतसे मेरे पाप धुल गये। मैं पवित्र हो गया। ब्राह्मणदेवता! आप प्रसन्न होकर मेरी कुछ सेवा स्वीकार करें। आपको जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, धन, भूमि, गौ, हाथी, घोड़े, कन्या आदि निःसंकोच मुझसे माँग सकते हैं। आवश्यकता न हो तो भी मुझपर कृपा करके इस सेवकको कृतार्थ करनेके लिये ही कुछ स्वीकार करें। ब्राह्मणकुमार! आप इस यज्ञके समय अवश्य कुछ-न-कुछ ग्रहण करें। मैं आपके चरणोंमें कोटि-कोटि नमस्कार करता हूँ।'

बलिकी इस धर्मानुकूल, उदारतायुक्त और मधुर प्रार्थनाको सुनकर वामन भगवान् बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने बलिका अभिनन्दन करते हुए कहा कि 'दैत्येन्द्र! तुम्हारी बात सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। तुम्हारे गुरुजन भृगुवंशी और विशेषकर शुक्राचार्य धन्य हैं, जिनके सङ्ग और शिक्षासे तुम्हें ऐसी बुद्धि प्राप्त हुई है। तुम्हारे वंशमें यह कोई नयी बात नहीं है। तुम्हारे वंशमें अबतक कोई ऐसा नहीं हुआ है जो शक्तिहीन हो, सूम हो अथवा किसीको कुछ देनेका वचन देकर फिर अस्वीकार कर गया हो। तुम्हारे पूर्वजोंमें हिरण्याक्ष इतना बड़ा वीर था कि यद्यपि विष्णुने किसी प्रकार जीत लिया पर वे अपनेको विजयी नहीं

मानते। समय-समयपर उसके बल-पौरुषका स्मरण किया करते हैं।

और तो क्या कहूँ दानवेन्द्र ! हिरण्यकशिपु जब अपने भाईका बदला लेनेके लिये विष्णुको ढूँढ़ने गया, तब मानो उन्हें कहीं छिपनेकी जगह न मिली तो उसीके हृदयमें घुसकर छिप गये । तुम्हारे दादा प्रह्लादकी महिमासे तो आज त्रिलोकी ही भरी हुई है जो कि अब भी सारे संसारके उद्धारके लिये निरन्तर चिन्तित रहते हैं और तुम्हारे पिता-जैसा उदार, दाता और ब्राह्मणभक्त तो संसारमें विरला ही हुआ होगा; क्योंकि जब देवता छलसे ब्राह्मणवेश बनाकर उसके पास आयु माँगने आये, तब उसने जानकर अपनी सम्पूर्ण आयु दान कर दी । तुमने अपनी उदारतासे पूर्वजोंकी कीर्ति रख ली। आज सारे संसारमें तुम्हारी कीर्ति छायी हुई है। मैं तुमसे अधिक कुछ नहीं चाहता। केवल मेरे पगोंसे तीन पग भूमि मुझे दे दो । मुझे इससे अधिककी आवश्यकता नहीं है । अधिक परिग्रहसे पापभागी होना पड़ता है।'

वामनकी बात सुनकर बलि हँस पड़े। उन्होंने कहा—'ब्राह्मणकुमार ! यद्यपि तुम्हारी बातें तो वृद्धोंकी-सी हैं परंतु अभी बालक ही हो न ? इसीसे मुझसे केवल तीन पग भूमि माँग रहे हो। तुम्हें जितना चाहिये अधिक-से-अधिक ले लो। मैं द्वीप-के-द्वीप दे सकता हूँ। मुझसे माँगकर फिर किसीसे माँगना नहीं पड़ता।'

वामनने कुछ गम्भीरतासे कहा—'दैत्येन्द्र ! संसारके विषयोंके भोगसे अबतक न किसीको तृप्ति हुई है, न होगी। जैसे अग्निमें जितना घी डाला जाय, उतनी ही वह बढ़ती है, वैसे ही वासनाओंको जितना बढ़ाया जाय, उतनी ही अधिक उनकी वृद्धि होती है। यदि मैं तीन पग भूमिसे संतुष्ट न रहूँ तो एक द्वीप मिलनेपर भी संतोषकी आशा नहीं है। सुख संतोषमें है, परिग्रहमें नहीं । अनेकों राजा सातों द्वीपोंके स्वामी हुए हैं, क्या वे सर्वदा सुखी रहे हैं, क्या उनकी तृष्णा नष्ट हो गयी है ? संसारके दुःखोंका कारण असंतोष है । जो संतुष्ट हैं, उन्हें कहीं दुःख नहीं है। विशेष करके हम ब्राह्मणोंके लिये संतोष ही सर्वोत्तम वस्तु है। इसलिये मैं प्रयोजनसे अधिक नहीं चाहता । आप मुझे केवल तीन पग पृथ्वीका दान करें।'

ब्राह्मणके ज्ञान, संतोष, तेज एवं शान्ति आदि सद्गुणोंको देखकर बलि आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने कहा—'ब्राह्मणकुमार ! तुम्हारी जितनी इच्छा हो, उतना ही लो। मैं तुम्हारी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न हूँ।'

बलिने संकल्प करनेके लिये जलपात्र उठाया।

(७)

जब मनुष्यको अपनी विद्या-बुद्धिका अभिमान हो जाता है तब कभी-कभी वह ऐसा सोचने लगता है कि 'मैं भगवान्‌से अलग रहकर भी सुखी हो सकता हूँ।' उसके अन्तःकरणके किसी कोनेमें ऐसा भाव भी आ जाता है कि 'एक बार अवसर पड़नेपर भगवान्‌को भी छका सकता हूँ और अपनी चतुरतासे भगवान्‌की इच्छाके विपरीत भी काम बना सकता हूँ।' यह कोरा अज्ञान है, परंतु बड़े-बड़े कहे जानेवाले लोगोंमें भी यह पाया जाता है। यहाँतक देखा गया है कि बाहरसे भगवान्‌की दुहाई देनेवालोंके चित्तमें भी यह भाव स्थित रहता है और कई बार तो उन्हें स्वयं इस बातका पता भी नहीं होता।

शुक्राचार्यकी विद्या, बुद्धि, नीति, सब एक-से-एक बढ़कर थे। उनकी मृतसंजीविनी विद्या देवगुरु बृहस्पतिको भी नहीं मालूम थी। उनकी सम्मतिके बलपर बलिने त्रिलोकीका राज्य प्राप्त किया था और उनकी नीति शुक्रनीतिके रूपमें आज भी महान् आदर पा रही है। परंतु वे भी जगत्‌की सम्पत्तिको बड़ा महत्त्व देते थे। विषयोंमें उन्हें सुख दीखता था, भगवान्‌के आनन्दका अनुभव नहीं था। केवल विद्यासे ही उस आनन्दका अनुभव नहीं होता।

दैत्येन्द्र बलि अनजानमें एक तेजस्वी ब्रह्मचारी समझकर वामनकी अभिलाषा पूरी करनेके लिये संकल्प करने जा रहे हैं और शुक्र जान-बूझकर कि 'ये भगवान् हैं, कहीं मेरे यजमानकी सारी सम्पत्ति छिन न जाय' इस भयसे बलिको मना करने जा रहे हैं। उन्हें भगवान्‌की अपेक्षा बलिकी सम्पत्तियोंका अधिक मूल्य दीखता है। अब यहाँ क्या निर्णय किया जाय कि शुक्रका ज्ञान अच्छा है या बलिका अज्ञान ?

शुक्राचार्यने कहा—'दैत्येन्द्र ! यह कोई साधारण ब्रह्मचारी नहीं हैं। ये कश्यप-अदितिसे अवतार ग्रहण करके देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये स्वयं विष्णु ही आये हुए हैं। इन्हें तीन पग भूमि देनेकी बात करके तुमने अच्छा नहीं किया । ये दो पगमें ही सम्पूर्ण पृथ्वी और

स्वर्ग नाप लेंगे तथा अपने बड़े शरीरसे सारा आकाश ले लेंगे, तुम तीसरा पग कहाँसे पूरा करोगे। ये तुम्हारा राज्य छीनकर इन्द्रको देनेके लिये आये हैं, यदि सब तुम इन्हें दे दोगे तो तुम्हारे शत्रु सुखी हो जायँगे और तुम्हारे बन्धु-बान्धव तथा स्वयं तुम राहके भिखारी बन जाओगे। दानकी भी एक नीति है। दान ऐसा होना चाहिये, जिससे सर्वदा दान देनेकी परम्परा चलती रहे। आज दान देकर कल भूखों मरना ठीक नहीं। तुम्हें झूठी प्रतिज्ञाका दोष न लगेगा। अस्वीकार कर दो।'

शुक्राचार्यकी बात सुनकर बलिके हृदयकी अद्भुत दशा हो गयी। अभीतक वे साधारण ब्राह्मण समझ रहे थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि ये तो वही भगवान् हैं जिनकी प्रतीक्षा करते-करते मेरे एक-एक दिन युग-युगकी भाँति बीतते हैं, तब उनकी प्रसन्नताकी सीमा न रही। वे खिल उठे, वे सोचने लगे कि जिनके संकल्पमात्रसे सारी सृष्टिका प्रलय हो सकता है, वे ही प्रभु आज मेरे द्वारपर भिखारीके रूपमें आये हैं। उनका हृदय गद्‌गद हो गया। वे बड़ा जोर लगाकर अपनी आँखोंके आँसू रोके हुए थे। उनका चित्त भगवान्‌की भक्तवत्सलता, दयालुता आदिमें तन्मय होता जाता था। 'जिनका सब कुछ है, वे याचक हैं और जिसका कुछ नहीं वह दाता बना हुआ है'—यह अहङ्कारके कारण बनी हुई परिस्थिति और उसका दुष्परिणाम है। परंतु भगवान् कितने दयालु हैं। वे भिखारी बनकर भी हमें कल्याण-मार्गपर चलाते हैं।

उन्होंने शुक्राचार्यसे कहा—'भगवन्! आप अपनी समझसे मेरे कल्याणकी ही बात कह रहे हैं। आप मेरे हितैषी हैं। परंतु जो बात मैं कह चुका हूँ उसे छोड़ना ठीक नहीं जँचता। मैं नरकसे, मृत्युसे और किसी भी सांसारिक यन्त्रणासे नहीं डरता, परंतु झूठसे बहुत डरता हूँ। किसी साधारण मनुष्यसे भी कोई प्रतिज्ञा करके मैं उसे नहीं तोड़ सकता तो साक्षात् भगवान्‌से ऐसा व्यवहार कैसे कर सकता हूँ। जिन्हें पत्र, पुष्प आदि देनेसे जीवका कल्याण-साधन होता है, उन्हें त्रिलोकीका दान करके मैं दुःखी हो जाऊँगा, यह बात समझमें नहीं आती। वह इन्द्रको देना चाहते हैं—दे दें। मैं तो उनकी वस्तु उन्हें देना चाहता हूँ।'

शुक्राचार्यको ऐसा ज्ञान पड़ा कि बलि मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहे हैं, मेरा अपमान कर रहे हैं। सम्मानकी कामनामें ठेस लगते ही क्रोध आ गया और क्रोध तो मनुष्यको अंधा बना ही देता है। शुक्राचार्यने शाप दे दिया—'शीघ्र ही तुम्हारी सम्पत्ति नष्ट हो जाय।'

इस समय शापसे उन्हें तनिक भी चिन्ता या घबराहट नहीं हुई। उन्हें इस सम्पत्तिके बदले स्वयं भगवान् मिल रहे थे। विन्ध्यावलीने सोनेकी झारीसे जल दिया, बलिने अपने हाथों भगवान्‌के चरण धोये, चन्दन लगाया, माला पहनायी और संकल्प लेनेके लिये जल उठाया।

सुनते हैं—फिर शुक्राचार्यने अपना शरीर सूक्ष्म बनाकर झारीमें प्रवेश किया और जल गिरनेका रास्ता रोक दिया। भगवान्‌ने एक कुश उठाकर उसके छेदमें डाला, शुक्राचार्यकी एक आँख फूट गयी। तबसे वे काने हो गये। दानमें विघ्न करनेका अच्छा फल मिला!

बलिके संकल्पके लिये जल ग्रहण करते ही संसारके सभी प्राणी आश्चर्यचकित हो गये। इतना त्याग, इतना सत्यप्रेम और इतनी भगवन्निष्ठा कि यह जानते हुए भी कि सारी वस्तुएँ हमारे शत्रुको मिलेंगी, त्रिलोकीका राज्य दान कर रहे हैं। बलिके अभिनन्दनमें देवताओंके नगारे बज पड़े, गन्धर्व गाने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं, विद्याधर पुष्पवर्षा करते हुए स्तुति करने लगे।

इधर वामन भगवान्‌ने दूसरी ही लीला रची। अब उनका नन्हा-सा बवना शरीर न रहा। उन्होंने अपना विराट् रूप प्रकट कर दिया। वास्तवमें भगवान्‌के विराट्‌रूप-दर्शनका यही समय है। जब जीव संसारकी समस्त वस्तुओंपरसे अपनी ममता हटा लेता है, तब सभी वस्तुएँ भगवान्‌की हो जाती हैं और उन रूपोंमें स्वयं भगवान् हो जाते हैं।

उस समय बलिने देखा कि सम्पूर्ण संसार, जीव, संस्कार, अन्तःकरण, इन्द्रिय और शरीर तथा जो कुछ त्रिगुणमय है सब भगवान्‌के शरीरमें है। चरणोंमें पृथ्वी, तलवेमें रसातल, जंघोंमें पर्वत, नाभिमें अन्तरिक्ष, कोखोंमें सातों समुद्र, छाती-पर ताराओंकी माला, बाहुओंमें इन्द्रादि देवता, कानोंमें दिशाएँ, बालोंमें बादल, श्वासमें वायु, आँखोंमें सूर्य और उनके शरीरमें सम्पूर्ण विश्वकी सभी वस्तुएँ पृथक्-पृथक् दीख पड़ीं। उस समय भगवान्‌के सारे आयुध, समस्त पार्षद उपस्थित हो गये।

संकल्प पूर्ण होते ही भगवान्‌ने एक पगसे सारी पृथ्वी, शरीरसे आकाश एवं बाहुओंसे सारी दिशाएँ ले लीं। दूसरे पगसे स्वर्ग नाप लिया। भगवान्‌का दूसरा पग स्वर्गमें होकर

महर्लोक, जनलोक एवं तपोलोकमें होता हुआ ब्रह्मलोकमें पहुँचा। उन लोकोंके रहनेवाले सिद्धोंने विधिपूर्वक पूजा की।

ब्रह्माने देखा कि उनका लोक भगवान्‌के नखमण्डलकी दिव्य चमकसे चमक उठा। वे सम्भ्रमके साथ उठ खड़े हुए और बड़े प्रेमसे अपने कमण्डलुके जलसे उन्होंने भगवान्‌के चरण-कमल पखारे। उस समय वहाँके निवासी मरीचि आदि प्रजापति, सनकादि सिद्ध तथा समस्त वेद-उपवेदोंने भगवान्‌की पूजा की तथा गद्‌गद कण्ठसे प्रार्थना की। ब्रह्माके कमण्डलुका जल ही कालान्तरमें गङ्गाके रूपमें अवतीर्ण हुआ, जिसकी परम पावन तीन धाराओंसे त्रिलोकी पवित्र होती है।

एक ओर ब्रह्मा आदि गन्ध, धूप, दीप आदिसे षोडशोपचार पूजा कर रहे थे। आरति, नृत्य, गीत, नाम-कीर्तन, शङ्ख-नगारादि बाजे तथा स्तुतियोंसे भगवान्‌की आराधना करके अपने जीवनको सफल कर रहे थे। दूसरी ओर ऋक्षराज जाम्बवान् मनकी भाँति तीव्र गतिसे दौड़कर भगवान्‌की प्रदक्षिणा कर रहे थे और भेरी बजा-बजाकर चारों ओर देवताओंकी विजय, भगवान्‌की कृपा और परमानन्दकी घोषणा कर रहे थे।

दैत्योंने देखा कि हमारे स्वामी तो इस समय यज्ञकी दीक्षा लिये हुए हैं, शस्त्र उठा नहीं सकते और ये उन्हें धोखा देकर सारा राज्य ले लेना चाहते हैं। वे अपने-अपने शस्त्र उठाकर टूट पड़े। भगवान्‌के पार्षद नन्द, सुनन्द आदिने हँसते-हँसते उन्हें मार भगाया। यह सब देखकर बलिने उन्हें समझाया कि 'भैया! जब भगवान् अनुकूल रहते हैं, तभी विजय प्राप्त होती है। इस समय वे देवताओंके अनुकूल हैं। तुम्हारी एक न चलेगी। यद्यपि वे सदा सबपर अनुकूल ही रहते हैं, परंतु उनकी लीलाका रहस्य सहसा समझमें नहीं आता। यह तुम्हारी विजयका समय नहीं है, भगवान्‌की लीला देखो और प्रसन्न रहो।'

बलिकी बात दैत्योंकी समझमें नहीं आयी। परंतु वे अपना अवसर न देखकर पातालमें चले गये।

अभी तीसरा पग देना बाकी ही था।

(८)

भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और परम दयालु हैं। वे सब कुछ जानते हैं, सब कुछ कर सकते हैं और किसी-को दुखी देख नहीं सकते। इन तीन बातोंपर जिनका विश्वास हो गया है, वे भयंकर-से-भयंकर परिस्थितिमें भी भयभीत नहीं होते, दुखी नहीं होते। सर्वज्ञ भगवान् किसी-की परीक्षा नहीं लेते, उनकी परीक्षामें कोई फेल नहीं होता—सब पास ही होते हैं, परंतु विश्वासकी कमी और अपनी दुर्बलता ही उन्हें दुखी बना देती है। ऐसी परिस्थिति-में भी अपने भक्तोंको सुखी दिखलाकर भगवान् जगत्‌के सामने उनकी महिमा प्रकट करते हैं और एक महान् आदर्श उपस्थित कर देते हैं।

भगवान्‌ने तीसरे पगके लिये बलिको डाँटा। भगवान्-की इच्छा समझकर गरुडने उन्हें वारुण-पाशसे बाँध दिया। भगवान्‌की लीलाका रहस्य न समझनेवालोंमें हाहाकार मच गया। एक क्षणके लिये सभी स्तब्ध हो गये। भगवान्‌ने कहा—'दैत्यराज! तुमने बड़ी डींग मारी थी कि मैं यह दूँगा, वह दूँगा। अब तीन पग जमीन नहीं दे सकते। एक पगमें सारी पृथ्वी, दूसरेमें स्वर्ग और शरीरसे आकाश तथा बाहुओंसे दिशाएँ ले लीं। अब तीसरे पगके लिये स्थान बताओ। यदि प्रतिज्ञा करके नहीं दे सकोगे तो तुम्हें नरकमें जाना पड़ेगा। प्रतिज्ञा करके न देनेवालेकी यही गति होती है।'

भगवान्‌की यह कड़वी बात सुनकर भी बलिको किंचित् क्षोभ नहीं हुआ। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता एवं गम्भीरतासे कहा—'भगवन्! आप परम दयालु हैं। मैं धनके मदमें अंधा होकर अपनेको उसका स्वामी मानता था और दानके समय मैं बड़ा उदार दाता हूँ, ऐसा अभिमान करता था, परंतु आपने मेरा घमंड तोड़ दिया। न मेरा कुछ है, न मैं दाता-कर्ता हूँ। सब आपकी लीला है, आप ही करते-कराते हैं। यही समझकर हमारे दादा प्रह्लादने आपके चरणों-की शरण ली थी। भगवन्! यह तीसरा पग पूरा न करके आपने मुझपर बड़ी दया की है। आप इसके बदले मुझे ही ले लीजिये। प्रभो! अब आप अपना चरण मेरे सिरपर रक्खें और मेरे अन्तःकरण—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा आत्माको अपना बना लें। यह सब तो आपके हैं ही, केवल अज्ञानके कारण मैं भूला हुआ था। भगवन्! अब ऐसी कृपा करें कि यह भूल कभी न हो।'

अभी बलि बोल ही रहे थे कि भगवान्‌की स्मृतिमें विभोर विह्वल होकर मधुर स्वरसे भगवन्नामका उच्चारण करते हुए भक्तराज प्रह्लाद वहाँ उपस्थित हुए। बलि उन्हें देखकर चुप हो गये। उनका सिर झुक गया और

आँखोंमें आँसू आ गये। वे बड़ी चिन्तामें पड़ गये कि जिनके आनेपर मैं विधिपूर्वक पूजा करता था, आज उनका चरण-स्पर्श करके प्रणाम भी नहीं कर सकता।

भगवान्‌को देखकर प्रह्लादकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे, शरीरमें रोमाञ्च हो गया। भगवान्‌के चरणोंमें वे साष्टाङ्ग लोट गये। थोड़ी देर बाद उठे और अञ्जलि बाँधकर रुँधे कण्ठसे बोलने लगे।

'प्रभो! तुमने बड़ा ही अच्छा किया। तुम्हींने इसे इन्द्र-पद दिया और तुम्हींने ले लिया। वह तुम्हारा ही है। उसे जो अपना मानकर गर्व करता है, उसके हाथमें वह रह नहीं सकता। इसे बड़ा घमंड था। यह तुम्हारे भजनसे विमुख हो गया था। धनमदसे बड़े-बड़े लोग मोहित हो जाते हैं। यह तो अभी बच्चा है। तुम्हारा प्रत्येक विधान न्याय तथा करुणासे परिपूर्ण है। मैं तुम्हें कोटि-कोटि नमस्कार करता हूँ।'

विन्ध्यावलीने आकर पूजा की। नीचे मुख करके हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी। भगवान् उसकी श्रद्धा, भक्ति, पाति-व्रत्यको देख-देखकर प्रसन्न हो रहे थे।

ब्रह्माने भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया और बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की—

'भगवन्! अब आपने इसका सर्वस्व ले लिया। अब इसे छोड़ दीजिये, छोड़ दीजिये। जिसके चरणोंमें जल चढ़ाकर तथा दूब आदिसे पूजा करके लोग बन्धनमुक्त हो जाते हैं, उन्हींके चरणोंमें अपना सर्वस्व समर्पित करके बलि बन्धनमें पड़े, यह अच्छा नहीं लगता।'

भगवान्‌ने कहा—'ब्रह्मन्! अनेक योनियोंमें भटकनेके बाद इस शरीरकी प्राप्ति होती है। केवल इसीमें अपने कल्याणका साधन किया जा सकता है और कहीं नहीं। इसमें भी आकर लोग अपनी कुलीनता, पदमर्यादा, बल, सुन्दरता और सम्पत्ति आदिमें फँस जाते हैं, उन्हें अपना मानकर गर्वसे फूल जाते हैं, अपने जीवनका उद्देश्य भूल जाते हैं। परमार्थसे प्रेम न कर विषयोंमें प्रेम करने लग जाते हैं। ऐसी स्थितिमें यही एक उपाय है कि उन वस्तुओंको उनसे छीन लिया जाय। यही मेरा परम अनुग्रह है। मैं जिसपर दया करता हूँ उसकी सम्पत्ति छीन लेता हूँ।

'मैं केवल सम्पत्ति छीन ही लेता हूँ, देता नहीं हूँ, सो बात नहीं है। जब अभिमान नष्ट हो जाता है, वास्तविक तत्त्वकी उपलब्धि हो जाती है, तब मैं अपनी इच्छाके अनुसार त्रिलोकीका शासन भी कराता हूँ। परंतु अभिमान मुझे पसंद नहीं। दानवेन्द्र बलि तो मेरे परम भक्त हैं, प्रह्लादके पौत्र हैं। इनका धन छीन लिया, डाँटा, बाँधा और नरकमें भेजनेकी बात कही, फिर भी इनके मनमें क्षोभ नहीं। बन्धु-बान्धवोंने छोड़ दिया, गुरुजनोंने शापतक दे दिया, परंतु ये सत्यसे विचलित नहीं हुए। इनका विश्वास नहीं डिगा। इन्हें अब मैं ऐसा स्थान देता हूँ जो देवताओंको भी दुर्लभ है। ये सावर्णि मन्वन्तरमें इन्द्र होंगे। तबतक सुतल लोकमें रहें। उस विश्वकर्माके बनाये हुए लोकमें आधि-व्याधि, क्लेश, पराजय आदि नहीं होते और मेरी दृष्टिके प्रभावसे कोई विघ्न-बाधा दुःख नहीं पहुँचा सकती। समय आनेपर ये इन्द्र होंगे और मैं इनकी रक्षा करूँगा।'

बलिकी ओर दृष्टि करके भगवान्‌ने कहा—'दैत्यराज! अब तुम सुतल लोकमें जाओ। बड़ा ही सुन्दर लोक है, देवतालोग भी उसे चाहते रहते हैं। तुम्हें कोई दबा न सकेगा। जो तुम्हारी आज्ञा न मानेगा, मेरा चक्र उसका सिर काट डालेगा। मैं सर्वदा तुम्हारी रक्षामें तत्पर रहूँगा। तुम सर्वदा मेरा दर्शन प्राप्त कर सकोगे। मैं हाथमें गदा लेकर तुम्हारा द्वारपाल बना रहूँगा। बलि! तुमने मुझे बाँध लिया। जो मेरे हाथ बँध गया, मैं उसके हाथ बँध गया। मैं तुम्हारा हूँ।'

भगवान्‌के मुखसे ये शब्द निकल रहे थे और सबकी आँखोंसे आँसू। सभी भगवान्‌की कृपालुता देखकर चकित थे। अबतक बलिका बन्धन खुल चुका था। उनका सिर था भगवान्‌के चरणोंके नीचे और भगवान्‌के हाथ उन्हें बलात् उठाकर छातीसे लगा रहे थे!

सावधान होकर बलिने भगवान्‌से कुछ कहनेकी चेष्टा की किंतु उनका गला रुँध गया, वाणी न निकली, शरीर पुलकित हो गया। वे एकटक भगवान्‌का मुखमण्डल देखना चाहते थे, पर अश्रुधाराके वेगसे उनकी आँखें भरी हुई थीं, देख न पाते थे। अन्तमें भगवान्‌की आज्ञा शिरोधार्य करके उन्होंने सपरिवार सुतल लोककी यात्रा की। देखा तो एक ओर शिव-इन्द्रादि देवता भगवान्‌की यह लीला देख-देखकर निहाल हो रहे हैं। सबको प्रणाम करके जब बलि चले गये तब भगवान्‌ने शुक्राचार्यसे कहा—

'अब इस यज्ञकी पूर्णाहुति कर दो, जिससे विधिभंग न हो, यजमानका कल्याण हो।' शुक्राचार्यने कहा—'भगवन्! जिस यज्ञमें आप स्वयं उपस्थित हैं, वहाँ विधिभंग कैसा? मन्त्र, तन्त्र, काल, देश एवं वस्तुसे जब यज्ञकी पूर्णता नहीं होती, किसी प्रकारकी त्रुटि रह जाती है, तब आपके नामोंका संकीर्तन करके उसे पूर्ण किया जाता है। इस यज्ञमें तो आप स्वयं उपस्थित हैं। यहाँ त्रुटि कैसी? परंतु आपकी आज्ञाका पालन करना ही जीवोंका एकान्त कर्तव्य है। आपकी आज्ञा सर्वथा शिरोधार्य है'—कहकर शुक्राचार्यने यज्ञकी पूर्णाहुति की।

अब प्रह्लादने भगवान्के चरणोंका स्पर्श करते हुए कहा—'भगवन्! ऐसी कृपा आपने अबतक किसीपर नहीं की है। ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी और योगेश्वरोंपर भी ऐसी कृपा नहीं हुई है कि आप उनके द्वारपाल हों। प्रभो! आपमें विषमता नहीं है। सबको एक ही दृष्टिसे देखते हैं। यदि आपमें नीच-ऊँचका भेद होता तो आप हम असुरोंके द्वारपाल कैसे होते? प्रभो! हममें कोई योग्यता नहीं है, हमारा कुछ अधिकार नहीं है। यह सब आपकी कृपा है। मैं आपके चरणोंमें अनन्त प्रणाम करता हूँ।'

प्रणाम करते हुए प्रह्लादसे भगवान्ने कहा—'प्रह्लाद! अब तुम भी सुतल लोकमें जाओ! बलिके साथ मेरा स्मरण करते हुए प्रसन्नतासे रहो। तुम वहाँ नित्य मेरा दर्शन पाते रहोगे। तुम्हारे और बलिके सत्संगसे वहाँके दैत्योंका आसुर भाव छूट जायगा। उनमें देवभाव आ जायगा। संसारके जिस यज्ञमें विधिभंग हो जायगा, उसका फल सुतलमें रहनेवालोंको प्राप्त होगा।'

भगवान्की आज्ञासे प्रह्लाद चले गये। अबतक भगवान् अपने पहले वामन रूपमें हो गये थे।

इधर इन्द्रने बड़ी तैयारी की। देवता, ऋषि, मुनि और योगेश्वरोंके साथ भगवान्को विमानपर चढ़ाकर स्वर्ग ले गये। वहाँ भगवान्ने इन्द्रको स्वर्गके सिंहासनपर बैठाकर सबके साथ विधिपूर्वक राज्याभिषेक किया और इन्द्रका राज्य उन्हें सौंप दिया।

ब्रह्माकी अनुमतिसे सबने मिलकर उपेन्द्रपदपर वामन भगवान्का अभिषेक किया और अपनी प्रसन्नता तथा संतोषके लिये वेद, धर्म, मङ्गल, व्रत एवं मोक्ष आदिका स्वामी उन्हें बनाया। कश्यप, अदिति, सनत्कुमार, नारदादिने स्वयं अपने हाथों तिलक किया। सर्वत्र आनन्द, मङ्गल, प्रेम, ज्ञानका साम्राज्य हो गया। भगवान् एक रूपसे इन्द्रके पास रहने लगे और एक रूपसे बलिके पास। आज भी वे दोनोंके पास रहते हैं।

हाँ, तो भगवान्की लीला बड़ी रसमयी है। वे अजन्मा होनेपर भी इसीलिये जन्म लेते हैं, अकर्मा होनेपर भी इसीलिये कर्म करते हैं। अव्यक्त होनेपर भी इसीलिये व्यक्त होते हैं। वे स्वयं रसरूप होनेपर भी अपनी लीलासे विशेष रसका आस्वादन करते हैं। भगवान्के जिस दिव्य जन्म एवं दिव्य लीलाका रसास्वादन करनेके लिये ज्ञानीलोग स्वरूप-सुखका त्याग कर देते हैं और सर्वदा उसीमें मस्त रहते हैं, उसके सम्बन्धमें यदि हम बार-बार कहें कि भगवान्की लीला बड़ी रसमयी है तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है।

अन्य अवतारोंकी भाँति भगवान् वामनकी उपासनाके भी बहुत-से मन्त्र हैं। उनमेंसे यहाँ केवल एक मन्त्र दिया जाता है—'ॐ नमो विष्णवे सुरपतये महाबलाय स्वाहा।' इस मन्त्रके ऋषि इन्द्र हैं, विराट् छन्द है और देवता स्वयं वामन भगवान् हैं। इसका ध्यान इस प्रकार कहा गया है—

> ज्वलन्मयूखकनकच्छत्राधःपुण्डरीकगम्।
> पूर्णचन्द्रनिभं ध्यायेच्छ्रीभूम्याश्लिष्टपार्श्वकम्॥

चमकते हुए स्वर्णमय छत्रके नीचे पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशमान भगवान् वामन बड़े ही सुन्दर कमलपर विराजमान हैं, लक्ष्मी और पृथ्वी बगलमें खड़ी होकर उनकी सेवा कर रही हैं। जो साधक इस प्रकार भगवान् वामनका ध्यान करके विधिपूर्वक मन्त्रका जप करता है, उसकी सब अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं।

बोलो श्रीवामन भगवान्की जय!

सम्पादकका निवेदन और क्षमाप्रार्थना

इस वर्ष विशेषाङ्कके लिये कई प्रस्ताव आये थे। तीर्थाङ्कके लिये विशेष आग्रह था, पर उसकी सामग्री तैयार नहीं थी। सामग्री संग्रह करनेके लिये हमारे कुछ साथी तीर्थयात्रामें गये हुए थे और वे अभी यात्रामें ही हैं। सामग्री संग्रह की जा रही है। इसी बीचमें गीताप्रेससे एक छोटी-सी पुस्तिका निकली थी—'पढ़ो, समझो और करो'। इस पुस्तकको लोगोंने बहुत ही पसंद किया तथा इसका प्रचार-प्रसार भी खूब हुआ तथा हो रहा है। इस पुस्तकको पढ़कर लोगोंने आग्रह किया कि इसी प्रकारका एक बड़ा संग्रह 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें निकाला जाय। यह प्रस्ताव सबको ठीक जँचा और तदनुसार कार्य आरम्भ कर दिया गया। हिंदीमें—जहाँतक हमारा अनुमान है—ऐसा कोई बड़ा ग्रन्थ अबतक नहीं निकला है। महात्मा तथा सत्पुरुषोंके उपदेशों, वचनों तथा वाणियोंके संग्रह तो कई प्रकाशित हुए हैं। गीताप्रेससे ही 'ढाई हजार अनमोल बोल' 'भजन-संग्रह' आदि पुस्तकें निकली हैं तथा 'संत-वाणी-अङ्क' नामक 'कल्याण' का विशेषाङ्क भी प्रकाशित हो चुका है। पर जिसमें छोटी-छोटी ऐसी शुभ प्रेरणाप्रद घटनाएँ संकलित हों, जिनसे मानव-जीवन सभी क्षेत्रोंमें उच्चस्तरपर पहुँच सके और जो एक राष्ट्रके ही नहीं, मानवमात्रके चरित्रनिर्माणमें पूर्णरूपसे सहायक हों, ऐसा कोई बड़ा ग्रन्थ नहीं देखनेमें आया। अतएव ऐसे ग्रन्थके प्रकाशनकी आवश्यकता थी।

इसके अतिरिक्त, आज मानव-समाजका स्तर बहुत नीचेकी ओर जा रहा है। राग-द्वेष, कलह-विरोध, वैर-हिंसा, असत्य-स्तेय, छल-कपट, दम्भ-द्रोह, ईर्ष्या-प्रतिहिंसा, अभिमान-गर्व, मन-इन्द्रियोंकी गुलामी, कायरता-कुचेष्टा, पर-सुख-कातरता और पर-दुःख-परायणता, नीच कामना और स्वार्थपरता, कामोपभोग-परायणता, मतवाद और दलबंदी आदि मानव-समाजसे मानवताका अपहरण करनेवाले दोषोंका प्रचार-प्रसार और विस्तार हो रहा है! भारतवर्षमें भी ये सब दोष बड़ी तेजीसे फैल रहे हैं और हमलोग इन्हें स्वराज्य-शिशुके शुभ जन्मके बाद होनेवाली सहज अस्थायी मातृपीडाके रूपमें मानकर सहन कर रहे हैं, अथवा जहाँ दोषोंके संगसे हमारी बुद्धि कलुषित हो गयी है एवं तमसाच्छन्न होनेके कारण वह विपरीतदर्शिनी हो गयी है, वहाँ इन दोषोंमें 'सद्गुण-बुद्धि' और इनसे होनेवाले पतनमें 'उत्थान-बुद्धि' होनेसे हम इन्हें उन्नतिका लक्षण मानकर सहर्ष अपना रहे हैं! भगवान् जो नित्य, सत्य, चिदानन्द-स्वरूप हैं, जो परम सत् हैं, जिनका बोध या प्राप्त करना ही मानव-जीवनका चरम और परम उद्देश्य है, उन्हें मूर्खोंकी कल्पना मानकर उनका अस्वीकार कर रहे हैं। यह जो 'सत्' रूप परमात्माका तथा उनके अनुकूल तथा उनकी प्राप्तिके साधन-स्वरूप दैवी सम्पदाके 'सत्'गुणों, सद्भावों तथा सत्-क्रियाओंका अस्वीकार और भगवद्विरोधी असद् भावोंका तथा दुर्गुण, दुर्भाव, दुष्क्रिया-रूप 'असत्' का स्वीकार है, यह निश्चय ही हमारे लिये भयानक दुष्परिणामका कारण होगा। अपने राष्ट्रको तथा मानव-जातिको इससे बचाना अत्यावश्यक है। यह आजका सबसे अधिक आवश्यक कार्य है। यह न हुआ और संसारके प्राणी 'सत्' का परित्याग कर 'असत्' की सेवामें लगे रहे तो संसार सचमुच दुःखार्णव बन जायगा। इसके लिये भी इस प्रकारके ग्रन्थोंके प्रकाशन और प्रचार-प्रसारकी परम आवश्यकता है, जिनसे जनसमुदायमें सद्भावना फैले, लोगोंके सात्त्विक तथा शुभ चरित्रका निर्माण हो, हमारे राष्ट्रपुरुषकी बड़े उच्चस्तरपर प्रतिष्ठा हो और उसके आदर्शसे विश्व-मानवताको प्रकाश मिले एवं वह अपने नित्य सत् भगवत्-स्वरूपकी उपलब्धि कर सके।

सर्वशक्तिमान् सर्वउर-प्रेरक, सर्वेश्वर, परम दयासागर, अशेष कल्याण-गुणगणार्णव श्रीभगवान्की कृपाके बलसे ही यथार्थ रूपमें कुछ काम किया जा सकता है। हम किसी पार्थिव पदार्थके बलपर, अभिमानका आश्रय लेकर कुछ करने जायँगे, तब तो उसका फल विपरीत ही होगा। उनकी कृपाके बलसे ही सारे विघ्नोंका नाश और समस्त अनुकूल साधनोंकी प्राप्ति होती है। उनका बल ही परम बल है। हम यह तो स्पष्ट अनुभव करते हैं कि हम मिथ्या अभिमानसे रहित नहीं हैं और न हमें अनन्य रूपसे केवल भगवान्की महती कृपाका ही भरोसा है। अपनी कमी हमारे सामने प्रत्यक्ष है। पर साथ ही भगवत्कृपासे ही हमें यह भी अनुभव होता है कि हमारे अत्यन्त साधनहीन, गुणहीन तथा नीचाशय होनेपर भी भगवान्की हमपर अनन्त और असीम कृपा है और हमारा यह क्षुद्र प्रयास भी,—महान् आकाशसे मच्छरके उड़नेके सदृश अत्यन्त नगण्य तथा तुच्छ होनेपर भी, तथा अपने अभिमानका प्रकाशक एवं प्रचारक होनेपर भी—वस्तुतः भगवत्कृपाका ही एक संकेत मात्र है। हमारे अज्ञानका पर्दा हटे और वास्तवमें हम अपने प्रत्येक

कार्यमें भगवत्-संकेत ही नहीं, भगवान्‌के मङ्गलमय करकमलोंका दर्शन करें—इस स्थितिके लिये हम भगवान्‌से विनीत प्रार्थना करते हैं और आप सब कल्याणके पाठक-पाठिकाओंकी कृपा तथा आत्मीयतासे पूर्ण सद्भावना चाहते हैं।

इस अङ्कके सम्पादनमें हमें जिन महानुभावोंसे सहायता मिली है, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। बहुतसे सज्जनोंने संतोंकी जीवनियाँ, अपने पूज्य गुरु भगवान्‌के चित्र-चरित्र तथा संतोंकी वाणियाँ भेजी हैं, पर वे इस अङ्कमें काम नहीं आ सकीं, इसके लिये हम उनसे क्षमा चाहते हैं। कुछ ऐसी घटनाएँ आयीं, जो पहले छप चुकी थीं, वे भी नहीं छप सकीं और स्थानाभावसे भी बहुत-सी घटनाएँ नहीं जा सकी हैं, यद्यपि महत्त्वपूर्ण घटनाओंको देनेका ही यथासाध्य प्रयत्न किया गया है। इसके लिये भी हम नम्रताके साथ क्षमा चाहते हैं।

किसी सत्कथामें लेखक महानुभावका नाम भूलसे छूट गया हो, अनुवाद या संक्षिप्त करने आदिमें कोई भूल हो गयी हो तो उसके लिये भी हम क्षमाप्रार्थी हैं।

इस अङ्कमें एक हजार सत्कथा देनेका विचार था, परंतु स्थानाभावसे ८६० कथाएँ ही जा सकी हैं। शेष कथाएँ क्रमशः साधारण अङ्कोंमें दी जा सकती हैं।

भगवान्‌के चौबीस अवतारोंकी विस्तृत कथा इस अङ्कमें देनेकी बात सोची गयी थी, परंतु स्थानाभावसे केवल पाँच ही अवतारोंकी कथा दी जा रही है। इनके लेखक सम्मान्य स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजके हम कृतज्ञ हैं।

इस अङ्कके सम्पादनमें बहुत त्रुटियाँ रही हैं। कुछ तो ऐसी हैं जो हमारी दृष्टिमें हैं। बहुत-सी ऐसी होंगी, जिनकी ओर हमारा ध्यान गया ही नहीं है। हमारा यह भूलोंसे भरा तुच्छ प्रयास है। हमारे देशके सुयोग्य अधिकारी विद्वान् तथा प्रकाशक इस ओर ध्यान देकर उत्तमोत्तम साहित्य प्रकाशित करेंगे, ऐसी आशा है। हम अपनी त्रुटियोंके लिये क्षमाप्रार्थना करते हैं।

इस अङ्कमें प्रकाशित घटनाएँ जिन-जिन विविध भाषाओंके ग्रन्थोंसे संग्रह की गयी हैं, उन सबके लेखकों तथा प्रकाशकोंका हम हृदयसे आभार मानते हैं तथा उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। सबके नाम देनेके लिये स्थानकी कमी थी, इसलिये अलग-अलग नाम न देकर हम एक ही साथ उन सबके प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करते हुए उनसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं। यह विशेषाङ्क हमारे उन श्रद्धास्पद लेखकोंके सत्-प्रयासका ही परिणाम है, अतः सारा श्रेय उन्हींको है। हमने तो केवल उनकी चीजोंको इसमें एक जगह सजानेका प्रयास किया है। इस प्रयासमें प्रमादवश हमसे अनेक प्रकारकी भूलें हुई होंगी। उनके लिये वे सब महानुभाव कृपापूर्वक हमें क्षमा करेंगे।

इस अङ्कके प्रकाशित घटनाओंके संकलनमें हमारे साथी पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा, श्रीसुदर्शनसिंहजी, श्रीरामलालजी तथा श्रीशिवनाथजी दुबेने बड़ा परिश्रम किया है। हमारे अन्यान्य साथियोंने भी यथासाध्य बहुत सहयोग दिया है। इन सबके सम्मिलित प्रयत्नका ही फल यह विशेषाङ्क है। कोई घटना दुबारा छप गयी हो और प्रमादवश अन्यान्य भूलें रह गयी हों, उनकी जिम्मेदारी हमारी है और हम उन भूलोंके लिये करबद्ध क्षमा-प्रार्थी हैं।

क्षमा-प्रार्थी,

हनुमानप्रसाद पोद्दार } सम्पादक
चिम्मनलाल गोस्वामी }

सत्कथा

सत्कथा शुचि संत भक्तोंसे मिलाती।
सत्कथा हरिनामका अमृत पिलाती॥
सत्कथा हरिचरित गायनमें लगाती।
सत्कथा सब पाप तापोंको भगाती॥
सत्कथा माता पिता गुरुको मनाती।
सत्कथा उनकी सदा सेवा कराती॥
सत्कथा वैराग्य रस रुचिको बढ़ाती।
सत्कथा हरि विरहकी ज्वाला जगाती॥

सत्कथा प्रभु-मिलनके साधन बताती।
सत्कथा प्रभु-प्रेममें पागल बनाती॥
सत्कथा चर अचरमें प्रभुको दिखाती।
सत्कथा सब जगत्‌का सेवक बनाती॥
सत्कथा माया अविद्याको हटाती।
सत्कथा ममता अहंताको मिटाती॥
सत्कथा निजरूपका अनुभव कराती।
सत्कथा भगवान्‌के दर्शन कराती॥

श्रीहरिः

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें । लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं ।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७॥) और भारतवर्षसे बाहरके लिये १०) (१५ शिलिंग) नियत है । **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता ।**

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं । वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे । 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये । डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है ।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये ।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये । पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी ।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा । विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा । फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे ।

(८) सात आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है । ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।≥) बाद दिया जा सकता है ।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है ।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये । पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये ।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है । एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये ।

(१२) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये । वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं ।

(१३) **प्रेस-विभाग, कल्याण-विभाग तथा महाभारत-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये ।** 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते । प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती ।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते ।

(१५) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **व्यवस्थापक "कल्याण" पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **सम्पादक "कल्याण" पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)** के नामसे भेजने चाहिये ।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता ।

कल्याणके ग्राहकों तथा पाठकोंसे विशेष अनुरोध

कल्याणके ग्राहक बढ़ाइये

'कल्याण' पढ़नेवाले पाठक-पाठिकागण 'कल्याण' की उपादेयतासे परिचित हैं। वे यह भी जानते हैं कि वर्तमान समयमें 'कल्याण'-जैसे पत्रकी कितनी आवश्यकता है। इस बार जो विशेषाङ्क आपके हाथोंमें है—यह नर-नारी, बालक-वृद्ध, गृहस्थ-संन्यासी, छात्र-अध्यापक—सभीके लिये अत्यन्त उपादेय है। इसमें छोटी-छोटी घटनाओंके द्वारा जीवन-निर्माणके महान् तत्त्व बड़ी रोचकताके साथ लिखे गये हैं। इसके प्रचारसे विशेष लाभ होनेकी आशा है अतः हम अपने सब पाठक-पाठिकाओंसे तथा ग्राहक-अनुग्राहकोंसे विनीत अनुरोध करते हैं कि वे इस बार विशेषरूपसे प्रयत्न करके दो-दो नये ग्राहक बना दें। मनसे चेष्टा करनेपर दो नये ग्राहकोंका बनाना कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसा करनेसे कल्याण-भावोंका विस्तार होगा और हम आगे चलकर और भी अच्छी चीज पाठकोंको दे सकेंगे। आशा है, हमारी प्रार्थनापर मानवमात्रका हित चाहनेवाले सभी कल्याणप्रेमी महानुभाव तथा माता-बहिनें विशेष रूपसे ध्यान देंगी और 'कल्याण'के प्रचारमें सक्रिय सहायता देंगी। प्रत्येक नये ग्राहकके ७॥) रुपये मनीआर्डरसे भिजवाइये अथवा वी० पी० भेजनेका आदेश दीजिये। नाम-पता स्पष्ट लिखनेकी कृपा कीजिये।

निवेदक,

व्यवस्थापक-कल्याण, पो॰ गीताप्रेस (गोरखपुर)